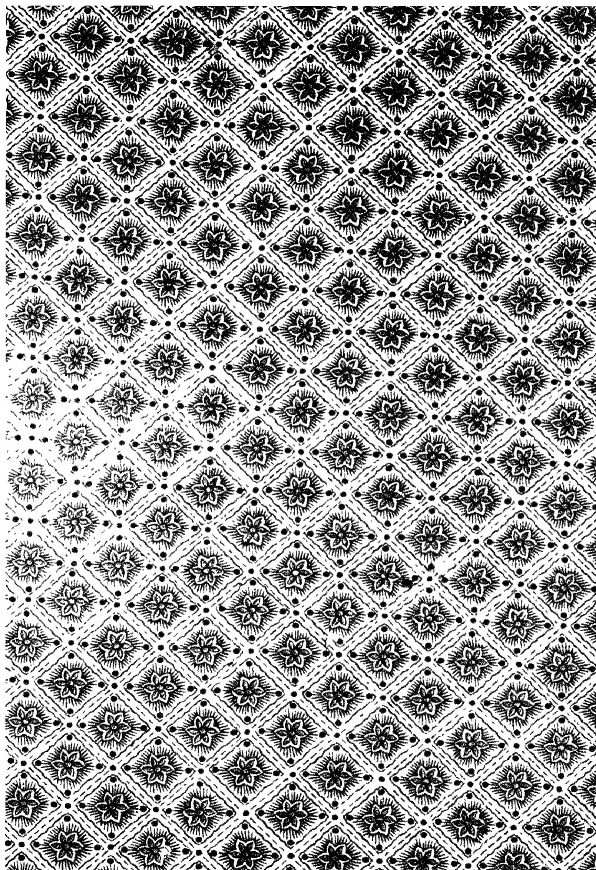


卐 श्री शंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः 卐

सकलागमरहस्यवेदिपरमज्योतिर्विच्छ्रीमद्विजयदानसूरीश्वरसद्गुरुभ्यो नमः ।

भारतीय-प्राच्यतत्त्व-प्रकाशन समिति-पिन्डवाडा-संचालिताया

आचार्यदेव श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वर-कर्मसाहित्य जैन ग्रन्थमालायास्तृतीयो (३)ग्रन्थः

बन्धविहाणं

तत्थ

मूलपयडि-

रस-बंधो

(मूलप्रकृति-रसबन्धः)

'प्रेमप्रभा' टीका-समलङ्कृतः



प्रेरका मार्गदर्शकाः संशोधकाश्च :—

सिद्धान्तमहोदधि-कर्मशास्त्रनिष्णाता आचार्यदेवाः

श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वराः

प्रकाशिका—भारतीय-प्राच्यतत्त्व-प्रकाशन-समितिः, पिन्डवाडा ।

प्रथम-आवृत्ति	राजसंस्करण-३०, रु०	वीर संवत २४९३
६०० प्रति	साधारण ,, २५) रु०	विक्रम संवत २०२३

*** प्राप्तिस्थान ***

१. भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति,
C/o रमणलाल लालचन्द,
१३५/१३७ जवेरी बाजार, बम्बई २.

२. भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति,
C/o शा. समरथमल रायचन्दजी,
पिण्डवाड़ा, स्टे० सिरोहीरोड (राज०)

३. शा. मनरूपजी अचलदास,
९, मस्कती मार्केट,
अहमदाबाद २.

४. शा. रमणलाल वजेचन्द,
C/o दिलीपकुमार रमणलाल,
मस्कती मार्केट,
अहमदाबाद. २

मुद्रक—
ज्ञानोदय प्रिंटिंग प्रेस, पिन्डवाड़ा
स्टे. सिरोहीरोड़ (राजस्थान)

—: पदार्थसंग्रहकाराः :—

कर्मशास्त्रधुरीण-गच्छाधिपाऽऽचार्यदेव-श्रीमद्-विजयप्रेमसूरीश्वर-विनीत विनेय-प्रभावक-प्रवचनकार-पंन्यासप्रवर-श्रीभानुविजयगणिवर्य-विनेयमुनिवर्यश्री-धर्मघोषविजयान्तिषदो विद्वद्वर्य-गीतार्थमुनिश्री-**जयघोषविजयाः**, पंन्यासप्रवरश्री-भानुविजयगणिवर्य-विनेया मुनिश्री-**धर्मानन्दविजयाः**, गच्छाधिपतिविनीतविनेय-गीतार्थमूर्धन्य-पंन्यासप्रवर-श्रीहेमन्तविजयगणिवर्य-विनेयमुनिराजश्री-ललितशेखरविजय-शिष्यरत्न मुनिवर्यश्री-राजशेखर-विजय-शिष्याणवो मुनिश्री**वीरशेखरविजयाश्च** ।

★

—: मूलगाथाकारा :—

प्राकृतविशारदा मुनिश्री**वीरशेखरविजयाः** ।

★

—: टीकाकारः संपादकश्च :—

पंन्यासप्रवरश्री-भानुविजयगणिवर्य-विनेयरत्न-द्रव्यानुयोगनदीष्ण-मुनिराजश्री-धर्मानन्दविजयविनेय-मुनि **जयशेखरविजयः** ।

★

—: सहसंपादकाः :—

विद्वद्- मुनिराजश्री-**मित्रानन्दविजयाः**

विद्वद्- मुनिराजश्री-**जितेन्द्रविजयाश्च**

★

—: संशोधकाः :—

कर्मशास्त्रविशारद गच्छाधिपति-श्रीमद्-विजयप्रेमसूरीश्वरपट्टप्रभावका-आगमप्रज्ञा ऽऽचार्यदेव-श्रीमद्**विजयजम्बूसूरीश्वराः पदार्थसंग्रहकारमुनिप्रवराः सहसंपादकाश्च** ।

First Edition Copies 600. | DELUXE EDITION RS, 30 ORDINARY ,, RS. 25 | A.D. 1967.

AVAILABLE FROM :

1. BHARATIYA PRACHYATATTVA PRAKASHAN SAMITI,
C/o Shah Ramanlal Lalchandji,
135/37 ZAVERI BAZZAR,
BOMBAY-2.



2. BHARATIYA PRACHYATATTVA PRAKASHAN SAMITI,
C/o. Shah Samarathmal Rayachandji,
PINDWARA, [St. Sirohi Road]
(Rajasthan)



3, Shah Manarupji Achaldas,
2, Maskati Market,
Ahmedabad-2.



4. Shah Ramanlal Vajechand,
C/o Dilipkumar Ramanlal,
Maskati Market,
Ahmedabad-2.



Printed by :
GYANODAYA PRINTING PRESS,
PINDWARA.
(St. Sirohi Road, Raj.)

Acharyadeva-Shrimad-Vijaya-Premasurishwara-Karma-Sahitya-Granthmala

GRANTH No. 3.

BANDHA VIHANAM

MULA PAYADI

RASABANDHO

[Along with **"PREMA PRABHA"** commentary]

By

GROUP OF DISCIPLES



Inspired and Guided by

His Holiness Acharya Shrimada Vijaya

PREMASURISWARJI MAHARAJA

the leading authority of the day

on Karma philosophy.



Bhartiya Prachya Tattva Prakashana Samiti, Pindwara.

卐 अनुक्रम 卐

卐



दमणबन्दरमण्डण श्रीऋषभदेवभगवान



इस ग्रन्थरत्नके प्रकाशनमें द्रव्यसहाय दाता उदारचरित श्रेष्ठिवर्य नवलचन्द दीपचन्दके कुटुम्बकी जन्मभूमि दमणबन्दरके जिनप्रासादमें विराजमान दर्शनीय प्रशान्त जिनबिम्ब.

— – सम्पादकीय – —

संस्कृतभाषा ए गीर्वाणगिरा छे, देवभाषा छे. आजे सारा य विश्वने आ भाषा तरफ खूबज आकर्षण थयु छे. प्रायः दुनियानी महान गणाता विश्वविद्यालयोमां सस्कृतभाषाना प्राध्यापको सारी संख्यामां छे. महान वैज्ञानिको पण आ भाषाना अवतरणो आपवामां पोतानु गौरव समजे छे. जर्मनीमां तो आकाशवाणी (Radio) द्वारा समाचार बुलेटीन सम्कृतभाषामां प्रसारण करवामां आवे छे. आम आ भाषा विद्वद्-जगतमां पोतानु स्थान आंतरराष्ट्रीयभाषा तरीके जमावती जाय छे. आवा अवसरे कर्मसाहित्यनु संस्कृतभाषामां थतु नव-सर्जन सर्वक्षेत्रे आदरणीय बने एमां आश्चर्य नथी. आ भाषा पूर्वकाळथी व्याकरणना नियमो द्वारा सुसंबद्ध छे. तेथी काळनो कोळियो न थतां तद्रूपे रहेवाथी ग्राह्य बने छे.

आम सर्वक्षेत्र-सर्वकालव्यापी अेवी आ महान भाषामां आलेखन तथा संपादन करवु ए मारा जेवा अल्पबुद्धिवाळा माटे महाभगीरथ कार्य हतु. एटलु ज नहि बल्के चिरसमयसाध्य अने विघ्नाच्छादित पण हतु. परंतु अनन्तउपकारी भवोदधितारक सिद्धान्तमहोदधि परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराजानी कृपामयी आज्ञा, परमपावनी प्रेरणा अने भव्य मार्गदर्शननु ज आ शुभ परिणाम छे. अन्यथा आ महान कार्य स्वप्नवत् बनी रहेत.

तर्कशास्त्र नव्यन्याय-प्राचीनन्याय-जैनन्याय-आलेखनपद्धति-संपादनशैली वगेरेनु मारामां बीजाधान करनार मारा परमगुरुदेव-तपोनिधि-न्यायविशारद-प्रभावक-प्रवचनकार पंन्यासप्रवर भानुविजयजी महाराजानो तथा संस्कृतभाषाना व्याकरण अने काव्य वगेरेनु तलस्पर्शी अध्ययन करावनार स्व० वैराग्यनिधि पंन्यास प्रवर पद्मविजयजी गणिवरनो अगण्य-अनुपम उपकार चिरस्मरणीय बनी रहेशे.

संपादननी विशेषता:–

(१) ग्रन्थनु अवगाहन सरळताथी थाय ए माटे मूलगाथाओ-टीकाग्रन्थ वगेरेना टाइपो भिन्न भिन्न पसंद करेला छे.

(२) मूलगाथाओनो क्रमसर अंक आपी तेनो टीकाना अन्ते पण ए नंबर आपवामां आव्यो छे.

(३) टीकाग्रन्थमां मूलगाथाना प्रतीको अेकवडा अवतरण चिन्हमां (' ' सिंगल इनवर्टेडकोमामां) राखी मोटा अक्षरो (बोल्ड टाइपो) मां आप्या छे.

(४) ग्रन्थ सहेलाई थी समजवा माटे यथास्थाने फकरा (पेरेग्राफ) पाडवामां आव्या छे.

(५) ज्यां ज्यां भावना, घटना, कार्यकारणभाव, विस्तार, व्याप्तिओ वगेरे बताववामां आव्या छे. त्यां त्यां 'इयमत्र भावना'– 'इयमत्र घटना' 'अयं हेतु.'–'अयं भावः' वगेरे लख्यां छे. ज्यां ज्यां विशेषता होय त्यां मोटा अक्षरोमां तथा फकराओ पण पाडवामां आव्या छे.

(६) प्रमाण तरीके उद्धृत पाठो नाना अक्षरोमां लीधा छे. ज्यारे ग्रन्थ अने ग्रन्थकारोनां नामो मोटा अक्षरोमां लीधा छे तेथी वांचती वखते तरत ख्यालमां आवी जाय.

(७) ग्रन्थना संपूर्ण पदार्थो शीघ्र अने सरलताथी जाणवा माटे दरेक द्वारना अन्ते कोष्टक-यन्त्रनु आलेखन करवामां आव्यु छे. आ यन्त्रोनी समजण जल्दीथी पडे ए माटे एमां पण नानामोटा अक्षरो छे, अने

संख्याओ आंकडामां लखी छे तेथी संस्कृतभाषाना न जाणनारने पण सहेजे पदार्थोनुं ज्ञान थई शके छे वळी ओघथी प्ररूपणा कोठाओनी उपर लखेल छे. अने आदेशथी करेल प्ररूपणाओ मुख्यत्वे कोठाओमां छे एमां पण ज्यां अपवादो छे. त्यां ते खानामां विशेषचिह्न बतलावी, नीचे पण ते ज चिह्न राखी अपवाद सूचव्यो छे. संस्कृतभाषाना जाणकारोने टीका वांच्या बाद यन्त्र जोया पछी पुन स्मृति माटे घटनाओ, भावना, हेतुओ वगेरे जोवां होय तो यन्त्रनी अंदर ज गाथा नंबर आप्यो छे. तेथी वांचको अे नंबरवाली गाथानी टीका काढी शीघ्रताथी घटना भावना वगेरे वांची शके-आम वांचकोने पदार्थनुं ज्ञान वधु सहेलाईथी केम थाय ? ए रीते ज यन्त्रनुं माप, गोठवणी, अने रजूआत करवामां बनती चोक्कसाई राखवामां आवेल छे.

(८) छेल्ला 'अध्यवसायसमुदाहार' नामना अधिकारमां गणितविभाग समजाववा माटे असत्कल्पनाओ-स्थापनाओ-अङ्कन्यास वगेरे बीजगणितनी पद्धतिथी पण जणावेल छे

(९) प्रथना दरेक पाना (पेज) पर ते ते पानानो विषय लखवामां आव्यो छे अने जमणी बाजु मथाला (हेडिंग) पर अधिकारनुं नाम तथा डाबीबाजु प्रस्तुतग्रथनु नाम सूचव्युं छे.

(१०) विषयानुक्रम विस्तृत बनाव्यो छे अने अगत्यनी अशुद्धिओनुं शुद्धिपत्रक आगळ राखवामां आवेल छे. जेथी वांचकवर्ग पहेलेथी ग्रन्थ सुधारीने वांची शके.

परिशिष्टो —

(i) आ ग्रन्थनी प्रेमप्रभाटीकामां जे साक्षीग्रंथो उद्धृत करवामां आव्या छे तेना नामो अकारादिक्रमथी दर्शाव्यां छे.

(ii) प्रमाणतरीके निर्दिष्ट ग्रन्थकारोनां नामो जणाव्यां छे.

(iii) सपूर्ण 'बधविहाण' महान शास्त्रना दरेक ग्रंथना क्षेत्र अने स्पर्शनाद्वार सुगमताथी समजाय ते माटे 'क्षेत्रस्पर्शना प्रकरणनी' नवी रचना करी परिशिष्ट तरीके लेवामां आवेल छे.

विषयपरिचय–

नवोदित जिज्ञासु वर्गमां आ ग्रंथनो अभ्यास वधु थाय अने ग्रथनो महिमा वधे ए माटे लोकगम्य गुर्जरभाषामां विषयपरिचय आपवामां आव्यो छे. आ वांचवाथी ग्रंथनुं मुख्य हार्द समजाय छे. त्यारबाद यत्रोमां रहेला सूक्ष्म पदार्थोनु अवगाहन करवाथी ग्रन्थनो सारो बोध थई जशे, ए निर्विवाद हकीकत छे.

ग्रन्थ मुद्रित थया पहेला उपकार स्मृति —

परमाराध्यपाद भवोदधितारक प्रातःस्मरणीय परमपूज्य आचार्य भगवत श्रीमद् **विजयप्रेमसूरीश्वरजी** महाराजाए तो मारा उपर अनहद उपकार कर्यो छे. आटआटली बुझर्ग वये, नरम तबियतमां पण प्रेसकॉपीनुं सूक्ष्मदृष्टिथी अवलोकन करी सुधारा वधारा सूचवी महान उपकार कर्यो छे.

परमपूज्य मुनिराज श्री **धर्मघोषविजयजी** महाराजाना विद्वान शिष्यरत्न परमपूज्य मुनिराजश्री **जयघोषविजयजी** महाराजानो तथा मारा परमतारक गुरुदेवश्री **धर्मानन्दविजयजी** महाराजानो उपकार अवर्णनीय छे. जेओ बन्ने अहर्निश नूतन कर्मसाहित्यना सर्जननी चिंता करी रह्या छे, जीवननी सर्वमहत्त्वाकांक्षाओ आ कार्यना ज चरणे समर्पित करी दीधी छे. तेओ वाचना आपवामां सदा उद्यत रहे छे. मारा जेवो कदाच प्रमाद करे तो पोते बोलावी वाचना वगेरेनुं प्रदान करे छे. लखेली टीकानुं तेओ बन्ने साथे अवगा-

इन करे छे. त्यारबाद तेओ बन्ने अलग अलग शान्तचित्ते सूक्ष्मदृष्टिथी फरी संशोधन करी सुधारा वधारा सूचवे छे. अने ए सुधारा पर चर्चा करी पदार्थ निर्णय करे छे एनुं लखाण थाय छे ए फरी तपासे छे. त्यारपछी लखाण प्रेसमां जाय छे, प्रूफो शुद्ध थया बाद फरी पदार्थ वगेरेने सूक्ष्मदृष्टिथी तपासे छे. आम आ बन्ने महात्माओनो लेखन अने संपादनमां थयेलो उपकार भूलाय एम नथी.

परम पूज्य विद्वान मुनिराजश्री गुणानंदविजयजी महाराज प्रेसकॉपीना लगभग १०० पाना सुधी टीकानी आलेखन पद्धति बतावी तथा तेनुं संशोधन करी जे आत्मीयता देखाडी छे ते चिरस्मरणीय बनी रहेशे.

आ संपूर्ण ग्रंथना संशोधन तथा सहसंपादनमां परमपूज्य विद्वान मुनिराजश्री मित्रानन्दविजयजी महाराजानो तथा परम पूज्य विद्वान मुनिराजश्री जितेन्द्रविजयजी महाराजानो फाळो अद्वितीय छे. वळी हुं पिंडवाडा होवाथी पूज्य जितेन्द्रविजयजी महाराजे पूज्य जयघोषविजयजी महाराज अने मारा गुरुदेवश्रीनी सूचनानुसार अवसरे टीकांशने सुधारी यथास्थाने नवीन सुधारा पण लखी मोकल्या हता. माटे आ बन्ने महात्मा ओनो हुं ऋणी छुं मूळगाथाकार विद्वान मुनिराजश्री वीरशेखरविजयजी महाराजे प्रेसकोपी तथा प्रूफोमां पदार्थसंशोधन करी सारो उपकार कर्यो छे.

विद्वान मुनिराजश्री राजशेखरविजयजी महाराजे लगभग संपूर्ण ग्रंथना प्रूफो व्याकरणदृष्टिथी तपासी आप्या हता, अने पिंडवाडामां चातुर्मास साथे होवाथी मूळलखाण साथे मेळववा वगेरे अनेककार्योमां सारो सहयोग आप्यो छे.

परम पूज्य विद्वान मुनिराज श्री धुरंधरविजयजी महाराजे नादुरस्त तबियत होवा छतां संस्कृत-श्लोको बनावी आपवामां सारी आत्मीयता दर्शावी छे.

परम पूज्य विद्वान मुनिराजश्री चन्द्रशेखरविजयजी महाराज, विद्वान मुनिराज श्री जगच्चन्द्र-विजयजी महाराज, तथा विद्वान मुनिराजश्री गुणरत्नविजयजी महाराजानो उपकार पण केम भूलाय ? अवसरे अवसरे प्रूफ संशोधन-सूचना वगेरे करी घणी सहाय करी छे. वळी मुनिराजश्री जगच्चन्द्रविजयजी महाराजे त्रीजा परिशिष्ट तरीके 'क्षेत्र स्पर्शना प्रकरण'नी नवी रचना करी उपकार कर्यो छे अहीं विद्वान मुनिराज श्री विमलसेनविजयजी महाराज पण स्मृतिपथ पर आव्या विना रही शकता नथी केमके तेओए शुद्ध प्रेसकॉपी करवामां घणो सहकार आप्यो छे.

परमपूज्य तपस्वी मुनिराजश्री योगीन्द्रविजयजी महाराज, मुनिराजश्री हेतविजयजी महाराज तथा मुनिराजश्री विनयविजयजी महाराज पिंडवाडामां चातुर्मास साथे हता. तेओश्रीए संपादनकार्यमां वधु वेग आवे ते माटे बीजी बधी जवाबदारी पोताना शिरे लई सारो एवो सहयोग आप्यो हतो.

ग्रन्थ मुद्रित थया पछी–

परम पूज्य भवोदधितारक सिद्धान्तमहोदधि आचार्य भगवन्त श्रीमद्‌विजय प्रेमसूरीश्वरजी महा-राजाना उपकारो अगणित छे, तेमां य वळी छापेला फर्मा वांची शुद्धिपत्रक करी अेक वधु महान् उपकार कर्यो छे. आगमप्रज्ञ परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय जम्बूसूरीश्वरजी महाराजे छापेला बधा फर्मा शोधी मने उपकृत कर्यो छे.

म्हेसाणा जैन श्रेयस्कर मंडळ पाठशाळाना प्राध्यापक सुश्रावक पुखराजजी, वढवाणनगरनी श्री

जीवणभाई अबजीभाई जैन संस्कृत पाठशाळा ना प्राध्यापक सुश्रावक प्रमुलखभाई ओ पण फर्माओ वांची भूलो काळजीथी सुधारी श्रुतभक्तिनो अपूर्व लाभ लीधो छे.

उपर्युक्त सर्वे पूजनीय आचार्यादि मुनि भगवंतो, सुश्रावक प्राध्यापको तथा शेष जे कोई पण महात्माओए आ ग्रन्थना लेखन के संपादनना कार्यमां अनन्तर के परम्पराए सहाय करी होय ते, सर्वेनो हुं हृदयथी आभारी छुं, अने आ ग्रन्थनी प्रशस्ततानो सर्वयश तेमने समर्पी यत्किञ्चित् कृतार्थता अनुभवुं छुं.

अन्ते आ ग्रंथनुं संशोधन तथा शुद्धिपत्रक अनेक विद्वानमुनिराजो तथा पंडितवर्य सुश्रावको पासे कराव्युं छे छतां दृष्टिदोष, प्रेसदोष के छद्मस्थता वश रही गयेल भूलोनो हुं वारंवार मिच्छामि दुक्कडं आपुं छुं, अने वाचक वर्गने नम्र विनंती करुं छुं के जे कांई भूल देखाय ते मने जणाववा अनुग्रह करे.

सर्वे भव्यात्माओ आ ग्रंथना पठनपाठनद्वारा विपुल कर्मनिर्जरा प्राप्त करी अन्ते शाश्वत सुख अनुभवे ओज शुभाभिलाषा...............

लि॰

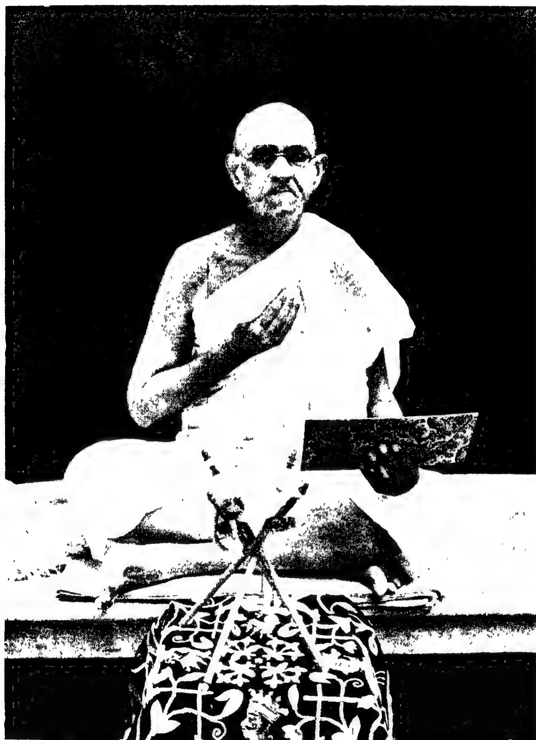
श्री तपगच्छ अमर जैनशाळा
टेकरी
खंभात
संवत् २०२३ ज्येष्ठ वदि १३ बुधवार

भवोदधितारक पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराजश्रीना शिष्यरत्न प्रवचनप्रभावक तपोनिधि पू॰ पंन्यास प्रवर श्री भानुविजयजी गणिवर्यना शिष्यरत्न-पू॰मुनिवर्यश्री धर्मानन्दविजयजी नो शिष्य मुनि

जयशेखरविजय



सकलागमरहस्यवेदि-सूरिपुरन्दर-बहुश्रुतगीतार्थ-परमज्योतिर्विद् परमगुरुदेव



परमपूज्य आचार्यदेवेश श्रीमद्विजयदानसूरीश्वरजी महाराजा

प्रकाशक की ओर से

"श्रेयांसि बहुविघ्नानि" इस उक्ति से शुभ कार्यों की सफलता में विघ्नप्रचुरता की संभावना होते हुए भी देवगुरु की असीम कृपा व प्रबलपुण्य के प्रकर्ष से इस उक्ति को अन्यथा करते हुए हम भारतीय प्रा० त० प्र० समिति के कार्यवाहक प्रचुर प्रमोदभर मेदुर हुए हैं। हमारी समिति द्वारा गतवर्ष (१) **खवगसेढी** व (२) **ठिइबंधो** दो विशालकाय ग्रन्थों का चिरस्मरणीय प्रकाशन समारोह अहमदाबाद में हुआ और विद्वज्जनता ने इन ग्रन्थों का हार्दिक अभिनन्दन किया। 'खवगसेढी' और "ठिइबंधो" में किये गए हमारे निवेदनानुसार यह तीसरा ग्रन्थ **'मूलपयडि रसबंधो'** और ४ चौथा ग्रन्थ **'मूलपयडी पएसबन्धो'** स्रोत्तमांगन्यस्तमुकुलितकरकुड्मल हम विद्वत्समाज के करकमल में अर्पण करते हैं।

ग्रन्थ की छपाई आदि में अर्थ व्यय आवश्यक होता है। इस ग्रन्थ की छपाई के व्यय के न्यौछावर की तौर पर दमणनिवासी श्रेष्ठिवर्य **स्व० नवलचंद दीपचंद** के सुपुत्र **स्व० चम्पकलाल नवलचंद** व **सोभागचंद नवलचन्द** की ओर से १००००) दशहजार रुपये का उदार दान मिला है। दाताओं को कोटिशः धन्यवाद।

स्व० श्रीयुत **चंपकलाल** द्वादश व्रतधारी श्रावक थे। आपका शास्त्रबोध भी काफी था। आपने अपने जीवन में न केवल श्रीवर्धमान आयंबिलतप उपधानतप वगैरह तपश्चर्या ही की थी किन्तु अपनी सन्तानों में पारलौकिक पाथेय तुल्य श्रीधर्म का सिंचन भी पर्याप्त किया था जिसके फलस्वरूप आपकी सुपुत्री बालब्रह्मचारिणी **जशवंतीबहन**(अब साध्वीजी म० श्री **हर्षप्रभाश्रीजी**) ने १९ वर्ष की युवानी में ही विद्यमान सांसारिक भोगसामग्री और उनकी आशाओं का अन्त करके परमकल्याणकारिणी पारमेश्वरी प्रव्रज्या अंगीकार की थी। स्वर्गस्थ के सुपुत्र **प्रवीणचन्द्र** में भी धार्मिक संस्कार अनायास दृष्टिगोचर होते हैं। आपका व आपके कुटुंबका धार्मिक जीवन सराहनीय और अनुसरणीय है। आपने वर्षों तक श्री दमण जैनमन्दिरजी का कारोबार पूर्णभक्ति व चतुराई से सम्हाला था व युवानी में ही आजीवन चतुर्थव्रत अंगीकार किया था।

श्रीयुत् **सोभागभाई** अत्यन्त मिलनसार व्यक्ति हैं। आपकी धार्मिकता व नैतिकता कीसौरभका जिन्हें भी अनुभव हुआ मुक्तकण्ठ से तारीफ किए बिना नहीं रहे। अनीति एवं आरंभद्वारा उपार्जि लक्ष्मी की लालचमें आप शायद ही आते हैं। अर्थोपार्जन के सलाहकार आपके सम्पर्क में नाकामयाब रहते हैं। आपकी न्याय सम्पन्नता अनुकरणीय है। आपने और आपकी धर्मपत्नी अ० सौ० **कुसुमबहन** ने ज्ञानपञ्चमी वर्धमानतप अट्ठाई आदि तपश्चर्या भी की है, आप दोनों इनदिनों नवकार मन्त्र

नौलाख जाप की आराधना कर रहे हैं। आप चार सुपुत्र और एक सुपुत्री के संस्कारी पिता हैं। आपकी संतानों में आधुनिक शिक्षा के साथ सदाचार व आस्तिकता पर्याप्त झलकती है। आपकी बडी बहन (हाल **महानन्दाश्रीजीने**) प्रव्रज्या अंगीकार की है। एवं सांसारिक नाते से उनके दो पुत्र व चार पुत्रियों ने भी वात्सल्य मूर्त्ति माता का अनुकरण किया है। ज्येष्ठ पुत्र पू० मुनिश्री **धर्मानन्दविजयजी म०**, आप इस कर्मसाहित्य के पदार्थ संग्रहकार हैं। लघुपुत्र पू० मुनिश्री **जयशेखरविजयजी** म० इस ग्रन्थकी टीका आपने ही लिखी है।

पाश्चात्यों का प्रबलसहवास रहने पर भी भारतभूमि की आध्यात्मिकता ज्यों की त्यों ओझल में सदा की भांति सजीव रही हैं। इसी के फलस्वरूप कर्मसाहित्य जैसे द्रव्यानुयोग के साहित्य का सर्जन व प्रकाशन आजभी सुलभता से हो रहा है। दाता का द्रव्य व हमारा परिश्रम भी तब ही सफल हुआ है जब कि निस्पृह शिरोमणि सिद्धान्तमहोदधि कर्मसाहित्यनिष्णात परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद् **विजयप्रेमसूरीश्वरजी** महाराज साहब ने अपने प्रशिष्यों द्वारा सर्जित साहित्य को मुद्रित करवाने हेतु हमें सुपुर्द किया। अतः करोडों वंदनपूर्वक पूज्यश्री का एहसान प्रगट करते हैं। इस साहित्य प्रासाद निर्माण के स्तम्भभृत, ग्रन्थ में गुम्फित पदार्थों (तत्त्वों) के संग्रहकार महात्मा, मूलग्रन्थ की प्राकृत गाथाओं के रचयिता व विशाल और सुबोध टीका के लेखक महात्मा को भक्त्या नतमस्तक वंदन करते हैं व करोडों धन्यवाद के साथ एहसान मानते है। यतः इस साहित्यरथ के वृषभस्थानीय आपही हैं।

परमतपस्वी न्यायविशारद पू० पं० भानुविजयजी गणिवर के शिष्य पूज्यमुनिश्री**जितेन्द्रविजय**जीने अपना अमूल्य समय देकर प्रस्तावना लिखी है। आपका उपकार किन शब्दों में व्यक्त करें!

इस ग्रन्थ का मुद्रण हमारी संस्था के निजी **ज्ञानोदय प्रेस पिन्डवाड़ा (राज०)** में हुआ है प्रेस के मैनेजर ब्यावर निवासी श्रीयुत् **फतहचन्दजी जैन** (हालावाले) व **अन्य कर्मचारी** भी इस अवसर पर याद आए बिना नहीं रहते, जिनकी आत्मीयता से संस्था प्रकाशन कार्य सुचारु रूप से कर रही है। लक्ष्मीनन्दनों से तो कुछ भी नहीं कहना है क्योंकि उन्हें तो मातृस्थानीय लक्ष्मी माँ के अधीन ही जीना है अतः पूंजीपतियों से प्रार्थना है कि इस ज्ञान यज्ञ रूप हमारे साहित्य प्रकाशन के कार्य में तन मन धन का सदा की भांति सहयोग प्रदान करते रहें।

भवदीय

(i) पिण्डवाड़ा
स्टे० सिरोहीरोड (राजस्थान)
(ii) १३५/३७ जौहरी बाजार
बम्बई–२

शा० समरथमल रायचन्दजी (मंत्री)
शा० शान्तिलाल सोमचंद (भाणाभाई) चोकसी (मन्त्री)
शा० लालचन्द छगनलालजी (मन्त्री)
भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति

आज हमारी समिति का ट्रस्टी मण्डल

●

* प्रस्तावना *

लेखकः-पूज्य मुनिराज श्री जितेन्द्रविजयजी महाराज

"साधवः शास्त्रचक्षुषः" न्यायविशारद महामहोपाध्याय तार्किकतृणतर्णक वादिगजकेसरी श्रीमद् यशोविजयजी महाराज फरमाते हैं कि साधुपुरुष केवल चर्म-चक्षु से नहीं, शास्त्रचक्षु से देखते हैं।

पानी में शक्कर पडी है या उसमें नमक घुला पडा है। इसे गरूडकी चक्षु भी परख न पाएगी यतः चक्षु रंगको जान सकती है न कि रसको भी। इसी तरह इस चराचर विश्व में ऐसी अनेकानेक चीजें हैं जिन्हें बिना सर्वज्ञ के जानना केवल मुश्किल ही नहीं अशक्य भी है। दुष-मानुभाव से अपने यहाँ इन दिनों सर्वज्ञ का सर्वथा अभाव है। फिरभी २५०० वर्ष पूर्व सर्वज्ञ प्रभु महावीर द्वारा उपदिष्ट तत्त्व महाव्रतधारी आचार्यादि की परम्परा से आज भी हमें उपलब्ध हैं। कर्मसाहित्य सर्वज्ञ कथित तत्त्वान्तर्गत है।

ग्रन्थकार-प्रस्तुतग्रन्थ "मूलपयडिरसबन्धो" बन्धविधान महाशास्त्र का एक अवयव है। मूलग्रन्थ व टीका में प्रतिपादित पदार्थों (तत्त्वों)का कुशाग्रधिया संकलन आगम-छेद-प्रकरणादि ग्रन्थों के ज्ञाता विद्वान् पूज्य मुनिराज श्री **जयघोषविजयजी** महाराज और पूज्य मुनिराज श्री **धर्मानन्दविजयजी** महाराज तथा मूलग्रन्थकार मुनिराज श्री **वीरशेखर विजयजी** महाराज ने किया है। ग्रन्थ के प्राकृतश्लोक के निर्माता परमगीतार्थ पू० प० हेमन्तविजयजी गणिवर के विनेय मुनिश्री ललितशेखर वि० म० के शिष्य न्याय व्याकरण-साहित्य-रसिक मुनिराज श्री राजशेखर विजयजी म० के शिष्य प्राकृत विशारद मुनिश्री **वीरशेखरविजयजी** म० हैं। विद्वान् मुनिश्री **जयशेखरविजयजी** म० ने इस ग्रन्थ की संस्कृत टीका लिखी है, आप पूज्य मुनिश्री धर्मानन्द वि० म० के (सांसारिक लघुबन्धु) शिष्य हैं। इन महात्माओं से मेरा व्यक्ति-गत घना सम्पर्क है।

ग्रन्थका विषयः—इस ग्रन्थ में कर्मकी ज्ञानावरणादि आठमूल प्रकृतिओं के रस का विशदवर्णन है। जिसका कुछ खयाल संस्कृतभाषाके अनभिज्ञों को भी विषय परिचय पढने पर आ सकेगा गिर्वाणगिराके अभिज्ञ विद्वान् तो ग्रन्थावगाहन से ही जिज्ञासा की निवृत्ति करें।

संज्ञि (मनवाले) प्राणियों को मनकी प्राप्ति पूर्वोपार्जित पुण्य से होती है। एकेन्द्रियसे-असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक की आत्माओं को तथाविध व्यक्त मन नहीं मिला है। विश्वमें ये व्यक्तमनरहित प्राणी अनन्तानन्त हैं। समनस्क (मनवाले) प्राणी विश्व में इन मनरहित प्राणिओं की अपेक्षा अनन्तभागमात्र हैं।

"**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः**"। कर्मबन्ध की भांति कर्म से मुक्ति पाने में भी मनकी सहाय अपेक्षित है।

शुभयोग में संलग्न मन ही कर्म से मुक्ति पाने में सहायक बन सकता है। सर्वज्ञ कथित तत्त्वों के प्रतिपादक ग्रन्थों का पठन पाठन शुभतम योग है। इस ग्रन्थ में सर्वज्ञ कथित पदार्थो का प्रतिपादन है। अतः पठन पाठन द्वारा यह ग्रन्थ चित्त प्रसाद व तद्द्वारा कर्मों से मुक्ति पाने (निर्जरा) का परम साधन है।

ग्रन्थावलोकन—मूलग्रन्थ प्राकृतभाषा और मुख्यवृत्त्या आर्याछन्द में है। टीकाकार ने ग्रन्थकी टीका संस्कृत में विशद और सरल शैली में लिखी है।

जहां भी ग्रन्थ का भाव समझने में कुछ कठिनाई सी प्रतीत हुई है वहाँ वहाँ टीका में 'कुत एतदवसीयते' 'कुतः' 'इति चेत्' 'ननु' इत्यादि द्वारा प्रश्न उठाकर उत्तर दिया है। पदार्थ को अधिक समझाने के लिए 'इयमत्र भावना' 'एतदुक्तं भवति'-आदि द्वारा सरल और विस्तृत वर्णन जगह जगह पर कर के ग्रन्थ समझने में सरलता की गई है-चरमाधिकार (अध्यवसाय समुदाहाराधिकार) में प्रतिपादित विषय को समझाने हेतु गणित का सहारा लेकर विषय को सरल बनाने का प्रयत्न किया है। आधुनिक गणित, असत्कल्पना और अंकस्थापना द्वारा भी पदार्थ को सरल किया गया है, फिर भी गणित के स्वल्प अभ्यास वालों को गुरुगमकी अपेक्षा रहेगी ही ऐसा मेरा अनुमान है। टीका में वर्णित पदार्थों के नवनीततुल्य यन्त्रों की भी ग्रन्थ में प्रचुरता प्रत्यक्ष हुई है, जिनकी संख्या ७२ करीब है। मूलग्रन्थ की प्राकृत गाथाएँ ७८५, संस्कृतटीका करीब १७००० सत्तरह हजार श्लोक प्रमाण है।

अथ स्वाध्यायरसिकाः सानुनयं प्रार्थ्यन्ते साद्यन्तग्रन्थावगाहनायेति



समर्पण

जे महापुरुषे संसारसमुद्रमां डूबता एवा मने बचाव्यो संयमनौकामां बेसाड्यो, ए नौकाना पोते सुकानी बनी प्रमादादि खडकोथी मारुं रक्षण कर्युं । जेओए रागद्वेषपावकमांथी उद्भवती विकल्पज्वालाओथी थता अन्तर्दाहने कृपारसना सिंचनथी उपशान्त कर्यो, अने अनन्तना प्रयाम-माटे ज्ञानदर्शनचारित्ररूप महाकल्याण पाथेय तथा अद्‌भूत प्रशान्तरसनुं पान आप्युं ।

वळी जेओनी परमकृपा, प्रबलप्रेरणा अने प्रकृष्ट प्रभावथी आ ग्रन्थनुं सर्जन संपादन मारा जेवो पामर करी शक्यो, ते परमतारक परमाराध्यपाद परमप्रभावक कल्याणमूर्ति कर्मशास्त्रनिष्णात सिद्धान्तमहोदधि सुविशालगच्छाधिपति प्रगुरुमह आचार्यभगवन्त...............

श्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वरजीमहाराजाना

पावन करकमलमां........

चरणसेवक जयशेखरविजय

आ ग्रन्थसर्जनना प्रेरक, मार्गदर्शक अने संशोधक-



सिद्धांतमहोदधि सुविशालगच्छाधिपति संघकौशल्याधार कर्मशास्त्ररहस्यवेदी शासनशिरताज

परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद्‌विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराजा

વિષય પરિચય

પીઠિકા:– રસ શબ્દમાં જ એવું ગૂઢતમ બળ છે. કે જે સાંભળતાં જ કાન ઊંચા થઇ જાય છે. હૈયું હેલે ચઢે છે, મન નાચી ઉઠે છે અને જીભમાં પાણી છૂટે છે. વિશ્વમાં તમામ ક્ષેત્રે રસની પ્રધાનતા દેખાય છે. જેમકે ફળ ગમે તેટલું આકર્ષક હોય પરંતુ જો એમાંથી રસે રીસામણાં લીધા હોય તો તે ફળ પ્રિય બનતું નથી. પરસેવાના પાણી વહેવડાવી તૈયાર કરેલી રસોઈનો આધાર પણ રસ ઉપર જ છે. અને તેથી જ જમનારાનાં મુખમાંથી પ્રશંસાના ફૂલો સહજ વેરાઈ જાય છે. "કેવું રસદાર (Taste ful) ભોજન !" કાવ્યોમાં પણ રસની રમઝટ જામી હોય તો જ કાવ્ય ચમત્કૃતિવાળું કહેવાય છે. સિનેમા, નાટક, ભાષણ કે વ્યાખ્યાન વગેરેમાં પણ હાઉસ ફૂલ (House full) ત્યારે જ થાય છે કે જ્યારે તેમાં રસની રેલમછેલ હોય.

એવું કયું ક્ષેત્ર છે કે જ્યાં રસની સાર્વભૌમતા ન હોય ? ખેતરમાં ખેતી કરતા ખેડૂતથી માંડી રાષ્ટ્રનું અનુશાસન કરનાર રાષ્ટ્રપતિ સુધી રસની ઉજ્જવલ યશોગાથા નિરંતર ગવાઈ રહી છે. આ બધા રસોનું મહત્ત્વ તે રસના હિસાબે કશું જ નથી કે જે રસનો નિર્દેશ અમે આ ગ્રંથમાં કરી રહ્યા છે. કેમકે સર્વક્ષેત્રે રહેલા રસોને રસિકતાનું દાન કરનાર પ્રદાતા કાર્મિક રસાણુઓ છે. તેથી જ તે રસાધિરાજ કે રસેશ્વર ગણાય.

તે કાર્મિક રસાણુ વિશ્વનો ભાગ્ય વિધાતા છે. તેની જો ખફા મરજી થઈ તો આપણને તે દુખની ખીણમાં ધકેલી દે છે. અને જો મહેરબાની થઇ તો સુખના હિંડોળે હીંચોળે છે. એટલે જ કાર્મિક રસાણુના બે પાસા છે. એક છે વિશ્વને ત્રાસરૂપ એની પાશવી તાકાતનું અને બીજું છે વિશ્વને આશીર્વાદરૂપ દૈવી તાકાતનું. આ બન્ને પાસાને શાસ્ત્રીય પરિભાષામાં પાપ અને પુણ્ય કહેવાય છે. અથવા અશુભરસ અને શુભરસ કહેવાય છે.

વિશ્વનું સંચાલન આજ પાપ પુણ્યના ગણિતના આધારે ચાલે છે. પ્રતિકૂળતા, પ્રતિપળ ભય, ત્રાસ, ચિંતા, દુઃખ અને નિરાધારતા, એ આત્મ પ્રદેશો પર બાઝેલા પાપકર્મના રસાણુઓની માઠી અસરનું પરિણામ છે. જ્યારે અનુકૂળતા, નિર્ભયતા, નિશ્ચિંતતા, સુખ અને હૂંફ એ પુણ્યકર્મના રસાણુઓની શુભ અસરનું પરિણામ છે. આમ પુણ્ય પાપની એ આંખોના ઈશારે વિશ્વનું તંત્ર ચલાવનાર કર્મ અથવા તે કર્મનો રસ એક મહાસત્તાધીશ છે.

આપણે જે કાંઈ મનથી વિચારીએ છીએ, વચનથી ઉચ્ચારીએ છીએ, કાયાથી આચરીએ છીએ અને વાયુમંડળમાં શ્વાસોચ્છ્વાસનું જે આદાનપ્રદાન કરી રહ્યા છીએ તેમાં પણ કાર્મિક રસાણુઓની જ જાદુઈ કરામત છે. ચક્રવર્તિ કે ઈન્દ્ર જેવા ગમે તેટલા મોટા

બળવાન કેમ ન હોય ? તેઓ ભલે અડોલગિરિશૃંગને પણ હચમચાવી શકતા હોય, અમાપ અગાધ એવા મહાસાગરને પણ ભુજાથી તરવા શક્તિમાન હોય અને અનંત એવા આકાશમાં સ્વેચ્છાએ વિહરી શકવા પણ સમર્થ હોય પરંતુ અંતે તો તેઓ અતિસૂક્ષ્મ એવા ભીષણ કાર્મિક રસાણુની તાકાતની તુચ્છ પેદાશ રૂપ જ છે. એવું આ જીવસૃષ્ટિમાં કશું જ નથી કે જ્યાં કાર્મિક રસાણુઓએ પોતાની વિપાકશક્તિરૂપ તેજ છાયા પાથરી ન હોય. જળમાં રહેનાર કોઈ લઘુતમ જળજંતુ હોય કે મહાકાય મગરમચ્છ હોય, સ્થળ પ્રદેશ પર રહેતી કોઈ કીડી હોય કે હિમાલય જેવડો હાથી, હોય અથવા કોઈ કાળા અક્ષરને કુટી મારે એવો અભણ ગામડીઓ હોય કે ભેજાબાજ મહાન વૈજ્ઞાનિક હોય, ગગનમાં વિહરનાર કોઈ પંખેરું હોય કે આજનો અવકાશયાત્રી હોય આમ સહુ કોઈમાં કાર્મિક રસાણુઓની ગણિતાત્મક ગોઠવણી જ સદા કામ કરતી હોય છે.

કર્મ :—આ કર્મને સાંખ્ય વગેરે દર્શનો કરતાં જૈનદર્શન કઈ કઇ વિશિષ્ટતાવાળું સ્વીકારે છે? અને એ રીતે કર્મને માનવાથી વિશ્વની કેટલીયે સમસ્યાનો ઉકેલ શી રીતે આવી શકે છે? કર્મને મૂર્ત જ માનવાથી ઉદયાદિ કેવી રીતે ઘટી શકે છે? અને જો મૂર્ત માનવામાં ન આવે તો કેટકેટલી અસંગતિઓ આવી પડે છે? કર્મની સિદ્ધિ કયા કયા પ્રકારે થઈ શકે? કર્મના મૂળ ભેદો અને ઉત્તરભેદો કેટલા અને તેનું સ્વરૂપ શું? વગેરેનું સુંદર વર્ણન કર્મ સંબંધી અનેક ગ્રંથોમાં કરેલ છે. તેથી અહીં આપણે વિશ્વમાં પુદ્ગલો કેવી રીતે રહેલાં છે? એમાં કાર્મણવર્ગણાના પુદ્ગલો કર્મ સ્વરૂપ ક્યારે બને છે? બંધ વગેરે કેવી રીતે થાય છે? બંધના પ્રકારો કેટલા? એમાં રસબંધની મુખ્યતા શાથી? રસબંધનું સ્વરૂપ શું? કાર્મિક રસાણુની ઉત્પત્તિ વગેરે કેવી રીતે થાય છે? વગેરેનો વિચાર કરી આ ગ્રંથના વિષયનો પરિચય કરીશું.

આ વિશ્વ છૂટા છૂટા પરમાણુઓથી માંડી * ઔદારિકાદિ ૨૬ વર્ગણાઓનાં પુદ્ગલોથી ઠાંસી ઠાંસીને ભરેલું છે. વિશ્વનો એક પણ પ્રદેશ એવો નથી કે જ્યાં પુદ્ગલની લીલા ન

---

*વિશ્વમા રહેલા અચેતન દ્રવ્યોમા રૂપ, રસ, ગંધ અને સ્પર્શવાળા પ્રત્યેક દ્રવ્યોને પુદ્ગલ દ્રવ્યો કહેવાય છે. આ પુદ્ગલદ્રવ્યો એક પરમાણુ, બે પરમાણુ, ત્રણ પરમાણુ, ચાર પરમાણુ એમ ઉત્તરોત્તર એકેક પરમાણુ વધતા યાવત કેટલાક અસંખ્યાતપરમાણુઓના બનેલા અને કેટલાક અનંતપરમાણુઓના બનેલા હોય છે. આમા પરમાણુઓ એટલે જેના બે વિભાગ પણ ન થઈ શકે તેવા અવિભાજ્ય પુદ્ગલ-દ્રવ્યો છે. જ્યારે બે ત્રણ વગેરે પરમાણુઓથી બનેલાં દ્વયણુક, ત્ર્યણુક વગેરે પુદ્ગલદ્રવ્યો વિભાજ્ય પુદ્ગલ-દ્રવ્યો છે. આ પરમાણું સિવાયના દ્વયણુક ત્ર્યણુક વગેરે અનન્તાણુક સુધીના દરેક દ્રવ્યોને સ્કન્ધ કહેવાય છે. આ સ્કન્ધોમાથી અમુક ચોક્કસ સંખ્યાના પરમાણુંવાળા સ્કન્ધોને **ઔદારિકવર્ગણા** વગેરે વર્ગ-ણાઓ કહેવાય છે. આ વર્ગણાઓ શાસ્ત્રોમા ૨૬ પ્રકારની કહી છે. તે ઉત્તરોત્તર અધિક અધિક પરમાણુ-ઓવાળા સ્કન્ધોની હોય છે. તેમાથી અહી જીવને ઉપયોગી ઔદારિકથી માંડી કાર્મણ સુધીની વર્ગણાઓ, અને તેમાં, આવતા સ્કન્ધો જઘન્યથી અને ઉત્કૃષ્ટથી કેટલાં પરમાણુઓના બનેલા હોય છે તે નીચેના **કોષ્ટકથી જાણી શકાશે** :—

હોય. એ પુદ્ગલો જ્યારે અનંતપ્રદેશી એટલે કે અનંત પરમાણુઓ ભેગા થઈ એક સ્કંધ રૂપે બનેલા હોય, અને તે સ્કંધ જઘન્યથી અંગુલના અસંખ્યભાગપ્રમાણ અસંખ્ય

ક્રમ	વર્ગણાનુ નામ	જઘન્યથી કેટલા પરમાણું હોય	ઉત્કૃષ્ટથી કેટલા પરમાણું હોય ?
૧	ઔદારિક અગ્રાહ્ય વર્ગણા	૧ પરમાણું	અભવ્યથી અનંતગુણ એવા સિદ્ધના અનંતમા ભાગ વાળી સંખ્યા જેટલા.
૨	**ઔદારિક વર્ગણા** (ગ્રાહ્ય)	ઉપરનીવર્ગણાનાઉત્કૃષ્ટ+ ૧ પરમાણુ	સ્વજઘન્ય+સ્વજઘન્યનો અનંતમોભાગ
૩	વૈક્રિય અગ્રાહ્ય વર્ગણા	,, ,, + ,,	,, ,, ×અનંત †
૪	વૈક્રિય વર્ગણા (ગ્રાહ્ય)	,, ,, + ,,	,, ,, +સ્વજઘન્યનો અનંતમો ભાગ
૫	આહારક અગ્રાહ્ય વર્ગણા	,, ,, + ,,	,, ,, ×અનંત
૬	આહારક વર્ગણા (ગ્રાહ્ય)	,, ,, + ,,	,, ,, +સ્વજઘન્યનો અનંતમો ભાગ
૭	તૈજસ અગ્રાહ્ય વર્ગણા	,, ,, + ,,	,, ,, ×અનંત
૮	તૈજસ વર્ગણા (ગ્રાહ્ય)	,, ,, + ,,	,, ,, +સ્વજઘન્યનો અનંતમો ભાગ
૯	ભાષા અગ્રાહ્ય વર્ગણા	,, ,, + ,,	,, ,, ×અનંત
૧૦	ભાષા વર્ગણા (ગ્રાહ્ય)	,, ,, + ,,	,, ,, +સ્વજઘન્યનો અનંતમો ભાગ
૧૧	ઉચ્છ્વાસ અગ્રાહ્ય વર્ગણા	,, ,, + ,,	,, ,, ×અનંત
૧૨	ઉચ્છ્વાસ વર્ગણા (ગ્રાહ્ય)	,, ,, + ,,	,, ,, +સ્વજઘન્યનો અનંતમો ભાગ
૧૩	મન અગ્રાહ્ય વર્ગણા	,, ,, + ,,	,, ,, ×અનંત
૧૪	મન વર્ગણા (ગ્રાહ્ય)	,, ,, + ,,	,, ,, +સ્વજઘન્યનો અનંતમો ભાગ
૧૫	કાર્મણ અગ્રાહ્ય વર્ગણા	,, ,, + ,,	,, ,, ×અનંત
૧૬	કાર્મણ વર્ગણા (ગ્રાહ્ય)	,, ,, + ,,	,, ,, +સ્વજઘન્યનો અનંતમો ભાગ

૧૭ મી વગેરે વર્ગણાના નામ આ પ્રમાણે છે :—(૧૭) ધ્રુવાચિત્તવર્ગણા, (૧૮) અધ્રુવાચિત્તવર્ગણા, (૧૯) પ્રથમ શૂન્યવર્ગણા, (૨૦) પ્રત્યેકશરીરવર્ગણા, (૨૧) દ્વિતીય શૂન્યવર્ગણા, (૨૨) બાદરનિગોદ વર્ગણા, (૨૩) તૃતીય શૂન્યવર્ગણા, (૨૪) સૂક્ષ્મનિગોદવર્ગણા, (૨૫) ચતુર્થ શૂન્યવર્ગણા, (૨૬) અચિત્ત-મહાસ્કન્ધ. આ વર્ગણાઓનુ વિશેષસ્વરૂપ કર્મપ્રકૃતિ વગેરે ગ્રન્થોથી જાણી લેવુ. અહી 'વિષય–પરિચય' મા ઔદારિક વગેરે વર્ગણાને સમજવા આટલુ પર્યાપ્ત છે.

આ ૧૬ વર્ગણાઓમા બીજી, ચોથી, છઠ્ઠી વગેરે વર્ગણાઓ કે જે વર્ગણાઓના સ્કન્ધોમાંથી મનુષ્ય વગેરેના ઔદારિકશરીરો, દેવ વગેરેનાં વૈક્રિયશરીરો, પૂર્વધરમુનિઓના પ્રસંગવશાત્ બનાવાતાં આહારકશરીરો વગેરે બનતાં હોઈ તે વર્ગણાઓ ઔદારિકાદિવર્ગણાઓ (ઔદારિકાદિ ગ્રાહ્ય વર્ગણાઓ) કહેવાય છે. જ્યારે ઔદારિકાદિ તે તે વર્ગણાના પૂર્વ પૂર્વની પહેલી, ત્રીજી, પાચમી વગેરે વર્ગણાઓમાં રહેલા સ્કન્ધોમાથી ઔદારિકાદિ શરીર નહિ બની શકતાં હોવાથી તે પહેલી ત્રીજી વગેરે ઔદારિકઅગ્રાહ્ય, વૈક્રિયઅગ્રાહ્ય વગેરે નામવાલી વર્ગણાઓ કહેવાય છે.

†અહીંયાં ગુણક અભવ્યથી અનન્તગુણ અને સિદ્ધના અનન્તમા ભાગ જેવડો છે. એ પ્રમાણે નીચે પણ જ્યા– 'અનંત' કહ્યું છે ત્યાં ગુણક અભવ્યથી અનન્તગુણ અને સિદ્ધોના અનન્તમા ભાગ જેવડો સમજવો.

આકાશપ્રદેશને વ્યાપીને રહેલો હોય ત્યારે તે જીવને ગ્રહણયોગ્ય બને છે. ૨૬ વર્ગણાઓ-માંથી જીવ ગ્રહણ કરી શકે એવી ઔદારિક, વૈક્રિય, આહારક, તૈજસ, ભાષા, ઉચ્છવાસ, મન અને કાર્મણ એમ આઠ વર્ગણા છે. જ્યારે જીવ કાર્મણ વર્ગણા ગ્રહણ કરે છે ત્યારે તે કર્મ કહેવાય છે.

આ લોકમાં સર્વત્ર કાર્મણ વર્ગણાઓ હોવા છતાં તે વર્ગણાઓ પોતાની મેળે આત્માના પ્રદેશો સાથે ચોંટતી નથી, જેવી રીતે લોઢાનો સ્વભાવ અયસ્કાન્તમણિ (લોહચુંબક)ને વળગી જવાનો છે, પરંતુ લોઢા સામે અયસ્કાન્તમણિનું વિશિષ્ટ આકર્ષણ હોય તો જ લોઢું અયસ્કાન્તમણિને વળગે છે. તેવી જ રીતે કાર્મણવર્ગણા યોગબળરૂપ આકર્ષણથી આત્માને વળગે છે. જેમ અયસ્કાન્તમણિમાં લોઢાને ખેંચવાની કુદરતી શક્તિ છે અને લોઢામાં ખેંચાવાની લાયકાત છે, તેમ આત્મામાં યોગબળથી કાર્મણવર્ગણાને ખેંચવાની શક્તિ છે. અને કાર્મણ-વર્ગણામાં ખેંચાવાની લાયકાત છે. બે વસ્તુઓમાં એકનો ખેંચવાનો અને બીજાને ખેંચાવાનો સ્વભાવ હોય તો જ બે વસ્તુઓનો સંબંધ થઈ શકે છે એ જ ન્યાયે કાર્મણ-વર્ગણાઓ જીવને ચોટી શકે છે. વસ્તુઓના આવા સ્વભાવો કૃત્રિમ નથી પણ કુદરતી હોય છે. કાલ્પનિક નહિ પણ વસ્તુસત્ છે. જેવી રીતે તેલવાળા શરીર પર ધૂળની રજકણો અત્યંત ગાઢ રીતે ચોટી જાય છે તેવી જ રીતે રાગાદિ કષાયોની ચિકાશથી સ્નિગ્ધ થએલા જીવને યોગથી ગ્રહણ થતી કાર્મણવર્ગણાઓ ગાઢ રીતે વળગે છે. આત્મપ્રદેશો જે આકાશ-પ્રદેશોમાં છે તે આકાશપ્રદેશોની બહાર રહેલી વર્ગણાઓ આત્માને વળગતી નથી પણ જે આકાશપ્રદેશમાં આત્મા છે તે જ આકાશ પ્રદેશોમાં રહેલી કાર્મણવર્ગણાઓ આત્માને વળગે છે. તે વર્ગણાઓ આત્મા સાથે દૂધ અને પાણીની જેમ મળી જાય છે તપાવેલા લોઢામાં જેમ અગ્નિ વ્યાપીને રહે છે, તેમ આત્મપ્રદેશો સાથે આ વર્ગણાઓ વ્યાપીને રહે છે. આને **કર્મબંધ** કહેવાય છે.

કર્મબંધના મુખ્ય ચાર ભેદો

બંધ વખતની આત્માની કષાયાદિ પરિણતિને અનુસારે આત્મા સાથે જોડાઈ રહેલા કાર્મણવર્ગણાના પુદ્ગલોમાં અનેક પ્રકારની વિશેષતાઓ ઉત્પન્ન થાય છે. તેમાંની ચાર મુખ્ય વિશેષતાઓને આશ્રીને એક જ સમયે થયેલો તે બંધ ચાર પ્રકારનો કહેવાય છે.

(૧) પ્રકૃતિબંધ (૨) સ્થિતિબંધ (૩) રસબંધ અને (૪) પ્રદેશબંધ

પ્રકૃતિબંધ :–કાર્મણવર્ગણાના પુદ્ગલો આત્મા સાથે બદ્ધ થવાથી કર્મરૂપે બને છે. તે જ વખતે તે કર્મોના દલિકોમાં (અણુઓમાં) જ્ઞાનાદિગુણોને આવરવાનો સ્વભાવ ઉત્પન્ન થાય છે. જેમકે કેટલાંક કર્મદલિકોમાં આત્માના જ્ઞાન ગુણને, જ્યારે કેટલાંક દલિકોમાં દર્શનગુણ વગેરેને આવરવાનો સ્વભાવ ઉત્પન્ન થાય છે આમ સ્વભાવનું નિયમન થવુ. તે પ્રકૃતિબંધ.

મુખ્ય કર્મપ્રકૃતિઓ આઠ છે

(૧) જ્ઞાનાવરણીય કર્મપ્રકૃતિ (૨) દર્શનાવરણીયકર્મપ્રકૃતિ (૩) વેદનીય કર્મપ્રકૃતિ (૪) મોહનીય કર્મપ્રકૃતિ (૫) આયુકર્મપ્રકૃતિ (૬) નામકર્મપ્રકૃતિ (૭) ગોત્રકર્મપ્રકૃતિ (૮) અંતરાય કર્મપ્રકૃતિ. આ મુખ્ય આઠ સ્વભાવના (પ્રકૃતિઓના) અવાંતર ભેદો અસંખ્યાતા છે પણ તેનો સંગ્રહ ૧૫૮ ભેદોમાં કરવામાં આવે છે. આને ઉત્તરકર્મપ્રકૃતિઓ કહેવામાં આવે છે. આ ઉત્તરપ્રકૃતિભેદોના નામ, વ્યાખ્યા વગેરે **કર્મવિપાક** નામના પ્રથમ કર્મગ્રંથમાંથી જાણી લેવા.

જગતમાં છૂટી રહેલી (જીવ સાથે બદ્ધ ન થએલી) કાર્મણવર્ગણામાં જીવના જ્ઞાનાદિ ગુણોને ઢાંકવાનો–આવરવાનો સ્વભાવ નથી પરંતુ જ્યારે જીવના કષાયાદિથી તે કર્મરૂપે પરિણત થાય છે ત્યારે જ તેમાં વિલક્ષણ શક્તિ ઉત્પન્ન થાય છે અને કર્મરૂપે બનેલાં તે પુદ્ગલો જ જીવના ગુણોને આવરવા શક્તિશાળી બને છે. આપણે પ્રતિદિન આપણા જીવનમાં જોઇએ છીએ કે જે આહારાદિના પુદ્ગલો લઈએ છીએ તેઓનું પરિણમન થતા તેમાંથી સાત ધાતુઓનું નિર્માણ થાય છે. આ સાત ધાતુઓ કંઈ બહારના અનાજ વગેરેના ઢગલાઓમાં દેખાતી પણ નથી, પરંતુ જીવ જ્યારે તે અનાજને ગ્રહણ કરી પરિણમાવે છે ત્યારે જ તેમાંથી સાત ધાતુઓ બને છે. જગતના વૈજ્ઞાનિકો અનાજના ઢગલાઓમાં ગમે તે બાહ્ય રસાયણિક પ્રક્રિયા કરે તો પણ શરીરને યોગ્ય લોહીનું એક ટીપું પણ બનાવી શકતા નથી અને તેથી મોટાં મોટાં શહેરોમાં બ્લડ બેંકની (Blood-bank) જરૂર પડે છે. આ ઉપરથી સમજી શકીશું કે જીવના પરિણામથી કાર્મણવર્ગણામાંથી કર્મરૂપે પરિણત થયેલ કાર્મણપુદ્ગલો આત્માના ગુણોને આવરે તેમાં કોઈ નવીનતા કે આશ્ચર્ય નથી.

સ્થિતિબંધ :—આઠે કર્મનો સ્વભાવ નક્કી થવાના સમયે તે કર્મોનું કાળમાન પણ નક્કી થાય છે. તેને સ્થિતિબંધ કહેવાય છે. તાત્પર્ય કે જ્ઞાનાદિને આવનાર કર્મો આત્મપ્રદેશો સાથે કેટલા કાળ સુધી રહેશે તેનો આધાર સ્થિતિબંધ ઉપર છે.

પ્રદેશબંધ :—આયુષ્ય વિના સાત અને આયુષ્ય સાથે આઠ કર્મ બંધાય છે. તે પ્રમાણે ગ્રહણ થતાં કર્મદલિકોના સાત કે આઠ વિભાગ થાય છે તેમાં જ્ઞાનાવરણ ખાતે અમુક કર્મદલિકો દર્શનાવરણ ખાતે અમુક કર્મદલિકો એમ દરેક કર્મના દલિકોનું પ્રમાણ નક્કી થવું તે પ્રદેશબંધ.

રસબંધ :—આ ગ્રંથનું શુભ નામ 'રસબંધ' તે વાચકોથી અજ્ઞાત નથી જ. એ રસબંધ શું છે ? ગ્રહણ કરાતાં કર્મપુદ્ગલોમાં જ્ઞાનાદિગુણોને રોકવાના તે તે સ્વભાવને અનુસારે

જીવ ઉપર અનુગ્રહ કે ઉપઘાત કરવાનું સામર્થ્ય નક્કી થાય છે. અર્થાત્ એની શુભાશુભ ફળ આપવાની શક્તિનો નિર્ણય થાય છે તે **રસબંધ.**

કાર્મણવર્ગણાના પુદ્ગલોમાં સ્વાભાવિક રસ છે તે અલ્પ છે. તે જીવને અનુગ્રહ કે ઉપઘાત કરવા અસમર્થ છે. પણ કષાયથી પરિણત થયેલો જીવ પ્રત્યેક કર્માણુમાં સર્વજીવથી અનંત ગુણો રસ ઉત્પન્ન કરે છે અને તે જીવને અનુગ્રહ અને ઉપઘાત કરવા સમર્થ બને છે. જેમ વસ્તુનું અનુગ્રહ કરવાનું સામર્થ્ય વધુ તેમ તેની કિંમત વધુ અંકાય, જેમ વસ્તુનું ઉપઘાત કરવાનું સામર્થ્ય ઓછું તેમ તે વધુ સારી ગણાય. આની સમજ માટે આપણા વ્યવહારમાં નિત્ય વપરાતી ચીજોમાંથી એક સૂંઠનું દૃષ્ટાંત જોઈએ. સૂંઠનો ગુણ વાયુ હરવાનો, જઠરાગ્નિ પ્રદીપ્ત કરવા વગેરેનો છે તેથી જ્યારે સૂંઠની જરૂર હોય ત્યારે આપણે બજારમાં સૂંઠ લેવા જઇએ છીએ. બજારમાં વિવિધ પ્રકારની સૂંઠ વેચાતી હોવા છતાં અમુક આકારની, અમુક સ્થાનમાં ઉત્પન્ન થયેલી સૂંઠની જ વધુ કિંમત ગણીએ છીએ. તમામ પ્રકારની સૂંઠ ઉપર કહેલ ચિકિત્સા માટે જ બજારમાં વેચાય છે. તેમ છતા એક જ સ્વભાવવાળી તે સૂંઠમાં પોતાની અસર કરવામાં વધુ શક્તિવાળી સૂંઠ જ વધુ કિંમતી ગણાય છે. તેવી જ રીતે શુભકર્મોનો રસ જેમ વધુ તીવ્ર તેમ જીવને અનુગ્રહ (સુખરૂપ ફળ) વધુ કરે છે અશુભકર્મોનો રસ જેમ વધુ મંદ તેમ જીવને ઉપઘાત (દુઃખરૂપ ફળ) ઓછો કરે છે, તેથી સારો ગણાય.

યોગના નિમિત્તથી, ગુણસ્થાનકોના અનુસારે, યથાસંભવ જ્ઞાનાવરણાદિ મૂળ આઠ પ્રકૃતિઓ તથા મતિજ્ઞાનાવરણાદિ ઉત્તર પ્રકૃતિઓનો બંધ થાય છે. અને કષાયને અનુસારે એમાં ન્યૂનાધિક શક્તિનું નિર્માણ થાય છે. આ ન્યૂનાધિક શક્તિને રસ અથવા અનુભાગ કહેવાય છે. જ્ઞાનાવરણાદિ પ્રત્યેક કર્મમાં સ્વભાવ–પ્રકૃતિને અનુસાર અનુભાગ–શક્તિ પડે છે તેથી પ્રકૃતિબંધને સામાન્ય અને રસબંધને વિશેષ કહી શકીએ. જો કે જ્ઞાનાવરણમાં પણ મતિજ્ઞાનાવરણ શ્રુતજ્ઞાનાવરણ વગેરે વિશેષ છે. તો પણ ફળ આપવાની શક્તિના તારતમ્યની અપેક્ષાએ સામાન્ય જ છે. અર્થાત્ પ્રકૃતિબન્ધમાં જ્ઞાનાદિ રોકવાની શક્તિ પ્રાપ્ત થઈ છે પણ એ શક્તિ કયાં કેટલી પ્રાપ્ત થઈ છે આ વિશેષના રસબન્ધથી જ પ્રાપ્ત થાય છે જીવ કર્મોને શુભરૂપે યા અશુભરૂપે ભોગવશે તેમાં મુખ્ય કારણ વર્તમાનમાં થતો રસબંધ છે. બાંધેલો શુભાશુભ રસ જ શુભાશુભ ફળ દેખાડે છે. અને રસબન્ધનું મુખ્ય કારણ કષાય છે. તેથી જ કર્મબન્ધના મિથ્યાત્વાદિ સર્વકારણોમાં કષાયને મુખ્ય કારણ કહ્યું છે. કષાયથી સ્થિતિ અને રસ બન્નેનું નિર્માણ થતું હોવાથી કર્મબંધમાં (૧) સ્થિતિબંધ, (૨) રસબન્ધની મુખ્યતા કહી શકાય.

સ્થિતિબન્ધમાં વિવક્ષિત (કોઇ એક ચોક્કસ) કર્મનો સંબંધ જીવની સાથે કેટલા

કાળ સુધી રહે છે, તેનો વિચાર છે અને રસબન્ધમાં વિપાક વખતે જીવને કેટલી માત્રામાં અર્થાત્ તીવ્ર કે મંદપણે ફળ આપે છે અને જ્ઞાનાદિ ગુણો ઉપર તેની કેવી અસર થાય છે તેનો વિચાર કરવામાં આવ્યો છે. આ હકીકત ટાઇમ બોંબના (Time–bomb) દૃષ્ટાંતથી ખૂબ જ સ્પષ્ટ રીતે સમજાશે. ટાઇમિબોમ્બમાં મુખ્ય બે વસ્તુ દૃષ્ટિગોચર થાય છે. (૧) નિયત સમયે (અમુક કાળે) વિસ્ફોટન અને (૨) વિસ્ફોટનના સમયે કેટલી માત્રામાં આંદોલનો ઉત્પન્ન કરશે. અર્થાત્ તેની સંહારક શક્તિ કેટલી છે તે–આ બે વસ્તુ કર્મમાં પણ ઘટે છે. કર્મ પણ નિયત કાળે આત્માથી અલગ થશે. અને જે સમયે અલગ થશે તે સમયે એક વિશેષ પ્રકારની ચોક્કસ માત્રામાં કમ્પનો ઉત્પન્ન કરીને આત્માથી અલગ થશે કર્મના આ વિસ્ફોટન સમયને શાસ્ત્રીય પરિભાષામાં **ઉદયકાળ** કહેવાય છે.

કર્મના અણુને ટાઇમ બોમ્બની ઉપમા આપીને તેના ઉદયકાળને વિચારી લઇએ. કર્મના ઉદય બે પ્રકારના છે. **વિપાકોદય** અને **પ્રદેશોદય.** કર્મમાં જે રસ છે તે જ પ્રમાણે રહે અને જો કર્મ ઉદયમાં આવે તો તેને **વિપાકોદય** કહેવાય, જ્યારે એ રસ ઉદય સમયે અન્ય કર્મના રસરૂપે પરિણામ પામીને ભોગવવામાં આવે તો તેને **પ્રદેશોદય** કહેવાય છે. રસ પૂર્વકના કર્મના ભોગ એ હીરોશીમા ઉપર પડતો અમેરિકન એટમબોમ્બ, જે પોતાનો સંપૂર્ણ પરચો બતાડી દે છે. પણ જો એ બોમ્બને ફોડવા પૂર્વે જ તેના અંદરના તાર છૂટા પાડી દેવામાં આવે તો બોમ્બ અકબંધ રહેવા છતાં તે ફુસ થઈ જાય છે. પ્રદેશોદયથી ભોગવાતું કર્મ પણ આવા ફુસ થઈ ગયેલા બોમ્બ જેવું છે. જેનો ઉદય આત્મા ઉપર કશી અસર નીપજાવી શકતો નથી.

આ વાત સમજવા બીજું પણ એક દૃષ્ટાંત લઈએ. એક જીભનો રસીયો જીવ કેરીનો રસ ખૂબ પી જાય છે. પછી તેને ખૂબ આફરો ચડે છે. એ વખતે જો સૂંઠનો ફાકો મારે તો આફરાનું દુઃખ મટી જાય અને કેરીના પુદ્ગલો એમને એમ મળ વાટે નીકળી જાય, સૂંઠ ન લે તો વાતવિકાર દૂર ન થતાં ભારે ત્રાસ થાય. કર્મનો રસ પણ આત્મવિકાર છે, તેને જો વિશુદ્ધિ વગેરેથી જો દૂર કરી દેવામાં આવે તો તે રસનો અનુભવ થતો નથી પણ કેવલ કર્મ દલિકો પ્રદેશોદયથી જ ભોગવાઈ જાય છે અન્યથા ભારે પરચો બતાડી જાય.

આ પ્રસ્તુત ટાઇમ બોમ્બમાં બીજી રીતે વિચારીએ તો બીજી બે વસ્તુ પણ આપણી નજરે પડે છે. એક તો બોમ્બનો સ્વભાવ એટલે કે વિવિધ સંહારક દ્રવ્યો વરસાવવા, બીજી વસ્તુ એ કે તેનું વજન આદિ, અર્થાત્ તે બોમ્બ સો રતલી છે. પાંચસો રતલી છે કે હજાર રતલી છે વગેરે. આ બે વસ્તુ કર્મમાં પણ ઘટાવી શકાય છે. જેમકે અમુક કર્મમાં જ્ઞાનને આવરવાનો સ્વભાવ, અમુક કર્મમાં દર્શનને રોકવાનો સ્વભાવ હોય છે એને કર્મસિદ્ધાંતની પરિભાષામાં **પ્રકૃતિ** કહેવાય. એમ જ્ઞાનાવરણ દર્શનાવરણ વગેરે આઠે કર્મોમાં અમુક ચોક્કસ સંખ્યામાં દલિકોની જે વહેંચણી–વિભાજન થવું તે કર્મસિદ્ધાંતની પરિભાષામાં **પ્રદેશ**

કહેવાય છે. આ બન્ને પ્રકારનો બંધ યોગથી થાય છે.

એક ક્ષણના રાગાદિ સંકિલષ્ટપરિણામથી જીવ અસંખ્યકાળ સુધી ચાલે એવા અને કટુવિપાકવાળા કર્મો ઉપાર્જે છે. માટે જ જ્ઞાનીઓ વારંવાર કહે છે કે– **"બંધ સમયે ચિત્ત ચેતીયે રે, શ્યો ઉદયે સંતાપ સલુણા"!** હે મહાનુભાવો! કર્મના બંધ વખતે જ ચિત્તને ઠેકાણે રાખો, મનોમંદિરમાં કષાય પિશાચને પેસવા જ ન દો, હૃદયપટ પર એની કાળી રેખાય ન પાડો, આત્મપ્રદેશો પર એ કર્મોનું ગાઢ ધુમ્મસ ન છવાય તેની કાળજી રાખો. જો ગફલતમાં રહ્યા તો સમજી રાખો કે તે કર્મપિશાચ એવો છે કે પોતાના રસાણુઓ રૂપી લાતોના પ્રહારથી સુવર્ણના હીંચોળે ઝૂલનાર શહેનશાહને પણ એક કાચી સેકન્ડમાં દુઃખના ઊંડા ખાડામાં ધકેલી દે, તેથી જ જ્ઞાનીઓનો વારંવાર એક જ સારભૂત ઉપદેશ છે કે નિરંતર સમતા કુંડમાં જ ઝીલો તો કાર્મિક રસાણુઓની તાકાત સાવ ક્ષીણ થાય છે. કેમકે સમતાભાવ એ વજ્રમય ધાતુ છે. એ કાર્મિક રસાણુના હાર્દને ચીરી નાંખે છે. સમતાભાવના સતત અભ્યાસથી દિવ્ય તેજોવર્તુલ ઉત્પન્ન થાય છે તેથી તેની આસપાસ કર્મપંખેરાઓ કદી ફરકી શકતા નથી.

આપણે ઉપર જણાવી ગયા કે કર્મપુદ્ગલોમાં રહેલા સ્વાભાવિક રસ કરતા કષાય પરિણામથી ઉત્પન્ન થતો રસ અનંતગુણો છે અને આત્મા સાથે ચોંટેલા પ્રત્યેક કર્મપ્રદેશ (કર્માણું) ઉપર તે ગણિતાત્મક પ્રક્રિયાથી ગોઠવાય છે. એમાં સૌથી અલ્પરસાણુઓવાળા સરખા કર્માણુઓની એક **વર્ગણા** (જથ્થો) થાય છે પછી એકેક રસાણુઓ અધિક એવી અન્તરરહિત વર્ગણાઓ બને છે. તે વર્ગણાઓના સમૂહને **સ્પર્ધક** કહેવામાં આવે છે. આવા અનંતા સ્પર્ધકોનું એક **રસસ્થાન** થાય છે એક અધ્યવસાયથી આવા એક રસસ્થાનનું નિર્માણ થાય છે. આ અધ્યવસાયો વિવિધ પ્રકારના છે. અને અસંખ્યલોકાકાશના પ્રદેશો જેટલા છે તેથી રસબંધસ્થાનો પણ તેટલી સંખ્યામા છે આ અવિભાગ, વર્ગણા, સ્પર્ધકો, રસસ્થાનો વગેરેનું વિસ્તારથી વિવેચન **અધ્યવસાય સમુદાહાર** નામના આ ગ્રંથના છેલ્લા અધિકારમાં કર્યું છે.

આ રસબંધમાં કારણભૂત રાગાદિનો પરિણામ (અધ્યવસાય) કષાયમોહનીય કર્મના તેવા તેવા ન્યૂનાધિક રસોદયના સંવેદનથી, લેશ્યાથી, જ્ઞાનાવરણીયાદિ કર્મના ઉદયથી અને યોગ વગેરેની વિચિત્રતાથી ગર્ભિત એક પ્રકારના આત્માના પરિણામ રૂપ છે. કહ્યું છે કે "કષાયના આધારે સ્થિતિબંધ અને લેશ્યાના આધારે રસબંધ થાય છે." આ લેશ્યા સાથે કષાય પણ હોય છે. એમાં ય સમાનસ્થિતિ અસંખ્ય કષાય-અધ્યવસાયોથી બંધાય છે. એક કષાય-અધ્યવસાયમાં તરતમતાવાળા અસંખ્ય લેશ્યાપરિણામ હોય છે. તેથી જ એ એક કષાય અધ્યવસાયને અનુસારે બંધાતી એક કર્મસ્થિતિમા લેશ્યાની તરતમતાના કારણે અસંખ્ય રસબંધના સ્થાનો છે.

અહીં એક કષાયોદયસ્થાનમાં રહેલા લેશ્યાના અસંખ્ય પરિણામો સમજવા માટે સ્થૂલ દૃષ્ટાંત જોઈએ. ઘેરા કાળા રંગની અનેક વસ્તુઓ હોવા છતાં એકની કાળાશમાં કાંઇક ચમક (Light) વધારે હોય છે, બીજાની કાળાશમાં કાંઇક ઓછી ચમક હોય છે. આમ અનેક તરતમતાઓ દેખાય છે. વળી સરખા સફેદ રંગના મોતીમાં પણ પાણી (તેજ) ની અપેક્ષાએ અનેક તરતમતાઓ ઝવેરીઓ પારખી શકે છે, એ જ રીતે કષાયઅધ્યવસાયમાં પણ લેશ્યાપરિણામના લીધે અનેક પ્રકારની તરતમતાઓ રહેલી છે જે રસબંધમાં કારણભૂત ગણાય છે.

આ અધ્યવસાયના આધારે બંધાતા કર્મનું ગણિત એવું છે કે સંક્લેશ (કષાયની ચઢતી માત્રા) જેમ વધારે હોય તેમ અશુભકર્મની સ્થિતિ લાંબી અને રસ ઉગ્ર (તીવ્ર) બંધાય, તેમજ શુભપ્રકૃતિની સ્થિતિ લાંબી અને રસ મંદ બંધાય. એથી ઉલ્ટું વિશુદ્ધિ (કષાયની ઉતરતી માત્રા) જેમ વધારે તેમ શુભકર્મની સ્થિતિ ઓછી અને રસ તીવ્ર બંધાય. અશુભ કર્મની સ્થિતિ અને રસ બન્ને ઓછાં બંધાય. અહીં એટલું ધ્યાન રહે કે શુભ આયુષ્યને છોડી બાકીના શુભ કર્મની પણ લાંબી સ્થિતિ અશુભ છે કેમકે સંક્લેશથી બંધાય છે.

શુભાશુભકર્મના રસની અનંતી કક્ષાઓ છે પરંતુ જ્ઞાનીઓએ અનંતી રસ-કક્ષાઓનો સમાવેશ સ્થૂલપણે ચાર કક્ષામાં જ કરી લીધો છે. તે આ રીતે–(૧) મંદ (Dilute) (૨) તીવ્ર (Concentrated) (૩) તીવ્રતર (More concentrated) અને [૪] તીવ્રતમ (Most concentrated). આ અનુક્રમે એકસ્થાનિક રસ, દ્વિસ્થાનિકરસ, ત્રિસ્થાનિકરસ, અને ચતુઃસ્થાનિકરસ કહેવાય છે. આનું વિસ્તૃત વર્ણન સંજ્ઞાદ્વારમાં કરીશું.

કર્મબંધ વખતે જ જ્ઞાનાવરણીયાદિ કર્મોના રસસ્થાનોનું પણ ચોક્કસ રીતે નિર્માણ થઈ જાય છે. કર્મની જેટલી સ્થિતિ હોય તેનો **અબાધાકાળ** (કર્મનો અભોગ્યકાળ) છોડી પ્રત્યેક સમયની સ્થિતિના દલિકોમાં આ રસસ્થાનની રચના (નિષેકો) થાય છે.

બન્ધવિધાન મહાશાસ્ત્ર :

ચારે પ્રકારના કર્મબંધની પ્રક્રિયાનું દિગ્દર્શન કરાવતું હોવાથી આ મહાનશાસ્ત્રનું નામ **બંધવિધાન** સાર્થક છે. ચારે પ્રકારના બંધની અપેક્ષાએ તે શાસ્ત્ર ચાર ખંડમાં વિભાજિત થયું છે, ૧. પ્રકૃતિબંધ ૨. સ્થિતિબંધ ૩. રસબંધ અને ૪ પ્રદેશબંધ. પ્રસ્તુત રસબંધ ગ્રંથ બંધવિધાન મહાશાસ્ત્રના ત્રીજા ખંડના પ્રથમ ભાગરૂપે છે. કર્મનો રસ બંધની અપેક્ષાએ બે પ્રકારનો હોય છે. ૧. મૂલ પ્રકૃતિ રસબંધ ૨. ઉત્તરપ્રકૃતિ રસબંધ. કર્મની જ્ઞાનાવરણીય, દર્શનાવરણીય વગેરે મૂલ આઠ પ્રકૃતિઓ છે. કર્મબંધ વખતે આઠ પ્રકૃતિઓને જે રસ પ્રાપ્ત થાય તે **મૂલ પ્રકૃતિ રસબંધ** અને એની ઉત્તર પ્રકૃત્તિઓને જે રસ પ્રાપ્ત થાય તે **ઉત્તર પ્રકૃતિ રસબંધ** કહેવાય છે. આ ગ્રંથમાં મૂલ પ્રકૃતિ રસબંધનું વિવેચન છે. તેથી એનું નામ **મૂલ પ્રકૃતિ રસબંધ** છે.

આ ગ્રંથના પાંચ અધિકાર :

૧. પ્રથમ અધિકાર ૨. ભૂયસ્કાર અધિકાર ૩. પદનિક્ષેપ અધિકાર ૪. વૃદ્ધિ અધિકાર ૫. અધ્યવસાયસમુદાહાર અધિકાર. તે દરેકના ક્રમસર* ૧૮, ૧૩, ૩, ૧૩ અને ૨ અનુયોગ-

*અધિકારો અને તેના દ્વારોના નામ—

૧ પ્રથમાધિકાર	૨. ભૂયસ્કાર૦	૩. પદનિક્ષેપ૦	૪. વૃદ્ધિ૦	૫. અધ્યવસાય૦
૧૮ દ્વારો	૧૩ દ્વારો	૩ દ્વારો	૧૩ દ્વારો	સ્થાન
૧ સંજ્ઞા	૧ સત્પદ	૧ સત્પદ	૧ સત્પદ	૧ અવિભાગ
૨ પ્રત્યય	૨ સ્વામિત્વ	૨ સ્વામિત્વ	૨ સ્વામિત્વ	૨ વર્ગણા
૩ વિપાક	૩ કાલ	૩ અલ્પબહુત્વ	૩ કાલ	૩ સ્પર્ધક
	(એક જીવાશ્રિત)		(એક જીવાશ્રિત)	૪ અંતર
૪ પ્રશસ્તાપ્રશસ્ત	૪ અંતર		૪ અંતર	૫ સ્થાન
	(એક જીવાશ્રિત)			૬ કંડક
૫ સ્વામિત્વ	૫ ભંગવિચય		૫ ભંગવિચય	૭ ષટ્સ્થાન
૬ સાદ્યાદિ	૬ ભાગપ્રરૂપણા		૬ ભાગપ્રરૂપણા	૮ અધસ્તન
૭ કાલ	૭ પરિમાણ		૭ પરિમાણ	૯ વૃદ્ધિ
(એક જીવાશ્રિત)				૧૦ સમય
૮ અંતર	૮ ક્ષેત્ર		૮ ક્ષેત્ર	૧૧ યવમધ્ય
(એક જીવાશ્રિત)				૧૨ ઓજોયુગ્મ
૯ સંનિકર્ષ	૯ સ્પર્શના		૯ સ્પર્શના	૧૩ પર્યવસાન
૧૦ ભંગવિચય	૧૦ કાલ		૧૦ કાલ	૧૪ અલ્પબહુત્વ
૧૧ ભાગપ્રરૂપણા	(અનેક જીવાશ્રિત)		(અનેક જીવાશ્રિત)	જીવસમુદાહાર
૧૨ પરિમાણ	૧૧ અંતર		૧૧ અંતર	૧ એક સ્થાનપ્રમાણ
૧૩ ક્ષેત્ર	(અનેક જીવાશ્રિત)		(અનેક જીવાશ્રિત)	૨ સાન્તર ,, ,,
૧૪ સ્પર્શના	૧૨ ભાવ		૧૨ ભાવ	૩ નિરન્તર ,, ,,
૧૫ કાલ	૧૩ અલ્પબહુત્વ		૧૩ અલ્પબહુત્વ	૪ નાના જીવકાલ
(અનેક જીવાશ્રિત)				૫ વૃદ્ધિ
૧૬ અંતર				૬ યવમધ્ય
(અનેક જીવાશ્રિત)				૭ સ્પર્શના
૧૭ ભાવ				૮ અલ્પબહુત્વ
૧૮ અલ્પબહુત્વ				

દ્વારો છે. એમાંય છેલ્લા અધિકારના બંને અનુયોગદ્વારોનું ૧૪ અને ૮ દ્વારોથી વર્ણન કરેલું છે.

પહેલા ચાર અધિકારોના પ્રત્યેક અનુયોગદ્વારનું વર્ણન **ઓઘથી** અને **આદેશથી** એટલે કે સામાન્યથી અને વિશેષથી કર્યું છે. સામાન્યથી એટલે કે સર્વજીવોને આશ્રીને, વિશેષથી એટલે કે ૧૭૦ માર્ગણાઓને આશ્રીને અર્થાત્ વિવિધ પ્રકારના જીવભેદોની અપેક્ષાએ કરેલું છે.

પ્રથમાધિકાર :

આ અધિકારનાં કેટલાંક દ્વારોમાં ઉત્કૃષ્ટ અને અનુત્કૃષ્ટ, જઘન્ય અને અજઘન્ય એમ ચાર પ્રકારના રસબંધને આશ્રીને અને કેટલાક દ્વારોમાં ઉત્કૃષ્ટ અને જઘન્ય એમ બે પ્રકારના રસબંધની અપેક્ષાએ પ્રરૂપણા કરવામાં આવી છે.

ઉત્કૃષ્ટરસબંધ : તે તે માર્ગણાઓમાં રહેલા જીવો જુદા જુદા પ્રકારનો રસબંધ કરી રહ્યા હોય છે. તેમાં સૌથી વધારે થતો રસબંધ તે ઉત્કૃષ્ટરસબંધ.

અનુત્કૃષ્ટ રસબંધ : ઉત્કૃષ્ટ રસબંધ સિવાય સર્વાલ્પ રસબંધ સુધીના સર્વ રસબંધ તે અનુત્કૃષ્ટ રસબંધ.

જઘન્ય રસબંધ : તે તે માર્ગણાઓમાં રહેલા જીવો દ્વારા કરાતા જુદા જુદા રસબંધની અપેક્ષાએ સૌથી ઓછામાં ઓછો થતો રસબંધ તે જઘન્ય રસબંધ.

અજઘન્ય રસબંધ : જઘન્ય રસબંધને છોડી બાકીના સર્વ રસબંધો તે અજઘન્ય રસબંધ. આ અધિકારમાં ૧ થી ૯ અનુયોગદ્વારોમાં રસનું નિરૂપણ એક જીવની અપેક્ષાએ કરેલું છે. ૧૦ થી ૧૮ દ્વારોમાં રસનું પ્રતિપાદન અનેક જીવોને આશ્રીને કરેલું છે.

૧. સંજ્ઞાદ્વાર :

વૈદ્યો અને ડૉકટરો શરીરમાં પેદા થતાં અનેક દર્દોને જુદા જુદા નામો–સંજ્ઞાથી સંબોધે છે. કોઈ એક દર્દને તેનું સામાન્ય નામ આપી તેના પેટા દર્દોને બીજી અનેક સંજ્ઞાઓ–નામો આપે છે. જેમકે–વૈદ્યો વાયુરોગ એમ સામાન્ય સંજ્ઞા આપી તેના પેટા ભેદોને આક્ષેપક, હનુસ્તંભ વગેરે ૮૦ સંજ્ઞાઓ તથા સંનિપાત એમ સામાન્ય સંજ્ઞા આપી તેના મુખ્ય ૧૩ પેટા ભેદોને સંધિક, ચિત્તવિભ્રમ વગેરે સંજ્ઞાઓ આપે છે.

તે જ રીતે અહીં કર્મના રસની જુદી જુદી કક્ષાઓને જુદા જુદા નામો–સંજ્ઞાથી સંબોધવામાં આવે છે. તેમાં ૧. ઘાતિસંજ્ઞા અને ૨. સ્થાનસંજ્ઞા એમ બે સંજ્ઞાઓ રસ માટે વપરાય છે.

ઘાતિસંજ્ઞા : જે રસ આત્માના જ્ઞાનાદિ વિશિષ્ટ ગુણોનો ઘાત કરે તે ઘાતિરસ કહેવાય

અને તે રસવાળા કર્મોને ઘાતિકર્મ કહેવાય છે. ઘાતિકર્મ ચાર છે ૧. જ્ઞાનાવરણ ૨. દર્શનાવરણ ૩. મોહનીય અને ૪. અન્તરાય. બાકીના ૪ કર્મોનો રસ અઘાતી છે. તે ચાર આ પ્રમાણે છે–૧. વેદનીય ૨. આયુ ૩. નામ ૪. ગોત્ર. ઘાતી રસ પણ બે પ્રકારે છે સર્વઘાતી અને દેશઘાતી. આત્માના જ્ઞાનાદિ ગુણોનો સર્વથા ઘાત કરે તે સર્વઘાતી અને અમુક અંશનો ઘાત કરે તે દેશઘાતી.

દા. ત. કેવલજ્ઞાનાવરણકર્મનો રસ સર્વઘાતી છે. તેથી કેવલજ્ઞાન ગુણનો સર્વથા ઘાત કરે. છતાં જેમ અત્યંત શ્યામ અને ગાઢ વાદળોથી સૂર્ય આચ્છાદિત હોવા છતાં આપણે દિવસ અને રાત્રિનો ભેદ પારખી શકીએ છીએ કારણ કે સૂર્યની પ્રભા કંઇક પ્રસરતી હોય છે. તેવી જ રીતે કેવલજ્ઞાનાવરણથી કેવલજ્ઞાન આચ્છાદિત છે છતાં પણ જ્ઞાનની કાંઇક આછી પ્રકાશરેખા અનાચ્છાદિત રહે છે. આમ સર્વાંશે ગુણ આવરાઈ જતો નથી. જો સર્વાંશે ગુણનો ઘાત થઇ જતો હોય અને સહેજ પણ આત્મામાં ગુણ પ્રગટ ન રહેતો હોય તો આત્મા જડ બની જાય, પણ આત્મગુણો સર્વથા આવરાઈ જાય તેવું કદાપિ બનતું નથી.

પ્રશ્ન : તો પછી કેવલજ્ઞાનાવરણાદિ કર્મનો રસ સર્વઘાતી કેવી રીતે કહેવાશે ?

ઉત્તર : ગાઢ વાદળોની ઘટામાં ઢંકાયેલા સૂર્યની કાંઇક પ્રભા પ્રસરતી હોવા છતાં સૂર્ય આજે સર્વથા ઘેરાયેલો છે. એમ વાણીવ્યવહાર થાય છે. તે રીતે અહીં પણ સમજી લેવું.

સર્વઘાતિરસના કર્મપુદ્ગલો તાંબાના વાસણની જેમ **નિશ્ચિદ્ર**, ઘી જેવા **અતિસ્નિગ્ધ**, સ્ફટિકરત્ન જેવા **નિર્મળ** વગેરે ગુણોવાળા અને સંખ્યામાં અલ્પ હોય છે. દેશઘાતી રસના પુદ્ગલો એનાથી વિપરીત ગુણોવાળા હોય છે.

ચાર ઘાતિકર્મનો ઉત્કૃષ્ટરસ (સૌથી અધિકરસ) સર્વઘાતી જ હોય છે. અને જઘન્યરસ (સૌથી અલ્પ રસ) દેશઘાતી જ હોય છે. જ્યારે અનુત્કૃષ્ટ અને અજઘન્યરસ સર્વઘાતી અને દેશઘાતી એમ બે પ્રકારે હોય છે.

અઘાતીકર્મો : જ્ઞાનાદિ મુખ્ય ગુણોનો ઘાત ન કરતાં હોવા છતાં ચોરની સાથે મળેલો શાહુકાર જેમ ચોર કહેવાય તેમ ઘાતિકર્મની હયાતીમાં તે કર્મો જ્ઞાનાદિ ગુણોને ઘાત કરતાં દેખાય છે ઘાતિકર્મની સત્તા નષ્ટ થયા બાદ અઘાતિકર્મનો ઉદય પોતાની પરંપરા ટકાવી શકતો નથી. અલ્પ સમયમા જ તે નષ્ટ થાય છે. એટલે ઘાતિકર્મની ગેરહાજરીમાં અઘાતિકર્મો એ પરાભવ પામેલા અને સેનાપતિ વિનાના નાસતાં ભાગતાં સૈન્ય જેવાં છે. ચાર અઘાતિકર્મોનો અલ્પ સમયમાં જ ક્ષય થઈ જાય છે, અને આત્માને અવ્યાબાધ સુખ, અક્ષય સ્થિતિ, અરૂપીપણું અને અગુરુલઘુપણું પ્રાપ્ત થાય છે. આમ અઘાતિકર્મનું બળ ઘાતિકર્મના આધારે જ હોય છે.

૨. સ્થાનસંજ્ઞા : રસની અનંતી કક્ષાઓનો સમાવેશ ચાર પ્રકારમાં કર્યો છે. તે આ

પ્રમાણે—એકસ્થાનિક (૧ઠાણીઓ), દ્વિસ્થાનિક (૨ઠાણીઓ), ત્રિસ્થાનિક (૩ઠાણીઓ), ચતુઃસ્થાનિક (૪ઠાણીઓ). અશુભ પ્રકૃતિઓના રસને જ્ઞાનીઓએ કડવો લીમડો, કડવી કાકડી વગેરેના રસની ઉપમા આપી છે અને શુભપ્રકૃતિઓના રસને ખીર, ખાંડ વગેરેની ઉપમા આપી છે. જ્યારે તે રસ સ્વાભાવિક હોય ત્યારે તે **એકસ્થાનિક** કહેવાય. રસના બે ભાગ કલ્પી એમાંથી એક ભાગ બાળી નાંખી જે એક ભાગ બાકી રહે તે **દ્વિસ્થાનિક** કહેવાય. રસના ત્રણ ભાગ કલ્પી એમાંથી બે ભાગ બાળી નાંખી જે એક ભાગ બાકી રહે તે **ત્રિસ્થાનિક** કહેવાય. રસના ચાર ભાગ કલ્પી તેમાંથી ત્રણ ભાગ બાળી નાંખીને એક ભાગ બાકી રહે તે **ચતુઃસ્થાનિક** કહેવાય છે.

ચારે ઘાતિકર્મનો સર્વોત્કૃષ્ટરસ ચાર ઠાણીઓ જ અને જઘન્યરસ એક ઠાણીઓ હોય છે, જ્યારે અનુત્કૃષ્ટરસ ૪–૩–૨–૧ ઠાણીઓ હોય છે.

ચારે અઘાતિકર્મનો સર્વોત્કૃષ્ટરસ ૪ઠાણીઓ જ અને જઘન્યરસ ૨ ઠાણીઓ જ હોય છે. જ્યારે અનુત્કૃષ્ટરસ અને અજઘન્યરસ ૨–૩–૪ ઠાણીઓ હોય છે.

અઘાતિકર્મનો જઘન્યરસ ૧ઠાણીઓ શા માટે ન હોય તેનાં સુંદર અને સચોટ કારણો દર્શાવ્યાં છે. અને તેની પુષ્ટિ શતકચૂર્ણિના સાક્ષી પાઠથી કરી છે.

૨. પ્રત્યયદ્વાર :–

પ્રત્યય એટલે હેતુ, આ દ્વારમાં કર્મબંધના હેતુઓનું વિવિધ રીતે નિરૂપણ કર્યું છે. કર્મબંધના મુખ્ય હેતુઓ ચાર છે ૧. મિથ્યાત્વ ૨. અવિરતિ ૩. કષાય અને ૪. યોગ. એના ઉત્તર ભેદો ક્રમસર ૫, ૧૨, ૨૫ અને ૧૫ છે તેથી કુલ ૫૭ ભેદો જણાવ્યા છે.

અહીં બંધ હેતુના મુખ્ય ચાર ભેદોનું નિરૂપણ ગુણસ્થાનકોને આશ્રીને પ્રધાન ગૌણ ભાવે કરવામા આવે છે. મુખ્યત્વે વેદનીય કર્મને છોડીને સાત કર્મના મિથ્યાત્વ, અવિરતિ અને કષાય એમ ત્રણ બંધ હેતુઓ કહ્યા છે, તે આ પ્રમાણે–પહેલે ગુણસ્થાનકે થતો બંધ મુખ્યત્વે મિથ્યાત્વપ્રત્યયિક, બે થી પાંચ ગુણસ્થાનકે થતો બંધ અવિરતિ પ્રત્યયિક અને છ થી દશ ગુણસ્થાનકે થતો બંધ કષાયપ્રત્યયિક છે. આ સાત કર્મમાંથી આયુષ્ય, મોહનીય અને શેષ પાંચ કર્મોનો ક્રમશઃ સાત, નવ અને દશ ગુણસ્થાનક સુધી બંધ થતો હોવાથી ત્રણ પ્રત્યય-હેતુ કહ્યા છે જ્યારે વેદનીયકર્મનો બંધ તેર ગુણસ્થાનક સુધી થતો હોવાથી પ્રધાન ભાવથી ૧૧ થી ૧૩ ગુણસ્થાનકે યોગ પ્રત્યય બંધ પણ થાય છે તેથી વેદનીયમાં ચાર બંધહેતુઓ કહ્યા છે, ગૌણભાવે તો આઠે કર્મમાં ચારેય બંધહેતુઓ છે. પ્રધાન ગૌણ ભાવથી બંધહેતુઓની ઘટના આયુષ્યકર્મના દૃષ્ટાંતથી સુંદર રીતે કરી છે.

૩. વિપાકદ્વાર :

વિપાક એટલે કર્મની ફળ આપવાની તૈયારી (અભિમુખતા). કર્મપ્રકૃતિઓનો વિપાક-ફળ

જીવ જ અનુભવે છે એ હિસાબે સર્વ પ્રકૃતિઓ જીવવિપાકી કહેવાય છે પરંતુ અમુક કર્મપ્રકૃતિઓ અમુક સ્થળને યા અમુક ભવને અથવા અમુક પ્રકારની શરીરાદિ સામગ્રી પામીને જ ઉદયમાં આવે છે જ્યારે કેટલીક પ્રકૃતિઓ સ્થાન, ભવ, પુદ્ગલ સામગ્રીની અપેક્ષા રાખ્યા વિના જ ઉદયમાં આવે છે. તેથી આ ચાર નિમિત્તભેદથી કર્મપ્રકૃતિઓનું વર્ગીકરણ ચાર વિભાગમાં કરેલ છે.

૧. **પુદ્ગલવિપાકી**–આ કર્મો પોતાની શક્તિનો પરચો શરીરપુદ્ગલોમાં દેખાડે છે.

૨. **ભવવિપાકી**–આ કર્મો નારકાદિ ભવોને પામીને જ પોતાનો પ્રભાવ દેખાડે છે.

૩. **ક્ષેત્રવિપાકી**–આ કર્મો એક ગતિમાંથી બીજી ગતિમાં જતા ક્ષેત્ર એટલે કે આકાશમાર્ગમાં જ પોતાનું સામર્થ્ય દેખાડવા તત્પર બને છે.

૪. **જીવવિપાકી**–આ કર્મો બાહ્ય પુદ્ગલોની અપેક્ષા વિના સીધી રીતે જીવને એટલે કે જીવના જ્ઞાનાદિ ગુણોનો ઉપઘાત કરવામાં પોતાની તાકાત અજમાવે છે

આયુકર્મ–ભવવિપાકી છે કારણ કે નારક આદિ ભવોમાં તેના વિપાક-અનુભવ દેખાય છે.

નામકર્મ–જીવવિપાકી, પુદ્ગલવિપાકી અને ક્ષેત્ર વિપાકી એમ ત્રણે પ્રકારે છે કારણ કે એના ઉદયથી જીવને નરકાદિગતિઓની અને ઔદારિકાદિ શરીરની પ્રાપ્તિ થાય છે તથા વિગ્રહગતિમાં જીવને બળદની નાથની જેમ દોરવાનું કાર્ય કરે છે.

ચાર ઘાતિકર્મ, વેદનીય અને ગોત્ર એમ ૬ કર્મ જીવવિપાકી છે. કારણ કે એના ઉદયથી જીવને અજ્ઞાન, અદર્શન, સુખ-દુઃખ, મિથ્યાત્વ, રાગ દ્વેષાદિ, ઉચ્ચત્વ, નીચત્વ અદાન, અને આલાભાદિ પરિણામોની પ્રાપ્તિ થાય છે.

૪. પ્રશસ્તાપ્રશસ્ત દ્વાર–

પ્રશસ્તરસ–જે કર્મનો રસ જીવના પ્રમોદમાં કારણભૂત હોય તે પ્રશસ્ત અર્થાત્ શુભ રસ કહેવાય છે. **અપ્રશસ્તરસ**–જીવને દુઃખમાં કારણભૂત થાય તે અપ્રશસ્ત–અશુભ રસ કહેવાય. અથવા બન્ધના સમયે પ્રશસ્ત પરિણામથી જેને અધિકરસ પ્રાપ્ત થાય તે પ્રશસ્ત કર્મ કે પુણ્ય કહેવાય અને અપ્રશસ્તપરિણામથી જેને અધિકરસ મળે તે અપ્રશસ્તકર્મ પાપ કહેવાય છે.

૪ ઘાતિકર્મ અપ્રશસ્ત એટલે કે પાપ પ્રકૃતિ છે. અને ૪ અઘાતિકર્મ પ્રશસ્ત અને અપ્રશસ્ત બન્ને પ્રકારે છે. આ ઉપરથી સ્પષ્ટ સમજાઈ જશે કે ઉત્કૃષ્ટ અને જઘન્યરસબંધના સ્વામીમાં ઘણું તારતમ્ય રહેશે....

૫. સ્વામિત્વદ્વાર–

આ સ્વામિત્વ દ્વાર આગળ ઉપર કહેવાતા કાલાદિ દ્વારોનો મૂળ આધાર છે તેથી આ દ્વારને કાલ આદિ દ્વારોનું ઉત્પત્તિ સ્થાન કહી શકાય માટે આપણે સ્વામિત્વનો વિશેષ નિર્ણય કરી લઈએ. આ સ્વામિત્વને સંપૂર્ણ અને સારી રીતે સમજવા માટે પૂર્વના પાંચ

દ્વારોમાં રસબંધની આપણે ઠીક ઠીક છણાવટ કરી લીધી અને પ્રશસ્તાપ્રશસ્ત દ્વારમાં આપણે જોઈ ગયા કે પ્રશસ્ત પ્રકૃતિનો ઉત્કૃષ્ટરસ પ્રશસ્ત પરિણામથી અર્થાત્ ઉત્કૃષ્ટ વિશુદ્ધિથી જ બંધાય છે અને અપ્રશસ્ત પ્રકૃતિનો ઉત્કૃષ્ટરસ અશુભ પરિણામથી એટલે કે તીવ્ર સંક્લેશથી બંધાય છે. આ જ માપકયંત્રથી આપણે ઓઘથી એટલે કે સર્વ જીવોને આશ્રીને તથા આદેશથી એટલે કે ૧૭૦ માર્ગણામાં આઠે કર્મના ઉત્કૃષ્ટ રસબંધના સ્વામીને જાણી શકીશું.

ઓઘથી :–ચાર ઘાતિકર્મ અપ્રશસ્ત છે તેથી તેનો ઉત્કૃષ્ટ રસબંધ તીવ્રસંક્લેશ-પરિણામથી જ થશે અને તે પરિણામ પર્યાપ્તસંજ્ઞી મિથ્યાદૃષ્ટિને જાગૃત અવસ્થામાં સાકાર–વિશેષ=જ્ઞાનોપયોગ વખતે જ હોઈ શકે છે. જ્યારે નિરાકાર–સામાન્ય=દર્શન ઉપયોગના સમયે અને નિદ્રા અવસ્થામાં તીવ્ર સંક્લેશ ન હોવાને લીધે ઘાતી કર્મનો ઉત્કૃષ્ટ રસબંધ થઈ શકતો નથી સમ્યગ્દૃષ્ટિ આત્માઓના પરિણામ અતિરૌદ્ર ન હોવાને લીધે અહીં તીવ્ર સંક્લેશવાળા મિથ્યાદૃષ્ટિ કહ્યા. તેમજ એકેન્દ્રિયથી અસંજ્ઞીપંચેન્દ્રિય સુધીના જીવોને તથા અપર્યાપ્તસંજ્ઞી જીવોને મન વગેરે (કરણોની) સામગ્રીની અલ્પતાને લીધે તીવ્ર સંક્લેશ આવી શકતો જ નથી માટે તેઓને ચાર ઘાતિકર્મોનો ઉત્કૃષ્ટ રસબન્ધ થતો નથી. ઉત્કૃષ્ટ રસના બંધક (સ્વામી) પર્યાપ્ત સંજ્ઞી મિથ્યાદૃષ્ટિ દેવ, મનુષ્ય, તિર્યંચ અને નરક એમ ચારેય ગતિના જીવો હોઈ શકે છે.

વેદનીય, આયુ, નામ અને ગોત્ર આ ચાર **અઘાતિકર્મ** જો કે પ્રશસ્ત અને અપ્રશસ્ત બંને પ્રકારના હોય છે તો પણ સામાન્ય રીતે ઉત્કૃષ્ટરસ પ્રશસ્ત પ્રકૃતિમાં તથાસ્વભાવથી વધારે હોય છે. તેથી વિશુદ્ધ પરિણામથી જ ઉત્કૃષ્ટ રસબંધ થાય છે. અને એ ઉત્કૃષ્ટ વિશુદ્ધિ ક્ષપક શ્રેણીના ૧૦મા ગુણસ્થાનકના ચરમ સમયે ક્ષપકને બંધવિચ્છેદના સમયે જ પ્રાપ્ત થાય છે માટે **વેદનીય, નામ, ગોત્ર** આ ત્રણ પ્રકૃતિના ઉત્કૃષ્ટ રસબંધ સ્વામી ક્ષપક છે.

આયુકર્મનો બંધ ૭મા ગુણસ્થાનક સુધી હોય છે ૭મા ગુણસ્થાને રહેલો અપ્રમત-મુનિ પણ જો અનુત્તરને યોગ્ય ૩૩ સાગરોપમ જેટલી આયુષ્યની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ બાંધતો હોય અને ઉ૦ રસબન્ધને યોગ્ય અતિવિશુદ્ધ અધ્યવસાયમાં વર્તતો હોય ત્યારે જ ઉ૦ રસબંધ કરી શકે છે અન્યથા નહિ.

આદેશથી—હવે આનો જ વિચાર આપણે ૧૭૦ માર્ગણાઓમાં કરીએ, એમાં સૌથી પહેલાં દરેક માર્ગણામાં આઠેય કર્મનો ઉ૦ રસબંધ કઈ કઈ અવસ્થામાં પ્રાપ્ત થાય તેનો વિચાર કરીએ, જેમ ઓઘમાં જોયું કે જાગ્રત અવસ્થામાં અને સાકાર (જ્ઞાન) ઉપયોગ વખતે જ ઉ૦ રસબંધ થાય છે તેમ દરેક માર્ગણામાં ઉ૦ રસબંધના સ્વામી આ અવસ્થાવાળા હોય છે. બીજું જે માર્ગણામાં પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત એમ બન્ને પ્રકારના જીવો પ્રાપ્ત થતાં હોય ત્યાં પર્યાપ્ત જીવોને જ ગ્રહણ કરવા કેમકે તે જીવોમાં જ તીવ્ર સંક્લેશ અને ઉ૦ વિશુદ્ધિની યોગ્યતા હોય છે.

હવે વિશેષથી વિચારીએ—ઘાતિકર્મના ઉત્કૃષ્ટ રસબંધ માટે જે જે માર્ગણામાં સંજ્ઞી મિથ્યાદૃષ્ટિ જીવો પ્રાપ્ત થતા હોય ત્યાં તેઓને સ્વામી કહેવા, અને તેમાં આનતદેવાદિ માર્ગણાઓ છોડી ઓઘમાં કહ્યો તેટલો જ તીવ્ર સંક્લેશ પ્રાપ્ત થાય છે. આપણે આ ગ્રંથના ૮૨ અને ૮૩ મા પાના પર દર્શાવેલ યંત્રમાં જોઈ શકીશું કે સર્વનરકાદિ ૬૭ માર્ગણામાં જીવો ઓઘમાં કહ્યા મુજબ તીવ્ર સંક્લેશથી ઘાતીના ઉ૦ રસનો બંધ કરે છે. અને બાકીની ૧૦૩ માર્ગણાઓમાં સ્વસ્વમાર્ગણાયોગ્યતીવ્રસંક્લેશવાળા જીવો ઘાતીનો ઉ૦ રસ બાંધી શકે છે.

દા. ત. પાંચ અનુત્તરદેવમાર્ગણામાં બધા જ સમ્યગ્દૃષ્ટિ હોવાથી તીવ્ર સંક્લેશ ઓઘની જેમ પ્રાપ્ત થઈ શકતો નથી તેથી ત્યાં અનુત્તર પ્રાયોગ્ય તીવ્ર સંક્લેશમાં ઘાતિ-કર્મનો ઉ૦ રસબંધ થાય છે. તેથી કેટલીક માર્ગણાઓમાં માર્ગણા પ્રાયોગ્ય તીવ્ર સંક્લેશ દોષાભિમુખઅવસ્થામાં પ્રાપ્ત થાય છે. તેથી તે અવસ્થામાં દેશવિરતિ વગેરે માર્ગણામાં મિથ્યાત્વાભિમુખાવસ્થામાં આ રીતે ઘાતીનો ઉત્કૃષ્ટ રસબંધ કહ્યો છે.

ત્રણ અઘાતિ કર્મ:—જે જે માર્ગણાઓમાં ક્ષપકશ્રેણિ પ્રાપ્ત થતી હોય ત્યાં ઓઘની જેમ ઉ૦ વિશુદ્ધિ પ્રાપ્ત થાય છે. માટે ત્યાં ત્રણ અઘાતીના ઉ૦ રસબંધના સ્વામી ક્ષપક કહ્યા છે અને તે મનુષ્યાદિ ૩૬ માર્ગણાઓ ૮૩મા પાના પરના યંત્રથી જાણી શકીશું. બાકીની ૧૩૪ માર્ગણાઓમાં સ્વસ્વમાર્ગણાપ્રાયોગ્યવિશુદ્ધિથી અઘાતિકર્મનો ઉ૦રસબંધ જાણવો. એ વિશુદ્ધિ જે જીવને પ્રાપ્ત થાય છે તે ત્રણ અઘાતિ કર્મના ઉ૦રસબંધનો સ્વામી બને છે. પરંતુ આમાં એક **અપવાદ** છે કે તેઉકાય અને વાયુકાયના જીવો ઉચ્ચ-ગોત્રનો કદાપિ બંધ કરતા નથી તેથી તેઓને હંમેશ નીચગોત્રનો જ બંધ હોય છે. અને તે અશુભ પ્રકૃતિ છે. તેથી તેનો ઉ૦રસ સંક્લેશથી બંધાય માટે તેઉકાય અને વાયુ કાયની સાત સાત માર્ગણાઓમાં ગોત્રના ઉ૦રસબંધનો સ્વામી સ્વમાર્ગણાપ્રયોગ્ય તીવ્ર સંક્લેશવાળા જીવો હોય છે.

આઘાતિકર્મમાં—પણ કેટલીક માર્ગણાઓમાં માર્ગણાપ્રાયોગ્યતીવ્રવિશુદ્ધિ ગુણાભિ-મુખાવસ્થામાં પ્રાપ્ત થાય છે, જેમકે દેશવિરતિ માર્ગણામાં અપ્રમત્તત્વાભિમુખને માર્ગણા પ્રાયોગ્ય તીવ્રવિશુદ્ધિ હોય છે. તેથી અઘાતિકર્મનો ઉ૦રસબંધ ત્યાં કહ્યો છે....

આયુ:—જે માર્ગણાઓમાં નરકાયુનો સ્થિતિબંધ દેવાયુ વગેરેથી વધારે થતો હોય ત્યાં નરકાયુની અપેક્ષાએ ઉ૦રસબંધ થાય છે. અને નરકાયુનો ઉ૦રસ અતિરૌદ્ર એવા તત્પ્રાયોગ્યતીવ્રસંક્લેશથી બંધાય છે. માટે તે તે માર્ગણાઓમાં તીવ્રસંક્લેશવાળા જીવોને આયુના ઉ૦રસબંધના સ્વામી તરીકે કહ્યા છે. આ તિર્યંચગતિ વગેરે ૧૪ માર્ગણાઓ ૮૧મા પાના પરના યંત્રમાંથી જોઈ શકીશું. બાકીની શેષ ૧૪૯ માર્ગણાઓમાં વિશુદ્ધિથી આયુનો ઉ૦રસબંધ થાય છે. કારણ કે તે તે માર્ગણાઓમાં દેવાયુ મનુષ્યાયુ કે તિર્યંચાયુની અપેક્ષાએ ઉ૦રસ બંધાય છે. અને તે ત્રણે પ્રકારના આયુષ્ય શુભ પ્રકૃતિ છે માટે સર્વત્ર આ ત્રણે

આયુષ્યમાંથી જે આયુની સ્થિતિ વધારે બંધાતી હોય તે આયુષ્યની અપેક્ષાએ ઉ૦ રસ બંધ અને સરખી સ્થિતિ બંધાતી હોય ત્યાં બન્નેમાંથી જે વધુ શુભ હોય તેની અપેક્ષાએ ઉ૦ રસબંધ થાય છે.

જઘન્યરસબંધના સ્વામી:– જે કર્મનો ઉ૦ રસ તીવ્રસંક્લેશપરિણામથી બંધાય છે. તે કર્મનો જઘન્યરસ ઉત્કૃષ્ટ વિશુદ્ધિથી બંધાય એ સ્વાભાવિક છે. તેથી ચાર-ઘાતિકર્મનો જઘન્યરસબંધ ક્ષપકશ્રેણિમાં પોતપોતાના બંધવિચ્છેદના ચરમસમયે ક્ષપકને હોય છે. પરંતુ આ નિયમ અઘાતિકર્મ માટે નથી કારણ કે અઘાતિકર્મમાં પ્રશસ્ત અને અપ્રશસ્ત એમ બે ભેદ હોવાથી લગભગ પરાવર્તમાન મધ્યમ પરિણામ જ જઘન્યરસબંધમાં કારણ તરીકે સ્વીકારેલ છે. (આ પરિણામ ચારેય ગતિમાં હોય છે. એટલે ચારે ગતિમાં રહેલા એકેન્દ્રિયાદિ કોઈપણ જીવો જઘન્યરસબંધના સ્વામી બને છે.)

પરાવર્તમાન મધ્યમ પરિણામ:– એટલે જે પરિણામોથી શાતા અશાતા જેવી પ્રતિપક્ષપ્રકૃતિઓ વારાફરતી બંધાય છે તે પરિણામ.

આ પરાવર્તમાન મધ્યમ પરિણામોમાં પણ જે જઘન્યરસબંધને યોગ્ય હોય તે પરિણામ લેવો. અને તે પરિણામથી પણ અશાતા જેવી અશુભ પ્રકૃતિ બંધાતી હોય ત્યારે જ વેદનીયાદિ મૂળકર્મનો જઘન્યરસબંધ થાય છે.

આ પરાવર્તમાન મધ્યમપરિણામની અમુક કક્ષા પછી જો વિશુદ્ધિનું પ્રમાણ વધે તો શુભ પ્રકૃતિનો જ બંધ થાય છે અને સંક્લેશની માત્રા વધે તો કેવલ અશુભ પ્રકૃતિનો જ બંધ થાય છે. વેદનીય અને નામકર્મનો જઘન્યરસબંધ આ પરાવર્તમાન મધ્યમ-પરિણામથી થાય છે. આ પરિણામ ચારે ગતિના જીવોને પ્રાપ્ત થતો હોવાથી તેના સ્વામી ચારેય ગતિના જીવો બને છે

અલબત ગોત્રકર્મમાં કાંઈક વિશેષતા છે. એનું કારણ એ છે કે ઉત્તર પ્રકૃતિના ભેદોની અપેક્ષાએ ગોત્રકર્મનો બંધ પરાવર્તમાન હોવા છતાં તેઉકાય, વાયુકાય અને સાતમી નરકમાં મિથ્યાત્વાવસ્થામાં ફક્ત નીચ ગોત્ર બંધાય છે. તેથી ત્યાં પરાવર્તમાન મધ્યમ પરિણામ નથી અને અહીં વિશુદ્ધિ વધવા છતાં નીચ ગોત્ર જ બંધાય છે. જ્યારે બીજા જીવોમાં વિશુદ્ધિનું પ્રમાણ વધતાં ઉચ્ચ ગોત્રનો જ બંધ થાય છે. અને તે બંધમાં રસ વધી જાય છે. તેથી જઘન્યરસ પ્રાપ્ત થતો નથી. જ્યારે તેજસ્કાયાદિમાં નીચગોત્ર બંધાતું હોવાથી વિશુદ્ધિથી પણ રસ ઓછો જ બંધાય છે. અને તેમાં સાતમી નરકમાં સમ્યક્ત્વાભિમુખ મિથ્યાદૃષ્ટિને વિશુદ્ધિ વધારે હોવાથી ઓઘમાં ગોત્રનો જઘન્યરસબંધ પરાવર્તમાન મધ્યમ પરિણામીને ન કહેતાં સર્વ વિશુદ્ધ સમ્યક્ત્વાભિમુખ સાતમી નારકીને કહ્યો છે.

આયુષ્યનો જઘન્યરસબંધ ક્ષુલ્લકભવનું (=૨૫૬ આવલિકા= ૧ શ્વાસોચ્છવાસમાં કંઈક ન્યૂન ૧૭$\frac{1}{3}$ ભવ થાય તેમાંના એક ભવનું) આયુષ્ય બાધતા પ્રાપ્ત થાય છે તે. ક્ષુલ્લકભવનું આયુષ્ય તિર્યંચો અને મનુષ્યો બાંધે છે તેથી તે આયુષ્યના જઘન્યરસના બંધક (સ્વામી) તિર્યંચો અને મનુષ્યો બને છે.

આદેશથી સ્વામિત્વ નિરૂપણ :- આદેશથી એટલે કે માર્ગણાઓમાં કર્મના જઘન્યરસબંધનો વિચાર.

ચારઘાતિકર્મનો જઘન્યરસબંધ સર્વમાર્ગણાઓમાં જાગ્રત અવસ્થામાં, સાકાર-ઉપયોગ વખતે અને ઉત્કૃષ્ટ વિશુદ્ધિ હોય ત્યારે કહ્યો છે. અને આ વિશુદ્ધિ કેટલીક માર્ગણાઓમાં સમ્યક્ત્વાદિ ગુણાભિમુખ અવસ્થામાં, જ્યારે કેટલીક માર્ગણાઓમાં સ્વસ્થાનમાં આવે છે. વિશુદ્ધિની આ વિશેષતા ધ્યાનમાં રાખી યન્ત્ર જોવાથી સ્વામિત્વ સહેલાઈથી સમજી શકાશે.

વેદનીય અને નામપ્રકૃતિનો જઘન્યરસબંધ અવેદી અને સૂક્ષ્મસંપરાયસંયમ આ બે માર્ગણા છોડી બાકીની ૧૬ માર્ગણાઓમાં પરાવર્તમાન મધ્યમ પરિણામથી થાય છે સૂક્ષ્મસંપરાય અને અવેદિમાર્ગણામાં પ્રશસ્ત પ્રકૃતિનો જ બંધ હોવાથી પરાવર્તમાન પરિણામ પ્રાપ્ત જ થતો નથી તેથી ત્યા તત્પ્રાયોગ્ય સંક્લેશથી વેદનીય અને નામકર્મનો જ૦ રસબંધ થાય છે

ગોત્રકર્મના જ૦ રસબંધના સ્વામી સર્વમાર્ગણાઓમાં જાણવા માટે ત્રણ જ ચાવી છે – સૌથી પહેલાં એ ચાવી લગાવવી કે આ માર્ગણામાં કોઈપણ જીવ કેવળ નીચ ગોત્ર બાંધી શકે છે કે?, અને એ જાણવા માટે એ માર્ગણાઓમાં સાતમી નરકના જીવો અને બીજા નંબરમાં તેજસ્કાય અને વાયુકાયના જીવો છે કે નહિ ? એ જાણી લેવું જોઇએ. જો એ પ્રાપ્ત થઈ જાય તો ત્યાં વિશુદ્ધિથી જ તે જીવો જ૦ રસબંધના સ્વામી જાણવા. અને એમાં સર્વોત્કૃષ્ટ વિશુદ્ધિ સમ્યક્ત્વાભિમુખ મિથ્યાદૃષ્ટિ સાતમી નરકના જીવને પ્રાપ્ત થાય છે. જો કે સાતમી નારકના સમ્યગ્દૃષ્ટિ જીવો વધારે વિશુદ્ધ છે પરંતુ તેઓ નીચગોત્ર બાંધતા નથી. તેથી તેઓને ગોત્રનો જ૦ રસબંધ પ્રાપ્ત થઇ શકતો નથી, ત્યાર પછી સ્વસ્થાન વિશુદ્ધ સાતમી નરકના જીવો અને તે પ્રાપ્ત ન થાય તો તેઉકાય કે વાયુકાયના જીવો લેવા.

દા. ત. :- ૧૭૦ માર્ગણામાંથી પંચેન્દ્રિય માર્ગણા લીધી. તેમાં સાતમી નરકના જીવનો સમાવેશ થાય છે. ત્યાં સમ્યક્ત્વાભિમુખ અવસ્થા પ્રાપ્ત થઇ શકે છે. માટે પહેલી ચાવીથી નિશ્ચિત થાય છે કે સાતમી નરકનો સમ્યક્ત્વાભિમુખ અવસ્થામાં રહેલો જીવ ગોત્રનો જઘન્યરસબંધ કરે છે.

બીજી ચાવી એ કે માર્ગણામાં ઉચ્ચગોત્ર અને નીચગોત્ર પરાવર્તમાનભાવથી બંધાય છે? અર્થાત્ એક જીવ વારાફરતી બાંધી શકે છે? જો બાંધી શકતો હોય તો તે માર્ગણામાં પરાવર્તમાન પરિણામી જઘન્યરસનો સ્વામી કહેવો.

હવે આ બન્ને ચાવી લગાવવામાં જો આપણે નિષ્ફળ જઇએ તો સમજવું કે આ માર્ગણામાં કેવલ ઉચ્ચગોત્ર બંધાય છે અને તે પ્રશસ્ત પ્રકૃતિ છે. તેમાં જઘન્યરસ સંક્લેશથી પ્રાપ્ત થશે, અને તે સંક્લેશ જો દેવાભિમુખ અવસ્થામાં વધારે પ્રાપ્ત થતો હોય તો ત્યાં, નહિતર સ્વસ્થાન સંક્લેશવાળી અવસ્થામાં જ૦ રસબંધ કહેવો. આ ત્રીજી ચાવી છે.

આયુષ્યકર્મનો જ૦ રસબંધ માર્ગણાઓમાં કોણ કોણ કરે? એ જાણવું ઘણું સહેલું છે. કેમકે કોઈ જીવને જ્યારે આયુષ્યનો સૌથી ઓછામાં ઓછો સ્થિતિબંધ થતો હોય ત્યારે જ તે જીવને જ૦ રસબંધ થઇ શકે છે. ઓછામાં ઓછો આયુષ્યનો સ્થિતિબંધ અપર્યાપ્તપ્રાયોગ્યક્ષુલ્લકભવ પ્રમાણ છે. એટલે કે ૨૫૬ આવલિકા પ્રમાણ આયુષ્યનો જઘન્યસ્થિતિબંધ જાણવો. અને તે આયુષ્યનો બંધ મિથ્યાદૃષ્ટિ તિર્યંચમનુષ્યો કરી શકે છે. માટે જે માર્ગણાઓમાં આવા જીવો પ્રાપ્ત થતા હોય તે જઘન્યરસબંધના સ્વામી કહેવા. બાકી જ્યા આવા જીવો પ્રાપ્ત ન થતા હોય તે માર્ગણાઓમાં અલ્પસ્થિતિવાળું તિર્યંચાયુ બાંધતા હોય તેવા જીવોને, એ ન હોય તો અલ્પસ્થિતિવાળું મનુષ્યાયુ બાંધતા હોય તેવા જીવોને, અને એ પણ જો ન મળે તો અલ્પસ્થિતિવાળું દેવાયુ બાંધતા હોય તેવા જીવોને, જઘન્યરસબંધના સ્વામી કહેવા.

આ રીતે જો આપણે આ ચાવીઓ-યુક્તિઓ વગેરેને ધ્યાનમાં રાખી સ્વામિત્વના ૮૧ થી ૮૯ સુધીના પાના પરના સ્વામિત્વદર્શક યંત્રોને જોઈશું અને સંસ્કૃત ટીકામાં આપેલા કાર્યકારણભાવો અને અનેક માર્ગોને જ્યારે યથાશક્તિ જાણીશું ત્યારે વિશ્વમાં રહેલા વિવિધ પ્રકારના જીવો ભિન્ન ભિન્ન અવસ્થામાં કયો કયો રસબંધ કરે છે તેનું હૂબહૂ ચિત્ર આપણા માનસપટપર રજુ થશે.

૬ સાદ્યાદિદ્વાર :- આ દ્વારમાં સાદિ, અનાદિ, ધ્રુવ અને અધ્રુવ આ ચાર અનુયોગદ્વારમાં ઉત્કૃષ્ટ, અનુત્કૃષ્ટ, જઘન્ય અને અજઘન્ય એમ ચાર પ્રકારના રસબંધનો વિચાર કરીશું. તે પહેલા સાદિ અનાદિ વગેરેની વ્યાખ્યા જાણી લેવી જોઇએ.

સાદિ = ઉત્કૃષ્ટાદિરસબંધનો પૂર્વે વિચ્છેદ થયો હોય, અથવા તે રસ બંધાયો જ ન હોય તેનો નવો બંધ શરૂ થાય તે.

અનાદિ = અનાદિકાળથી નિરંતર જે બંધ પ્રવાહ રૂપે ચાલુ હોય, જેનો કયારે પણ વિચ્છેદ ન થયો હોય તે.

ધ્રુવ = જે બંધનો ભવિષ્યકાલમાં ક્યારે પણ વિચ્છેદ ન થાય તે.
અધ્રુવ = જે બંધનો વિચ્છેદ થતો હોય તે.

સર્વ કર્મોનો ઉત્કૃષ્ટ અને જઘન્યરસબંધ અમુક મર્યાદિત સમય જ પ્રવર્તે છે અને તેનો નવો જ પ્રારંભ થતો હોવાથી તે સાદિ અને અધ્રુવ એ બે પ્રકારનો જ હોય છે.

જે કર્મોનો ઉત્કૃષ્ટ કે જઘન્યરસ ક્ષપકશ્રેણિ કે સમ્યક્ત્વાભિમુખ વગેરે અવસ્થામાં કહ્યો તેનો અનુત્કૃષ્ટ કે અજઘન્યરસબંધ સાદિ વગેરે ચારે ય વિકલ્પવાળો હોય છે–જેમકે ઓઘમાં ઘાતિકર્મનો અને ગોત્રનો અજઘન્યરસબંધ અને ત્રણ અઘાતિકર્મનો અનુત્કૃષ્ટ રસબંધ ચાર વિકલ્પવાળો કહ્યો છે. મિથ્યાત્વગુણસ્થાનકે સ્વસ્થાનાવસ્થામાં જે કર્મનો ઉત્કૃષ્ટ કે જઘન્યરસબંધ પ્રાપ્ત થાય, તે કર્મના અનુત્કૃષ્ટ અને અજઘન્યરસબંધના સાદિ–અધ્રુવ એમ બે વિકલ્પો હોય છે. જેમકે ઘાતિકર્મના અનુત્કૃષ્ટ રસબંધના, વેદનીય અને નામકર્મના અજઘન્યરસના બે વિકલ્પો છે. આયુકર્મ તો આખાય ભવમાં અન્તર્મુહૂર્ત કાલ જ બંધાય છે તેથી તેના ચારેય બંધોના સાદિ અને અધ્રુવ એમ બે જ ભંગ હોય છે.

જે માર્ગણાઓ એક જીવને આશ્રયીને અનાદિ અધ્રુવ પણ હોય અને ગુણાભિમુખાવસ્થા વગેરેમાં ઉત્કૃષ્ટાદિ રસબંધ પ્રાપ્ત થતો હોય તો ત્યાં ઓઘની જેમ સાદ્યાદિ ચાર વિકલ્પો જાણવા. ભવ્યમાં ધ્રુવભંગ ન જાણવો–અને તે કુલ મતિઅજ્ઞાનાદિ ૬ માર્ગણાઓ જાણવી; જો કે અભવ્ય માર્ગણા અનાદિ ધ્રુવ છે છતાં ગુણાભિમુખાવસ્થામાં ઉત્કૃષ્ટાદિ બંધ થતો નથી માટે તેમાં અને બાકીની ૧૬૩ માર્ગણાઓ સાદિ અને અધ્રુવ છે તેથી તે કુલ ૧૬૪ માર્ગણાઓમાં ઉત્કૃષ્ટાદિ ચારેય રસબન્ધના સાદિ અધ્રુવ એમ બે વિકલ્પો જ છે. આ યુક્તિઓ ધ્યાનમાં રાખી વિકલ્પોની ઘટના તથા તેના કાર્યકારણભાવો ટીકાગ્રન્થમાં જોવાથી સુંદર રીતે સ્પષ્ટ થઈ જશે.

૭. **એકજીવાશ્રિત કાલદ્વારઃ**– આપણે ઉત્કૃષ્ટ અને જઘન્યરસબંધ કઈ કઈ અવસ્થામાં કયા કયા જીવોને હોય છે તેની વિચારણા કરી. હવે તે ઉત્કૃષ્ટાદિ ચારેય રસબન્ધ એક જીવને સૌથી ઓછો અને સૌથી વધારે કેટલો કાળ રહે છે તેનો વિચાર કરીએ. આ વિચારતાં પહેલાં રસબન્ધના હેતુભૂત જે અધ્યવસાયો કેટલો કાળ રહે છે તે જાણવું જરૂરી છે. ઉત્કૃષ્ટ અને જઘન્યરસ એ એકેક જ અધ્યવસાયથી બંધાય છે.–જ્યારે અનુત્કૃષ્ટ અને અજઘન્યરસબન્ધો ઉપર કહેલા ક્રમશઃ ઉત્કૃષ્ટ અને જઘન્યરસબન્ધના એકેક અધ્યવસાયને છોડી બાકીના બધાં જ અધ્યવસાયોથી બંધાય છે...., જઘન્યરસબન્ધના અધ્યવસાયથી માંડી અસંખ્ય લોક પ્રમાણ અધ્યવસાયોમાંનો કોઈ એક અધ્યવસાય વધુમાં વધુ ૪ સમય સુધી રહે છે. ત્યાર પછીના અસંખ્ય અધ્યવસાયોમાંનો એક અધ્યવસાય ૫ સમય સુધી અવસ્થિત રહે છે. એમ અસંખ્ય અસંખ્ય અધ્યવસાયોના જુથોમાંનો એક અધ્યવસાય ૬ સમય

સુધી, ૭ સમય સુધી, ૮ સમય સુધી રહે છે. અને ત્યારબાદ એકેક સમય ઘટતાં ઘટતાં એ અધ્યવસાય બે સમય સુધી વધુમાં વધુ રહી શકે છે. તેથી આપણે જાણી શકીશું કે જઘન્યરસબન્ધનું અવસ્થાન ૪ સમય સુધી અને ઉત્કૃષ્ટરસબન્ધનું અવસ્થાન વધુમાં વધુ ૨ સમય સુધી જ હોય. આ જઘન્યરસબંધનો અધ્યવસાય પણ પરાવર્તમાન પરિણામથી પ્રાપ્ત થાય તે લેવો, પણ વિશુદ્ધિથી અમુક પ્રકૃતિનો જઘન્યરસબંધ થાય છે તે અધ્યવસાય તો બે સમયથી વધુ રહી શકતો જ નથી. માટે વિશુદ્ધિથી પ્રાપ્ત થતા જઘન્યરસબંધનો પણ નિરંતર કાળ બે સમયથી વધુ હોઈ શકતો નથી આ રીતે સંકલેશથી બંધાતા જઘન્યરસ માટે પણ જાણવું. અનુત્કૃષ્ટ અને અજઘન્યરસ તો એક નિયત અધ્યવસાયથી બંધાતો નથી પણ શેષ સર્વ અધ્યવસાયોથી બંધાય છે તેથી તેનો વધુમાં વધુ નિરંતર કાળ ઘણો આવી શકે છે.

આપણે સામાન્યથી આ મૂળ સિદ્ધાંત જાણ્યો, ચાલો! હવે આપણે થોડા ઊંડા ઉતરીએ, અને રસબંધના કાળનો ઓઘથી અને આદેશથી વિચાર કરીએ. ઉત્કૃષ્ટ કે જઘન્યરસબંધ જો ગુણાભિમુખ અવસ્થા કે દોષાભિમુખ અવસ્થાના નિયત સમયેજ થતો હોય તો ત્યાં તે તે બંધનો નિરંતર કાળ એક સમયથી વધુ આવી શકતો નથી. જેમકે ઓઘથી ત્રણ અઘાતિકર્મનો ઉત્કૃષ્ટ રસબંધ અને ઘાતિકર્મનો જઘન્યરસબંધ ક્ષપકશ્રેણિમા નવમા, દશમા ગુણસ્થાનકના ચરમ સમયે જ થાય છે અને ગોત્રનો જઘન્યરસબંધ સાતમી નરકમાં સમ્યક્ત્વાભિમુખતાના ચરમ સમયે થાય છે. આ નિયત સમયે જ ઉત્કૃષ્ટ કે જઘન્યરસ બંધાય છે. માટે નિરંતર કાળ એક સમયથી વધુ આવી શકતો નથી. ઘાતિકર્મ અને આયુષ્યનો ઉત્કૃષ્ટરસબંધ અભિમુખ અવસ્થાના નિયત સમયે નથી, માટે વધુમાં વધુ કાળ બે સમય અને વેદનીય તેમજ નામકર્મનો જઘન્યરસબંધ પરાવર્તમાન મધ્યમ પરિણામથી થાય છે. માટે ઉત્કૃષ્ટકાળ ચાર સમય આવે છે. આઠે કર્મનો ઉત્કૃષ્ટરસબંધ અને જઘન્યરસબંધનો (સૌથી ઓછો) જઘન્યકાળ એક સમય આવે છે. આ રીતે ૧૭૦ માર્ગણાઓમાં પૂર્વાપર યુક્તિઓ અને હેતુઓ વિચારી યંત્રો જોવાથી તેની સુંદર સમજ પ્રાપ્ત થશે.

અનુત્કૃષ્ટ અને અજઘન્યરસબંધનો જઘન્ય અને ઉત્કૃષ્ટકાળ—

ઓઘમાં જે કર્મનો ઉત્કૃષ્ટરસ કે જઘન્યરસ સમ્યક્ત્વાદિ ગુણાવસ્થામાં પ્રાપ્ત થાય તે કર્મનો અનુત્કૃષ્ટ કે અજઘન્યરસનો બંધ ત્રણ વિકલ્પવાળો હોય છે. (૧) અનાદિ અનંત (૨) અનાદિ સાન્ત (૩) સાદિ સાન્ત જેમકે-ત્રણ અઘાતિકર્મોનો ઉત્કૃષ્ટરસ અને ઘાતિકર્મોનો જઘન્યરસ ક્ષપકશ્રેણિમાં બંધાય છે, તેથી અભવ્યોને એ સ્થાન પ્રાપ્ત ન થતું હોવાથી અઘાતિનો અનુત્કૃષ્ટરસ અને ઘાતિકર્મનો અજઘન્યરસ અનાદિથી બંધાય છે, અને અનંતકાળ સુધી બંધાશે. માટે અનાદિ અનંત, ભવ્ય જીવો એ સ્થાન ભવિષ્યમાં પ્રાપ્ત કરશે માટે અનાદિ સાન્ત, અને જે જીવોએ ઉપશમશ્રેણિ માંડી છે, એટલે શ્રેણિમાં અબંધ થયો હવે જ્યારે પડીને ફરી બાંધે ત્યારે સાદિ અને ક્ષપકશ્રેણિ પ્રાપ્ત કરશે ત્યારે સાન્ત

થશે. માટે ત્રણ વિકલ્પ કહ્યા. અને છેલ્લા વિકલ્પનો જઘન્યકાળ અન્તર્મુહૂર્ત અને ઉત્કૃષ્ટથી દેશોન અર્ધપુદ્ગલ પરાવર્ત છે...આજ રીતે ગોત્રકર્મનો અજઘન્યરસબંધનો કાળ જાણવો.

ચારઘાતિકર્મનો ઉ૦ રસ સંજ્ઞિમિથ્યાદૃષ્ટિ બાંધે છે. તેથી ગુણાભિમુખાવસ્થા ન હોવાથી અનુત્કૃષ્ટનો જઘન્યકાલ ૧ સમય આવે છે, અને તે બે ઉત્કૃષ્ટરસબંધની વચમાં ૧ સમય અનુત્કૃષ્ટ રસ બાંધતા આવે છે. અને ઉત્કૃષ્ટકાલ અસંખ્ય પુદ્ગલ પરાવર્ત આવે છે. કેમકે અસંજ્ઞિઅવસ્થાના કાળમાં ઉત્કૃષ્ટરસ બંધાતો ન હોવાથી નિરંતર અનુત્કૃષ્ટરસ બંધાય છે, અસંજ્ઞિની કાયસ્થિતિ અસંખ્ય પુદ્ગલ પરાવર્ત છે. ત્યારબાદ અવશ્ય અલ્પકાળમાં તે જીવોને ઉત્કૃષ્ટરસબંધ થાય છે.

વેદનીય અને નામકર્મનો અજઘન્યરસનો જઘન્યબંધકાલ ૧ સમય અને ઉ૦ કાલ અસંખ્ય લોકાકાશ પ્રદેશ પ્રમાણ છે. કેમકે આ બે કર્મનો પરાવર્તમાન મધ્યમ પરિણામથી જઘન્યરસબંધ થાય છે અને આ પરિણામ સર્વજીવભેદોમાં પ્રાપ્ત થાય છે. એટલે કોઇપણ અવસ્થા બાધક નથી માટે અસંખ્યલોકપ્રદેશપ્રમાણ કાલે આ અધ્યવસાય પ્રાપ્ત થઇ જાય છે તેથી અજઘન્યરસબંધ અટકી જાય છે, અને જઘન્યરસબંધ થાય છે. માટે અસંખ્યલોક કહ્યો.

આયુકર્મનો અનુત્કૃષ્ટ અને અજઘન્યરસબંધનો કાલ જઘન્યથી ૧ સમય અને ઉત્કૃષ્ટથી અંતર્મુહૂર્ત પ્રમાણ છે કારણ કે આયુષ્યનો બંધકાળ અન્તર્મુહૂર્તથી વધારે નથી.

આ રીતે ૧૭૦ માર્ગણાઓમાંથી કેટલીક માર્ગણાઓમાં અનુકૃષ્ટ અને અજઘન્યરસબંધનો કાળ એક સમય આવે છે. કેટલીક માર્ગણાઓમાં અંતર્મુહૂર્ત આવે છે, અને ઉત્કૃષ્ટકાળ ઓઘવત્ કેટલીક માર્ગણાઓમાં અસંખ્યલોક અને કેટલીક માર્ગણાઓમાં સ્વ સ્વ-ઉત્કૃષ્ટ કાયસ્થિતિ વગેરે કાળપ્રમાણ કેવી કેવી રીતે પ્રાપ્ત થાય છે તે, અને તેને સ્પષ્ટ કરતા નિયમો યુક્તિઓ વગેરેનુ સુંદર સુબોધ શૈલીથી પ્રતિપાદન ટીકાગ્રંથમાં કરેલ છે.

૮. એક જીવાશ્રિત અન્તરદ્વારઃ- કોઈ એક જીવ ઉત્કૃષ્ટાદિ ચારે પ્રકારના રસબંધ એક વાર બાંધ્યા પછી જઘન્યથી અને ઉત્કૃષ્ટથી કેટલા કાળે બંધ કરશે તે જણાવી વચ્ચેનુ અંતર કેટલું ? એ અંતરદ્વારમાં વિચારીશું એટલે કે વિવક્ષિતબંધ ફરીથી ઓછામાં ઓછા અને વધારેમાં વધારે કેટલા કાળે થશે અર્થાત્ એક જીવને બે વાર થયેલા વિવક્ષિત બંધની વચ્ચે અલ્પમાં અલ્પ તે બંધ વિનાનો કાળ કેટલો અને વધારેમાં વધારે કાળ કેટલો ? તેનું પ્રતિપાદન આ વ્યાખ્યા પરથી આપણે જાણી શકીશું કે જ્યાં વિવક્ષિત રસનો ફરી બીજીવાર બંધ ન થાય ત્યાં તે વિવક્ષિત રસબંધનું અંતર આવી શકતું નથી.

અહીં અંતર ત્રણ રીતે પ્રાપ્ત થાય છે. (૧) ક્યાંક જે રસબંધની વિવક્ષા હોય તેના પ્રતિપક્ષી રસબંધ ચાલુ થવાથી (૨) ક્યાંક ઉપશમશ્રેણિના અબંધને લીધે (૩) ક્યાંક પ્રતિપક્ષી પ્રકૃતિ બંધ ચાલુ થાય અથવા અબંધ થાય એમ બે પ્રક્રિયાથી અંતર પ્રાપ્ત થાય

છે. આ ત્રણે પ્રકારના અંતરનો કાળ ઓઘથી અને માર્ગણાઓમાં કઇ કઇ રીતે ? કેવી કેવી અવસ્થામાં તે તે બંધને આશ્રીને કેટકેટલો પ્રાપ્ત થાય છે? એ જાણીશું એટલે સારું ય અંતરદ્વાર હસ્તામલકવત્ સુસ્પષ્ટ જણાશે.

અંતર કયાં ન આવે ? (૧) ક્ષપકશ્રેણિમાં જે કર્મનો ઉત્કૃષ્ટ કે જઘન્યરસબંધ થતો હોય ત્યાં તે કર્મના તે રસબંધનું અંતર ન આવે–કારણ કે તે જીવને તે બંધ ફરી પ્રાપ્ત થવાનો નથી. (૨) વળી માર્ગણાઓમાં બીજીવાર તે વિવક્ષિતબંધ થવા પૂર્વે જ જો તે જીવને માર્ગણા વિચ્છેદ થઈ (બદલાઈ) જતી હોય તો ત્યાં પણ અંતર આવી શકતું નથી. **દા. ત. :-** (i) ઓઘમાં ત્રણ અઘાતીકર્મનો ઉ૦ રસબંધ અને ચાર ઘાતિકર્મોનો જ૦ રસબંધ ક્ષપકશ્રેણિમાં થાય છે તેથી ત્યાં અંતર નથી...., (ii) ઉપશમ સમ્યક્ત્વ વગેરે કેટલીક માર્ગણાઓમાં ઉત્કૃષ્ટાદિ રસબંધ બીજીવાર માર્ગણા બદલાયા વગર ચાલુ એજ માર્ગણામાં થતો નથી માટે અંતર નથી.

ચારઘાતી કર્મોના ઉ૦ રસબંધનું અંતરઃ- ઓઘમાં જઘન્યથી ૧ સમય ઉત્કૃષ્ટથી અસંખ્ય પુદ્ગલપરાવર્તકાળ સંજ્ઞી મિથ્યાદૃષ્ટિ જીવ ઘાતિનો ઉ૦ રસબંધ કરી ૧ સમય અનુત્કૃષ્ટરસ બાંધી ફરી ઉ૦ બાંધે એટલે જઘન્યથી અંતર ૧ સમય આવે. એ જીવ સંસારમાં પરિભ્રમણ કરતો અસંજ્ઞીપણે ઉત્પન્ન થાય અને ઉ૦ થી અસં૦ પુ૦ પરાવર્ત-પ્રમાણ ઉત્કૃષ્ટકાય સ્થિતિ કાળ સુધી ત્યાં રહી પુનઃ સંજ્ઞી થાય અને ઉ૦ રસ બાંધે ત્યારે ઉ૦ અંતર અસં૦ પુ૦ પરાવર્તકાળ આવે છે.

આમ માર્ગણાઓમાં સંજ્ઞી અસંજ્ઞી વગેરે ભિન્ન ભિન્ન જીવો હોય અને ઉત્કૃષ્ટ વગેરે રસબંધ સંજ્ઞી વગેરેમાં થતો હોય ત્યાં અસંજ્ઞી વગેરેની ઉ૦ કાયસ્થિતિ જેટલું વ્યવધાન પડવાથી ઉ૦ અંતર આવે છે.

જે માર્ગણાઓની કાયસ્થિતિ અસં. લોક અથવા અનંતકાળની છે ત્યાં જો ભિન્ન જાતિના જીવોની કાયસ્થિતિનું વ્યવધાન ન પડતું હોય ત્યાં અસંખ્યલોક અંતર કહેવું, જે માર્ગણાની કાયસ્થિતિ અસંખ્યલોકકાળથી ઓછી હોય ત્યાં દેશોનકાયસ્થિતિ કહેવી, પરંતુ જો એમાં કાયસ્થિતિના અંતે તીવ્ર સંક્લેશ વગેરે પ્રાપ્ત ન થતાં હોય તો અંત્ય અંતર્મુહૂર્ત કે ભવ વગેરે જે બાધક હોય તેટલો કાળ ન્યૂન કરવો જેમકે મનુષ્યમાર્ગણાની કાયસ્થિતિ ત્રણ પલ્યોપમ સાધિક પૂર્વકોટિપૃથક્ત્વ છે. પરંતુ ત્રણ પલ્યોપમના યુગલિક ભવમાં તીવ્ર સંક્લેશ પ્રાપ્ત ન થતો હોવાથી એટલો કાળ દેશોનકાયસ્થિતિ પ્રમાણ અંતરમાંથી બાદ કરવો–એટલે કે પૂર્વકોટિપૃથક્ત્વ અંતર પ્રાપ્ત થાય છે.

ચારઘાતિકર્મના જઘન્યરસબંધનું અંતર :- આ અંતર ઓઘમાં આવતું નથી એમ આપણે પૂર્વે કહી ગયા. તેવી રીતે કેટલીક માર્ગણાઓમાં ક્ષપકશ્રેણિ વગેરેના કારણે, તેમજ કેટલીક માર્ગણાઓમાં માર્ગણાપરાવૃત્તિ વગેરે કારણોને લીધે અંતર કહ્યું નથી. કેટલીક માર્ગણાઓમાં ગુણાભિમુખ અવસ્થામાં, કેટલીક માર્ગણાઓમાં સંજ્ઞી

વગેરે અવસ્થામાં જઘન્યરસબંધ થતો હોવાથી સ્વકાયસ્થિતિપ્રમાણ અંતર આવતું નથી. જેમકે– તિર્યંચગતિ સામાન્ય માર્ગણામાં દેશવિરતિને જઘન્યરસબંધ થાય છે. એટલે કંઈક ન્યૂન (દેશોન) અર્ધપુદ્ગલપરાવર્ત અંતર કહ્યું અને અભવ્યમાર્ગણામાં સંજ્ઞીને જઘન્યરસબંધ થાય છે, તેથી અસંજ્ઞીની કાયસ્થિતિના વ્યવધાનથી અસંખ્યપુદ્ગલપરાવર્ત-પ્રમાણ અંતર કહ્યું છે. બાકી જ્યાં જ્યાં વિશિષ્ટ જીવોની વિશુદ્ધિથી જઘન્યરસબંધ નથી પણ સ્વસ્થાન વિશુદ્ધિ છે, અને માર્ગણાની ઉ૦ કાયસ્થિતિ અસંખ્યલોકથી વધારે છે, ત્યાં અસંખ્યલોક આવે અને માર્ગણાની ઉ૦ કાયસ્થિતિ નાની હોય ત્યાં દેશોનકાયસ્થિતિ અંતર આવે.

ત્રણ અઘાતિકર્મના જઘન્યરસબંધનું અંતર :- વેદનીય અને નામ એ બે કર્મોનો પરાવર્તમાન પરિણામથી જઘન્ય રસબંધ થાય છે. જ્યારે ગોત્રકર્મનો કેટલીક માર્ગણામાં વિશુદ્ધિથી અને કેટલીક માર્ગણામાં સંક્લેશથી અને કેટલીક માર્ગણામાં પરાવર્તમાનપરિણામથી જઘન્ય રસબંધ થાય છે. તેથી વેદનીય અને નામકર્મનું અંતર એક સરખું ચાલશે, જ્યારે ગોત્રકર્મનું અંતર એથી જુદી રીતે ચાલશે.

વેદનીય અને નામકર્મનું અંતરઃ- જ્યાં જે માર્ગણાની ઉ૦ કાયસ્થિતિ અસંખ્ય-લોકથી વધારે છે, ત્યાં વેદનીય અને નામકર્મનુ અંતર અસંખ્યલોક, તે સિવાયની બાકીની માર્ગણામાં લગભગ દેશોનસ્વસ્વકાયસ્થિતિ આવશે. કાર્મણ અને અનાહારક માર્ગણામાં ૧ સમય આવે છે. અવેદ અને સૂક્ષ્મસંપરાય માર્ગણામાં અંતર આવતું નથી કેમકે શ્રેણિમાં બંધ છે.

ગોત્રકર્મનું અંતર :- જ્યાં ગોત્રનો જઘન્યરસ પરાવર્તમાન પરિણામથી બંધાય છે. ત્યાં વેદનીય અને નામકર્મના જેટલું અતર આવે, જ્યાં જઘન્યરસ ગુણાભિ-મુખાવસ્થાની વિશુદ્ધિથી કે દોષાભિમુખાવસ્થાના સંક્લેશથી બંધાતો હોય અને પછી તરત માર્ગણા પલટાતી હોય તો ત્યાં અંતર ન આવે. સંજ્ઞી, અસંજ્ઞી વગેરે ભિન્ન ભિન્ન જીવોથી મિશ્રિત માર્ગણાઓમાં જો સંજ્ઞી વગેરે વિશિષ્ટ જીવો ગોત્રના જઘન્યરસના બંધક હોય, તો ત્યાં અસંજ્ઞી વગેરેની ઉત્કૃષ્ટકાયસ્થિતિના વ્યવધાનથી પૂર્વની જેમ જઘન્ય-રસબંધના અંતરની ઘટના કરી લેવી.

સાતકર્મના અનુત્કૃષ્ટ અને અજઘન્યરસબંધનો અંતરકાળઃ- કોઇ માર્ગણામાં કોઇક પ્રકૃતિનો ઉત્કૃષ્ટથી કાળ એક સમય, તો વળી બીજી માર્ગણાઓમાં બે સમય, કોઇક ઠેકાણે વળી અંતર્મુહૂર્ત અંતર પડે છે. જ્યારે કેટલીક માર્ગણાઓમાં કેટલીક પ્રકૃતિનું અંતર જ નથી. અનુત્કૃષ્ટના અંતરકાળથી અજઘન્યના અંતરકાળની વિશેષતા એ છે કે કેટલીક માર્ગણાઓમાં કેટલાંક કર્મોના અજઘન્યરસબંધનું અંતર ચાર સમય પણ આવે છે.

ભિન્ન ભિન્ન અંતરકાળ આવવાનાં કારણો :- (i) જ્યાં જે કર્મનો ઉત્કૃષ્ટ કે જઘન્યરસબંધ અભિમુખાવસ્થાના નિયત સમયે થતો હોય ત્યાર બાદ માર્ગણાની પરાવૃત્તિ

થતી ન હોય તો અનુત્કૃષ્ટ કે અજઘન્યરસબંધનો કાળ **એક સમય** આવે. અને (ii) જો માર્ગણા પલટાતી હોય તો ત્યાં **અંતર** આવતું **નથી.** (iii) જ્યાં જે કર્મનો ઉત્કૃષ્ટ કે જઘન્ય રસબંધ સ્વસ્થાનસંક્લેશ કે સ્વસ્થાનવિશુદ્ધિથી થતો હોય ત્યાં તે કર્મના અનુત્કૃષ્ટ કે અજઘન્યરસબંધનું અંતર પ્રતિપક્ષબંધપ્રયુક્ત **બે સમય** આવે. (IV) જ્યાં જે કર્મનો જઘન્યરસબંધ પરાવર્તમાન મધ્યમ પરિણામથી થતો હોય ત્યાં અજઘન્યરસનું અંતર **ચાર સમય** આવે. (V) જે માર્ગણાઓમાં ઉપશમશ્રેણિ દ્વારા કર્મનો અબંધ પ્રાપ્ત થતો હોય, અને તે માર્ગણાઓ પલટાતી ન હોય ત્યાં **અન્તર્મુહૂર્ત** અંતર આવે.

આયુષ્ય :- ઉત્કૃષ્ટરસબંધનું અંતર ઓઘમાં જઘન્યથી **એક સમય.** તે આ રીતે–અપ્રમત્ત મુનિ અનુત્તરવિમાનવાસી દેવયોગ્ય આયુષ્યની ઉત્કૃષ્ટસ્થિતિ બાંધતા ઉત્કૃષ્ટરસ બાંધે છે. તે મુનિ ઉત્કૃષ્ટરસ બાંધી એક સમય અનુત્કૃષ્ટરસ બાંધે, ત્યારબાદ ફરી ઉત્કૃષ્ટ-રસ બાંધે ત્યારે જઘન્યઅંતર એક સમય આવે. ઉત્કૃષ્ટથી અંતર દેશોનઅર્ધપુદ્ગલ પરાવર્ત.

જઘન્યરસબંધનું અંતર:- ઓઘમાં જઘન્યથી એક સમય, ઉત્કૃષ્ટથી અસંખ્યલોક.

કારણ:- આયુષ્યનો જઘન્યરસબંધ પરાવર્તમાન પરિણામથી થાય છે. આ પરિણામ સંજ્ઞી અસંજ્ઞી વગેરે જીવભેદોમાં પણ પ્રાપ્ત થાય છે. એટલે કે વિશેષ કોઈ અવસ્થામાં થતો નથી તેથી વિશેષ કોઇ બાધક ન હોવાથી ઉત્કૃષ્ટથી અસંખ્યલોકપ્રમાણ કાળે આ પરિણામ અવશ્ય પ્રાપ્ત થાય છે. તેથી આયુષ્યના જઘન્યરસબંધનું ઉત્કૃષ્ટ અંતર અસંખ્યલોકકાળ કહ્યું છે.

અનુત્કૃષ્ટ અને અજઘન્યરસબંધનું અંતર :- ઓઘમાં જઘન્યથી એક સમય અને ઉત્કૃષ્ટથી સાધિક ૩૩ સાગરોપમ. તે આ રીતે—કોઇ પૂર્વ કોટિવર્ષના આયુષ્યવાળા સંજ્ઞી પંચેન્દ્રિય તિર્યંચ કે મનુષ્ય પોતાના આયુષ્યનો ત્રીજો ભાગ બાકી રહે ત્યારે આયુષ્ય બાંધતા અનુત્કૃષ્ટ કે અજઘન્યરસ બાંધે, શેષ આયુષ્યના ક્ષયે ૩૩ સાગરોપમવાળો નારકી થાય. ત્યાં આયુષ્યના અંતે છેલ્લા અંતર્મુહૂર્તમાં આયુષ્ય બાંધતા અનુત્કૃષ્ટ કે અજઘન્યરસ બાંધે ત્યારે સાધિક ૩૩ સાગરોપમનું અંતર આવે.

માર્ગણાઓમાં પણ ચારેય રસબંધનું જઘન્ય અંતર એક સમય પ્રતિપક્ષીબંધની અપેક્ષાએ આવે છે. અને ઉત્કૃષ્ટ અંતર પ્રતિપક્ષી બંધ અને અબંધ એમ બંને રીતોમાંથી કઇ કઈ રીતે વધુ પ્રાપ્ત થાય છે એ ટીકાગ્રંથમાં સ્પષ્ટ કરેલું છે.

આમ આઠે કર્મના ઉત્કૃષ્ટાદિ ચારે રસબંધોનું જઘ૦ અંતર બંને એટલું ઓછું કેવી રીતે પ્રાપ્ત થાય? અને ઉ૦ અંતર કેવી રીતે વધુ પ્રાપ્ત થાય છે? એ માટે એની ઘટનામાં આપણે જેમ જેમ ઊંડા ઉતરીએ છીએ તેમ તેમ કર્મસત્તાના સનાતન સિદ્ધાંતો આ વિશ્વમાં કેવી કેવી ચોક્કસ રીતે પ્રવર્તે છે તેનું આંશિકસ્વરૂપ ખ્યાલમાં આવે છે. અને આ જગતનું સ્વરૂપ આ રીતે જ યથાર્થ હોઈ શકે છે, તેમજ આ સ્વરૂપને કહેનાર સર્વજ્ઞ વીતરાગદેવો જ હોઈ શકે છે એમ આપણું મન પોકાર કર્યા વિના રહી શકતું નથી.

૯. સંનિકર્ષદ્વાર :- સંનિકર્ષ એટલે સંબંધ. જ્ઞાનાવરણકર્મના ઉત્કૃષ્ટરસબંધ વખતે બાકીની પ્રકૃતિનો કયો સંબંધ? એટલે કે તે વખતે બાકીની પ્રકૃતિનો ઉ૦ રસ બંધાય કે **અનુત્કૃષ્ટરસ** બંધાય? અને જો **અનુત્કૃષ્ટરસ** બંધાય તો પોતાના ઉત્કૃષ્ટરસ કરતાં **અનન્તભાગહીન**, અસંખ્યભાગહીન, સંખ્યાતભાગહીન, સંખ્યાતગુણહીન, અસંખ્યાત-ગુણહીન **કે અનંતગુણહીન** બંધાય? આ રસબંધના વિચારને સંનિકર્ષ=સંબંધ કહેવાય છે. એમ જઘન્યરસબંધ વખતે શેષ પ્રકૃતિનો જઘન્યરસ કે અજઘન્યરસ બંધાય? જો અજઘન્યરસ બંધાય તો કેટલો અધિક બંધાય એમ અહીં પણ છ એ સ્થાનથી વિચારી એ રસ અધિક છે કે નહિ એ વિચારવું. એમ દર્શનાવરણકર્મના ઉ૦ અને જઘ૦ રસબંધ સાથે બાકીના કર્મના સંબંધ (સંનિકર્ષ) નો વિચાર.–અને એવી રીતે સર્વ કર્મો સાથેના સંનિકર્ષનો વિચાર આ દ્વારમાં કર્યો છે.

ક્ષપકશ્રેણિના કે ઉપશમશ્રેણિના નવમા અનિવૃત્તિકરણ ગુણસ્થાનકથી સમાન ગુણસ્થાનકોના સમાન સમયે જે જે કર્મનો ઉત્કૃષ્ટ રસબંધ કહ્યો છે, તે સર્વ કર્મોનો ઉત્કૃષ્ટ રસ જ બંધાય છે. એવી રીતે જઘન્યરસબંધ માટે પણ જાણવું જેમકે-વેદનીય નામ અને ગોત્ર-કર્મનો ઉત્કૃષ્ટ રસબંધ દશમા ગુણસ્થાનકના ચરમ સમયે થાય છે. તેથી ત્યાં વેદનીયાદિ કોઈપણ એક કર્મના ઉત્કૃષ્ટ રસબંધ વખતે બીજા બે કર્મોના ઉત્કૃષ્ટરસનો જ બંધ સમજવો. મોહનીય અને આયુષ્યનો બંધ જ નહીં અને ત્રણઘાતિકર્મનો અનુત્કૃષ્ટ અનંતગુણહીન જ રસ બંધાય છે. એજ રીતે જ્ઞાનાવરણ દર્શનાવરણ અને અંતરાય કર્મનો જઘન્યરસબંધ ત્યાં જ થાય છે તેથી જ્ઞાનાવરણના બંધ વખતે બાકીના બે કર્મનો જઘન્યરસ જ બંધાય છે. આનું કારણ એ છે કે શ્રેણિના નવમા ગુણઠાણાથી દરેક સમયના અધ્યવસાયો તુલ્ય છે. જ્યારે બીજા ગુણસ્થાનકોમાં અધ્યવસાયો નાનાવિધ અનેક વિચિત્રતા ગર્ભિત હોય છે. તેથી ત્યાં જે કર્મોનો તીવ્ર સંક્લેશથી ઉત્કૃષ્ટ રસબંધ કહ્યો છે. ત્યાં બધા કર્મોનો ઉત્કૃષ્ટ રસબંધ જ થાય એવો નિયમ નથી પરંતુ કોઈ એક કર્મના ઉત્કૃષ્ટ રસબંધ વખતે બાકીના કર્મોનો અનુત્કૃષ્ટ રસબંધ પણ થાય છે. અને તે છ એ સ્થાનથી હીન હોઇ શકે છે. અને તીવ્ર સંક્લેશથી થતા ઉત્કૃષ્ટ રસબંધ વખતે અન્યકર્મનો વિશુદ્ધિથી કે પરાવર્તમાનપરિણામથી થતો રસબંધ અનુત્કૃષ્ટ જ હોય છે. અને તે રસ અનંતગુણ હીન જ હોય છે. આ વખતે આયુનો બંધ થતો નથી કારણ કે તીવ્ર સંક્લેશ કે તીવ્રવિશુદ્ધિમાં આયુષ્યનો બંધ થતો નથી

દા. ત.:- ઘાતિકર્મનો ઉત્કૃષ્ટ રસબંધ તીવ્રસંક્લેશથી થાય છે તેથી જ્ઞાનાવરણના ઉત્કૃષ્ટ રસબંધ વખતે શેષ ત્રણ ઘાતિકર્મનો ઉત્કૃષ્ટ રસબંધ થાય અને અનુત્કૃષ્ટ રસબંધ પણ થાય, અને તે અનુત્કૃષ્ટ રસ છ એ સ્થાનથી હીન હોય છે ત્રણ અઘાતિકર્મનો અનુત્કૃષ્ટ રસ જ બંધાય, અને તે રસ અનન્ત ગુણ હીન હોય છે ત્યારે આયુષ્યનો બંધ થતો નથી.

આ જ રીતે વિશુદ્ધિથી થતા ઉત્કૃષ્ટ રસબન્ધ વખતે સંક્લેશ કે મધ્યમપરિણામથી થતા ઉત્કૃષ્ટરસબન્ધવાળા કર્મોનો અનન્તગુણ હીન એવો અનુત્કૃષ્ટ જ રસબન્ધ થાય. શ્રેણિ

સિવાય તુલ્યવિશુદ્ધિથી થતા ઉત્કૃષ્ટ રસબન્ધવાળા કર્મોનો ઉત્કૃષ્ટ અને અનુત્કૃષ્ટ રસબન્ધ પણ થાય. અને તે ષટ્ સ્થાનથી હીન હોઇ શકે છે. આયુના ઉત્કૃષ્ટ રસબંધ વખતે સાતે કર્મનો અનુત્કૃષ્ટરસ જ બંધાય.

આવી જ રીતે જઘન્યરસબંધના સંનિકર્ષની ઘટના કરી લેવી. એ કરતાં પહેલા જઘન્યરસબન્ધ શ્રેણિમાં પ્રાપ્ત થાય છે કે નહિ એ જોવું. શ્રેણિના નવમા અનિવૃત્તિકરણ ગુણસ્થાન વગેરેમાં હોય તો ઉપર પ્રમાણે જાણવું

જ્યાં કોઇ એક કર્મનો તીવ્રસંક્લેશથી જઘન્યરસબન્ધ થાય છે ત્યાં તેવા જ સંક્લેશથી થતા જઘન્યરસબન્ધવાળા બીજા કર્મોનો જઘન્ય અને અજઘન્ય એમ બન્ને પ્રકારનો રસબન્ધ થાય છે. અને વિશુદ્ધિથી અને મધ્યમપરિણામથી થતા જઘન્યરસબંધવાળા કર્મનો અજઘન્યરસ જ બંધાય આ રીતે વિશુદ્ધિથી થતા જઘન્યરસબન્ધ વખતે સંક્લેશ અને મધ્યમપરિણામથી થતા જઘન્યરસબન્ધવાળા કર્મોનો અજઘન્યરસ જ બંધાય છે. અને મધ્યમપરિણામથી થતા જઘન્યરસબન્ધ વખતે સંક્લેશ અને વિશુદ્ધિથી થતા જઘન્યરસ બંધવાળા કર્મોના અજઘન્યરસ જ બંધાય છે. અને આવા પોતાની સમાન કક્ષાવાળા પરિણામથી એટલે કે વિશુદ્ધિ વખતે સમાન વિશુદ્ધિથી થતા, અને મધ્યમપરિણામ વખતે મધ્યમપરિણામથી થતા જઘન્ય રસબંધવાળા કર્મોનો જઘન્ય અને અજઘન્ય બન્ને પ્રકારનો રસબંધ થઇ શકે છે

આમ આ સામાન્ય નિયમોને જાણી લઇ ઓઘમાં અને માર્ગણાઓમાં દરેક કર્મના ઉત્કૃષ્ટ રસબંધ સાથે બાકીના કર્મના સંનિકર્ષ શું છે? અને તે બંધ કેટલો અધિક છે? કેટલો હીન છે? તથા તેમ થવામાં ઉપર દર્શાવેલ સિદ્ધાંતો કેવી કેવી રીતે ઘટે છે, તેને અંગે ભિન્ન ભિન્ન યુક્તિઓ કઇ કઇ છે? આ બધા પ્રશ્નોનું સુંદર સમાધાન ટીકાગ્રંથમાં કરેલ છે તેમજ આ સમગ્ર વિષયને પૂર્વની જેમ યંત્રો (કોઠા)માં ગુંથી લીધો છે.

૧૦. ભંગવિચય :- (અહીંથી બધા દ્વારો અનેક જીવોને આશ્રીને સમજવા)

ભંગવિચય એટલે ભાંગાઓનો સમૂહ. ઉત્કૃષ્ટાદિરસોના બંધ કરનારા એક અનેક આત્માઓ હોય છે તેઓને આશ્રીને બંધક અને અબંધક એ બે પદના એકવચન અને બહુવચનથી આઠ ભાંગા-વિકલ્પ થાય છે. તે આ પ્રમાણે— (૧) એક બંધક (૨) એક અબંધક (૩) સર્વ બંધક (૪) સર્વ અબંધક (૫) એક બંધક એક અબંધક (૬) એક બંધક અનેક અબંધક (૭) અનેક બંધક એક અબંધક (૮) અનેક બંધક અનેક અબંધક.

અહીં અબંધક એટલે સર્વ રસનો બંધ ન કરનાર એમ નહીં પણ વિપરીત રસનો બંધ કરનાર લેવાનો છે. **દા. ત. :-** ઉત્કૃષ્ટરસનો અબંધક એટલે અનુત્કૃષ્ટરસનો બંધક છે એમ સમજવું.

પહેલો ભંગ "એક બંધક" ક્યારે ઘટે? જ્યારે માર્ગણામાં એક જ જીવ હોય અને તે ચારમાંથી કોઇપણ એક વિવક્ષિત રસનો બંધક હોય ત્યારે. પરંતુ કદાચ માર્ગણામાં

તે વખતે બીજો જીવ હોય અને તે વિવક્ષિત રસથી વિપરીત રસનો બંધક હોય ત્યારે આ પહેલો ભંગ ન ઘટે. પણ તે વખતે "એક બંધક એક અબંધક" એ પાંચમો ભંગ ઘટે. આ રીતે દરેક ભંગોની ઘટના કરી શકાય તેવી છે. તેથી વિસ્તૃત વિવેચન કર્યું નથી. આ આઠ ભંગમાંથી કયાં કોને કેટલા ભંગ પ્રાપ્ત થાય છે એ દર્શાવતું આ સંપૂર્ણ ભંગવિચય દ્વાર સાગરસમું છે. પરંતુ તેને જો આપણે ત્રણ નિયમો રૂપી ગાગરમાં સમાવી લઇશું તો તે સમજવું સરળ બનશે

(૧) ઓઘ કે માર્ગણામાં જે જે કર્મના ઉત્કૃષ્ટ રસબંધકો કે જઘન્ય રસબંધકો અસંખ્યલોકપ્રદેશપ્રમાણ કે અનંતા હોય તો ત્યાં તે તે કર્મના ઉત્કૃષ્ટ અને અનુત્કૃષ્ટરસના બંધકો કે જઘન્ય અને અજઘન્યરસના બંધકોના "અનેક બંધક અને અનેક અબંધક" નામનો આઠમો એક જ ભંગ આવે.

(૨) ઓઘમાં આઠે કર્મના અને માર્ગણાઓમાં જે માર્ગણા હંમેશ રહેનારી હોય (સાર્વદિકી) છે તે માર્ગણાઓમાં આયુષ્ય વિના સાતે કર્મમાંથી જે કર્મના ઉત્કૃષ્ટ રસ કે જઘન્યરસના બંધકો અસંખ્યલોકથી ઓછા હોય તે કર્મના ઉત્કૃષ્ટ રસ કે જઘન્યરસના (૪થો–૬ઠ્ઠો–૮મો) ચોથો, છઠ્ઠો, આઠમો એમ ત્રણ ભંગ અને અનુત્કૃષ્ટ કે અજઘન્યરસના (૩જો–૭મો–૮મો) ત્રીજો, સાતમો, આઠમો એમ ત્રણ ભંગ ઘટે.

(૩) જે માર્ગણાઓ સાન્તર એટલે કે કેટલોક કાળ હોય જ્યારે કેટલોક કાળ જગતમાં ન હોય. જેમકે—અપર્યાપ્ત મનુષ્ય, વૈક્રિયમિશ્રયોગ, આહારકયોગ વગેરે ૧૧ માર્ગણાઓ. આ માર્ગણાઓમાં ક્યારે એક, બે વગેરે જીવો પણ હોય છે. તેથી ચારે પ્રકારના રસના આઠે ભાંગા મળી શકે છે.

જે માર્ગણાઓમાં આયુષ્યના બંધકો અસંખ્યલોકપ્રદેશ સંખ્યાથી ન્યૂન છે ત્યાં સર્વત્ર આયુષ્ય કર્મના ચારે રસના આઠ ભંગ ઘટી શકે છે.

હવે અસંખ્યલોકપ્રમાણ કે અનંતસંખ્યાપ્રમાણ બંધકો કયાં આવે તે જોઇએ. જે કર્મના ઉત્કૃષ્ટાદિ ચારેય રસોમાંથી જે રસના બંધકો અપર્યાપ્ત બાદર પૃથ્વ્યાદિ જીવો કે સૂક્ષ્મ પૃથ્વ્યાદિ જીવો હોય તો તે કર્મના તે રસના બંધકો અસંખ્યલોકપ્રમાણ હોય. અને જો સાધારણ વનસ્પતિકાય (નિગોદ) ના જીવો એ રસ બાંધતા હોય તો અનંતા બંધકો હોય છે.

આ પ્રમાણે આ ત્રણ નિયમોને ધ્યાનમાં લઈ ભંગવિચયપ્રદર્શક યન્ત્રમાં ભાંગાઓની સંખ્યા જોવાથી બરાબર ખ્યાલ આવી જશે કે આ કારણોથી અહીં આ ભાંગાઓ આવે છે સંસ્કૃત ટીકાગ્રંથનું અવગાહન કરવાથી તો દર્પણની જેમ આપના માનસપટ પર ભંગ-વિચય દ્વારનો વિષય પ્રતિબિંબિત થઇ શકે તેમ છે.

૧૧. ભાગદ્વાર:- ભાગપ્રરૂપણા એટલે જ્યારે જે જે કર્મના ઉત્કૃષ્ટરસના કે જઘન્ય-

રસના બંધકો વધુમાં વધુ સંખ્યામાં ઉત્કૃષ્ટપદે હોય ત્યારે તે તે કર્મના સર્વ રસબંધકોની અપેક્ષાએ તે બંધક જીવો કેટલામે ભાગે છે? એટલે કે તે બંધકો સર્વબંધકોના સંખ્યાતમે ભાગે છે? અસંખ્યાતમે ભાગે છે? કે અનંતમે ભાગે છે? એ જો સંખ્યાતમે ભાગે હોય તો તેના અનુત્કૃષ્ટ કે અજઘન્ય રસબંધકો સંખ્યાતબહુભાગે હોય, અસંખ્યાતમે ભાગે હોય તો અસંખ્યાત બહુભાગે હોય, અને જો અનંતમે ભાગે હોય તો અનંત બહુભાગે હોય ઇત્યાદિ નિરૂપણ :–

(i) જ્યાં રસબન્ધકો અનંતા હોય અને ઉત્કૃષ્ટ કે જઘન્યના રસબન્ધકો મનુષ્ય વગેરે કે સંજ્ઞી, તેજસ્કાય વગેરે વિશિષ્ટ જીવોને લઈને સંખ્યાત કે અસંખ્યાત જ પ્રાપ્ત થતાં હોય ત્યાં ઉત્કૃષ્ટ કે જઘન્યરસના બંધકો એક અનંતમે ભાગે, અને અનુત્કૃષ્ટ કે અજઘન્યરસના બંધકો અનંતબહુભાગે આવે છે.

(ii) જ્યાં રસબંધકો સંખ્યાતા હોય અને ઉ૦ કે જઘ૦ રસના બંધકો અતિઅલ્પ સંખ્યામાં હોય ત્યાં ઉ૦ કે જઘ૦ રસના બંધકો એક સંખ્યાતમે ભાગે, અને અનુ૦ કે અજ૦ ના રસબંધકો સંખ્યાતબહુભાગે આવે છે. દા. ત.:– પર્યાપ્તમનુષ્યાદિમાર્ગણામાં.

(iii) જ્યાં રસબંધકો અસંખ્યાતા હોય અને ઉ૦ કે જઘ૦ રસના બંધકો સંખ્યાત કે અત્યલ્પ અસંખ્યાત હોય ત્યાં, તથા જ્યાં રસબંધકો અનંતા હોય અને ઉ૦ કે જઘ૦ના રસબંધકો પણ અનંતા હોય ત્યાં પણ ઉ૦ કે જઘ૦ રસના બંધકો એક અસંખ્યભાગ આવે અને અનુ૦ કે અજઘ૦ ના રસબંધકો અસંખ્યબહુભાગ આવે છે.

અનંતજીવોવાળી માર્ગણાઓમાં અનંતા રસબંધકો આવે છે. અનંતજીવોવાળી ૩૮ માર્ગણાઓ ગ્રંથના ૨૬મા પાના પર ગત્યાદિમાર્ગણાઓના યંત્રમાં દર્શાવી છે. તથા ઉત્કૃષ્ટ કે જઘન્ય રસબંધકો સંખ્યાત, કે અસંખ્યાત કે અનંતા છે એ હવે પછીના પરિમાણદ્વારથી તથા તેનું યંત્ર જોવાથી જાણી શકાય છે. આ જાણવાથી ભાગદ્વાર જાણવાની મુશ્કેલી રહેશે નહિ.

૧૨. પરિમાણદ્વાર :- અહીં આઠે કર્મના ઉત્કૃષ્ટાદિ ચારેય રસબંધકોનું પરિમાણ સંખ્યાત, અસંખ્યાત કે અનંત એમ ત્રણ રીતે જ દર્શાવ્યું છે. આ ત્રણે પ્રકારનું પરિમાણ ક્યાં ક્યાં આવે એ માટે સામાન્ય આ રીતે તપાસવું:–

(૧) જ્યાં જે કર્મના ઉત્કૃષ્ટાદિ રસબંધકો કેવલ પર્યાપ્ત મનુષ્યો જ હોય અથવા તેમાં જ ઉત્પન્ન થનારા જીવો હોય ત્યાં તે કર્મના ઉત્કૃષ્ટાદિ રસબન્ધકો **સંખ્યાતા** આવે. (સર્વાર્થસિદ્ધમાં દેવો સંખ્યાતા છે ત્યાં સંખ્યાતા બંધકો કહેવા)

(૨) જ્યાં જે કર્મના ઉત્કૃષ્ટાદિ રસબંધકો સાધારણ વનસ્પતિકાય જીવો હોય ત્યાં તે કર્મના ઉત્કૃષ્ટાદિ રસબંધકો **અનંતા** આવે.

(૩) ઉપર કહેલી બે રીત સિવાય બાકી રહેલા જીવો ઉત્કૃષ્ટાદિ રસબંધકો

અસંખ્યાતા હોય છે એમાં વિશેષતા એ છે કે જ્યાં અપર્યાપ્તબાદર પૃથ્વીકાયાદિ કે સૂક્ષ્મ-જીવો બંધક તરીકે પ્રાપ્ત થાય ત્યાં અસંખ્યલોક પ્રમાણ અસંખ્યાતા બંધકો આવે.

આ પ્રમાણે બંધકોનું પરિમાણ સમજી લેવાથી આગળ ઉપર કહેવાતાં ક્ષેત્ર, સ્પર્શના વગેરે દ્વારોમાં તથા પૂર્વના દ્વારોમાં કહેલા નિયમો, ચાવીઓ વગેરે સહેલાઈથી જાણી શકાય છે અને વિષય વધુ સ્પષ્ટ થાય છે.

૧૩. ક્ષેત્રદ્વારઃ-આ દ્વારમાં કહેવાતું ક્ષેત્ર, અને આ પછીના સ્પર્શના દ્વારમાં કહેવાતી સ્પર્શના, આ બેમાં તફાવત શું છે એ પહેલાં જાણવું જરૂરી છે. બંધવિધાન મહાન શાસ્ત્રમા ક્ષેત્રનું નિરૂપણ જીવસમાસ ગ્રંથના અનુસારે વર્તમાન કાળને એટલે કે એક સમયને આશ્રીને બતાવ્યું છે અને સ્પર્શના અતીતકાળની અપેક્ષાએ કહી છે. તેથી દરેક માર્ગણામાં સ્પર્શના અનંતા જીવોની અપેક્ષાએ થાય છે. અને ક્ષેત્ર વર્તમાનમાં રસ-બંધ કરનાર જીવોની મુખ્યતાએ દર્શાવાય છે. તેથી આ ક્ષેત્ર **સર્વલોક, દેશોનલોક** અને **લોકનો અસંખ્યભાગ** એમ ત્રણ રીતે બતાવ્યું છે.

સર્વલોક વગેરે ક્ષેત્ર કયાં કયાં આવે છે. તેના ઉપર સામાન્યથી દૃષ્ટિપાત કરીએ.

(૧) જ્યાં જે કર્મોના ઉત્કૃષ્ટાદિ રસના બંધકો સૂક્ષ્મજીવો હોય અગર સૂક્ષ્મ સિવાયના જીવો પણ જો અસંખ્યલોકપ્રમાણ કે અનંતની સંખ્યામાં હોય અને તેઓએ મરણ સમુદ્ઘાતથી પોતાના આત્મપ્રદેશોને સૂક્ષ્મજીવોના ઉત્પત્તિસ્થાનમાં પ્રસાર્યા હોય તે રસબંધકજીવોનું ક્ષેત્ર સર્વલોક આવે કેમકે સૂક્ષ્મજીવો સર્વલોકવ્યાપી છે.

દા. ત. :- એકેન્દ્રિય સામાન્ય (ઓઘ) માર્ગણામાં ઘાતિકર્મના ઉત્કૃષ્ટ રસબન્ધકો બાદર-જીવો છે તેથી અનંતા છે. અને મરણસમુદ્ઘાતથી તેઓ સૂક્ષ્મજીવોના ઉત્પત્તિક્ષેત્રમાં આત્મપ્રદેશો ફેંકે છે કેમકે નિયમ એવો છે કે જો મરણ વખતે તીવ્ર સંક્લેશ હોય તો તે પોતાને યોગ્ય હલકામાં હલકી ગતિમાં ઉત્પન્ન થાય છે અને જો તીવ્ર વિશુદ્ધિ હોય તો સ્વયોગ્ય ઊંચામાં ઊંચી ગતિમા જાય છે. ઘાતીના ઉત્કૃષ્ટ રસબંધ વખતે તીવ્ર સંક્લેશ હોય છે. અને બાદર એકેન્દ્રિયને યોગ્ય હલકામાં હલકી ગતિ સૂક્ષ્મએકેન્દ્રિયની છે અને બાદર-એકેન્દ્રિય જીવો તેના બંધક તરીકે અનંતા મળે છે. તેથી ક્ષેત્ર સર્વલોક આવે, આ રીતે બધે ઘટના કરવી.

(૨) જ્યાં જે કર્મના ઉત્કૃષ્ટાદિ રસબંધકોમાં પર્યાપ્તબાદરવાયુકાયની મુખ્યતા હોય અને તે ઘનીકૃતલોકની અસંખ્યપ્રતરના પ્રદેશપ્રમાણ જેટલી સંખ્યામાં તે તે રસ-બંધક તરીકે જો પ્રાપ્ત થાય તો દેશોનલોક ક્ષેત્ર આવે.

(૩) બાકી બધામાં લોકનો અસંખ્યભાગ ક્ષેત્ર આવે કારણ કે ત્યાં સૂક્ષ્મજીવો તદ્બંધક તરીકે પ્રાપ્ત થતા નથી, અને સૂક્ષ્મજીવોના ઉત્પત્તિક્ષેત્રમાં મરણસમુદ્ઘાત કરનારા તેના બન્ધકો અસંખ્યલોકપ્રદેશપ્રમાણ સંખ્યામાં મળતા **નથી** અને વળી તે તે માર્ગણામાં

પહેલા કહેલી સંખ્યામાં પર્યાપ્ત બાદર વાયુકાયની મુખ્યતા પણ નથી તેથી લોકનો અસંખ્ય-ભાગ ક્ષેત્ર કહ્યું.

બતાવેલી આ સામાન્ય રીતો લક્ષમાં રાખી ક્ષેત્રદ્વારના કોઠામાંથી (યન્ત્રમાંથી) ઓઘ અને માર્ગણામાં દર્શાવેલ ક્ષેત્રને જોઈશું તો સહેજે આપણે જાણી શકીશું કે આ આ કારણોથી અહીં આટલું ક્ષેત્ર આવ્યું હશે, અને આપણે ધારેલા કારણો ખરાં છે કે નહિ એ યન્ત્રમાં દર્શાવેલ જે ગાથા નંબર હોય ને ગાથાની સંસ્કૃતટીકા વાંચવાથી આપણે જાણી શકીશું.

૧૪. સ્પર્શનાદ્વાર :- આપણે ઉપર જણાવી ગયા કે ક્ષેત્ર એ વર્તમાનકાળને આશ્રીને બતાવ્યું છે અને સ્પર્શના અતીતકાલની અપેક્ષાએ ગણવાની છે. એટલે સ્પર્શનામાં સર્વત્ર વિવક્ષિતરસના બંધકો અનંતાનંત આવે એ લક્ષ્યમાં રાખવું. આ સ્પર્શના જાણવા પહેલાં તે કયા કયા જીવોને કેવી કેવી રીતે પ્રાપ્ત થાય છે એ જાણવું જરૂરી છે:-

સ્પર્શના મુખ્ય ત્રણ રીતે પ્રાપ્ત થાય છે (૧) સ્વસ્થાનથી (૨) ગમનાગમનથી (૩) અને સમુદ્ઘાતથી.

(૧) **સ્વસ્થાનથી** એટલે કે પોતાના ઉત્પત્તિક્ષેત્રને આશ્રીને સ્વમાર્ગણાવર્તી અનેક જીવો દ્વારા અવગાહિત ક્ષેત્રથી પ્રાપ્ત થતી સ્પર્શના. જેમકે સૂક્ષ્મજીવોનું ઉત્પત્તિક્ષેત્ર સર્વલોક છે, માટે સ્વસ્થાનથી સ્પર્શના સર્વલોક કહેવાય છે.

(૨) **ગમનાગમનથી**- આને શાસ્ત્રીય પરિભાષામાં વિહારવત્ક્ષેત્ર પણ કહેવાય છે. જેમકે દેવો ઊર્ધ્વલોકમાંથી અધોલોક કે તિર્છાલોકમાં વારંવાર જતા આવતા હોવાથી આ સ્પર્શના પ્રાપ્ત થાય છે. તે આ રીતે—દેવો પોતાનું મૂળ શરીર પોતાના વિમાનમાં રાખી ઉત્તરવૈક્રિયશરીરે અન્ય અન્ય સ્થાનોએ ફરતા હોય છે. ત્યારે પોતાના આત્મપ્રદેશો એક સાંકળની જેમ સંલગ્ન રહેતા હોવાથી વચગાળાના બધા જ આકાશ પ્રદેશની સ્પર્શના થાય છે આમ અતીતકાલમાં અનંતાનંત દેવોને આશ્રીને ઊર્ધ્વલોકમાં બારમા દેવલોક સુધી એટલે કે ૬ રાજલોકની સ્પર્શના અને અધોલોકમાં ત્રીજી પૃથ્વી (નરક) સુધી એટલે કે બે રાજલોકની સ્પર્શના, તેથી ગમનાગમનથી કુલસ્પર્શના ૮ રાજની આવે છે.

(૩) **સમુદ્ઘાતથી**-સમુદ્ઘાત સાત પ્રકારે છે. અહીં રસબંધમાં કેવલિસમુદ્ઘાત પ્રાપ્ત થતો ન હોવાથી તે સિવાયના ૬ સમુદ્ઘાતમાં વધુમાં વધુ સ્પર્શના મરણસમુદ્ઘાતથી પ્રાપ્ત થાય છે તેથી મુખ્યત્વે મરણસમુદ્ઘાતની અપેક્ષાએ વિચાર કર્યો છે. જ્યારે જીવો મરણ પથારીએ હોય છે ત્યારે અહીંથી ભવાંતરમાં જ્યાં ઉત્પન્ન થવાનું હોય ત્યાં સુધી કેટલાક જીવો પોતાના આત્મપ્રદેશોનો દંડ કરે છે અને તે વખતે અન્તરાલવર્તી આકાશપ્રદેશોની સ્પર્શના આવે છે.-આમાં ખાસ કરીને ઉત્કૃષ્ટ કે જઘન્ય રસબંધકોની સ્પર્શના વિચારતા એટલું ધ્યાન રાખવું કે ઉ૦ કે જઘ૦ રસ તીવ્ર વિશુદ્ધિથી બંધાતો હોય, ને કર્મના

બંધકો જો મરણાવસ્થામાં હોય તો તે નિયમા સ્વયોગ્ય શ્રેષ્ઠગતિમાં જ ઉત્પન્ન થાય છે. અને તે વખતે જો મરણસમુદ્ઘાત થાય તો તેના આત્મપ્રદેશોનો દંડ સ્વયોગ્ય શ્રેષ્ઠ ગતિમાં જ થએલો હોય છે. અને જો સંક્લેશથી ઉ૦ કે જઘ૦ રસ બંધાતો હોય તો તેનાથી વિપરીત એટલે કે તેબંધક સ્વયોગ્યહીનમાં હીન ગતિમાં આત્મપ્રદેશોનો દંડ પ્રસારે છે. અને જો મધ્યમ પરિણામથી રસબંધ થતો હોય તો તેના બંધકો સ્વયોગ્ય ગમે તે ગતિરૂપ ઉત્પત્તિસ્થાનમાં આત્મપ્રદેશનો દંડ ફેંકી શકે છે આ રીતે મધ્યમ પરિણામની જેમ અનુત્કૃષ્ટ કે અજઘન્યરસ માટે પણ જાણવું.

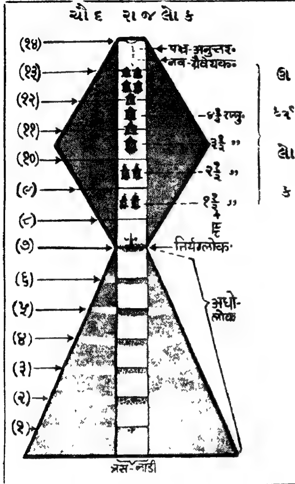
આયુષ્યના બંધ વખતે મરણસમુદ્ઘાત પ્રવર્તી શકતો નથી માટે આયુના રસબંધકોની સ્પર્શના મરણસમુદ્ઘાત વિના બીજી રીતે આવે છે તે વિચારી લેવી.

આ સ્પર્શનાનિરૂપણમા એકભાગ સ્પર્શના. બેભાગ સ્પર્શના વગેરે રીતથી પણ સ્પર્શના કહેલી છે, તો એક ભાગ વગેરે કેવી રીતે છે તે જાણી લઇએ, અહીં આ ભાગો ત્રસ-નાડીના લેવાના છે, ત્રસનાડી લંબાઇ અને પહોળાઇમા એક રાજ છે. અને ઊંચાઇમાં ૧૪ રાજ છે. એટલે ત્રસનાડીના ચૌદ ભાગ બને છે, તેથી એક ભાગસ્પર્શના એટલે લંબાઇ અને પહોળાઈમાં એક રાજ એવી જે ત્રસનાડી તેનો એક ભાગ એટલે ઊંચાઈમાં પણ એક રાજ, આમ બે ભાગ એટલે લંબાઈ અને પહોળાઈમાં એક રાજ અને ઊંચાઇમાં બે રાજ એવી ત્રસનાડીની સ્પર્શના લેવી આમ ત્રણ ભાગ, ચાર ભાગ વગેરે માટે જાણવું. આ ઉપરથી આપણે સમજી શકીશું કે સ્પર્શના સૂચિરજ્જુ કે પ્રતર રજ્જુમાં લેવાની નથી પણ ઘનરજ્જુમાં ગણવાની છે અતીતકાલને આશ્રીને સ્પર્શના ગણાતી હોવાથી તે સુખપૂર્વક ઘનરજ્જુમાં આવી શકે છે કેમકે અતીતકાલ અનંત છે તેથી વિવક્ષિત રસના બંધકો અનંતાનંત હોવાથી ભિન્નભિન્ન માર્ગોથી સર્વ આકાશપ્રદેશોને સ્પર્શેલા હોય છે.

અહીં સ્પર્શના ચાર પ્રકારે દર્શાવવમાં આવી છે. (૧) કયાક ત્રસનાડીના એકાદિભાગ પ્રમાણ (૨) કયાંક સર્વલોક પ્રમાણ. (૩) કયાંક દેશોનલોકપ્રમાણ (૪) કયાંક લોકનો અસંખ્યભાગ. આ પ્રકારને આવરી લેતાં મુખ્ય ત્રણ નિયમો બને છે.

(૧) ત્રસનાડીની એકભાગ સ્પર્શના બેભાગ સ્પર્શના વગેરે કયાં આવે ? તે જાણવા માટે એવો નિયમ છે કે સામાન્યથી જ્યાં જે પ્રકૃતિનો ઉત્કૃષ્ટાદિ જે જે રસબંધકોનુ સ્વસ્થાન કે ઉત્પત્તિ વગેરે સ્થાન બેમાંથી એક પણ સ્થાન તિચ્છું એટલે કે લંબાઈ અને પહોળાઈમાં એક રજ્જુપ્રમાણ હોય અને એ બન્ને સ્થાનોની વચ્ચે એક બે વગેરે રજ્જુ પ્રમાણ અંતર હોય તો ત્યાં તે પ્રકૃતિના તે તે રસબંધકોની સ્પર્શના જેટલા રાજનું અંતર હોય એટલા ત્રસનાડીના ભાગપ્રમાણ સ્પર્શના આવે. અને બે વચ્ચેનું અંતર જો ઓછું હોય અથવા બન્નેનું લંબાઈ અને પહોળાઈમાં ૧ રાજથી ઓછું ક્ષેત્ર હોય તો લોકનો અસંખ્યભાગ આવે.

આ નિયમની ઘટના કરતાં પહેલાં સ્પર્શનાના ઉપયોગી એવા ચૌદ રાજની વ્યવસ્થા સામાન્યથી ચિત્રદ્વારા જાણી લઇએ. અધોલોકના નીચેના છેડાથી સાતમી પૃથ્વીની સપાટી પર આવીએ ત્યારે એક રાજ આવે છે–એક રાજ એટલે અસંખ્ય યોજનો થાય. પછી પછીની પૃથ્વીની સપાટી પર જેમ જેમ આવીએ તેમ તેમ એકેક રાજ વધતો જાય છે એટલે સાતમી પૃથ્વીથી પહેલી પૃથ્વીએ છ રાજ થાય, અને અધોલોકાન્તથી પહેલી પૃથ્વી સાત રાજ થાય. પહેલી પૃથ્વી પર તિર્છાલોક છે. આ તિર્છાલોક ઉપર નીચે નવસો નવસો યોજન ગણાય છે. ત્યાંથી ૧લો રજો દેવલોક ૧॥ રાજ, ૩જો ૪થો દેવલોક ૨॥ રાજ, ૫ મો દેવલોક ૩॥ રાજ, ૬ઠ્ઠો દેવલોક ૪ રાજ, ૭મો દેવલોક ૪॥ રાજ, ૮ મો દેવલોક ૫ રાજ, ૧૨ મો દેવલોક ૬ રાજ અને ઊર્ધ્વલોકાન્ત ૭ રાજ થાય છે–આમાં દેવલોક વગેરેના રાજો વિષે ભિન્ન ભિન્ન મતાંતરો છે. એ અપેક્ષાએ સ્પર્શનામાં થોડો ફેરફાર આવે છે. પરંતુ આ ગ્રંથમાં ઉપર બતાવેલ રાજલોકની મુખ્ય વિવક્ષાથી સ્પર્શના કહેલ છે.



અહીં ૧લા નિયમમાં 'સામાન્ય' પદ એટલા માટે કહ્યું છે કે સૂક્ષ્મ સિવાયના જીવોમાં અમુક અપવાદ છે. તે આ રીતે–જો સૂક્ષ્મ સિવાયના જીવોનું ઉત્પત્તિસ્થાન કે સ્વસ્થાન મનુષ્ય ક્ષેત્ર ન હોય–તો જ ૧લા નિયમથી પ્રાપ્ત થતું ક્ષેત્ર આવી શકે. કારણકે સૂક્ષ્મભિન્ન જીવો મનુષ્યક્ષેત્રમાં સમુદ્ઘાત કરે ત્યારે ૧લા નિયમની બધી કલમ લાગવા છતાં લોકનો અસંખ્યભાગ જ સ્પર્શના આવે છે. માટે સામાન્યપદથી આનું વારણ કર્યું. આમ આ નિયમની જેટલી કલમો છે એ બધાની શી શી જરૂર છે અને એ કલમ ન હોય તો શું શું દોષ આવે છે? વગેરેની સુંદર ચર્ચા ટીકાગ્રંથના ૨૯૨–૨૯૩–૨૯૪ પાના પર કરી છે. ત્યાંથી જોઈ લેવી.

નિયમની સામાન્ય ઘટના :- નરકૌઘમાર્ગણામાં ચાર ઘાતિકર્મના ઉ૦ સ્વબન્ધકોની

સ્પર્શના લાવવા માટે આ પ્રમાણે વિચારવું–નરક સામાન્યમાં સાતમી નરકના જીવો પણ ઉ૦ રસબંધ કરી શકે છે. અને એનું ઉત્પત્તિક્ષેત્ર સંજ્ઞિપંચેન્દ્રિયતિર્યંચનું છે એટલે તિર્યક્ પ્રતર રજ્જુપ્રમાણ ક્ષેત્ર થયું અને સ્વસ્થાન અને ઉત્પત્તિક્ષેત્ર વચ્ચેનું અંતર ૬ રાજ છે. માટે ૧લા નિયમથી ૬ ભાગ (ત્રસનાડીના ૭ રાજ) સ્પર્શના આવે.

(૨) જ્યાં જે કર્મના ઉત્કૃષ્ટાદિરસના બંધકો સૂક્ષ્મ જીવો હોય અથવા તે બંધકો સૂક્ષ્મ-જીવોમાં ઉત્પન્ન થઈ શકે તેવા હોય ત્યાં સર્વલોક સ્પર્શના આવે છે.

દા ત. :- અપર્યાપ્તમનુષ્યમાર્ગણામાં ઘાતીના ઉ૦ રસબંધકો તીવ્રસંક્લિષ્ટ હોઈને સ્વયોગ્યહીન ગતિ સૂક્ષ્મ એકેન્દ્રિય હોવાથી મરણસમુદ્ઘાતમાં હોય તો ત્યાં આત્મપ્રદેશો પ્રસારે છે. અને ત્યાં ઉત્પન્ન થઈ શકે છે. માટે સર્વલોક સ્પર્શના આવે છે.

(૩) જે પ્રકૃતિના ઉત્કૃષ્ટાદિ રસબંધકો બાદરવાયુકાય હોય અને સર્વલોકપ્રમાણ સ્પર્શના પ્રાપ્ત થતી ન હોય ત્યાં લોકના અસંખ્યબહુભાગ (દેશોનલોક) આવે કારણ કે બાદરવાયુ-કાયોનું સ્વસ્થાન આટલું જ હોય છે.

દા. ત. :- એકેન્દ્રિયૌઘ માર્ગણામાં વેદનીય અને નામકર્મના ઉ૦ રસબંધકો બાદરપૃથ્વ્યાદિ જીવો પણ છે. પરંતુ તે વખતે વિશુદ્ધિ હોવાથી તેઓ મરણસમુદ્ઘાતથી સ્વયોગ્ય શ્રેષ્ઠ ગતિ એવી મનુષ્યગતિમાં પોતાના આત્મપ્રદેશોનો દંડ પ્રસારે છે. માટે લોકનો અસંખ્ય ભાગ જ ૧લા નિયમના 'સામાન્ય' પદના અપવાદથી સ્પર્શના આવે. તેથી બાદરવાયુકાયના સ્વસ્થાનને આશ્રીને દેશોનલોક સ્પર્શના કહી.

આમ આ કુદરતના કાનૂનો નિયત રીતે કેવું કામ કરે છે અને આપણને સહેજે એમ થઈ જાય છે કે આ પ્રકૃતિનુ તંત્ર કેટલું વ્યવસ્થિત ચાલે છે! વીતરાગ સર્વજ્ઞ કથિત દ્રવ્યાનુયોગના વિષયનું આપણે જેમ જેમ અવગાહન કરીએ છીએ તેમ તેમ આપણને તેની પ્રતીતિ થયા વિના રહેતી નથી.

૧૫. નાનાજીવાશ્રિતકાલદ્વાર :- અહીં આપણે અનેક જીવોને આશ્રીને રસનો બંધકાળ કહીશું. સાતમા કાળદ્વારમાં એક જીવને ઉદ્દેશીને બંધકાળ કહ્યો હતો તેથી સહેજે પ્રશ્ન થાય કે નાનાજીવાશ્રિત બંધકાળ એટલે શું ? માટે પહેલા જ આપણે એ જાણી લઈએ. અનેક જીવો ઓઘથી કે માર્ગણાઓમાં જે જે કર્મપ્રકૃતિના વિવક્ષિત ઉત્કૃષ્ટાદિ રસબંધ નિરન્તર વધુમાં વધુ જેટલો કાળ કરી રહ્યા હોય તે કાળ નાનાજીવા-શ્રિત ઉત્કૃષ્ટરસબંધકાળ કહેવાય, ત્યારબાદ એ વિવક્ષિત રસનો બંધ અટકી જતો હોય છે. એ રીતે ઓછામાં ઓછા જેટલા કાળ સુધી વિવક્ષિત રસબંધ થતો હોય તે નાનાજીવાશ્રિત જઘન્યબંધકાળ કહેવાય. એટલે એક જીવાશ્રિત બંધકાળનો વિચાર માત્ર એક જીવની અપેક્ષાએ થાય છે. જ્યારે નાનાજીવાશ્રિત રસબંધકાળનો વિચાર માર્ગણાવર્તિ વિવક્ષિત રસને બાંધનારા સર્વજીવોની અપેક્ષાએ કરવામાં આવે છે. આમ બંને વચ્ચે તફાવત સ્પષ્ટ સમજી શકાય છે. આ નાનાજીવાશ્રિત કાલદ્વારનું તાળું ખોલવા માટે માત્ર સાત કૂંચીની જ

જરૂર પડે છે. તે આ રહી—

ઉત્કૃષ્ટ અને જઘન્યરસબંધકોના કાલનો સંગ્રહ કરતી (સમજાવતી) પહેલી બે કૂંચીઓ–

(૧) જ્યાં વિવક્ષિતરસના બંધકો સંખ્યાતા હોય અને એકજીવાશ્રિત બંધકાળ સંખ્યાત સમય (અર્થાત્ એક બે કે ચાર સમય) હોય તો ત્યાં નાનાજીવોને આશ્રીને બંધનો નિરંતર કાળ સંખ્યાતા સમયો જ આવે.

(૨) અને જો બંધકો અસંખ્યાત હોય, પણ અસંખ્યલોકપ્રમાણથી ઓછા હોય તો નાનાજીવાશ્રિત ઉ૦ બંધકાલ આવલિકાના અસંખ્યભાગ જેટલો એટલે કે અસંખ્યાતા સમય આવે.

આઠે કર્મના ચારેય રસબંધકોના કાળનો સંગ્રહ કરતી ત્રીજી કૂંચી—

(૩) જ્યાં જે જે વિવક્ષિત રસબંધકોની સંખ્યા અસંખ્યલોકપ્રદેશપ્રમાણ અથવા અનંતી હોય ત્યાં નાનાજીવાશ્રિત કાલ સર્વાદ્ધા એટલે સર્વકાળ આવે.

સાતકર્મના અનુત્કૃષ્ટ અને અજઘન્યરસબંધકોના કાલનો સંગ્રહ કરતી ચોથી અને પાંચમી કૂંચી–

(૪) ઓઘમાં અને સર્વકાલિકી માર્ગણાઓમાં સાતે કર્મના અનુ૦ અને અજઘ૦ રસબંધકો સર્વકાળે મળે છે. (૫) અને જો માર્ગણા સાન્તર હોય તો ત્યાં તે તે માર્ગણાની જઘ૦ કાયસ્થિતિ પ્રમાણે જઘ૦ કાળ અને ઉ૦ કાયસ્થિતિ પ્રમાણે ઉ૦ કાળ આવે છે.

આયુષ્યકર્મના અનુત્કૃષ્ટ અને અજઘન્યના રસબંધકોના કાલનો સંગ્રહ કરતી છઠ્ઠી અને સાતમી કૂંચી—

(૬) જ્યાં આયુષ્યના બંધકો અસંખ્યલોકથી ઓછા છતાંય અસંખ્ય હોય ત્યાં અનુ૦ અને અજઘ૦ ના રસબંધકોનો નિરન્તરકાળ પલ્યોપમનો અસંખ્યભાગ (૭) અને જો બંધકો સંખ્યાતા હોય તો ત્યાં તેઓનો કાલ અંતર્મુહૂર્ત આવે—

આ સાત કૂંચીઓને બરાબર ધ્યાનમાં રાખી નાનાજીવાશ્રિતકાલના ઓઘ અને આદેશથી આપેલા યંત્રો (કોઠાઓ) જોવા અને આ કૂંચીઓ લગાવવી એટલે કાળ ઓછો વધતો થવાના કાર્યકારણ ભાવોનુ સચોટ જ્ઞાન થઇ જશે.

૧૬. નાનાજીવાશ્રિતાન્તર દ્વાર :- ઓઘથી સર્વજીવોને આશ્રીને અને આદેશથી તે તે માર્ગણામાં રહેલા તે તે રસબંધકોને આશ્રીને તેઓના સર્વથા અભાવરૂપ અંતર પડે છે કે નહિ, જો અંતર પડે છે તો જઘન્યથી કેટલું ? ઉત્કૃષ્ટથી કેટલું ? આ નિરૂપણને નાના-જીવાશ્રિત અન્તરપ્રરૂપણા કહેવાય છે. આ અન્તર જાણવાના મુખ્ય ત્રણ ઉપાયો છે.

(૧) જ્યાં જે કર્મના વિવક્ષિત ઉત્કૃષ્ટાદિ રસબંધકોનો નાનાજીવાશ્રિત કાલ સર્વાદ્ધા એટલે કે સર્વકાલ કહ્યો હોય ત્યાં તે બંધકોનુ કયારેય અંતર પ્રાપ્ત થતું નથી.

(૨) જ્યાં જે પ્રકૃતિના ઉત્કૃષ્ટ કે જઘન્યરસના બંધકો અસંખ્યલોકથી ન્યૂન હોય અને

તે ઉપશમ કે ક્ષપક શ્રેણિમાં રહેલા ન હોય તો તેનું ઉ૦ અંતર અસંખ્યલોકપ્રદેશપ્રમાણ કાલ આવે.

દા. ત.:- ઓઘમાં વેદનીય, નામ અને ગોત્રના ઉ૦ રસના બંધકો અસંખ્યલોકના પ્રદેશની સંખ્યા કરતા ઓછા છે, એટલે અસંખ્યલોકપ્રમાણ કાલનુ અંતર આવવાનો પ્રસંગ આવે પરંતુ "શ્રેણિમાં રહેલા ન હોય" એમ કહેવાથી આ અઘાતી ત્રણના ઉ૦ રસ બંધકો ક્ષપક-શ્રેણિમાં રહેલા ક્ષપકો છે તેથી ક્ષપકશ્રેણિના અંતર જેટલું આવે એટલે કે ૬ માસનું અંતર આવે.

(૩) જે કર્મનો ઉ૦ રસબંધ કે જઘ૦ રસબંધ શ્રેણિમાં થતો હોય તે માર્ગણામાં તે કર્મના ઉ૦ કે જઘ૦ ના રસબંધકોનું નાનાજીવાશ્રિત ઉ૦ અંતર તે માર્ગણાના શ્રેણિના ઉ૦ અંતર જેટલું આવે.

આ મુખ્ય ઉપાયો જાણીને દરેક માર્ગણાના પ્રત્યેક પ્રકૃતિના ચારેય રસબંધકોના અંતરની ઘટના આપણે સારી રીતે સમજી શકીશું.

૧૭. ભાવદ્વાર :– ઔપશમિક, ક્ષાયિક, ક્ષાયોપશમિક, ઔદયિક અને પારિણામિક આ પાંચ ભાવોમાંથી કયા ભાવથી ઉત્કૃષ્ટાદિ ચારે ય રસો બંધાય ? એનું નિરૂપણ આ દ્વારમાં કરેલ છે, અહીં સર્વત્ર ચારે ય પ્રકારનો રસ ઔદયિક ભાવથી જ કેમ બંધાય છે ? એની સુંદર ચર્ચા કરીને એમ સિદ્ધ કરવામાં આવ્યું છે કે જ્યાં સુધી મોહનીયકર્મનો ઉદય છે ત્યાં સુધી જ રસબંધ છે. માટે કષાયમોહનીયના ઉદયથી જ રસબંધ થાય છે અને તેથી ચારે ય રસોનો બંધ ઔદયિકભાવમાં થાય છે.

૧૮. અલ્પબહુત્વદ્વાર :- અહીં આઠે કર્મના ઉત્કૃષ્ટ રસબંધના વિષયમાં કયા કર્મનો રસ સર્વોત્કૃષ્ટ છે. અને તે કર્મના સર્વોત્કૃષ્ટ રસથી બાકીના કર્મોના ઉ૦ રસો કેટલા ગુણહીન છે ? તથા જઘન્યરસબંધના વિષયમાં સૌથી અલ્પ રસ કયા કર્મનો છે અને તે કર્મના સર્વાલ્પરસથી બાકીના કર્મના જઘ૦ રસો કેટલા ગુણ અધિક છે તેનુ નિરૂપણ કરેલ છે.

અહીં આપણે ઓઘમાં કહેલ ઉત્કૃષ્ટ અને જઘન્યરસબન્ધના અલ્પબહુત્વનો વિચાર કરીશું અને એમાં દર્શાવેલ હેતુઓને ખ્યાલમાં રાખીશું તો માર્ગણામાં બતાવેલ અલ્પ-બહુત્વનો કોઠો (યંત્ર) જોવા માત્રથી એ અલ્પબહુત્વના હેતુઓ યુક્તિઓ વગેરે ગહન વિષયના ઊંડાણમાં આપણે પ્રવેશ કરી શકીશું.

ઓઘથી આઠે કર્મના ઉત્કૃષ્ટરસનું અલ્પબહુત્વ :- (૧) વેદનીયનો ઉત્કૃષ્ટરસ સૌથી વધારે, (૨) નામ અને ગોત્રનો અનંતગુણહીન અને તે બન્નેનો પરસ્પર તુલ્ય છે, (૩) મોહનીયનો અનંતગુણહીન (૪) જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ અને અંતરાયનો અનંતગુણહીન અને એ ત્રણેનો પરસ્પર તુલ્ય (૫) આયુનો અનંતગુણહીન. આમ થવામાં

શું કારણો છે તે જુઓ—વેદનીય, નામ અને ગોત્રનો ઉ૦ રસબન્ધ શુભપ્રકૃતિને આશ્રીને ક્ષપકશ્રેણિમાં થાય છે. શુભપ્રકૃતિનો રસ તથાસ્વભાવથી વધારે હોય છે. અને ક્ષપકશ્રેણિમાં સર્વોત્કૃષ્ટ વિશુદ્ધિ હોવાથી સૌથી વધારે રસ પ્રાપ્ત થાય છે. તેમાં પ્રકૃતિવિશેષથી જ વેદનીયમાં સર્વાધિકરસ હોય છે તેથી નામ અને ગોત્રનો રસ અનંતગુણહીન અને બન્નેનો પરસ્પર તુલ્ય છે. હવે ચાર ઘાતિકર્મ અને આયુષ્યમાં ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિથી ઉ૦ રસ પ્રાપ્ત થાય છે. અને આયુની સ્થિતિ સૌથી અલ્પ છે, માટે આયુનો ઉ૦ રસબંધ સૌથી અલ્પ છે. ચાર ઘાતિકર્મમાં મોહનીયકર્મની સ્થિતિ સૌથી વધારે છે તેથી નામ અને ગોત્ર પછી મોહનીયનો ઉ૦ રસ અનંતગુણહીન કહ્યો અને ત્યારબાદ જ્ઞાના૦ દર્શના૦ અંતરાયનો રસ અનંતગુણહીન કહ્યો તેમજ ત્રણેનો ઉ૦ સ્થિતિબંધ સમાન હોવાથી ઉ૦ રસ પરસ્પર તુલ્ય કહ્યો તથા સૌથી છેલ્લે આયુષ્યનો ઉ૦ રસ અનન્તગુણહીન કહ્યો છે.

આ રીતે જે માર્ગણાઓમાં સંજ્ઞી અને મિથ્યાદૃષ્ટિ જીવો હોય ત્યાં ઓઘની માફક અલ્પબહુત્વ કહેવું અને એમાં જ્યાં શ્રેણિ ન હોય ત્યાં શ્રેણિ વિના ઘટના કરવી, અને જ્યાં કેવલ સમ્યગ્દૃષ્ટિ કે મિશ્રદૃષ્ટિ જીવો હોય ત્યાં મિથ્યાત્વનો બંધ ન હોવાથી મોહનીયમાં રસ ઓછો આવે છે અને ત્રણ ઘાતિકર્મના રસ પછી મોહનીયનું સ્થાન કહેવું એટલે કે ત્રણઘાતીના ઉ૦ રસ કરતાં મોહનીયનો રસ અનંતગુણહીન કહેવો, બાકી ઓઘ પ્રમાણે. આમાં અવેદ અને સૂક્ષ્મસંપરાયમાં અપવાદ જાણવો.

જે માર્ગણામાં સંજ્ઞી પર્યાપ્ત જીવો જ નથી તે માર્ગણામાં અઘાતીના રસ કરતાં મોહનીયનો રસ સર્વાધિક કહેવો એટલે કે સર્વોત્કૃષ્ટ રસ મોહનીયનો આવે. પછી વેદનીયનો અનંતગુણહીન તે પછી નામગોત્ર અને પછી ત્રણઘાતીનો અને છેલ્લે આયુષ્યનો રસ આવે.

ઓઘથી આઠે કર્મના જઘન્યરસબંધનું અલ્પબહુત્વ :- ચારેય ઘાતીકર્મનો જઘ૦ રસબંધ તીવ્રવિશુદ્ધિથી ક્ષપકશ્રેણિમાં થાય છે. તેથી ચાર અઘાતી કરતાં ચાર ઘાતી કર્મનો રસ અલ્પ આવે છે. આ ચાર ઘાતીમાં મોહનીય અને અંતરાયનો જઘ૦ રસ દેશઘાતી છે, જ્યારે જ્ઞાના૦ દર્શના૦નો સર્વઘાતી છે. તેથી મોહનીય અને અંતરાયનો એ બે કરતાં અલ્પ છે. અને એમાંય અંતરાય કરતાં મોહનીયનો રસ સર્વાલ્પ છે કેમકે સામાન્ય નિયમ એ છે કે અશુભ પ્રકૃતિઓમાં જે પ્રકૃતિની જઘન્ય સ્થિતિ અલ્પ હોય તે પ્રકૃતિનો જઘન્યરસ પણ અલ્પ આવે, અંતરાય કરતાં મોહનીયની જઘ૦ સ્થિતિ અલ્પ છે માટે મોહનીયનો જઘ૦ રસ સર્વથી અલ્પ કહ્યો. ત્યારબાદ અનંતગુણ અધિક અંતરાયનો, ત્યારપછી જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણનો અનંતગુણ અધિક છે અને પરસ્પર તુલ્ય છે. એના કરતાં આયુનો જઘ૦ રસ અનંતગુણ અધિક છે. કારણ કે ચાર અઘાતિકર્મમાં આયુકર્મની જઘન્યસ્થિતિ ક્ષુલ્લકભવપ્રમાણ એટલે કે સૌથી ઓછી છે ત્યારબાદ ગોત્રનો જઘ૦ રસ અનંતગુણ અધિક આવે છે. કારણ કે વેદનીય અને નામકર્મનો જઘ૦ રસ પરાવર્તમાનપરિણામથી બંધાય છે જ્યારે ગોત્રકર્મનો નીચગોત્રને આશ્રીને સમ્યક્ત્વાભિમુખ

જીવને વિશુદ્ધિથી બંધાય છે માટે વેદનીય અને નામથી ગોત્રનો રસ અલ્પ હોય છે. અને વેદનીય તથા નામકર્મને. પરાવર્તમાનપરિણામથી બંધ હોવા છતા તથાસ્વભાવે વેદનીયમાં રસ વધારે હોય છે. તેથી ગોત્રના જઘ૦ રસ કરતાં નામકર્મનો જઘ૦ રસ અનંતગુણાધિક અને તેનાથી વેદનીયનો રસ અનંતગુણાધિક હોય છે.

આ રીતે જઘન્યરસબંધનું અલ્પબહુત્વ માર્ગણાઓમાં વિચારવું. પરંતુ આટલું ધ્યાનમાં રહે કે સામાન્ય રીતે મોહનીયનો જઘ૦ રસ સર્વત્ર અલ્પ છે. ત્યારબાદ એ વિચારવું કે ઘાતિકર્મનો જઘન્યરસ જો શ્રેણિમાં ન બંધાતો હોય તો શેષ ત્રણ ઘાતિકર્મનો અનંતગુણહીન અને પરસ્પર તુલ્ય સમજવો ત્યારબાદ જ્યાં આયુનો જઘન્યરસ અપર્યાપ્ત-પ્રાયોગ્યક્ષુલ્લકભવ સાથે બંધાતો હોય ત્યાં (તે માર્ગણામાં) ત્રણઘાતી પછી આયુષ્યનું પદ કહેવું. ગોત્રનો જઘન્યરસ જો વિશુદ્ધિથી બંધાતો હોય તો ત્યારબાદ તે પદ આવે અને જો ગોત્ર પરાવર્તમાનપરિણામથી બંધાતું હોય તો ત્યાં નામ અને ગોત્ર સાથે તેમજ પરસ્પર તુલ્ય આવે તથા છેલ્લે વેદનીયનો જઘન્યરસ અનંતગુણ અધિક આવે. હવે જે માર્ગણામાં આયુનો જઘન્યરસ પર્યાપ્તપ્રાયોગ્ય આયુના બંધ વખતે આવતો હોય ત્યાં આયુનું પદ સૌથી છેલ્લું લેવું એટલે કે વેદનીયના જઘ૦ રસ કરતાં અનંતગુણ અધિક કહેવું, અને જ્યા ગોત્રનો જઘ૦ રસ સંક્લેશથી પ્રાપ્ત થતો હોય, ત્યાં ગોત્રનું અલ્પબહુત્વ કહ્યું નથી પણ સ્વયં વિચારી લેવું.

આ રીતે પ્રથમાધિકારના દરેક દ્વારોનુ વિશદ વિવેચન સામાન્ય નિયમો, ઉપાયો યુક્તિઓ વગેરેથી સુંદર રીતે કર્યું છે.

બીજો 'ભૂયસ્કાર' અધિકાર, અને તેના ૧૩ દ્વારો —

પ્રથમાધિકારમાં ઉત્કૃષ્ટાદિ ચાર પ્રકારના રસબંધનો ૧૮ દ્વારોમાં વિસ્તારથી પરિચય કર્યો. આ ભૂયસ્કાર અધિકારમાં બીજી ચાર રીતે રસબંધનો પરિચય કરીશું.

તે ચાર પ્રકારો આ પ્રમાણે છે—(૧) ભૂયસ્કાર (૨) અલ્પતર (૩) અવસ્થિત (૪) અવક્તવ્ય. આમાં ભૂયસ્કારનું નામ સર્વ પ્રથમ છે. તેથી આ અધિકારનું નામ ભૂયસ્કારાધિકાર છે.

ભૂયસ્કારાદિનું સ્વરૂપ :—

પૂર્વ સમયે જેટલો રસ બંધાતો હોય તેનાથી વર્તમાન સમયે અધિક રસ બંધાય, તે બંધ **ભૂયસ્કાર** રસબંધ કહેવાય.

પૂર્વ સમયે જેટલો રસ બંધાતો હોય તેનાથી વર્તમાન સમયે અલ્પ રસ બંધાય, તે બંધ **અલ્પતર** રસબંધ કહેવાય.

પૂર્વ સમયે જેટલો રસ બંધાતો હોય અને વર્તમાન સમયે પણ તેટલો જ રસ બંધાય, તે બંધ **અવસ્થિત** રસબંધ કહેવાય.

પૂર્વ સમયે રસ જ બંધાતો ન હોય ને વર્તમાન સમયે નવો જ બાંધવો શરૂ કરે, તે **અવક્તવ્ય** રસબંધ કહેવાય.

આ અધિકારમાં ભૂયસ્કારાદિ ચારેય રસબંધનું વર્ણન ૧૩ દ્વારોથી કરેલું છે—તે દ્વારો આ પ્રમાણે—[૧]સત્પદ, [૨]સ્વામિત્વ, [૩]કાલ, [૪]અન્તર, નાનાજીવોની અપેક્ષાએ—[૫]ભંગવિચય, [૬]ભાગ, [૭]પરિમાણ, [૮]ક્ષેત્ર, [૯]સ્પર્શના, [૧૦]કાલ. [૧૧]અંતર, [૧૨]ભાવ અને [૧૩]અલ્પબહુત્વ.

૧. સત્પદદ્વાર :- સત્પદ એટલે વસ્તુનું અસ્તિત્વ. આ દ્વારમાં ઓઘથી અને આદેશથી એમ બંને રીતે ભૂયસ્કારાદિ ચારેય રસબંધના અસ્તિત્વનો અર્થાત્ એ બંધ છે યા નથી તેનો વિચાર કરેલો છે.

ભૂયસ્કાર, અલ્પતર, અવસ્થિતબંધ :- જ્યારે કોઈ પણ જીવનો સંક્લેશ વધે છે ત્યારે અશુભપ્રકૃતિનો રસ પૂર્વ કરતાં વધારે બંધાય છે. એટલે ભૂયસ્કાર બંધ થાય છે. અને શુભપ્રકૃતિનો રસ ઓછો બંધાય છે એટલે અલ્પતર બંધ થાય છે. અને વિશુદ્ધિ વધે ત્યારે આથી વિપરીત સમજવું. આ સંક્લેશ વિશુદ્ધિ સર્વ સંસારી આત્માઓને નિયમા થાય છે. કેમકે સંક્લેશ કે વિશુદ્ધિનો કાલ વધારેમાં વધારે અન્તર્મુહૂર્ત જ છે અને અવસ્થાનનો કાલ વધારેમાં વધારે આઠ સમય જ આવે છે. તેથી ઓઘમાં તેમજ ૧૭૦ માર્ગણામાં પણ આઠે કર્મના ભૂયસ્કાર, અલ્પતર અને અવસ્થિતબંધ મળે છે. પરંતુ અવસ્થિતબંધ અવેદ અને સૂક્ષ્મસંપરાય માર્ગણામાં નથી. કારણકે આ માર્ગણા કેવલ શ્રેણિમાં જ રહેલી છે. અને શ્રેણિ ચઢતા પ્રતિસમય વિશુદ્ધિ વધતી હોય છે. અને પડતાં દરેક સમયે સંક્લેશ વધતો હોય છે. તેથી અવસ્થાન મળતું નથી.

અવક્તવ્યબંધ– આયુષ્યકર્મનો બંધ કદાચિત જ થતો હોવાથી બન્ધના પ્રથમ સમયે અવક્તવ્યબન્ધ મળી જ જાય છે. તે જે માર્ગણામાં આયુનો બન્ધ કહ્યો હોય, તે બધી માર્ગણામાં આયુષ્યનો અવક્તવ્યબન્ધ થાય છે. બાકીના સાતે કર્મનો અવક્તવ્યરસબન્ધ ત્યાં જ આવે કે જ્યાં ઉપશમશ્રેણિના અબન્ધ અવસ્થા પછી ફરી સાતે કર્મનો રસબન્ધ થતો હોય. એટલે ઓઘમાં તો સાતે કર્મનો અવક્તવ્ય રસબન્ધ આવે પરંતુ માર્ગણાઓમાં ઉપર કહ્યું તેવી રીતે હોય તો જ આવે–આવી ૩૬ માર્ગણાઓ છે તે યંત્રમાંથી જોઇ લેવી. બાકી શ્રેણિ વિનાની ૧૩૪ માર્ગણામાં તો સાતનો અવક્તવ્યબન્ધ હોતો નથી

૨. સ્વામિત્વદ્વાર :- આ દ્વારમાં ભૂયસ્કારાદિ ચારે પ્રકારના રસબન્ધને કરનારનું વર્ણન કર્યું છે. સંક્લેશ, વિશુદ્ધિ કે કષાયોના અવસ્થિત પરિણામ સર્વસંસારી જીવોને થતા હોવાથી આઠેય કર્મના ભૂયસ્કાર; અલ્પતર અને અવસ્થિત રસબન્ધોનો સ્વામી ગમે તે સંસારી જીવ હોઇ શકે છે. આયુષ્યબન્ધના પ્રથમ સમયે આયુકર્મનો અવક્તવ્ય રસબન્ધ સર્વ જીવોને હોય છે, જ્યારે સાત કર્મનો અવક્તવ્ય રસબંધ ઉપશમશ્રેણિની અબન્ધઅવસ્થાથી પડેલા જીવો ફરી તે કર્મનો બન્ધ કરતા હોય તેમને થાય છે. માટે તે જીવોને તે તે કર્મના અવક્તવ્યરસબન્ધના સ્વામી કહેવા.

૩. કાલદ્વાર :- આ દ્વારમાં ચારે બન્ધનો એક જીવને આશ્રીને જઘન્યથી નિરન્તર કાળ કેટલો અને ઉત્કૃષ્ટકાળ કેટલો તેનુ નિરૂપણ છે. ક્રમશઃ વધતી કે ઘટતી વિશુદ્ધિ કે સંક્લેશનો ઉત્કૃષ્ટકાળ અંતર્મુહૂર્ત હોય છે તેથી ભૂયસ્કાર કે અલ્પતરનો ઉત્કૃષ્ટ નિરંતરકાળ અંતર્મુહૂર્તથી વધારે હોતો નથી અને જઘન્યથી એક સમય હોય છે. કોઈપણ એક અધ્યવસાયનું અવસ્થાન આઠ સમયથી વધુ હોઈ શકતું નથી તેથી અવસ્થિતબંધનો ઉત્કૃષ્ટકાળ આઠ સમયથી, અને વિવક્ષાભેદે સાત સમયથી વધુ આવી શકતો નથી અને અવક્તવ્યબંધ તો માત્ર પ્રથમ સમયે જ થતો હોવાથી એનો કાળ એક જ સમય છે.

૪. અન્તરદ્વાર :- આ દ્વારમાં ભૂયસ્કારાદિ ચારેય રસબન્ધનું જઘન્યથી અને ઉત્કૃષ્ટથી એક જીવઆશ્રી અન્તરનું ઓઘમાં અને ૧૭૦ માર્ગણામાં સુબોધશૈલીથી પ્રતિપાદન કરેલું છે—એ બધાનું બીજક શું છે એનો સામાન્ય વિચાર કરીએ. વર્ધમાન કે હીયમાન સંક્લેશ અને વિશુદ્ધિ અંતર્મુહૂર્તકાળથી વધુ રહી શકતાં નથી. એ આપણે જોઇ ગયા. સાતે કર્મનો અબન્ધ પણ અંતર્મુહૂર્તથી વધુ અને અવસ્થાન આઠ સમયથી વધુ રહી શકતાં નથી. તેથી સાત કર્મના ભૂયસ્કાર કે અલ્પતરનું ઉત્કૃષ્ટ અંતર વિપરીત બન્ધને આશ્રીને કે અબન્ધ અને વિપરીતબન્ધ એમ બન્નેને આશ્રીને પણ અંતર્મુહૂર્તથી વધારે આવી શકતું નથી આ અંતર્મુહૂર્ત મોટું કેવી રીતે પ્રાપ્ત થાય એની ચર્ચા સુંદર રીતે ટીકા ગ્રંથમાં કરેલી છે. આયુષ્યના ભૂયસ્કાર કે અલ્પતરનું વધુમાં વધુ અંતર મુખ્યત્વે એના અબન્ધની અપેક્ષાએ હોય છે. એ રીતે આયુષ્યના અવક્તવ્યબન્ધ માટે પણ સમજી લેવું.

અવસ્થિતબન્ધ કરાવે તેવા અધ્યવસાય ઉત્કૃષ્ટથી અસંખ્યલોકપ્રમાણકાલ પછી પ્રાપ્ત થાય છે. તેથી જે માર્ગણાની કાયસ્થિતિ તે કાલથી વધુ કાલ હોય ત્યાં અસંખ્યલોકપ્રમાણકાલનું અંતર કહેવું. બાકી જ્યાં જે રીતે ઘટી શકે તે રીતે દેશોનકાયસ્થિતિ વગેરે વગેરે કહેવું.

સાતકર્મનો અવક્તવ્યબન્ધ શ્રેણિમાં થતો હોવાથી તેનું અંતર ઉત્કૃષ્ટ દેશોનઅર્ધપુદ્ગલપરાવર્તથી વધારે ન આવી શકે અને જઘન્ય અંતર્મુહૂર્તથી ઓછું ન આવી શકે. કારણકે શ્રેણિમાં અબન્ધ થઇ ફરી બન્ધ થવા માટે જઘન્યથી પણ આટલું આંતરું જરૂરી છે.

૫. ભંગવિચયદ્વાર:- અહીંથી પ્રથમાધિકારની જેમ બધા દ્વારોમાં રસબન્ધનો વિચાર અનેક જીવોની અપેક્ષાએ કર્યો છે. ઓઘમાં અને ૧૭૦ માર્ગણામાં આઠે કર્મના ભૂયસ્કારાદિ ચારેય પ્રકારના બંધ ધ્રુવ છે કે અધ્રુવ? ધ્રુવ એટલે જે બન્ધ હંમેશ પ્રાપ્ય હોય અને અધ્રુવ એટલે હંમેશ પ્રાપ્ત થતો ન હોય તે. ધ્રુવ છે યા અધ્રુવ છે? અને તેનું કારણ શું? જ્યાં જે કર્મના જેટલા ભૂયસ્કારાદિબંધપદ ધ્રુવ છે કે અધ્રુવ છે? તેના ભાંગા કેટલા? અને તે કેવી રીતે પ્રાપ્ત થાય તે જોઇએ.

રીત (કરણ)— જ્યાં જેટલા અધ્રુવભંગ હોય ત્યાં એટલી વાર તગડા (ત્રણનો આંક) મૂકવા અને અને પરસ્પર ગુણવા. એ રીતે ગુણાકાર કરતાં જે સંખ્યા આવે તેટલા કુલ

ભાંગા સમજવા. આ ભાંગાની સંખ્યા ધ્રુવપદ સહિતની સમજવી પરંતુ જો એકે પદ ધ્રુવ ન હોય તો આવેલ ભંગ સંખ્યામાંથી એક ભંગ ઓછો કરવો.

દા. ત. :- ઉપશમ સમ્યક્ત્વમાર્ગણામાં જ્ઞાનાવરણકર્મના ભૂયસ્કારાદિ ચારેય રસબંધના પદો અધ્રુવ છે તેથી ચાર વાર તગડા સ્થાપવા અને પરસ્પર ગુણવા ૩×૩×૩×૩=૮૧ કુલ ભંગ આવે. અહીં એકે ધ્રુવ પદ નથી માટે ૮૦ ભંગ આવે. આ રીતે ઓઘમાં કે માર્ગણાઓમાં પ્રાપ્ત થતા ભાંગાની સંખ્યા ૪૧૯માં પાના પરના ટીકાગ્રંથના યંત્રમાંથી જાણી શકાશે.

૬. **ભાગદ્વાર**:- આ દ્વારમાં ભૂયસ્કારાદિ દરેક રસના બંધકો સર્વબંધકોની અપેક્ષાએ કેટલામે ભાગે છે તે દર્શાવ્યું છે. અહીં એનું બીજ આ રીતે છે. વિશુદ્ધિકાલ કરતાં સંક્લેશકાલ અધિક હોય છે. તેથી ભૂયસ્કારના બંધકો અલ્પતરના બંધકોથી કાંઇક વધારે પ્રાપ્ત થાય છે. આ સિદ્ધાંતથી જ ભૂયસ્કારના બંધકો સર્વત્ર અડધા ભાગથી કાંઇક અધિક આવે છે. અને અલ્પતરના બંધકો અડધા ભાગથી કાંઇક ન્યૂન (ઓછા) આવે છે. પરંતુ આમાં થોડો અપવાદ છે કે જ્યાં કેવલ ઉચ્ચગોત્રનો જ બંધ છે અને તે શુભ પ્રકૃતિ હોવાથી ભૂયસ્કાર બંધ વિશુદ્ધિથી આવે છે. એટલે ઉપરના સિદ્ધાંતથી જ ત્યાં ગોત્રના ભૂયસ્કાર બંધકો અડધા ભાગથી કાંઇક ન્યૂન અને અલ્પતરના બંધકો અડધા ભાગથી કાંઇક વધારે આવે છે.

અવસ્થિત રસના બંધકો જ્યાં જીવો અનંતા કે અસંખ્યાતા હોય ત્યાં એક અસંખ્ય-ભાગપ્રમાણ હોય છે. અને જ્યાં સંખ્યાતા હોય ત્યાં એક સંખ્યાતભાગ હોય છે. આ પ્રમાણે આયુષ્યકર્મના અવક્તવ્યબંધકો માટે પણ જાણવું અને સાતકર્મનો અવક્તવ્યબંધ ઉપશમશ્રેણિની અબન્ધ અવસ્થાથી પડી ફરી બન્ધ થતા પ્રાપ્ત થાય છે તેથી સાતના અવક્તવ્યબંધકો સંખ્યાતા જ છે. તેથી જ્યાં જ્યાં બન્ધકો અનંતા, અસંખ્યાતા કે સંખ્યાતા હોય ત્યાં ત્યાં અવક્તવ્યબન્ધકો ક્રમશઃ એક અનંતભાગ, એક અસંખ્યભાગ કે એક સંખ્યાતભાગ કહેવા.

૭, ૮, ૯. **પરિમાણદ્વાર, ક્ષેત્રદ્વાર. સ્પર્શનાદ્વાર**:- આ ત્રણે દ્વારમાં સાતકર્મના અવક્તવ્યબન્ધકોનું પરિમાણ સંખ્યાતા જીવો, ક્ષેત્ર અને સ્પર્શના લોકનો અસંખ્યાતમો ભાગ-પ્રમાણ કહ્યાં છે. સાતે કર્મના ભૂયસ્કાર, અલ્પતર અને અવસ્થિત રસબન્ધકોનું પરિમાણ, ક્ષેત્ર અને સ્પર્શના સાત કર્મના અનુત્કૃષ્ટ રસબંધકોના ક્રમશઃ પરિમાણ, ક્ષેત્ર અને સ્પર્શનાની જેમ જ હોવાથી ભલામણ કરી ગ્રન્થલાઘવ કરવામાં આવ્યું છે. અને આયુના ભૂયસ્કારાદિ ચારેય બન્ધકોનું પરિમાણ વગેરે આયુના અનુત્કૃષ્ટરસબંધકોના પરિમાણ વગેરેની જેમ ભળાવ્યું છે. આમાં બાદરપર્યાપ્તવાયુકાયની મુખ્યતાને લીધે ક્ષેત્રમાં થોડો અપવાદ દર્શાવ્યો છે.

૧૦. **નાનાજીવાશ્રિતકાલદ્વાર** :- ભૂયસ્કારાદિ ચારેય પ્રકારના રસના બંધકો નાના જીવોની અપેક્ષાએ જઘન્યથી અને ઉત્કૃષ્ટથી નિરંતર કેટલા કાળ સુધી મળે તેનો

વિચાર કર્યો છે. આ કાળદ્વારને સમજવા માટે છ નિયમો બતાવ્યા છે. એ નિયમો માર્ગણાઓમાં કઈ રીતે ઘટે છે, અને એના પણ શું શું કારણો છે એની અનેક રીતે સમજણ આપી છે. આ છ નિયમો ગ્રન્થના ૪૨૮માં પાના પર ૬૧૮મી ગાથાની ટીકામાં આપ્યા છે.

૧૧. નાનાજીવાશ્રિત અંતરદ્વાર :- અહીં ભૂયસ્કારાદિ ચારેય રસના બન્ધકોનું સર્વથાઅભાવરૂપ અંતર કેટલું તેનું નિરૂપણ ઓઘથી અને આદેશથી કરેલ છે.

૧૨. ભાવદ્વાર :- ભૂયસ્કારાદિ ચારેય રસબન્ધ ઔદયિકભાવમાં જ કેમ થાય છે તે કારણ સહિત દર્શાવ્યું છે.

૧૩. અલ્પબહુત્વદ્વાર :- પહેલા અધિકારના અલ્પબહુત્વદ્વારમાં રસબન્ધનું અલ્પબહુત્વ કહ્યું હતું જ્યારે બીજા અધિકારના આ દ્વારમાં ચારેય ભૂયસ્કારાદિ રસબંધક જીવોનું અલ્પબહુત્વ કહેવામાં આવ્યું છે. શા શા કારણોથી તે તે બંધકો વધારે છે અને અલ્પ છે તે યુક્તિ અને હેતુપૂર્વક સિદ્ધ કરી બધા પદાર્થોને યંત્રમાં ગૂંથી લીધા છે.

ત્રીજો "પદનિક્ષેપ" અધિકાર, તેના ૩ દ્વારો

ભૂયસ્કાર અધિકારમાં રસની સામાન્ય રીતે વૃદ્ધિ, હાનિ અને અવસ્થાન વગેરેનો વિચાર હતો. આ અધિકારમાં વિશેષથી એટલે કે ઉત્કૃષ્ટવૃદ્ધિ, ઉત્કૃષ્ટહાનિ અને ઉત્કૃષ્ટ અવસ્થાનનો તેમજ જઘન્યવૃદ્ધિ-જઘન્યહાનિ અને જઘન્ય અવસ્થાનનો વિચાર કર્યો છે. અવક્તવ્ય બન્ધમાં ઉત્કૃષ્ટ કે જઘન્યથી કોઈ વિચાર કરવાનો ન હોવાથી તેનું નિરૂપણ કર્યું નથી. આમ ભૂયસ્કારાદિ ત્રણ પ્રકારના બંધનો ઉત્કૃષ્ટ અને જઘન્ય એમ બે પદથી જ નિક્ષેપ કર્યો હોવાથી અર્થાત્ વિચારણા કરી હોવાથી આ દ્વારનું પદનિક્ષેપ એવું નામ સાર્થક છે.

ઉત્કૃષ્ટવૃદ્ધિ વગેરેનું સ્વરૂપ :—

૧. **ઉત્કૃષ્ટ વૃદ્ધિબંધ**—બન્ધમાં સૌથી વધારે રસના વધવાથી પ્રાપ્ત થતો રસબન્ધ એટલે કે ઓઘ કે માર્ગણામાં એનાથી વધુ રસની વૃદ્ધિ એક સમયમાં બન્ધ દ્વારા પ્રાપ્ત થતી નથી તે.

૨. **ઉત્કૃષ્ટ હાનિબંધ**—બન્ધમાં સૌથી વધારે રસના ઘટવાથી પ્રાપ્ત થતો રસબન્ધ, એટલે કે ઓઘ કે માર્ગણામાં એનાથી વધુ રસની હાનિ એક સમયમાં બન્ધ દ્વારા પ્રાપ્ત થતી નથી તે.

૩. **ઉત્કૃષ્ટ અવસ્થાન બંધ**—રસબન્ધની વૃદ્ધિ કે હાનિથી પ્રાપ્ત થતા રસના વધુમાં વધુ તારતમ્ય પછીના બીજા જ સમયે થતો અવસ્થિત એટલે કે તુલ્ય રસબંધ, અર્થાત એનાથી વધુ રસના તારતમ્ય પછી થતો બીજો કોઈપણ અવસ્થિત રસબંધ ન હોવો તે.

જઘન્યવૃદ્ધિપદ, જઘન્યહાનિપદ અને જઘન્યઅવસ્થાનપદ ક્રમશઃ ઉત્કૃષ્ટવૃદ્ધિ વગેરે પદોથી વિપરીતપણે જાણવાં એટલે કે સૌથી જઘન્યરસવૃદ્ધિથી થતો ભૂયસ્કાર રસબન્ધ, સૌથી જઘન્યરસહાનિથી થતો અલ્પતર રસબન્ધ અને તદ્‌યોગ્ય જઘન્યરસની વૃદ્ધિ કે હાનિમાંથી સૌથી ઓછાં તારતમ્ય પછીથી થતો જે અવસ્થિત રસબન્ધ તે ક્રમશઃ જઘન્યવૃદ્ધિ, જઘન્યહાનિ અને જઘન્ય અવસ્થાન કહેવાય છે.

આ અધિકારના ત્રણ દ્વારો :- આ છએ પદોનું નિરૂપણ (૧) સત્પદ (૨) સ્વામિત્વ (૩) અલ્પબહુત્વ એમ ત્રણ દ્વારથી કરવામાં આવેલ છે.

૧. સત્પદદ્વાર—અહીં છએ પદોમાંથી કયા કયાં, અને કેટલાં એ દર્શાવ્યું છે

૨. સ્વામિત્વદ્વાર—અહીં ઓઘથી અને આદેશથી તે તે સત્પદોના સ્વામી કોણ કોણ અને તેઓને કઈ કઇ અવસ્થામાં તે બન્ધ થાય છે એ બતાવ્યું છે.

હવે આપણે ઓઘથી ફક્ત ચાર ઘાતિકર્મના ઉત્કૃષ્ટવૃદ્ધિ અને ઉત્કૃષ્ટહાનિના સ્વામી જોઇએ એટલે આપણને આછો ખ્યાલ આવશે કે કઈ કઇ અવસ્થા એને માટે જરૂરી છે વગેરે...

ચાર ઘાતિકર્મની ઉત્કૃષ્ટવૃદ્ધિ કોને ? જે જીવો ચતુઃસ્થાનિકરસના યવમધ્યની ઉપર રહેલા હોય, અંત કોટાકોટિ સાગરોપમની સ્થિતિ બાંધતા હોય, અંતર્મુહૂર્ત સુધી પ્રત્યેક સમયે અનંતગુણ રસવૃદ્ધિ કરી રહ્યા હોય અને ત્યાથી ઉત્કૃષ્ટ સંક્લેશ પ્રાપ્ત થતા ઉત્કૃષ્ટ ફાલ (મોટી ફલાગ) મારી ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ અને ઉત્કૃષ્ટરસ બાંધે ત્યારે તે જીવોને ઘાતિકર્મની ઉત્કૃષ્ટરસવૃદ્ધિ પ્રાપ્ત થાય છે. આવા જીવો ચારે ગતિમાં હોય છે.

ઓઘથી ઉત્કૃષ્ટહાનિ કોને ? જે જીવો ચાર ઘાતિકર્મનો ઉત્કૃષ્ટરસ બાંધ્યા પછી સીધા એકેન્દ્રિયમાં ઉત્પન્ન થાય છે અને ત્યાં પોતાને યોગ્ય જઘન્યરસ બાંધે ત્યારે તે જીવોને ઉત્કૃષ્ટ રસહાનિ આવે આ ઉત્કૃષ્ટહાનિ ભવનપતિ, વ્યંતર, જ્યોતિષ અને પહેલા બીજા દેવલોકના વૈમાનિક દેવોમાંથી કાળ કરીને આવેલાને જ પ્રાપ્ત થાય છે. કારણકે સંજ્ઞી મનુષ્યો અને તિર્યંચો ઉત્કૃષ્ટ સંક્લેશમાં મરે તો પોતાને યોગ્ય હીનગતિમાં જાય અને તેવી ગતિ તેમના માટે નરકગતિ છે નારકો અને ઇશાન ઉપરના દેવો એકેન્દ્રિયમાં ઉત્પન્ન થતા જ નથી જ્યારે ઇશાન સુધીના દેવો ઉત્કૃષ્ટ સંક્લેશથી મરી એકેન્દ્રિયમાં ઉત્પન્ન થઈ શકે છે માટે તેમને ઉત્કૃષ્ટ હાનિ હોય છે.

આ રીતે ઘાતિકર્મના ઉત્કૃષ્ટ અવસ્થાનના તેમજ અઘાતિકર્મના ઉત્કૃષ્ટવૃદ્ધિ વગેરેના સ્વામી તથા ઓઘથી આઠે કર્મના જઘન્યવૃદ્ધિ વગેરેના સ્વામી તથા માર્ગણાઓમાં ઉત્કૃષ્ટ અને જઘન્યવૃદ્ધિ વગેરેના સ્વામી યંત્રોમાંથી જોઈ એનાં કારણો યુક્તિઓ વગેરેની ઊંડી ખોજ કરી ટીકાગ્રન્થ જોવાથી સ્વામિત્વનો યથાર્થ નિર્ણય થઇ જશે.

૩. અલ્પબહુત્વ દ્વાર:- આ દ્વારમાં ઉત્કૃષ્ટપદે રહેલી વૃદ્ધિ, હાનિ અને અવસ્થાનમાં

રહેલા રસના તારતમ્યનું અલ્પબહુત્વ એટલે કે કોનો સૌથી વધારે રસ છે? અથવા ઓછો રસ કોનો? તેમજ જઘન્યપદે રહેલી વૃદ્ધિ વગેરેના રસના તારતમ્યનું પણ અલ્પબહુત્વ ઓઘ અને માર્ગણામાં બતાવેલ છે. કયા કારણોથી રસ ઓછો છે અથવા વધારે છે તેની સુંદર ભાવના સાથે અનેક યુક્તિ હેતુઓ વગેરેથી ટીકાગ્રંથમાં વિવેચન કરેલું છે. અને તે બધા વિષયોને પૂર્વની જેમ યંત્રમાં ગૂંથી લીધા છે.

ચોથો 'વૃદ્ધ્યધિકાર' અને તેના ૧૩ દ્વારો

આ અધિકારમાં અનંતભાગાદિ ૬ પ્રકારની વૃદ્ધિ, અનંતભાગાદિ ૬ પ્રકારની હાનિ, અવસ્થાન અને અવક્તવ્ય એમ ૧૪ પદોનું ભૂયસ્કારાધિકારની જેમ ૧૩ દ્વારોમા વર્ણન કર્યું છે. આ અધિકાર પણ ભૂયસ્કારાદિ રસબંધોની વિશેષતા રૂપ જ છે. કેમકે અહીં પણ વિશેષ વૃદ્ધિ, વિશેષ હાનિ, અવસ્થિત અને અવક્તવ્ય રસબંધનું જ વિશદ વર્ણન છે. અલબત પદનિક્ષેપમા વૃદ્ધિ વગેરે ઉત્કૃષ્ટપદ અને જઘન્યપદ એમ બે જ રીતે ગ્રહણ કરેલ છે જ્યારે અહીં વૃદ્ધિ અને હાનિ બન્ને ૬, ૬ પ્રકારે ગ્રહણ કરેલ છે. અને અવસ્થિત તેમજ અવક્તવ્ય એ બે બંધ ભૂયસ્કારાધિકારની જેમ જ ગ્રહણ કરેલા છે

છ વૃદ્ધિ આ પ્રમાણે—(૧) અનંતભાગ રસવૃદ્ધિ (૨) અસંખ્યભાગ રસવૃદ્ધિ (૩) સંખ્યાતભાગ રસવૃદ્ધિ (૪) સંખ્યાતગુણ૦ (૫) અસંખ્યાતગુણ૦ (૬) અનંતગુણ૦ આ જ પ્રમાણે છ હાનિ પણ સમજવી

આમ આ કુલ ૧૪ પદોનું સત્પદાદિ ૧૩ દ્વારોથી ઓઘ અને ૧૭૦ માર્ગણાઓમા વર્ણન કરેલ છે અહીં પણ પહેલા વૃદ્ધિનુ નિરૂપણ હોવાથી સંપૂર્ણ અધિકાર વૃદ્ધ્યધિકાર કહેવાય છે.

અહીં સર્વ પ્રથમ ૧૪ પદોની સત્પદપ્રરૂપણા કરી છે. આઠે કર્મના અવક્તવ્ય અને અવસ્થિત રસબંધ એ ભૂયસ્કારાધિકારમાં કહેલા અવક્તવ્ય અને અવસ્થિત જેવા જ છે. કોઈક સ્થળે અપવાદને બાદ કરતા અનંતગુણવૃદ્ધિમા સ્વામી, કાળ, અંતર વગેરે ભૂયસ્કારની જેમ. અનંતગુણ હાનિમાં અલ્પતરની જેમ અને શેષ પાંચ પ્રકારની વૃદ્ધિ અને હાનિમાં અવસ્થિતની જેમ હોવાથી બીજા સ્વામિત્વદ્વારથી માંડી ભાવદ્વાર સુધીના ૧૧ દ્વારોની તે મુજબ ભલામણ કરીને ગ્રંથને ટૂંકાવામાં આવ્યો છે. છેલ્લા અલ્પબહુત્વદ્વારમાં વિશેષતા હોવાથી ૧૪ પદોનું વિસ્તારથી અલ્પબહુત્વ આપવામાં આવ્યું છે. ટીકાગ્રંથમાં સમગ્ર વિષયનું યુક્તિઓ વગેરેથી વિવેચન કર્યું છે અને છેવટે ૧૩ દ્વારોના વિષયોનો સંગ્રહ યંત્રોમા પણ ચોક્કસાઈથી કરી લેવાયો છે

પાંચમો "અધ્યવસાય સમુદાહાર" અધિકાર અને તેના મુખ્ય ૨ દ્વારો

અધ્યવસાય સમુદાહાર એટલે અધ્યવસાયોની આત્માના પરિણામોની પ્રરૂપણા–વિચારણા, તેમજ અધ્યવસાયના કારણે બંધાતા રસના સ્થાનોની પણ પ્રરૂપણા. કર્મના

રસબંધના સ્થાનો એ કાર્ય છે, અને અધ્યવસાયો એ રસસ્થાનોનું કારણ છે. એટલે કાર્યકારણભાવની કાંઈક અભેદની વિવક્ષાથી અધ્યવસાયોની પ્રરૂપણા સાથે રસબંધના સ્થાનોની પણ પ્રરૂપણા કરવામાં આવી છે. આ અધિકારના કેટલાંક દ્વારોમાં મુખ્યત્વે અધ્યવસાયોની અને કેટલાંક દ્વારોમાં મુખ્યત્વે રસના સ્થાનોની પ્રરૂપણા છે. આ છેલ્લા અધિકારના મુખ્ય બે અનુયોગ દ્વારો છે- (૧) **અધ્યવસાયસ્થાનસમુદાહાર** અને (૨) **જીવસમુદાહાર**.

પહેલા અધ્યવસાયસ્થાનસમુદાહારના ૧૪ અવાંતર દ્વારો છે; તે આ પ્રમાણે—

(૧) અવિભાગ પ્રરૂપણા	(૬) કંડક પ્રરૂપણા	(૧૧) યવમધ્ય પ્રરૂપણા
(૨) વર્ગણા પ્રરૂપણા	(૭) ષટ્સ્થાન પ્રરૂપણા	(૧૨) ઓજોયુગ્મ પ્રરૂપણા
(૩) સ્પર્ધક પ્રરૂપણા	(૮) અધસ્તનસ્થાન પ્રરૂપણા	(૧૩) પર્યવસાન પ્રરૂપણા
(૪) અન્તર પ્રરૂપણા	(૯) વૃદ્ધિ પ્રરૂપણા	(૧૪) અલ્પબહુત્વ પ્રરૂપણા
(૫) સ્થાન પ્રરૂપણા	(૧૦) સમય પ્રરૂપણા	

૧. અવિભાગ પ્રરૂપણા :- કર્મ પરમાણુઓમાં રસની તરતમતાઓથી ઘણા ભેદપ્રભેદો પડે છે. આ રસની તરતમતા કયાં કેટલી હોય છે, એનો વિચાર અનુભાગ-શક્તિમાં ઉપલબ્ધ થનાર અવિભાગપલિચ્છેદના આધાર ઉપર થાય છે. જે કેવલીની પ્રજ્ઞાથી પણ વિભાગ ન થઈ શકે તેવો સૂક્ષ્મરસાંશ અવિભાગપલિચ્છેદ કહેવાય છે. આ સૂક્ષ્મરસાંશને રસાવિભાગ, રસાણુ કે રસાંશ પણ કહી શકાય. અથવા બે વસ્તુ લઈએ, એમાં પહેલી વસ્તુ કરતાં બીજી વસ્તુ એક અંશ વધુ શક્તિવાળી હોય છે. તેમ એક કર્મપરમાણુમાં સૌથી ઓછો રસ છે. તેના કરતાં બીજા કર્મપરમાણુમા કેવલી ભગવંતના જ્ઞાનથી સૌથી અલ્પમાત્રામા જે રસવૃદ્ધિ દેખાય છે, તે અવિભાગપલિચ્છેદ કહેવાય.

આ રસાણુઓ પ્રત્યેક કર્મપરમાણુઓમાં અનંતાનંત હોય છે. આનુ પ્રમાણ સર્વજીવસંખ્યાથી પણ અનંતગુણ સમજવું.

૨. વર્ગણા પ્રરૂપણા :- આ રસાવિભાગો સર્વકર્મપરમાણુઓમાં સરખા છે કે ઓછાવત્તા તેની પ્રરૂપણા-વિચારણા. જે જે કર્મપ્રદેશોમાં રસાંશો સૌથી અલ્પ છે તે બધા કર્મપરમાણુઓની પહેલી વર્ગણા. એનાથી એક રસાંશ અધિક એવા કર્મપરમાણુઓની બીજી વર્ગણા, આમ નિરંતર એકેક રસાંશની વૃદ્ધિવાળી વર્ગણાઓ અભવ્યથી અનંત ગુણ અને સિદ્ધના અનંતભાગ જેટલી એક સ્પર્ધકમાં પ્રાપ્ત થાય છે.

૩. સ્પર્ધક પ્રરૂપણા :- અભવ્યથી અનંતગુણ અને સિદ્ધના અનંતભાગ જેટલી વર્ગણાના સમૂહનું એક સ્પર્ધક થાય છે. ઉત્તરોત્તર વર્ગણાઓમાં રસની વૃદ્ધિરૂપ સ્પર્ધા હોવાથી એને સ્પર્ધક કહેવામાં આવે છે. પ્રતિસમયે બંધ વગેરેથી બનતા પ્રત્યેક રસ-સ્થાનમાં અભવ્યથી અનંતગુણ અને સિદ્ધના અનંતભાગ જેટલા અનંતા સ્પર્ધકો હોય છે.

૪. અન્તર પ્રરૂપણા :- એકેક રસસ્થાનમાં થતાં સ્પર્ધકોની સંખ્યા પૂર્વદ્વારમાં કહી. તે સ્પર્ધકોની વચમાં કેટલું અંતર છે એનો વિચાર આ દ્વારમાં છે. પ્રથમ સ્પર્ધકની અનંતી વર્ગણાઓ ઉત્તરોત્તર એકેક રસાવિભાગ વૃદ્ધિવાળા કર્મપ્રદેશોની બનેલી છે. પ્રથમ સ્પર્ધકની છેલ્લી વર્ગણા પછી એક રસાવિભાગની વૃદ્ધિવાળી વર્ગણા નથી. બે રસાવિભાગ વૃદ્ધિવાળી વર્ગણા નથી એમ સર્વજીવથી અનંતગુણ અધિક રસાવિભાગવાળી પણ વર્ગણાઓ મળતી નથી. પરંતુ તેનાથી એકરસાધિકવાળી વર્ગણા ત્યારબાદ મળે છે તે બીજા સ્પર્ધકની પહેલી વર્ગણા ગણાય છે. એટલે બે સ્પર્ધક વચ્ચે અંતર સર્વજીવથી અનંતગુણ રસાવિભાગનું થયું. બીજા અને ત્રીજા સ્પર્ધકની વચ્ચે પણ આટલું અંતર પડે છે એમ દરેક સ્પર્ધકની વચમાં આટલું અંતર હોય છે.

૫. સ્થાન પ્રરૂપણા :- અભવ્યોથી અનંતગુણાં અને સિદ્ધોના અનંતભાગ જેટલાં સ્પર્ધકો એક સમયમાં ઉત્પન્ન થાય છે. તે સ્પર્ધકોના સમૂહને એક **રસસ્થાન** કહેવાય છે. અર્થાત્ કોઇ એક જીવમાં એક સમયે જુદા જુદા કર્મનો જેટલો રસ બંધાય છે. તેટલો રસ તે કર્મનું એક રસસ્થાન કહેવાય છે. રસસ્થાન બે પ્રકારે હોય છે (૧) રસબન્ધસ્થાન અને (૨) રસસત્તાસ્થાન–બન્ધદ્વારા જે રસ પ્રાપ્ત થાય તે રસબંધ સ્થાન અને પૂર્વે બંધાયેલ રસસ્થાનનો વિશુદ્ધિથી ઘાત થઇને બંધ સ્થાન કરતા વિલક્ષણ ઉત્પન્ન થાય તેને રસસત્તાસ્થાન અથવા ઘાતસ્થાન કહેવાય છે. આ ઘાતસ્થાનો ક્યા, કેવી રીતે અને કેટલા પ્રમાણમા ઉત્પન્ન થાય છે એ વગેરેનુ વર્ણન આગળ કરીશું.

અહીં રસવિભાગની અપેક્ષાએ અને કર્મપરમાણુની અપેક્ષાએ જઘન્ય વગેરે રસસ્થાનો કેવી કેવી રીતે રહેલ છે? તેમા રસાવિભાગની અપેક્ષાએ વર્ગણાઓમાં અને સ્પર્ધકોમા રસાવિભાગ કેટલા ? તથા આંતરાઓમાં કેટલા ? અને તે કેવી રીતે ? તેનું વર્ણન કરેલ છે. કર્મપરમાણુની અપેક્ષાએ જઘન્યવર્ગણામાં કર્મપરમાણુઓ કેટલા ? ઉત્તરોત્તરવર્ગણામાં કેટલા ઓછા ઓછા થાય છે ? અને ક્યાં અડધા અડધા થતા જાય છે ? અડધા અડધાનાં સ્થાનો કેટલાં ? અર્થાત્ દ્વિગુણહાનિનાં સ્થાનો કેટલાં ? પ્રત્યેક દ્વિગુણહાનિમાં પરમાણુઓ ચોક્કસ રીતે કેટલા ઘટે છે અને તેનીગણિતાત્મક ગોઠવણી કેવી થાય છે? એની સમજ અનેક દ્રષ્ટાંતો–અસત્કલ્પનાઓ વગેરેથી આપવામાં આવી છે. દ્વિગુણહાનિની કોઇપણ વર્ગણા કે સ્પર્ધક વગેરેમાં પરમાણુઓની સંખ્યા કેટલી ? દ્વિગુણહાનિના કુલ પરમાણુઓ કેટલા ? તેની સંખ્યા કાઢવા માટે અનેક કરણો (Method) એટલે કે રીતો બતાવી છે. તથા સમાન અંતરે વધતી સંખ્યાનું સંકલન કેવી રીતે કાઢવું એની રીતો, તથા ઉદાહરણોથી સમજાવેલ છે. સાથે સાથે આંકડાઓમાં તેની સ્થાપનાઓ બતાવી છે. અને વર્ગ, ઘન, ચતુર્ઘાત વગેરેની સ્થાપના પણ બીજગણિત (Algebra) ની પદ્ધતિથી મૂકવામાં આવેલ છે. એનો ૫૧૫ થી ૫૨૯ સુધીના પેઈજ પરની ટીકા જોવાથી વિશેષ ખ્યાલ આવશે.

૬. **કંડક પ્રરૂપણાઃ-** આપણે જોયું કે અનંતા સ્પર્ધકોથી એક રસસ્થાનનું નિર્માણ થાય છે. પહેલા જઘન્યરસસ્થાનથી બીજા રસસ્થાન વચ્ચે સર્વજીવથી અનંતગુણ રસાવિભાગનુ અંતર છે. આમ દરેક સ્થાનની વચ્ચે અંતર જાણવું. પણ એક સ્થાનથી બીજું રસસ્થાન કેટલું અધિક છે તે જણાવતાં કહ્યું કે જઘન્યરસસ્થાનથી બીજુ રસસ્થાન અનંતભાગ અધિક છે. એમ બીજા રસસ્થાનથી ત્રીજું રસસ્થાન અનંતભાગઅધિક છે. એમ અંગુલના અસંખ્યભાગ સુધી અનંતભાગ અનંતભાગની વૃદ્ધિ મળે છે. આ અંગુલના અસંખ્યભાગ-પ્રમાણ નિયતરાશિને શાસ્ત્રીય પરિભાષામાં **કંડક** કહે છે. આમ અસંખ્યભાગાદિ વૃદ્ધિના કંડકો પણ કહેવા. એ છ એ વૃદ્ધિના કંડકો કેવી રીતે બને છે એના રચના ક્રમ નીચેના ષટ્સ્થાન પ્રરૂપણા દ્વારમાં જોઇએ.

૭. **ષટ્સ્થાન પ્રરૂપણા :-** જઘન્યસ્થાનથી નિરંતર એક કંડક પ્રમાણ અનંતભાગ-વૃદ્ધ સ્થાનો મળે છે ત્યારબાદ એક અસંખ્યભાગવૃદ્ધ સ્થાન આવે. ફરી એક કંડક પ્રમાણ અનંતભાગના સ્થાનો જઈએ ત્યારે બીજું અસંખ્યભાગવૃદ્ધનું સ્થાન મળે–એમ કંડકવાર અસંખ્યભાગવૃદ્ધ સ્થાનો થાય ત્યારે ફરી અસંખ્યભાગવૃદ્ધનું સ્થાન પ્રાપ્ત થાય ત્યાં તે ન કહેતાં એક સંખ્યાતભાગવૃદ્ધસ્થાન કહેવું. ત્યારબાદ ફરીથી અનંતભાગવૃદ્ધ અને અસંખ્યાતભાગવૃદ્ધના બધા સ્થાનો જઇએ ત્યારે બીજું સંખ્યાતભાગવૃદ્ધ સ્થાન આવે-આમ સંખ્યાતભાગવૃદ્ધ-સ્થાનો કંડકવાર થાય અને જ્યાં ફરી સંખ્યાતભાગવૃદ્ધનું સ્થાન પ્રાપ્ત થાય ત્યા ન કહેતાં પહેલું સંખ્યાતગુણનું સ્થાન કહેવું આમ સંખ્યાતગુણના સ્થાનો કંડક પ્રમાણ થયા બાદ ફરી સંખ્યાતગુણનું સ્થાન પ્રાપ્ત થાય ત્યાં તે ન કહતાં પહેલું અસંખ્યગુણનું સ્થાન કહેવું. એજ રીતે ફરી ફરી બધા સ્થાનો કહેતા કહેતા અસંખ્યેયગુણના સ્થાનો કંડક પ્રમાણ થાય. ત્યારબાદ જે અસંખ્યગુણનુ સ્થાન આવે ત્યાં તે ન કહેતા પહેલું અનંતગુણનું સ્થાન કહેવું. આમ અનંતગુણના સ્થાનો કંડકવાર થાય ત્યારબાદ જ્યાં અનંતગુણનું સ્થાન પ્રાપ્ત થાય ત્યાં તે ન કહેતાં ૧ લા ષટસ્થાનની સમાપ્તિ કહેવી. આ રીતે અસંખ્યલોકપ્રમાણ ષટ્સ્થાનોમા છએ વૃદ્ધિના સ્થાનોની પ્રરૂપણા કરવી અહીં સંખ્યાત અસંખ્યાત અને અનંતપદથી કઈ કઇ રાશિ લીધી છે એ વગેરે અનેક બાબતોનો આ પ્રરૂપણામા વિચાર કર્યો છે.

૮. **અધસ્તનસ્થાન પ્રરૂપણા :-** એટલે નીચે નીચેના સ્થાનોના વિચાર, તે બે રીતે—(૧) અનંતરથી (૨) પરંપરથી

અનંતરથી એટલે કે અસંખ્યભાગવૃદ્ધસ્થાનની નીચે અનંતભાગવૃદ્ધસ્થાનો કેટલા? સંખ્યાતભાગવૃદ્ધસ્થાનની નીચે અસંખ્યભાગવૃદ્ધસ્થાનો કેટલાં? એમ સંખ્યાતગુણની નીચેનાં અસંખ્યગુણની નીચેનાં અને અનંતગુણની નીચેનાં અનંતરસ્થાનોનો વિચાર કરેલો છે.

પરંપરથી અનંતભાગાદિ વૃદ્ધિનાં સ્થાનોના વચ્ચેના કોઇ એક બે વગેરે વૃદ્ધિના સ્થાનોના આંતરાથી વિચારવું તે.

જેમકે–પ્રથમસંખ્યાતભાગવૃદ્ધસ્થાનની નીચે અનંતભાગવૃદ્ધનાં સ્થાનો કેટલાં ? એનો વિચાર કરવામાં આવે ત્યારે વચ્ચે અસંખ્યભાગવૃદ્ધસ્થાનરૂપ એકનું અંતર પડ્યું એમ આગળ ઉપર પણ આંતરા જાણવા. આ રીતે **અનંતગુણવૃદ્ધ** સુધીના સ્થાનોની એક આંતરે પ્રરૂપણા કરેલી છે.

એ રીતે બેના આંતરે જેમકે પ્રથમ સંખ્યાતગુણ સ્થાન નીચે અનંતભાગવૃદ્ધના સ્થાનો કેટલાં ? એમ અનંતગુણવૃદ્ધના સ્થાન સુધી બબ્બેના આંતરે રહેલા નીચેના સ્થાનોની પ્રરૂપણા કરી છે એજ રીતે ત્રણના આંતરે એટલે કે અસંખ્યગુણવૃદ્ધના સ્થાન નીચે અનંત-ભાગવૃદ્ધના સ્થાનો કેટલાં ? એવી રીતે ચારના અંતરે અનંતગુણવૃદ્ધના સ્થાનો કેટલાં ? તેનું નિરૂપણ કર્યું છે અને દરેક સંખ્યાની સ્થાપના તથા કુલ સ્થાનોની સંખ્યા બીજગણિતની પદ્ધતિથી આપવામાં આવી છે. (જુઓ ૫૩૭ પાનું) અને તે સંખ્યા કાઢવા માટે કરણ (રીત) બતાવવામાં આવ્યું છે.

અહીં સુધી ગ્રન્થમાં આઠ દ્વારોનુ વર્ણન સામાન્યથી કર્યું છે આ ઉપરાંત તે અંગેનું વિશેષ વિવેચન ટીકાગ્રંથમાં કરેલ છે **જેમકે**—જ્ઞાનાવરણાદિ કર્મોના જઘન્યરસસ્થાનો કયાં અને કોને હોય ? ષટ્સ્થાનકથી થતી વૃદ્ધિઓનો આરંભ કયાંથી થાય ? જ્ઞાનાવરણાદિ પ્રત્યેક કર્મોનો રસબંધ ગુણસ્થાન અને જીવો વગેરેને આશ્રીને કોને વધુ ? કોને અલ્પ ? દરેક રસબન્ધસ્થાનોમાં સ્પર્ધકની રચના કેવી કેવી રીતે ? દરેક સ્થાનોનાં અંતર કેટલાં ? પરસ્પર તુલ્ય છે કે નહિ ? ષટ્સ્થાનકોના દ્વિતીયાદિ રસસ્થાનોનું નિરૂપણ શું ? સત્તાસ્થાન કોને કહેવાય ? સત્તાસ્થાન અને બંધસ્થાનોમાં તફાવત શું ? સત્તાસ્થાનના બે પ્રકાર કયા ? હતોત્પત્તિક એટલે ઘાતસ્થાન, હતહતોત્પત્તિક એટલે ઘાતઘાત સ્થાન એ બંનેની વ્યુત્પત્તિ. હતોત્પત્તિક સ્થાનો કેવી રીતે અને કયા બંધસ્થાનની વચમાં ઉત્પન્ન થાય છે ? ઘાતથી ઉત્પન્ન થયેલાં હતોત્પત્તિકસ્થાનોનો શું ફરી ઘાત થાય છે ? થાય તો તે કેટલીવાર થઈ શકે ? ફરી ફરી ઘાતથી ઉત્પન્ન થતાં રસસ્થાનો એક બીજા સાથે સમાન હોય કે ન હોય, આ તુલ્યાતુલ્ય પ્રરૂપણા એટલે પુનરુક્તાપુનરુક્ત પ્રરૂપણાની વ્યાખ્યા શું ? કયા કયા સ્થાનો પુનરુક્ત કે અપુનરુક્ત હોય ? વગેરે પદાર્થોની છણાવટ બહુ જ અદ્‌ભુત રીતે કરવામાં આવી છે. આ જાણીને આપણને એમજ થાય છે કે આ કાર્મણ અણુઓમાં રસ વગેરેની ગોઠવણ કેટલી વૈજ્ઞાનિક પદ્ધતિથી અને ગણિતાત્મક રીતે થાય છે. અને વિશુદ્ધયાદિથી ક્ષણવારમાં તેમાં કેટલા અને કેવા ફેરફારો થઇ જાય છે અને જેથી વ્યવહારના ઘણા પ્રસંગોમાં આપણને આશ્ચર્ય થઈ જાય છે કે આમ કેમ ? કેવલ બાહ્ય કારણો જોવા માત્રથી આપણી સમસ્યાનો ઉકેલ આવતો જ નથી પરંતુ પરમકારૂણિક તીર્થંકર ભગવંતોએ દર્શાવેલ સંક્લેશવિશુદ્ધિ-રૂપ આત્મપરિણામે જ એ કાર્મણપરમાણુઓમાં રસાવિભાગની ભરતીઓટ લાવી દઈ ક્ષણવારમાં એકાએક આસમાની સુલતાની કરી નાંખી હોય છે.

આ ગણિતાત્મક ગોઠવણીમાં અનંતાદિ સંખ્યાનો વપરાશ વધુ હોય છે. અને તેથી

એ વાતો સમજવા માટે અસત્કલ્પનાઓ કરેલી છે. એટલે કે મોટી સંખ્યાના સ્થાને સહેલાઇથી સમજી શકીએ એવી નાની સંખ્યાને કલ્પી છે. અને અનેક યુક્તિઓથી સુગ્રાહ્ય બનાવેલ છે.

૯. વૃદ્ધિ પ્રરૂપણા :- જીવોના અધ્યવસાયોની કયા કયા પ્રકારે વૃદ્ધિ અને હાનિ થતી હોય છે અને તે હાનિ અને વૃદ્ધિ નિરંતર કેટલો કાળ રહે એ વિચાર આ પ્રરૂપણામાં કરેલ છે. જીવોને પરિણામની અપેક્ષાએ છએ પ્રકારની વૃદ્ધિ અને હાનિ હોય છે. તેમાંથી અનંતગુણવૃદ્ધિ અને અનંતગુણહાનિ નિરંતર અન્તર્મુહૂર્તકાળ સુધી રહે અને બાકીની પાંચ વૃદ્ધિ અને પાંચ હાનિ આવલિકાના અસંખ્યભાગપ્રમાણ અસંખ્ય સમય સુધી રહે છે.

૧૦. સમય પ્રરૂપણા :- પ્રત્યેક અધ્યવસાય કેટલો કાળ ટકે ? અર્થાત્ એ અધ્યવસાયોનો અવસ્થાન કાળ કેટલો ? તે દર્શાવતું આ દ્વાર છે.

અહીં જઘન્યઅધ્યવસાયસ્થાનથી માંડી ઉત્કૃષ્ટ અધ્યવસાયસ્થાન સુધી જેટલાં અધ્યવસાયસ્થાનો છે તેમાં જઘન્યસ્થાનથી માંડી અસંખ્યલોકપ્રમાણ અધ્યવસાયો એક સમયથી ચાર સમય સુધી રહેનારા છે. ત્યાંથી આગળ અસંખ્યલોકપ્રમાણ અધ્યવસાયો એક સમયથી પાંચ સમય સુધી ટકનારા છે. એમ આઠ સમય સુધી કહેવું, ત્યારબાદ અસંખ્યલોક-અસંખ્યલોકપ્રમાણ અધ્યવસાયો ઉતરતા ક્રમે સાત સમયથી બે સમય સુધી રહેનારા કહેવા. આમાં કયા કયા સમયના અધ્યવસાયો ઓછા છે વધારે છે એ પણ બતાવવામાં આવ્યું છે.

૧૧. યવમધ્ય પ્રરૂપણા :- જવ જેમ વચમાં જાડો–વિસ્તારવાળો હોય છે અને બન્ને બાજુ પાતળો થતો જાય છે. તેવી રીતે સમયપ્રરૂપણાથી આપણે જાણી ગયા કે વચમાં આઠ સમય રહેનારા અધ્યવસાયો છે. અને બન્ને બાજુ એકેક સમય ઓછા થતા નીચે જઘન્યસ્થાન તરફ ૪ સમય અને ઉપર ઉત્કૃષ્ટસ્થાન તરફ બે સમય સુધી રહેનારા અધ્યવસાયો છે. તેથી યવના મધ્યભાગ જેવા આઠ સમય સુધી રહેનારા સ્થાનો હોવાથી તે યવમધ્ય કહેવાય છે અહીં આઠ સમયાદિ અધ્યવસાયોનું અલ્પબહુત્વ બતાવવામાં આવ્યું છે. કઈ વૃદ્ધિથી યવમધ્યનો પ્રારંભ અને કઇ હાનિથી અંત થાય છે તથા બાકીના સ્થાનોનો પણ પ્રારંભ અને અંત કઈ કઈ વૃદ્ધિ અને હાનિથી થાય છે એ પણ દર્શાવ્યું છે.

અહીં પ્રસંગવશાત્ રસબંધના કુલ અધ્યવસાયસ્થાનોની વિશેષ સંખ્યા બતાવતાં કહ્યું કે સૂક્ષ્મઅગ્નિકાયમાં ઉત્પન્ન થનારા જીવો, તેમાં રહેલા જીવો, તેની કાયસ્થિતિનો કાલ ક્રમશઃ ઉત્તરોત્તર અસંખ્યગુણ છે અને તેનાથી પણ અસંખ્યાતગુણા રસબંધના અધ્યવસાયો છે.

૧૨. ઓજયુગ્મ પ્રરૂપણા :- ઓજ એટલે વિષમસંખ્યા અર્થાત્ એકીરકમ. અને યુગ્મ એટલે સમસંખ્યા એટલે બેકી રકમ. અહીં કોઈપણ સંખ્યાને ચાર સંખ્યાથી

ભાગતા જ્યાં એક શેષ રહે, તે સંખ્યાને પૂર્વપુરુષોની પારિભાષામાં **કલ્યોજ.** બે શેષ રહે તે સંખ્યાને **દ્વાપરયુગ્મ.** ત્રણ શેષ રહે તેને **ત્રેતૌજ** અને સંપૂર્ણ ભાગી શકાય એટલે કે કંઈ પણ શેષ રહે નહિ તે સંખ્યાને **કૃતયુગ્મ** કહેવાય છે. અહીં કંડકોની સંખ્યા, રસસ્થાનોમાં રસાવિભાગો, વર્ગણા, સ્પર્ધકો વગેરે કૃતયુગ્મ સંખ્યામાં છે. એ વિસ્તારથી જણાવ્યું છે.

૧૩. પર્યવસાન :- અહીં ષટ્સ્થાનકોની સમાપ્તિ ક્યા થાય એ બતાવતા કહ્યું કે **અનંતગુણવૃદ્ધસ્થાનો** કંડકપ્રમાણ થયા બાદ ફરી ઉપર શેષ પાચવૃદ્ધિનાં સ્થાનો જઈએ અને ફરી અનંતગુણવૃદ્ધનું સ્થાન પ્રાપ્ત થવાનુ હોય ત્યાંજ ષટ્સ્થાનકની પૂર્ણાહુતિ છે. એટલે કે ત્યારબાદ **અનંતગુણવૃદ્ધસ્થાન** પ્રાપ્ત થતું નથી

૧૪. અલ્પબહુત્વ:- બે પ્રકારે છે (૧) **અનંતરોપનિધાથી** અને (૨) **પરંપરોપનિધાથી**

અનંતરોપનિધા :- અનંતરપૂર્વસ્થાનની અપેક્ષાએ ષટ્સ્થાનપ્રરૂપણામા દર્શાવ્યાં મુજબનાં જે અનંતભાગાદિવૃદ્ધસ્થાનો, તેનું અલ્પબહુત્વ કહ્યું છે. આમા વિપરીત ક્રમે જાણવું એટલે કે અનંતગુણનાં સ્થાનો અલ્પ, અસંખ્યગુણાદિવિૃદ્ધ સ્થાનો ઉત્તરોત્તર અસંખ્યગુણ અસંખ્યગુણ સમજવાં.

પરંપરોપનિધા:- અહીં જઘન્યરસસ્થાનની અપેક્ષાએ જે જે અનંતભાગાદિવૃદ્ધિનાં સ્થાનો બનતાં હોય તે તે સ્થાનોનું અલ્પબહુત્વ કહ્યું છે એટલે કે અહીં એકજ વાર અસંખ્યભાગવૃદ્ધિ વગેરેનાં સ્થાનો પસાર થાય કે પછીનાં અનંતભાગાદિનાં સ્થાનો પણ અસંખ્યભાગવૃદ્ધિ વગેરેના જ ગણાય છે. તેથી અહીં અનંતભાગવૃદ્ધિનાં સ્થાનો અલ્પ છે અસંખ્યભાગવૃદ્ધિનાં સ્થાનો અસંખ્યગુણાં છે. સંખ્યાતભાગનાં અને સંખ્યાતગુણનાં સ્થાનો ઉત્તરોત્તર ક્રમશઃ સંખ્યાતગુણાં છે અને પછી અસંખ્યગુણ અને અનંતગુણનાં સ્થાનો ક્રમશઃ અસંખ્યગુણાં છે આ અલ્પબહુત્વમાં અસંખ્યગુણ કે સંખ્યાતગુણ શા માટે તથા કેવી કેવી રીતે ઘટી શકે ? વગેરે બધું વર્ણન આ ગ્રંથના પાના નંબર ૫૫૨ પરથી જાણી લેવું.

જીવસમુદાહાર

કાર્મણપરમાણુઓમાં કેટલા અને કેવી રીતે રસ રહ્યાં છે ? એ રસ કઈ કઈ વૃદ્ધિથી વધે છે ? એ રસ વધતા વર્ગણા સ્પર્ધક વગેરે કેવી રીતે બને છે ? નિરંતર રસની વૃદ્ધિવાળા પરમાણુઓ ક્યાં સુધી મળે છે, પછી અંતર કેટલું રહે છે ? એક રસસ્થાનનુ નિર્માણ કેવી રીતે થાય છે ? એક રસસ્થાનથી બીજા રસસ્થાનોમાં કેટલા રસની વૃદ્ધિ ? કેટલું અંતર ? રસસ્થાનોની કુલ સંખ્યા કેટલી ? ષટ્સ્થાનક એટલે શું ? એક ષટ્સ્થાનમાં અનંતભાગાદિસ્થાનો કેટલા ? અનંતગુણાદિ વૃદ્ધિનો કાળ કેટલો ?–અનંતગુણાદિસ્થાનોમાં ક્યા વધારે ? ક્યાં ઓછાં વગેરે વગેરે પદાર્થોનું વિવેચન કર્યું છે.

આ રસસ્થાનોમાં જીવો કેટલા? જીવોથી નિરન્તર વ્યાપ્ત સ્થાનો કેટલાં? સ્થાનોનુ અંતર પડે તો કેટલું પડે? અનેક જીવોને આશ્રીને એક સ્થાન કેટલો કાળ નિરન્તર બંધાય? જીવોની વૃદ્ધિ અને હાનિ કેવી રીતે થાય છે અને જીવોનુ યવમધ્ય શી રીતે બને છે? અતીતાદિ કાળને આશ્રીને ચાર સામયિકાદિ સ્થાનોને જીવોએ કેટલો કાળ સ્પર્શ્યો? અને તેમાં કોનો કાળ વધુ છે? અને કોનો અલ્પ છે? યવમધ્યમાં જીવોની સંખ્યા વધારે, કે નીચે અને ઉપરમાં વધારે, એ વગેરેનું અલ્પબહુત્વ શું? વગેરે અનેક પ્રશ્નો આપણા મનમાં ઉઠે છે. આ બધા પ્રશ્નોનું સમાધાન આ જીવસમુદાહાર દ્વારમાં આઠદ્વારોથી કરેલ છે.

આઠ દ્વારોઃ-

(૧) એક સ્થાન પ્રમાણાનુગમ	(૫) વૃદ્ધિપ્રરૂપણા
(૨) સાન્તર સ્થાન પ્રમાણાનુમ	(૬) યવમધ્ય પ્રરૂપણા
(૩) નિરન્તર સ્થાન પ્રમાણનુગમ	(૭) સ્પર્શના પ્રરૂપણા
(૪) નાનાજીવ કાલ પ્રમાણાનુગમ	(૮) અલ્પબહુત્વ પ્રરૂપણા

૧. એક સ્થાન પ્રમાણાનુગમઃ- સ્થાવરપ્રાયોગ્ય પ્રત્યેક અધ્યવસાયસ્થાનોમાં અનંતા સ્થાવર જીવો હોય છે. જ્યારે ત્રસપ્રાયોગ્યસ્થાનોમાં જઘન્યથી એક બે અને ઉત્કૃષ્ટથી આવલિકાના અસંખ્યભાગપ્રમાણ અસંખ્યાતા ત્રસજીવો હોય છે. વગેરે હકીકતો આ પ્રરૂપણામા બતાવી છે.

૨. સાન્તર સ્થાન પ્રમાણાનુગમઃ- ત્રસપ્રાયોગ્યસ્થાનોમાં ત્રસજીવોથી રહિતસ્થાનો જઘન્યથી એક કે બે, ઉત્કૃષ્ટથી અસંખ્યલોકપ્રમાણ અસંખ્યાતા હોય છે. સ્થાવરપ્રાયોગ્ય સ્થાનોમાં અંતર નથી કેમકે અસખ્યાતા સ્થાનો છે અને બાંધનાર જીવો અનંતા છે ઇત્યાદિ નિરૂપણ આ દ્વારમાં કરેલ છે.

૩. નિરન્તર સ્થાન પ્રમાણાનુગમઃ- ગત દ્વારમાં જોયું કે ફક્ત ત્રસજીવોનાં સ્થાનોમાંજ અંતર પડે છે. તો હવે કેટલાં સ્થાનો નિરન્તર ત્રસજીવથી વ્યાપ્ત છે એ બતાવવાનું કાર્ય આ દ્વારનું છે. ત્રસજીવોથી વ્યાપ્ત નિરન્તરસ્થાનો જઘન્યથી એક કે બે, ઉત્કૃષ્ટથી આવલિકાના અસંખ્યભાગપ્રમાણ અસંખ્ય છે.

૪. નાનાજીવકાલ પ્રમાણાનુગમઃ- સ્થાવરપ્રાયોગ્યસ્થાનો સદાકાલ સ્થાવર જીવોથી બંધાય છે જ્યારે ત્રસપ્રાયોગ્ય દરેક સ્થાન અનેક જીવોને આશ્રીને જઘન્યથી ૧ સમય ઉત્કૃષ્ટથી આવલિકના અસંખ્યભાગ કાળ સુધી નિરન્તર બંધાય છે. ત્યારબાદ અવશ્ય અંતર પડે છે વગેરે દર્શાવામા આવ્યું છે.

૫. વૃદ્ધિ પ્રરૂપણાઃ- બે પ્રકારે (૧) અનંતરોપનિધા અને (૨) પરંપરોપનિધા **અનંતરોપનિધામાં** જઘન્યસ્થાનથી પ્રારંભી અનંતરસ્થાનમાં કેટલા જીવોની વૃદ્ધિ થાય?

એ બતાવતાં કહ્યું કે જઘન્યસ્થાનમાં જીવો ઓછા, બીજામાં વિશેષાધિક ત્રીજામાં વિશેષાધિક એમ યવમધ્ય સુધી જાણવું. પછી વિશેષહીનના ક્રમે યાવત્ ઉત્કૃષ્ટસ્થાન સુધી જાણવું.

પરંપરોપનિધા— જઘન્યસ્થાનથી કેટલાં સ્થાનો જઈએ ત્યારે જીવો બમણા થાય. એ બતાવતાં અહીં કહ્યું કે અસંખ્યલોક અસંખ્યલોકસ્થાનો જઇએ ત્યારે યવમધ્ય સુધી બમણા બમણા થાય છે અને પછી અરધા અડધા થતા જાય છે.

અહીં ત્રસપ્રાયોગ્યનાં ઘણાં સ્થાનો વચમાં વચમાં ખાલી રહે છે. તો વિશેષાધિક વગેરે વૃદ્ધિ કેવી રીતે સમજવી? એ અંગે ખૂબ સુંદર ચર્ચા કરી, સાક્ષીપાઠો સહિત ઊંડી સમજણ આપવામાં આવી છે.

૬. યવમધ્ય પ્રરૂપણા:- વૃદ્ધિપ્રરૂપણાની સાથે જ યવમધ્યદ્વારનું નિરૂપણ કરતા વિશેષ એ જણાવ્યું કે કુલ સ્થાનોના એક અસંખ્યભાગે યવમધ્ય આવે છે અને તેથી યવમધ્યની નીચેનાં સ્થાનો થોડાં છે, તે કેટલાં છે? અને યવમધ્યની ઉપરનાં સ્થાનો જે અસંખ્યગુણાં છે તે કેટલાં છે? વગેરે આ દ્વારમાં વિસ્તારથી ગણિત પ્રક્રિયા અને અસત્કલ્પના વગેરેથી સિદ્ધ કરવામાં આવ્યું છે.

૭. સ્પર્શના પ્રરૂપણા—અહીં ચારસામયિકાદિ સ્થાનોના સ્પર્શનાકાલમાં કોનો વધારે, કોનો ઓછો વગેરે સ્પર્શનાકાળનું અલ્પબહુત્વ જણાવ્યું છે.

૮. અલ્પબહુત્વ પ્રરૂપણા:- અહીં ઉત્કૃષ્ટરસબંધ અધ્યવસાયસ્થાન, જઘન્યરસબંધ-અધ્યવસાયસ્થાન, કંડક અને યવમધ્યમાં ક્યાં કેટલા જીવો છે વગેરેના અલ્પબહુત્વનો વિચાર કરેલ છે.

ઉપસંહાર—લગભગ ૧૭ હજાર શ્લોકપ્રમાણ વિશાળકાય આ મહાન ગ્રન્થ રત્નાકરસમો છે. એમાં અવગાહન કરવા માટે ટૂંકમાં આલેખાયેલ આ વિષય પરિચય જંગી સ્ટીમર કે મહાન જહાજનું કામ ભલે ન કરે પણ એક નાની નાવાનું કામ તો અવશ્ય કરશે. કર્મબંધ કેવી રીતે થાય છે? એમાં રસબંધની કેટકેટલી મહત્તા છે? અને એનાથી કેવા વિપાકો અનુભવવા પડે છે? એ જાણવા દ્વારા વાંચકવર્ગ સ્વજીવનમાં કષાયોની અલ્પતા લાવવા માટે સહેજે ઉદ્યમી બનશે, કર્મસાહિત્યની વિશદતા અને મહત્તાને એના હૃદયપટપર અંકિત કરવા સાથે જૈનેન્દ્ર શાસન પ્રત્યે આત્માને શ્રદ્ધા અને બહુમાનથી પરિપૂર્ણ બનાવશે, તેમજ તત્ત્વગવેષકોને ગ્રન્થના અભ્યાસ માટે અવશ્ય પ્રેરશે.

શુભસ્થળ–
ધરણેન્દ્ર વાડીલાલ શાહનો બંગલો
બં. નં. ૫, દીપકનગર
પાલડી
અ મ દા વા દ. ૭.

સિદ્ધાંતમહોદધિ આચાર્યદેવ શ્રીમદ્ વિજય
પ્રેમસૂરીશ્વરના અન્તેવાસી પંન્યાસવર શ્રી
ભાનુવિજય ગણિવર્યના શિષ્ય મુનિરાજશ્રી
ધર્માનંદવિજયજીનો શિષ્યાણુ
મુનિ જયશેખરવિજય

इस 'रसबन्ध' ग्रन्थरत्नके प्रकाशनमें उदार आर्थिक सहाय दाता



शाह चम्पकलाल नवलचंद दीपचंद, दमण (गुजरात)

इस 'रसबन्ध' ग्रन्थरत्नके प्रकाशनमें उदार आर्थिक सहाय दाता



शाह सोभागचन्द नवलचन्द दीपचन्द, दमण (गुजरात)

विषयानुक्रमः

(बन्धविधाने मूलप्रकृतिरसबन्धस्य)

❀ द्वितीयो भूयस्काराधिकारः ❀

(पृष्ठ ३९१ तः ४४२)

❀ तृतीयः पदनिक्षेपाधिकारः ❀

(पृष्ठ ४४३तः ४८६)

❁ चतुर्थो वृद्ध्याधिकारः ❁

(पृष्ठ ४८७तः ५०६)

❁ पञ्चमोऽध्यवसायसमुदाहारः ❁

(पृष्ठ५०७तः ५८४)

★ २. जीवसमुदाहारः ★

❁ टीकाकृत्प्रशस्तिः ❁

(५८५तः ५९४)

❁ परिशिष्टानि ❁

(५९५तः ६१५)



यन्त्राद्यनुक्रमः

[बन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धप्रेमप्रभाटीकान्तर्गतयन्त्रादीनामनुक्रमः]

मूलगाथागताऽशुद्धिसंमार्जनम्

पृष्ठम्	गाथाङ्कः	अशुद्धिः	शुद्धिः
२९	२६	॥२६॥	॥२६॥ (उपगीतिः)
३६	३७	यो	जो
४३	५१	यो	जो
४५	५३	उ	तु
५३	७०	यो	जो
६२	८१	उ	तु
६२	८२	॥८२॥	॥८२॥ (गीतिः)
६८	६४	यो	जो
७३	१०७	यो	जो
१६७	२१५	विब्भगे	विब्भंगे
१७२	२२४	घाइणोभाण	घाइगोआणं
१८२	२४४	दोण्ह ऊण गुरु-कायठिई	दोण्हं ऊणगुरु कायठिई
१८७	२५१	दुपंणिदिय	दुपंचिंदिय
१९३	२६७	भवठिइतिभागो	भवट्ठिइतिभागो
२१८	३०९	होई	होइ
२४२	३४२	घाईव्व	घाइव्व
२६१	३७४	॥३७४॥	॥३७४॥ (गीतिः)
२६७	३८५	॥३८५॥ [विपुला]	॥३८५॥ (गीतिः)
३०३	४२२	घाईणं साऽत्थि	घाईणंसाऽत्थि
३४०	४८३	दुपव्वकोडी	दुपुव्वकोडी
३४४	४९०	(गतिः)	(गीतिः)
३५२	५०६	गुणतीसाभ	पणतीसाभ
३६६	५२५/पू०	मगणासु	मग्गणासु
३७६	५३३	सप्पाऊगाण	सप्पाउग्गाण
३७८	५३८	तसेसुं	तसेसु
३८७	५५७	॥५५७॥	॥५५७॥ (गीति.)
३९९	५७२	॥५७२॥	॥५७२॥ (गीति;)
४४६	६५०	यो	जो
४४७	६५१	यो	जो
४४८	६५३	यो	जो
४४८	६५३	अकषायी	अकसायी
४४९	६५७	यो	जो
४६०	६७८	यो	जो
,,	६७९	यो	जो
४६१	६८१	यो	जो
४६२	६८४	यो	जो
४६३	६८६	यो	जो
४६३	६८९	यो	जो

ष्ठम्	गाथाङ्कः	अशुद्धिः	शुद्धिः
४६४	६९१	यो	जो
४७४	७१६	परस्पर	परप्पर
५०७	७४९	॥७४९॥	॥७४९॥ (गीतिः)
५३०	७६५	ए त्तो अंतर०	(ए त्तो) अंतर०

पृष्ठम्	गाथाङ्कः	अशुद्धिः	शुद्धिः
,,	७६८	तीयाणइक्कम्म	तीयाण इक्कस्स
५६६	७७१	दोण्हं वि	दोण्हं पि
५७७	७८०	जहण्णट्ठाणे	जहण्णठाणे
५३०	७६७	सखेज्जगुणोत्तारं	संखेज्जगुणोत्तारं

अशुद्धिसंमार्जनपत्रकम्

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धि	शुद्धिः
१२	५	द्विविधसंज्ञा	द्विविधा संज्ञा
१३	९	स्थूलश्छिद्र	स्थूलच्छिद्र
१५	७	मृत्कृष्ट	मुत्कृष्ट
१६	७	लक्षणश्चतु	लक्षणचतु
१६	२०	लक्षणस्त्रि	लक्षणत्रि
१७	२१	स्थानेकेषु	स्थानकेषु
१८	२४	लक्षणश्चतु-	लक्षणचतु-
१९	२६	विवाकिन्य	विपाकिन्य
१९	२६	विपाकादन्य	विपाकाद्यन्य
२०	१५	केवलाऽप्रशस्ता वा प्रकृतयः सन्ति	केवलाऽप्रशस्ता वा सन्ति
२०	१७	नोद्दीष्ट	नोद्दिष्टं
२२	२	तृतीयान्तेन	तृतीयान्तत्वेन
२२	१३	विवरिषु-	विविवरिषु
२७	१७	न केवलाऽपर्या०	यद्यपि केवला-ऽपर्या०
३३	११	मनुष्योनि	मनुष्ययोनि
३३	१४	भावनीयानिति	भावनीयानीति
३४	१६	शेषैकेन्द्रिय	शेषेन्द्रिय
३५	१९	मिथ्यादृष्टयापेक्षया	मिथ्यादृष्टय-पेक्षया
३८	१०	श्रेणिमारोहक	श्रेणेरारोहक
३८	१८	अन्तर्मुहूर्तातिक्रान्ते	अन्तर्मुहूर्तेऽति-क्रान्ते
३९	२३	देशविरत	देशविरत
५०	१४	आयुकर्मण	आयुःकर्मण
५३	२२	त्रिशुद्धयापक्षेया	विशुद्ध्यपक्षेया
५४	२९	वैक्रिययोग	वैक्रियमिश्रयोग

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धि.	शुद्धिः
५५	१०	इत्याह-	इत्युच्यते—
५६	१०	मुंहूतं	मुहूर्त
५६	१०	समयोनपञ्चदश	पञ्चदश
५८	८	अंतकरणं	अंतरकरण
५८	१७	भवति	भवन्ति
५८	२५	ऽन्तद्वारे	ऽन्तरद्वारे
५८	२७	जीवानां त्वेतात्र	जीवस्त्वेतात्र
५९	७	प्रतिप्रकृत्या	प्रतिपक्षप्रकृत्या
५९	११	तत्पतिप्रक्ष	तत्प्रतिपक्ष
५९	१५/१६	सम्यक्त्वा-मुख	सम्यक्त्वाभि-मुख
५९	२५	मागणासु	मार्गणासु
६०	२०	स च स्त्रीवेदेन नपुं-सक वेदेन वा	अपगतवेद मार्ग-णायां तु स्त्री-वेदेन नपुंसक वेदेन वा
६२	९	मध्यपरिणाम०	मध्यमपरिणाम०
६६	१६	बादराजीवाः	बादरा जीवाः
६६	२९	श्चक्षुदर्शन	श्चक्षुर्दर्शन
६९	७	मार्गणायोर०	मार्गणयोर०
७०	१२	माधिकाधिक०	मधिकाधिक०
७१		संक्लष्टितम	सक्लिष्टतम
७३	२६	०भिमुखातायां०	०भिमुखतायां०
७४	१२	परावर्तपरिणामेन	परावर्तमान-परिणामेन
८८	१५	सम्भ स्यते	सम्भन्त्स्यते
८८	१९	मध्यमरिणामो	मध्यमपरि-णामो

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
९२	७	द्वारणामेक०	द्वाराणामेक०
९८	७	पकरेणमाणा	पकरेमाणा
९८	१५	त्रिषटय०	त्रिषष्टय०
९९	२९	तादृग्विशुद्धया उत्कृष्टतः	तादृग्विशुद्धयाश्च उत्कृष्टतः
१०२	२०	०स्वष्ट्रिंशद्०	स्वष्टात्रिंशद्०
११०	२३	०संख्येयष्व०	संख्येयेष्व०
११०	२८	लभते	लभ्यते
१११	१०	०त्यपक्षेया	०त्यपेक्षया
१११	२४	स्यऽबन्ध०	स्याऽबन्ध०
१२४	२३	वेदनीयानाम०	वेदनीयनाम०
१२४	२५	समयादधिकाः	समयादधिका
१२५	१६	प्रतिनियतममय	प्रतिनियतसमय
१२६	१५	प्रकृतीनामजघन्या०	प्रकृतीनां जघन्या०
१३०	२५	अथ	तत्र
१३१	१३	भवति।	भवति,
१३१	१८	बन्धानन्तरं	बन्धानन्तरं
१३२	३	समयप्रमाणो तत्र	समयप्रमाणस्तत्र
१३२	८	बन्धकाल	बन्धकालं
१३४	२८	सूक्ष्मानां	सूक्ष्माणां
१३४	२९	सप्तप्रकृती०	सप्तप्रकृती०
१४३	११	०स्यानुभाग०	स्यानुत्कृष्टानुभाग०
१५०	२३	मार्गणायां घाति०	मार्गणायामघाति०
१५३	२८	काययोगमार्गणा०	कायमार्गणा०
१५४	१७	सप्तानामुत्कृष्टा०	सप्तानामनुत्कृष्टा०
१ ६	३१	मोहनीस्या०	मोहनीयस्या०
१६०	११	०मर्गणाः	०मार्गणाः
१६३	१६	०सामन्य०	०सामान्य०
१६९	११	सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये	बन्धविच्छेद-चरम समये
१७५	६	मध्यम परिणामेन........ अघन्यानु०	०मध्यमपरिणामेन तेजोवायुभेदद्वये गोत्रस्य विशुद्धया च जघन्यानु०
१७६	१७	परिभृश्यते	परिभ्रश्यते
१८०	२१	ऽघातिप्रकृतीनां	ऽघातिप्रकृत्योः
१८१	२२	था	तथा
१८२	६	परिणामत्वेन	परिणामित्वेन
१८४	११	दर्शितुकाम	दर्शयितुकाम
१८७	२८	मार्गणासूपश्रेणा०	मार्गणासूपशमश्रेणा०
१८९	१६	०र्द्धिसामायिक०	०र्द्धिसामयिक०
२०५	१८	नानाविचित्र०	नानाविधवि०
२०८	११	नानावैचित्र्य	नानाविधवैचित्र्य
२११	२२	०बन्ध कुर्वन्	०बन्धं कुर्वन्
२१६	२३	नानाविचित्र०	नानाविधविचित्र०
२२२	३१	दर्शपन्नाह	दर्शयन्नाह
२२३	२६	तथैहापि	तथेहापि
२२४	९	समाप्तमोघा०	समाप्त ओघा०
२२७	१३	भङ्गगणितस्य	भङ्गानां गणितस्य
२२८	५	रस्परेण	परस्परेण
२३१	२१	गृहीतुं	ग्रहीतुं
२३१	२३	गृहीतुं	ग्रहीतुं
२३१	२६	गृहीतुं	ग्रहीतुं
२३३	२७	बन्धकः स्यात्.... तदा षष्ठो	बन्धकः स्यात् शेषाः सर्वेऽबन्धकाः स्युः तदा षष्ठो
२३४	२७	संगृहीतुमाह	संग्रहीतुमाह
२३७	१४	संगृहीतु०	संग्रहीतु०
२४०	२२	रष्टावेव	रष्टावपि
२४२	२२	इति तृतीयः	इति चतुर्थः

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
२४६	१७	०श्रुता ना०	०श्रुताज्ञाना०
२५८	५	सम्यक्त्वर्माणा०	सम्यक्त्वमार्गणा
२६१	१९	छेदोपस्थानीय	छेदोपस्थापनीय
२६७	६	०मजघन्या-	मजघन्यानु-
२७२	१७	०कैकध्यवसाय०	कैकाध्यवसाय०
२७२	२२	कर्मप्रकृत्यादिग्रन्थे	कर्मप्रकृत्यादिग्रन्थेषु
२७८	१०	मष्टषु	मष्टसु
२७८	२१	उन	ऊन
२७९	७	पुनिरमा	पुनरिमाः
२७६	१७	त्रिष्टयधिक	त्रिषष्ट्यधिक
२८६	१५	एतन्माणाद्वये	एतन्मार्गणाद्वये
२८६	१९	प्रागवन्	प्राग्वत्
२९३	३०	मनुष्यत्वनैव	मनुष्यत्वेनैव
३०२	२७	वदेनीय	वेदनीय
३०३	२८	षण्णमार्गणा	षण्मार्गणा
३०५	१६	०देवाश्च	०देवा अपि
३०७	८	सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतया	सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तया
३०७	११	०रज्जुः .... स्पर्शनाविषयत्वेन	रज्जुः मरणाभावेन स्पर्शनाविषयत्वेन
३०९	१३	नाऽविवक्षित्वात्	नाऽविवक्षितत्वात्
३११	७	स्पष्टः	स्पृष्टः
३२	१९	मारणान्तिसमु०	मारणान्तिकसमु०
३२३	११	लोकास्यै०	लोकस्यै०
३२३	१७	समुत्पिसूनां	समुत्पित्सूनां
३२४	११	घनरज्जवादि०	घनरज्जु०
३३४	९	नातिव्याप्तीत्यर्थः	नातिव्याप्तिरित्यर्थः
३३९	२६	वक्ष्यतैव	वक्ष्यत एव
३४६	१०	ख्याता	संख्याता
३४६	१८	नानजीवाश्रितं	नानाजीवाश्रितं
३४८	२६	व्याख्यनतो	व्याख्यानतो
३५०	२५	...शेषमार्गणासु	औदारिकमिश्रवर्जशेषमार्गणासु

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
३६४	१८	सहस्रप्रक्त्वादयो	सहस्रपृथक्त्वादयो
३६८	५	मूलाष्टकृती०	मूलाष्टप्रकृति०
३८४	५	ज्ञ यः ।	ज्ञ यम् ।
३८५	३	उनामकर्मण.	नामकर्मणः
३९२	१२	प्रभूतरम	प्रभूतरसं
३९३	२	लक्षणांनरस०	लक्षणानां रस०
४०८	२७	ह	इह
४०८	२८	कृष्यान्तरं	प्रकृष्यान्तरं
४२१	६	मार्गणसु	मार्गणासु
४२५	१४	तावपरिमाणं	तावत्परिमाणं
४२६	२०	कामख्यात०	कासख्यात०
४३२	६	रेकेजीवाश्रित	रेकजीवाश्रित
४४०	२५	किञ्चर्दधिका	किञ्चिदधिका
४६९	९	माणापेक्षया,	माणपदापेक्षया
४९०	२८	पञ्च द्धि	पञ्चवृद्धि
५३४	८	त्रिसृपु	तिसृषु
५३४	३०	सख्येयगुणद्धाधान्यपि	संख्येयगुणवृद्धान्यपि
५३८	१४	वेदितव्यानि	वेदितव्यानि
५४०	१३	जीवनाश्रित्य	जीवानाश्रित्या
५४६	२३	प्रदर्श्यनै	प्रदर्श्यते
५५३	६	अयामो	आयामो
५५७	२२	तद्याथ	तद्यथा
५६०	३	मुपत्पद्यते	मुत्पद्यते
५६६	१२	वड्ढ	वड्ढी
५६७	३	वापक्षेया	वापेक्षया
५६८	५	समयप्रमाणं	समयप्रमाणः
५७१	१८	स्थनकस्य	स्थानकस्य
५७२	१७	टठाणाणि	छट्ठाणाणि
५७५	१२	(९)	—
५८३	२६	परिच्छिद्यत	परिच्छिद्यते
५८४	५	ऽनन्गुणः	ऽनन्तगुणः
५८४	१०	बबंधज्ञ०	बंधज्ञ०
५९२	२७	त्तराद्धिसहस्र०	त्तरर्द्धिसहस्र०

बंध विहाणे

मूलपयडि-

रस-बंधो

प्रेमप्रभाटीका-समलङ्कृतो मूलप्रकृति-रसबन्धः

[यन्त्र-चित्र-परिशिष्ट-गौर्जरविषयपरिचय-शोभितः]

॥ ॐ ह्रीँ अर्हं नमः ॥

॥ श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥

॥ सकलागमरहस्यवेदिपरमज्योतिर्विच्छ्रीमद्विजयदानसूरीश्वरसद्गुरुभ्यो नमः ॥



प्रवचनकौशल्याधार-सुविहिताग्रणी गच्छाधिपति-परमशासनप्रभावक-सिद्धान्तमहोदधि-
कर्मशास्त्रनिष्णाता ऽऽचार्यदेवश्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरपादानां पुण्यतमनिश्रायां
तदन्तेवासिवृन्दविनिर्मितं मुनिश्रीजयघोषविजय-धर्मानन्दविजय-
वीरशेखरविजयसंगृहीतपदार्थकं मुनिश्रीवीरशेखरविजय-
विरचितमूलगाथाकं प्रेमप्रभाटीकाविभूषितम्

बंधविहाणं

तत्र

मुनिश्री जयशेखरविजयविरचित-
प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृतः

(मूलपयडि-)

रसबंधो

(रसबन्धः)

卐

([1]प्रेमप्रभाटीका)—

स्वस्तीन्दिराप्रणयिनी नवमेघरम्य-
स्निग्धोल्लसन्नयननीलकटाक्षवर्षाम् ।
यस्याङ्के कुटिलकुन्तलकैतवेन
नित्यं तनोत्यवतु नाभिसुतो जगत् सः ॥१॥

---

[1]श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरगुरूणां कृपाप्रभया सम्पन्ना इति सान्वर्थनामा ।

स्वस्तीन्दिरावरसरोजसरोविलासी
देयात्सदा समसुवर्णसरोजयायी ।
प्रष्ठां विवेकविधिशक्तिमधीशशान्तिः
निष्यन्दिपद्ममधुपीत● मरालरम्यः ॥२॥

स्वस्तीन्दिराव्रततिसन्ततिवारिपायी
भव्याङ्गिचातककदम्बमनोविनोदी ।
आषाढमेघसदृशो भगवान् शिवाजः
श्यामच्छविर्भवतु वो भवदावशान्त्यै ॥३॥

स्वस्तीन्दिराविकचवन्यलतावितानैः
संवेष्टिताङ्ग इव नीलतमालकान्तिः ।
तापं विनाशयतु दूरत ईक्षितोऽपि
वामासुतोऽभिनवचन्दनवृक्षतुल्यः ॥४॥

स्वस्तीन्दिराकमलिनीकुलमोददायी
भव्याङ्गिलोकबहुकोकविलीनशोकः ।
नष्टाखिलान्धतमसो जगदेकचक्षु-
र्वीरो रविर्वितनुतां रसबन्धशोषम् ॥५॥

अर्हन्त इन्द्रमहिताः शिववासिसिद्धाः
सूरीश्वरा जिनपशासनवृद्धिबद्धाः ।
सिद्धान्तवान्ततमसो वरवाचकाश्चा-
ऽऽचारस्थिरा मुनिवरा वितरन्तु शं नः ॥६॥

श्रीवर्द्धमानजिनमूलकदिव्यधर्म-
साम्राज्यकल्पतरुपुष्पसमाय तस्मै ।
सूरीन्द्र**दानविजयाय** नमोऽस्तु शस्त-
श्रीमत्तपाग्रिमगणे गुरुगौरवाय ॥७॥

तत्पादपद्ममधुपो मधुगीर्निपीन-
सिद्धान्तवार्द्धिरवरुद्धरतीशरङ्गः ।
श्री**प्रेमसूरि**गुरुराडधुनाऽग्रगण्यः
सङ्घेऽनघे विजयतेऽतुलशीलशाली ॥८॥

● 'पीतः'=पीतवर्णः

तस्याङ्घ्रिनीरजरजोरसिको विनेयः
　　प्रज्ञांशभानुविजयो विजयाय भूयात् ।
सत्तर्ककर्कशकृतान्तकृतान्तिभार्का-
　　कृष्टिश्रमो विहतमोहतमोविहारः ॥९॥
सिद्धान्तकर्मसमये कुशलौ प्रशिष्य-
　　शिष्यौ हि तस्य जयघोषमुनिप्रभुश्च ।
संसारसोदरचरो गुरुवर्य-धर्मा—
　　नन्दो मुनिर्मम मतेर्जडतां घतां तौ ॥१०॥
कारुण्यपुण्यलहरीहृतजाड्यशादां
　　श्रीशारदां हृदि विधाय सहायकांश्च ।
साधून् प्रणम्य विवृणोमि रसादिबन्धं
　　पूज्यप्रसादबलतोऽज्ञधुरंधरोऽपि ॥११॥

इह बन्धविधानाऽऽख्ये ग्रन्थे प्रकृति-स्थिति-रस-प्रदेशभेदैश्चत्वारः खण्डग्रन्थाः सन्तीति **प्रकृतिबन्धविधानाख्ये** खण्डग्रन्थे "तत्थ चउविहो बंधो पयइठिइरसपएसभेअत्तो ।" इत्यनेन प्रतिज्ञातमासीत्, तत्र तावदाद्ये खण्डग्रन्थद्वये भिन्नभिन्नाधिकारे नानाविधैर्द्वारैः प्रकृतिबन्धं स्थितिबन्धं च विस्तरेण निरूप्य रसबन्धं प्रतिपादयितुमना ग्रन्थकार आदौ तावत् शिष्टसमाचारतया विघ्नोपशमकतया च मङ्गलं, प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यर्थमभिधेयं सामर्थ्यगम्यं प्रयोजनं सप्रसङ्गं सम्बन्धं चेत्यनुबन्धचतुष्टयं दर्शयन्नाह—

अह झाउं संखीसरतूहेसं सिवसुहस्स दायारं ।
सिरिपासं रसबन्धं साहिमु सुगुरूवएसेणं ॥१॥

(प्रे०) '**अह**' इत्यादि, 'अथ' इत्यस्याधिकारार्थत्वाद् रसबन्धाधिकारः सूचितः, आनन्तर्यार्थो वा अथशब्दः, तेन प्रकृतिबन्धस्थितिबन्धप्रतिपादनानन्तरं रसबन्धो मीमांस्यत इति सूचितम् ।'**झाउ**'' इति ध्यात्वा मनसा चिन्तयित्वेत्यर्थः, एतेन वाक्काययोर्नमस्कारोऽप्याक्षिप्तः, मानसनमस्कारस्यात्र प्राधान्यं, वाक्कायनमस्कारयोस्तु सहकारित्वेन गौणत्वमिति, एवं मुख्यगौणवृत्त्या कायवाङ्मनोलक्षणयोगत्रयेण नमस्कारः कृतः । कम् ? इत्याह–'**सिरिपासं**' श्रीपार्श्वं-स्पृशति ज्ञानेन सर्वभावानिति पार्श्वः, यद्वा गर्भस्थे जनन्या निशि शयनीयस्थयाऽन्धकारे सर्पो दृष्ट इति गर्भानुभावोऽयमिति मत्वा पश्यतीति निरुक्तात् पार्श्वः, अथवा यस्य वैयावृत्यकरो यक्षः पार्श्वाभिधस्तस्य नाथः

भीमो भीमसेन इति न्यायात् पार्श्वः । श्रिया केवलज्ञानलक्ष्म्या यद्वा अष्टमहाप्रातिहार्यशोभया नित्यं युक्त इति श्रीपार्श्वस्तम् , श्रीशब्दस्य केवलज्ञानलक्ष्मीरिति व्याख्यानेन ज्ञानातिशयः सूचितः केवलज्ञानस्य च रागादिजयाऽविनाभावित्वादपायापगमातिशयोऽप्यनेनैव बोधितः । तथा श्रीशब्दस्याऽष्टमहाप्रतिहार्यशोभेति विवेचनेन लोकालोकप्रकाशककेवलज्ञानयुक्तस्यापगतघातिकर्मणः पूजातिशयो ज्ञापितः, वचनातिशयस्त्वग्रे दर्शयिष्यते । किं विशिष्टं ? '**संखोसरतूहेसं**' तीर्यते अनेन संसारसमुद्र इति तीर्थम् , शङ्खेश्वरं च तत्तीर्थं चेति शङ्खेश्वरतीर्थम् , तद् इष्टे शास्ति इति शङ्खेश्वरतीर्थेशस्तम् । तत्परिचायकपूर्वाचार्यप्रणीतस्तोत्रं त्विदम्–

"अपूपुजस्त्वां विनमिर्नमिश्च वैताढ्यशैले वृषभेशकाले । सौधर्मकल्पे सुरनायकेन त्वं पूजितो भूरितरं च कालम् ॥१॥
आराधितस्तत्रं समयं कियन्तं चान्द्रे विमाने किल मानवेऽपि । पद्मावतीदेवतया च नागाधिपेन देवावसरेऽर्चितस्त्वम्॥२॥
यदा जरासंधप्रयुक्तविद्याबलेन जातं स्वबलं जरार्तम् । तदा मुदा नेमिगिरा मुरारिः पातालतस्त्वां तपसा निनाय ॥३॥
तव प्रभोः स्नात्रजलेन सिक्तं रोगैर्विमुक्तं कटकं बभूव । संस्थापित तीर्थमिदं तदानीं शङ्खेश्वराख्यं यदुपुङ्गवेन ॥४॥
तथा कथञ्चित्तव चैत्यमत्र श्रीकृष्णराजो रचयाञ्चकार । स द्वारकास्थोऽपि यथा भवन्तं ननाम नित्यं किल सप्रभावम् ॥५॥
श्रीविक्रमान्मन्मथबाणमेरुमहेशतुल्ये समये व्यतीते । त्वं श्रेष्ठिना सज्जननामकेन निवेशितः सर्वसमृद्धिदोऽभूः ॥६॥
अंशू पुरे सूर्यपुरोऽनवाप्तं त्वत्तोऽधिगम्याङ्गमनङ्गरूपम् । अचीकरद् दुर्जनशल्यभूपो विमानतुल्यं तव देव चैत्यम् ॥७॥"
इति ।

किं विशिष्टम् ? इत्याह–'**सिवसुहस्स दायारं**' इति शिवसुखस्य-मोक्षसुखस्य आत्यन्तिकैकान्तिकानतिशयाऽनाबाधकेवलनिराबाधस्वाधीनानन्दविशेषस्य दातारं-वितारिणम् , इह सुखस्य प्रतिपाताभावादात्यन्तिकत्वं पदार्थान्तरानपेक्षत्वादेकान्तिकत्वम् , प्रकृष्टकाष्ठाप्राप्तत्वादनतिशयत्वम् , प्राण्युपघातजसुखवैपरित्यादनाबाधत्वम् , दुःखलेशाऽकलङ्कितत्वात् केवलत्वम् , निष्प्रतिद्वन्द्वत्वाद् निराबाधत्वम् , आत्मैककारणाविर्भावात् स्वाधीनत्वम् । एतेन वचनातिशयः सूचितः । तथाहि–प्रतिपादितस्वरूपसुखं सकलसत्त्वहितकरपञ्चत्रिंशद्गुणसमन्वितयैककालानेकजन्तुजातसंदेहसंदोहापनयनकारिण्या विश्वसत्त्वस्वस्वभाषापरिणामिन्या वाण्या–ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणोपायोपदेशेन ददाति श्रीमज्जिनेश्वरः । इत्थं '**सिवसुहस्स दायारं**' इत्यनेन वचनातिशयः सूचितः । ततः '**साहिमु**' इति, कथयामीति क्रिया, प्ररूपयामीत्यर्थः, कम् ? '**रसबंधं**' रसबन्धम् । ननु रसबन्धः स्वमनीषिकया प्रतिपाद्यते तदा प्रेक्षावतां कथमादेयः स्यात् , छद्मस्थत्वे सति स्वतन्त्रतयाभिधीयमानत्वात् , तथाविधरथ्यापुरुषोपदेशवत् ? इति चेद् , आह–'**सुगुरूवएसेणं**' इति सुगुरूपदेशेन तत्र गृणन्ति तत्त्वमिति गुरवः-तीर्थकरगणधरादिक्रमेणास्मद्गुर्वादयः, ते एव लोके प्रशस्याः, नान्ये, यथावत्तत्त्वस्यानभिधानात् , इत्यतः प्रशस्या गुरवः सुगुरवः, तेषामुपदेशेन-कर्तव्याकर्तव्ययोः प्रतिपादनपरः शब्दविस्तर उपदेशस्तेन, एवं सद्गुरूपदेशानुसारेणाऽहं रसबन्धं वक्ष्यामि, न

तु स्वमनीषिकया, इत्यतः स्यादेव प्रेक्षावतामादेयः । एतेन गुरुपर्वक्रमलक्षणः सम्बन्धोऽभिहितः, स च श्रद्धानुसारिणं प्रति बोद्धव्यः । तर्कानुसारिणं प्रति वाच्यवाचकभावलक्षणोऽर्थादभिहितः । प्रयोजनं त्वाक्षेपलभ्यम्, तद्विना प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यभावात् । प्रत्यपादि च—

"प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते । एवमेव प्रवृत्तिश्चेच्चैतन्येनास्य किं भवेत् ॥१॥" इति ।

तच्च प्रयोजनं शास्त्रकृत्श्रोत्रोरनन्तरपरम्परभेदाच्चिन्त्यम् । तत्र शास्त्रकर्तुरनन्तरं प्रयोजनं सत्त्वानुग्रहः, बहुविस्तरशास्त्रपठनाद्यसमर्थानां संक्षिप्तरुचिजन्तूनां संक्षिप्तशास्त्रे प्रवृत्तेः । यदुक्तम्—
"सुयसायरो अपारो आउं थोवं जिआ य दुम्मेहा । तं किं पि सिक्खियव्वं जं कज्जकरं च थोवं च ॥१॥" इति ।

कर्मनिर्जरा वा ग्रन्थग्रथनलक्षणस्वाध्यायादभ्यन्तरतपसो बहुतरनिर्जरासंभवात् । स्वदृढस्मृतिर्वा, ग्रन्थविरचनादिना हि तत्कर्तुः स्मृतिर्दृढा दृढतरा दृढतमा च जायते ।

परम्परप्रयोजनं त्वपवर्गावाप्तिः, धर्मोपदेशदानस्य हि मोक्षफलत्वात् । तथा च कथितम्—
"सर्वज्ञोक्तोपदेशेन, यः सत्त्वानामनुग्रहम् । करोति दुःखतप्तानां स प्राप्नोत्यचिराच्छिवम् ॥१॥" इति ।

श्रोतुरनन्तरं प्रयोजनं तु रसबन्धविषयकं ज्ञानम् परम्परं तु निर्वाणावाप्तिः । तथाहि—विज्ञातकर्मबन्धविपाकाः प्राणिनः प्रकृत्यसारात् संसाराद् विरज्यन्ते । ततः कर्मक्षयाय प्रयत्नं समाचरन्ति, क्षीणे च कर्मणि निःश्रेयसमासादयन्ति । यदुक्तं—
सम्यक्शास्त्रपरिज्ञानाद् विरक्ता भवतो जनाः । क्रियासक्ता ह्यविघ्नेन गच्छन्ति परमां गतिम् ॥१॥" इति ।

मङ्गलादिप्ररूपणायां बहुवक्तव्यमस्ति, तत्त्वन्यत्र सुप्रपञ्चितत्वान्नेह वितन्यते ।

अथ रसबन्ध इति कः पदार्थः ? इति चेत्, उच्यते—तत्रादौ रसशब्दस्य कतिपये पर्यायाः प्रदर्श्यन्ते—रसः, अनुभागः, अनुभावः, विपाकः, फलदानशक्तिश्चेति । ततः रसबन्धविधानशास्त्रमनुभागबन्धविधानादिशब्देनापि कथ्यते, अर्थाऽभेदात् । इदानीं तावद्रसबन्धस्वरूपमुच्यते-रस्यते-अनुभूयते तीव्रमन्दमध्यमादिभावेनासौ रसः, बन्धनं-बन्धः रसस्य बन्धः रसबन्धः, अनुभागबन्ध इति यावत् ।

तदाहुः रसबन्धव्याख्याप्रसङ्गे **तत्त्वार्थटीकायां श्रीमद्हरिभद्रसूरयः**,-"कालान्तरावस्थाने सति विपाकचिन्ताऽनुभागबन्धः, समासादितपरिपाकावस्थस्य बदरादेरिवोपभोग्यत्वात् सर्वदेशघात्येकद्वित्रिचतुःस्थानशुभाशुभतीव्रमन्दादिभेदेन वक्ष्यमाणः, यथाऽऽह "तासामेव विपाकनिर्बंधो यो नाम निर्वचनभिन्नः । स रसोऽनुभावस्तीव्रो मन्दोऽथ मध्यो वा" इति ।

अत्रैव विषये **कर्मप्रकृतिचूर्णिकार**भगवद्भिरप्येवमभिहितम्—"अनुभागो जो तस्सेव कटुककसायादिरसविसेसो तिव्वमदमज्झिमएगट्ठाणदुट्ठाणतिट्ठाणचउट्ठाणदेसघातिसव्वघातिभेदेन भिण्णो जहा मोदके बुद्धिपसायकोवुस्सइदित्तजडुपाडवातिगुणा तहा इहं पि ।" इति ।

श्रीमद्गर्गमहर्षिविरचितप्राचीनप्रथमकर्मग्रन्थस्य पूर्वाचार्यप्रणीतव्याख्यायामेवं कथितम्—"अनुरूपो भागः अनुभागः कर्मणामेव विभागेनानुभवनम् ।" विभागेन नाम तीव्रमन्दादिभेदेन इति संवादकोऽयं ग्रन्थः ।

अन्ये पुना रसबन्धस्य स्वरूपं प्रतिपादयन्त एवमाहुः—"प्रकृतिः स्वभावः, निम्बस्य का प्रकृतिः ? तिक्तता, गुडस्य का प्रकृतिः ? मधुरता । तथा ज्ञानावरणस्यार्थानवगमः प्रकृतिः, तत्स्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः । तद्रसविशेषोऽनुभवः । यथा अजागोमहिष्यादिक्षीराणां तीव्रमन्दादिभावेन रसविशेषस्तथा कर्मपुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेषोऽनुभवः ।" इति ।

स च मोदकदृष्टान्तेन प्रकृतिबन्धविधानवृत्तौ प्रपञ्चेन भावितस्तथैवात्राऽपि भावनीयः ।

इहानुभागबन्धस्य कारणं काषायिका अध्यवसायाः "ठिइअणुभागं कसायओ कुणइ" इति वचनात्, ते च शुभा अशुभा वा काषायिकाध्यवसायाः, प्रत्येकमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः सन्ति, केवलं शुभा विशेषाधिका द्रष्टव्याः, ते चाध्यवसायस्थानप्ररूपणावसरे विस्तरेणाभिधास्यमानत्वादिह नोच्यन्ते । तत्र गम्भीरभवाम्भोधिपरिवर्त्तिरागादिसचिवो जन्तुः सिद्धानामनन्तभागवर्तिभिरभव्येभ्योऽनन्तगुणैः परमाणुभिर्निष्पन्नानां पुद्गलस्कन्धानामादानसमय एव शुभेनाशुभेन वा एकेन केनचिदध्यवसायेन प्रतिपरमाणु रसस्य वक्ष्यमाणनिर्विभागान् सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणानुत्पादयति । ननु यदि कषायविशेषैः सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणो रस उत्पाद्यते इत्युक्तं तर्हि ? ग्रहणपूर्वकाले कार्मणवर्गणारूपापन्नास्ते परमाणवः किं सरसा नीरसा वा ? इति चेत्, उच्यते—कार्मणवर्गणान्तर्वर्तिनः परमाणवो न तथाविधरसोपेताः, किन्तु प्रायो नीरसा एकस्वरूपाश्च । तथा चोक्तं कर्मप्रकृतिवृत्तौ श्रीमन्मलयगिरिपूज्यपादैः—

"इह कर्मप्रायोग्यवर्गणान्तःपातिनः सन्तः कर्मपरमाणवो न तथाविधरसोपेता आसीरन् किन्तु प्रायो नीरसा एकस्वरूपाश्च । यदा तु जीवेन गृह्यन्ते, तदानीं ग्रहणसमये एव तेषां काषायिकेणाध्यवसायेन सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणा रसाविभागा आपद्यन्ते, ज्ञानावारकत्वादिविचित्रस्वभावता च, अचिन्त्यत्वात् जीवानां पुद्गलानां च शक्तेः । न चैतदनुपपन्नम् तथादर्शनात् । तथाहि–शुष्कतृणादिपरमाणवोऽत्यन्तनीरसा अपि गवादिभिर्गृहीत्वा विशिष्टक्षीरादिरसरूपतया च परिणम्यन्ते ।" इति ॥१॥

साम्प्रतं 'रसबन्धं कथयामि' इति यदुक्तं तत्सफलीकुर्वन्नादौ मूलप्रकृतिरसबन्धाऽधिकारगोचरां विषयसूचिं दर्शयन्नाह—

मूलपयडिरसबन्धे अहिगारा पंच [1]पढम [2]भूगारा ।
[3]पयणिक्खेवो [4]वड्ढी [5]अज्झवसाणसमुदाहारो ॥२॥
तेसु पढमाईसु अहिगारेसु हवन्ति दाराणि ।
अट्ठार तेर तिण्णि य तेरस दोण्णि य जहाकमसो ॥३॥

(प्रे०) 'मूलपयडिरसबन्धे' इत्यादि, मौलानां ज्ञानावरणादीनामष्टप्रकृतीनां रसबन्धे वक्तुमारब्धे रसबन्धग्रन्थे 'अहिगारा' अधिकाराः-तत्तद्रसबन्धस्थानाद्यधिकृतविशेषविषयप्रतिपादनपरा इत्यर्थः । न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदार्थमाह–'पंच' इति पञ्च सन्तीति शेषः । तानेव नामत

आह–१. 'पढम' इत्यादि, प्रथमः द्वितीयाद्यधिकारेष्ववक्ष्यमाणैः संज्ञा-प्रत्यय-विपाकादिविविध-द्वारैः रसबन्धशास्त्रस्य प्रतिपादनपरोऽधिकार इह प्रथमाधिकारतया बोद्धव्यः ।

२.'भूगारा' इति भूयस्कारः–"पुव्वसमयाउ समये अणंतरे बंधए पुहुत्तयरं । बंधो स भूय-गारोऽप्पयरं बन्धइ स अप्पयरो॥" इत्यादिना वक्ष्यमाणरसबन्धविशेषप्रतिपादनपरो द्वितीयोऽधिकारो भवति, अत्र ह्यधिकारेऽल्पतरादयो रसबन्धविशेषा अपि प्ररूपणीयास्तथाप्यधिकारनामप्रस्तावे लाघवार्थं भूयस्कारस्यैव ग्रहणं कृतम् , ते च उपलक्षणाद् बोद्धव्या इति ।

३. 'पयणिक्खेवो' इति "अट्ठण्हं अत्थि दुहा वड्ढी हाणी तहा अवट्ठाणं ।" इत्यादिना वक्ष्यमाणः पदनिक्षेपा-ऽऽख्यस्तृतीयाऽधिकारो भवति, तत्र पदनिक्षेपो भूयस्कारादिविशेषरूप एव, भूयस्कारादीनां रसबन्धविशेषाणां जघन्योत्कृष्टपदद्वये निक्षेपणात् जघन्योत्कृष्टवृद्धयादिरूपेण चिन्तनादिति भावः ।

४, 'वड्ढी' इति "अट्ठण्ह अत्थि संखमसंखमणंतगुणभागभेएहिं । वड्ढीउ छ हाणीउ छ अव-ट्ठिओ तह अवत्तव्वो ॥" इत्यादिना वक्ष्यमाणो वृद्धयधिकारश्चतुर्थोऽधिकारतया वेदितव्यो भवति । अयमपि भूयस्कारादिविशेषरूप एव, केवलं पदनिक्षेपाऽधिकारे भूयस्कारादितया जायमानरस-बन्धवृद्धयादयो जघन्योत्कृष्टपदद्वयगता एव चिन्तयिष्यन्ते, अत्र तु ता अनन्तभागा-ऽसंख्येयभाग-संख्येयभागप्रभृतिवृद्धयादिरूपेण निगदिष्यन्ते ।

५. अज्झवसाण समुदाहारो' इति समुदाहरणं समुदाहारः प्ररूपणेत्यर्थः । रसबन्ध-हेतुभूतान् कषायोदयसहचरितान् जीवपरिणामविशेषानधिकृत्य यत्र प्ररूपणा क्रियतेऽसावध्यवसान-समुदाहारः । अत्र कर्मप्रकृतिगाथा आश्रित्य मतान्तरपूर्वकं विस्तरतो जीवस्य काषायिकाऽध्यवसायेन जायमानानि रसबन्धस्थानानि प्ररूपयिष्यन्त इति ।

प्रत्येकमधिकारास्तु नानाऽनुयोगद्वारनिष्पन्नाः । तद्यथा–प्रथमाऽधिकारे 'अट्ठार' अष्टादशा-ऽनुयोगद्वाराणि । तत्र प्रथमं-(१) संज्ञाद्वारम् (२) प्रत्ययद्वारम् (३) विपाकद्वारम् (४) शुभाशुभद्वारं-प्रशस्ता-ऽप्रशस्तद्वारम् (५) स्वामित्वद्वारम् (६) साद्यादिद्वारम् (७) कालद्वारम् (८) अन्तरद्वारम् (९) संनिकर्षद्वारम् , एतानि द्वाराण्येकजीवमाश्रित्याऽभिधास्यन्ते । ततः परं भङ्गविचयादीन्यल्प-बहुत्वान्तानि नवद्वाराणि नानाजीवान् प्रतीत्य वक्ष्यन्ते, भङ्गविचयादीनि पुनरिमानि–(१०) भङ्गविचयद्वारम् (११) भागद्वारम् (१२) परिमाणद्वारम् (१३) क्षेत्रद्वारम् (१४) स्पर्शनाद्वारम् (१५) कालद्वारम् (१६) अन्तरद्वारम् (१७) भावद्वारम् (१८) अल्पबहुत्वद्वारं चेति । एतेषु प्रत्येकमोघतो रसबन्धनिर्वर्तकसमस्तजीवराशिमपेक्ष्य तथा-ऽऽदेशतो गत्यादिभेदप्रभेदनिष्पन्न-

सप्तत्युत्तरशतमार्गणागतजीवराशिमधिकृत्य जघन्योत्कृष्टरसबन्धसंज्ञादि तत्स्वामि-जघन्योत्कृष्टत-दितररसबन्धकालादयश्च चिन्तयिष्यन्ते ।

भूयस्काराख्यद्वितीया-ऽधिकारे तु 'तेर' त्रयोदश द्वाराणि । तत्राद्यं–(१) सत्पदद्वारम् (२) स्वामित्वद्वारम् (३) कालद्वारम् (४) अन्तरद्वारम् तदनन्तरं पूर्वोक्तक्रमेण नानाजीवानधि-कृत्य भङ्गविचयादीन्यल्पबहुत्वान्तानि नवानुयोगद्वाराणि सन्ति । एतेष्वपि प्रत्येकं भूयस्कारादि-चतुर्विधरसबन्धमधिकृत्य सत्पदादीनि चिन्तयिष्यन्ते ।

तृतीये पदनिक्षेपाधिकारे तु 'तिण्णि' इति सत्पद-स्वामित्वा-ऽल्पबहुत्वलक्षणानि त्रीण्य-नुयोगद्वाराणि सन्ति । अत्रापि जघन्योत्कृष्टपदद्वयगतानां भूयस्कारादिविशेषाणां सत्पदादीनि निरूपयिष्यन्ते ।

चतुर्थे वृद्धयादिबन्धाधिकारेऽप्युक्तस्वरूपा भूयस्कारादिविशेषरूपा अनन्तभागप्रभृतिवृद्ध्या-दयः 'तेरस' सत्पदाद्यल्पबहुत्वान्तत्रयोदशद्वारेषु भूयस्कारादिवदेव भणिष्यन्ते ।

चरमेऽध्यवसायसमुदाहाराधिकारे 'दोण्णि' इति द्वे "भेआओ ठाणजीवाणं" इति वक्ष्यमाण-वचनात् (१) अध्यवसायस्थानसमुदाहारः (२) जीवसमुदाहारश्चेति द्वे अनुयोगद्वारे, प्रत्येकमनुयोग-द्वारमपि क्रमशः चतुर्दशभिरष्टभिर्द्वारैर्निरूपयिष्यते ।

अध्यवसायस्थानसमुदाहारस्य द्वारनामानि त्वेवम्–(१) अविभागप्ररूपणा (२) वर्गणाप्ररूपणा (३) स्पर्धकप्ररूपणा (४) अन्तरप्ररूपणा (५) स्थानप्ररूपणा (६) कण्डकप्ररूपणा (७) षट्स्थानप्ररूपणा (८) अधस्तनस्थानप्ररूपणा (९) वृद्धिप्ररूपणा (१०) समयप्ररूपणा (११) यवमध्यप्ररूपणा (१२) ओजोयुग्मप्ररूपणा (१३) पर्यवसानप्ररूपणा (१४) अल्पबहुत्वप्ररूपणा चेति ।

जीवसमुदाहारस्य द्वारनामानि त्वित्थम्–(१) एकस्थानप्रमाणानुगमः (२) सान्तरस्थान-प्रमाणानुगमः (३) निरन्तरस्थानप्रमाणानुगमः (४) नानाजीवकालप्रमाणानुगमः (५) वृद्धिप्ररूपणा (६) यवमध्यप्ररूपणा (७) स्पर्शनाप्ररूपणा (८) अल्पबहुत्वप्ररूपणा चेति ।

एतान्येव पञ्चाधिकारसत्कानुयोगद्वाराणि संख्यामात्रेण निर्दिशन्नाह–'तेसु" इत्यादि, गतार्थम् । नामपूर्वकं विशेषव्याख्यानं तु प्रत्यधिकारप्रारम्भे दर्शयिष्याम इति ॥२॥३॥



॥ ॐ ह्रीँ अर्हं नमः ॥

प्रथमाधिकारः

साम्प्रतं "यथोद्देशं निर्देशः" इति न्यायेन प्रथमाधिकारं विभणिषुरादौ तावत् प्रथमाधिकारद्वाराणि नामग्राहमाह—

तत्थ पढमाहिगारे [१]सण्णा- [२]पच्चय- [३]विवाग- [४]सुहअसुहा।
[५]सामित्त- [६]साइआई [७]कालं- [८]तर- [९]सण्णियासा य ॥ ४ ॥
[१०]भंगविचयो उ [११]भागो [१२]परिमाणं [१३]खेत्त- [१४]फोसणा [१५]कालो।
[१६]अंतर- [१७]भाव-ऽ[१८]प्पबहू हुन्ति कमाऽट्ठार दाराणि ॥ ५ ॥

(प्रे०) **'तत्थ पढमाहिगारे'** इत्यादि, तत्र-अनन्तरोक्तपञ्चा-ऽधिकारेषु प्रथमेऽधिकारेऽष्टादश द्वाराणि क्रमाद् भवन्तीति सम्बन्धः। तान्येव नामतो दर्शयति। (१) **'सण्णा'** इत्यादि, तत्र 'सण्णा' इति– 'तहि घाइठाणभेआ दुविहा सण्णा हवेज्ज घाईओ। आवरणमोहविग्घा सेसा चउरो अघाईओ ॥' इत्यादिना घातिस्थानसंज्ञाद्वयेन रसस्य यत्र निरूपणं क्रियते, तत्संज्ञाद्वारम्।

(२) **'पच्चय'** इति प्रत्ययो-बन्धहेतुः कारणमित्यनर्थान्तरम्।

"अट्ठण्ह पच्चया खलु मिच्छा-संयम कसाय-जोगाऽत्थि। अहवा तिबंधहेऊ मिच्छाई तइअवज्जाणं ॥"

इत्यादिना यत्र चिन्तयिष्यते, तत्प्रत्ययद्वारम्।

(३) **'विवाग'** इति विपाको नाम फलदानाभिमुख्यम्, स च—

"आऊ य भवविवागी णामं जिअ-खेत्त-पोग्गलविवागी। सेसा जीवविवागी णेया एमेव सव्वासुं ॥"

इत्यनया गाथया निर्दिश्यते यत्र तद् विपाकद्वारम्।

(४) **'सुहअसुहा'** इति 'शुभाशुभे'-प्रशस्ताऽप्रशस्ते इत्यर्थः। प्रशस्तो रसः शुभो भण्यते जीवप्रमोदनिबन्धनत्वात्, तद्विपरीतोऽप्रशस्तः, अशुभ इत्यर्थः, एतद्रसद्वयम्—

"अपसत्था चत्तारो पयडी घाई पसत्थअपसत्था। चउरो अघाइपयडी हवन्ति एमेव सव्वासुं ॥"

इत्यनेन चिन्त्यते यत्र तत् प्रशस्ता-ऽप्रशस्तद्वारम्।

(५) **'सामित्त'** इति स्वामित्वम्-बन्धकत्वेनाधिपत्यम्। जघन्योत्कृष्टरसबन्धयोः स्वामिनां स्वरूपं "पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहिं" इत्यादिना यत्र प्रदर्श्यते तत्स्वामित्वद्वारम्।

(६) **'साइआई'** इति साद्यादि, जघन्योत्कृष्टतत्प्रतिपक्षरसबन्धानाम्–

"घाईणं अजहण्णोऽणुक्कोसो वेअणीयणामाणं। गोअस्स दुहावि रसो साइ-अणाइ-धुव-अधुवोऽत्थि ॥"

इत्यादिना तदीयैकैकस्वाम्यपेक्षया साद्यादिभावस्य यत्र चिन्तनं करिष्यते तत्साद्यादिद्वारम् । अत्रादिपदादनादि-ध्रुवा-ऽध्रुवभावानां परिग्रहो बोद्धव्यः ।

(७) **'कालं-(८) तर-(९) सण्णियासा' इति कालद्वारम्, अन्तरद्वारम्, संनिकर्षद्वारमित्यर्थः** । तत्र कालद्वारे–

"सत्तण्ह लहू समयो तिव्वऽणुभागस्स होइ उक्कोसो । घाईण दुवे समया णेयो समयो अघाईणं ॥"

इत्यादिना उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्याऽजघन्यरूपचतुर्विकल्पानां रसबन्धानामेकजीवाश्रयो निरन्तरप्रवृत्त्यवधिकः कालो जघन्योत्कृष्टभेदतश्चिन्तयिष्यते ।

अन्तरद्वारे तु–

"गुरु अणुभागस्स भवे ण अंतरं वेअणामगोआणं । सेसाणं पंचण्हं जहण्णग होअए समयो ॥"

इत्यादिना तेषामेवैकजीवाश्रयोत्कृष्टादिरसबन्धानां स्वनिमित्तापगमेन विरतानां भाविनि नियमेन प्रवर्तनशीलानां यो विरहकाल उत्कृष्टादिसदृशरसबन्धद्वयान्तराललक्षणः स एवान्तरम्, तज्जघन्योत्कृष्टभेदतो दर्शयिष्यते ।

संनिकर्षद्वारे पुनः–

"बंधंतो घाईए अण्णयराअ अणुभागमुक्कोसं । सेसतिघाईण रसं बंधइ जेट्ठं अजेट्ठं वा ॥"

इत्यादिगाथाकदम्बकेन समकालप्रवर्तनेन संनिकृष्टानां-परस्परं सम्बन्धमुपगतानां ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकृतिसत्कैकजीवाश्रयरसबन्धानामुत्कृष्टादिस्वरूपं प्रतिपादनीयं भवति । **इदमुक्तं भवति**–कस्यचिदेकजीवस्य ज्ञानावरणकर्मण उत्कृष्टरसबन्धे प्रवर्तमाने तदन्येषां कर्मणां रसबन्धः प्रवर्तते न वा ? प्रवर्तते चेद्, उत्कृष्टः प्रवर्तते, अनुत्कृष्टो वा ? अनुत्कृष्टः प्रवर्तते चेत्, अनन्तभागेन हीनः प्रवर्तते असंख्येयभागेन हीनो वा प्रवर्तते ? इत्यादि, इत्थमेव दर्शनावरणादिप्रकृतीरधिकृत्य जघन्यरसबन्धमधिकृत्य चाऽप्रश्नपूर्वकमेव प्रदर्शयिष्यते ।

'भंगविचयो' इत्यादिगाथा। तत्र तुकारः प्राक्तनविवक्षापेक्षया वक्ष्यमाणविवक्षाया विशेषद्योतकः, तेन चानन्तराभिहितसंनिकर्षद्वारपर्यन्तानि द्वाराण्येकजीवमाश्रित्याभिधास्यन्ते, भङ्गविचयादीनि पुनर्नानाजीवानाश्रित्येत्यर्थः । (१०) **'भंगविचयो'** इति भंगविचयद्वारम् । भङ्गाः–विकल्पाः, ते च मूलप्रकृतिसत्कोत्कृष्टादिरसस्यैकाऽनेकबन्धका-ऽबन्धकनिष्पन्नाः, कालभेदतो नानारूपेण सम्पद्यमाना ज्ञेयाः, तेषां भङ्गानां विचयः-समूहश्चिन्तनं वा भङ्गविचयः । स एव यत्र चिन्तयिष्यते तद्भङ्गविचयद्वारम् ।

(११) **'भागो'** इति भागद्वारम् । यत्र ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टादिरसबन्धकाः शेषबन्धकानां कतिथे भागे वर्तन्ते ? अनन्तभागेऽसंख्येयभागे संख्येयभागे संख्येयतमादिबहुभागेषु वा वर्तन्ते, इत्यादि प्रदर्शनीयं भवति ।

(१२)'**परिमाणं**' इति परिमाणद्वारम् । यत्र ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टादिरसबन्धकानां संख्येया-ऽसंख्येयादिरूपेण परिमाणं-संख्यामानं निरूपयिष्यते ।

(१३) '**खेत्त**' इति क्षेत्रद्वारम् । यत्र ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टादितत्तद्रसबन्धकानां नानाजीवाश्रयं क्षेत्रम्-कस्मिन्नप्येकसमये वर्तमानानामुत्कृष्टपरिमाणवतामाधारभूतं यल्लोकसंख्येया-ऽसंख्येयभागादि-रूपं तत्प्रतिपादयिष्यते ।

(१४) '**फोसणा**' इति स्पर्शनाद्वारम् । यत्र प्रत्येकं मूलप्रकृतेरुत्कृष्टादितत्तद्रसबन्धकैरन-न्तेऽतीतकाले स्वस्थानमारणसमुद्घातादितः कियती रज्जुः स्पृष्टा ? एक-द्वि-त्रिरज्ज्वादिप्रमाणेन कियत्प्रमाणं क्षेत्रं स्पृष्टमित्येतत्प्रकटयिष्यते ।

(१५) '**कालो**' इति कालद्वारम् । यत्र पूर्ववत् सर्वासां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टादितत्त-द्रसबन्धमधिकृत्य जघन्येतरभेदेन कालः प्ररूपयिष्यते । केवलं पूर्वोक्तकालद्वारे एकजीवाश्रयो-ऽसा-वभिधास्यते, अत्र तु नानाजीवाश्रय इति विशेषः ।

(१६) '**अंतर**' इति अन्तरद्वारम् । यत्र ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टादिचतुर्विकल्पानामपि रसबन्धानां प्रत्येकं नानाजीवाश्रयं रसबन्धद्वयान्तराललक्षणं तद्बन्धकविरहकालप्रमाणमन्तरं जघन्येतरभेदतः कथयिष्यते ।

(१७) '**भाव**' इति भावद्वारम् । यत्रा-ऽधिकृतोत्कृष्ट-जघन्यादिरसबन्ध औपशमिकादि-भावानां मध्ये केन भावेन निर्वर्त्यत इत्येतत्प्ररूपयिष्यते ।

(१८) '**प्पबहू**' इति पूर्वमकारस्य दर्शनात् निर्देशस्य भावप्रधानत्वाच्चा-ऽल्पबहुत्व-द्वारम् । अत्र रसबन्धप्रमाणस्या-ऽल्पबहुत्वं प्रतिपादयिष्यते ।

अत्रेदमवगन्तव्यम्—प्रत्येकं द्वारे ओघत आदेशतश्च द्विधा प्ररूपणं करिष्यते,तत्रापि स्वा-मित्वादिकतिपयद्वारेषूत्कृष्ट-जघन्यरसबन्धरूपपदद्वयमपेक्ष्य, साद्यादि-कालाऽन्तरप्रभृतिकतिपयद्वारेषु तूत्कृष्ट-जघन्य-तदितररसबन्धात्मकपदचतुष्टयमधिकृत्येति ॥४।५॥



॥ प्रथमं संज्ञाद्वारम् ॥

तदेवमुद्दिष्टानि प्रथमाधिकारगतद्वाराणि । साम्प्रतं "यथोद्देशं निर्देशः" इति न्यायेन प्रथमं संज्ञाद्वारमभिधित्सुराह—

तहि घाइठाणभेआ दुविहा सण्णा हवेज्ज घाईओ ।
आवरणमोहविग्घा सेसा चउरो अघाईओ ॥६॥

(प्रे०) '**तहि**' इत्यादि, 'तहि'तत्र-रसबन्धमूलप्रकृतीनां संज्ञादिद्वारनिरूपणप्रस्तावे आद्ये संज्ञाद्वारे '**सण्णा**'संज्ञा-संज्ञायते रसोऽनेनेति,सा संज्ञा द्विविधा-द्विप्रकारा भवेत्,कुतः? इत्याह-'**घाइठाणभेआ**' **घातिस्थानभेदात्** , घातिस्थानसंज्ञे वक्ष्यमाणलक्षणे, तयोर्भेदात् ,तस्याः संज्ञाया द्वैविध्यमित्यर्थः । तत्रादौ घात्यघातिभेदभिन्ना द्विविधसंज्ञा प्ररूप्यते–'**घाईओ**' इत्यादि,घातिन्यः प्रकृतयः-ज्ञानदर्शनादिगुणान् घ्नन्तीत्येवंशीला इति कृत्वा ।

ननु रससंज्ञायाः प्रस्तावे घातिप्रकृतीनां निरूपणं किमर्थम् ? इति चेत् , उच्यते–रसरसवत्योरभेदविवक्षया घातिरसोपेताः प्रकृतयोऽपि घातिन्योऽभिधीयन्ते । ता एव नामत आह– '**आवरणमोहविग्घा**' इति, अत्राऽऽवरणशब्देन ज्ञानावरणदर्शनावरणप्रकृतिद्वयं गृह्यते, मोहशब्देन मोहनीयम्,विघ्नशब्देनान्तराय इत्येवं ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीया-ऽन्तरायाश्चतस्रो घातिप्रकृतयः । घातिरसप्रतिपक्षभूता-ऽघातिरसयुक्तत्वादन्यास्त्वघातिन्य इत्यर्थगम्यमपि स्फुटयन्नाह– '**सेसा**' इत्यादि, शेषाः प्रागुक्ताभ्योऽवशिष्टा वेदनीया ऽऽयु-र्नाम-गोत्रलक्षणाश्चतस्रोऽघातिन्यः प्रकृतय इत्यर्थः । कुतोऽघातिन्यः ? उच्यते–ज्ञानदर्शनादिगुणमध्ये कमपि गुणं न घातयन्तीत्येवंशीला इति कृत्वा ॥६॥

अथ घातिप्रकृतीनां रसस्य स्वरूपमाह—

घाईण रसो दुविहो भेआओ सव्वदेसघाईणं ।
जेट्ठो उ सव्वघाई जहण्णगो देसघाई उ ॥७॥

(प्रे०) '**घाईण**' इत्यादि, घातिप्रकृतीनां रसो द्विविधो भवतीति शेषः । तत्र घातिशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् सर्वघातिरसः देशघातिरसश्च तयोर्भेदादित्यर्थः । तत्र सर्वमपि स्वावार्यं गुणं घातयतीत्येवंशीलः सर्वघातिरसः, तथा स्वावार्यं ज्ञानादिगुणं देशतो हन्तीति देशघातिरसः ।

तथाहि––केवलज्ञानावरणस्य केवलज्ञानलक्षणो गुण आवार्यस्तं च सर्वमेव न तदावृणोति, किन्त्वेकोऽनन्तभागः केवलज्ञानस्य सर्वजीवानामनावृत एवास्ते, तदावरणे अस्य सामर्थ्याभावात् । तथा च **नन्दीसूत्रे देवर्द्धिवाचकप्रवराः**–"सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ चिट्ठइ" इति । तर्हि कथं सर्वघातित्वं तस्य ? इति चेत् , उच्यते–यथा बहलमेघपटलेन सूर्याचन्द्रमसोः प्रभाया बह्वावृतत्वेन यथाऽद्यापि काचित्तत्प्रभा प्रसरतीति वचः प्रवर्तते, तथा सूर्याचन्द्रमसोः सर्वाऽपि प्रभाऽनेनावृतेत्यपि वचः प्रवर्तत एव, यद्वा कस्यचिज्जनस्य गृहधनादिके किञ्चिदुद्धरितेऽपि राज्ञाऽस्य सर्वापहारः कृत इति भण्यते, एवं केवलज्ञानावरणेन तथास्वाभाव्यात् केवलज्ञानैकदेशेऽनावृतेऽपि केवलज्ञानावरणस्य स्वावार्यगुणसर्वावारकत्वलक्षणं सर्वघातित्वमव्याहतमेव । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् । ननु केवलज्ञानस्य शेषैकदेशोऽपि कथं नाव्रियते,

तदावरणे वा को दोषः ? इति चेद् , उच्यते—यथा महीयसाऽपि घनपटलेन रविचन्द्रकिरणावरण-प्रवृत्तेनापि तत्प्रभा प्रसरति, अन्यथा दिनरजनीविभागानुभवानुपपत्तेः; **नन्दीसूत्रे**–"सुट्ठु वि मेहसमुदए होइ पहा चंदसूराणं" इति वचनादनुभवसिद्धत्वाच्च,तथाऽत्रापि प्रबलकेवलज्ञानावरणावृतस्यापि केवलज्ञानस्यानन्ततमभागोऽनावृत एवास्ते। यदि पुनस्तमप्यावृणुयात् तदा जीवोऽजीवत्वमेव प्राप्नुयात्। यदुक्तं **नन्द्यध्ययने**–"जइ पुण सो वि आवरिज्जा ता ण जीवो अजीवत्तणं पाविज्जा।" एवं घातिप्रकृतीनां सर्वघातिरसे मेघादिदृष्टान्तेन भावना कार्या। सर्वघातिरसस्ताम्रभाजनवन्निश्छिद्रो घृतवदतिस्निग्धो द्राक्षावत्तनुप्रदेशोपचितः स्फटिकाभ्रवच्चातीवनिर्मलः सकलस्वविषयघातित्वेन सर्वघाती भवति। देशघातिनीनां प्रकृतीनां तु रसः कश्चिद्वंशदलनिर्मापितकटवदतिस्थूलच्छिद्रशतसंकुलः, कश्चित्कम्बलवन्मध्यविवरशतसंकुलः, कश्चिद् मसृणवासोवदतिसूक्ष्मविवरसंवृतोऽल्पस्नेहोऽविमलश्च स्वविषयैकदेशघातित्वाद्देशघाती भवति। तथाचोक्तं **पञ्चसंग्रहे**–

"जो घाएइ सविसयं सयलं सो होइ सव्वघाइरसो। सो निच्छिद्दो, निद्धो तणुओ फलिहब्भहरविमलो॥"
"देसविघाइत्तणओ इयरो कडकंबल सुमंकासो। विविहबहुछिद्दभरिओ अप्पसिणेहो अविमलो य॥" इति।

रसबन्धस्तारतम्यापेक्षया चतुर्विधः। तथाहि—उत्कृष्टरसो जघन्यरसोऽनुत्कृष्टरसोऽजघन्यरसश्च, यस्मादन्योऽधिको न बध्यते स उत्कृष्टः, तत एकरसांशहानिमादौ कृत्वा यावत्सर्वजघन्यस्तावत् सर्वोऽप्यनुत्कृष्ट इति अनेन प्रकारद्वयेन अनन्ता अपि रसविशेषाः सङ्गृहीताः। तथा कर्मणां यो हि रसो, यस्मादन्यो हीनो मन्दानुभावो रसो नास्ति स जघन्यः, तत ऊर्ध्वमेकं रसांशमादौ कृत्वा यावत् सर्वोत्कृष्टं तावत् सर्वोऽप्यजघन्य इति। अनेन जघन्याजघन्यप्रकारद्वयेन अनन्तभेदभिन्नोऽप्ययमं क्रोडीकृतः।

तत्र जघन्योत्कृष्टप्रकारद्वयं सर्वघातिदेशघातिद्वारेणाह–**'जेट्ठो'** इत्यादि, ज्येष्ठः-उत्कृष्टरसबन्धः कीदृशः ? इत्याह–सर्वघाती, 'तुः' अवधारणे, स च भिन्नक्रमः सर्वघातिपदानन्तरं योज्यः,ततश्चायमर्थः-सर्वोत्कृष्टरसः सर्वघात्येव भवति, नान्य इति। तत्प्रतिपक्षभूतः कीदृशः ? इत्याह–'जघन्यकः' स्वार्थे कप्रत्ययः,स च 'देशघाती तु' इति,तुकारः एवकारार्थः,ततो जघन्यरसो देशघात्येव भवतीत्यर्थः॥७॥

घातिप्रकृतीनां जघन्योत्कृष्टरसौ भणित्वाऽवशिष्टं प्रतिपादयितुकाम आह—

अजहण्णोऽणुक्कोसो य सव्वघाई व देसघाई वा।
घाईहिं पलिभागो चउहावि रसो अघाईणं॥८॥

(प्रे०) **'अजहण्णो'** इत्यादि, अजघन्योऽनुत्कृष्टश्चोक्तलक्षणो द्विविधोऽपि रसः सर्वघाती देशघाती च भवति, न त्वजघन्यः सर्वघाती अनुत्कृष्टस्तु देशघाती, कुतो गम्यते ? इति चेत् , उच्यते–वाकारद्वयस्य चकारार्थे विवक्षितत्वात् , चकारस्तु समुच्चयार्थ इति गाथापूर्वार्धः।

उत्तरार्द्धो व्याख्यायते–**'घाईहिं पलिभागो'** इति घातिभिः सदृश इत्यर्थः, चतसृणामघातिप्रकृतीनां वेदनीयायुर्नामगोत्रलक्षणानां चतुर्धाऽपि रसो घातिप्रकृतिभिः सदृशो भवति,

अयमर्थः–स्वयमघातिन्योऽप्येता घातिप्रकृतिभिः सह वेद्यमानास्तत्तुल्या दृश्यन्ते । यथा स्वयमतस्करस्वभावोऽपि तस्करैः सह वर्तमानस्तस्कर इव दृश्यते । एवमेता अपि ताभिः सह वेद्यमानास्तद्दोषा इव भवन्तीति भावः । तथा चोक्तं **सूरिपुरन्दरश्रीमच्चन्द्रमहत्तरपूज्यपादैः पञ्चसंग्रहे**–

"जाण न विसओ घाइत्तणंमि ताणंपि सव्वघाइरसो । जायइ घाइसगासेण चोरया वेहऽचोराणं॥"

तट्टीका लेशः–"यथा यासां न विषयो घातित्वे तासामपि सर्वघातिरसो जायते घातिसकाशेन, चौरता (इ)वेहाचौराणामिति" ॥८॥

संज्ञाद्वारान्तर्गतं घातिद्वारं प्रतिपाद्य स्थानद्वारमभिधित्सुरिदमाह—

उक्कोसो अणुभागो णेयो चउठाणिओ उ घाईणं ।
इगठाणिओ जहण्णो इगदुतिचउठाणिआ सेसा ॥९॥

(प्रे०) **'उक्कोसो'** इत्यादि, उत्कृष्टोऽनुभागश्चतुःस्थानिको ज्ञेयो घातिप्रकृतीनाम् , सर्वं वाक्यं सावधारणं भवतीति न्यायादत्रावधारणम् ,चतुःस्थानिक एव भवतीत्यवसेयम् । अयं भावः– घातिनामुत्कृष्टरसश्चतुःस्थानिक एव भवति, न तु त्र्यादिस्थानिकः, एवमुत्तरत्रापि यथायोगमवधारणमवसेयम् ,जघन्यरस एकस्थानिक एव भवति, **'सेसा'** इति अवशिष्टौ अजघन्यानुत्कृष्टौ च तौ एकद्वित्रिचतुःस्थानिकभेदभिन्नौ वा भवतः,**तथाहि**–जघन्यरसं मुक्त्वा शेषाणामजघन्यो रस एकस्थानिको वा द्विस्थानिको वा त्रिस्थानिको वा चतुःस्थानिको वा भवति । एवमुत्कृष्टरसं मुक्त्वा शेषाणामनुत्कृष्टरसोऽपि एकस्थानिको वा द्विस्थानिको वा त्रिस्थानिको वा चतुःस्थानिको वा ज्ञेयः । एकस्थानिकादिरसः क्षीरनीम्बादिदृष्टान्तेन विभाव्यते, **तद्यथा**–वक्ष्यमाणप्रशस्तप्रकृतीनां सम्बन्धी शुभोऽप्रशस्तप्रकृतीनां सम्बन्धी त्वशुभः । तत्र शुभप्रकृतीनां रसः क्षीरखण्डादिरसोपमोऽशुभप्रकृतीनां तु निम्बघोषातकयादिरसोपमः स्वाभाविक एकस्थानक उच्यते । द्वयोः कर्षयोरावर्तितयोर्य एकः कर्षोऽवशिष्यते तदुपमो द्विस्थानकः । त्रयाणां कर्षाणामावर्तितानां य एकः कर्षोऽवशिष्यते तदुपमस्त्रिस्थानकः । चतुर्णां कर्षाणामावर्तने कृते सत्युद्वरितैककर्षोपमश्चतुःस्थानकः । अत्र चैकस्थानिकः सहजरसो जललवबिन्दुचुलुकार्द्धचुलुकप्रसृत्यञ्जलिकरककुम्भद्रोणादिसम्बन्धान्मन्दमन्दतरादिबहुभेदत्वं प्रपद्यते । एवं द्विस्थानिकादिकेष्वपि बहुभेदत्वं भावनीयम् । एकस्थानकादिरसा यथोत्तरमनन्तगुणास्तीव्रा द्रष्टव्याः ॥९॥

घातिनां जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टरसानामेकद्वित्रिचतुःस्थानप्ररूपणां कृत्वा तेनैव प्रकारेणाघातिनामप्याह—

उक्कोसो अणुभागो णेयो चउठाणियो अघाईणं ।
दुगठाणियो जहण्णो दुगतिगचउठाणिया सेसा ॥१०॥

(प्रे०) **'उक्कोसो'** इत्यादि, अघातिप्रकृतीनां वेदनीयायुर्नामगोत्रलक्षणानामुत्कृष्टरसश्चतुःस्थानिको ज्ञातव्यः । जघन्यरसश्च द्विस्थानक एव, **'सेसा'** त्ति शेषौ-अजघन्यानुत्कृष्टौ तौ

द्विस्थानकौ वा त्रिस्थानकौ वा चतुःस्थानकौ वा भवतः । एकस्थानिकरसस्त्वासां न सम्भवत्येव, कुतः ? इति चेत् , उच्यते-सर्वघातिभिन्नाऽशुभप्रकृतीनां तावदेकस्थानिकरसो यदि लभ्यते तदाऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकस्य संख्येयबहुभागेभ्यः परत एव, तत्र चाऽशुभाऽघातिप्रकृतयो नैव बध्यन्ते इति । शुभाघातिप्रकृतीनां तर्ह्येकस्थानिकरसः कस्मान्न लभ्यते ? इति चेत् , उच्यते—श्रेणिभिन्नावस्थायां कासाञ्चिदपि प्रकृतीनामेकस्थानकरसो न बध्यते तथास्वाभाव्यात् । किञ्च यत्र घातिप्रकृतीनामोघोत्कृष्टरसो बध्यते तादृगभव्यमार्गणायामप्यघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसाद् घातिप्रकृतिसत्कोत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनो वर्तते । एवं घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धावसरे शुभाघातिप्रकृतीनां यो जघन्यो रसो बध्यते तदपेक्षया शुभाघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धावसरे घातिप्रकृतिसत्कजघन्यरसोऽनन्तगुणहीनो बध्यते स चानन्तगुणहीनोऽपि घातिप्रकृतिजघन्यरसो द्विस्थानिक एव,एवं च स्थिते शुभाघातिप्रकृतीनां जघन्यरसोऽपि द्विस्थानिक एव । प्रतिषिद्धश्च **शतकचूर्णावपि**, तथा च तदक्षराणि—

"एगट्ठाणिओ ण संभवति, कहं ? भन्नइ-अणियट्टिपभितीसु सेसाण असुभपगतीणं बंधो णत्थि त्ति, तेण सेस असुभाणं एगठाणिओ रसो नत्थि । सुभपगतीणं कह ? भन्नइ--जाणि चेव संकिलेसट्ठाणाणि ताणि चेव विसोहिठाणाणि पच्चयानि चडणोत्तरणाद्धन्, संकिलेसठाणेहिंतो विसोहिठाणाणि विसेसाहियाणि । कहं ? भन्नइ–जो खवगसेढिं पडिवज्जति सो ण णियट्टति तेहिं विसोहिठाणेहिं,विसोहिठाणाणि अधिकाणीति । खवगसेढिवज्जेसु जाणि विसोहिसंकिलेसठाणाणि तेसु एगठाणियरसभावो णत्थि । जो असुभपगतीण चउट्ठाणबंधको सो सुभपगतीणं दुठाणियं रसं बंधति । जो सुभपगतीणं चउट्ठाणं बधको सो असुभपगतीणं दुठाणबंधको, खवगसेढिं पडुच्च एगठाणबंधको वा, तेण सुभपगतीणं एगठाणिओ रसो ण संभवति" इति ।

तेन प्रकृते किमायातम् ? इति चेत् , वेदनीयादिमूलप्रकृतीनामप्येकस्थानिकरसो न लभ्यते, तस्य स्वोत्तरप्रकृत्येकस्थानरसबन्धाधीनत्वात् , तदुत्तरप्रकृतिषु तूक्तनीत्यैकस्थानिकरसबन्धस्यैवाऽलाभादिति ॥१०॥

तदेवं भाविता स्थानप्ररूपणा, तद्भावने च समाप्तिमगात् 'सण्णा' इत्यनेनोद्दिष्टं प्रथमं संज्ञाद्वारम् ।

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधान-
मूलप्रकृतिरसबन्धे प्रथमाधिकारे
प्रथमं संज्ञाद्वारं समाप्तम् ॥



॥ अथ द्वितीयं प्रत्ययद्वारम् ॥

संप्रति द्वितीयं प्रत्ययद्वारं प्रतिपादयितुकाम आह—

अट्ठण्ह पच्चया खलु, मिच्छासंयमकसायजोगाऽत्थि ।
अहवा तिबंधहेऊ मिच्छाई तइअवज्जाणं ॥११॥

(प्रे०)'**अट्ठण्ह**' इत्यादि, अष्टानां प्रकृतीनामिति शेषः, बन्धस्य प्रकृतत्वात् तत्प्रत्ययाः खलु,प्रत्ययो हेतुः कारणमित्यनर्थान्तरम्,तदुक्तं **शतकभाष्ये**– "अह हेऊकारणनाम लक्खिया पच्चयपरूवणया ।" '**खलु**' वाक्यालङ्कारे, मिथ्यात्वासंयमकषाययोगलक्षणश्चतुष्प्रत्ययो बन्धो भवति, **अयम्भावः**-मिथ्यात्वादिभिः चतुर्भिः प्रत्ययैरष्टविधं कर्म बध्यते। तत्र मिथ्यात्वं तत्त्वार्थाऽश्रद्धानरूपं पञ्चधा भवति, तद्यथा-आभिग्रहिकमनाभिग्रहिकमाभिनिवेशिकं सांशयिकमनाभोगिकमिति । असंयमोऽविरतिलक्षणो द्वादशप्रकारो भवति, तद्यथा- षण्णां कायानां वधो हिंसा, तथा मनसः पञ्चानामिन्द्रियाणां च स्वविषये गच्छतामनियन्त्रणमिति । कषायाः पञ्चविंशतिभेदाः, योगास्तु पञ्चदशभेदभिन्नः, कषाययोगाः सुज्ञाता एव, ततो मूलहेतूनामुत्तरभेदसंख्या सर्वमीलने सप्तपञ्चाशत् संजाता, बहुषु ग्रन्थेषु बन्धहेतूनां गुणस्थानकादिद्वारेषु तत्र तत्र प्रपञ्चेनोक्तत्वात् नेह वितन्यते। प्रधानगौणभावतः प्रत्ययान् व्यनक्ति-'**अहवा**' इत्यादि, 'अथवा' इति विवक्षान्तरे, पूर्वोक्तैका विवक्षा, उत्तरार्धेन तु सापरा विज्ञेया इत्यर्थः । मिथ्यात्वादित्रिकबन्धहेतुः, मिथ्यात्वाविरतिकषायत्रितयप्रत्ययो बन्धः, किं सर्वासां प्रकृतीनां त्रितयप्रत्ययो बन्धः ? इति चेत् , न, '**तइअवज्जाणं**' तृतीयं वेदनीयकर्म वर्जयित्वा,वेदनीयवर्जशेषसप्तप्रकृतीनामित्यर्थः । **भावना त्वियम्**-मिथ्यात्वगुणस्थानके यद्यपि चतुर्भिः प्रत्ययैः जीवः कर्म बध्नाति तथापि मिथ्यात्वस्य प्रधानतया विवक्षणात् मिथ्यात्वप्रत्यय एव बन्धः इति कथञ्चिदवधार्यते। तथा चतुर्षु गुणस्थानकेषु सास्वादन-मिश्रा-ऽविरत-देशविरतलक्षणेषु मिथ्यात्ववर्जाविरतिकषाययोगलक्षणस्त्रिप्रत्ययो बन्धो भवति, तथाप्यत्राविरतिप्रत्ययो बन्धः प्राधान्येन विवक्ष्यते । तथा पञ्चसु गुणस्थानकेषु प्रमत्ताऽप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायलक्षणेषु यद्यपि कषाययोगलक्षणद्विप्रत्ययो बन्धो भवति, तथाप्यत्र कषायस्य प्राधान्यम् , इत्थं सप्तप्रकृतीनां बन्धो गुणस्थानकापेक्षया प्रधानभावेन मिथ्यात्वमविरतिः कषायश्चेति त्रिप्रत्ययो भवति न तु योगप्रत्ययप्रधानोऽपि, केवलयोगसत्त्वे तासां बन्धाभावात् ।

इदमेव प्रत्ययाभिधानमायुःकर्मदृष्टान्तेन विभाव्यते, तथाहि-मिथ्यात्वगुणस्थानके यदाऽऽयुःकर्मणो बन्धो भवति तदा स बन्धः प्रधानतया मिथ्यात्वप्रत्ययोऽवगन्तव्यः । अग्रेषु यथासंभवं देशविरतिपर्यन्तेषु तद्बन्धो भवति तदा सोऽविरतिप्रत्ययः,ततः पुनः षष्ठगुणस्थानके यदा तद्बन्धो भवति तदा सः कषायप्रत्ययो ज्ञातव्यः । एवं मिथ्यात्वमविरतिः कषाया आयुर्बन्धप्रत्यया यथा भवन्ति तथा स्पष्टीकृतम् , एवमेव शेषेषु षट्सु कर्मस्वपि स्वबुद्धयाऽभ्यूह्यम् ।

वेदनीयकर्मणो बन्धप्रत्ययो विवक्षान्तरेण ग्रन्थे नोक्तः, तेन तद्बन्धस्य चतुष्प्रत्ययता पूर्वदर्शितविवक्षावशादवगम्यते, तथाहि-तस्य त्रिप्रत्ययता पूर्ववद् विभावनीया, अवशिष्टस्य घटना त्वेवम् -उपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलिलक्षणेषु त्रिषु गुणस्थानकेषु मिथ्यात्वाऽविरतिकषायाणामभावेन तत्र तस्य योगप्रत्ययो बन्धः । इत्यतो वेदनीयकर्मबन्धश्चतुष्प्रत्ययोऽवगन्तव्यः ।

ननु अनुभागबन्धे प्रस्तुते प्रकृतीनां प्रत्ययनिरूपणमसाम्प्रतमिति चेत् ? सत्यम् , किन्तु येन प्रत्ययेन यत्प्रकृतिबन्धः , तेन प्रत्ययेनैव तत्प्रकृत्यनुभागबन्धोऽपि । ननु "जोगा पयडिपएसं" इत्यादिवचनविरोध इति चेत् ? न, प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशानां कथञ्चिद् भिन्नाभिन्नविवक्षयाऽनेकान्ताश्रयणाद् न विरोधः । तथा चोक्तं **शतकभाष्ये—**

"पयडी आमज्ज इमे विचिंतियातो न त्थ पुणरुत्तं । विन्नेयं तह पयडी पच्चयकहणेण तासिं पि ॥
जे अणुभागो तेसिं पि पच्चया ने वि चेव दट्ठव्वा । पयडीणणुभागाणं एगत्ताओ इमं नेयं ॥"इति ॥११॥

तदेवं भाविता मिथ्यात्वादिप्रत्ययाः प्रकृतिषु,साम्प्रतं तानेव गुणस्थानकेषु निदर्शयितुकाम आह—

तह एगचउपणतिगुणठाणेसु बंधहेअवो कमसो ।
मिच्छाई एगेगो उअ चउरो तिण्णि दो एगो ॥१२॥

(प्रे०)'**तह**' इत्यादि, तथा उपन्यासे, प्रकृतिषु प्रत्ययप्ररूपणां कृत्वा गुणस्थानकेषु प्रत्ययप्ररूपणामुपन्यस्यतीत्यर्थः । गुणस्थानकोपन्यासस्त्वेवम्–'**एगचउपणतिगुणठाणेसु**' इत्यादि, एकेति–मिथ्यात्वगुणस्थानकम् , चतुरिति–सास्वादनमिश्राविरतिदेशविरतिलक्षणानि चत्वारि गुणस्थानानि,पञ्चन्निति–प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायलक्षणानि पञ्चगुणस्थानानि, त्रीनि–उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिलक्षणानि त्रीणि गुणस्थानानि,एक,चतुर् ,पञ्चन् ,त्रि इत्येतेषां द्वन्द्वः, ततः गुणस्थानकपदं "द्वन्द्वान्ते श्रूयमाण"मिति न्यायात् प्रत्येकमभिसम्बध्यते, तेषु गुणस्थानेकेषु बन्धहेतवः-मिथ्यात्वादिलक्षणबन्धप्रत्यया इत्यर्थः. क्रमशः-क्रमेण मिथ्यात्वादिरेकैकः प्रत्ययो यथासम्भवमनुसन्धातव्यः । '**उअ**' उत-आरोम्यित् एक-चतुः-पञ्च-त्रिगुणस्थानकेषु 'यथासंख्यं चतुस्त्रिद्व्येके प्रत्यया अवगन्तव्या इत्यर्थः ।

अयम्भावः–मिथ्यात्वगुणस्थानके प्रधानभावेन मिथ्यात्वमेक एव प्रत्ययः । सास्वादनमिश्राविरतिदेशविरतिलक्षणेषु च चतुर्षु गुणस्थानकेष्वसंयम एव प्रत्ययः । प्रमत्ताऽप्रमत्ताऽपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायलक्षणेषु पञ्चगुणस्थानेषु कषाय एव प्रत्ययः । उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिरूपेषु त्रिषु गुणस्थानकेषु योग एव प्रत्ययः । अत्र विषये प्रधानगौणभावविवक्षा यथा भवति तथा पूर्वमेव भावितमिति नेह वितन्यते । विकल्पान्तरे–मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणचतुर्हेतुको बन्धः । सास्वादनमिश्राविरतदेशविरतलक्षणेषु चतुर्षु गुणस्थानकेषु मिथ्यात्वाभावादविरतिकषाययोगलक्षणत्रिप्रत्ययकः । देशविरतिगुणस्थानके यद्यपि देशतः स्थूलप्राणातिपातविषया विरतिरस्ति, तथापि स्वल्पत्वान्नेह विव-

क्षिता, विरतिशब्देनेह सर्वविरतेरेव विवक्षितत्वादिति । प्रमत्तगुणस्थानकादारभ्य यावत्सूक्ष्मसंपराय-गुणस्थानकं तावद् द्विप्रत्ययकः, कषाययोगहेतुक इत्यर्थः, प्रमत्तादीनां मिथ्यात्वाविरत्यभावात् । तथा उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिलक्षणेषु त्रिषु गुणस्थानकेषु केवलयोगहेतुकः, उपशान्तमोहादिषु कषायाणामप्यसंभवात् । अयोगिकेवली भगवान् सर्वथाप्यबन्धको बन्धहेत्वभावादिति ॥१२॥

इदमेव गुणस्थानकोक्तं बन्धप्रत्ययाभिधानं गत्यादिमार्गणास्वतिदेष्टुकाम आह—

बीअपयेणेएणं सयं जहासंभवं मुणयव्वं ।
सव्वासु मग्गणासुं मिच्छाई बंधहेऊ उ ॥१३॥

(प्रे०) '**बीअपयेणे०**' इत्यादि, बीजमिव बीजम् अङ्कुरस्कन्धपत्रपुष्पफलनिबन्धनत्वात्, तस्य पदं बीजसूचकं पदमित्यर्थः । विविधभावार्थाधिगमरूपमूलकारणाभिधायकशब्दसंहतीति भावः । अत्रापि गुणस्थानकगतप्रत्ययाभिधानं बीजं गत्यादिमार्गणाज्ञानरूपाङ्कुरादिफलनिबन्धनम्, मार्गणागतगुणस्थानकनिर्णयेनैव तत्तद्मार्गणागतप्रत्ययज्ञानं भवतीत्यतः इदं बीजमिव बीजमित्युक्तम् । अथवा बीजं कारणं यथैकेनैव करणज्ञानेन सकलमपि तत्करणानुगतं ज्ञातं भवति, एवमिहापि गुणस्थानकगतप्रत्ययप्ररूपणालक्षणेन करणेन तदनुगतं सर्वमपि मार्गणागतं सुज्ञातं भवति इत्यतः करणतयाऽभिहितम्, इदमर्थपदशब्देनाप्युच्यते । एतेन गुणस्थानकगतप्रत्ययप्ररूपणालक्षणेन मिथ्यात्वादयो बन्धहेतवः स्वयं यथासंभवं ज्ञातव्याः, कुत्र ? सर्वासु मार्गणासु गत्यादिलक्षणासु, 'उ' पादपूरणे, गुणस्थानगतप्रत्ययप्ररूपणालक्षणेन बीजपदेन सर्वासु गत्यादिमार्गणासु मिथ्यात्वादयो बन्धहेतवः स्वयं यथासंभवं वेदितव्या इति गाथार्थः ।

इदमेव गतिमार्गणायां शिष्यसंदेहविनोदार्थं किञ्चित् प्रदर्श्यते । तद्यथा- मार्गणासु गुणस्थानकज्ञानमन्तरेण बन्धप्रत्ययप्ररूपणाया अर्थावगमो न भवति इत्यत आदौ प्रत्येकं मार्गणासु कति गुणस्थानकानीत्यवसेयम्, नरकगत्यां मिथ्यात्वादीनि चत्वारि गुणस्थानकानि, तत्र प्रथमविवक्षया द्वौ प्रत्ययौ भवतः । तथाहि-प्रथमगुणस्थानके मुख्यतया केवलमिथ्यात्वप्रत्ययो बन्धः, द्वितीयगुणस्थानकादारभ्य चतुर्थगुणस्थानकं यावत् केवलाविरतिप्रत्ययो बन्धः, अतः द्वौ प्रत्ययाविति, द्वितीयविवक्षायां तु चतुष्प्रत्ययस्त्रिप्रत्ययश्च बन्धः, तद्यथा-प्रथमगुणस्थानके मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणश्चतुष्प्रत्ययो बन्धः, द्वितीयादिगुणस्थानके त्रिप्रत्ययो बन्धः इत्यतश्चतुष्प्रत्ययस्त्रिप्रत्ययश्च बन्धः कथितः, एवं देवगत्यामपि भावनीयं गुणस्थानकतौल्येन देवनारकयोरविशेषात्, तिर्यग्गतावप्येवम्, नवरमत्र देशविरतिगुणस्थानकमतिरिच्यते, मनुष्यगतौ तु चतुर्दशगुणस्थानकानि प्राप्यन्ते इत्यतोऽविशेषेण यथा गुणस्थानके प्रत्यया अभिहितास्तथैवेहापि भावनीयाः । एवमनयैव दिशा इन्द्रियादिमार्गणासु यथायोगं विभावनीयम् ॥१३॥

तदेवं समाप्तं प्रत्ययनिरूपणम्, तत्समाप्तौ च गतं "पच्चय" इत्यनेनोद्दिष्टं द्वितीयं द्वारम् ।

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधान-मूलप्रकृतिरसबन्धे प्रथमाधिकारे द्वितीयं प्रत्ययद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ तृतीयं विपाकद्वारम् ॥

निरूपितं प्रत्ययद्वारम्;सम्प्रति विपाकद्वारस्यावसरः;तत्र विपाको नाम फलदानाभिमुख्यम्, स चोपाधिभेदाच्चतुर्धा, पुद्गलभवक्षेत्रजीवभेदात् । तत्र पुद्गलविषये विपाकः स पुद्गलविपाकः, स विद्यते यासां ताः पुद्गलविपाकिन्यः प्रकृतयः, शरीरपुद्गलेष्वेवात्मीयां शक्तिं दर्शयन्तीत्यर्थः । भवे-नारकादिपर्यायलक्षणे विपाकः भवविपाकः, स विद्यते यासां ता भवविपाकिन्यः । क्षेत्रे गत्यन्तर-सङ्क्रमणहेतुनभःपथे विपाकः यासां ताः क्षेत्रविपाकिन्यः । जीवे स्वभावाभिन्ने ज्ञानादिलक्षणे स्व-रूपे विपाकस्तदुपघातादिसंपादनाभिमुखतालक्षणो यासां ता जीवविपाकिन्यः ।

एतदेव ग्रन्थकारः प्रकृतिविभागेन दर्शयन्नाह–

आऊ य भवविवागी णामं जिअखेत्तपोग्गलविवागी ।
सेसा जीवविवागी णेया एमेव सव्वासुं ॥१४॥

(प्रे०) **'आऊ य'** इत्यादि, आयुष्कप्रकृतिर्भवविपाकिनी-निरुक्तलक्षणा, तथाहि-बद्धम-प्यायुर्यावन्नाद्यापि पूर्वभवक्षयेण स्वयोग्यो भवः प्राप्तो भवति तावन्नोदयमायाति, ततो भवविपा-किनीति । नामकर्म जीवविपाकि, क्षेत्रविपाकि, पुद्गलविपाकि च तस्य त्रैविध्यमुत्तरप्रकृत्यपेक्षया-वसातव्यम्, तद्यथा-गत्यादिलक्षणं नामकर्म जीवविपाकि, आनुपूर्व्यपेक्षया तदेव क्षेत्रविपाकि,उक्तं च **शतकचूर्णौ** "खेत्तमागासं तम्मि उदओ जेसिं ते खित्तविवागिणो,अंतरगतीए वट्टमाणस्स चउण्हमाणु-पुव्वीणं उदओ तदुपग्गहत्ताओ मीणस्स जलवत् ।" शरीरादिनामकर्मापेक्षया तु पुद्गलविपाकि, एत-च्चाग्रे उत्तरप्रकृतिरसबन्धे विस्तरेणाभिधास्यते । **'सेसा'** उक्तशेषाः घातिचतुष्कवेदनीयगोत्र-लक्षणाः प्रकृतयः जीवविपाकिन्यः । एता हि जीव एव स्वविपाकं दर्शयन्ति नान्यत्र । **तथाहि–** ज्ञानावरणोदयवशेन जीवो-ऽज्ञानी भवति,मद्यपीतपुरुषपरिणामवत् न पुनः शरीरपुद्गलेषु तत्कृतः कश्चिदुपघातोऽनुग्रहो वा भवति। एवं दर्शनावरणोदयादपि जीव एवादर्शनी भवति । एवं सर्वत्र भावना कार्या ।

ननु भवविपाकादयोऽपि तत्त्वतो जीवविपाका एव, यत आयुरपि स्वयोग्यभवे विपाकं दर्श-यन्ति तद्भवधारणलक्षणं, तच्च जीवस्यैव, न तद्व्यतिरिक्तस्य । आनुपूर्व्योऽपि क्षेत्रे विपाकं दर्श-यन्त्यो जीवस्यानुश्रेणिगमनलक्षणं स्वभावमादधति । पुद्गलविपाकिन्योऽपि तथारूपां जीवस्य शक्तिं जनयन्ति यया स जीवस्तथारूपानेव पुद्गलान् गृह्णाति,गृहीतानां च रचनाविशेषं करोति, ततो जीवविपाकिन्य एव सर्वाः ? इति चेत्, सत्यमेतत्, केवलं भवादिप्राधान्यविवक्षया भवविपाकाद-न्यत्वेन जीवविपाकत्वं परिभाष्यत इति । मार्गणासु विपाकद्वारमतिदिशन्नाह-**'णेया'**इत्यादि, एव-मेव सर्वासु मार्गणासु यथासंभवं प्रकृतीनां विपाकित्वं वेदितव्यमिति ॥१४॥

तदेवं विहितं विपाकनिरूपणम्, तद्विधाने च गतं 'विवाग' इत्यनेनोद्दिष्टं तृतीयं द्वारम् ।

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधान-मूलप्रकृतिरसबन्धे प्रथमाधिकारे तृतीयं विपाकद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ चतुर्थं प्रशस्ता-ऽप्रशस्तद्वारम् ॥

व्याख्यातं विपाकद्वारं सविस्तरम् , अथ प्रशस्ताप्रशस्तद्वारनिरूपणावसरः, अत्रादौ प्रशस्ता-प्रशस्तपदद्वयं प्रकटयिष्यामः, तत्र प्रशस्तो रसः शुभो भण्यते जीवप्रमोदनिबन्धनत्वात् , तद्विपरीतोऽप्रशस्तः ।

एतदेव ग्रन्थकारो घात्यघातिप्रकृतिविषयविभागेनाह—

अपसत्था चत्तारो पयडी घाई पसत्थअपसत्था ।
चउरो अघाइपयडी हवन्ति एमेव सव्वासुं ॥१५॥

(प्रे०) '**अपसत्था**' इत्यादि,चतस्रो घातिप्रकृतयो-ऽप्रशस्ताः-अप्रशस्तरसोपेता एव भवन्ति, घातितया तासां प्रकृतीनामशुभरसत्वेनाप्रमोदहेतुत्वाज्जीवस्य । शेषाणां चतसृणां प्रकृतीनां रसः प्रशस्तश्चाप्रशस्तश्च, कासाञ्चित्तासामुत्तरप्रकृतीनां शुभरसत्वेन तथा च कासाञ्चित् प्रकृतीनामशुभ-रसत्वेन जीवस्य प्रमोदाप्रमोदहेतुत्वात् , विस्तरेणतूत्तरप्रकृतिरसबन्धावसरे तत्र तत्र प्ररूपयिष्यमाणत्वा-दिह नोच्यते। मार्गणास्वतिदेशं कर्तुकाम आह- '**एमेव**' इत्यादि, एवमेव सर्वासु मार्गणासु ज्ञेया प्रशस्ताप्रशस्तप्ररूपणा इति गम्यते । **अयमत्र विशेषः**–वेदनीयायुःकर्मापेक्षया कासुचिद् मार्गणासु केवलप्रशस्ताः प्रकृतयः, गोत्रकर्मापेक्षया पुनः कासुचिद् मार्गणासु केवलप्रशस्ताः, केवला-ऽप्रशस्ता वा प्रकृतयः सन्ति । ताश्च तासु तासु मार्गणासु यथासंभवं ज्ञातव्याः ॥१५॥

तदेवं समर्थितो-ऽष्टप्रकृतीनां प्रशस्ता-ऽप्रशस्तद्वारेण रसबन्धः, तस्मिंश्च समर्थिते गतं 'सुह असुहा' इत्यनेनोद्दिष्टं चतुर्थं प्रशस्ता-ऽप्रशस्तद्वारम् ।

॥इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधान मूलप्रकृतिरसबन्धे प्रथमाधिकारे चतुर्थं प्रशस्ता-ऽप्रशस्तद्वारं समाप्तम्॥



॥ अथ पञ्चमं स्वामित्वद्वारम् ॥

सम्प्रति स्वामित्वद्वारप्ररूपणा । सा च उत्कृष्टजघन्यानुभागबन्धस्वामित्वभेदात् द्विविधा । तत्राप्युत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वमोघादेशाभ्यां द्विविधम् । तत्र च शुभप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धः सुविशुद्धाध्यवसायेनाशुभप्रकृतीनां पुनः संक्लिष्टाध्यवसायेन निर्वर्त्यते । उक्तं च **शतकग्रन्थे**– "सुभपयडीण विसोहीइ तिव्वमसुहाणं संकिलेसेणं ।" इति. एतदेव स्वामित्वप्ररूपणया स्पष्टयन्नाह–

पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहिं सुओवजुत्तो य ।
सागारो जागारो मिच्छत्ती तिव्वसंकिट्ठो ॥१६ ॥
सण्णी घाईणं गुरुरसस्स जेट्ठाणुभागबंधगओ ।
सुहमस्स चरमसमये खवगो तिण्हं अघाईणं ॥१७ ॥

(प्रे०) **'पज्जत्तो'** इत्यादि, तत्र **'घाईणं गुरुरसस्स'** घातिनां-ज्ञानदर्शनावरणमोहनीयान्तरायलक्षणानां गुरुरसस्य-उत्कृष्टानुभागबन्धस्य स्वामीति शेषः प्रस्तुतत्वात् । कः ? इत्याह– **'मिच्छत्ती'** इति मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती । असंज्ञिव्यवच्छेदार्थमाह–**'सण्णी'** विशिष्टस्मरणशक्तिरूपा या दीर्घकालिकी संज्ञा तयोपेत इत्यर्थः, असंज्ञिनां तथाविधोत्कृष्टसंक्लेशाभावेन तासामुत्कृष्टरसबन्धा-ऽप्राप्तेः । स किं पर्याप्तोऽपर्याप्तो वा ? इत्याशङ्कायामाह–**'पज्जत्तो'** इत्यादि, सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्त इत्यनेना-ऽपर्याप्तस्याभिप्रेतस्वामित्वं प्रतिषिद्धम् । स एव पुनः कीदृशः ? **'सागारो'** ज्ञानलक्षणेन साकारोपयोगेनोपयुक्तः स एव ज्ञानज्ञानिनोरभेदनयेन साकार इत्युक्तः । स पुनः किं मत्यादिसाकारोपयोगे वर्तमानोऽन्यथा वा ? इत्याह-**'सुओवजुत्तो'** इति श्रुतोपयुक्तश्च साभिलापज्ञानोपयुक्त इति भावः-विवृतं च **प्रज्ञापनावृत्तौ कर्मप्रकृतिपदे श्रीमन्मलयगिरिपूज्यपादैः** "सुत्तोवउत्ते" त्ति साभिलाप ज्ञानोपयुक्त इति भाव " इति । चः अनुक्तसमुच्चयार्थः-तेन चतुर्गतिकानामन्यतमो गृह्यते । स पुनः किं विशिष्टः ? इत्याह-**'जागारो'** इति, जाग्रत् अनुदितनिद्र इत्यर्थः, एतेन सुप्तस्य तथाविधाध्यवसायस्याभावाद् नोत्कृष्टरसबन्ध इति ज्ञापितम् । ईदृशो यद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नन्नपि तीव्रसंक्लिष्टो न भवति, कुतः ? उच्यते-उत्कृष्टस्थितिरप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणकषायोदयस्थानैर्निर्वर्त्यते, तेष्वपि यावदुत्कृष्टकषायोदयस्थानं न प्राप्यते तावदुत्कृष्टरसनिर्वर्तको न भवतीत्यत आह–**'तिव्वसंकिट्ठो'** इति तीव्रसंक्लिष्ट उत्कृष्टकषायोदयस्थाने वर्तमान इत्यर्थः । उत्कृष्टस्थितिगतचरमकषायोदयेऽप्यसंख्यातलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा रसबन्धाध्यवसायाः सन्ति, तेष्वप्यचरमाध्यवसायस्थानकेषूत्कृष्टरसबन्धो न प्राप्यते, इत्यत आह–**'जेट्ठाणुभागबंधगओ'** उत्कृष्टानुभागबन्धगतः-उत्कृष्टकषायोदयस्थाने ये-ऽसंख्यलोकाकाशप्रदेशप्रमिता रसबन्धाध्यवसायाः तेषां मध्ये यश्चरमाध्यवसायस्तस्मिन् वर्तमान इति भावः ।

यद्यप्येतानि सकलान्यपि विशेषणानि तृतीयान्तेन विशेषणात् सर्वाण्यप्युत्कृष्टानुभागबन्धहेतुभूतानि संभवन्ति तथाऽप्यनुभागबन्धहेतुत्वस्याप्रस्तुतत्वेन स्वामित्वप्ररूपणायां स्वामितया निरूपणस्यावश्यकत्वात् तानि प्रथमान्तेन निर्दिष्टानि । पूर्वोक्तसकलविशेषणविशिष्टः संज्ञिमिथ्यादृष्टिजीवो घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धको भवतीति पिण्डितार्थः ।

अघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकं प्रचिकटयिषुर्द्वितीयगाथाया उत्तरार्धेनाह- **'सुहुमस्स'** इत्यादि, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकचरमसमये वर्तमानः क्षपकोऽघातिप्रकृतीनां तिसृणां वेदनीयनामगोत्रलक्षणानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकः । **ननु** तादृशविशेषणविशिष्टानामुपशामकानां कथं नोत्कृष्टरसबन्धः ? अत्रोच्यते–वेदनीयनामगोत्रान्तर्गतोत्तरप्रकृतीनां मध्ये शुभप्रकृतीनामेवोत्कृष्टरसो वर्तते, स चात्यन्तविशुद्धाध्यवसायनिबन्धनः, तत उपशामकापेक्षयाऽनन्तगुणेन विशुद्ध्यमानतया क्षपकस्यैवोत्कृष्टरसबन्धो भवतीति गाथाद्वयार्थः ॥१६।१७॥

अभिहितमोघतः सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वम्, अथायुःकर्मण उत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वं विवरिषुराह—

सगाराइविसिट्ठो अपमत्तजई तदरिहसुविसुद्धो ।
आउस्स जाणियव्वो वट्टंतो जेट्ठरसबंधे ॥१८॥

(प्रे०) **'सागाराइ०'** इत्यादि, साकारादिविशेषणानि स्पष्टानि **'तदरिहसुविसुद्धो'** इत्यादि, तदर्हसुविशुद्धः-आयुःकर्मबन्धप्रायोग्यविशुद्धिमानुत्कृष्टरसबन्धाध्यवसायस्थाने वर्तमानोऽप्रमत्तयतिरायुःकर्मण उत्कृष्टरसबन्धको ज्ञातव्यः । **ननु** नरकायुर्देवायुःप्रकृत्योः स्थितिः समाना तर्हि नरकायुषोऽपेक्षया प्रकृतबन्धकस्य संक्लिष्टत्वेन स्वामित्वं कथं नाभिहितम् ? उच्यते- अत्र देवायुःप्रकृतिः शुभा, शुभप्रकृतीनां च रसस्तथास्वाभाव्यादशुभापेक्षयाऽनन्तगुणेनाधिको बध्यते । ततो नरकायुषोऽपेक्षया संक्लिष्टत्वं विहाय प्रकृतबन्धकस्य विशुद्धत्वेन स्वामित्वमुक्तम् । 'तदर्हविशुद्ध' इति ग्रहणादत्यन्तविशुद्धो वर्तमान आयुर्नैव बध्नाति आयुर्बन्धस्य मध्यमपरिणामनिबन्धनत्वात् । **नन्वप्रमत्तगुणस्थानके कथमायुषो बन्धः ?** इति चेद्, उच्यते–यद्यप्यप्रमत्तो ह्यायु-र्बन्धं [illegible]

यदा अप्रमत्तगुणस्थानकं प्राप्नोति तदा कश्चित् पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टः सन्नायुर्बन्धस्योत्कृष्टानुभागाधानपूर्वकं समाप्तिं गमयतीति न विरोधः । तथा च प्रत्यपादि **श्रीदेवेन्द्रसूरिपूज्यपादैः द्वितीयकर्मग्रन्थे**–"सुरायुर्बन्धं हि प्रमत्त एवारभते नाप्रमत्तादिः, तस्यातिविशुद्धत्वात्, आयुष्कस्य तु घोलनापरिणामेनैव बन्धनात्, परं सुरायुर्बध्नन् प्रमत्ते किञ्चित्सावशेषे सुरायुर्बन्धेऽप्रमत्तेऽप्यागच्छेत् । अत्र च सावशेषं सुरायुर्निष्ठां नयति ।" इति ॥१८॥

तदेवमभिहितमष्टानामपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वमोघतः । अधुनाऽऽदेशतो व्याजिहीर्षुर्लाघवार्थं सर्वासु मार्गणासु सप्तप्रकृतीनां तदुत्कृष्टस्वामित्वस्य सामान्यवक्तव्यतामादौ कथयति—

सव्वत्थ बंधगो गुरुरसस्स जेट्ठाणुभागबंधगओ ।
सागाराइविसिट्ठो विण्णेयो सत्तकम्माणं ॥१९ ॥

(प्रे०) **'सव्वत्थ'** इत्यादि, सर्वत्र-सर्वासु मार्गणासु गुरुरसस्योत्कृष्टरसस्य बन्धकोऽस्तीति क्रियायोगः। कासां प्रकृतीनाम् ? इत्याह—**'सत्तकम्माणं'** सप्तानामायुर्वर्जसप्तकर्मप्रकृतीनामित्यर्थः, बन्धकस्य तुल्यविशेषणान्याह-**'जेट्ठाणुभागबंधगओ'** इत्यादि, साकारादिविशिष्ट उत्कृष्टरसबन्धाध्यवसायस्थ सगतश्चेति विशेषणानि प्राग्भणितस्वरूपाणीति । एतद्विशेषणानि सर्वासु मार्गणासु सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकविषये नियोजनीयानीति भावः ।

गत्याद्यधिकृतमार्गणास्थानानां स्वरूपं **प्रकृतिबन्धविधानवृत्तौ** विस्तरेणाभिहितमत्र तु स्मृतिपथमानयनार्थं नाममात्रेण विविच्यते । तद्यथा—

"गइ इंदिए य काए जोए वेए कसाय नाणे य । संजम दंसण लेसा भव-सम्मे सन्नि आहारे ॥" इति चतुर्दश मूलमार्गणास्थानानि, तानि चोत्तरभेदतो द्वाषष्टिर्भवन्ति, भेदप्रभेदतस्त्वनेकविधानि, नवरमत्र ये भेदप्रभेदा ग्रन्थकृताऽङ्गीकृतास्ते ग्रन्थावगमसौकर्यार्थं लेशतः प्रदर्श्यन्ते, तत्र **गतिश्चतुर्धा** नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवभेदात् । तत्र नरकगतावष्टौ मार्गणाः, एका पुनर्नरकगतिसामान्यमार्गणा तथा घर्मादिसप्तपृथ्वीभेदात् सप्त मार्गणाः । अत्र घर्मादिपृथ्वीनामगाथा—

"घम्मा वंसा सेला होइ तहा अंजणा य रिट्ठा य । मघवति माघवति य पुढवीणं नामधेयाइं ॥" इति ॥ तथा तिर्यग्गतौ पञ्चमार्गणाः । तद्यथा–(१) तिर्यक्सामान्यमार्गणा (२) पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणा (३) तिर्यग्योनिमतीमार्गणा (४) पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणा (५) अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणा चेति । तथा मनुष्यगतौ चतस्रो मार्गणाः, ताश्चैवम्–(१) मनुष्यसामान्यमार्गणा (२) मनुष्ययोनिमतीमार्गणा (३) पर्याप्तमनुष्यमार्गणा (४) अपर्याप्तमनुष्यमार्गणा चेति । देवगतौ च त्रिंशन्मार्गणाः, ताश्चैवम् – देवसामान्य-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-द्वादशकल्पोपपन्न-नवग्रैवेयक-पञ्चानुत्तररूपास्त्रिंशद्मार्गणाः एवं गतिमार्गणास्थानस्य भेदप्रभेदतः सप्तचत्वारिंशन्मार्गणाः संजाताः, उक्ता च गत्यादिक्रमेण भेदप्रभेदसंग्रहणीगाथा **प्रकृतिबन्धविधाने** मूलगाथाकारेण—

"इइ मूलमग्गणा सिं सगचत्ता-इगुणवीस-बायाला। अट्ठार-चउ-पण-अड-अड-चउ-छ-दु-सग-दु-दुगं भेआ॥" इति॥ तच्छाया–इति मूलमार्गणाः तासां सप्तचत्वारिंशदेकोनविंशतिद्वाचत्वारिंशत् । अष्टादशचतुःपञ्चाष्टाष्टचतुःषड्द्विसप्तद्विद्विभेदाः ॥

अथेन्द्रियमार्गणास्थानस्यैकोनविंशतिर्भेदाः, तद्यथा —एकेन्द्रियेषु सप्तमार्गणाः, तद्यथा–(१) एकेन्द्रियौघमार्गणा (२) सूक्ष्मैकेन्द्रियमार्गणा (३) बादरैकेन्द्रियमार्गणा (४) पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-

मार्गणा (५) अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियमार्गणा (६) पर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणा (७) अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणा चेति। द्वीन्द्रियादीनां प्रत्येकं तिस्रस्तिस्रो मार्गणाः, तद्यथा-(१) द्वीन्द्रियसामान्यमार्गणा (२) पर्याप्तद्वीन्द्रियमार्गणा (३) अपर्याप्तद्वीन्द्रियमार्गणा (१) त्रीन्द्रियसामान्यमार्गणा (२) पर्याप्तत्रीन्द्रियमार्गणा (३) अपर्याप्तत्रीन्द्रियमार्गणा (१) चतुरिन्द्रियौघमार्गणा (२) पर्याप्तचतुरिन्द्रियमार्गणा (३) अपर्याप्तचतुरिन्द्रियमार्गणा (१) पञ्चेन्द्रियौघमार्गणा (२) पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणा (३) अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणा चेति।

ततः कायमार्गणास्थानं पृथ्वीकायादिमूलभेदतः षड्विधम् तत्र पृथ्विकायाप्कायतेजःकायवायुकायानां सप्त सप्त भेदा एकेन्द्रियमार्गणावद् ज्ञेयाः। तद्यथा-(१) पृथ्वीकायसामान्यमार्गणा (२) सूक्ष्मपृथ्वीकायमार्गणा (३) बादरपृथिवीकायमार्गणा (४) पर्याप्तसूक्ष्मपृथ्वीकायमार्गणा (५) अपर्याप्तसूक्ष्मपृथ्वीकायमार्गणा, (६) पर्याप्तबादरपृथ्वीकायमार्गणा (७) अपर्याप्तबादरपृथ्वीकायमार्गणा। एवमप्कायतेजःकायवायुकायमार्गणास्वपि सप्त सप्त प्रभेदा अवगन्तव्याः। तत एतन्मीलने(२८)अष्टाविंशतिर्भेदाः संजाताः। वनस्पतिकायस्य द्वैविध्यं प्रत्येकनिगोदभेदात्, तत्रादौ (१) वनस्पतिकायसामान्यमार्गणा, ततः प्रत्येकशरीरवनस्पतिकायस्य तिस्रो मार्गणाः सामान्यपर्याप्ताऽपर्याप्तभेदात्, तथाहि—(२) प्रत्येकशरीरवनस्पतिकायमार्गणा(३) पर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायमार्गणा (४) अपर्याप्तप्रत्येकशरीरवनस्पतिकायमार्गणा, साधारणवनस्पतिकायमार्गणाऽपि पृथ्वीकायमार्गणावत् स्वप्रभेदसहिता सप्तविधा बोद्धव्या। तद्यथा—(१) साधारणशरीरवनस्पतिकायमार्गणा, (२) सूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकायमार्गणा (३) बादरसाधारणशरीरवनस्पतिकायमार्गणा (४) पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकायमार्गणा (५) अपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणशरीरवनस्पतिकायमार्गणा (६) पर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकायमार्गणा (७) अपर्याप्तबादरसाधारणशरीरवनस्पतिकायमार्गणा चेति। वनस्पतिकायमार्गणायाः सर्वमीलने एकादश प्रभेदाः। त्रसमार्गणाऽपि पञ्चेन्द्रियवत् त्रिप्रकारा भवति, तद्यथा-(१) त्रसकायमार्गणा (२) पर्याप्तत्रसकायमार्गणा (३) अपर्याप्तत्रसकायमार्गणा चेति। एवं कायमार्गणायाः भेदप्रभेदैः सर्वमीलने द्वाचत्वारिंशद्भेदाः संजाताः।

योगस्त्रिविधः मनोवाक्कायभेदात्, तत्र मनोयोगे पञ्चमार्गणाः, तद्यथा-(१) मनोयोगसामान्यमार्गणा (२) सत्यमनोयोगमार्गणा (३) असत्यमनोयोगमार्गणा (४) सत्यासत्यमनोयोगमार्गणा (५) असत्यामृषामनोयोगमार्गणा चेति। एवं वाग्योगेऽपि पञ्च। काययोगे त्वष्टौ, तद्यथा—(१) सामान्यकाययोगमार्गणा (२) औदारिककाययोगमार्गणा (३) औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणा (४) वैक्रियकाययोगमार्गणा (५) वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणा (६) आहारककाययोगमार्गणा (७) आहारकमिश्रकाययोगमार्गणा (८) कार्मणकाययोगमार्गणा चेति। ते च समस्ताः

सन्तोऽष्टादशभेदा योगमार्गणास्थानस्य संजाताः। वेदमार्गणास्थानस्य चत्वारो भेदाः, तद्यथा-(१) स्त्रीवेदमार्गणा (२) पुरुषवेदमार्गणा (३) नपुंसकवेदमार्गणा (४) अपगतवेदमार्गणा चेति।

कषायमार्गणा पञ्चविधा तद्यथा-(१) क्रोधमार्गणा(२)मानमार्गणा(३)मायामार्गणा(४)लोभमार्गणा(५)अकषायमार्गणा चेति। अकषायकेवलज्ञानकेवलदर्शनयथाख्यातसंयममार्गणासु कषायजन्यानुभागस्याभावादत्र **रसबन्धविधानग्रन्थे** ऽनुपयोगित्वादेताश्चतस्रो मार्गणा अनधिकृताः। ततः कषायमार्गणास्थाने चत्वार एव भेदा गृह्यन्ते। तथा **ज्ञानमार्गणास्थाने** सप्तैव गृह्यन्ते तद्यथा (१) मतिज्ञानमार्गणा (२) श्रुतज्ञानमार्गणा (३) अवधिज्ञानमार्गणा (४) मनःपर्यवज्ञानमार्गणा (५) मत्यज्ञानमार्गणा (६) श्रुताज्ञानमार्गणा (७) विभङ्गज्ञानमार्गणा चेति। **संयममार्गणास्थाने**ऽपि सप्तमार्गणाः। तद्यथा-(१) संयमसामान्यमार्गणा(२)सामायिकसंयममार्गणा(३)छेदोपस्थापनसंयममार्गणा (४) परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणा(५)सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणा(६)देशसंयममार्गणा(७) असंयममार्गणा चेति। तथा **दर्शनमार्गणायां** त्रयो भेदा गृह्यन्ते। तद्यथा-(१)चक्षुर्दर्शनमार्गणा(२)अचक्षुर्दर्शनमार्गणा (३) अवधिदर्शनमार्गणा चेति। **लेश्यामार्गणा** षोढा। तद्यथा—(१)कृष्णलेश्यामार्गणा (२) नीललेश्यामार्गणा (३) कापोतलेश्यामार्गणा (४) तेजोलेश्यामार्गणा (५) पद्मलेश्यामार्गणा (६) शुक्ललेश्यामार्गणा चेति। **भव्यमार्गणा** द्विविधा(१) भव्यमार्गणा (२) अभव्यमार्गणा चेति।

सम्यक्त्वमार्गणायां सप्तभेदा गृह्यन्ते। तद्यथा—(१) सम्यक्त्वौघमार्गणा (२) वेदकसम्यक्त्वमार्गणा (३) क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणा (४) उपशमसम्यक्त्वमार्गणा (५) मिश्रदृष्टिमार्गणा (६) सास्वादनदृष्टिमार्गणा (७) मिथ्यात्वमार्गणा चेति। **संज्ञिमार्गणा** द्विविधा-(१) संज्ञिमार्गणा (२) असंज्ञिमार्गणा चेति। **आहारकमार्गणायां** द्वौ भेदौ। तद्यथा-(१) आहारकमार्गणा (२) अनाहारकमार्गणा चेति। एवं चतुर्दशमूलमार्गणासु भेदप्रभेदतश्चतुःसप्तत्यधिकशतमुत्तरभेदाः संजाताः, परमस्मिन् ग्रन्थे रसबन्ध आदेशतः सर्वद्वारेषु सप्तत्यधिकशतमार्गणास्वेव प्रदर्श्यते, अनन्तरप्रदर्शितेन हेतुनाऽकषाय-केवलज्ञान-केवलदर्शन-यथाख्यातरूपाणां चतसृणां मार्गणानामत्रानुपयोगित्वादित्यवधार्यम् ॥१९॥ विनेयजनसुखावबोधार्थं एतन्मार्गणास्थानानां यन्त्रकं त्वेवम्-*

अनन्तरोक्तैः सामान्यविशेषणैः सर्वत्रोत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वं हेतुद्वारेण स्पष्टीकृतम्, अथ पर्याप्तविशेषणमपि हेतुत्वेन स्पष्टीकुर्वन्निदमाह—

पज्जत्ताऽपज्जत्ता दुहावि जीवाऽत्थि जत्थ तत्थ भवे।
पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहिं त्ति वत्तव्वं ॥२०॥

(प्रे०) '**पज्जत्तापज्जत्ता**' इत्यादि, स्वस्वप्रायोग्याभिः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्ताः, अपर्याप्तास्तु तद्भिन्नाः स्वस्वप्रायोग्यपर्याप्तीनामद्याप्यसमापितत्वात्, पर्याप्तापर्याप्तजीवाश्च लब्धिकरण-

* मार्गणास्थानयन्त्रकमनन्तरे षड्विंशतितमे (२६ तमे) पृष्ठे आलिखितम्।

अत्र ग्रन्थेऽधिकृतमार्गणास्थानयन्त्रम्

[1]गइ [2]इंदिए य [3]काए [4]जोए [5]वेए [6]कसाय [7]नाणे य ।
[8]संजम [9]दंसण [10]लेसा [11]भव [12]सम्मे [13]सन्नि [14]आहारे ॥१॥

संख्यया मार्गणास्थानानि	संख्यया मार्गणास्थानानि	संख्यया मार्गणास्थानानि	संख्यया मार्गणास्थानानि
↓ गति (४७) १ नरकगत्योघः, ७ रत्नप्रभादिपृथ्वीभेदात् १ तिर्यग्गत्योघः, १ पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ, १ तिरश्ची, १ पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग, १ अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्, १ मनुष्यगत्योघ, १ मानुषी, १ पर्याप्तमनुष्य, १ अपर्याप्तमनुष्य, १ देवगत्योघः ३ भवन-व्यन्तर-ज्योतिष्का १२ सौधर्मादिकल्पोपन्नभेदात् ९ नवग्रैवेयकभेदात्, ५ पञ्चानुत्तरभेदात्, इन्द्रियम् (१९) * ७ एकेन्द्रिये, 卐 ३ द्वीन्द्रिये, 卐 ३ त्रीन्द्रिये,	↓ 卐 ३ चतुरिन्द्रिये, 卐 ३ पञ्चेन्द्रिये, काय (४२) * ७ पृथिवीकाये, * ७ अप्काये, * ७ तेजस्काये, * ७ वायुकाये, १ वनस्पतिकायौघ, 卐 ३ प्रत्येकवनस्पतिकाये, * ७ साधारणवनस्पतिकाये 卐 ३ त्रसकाये, योग. (१८) = ५ मनोयोगे, = ५ वचोयोगे, १ काययोगौघ, १ औदारिक, १ औदारिकमिश्र., १ वैक्रिय, ★ १ वैक्रियमिश्र, १ आहारक., १ आहारक मिश्र, ★ १ कार्मण	↓ वेद (४) ३ स्त्री पु-नपुसका, ★ १ अपगतवेदः, कषाय (५) ४ क्रोध मान-माया लोभाः, ● अकषाय, ज्ञानम् (८) ४ मति श्रुता-ऽवधि-मनःपर्याणि, २ मत्यज्ञान, श्रुताज्ञानम्, १ विभङ्गज्ञानम्, ● केवलज्ञानम्. संयम (८) १ संयमौघ, १ सामायिक, १ छेदोपस्थापन, १ परिहारविशुद्धिक, ★ १ सूक्ष्मसम्पराय, ● यथाख्यात, १ देशसंयम, १ असंयम दर्शनम् (३) १ चक्षु,	↓ २ अचक्षु, अवधि, ● केवलदर्शनम्, लेश्या (६) ३ कृष्ण-नील-कापोत० ३ तेज पद्म-शुक्ल० भव्य. (२) २ भव्य, अभव्य. सम्यक्त्वम् (८) १ सम्यक्त्वौघ, १ क्षायिकम्, १ क्षायोपशमिकम्, ★ १ औपशमिकम्. ★ १ मिश्रम्, १ सासादनम्, १ मिथ्यात्वम् संज्ञी (२) २ संज्ञी, असंज्ञी, आहारी (२) १ आहारी, ★ १ अनाहारी,

* [1]ओघ-[2]सूक्ष्मौघ-[3]सूक्ष्मपर्याप्त [4]सूक्ष्मापर्याप्त [5]बादरौघ-[6]बादरपर्याप्त-[7]बादरा-ऽपर्याप्तभेदात् सप्त ।

卐 [1]ओघ-[2]पर्याप्ता [3]ऽपर्याप्तभेदात् त्रीणि । = [1]ओघ-[2]सत्या-[3]ऽसत्य-[4]मिश्र-[5]व्यवहारभेदात् पञ्च ।

● अकषाय-केवलज्ञान-यथाख्यात- केवलदर्शनचतुर्मार्गणास्थानेषु रसबन्धो न भवति, तानि मूलत एवात्र न गण्यन्ते ततश्च (१७०) सप्तत्युत्तरशतमार्गणास्थानानि ।

★ एतेषु सप्तमार्गणास्थानेष्वायुर्बन्धो न भवत्यतस्तानि सप्ताऽऽयुषो रसबन्धे वर्ज्यन्ते, तत आयुषो रसबन्धे (१६३) त्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्थानान्येवाधिक्रियन्ते ।

अनन्तजीवराशिकाः (३८) अष्टात्रिंशन्मार्गणा—तिर्यगोघ-[7]सर्वैकेन्द्रिय - [7]सर्वनिगोद-वनौघ-काययोग० औदारिक तन्मिश्र-कार्मण-नपु०-कषायचतुष्क-मत्यज्ञानश्रुताज्ञाना-ऽसंयमा ऽचक्षुः - ऽशुभलेश्या - भव्याऽभव्य-मिथ्यात्वा ऽसंज्ञ्याहार्यनाहारीति ।

असंख्यलोकजीवराशिका (२६) षड्विंशतिमार्गणा—पृथ्व्यादिचतुष्कस्य बादरपर्याप्तभेद वर्जयित्वा प्रत्येकं षट् षड् भेदाः, प्रत्येकवनौघ., अपर्याप्तप्रत्येकवन० भेदश्चेति ।

भेदाभ्यां द्विविधाः सन्ति । अत्र द्विविधयोरपि ग्रहणम् । एवंभूताः पर्याप्तापर्याप्तभेदाद् द्विविधा अपि जीवाः सन्ति यत्र यत्र मार्गणायां तत्र तत्र भवेत्, किं भवेत् ? इत्याह—'पज्जत्तो' इत्यादि, सर्वाभिः स्वप्रायोग्याभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्त इति वक्तव्यम् । अयम्भावः—सजातीयेषु पर्याप्ताऽपर्याप्तजीवेषु पर्याप्तजीवानामेव करणादिविशिष्टसामग्रीसद्भावादुत्कृष्टसंक्लेशविशुद्धयोः सम्भवः, न पुनर्लब्ध्यपर्याप्तानां करणाऽपर्याप्तानां वा, तथा च सति तेषामुत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वप्रतिषेधाय नरकगत्योघादिमार्गणासु यासु करणपर्याप्ताः करणापर्याप्ताश्च जीवाः स्थिताः, यासु च तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु करणपर्याप्ता लब्ध्यपर्याप्ताः करणापर्याप्ताश्च जीवाः प्रविष्टास्तासु "सर्वाभिः स्वप्रायोग्याभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्त" इति विशेषणं सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनि नियोजनीयम् , न पुनर्यास्वपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु केवलाऽपर्याप्तजीवा एव स्थितास्तासु, यासु वा केवलाः पर्याप्तजीवाः प्रविष्टास्तासु मनोयोगवचनयोगादिलक्षणासु मार्गणास्विति ।

"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति" रिति न्यायादौदारिकमिश्र-कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणासु केवलं "पर्याप्त" इति विशेषणं देयम् , न तु सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्त इति विशेषणम् , कुतः ? उच्यते—तत्र लब्ध्या पर्याप्तजीवा अपर्याप्तजीवाश्च सन्ति, किन्तु करणेन पर्याप्तजीवा न सन्ति, एतन्मार्गणासु छद्मस्थजीवानां पर्याप्तावस्थाया अभावात् । ततस्तत्र सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तविशेषणमभिधातुं न युक्तम् । किन्त्वपर्याप्तजीवानां व्यावृत्त्यर्थं "पर्याप्त" इति विशेषणमभिधातव्यम् ।

ननु यासु मार्गणासु पर्याप्ताऽपर्याप्तोभयलक्षणा जीवास्तत्र पर्याप्तविशेषणं सार्थकम् , न केवला-ऽपर्याप्तजीवमार्गणासु तस्य (पर्याप्तविशेषणस्य) निरवकाशत्वादेवाप्राप्तिः, किन्तु संयममनःपर्यवादिलक्षणासु केवलपर्याप्तजीवमार्गणासु पर्याप्तविशेषणस्य सावकाशत्वात् तत्र कथं तन्न देयम् ? इति चेत् , उच्यते—केवलपर्याप्तजीवानां पर्याप्तिमत्त्वस्य स्वत एव सिद्धत्वात् विशेषणं व्यावर्तकं न स्यात् , उपादीयते हि विशेषणं व्यावर्तकतया तत्र तत्र स्थानेषु, स्वरूपविशेषणं त्वस्त्वेव, नास्माकं काचिद् हानिः ॥२०॥

आदेशतः स्वामित्वप्ररूपणायां साकारादिविशेषणविशिष्ट उत्कृष्टरसबन्धानुभागगत इत्यादिविशेषणानि लाघवार्थं सामान्यवक्तव्यतया सर्वासु मार्गणासु कथितानि, साम्प्रतं तथैव संक्लेशवांश्च-विशुद्धिमांश्चेति विशेषणद्वयं सामान्यवक्तव्यतयैवाह—

सव्वासु मग्गणासुं मग्गणपाउग्गतिव्वसंकिट्ठो ।
घाईण चउण्ह भवे तिण्ह अघाईण विवरीओ ॥२१॥

(प्रे०) **'सव्वासु'** इत्यादि, 'भवेत्' इति क्रियायोगः, उत्कृष्टानुभागबन्धक इत्यनुवर्तते । कीदृशः ? मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लिष्टः- तत्तन्मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लेशवानित्यर्थः, किं सप्तप्रकृतीनामप्येतादृशो बन्धको भवेत् ? न, चतसृणां घातिप्रकृतीनामेवेति, कुत्र ? सव्वासु मार्गणासु,

नैकामपि मार्गणां त्यक्त्वेति । अयम्भावः -ज्ञानदर्शनावरण-मोहनीयान्तरायलक्षणानां चतसृणां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकस्तत्तन्मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लेशवानिति ।

घातिप्रकृतीनां प्रतिपादनानन्तरमघातिनीनामपि तिसृणां प्रकृतीनां यो विशेषस्तमधिकृत्याह- **'तिण्ह'**इत्यादि, तिसृणामघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धक इत्यनुवर्तते, स कीदृशः ? विपरीतः प्रागुक्तादिति शेषः, तत्तन्मार्गणाप्रायोग्यविशुद्धिमानित्यर्थः, इदमुक्तं भवति--तिसृणामघातिप्रकृतीनां तत्तन्मार्गणाप्रायोग्यविशुद्ध्या उत्कृष्टरसबन्धो भवतीति ॥२१॥

तदेवमुत्कृष्टानुभागबन्धो घान्यघातिप्रकृतीनां तत्तन्मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लेशेन तथाविधविशुद्ध्या च भवतीति प्रतिपादितम् । अधुना निरुक्तसंक्लेशो यासु मार्गणास्वोघतुल्यो भवति ता मार्गणा नामग्राहं प्रकटयन्नार्यात्रयेणाह—

सव्वणिरयभेएसुं तिरिये तिपणिंदितिरयमणुसेसुं ।
देवसहस्सारंतदुपणिंदितसपणमणवयेसुं ॥२२॥
कायुरलविउव्वेसुं थीपुरिसणपुंसचउकसायेसुं ।
तिअणाणायतअणयणणयणसुइलवज्जलेसासुं ॥२३॥
भवियेयरमिच्छत्तेसु सण्णिआहारगेसु णायव्वो ।
ओघगुरुसंकिलेसो सेसासु सजोग्गसंकेसो ॥२४॥

(प्रे०) **'सव्वणिरय'** इत्यादिगाथात्रयम् , सर्वनिरयभेदेषु नरकगत्या अष्टासु मार्गणास्वित्यर्थः **'णायव्वो ओघगुरुसंकिलेसो'** इति संटङ्कः, ओघवदुत्कृष्टसंक्लेशो ज्ञातव्यः, । आसु मार्गणासु पर्याप्तसंज्ञिमिथ्यादृष्टिजीवानां प्राप्यमाणत्वात् । एवमग्रे तिर्यगोघादिमार्गणास्वपि द्रष्टव्यम् , तद्यथा-**'तिरिये'** इत्यादि, तिरश्चि-तिर्यक्सामान्यमार्गणायाम् , त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्येषु-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिमतीपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्लक्षणासु तिसृषु मार्गणासु तथैव तिसृषु मनुष्यमार्गणासु, **'देवसहस्रारान्तेषु'**-देवसामान्य-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्कमार्गणासु तथा सहस्रारपर्यन्तास्वष्टासु वैमानिकमार्गणासु, इत्येवं गतिमार्गणायाः सप्तविंशतिभेदेष्वोघवदुत्कृष्टसंक्लेशो भवति, एवमग्रेऽपि भावनीयम् । इन्द्रियकायमार्गणयोराह-**'दुपणिंदितस'** इति पञ्चेन्द्रियश्चत्रसश्चेति पञ्चेन्द्रियत्रसौ, द्वौ च तौ पञ्चेन्द्रियत्रसौ इति द्विपञ्चेन्द्रियत्रसौ, इत्यतः पञ्चेन्द्रियौघः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियश्च द्वयोर्मार्गणयोरेवं कायमार्गणायां त्रसौघपर्याप्तत्रसमार्गणयोरिति । योगमार्गणाद्वारे तु **'पणमणवयेसु'** इत्यादि, पञ्चसु मनोयोगमार्गणासु पञ्चसु वचनयोगमार्गणासु, काययोगसामान्यौदारिकवैक्रियकाययोगमार्गणास्वित्येवं योगमार्गणास्थाने त्रयोदशमार्गणास्विति । वेदमार्गणाद्वारे पुनः **'थीपुरिसणपुंस'** इति स्त्रीपुरुषनपुंसकलक्षणासु तिसृषु

मार्गणास्विति । तथा कषायमार्गणास्थाने **'चउकसायेसु'** इति चतसृषु कषायमार्गणास्विति । ज्ञानमार्गणायां च **'तिअणाण'** तिसृष्वज्ञानमार्गणास्विति । तथा संयमद्वारे **'अयत'** असंयममार्गणायामिति । दर्शनमार्गणाद्वारे पुनः **'अणयणणयण'** इति अचक्षुर्दर्शनचक्षुर्दर्शनमार्गणयोरिति, लेश्याद्वारे **'सुइलवज्जलेसासु'** इति शुक्लवर्जलेश्यासु कृष्णनीलकापोततेजःपद्मलक्षणासु पञ्चसु लेश्यामार्गणास्विति ।

ननु पद्मलेश्यो देवो यथोत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमानो घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धको भवति तथैव शुक्ललेश्यो देवः कथं नोत्कृष्टरसं बध्नाति, ? इति चेत्, उच्यते–ओघतः स्वामित्वप्ररूपणाऽवसरे घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धमुत्कृष्टस्थितिबन्धाध्यवसायस्थाने वर्तमानः संज्ञी मिथ्यादृष्टिरेव करोतीति प्राक् प्रतिपादितम्, शुक्ललेश्यदेवस्तु तथास्वाभाव्याद् घातिप्रकृतीनामन्तःकोटाकोटिप्रमाणमेव स्थितिबन्धं करोति, तत उत्कृष्टसंक्लेशस्थानेऽवर्तमानत्वादुत्कृष्टरसबन्धं न करोतीति । तथा **'भवियेयरमिच्छत्तेसु'** भव्यमार्गणाद्वारे भव्या-ऽभव्यमार्गणाद्वय इति । सम्यक्त्वमार्गणाद्वारे तु केवलैकस्यां मिथ्यात्वमार्गणायामिति । संज्ञ्याहारकमार्गणयोः पुनः **'सण्णिहारगेसु'** संज्ञिमार्गणायामाहारिमार्गणायां चेति । एतासु सप्तषष्टिमार्गणासूत्कृष्टसंक्लेश ओघवत् ज्ञातव्यः, तासु तासु मार्गणासु संज्ञिमिथ्यादृष्टिजीवानां प्राप्यमाणत्वात् । शेषमार्गणासु कीदृशः संक्लेशः ? इत्याह–**'सेसासु'** इत्यादि उक्तशेषासु त्र्युत्तरशतमार्गणासु घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकस्य संज्ञिमिथ्यादृष्टिवत् सर्वोत्कृष्टसंक्लेशाभावात् स्वप्रायोग्यसंक्लेशो वक्तव्य इति ॥२२।२३।२४॥

तदेवमभिहितः संक्लेशः, अथ तेनैव प्रकारेण विशुद्धिसत्का मार्गणाश्रिकथयिषुरार्यायुग्ममाह—

तिणरदुपणिंदितसपणमणवयकायुरलखइअवेएसु ।
लोहचउणाणसंयमसुहुमअचक्खुणयणोहीसु ॥२५॥
सुइलभवियसम्मेसु खइए सण्णिम्मि आहारे ।
ओघविसुद्धी णेया सेसासु सारिहविसुद्धी ॥२६॥

(प्रे०) **'तिणर'** इत्यादि, त्रिनरादिमार्गणासु ओघविशुद्धिः-ओघतुल्या विशुद्धिर्ज्ञेया इति सम्बन्धः । अयम्भावः-यथा ओघे अघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले यादृशी विशुद्धिः, तादृशी विशुद्धिर्मनुष्यादिषट्त्रिंशद्मार्गणासु विज्ञेया । ता मार्गणा नामतः पुनरिमाः-मनुष्यमार्गणास्थाने मनुष्यसामान्य-मनुष्ययोनिमती-पर्याप्तमनुष्यरूपेषु त्रिभेदेषु, इन्द्रियमार्गणास्थाने पुनः **'दुपणिंदि'** पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणाद्वये, कायमार्गणाद्वारे **'तस'** इति द्विकशब्दस्याऽत्राप्यभिसम्बन्धात् त्रससामान्यपर्याप्तत्रसमार्गणाद्वये इति योगमार्गणास्थाने च **'पणमण'** इत्यादि, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगौदारिककाययोगलक्षणेषु द्वादशभेदेषु, वेदमार्गणास्थाने तु

'खइअ०' इत्यादि, क्षपितवेदमार्गणायामिति । कषायमार्गणाद्वारे पुनः **'लोह'** लोभकषाय-मार्गणायामिति । ज्ञाने तु **'चउणाण'** मतिश्रुतावधिमनःपर्यायलक्षणासु चतसृषु मार्गणास्विति । संयममार्गणास्थाने पुनः **'संयमसुहम'** संयमसामान्यसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये इति । दर्शनमार्गणास्थाने च **'अचक्खु'** इत्यादि, चक्षुरचक्षुरवधिलक्षणासु तिसृषु मार्गणास्विति । लेश्यायां तु **'सुक्ल'** शुक्ललेश्यामार्गणायामिति । भव्यमार्गणास्थाने तु **'भविय'** भव्यमार्गणायामिति । सम्यक्त्वमार्गणाद्वारे पुनः **'सम्मेसु'** इत्यादि, सम्यक्त्वसामान्यक्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोरिति । संज्ञिमार्गणास्थाने तु **'सण्णिम्मि'** संज्ञिमार्गणायामिति । आहारकमार्गणास्थाने पुनः **'आहारे'** आहारिमार्गणायामिति ।

एतासु षट्त्रिंशन्मार्गणासु शुभप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धप्रायोग्या उत्कृष्टविशुद्धिः कथमोघतुल्या ? इति चेत् , उच्यते—ओघप्ररूपणायामुत्कृष्टविशुद्धिः क्षपकश्रेणिगतसूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये सम्भवतीति प्रतिपादितम् , ततः क्षपकश्रेणेः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकचरमसमयो यासु यासु मार्गणासु सम्भवति तासु तासु मार्गणास्वोघतुल्या विशुद्धिर्भवति, अत एव पूर्वोक्तासु मार्गणास्वोघतुल्या विशुद्धिः प्ररूपिता ।

शेषमार्गणासु कीदृशी विशुद्धिरित्येतत्प्रतिपादयन्नाह **'सेसासु'** इत्यादि, 'शेषासु'-उक्तशेषासु चतुस्त्रिंशदधिकशतमार्गणासु स्वार्हविशुद्धिः स्वस्वमार्गणाप्रायोग्यविशुद्धिरित्यर्थः, इदमुक्तं भवति-यथा देवगतिमार्गणायां देवगतिप्रायोग्या विशुद्धिर्ज्ञातव्या, तथैव शेषासु मार्गणासु स्वस्वमार्गणाप्रायोग्यविशुद्धिरवगन्तव्येति ॥२५।२६॥

सम्प्रति "तिण्ह अघाईण विवरीओ" इत्यस्योत्सर्गस्य तेजोवायुकायगतचतुर्दशमार्गणासु योऽपवादस्तं दर्शयन्नाह—

णवरं गोअस्स भवे मग्गणपाउग्गतिव्वसंकिट्ठो ।
तेउअणिलभेएसुं सव्वेसुं अत्थ वुच्चइ विसेसो ॥२७॥ [गीतिः]

(प्रे०)**'णवरं'** इत्यादि, केवलमयं विशेषः—सर्वेषु तेजोवायुभेदेषु गोत्रकर्मण उत्कृष्टरसबन्धकस्तत्तन्मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लेशवान् भवेदिति । भावार्थस्त्वेवम्-वेदनीयनामगोत्राणां शुभाशुभप्रकृतिरूपत्वेनोत्कृष्टरसस्तथास्वाभाव्यात् शुभप्रकृतिष्वेव प्राप्यते, वेदनीयनामकर्मणोः सर्वासु मार्गणासु शुभप्रकृतिबन्धसद्भावेन तदुत्कृष्टरसबन्धः शुभप्रकृतिष्वेव संजायते, गोत्रकर्मणस्तु तेजोवायुकायसत्कसर्वभेदेषु केवलाशुभप्रकृतिबन्धसद्भावेन तदुत्कृष्टरसबन्धो नीचैर्गोत्रेण सह निर्वर्त्यते, इत्यतस्तास्वेव मार्गणासु तत्तन्मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लेशवानुत्कृष्टरसबन्धमारचयतीति कथितम् । तेजोवायुमार्गणाभेदास्त्वित्थमवगन्तव्याः तद्यथा—(१) तेजःकायसामान्यमार्गणा (२) सूक्ष्मतेजस्कायमार्गणा (३) बादरतेजःकायमार्गणा (४) पर्याप्तसूक्ष्मतेजःकायमार्गणा (५) अपर्याप्तसूक्ष्मते-

जःकायमार्गणा (६) पर्याप्तबादरतेजःकायमार्गणा (७) अपर्याप्तबादरतेजःकायमार्गणा तथैव वायुकायिकानामपि सप्तमार्गणा अवगन्तव्या इति ।

निरूपितानि सामान्यतः विशेषणानि, अथ गाथाचतुर्थपादेन विशेषतः विशेषणानि निवेदयितुं प्रतिजानाति'**सव्वेसु**'इत्यादि,सामान्यवक्तव्येन कथिते स्वामित्वे यासु मार्गणासु विशेषो दृश्यते, तासु सर्वासु मार्गणासु विशेषः–विशेषतो विशेषणानि उच्यते–प्ररूप्यते इत्यर्थः ॥२७॥

अथ प्रतिज्ञातमेव निर्वहति—

सव्वणिरयेसु देवे गेविज्जंतविउवेसु घाईणं ।
मिच्छादिट्ठी णेयो सम्मादिट्ठी अघाईणं ॥२८॥

(प्रे०) '**सव्वणिरयेसु**' इत्यादि, तत्रादौ चतसृणां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धको मिथ्यादृष्टिः, कुत्र ? सर्वनारकमार्गणास्थानेषु देवसामान्यमार्गणायां भवनपत्यादिग्रैवेयकपर्यन्तासु- भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कद्वादशकल्पोपपन्नवैमानिकनवग्रैवेयकरूपासु देवमार्गणासु तथा वैक्रियकाययोगमार्गणायामित्येतासु चतुस्त्रिंशद्मार्गणासु मिथ्यादृष्टिर्घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकोऽवसेयः, तस्यैव तीव्रसंक्लेशभावात् । अत्र "सव्वत्थ बंधगो" इत्यादि (१९-२०-२१) गाथात्रयेण सामान्यविशेषणानि यथासम्भवं योजनीयानि । तथाहि– साकारो जाग्रत् ज्येष्ठानुभागबन्धगत इति विशेषणानि सर्वत्र सप्तप्रकृतीनां ज्येष्ठानुभागबन्धस्वामिनि नियोज्यानि । तथा सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्त इति विशेषणं पर्याप्तापर्याप्तोभयजीवान्वितमार्गणायां देयम् , अत्र तु वैक्रियवर्ज्जशेषासु त्रयस्त्रिंशन्मार्गणासु तद् विज्ञेयम् , किन्तु वैक्रियकाययोगमार्गणायां केवलपर्याप्ता जीवाः सन्ति, ततः पर्याप्तविशेषणस्याव्यावर्तकत्वात् न योज्यम् । मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लिष्ट इति विशेषणं पुनः घातिप्रकृतीनां स्वामिनि संयोजनीयम् , अघातिनीनां तु मार्गणाप्रायोग्यसर्वविशुद्धिमानिति विशेषणं देयम् । अत्रानतादित्रयोदशदेवभेदवर्जासु एकविंशतिमार्गणासु तीव्रसंक्लेश ओघतुल्यो द्रष्टव्यः । आनतादिषु तु शुक्ललेश्यासद्भावेनौघतुल्यसंक्लेशस्याभावात् मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टः संक्लेश इति ।

अघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः कीदृशः ? '**सम्मादिट्ठी**' इत्यादि, तिसृणामघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः सम्यग्दृष्टिरेव भवति मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया तस्य विशुद्धेरनन्तगुणेनाधिकत्वात् , पूर्वोक्तानि सर्वाणि विशेषणान्यत्रापि योज्यानि, नवरमत्राघातिप्रकृतीनां प्रस्तुतत्वात् मार्गणाप्रायोग्यसर्वविशुद्धिमानिति विशेषणमवधेयं किन्त्वोघतुल्या विशुद्धिर्नावसातव्या, एतासु मार्गणासु क्षपकश्रेणेरभावात् ।

तथा च नारकमार्गणास्थाने–जाग्रत् साकारोपयोगेनोपयुक्तः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तस्तीव्रसंक्लिष्टो ज्येष्ठानुभागबन्धगतो मिथ्यादृष्टिर्घातिनीनामुत्कृष्टरसबन्धको भवति, अघातित्रयस्य तु जाग्रत् साकारोपयोगेनोपयुक्तः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तो मार्गणाप्रायोग्यविशुद्धिमान् ज्येष्ठानुभाग-

बन्धगतः सम्यग्दृष्टिरुत्कृष्टरसबन्धको भवतीति भावः । वैक्रियकाययोगमार्गणायामघातित्रयस्योत्कृष्टरसबन्धका देवा एवाऽवसेया इति विशेषः, **महाबन्धकारस्तु** नारकाणामपि तद्बन्धकत्वं निर्दिशतीति ।

नतु ग्रन्थकारेणानुत्तरसुराणां विशेषवक्तव्यता कथं नोक्ता ? सत्यम्, सामान्यवक्तव्यत्वेनैव तेषां विशेषवक्तव्यता गतार्था, तदन्यविशेषाभावात् । तथाहि–तेषु सर्वे सम्यग्दृष्टयस्ततो नावश्यकता मिथ्यादृष्ट्यादिविशेषविशेषणानाम्, तथा च घातिप्रकृतीनां मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लिष्ट इति सामान्यविशेषणेनाघातिप्रकृतीनां च मार्गणाप्रायोग्यसर्वविशुद्ध इति सामान्यविशेषणेन तथा साकारादिशेषविशेषणैश्चरितार्थत्वात् विशेषवक्तव्यता नोक्ता, एवमग्रेऽपि यासु मार्गणासु विशेषवक्तव्यता न प्रदर्श्यते तत्र सामान्यवक्तव्यत्वेनैव स्वामित्वमभ्यूह्यम् ॥२८॥

कृता नारकदेवगत्यादिमार्गणाद्वारेषु ज्येष्ठानुभागबन्धस्वामिनो विशेषविशेषणानां वक्तव्यता, इदानीं तिर्यग्गतिमार्गणाभेदेषु तामेव चिकीर्षुराऽऽह—

मिच्छादिट्ठी सण्णी णेयो तिरियतिपणिंदितिरियेसु ।
घाईण अघाईणं तिण्हं देसविरई हवए ॥२९॥

(प्रे०) **मिच्छादिट्ठी'** इत्यादि, घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्ज्ञेयः । कुत्र ? **'तिर्यक्त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु'** तिर्यग्गतिसामान्ये, पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिमती-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिमार्गणात्रये इति तिर्यग्गतिमार्गणास्थानस्य चतुर्षु भेदेषु घातिनीनामुत्कृष्टरसबन्धकः संज्ञिमिथ्यादृष्टिर्ज्ञातव्यः । असंज्ञ्यपेक्षया संज्ञिजीवानामेव तीव्रसंक्लेशः, ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं संज्ञी इति विशेषणम्, तत्रापि सम्यग्दृष्टिजीवानां व्यावर्तनार्थं मिथ्यादृष्टिरिति विशेषणमुपात्तं, संज्ञिमिथ्यादृष्टिजीवानामेवौघतुल्यतीव्रसंक्लेशस्य सम्भवात् । तिसृणामघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः कीदृशः ? **'देसविरई'** पञ्चमगुणस्थानकवर्ती भवति, **अयम्भावः**–अघातित्रयस्योत्कृष्टरसबन्धो मार्गणाप्रायोग्यतीव्रविशुद्धिनिबन्धनः, अत्र च सर्वसंयतस्याऽभावात् देशविरतस्यैवोत्कृष्टविशुद्धिः सम्भवति, ततस्तिर्यग्गतिमार्गणास्थानस्य चतुर्षु भेदेष्वेतद्विशेषणं गृहीतमिति । प्रागुक्तानि सामान्यविशेषणान्यत्रापि योज्यानि ॥२९॥

अथ तिर्यग्गतिशेषभेदादिषु तथा मनुष्यगतिमार्गणादिष्वप्युत्कृष्टरसबन्धकं विशेषयन्गाथायुग्ममाह–

सण्णी सत्तण्ह अपज्जपणिंदितिरियपणिंदियतसेसु ।
अह तिणरेसु तहा पणमणतिवयणजोगसण्णीसु ॥३०॥
मिच्छादिट्ठीओ खलु जाणेयव्वो चउण्ह घाईणं ।
सुहमस्स चरमसमये खवगो तिण्हं अघाईणं ॥३१॥

(प्रे०) '**सण्णी**' इत्यादि, सप्तानामायुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः संज्ञी भवतीति शेषः, केषु मार्गणाभेदेषु ? '**अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियत्रसेषु**', तत्र अपर्याप्त इति पदस्य प्रत्येकं सम्बन्धादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणा, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणा, अपर्याप्तत्रसकायमार्गणा इति । एतासु तिसृषु मार्गणास्वुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनि संज्ञीति विशेषणं देयम् । एतासु मार्गणासु संज्ञ्यसंज्ञिनो द्विविधा जीवाः सन्ति, असंज्ञिजीवापेक्षया संज्ञिजीवानामेव तीव्रसंक्लेशविशुद्धी भवतः, ततः सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः संज्ञीत्युक्तम्, तथा प्रागभिहितानि साकारादिसामान्यविशेषणानि यथासम्भवं स्वयमेव योज्यानि ।

गता तिर्यग्गतिमार्गणा, साम्प्रतं मनुष्यादिमार्गणासु सार्धया गाथया स्वामित्वमाह–'**अह**' इत्यादि, 'अथ' आनन्तर्ये, तिर्यग्गतिमार्गणाऽनन्तरं मनुष्यादिमार्गणास्वित्यर्थः । त्रिनरेषु–मनुष्यसामान्य-मनुष्ययोनिमती–पर्याप्तमनुष्यरूपेषु त्रिषु मार्गणास्थानेषु, '**तथा**' समुच्चयार्थः, '**पञ्चमनस्त्रिवचनयोगसंज्ञिषु**' मनोयोगस्य पञ्चमार्गणास्थानेषु, वचनयोगसामान्यव्यवहारवचनवर्जत्रिवचनयोगमार्गणासु तथा संज्ञिमार्गणास्थाने च चतसृणां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धको मिथ्यादृष्टिरेव ज्ञातव्यः । मिथ्यादृष्टीनामेव तीव्रसंक्लेशसद्भावात् । शेषविशेषणानि पूर्ववद् भावनीयानिति ।

अघातिनीनामाह–'**सुहुमस्स**' इत्यादि, तिसृणामघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमानः क्षपको ज्ञातव्यः, अत्रापि प्रागुक्तानि विशेषणानि योज्यानि । एतासु मार्गणास्वोघतुल्ये संक्लेशविशुद्धी द्रष्टव्ये, **ननु** वचनसामान्यव्यवहारवचनमार्गणाद्वयस्यात्र वर्जनं कथम् ? उच्यते–एतन्मार्गणाद्वये संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च द्विविधा जीवाः सन्ति, ततोऽसंज्ञिजीवानां व्यावृत्त्यर्थं संज्ञीति विशेषणस्य तत्र सार्थकत्वम्, अत्र तु व्यवच्छेद्याभावेन तद्विशेषणस्य निरवकाशत्वम्, तेनात्र वचनसामान्यव्यवहारवचनमार्गणाद्वयस्य वर्जनं कृतम् । अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वं सामान्यवक्तव्यत्वेन गतार्थमिति ॥३०।३१॥

समाप्ता गतिमार्गणासर्वभेदेषु स्वामित्वप्ररूपणाया विशेषवक्तव्यता । साम्प्रतमिन्द्रियमार्गणाया एकेन्द्रियभेदेषु तथा लाघवार्थं कायमार्गणायाः स्थावरभेदेषु तामेवाह—

सत्तण्ह बायरो खलु एगिंदिणिगोअपंचकायेसु ।
गोअस्स भूदगवणं एगिंदियसव्वभेएसु ॥३२॥

(प्रे०) '**सत्तण्ह**' इत्यादि, सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धको बादरो बोध्य इति शेषः, '**खलु**' एवकारार्थः, ततः बादर एव इत्यर्थः । कुत्र ? '**एकेन्द्रियनिगोदपञ्चकायेषु**' एकेन्द्रियसामान्यमार्गणायां साधारणवनस्पतिकायमार्गणायां पञ्चसु पृथ्व्यादिसामान्यमार्गणाभेदेषु सूक्ष्मजीवानां व्यावृत्त्यर्थं बादर इति विशेषणं भणितम्, सूक्ष्मजीवापेक्षया बादरेषु संक्लेशविशुद्ध्योराधिक्याद् घात्यघातिप्रकृ-

तीनामुत्कृष्टरसबन्धो भवतीति, अत्रापि साकारादिसामान्यविशेषणानि स्वयमेव भाव्यानि, शेषेषु षट्स्वेकेन्द्रियभेदेषु तथा पृथ्व्यादिचतुष्कस्य प्रत्येकं स्वसामान्यभेदवर्जेषु षट्सु षट्सु भेदेषु तथा वनस्पतिकायस्य शेषनवभेदेषु सप्तप्रकृतीनां सामान्यवक्तव्यत्वेनैवोत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वं वेदितव्यम् । एकेन्द्रियमार्गणास्थानस्य सप्तभेदेषु तथा स्थावरकायमार्गणास्थानस्य एकोनचत्वारिंशद्भेदेषु स्वामित्वमुक्तम् ।

इदानीं गाथार्धेन गोत्रकर्मण उत्कृष्टरसस्वामित्वविषयकं विशेषमाह–**'गोअस्स'** इत्यादि, एकेन्द्रियसर्वभेदेषु गोत्रकर्मण उत्कृष्टरसबन्धकः स्थावरभेदेभ्यः को जीवोऽस्ति ? इत्याह– **'भूदगवणं'**इति पृथ्वीजलवनस्पतिकायाः, पृथ्व्यब्वनस्पतिकायिकेभ्योऽन्यतरजीवो गोत्रकर्मण उत्कृष्टरसबन्धक इत्यर्थः, एतेन तेजोवायुकायिकयोरेकेन्द्रियमार्गणास्थानेषु गोत्रकर्मण उत्कृष्टरसबन्धो न भवतीति ज्ञापितम् ,कथम् ? इति चेत् , उच्यते–नीचैर्गोत्रापेक्षया उच्चैर्गोत्रकर्मण उत्कृष्टरसस्याधिक्यात् तद्बन्धकस्यैव गोत्रकर्मण उत्कृष्टरसबन्धो भवति, अतस्तेजोवायुकायिकयोरुच्चैर्गोत्रस्य बन्धाभावेन तौ गोत्रस्योत्कृष्टरसबन्धकौ न भवत इति । विकलेन्द्रियमार्गणास्थानस्य नवभेदेषु सामान्यवक्तव्यत्वेनैव स्वामित्वं पूर्ववद् भावनीयं संज्ञिसम्यग्दृष्ट्यादिरूपाणां विशेषविशेषणानामभावादिति ॥३२॥

अधुना शेषैकेन्द्रियकायभेदेषु तथा लाघवार्थं तत्तुल्यवक्तव्यत्वेनान्या अपि मार्गणाः संगृह्य तत्र स्वामित्वविषयकविशेषमार्याद्वयेनाह—

दुपणिंदितसेसु तहा वयववहारवयकायउरलेसु ।
लोहे चक्खुम्मि तहा अचक्खुभवियेसु आहारे ॥३३॥
सण्णी मिच्छादिट्ठी जाणेयव्वो चउण्ह घाईणं ।
सुहुमस्स चरमसमये खवगो तिण्हं अघाईणं ॥३४॥

(प्रे०) **'दुपणिंदितसेसु'** इत्यादि, द्विशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, ततश्चायमर्थः–'द्विपञ्चेन्द्रिययोः'-पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियलक्षणयोः 'द्वित्रसयोः' त्रसकायसामान्यपर्याप्तत्रसकायरूपयोश्च, तथाशब्दः समुच्चयार्थः,एवमेवोत्तरार्धेऽपि तथाशब्दो वाच्यः । तथा वचनयोगसामान्यव्यवहारवचनयोगकाययोगसामान्यौदारिककाययोगलक्षणेषु चतुर्षु योगमार्गणास्थानेषु तथा लोभकषाये तथा चक्षुर्दर्शने तथाऽचक्षुर्दर्शने तथा भव्ये तथाऽऽहारकमार्गणास्थान इति त्रयोदशमार्गणास्थानेषु चतसृणां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्ज्ञातव्यः । एतेष्वेव मार्गणास्थानेषु तिसृणामघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमानः क्षपको ज्ञातव्यः । अत्रापि साकारप्रभृतीनि सामान्यविशेषणानि प्रागिव योजनीयानि । एतासु त्रयोदश-

मार्गणासु सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनामोघसदृशत्वेन भावनाऽप्योघवद् विधेया ।।३३।३४।।

निगदितमिन्द्रियकायमार्गणास्थानयोः सर्वभेदेषु तथा योगमार्गणास्थानस्य पञ्चमनःपञ्चवचनकाययोगसामान्यौदारिककाययवैक्रियकाययोगभेदेषु विशेषरूपेण बन्धस्वामित्वम् । साम्प्रतमौदारिकमिश्रयोगे तदेवाह—

ओरालमीसजोगे सण्णी मिच्छो चउण्ह घाईणं ।
सम्मादिट्ठीयो खलु णेयो तिण्हं अघाईणं ।।३५।।

(प्रे०) '**ओरालमीसजोगे**' इत्यादि, औदारिकमिश्रयोगे चतसृणां घातिप्रकृतीनां संज्ञी मिथ्यादृष्टिः, तिसृणामघातिप्रकृतीनां सम्यग्दृष्टिः स्वामीति गम्यते, खलुः एवकारार्थे ज्ञेयः । साकारादिसामान्यविशेषणानि स्वयमेव योजनीयानि । अत्र करणापर्याप्तको ग्राह्यः, न तु लब्ध्यपर्याप्तक इत्यक्षरार्थः । **भावार्थः पुनरेवम्**—देवनारकवर्जसर्वजीवानामपर्याप्तावस्थायामौदारिकमिश्रयोगो वर्तते, तत्र संज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टिरेव तीव्रसंक्लिष्टस्ततः स एव घातिचतुष्कस्योत्कृष्टरसबन्धकतया लभ्यते, सम्यग्दृष्टिजीवः पुनः सर्वविशुद्धस्ततः स एवाघातित्रयस्योत्कृष्टरसबन्धकत्वेन प्राप्यत इति ।।३५।। अधुना वैक्रियमिश्रयोगे तदेवाह—

विक्कियमीसे मिच्छो घाईणं होअए अघाईणं ।
सम्मो व सुरो व पढमसमये सेणीअ परिवडिउं ।।३६।।

(प्रे०) '**विक्कियमीसे**' इत्यादि, वैक्रियमिश्रयोगे मिथ्यादृष्टिर्घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धको भवति, सम्यग्दृष्ट्यपेक्षया मिथ्यादृष्टेरतिसंक्लिष्टत्वात् । अघातिनीनां पुनः सम्यग्दृष्टिरुत्कृष्टरसबन्धको भवति, तस्य मिथ्यादृष्ट्यापेक्षयाऽतिविशुद्धत्वात् । वा शब्देन मतान्तरमुपक्षिपन्नाह—'**सुरो व**' इत्यादि, सुरो वैमानिकदेवोऽघातित्रयस्योत्कृष्टरसबन्धको भवतीति पूर्वेणान्वयः । तद्वेवस्य पूर्वक्रियामाह—'**श्रेणितः परिपत्य**' उपशमश्रेणेरुपशान्तमोहगुणस्थानकतो भवक्षयेण च्युत्वा इति यावत् । अपूर्वकरणादिगुणस्थानतः पतित्वपेक्षयोपशान्तमोहगुणस्थानकतः प्रच्याविनोऽत्यन्तविशुद्धत्वादत्रोपशान्तमोहगुणस्थानकतः पतनमिष्यते इति भावः । कुत्र स्थितः ? इत्याह—'**पढमसमये**' देवभवप्रथमसमये, स्थित इति शेषः; एतेन विग्रहगत्याऽऽगतस्योत्कृष्टरसबन्धः प्रतिषिद्धः, विग्रहेणागतस्य देवभवद्वितीयादिसमय एव वैक्रियमिश्रयोगस्य प्रवर्तनात् । प्रथमाभिप्रायेणाऽघातिनीनामुत्कृष्टरसबन्धको वैक्रियमिश्रयोगस्य कस्मिंश्चिदपि समये वर्तमानः प्रागुक्तसाकारादिविशेषणविशिष्टः सम्यग्दृष्टिः संभवति । द्वितीयेन तु श्रेणितः पतित्वोत्पत्तिप्रथमसमये वर्तमानः साकारादिविशेषणविशिष्टः सम्यग्दृष्टिर्देवो भवतीति विशेषः । कालादिद्वारप्ररूपणाऽवसरे प्रायेण एकमेव मतमवलम्ब्याभिधास्यते, ततस्तत्र मतान्तरमाश्रित्य स्वयमेव भावना कार्या ।

आहारकाहारकमिश्रयोगमार्गणाद्वये सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वं साकारादिसामान्य-विशेषणवक्तव्यतयैव गतार्थमिति ॥३६॥

अथौदारिकादिषु त्रिमिश्रयोगेषु सप्तप्रकृतीनां प्रागुक्तबन्धस्वामिनमभिप्रायान्तरेण विशेषत आह—

अहवा उरलाईसुं तिमिस्सजोगेसु सोऽत्थि सत्तण्हं ।
योऽणंतरम्मि काले गहेहिइ सरीरपज्जत्तिं ॥३७॥

(प्रे०) 'अहवा' इत्यादि, अथवाशब्दो मतान्तरद्योतकस्ततोऽन्यमते इत्यर्थः, औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्राहारकमिश्रयोगलक्षणेष्वौदारिकादिषु त्रिमिश्रयोगेषु तच्छब्देन प्रागुक्तस्वामिनं परामृशति, ततश्चौदारिकमिश्रादियोगेषु यः प्रकृतस्वामित्वेनोक्तः स सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकोऽस्ति, स कीदृशः ? इत्युच्यते–' यो ' इत्यादि, यो 'ऽनन्तरे काले' अनन्तरसमये शरीरपर्याप्तिं ग्रहीष्यति, शरीरपर्याप्त्या निष्पत्तेरर्वागपर्याप्तावस्थायाश्चरमसमये वर्तमानः प्रकृतरसबन्धको भवतीति भावः ।

प्रथममतेनौदारिकमिश्रयोगे घातिनीनामुत्कृष्टरसबन्धकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिश्च, वैक्रियमिश्रयोगे तु मिथ्यादृष्टिरिति, अघातिनीनां पुनरेतन्मार्गणाद्वये सम्यग्दृष्टिरिति, तथाऽऽहारकमिश्रयोगे सामान्यवक्तव्यतया स्वामित्वमुक्तं, द्वितीयमतेन तु प्रथममतोक्तः सप्तप्रकृतीनां यः प्रकृतबन्धस्वामी भवति स पुनः यदि शरीरपर्याप्त्याऽपर्याप्तावस्थाकालस्य चरमसमये वर्तमानो निरुक्तसाकारादिविशेषणविशिष्टो भवति, तदोत्कृष्टरसबन्धको भवतीति द्वितीयमतं प्रथममतोक्तस्वामिनं विशिनष्टि ।

नन्वत्रा-ऽन्तिमपर्याप्तिमुत्सृज्य शरीरपर्याप्तिः कथं गृहीता ? इति चेत् ,उच्यते–त्रिमिश्रयोगेषु करणापर्याप्त एवोत्कृष्टरसबन्धकः, लब्ध्यपर्याप्तापेक्षया तस्याऽधिकतमविशुद्धेरधिकतमसंक्लेशस्य च सम्भवात् , करणाऽपर्याप्तजीवानां तु शरीरपर्याप्त्याः समाप्तौ सत्यां मिश्रयोगो न तिष्ठति, शुद्धकाययोगस्य प्रवर्तनात् , शरीरनिष्पत्तेरर्वाग् मिश्रकाययोगो भवति, न परतः । तथा चोक्तम्–

"[1]तेएण कम्मएणं आहारेई अणंतर जीवो । तेण परं मिस्सेण जाव सरीरस्स निप्फत्ती॥"

योऽनन्तरसमयेऽन्तिमपर्याप्तिं निष्पादयिष्यति स एव यद्युत्कृष्टरसबन्धक इत्येवमुच्यते तदा "मिस्सेणं जाव सरीरस्स निप्फत्ती" इति वचनेन मिश्रयोगमार्गणाया अभावात् प्रकृतबन्धस्वामित्वं न प्राप्यते, ततोऽन्तिमपर्याप्तिं विहाय शरीरपर्याप्तिर्गृहीतेति ॥३७॥

इदानीं कार्मणकाययोगाऽनाहारकमार्गणयोः प्रकृतबन्धस्वामित्वस्य विशेषं दर्शयितुकाम आह—

कम्माणाहारेसुं मिच्छो सण्णी हवेज्ज घाईणं ।
सम्मो व सुरो व पढमसमये सेणीअ पडिउमणणेसिं ॥३८॥ [गीतिः]

---

[1] "जोएण कम्मएणं" इति पाठा० ।

(प्रे०) '**कम्माणाहारेसु**' इत्यादि, कार्मणकाययोगमार्गणायां तथाऽनाहारकमार्गणायां चतसृणां घातिप्रकृतीनां संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्भवेत्, उत्कृष्टरसबन्धक इति गम्यते, अन्यासामघातिनीनां तु कः ? '**सम्मो**' इत्यादि, अन्यासाम्–अघातिनीनामुत्कृष्टरसबन्धकः सम्यग्दृष्टिरिति । वाशब्दो मतान्तरं सूचयति, ततो द्वितीयमते स्वामिनमाह–उपशमश्रेणितः पतित्वा च्युत्वा देवभवप्रथमसमये वर्तमानो देवोऽघातिनीनामुत्कृष्टरसबन्धको भवेदिति पूर्वेणान्वयः । भावना चात्र पूर्ववत्कार्या नवरमत्रकार्मणकाययोगस्य अनाहारकमार्गणायाश्च प्रस्तुतत्वाद् विग्रहेणागतस्यैव देवभवप्रथमसमये उत्कृष्टरसबन्धो भवतीत्यवधार्यम् । तथा चात्र सप्तप्रकृतिबन्धस्वामिनि निरुक्तसाकारादिविशेषणानि यथासंभवं नियोज्यानि ॥३८॥

उपदर्शितं योगमार्गणास्थानस्य सामान्यभेदयुक्तेष्वष्टादशभेदेषूत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वम् । अथ क्रमप्राप्ते वेदमार्गणास्थाने निर्माणपुरस्तुल्यवक्तव्यत्वेन कषायमार्गणास्थानेऽपि तत् सममेवाह—

वेअकसायतिगे खलु सण्णी मिच्छो हवेज्ज घाईणं ।
खवगो सचरमसमये अणियट्टीए अघाईणं ॥३९॥

(प्रे०) '**वेअकसायतिगे**' इत्यादि, अत्र द्वन्द्वगर्भतत्पुरुषः स्त्रीपुरुषनपुंसकलक्षणेषु त्रिषु वेदेषु तथा क्रोधमानमायारूपेषु त्रिषु कषायेषु घातिनीनामुत्कृष्टरसबन्धकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्भवति । प्रागुक्तसाकारादिविशेषणानि स्वयमेव योज्यानि । अत्रोत्कृष्टसंक्लेश ओघतुल्यो भवति, ओघवदत्राऽपि पर्याप्तसंज्ञिमिथ्यादृष्टीनां सद्भावात्, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे । तिसृणामघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकोऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानके स्वस्वमार्गणायाश्चरमसमये वर्तमानः क्षपको भवति । **तथाहि**–स्त्रीवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्यानिवृत्तिबादरगुणस्थानकस्य संख्यातबहुभागेषु गतेषु एकसंख्यातभागे शेषे च स्त्रीवेदस्योदयविच्छेदो भवति, अतस्तत्र स्त्रीवेदमार्गणाचरमसमये वर्तमानः क्षपकोऽघातिनीनामुत्कृष्टरसबन्धको भवति, एवं पुरुषवेदनपुंसकवेदयोरपि भावना कार्या, नवरं स्त्रीवेदोदयविच्छेदस्थानत ऊर्ध्वमन्तर्मुहूर्ते गते पुरुषवेदस्योदयविच्छेदो भवति । एवमुत्तरोत्तरान्तर्मुहूर्ते गते क्रोधस्य मानस्य मायाकषायस्य चोदयविच्छेदो भवति, ततः स्वस्वमार्गणायाश्चरमसमये तत्तद्वेदादियुक्तः क्षपक उत्कृष्टरसबन्धको भवति तथा च भिन्नभिन्नस्थाने उत्कृष्टरसस्य बध्यमानत्वादुत्कृष्टरसस्य हीनाधिक्यं भवति । तद्यथा–स्त्रीवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य नपुंसकवेदेन च क्षपकश्रेणिमारूढस्याघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसः परस्परं तुल्यः, अनिवृत्तिकरणस्य तुल्यस्थान एव स्त्रीनपुंसकवेदयोरुदयविच्छेदात् । स च रसः पुरुषवेदादिमार्गणाऽपेक्षया स्तोकः, ततः पुरुषवेदेन प्रस्थापकस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणेनाधिकः, स्त्रीवेदोदयविच्छेदस्थानत ऊर्ध्वमन्तर्मुहूर्ते गते तस्योदयविच्छेदात् । ततोऽपि क्रोधमार्गणायामुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणाधिकः, भावना पुरुषवेदवत्कार्या । ततोऽपि मानमार्गणायामनन्तगुणः, ततोऽपि मायामार्गणायामघातिनीनामुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणाधिक इति ध्येयम् ॥३९॥

साम्प्रतमपगतवेदसूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणाद्वये प्रकृतबन्धस्वामित्वं मार्गयितुकाम आह

गयवेए तह सुहमे घाईणुवसामगो णिवडमाणो ।
सेढीअ चरमसमये खवगोऽण्णाण सुहुमस्स चरमखणे ॥४०॥[गीतिः]

(प्रे०) **'गयवेए'** इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां तथा सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां घातिनीनामुत्कृष्टरसबन्धकः कीदृशः ? **'उपशामकः'** क्षपकापेक्षयाऽस्य संक्लिष्टत्वात् । उपशामकः पुनः आरोहक उतावरोहकः ? इत्याह–**'श्रेणितो निपतन्'** उपशान्तमोहगुणस्थानकादद्धाक्षयेण पतनशीलः,अवरोहक इत्यर्थः,आरोहकतोऽवरोहकस्य तीव्रसंक्लेशसद्भावात् । अवरोहकोऽपि स्वस्वमार्गणायाः कस्मिन् समये वर्तमानः ? इत्याह-**'चरमसमये'**स्वस्वमार्गणायाश्चरमसमये वर्तमान इत्यर्थः ।

एतदुक्तं भवति—सूक्ष्मसंपरायमार्गणायामुपशमश्रेणिमारोहकस्य यः प्रथमसमयः स पुनरवरोहकस्य तस्या मार्गणायाश्चरमसमयो भवति , तथा चारोहकस्य यत्र वेदस्योदयविच्छेदो भवति तत्रावरोहकस्यापगतवेदमार्गणायाश्चरमसमयो भवति, एतस्मिंश्चरमसमय एव मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लिष्टत्वेन श्रेणितोऽवरोहकस्य घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धो भवति ।

अपि चापगतवेदमार्गणायां पुरुषवेदेनोपशमश्रेणिमुपस्थितजीवापेक्षया स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन चोपस्थितस्यातिसंक्लिष्टत्वेन घातिनीनामुत्कृष्टरसबन्धो भवति,कुतः ? स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन वा श्रेणिं समारूढा यस्मिन् स्थानेऽवेदिनो भवन्ति तत्स्थानादूर्ध्वमन्तर्मुहूर्ते गते पुंवेदेन श्रेणिं समारूढा अवेदिनो जायन्ते न त्वर्वाक् । तथा च प्रतिपातकालेऽप्यानुलोम्येन पुंवेदेनोपस्थितानां यत्र पुंवेद उदेति तत्स्थानादन्तर्मुहूर्तातिक्रान्ते सति पुंवेदान्यवेदेन प्रतिपततामुपस्थापकानां स्वस्ववेदोदयो जायते । श्रेणितः प्रतिपततां संक्लिश्यमानतयोत्तरोत्तरसमयभाविरसबन्धोऽनन्तानन्तगुणेनाधिको भवति, ततः पुंवेदोदयात् प्रागवेदावस्थायाश्चरमसमये पुंवेदेनोपस्थापकस्य यावान् रसबन्धो जायते, तदपेक्षयाऽसंख्येयसमयप्रमाणान्तर्मुहूर्तानन्तरं स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन चोपस्थापकानां प्रतिपततां स्वस्ववेदोदयादर्वागपगतवेदावस्थायाश्चरमसमये यो रसबन्धः सोऽनन्तगुणेनाधिकः । ततोऽपगतवेदमार्गणायां घातिनीनामुत्कृष्टरसबन्धः स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन च श्रेणिमारूढस्यावगन्तव्यः न पुनः पुंवेदेन श्रेणिं समारूढस्येति ।

अथाघातिनीनामाह–**'खवगो'** इत्यादि ,अन्यासाम्—प्रागुक्ताभ्योऽन्यास्तासां तिसृणामघातिनीनामिति यावत् ,उत्कृष्टरसबन्धकः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमानः क्षपको भवतीति गम्यते । पूर्वोक्तानि साकारादिविशेषणान्यत्रापि नियोज्यानि । तथा विशुद्धिरप्यत्रौघतुल्या द्रष्टव्या । लोभकषायमार्गणायामुत्कृष्टरसबन्धस्वामी पञ्चेन्द्रियादिमार्गणाभिः सार्धमोघवत् प्राक् कथितः , तदेवं वेदकषायमार्गणास्थानसर्वभेदेषु प्रस्तुतस्वामित्वप्ररूपणा समाप्ता ॥४०॥

इदानीं ज्ञानमार्गणास्थानस्य त्र्यज्ञानभेदेषु प्रकृतरसबन्धस्वामित्वं समादिशन्नाह—

अण्णाणतिगे सण्णी मिच्छादिट्ठी चउण्ह घाईणं ।
संयमहुत्तो णेयो अंतिमसमये अघाईणं ॥४१॥

(प्रे०) **'अण्णाणतिगे'** इत्यादि, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानलक्षणासु तिसृष्वज्ञानमार्गणासु घातिनीनामुत्कृष्टरसबन्धकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्भवति । स च चतुर्गतिकान्यतरो ज्ञेयः, चतुर्गतिषु संज्ञिमिथ्यादृष्टिजीवानां सद्भावात् । न चात्र मिथ्यादृष्टिरिति विशेषणमव्यावर्तकमिति वाच्यम्, सास्वादनगुणस्थानगतानामज्ञानजीवानां व्यवच्छेद्यानां सम्भवेन तस्य व्यवच्छेदकत्वोपपत्तेः, तथा विभङ्गज्ञानमार्गणायां सर्वे जीवाः संज्ञिन एव किन्तु ग्रन्थकारेण लाघवार्थमज्ञानमार्गणाद्वयेन सह विभङ्गज्ञानमार्गणां संगृह्य स्वामित्वनिरूपणं कृतं ततस्तत्र 'संज्ञी' विशेषणं स्वरूपदर्शकतया बोध्यम् न तु व्यावर्तकतया । अथाघातिनीनां स्वामित्वमाह–**'संयमहुत्तो'** इत्यादिः संयमाभिमुखः संयमं प्रतिपत्तुकामो मिथ्यादृष्टिः स्वस्वमार्गणायाश्चरमसमये मिथ्यात्वस्य चरमसमये वर्तमानोऽघातिनीनामुत्कृष्टरसबन्धको ज्ञेयः, मार्गणागतसर्वजीवेषु तस्यैवातिविशुद्धत्वात् । संयमाभिमुखस्योपादानेन मनुष्य एव प्रकृतबन्धकतया प्राप्यते, मनुष्येतरेषां सर्वविरतेः परिणामासम्भवेन तदभिमुखत्वस्याप्यसम्भवात् ॥४१॥

भणितमज्ञानत्रये प्रकृतस्वामित्वम्, अधुनाऽऽद्यज्ञानत्रयेऽवधिदर्शने सम्यक्त्वौघमार्गणायां च तदेवाभिधातुकाम आह—

मिच्छाहिमुहो अयतो घाईण तिणाणओहिसम्मेसु ।
अंतिमसमयेऽण्णेसिं खवगो सुहमस्स चरमखणे ॥४२॥

(प्रे०) **'मिच्छाहिमुहो'** इत्यादि, त्रिज्ञानेषु–मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानमार्गणासु तथाऽवधिदर्शनमार्गणायां सम्यक्त्वौघमार्गणायां च मिथ्यात्वाभिमुखो-मिथ्यात्वं प्रतिपत्तुकामोऽन्तिमसमये स्वस्वमार्गणायाश्चरमसमयेऽयतः–अविरतसम्यग्दृष्टिरुत्कृष्टरसबन्धको भवति । कथम् ? एतासु मार्गणासु सर्वे सम्यग्दृष्टयः, तेषु च तस्यैवात्यन्तसंक्लिष्टत्वादिति । अत्र मिथ्यात्वाभिमुखदेशविरतादिभ्यो मिथ्यात्वाभिमुखाविरतसम्यग्दृष्टिः संक्लिष्टतरः, अविरतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया देशविरतादीनामनन्तगुणविशुद्धत्वात्, उक्तं च **शतकचूर्णौ**—

"मिच्छादिट्ठी असंजयसम्मदिट्ठी संजयासंजय पमत्त अप्पमत्तसंजया य परंपराओ अणंतगुणविशुद्ध त्ति ।"
ततोऽविरतसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणम् ।

सम्प्रत्यघातिनीनामाह—**'अण्णेसिं'** इत्यादि, अन्यासामघातिप्रकृतीनामित्यर्थः, उत्कृष्टरसबन्धस्वामी सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमानः क्षपकः, तस्याऽत्यन्तविशुद्धत्वात् । निरुक्तसाकारादिविशेषणानि पूर्ववद् ज्ञातव्यानि, तथा चात्र विशुद्धिरोघतुल्या ज्ञेया ॥४२॥

अथ मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां तदेव वक्तुकाम आह—

मणणाणम्मि पमत्तो अंतिमसमये असंयमाहिमुहो ।
घाईण अघाईणं खवगो सुहमस्स चरमखणे ॥४३॥

(प्रे०) **'मणणाणम्मि'** इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां घातिनीनामुत्कृष्टरसबन्धकः प्रमत्तो मुनिर्भवति, कथम्भूतः सः ? इत्याह–अन्तिमसमये वर्तमानः, मार्गणाया इति गम्यते । तदनन्तरं मनःपर्यवज्ञानमार्गणाया अभावादित्यर्थः । कालकरणेन मार्गणान्तरं जिगमिषुरपि मार्गणान्तिमसमयस्थो भवति, ततस्तन्निषेधार्थमाह–**'असंयमाहिमुहो'** अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकं प्रतिपत्तुकामो न पुनर्मिथ्यात्वाभिमुख इत्यर्थः ।

इदमुक्तं भवति–मनःपर्यवज्ञानिनः संयताः संयमात् सम्यक्त्वाच्च युगपच्च्युत्वा मिथ्यात्वं नैव गच्छन्ति, किन्तु प्रथमतः संयमं परिहृत्याऽविरतसम्यक्त्वगुणस्थानके स्थित्वा तदनन्तरं मिथ्यात्वं व्रजन्ति । इत्थं हि तेषां मिथ्यात्वाभिमुखतैव न घटते इति कृत्वा मिथ्यात्वाभिमुख इति विशेषणं विहाय असंयमाभिमुख इति विशेषणस्योपादानम् । अघातिनीनामुत्कृष्टरसबन्धकः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमानः क्षपको भवति । साकारादिविशेषणानां भावना पूर्ववत् कार्या । अकषायकेवलज्ञानकेवलदर्शनयथाख्यातसंयममार्गणाम् कषायजन्यानुभागस्याभावेनात्र ग्रन्थेऽनुपयोगित्वादेताश्चतस्रो मार्गणा अनभिकृता इति प्रागेव निवेदितम् ॥४३॥

निरूपितं ज्ञानमार्गणास्थानस्य सर्वभेदेषूत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वम्, अथ संयममार्गणास्थानस्य संयमसामान्यलक्षणे प्रथमभेदे तदेव प्रतिपादनार्थमाह—

घाईण मिच्छहुत्तोऽत्थि पमत्तो संयमम्मि चरमखणे ।
सुहमस्स चरमसमये खवगो तिण्हं अघाईणं ॥४४॥

(प्रे०) **'घाईण'** इत्यादि, संयमसामान्यमार्गणायां घातिनीनामुत्कृष्टरसबन्धको मिथ्यात्वाभिमुखो मार्गणायाश्चरमसमये वर्तमानः प्रमत्तयतिरस्ति, सर्वसंक्लिष्टत्वात्तस्य । तिसृणामघातिनीनामुत्कृष्टरसबन्धकः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमानः क्षपको भवति । भावना चात्र सुगमा ॥४४॥

साम्प्रतं सामायिकछेदोपस्थापनीयमार्गणाद्वये तदाह—

सामाइअछेएसुं घाईण चरमखणे पमत्तजई ।
मिच्छाहिमुहोऽण्णेसिं खवगो अणियट्टिअंतखणे ॥४५॥

(प्रे०) **'सामाइअछेएसु'** इत्यादि, सामायिकछेदयोः-सामायिकछेदोपस्थापनीयमार्गणयोः, "भीमो भीमसेन" इति न्यायेनात्र छेदशब्देन छेदोपस्थापनीयस्य ग्रहणम् । एतन्मार्गणाद्वये घातिनीनामुत्कृष्टरसबन्धको मिथ्यात्वाभिमुखः स्वस्वमार्गणायाश्चरमसमये वर्तमानः प्रमत्तयतिर्भवति ।

तद्बन्धकेषु सोऽतिसंक्लिष्ट इति कृत्वा । अथाघातिनीनामाह—**'अण्णेसिं'** इत्यादि , अन्यासामघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकोऽनिवृत्तिकरणगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमानः क्षपको भवति । तदनन्तरसमये सूक्ष्मसम्परायलक्षणायाः संयममार्गणायाः प्रवर्तनेन प्रस्तुतमार्गणाद्वयस्याभावात् प्रकृतबन्धस्वामित्वं न प्राप्यते, ततोऽनिवृत्तिकरणगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमान इत्युक्तः । साकारादिविशेषणानि प्राग्वद् योज्यानि ॥४५॥

अथ परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायां तदेवाह—

घाईण छेअहुत्तो परिहारेऽतिमखणे पमत्तमुणी ।
अपमत्तोऽण्णेसिं उअ कयकरणोऽणंतरे भावी ॥४६॥

(प्रे०) **'घाईण'** इत्यादि , परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकश्छेदोपस्थापनीयाभिमुखः स्वमार्गणायाश्चरमसमये वर्तमानः प्रमत्तमुनिर्भवति, तद्बन्धकेषु तस्योत्कृष्टसंक्लिष्टत्वात् । सम्प्रत्यघातिनीनां तदेवाह—**'अपमत्तो'** इत्यादि, अन्यासामघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकोऽप्रमत्तमुनिर्भवति, अत्यन्तविशुद्धत्वात् । प्रकृतबन्धकस्य मतान्तरेण पुनरन्यविशेषमाह—'उअ' इत्यादि, उतशब्दो विकल्पार्थकः, ततश्चान्यमते इत्यर्थः, **'कृतकरणोऽनन्तरे भावी'** निम्रुणामघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः स भवति, योऽनन्तरसमये कृतकरणो भविष्यति, एवम्भूतोऽप्रमत्तमुनिर्ज्ञातव्य इत्यर्थः , स्वस्थानाऽप्रमत्तसंयतापेक्षया क्षायिकसम्यक्त्वाभिमुखस्यास्य विशुद्धेराधिक्यादित्यभिप्रायः । **इयमत्र भावना**—दर्शनमोहनीयक्षपणायाः प्रस्थापको मिथ्यात्वमोहनीयं मिश्रमोहनीयं च यथाविधि सर्वथा क्षपयित्वा क्रमशः सम्यक्त्वमोहनीयस्यापि चरमखण्डं क्षपयति तदा कृतकरण उच्यते । उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णौ**— "चरिमट्ठिति खंडगे निट्ठिए कयकरणिज्जो त्ति भण्णन्ति ।" एवं चोक्तं **कषायप्राभृतचूर्णावपि**— "चरिमे ट्ठिदिखंडए णिट्ठिदे कदकरणिज्जो त्ति भण्णदे ।" इति । एवंविधकृतकरणाद्धाया अर्वाक् समयेऽप्रमत्तमुनिरघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धको भवति, प्रथममते निरुक्तसाकारादिविशेषणविशिष्टोऽप्रमत्तमुनिरित्येतावन्मात्रमभिहितम् द्वितीयमते तु केवलस्य कृतकरणाद्धायाः प्रागनन्तरसमये रसबन्धं कुर्वतोऽप्रमत्तमुनेः प्रकृतरसबन्धस्वामितया ग्रहणं कृतमिति द्वयोर्विशेषः ॥४६॥

साम्प्रतं देशविरतमार्गणायां प्रकृतबन्धस्वामित्वं दिदर्शयिषुराह—

देसे मिच्छाहिमुहो अंतिमसमये चउण्ह घाईणं ।
तिण्ह अघाईण भवे संयमहुत्तो चरमसमये ॥४७॥

(प्रे०) **'देसे'** इत्यादि, देशविरतिमार्गणायां चतसृणां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धको मिथ्यात्वाभिमुखो मार्गणायाश्चरमसमये वर्तमानो देशविरतो भवेत् , तद्बन्धकेषु सोऽतिसंक्लिष्ट

इति कृत्वा । तिसृणामघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः संयमाभिमुखः स्वमार्गणायाश्चरमसमये वर्तमानो देशविरतो भवेत् ,तस्यातिविशुद्धत्वात् । प्रागुक्तसाकारादिविशेषणानि स्वयमेव योजनीयानि ॥४७॥

असंयममार्गणायां तदेवाह—

अयते मिच्छादिट्ठी सण्णी णेयो चउण्ह घाईणं
सम्मो संयमहुत्तो अंतिमसमये अघाईणं ॥४८॥

(प्रे०) 'अयते' इत्यादि, असंयममार्गणायां चतसृणां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्ज्ञेयः । असंज्ञिजीवापेक्षया संज्ञिजीवानामतिसंक्लिष्टत्वाद् संज्ञीत्युक्तम् , संज्ञिजीवेष्वपि सम्यग्दृष्टिजीवापेक्षया मिथ्यादृष्टीनां तीव्रसंक्लिष्टत्वात् मिथ्यादृष्टिरित्युक्तम् । अघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः संयमाभिमुखः स्वमार्गणायाश्चरमसमये वर्तमानोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्ज्ञेयः इति पूर्वेणान्वयः, कुतः ? अतिविशुद्धत्वात् तस्य । साकारादिविशेषणानि यथासंभवं भावनीयानि । सूक्ष्मसम्परायसंयमभेदस्यापगतवेदेन सह बन्धस्वामित्वमुक्तम् , इति समादिष्टं संयममार्गणायाः सर्वभेदेषूत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वम्, दर्शनमार्गणायां चक्षुरचक्षुर्दर्शनयोः पञ्चेन्द्रियभेदेन सह, अवधिदर्शनस्य चावधिज्ञानभेदेन सह प्रकृतबन्धस्वामित्वं प्रागभिहितम् ॥४८॥

अथ कृष्ण-नील-कापोतलेश्यामार्गणात्रये सप्तानां कर्मणामुत्कृष्टानुभागबन्धस्वामिनं मतान्तरपूर्वकं गाथाद्वयेन प्रस्तौति—

किण्हाए चउगइयो सण्णी मिच्छो हवेज्ज घाईणं ।
णेरइयो देवो वा मिच्छत्ती णीलकाऊसु ॥४९॥
तीसु वि णेच्छन्ति सुरं अण्णे तीसु वि सुरो उ सम्मत्ती ।
तिण्ह अघाईण भवे अण्णे विंति णिरयो सम्मो ॥५०॥

(प्रे०) 'किण्हाए' इत्यादि, कृष्णलेश्यायां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकत्वेन चतुर्गतिकान्यतमः संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्भवेत् , तस्यैव तीव्रसंक्लेशसद्भावात् । नीलकापोतमार्गणाद्वये एतत्प्रकृतीनां प्रस्तुतस्वामिनमाह–'णेरइओ' इत्यादि, नीलकापोतमार्गणाद्वये घातिनीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्वामी नैरयिको देवो वा भवेत् , कुतः ? इति चेत् , उच्यते—एतन्मार्गणाद्वये देवनारकाणामेव तीव्रसंक्लेशसद्भावात् , न तु तिर्यङ्मनुष्याणाम् , कथम् ? भण्यते-नीलकापोतलेश्यावतां तिर्यङ्मनुष्याणामन्तःकोटाकोटिस्थितिबन्धसद्भावात् , प्रस्तुतमार्गणाभाव्युत्कृष्टरसबन्धस्य तूत्कृष्टस्थितिबन्धसहभावित्वाच्चेति ।

एतल्लेश्यात्रये घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्वामी मतान्तरेण प्रदर्श्यते-'तीसु वि णेच्छन्ति सुरं अण्णे' इति अन्ये- ये पुनर्देवानां पर्याप्ताऽवस्थायां कृष्ण-नील कापोताख्यत्र्यशुभलेश्या न

मन्यन्ते, ते **महाबन्धकारादयस्त्रिषु-कृष्णनीलकापोतलेश्याभेदेषु** घातिनीनामुत्कृष्टानुभाग-बन्धस्वामित्वेन देवं नेच्छन्ति, तदभिप्रायेण देवाः प्रस्तुतस्वामितया न प्राप्यन्त इत्यर्थः, तन्मतेनाऽपर्याप्ताऽवस्थायामेवाऽशुभलेश्यासद्भावेन तीव्रसंक्लेशाभावात् ।

एतद्भेदत्रये ऽघातिकर्मणामुत्कृष्टानुभागबन्धस्वामी निगद्यते-**'तीसु वि सुरो उ सम्मत्ती'** इत्यादि, एतेषु कृष्ण-नील-कापोताख्येषु त्रिषु भेदेषु, अपिः- समुच्चयार्थः, सुरो देवः, तुः-अवधारणे, ततश्चाऽयमर्थः- देव एव, न तु नारकमनुष्यादयः । कथम् ? इति चेत्, उच्यते– तीव्रविशुद्धिकाले एवाऽघातित्रयस्योत्कृष्टरसबन्धो जायते, तिर्यङ्मनुष्याणां तु कृष्णादिलेश्यापरिणामे सति तीव्रविशुद्धिर्नैव भवति, यदा तीव्रविशुद्धिर्जायते तदाऽशुभलेश्याः परावृत्त्य शुभतया परिणमन्ति, देवनारकाणां त्ववस्थितलेश्यासद्भावेन लेश्यापरावृत्तेरभावः, अत एव तिर्यङ्मनुष्यास्तत्स्वामितया प्रतिषिद्धाः । **ननु** भवतु तिर्यङ्मनुष्याणामेतल्लेश्यात्रये तीव्रविशुद्ध्यभावेन तत्स्वामित्वाभावः, नारकाणामवस्थितलेश्यासद्भावेन सम्यक्त्वप्राप्त्यादिकाले तीव्रविशुद्धिसद्भावात् देवानामिव नारका अपि तत्स्वामिनो भविष्यन्ति ? इति चेत्, उच्यते–तीर्थकरर्द्धिदर्शनदेशनाश्रवणादितो देवानां सम्भवदुत्कृष्टविशुद्ध्या तुल्यविशुद्धेस्तीव्रवेदनाभिभूतानां नारकाणामसम्भवान्न भवति देवानामिवोत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वमिति नोक्ता देववन्नारका उत्कृष्टरसबन्धस्वामिन इति । यदुक्तं **शतकचूर्णौ**—

'मणुयगई ओरालियसरीरं ओरालियअंगोवंगं वज्जरिसभणारयसंघयणं मणुयाणुपुव्वी य । एएसिं पंचण्हं पगईण उक्कोसाणुभागं देवो सम्मद्दिट्ठी अच्चंतविसुद्धो बंधइ एक्कं वा दो वा समया, विसुद्धिएवि एत्तिओ कालो, मिच्छद्दिट्ठीओ सम्मद्दिट्ठी अणतगुणविसुद्धो त्ति । णेरइगावि सम्मद्दिट्ठिणो अच्चंत विसुद्धा एताओ बंधंति, तेसिं किं उक्कोसं ण भवति ? इति चेत्, उच्यते–णेरइगा तिव्ववेयणाभिभूतत्वात् संकिलिट्ठतरा । अन्नं च तित्थकररिद्धिदंसणवयणसुणणाओ देवाणं तिव्वा विसोही भवति, णेरइकाणं तं णत्थि, तम्हा देवेसु चेव उक्कोसो लब्भइ" । इति अत एवाऽघातित्रयसत्कोत्कृष्टानुभागस्वामित्वेन नारकमनुक्त्वा सम्यग्दृष्टिर्देव एव प्रोक्त इति ।

अत्र मतान्तरमाह–**'अण्णे बिंति'**इत्यादि, अन्ये- अनन्तरोक्तमतावलम्बिन एतासु कृष्णादित्र्यशुभलेश्यासु त्र्यघातिप्रकृतिसत्कोत्कृष्टानुभागस्वामित्वेन सम्यग्दृष्टिर्नारक एव इति वदन्ति । कुतः ? भण्यते-देवानामपर्याप्ताऽवस्थायामेवाऽशुभलेश्यासद्भाव इत्यभिप्रायात् प्रकृतमार्गणासु विबुधानां तीव्रविशुद्धिर्न भवति, अत एव तैर्देवः प्रतिषिद्धः । तिर्यङ्मनुष्याणां च प्रतिषेधः पूर्ववदवसातव्य इति ॥४९।५०॥

सम्प्रति तेजःपद्मलेश्याद्वये तदेव प्रदर्शयन्नाह—

तेउपउमासु देवो मिच्छो घाईण होइ अपमत्तो ।
से काले कयकरणो होहिइ यो स व अघाईणं ॥५१॥

(प्रे)० **'तेउपउमासु'** इत्यादि, तेजोलेश्यायां पद्मलेश्यायां च घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धको

मिथ्यादृष्टिर्देवो भवति । कथम् ? भण्यते-तिर्यङ्मनुष्येषु तेजोलेश्यायां पद्मलेश्यायां च तथाविधतीव्रसंक्लेशो न विद्यते, यदा तीव्रसंक्लेशस्तदा ते परावर्तेते ततस्तेजःपद्मलेश्यामार्गणाद्वये तिर्यङ्मनुष्यौ प्रकृतरसबन्धकौ न भवतः, इत्यतो देव इत्युक्तम् । अघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकोऽप्रमत्तमुनिर्ज्ञातव्यः। तद्बन्धकेषु सोऽतिविशुद्ध इति कृत्वा । वाशब्देन मतान्तरं द्योतयति- **'से काले'** इत्यादि, **'से'** शब्दो मगधदेशप्रसिद्धोऽथशब्दार्थे वर्तते, अथशब्दस्यानन्तर्यार्थकत्वेनाऽनन्तरे काले–समये कृतकरणो भविष्यति, सोऽप्रमत्तमुनिः प्रकृतरसबन्धकः । अत्र तेजोलेश्यायां पद्मलेश्यायां च दर्शनमोहस्य क्षपक इत्युक्तं तत्तु **कषायप्राभृतचूर्णिकाराभिप्रायेणावगन्तव्यम्** , **तथा च** तद्ग्रन्थः–"जइ तेउ-पम्म–सुक्के वि अंतोमुहुत्त कदकरणिज्जो" इति, तट्टीकालेश इत्थम्– तेजःपद्मशुक्ललेश्यानामन्यतमलेश्यायां वर्तमानो दर्शनमोहस्य क्षपणं प्रस्थाप्य पुनः यावत्कृतकरणो भवति, तावत् सैव पूर्वप्रारब्धलेश्या भवति प्रथममतेनाघातिनीनामुत्कृष्टरसबन्धकः प्रागुक्तसाकारादिविशेषणविशिष्टोऽप्रमत्तमुनिः सामान्येनोक्तः, द्वितीयाभिप्रायेण तु कृतकरणाद्धायाः प्रागनन्तरसमये वर्तमानोऽप्रमत्तमुनिरिति द्वयोर्विशेषः ॥५१॥

अथान्यत्राह—

सुक्काए मिच्छत्ती आणतदेवो चउण्ह घाईणं ।
सुहमस्स चरमसमये खवगो तिण्हं अघाईणं ॥५२॥

(प्रे०) **'सुक्काए'** इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायां घातिकर्मणामुत्कृष्टरसबन्धको मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिरानतदेवो ज्ञातव्यः। शुक्ललेश्यायां तिर्यङ्मनुष्याणां तथाविधः संक्लेशो न प्राप्यते, यतः तिर्यङ्मनुष्येषु तीव्रसंक्लेशेन लेश्या परावर्तते । तत आनतदेव उत्कृष्टरसबन्धक इत्युक्तम् । मतान्तरेण तु आनतादिदेवाः प्रकृतस्वामित्वेन वक्तव्याः ।

अत्र संज्ञिमिथ्यादृष्टिजीवानां सद्भावात् घातिप्रकृतिबन्धप्रायोग्यसंक्लेश ओघवत् न प्राप्यते, कथम् ? उच्यते-अस्यैव **बन्धविधान**शास्त्रस्य मूलप्रकृति**स्थितिबन्धखण्डे** शुक्ललेश्यामार्गणायां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिरन्तःकोटाकोटिप्रमाणा प्रागुक्ता, तत उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायाऽभावेन स संक्लेश ओघतुल्यो न भवति। अपि चानतदेवस्य घातिनीनामुत्कृष्टोऽपि रसबन्धो द्विस्थानिक एव शुक्ललेश्यामार्गणायां मोहनीयकर्मणः सत्तायामपि द्विस्थानिकरसस्यैवोक्तत्वात् । उक्तं च **कषायप्राभृतवृत्तौ मोहनीयानुभागविभक्त्यधिकारे**, तथा च तद्ग्रन्थः–'अवगदवेदेसु (मोहनीयस्स अणुभागविहत्तीए) उक्कस्साणुभागट्ठाण बेठाणियं। अणुक्कस्साणुभागट्ठाणं बेट्ठाणियमेगट्ठाणियं वा। एवमाभिणिबोहिय–सुअ–ओहि मणपज्जव–संजद–सामाइय–छेदोवट्ठावणिअ – सुहुमसांपराइय-ओहिदंसण–सुक्कलेसा–सम्मादिट्ठि-खइयदिट्ठित्ति ।" प्रायः मोहनीयकर्मवत् शेषघातिनीनां प्रकृतीनां रसो विद्यते, तत एतासु मार्गणासु प्रकृतरसबन्धकस्य संक्लेश ओघतुल्यो न भवतीति भावः । तिसृणा-

मघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमानः क्षपको भवति । इहौघतुल्या विशुद्धिर्द्रष्टव्या । प्रागुक्तसाकारप्रभृतिविशेषणानि तु यथासम्भवं योज्यानि ॥५२॥

भणिता लेश्यायाः सर्वभेदेषु प्रकृतस्वामित्वविशेषवक्तव्यता, साम्प्रतमभव्यभेदे तामेव निर्देष्टुकाम आह—

घाईणं उ चउण्हं होइ अभवियम्मि बंधगो सण्णि ।
तिण्ह अघाईण भवे सण्णी वा दव्वसंयमी व णरो ॥५३॥ [गीतिः]

(प्रे०) 'घाईणं' इत्यादि, तुकारस्य एवकारार्थकत्वात् अभव्यमार्गणायां चतसृणां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः संज्ञी एव भवति न त्वसंज्ञी । तिसृणामघातिनीनामुत्कृष्टरसबन्धकः संज्ञी भवति, तस्यात्यन्तविशुद्धत्वात् । वाशब्देन मतान्तरमुपक्षिपति—'दव्वसंयमी' इत्यादि, द्रव्यसंयमी निखिलसाधुसामाचारीयुक्तो द्रव्यसंयमी मनुष्यः, तस्य शेषा-ऽभव्यजीवापेक्षया तीव्रविशुद्धत्वात् । अभव्यजीवानां तथास्वभावेन सम्यक्त्वादिपरिणामस्याभावात् द्रव्यसंयमीति भणितम् । कालादिद्वारप्ररूपणाऽवसरे यस्यां यस्यां मार्गणायां यदैकमतमत्रलभ्य प्ररूपणा करिष्यते तदा तत्रान्यमतेन सा स्वयमेवाभ्यूह्या । भव्यमार्गणासत्का स्वामित्वप्ररूपणा पञ्चेन्द्रियमार्गणया सहोक्तेति ॥५३॥

गता भव्यमार्गणा, साम्प्रतं सम्यक्त्वमार्गणायाः क्षायिकसम्यक्त्वभेदे प्रकृतस्वामित्वं चिन्तयन्नाह—

खइए सम्मादिट्ठी असंयमी खलु चउण्ह घाईणं ।
सुहमस्स चरमसमये खवगो तिण्हं अघाईणं ॥५४॥

(प्रे०) 'खइए' इत्यादि, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां चतसृणां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकोऽसंयमी सम्यग्दृष्टिरेव भवति । देशविरताद्यपेक्षया तस्य संक्लेशाधिक्यात् । तिसृणामघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमानः क्षपको भवति । निरुक्तसाकारादिविशेषणान्यत्रापि योज्यानि ॥५४॥

अथोपशमसम्यक्त्वमार्गणायामेतदेवाह—

घाईण मिच्छहुत्तो असंयमी उवसमम्मि चरमखणे ।
सुहमस्स चरमसमये णेयो उवसामगो अघाईणं ॥५५॥[गीतिः]

(प्रे०) 'घाईण' इत्यादि, उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धको मिथ्यात्वाभिमुखो मार्गणायाश्चरमसमये वर्तमानोऽसंयमी अविरतसम्यग्दृष्टिर्भवति । मिथ्यात्वाभिमुखतायाः सत्त्वेऽप्यत्र घातिप्रकृतीनां द्विस्थानिको रस एव बध्यते, मार्गणायाश्चरमसमयेऽपि मिथ्यात्वस्योदयाभावेन सत्तायामपि तासां द्विस्थानिकरसस्याभिहितत्वात् । अघातिप्रकृतीनामुत्कृष्ट-

रसबन्धकः सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमान उपशामको ज्ञेयः । अत्रोपशमश्रेण्यारोहको द्रष्टव्यः, अवरोहकापेक्षया तस्य तीव्रविशुद्धत्वात्, साकारादिविशेषणानि स्वयमेव योज्यानि ॥५५॥

इदानीं वेदकसम्यक्त्वमार्गणायां तदेवाह—

मिच्छाहिमुहो णेयो असंयमी वेअगम्मि चरमखणे ।
घाईण अघाईणं णायव्वो तेउलेसव्व ॥५६॥

(प्रे०) '**मिच्छाहिमुहो**' इत्यादि, वेदकसम्यक्त्वमार्गणायां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धको मिथ्यात्वाभिमुखो मार्गणायाश्चरमसमये वर्तमानोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्ज्ञेयः । अघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकस्तु तेजोलेश्यामार्गणावद् ज्ञातव्यः, तद्यथा-अघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकोऽप्रमत्तमुनिर्ज्ञेय इति प्रथममतम्, द्वितीयमतेन तु कृतकरणाद्धाया अर्वाक् समये वर्तमानो दर्शनत्रिकस्य क्षपकोऽप्रमत्तमुनिर्भवति । अत्रापि साकारादिविशेषणानि भणनीयानि ॥५६॥

सम्प्रति मिश्रदृष्टिमार्गणायामेतदेवाह—

मीसे मिच्छाहिमुहो अंतिमसमये चउण्ह घाईणं ।
णेयो सम्माहिमुहो अंतिमसमये अघाईणं ॥५७॥

(प्रे०) '**मीसे**' इत्यादि, मिश्रदृष्टिमार्गणायां चतसृणां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धको मिथ्यात्वाभिमुखो मार्गणाया अन्तिमसमये वर्तमानः, अघातिनीनां पुनर्मिश्रः सम्यक्त्वाभिमुखो मार्गणायाश्चरमसमये वर्तमानो मिश्रदृष्टिर्ज्ञेयः । साकारादिविशेषणान्यत्रापि वेदितव्यानि । अत्रापि घातिप्रकृतीनां प्रकृतरसबन्धो द्विस्थानिक एव, मिथ्यात्वस्योदयाभावात्, तथा मोहनीयस्य सत्तायामपि द्विस्थानिक एव रस उक्तः । ततः किं? शेषत्रिघातिनीनामपि द्विस्थानिक एव भवति । ततश्च बन्धतोऽपि द्विस्थानिक एवेति । यदुक्तं **मोहनीयानुभागविभक्त्यधिकारे—**

"आणदादि जाव सव्वट्ठसिद्धित्ति (मोहनीयस्स अणुभागविहत्तिए) उक्कस्साणुभागट्ठाणं अणुक्कस्साणुभागट्ठाणं बेठाणीयं । एवमाहार-आहारमिस्स-अकसाय-परिहारविशुद्धि-जहाक्खाद संजदासजद-वेदगसम्माइट्ठि-उवसम-सासण-सम्मामिच्छादिट्ठित्ति ।" इति ॥५७॥

अधुना सास्वादनमार्गणायामाह—

सासाणे घाईणं मिच्छाहिमुहो व अंतिमे समये ।
चउगइयो मणुसो वा परिवडिओ संयमा अघाईणं ॥५८॥ [गीतिः]

(प्रे०) '**सासाणे**' इत्यादि, सास्वादनमार्गणायां घातिनीनामुत्कृष्टरसबन्धको मिथ्यात्वाभिमुखो मार्गणायाश्चरमसमये वर्तमानः सास्वादनी भवति, वाशब्दो मतान्तरं सूचयति, ग्रन्थ-

कारेण द्वितीयमतं साक्षाद् नोक्तम् तथापि सामान्येनात्र दर्श्यते, तद्यथा-सास्वादनमार्गणायां कस्मिंश्चिदपि समये वर्तमानो जन्तुर्यदा मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लिष्टो भवति तदा निरुक्तमाकारादिविशेषणविशिष्टः स घातिनीनामुत्कृष्टरसबन्धको भवतीति द्वितीयमतम् । ननु-यदि सर्वेऽपि जीवाः सास्वादनगुणस्थानकाच्च्युत्वा मिथ्यात्वमेवाभिगच्छन्ति, तर्हि प्रथममते मिथ्यात्वाभिमुखता किमर्थमुच्यते ? इति चेत् , उच्यते-मिथ्यात्वाभिमुखताकथनमुत्तरोत्तरसमयेऽनन्तगुणप्रवर्धमानसंक्लेशवानेव मार्गणायाश्चरमसमये प्रकृतरसबन्धको भवतीति ज्ञापनार्थमिति ।

अथाघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः कः ? इत्याह-'चउगइयो' इति चतुर्गतिकः चतुर्गतिकानामन्यतमो जीव इत्यर्थः, प्रागुक्तसाकारादिविशेषणानीहापि वेदितव्यानि । अत्र मतान्तरमुपक्षिपन्नाह-'मणुसो वा' इत्यादि, प्रमत्तसंयमात् प्रतिपत्य-च्युत्वाऽवाप्तसास्वादनगुणो मनुष्यः । सोऽपि उपशमश्रेणितः पतित इति विशेषो द्रष्टव्यः, तासामघातिप्रकृतीनां शेषबन्धकापेक्षया तस्यातिविशुद्धत्वात् । प्रथममतेन साकारादिविशेषणविशिष्टश्चतुर्गतिकानामन्यतमो जीव उक्तः, द्वितीयमते तु प्रमत्तसंयमाच्च्युतः सास्वादनदृष्टिर्मनुष्यः इति द्वयोर्विशेषः । अग्रे यासु मार्गणास्वेकमतमवलम्ब्य कालादिप्ररूपणा वक्ष्यते, तत्रान्यमतेन स्वयमेव भावना कार्या ॥५८॥

साम्प्रतं मिथ्यात्वमार्गणायामेतदेवाह—

मिच्छत्ते घाईणं सण्णी इयराण संयमाहिमुहो ।
अंतिमसमये अमणे पणिंदियो होइ सत्तण्हं ॥५९॥

(प्रे०) 'मिच्छत्ते' इत्यादि, मिथ्यात्वमार्गणायां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः संज्ञिजीवो ज्ञेयः, असंज्ञिभ्योऽस्यातिसंक्लिष्टत्वात् । अघातिनीनामाह-'इयराण' इत्यादि, इतरासामघातिनीनामुत्कृष्टरसबन्धकः संयमाभिमुखो मार्गणायाश्चरमसमये वर्तमानो मिथ्यादृष्टिर्भवतीति शेषः । सम्यक्त्वसामान्यमार्गणायाः स्वामित्वप्ररूपणाऽवधिज्ञानवत्प्रागुक्ता,तेन सम्यक्त्वमार्गणास्थानस्य सप्तभेदेषु स्वामित्वप्ररूपणा समाप्ता ।

अथाऽसंज्ञिमार्गणायामाह-'अमणे' इत्यादि, अमनसि-असंज्ञिमार्गणायामित्यर्थः, सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः पञ्चेन्द्रियो भवति । तथाहि-अत्रापि साकारादिविशेषणानां योजनीयत्वात् घातिप्रकृतीनां प्रकृतबन्धको मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लिष्टः, अघातिनीनां तु मार्गणाप्रायोग्यतीव्रविशुद्धो ज्ञेयः, मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लेशो मार्गणाप्रायोग्यतीव्रविशुद्धिश्चासंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवेष्वेव समुपलभ्यते,एकेन्द्रियादिजीवापेक्षया तेषां विशिष्टेन्द्रियादिसामग्रीसद्भावेन संक्लेशविशुद्ध्योराधिक्यात्। प्रकृतस्वामित्वप्ररूपणा संज्ञिमार्गणायां मनोयोगमार्गणावत् , आहारकमार्गणायां पञ्चेन्द्रियमार्गणावत् तथाऽनाहारकमार्गणायां कार्मणकाययोगमार्गणावत् प्रागभिहिता । इत्येवं [१७०] सप्तत्यधिकशतमार्गणासु मूलसप्तकर्मप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वस्य विस्तरेण प्ररूपणा कृता ॥५९॥

निर्दिष्टं सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वमादेशतः, अधुनाऽऽयुःकर्मण एतदेव निजिगदिषुर्ला-घवार्थमादौ सर्वासु मार्गणासु वक्ष्यमाणबन्धस्वामिनः सामान्यविशेषणानि कथयन्नाह—

सव्वत्थ बंधगो गुरुरसस्स जेट्ठाणुभागबंधगओ ।
सागाराइविसिट्ठो विण्णेयो आउकम्मस्स ॥६०॥

(प्रे०)'**सव्वत्थ**' इत्यादि, गतार्था प्रागभावितत्वात्, नवरमत्रायुःकर्मण इति विशेषो द्रष्टव्यः। **अयम्भावः**—साकारादिविशेषणरहितैस्तीव्रसंक्लेशविशुद्धयोरभावेनोत्कृष्टानुभागो न बध्यते ततः साकारादिविशेषणानि सर्वासु मार्गणास्वायुःकर्मण उत्कृष्टानुभागबन्धस्वामिनि योजनीयानि । अत्र वैक्रियमिश्रकार्मणयोगापगतवेदसूक्ष्मसम्परायोपशमसम्यक्त्वमिश्रदृष्टयानाहारकरूपासु सप्त-मार्गणास्वायुःकर्म न बध्यते । तत आयुःकर्मणः स्वामित्वादिप्ररूपणा वैक्रियमिश्रादिसप्तमार्गणा विवर्ज्य [१६३] त्रिषष्टयधिकशतमार्गणास्वेव करिष्यत इति ॥६०॥

अथ पर्याप्तविशेषणं कुत्र देयमित्येतद् दर्शयन्नाह—

पज्जत्ताऽपज्जत्ता दुहावि जीवाऽत्थि जत्थ तत्थ भवे ।
पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहिं मुणेयव्वो ॥६१॥

(प्रे०) **पज्जत्ताऽपज्जत्ता**' इत्यादि, इयं गाथाऽपि पूर्ववद् भावनीया। इह विशेषणस्य व्यवच्छेदकपरत्वेन सार्थकत्वमिति ग्रन्थकारस्याशयः । तथाहि-यस्यां यस्यां मार्गणायां करणेन लब्ध्या वा पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च द्विविधा जीवाः सन्ति तत्र तत्र पर्याप्तविशेषणस्य व्यवच्छेदकपरत्वेन सार्थकत्वमन्यत्र तु व्यवच्छेद्याभावेन विशेषणस्य नावश्यकत्वम्, यथा परिहारविशुद्धिमार्गणायां सर्वे पर्याप्ता एव, तत एतद्विशेषणं तत्र न देयम् । यत्र तु केवलाऽपर्याप्तजीवाः केवला वा पर्याप्त-जीवाः सन्ति, तत्रैतद्विशेषणस्याऽनवकाश इति तात्पर्यम् ॥६१॥

साम्प्रतं यासु यासु मार्गणासु संक्लेशेनैवायुःकर्मण उत्कृष्टरसबन्धो जायते, ता एव नामग्राहं चिकथयिषुराह—

तिरियतिपणिंदियतिरियतिअणाणायततिअसुहलेसासु ।
अभवियमिच्छत्तेसु अमणे तज्जोगसंकिट्ठो ॥६२॥

(प्रे०) ' ०' इत्यादि, तिर्यग्गतिसामान्य-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सामान्य-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्-योनिमती-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्रूपासु चतसृषु तिर्यग्गतिमार्गणासु तथा मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानलक्षणेषु त्रिष्वज्ञानभेदेषु तथाऽसंयमे तथा कृष्ण-नील-कापोतलक्षणासु त्र्यशुभमार्गणासु तथा-ऽभव्ये तथा मिथ्यात्वे तथाऽसंज्ञिमार्गणायां तत्प्रायोग्यसंक्लिष्ट आयुःकर्मण उत्कृष्टरसबन्धको

वक्तव्य इति शेषः । **इदमुक्तं भवति**—एतासु चतुर्दशमार्गणासु देवायुरपेक्षया नरकायुषः स्थितिबन्धस्याधिक्येन तस्यैवोत्कृष्टरसो लभ्यते । नरकायुश्च तत्प्रायोग्यसंक्लेशेन बध्यते । तिर्यङ्मनुष्यदेवायूंषि तु तत्प्रायोग्यविशुद्धया बध्यन्ते । तत एतासु मार्गणासु प्रकृतरसबन्धकस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो भवति । तत्प्रायोग्यकथनेनायुष्कर्मणो बन्धस्तीव्रसंक्लेशेन तीव्रविशुद्धया च न जायते, किन्त्वायुःकर्मबन्धप्रायोग्यसंक्लेशेन, तथाविधविशुद्धया वा जायत इति ज्ञापितम् ॥६२॥

अनन्तरोक्तासु चतुर्दशमार्गणास्वायुःकर्मण उत्कृष्टरसबन्धस्वामिनं विशेषयन्नाह—

सण्णी मिच्छादिट्ठी णेयो तिरियतिपणिंदितिरियेसुं ।
तिअणाणायततिअसुहलेसासु स चेअ दुगइट्ठो ॥६३॥

(प्रे०) '**सण्णी**' इत्यादि, तिर्यग्गतिसामान्य-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिमतीपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिमार्गणास्वायुःकर्मण उत्कृष्टरसबन्धकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्ज्ञेयः ।

अयम्भावः-अत्र चतुर्षु तिर्यग्गतिभेदेषु देवायुषोऽपेक्षया नरकायुःकर्मणः स्थितिबन्धस्याधिक्येन तस्योत्कृष्टस्थितिबन्धकाल एवोत्कृष्टानुभागो बन्धतः प्राप्यते । स च स्थितिबन्धस्तत्प्रायोग्यतीव्रसंक्लेशेन विना न प्राप्यते । स च तीव्रसंक्लेशः संज्ञिमिथ्यादृष्टिं विना न लभ्यते । अतः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टिः साकारादिविशेषणविशिष्टस्तत्प्रायोग्यतीव्रसंक्लिष्टो ज्येष्ठानुभागबन्धाध्यवसायस्थानस्थितः सन् प्रकृतोत्कृष्टरसबन्धको भवतीति ।

'**तिअणाण**' इत्यादि, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानरूपासु तिसृष्वज्ञानमार्गणासु तथाऽसंयममार्गणायां तथा कृष्णनीलकापोतलक्षणासु त्र्यशुभलेश्यामार्गणास्वायुषः कर्मण उत्कृष्टरसबन्धक इत्यनुवर्तते, कः ? इत्याह–'**स चेअ**' इत्यादि, तच्छब्देन प्रागुक्तं 'संज्ञी मिथ्यादृष्टि'रिति परामृश्यते ततः संज्ञिमिथ्यादृष्टिरेव 'द्विगतिस्थः' तिर्यङ्मनुष्यगतिस्थः, तिर्यग्गत्यां स्थितो मनुष्यगत्यां स्थितो वेत्यर्थः । **इदमुक्तं भवति**–एतासु सप्तमार्गणासु तिर्यङ्मनुष्ययोरन्यतरः संज्ञी मिथ्यादृष्टिरायुःकर्मण उत्कृष्टरसबन्धको भवति न तु देवनरकयोरन्यतरः, तयोः नरकदेवायुष्कयोर्बन्धाभावेनायुष्कस्योत्कृष्टस्थितेर्बन्धाभावात् ।

ननु यद्येवं तर्ह्यज्ञानादिमार्गणासु देवायुष्कापेक्षयोत्कृष्टरसबन्धः कथं नोक्तः ? उच्यतेयस्यां मार्गणायां देवायुष्कापेक्षया नरकायुषः स्थितिबन्धोऽधिकः तत्र नरकायुराश्रित्योत्कृष्टरसः प्राप्यते, यत्र तूभयोः स्थितिबन्धस्तुल्यः, तत्र शुभप्रकृतीनां तथास्वभावेनोत्कृष्टरसस्याधिक्याद् नरकायुषोऽपेक्षया देवायुष उत्कृष्टरसः प्राप्यते, किन्तु तिसृष्वज्ञानमार्गणासु देवायुष्कस्योत्कृष्टस्थितिबन्ध एकत्रिंशत्सागरोपमप्रमाणः, नरकायुषस्तु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणः, ततो नरकायुषोऽपेक्षयोत्कृष्टरसबन्धो ज्ञातव्यः, एवं शेषासु मार्गणास्वपि भावना कर्तव्या । साकारादिविशेषणानि यथासंभवमत्रापि ज्ञातव्यानि ॥६३॥

प्रागुक्तचतुर्दशमार्गणाप्रविष्टशेषाभव्यादित्रिमार्गणासु तमेव निरूपयन् तथा प्रागुक्तचतुर्दश-वर्जशेपनवचत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणासु सामान्यवक्तव्यतां निर्दिशन्नाह—

अभवियमिच्छत्तेसुं तिरियो व णरो व होअए सण्णी।
असणे पणिंदियो खलु सेसासुं तदरिहविसुद्धो ॥६४॥

(प्रे०) **'अभवियमिच्छत्तेसु'** इत्यादि, अभव्यमिथ्यात्वमार्गणयोः संज्ञी तिर्यङ् वा मनुष्यो वाऽऽयुःकर्मण उत्कृष्टरसबन्धको भवतीति गम्यते प्रस्तुतत्वात् । भावना चात्राऽज्ञानमार्गणावत्कार्या । ननु तर्ह्यज्ञानमार्गणातः प्रकृतमार्गणाद्वयं कथं पृथक् कृतम् ? उच्यते—अभव्यमिथ्यात्वमार्गणाद्वये सर्वे मिथ्यादृष्टयः, अज्ञानमार्गणासु तु सास्वादनिनोऽपि, अतस्तत्र निर्दिष्टमिथ्यात्विविशेषणस्य एतन्मार्गणाद्वये व्यवच्छेद्याभावेन न सार्थकत्वम् , अत एव एतन्मार्गणाद्वयं पृथक्कृतम् । अत्र मिथ्यात्वीति विशेषणस्य स्वरूपदर्शकतया स्वीकारे त्वनयोरज्ञानमार्गणाभिः सह कथनेनापि न काचिद् हानिः ।

असंज्ञिमार्गणायामाह—**'असणे'** इत्यादि, असनसि-असंज्ञिमार्गणायामिति यावत् तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः पञ्चेन्द्रिय एव प्रकृतोत्कृष्टरसबन्धको भवति । एकेन्द्रियाद्यपेक्षया तस्यायुष्कर्मणः स्थितिबन्धस्याधिक्यात् । साकारादिविशेषणानीहापि स्वयमेव भावनीयानि । नन्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रियश्चतुर्णामन्यतमदायुः पल्योपमाऽसंख्येयभागस्थितिकं बध्नाति ततोऽत्र देवाद्यायुरपेक्षया कथमुत्कृष्टरसबन्धो नोक्तः ? सत्यम् , किन्तु देवाद्यायुषां स्थित्यपेक्षया नरकायुषः स्थितेरसंख्येयगुणाधिकत्वेन नरकायुरपेक्षयैवोत्कृष्टरसबन्धलाभ इति ।

तथा चोक्तं **प्रज्ञापनामहाग्रन्थे** विंशतितमे पदे—''एयस्स णं भंते ! नेरइयअसण्णिआउयस्स जाव देवअसण्णिआउयस्स कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वथोवे देवअसण्णियाउए, मणूसअसण्णिआउए असंखेज्जगुणे, तिरिक्खजोणियअसण्णिआउए असंखेज्जगुणे, नेरइयअसण्णिआउए असंखेज्जगुणे'' । इति

तट्टीकालेशः—'असण्णिआउए' त्ति असंज्ञी सन् यत्परभवयोग्यमायुर्बध्नाति तदसंज्ञ्यायुरिति ।

दर्शितं चतुर्दशमार्गणासु संक्लेशमधिकृत्य विशेषतः प्रकृतरसबन्धस्वामित्वम् , साम्प्रतं शेषासु मार्गणासु विशुद्धिमधिकृत्याह—**'सेसासुं तदरिहविसुद्धो'** शेषासु-भणितोद्धरितासु नवचत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणासु तत्प्रायोग्यविशुद्ध आयुःकर्मण उत्कृष्टरसबन्धको भवतीति गम्यते । कुतः ? उच्यते—नरकवर्जशेषायूंषि विशुद्ध्या बध्यन्ते । तेष्वायुष्केष्वन्यतमायुषोऽपेक्षयाऽत्र प्रकृतरसबन्धो वेदितव्यः । **तथाहि**—उक्तशेषाभ्यो यासु मार्गणासु देवायुर्बध्यते, तत्र देवायुरपेक्ष्योत्कृष्टरसबन्धो विज्ञेयः, यथा मनुष्यादिमार्गणासु । यासु च कासुचिन्मार्गणासु तिर्यग्मनुष्यायुर्द्वयं बध्यते तत्र मनुष्यायुरपेक्षया प्रकृतरसबन्धोऽवगन्तव्यः, यथैकेन्द्रियादिमार्गणासु ।

यासु च कतिपयासु मार्गणासु केवलं तिर्यगायुर्बध्यते तत्र तु तिर्यगायुरपेक्षया प्रकृतबन्धकः सुतरामवसेयः, यथा सप्तमनरकतेजोवायुमार्गणासु । ततः शेषासु तत्प्रायोग्यविशुद्ध इत्युक्तमिति ॥६४॥

'शेषासु तदर्हविशुद्ध' इति ग्रन्थेन सामान्यतः स्वामिनमभिधाय सम्प्रति यासु मार्गणासु तस्य यो विशेषस्तमेव निर्दिदिक्षुराह—

णिरयपढमाइछणिरयसुरगेविज्जंतदेवविउवेसुं ।
सम्मादिट्ठी हवए सत्तमणिरयम्मि मिच्छत्ती ॥६५॥

(प्रे०) **'णिरय०'** इत्यादि, नरकसामान्यमार्गणा, प्रथमादिषण्नरकमार्गणाः-रत्नप्रभाया आरभ्य तमःप्रभापर्यन्ताः षण्नरकमार्गणाः, देवसामान्यमार्गणा च **'गेविज्जंतदेव'** इति ग्रैवेयकान्तदेवमार्गणाः-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-द्वादशकल्पोपपन्नवैमानिक-नवग्रैवेयकरूपाश्चतुर्विंशतिमार्गणास्तथा वैक्रियकाययोगमार्गणा चेत्येतासु त्रयस्त्रिंशन्मार्गणास्वायुःकर्मण उत्कृष्टरसबन्धकः कः ? इत्याह-**'सम्मादिट्ठी'** सम्यग्दृष्टिर्भवेत् । कुतः ? उच्यते-इह तत्प्रायोग्यविशुद्धया मनुष्यायुर्बध्नन् प्रकृतोत्कृष्टरसबन्धको भवति, विशुद्धिश्च मिथ्यादृष्टयपेक्षया सम्यग्दृष्टीनां तीव्रतरा, ततः सम्यग्दृष्टिरित्युक्तम् । अनुत्तरेषु देवेषु सर्वे सम्यग्दृष्टयः सन्ति, ततस्तत्र विशेषाभावात् सामान्यवक्तव्यत्वेनैव स्वामित्वं कलनीयम् । अथ सप्तमनरकगतिमार्गणायामाह—**'सत्तमणिरयम्मि मिच्छत्ती'** इति सप्तमनरकगतिमार्गणायां मिथ्यादृष्टिः प्रकृतोत्कृष्टरसबन्धको भवेत् । कुतः ? सप्तमपृथ्व्या उद्वृत्य नारका मनुजगतिं नैवाप्नुवन्ति ततः सम्यक्त्वादिगुणस्थानके आयुर्न बध्नन्ति, किन्तु मिथ्यात्वावस्थायामेव । तथा च निरुक्तसाकारादिविशेषणविशिष्टः सन् तथा तत्प्रायोग्यविशुद्धश्च सन् तिर्यगायुःकर्मण उत्कृष्टरसबन्धको भवतीति भावः ॥६५॥

अथान्यत्रार्यात्रयेणाह—

असमत्तपणिंदितिरियपणिंदियतसेसु होआए सण्णी ।
तिणरदुपणिंदितसपणमणवयकायुरलपुमथीसुं ॥६६॥
णपुमचउकसायेसुं णाणचउक्कम्मि संयमम्मि तहा ।
सामाइअछेएसुं परिहारम्मि तिदरिसणेसुं ॥६७॥
सुहलेसाभवियेसुं सम्मत्ते खइअवेअगेसुं च ।
सण्णिम्मि तहाहारे अपमत्तो बंधगो णेयो ॥६८॥

(प्रे०) **'असमत्त'** इत्यादि, समाप्ता स्वयोग्यपर्याप्तिर्यस्य स समाप्तपर्याप्तिकः, स एव पदैकदेशे पदोपचारात्समाप्तो भण्यते, न समाप्तः असमाप्तः-असमाप्तपर्याप्तिक इत्यर्थः । स चासमाप्त-

शब्दः पञ्चेन्द्रियादिना प्रत्येकं सम्बध्यते, ततोऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणेति, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणेति, अपर्याप्तत्रसकायमार्गणेत्यर्थः, एतासु तिसृषु मार्गणासु संज्ञी भवेद्, आयुःकर्मण उत्कृष्टरसबन्धक इति गम्यते, प्रस्तुतत्वात् । कुतः संज्ञी ? असंज्ञ्यपर्याप्तापेक्षया संज्ञ्यपर्याप्तजीवानामतिविशुद्धत्वादिति प्रथमगाथार्धम् ।

सम्प्रति यासु मार्गणासु देवायुरधिकृत्य प्रकृतोत्कृष्टरसबन्धस्य स्वाम्यप्रमत्तमुनिर्भवति ता मार्गणा नामग्राहं सार्धगाथाद्वयेनाह–**'तिणर'** इत्यादि, मनुष्यसामान्यमनुष्ययोनिमतीपर्याप्तमनुष्यलक्षणास्त्रिमनुष्यमार्गणाः, द्विशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् द्विपञ्चेन्द्रियौ-पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियलक्षणौ, द्वित्रसौ-त्रसकायसामान्यपर्याप्तत्रसकायरूपौ, पञ्चशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् पञ्चमनांसि-मनोयोगसामान्यसत्यादिचतुर्मनोयोगरूपाणि, पञ्चवचांसि वाग्योगसामान्यसत्यादिचतुर्वाग्योगरूपाणि, काययोगसामान्यौदारिककाययोगपुरुषवेदस्त्रीवेदमार्गणाश्चेति तासु । **'णपुम'** इत्यादि, नपुंसकवेदे, क्रोधमानमायालोभाख्यचतुष्कषायमार्गणासु, **'णाणचउक्कम्मि'** ज्ञानचतुष्के–केवलज्ञानवर्जचतुर्ज्ञानरूपे, संयमसामान्यमार्गणायाम् **'सामाइअछेएसु'** सामायिकछेदोपस्थापनीयमार्गणयोः **'परिहारम्मि'** परिहारविशुद्धिमार्गणायाम् **'तिदरिसणेसु'** केवलदर्शनवर्जत्रिदर्शनमार्गणासु **'सुहलेसाभवियेसु'** तेजःपद्मशुक्लरूपासु तिसृषु शुभलेश्यामार्गणासु तथा भव्यमार्गणायाम् **'समत्ते'** सम्यक्त्वौघमार्गणायां **'खइअवेअगेसु'** क्षायिकवेदकमार्गणयोः, चकारः पादपूरकः, संज्ञिमार्गणायामाहारकमार्गणायामित्येतासु षट्चत्वारिंशन्मार्गणास्वायुःकर्मण उत्कृष्टरसबन्धकोऽप्रमत्तमुनिर्ज्ञेयः ।

इह सामान्यत उक्तेऽपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति" इति न्यायात् परिहारविशुद्धितेजःपद्मलेश्यामार्गणात्रयं विहाय शेषासु त्रयश्चत्वारिंशन्मार्गणासु यदाऽप्रमत्तमुनिर्देवायुष्कस्यानुत्तरदेवप्रायोग्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्नुत्कृष्टानुभागबन्धं रचयति तदा स उत्कृष्टरसबन्धको भवति, स चानुभागबन्ध ओघतुल्यो द्रष्टव्यः ओघतुल्यविशुद्ध्याः सद्भावात् । परिहारविशुद्धितेजःपद्मलेश्यालक्षणासु तिसृषु मार्गणासु तथाविधविशुद्ध्या अभावेनानुत्तरसुरप्रायोग्यायुर्न निर्वर्त्यते तत अनुभागबन्ध ओघसदृशो न भवतीति ।

अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां "तदरिहविसुद्धो" इत्यादिसामान्यवक्तव्यत्वेनैव प्रकृतस्वामित्वमवसेयम्, तदेवं गतिमार्गणास्थानस्य तिर्यग्गतिमार्गणाया अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वर्जेषु चतुर्षु भेदेषु संक्लेशेन तथा तस्यैव शेषेषु त्रिचत्वारिंशद्भेदेषु विशुद्ध्या, इति सर्वसंख्यया गतिमार्गणास्थानस्य सप्तचत्वारिंशद्भेदेषु प्रकृतस्वामित्वमुक्तम् । ।६६।६७।६८।।

साम्प्रतमिन्द्रियादिसर्वमार्गणायाः शेषभेदेषु तदेव गाथायुग्मेनाह—

एगिंदियपुढवाइगपणगनिगोएसु बायरो णेयो ।

ओरालमीसजोगे मिच्छादिट्ठी भवे सण्णी ॥६९॥
आहारमीसजोगे यो से काले सरीरपज्जत्तिं
णिट्ठवइ मो व णेयो देसे सासायणे य णरो ॥७०॥

(प्रे०) '**एगिंदिय०**' इत्यादि, एकेन्द्रियसामान्यभेदस्तथा 'पृथ्व्यादिकपञ्चकम्' पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायरूपम्–पृथ्वीकायादिपञ्चसामान्यभेदास्तथा निगोदः–साधारणवनस्पतिकायभेद इत्येतेषु सप्तभेदेषु बादरो ज्ञेयः, आयुष्कस्योत्कृष्टरसबन्धक इत्यनुवर्तते। एतासु मार्गणासु सूक्ष्मा बादराश्चेति द्विविधा जीवाः सन्ति, तद्बन्धकेषु सूक्ष्मापेक्षया बादरा अतिविशुद्धाः,ततः सूक्ष्मव्यावृत्त्यर्थं बादर इति विशेषणमुपात्तम्।

एकेन्द्रियमार्गणास्थानस्यैकेन्द्रियसामान्यवर्जशेषषड्भेदेषु तथा विकलेन्द्रियस्य नवभेदेषु तथा स्थावरकायस्य पृथ्व्यादिपञ्चकनिगोदसामान्यवर्जत्रयस्त्रिंशद्भेदेषु सामान्यवक्तव्यत्वेनैव प्रकृतस्वामित्वं भावनीयम्। तत्र च तेजोवायुकाययोः सर्वभेदेषु मनुष्यायुःकर्मणो बन्धाभावेन तिर्यगायुरपेक्षया आयुकर्मण उत्कृष्टरसबन्धो वेदितव्यः,तथा एकेन्द्रियस्य विकलेन्द्रियस्य च सर्वभेदेषु तेजोवायुवर्जशेषस्थावरकायभेदेषु च स मनुष्यायुरपेक्षया विज्ञेयः। तत इन्द्रियमार्गणास्थानस्यैकोनविंशतिसंख्येषु सर्वभेदेषु तथा कायमार्गणास्थानस्य द्वाचत्वारिंशल्लक्षणेषु सर्वभेदेषु प्रकृतस्वामित्वं प्ररूपितमिति।

अथ योगमार्गणास्थानस्य शेषभेदे प्रकृतस्वामित्वमाह–'**ओरालमीसजोगे**' इत्यादि, औदारिकमिश्रयोगे संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्भवेत्, आयुःकर्मण उत्कृष्टरसबन्धक इत्यनुवर्तते। नन्वसंज्ञ्यपेक्षया संज्ञिजीवानामतिविशुद्धत्वात् संज्ञीति विशेषणं तु युक्तं, परं मिथ्यादृष्टिजीवापेक्षया सम्यग्दृष्टीनामतिविशुद्धत्वाद् मिथ्यादृष्टिरिति विशेषणं न चतुरस्रमिति चेत्? उच्यते–औदारिकमिश्रयोगे लब्ध्यपर्याप्तजीवा एवायुःकर्म बध्नन्ति, सम्यग्दृष्टिस्तु लब्धिपर्याप्तः, तत अपर्याप्तावस्थायामायुर्न बध्नाति, ततस्तद्व्यावृत्त्यर्थं मिथ्यादृष्टिरिति विशेषणं गृहीतं न तु विशुद्ध्यपेक्षया इति। वैक्रियमिश्रकार्मणयोगमार्गणाद्वये आयुःकर्मणो बन्धाभावेन प्रकृतरसबन्धस्वामित्वं प्राक् प्रतिषिद्धम्। आहारकाहारकमिश्रयोगभेदद्वये तु सामान्यवक्तव्यत्वेनैव प्रकृतप्ररूपणा चरितार्था विशेषवक्तव्यताया अभावात्। अपरं चात्र सर्वे प्रमत्तगुणस्थानवर्तिनस्ते साकारादिविशेषणविशिष्टास्तत्प्रायोग्यविशुद्धाः सन्तः प्रकृतरसबन्धं कुर्वन्ति।

अथाहारकमिश्रयोगमार्गणायां मतान्तरमधिकृत्य द्वितीयगाथायां विशेषमाह—'**सो व णेयो**' इति, वाशब्दो मतान्तरं सूचयति, ततश्चान्यमते इत्यर्थः, आहारकमिश्रमार्गणायामायुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकः स ज्ञेयः, यः 'से' शब्दोऽथशब्दार्थे स चानन्तर्यार्थकः ततश्चानन्तरकाले इत्यर्थः, शरीरपर्याप्तिं निष्ठापयति–समाप्तिं गमयतीत्यर्थः, इदमुक्तं भवति–आहारकमिश्रमार्गणायां

शरीरपर्याप्त्या निष्पत्तेरर्वाक् समये वर्तमानः साकारादित्रिशेषणविशिष्टो मुनिरायुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेन ज्ञातव्यः । प्रथममते तु प्रकृतमार्गणायाः कस्मिंश्चिदपि समये वर्तमानः साकारादित्रिशेषणविशिष्टः सन् प्रकृतानुभागबन्धको भवतीति द्वयोर्मतयोर्विशेषः ।

वेदमार्गणास्थानस्य पुनरपगतवेदे आयुःकर्मणो बन्धाभावेन स्वामित्वं न वक्तव्यमिति प्रागुक्तम् , ततो वेदमार्गणा गता। कषायमार्गणास्थानस्य चतुष्कायमार्गणासु प्रागेव निगदितं स्वामित्वं ततः कषायमार्गणास्थानं गतम् । ज्ञानचतुष्के दर्शनत्रिके च मनुष्यमार्गणावद् विशुद्ध्या रसबन्धस्वामित्वम्, अज्ञानत्रिके तु संक्लेशेन तत् प्राक् कथितम् । ततो ज्ञानदर्शनमार्गणास्थाने गते । संयममार्गणास्थानस्य सूक्ष्मसम्परायभेदे तु बन्धाभावेन पुरा निषिद्धम् । अथ अवशिष्टे देशविरतिभेदे प्रस्तुतस्वामित्वं तुल्यवक्तव्यत्वेन सास्वादनेन समं दर्शयति–**'देसे सासायणे य नरो'** इति देशविरतिभेदे सास्वादनभेदे चायुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धको मनुष्यो भवति । ननु देशविरतिभेदे कथं तत्स्वामित्वेन मनुष्यो गृहीतः ? उच्यते–देशविरतिभेदे तिर्यगपेक्षया मनुष्याणां देवायुष्कस्याधिकस्थितिबन्धसद्भावात् । सास्वादनसत्कहेत्वादिभावनाऽग्रे स्वस्थाने एव वक्ष्यते । गतं संयममार्गणास्थानम् । तथा लेश्यामार्गणास्थानस्य शुभलेश्यासु मनुष्यवद् विशुद्ध्या,अशुभलेश्यासु संक्लेशेन स्वामित्वप्ररूपणा प्राक् कृता । भव्याभव्यमार्गणे अपि पूर्वमेव निरूपिते । सम्यक्त्वमार्गणास्थानस्य तु औपशमिकसम्यक्त्व-मिश्रदृष्टि-भेदद्वये आयुःकर्मणो बन्धाभावेन तद्रसस्य कुतो बन्धसम्भवोऽतस्तत्स्वामित्वं प्राग् निषिद्धम्। सम्यक्त्व-सामान्य-क्षायिक-वेदकलक्षणेषु त्रिषु भेदेषु विशुद्ध्या,मिथ्यात्वभेदे तु संक्लेशेन स्वामित्वं प्रतिपादितम्।

अथ सास्वादनभेदे हेत्वादिभावना सामान्यत उक्तेऽपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति" इति न्यायात् संयमात्प्रतिपत्य सास्वादनदृष्टिः सन् निखिलसामाचारीयुक्तो द्रव्यसंयतो मनुष्य आयुष्कस्योत्कृष्टरसबन्धमारचयति, तद्बन्धकेष्वयमेव तत्प्रायोग्यविशुद्धतम इति कृत्वा । किञ्च सास्वादनगुणस्थानके तिर्यङ्मनुष्यायुर्बन्धकापेक्षया देवायुर्बन्धकस्यैकत्रिंशत्सागरोपमप्रमाणः स्थितिबन्धः प्राप्यते ततो देवायुर्बन्धकस्यैवोत्कृष्टरसो लभ्यते, स च ग्रैवेयकप्रायोग्यरसस्तिर्यक्षु नैव बध्यते किन्तु यथोक्तविशेषणविशिष्टमनुष्येष्वेव लभ्यत इति शेषव्युदासेन मनुष्यस्यैवोपादानमिति । तत्राऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानाच्च्युतापेक्षया संयमाच्च्युतस्य विशुद्धेराधिक्यात्तस्य ग्रहणम् । निखिलसामाचारीयुक्तस्य द्रव्यसंयतस्यैव ग्रैवेयकेषूपपातः संभवति इतरस्य तु ग्रैवेयकायुर्न बध्यते ततस्तस्य ग्रहणम् । सत्यप्यनुष्ठाने चारित्रपरिणामशून्यत्वाद् द्रव्यता भणितेति । गतं सम्यक्त्वमार्गणास्थानम् । तथा संज्ञ्याहारिभेदद्वये विशुद्ध्या, असंज्ञिमार्गणायां तु संक्लेशेन स्वामित्वं दर्शितम् । अनाहारिमार्गणायां पुनरायुष्कस्य बन्धाभावेन प्राक् प्रतिषिद्धमिति ॥६९।७०॥

एवं वैक्रिययोगादिसप्तवर्जत्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्वायुःकर्मण उत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वं भणितम् , तद्भणने चादेशतो मूलाष्टप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वनिरूपणं समाप्तम् ।

इदानीं मूलप्रकृतिमुद्दिश्य **जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वं** चिन्तयन् प्रथमं तावदोघत आह–

मंदऽणुभागस्स भवे अंतिमसमयम्मि बंधगो खवगो ।
सुहमस्स तिघाईणं अणियट्टीए य मोहस्स ॥७१॥

(प्रे०) **'मंदऽणुभागस्स'** इत्यादि, **'तिघाईण'** त्रिघातिनीनाम्–ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायरूपाणां तिसृणां घातिप्रकृतीनां मन्दानुभागस्य–जघन्यरसस्य बन्धकः **'सुहमस्स' 'अंतिमसमयम्मि' 'खवगो'** इति सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमानः क्षपको भवेत् । कुतः ? अशुभप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धकाले सर्वविशुद्ध एव जघन्यानुभागं निर्वर्तयति, प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध इति कृत्वा । **इयमत्र भावना**–जघन्यस्थितिबन्धकालस्त्वन्तर्मुहूर्तप्रमाणः, किन्तु तावत्कालप्रमाणं जघन्यानुभागबन्धो न भवति । कुतः ? इत्याह–जघन्यस्थितिबन्धकालेऽपि तद्बन्धको यदा सर्वविशुद्धस्तदा सोऽशुभप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको भवति, ततः सर्वविशुद्ध एव ज्ञेयः । अत्र तु क्षपक उत्तरोत्तरसमये अनन्तगुणविशुद्ध्या वर्धमानः, प्रस्तुतप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धकालस्य चरमसमये सर्वविशुद्धः सन् तासां जघन्यानुभागबन्धमारचयतीति । शेषघातिप्रकृतेर्मन्दानुभागबन्धकः कः ? इत्याह–**'अणियट्टीए'** इत्यादि, **'अंतिमसमयम्मि बंधगो खवगो'** इत्यनुवर्तते ततो मोहनीयकर्मणः 'अनिवृत्तेः' अनिवृत्तिबादरगुणस्थानकस्य , चरमसमये वर्तमानः क्षपको जघन्यरसबन्धको भवतीत्यर्थः । अनिवृत्तिबादरगुणस्थानकस्य चरमसमयादूर्ध्वं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके मोहनीयस्य बन्धाभावात् प्रकृतस्वामित्वं न प्राप्यते, अत उक्तमनिवृत्तिगुणस्थानके इति , उक्तं च **शतकचूर्णौ**—
"णाणदंसणावरणंतराइगाणं जहन्नाणुभागं सुहुमसम्परागखवगो चरिमसमए वट्टमाणो बंधइ एवं समयं मोहणिज्जस्स अणियट्टिखवगो चरिमसमए वट्टमाणो(ऽ) जहन्नाणुभागं बंधइ०"। इति ॥७१॥

अथाघातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वं दर्शयन् तावदादौ वेदनीयनामकर्मणोराह—

णेयो वट्टमाणो जहण्णगम्मि अणुभागबंधम्मि ।
परियत्तमाणमज्झिमपरिणामो वेअणामाणं ॥७२॥

(प्रे०) **'णेयो'** इत्यादि, वेदनीयनामकर्मणोर्मन्दानुभागबन्धको ज्ञेय इति सम्बन्धः, कः ? इत्याह-परावर्तमानमध्यमपरिणामः, सर्वजीवभेदेषु तथा सम्यग्दृष्ट्यादिषु तत्परिणामस्य संभवेन **"परावर्तमानमध्यमपरिणाम"**इति सामान्येन प्रकृतस्वामित्वं कथितम् । कुत्र वर्तमानः ? इत्याह– **'जघन्ये अनुभागबन्धे'**–जघन्यरसबन्धयोग्याध्यवसायस्थाने इत्यर्थः, परावर्तमानमध्यमपरिणामसद्भावेऽपि जीवोऽजघन्यानुभागबन्धाध्यवसायस्थाने स्थितः सन् जघन्यानुभागं न निर्वर्तयति , ततो जघन्यानुभागबन्धाध्यवसायस्थाने वर्तमान इति विशेषणस्योपादानम् । उक्तं च **शतकचूर्णौ**–
"एएसिं दोण्हं जहन्नगं अणुभागबंधं सम्मदिट्ठी वा मिच्छदिट्ठी वा मज्झिमपरिणामो बंधइ" इति ।

नन्वत्र परावर्तमानमध्यमपरिणामः कथं गृहीतः ? इति चेद् , उच्यते–इह सातवेदनीयस्य पञ्चदश सागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः,असातस्य तु त्रिंशत् । तत्र प्रमत्तसंयतस्तत्प्रायोग्यविशुद्धोऽसातस्य सम्यग्दृष्टियोग्यस्थितिषु सर्वजघन्यामन्तःकोटाकोटीसागरोपमप्रमाणां स्थितिं बध्नाति, ततोऽन्तर्मुहूर्त्तात् परावृत्य सातं बध्नाति, पुनरप्यसातमित्येवं देशविरताविरतमिश्रसास्वादनमिथ्यादृष्टयोऽपि परावृत्य परावृत्य सातासाते बध्नन्ति, तत्र च मिथ्यादृष्टिः सातासाते परावृत्य तावद् बध्नाति यावत् सातस्य पञ्चदशसागरोपमकोटाकोटीलक्षणा उत्कृष्टा स्थितिः । परतस्तु संक्लिष्टतरः संक्लिष्टतमोऽसातमेव केवलं तावदसौ बध्नाति, यावत् त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयः । प्रमत्तादपि परतोऽप्रमत्तादयो विशुद्धा विशुद्धतराः सातमेव केवलं बध्नन्ति, यावत्सूक्ष्मसम्पराये द्वादशमुहूर्तास्तदेवं व्यवस्थिते सातस्य समयोनपञ्चदशसागरोपमकोटीकोटीलक्षणायाः स्थितेरारभ्याऽसातेन सह परावृत्य बध्नतो जघन्यानुभागबन्धोचितःपरावर्तमानमध्यमपरिणामस्तावल्लभ्यते यावत्प्रमत्तगुणस्थानकेऽन्तःकोटाकोटीसागरोपमलक्षणा सर्वजघन्याऽसातस्थितिः । एतेषु हि सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टियोग्येषु स्थितिस्थानेषु प्रकृतेः प्रकृत्यन्तरसङ्क्रमे मन्दः परिणामो जघन्यानुभागबन्धयोग्यो लभ्यते नान्यत्र । तथाहि–येऽप्रमत्तादयः सातमेव केवलं बध्नन्ति, ते विशुद्धत्वात्तस्य प्रभूतमनुभागमुपकल्पयन्ति । योऽपि मिथ्यादृष्टिः सातस्योत्कृष्टां स्थितिमतिक्रान्तोऽसातमेव केवलमुपरचयति, सोऽप्यतिसंक्लिष्टत्वात् तस्य प्रभूतं रसमभिनिर्वर्तयति । तस्माद्यथोक्तस्थितिबन्ध एव जघन्यानुभागबन्धसम्भवस्तथाविधपरिणामसद्भावात् । यदुक्तं **शतकचूर्णौ**–सातवेदणीयस्स उक्कोसिया ठिती पन्नरससागरोवमकोडाकोडीओ तप्पाओग्गसंकिलिट्ठो बंधइ, तओ पभिति जाव असातस्स उक्कोसिता ठिति त्ति ताव संकिलिट्ठो संकिलिट्ठतरोसंकिलिट्ठतमो य उत्तरुत्तरं बंधति,तेण एतेसु ठितिट्ठाणेसु जहन्नय ण लब्भति,तं संकिलिट्ठो त्ति काउं। समऊणाओ उक्कोसठितिओ आढवेत्तु जाव असातस्स सम्मदिट्ठिजोग्गा जहन्नठिती ताव एतेसु ठितिठाणेसु सम्मदिट्ठिमिच्छादिट्ठि जोग्गेसु सव्वेसुवि सव्वजहन्नगो परिणामो तत्तुल्लो लब्भति । परियत्तिय परियत्तिय ठिइं बंधमाणस्स सम्मदिट्ठिजोग्गस्स असायजहन्नठितिओ आढवेत्तु जाव सातस्स सम्मदिट्ठिजोग्गा जहन्निया ठिति त्ति ताव विसुद्धो विसुद्धतरो विसुद्धतमो य ऊणूगं ठितिं बंधति त्ति एतेसु ठितिठाणेसु जहन्नयं न लब्भति, जो एक्कं चेव पगतिं बंधइ सो संकिलिट्ठो वा विसुद्धो वा भवति त्ति तेण परियत्तमाणमज्झिमपरिणामग्गहणं पगतीओ पगतिसंकमणं मंदो परिणामो लब्भति त्ति" ।

तथा शुभप्रकृत्यपेक्षयाऽशुभप्रकृतिषु तथास्वभावेन रसस्याल्पत्वादसातं बध्नन् यथोक्तविशेषणविशिष्टः सन् वेदनीयकर्मणो जघन्यरसबन्धको भवति, एवं नामकर्मणो जघन्यानुभागबन्धकस्यापि भावना कार्या ॥७२॥

साम्प्रतमायुःकर्मण एतदेवाह—

लहुरसबंधं पत्तो णिव्वत्तंतो अपज्जणिव्वत्तिं ।
सव्वजहण्णं मज्झिमपरिणामो आउगस्स भवे ॥७३॥

(प्रे०) '**लहुरसबंधं**' इत्यादि, आयुष्कस्य जघन्यरसबन्धको मध्यमपरिणामो भवेद् ,

तीव्रसंक्लेशेन तीव्रविशुद्धया वाऽऽयुष्कस्य बन्धाभावाद् मध्यमपरिणाम इत्युक्तम् । स च कीदृशः ? इत्याह–'**णिव्वत्तंतो अपज्जणिव्वत्तिं सव्वजहण्णं**' इति, 'सर्वजघन्यां'-सर्वलघ्वीं, स्थितिमिति गम्यते, निर्वर्तयन् बध्नन्निति भावः, किं विशिष्टामित्याह–'**अपज्जणिव्वत्तिं**' अपर्याप्तिनिर्वर्तनसमर्थाम्– अपर्याप्तप्रायोग्यामितियावत् , कथमेतत् अवसेयम्, यत्सर्वजघन्या स्थितिरपर्याप्तप्रायोग्यैव न तु पर्याप्तप्रायोग्या ? इति चेत् , उच्यते–युक्तिवशात् , तथाहि–आयुःकर्मणः सर्वजघन्या स्थितिः क्षुल्लकभवप्रमाणा, सा च स्थितिरपर्याप्तजीवानामेव भवति, कुतः ? क्षुल्लकभवप्रमाणकालापेक्षया पर्याप्तजीवानां जघन्यकालः संख्येयगुणेनाधिकः, तत एतत्सिद्धं सर्वजघन्या स्थितिरपर्याप्तप्रायोग्या एव भवति न तु पर्याप्तप्रायोग्याऽपीति । एतेन देवनारकाणामायुःकर्मण जघन्यरसबन्धस्वामित्वं प्रतिषिद्धम् , तत्स्थितिकेषु तेषामुत्पत्तेरभावात् । क्षुल्लकभवप्रमाणां स्थितिं बध्नन्तः किं सर्वे जीवा जघन्यरसमारचयन्ति ? न,इत्याह-'**लहुरसबंधं पत्तो**' इति जघन्यरसबन्धप्रायोग्याध्यवसायस्थानं प्राप्त इत्यर्थः । इदमुक्तं भवति-मध्यमपरिणामः तिर्यङ् वा मनुष्यो वा क्षुल्लकभवप्रमाणां स्थितिं बध्नन्नपि यदा जघन्यरसबन्धप्रायोग्याध्यवसायस्थानं प्राप्नोति तदैव स जघन्यानुभागबन्धको भवति न तु सर्वदा; इह जघन्यरसबन्धस्तिर्यगायुरपेक्षया ज्ञातव्यः, न तु नरनरकदेवायुरपेक्षया कुतः ? उच्यते–नरकदेवायुषोर्जघन्याऽपि स्थितिर्दशसहस्रवर्षप्रमाणा, मनुष्यायुष्कस्य तु तिर्यगायुष्कस्थित्या तुल्यस्थितिबन्धसद्भावेऽपि तिर्यगायुरपेक्षया शुभत्वेन तथास्वाभाव्याद् रसोऽधिको वर्तते ततस्तदायुष्कत्रयमुपेक्षणीयम् । स च बन्धकस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्ट इत्यपि विशेषणं द्रष्टव्यम् , कुतः ? तिर्यगायुष्कस्य शुभप्रकृतित्वात् जघन्यस्थितिबन्धस्तद्बन्धकेषु सर्वसंक्लिष्टेन बध्यत इति कृत्वा । यदाहुर्**देवेन्द्रसूरिपूज्याः शतकनामपञ्चमकर्मग्रन्थे**–"मुत्तुं नरअमरतिरियाउं" तत्स्वोपज्ञटीकालेशः–"नरामरतिर्यगायुर्लक्षणं प्रकृतित्रयं मुक्त्वा शेषप्रकृतीनां प्रकृष्टसक्लेशविशुद्धिभ्यां स्थित्युपचयापचयौ द्रष्टव्यौ, प्रस्तुतायुस्त्रयस्य तु तद्बन्धकेषु सर्वोत्कृष्टविशुद्धिरुत्कृष्टस्थितिबन्धं करोति, सर्वसक्लिष्टस्तु सर्वजघन्यामिति विपरीत तद् द्रष्टव्यमिति" ।।७३।।

इदानीं गोत्रकर्मणस्तदेवाह—

गोअस्स सम्महुत्तो लहुबंधे तमतमो विसुद्धयमो ।
सागारो जागारो अंतिमसमये मुणेयव्वो ।।७४।।

(प्रे०) '**गोअस्स**' इत्यादि, गोत्रकर्मणः '**तमस्तमः**' तमस्तमा सप्तमनरकपृथ्वी, तस्यामुत्पन्नो नारकस्तमस्तमः, यद्वा तमस्तमो विद्यते यस्य स तमस्तमः "अभ्रादिभ्यः" (**सिद्धहेम०-**७-२-४६) इत्यप्रत्ययः, सप्तमपृथ्वीनारक इत्यर्थः, जघन्यानुभागबन्धको भवतीति गम्यते । किं विशिष्टः ? इत्याह–साकारो जाग्रत् इत्येतद्विशेषणद्वयेन प्रागुक्तलक्षणेन विशिष्ट इति,तेनानाकाराजाग्रदवस्थानां जीवानां तथाविधविशुद्धयभावेन प्रतिषेधो द्रष्टव्यः । पुनः कीदृशः ? '**सम्मद्दुत्तो**'इत्यादि,

सम्यक्त्वाभिमुखश्चरमसमये सम्यक्त्वाभिमुखत्वस्येति गम्यते ,वर्तमानो **'विसुज्झमाणो'** विशुद्धतमः कुत्र स्थितः ? **'लहुबंधे'** जघन्यानुभागबन्धप्रायोग्याध्यवसायस्थाने स्थित इत्यर्थः । कश्चित्सप्तम-पृथ्वीनारकः सम्यक्त्वाभिमुखो यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि कृत्वाऽनिवृत्तिकरणस्य चरम-समये मिथ्यात्वस्य चरमपुद्गलखण्डं वेदयन् गोत्रकर्मणो जघन्यानुभागं बध्नाति,तदानीं बध्यमानाया नीचैर्गोत्रप्रकृतेरशुभत्वात् , भावनेयं **शतकचूर्णिकाराभिप्रायेणोक्ता** । तथा च तद्ग्रन्थः–

"गोत्तस्स सव्वजहन्नो अहे सत्तमपुढविणेरइयस्स सम्मत्तउप्पाएमाणस्स अहापवत्ताइं करणाइ करेत्तु मिच्छत्तस्स अंतकरणं किच्चा पढमठिईए परिहायमाणीए जाव चरिमसमयमिच्छदिट्ठी जाओ, तस्स णीयागोयतिरियदुगाइ भवपच्चएण जाव मिच्छत्तभावो ताव बज्झंति त्ति तस्स चरिमसमय मिच्छादिट्ठिस्स णीयगोत्तं पडुच्च सव्वजहन्नगो अणुभागबंधो एक्कं समयं लब्भइ" इति ।

अभिप्रायान्तरेण सम्यक्त्वाभिमुख इति विशेषणेन यथाश्रुतं सम्यक्त्वसामान्याभिमुखो-ऽर्थो गृह्यते, ततो वेदकसम्यक्त्वाभिमुखोऽपि प्राप्यते, अतो यथाप्रवृत्तकरणादीनि त्रीणि करणानि कृत्वाऽनिवृत्तिकरणस्य चरमसमये वर्तमान एव प्रकृतबन्धको भवतीत्येतद्भावना त्वत्र न कर्तव्या, यथाप्रवृत्तादिकरणमन्तरेणाऽपि वेदकसम्यक्त्वस्य प्राप्तेः । इति प्रथमद्वितीयमतयोर्विशेषः । अत्रा-ऽयमेवाभिप्रायो विद्यते यतोऽग्रे एकजीवाश्रितायामन्तरप्ररूपणायामोघतो गोत्रकर्मणो जघन्य-रसबन्धस्य जघन्यतोऽन्तरमन्तर्मुहूर्तं वक्ष्यते, अन्यथा तु तदन्तरं पल्योपमासंख्येयभाग-मात्रं स्यात् । तथाहि—यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणान्युपशमसम्यक्त्वाभिमुखस्यैव भवन्ति, तत उपशमसम्यक्त्वप्राप्त्यनन्तरं पुनरुपशमसम्यक्त्वं जघन्यतोऽपि पल्योपमासंख्येयभाग-काले गते सति प्राप्यते न ततोऽर्वाग् , यतः सम्यक्त्वमिश्रमोहनीयकर्मणोर्यावत्कालं सत्ता विद्यते तावत्कालमुपशमसम्यक्त्वं नैव लभ्यते, तयोरुद्वलनाया जघन्यकालः पल्योपमासंख्येयभाग-प्रमाण एव । यदवादि **मलयगिरिपूज्यपादैः पञ्चसंग्रहवृत्तौ**–"षड्विंशतिसत्कर्मा सन् करणत्रय-पूर्वकमौपशमिकं नान्य., षड्विंशतिसत्कर्मा च भवति मिश्रसम्यक्त्वपुञ्जयोरुद्वलितयो , तदुद्वलना च पल्यो-पमाऽसंख्येयभागरूपेण कालेन नान्यथा"। ततो यदा जघन्यतोऽपि पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणकाले गते सति पुनरप्युपशमसम्यक्त्वं प्रतिपत्तुकामः सप्तमनारकोऽनिवृत्तिकरणस्य चरमसमये गोत्रस्य जघन्य-रसं बध्नाति तदा तावदन्तरं लभ्यते,किन्तु अग्रेऽन्तद्वारेऽन्तर्मुहूर्तं वक्ष्यमाणत्वेन द्वितीयाभिप्रायेणैव तद् घटामञ्चति । ततो द्वितीयाभिप्रायमवलम्ब्यैवाग्रे भावना विधास्यत इति । अत्र तद्बन्धकेषु त्वय-मेव सर्वविशुद्ध इति सम्यक्त्वाभिमुखादिविशेषणोपादानम् । सप्तमनारकान्यजीवानां त्वेतावत्यां विशुद्धौ वर्तमान उच्चैर्गोत्रं मनुष्यादिद्विकयुतं बध्नीयादिति सप्तमपृथ्वीनारकस्यैव ग्रहणम् । सप्तम-पृथ्व्यां हि यावत् किञ्चिदपि मिथ्यात्वमस्ति तावद् भवप्रत्ययादेव तिर्यग्गतिसहचरितं नीचैर्गोत्रं बध्नातीति भावः ।

ननु वेदनीयजघन्यरसबन्धस्वामिवद् गोत्रजघन्यरसबन्धस्वामी कस्मात्परावर्तमानमध्यम-परिणामी नोक्तः ? इति चेत् , भण्यते– गुणाभिमुखानामुत्तरोत्तरानन्तगुणविशुद्ध्या विशुद्ध्यमा-

नानां नारकाणां चरमसमयं यावद् गोत्राऽशुभप्रकृतेरपि केषाञ्चिज्जीवानां बन्धभावात् , न चैवं वेदनीयाऽशुभोत्तरप्रकृतेर्बन्धः केषाञ्चिदपि जीवानां गुणाभिमुखावस्थायां चरमसमयं यावल्लभ्यते,इत्यतो वेदनीयजघन्यरसबन्धस्वामी परावर्तमानमध्यमपरिणामीति प्रोक्तं किन्तु गोत्रजघन्यरसबन्धस्वामी तथा नोक्तः । किमुक्तं भवति–गोत्रोत्तराशुभप्रकृतेर्बन्धविच्छेदस्तृतीयगुणस्थानादर्वाग् जायते वेदनीयाऽशुभोत्तरप्रकृतेस्तु सप्तमगुणस्थानादर्वाक् ,तत्र वेदनीयाऽशुभोत्तरप्रकृतेर्बन्धस्वामी यावत्सप्तमगुणस्थानाभिमुखो न भवति तावदेव तस्य साऽशुभप्रकृतिः प्रतिप्रकृत्या सह परावृत्य बध्यते सर्वजीवानां न पुनर्गुणाभिमुखावस्थामवाप्याऽपि, गोत्रकर्माशुभोत्तरप्रकृतिरपि सामान्यतोऽसातवेदनीयवत्सम्यक्त्वादिगुणाभिमुखावस्थामवाप्य तत्स्वामिना नैव बध्यते, तथापि विशेषतः सप्तमनिरयनैरयिकलक्षणानां केषाञ्चिज्जीवानां सा सम्यक्त्वगुणाभिमुखावस्थायामपि बध्यत एव, कुतः ? तेषां तत्प्रतिपक्षप्रकृतेर्मिथ्यात्वगुणस्थाने सर्वथाऽबन्धप्रायोग्यत्वात् , कषायप्रत्ययस्य गोत्रकर्मणो बन्धस्य दशमगुणस्थानं यावदवश्यंभावित्वाच्च । इत्थं हि सप्तमपृथिवीनैरयिकलक्षणानां केषाञ्चिज्जीवानां मिथ्यात्वावस्थायां मूलत एवोच्चैर्गोत्रस्य बन्धप्रायोग्यत्वाभावेन सम्यक्त्वाभिमुखावस्थायामपि नीचैर्गोत्रस्य बध्यमानत्वात् ,नीचैर्गोत्रं बध्नत्सु जीवेषु तेषामेव विशुद्धतमत्वाच्च, ते एव गोत्रस्य जघन्यरसबन्धस्वामिनो भवन्ति, अतो गोत्रकर्मजघन्यरसबन्धस्वामिनो न परावर्तपरिणामिनः,सम्यक्त्वाभिमुखावस्थायां विशुद्ध्यमानाध्यवसायवतामेव प्रवर्तनात् ।

ननु सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमभूमिनैरयिकजीवापेक्षया तेजस्कायवायुकायिकानामत्यल्पः सागरोपमद्विसप्तभागादिमानः(३/७ सा०)स्थितिबन्धः प्रोक्तः, तथा च नीचैर्गोत्रस्यान्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणस्थितिबन्धं कुर्वतां सम्यक्त्वाभिमुखनैरयिकजीवानां जायमानरसबन्धापेक्षया तेषां तेजस्कायवायुकायिकजीवानामेव स्तोकरसो बध्येत ? इति चेत् , न, यतः तेजस्कायवायुकायिकानां यथोक्तस्तोकस्थितिबन्धभावेऽप्यसौ बाल-मध्यमपुरुषाहारन्यायेन ज्ञेयः, न तु विशुद्ध्या, एकेन्द्रियापेक्षया द्वीन्द्रियादीनामधिकविशुद्धेर्दर्शनात् तथा च तेजस्काय-वायुकायानां स्थितिबन्धस्य स्तोकत्वेऽपि जघन्यरसबन्धस्तु सम्यक्त्वाभिमुखानां नीचैर्गोत्रं बध्नतां सप्तमनारकाणामेव. न तु तेजस्कायिकादीनामित्यलं पल्लवितेन । निगदितमोघतो जघन्यरसबन्धस्वामित्वम् ॥७४॥

अथादेशत आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामेतदेव निरूपयन् प्रथमं तावत् सर्वासु मार्गणासु सामान्यवक्तव्यतामाह—

सव्वत्थ बंधगो लहुरसस्स ह्रस्साणुभागबंधगओ ।
सत्तण्हं घाईणं मग्गणपाउग्गसुविसुद्धो ॥७५॥

(प्रे०) 'सव्वत्थ' इत्यादि, 'सर्वत्र'–सप्तत्युत्तरशतरूपासु सर्वासु मार्गणासु सप्तप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य बन्धकः कीदृशः ? इत्याह—'ह्रस्साणुभागबंधगओ' ह्रस्वानुभागबन्धगतः–जघन्यानुभागबन्धप्रायोग्याध्यवसायस्थाने स्थित इत्यर्थः । शेषविशेषणैर्विशिष्टोऽपि जीवो यावत्

जघन्यानुभागबन्धप्रायोग्याध्यवसायस्थानं न प्राप्नोति तावत्तस्य जघन्यरसबन्धो न जायते, ततः सर्वत्र सप्तप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्वामिन्येतद्विशेषणं नियोजनीयमिति भावः ।

उक्ता सप्तप्रकृतीरुद्दिश्य सामान्यवक्तव्यता । इदानीं घातिप्रकृतीराश्रित्य तामेवाह–**'घाईणं'** इत्यादि, चतसृणां घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य बन्धकः किं विशिष्टः ? इत्याह–**'मग्गणपाउग्गसुविसुद्धो,'** मार्गणाप्रायोग्यसुविशुद्धः–स्वस्वमार्गणासु यः सर्वविशुद्धः स घातिनीनां जघन्यानुभागबन्धको भवतीति भावः । कुतः ? उच्यते–एता ह्यशुभप्रकृतयः, अशुभप्रकृतीनां च सर्वविशुद्ध एव जघन्यानुभागं बध्नाति, ततो मार्गणाप्रायोग्यसुविशुद्ध इत्युक्तम् ॥७५॥

उक्ता घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्वामिविषया सामान्यवक्तव्यता, सम्प्रति वेदनीयनामकर्मणोस्तामाह—

सगजोग्गकिलिट्ठयमो अवेअसुहमेसु वेअणामाणं ।
परियत्तमाणमज्झिमपरिणामो होइ सेसासुं ॥७६॥

(प्रे०) **'सगजोग्ग०'** इत्यादि, अवेदकसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यरसबन्धकः स्वयोग्यसंक्लिष्टतमः–मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशवानित्यर्थः । अथ शेषासु का वार्ता ? इत्याह–**'परियत्तमाण'** इत्यादि, शेषासु–उक्तशेषासु मार्गणासु तयोर्जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामो भवतीति गाथाक्षरार्थः । **भावार्थस्त्वेवम्**–अवेदकसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये वेदनीयकर्मणः केवलं सातस्य, नामकर्मणः पुनः केवलं यशःकीर्तिप्रकृतेर्बन्धो भवति, सातयशःकीर्तिलक्षणप्रकृतिद्वयस्य शुभत्वेन जघन्यरसबन्धः संक्लेशेन भवति, तत एतन्मार्गणाद्वये जघन्यरसबन्धस्वामी मार्गणाप्रायोग्यसर्वसंक्लिष्ट उक्तः, स च स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन वा श्रेणिमारूढो द्रष्टव्यः, अस्य च भावनाऽपगतवेदमार्गणायां घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वभावनया गतार्था । एतन्मार्गणाद्वयवर्जशेषासु अष्टषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु तयोः शुभाशुभे प्रकृती परावृत्य परावृत्य बध्येते । तत एतासु परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जघन्यरसबन्धो भवतीति । तदेवं विशेषवक्तव्यताया अभावाद् वेदनीयनामकर्मणोरादेशतः सर्वासु मार्गणासु जघन्यरसबन्धस्य स्वामित्वप्ररूपणा समाप्ता ॥७६॥

अथ गोत्रकर्मणो जघन्यरसबन्धस्वामी परावर्तमानमध्यमपरिणामी यासु यासु मार्गणासु भवति ता मार्गणा नामग्राहमार्याद्वयेनाह—

पढमाइछणिरयेसुं सव्वेसु पणिंदितिरियमणुसेसुं ।
सुरगेविज्जंतेसुं सव्वविगलभूदगवणेसुं ॥७७॥
असमत्तपणिंदियतसइत्थीपुरिसतिपसत्थलेसासुं ।
परियत्तमाणमज्झिमपरिणामो होइ गोअस्स ॥७८॥

(प्रे०) **'पढमाइछणिरयेसु'** इत्यादि, गोत्रकर्मणः परावर्तमानमध्यमपरिणामो भवति, जघन्यानुभागबन्धस्वामीत्यनुवर्तते। कासु मार्गणासु? इत्याह–'प्रथमादिषण्णिरयेषु,'-नरकगतिसामान्य-सप्तमपृथिवीनारकमार्गणावर्जरत्नप्रभादिषण्नारकभेदेषु तथा **'सव्वेसु पणिंदितिरियमणुसेसु'** सर्वशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् सर्वपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदेषु पञ्चेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिमती-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्रूपेषु चतुर्षु भेदेषु तथा 'सर्वमनुष्यभेदेषु' चतुर्षु मनुष्यभेदेष्वित्यर्थः, तथा **'सुरगेविज्जंतेसु'** देवसामान्य-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-द्वादशकल्पोपपन्न-नवग्रैवेयकरूपेषु पञ्चविंशतिदेवभेदेषु तथा 'सर्वविकलभूदकवनेषु'-अत्रापि सर्वशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, ततश्च 'सर्वविकलेषु'-द्वीन्द्रियादिनवभेदेषु 'सर्वभूषु'-सप्तसंख्याकेषु सर्वपृथिवीकायभेदेषु-'सर्वदकेषु' सप्तसंख्याकेषु सर्वाप्कायभेदेषु'सर्ववनेषु' एकादशवनस्पतिकायभेदेषु,तथा असमाप्तः अपर्याप्त इत्यर्थः, असमाप्तशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धादसमाप्तपञ्चेन्द्रियभेदे, असमाप्तत्रसकायभेदे, स्त्रीपुरुषवेदमार्गणाभेदद्वये, 'त्रिप्रशस्तलेश्यासु'-तेजःपद्मशुक्लरूपेषु त्रिप्रशस्तलेश्याभेदेषु इत्येतेष्वशीतिमार्गणाभेदेषु गोत्रकर्मणो जघन्यानुभागः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यते, कुतः?उच्यते-एतासु मार्गणासूच्चैर्नीचैर्गोत्रे परावृत्य परावृत्य बध्येते, ततोऽत्रैव प्रकृत्यन्तरसंक्रमे मन्दः परिणामो जघन्यानुभागबन्धयोग्यो लभ्यते नान्यत्र। तथाहि–आसु मार्गणासु यदा मिथ्यादृष्टिजीवा विशुद्धा विशुद्धतरा भवन्ति तदोच्चैर्गोत्रस्य शुभप्रकृतित्वेनाधिकमधिकतरं रसं बध्नन्ति। यदा संक्लिष्टतरा भवन्ति तदा नीचैर्गोत्रस्याप्रशस्तप्रकृतित्वेन तस्य प्रभूतानुभागबन्धमारचयन्ति, तस्मादेतासु मार्गणासु गोत्रकर्मणो जघन्यानुभागबन्धस्वामी परावर्तमानमध्यमपरिणाम उक्तः। स च नीचैर्गोत्रस्य बन्धकाले जघन्यानुभागबन्धको द्रष्टव्यः, तथास्वाभाव्येन शुभप्रकृत्यपेक्षयाऽशुभप्रकृतीनामनुभागस्य हीनत्वात्।

ननु अनुपदोक्ताशीतिमार्गणावर्जासु शेषासु मार्गणासु परावर्तमानमध्यमपरिणामो जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन कथं नोक्तः? उच्यते–यासु मार्गणासु नरकतिर्यग्गतिसामान्यमार्गणावत् केवलं ये नीचैर्गोत्रस्य बन्धका मिथ्यादृष्टिसप्तमनारकतेजोवायुकायिकजीवानामन्यतमाः प्राप्यन्ते, ते यदा सर्वविशुद्धास्तदा गोत्रस्य जघन्यरसमेव निर्वर्तयन्ति, ततस्तासु मार्गणासु तदपेक्षया प्रकृतबन्धः सर्वविशुद्धया प्राप्यते, वक्ष्यते चानन्तरं "सेसासु तदरिहविसुद्धो" इत्यनेन। तथानुत्तरादिमार्गणावद् यासु मार्गणासु केवलं सम्यग्दृष्ट्यादयो जीवास्तत्र केवलमुच्चैर्गोत्रस्य बन्धसद्भावेन तदेव ध्रुवं बध्यते। तस्य च शुभप्रकृतित्वात् जघन्यरसबन्धो मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लेशेन प्राप्यते, अतः शेषासु मार्गणासु परावर्तमानमध्यमपरिणामो जीवः प्रकृतस्वामित्वेन नोक्तः॥ ७७।७८॥ तदेवाह—

पणऽणुत्तरदेवेसुं आहारदुगम्मि तह अवेअम्मि।
चउणाणसंयमेसुं समइअछेअपरिहारेसुं ॥७९॥

देससुहुमोहिसम्मत्तवेअगउवसमखइअमीसेसु ।
सगजोग्गकिलिट्ठयमो सेसासु तदरिहविसुद्धो ॥८०॥

(प्रे०) 'पणऽणुत्तरदेवेसु' इत्यादि, पञ्चानुत्तराहारकाहारकमिश्रयोगाऽपगतवेद-चतुर्ज्ञान-संयम-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहार-देशविरति-सूक्ष्मसम्परायावधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-वेदकोपशम-क्षायिक-मिश्ररूपेषु चतुर्विंशतिमार्गणाभेदेषु केवलमुच्चैर्गोत्रस्य बन्धसद्भावेन गोत्रकर्मणः प्रकृतबन्धस्वामी स्वस्वमार्गणाप्रायोग्यसर्वसंक्लिष्टो भवतीत्यर्थः । भावना त्वत्र पूर्ववत् कार्या ।

प्रागुक्तशेषासु मार्गणासु का वार्ता ? इत्याह-'सेसासु' इत्यादि, 'शेषासु' यासु परावर्तमानमध्यपरिणामा जीवा जघन्यानुभागस्वामिनोऽभिहितास्ता अशीतिमार्गणाः, यासु च स्वप्रायोग्यसंक्लिष्टा जघन्यानुभागबन्धस्वामिन उक्तास्ताश्चतुर्विंशतिमार्गणा इत्येवं चतुरधिकशतमार्गणा विवर्ज्य षट्षष्टिमार्गणास्वित्यर्थः । एतासु प्रकृतरसबन्धकस्तदर्हविशुद्धः प्रकृतजघन्यानुभागबन्धप्रायोग्यविशुद्धिमानित्यर्थः । अयम्भावः-एतासु मार्गणासु सप्तमनारकतेजोवायुकायिकानामन्यतमोऽपि लभ्यते, तस्य च केवलं नीचैर्गोत्रस्य बन्धसद्भावेन तत्प्रायोग्यविशुद्ध्या गोत्रकर्मणो जघन्यरसो बध्यते, ताश्च शेषमार्गणा इमाः—नरकसामान्य—सप्तमनरक—तिर्यग्गतिसामान्यै—केन्द्रियसप्तमार्गणा-पञ्चेन्द्रियसामान्य—पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-तेजस्कायसप्तमार्गणा—वायुकायसप्तमार्गणा—त्रसकायौघ—पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग—काययोगौदारिकौदारिकमिश्रयोग—वैक्रिय—वैक्रियमिश्रयोग-कार्मणयोग-नपुंसकवेद—चतुष्कषाय-त्र्यज्ञाना—ऽसंयम-चक्षुर-चक्षुर्दर्शन—त्र्यशुभलेश्या—भव्याऽ—भव्य-सास्वादन-मिथ्यात्व-संज्ञ्य-संज्ञ्या-हारकानाहारकमार्गणा इति ॥७९।८०॥

अथ साकारो, जाग्रत्, पर्याप्त इति विशेषणत्रयविषयां सामान्यवक्तव्यतामार्याद्वयेनाह—

परियत्तमाणमज्झिमपरिणामं बंधगं विणा णेयो ।
सागारो जागारो सव्वासु मग्गणासु उ ॥८१॥
तत्थ वि पज्जत्तियरा दुहावि जत्थऽत्थि तत्थ पज्जत्तो ।
णेयो पज्जत्तीहिं सव्वाहिं अत्थ वुच्चइ विसेसो ॥८२॥

(प्रे०)'परियत्त०' इत्यादि, सर्वासु मार्गणासु वक्ष्यमाणजघन्यरसबन्धकः साकारो जाग्रच्च ज्ञेयः । किं सर्वोऽपि रसबन्धकः ? न,इत्याह-'परावर्तमानमध्यमपरिणामं बन्धकं विना' किमुक्तं भवति ? यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागस्वामी परावर्तमानमध्यमपरिणामो वक्ष्यते, तत्रासौ एतद्विशेषणद्वयविशिष्ट इतरो वा भवति, अतस्तत्र "सागारो जागारो" इति न ज्ञेयम्, अनाकारोपयुक्तानामुदितनिद्राणामपि परावर्तमानमध्यमपरिणामस्य संभवात् । तुकारस्तु पादपूर्त्यै इति गाथार्थः ।

अथ प्रागुक्तं पर्याप्तविशेषणं कुत्र देयम् ? इत्याह–**'तत्थ वि'**इत्यादि, 'तत्र' तत्शब्दः पूर्वपरामर्शकः, ततश्चायमर्थः–साकारो जाग्रदिति विशेषणद्वयविशिष्टेषु जघन्यानुभागबन्धकेषु, अपिशब्दो विशेषणान्तरसमुच्चयार्थः। विशेषणान्तरं समुच्चिन्वन्नेवाह–**'पज्जत्ति यरा'**इत्यादि, यत्र पर्याप्ता अपर्याप्ताश्चेति द्विविधा अपि जीवाः सन्ति तत्र पुनरसौ सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्त इत्यपि ज्ञेयम्।

अयम्भावः–यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां बन्धकाः पर्याप्तापर्याप्तभेदाद् द्विविधाः सन्ति तत्र पर्याप्त इति विशेषणं प्रकृतबन्धस्वामिनि नियोज्यम्। अत्रापि पर्याप्तापर्याप्तशब्देन करणेन लब्ध्या च पर्याप्ताऽपर्याप्तजीवा ग्राह्याः, तेन देवगतिपर्याप्तपञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु यत्राऽपर्याप्तावस्थागताः करणापर्याप्ता जीवा अपि प्राप्यन्ते तासु, तथा कार्मणादिमार्गणासु सर्वे जीवा अपर्याप्तावस्थागता एव सन्ति, तथापि तत्र लब्धिपर्याप्तलब्ध्यपर्याप्तानां सद्भावात् तासु च पर्याप्तविशेषणस्य सार्थकत्वम्, न पुनः केवलं लब्ध्यपर्याप्तमार्गणासु, तत्र तस्य निरवकाशत्वात्, तथाहि– अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु घातिचतुष्कस्य जघन्यरसबन्धकः साकारो जाग्रत् तत्प्रायोग्यविशुद्धो भवति किन्त्वत्र पर्याप्तजीवानामभावादेव पर्याप्तविशेषणस्य नावकाशः। तथा केवलकरणपर्याप्तमार्गणास्वपि तद्विशेषणस्य सार्थकत्वाभावाद् न तद्योज्यम्। तथाहि–मनोयोगादिमार्गणासु केवलकरणपर्याप्तजीवानां सद्भावात् पर्याप्तविशेषणेनाऽपर्याप्तानां व्यावृत्तिर्न भवति ततस्तस्य न सार्थकत्वम्, अत एवासु मार्गणासु घातिचतुष्कस्य जघन्यरसबन्धकः साकारो जाग्रत् सर्वविशुद्धोऽभिधातव्यः, न तु पर्याप्त इति।

उक्ता सर्वासां मार्गणानां सामान्यवक्तव्यता, सम्प्रति परावर्तमानमध्यमपरिणामवर्जेषु जघन्यानुभागबन्धस्वामिषु विशेषं प्रतिज्ञातुकाम आह–**'अत्थ वुच्चइ विसेसो'** इति अत्र सामान्यवक्तव्यतायामुक्तेषु जघन्यरसबन्धकेषु विशेष उच्यते, अत्रेदमवधेयम्– यत्र सामान्यवक्तव्यत्वेनैव स्वामित्वं गतार्थं भवति तत्र विशेषाभावाद् न वक्ष्यते, किन्तु यत्र विशेषो दृश्यते तत्र तु वक्ष्यते एवेति ॥८१।८२॥

अथ प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयन्नाह—

घाईणं सम्मत्ती होइ णिरयचरमणिरयविउवेसुं ।
गोअस्स सम्महुत्तो अंतिमसमयम्मि तमतमगो ॥८३॥

(प्रे०)**'घाईणं'** इत्यादि, नारकसामान्य-सप्तमनारक-वैक्रियकाययोगरूपेषु त्रिषु मार्गणाभेदेषु घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्वामी सम्यग्दृष्टिर्भवति। कुतः ? एता ह्यशुभप्रकृतयः, अशुभप्रकृतीनां जघन्यानुभागो विशुद्धया बध्यते, अत्र च तद्बन्धकेषु सम्यग्दृष्टिः सर्वविशुद्ध इति। सामान्यवक्तव्यतायामुक्तानि विशेषणान्यत्रापि भावनीयानि। तथाहि–"सव्वत्थ बंधगो लहुरसस्स हस्साणुभागबंधगओ" इत्यादिग्रन्थेन जघन्यानुभागबन्धप्रायोग्याध्यवसायस्थानगतः तथा "घाईणं-मग्गणपाउग्गसुविसुद्धो" इति ग्रन्थेन मार्गणाप्रायोग्यसर्वविशुद्धः तथा "परियत्त०" इत्यादिगाथया परा-

वर्तमानमध्यमपरिणामाभावात् साकारो जाग्रच्च तथा "तत्थ वि" इत्यादिगाथया नरकादिमार्गणासु करणपर्याप्तकरणापर्याप्तजीवानां सद्भावात् पर्याप्तो जघन्यानुभागबन्धस्वामी द्रष्टव्यः, ततश्चैवं योजना—नरकसामान्यमार्गणायां साकारो जाग्रत् सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तो मार्गणाप्रायोग्यसर्वविशुद्धः सम्यग्दृष्टिर्जघन्यानुभागबन्धको भवति । एवमग्रेऽपि प्रकृतबन्धस्वामिनि विशेषणानां यथासम्भवं स्वयमेव योजना कार्या ।

अथ प्रस्तुतमार्गणासु गोत्रकर्मणो विशेषमाह—'**गोअस्स**'इत्यादि, गोत्रकर्मणः सम्यक्त्वाभिमुखतायाश्चरमसमये वर्तमानस्तमस्तमकः सप्तमपृथ्वीनारको, जघन्यानुभागबन्धस्वामीति गम्यते । भावना चात्रौघवत्कार्या । वेदनीयनामकर्मणोः सामान्यवक्तव्यतावसरे "वेअनामाणं परियत्तमाणमज्झिमपरिणामो होइ सेसासु" इत्यनेन परावर्तमानमध्यमपरिणामः स्वामित्वेनोक्तः । तदेवं मार्गणात्रये सप्तप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वं समर्थितमिति ॥८३॥

अथान्यत्राह—

पढमाइछणिरयेसुं सुरगेविज्जंतदेवभेएसुं ।
सम्मादिट्ठीयो खलु चउण्ह घाईण विण्णेयो ॥८४॥

(प्रे०) '**पढमाइछणिरयेसु**' इत्यादि, प्रथमादिषण्नारकभेदेषु तथा देवसामान्य-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-द्वादशकल्पोपपन्न-नवग्रैवेयकरूपेषु पञ्चविंशतिदेवगतिभेदेषु चतसृणां घातिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः सम्यग्दृष्टिरेव भवति । तद्बन्धकेष्वयमेव सर्वविशुद्ध इति कृत्वा । प्रागुक्तसाकारादिविशेषणानि स्वयमेव भावनीयानि । वेदनीयनामगोत्रकर्मणां जघन्यरसबन्धस्वामी परावर्तमानमध्यमपरिणामी सामान्यवक्तव्यत्वेनैव गतार्थः । पश्चानुत्तरेषु सर्वे सम्यग्दृष्टयः ततो घातिप्रकृतीनां प्रकृतस्वामी सम्यग्दृष्टिरिति विशेषकथनस्य व्यवच्छेद्याभावेन प्रयोजनाभावः, ततस्तत्र सामान्यवक्तव्यत्वेनैव घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वं गतार्थम् । वेदनीयनामकर्मणोस्तु परावर्तमानमध्यमपरिणामी, गोत्रस्य पुनस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः प्रकृतस्वामित्वेन सामान्यवक्तव्यतायामेव प्रागुक्तः । तदेवं देवनरकसर्वभेदेषु प्रकृतस्वामित्वस्य प्ररूपणा कृता ॥८४॥

सम्प्रति तिर्यङ्मार्गणाभेदेषु विशेषमाह—

घाईणं देसजई णेयो तिरियतिपणिंदितिरियेसुं ।
तिरिये बायरतेऊ बायरवाऊ व गोअस्स ॥८५॥

(प्रे०) '**घाईणं**' इत्यादि, तिर्यग्गतिसामान्ये, 'त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु' पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिमती-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्रूपेषु इत्येतेषु चतुर्षु तिर्यग्गतिभेदेषु घातिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको देशविरतिर्ज्ञेयः, तस्य सर्वविशुद्धत्वात् । तिर्यग्गतिसामान्यभेदे गोत्रकर्मणः प्रकृतबन्धको बादरतेजस्कायो बादरवायुकायो वा भवति । कुतः ? भण्यते—बादरतेजस्का-

पवायुकायिकानामुच्चैर्गोत्रस्य बन्धप्रायोग्यत्वाभावेन नीचैर्गोत्रं ध्रुवं बध्यते, तथा च परावर्तमानमध्यमपरिणामजीवापेक्षया तेषां विशुद्धिर्यदा भवति, तदाऽपि नीचैर्गोत्रस्यैव बन्धसद्भावेन ते एव गोत्रकर्मणो जघन्यानुभागस्य निर्वर्तका भवन्ति नान्ये, अन्येषामेतावत्यां विशुद्धौ जायमानायामुच्चैर्गोत्रस्य बन्धप्रवर्तनात् , तस्य च शुभत्वेन प्रभूतरसबन्धभावाच्च, अत एव शेषजीवान् विवर्ज्य तेजस्कायवायुकायिकयोर्ग्रहणम् । तत्रापि सूक्ष्मापेक्षया बादरा अतिविशुद्धा इति बादरस्योपादानम् । अत्रापि निरुक्तसाकारादिविशेषणानि यथासंभवं योज्यानि । त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु तु तेजस्कायवायुकायिकानामभावात् तावत्यां विशुद्धौ उच्चैर्गोत्रस्य प्रभूतरसो बध्यते, ततस्तत्र परावर्तमानमध्यमपरिणामी गोत्रकर्मणो जघन्यानुभागबन्धस्वामी भवति न पुनर्विशुद्धः । वेदनीयनामकर्मणोः पुनरासु चतसृषु मार्गणासु परावर्तमानमध्यपरिणामी स्वामित्वेन प्रागुक्त इति ॥८५॥

साम्प्रतमपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिभेदे जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वं चिकथयिषुस्तुल्यवक्तव्यत्वेनाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तत्रसकायभेदद्वयेऽपि समनाह—

अपमत्तपणिंदितिरियपणिंदियतसेसु बंधगो सण्णी ।
पढमदुइअतुरिअचरमकम्माण चउण्ह विण्णेयो ॥८६॥

(प्रे०) 'असमत्त'० इत्यादि, असमाप्तः-अपर्याप्त इत्यर्थः, स च प्रत्येकमभिसम्बध्यते, ततश्चाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिभेदे, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदे-ऽपर्याप्तत्रसकायभेदे चेत्येतेषु त्रिषु भेदेषु 'प्रथमद्वितीयतुर्यचरमकर्मणां' ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायलक्षणानां चतुर्णां घातिकर्मणां जघन्यानुभागबन्धकः साकारादिविशेषणविशिष्टो मार्गणाप्रायोग्यसुविशुद्धः संज्ञी विज्ञेयः, असंज्ञ्यपेक्षया तस्य तीव्रविशुद्धत्वात् । वेदनीयनामगोत्रकर्मणां परावर्तमानमध्यमपरिणामी जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन प्रागेवाभिहित इति गतं तिर्यग्गतिमार्गणास्थानम् ॥८६॥

अधुना मनुष्यभेदेषु प्रस्तुतस्वामित्वं प्रतिपादयितुमना आह—

तिणरेसु जाणियव्वो अंतिमसमयम्मि बन्धगो खवगो ।
सुहुमस्स तिघाईणं अणियट्टीए य मोहस्स ॥८७॥

(प्रे०) **'तिणरेसु'** इत्यादि, **'त्रिनरेषु'**—मनुष्यगतिसामान्य-मनुष्ययोनिमती-पर्याप्तमनुष्यरूपेषु त्रिषु मनुष्यगतिभेदेषु **'त्रिघातिनाम्'**—ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायलक्षणानां तिसृणां घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धको ज्ञातव्यः, कः ? इत्याह- **'अंतिमसमयम्मि'**इत्यादि, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमानः क्षपकः प्रकृतबन्धको ज्ञेयः । शेषघातिप्रकृतेः प्रकृतबन्धकमाह— **'अणियट्टीए य मोहस्स'**चः प्रागुक्तानुकर्षी, ततश्चैवं—मोहनीयकर्मणोऽनिवृत्तिकरणगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमानः क्षपको जघन्यानुभागबन्धस्वामी ज्ञातव्यः । कुतः ? तद्बन्धकेषु तत्तद्बन्धविच्छेदसमये वर्तमानः क्षपकः सर्वविशुद्ध इति कृत्वा । निरुक्तसाकारादिविशेषणान्यत्रापि भावनीयानि ।

अत्र वेदनीयनामगोत्रकर्मणां प्रकृतबन्धस्वामी परावर्तमानमध्यमपरिणामी भवतीति प्रागुक्तम्, अपर्याप्तमनुष्यभेदे तु सामान्यवक्तव्यत्वेनैव स्वामित्वं गतार्थम्, विशेषाभावात्। गता गतिमार्गणा ॥८७॥

अथ इन्द्रियमार्गणाभेदेषु तथा लाघवार्थं कायादिमार्गणाभेदेषु तदेव निजिगदिषुराह—

गोअस्स तेउवाऊ एगिंदियसव्वभेएसुं ।
पंचण्ह बायरो खलु एगिंदियतेउवाऊसुं ॥८८॥ [उपगीतिः]

(प्रे०) '**गोअस्स**' इत्यादि, '**एकेन्द्रियसर्वभेदेषु**'-एकेन्द्रियमार्गणायाः सप्तसंख्याकेषु सर्वभेदेषु **गोत्रकर्मणो** जघन्यानुभागबन्धकस्तेजस्कायिको वायुकायिको वा, भवतीति शेषः। कथम्? ते च विशुद्धयां वर्तमाना अपि नीचैर्गोत्रस्यैव बन्धकाः। ततस्ते जघन्यानुभागं निर्वर्तयन्ति। 'एकेन्द्रियतेजोवायुषु' एकेन्द्रियसामान्यतेजस्कायसामान्यवायुकायिकसामान्यभेदेषु 'पञ्चानाम्'-घातिचतुष्कस्य गोत्रस्य च प्रकृतस्वामी बादर एव भवति। कुतः? एतेषु त्रिषु भेदेषु घातिकर्मणस्तथा नीचैर्गोत्रं प्रतीत्य गोत्रकर्मणो जघन्यानुभागबन्धो विशुद्धया भवति। अत्र च सूक्ष्मा बादरा द्विविधा जीवास्तेषु सूक्ष्मापेक्षया बादरा अतिविशुद्धा इति बादरस्योपादानम्। एकेन्द्रियतेजोवायुकायिकानां शेषषड्भेदेभ्यस्त्रिषु भेदेषु केवलसूक्ष्मा जीवाः ततस्तत्र बादरविशेषणस्याऽनावश्यकतया न तदुपादानम्। तथा त्रिषु भेदेषु केवलबादरजीवाः, ततस्तत्र व्यवच्छेद्याभावेन बादरविशेषणस्य निरर्थकत्वाद् न तद्ग्रहणम्, अर्थादेकेन्द्रियस्य षट्सु भेदेषु घातिनां, तथा तेजोवायुकायिकयोः षट्सु षट्सु भेदेषु घातिनां गोत्रस्य च जघन्यानुभागस्वामी मार्गणाप्रायोग्यविशुद्धः सामान्यवक्तव्यत्वेन कथितो ज्ञातव्यः एतेषां सर्वभेदेषु वेदनीयनामकर्मणोः प्रकृतस्वामी परावर्तमानमध्यमपरिणामः प्रागुक्तः। तथा विकलेन्द्रियस्य नवभेदेषु सामान्यवक्तव्यत्वेनैव प्रकृतस्वामित्वं गतार्थम् ॥८८॥

सम्प्रति यासु मार्गणासु जघन्यानुभागबन्धस्वाम्योघसदृशो भवति तासु मार्गणासु तदेवाह—

दुपणिंदितसेसुं तह पणमणवयकायजोगलोहेसुं ।
चक्खुअचक्खूसुं तह भविये सण्णिम्मि आहारे ॥८९॥
अंतिमसमये खवगो सुहमे घाईण तिण्ह मोहस्स ।
अणियट्टीए गोअस्स सम्मदुत्तो य तमतमगो ॥९०॥

(प्रे०) '**दुपणिंदितसेसु**' इत्यादि, द्विशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् 'द्विपञ्चेन्द्रिययोः' पञ्चेन्द्रियौघपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदयोः 'द्वित्रसयोः' त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायभेदयोः, तथाशब्दः समुच्चयार्थः, एवमुत्तरार्धस्थोऽपि तथाशब्दो वाच्यः। पञ्चशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् पञ्चमनोयोगेषु पञ्चवचनयोगेषु, काययोगे, लोभे, चक्षुरचक्षुदर्शनयोः, भव्ये, संज्ञिभेदे आहारके चेत्येतेषु एकविंशतिमार्गणा-

भेदेषु ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायलक्षणानां तिसृणां घातिप्रकृतीनां सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकचरमसमयस्थो मोहनीयस्य चानिवृत्तिकरणगुणस्थानचरमसमये वर्तमानः क्षपको, जघन्यानुभागबन्धस्वामीति गम्यते । गोत्रस्य कः स्वामी ? इत्याह-'गोअस्स' इत्यादि, गोत्रस्य प्रकृतस्वामी सम्यक्त्वाभिमुखः, चशब्दः 'अंतिमसमये' इति पदानुकर्षी, ततश्च सम्यक्त्वाभिमुखतायाश्चरमसमये वर्तमानस्तमस्तमकः सप्तमपृथ्वीनारको, भवतीति शेषः । निरुक्तसाकारादिविशेषणान्यत्रापि यथासंभवं योज्यानि । एतेष्वेकविंशतिमार्गणाभेदेषु जघन्यानुभागस्वाम्योघतुल्यो द्रष्टव्यः, भावनाऽप्योघवत्कर्तव्या । अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तत्रसकायभेदद्वये सप्तप्रकृतीनां प्रकृतस्वामी प्रागुक्ताऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गत्या सहोक्तः ॥८९,९०॥

गता इन्द्रियमार्गणा, सम्प्रति कायमार्गणायाः शेषभेदेषु तथौदारिककाययोगे जघन्यानुभागबन्धस्वामिनो विशेषमाह—

घाईण बायरो खलु णेयो पुहविदगवणणिगोएसुं ।
उरले घाईणभवे णरव्व गोअस्स तिरियव्व ॥९१॥

(प्रे०) 'घाईण' इत्यादि, पृथ्वीदकवनस्पतिनिगोदानां सामान्यभेदेषु घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्वामी बादर एव ज्ञेयः । कुतः ? सूक्ष्मापेक्षया बादरा अतिविशुद्धा इति कृत्वा । वेदनीयनामगोत्राणां तु जघन्यानुभागस्वामी परावर्तमानमध्यमपरिणामी ज्ञातव्यः सामान्यवक्तव्यतायां प्रागुक्तत्वात् । पृथ्व्यप्कायमार्गणयोः प्रत्येकं शेषेषु षट्सु भेदेषु तथा वनस्पतिकायमार्गणायाः शेषेषु नवसु भेदेषु प्रकृतस्वामित्वं सामान्यवक्तव्यत्वेनैव गतार्थम् । अभिहितं कायमार्गणाया द्विचत्वारिंशद्भेदेषु जघन्यानुभागस्वामित्वम् ।

अथौदारिककाययोगे विशेषमाह—'उरले' इत्यादि, औदारिककाययोगे घातिनीनां प्रकृतस्वामी नरवद्-मनुष्यगत्योघमार्गणावद् भवति, तथाहि—घातित्रयस्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमानो मोहनीयस्य त्वनिवृत्तिकरणगुणस्थानचरमसमये वर्तमानः क्षपको जघन्यानुभागबन्धस्वामी । तद्बन्धकेष्वयमेव सर्वविशुद्ध इति कृत्वा । गोत्रस्यातिदिशन्नाह-'गोअस्स' इत्यादि, गोत्रस्य जघन्यानुभागस्वामी तिर्यग्गत्योघमार्गणावद् भवेत् । तथाहि—औदारिककाययोगे तेजोवायुकायिकानां सद्भावाद् नीचैर्गोत्रं प्रतीत्य बादरतेजस्कायिको बादरवायुकायिको वा गोत्रस्य जघन्यानुभागस्वामी भवति । अत्रापि साकारादिविशेषणानि यथासंभवं ज्ञातव्यानि । वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यानुभागबन्धस्वामी तु परावर्तमानमध्यमपरिणामः सामान्यवक्तव्यतायामुक्तः॥९१॥

संप्रत्यौदारिकमिश्रयोगे तमेवाह—

ओरालमीसजोगे सम्मादिट्ठी चउण्ह घाईणं ।
णेयो बायरतेऊ बायरवाऊ व गोअस्स ॥९२॥

(प्रे०) **'ओरालमीसजोगे'** इत्यादि, औदारिकमिश्रयोगे चतसृणां घातिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञेयः, तद्बन्धकेष्वयमेव सर्वविशुद्ध इति कृत्वा । गोत्रस्य प्रकृतबन्धको बादरतेजस्कायो बादरवायुकायिको वा ज्ञेयः । साकारादिविशेषणानि स्वयमेव ज्ञातव्यानि । अत्र यद्यपि सर्वे जीवा अपर्याप्तावस्थायामेव स्थिताः, तथापि लब्ध्या पर्याप्ताऽपर्याप्तभेदाद् द्विविधाः जीवाः प्राप्यन्ते ततः पर्याप्तविशेषणं कथनीयम्, लब्ध्यपर्याप्तापेक्षया लब्धिपर्याप्तानां विशुद्धेराधिक्यात् । इह घातिगोत्राख्याणां पञ्चप्रकृतीनां प्रागुक्तस्वामी साकारादिविशेषणविशिष्टोऽपि यदा जघन्यानुभागबन्धप्रायोग्याध्यवसायस्थाने स्थितो भवति, तदा जघन्यानुभागं बध्नाति । वेदनीयनामकर्मणोः प्रकृतस्वामी परावर्तमानमध्यमपरिणामी प्रागुक्तः ॥९२॥

अथ वैक्रियमिश्रयोगे तमेवाह—

वेउव्वमीसजोगे कम्माणाहारगेसु घाईणं ।
णेयो सम्मादिट्ठी गोअस्स भवे चरमणिरयो ॥९३॥

(प्रे०) **'वेउव्वमीसजोगे'** इत्यादि, वैक्रियमिश्रयोगे, कार्मणयोगे ऽनाहारकभेदे च घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्वामी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञेयः मिथ्यादृष्ट्याद्यपेक्षयाऽस्यातिविशुद्धत्वादिति । गोत्रस्य 'चरमनारकः'-सप्तमपृथ्वीनारकः प्रकृतस्वामी भवेत, विशुद्धावपि वर्तमानस्य तस्य केवलनीचैर्गोत्रस्य बन्धसद्भावात् । प्राग्वदत्रापि निरुक्तसाकारादिविशेषणानि ज्ञातव्यानि । वेदनीयनामकर्मणोस्तु परावर्तमानमध्यमपरिणामी प्रकृतस्वामित्वेनोक्तः । आहारकाहारकमिश्रमार्गणाद्वये घातिचतुष्कस्य मार्गणाप्रायोग्यविशुद्धः, गोत्रस्य च मार्गणाप्रायोग्यसंक्लिष्टः प्रकृतस्वामित्वेन सामान्यवक्तव्यतायामुक्तः ॥९३॥

एतेषु त्रिमिश्रयोगेषु मतान्तरमाह—

अहवा उरलाईसुं तिमिस्सजोगेसु सोऽत्थि पंचण्हं ।
योऽणंतरम्मि काले गहेहिइ सरीरपज्जत्तिं ॥९४॥

(प्रे०) **'अहवा'** इत्यादि, अथवाशब्दो मतान्तरसूचकस्ततोऽन्यमते इत्यर्थः । औदारिकवैक्रियाहारकमिश्रलक्षणेषु त्रिमिश्रयोगेषु 'पञ्चानां'-घातिचतुष्कगोत्रलक्षणानाम् ,स इत्यनेन सर्वनाम्ना प्राक् प्रथममतोक्तस्वामी परामृश्यते । साम्प्रतमनन्तरगाथाद्वयेन प्रथममतोक्तस्वामिनं द्वितीयमतेन विशेषयन्नाह-**'यो'** इत्यादि, योऽनन्तरे काले शरीरपर्याप्तिं ग्रहीष्यति स शरीरपर्याप्त्या निष्पत्तेरर्वागपर्याप्तावस्थायाश्चरमसमये वर्तमानः प्रकृतरसबन्धको भवतीति । **इदमत्र हृदयम्**-प्रथममते प्रकृतबन्धकः स्वस्वमार्गणायाः कस्मिंश्चिदपि समये वर्तमानो भवति, द्वितीयमते तु शरीरपर्याप्त्याऽपर्याप्तावस्थायाश्चरमसमये वर्तमानो जघन्यानुभागमारचयतीति मतद्वयविशेषः । प्रथममतोक्तानि-सम्यग्दृष्ट्यादीनि स्वामिविशेषणानि तु द्वितीयमतेऽपि विज्ञेयानि ॥९४॥

गता योगमार्गणा, साम्प्रतं वेदमार्गणायां प्रथमं तावत्स्त्रीपुरुषवेदमार्गणाद्वये तमेवाह—

इत्थिपुरिसवेएसु मग्गणचरमसमयम्मि वट्टंतो ।
अणियट्टीए खवगो चउण्ह घाईण णायव्वो ॥९५॥

(प्रे०) '**इत्थिपुरिसवेएसु**' इत्यादि, स्त्रीपुरुषवेदमार्गणाद्वये चतसृणां घातिनीनां जघन्यानुभागबन्धस्वामी कः ? इत्याह–अनिवृत्तिकरणगुणस्थानके मार्गणाचरमसमये स्त्रीपुरुषवेदोदयविच्छेदसमये वर्तमानः क्षपक इत्यर्थः, तदनन्तरसमये स्त्रीवेदपुरुषवेदमार्गणायोरभावात् ।

इदमुक्तं भवति–स्त्रीवेदोदयं यावत्स्त्रीवेदमार्गणा भवति । ततः स्त्रीवेदेन क्षपकश्रेणिमारूढस्याऽनिवृत्तिकरणगुणस्थानकस्य संख्यातबहुभागेषु गतेषु एकसंख्यातभागे च शेषे यस्मिन् समये स्त्रीवेदस्योदयविच्छेदो भवति, तस्मिन् समये स एव क्षपकः सर्वविशुद्ध इति कृत्वा घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेनोक्तः । एवं पुरुषवेदमार्गणायामपि भावना कार्या नवरं स्त्रीवेदोदयविच्छेदस्थानत ऊर्ध्वमन्तर्मुहूर्ते गते पुरुषवेदोदयविच्छेदो भवति । साकारादिविशेषणान्यत्रापि योज्यानि । एतन्मार्गणाद्वये गोत्रकर्मणः परावर्तमानमध्यमपरिणामी प्रकृतस्वामित्वेन प्रागुक्त इति ॥९५॥

अथ नपुंसकवेदे तथा कषायत्रिके तमेवाह—

णपुमकसायतिगेसु चउघाईण खवगो सचरमखणे ।
अणियट्टीए गोअस्स सम्महुत्तो य तमतमगो ॥९६॥

(प्रे०) '**णपुमकसायतिगेसु**' इत्यादि, नपुंसकवेदे तथा 'कषायत्रिके' क्रोधमानमायालक्षणे चतसृणां घातिप्रकृतीनामनिवृत्तिकरणगुणस्थानके स्वस्वमार्गणायाश्चरमसमये वर्तमानः क्षपको जघन्यानुभागबन्धको भवति । भावना चात्र स्त्रीवेदमार्गणावत्कार्या नवरं पुरुषवेदोदयविच्छेदस्थानत ऊर्ध्वमुत्तरोत्तरान्तर्मुहूर्ते गते क्रोधस्य मानस्य मायाकषायस्य चोदयविच्छेदो भवति । गोत्रस्य प्रकृतबन्धकः सम्यक्त्वाभिमुखः तमस्तमकः सप्तमपृथ्वीनारको भवति । नपुंसकवेदत्रिकषायमार्गणाभेदेषु सप्तमनारकाः प्राप्यन्ते, ते च सम्यक्त्वाभिमुखतायाश्चरमसमये नीचैर्गोत्रं प्रतीत्य गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धस्य निर्वर्तका भवन्तीति भावः । वेदनीयनामकर्मणोस्तु परावर्तमानमध्यमपरिणामी प्रकृतस्वामित्वेन प्रागुक्त इति ॥९६॥

अथापगतवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये तमेवाह—

अवगयवेए सुहमे कमसो मणुसव्व चउतिघाईणं ।
सेणीअ निवडमाणो सचरमसमये अघाईणं ॥९७॥

(प्रे०) 'अवगयवेए' इत्यादि, अपगतवेदे सूक्ष्मसम्परायमार्गणाभेदे च 'क्रमशश्चतुस्त्रिघातिनाम् ', अर्थात्-अपगतवेदे चतसृणां घातिप्रकृतीनां तथा सूक्ष्मसम्परायचारित्रे मोहनीयस्य बन्धाभावात् तिसृणां घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्वामी 'मनुष्यवद्' मनुष्यगत्योघमार्गणावज्ज्ञेयः । तथाहि-एतन्मार्गणाद्वये घातित्रयस्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके तथाऽपगतवेदमार्गणायां मोहनीयस्यानिवृत्तिकरणगुणस्थानकचरमसमये वर्तमानः क्षपकः प्रकृतस्वामी भवति । एतासां ह्यशुभप्रकृतित्वेन तीव्रविशुद्ध्या जघन्यानुभागो बध्यते इति कृत्वा ।

अघातिनीनामाह-'सेणीअ' इत्यादि, 'अघातिनां' वेदनीयनामगोत्रलक्षणानां त्रिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्वामी श्रेणितो निपतन् स्वमार्गणायाश्चरमसमये वर्तमान उपशामको भवति । कुतः ? उच्यते-अत्र वेदनीयनामगोत्राणां केवलं सातयशउच्चैर्गोत्ररूपाणां शुभप्रकृतीनां बन्धसद्भावात् जघन्यानुभागः संक्लेशेन बध्यते, तस्य च संक्लेशस्य श्रेणितः प्रतिपततां यथोत्तरमाधिकाधिकतराधिकतमभावादेतन्मार्गणाद्वये श्रेणितः पतन् मार्गणायाश्चरमसमये वर्तमान उपशामकोऽघातित्रयस्य जघन्यानुभागस्वामित्वेनाभिहितः । अत्रापि साकारादिविशेषणानि यथासंभवं भावनीयानीति ॥९७॥

गते वेदकषायमार्गणे, अधुना ज्ञानमार्गणायां जघन्यानुभागबन्धस्वामिनो विशेषमभिधित्सुराह-

घाईण चउण्ह भवे मणुमव्व तिणाणओहिसम्मेसुं ।
गोअस्स मिच्छहुत्तो असंयमी होइ चरमखणे ॥९८॥

(प्रे०) 'घाईण'इत्यादि, 'त्रिज्ञानावधिसम्यक्त्वेषु' मतिश्रुतावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघरूपासु पञ्चसु मार्गणासु चतसृणां घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्वामी मनुष्यमार्गणावद् भवेत् । तद्यथा-घातित्रयस्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य, मोहनीयस्य चाऽनिवृत्तिकरणगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमानः क्षपको जघन्यानुभागस्वामी भवतीति । गोत्रस्य प्रकृतस्वामी मिथ्यात्वाभिमुखतायाश्चरमसमये वर्तमानोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्भवति । कुतः ? एतासु मार्गणासु सर्वे सम्यग्दृष्टयः, ते च केवलमुच्चैर्गोत्रं बध्नन्ति, तस्य च कर्मणः शुभत्वात् मार्गणाप्रायोग्यसंक्लेशेन जघन्यरसो बध्यते, स च संक्लेशो यथोक्तविशेषणविशिष्टस्याविरतसम्यग्दृष्टेरेव भवति न तु तथाविधदेशविरतादीनां, यतस्तेषां जघन्यमध्यवसायस्थानं यथोक्तसम्यग्दृष्ट्यपेक्षयाऽनन्तगुणविशुद्धम् । वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यानुभागस्वामी परावर्तमानमध्यमपरिणामी प्रागुक्तः ॥९८॥

मनःपर्यवज्ञाने तमेवाह—

मणणाणे घाईणं चउण्ह मणुसव्व बंधगो णेयो ।
गोअस्स अयतहुत्तो अंतिमसमये पमत्तजई ॥९९॥

(प्रे०) 'मणणाणे' इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां चतसृणां घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्वामी मनुष्यमार्गणावद् ज्ञेयः । स चाऽवधिज्ञानमार्गणायां यथा भावितः तथैवात्रापि भावनीयः । गोत्रस्य प्रकृतबन्धकोऽसंयमाभिमुखोऽविरतसम्यक्त्वाभिमुखतायाश्चरमसमये वर्तमानः प्रमत्तयतिर्ज्ञेयः । तद्बन्धकेष्वयमेव संक्लिष्टतम इति कृत्वा, मिथ्यात्वाभिमुख इति विशेषणं विहायाविरतसम्यक्त्वाभिमुख इति विशेषणग्रहणे प्रयोजनं तु घातिकर्मणामुत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वप्ररूपणायां मनःपर्यवमार्गणाभेदे प्राक्प्रपञ्चितं तस्मादिह न वितन्यते ॥९९॥

अथाज्ञानत्रिके तमेवाह—

अण्णाणतिगे मिच्छे चउण्ह घाईण संयमाहिमुहो ।
अंतिमसमये गोअस्स सम्महुत्तो य तमतमगो ॥१००॥

(प्रे०) 'अण्णाणतिगे' इत्यादि, 'अज्ञानत्रिके'-मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानलक्षणे, तथा मिथ्यात्वमार्गणायां चतसृणां घातिप्रकृतीनां संयमाभिमुखोऽन्तिमसमये वर्तमानो मिथ्यादृष्टिर्जघन्यानुभागबन्धस्वामी भवति तद्बन्धकेष्वयमेव सर्वविशुद्ध इति कृत्वा । संयमाभिमुख इति कथनेनात्र मनुष्यो गम्यते, अन्यासु गतिषु तस्याऽभावात् । गोत्रस्य प्रकृतस्वामित्वमाह— 'गोअस्स' गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामी सम्यक्त्वाभिमुखः 'तमस्तमकः' सप्तमपृथ्वीनारको, भवतीति शेषः । भावना चात्र प्राग्वत् कर्तव्या । वेदनीयनामकर्मणोः परावर्तमानमध्यमपरिणामी प्रकृतस्वामित्वेन द्रष्टव्यः, एवमग्रेऽपि विज्ञेयम् ॥१००॥

गतं ज्ञानमार्गणास्थानम् । अथ संयमभेदे जघन्यानुभागस्वामित्वस्य विशेषं भणितुकाम आह—

मणुसव्व बंधगो चउघाईणं संयमे मुणेयव्वो ।
गोअस्स मिच्छहुत्तो अंतिमसमये पमत्तजई ॥१०१॥

(प्रे०) 'मणुसव्व' इत्यादि, संयमसामान्यमार्गणायां चतुर्घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धको 'मनुष्यवद्' मनुष्यगत्योघमार्गणावज्ज्ञातव्यः । कुतः ? तत्तत्प्रकृतीनां बन्धविच्छेदस्थाने क्षपकस्य सर्वविशुद्धत्वेन स एव घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागमारचयति । ततस्तत्स्थानं यस्यां यस्यां मार्गणायां संभवति तत्र तत्र घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामी मनुष्यवद् भवतीत्यपि बोध्यम् । गोत्रस्य प्रकृतबन्धको मिथ्यात्वाभिमुखो मार्गणायाश्चरमसमये वर्तमानः प्रमत्तयतिर्भवति । अत्रोच्चैर्गोत्रमाश्रित्य जघन्यरसः प्राप्यते,स च संक्लेशेन बध्यते, एतन्मार्गणायां त्वयमेव सर्वसंक्लिष्ट इति अयमत्र स्वामी ॥१०१॥

सामायिकच्छेदोपस्थापनीयमार्गणाद्वये तमेवाह—

सामाइअछेएसु चउघाईण अणियट्टिअंतखणे ।
खवगो मिच्छाहिमुहो गोअस्स चरमखणे पमत्तजई ॥१०२॥ [गीतिः]

(प्रे०) '**सामाइअछेएसु**' इत्यादि, सामायिकछेदोपस्थापनीयमार्गणयोश्चतसृणां घातिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्वाम्यनिवृत्तिकरणगुणस्थानकस्यान्तिमसमये वर्तमानः क्षपको ज्ञेयः, कथम् ? एतन्मार्गणाद्वयस्यानिवृत्तिकरणगुणस्थानं यावदवस्थानं तत ऊर्ध्वं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके तदभावः, ततोऽनिवृत्तिकरणगुणस्थानवर्त्तिक्षपकस्तद्बन्धकेष्वतिविशुद्धः, अत एव स जघन्यानुभागस्वामित्वेनोक्तः । अत्र गोत्रस्योच्चैर्गोत्रमाश्रित्य जघन्यानुभागबन्धः प्राप्यते, केवलमुच्चैर्गोत्रस्य बन्धसद्भावात् । ततो मार्गणाप्रायोग्यसर्वसंक्लिष्टः तस्य जघन्यानुभागस्वामी भवति, स पुनः कीदृशः? इत्याह–'**मिच्छाहिमुहो**' इत्यादि, मिथ्यात्वाभिमुखो मार्गणायाश्चरमसमये वर्तमानः प्रमत्तमुनिर्भवतीति पिण्डार्थः ॥१०२॥

परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां तमेवाह–

परिहारे घाईणं अघाइजेट्ठाणुभागबंधव्व ।
गोअस्स छेअहुत्तो अंतिमसमये पमत्तजई ॥१०३॥

(प्रे०) '**परिहारे**' इत्यादि, परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायां चतसृणां घातिनीनां जघन्यानुभागबन्धकः को भवेत् ? इत्याह–'**अघाइजेट्ठाणुभागबंधव्व**' अघातिप्रकृतीनां ज्येष्ठानुभागबन्धवत्-स्वामित्वस्य प्रस्तुतत्वात् ज्येष्ठानुभागबन्धस्वामिवत् भवेत् । **अयम्भावः**-उत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वप्ररूपणावसरेऽस्यामेव मार्गणायामघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्वामी "अपमत्तोऽणेगेसि उअ कयकरणोऽणतरे भावी" इत्यादिग्रन्थेन यः प्रागुक्तः, स एवात्र घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्वामित्वेन द्रष्टव्यः । किं कारणम् ? उच्यते–तत्र सर्वविशुद्ध्याऽघातिनीनामुत्कृष्टरसः प्राप्यते, तया विशुद्ध्याऽत्र घातिनीनां जघन्यरसो निर्वर्त्यते, ततश्च घातिनीनां जघन्यानुभागबन्धस्वाम्यप्रमत्तमुनिर्भवतीति प्रथमाभिप्रायः, द्वितीयाभिप्रायेण तु कृतकरणाद्धायाः प्रागनन्तरसमये वर्तमानोऽप्रमत्तमुनिः प्रकृतबन्धको ज्ञातव्यः । अथ गोत्रस्य स्वामिनमाह–'**गोअस्स**'इत्यादि,गोत्रस्य प्रकृतबन्धकः छेदोपस्थापनीयसंयमाभिमुखो मार्गणायाश्चरमसमये वर्तमानः प्रमत्तयतिर्भवति । तद्बन्धकेष्वयमेव सर्वसंक्लिष्ट इति कृत्वा । निरुक्तसाकारादिविशेषणानीहापि नियोज्यानि ॥१०३॥

देशविरतिमार्गणायां तमेवाह—

देसे चउघाईणं अंतिमसमयम्मि संयमाहिमुहो ।
गोअस्स मिच्छहुत्तो अंतिमसमयम्मि विरणयो ॥१०४॥

(प्रे०) '**देसे**' इत्यादि, देशविरतिमार्गणायां चतुर्घातिनीनां जघन्यानुभागबन्धस्वामी संयमाभिमुखो मार्गणायाश्चरमसमये वर्तमानो जीवो विज्ञेयः, तद्बन्धकेष्वयमेव सर्वविशुद्ध इति कृत्वा । गोत्रस्य प्रकृतबन्धको मिथ्यात्वाभिमुखो मार्गणाया अन्तिमसमये वर्तमानो देशविरतो विज्ञेयः अतिसंक्लिष्टत्वात्तस्य ॥१०४॥ असंयममार्गणायां तमेवाह—

अयते अंतिमममये सम्मो घाईण मंयमाहिमुहो ।
गोअस्स सम्महुत्तो अंतिमसमये चरमणिरयो ॥१०५॥

(प्रे०) **'अयते'** इत्यादि, असंयममार्गणायां घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागस्वामी संयमाभिमुखो मार्गणायाश्चरमसमये वर्तमानोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्ज्ञेयः । संयमाभिमुखमिथ्यादृष्ट्यपेक्षया तथाविधाविरतसम्यग्दृष्टीनां विशुद्धेराधिक्यात् सम्यग्दृष्टेर्ग्रहणम् । गोत्रस्य प्रकृतबन्धकः सम्यक्त्वाभिमुखतायाश्चरमसमये वर्तमानश्चरमनारको द्रष्टव्यः । भावना प्राग्वत् कर्तव्या । सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां प्रकृतस्वामित्वप्ररूपणाऽपगतवेदमार्गणया सह प्राक्कृता । गतं संयममार्गणास्थानम् । दर्शनमार्गणाभेदेषु चक्षुरचक्षुर्दर्शनमार्गणयोः स्वामित्वं पञ्चेन्द्रियवदुक्तम् । तथाऽवधिदर्शनमार्गणायां तदवधिज्ञानवदुक्तम् । गतं दर्शनमार्गणास्थानम् ॥१०५॥

सम्प्रति लेश्यामार्गणास्थानभेदेष्वभिधित्सुः प्रथमं तावत् कृष्ण-नील-कापोतलक्षणासु त्र्यशुभलेश्यासु प्रकृतं प्रस्तौति—

तिअसुहलेसासु भवे अघाइतिगगुरुरसव्व घाईणं ।
गोअस्स तिरिव्व भवे दोसु अयतव्व किण्हाए ॥१०६॥

(प्रे०) **'तिअसुहलेसासु'** इत्यादि, त्र्यशुभलेश्यासु चतसृणां घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्वामी भवेत् , कीदृशः ? इत्याह-**'अघाइतिगगुरुरसव्व'** अघातित्रिकगुरुरसवत्-एतासु मार्गणास्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामी प्राग् यः प्रोक्तः, स एवात्र घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागस्वामितया भवतीत्यर्थः । तद्यथा-घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामी सम्यग्दृष्टिर्देव एव, मतान्तरेण पुनः सम्यग्दृष्टिर्नारक एव, भावना चात्र पूर्ववदवगन्तव्या । वेदनीयनामकर्मणोः प्रकृतस्वामी परावर्तमानमध्यमपरिणामीति सामान्यवक्तव्यताऽवसर एव दर्शितम् ।

अथैतत्त्रिभेदेषु गोत्रस्य जघन्यानुभागस्वामिनं दर्शयन्नादौ तावद् नीलकापोतद्वये प्राह—**'गोअस्स'** इत्यादि, **'द्वयोः'** नीलकापोतमार्गणयोर्जघन्यानुभागस्वामी तिर्यग्गत्योघवद् भवेत् , तद्यथा-''तिरिये बायरतेऊ बायरवाऊ व गोअस्स' इत्यनेनाऽत्रापि प्रकृतस्वामित्वेन बादरतेजःकायिको बादरवायुकायिको वा बोध्य इति । कृष्णलेश्यायामाह-**'अयतव्व किण्हाए'** इति कृष्णलेश्यायां गोत्रस्य जघन्यानुभागस्वामी 'असंयमवद्' असंयममार्गणायां-"गोअस्स सम्महुत्तो अंतिमसमये चरमणिरयो" इत्यनेन यादृश उक्तस्तादृशः सम्यक्त्वाभिमुखतायाश्चरमसमये वर्तमानः सप्तमपृथ्वीनारको वेदितव्य इति ॥१०६॥ अथ तेजःपद्मलेश्यामार्गणाद्वये तदेवाह—

तेउपउमासु घाईण अप्पमत्तोऽत्थि अहव से काले ।
कयकरणो यो होहिइ स भवे गोअस्स होइ सुरो ॥१०७॥

(प्रे०) 'तेउपउमासु' इत्यादि, तेजःपद्मलेश्यामार्गणाद्वये घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकोऽप्रमत्तमुनिरस्ति सर्वविशुद्धत्वात्तस्य । अत्रैव मतान्तरं दर्शयति-'अहव' इत्यादि, अथवाशब्दो मतान्तरद्योतकः । 'से' शब्दोऽथशब्दार्थे वर्तते स चानन्तर्ये, ततश्च मतान्तरेणानन्तरकाले यः कृतकरणो भविष्यति सोऽप्रमत्तमुनिः प्रकृतबन्धको भवेत् । हेत्वादिभावना अघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्वामित्वप्ररूपणावत्कार्या । गोत्रकर्मणो जघन्यानुभागस्वामी सुरः-देवो भवति । ननु सामान्यवक्तव्यतायामेतन्मार्गणाद्वये गोत्रकर्मणः प्रकृतस्वामी परावर्तमानमध्यमपरिणामः प्रागुक्तः। परावर्तमानमध्यमपरिणामस्तु तिर्यग्मनुष्याणामपि सम्भवति ततस्तिर्यङ्मनुष्या अपि तेजोलेश्यायां पद्मलेश्यायां गोत्रस्य जघन्यानुभागस्वामित्वेन वक्तव्या भवन्ति ? इति चेत् , न, यतस्तिर्यङ्मनुष्यास्तयोरन्यतरस्यामपि लेश्यायां वर्तमानाः सन्तो देवप्रायोग्यप्रकृतीर्निर्वर्तयन्ति, तथा च तेषां केवलोच्चैर्गोत्रस्य बन्धसद्भावेन नीचैर्गोत्रेण सह तस्य न परावृत्तिः,इत्थं हि तिर्यङ्मनुष्याणां शुभलेश्याया अन्यत्र परावर्तपरिणामेन गोत्रस्य बन्धसद्भावेऽपि शुक्ललेश्यायां त्वसौ नैव भवतीति तिर्यग्मनुष्या नैव वक्तव्या भवन्ति ॥१०७॥ शुक्ललेश्यायामेतदेवाह—

सुइलाअ चरमसमये खवगो सुहमस्स तिण्ह घाईणं ।
णेयो अणियट्टीए मोहस्स सुरोऽत्थि गोअस्स ॥१०८॥

(प्रे०)'सुइलाअ'इत्यादि, 'शुक्लायां'-शुक्ललेश्यामार्गणायां तिसृणां घातिप्रकृतीनां सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमानो मोहनीयस्य चाऽनिवृत्तिकरणगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमानः क्षपको जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन ज्ञेयः । भावना चात्र प्राग्वर्णितस्वरूपा । गोत्रस्य 'सुरो' देवोऽस्ति, स च परावर्तमानमध्यमपरिणामो द्रष्टव्यः । हेत्वादिभावना चात्रानन्तरोक्ततेजोलेश्यामार्गणावत्कार्या । अभिहितो लेश्यामार्गणास्थानस्य सर्वभेदेषु जघन्यानुभागस्वामिनो विशेषः ॥१०८॥

सम्प्रति भव्यमार्गणास्थानस्याभव्यभेदे तदेव प्रतिपादयितुकाम आह—

होइ अभविये सण्णी चउगइयो दव्वसंयमी व णरो ।
घाईणं तु चउण्हं गोअस्स भवे चरमणिरयो ॥१०९॥

(प्रे०) 'होइ' इत्यादि, अभव्यमार्गणायां चतसृणां घातिनीनां जघन्यानुभागबन्धकश्चतुर्गतिकः संज्ञी भवति,असंज्ञ्यपेक्षया संज्ञिजीवानां विशुद्धेराधिक्यात् । वाशब्दो मतान्तरं सूचयति-'दव्वसंयमो' इत्यादि, मतान्तरेण द्रव्यसंयमी मनुष्यः प्रकृतबन्धस्वामी भवतीति । तुशब्दः पादपूरणे, गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धकः सप्तमपृथ्वीनारको भवेत् ,कुतः? अभव्यमार्गणायां तेजोवायुकायिकसप्तमनारकजीवा अपि प्राप्यन्ते, ततो विशुद्ध्या नीचैर्गोत्रं बध्नद्भिस्तैर्जघन्यानुभागो निर्वर्त्यते,

विशुद्धिश्च तेजोवायुकायिकापेक्षया सप्तमनारकाणां तीव्रतरा,सा च विशुद्धिरभव्यानां गुणाभिमुखत्वाभावेन स्वस्थानभवाऽवसेया। ततः सम्यक्त्वाभिमुखविशेषणरहितः सप्तमनारको गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेनोक्तः । भव्यमार्गणायां प्रकृतस्वामित्वं पञ्चेन्द्रियमार्गणाभेदेन सह प्रागुक्तम् , गतं भव्यमार्गणास्थानम् ॥१०९॥

अधुना सम्यक्त्वमार्गणास्थानस्य क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां प्रकृतस्वामिनं वक्तुकाम आह—

खइए अंतिमसमये खवगो सुहमस्स तिण्ह घाईणं ।
मोहस्सऽणियट्टीए गोअस्स असंयमी णेयो ॥११०॥

(प्रे०) 'खइए' इत्यादि, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां तिसृणां घातिप्रकृतीनां सूक्ष्मसम्परायस्य चरमसमये वर्तमानः क्षपकस्तथा मोहनीयस्यानिवृत्तिकरणगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमानः क्षपको जघन्यानुभागस्वामित्वेन ज्ञेयः। कुतः? तद्बन्धकेष्वयमेव सर्वविशुद्ध इति कृत्वा। गोत्रस्य प्रकृतबन्धकोऽसंयमी ज्ञेयः,कुतः ? उच्यते—उच्चैर्गोत्रं बध्नतां जघन्यानुभागबन्धः प्राप्यते,स च सर्वसंक्लेशेन निर्वर्त्यते, स च संक्लेशः असंयतानामेव, तेषामप्रत्याख्यानावरणस्याप्युदयादिति ॥११०॥

अथ वेदकसम्यक्त्वमार्गणायां तदेवाह—

घाईण वेअगे खलु तेजोलेसव्व बंधगो णेयो ।
गोअस्स मिच्छहुत्तो असंयमी होइ चरमखणे ॥१११॥

(प्रे०) 'घाईण' इत्यादि, वेदकसम्यक्त्वमार्गणायां घातिप्रकृतीनां प्रकृतबन्धकस्तेजोलेश्यामार्गणावद् ज्ञेयः । तद्यथा—एकेन मतेन कृतकरणाद्धाया अर्वाक् समये वर्तमानोऽप्रमत्तसंयतः, अन्येन मतेन तु मार्गणायाः कस्मिंश्चिदपि समये वर्तमानोऽप्रमत्तसंयतः। उपपत्तिस्तु तेजोलेश्यावदेव। गोत्रस्य मिथ्यात्वाभिमुखतायाश्चरमसमये वर्तमानोऽसंयमी जघन्यानुभागस्वामी ज्ञेयः, अत्र तद्बन्धकेषु तस्यैव तीव्रसंक्लिष्टत्वात् ॥ १११॥

अथोपशमसम्यक्त्वमार्गणायामेतदेवाह —

घाइतिगस्स उवसमे सुहमस्स चरमखणेऽणियट्टीए ।
मोहस्स मिच्छहुत्तो असंयतो अत्थि गोअस्स ॥११२॥

(प्रे०) 'घाइतिगस्स' इत्यादि, उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां घातित्रिकस्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमानः, मोहनीयस्य चानिवृत्तिकरणगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमान उपशामको जघन्यानुभागस्वामित्वेन वेदितव्यः । अत्र प्रकृतबन्धकः श्रेणेरारोहको द्रष्टव्यः, अवरोहकापेक्षया तस्य विशुद्धेराधिक्यात्। गोत्रस्य प्रस्तुतस्वामी मिथ्यात्वाभिमुखतायाश्चरमसमये वर्तमानोऽविरतसम्यग्दृष्टिरस्ति, कुतः ? तद्बन्धकेषु स एव तीव्रसंक्लिष्ट इति कृत्वा ॥११२॥

अथ मिश्रमार्गणायां तदेवाह—

मीसे सम्माहिमुहो अंतिमसमये चउण्ह घाईणं ।
गोअस्स चरमसमये मिच्छाहिमुहो मुणेयव्वो ॥११३॥

(प्रे०) **'मीसे'** इत्यादि, मिश्रमार्गणायां चतसृणां घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकः सम्यक्त्वाभिमुखतायाश्चरमसमये वर्तमानो मिश्रदृष्टिर्ज्ञातव्यः । तद्बन्धकेष्वयमेव सर्वविशुद्ध इति कृत्वा । तथा गोत्रस्य मिथ्यात्वाभिमुखतायाश्चरमसमये वर्तमानो मिश्रदृष्टिर्ज्ञातव्यः, तस्यैव मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लेशवत्त्वात् । शेषभावना पूर्ववत्कार्या ॥११३॥

सास्वादनमार्गणायां प्रकृतस्वामिनो विशेषमाह—

सासाणे चउगइयो मणुसो वा संयमा निवडमाणो ।
घाईण चउण्ह हवइ गोअस्स भवे चरमणिरयो ॥११४॥

(प्रे०) **'सासाणे'** इत्यादि, सास्वादनमार्गणायां चतसृणां घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकश्चतुर्गतिको भवति, । अत्रैव मतान्तरमाह—**'मणुसो वा'** इत्यादि, वाशब्दो मतान्तरद्योतकः, तेनाऽन्यमते संयमाद् निपत्य सास्वादनं प्राप्तो मनुष्यः प्रकृतस्वामित्वेन द्रष्टव्यः । सोऽपि मनुष्य उपशमश्रेणितः पतित इति विशेषो वेदितव्यः । प्रथममते साकारादिविशेषणविशिष्टश्चतुर्गतिकानामन्यतमो जीवः, द्वितीयमते तूपशमश्रेणितः प्रमत्तसंयमाच्च च्युतः सास्वादनदृष्टिर्मनुष्य इति द्वयोर्विशेषः । गोत्रकर्मण **'चरमनारकः'** सप्तमपृथ्वीनारकः प्रकृतस्वामित्वेन भवति । सप्तमनारकः सास्वादनगुणस्थानके केवलं नीचैर्गोत्रं बध्नाति, ततो यदा स स्वस्थानसर्वविशुद्धो भवति तदा नीचैर्गोत्रमाश्रित्य गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धको भवति । मिथ्यात्वमार्गणायां मत्यज्ञानमार्गणावदुक्ताः प्रस्तुतस्वामिनः, तथा च निष्ठिता सम्यक्त्वमार्गणास्थानस्य सर्वभेदेषु जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वप्ररूपणा ॥११४॥

अथासंज्ञिमार्गणायां तदेवाह—

पयडीणं घाईणं चउण्ह पंचिंदियो असण्णिम्मि ।
गोअस्स बायरऽग्गी बायरवाऊ व बोद्धव्वो ॥११५॥

(प्रे०) **'पयडीणं'** इत्यादि, असंज्ञिमार्गणायां चतसृणां घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकः पञ्चेन्द्रियो ज्ञातव्यः, एकेन्द्रियाद्यपेक्षयाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामतिविशुद्धत्वात् । गोत्रस्य तु बादरतेजस्कायिको बादरवायुकायिको वा बोद्धव्यः । भावना चात्र पूर्ववद् विज्ञेया । संज्ञिमार्गणायां तथाऽऽहारकमार्गणायां स्वामित्वप्ररूपणा पञ्चेन्द्रियमार्गणावत् , तथाऽनाहारकमार्गणायां कार्मणमार्गणावदुक्ता । एवं संज्ञ्याहारकमार्गणास्थाने गते । ततश्च सप्तत्यधिकशतमार्गणासु विस्तरेण सप्तप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वं समाप्तम् ॥११५॥

तदेवमभिहितं सर्वासु मार्गणासु सप्तप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वम् , साम्प्रतमायुःकर्मण आदेशतस्तदेव कथयन्नादौ तावत्प्रकृतबन्धकस्य सर्वमार्गणाविषयकसामान्यवक्तव्यतां दिदर्शयिषुराह—

सव्वासु आउस्स उ सामी मंदाणुभागबंधगओ ।
मज्झिमपरिणामो लहुरसस्स तज्जोगसंकिट्ठो ॥११६॥

(प्रे.)'**सव्वासु**' इत्यादि, 'सर्वासु' वैक्रियमिश्र-कार्मणा-ऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायोपशमसम्यक्त्वमिश्र-दृष्टयनाहारकरूपासु सप्तमार्गणास्वायुष्कस्य बन्धाभावादेतत्सप्तवर्जत्रिषष्टयधिकशतमार्गणास्वित्यर्थः । आयुष्कस्य जघन्यरसस्य बन्धस्वामी 'मन्दानुभागबन्धगतः' जघन्यानुभागबन्धप्रायोग्याध्यवसायस्थानगतो विज्ञेयः । जघन्यस्थितिबन्धं निर्वर्तयद्भिरपि यावज्जघन्यरसबन्धस्थानं न प्राप्यते तावन्न बध्यते जघन्यरसः, अतः सर्वत्र मार्गणास्थानेषु जघन्यरसबन्धाध्यवसायगत इति जघन्यरसबन्धस्वामिविशेषणतया वाच्यमिति भावः । पुनः कीदृशः ? इत्याह–'**मज्झिमपरिणामो**' इति स स्वामी मध्यमपरिणामो ज्ञेयः,तीव्रसंक्लिष्टस्यातिविशुद्धस्य चायुर्बन्धप्रतिषेधात्।'**तज्जोगसंकिट्ठो**' इत्यादि, असावनन्तरोक्तो बन्धकः पुनः सर्वासु मार्गणासु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्ट इत्यपि वक्तव्यम् , कुतः ? नरकायुर्वर्जान्यतमायुर्बध्नतामायुःकर्मणो जघन्यानुभागबन्धस्य सद्भावात् , नरकायुर्वर्जायुषां शुभत्वाच्च । तथाहि–तादृशी मार्गणैव नास्ति यद् यस्यां मार्गणायां केवलं नरकायुर्बध्यते । यत्र नरकायुर्बध्यते तत्र तिर्यगायुरपि बध्यत इति भावः । तिर्यगायुष्कस्य नरकायुरपेक्षया जघन्यस्थितिरपि सर्वत्राल्पा, ततस्तदाश्रित्य जघन्यरसबन्धः प्राप्यते, तदेवं सर्वत्र तिर्यङ्मनुष्यदेवायुषामन्यतमायुर्बध्नतां जघन्यानुभागबन्धो भवतीति सिद्धम् , एता हि शुभप्रकृतयः, शुभप्रकृतीनां च जघन्यानुभागं तद्बन्धकेषु सर्वसंक्लिष्टो बध्नाति, तत आयुष्कस्य जघन्यानुभागस्वामी सर्वत्र तत्प्रायोग्यसंक्लिष्ट इति प्राप्तम् । सर्वासु मार्गणासु सामान्यतो मध्यमपरिणामी तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो जघन्यानुभागबन्धगत आयुषो जघन्यानुभागबन्धस्वामी भवतीति गाथापिण्डार्थः ॥११६॥

तदेवं सर्वमार्गणाविषयकसामान्यवक्तव्यतां लाघवार्थं पृथगभिधाय साम्प्रतं क्रमशः निरयगत्यादिमार्गणास्थानेषु प्रकृतस्वामिनो विशेषं दर्शयन्नाह—

मिच्छो णिव्वत्तंतो सप्पाउग्गलहुपज्जणिव्वत्तिं ।
सव्वणिरयपणऽणुत्तरवज्जसुरविउव्वियेसु भवे ॥११७॥

(प्रे०) '**मिच्छो**' इत्यादि, स्वप्रायोग्यलघुपर्याप्तनिर्वृत्तिं–तत्तन्मार्गणायोग्यजघन्यां पर्याप्तनिर्वृत्तिं-पर्याप्तिनिर्वर्तनसमर्थां पर्याप्तप्रायोग्यामिति यावत् स्थितिमिति गम्यते, निर्वर्तयन् बध्नन्निति भावः । एतादृशो मिथ्यादृष्टिर्भवेदिति क्रियायोगः । आयुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामीत्यनुवर्तते । कासु मार्गणासु स्वमार्गणायां बन्धप्रायोग्यां जघन्यां पर्याप्तप्रायोग्यां स्थितिं बध्नन् मिथ्यादृष्टिः प्रकृतजघन्यानुभागस्वामी भवेत् ? इत्याह–'**सव्वणिरय**' इत्यादि, नरकसामान्य-

रत्नप्रभादिसप्तनरकलक्षणेषु अष्टसु निरयभेदेषु तथा देवगतिमार्गणास्थानस्यानुत्तरवर्जपञ्चविंशति-भेदेषु तथा वैक्रियकाययोगे इत्येतेषु चतुस्त्रिंशद्भेदेषु । मन्दानुभागबन्धप्रायोग्याध्यवसाय-स्थानगतो मध्यमपरिणामी स्वप्रायोग्यसंक्लिष्ट इति विशेषणत्रयमत्राप्यनुसन्धेयम् ।

इयमत्र भावना–एतासु मार्गणासु गर्भे जीवाः पर्याप्तप्रायोग्यायुष्कस्यैव निर्वर्तकाः,अपर्याप्तकेषु तेषामुत्पादाभावात् । ततः पर्याप्तप्रायोग्यां स्थितिं निर्वर्तयन्नित्युक्तम् । तथाऽऽयुष्कस्य जघन्यस्थितिबन्ध-काल एव जघन्यरसो बध्यते ततो जघन्यस्थितेरुपादानम् । तत्रापि भिन्नभिन्नमार्गणासु भिन्नभिन्न-जघन्यस्थितेः सद्भावात् स्वप्रायोग्यत्वविशेषणदानम् । मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया सम्यग्दृष्टीनां विशुद्धत्वेन जघन्यस्थितिबन्धस्याभावात् सम्यग्दृष्टिव्यवच्छेदार्थं मिथ्यादृष्टिरिति कथितम् ।

अत्र कासुचिन्मार्गणासु बन्धप्रायोग्यजघन्यस्थितेः परस्परं तारतम्यात् बन्धप्रायोग्यजघन्य-रसस्याप्यनन्तगुणहीनाधिक्यं भवति, कथम् ? इति चेत् , उच्यते-यद्यकेनापि स्थितिस्थानेन हीना-ऽधिका वा स्थितिर्बध्यते तदा रसोऽनन्तगुणेन हीनोऽधिको वा निर्वर्त्यते,तथाहि–अत्र कासुचिन्नर-कादिमार्गणासु स्वबन्धप्रायोग्यायुष्कस्य जघन्यस्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, कतिपयासु ग्रैवेयकादिमार्ग-णासु पुनः वर्षपृथक्त्वप्रमाणा सा प्राप्यते, ततो नरकादिमार्गणापेक्षया ग्रैवेयकादिषु जघन्यरसस्या-नन्तगुणेनाधिक्यं भवति,अनेन प्रकारेण मार्गणान्तरेष्वपि **स्थितिबन्धविधानग्रन्थद्वितीयाधिकार**-स्य स्थितिबन्धप्रमाणद्वारोक्तस्थितिबन्धप्रमाणमवगम्य परस्परं रसस्य तारतम्यं स्वयमेव भावनीयम् ।

इदमपि बोद्धव्यम्–सर्वनरकभेदेषु तथा सहस्रारपर्यन्तदेवभेदेषु तिर्यगायुराश्रित्यजघन्यरसबन्धः प्राप्यते, यतः सप्तमनारकं विवर्ज्यानन्तरोक्तेषु भेदेषु तिर्यगायुर्वा मनुष्यायुर्वा बध्यते,तयोर्मनुष्यायुष्क-स्य शुभतरत्वाद् रसोऽनन्तगुणाधिकः तिर्यगायुष्कस्य तु तदपेक्षयाऽनन्तगुणहीनः,सप्तमनरके तु केवल-तिर्यगायुरेव बध्यते ततस्तिर्यगायुरपेक्षया जघन्यरसः प्राप्यते, आनतादिदेवेषु तु केवलं मनुष्यायुष्कस्य बन्धसद्भावात् जघन्यानुभागबन्धस्तदपेक्षया लभ्यते, अतो नरकादिमार्गणासु प्रकृतजघन्यानुभागस्वा-मिभ्य आनतादिमार्गणासु जघन्यानुभागस्वामिनां [illegible] रसोऽनन्तगुणेनाधिको द्रष्टव्यः ॥११७॥

अथानुत्तरदेवप्रमुखभेदेषु तमेवा [illegible]नाह—

पंचसु अणुत्तरेसुं आहारदुगमणपज्जवेसु तहा ।
संयमसामइएसुं छेए परिहारदेसेसुं ॥११८॥
सासायणसम्मत्ते सप्पाउग्गं तु पज्जणिव्वत्तिं ।
सव्वजहण्णं सामी णिव्वत्तंतो मुणेयव्वो ॥११९॥

(प्रे०) '**पंचसु**' इत्यादि, पञ्चानुत्तरदेवभेदेषु आहारकाहारकमिश्रकाययोगमनःपर्यवज्ञान-भेदेषु संयमसामान्यसामायिकभेदयोः छेदोपस्थापनीये परिहारविशुद्धिदेशविरतिभेदयोः सास्वादन-सम्यक्त्वभेदे चेत्येतेषु चतुर्दशमार्गणाभेदेषु स्वप्रायोग्यां सर्वजघन्यां पर्याप्तप्रायोग्यां स्थितिं निर्वर्तयन्

प्रकृतस्वामी ज्ञातव्यः । भावना चात्र प्रागवदनुसर्तव्या । नवरमत्र केवलं सम्यग्दृष्ट्यादीनामेकैकविधानां जीवानां सद्भावेन व्यवच्छेद्याभावाद् सम्यग्दृष्ट्यादिविशेषणानां न प्रयोजनमित्यवधेयम्। पञ्चानुत्तरेषु मनुष्यायुरपेक्षया, सास्वादनमार्गणायां तु तिर्यगायुराश्रित्य, पञ्चानुत्तरसास्वादनवर्जशेषाष्टभेदेषु देवायुराश्रित्यायुःकर्मणो जघन्यानुभागबन्धो द्रष्टव्यः । निरुक्तसामान्यविशेषणानीहापि नियोज्यानि ॥११८।११९॥ अथाऽन्यत्राह—

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मखइअवेअगेसु दुगइट्ठो ।
णिव्वत्तंतो सप्पाउग्गलहुं पज्जणिव्वत्तिं ॥१२०॥

(प्रे०)'**णाणतिगे**' इत्यादि, त्रिज्ञानभेदेषु, अवधिदर्शने, सम्यक्त्वसामान्यक्षायिकवेदकसम्यक्त्वभेदेषु चेत्येतेषु सप्तमार्गणाभेदेष्वायुष्कस्य जघन्यानुभागस्वामी 'स्वप्रायोग्यलघुं पर्याप्तनिवृत्तिं'—पर्याप्तप्रायोग्यां जघन्यां स्थितिं निर्वर्तयन् 'द्विगतिस्थः' नारकदेवानामन्यतरो जीवो भवति । कुतः ? उच्यते—एतासु सप्तमार्गणासु चतुर्गतिका जीवाः सन्ति, तत्र तिर्यङ्मनुष्याः सम्यक्त्वावस्थायां वैमानिकप्रायोग्यदेवायुष्कस्य जघन्यतोऽपि पल्योपमप्रमाणां स्थितिमभिनिर्वर्तयन्ति, तदवस्थायामेव वर्तमाना देवनारकास्तु जघन्यपदे मनुष्यायुष्कस्य वर्षपृथक्त्वमात्रां स्थितिं बध्नन्ति, ततः स्वस्वमार्गणाप्रायोग्यजघन्यस्थितेर्निर्वर्तका देवनारका एव भवन्तीति । मन्दानुभागबन्धगत इत्यादिविशेषणानामत्रापि योजना कर्तव्या ॥१२०॥ अथ शुभलेश्यासु प्रकृतबन्धकस्य विशेषमाह—

तीसुं सुहलेसासुं सप्पाउग्गलहुपज्जणिव्वत्तिं ।
णिव्वत्तंतो देवो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥१२१॥

(प्रे०) '**तीसु**' इत्यादि, 'तिसृषु शुभलेश्यासु' तेजःपद्मशुक्लरूपेषु त्रिषु लेश्यामार्गणाभेदेष्वित्यर्थः, स्वप्रायोग्यजघन्यां पर्याप्तप्रायोग्यां स्थितिं निर्वर्तयन् मिथ्यादृष्टिर्देव आयुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन ज्ञातव्यः । अत्र शुभलेश्यासु वर्तमानास्तिर्यङ्मनुष्या देवायुष ऋते शेषायूंषि न बध्नन्ति । तेजःपद्मलेश्ययोर्वर्तमाना देवास्तु तिर्यगायुरपि विरचयन्ति, शुक्ललेश्यायां वर्तमाना देवाः पुनर्मनुष्यायुर्बध्नन्ति ततस्तेजःपद्मलेश्ययोः तिर्यगायुर्बन्धापेक्षया, शुक्ललेश्यायां च मनुष्यायुर्बन्धापेक्षया देवानामायुष्कस्य जघन्यस्थितेर्निर्वर्तकत्वेन तेषां जघन्यानुभागबन्धो भवति । सम्यग्दृष्ट्यपेक्षया मिथ्यादृष्टिभिरायुष्कस्य जघन्यस्थितिर्ह्रस्वा बध्यते, मिथ्यादृष्टीनां जघन्यस्थितिसत्कस्थानेषूत्पादसंभवात् अतो मिथ्यादृष्टिरित्युक्तम् ॥१२१॥

एवं दर्शितमष्टपञ्चाशन्मार्गणाभेदेष्वायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वम् । साम्प्रतं शेषमार्गणास्वपर्याप्तप्रायोग्यसर्वजघन्यस्थितिबन्धमाश्रित्य तदेवाभिदधाति—

सेसासु मग्गणासुं णिव्वत्तंतो अपज्जणिव्वत्तिं ।
सव्वजहण्णं णेयो जम्हा खुड्डभवठिइबंधो ॥१२२॥

(प्रे०) **'सेसासु'** इत्यादि, शेषासु मार्गणासु प्रागुक्ताष्टपञ्चाशन्मार्गणावर्जासु पञ्चाधिकशतमार्गणास्वित्यर्थः, एतासु कः? इत्याह–**'णिव्वत्तंतो'** इत्यादि, सर्वजघन्या 'मपर्याप्तनिर्वृत्तिम्' अपर्याप्तप्रायोग्यां, स्थितिमिति गम्यते, 'निर्वर्तयन्'–बध्नन्नायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन ज्ञेयः। तत्र कारणमाह–**'जम्हा'** इत्यादि, 'यस्मात्'–यतोऽत्र 'क्षुल्लकभवस्थितिबन्धः'–क्षुल्लकभवप्रमाणसर्वजघन्यस्थितिबन्धो, भवतीति शेषः। एतासु मार्गणासु जघन्यपदे क्षुल्लकभवप्रमाणा स्थितिर्बध्यते, सा च स्थितिरपर्याप्तप्रायोग्या सर्वजघन्याऽस्ति, क्षुल्लकभवप्रमाणाज्जघन्यस्थितिकायुष्कस्यैवाबन्धात्। ततश्च सर्वजघन्यापर्याप्तप्रायोग्यस्थितिं बध्नन् मध्यमपरिणामी जघन्यानुभागबन्धप्रायोग्याध्यवसायस्थाने स्थितः सन् प्रकृतस्वामित्वेनाववोध्य इति भावः। शेषाः पञ्चोत्तरशतमार्गणाश्चेमाः–मनुष्यगतेश्चतुर्मार्गणास्तिर्यग्गतेः पञ्चमार्गणाः, इन्द्रियस्यैकोनविंशतिसंख्याकसर्वमार्गणाः, कायस्य द्वाचत्वारिंशत्संख्याकसर्वमार्गणाः, योगस्य पञ्चमनःपञ्चवचनकाययोगसामान्यौदारिकौदारिकमिश्रयोगरूपत्रयोदशमार्गणाः, त्रिवेदमार्गणाः, चतुष्कषायमार्गणाः, त्र्यज्ञानमार्गणाः, असंयममार्गणा, चक्षुरचक्षुर्दर्शनमार्गणे, त्र्यशुभलेश्यामार्गणाः, भव्याभव्यमार्गणे, मिथ्यात्वमार्गणा, संज्ञ्यसंज्ञिमार्गणे, आहारकमार्गणा चेति। अत्र चायुष्कस्य जघन्यरसबन्धस्तिर्यगायुरपेक्षया द्रष्टव्यः न तु मनुष्यायुरपेक्षया मनुष्यायुष्कस्य क्षुल्लकभवप्रमाणस्थितिबन्धस्य सद्भावेऽपि तस्य शुभतरत्वेन तद्बध्नतां प्रभूतरसबन्धसद्भावात् ॥१२२॥

प्रस्तुतद्वारोक्तार्थसंग्रहपराणि स्वामित्वप्रदर्शकयन्त्रकाणि त्वेवम्—卐

तदेवं भणितमायुःकर्मणो जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वम्। तद्भणने चावसितमष्टानामपि मूलप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वम्। तदवसाने च समर्थितं जघन्योत्कृष्टद्विप्रकारमनुभागबन्धस्वामित्वम्। तत्समर्थने च गतं 'सामित्त' इत्यनेनोद्दिष्टं पञ्चमं स्वामित्वद्वारम् ॥

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधान-
मूलप्रकृतिरसबन्धे पञ्चमं स्वामित्वद्वारं
समाप्तम् ॥



卐 स्वामित्वप्रदर्शकयन्त्रकाणि दिदृक्षवः पाठकाः पश्यन्तु ८१तमादीनि पृष्ठानि।

आयुष्कस्योत्कृष्टरसबन्धस्वामिप्रदर्शकं यन्त्रम्

ओघतः—उत्कृष्टानुभागबन्धे वर्तमानाः साकारादिविशिष्टास्तत्प्रायोग्यविशुद्धा **अप्रमत्तसंयता** (गाथा १८)

आदेशतः—सामान्येनोत्कृष्टानुभागबन्धे वर्तमानाः साकारादिविशिष्टा एव, पर्याप्तऽपर्याप्तजीवसत्त्वे पर्याप्ता एव विशेषतस्तु यन्त्रोक्तस्वरूपाः । (गाथा ६०-६१)

आदेशतः स्वामिनः ↓		गति०	इन्द्रिय०	काय०	योग०	वेद०	कषाय.	ज्ञान०	संयम०	दर्शन०	लेश्या	भव्य०	सम्य०	संज्ञि०	आहा०	सर्वाः	गाथा.
तत्प्रायोग्य० संक्लिष्टः	संज्ञिमिथ्या०	अपर्या.वर्ज तिर्यग् ४														४	६३
	,, ,, तिर्यङ्मनु०							अज्ञान. ३	असंयम. १		अशुभ. ३					७	६३
	संज्ञितिर्यङ्मनु०											अभव्य १	मिथ्या १			२	६४
	असंज्ञिपञ्चे०-													असंज्ञि		१	६४
शेषाः(१४९) तत्प्रायोग्यविशुद्धाः [गा०६४]	सम्यग्दृष्टि०-	नरक,षष्ठान्ता देवग्रैवेकान्ता ३२			वैक्रिय० १											३३	६५
	मिथ्यादृष्टि०-	सप्तमना. १														१	६५
	संज्ञिजीवा –	अप०पञ्चे तिर्यग् १	अपर्या० पञ्चे. १	अपर्या त्रस १												३	६६
	अप्रमत्तमुनय –	त्रिमनु. ३	द्विपञ्चे० २	द्वित्रस २	सर्वमनोवचो० काय औ. १२	त्रिवेद० ३	सर्वे० ४	ज्ञान० ४	स सामा छेदो परि४	त्रिद ३	शुभ ३	भव्य. १	स क्षा. वे. ३	संज्ञि. १	आहा १	४६	६६ त ६८
	बादरजीवा.–		एकेन्द्रियौघ १	पृथ्व्यादि-पञ्चौघ-निगोदौ ६												७	६९
	संज्ञिमिथ्या०-				औदा मिश्र											१	६९
	मनुष्याः—								देशवि १				सास्वा १			२	७०
	सामान्यवक्तव्यतयोक्ताः तद्योग्यविशु०	अपर्याप्तमनु. पञ्चानु.६	शेषाः१५	शेष० ३३	आहारक-तन्मिश्र२ 卐											५६	—

卐आहारकमिश्रयोगमार्गणाया मतान्तरेण शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनादर्वाग् मिश्रयोगचरमसमये एव वर्तमाना जीवा. प्रस्तुतस्वामिनो भवन्ति (गाथा ७०)

ओघतः—घातिचतुष्कस्य साकार-जाग्रत् श्रुतोपयुक्ताः सर्वसंक्लिष्टाः उत्कृष्टानुभागबन्धे वर्तमानाश्चतुर्गतिका-ऽन्यतमाः सर्वपर्याप्तिपर्याप्ताः संज्ञिमिथ्यादृष्टिजीवाः । (गाथा १६-१७)

अघातित्रयस्य सूक्ष्मसम्परायचरमसमये वर्तमानाः क्षपकाः । (गाथा १७)

आदेशतः—सर्वमार्गणासु सामान्यतः 'साकारादिविशेषणविशिष्टाः' 'उत्कृष्टानुभागबन्धे वर्तमाना' जीवा ज्ञेयाः (गाथा १९) । ते च मार्गणाप्रविष्टपर्याप्ताऽपर्याप्तजीवानां मध्ये 'पर्याप्ताः' एव (गाथा २०) । सर्वनरक-भेद-तिर्यगोघ-त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-त्रिमनुष्य-देवौघ-सहस्रारान्तदेव-द्विपञ्चे०-द्वित्रस०-पञ्चमनो०→

मार्गणाः	उत्कृ० रस० स्वामी	गाथाङ्कः
गति० ४७ भेदाः सर्वनिरय०अनुत्तर-वर्जदेवभेदाः-३३	घाति० ४-मिथ्यादृष्टिः अघाति०३-सम्यग्दृष्टिः	२८
अपर्याप्तवर्जतिर्यग्० गति० ४	घाति. ४-संज्ञिमिथ्यादृष्टि. अघाति०३-देशविरतः	२९
अपर्याप्ततिर्यग् १	सप्तानां-संज्ञी	३०
त्रिमनुष्य० ३	घाति० ४-मिथ्यादृष्टिः अघाति०३-सूक्ष्मसपराय-चरमसमये क्षपकः	३० ३१
अपर्याप्तमनु० पञ्चा-नुत्तर=६	सप्तानां❋ सामान्यवक्तव्यतयोक्तः	
इन्द्रिय० १९ एकेन्द्रियौघ १	सप्तानां-बादरजीव. Λ	३२
द्विपञ्चे० २	,, ओघवत् ●	३३-४
अपर्या० पञ्चे० १	,, संज्ञी	३०
शेषैकेन्द्रिय - ६ सर्वविकल ९ =१५	Λ ,, सामान्यवक्तव्यतयोक्त ❋	
काय० ४२ पृथ्व्यादिपञ्चौघ० निगोदौघ -६	सप्तानां बादरजीव. 卐	३२
द्वित्रस० २	,, ओघवत् ●	३३-४
अपर्याप्तत्रस० १	,, संज्ञी	३०
पृथ्व्यादिपञ्चक-स्य शेषभेदाः ३३	,, सामान्यवक्तव्यतयोक्त ❋	

मार्गणाः	उत्कृष्ट रस० स्वामी	गाथाङ्क
योग० १८ वैक्रिय० १	घाति० ४-मिथ्यादृष्टि [नारको वा अघाति०३ सम्यग्दृष्टिः देवः, अथवा देवो-	२८
सर्वमनो.,सत्य, असत्य-मिश्र-वचन० ८	घाति०४-मिथ्यादृष्टिः अघाति ३ सूक्ष्मसम्परायचरमसमये क्षपक.	३० ३१
वचनौघ व्य.वचन काय , औदा -४	सप्तानाम् -ओघवत् ●	३३ ३४
औदा० मिश्र १	घाति० ४ संज्ञिमिथ्यादृष्टि ● अघाति० ३ सम्यग्दृष्टि ●	३५
वैक्रियमिश्र १	घाति०४-मिथ्यादृष्टिः● [प्रथमसमये देवः अघाति ३-●सम्यग्दृष्टिःअथवाश्रेणितश्च्युत	३६
कार्मण० १	घाति०४-संज्ञिमिथ्यादृष्टि [समये देवो वा अघाति०-सम्यग्दृष्टिःश्रेणितश्च्युत्वा प्रथम	३८
आहा तन्मिश्र०२	सप्तानां-सामान्यवक्तव्यतयोक्तः● ❋	
वेद० ४ स्त्री पु. नपु ,३	घाति० ४-संज्ञिमिथ्यादृष्टि [समये क्षपक अघाति०-अनिवृत्ति.गुण स्वमार्गणाचरम-	३९
अवेदि० १	घाति ४ श्रेणित पतन्नुपशामक स्व चरमस. अघाति०३-सूक्ष्मसपराय चरमस० क्षपक	४०
कषाय० ४ क्रो मान माया ३	घाति०४-संज्ञिमिथ्यादृष्टि. । [समये क्षपक अघाति०३-अनिवृत्ति.गुण. स्वमार्गणाचरम-	३९
लोभ० १	सप्तानाम्--ओघवत् ●	३३ ४
ज्ञान० ७ अज्ञानत्रिक ३	घाति०४--संज्ञिमिथ्यादृष्टि. अघाति-३-संयमाभिमुखचरमसमये मिथ्या.	४१

❋ अपर्याप्तमनुष्य पञ्चानुत्तरौघवर्जैकेन्द्रियसत्कषड्भेद-सर्वविकल-पृथ्व्यादिपञ्चकसत्कशेष३३भेदाहारकाहारकमिश्रयोगलक्ष-णासु ५६ मार्गणासु सामान्यवक्तव्यत्वेन साकारादिविशिष्टः प्रकृतस्वामी ज्ञेय ।

Λ एकेन्द्रियसर्वभेदेषु गोत्रकर्मण उत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वेन पृथ्व्यब्वनस्पतिकाया विज्ञेयाः (गाथा ३२) ।

卐 तेजोवायुकायिकसर्वभेदेषु गोत्रकर्मण स्वप्रायोग्यसंक्लिष्ट इति विशेषः (गाथा २७) ।

● त्रिमिश्रयोगेषु मतान्तरेण प्रागुक्तस्वामी शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनादर्वाक्समये वर्तमान एव विज्ञेयः । (गाथा ३७)

पञ्चवचन-काययोग.-औदा.-वैक्रिय.-स्त्री-पुं-नपुं.--चतुष्कषाय.--ऽज्ञान--ऽसंयम--चक्षुरचक्षु.-शुक्लवर्जपञ्च-लेश्या-भव्याऽभव्य-मिथ्या०-संज्ञ्याहारिलक्षणासु सप्तषष्टि(६७)मार्गणास्वोघवदुत्कृष्टसंक्लेशो भवति, शेषासु १०३ मार्गणासु स्वमार्गणाप्रायोग्य इति (गाथा २१ तः २४)। त्रिमनु०द्विपञ्चे०-द्वित्रस.-पञ्चमनो०-पञ्चवचन०-काय.-औदा.-अवेदि.-लोभ-चतुर्ज्ञान.-संयमौघ-सूक्ष्मसम्प.-चक्षुरचक्षुरवधिदर्शन-शुक्ल-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-संज्ञ्याहारिलक्षणासु षट्त्रिंशद् (३६) मार्गणास्वोघविशुद्धिः, शेषासु १३४मार्गणासु स्वप्रायोग्य-विशुद्धिरिति (गाथा २५ २६)। सर्वत्र घातिचतुष्कस्योत्कृष्टरसबन्धः संक्लेशतः, अघातित्रयस्य तु विशुद्धितः, नवरं गोत्रस्य तेजो वायुसर्वभेदेषु स्वप्रायोग्यसंक्लेशत इति (गाथा २७) विशेषतस्तु यन्त्रोक्तस्वरूपा ज्ञेयाः।

मार्गणाः	उत्कृष्टरस० स्वामी	गाथा-
मतिश्रुतावधि ज्ञान० ३	घाति४-मिथ्यात्वाभिमुखचरमसमयेऽविरत अघाति ३-सूक्ष्मसप.च स क्षपक. [सम्यग्-	४२
मनःपर्यव. १	घाति ४ असयमाभिमुख च.स. प्रमत्तमुनि अघाति-सूक्ष्मसम्प. चरमसमये क्षपक	४३
संयम० ७ सूक्ष्मसंपराय१	घाति ३-श्रेणित पतन्नुपशमक स्व.च.स अघाति ३-सूक्ष्म० चरमसमये क्षपक:	४०
सयमौघ०१	घाति मिथ्यात्वाभिमुखचरमसमये प्रमत्त. अघाति-सूक्ष्म० चरमसमये क्षपक:	४४
सामा छेदो २	घाति संयमौघवत् अघाति ३-अनिवृति.गुण० चरमस.क्षपक:	४५
परिहार० १	घाति-छेदो. भिमुखचरमसमये प्रमत्त: अघाति३-अप्रमत्त.अथवा कृतकरणार्वाक् समये दर्शनमोहक्षपक:	४६
देशविरति १	घाति ४-मिथ्या.भिमुखच.समयेदेशविरत अघाति ३-सयमा ,, ,, ,, ,, ,,	४७
असयम० १	घाति ४-सञ्ज्ञिमिथ्यादृष्टि: अघाति ३-सयमाभिमुख च.स अविरतसम्य	४८
दर्शन० ३ चक्षुरचक्षु०२	सप्तानाम् -ओघवत् ●	३३ ३४
अवधि० १	,, अवधिज्ञानवत्	४२
लेश्या० ६ कृष्णलेश्या १	घाति४-चतुर्गतिकान्यतमसञ्ज्ञिमिथ्यादृष्टि: अघाति ३-सम्यग्दृष्टिदेवः ★	४९ ५०
नीलकापोत २	घाति४-मिथ्यादृष्टि. देवो नारकश्च। अघाति३-सम्यग्दृष्टिदेव ★	४९ ५०

मार्गणाः	उत्कृष्टरस० स्वामी	गा०
तेज पद्म.२	घाति-मिथ्यादृष्टिदेव. [कृस दर्शनक्षपक अघाति३-अप्रमत्तमुनि अथवा कृतकरणार्वा·	५१
शुक्ल० १	घाति ४-मिथ्यादृगानतदेव. आनतादि- अघाति३-सूक्ष्मचरमस क्षपक. [देवो वा	५२
भव्य०-१	सप्तनाम्-ओघवत् ●	३३
अभव्य-१	घाति-सञ्ज्ञी.अघाति-सञ्ज्ञी, द्रव्यसयतो वा	५३
सम्य.७ओघ१	सप्तानाम्-अवधिज्ञानवत्	४२
क्षायिक. १	घाति-अविरतसम्यग्दृष्टि: अघाति-सूक्ष्म. चरमसमये क्षपक:	५४
उपशम. १	घाति-मिथ्या. मुखच.स.अविरत-सम्य० अघाति-सूक्ष्मसम्प. च. स.उपशमक:	५५
वेदक० १	घाति-उपशमसम्य.वत् अघाति-तेजोलेश्यावत्	५६
मिश्र० १	घाति-मिथ्यात्वाभिमुख च. स. मिश्रदृग् अघाति-सम्यक्त्वा ,, ,, ,,	५७
सास्वादन.१	घाति मिथ्या.भिमुख च.स.अथवा स्वस्था· अघा -चतुर्गतिक:संयमपतितमनु.वा[सञ्ज्ञि	५८
मिथ्यात्व. १	घाति०४-सञ्ज्ञी अघाति.-सयमाभिमुख च.स.व क्षपक·	५९
संज्ञि० १	घाति-मिथ्यादृष्टि अघाति-सु च.स क्षपक:	३०
असञ्ज्ञि० १	सप्तानां-पञ्चेन्द्रिय:	५९
आहारि०१	सप्तानाम -ओघवत् ●	३
अनाहारि० १	,, कार्मणमार्गणावत्	३८

● द्विपञ्चे०-द्वित्रस०-वचनौघ व्यवहारवचन-काययोगौदारिकयोग-लोभ-चक्षुरचक्षु-भव्याहारित्रयोदश(१३)मार्गणासु प्रकृतस्वाम्योघवद् ज्ञेय.। (गाथा ३३ ३४) नवरम् औदारिके घातिचतुष्कस्य द्विगतिस्थ ।

★ कृष्णनीलकापोतलेश्यासु महाबन्धकाराः घातिचतुष्कस्य प्रकृतस्वामित्वेन देव नेच्छन्ति, अघातित्रयस्य पुनः प्रस्तुतस्वामितया 'सम्यग्दृष्टिनारक एव' इति वदन्ति। (गाथा ५०)

मार्गणा	जघन्यरस० स्वामी	गाथाङ्क
गति०४७ भेदा - नरकौघ-सप्तमनारकः २	घाति० सम्यग्दृष्टि. गोत्र० सम्य मुख०चरमसमये सप्तमनारक	८३
प्रथमादिषष्ठनिरया, देवौघ, ग्रैवेयकान्ताश्च ३१	घाति० सम्यग्दृष्टिः गोत्र०-परावर्तमानमध्यमपरिणामी ★	८४
तिर्यगोघ १	घाति-देशविरत । गोत्र-बादरतेजोवायु०	८५
त्रिपञ्चे.तिर्यग् ३	घाति- ,, ,, । गोत्र-परावर्तमानपरि ★	८५
अपर्याप्त.प..ति.	घाति-सञ्ज्ञी । गोत्र– ,, ,, ★	८६
अपर्याप्तवर्जत्रि-मनुष्यभेदाः ३	घाति३ सूक्ष्मसम्परायस्य मोहनीयस्य पुनरनिवृत्तिबादरस्य चरम समये क्षपक गोत्र परावर्तमानमध्यमपरिणामी ★	८७
अपर्याप्तमनु० ५ अनुत्तर-६	सप्तानां सामान्यवक्तव्यतयोक्त ★ 卐 *	
इन्द्रिय० १९ एकेन्द्रियौघ १	घाति० बादरजीवः गोत्र० बादरतेजोवायु०	८८
एक० षड्भेदा ६	घाति ४-सामान्येनोक्त *गोत्र तेजोवायु	,,
त्रिपञ्चे० २	सप्तानाम्-ओघवत् ●	८९
अपर्याप्त०पञ्चे १	घाति सञ्ज्ञी, गोत्र-परावर्तमानपरिणामी ★	८६
सर्वविकल०. ६	सामान्यवक्तव्यतयोक्तः ★ *	
काय ४२ तेजोवायु०ओघ २	सप्तानां-बादरजीव	८८
द्वित्रस० २	,, ओघवत् ●	८९
अपर्याप्तत्रस०१	घाति-सञ्ज्ञी। गोत्र परावर्तमानपरिणामी ★	८८
पृथ्व्य-वनस्पतिनिगोदौघभेदाः ४	घाति४-बादरजीव गोत्र परावर्तमानपरिणामी ★	९१
पृथ्व्यादिपञ्चकस्य ३३ भेदा	सप्तानां सामान्यतयोक्त * ★	
योग १८ वैक्रिय० १	घाति४- सम्यग्दृष्टि (अघात्य०कुत्रचित्) गोत्र-सम्य मुख० चरमसमये सप्तमनारक	८३
सर्वमनोवचोभेद काययोग० ११	सप्तानाम्-ओघवत् ●	८६

मार्गणा	जघन्यरस० स्वामी	गाथा०
औदा० १	घाति ४ मनुष्यवत् गोत्र तिर्यग्गतिवत्	९१
औदा० मिश्र १	घाति४- सम्यग्दृष्टि गोत्र बादरतेजोवायुकायो ꕥ	९२
वैक्रिय मिश्र कार्मण २	घाति४- सम्यग्दृष्टि गोत्र सप्तमनारक ꕥ	९३
आहार० तन्मिश्र २	सप्तानां सामान्यतयोक्त ꕥ 卐 *	
वेद ४ स्त्री० पु०, २	घाति-४ अनिवृत्ति०गुण०स्वस्वमार्गणा चरमसमये क्षपक गोत्र-परावर्तमानपरिणामी ★	९५
नपु० १	घाति-अनिवृत्ति गुण स्वमार्गणा-चरमसमये क्षपक । गोत्र-सम्य० मुखचरमसमये सप्तमनारक.	९
अवेदि १	घाति०३ सूक्ष्मस० प०चरमसमये क्षपक मोह०-अनिवृत्ति० ,, ,, ,, । अघाति३-अयोगि पर्यन्तपरिणामक मार्गणा चरमसमये 卐	९७
कषाय.४ लोभ १	सप्तानाम्-ओघवत् ●	८९
शेष ३	घाति स्वनिवृत्ति मार्गणाचरमसमये क्षपक गोत्र सम्यक्त्वाभिमुख चरम सप्तमनारक	९६
ज्ञान ७ त्रिज्ञान०३	घाति-४ मनुष्यवत् 卐 [अविरत सम्यग्० गोत्र-मिथ्या०मुख० चरमसमये–	९८
मनःपर्यव १	घाति-मनुष्यवत् 卐 गोत्र अविरताभिमुख०चरमसमये प्रमत्त	९९
अज्ञान त्रिक ३	घाति-सम्यक्त्वाभिमुख चरमसमये मिथ्या० गोत्र-सम्य० ,, ,, ,, सप्तमनारक	१००

★प्रथमादिषण्नारक-सर्वपञ्चे०तिर्यग् सर्वमनुजा-ऽनुत्तरवर्जसर्वदेव सर्वविकल-सर्वपृथ्वी-सर्वाप् सर्ववनाऽपर्याप्तपञ्चे० अपर्याप्तत्रस०-स्त्री पु-त्रिशुभलेश्यारूपाम् अशीति (८०) मार्गणाम् गोत्रस्य तत्स्वामित्वेन परावर्तमानमध्यमपरिणामी (गाथा ७७-७८) ।

ꕥ त्रिमिश्रयोगेषु **मतान्तरेण** शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनादर्वाक्समये वर्तमानो घातिगोत्राणां जघन्यानुभागबन्धको भवति (गाथा ९४) ।

* अपर्याप्तमनुष्य पञ्चानुत्तर-सर्वविकल ओघवर्जपृथ्व्यादिपञ्चकस्य ३३ भेदाहारक तन्मिश्ररूपाणां (५०) मार्गणानाम् सामान्यवक्तव्यतयोक्त स्वामी ज्ञेयः । Aएतत्स्वामित्व ओघादिनिरूपणं ८३तमे पृष्ठे पश्यन्तु ।

मार्गणा	जघन्यरस० स्वामी	गाथाङ्कः
संयम० ७ संयमौघ. १	घाति०४-मनुष्यवत् 卐 गोत्र०-मिथ्या० मुख०चरमसमये प्रमत्त	१०१
सामा० छेदो० २	घाति०-अनिवृत्ति० चरमसमयेक्षपक 卐 गोत्र०-मिथ्या० ,, ,, ,, प्रमत्त	१०२
परिहार १	घाति० अप्रमत्तमुनि अथवा कृतकरणा- र्वाक् समये, 卐 गोत्र०-छेदो० मुख०चरमसमये प्रमत्त	१०३
देशविरत० १	घाति०-संयमाभिमुख० चरमसमये देश- विरत. 卐 गोत्र०-मिथ्या० ,, ,, ,, ,,	१०४
असंयम. १	घाति०-संयमाभिमुख० चरमसमयेऽविरत सम्यग्० गोत्र० सम्य० ,, ,, ,, सप्तमनारक	१०५
सूक्ष्म सम्प १	घाति०३-सूक्ष्मसम्प० चरमसमये क्षपक अघाति ३ श्रेणित पतन्नुपशमक स्वमार्ग- 卐णाचरमसमये	९७
दर्शन ३ चक्षुरचक्षु २	सप्तानाम्–ओघवत् ●	८९
अवधि० १	,, अवधिज्ञानवत् 卐	९८
लेश्या० ६ कृष्ण० १	घाति०-अघातित्रिकस्योत्कृष्टस्वा- मित्ववत् △ गोत्र०-सम्य० मुख० चरमसमये नारक	१०६
नीलकापो २	घाति०-अघातित्रिकस्योत्कृष्टस्वामिवत् गोत्र०-तेजोवायु० △	१०६
तेज पद्म० २	घाति०-अप्रमत्त अथवा कृतकरणार्वाक् समये गोत्र०-परावर्तमानपरिणामी देव ★	१०७

मार्गणा	जघन्यरस० स्वामी	गाथा०
शुक्ल० १	घाति०-मनुष्यवत् गोत्र०-परावर्तमानपरिणामिदेवः ★	१०८
भव्य- १	सप्तानाम्–ओघवत् ●	८९
अभव्य १	घाति०-चतुर्गतिकान्यतमसञ्ज्ञी, अथवा गोत्र०-सप्तमनारक [अन्यसंयमिनर.	१०९
सम्य० ७ सम्य.ओ१	घाति०-मनुष्यवत् 卐 [सम्य० गोत्र०-मिथ्या.मुख०चरमसमये ऽविरत	९८
क्षायिक.१	घाति० मनुष्यवत् । गोत्र-अविरतसम्य 卐	११०
वेदक. १	घाति-अप्रमत्तः अथवा कृतकरणार्वाक् समये 卐 गोत्र-मिथ्या मुखचरमसमयेऽविरतसम्य.	१११
उपशम.१	घाति०-सूक्ष्म.चरमसमये उपशमक 卐 मोह० अनिवृत्ति० ,, ,, गोत्र०-मिथ्या मुख ,, ,, अविरत०	११२
मिश्र० १	घाति० सम्य मुखचरमसमये० 卐 गोत्र० मिथ्या० ,, ,, ,,	११३
सास्वा० १	घाति० चतुर्गतिक अथवा संयमात् गोत्र०-सप्तमनारक [पतन्मनुष्य'	११४
मिथ्या०१	घाति० संयमाभिमुख०चरमसमये मिथ्या. गोत्र०-सम्य० ,, ,, ,, ,, सप्तमनारक'	१००
संज्ञि० १	सप्तानाम्- ओघवत् ●	८९
असंज्ञि० १	घाति०-पञ्चेन्द्रिय' । गोत्र-बादरतेजोवायु	११५
आहा० १	सप्तानाम्––ओघवत् ●	८९
अनाहा. १	,, ,, कार्मणयोगवत्	९३

卐 पञ्चा-ऽनुत्तराहारक-तन्मिश्रा-ऽवेदि-चतुर्ज्ञान-संयमौघ-सामा०-छेदो०-परि०-देश० सूक्ष्म० अवधिद० सम्यक्त्वौघ-वेदकोपशम-क्षायिक-मिश्ररूपेषु (२४) चतुर्विंशतिभेदेषु गोत्रस्य स्वमार्गणाप्रायोग्यमक्लिष्ट इति। शेषासु (६६) षट्षष्टिमार्गणासु गोत्रस्य तत्स्वामित्वेन तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति। (गाथा ७९-८०)

● द्विपञ्चे०-द्विश्रम०–सर्वमनोवचोभेद–काययोग-लोभ-चक्षुरचक्षुर्भव्य-सञ्ज्याहारि (२१) मार्गणासु सप्ताना-मोघवद्। (गाथा ८९ ९०)

△ कृष्णनीलकापोतलेश्यासु घातिचतुष्कस्य जघन्यरसबन्धस्वामितया सम्यग्दृष्टिदेव', **महाबन्धकारास्तु** सम्यग्दृष्टि नारक इति वदन्ति।

जघन्यरसबन्धस्वामिप्रदर्शकं यन्त्रम्

ओघतः—त्रिघातिप्रकृतीनां सूक्ष्मसम्परायचरमसमयवर्ती क्षपकः. मोहनीयस्य पुनरनिवृत्तिबादरचरमसमयवर्ती क्षपकः। (गाथा ७१)

वेदनीयनामप्रकृतिद्वयस्य—जघन्यानुभागबन्धे वर्तमानः परावर्तमानमध्यमपरिणामी जीवः (गाथा ७२)

गोत्रस्य-साकारादिविशिष्टो जघन्यरसबन्धे स्थितः सम्यक्त्वाभिमुखचरमसमये विशुद्धतमः सप्तमनारकः(गाथा७४)

आदेशतः—सामान्येन सर्वत्र सप्तानां प्रकृतस्वामी जघन्यानुभागबन्धे वर्तमानो जीवः। घातिप्रकृतीनां च सर्वत्र सुविशुद्ध एव (गाथा ७५)। वेदनीयनामप्रकृतिद्वयस्य त्ववेदि-सूक्ष्मसम्परायभेदद्वये स्वप्रायोग्यसंक्लिष्ट., शेपासु [१६८] मार्गणासु पुनः परावर्तमानमध्यमपरिणामी एव, तेन विशेषतोऽपि वेदनीयनाम्नोः स्वामित्वं गतम् (गाथा ७६)। यत्र शेषपञ्चकर्मणां स्वामी परावर्तमानपरिणामी न विद्यते, तत्र साकारादिविशिष्ट एव, तत्राऽपि पर्याप्तऽपर्याप्तजीवसत्त्वे पर्याप्त एव । विशेषतस्तु पञ्चप्रकृतिसत्कस्वामी अनन्तरपूर्वयन्त्रोक्तस्वरूप. (गाथा ८१-८२)

↓ आयुष

ओघतः— जघन्यानुभागबन्धे वर्तमाना मध्यमपरिणामिनोऽपर्याप्तप्रायोग्यां क्षुल्लकभवप्रमाणां जघन्यस्थिति बध्नन्तो जीवाः (गाथा ७३)। **आदेशत** –सर्वत्र जघन्यानुभागबन्धे वर्तमाना मध्यमपरिणामिन एव विशेषतस्तु निम्नलिखितयन्त्रोक्तस्वरूपा (गाथा ११६)।

आयुषः स्वामिनः	पर्याप्तप्रायोग्यस्वयोग्यजघन्यस्थिति बध्नन्त				अपर्याप्तयोग्यां क्षुल्लकभवप्रमाणां स्थितिं बध्नन्तः
	तत्तन्मार्गणावर्ति-मिथ्या०	तत्तन्मार्गणावर्ति-जीवाः	नारकदेव-द्विगतिस्था.	मिथ्यादृग्-देवताः	
गति०	सर्वनिरय.,देवौघग्रैवेयकान्ताः २५=३३	अनुत्तर० ५			सर्वे मनु.४ सर्वे तिर्यग्० ५= ९
इन्द्रिय०					सर्वे इन्द्रियभेदा १९
काय०					सर्वे कायभेदा ४२
योग०	वैक्रिय० १	आहा-तन्मिश्र० २			५मनो., ५वचन.,काय,औ औ मिश्र=१२
वेद०					त्रिवेद० ३
कषाय०					सवकषाय० ४
ज्ञान०		मनःपर्यव० १	ज्ञानत्रिक ३		अज्ञानत्रिक० ३
संयम०		संयमौघ सामा०,छेद परिहार०देश० ५			असंयम० १
दर्शन०			अवधि द १		चक्षुरचक्षुर्दर्शन० २
लेश्या०				शुभले ३	अशुभलेश्या० ३
भव्य०					भव्या-ऽभव्य० २
सम्य०		सास्वा० १	सम्य.,क्षायिक वेदक०-३		मिथ्या० १
संज्ञि०					सञ्ज्यसंज्ञि० २
आहारि०					आहारि० १
सर्वमार्गणा	३४	१४	७	३	१०५
गाथाङ्क.-	११७	११८-११९	१२०	१२१	१२२

॥ अथ षष्ठं साद्यादिद्वारम् ॥

इदानीं क्रमप्राप्तस्य साद्यादिद्वारस्य व्याख्यानावसरः। अत्र साद्यादीनां व्याख्या त्वेवम्–य उत्कृष्टादिरसबन्धः पूर्वं व्यवच्छिन्नः पश्चात्पुनरपि भवति स **सादिः**,यस्त्वनादिकालात्सन्तानभावेन प्रवृत्तो न कदाचिद् व्यवच्छिन्नः सोऽ**नादिः**, यस्त्वग्रेऽपि न कदाचिद् व्यवच्छेदं प्राप्स्यति सोऽभव्यसम्बन्धी बन्धो **ध्रुवः**, यः पुनरायत्यां कदाचन व्यवच्छेदं प्राप्स्यति स भव्यसम्बन्धी बन्धोऽ**ध्रुवः**। तत्र प्रथममोघत उत्कृष्टादिचतुर्विधं रसं साद्यादिप्रकारैर्विचारयन्नाह—

घाईणं अजहण्णोऽणुक्कोसो वेअणीयणामाणं।
गोअस्स दुहावि रसो साइअणाइधुवअधुवोऽत्थि ॥१२३॥
सत्तण्ह रसो सेसो आउस्स चउव्विहो वि दुविगप्पो।

(प्रे०) **'घाईणं'** इत्यादि, ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायलक्षणानां घातिप्रकृतीनामजघन्योऽनुभागः प्रागुक्तलक्षणः साद्यादिचतुर्विकल्पोऽस्तीति गाथाप्रान्ते सम्बन्धः। **भावना** चेत्थम्—अशुभप्रकृतीनां सर्वजघन्यं शुभप्रकृतीनां तु सर्वोत्कृष्टमनुभागं यः कश्चित् तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्धः स एव निर्वर्तयति, तत्र ज्ञानदर्शनावरणान्तरायलक्षणकर्मत्रयस्याशुभत्वात् क्षपकः सूक्ष्मसम्परायो जीवस्तद्बन्धचरमसमये जघन्यं रसं निर्वर्तयति,तद्बन्धकेष्वयमेवातिविशुद्ध इति कृत्वा। मोहनीयस्य त्वनिवृत्तिबादरं यावदेव बन्धो भवतीति। क्षपकोऽनिवृत्तिबादरस्य चरमसमयेऽस्य जघन्यं रसमुपकल्पयति तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वात्। इतश्च स्थानादन्यत्र सर्वत्रोपशमश्रेणावपि प्रकृतकर्मचतुष्टयस्यानुभागोऽजघन्य एव बध्यते, उपशामकानामपि क्षपकेभ्यो विशुद्धया अनन्तगुणहीनत्वात्। ततश्चोपशान्तमोहः सूक्ष्मसम्परायश्च यथा निर्दिष्टप्रकृतकर्मचतुष्टयसम्बन्धिनोऽजघन्यानुभागस्याबन्धको भूत्वा प्रतिपत्य यदा पुनस्तं बध्नाति, तदा अयमजघन्यानुभागः सादिर्भवति,बन्धव्यवच्छेदे कृते तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात्। यैस्तूपशान्तमोहाद्यवस्था नाद्यापि प्राप्तास्तेषामनादिकालादारभ्याविच्छिन्नं बध्यमानत्वादनादिः। ध्रुवोऽभव्यानामभाविपर्यन्तत्वात्। अध्रुवो भव्यानामवश्यम्भाविपर्यन्तत्वादिति।

तदेवमत्राजघन्यो भावितः। शेषानुभागबन्धत्रिकस्य तु का वार्ता? इत्याह–**'सत्तण्ह रसो सेसो'** इति आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां शेषो रसोऽत्र घातिचतुष्कस्य प्रस्तुतत्वात् तस्य शेषः-भणितोद्धरितो जघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टलक्षणो रसो–रसबन्धः कीदृशः? इत्याह–**'दुविगप्पो'** इति द्विविकल्पः–साद्यध्रुवलक्षणो बोद्धव्यः। तथाहि–प्रकृतकर्मचतुष्टयमध्ये मोहनीयस्य तावज्जघन्यानुभागः क्षपकस्याऽनिवृत्तिबादरचरमसमयेऽनन्तरमेवोक्तः। शेषकर्मत्रयस्य तु क्षपकस्य सूक्ष्मसम्परायचरमसमये असावुक्तः। स चानादिकालेऽपि पर्यटता जीवेन पूर्वं न बद्ध इति तत्प्रथमतया तत्रैव बध्यमानत्वात् सादिः। क्षीणमोहाद्यवस्थां च प्राप्तस्य नियमान्न भविष्यतीत्यध्रुवः। अनादिस्तु न भवति,पूर्वं कदाचिदपि तद्बन्धाभावात्। ध्रुवोऽप्यसौ न भवत्यभव्यानां तद्बन्धस्य दुरोत्सारितत्वादिति। उत्कृ-

ष्टानुभागं तु प्रकृतकर्म्मणामशुभत्वात् सर्वसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय एकं द्वौ वा समयौ यावद्बध्नाति न परतः, स चानुत्कृष्टादवतीर्य बध्यत इति सादिः। जघन्यतः समयादुत्कृष्टतस्तु समयद्वयात्पुनरप्यनुत्कृष्टानुभागबन्धं गतस्योत्कृष्टोऽध्रुवो भवत्यनुत्कृष्टस्तु सादिः, कालान्तरे च पुनरुत्कृष्टसंक्लेशमासाद्य उत्कृष्टानुभागं बध्नतोऽनुत्कृष्टोऽध्रुवः इत्थं प्रव्रजतीत्येवमुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टेषु जन्तवो भ्राम्यन्तीत्युभयत्र साद्यध्रुवतैव सम्भवति, नेतरविकल्पद्वयमिति।

तदेवं घातिकर्मणां जघन्यादयश्चत्वारोऽपि विकल्पा भाविताः। साम्प्रतमघातिकर्म्मणां साद्यादिप्ररूपणां विभावयिषुराह-'अणुक्कोसो वेअणीयणामाणं' इति वेदनीयनाम्नोरनुत्कृष्टोऽनुभागबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पोऽपि भवति। तथाहि-अनयोः कर्मणोः सातयशःकीर्त्तिलक्षणमुत्तरप्रकृतिद्वयमाश्रित्य सर्वोत्कृष्टरसः क्षपकसत्कसूक्ष्मसम्परायस्य चरमसमये प्राप्यते, ततोऽन्यः सर्वोऽप्युपशमश्रेणावपि पूर्वोक्तयुक्तितोऽनुत्कृष्टस्ततश्चोपशान्तमोहावस्थायां तस्यापि बन्धो न भवति, ततः प्रतिपत्य पुनरपि तमेव बध्नतोऽनुत्कृष्टानुभागः सादिः। उपशान्तमोहावस्थां त्वप्राप्तपूर्वस्यानादिरनादिकालाद्बध्यमानत्वात्। ध्रुवोऽभव्यानामपर्यन्तत्वात्। अध्रुवो भव्यानां सपर्यन्तत्वात्। शेषः-उत्कृष्टजघन्यलक्षणोऽनुभागः कीदृशः? इत्याह-'**सत्तण्ह रसो सेसो**' इत्यादि, एतत्पदस्य सप्तप्रकृतीनां शेषानुभागस्य सम्बन्धित्वादिहापि सम्बध्यते एवमुत्तरत्रापि सम्भन्स्यते। भणितशेष उत्कृष्टजघन्याजघन्यलक्षणानुभागो द्विविकल्पः साद्यध्रुवलक्षणो भवति। तथाहि-उत्कृष्टानुभागबन्धं वेदनीयनाम्नोरनन्तरमेव प्रस्तुतकर्मबन्धकेष्वतिविशुद्धत्वात् क्षपकसूक्ष्मसम्परायो बध्नातीत्युक्तम्। स च तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः। क्षीणमोहावस्थायां तु नियमाच्च भविष्यतीत्यध्रुवः। जघन्यानुभागं त्वनयोः कर्मणोः सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा मध्यमपरिणामो बध्नाति। विशुद्धो हि सातादीनामजघन्यस्वरूपं शुभरसं कुर्यात्। संक्लिष्टस्त्वसातादीनामजघन्यस्वरूपमशुभरसं कुर्यादिति मध्यमपरिणामग्रहणम्। अयं च जघन्यानुभागोऽजघन्यादवतीर्य बध्यत इति सादिः। जघन्यानुभागस्थानतः पुनर्जघन्यतः समयादुत्कृष्टतस्तु समयचतुष्टयादवतीर्याजघन्यानुभागं बध्नतो जघन्यानुभागोऽध्रुवोऽजघन्यानुभागस्तु सादिः। पुनस्तत्रैव भवे भवान्तरे वा जघन्यं बध्नतोऽजघन्योऽध्रुव इत्येवं जघन्याजघन्यानुभागबन्धयोः परिभ्रमतामसुमतामुभयत्र साद्यध्रुवतैव सम्भवति।

तथा '**गोअस्स दुहावि**' इत्यादि, गोत्रस्य द्विविधोऽपि-अजघन्यानुत्कृष्टलक्षणो द्विप्रकारोऽपि रसः साद्यनादिध्रुवाध्रुवलक्षणश्चतुर्विकल्पोऽस्ति। तथा'**सत्तण्ह रसो सेसो**' इत्यादि, एतदपीह सम्बध्यते, भणितशेषे जघन्योत्कृष्टपक्षद्वये द्विविकल्पः साद्यध्रुवरूपो बोद्धव्यः। तत्रोत्कृष्टानुत्कृष्टावनुभागबन्धौ प्रत्येकं द्विचतुर्विकल्पौ यथा वेदनीयनाम्नोस्तथा निर्विशेषं भावनीयौ। इदानीं जघन्याजघन्यौ भाव्येते-कश्चित्सप्तमपृथ्वीनारकः सम्यक्त्वाभिमुखतायाश्चरमसमये वर्तमानो नीचैर्गोत्रमाश्रित्य गोत्रकर्मणो जघन्यानुभागं बध्नाति, अन्यस्थानवर्त्ती ह्येतावत्यां विशुद्धौ वर्तमान उच्चैर्गोत्रमजघन्यानुभागान्वितं बध्नीयादिति शेषपरिहारेण सप्तमपृथ्वीनारकस्य ग्रहणम्। अयं हि

यावत्किञ्चिदपि मिथ्यात्वमस्ति तावद्भवप्रत्ययेनैव तिर्यक्प्रायोग्यं नीचैर्गोत्रं च बध्नाति । स चान्यदा बहुमिथ्यात्वावस्थायामजघन्यरसं निर्वर्तयति, प्राप्तसम्यक्त्वोऽप्युच्चैर्गोत्रस्याऽजघन्यानुभागं बध्नाति । तद्बन्धकेष्वतिविशुद्धत्वाद्यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य सम्यक्त्वाभिमुखतायाश्चरमसमये वर्तमानस्य ग्रहणम् । अयं च जघन्यानुभागः प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः । लब्धसम्यक्त्वस्तु स एवोच्चैर्गोत्रमाश्रित्याजघन्यानुभागं रचयतीति जघन्योऽध्रुवः,अजघन्यानुभागस्तु सादिः,तत्स्थानमप्राप्तपूर्वस्यानादिः, अभव्यानां ध्रुवो, भव्यानामध्रुव इति जघन्याजघन्यानुभागौ गोत्रकर्मणः प्रत्येकं द्विचतुर्विकल्पाविति ।

'आउस्स चउव्विहो वि दुविगप्पो' आयुष्कस्य जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टलक्षणश्चतुर्विधोऽपि रसबन्धो द्विप्रकारः साद्यध्रुवलक्षणो भवति । तथाहि–अनुभूयमानायुस्त्रिभागादौ प्रतिनियतकाल एवायुषो बध्यमानत्वेन सादित्वात् तदनुभागस्यापि जघन्यादिरूपस्य सादित्वम् , अन्तर्मुहूर्ताच्च परत आयुर्बन्धोऽवश्यमुपरमत इति तस्याध्रुवत्वात् तदनुभागबन्धस्याप्यध्रुवत्वमिति । **शिवशर्मसूरिपादै**र्ज्ञानावरणादीनां प्रत्येकं यथोक्ता एव साद्यादिभङ्गाः **शतके**ऽभिहिताः । तथा च तेषामक्षराणि—

"घाईणं अजहन्नोणुक्कोसो वेयणीयनामाणं, अजहन्नमणुक्कोसो गोए अणुभागबंधम्मि ॥
साईअणाइधुवअद्धुवो य बन्धो य मूलपयडीणं । सेसम्मि उ दुविगप्पो आउचउक्के वि दुविगप्पो ॥"

इति ॥ १२३ ॥

तदेवमनुभागबन्धस्यौघतः साद्यादिप्ररूपणा कृता । साम्प्रतमादेशतो व्याजिहीर्षुर्लोघवार्थं यासु मार्गणासु ओघवत् तासु गाथार्द्धेनातिदिशति—

ओघव्व अणाणदुगे अयताचक्खुभविमिच्छेसु ॥१२४॥

(प्रे०)**'ओघव्व'** इति,ओघवत्–यथौघतः साद्यादिप्ररूपणा कृता तथैवेहापि कर्त्तव्येत्यर्थः । अथ कासु मार्गणासु ? इत्याह–**'अणाणदुगे'** इत्यादि, अज्ञानद्विके–मत्यज्ञानश्रुताज्ञानभेदरूपे तथा असंयमाचक्षुर्दर्शनभव्यमिथ्यात्वमार्गणासु इत्यक्षरार्थः । भावार्थः पुनरेवम्–घातिप्रकृतीनामजघन्यरसस्य, वेदनीयनामकर्मणोरनुत्कृष्टरसस्य, गोत्रस्य चाजघन्यानुत्कृष्टरसयोः साद्यादिचतुष्प्रकारो बन्धो भवति, । सप्तानामपि प्रकृतीनां शेषरसानां तथाऽऽयुष्कस्य चतुर्विधरसानां साद्यध्रुवलक्षणो द्विविकल्पो बन्धो भवतीति ।

अत्र ग्रन्थे रसबन्धस्य साद्यादिसर्वद्वारप्ररूपणा व्यवहारराशिगतजीवापेक्षया द्रष्टव्या, कुतः ? उच्यते–अव्यवहारराशिजीवानामकिञ्चित्करत्वात् युक्तिवशाच्च, कालादिप्ररूपणाऽवसरे बन्धकालमानादि कायस्थितिमाश्रित्य वक्ष्यते, सा च कायस्थितिर्व्यवहारराशिगतजीवानवलम्ब्य ततः सर्वं निरूपणं व्यवहारराशिमधिकृत्यावगन्तव्यम् , अन्यथा अभव्यमार्गणायां घातिचतुष्कस्याजघन्यानुभागबन्धोऽपि चतुर्विकल्पः स्यात् । तथाहि—घातिचतुष्कस्य साकारादिविशेषणविशिष्टो मार्गणाप्रायोग्यविशुद्धः संज्ञी जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन प्रागुक्तः, ततश्च येऽव्यवहारराशिनिपतिता अभ-

व्या अद्यापि पर्यन्तं जघन्यानुभागस्थानं न प्राप्नुवन् तदपेक्षयाऽजघन्यानुभागोऽनादिः, ये पुनः तत्स्थानं प्राप्स्यन्ति तदपेक्षयाऽजघन्यानुभागोऽध्रुवः, ये पुनः कदापि तत्स्थानं न प्राप्स्यन्ति तदपेक्षयाऽजघन्यानुभागो ध्रुवः,तत्स्थानं प्राप्य पुनरप्यजघन्यानुभागबन्धं करिष्यन्ति तानाश्रित्य सादिः, इत्थमभव्यमार्गणायामजघन्यानुभागश्चतुर्विकल्पः स्यात् किन्तु सर्वत्र व्यवहारराशिगतजीवापेक्षया रसबन्धस्याधिकृतत्वात् चतुर्विकल्पो न भवति किन्तु साद्यध्रुवलक्षणो द्विविकल्पो भवति, तद्भावना चानन्तरमेव वक्ष्यते, या मार्गणा व्यवहारराशिगतजीवापेक्षया नित्यास्तासु यदि जघन्यादिरसबन्धो विशिष्टगुणाभिमुखाद्यवस्थासु भवति तासु मार्गणास्वजघन्यादिरसबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पः संभवति, याः पुनरनित्यास्तासु कदापि स रसश्चतुर्विकल्पो न भवति। ननु यद्येवमभव्यमार्गणाया नित्यत्वेन तत्रापि जघन्यादिरस ओघवद् विकल्पः कथं नोक्तः ? इति चेत् , उच्यते–तत्र सम्यक्त्वादिप्राप्त्यभावेन गुणाभिमुखावस्थासु जघन्यादिरसबन्धस्याभावात् । तथाहि–अभव्यमार्गणायां घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्याघातित्रयस्य चोत्कृष्टानुभागबन्धस्य स्वामित्वेन संज्ञी तथा गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन सप्तमनारकः प्रागुक्तः,किन्तु विशिष्टगुणाभिमुखाद्यवस्थासु स्थितः स्वामित्वेन नोक्तः;संज्ञ्यादिभावस्तूत्कृष्टतोऽप्यनन्तकाले प्राप्यत एव, व्यवहारराशिगतजीवापेक्षयाऽभिहितत्वात् । ततोऽभव्यमार्गणायामनादिता ध्रुवता च न घटेते। तत एतासु षट्सु मार्गणास्वोघवत्प्ररूपणा कथिता। मत्यज्ञानमार्गणायां घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्वामी तथा वेदनीयनामगोत्राणामुत्कृष्टरसबन्धस्वामी संयमाभिमुखो मिथ्यादृष्टिर्मिथ्यात्वोदयचरमसमये तथा गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामी सम्यक्त्वाभिमुखत्वस्य चरमसमये मिथ्यादृष्टिः सप्तमपृथ्वीनारको भवति। विशिष्टसम्यक्त्वादिगुणाभिमुखावस्थासु जघन्यादिरसबन्धस्य सद्भावादजघन्यानुत्कृष्टबन्धयोरनादिता ध्रुवता च घटामञ्चतः । ततश्चतुर्विधबन्धसत्कानां साद्यादिचतुर्विकल्पानां भावनौघवद् द्रष्टव्या। एवं श्रुताज्ञानादिपञ्चमार्गणास्वपि प्रकृतस्वामिनं ज्ञात्वा यथासंभवं साद्यादिप्ररूपणाकर्तव्या ॥१२४॥

अथ भव्यमार्गणायामोघवदतिदिष्टेऽर्थेऽघटमानमर्थमपवदन् तथा प्रागुक्तषण्मार्गणावर्जशेषमार्गणासु तमेवातिदिशन्नाह—

णवरि धुवो भविये णो सेसासु मग्गणासु दुविगप्पो ।
अट्ठण्हं कम्माणं अत्थि चउविहो वि अणुभागो ॥१२५॥

(प्रे०) **'णवरि'** इत्यादि, नवरं भव्यमार्गणायां ध्रुवभङ्गो नास्ति, तथाहि-अत्र घातिचतुष्कस्याजघन्यानुभागस्तथाऽघातित्रयस्यानुत्कृष्टानुभागस्तथा गोत्रस्याजघन्यानुभागः साद्यनाद्यध्रुवलक्षणस्त्रिप्रकार एव भवति। कुतः ? सर्वेषां भव्यानां सिद्धिगमनयोग्यत्वेन जघन्यादिरसबन्धस्थानप्राप्तेः । तथाहि–ते सर्वे तथाभव्यत्वपरिपाकतः क्षपकश्रेणिमारुह्य घातिचतुष्कस्याघातित्रयस्य च बन्धविच्छेदसमये यथासंख्यं जघन्यानुभागमुत्कृष्टानुभागं च निर्वर्तयन्ति तदा तासां प्रकृतीनां यथाक्रममनादिमतोरप्यजघन्यानुत्कृष्टरसबन्धयोर्व्यवच्छेदाद् ध्रुवत्वाभावः । अनादिकालतः संसारे भ्राम्यन्

भव्योऽनन्तशः सप्तमनारकत्वेनोत्पद्यते, तत्र यदा सम्यक्त्वाभिमुखतायाश्चरमसमये नीचैर्गोत्रस्य जघन्यानुभागमारचयति तदाऽनादिमतोऽप्यजघन्यानुभागस्य व्यवच्छेदात् ध्रुवत्वाभावः । यद्वोपशमश्रेणिमारुह्य घातिप्रकृतीनां गोत्रस्य चाजघन्यानुभागबन्धस्य तथाऽघातित्रयस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धस्य विच्छेदं करोति तमाश्रित्य ध्रुवत्वाभावः प्राप्यते, अत एव भव्यमार्गणायां ध्रुवभङ्गो नोक्तः । शेषमार्गणासु का वार्ता ? इत्याह-'**सेसासु**'' इत्यादि, शेषासु मार्गणासु प्रागुक्तषण्मार्गणावर्जचतुःषष्ट्यधिकशतमार्गणास्वित्यर्थः । यथासंभवमष्टानां कर्मणां चतुर्विधोऽपि-जघन्यादिचतुष्प्रकारोऽपि, अनुभागो द्विविकल्पः साद्यध्रुवलक्षणोऽस्ति । अत्राभव्यमार्गणां वर्जयित्वा त्रिषष्ट्यधिकशतरूपाः शेषा मार्गणाः साद्यध्रुवा एव न पुनरनादिध्रुवाः । तासां च व्यवहारराशिगतैकजीवापेक्षयाऽनादिध्रुवत्वाभावे कुतस्तत्र जायमानानां व्यवहाराशिगतैकजीवाश्रयाणामनुत्कृष्टादिरसबन्धानामनादिध्रुवत्वसम्भवः,न कुतश्चिदित्यर्थः । अभव्यमार्गणायां साद्यादिभावना प्रागेव भावितत्वादिह न क्रियते । अत्र वैक्रियमिश्रादिसप्तमार्गणास्वायुष्कस्य तथा सूक्ष्मसम्परायमार्गणास्थाने मोहनीयस्य बन्धाभावात् तयोः साद्यादिप्ररूपणा न कार्या ॥१२५॥ तदेवं समाप्ताऽष्टानामपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टजघन्यतदितररसबन्धानां साद्यादिप्ररूपणा । तत्समाप्तौ च गतं'साइआई' इत्यनेनोद्दिष्टं षष्ठं साद्यादिद्वारम् ।

ओघत आदेशतश्चाऽष्टानामपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टादिरसानाम्

ओघत —(गाथा १२३) **साद्यादिबन्धभङ्गप्रदर्शकं यन्त्रम्—**

प्रकृति०	कस्य रसस्य	भङ्गकाः	कस्य रसस्य	भङ्गकाः	
घाति० ४	उत्कृष्टाऽनुत्कृष्टजघन्य-त्रिविधरसाना प्रत्येकम्-	सादि-अध्रुव २	→ अजघन्यरसस्य प्रत्येकम्—	सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव,	४
वेदनीयनाम. २	उत्कृष्ट-जघन्याऽजघन्य-त्रिविधरसाना प्रत्येकम्-	,, ,,	→ अनुत्कृष्टरसस्य ,, प्रत्येकम्—	,, ,, ,, ,,	,,
गोत्र० १	उत्कृष्ट-जघन्य-द्विविधरसयोः प्रत्येकम्-	,, ,,	→ अनुत्कृष्टाऽजघन्यरस-द्वयस्य प्रत्येकम्-	,, ,, ,, ,,	,,
आयु० १	चतुर्विधाना रसाना प्रत्येकम्-	,, ,,	—	—	

आदेशतः—(गाथा १२४-१२५)

मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमाऽचक्षुर्दर्शन-भव्य मिथ्यात्व- (६) मार्गणासु सर्वप्रकृतीनां साद्यादिप्ररूपणा—	ओघवत् नवरं भव्ये→ध्रुवभङ्गो न वक्तव्य
शेषासु [१६४] मार्गणासु सर्वासां चतुर्विधरसानां प्रत्येकम्—	सादि, अध्रुव० २

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधान-मूलप्रकृतिरसबन्धे प्रथमाधिकारे षष्ठं साद्यादिद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ सप्तमं कालद्वारम् ॥

प्ररूपितं साद्यादिद्वारम्, इदानीं क्रमप्राप्तं **सप्तमं कालद्वारम्** । तत्र तावत् बन्धकालस्य किञ्चित्स्वरूपमुच्यते–जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टभेदाच्चतुर्धा विभिन्नानामनुभागबन्धानां प्रत्येकं जघन्यत उत्कृष्टतश्च द्विधा कालमानं चिन्त्यते, तत्र ज्ञानावरणादिप्रकृतिमत्कस्य उत्कृष्टादिरसस्य बन्धो यावत्कालमविच्छिन्नतया प्रवर्तते तावान् कालस्तस्योत्कृष्टादेरनुभागस्य बन्धकाल उच्यते, सोऽपि विवक्षाभेदेन द्विधा-एकजीवमाश्रित्य नानाजीवान् समाश्रित्य च । अत्र त्वेकजीवाश्रय एवासौ प्ररूपणीयः, संनिकर्षप्ररूपणापर्यन्तानां द्वारणामेकजीवमधिकृत्य प्ररूपणीयत्वात् । एकजीवमाश्रित्योत्कृष्टादिरसबन्धकालस्य प्ररूपणा द्विविधा अपकृष्टत उत्कृष्टतश्च, जघन्योत्कृष्टभेदादिति भावः एवमेवोत्तरत्रापि विज्ञेया । **घटना चेत्थम्**-एकेनैव विवक्षितजीवेनारब्धोत्कृष्टाद्यन्यतमानुभागस्य बन्धोऽविच्छिन्नतयोत्कृष्टतो यावन्तं कालं प्रवर्तते, तावान् सर्वकाल एकजीवमधिकृत्य पूर्वारब्धस्य तस्योत्कृष्टाद्यन्यतमरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो भवति । तस्य चोत्कृष्टाद्यन्यतमरसस्य विवक्षितैकजीवारब्धो बन्धो यावन्तमेकसमय-द्विसमय-त्रिसमयान्तमुहूर्तादिकालमनतिक्रम्य नैव विरमते तावान् समयादिकालस्तु तस्योत्कृष्टादिरसस्यैकजीवाश्रयोऽपकृष्टो बन्धकालो भण्यते । एवमेव वक्ष्यमाणस्य नानाजीवानाश्रित्योत्कृष्टादिरसानां बन्धकालस्य निर्वचन बोद्धव्यम् ।

अथ यथोक्तोत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोर्जघन्योत्कृष्टतो बन्धकालं दर्शयन्नादौ तावदुत्कृष्टरसस्यौघतस्तमभिधित्सुराह—

सत्तण्ह लहू समयो तिव्वऽणुभागस्स होइ उक्कोसो ।
घाईण दुवे समया णेयो समयो अघाईणं ॥१२६॥

(प्रे०) **'सत्तण्ह'** इत्यादि, 'सप्तानाम्'-आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य **'लहू'** जघन्यः, बन्धकाल इति गम्यते, समयः-एकसमयमात्रो भवति । तासामुत्कृष्टो बन्धकालः कियत्प्रमाणः ? इत्याह–**'उक्कोसो'** इत्यादि, उत्कृष्टो बन्धकालो 'घातिनां'-चतसृणां घातिप्रकृतीनां द्वौ समयौ द्विसमयप्रमाणः । अघातित्रयस्योत्कृष्टं बन्धकालमाह-**'णेयो समयो अघाईणं'** इति अघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालः समयः एकसमयप्रमाणो ज्ञेय इत्यक्षरार्थः ।

भावार्थः पुनरेवम्–उत्कृष्टाद्यनुभागबन्धस्तत्तत्कारणीभूताध्यवसायाधीनः, ततस्तद्बन्धकालज्ञाने तत्तद्बन्धप्रयोग्याध्यवसायस्थितिकालस्य ज्ञानमावश्यकम् । स चानुभागबन्धाध्यवसायाऽवस्थानकालः **कर्मप्रकृत्या**मित्थमुक्तः—

"चतुराई जाव अट्ठगमेत्तो जाव दुग त्ति समयाणं ।
ठाणाणं उक्कोसो जहण्णओ सव्वहिं समओ" ॥ कर्मप्र० ३९ गाथा

तदर्थस्त्वेवम्-सर्वजघन्यादनुभागस्थानादारभ्यासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानामध्यवसायस्था-

नानाम्नुत्कृष्टतोऽवस्थितिकालश्चतुःसमयप्रमाणो भवति, तत ऊर्ध्वं तावतामध्यवसायस्थानानामुत्कृष्टतः पञ्चसमयप्रमाणो भवति, एवं तावद्वाच्यं यावदष्टसमयप्रमाणकालो भवति, तत्पश्चादुत्तरोत्तरं पोढाविभक्तानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाध्यवसायस्थानानामवस्थानकाल एकैकसमयेन हीनो भवति, यावद् द्विसमयः । सर्वत्र जघन्यतोऽवस्थानकालः समयप्रमाणो भवति । एतेन एतत्प्राप्यते यत् सर्वजघन्यानुभागाध्यवसायस्थानमुत्कृष्टतश्चतुःसमयं यावत्, उत्कृष्टानुभागाध्यवसायस्थानं तूत्कृष्टतो द्विसमयं यावदवतिष्ठते । अत एव ज्येष्ठानुभाग उत्कृष्टतो द्विसमयं यावद् बध्यते, जघन्यानुभागबन्धस्तु चतुःसमयं यावन्निर्वर्त्यते, तत्तत्कारणीभूताध्यवसायस्य प्रागुक्तानुसारेणोत्कृष्टतस्तावत्कालमवस्थायित्वात् । ततः प्रकृते सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य जघन्यबन्धकाल एकसमयः, रसबन्धप्रायोग्याऽध्यवसायस्य जघन्यतः समयमात्रस्थायित्वात् तथा घातिचतुष्कस्योत्कर्षतः समयद्वयंबन्धकाल उक्तः, उत्कृष्टरसबन्धाध्यवसायस्योत्कृष्टतस्तावत्कालं स्थायित्वात् । ननु तर्हि घातित्रयस्य प्रकृतानुभागस्य बन्धकालः कथमुत्कृष्टतोऽप्येकः समयः ? उच्यते-तदुत्कृष्टाद्यनुभागबन्धस्याभिमुखावस्थायाश्चरमसमये प्राप्यमाणत्वात् । तथा चाऽभिमुखावस्थायामुत्तरोत्तरसमये दोषाभिमुखस्य संक्लेशो, गुणाभिमुख्यस्य च विशुद्धिरनन्तानन्तगुणेन वर्धते, ततस्तस्याश्चरमसमये वर्तमानस्तत्तत्प्रकृतीनां ज्येष्ठादिरसं बध्नाति,तत उत्कृष्टतोऽपि बन्धकाल एकसमयमात्रो भवति । प्रस्तुते क्षपकः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमानो वेदनीयनामगोत्रप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्वामित्वेन प्रोक्तः तदूर्ध्वं वेदनीयस्य कषायजन्यानुभागबन्धाभावात्,नामगोत्रयोस्तु प्रकृत्योरेव बन्धाभावादुत्कृष्टानुभागबन्धस्य सुतरामभावः, अत एव तच्चरमसमयलक्षण एकसमयप्रमाणो बन्धकालो भणितः । श्रेणौ त्वभिमुखावस्था सुतरां घटते, तथाहि-प्रतिसमयमनन्तगुणेन विशुद्ध्या वर्धमानः सन् क्षपक उपशामको वाऽन्तर्मुहूर्तेन कालेन वीतरागगुणस्थानकं प्राप्नोति,ततस्तस्य गुणाभिमुखता सुतरां घटते, य उपशमश्रेणितः प्रतिपत्य प्रमत्तादिगुणस्थानकं लभते तस्य दोषाभिमुखताऽपि सिद्धा एवेति ।१२६।

तदेवं दर्शित ओघतः सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकालः । साम्प्रतं तासामेव प्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागबन्धस्य कालमानमार्याद्वयेनाह—

घाईण लहू समयो अगुरुरसस्स हवए अघाईणं ।
भिन्नमुहुत्तं परमो घाईण असंखपरिअट्टा ॥१२७॥
तिविगप्पोऽणाइधुवो अणाइअधुवो य साइअधुवो य ।
देसूणऽद्धपरट्टो तइओ परमो अघाईणं ॥१२८॥

(प्रे०) **'घाईण'** इत्यादि, घातिप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसस्य जघन्यबन्धकालः समयः-एकसमयमात्रो भवति,कुतः ? उच्यते-संज्ञिमिथ्यादृष्टिर्घातिचतुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्वामित्वेनोक्तः, स ह्युत्कृष्टरसं बद्ध्वा तीव्रसंक्लेशापगमे समयं यावदनुत्कृष्टरसं बध्नाति, ततः पुनरपि तथाविधतीव्रसंक्लेश-

वशादुत्कृष्टरसं निर्वर्तयति तदाऽनुत्कृष्टरसस्य बन्धकालोऽपकृष्टतः समयमात्रः प्राप्यत इति । **शतकचूर्णिकारैस्तु** साद्यादिप्ररूपणायामनुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तमिति निगदितम् ।

'अघाईणं भिन्नमुहुत्तं' 'लघुः' इत्यनुवर्तते,ततश्चाघातिप्रकृतीनां वेदनीयनामगोत्ररूपाणामनुत्कृष्टरसस्य जघन्यबन्धकालो भिन्नमुहूर्तम्–अन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति । **इयमत्र भावना**– अघातित्रयस्य ज्येष्ठानुभागस्य क्षपकश्रेण्यां प्राप्यमाणत्वादुत्कृष्टानुभागस्य द्वितीयवारं बन्धो न भवति, तत उत्कृष्टानुभागबन्धद्वयान्तरालवर्त्यनुत्कृष्टानुभागबन्धापेक्षया जघन्यबन्धकालो न प्राप्यते, किन्तूपशमश्रेणिगतानुभागबन्धाभावमाश्रित्य जघन्यबन्धकालः प्राप्यते, तथाहि–उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नो जन्तुः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमयं यावदघातित्रयस्यानुत्कृष्टानुभागं बध्नाति, तत उपशान्तमोहगुणस्थानकेऽनुभागबन्धाभावादनुत्कृष्टानुभागो न प्राप्यते, अद्धाक्षयेण ततः प्रतिपत्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकमागत्याऽघातित्रयस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धं प्रारभते । ततः क्रमशः प्रतिपत्य प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानकयोस्तावत्तिष्ठति यावत्सर्वजघन्यकालेन क्षपकश्रेणिं न प्रतिपद्यते, ततोऽनुपदं क्षपकश्रेणिमारूढः सन् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य द्विचरमसमयं यावदनुत्कृष्टानुभागं बध्नाति इत्येवं पुनर्बन्धादुत्कृष्टानुभागबन्धपर्यन्तो यः सर्वकालः सोऽन्तर्मुहूर्तमात्रो भवति,अत एवाघातित्रयस्यापकृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तमात्र उक्तः ।

तदेवमनुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकाल उक्तः । इदानीं तस्यैवोत्कृष्टबन्धकालमाह–**'परमो घाईण'** इत्यादि,अनुत्कृष्टस्येत्यनुवर्तते,घातिप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसस्य 'परमः'-उत्कृष्टबन्धकालः कियत्प्रमाणः ? इत्याह–**'असंखपरिअट्टा'** इति असंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणो भवति । घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धप्रायोग्याध्यवसाय उत्कर्षतः समयद्वयादूर्ध्वं नियमेनापगच्छति, स चाध्यवसायो जघन्यतो यथा समयमात्रे अतिक्रान्ते कैश्चिज्जीवैरवाप्यते, तथा कैश्चिज्जीवैस्तु बहुदीर्घतरकालेन समवाप्यते, स च काल उत्कृष्टतोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणो भवति, कुतः ? इति चेत् , उच्यते,तावत्कालमपि केषाञ्चिज्जीवानां पूर्वानुभूतोत्कृष्टरसबन्धप्रायोग्याध्यवसायस्यानवाप्तेः । कस्मादेतावत्कालं यावत् पुनरपि तदध्यवसायो नाऽवाप्यते ? असंज्ञ्यवस्थायां तथाविधसंक्लेशस्यासंभवेन तादृशाध्यवसायस्याप्राप्यमाणत्वात् । असंज्ञ्यवस्था तूत्कृष्टतोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तान् यावदवतिष्ठते, तत्कायस्थितेरसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणाभिहितत्वात् । इत्थं चासंख्येयपुद्गलपरावर्तान् यावदुत्कृष्टरसबन्धाभावे केषाञ्चित्तावत्कालमनुत्कृष्ट एव रसबन्धः प्रवर्तते, ततश्चानुत्कृष्टानुभागस्योत्कृष्टतो बन्धकालोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणोऽभिहित इति ।

अथाघातिप्रकृतित्रयस्यानुत्कृष्टानुभागस्योत्कृष्टतो बन्धकालमाह–**'तिविगप्पो'** इत्यादि, अनुत्कृष्टानुभागस्य परमो बन्धकालो भवतीत्यनुवर्तते, ततश्चाघातिनीनाम् आयुर्वर्जत्र्यघातिप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागस्य उत्कृष्टबन्धकालस्त्रिविकल्पः त्रिप्रकारो भवति । अथ तानेव त्रिप्रकारान् दर्शयन्नाह–**'ऽणाइधुवो'** इति लुप्ताऽकारस्य दर्शनादनादिध्रुवः'–अनाद्यनन्त इत्यर्थः, अयं ह्यभव्यापेक्षया

द्रष्टव्यः,कुतः ? अभव्यानां सार्वदिकमिथ्यात्वेन क्षपकश्रेणिबन्धप्रायोग्योत्कृष्टानुभागस्थानस्याऽऽकाल-मेवाप्राप्तेरनादिकालप्रवृत्तानुत्कृष्टरसबन्धस्य कदापि विच्छेदस्याभावात् ।

अथ द्वितीयविकल्पमाह–**'अणाइअधुवो य'** इति चः-समुच्चये, अनाद्यध्रुवः–अनादि–सान्त इत्यर्थः । अयं हि भव्यजीवान् प्रतीत्य बोद्धव्यः, भव्यजीवानां ह्यभव्यजीववत् प्रकृतानुत्कृष्टा-नुभागबन्धो नियमतोऽनादिः स च भविष्यत्कालेऽबन्धस्थानप्राप्तावुत्कृष्टानुभागबन्धस्थानप्राप्तौ वा नियमेन व्यवच्छेदमेष्यति, ततः सान्तः, अत एव प्रकृतानुभागबन्धकालो भव्यानधिकृत्यानादिसान्त इति । तृतीयविकल्पमाह–**'साइअधुवो य'** इति चः प्राग्वत्, साद्यध्रुवः–सादिसान्त इत्यर्थः, अयं पुनरुपशान्तमोहगुणस्थानात् प्रच्यविनो जीवानाश्रित्य वेदितव्यः । उपशान्तमोहगुणस्थानकेऽघातिनी-नामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धो न भवति, तत्स्थानाच्च्युतानां तस्य पुनर्बन्धभावात् सादिः । ते च जीवा भविष्यत्काले उत्कृष्टानुभागबन्धप्राप्तिकाले तासामनुत्कृष्टानुभागबन्धस्य नियमाद् व्यवच्छेदं विधास्यन्ति, एवं श्रेणितः पतितजीवानाश्रित्य सादिसान्तलक्षणो विकल्प इति । आद्यविकल्प-द्वये कालस्य जघन्योत्कृष्टरूपं द्वैविध्यं न घटते, आदिकालान्तकालयोरन्यतरस्येयत्तारहितत्वात् । अस्य तृतीयभङ्गकालस्य पुनर्द्वैविध्यं घटत एव, आदिकालान्तकालोभयेयत्तानपेतत्वात् । ततः **'अघाईणं भिन्नमुहुत्तं'** इत्यनेन प्रागुक्तो जघन्यबन्धकालः सादिसान्तभङ्गापेक्षयैव द्रष्टव्यः । तदपेक्षयैव प्रकृष्टकालमानमाह–**'देसूणऽड्ढपरट्टो तइओ परमो'** इति 'तृतीयः'–साद्यध्रुवलक्षणोऽनुत्कृष्टानु-भागबन्धकालः 'परमः' उत्कृष्टो देशोनार्द्धपुद्गलपरावर्त–उत्कृष्टतो देशोनार्द्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणो भवती-त्यर्थः । स च श्रेणिद्वयस्योत्कृष्टान्तरस्य देशोनार्द्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणत्वात् तदपेक्षया विज्ञेयः, कुतः ? ओघप्ररूपणायां श्रेणिं विहायान्यत्रानुत्कृष्टानुभागबन्धविच्छेदस्यासंभवादिति ॥१२७।१२८॥

साम्प्रतमवशेषायुःकर्मण उत्कृष्टानुत्कृष्टरूपस्य द्विविधानुभागस्योत्कृष्टतो जघन्यतश्च बन्धकालं दिदर्शयिषुराह—

आउस्स लहू समयो तिव्वऽणुभागस्स होइ दो समया ।
जेट्ठो इयरस्स लहू समयो परमो मुहुत्तंतो ॥१२९॥

(प्रे०) **'आउस्स'** इत्यादि, आयुष्कस्य तीव्रानुभागस्य–उत्कृष्टानुभागस्य 'लघुः'–जघन्यबन्धकालः 'समयः'–समयमात्रो भवति, उत्कृष्टबन्धकालः कियत्प्रमाणः ? इत्याह–**'दो समया जेट्ठो'** इति तस्य ज्येष्ठः–उत्कृष्टबन्धकालः 'द्वौ समयौ'-द्विसमयप्रमाणो भवति, उत्कृष्टानुभागबन्धप्रायोग्याध्य-वसायस्य द्विसमयमात्रावस्थायित्वात् । अथानुत्कृष्टानुभागस्य का वार्ता ? इत्याह–**'इयरस्स'** इत्यादि, इतरस्य तीव्रानुभागेतरस्यानुत्कृष्टानुभागस्येत्यर्थः, 'लघुः' जघन्यबन्धकालः समयः एकसमय-मात्रो भवति ।

इयमत्र भावना–यदा साकारादिविशेषणविशिष्टोऽप्रमत्तमुनिर्देवायुर्बध्नन्नायुष्कस्योत्कृष्टानुभागं

बद्ध्वा एकसमयमनुत्कृष्टानुभागं बध्नाति ततः परं तस्यायुष्कस्य बन्धविच्छेदो भवति, अथवाऽसौ पुनरुत्कृष्टानुभागं बध्नाति तदाऽऽयुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकाल एकसमयप्रमाणो भवति। तस्यैवोत्कृष्टबन्धकालमाह–**'परमो मुहुत्तंतो'**इति परमः-प्रकृष्ट उत्कृष्टो बन्धकालो मुहूर्तान्तः-अन्तर्मुहूर्तमित्यर्थः। कुतः ? आयुष्कस्योत्कृष्टतोऽपि निरन्तरबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तमात्र एव ततोऽनुत्कृष्टानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण उक्तः स च बन्धकाल आयुर्बन्धस्य ज्येष्ठाद्धापेक्षया ज्ञातव्यः। आयुर्बन्धाद्धानामसमानत्वात्। कुतः ज्ञायते ? इति चेत्, **कर्मप्रकृत्यां** देवनरकायुषोरुत्कृष्टप्रदेशसत्तानिरूपणाऽवसरे **श्रीमच्छिवशर्मसूरिपादैः** "देवणिरयाउगाणं जोगुक्कसेहिं जेट्ठगद्धाए। बद्धाणि·········" इत्यादि गाथायां "जेट्ठगद्धाए" इति विशेषणस्योपादानात्। अभिमतं चैतत् **तन्त्रान्तरीयाणामपि**। तैरस्मिन् विषये आयुर्बन्धाद्धाया अल्पबहुत्वस्याकर्षभेदेन कथितत्वात्। **तथाहि**–(१)अष्टभिराकर्षैरायुर्बध्नतोऽष्टमाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालःस्तोकः।(२)ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः। (३) ततोऽपि तस्यैव सप्तमाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्येयगुणः। (४) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः। (५) ततोऽपि सप्तभिराकर्षैरायुर्बध्नतः सप्तमाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्येयगुणः। (६) ततस्तस्यैव उत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः। (७) ततोऽप्यष्टभिराकर्षैरायुर्बध्नतः षष्ठाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्येयगुणः। (८) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः। (९) ततोऽपि सप्तभिराकर्षैरायुर्बध्नतः षष्ठाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्येयगुणः। (१०) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः। (११) ततोऽपि षड्भिराकर्षैरायुर्बध्नतः षष्ठाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः। (१२) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः। (१३) ततोऽप्यष्टभिराकर्षैरायुर्बध्नतः पञ्चमाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः। (१४) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः। (१५) ततोऽपि सप्तभिराकर्षैरायुर्बध्नतः पञ्चमाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्येयगुणः। (१६) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः। (१७) ततोऽपि षड्भिराकर्षैरायुर्बध्नतः पञ्चमाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्येयगुणः। (१८) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः। (१९) ततोऽपि पञ्चभिराकर्षैरायुर्बध्नतः पञ्चमाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः। (२०) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः। (२१) ततोऽप्यष्टभिराकर्षैरायुर्बध्नतश्चतुर्थाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्येयगुणः। (२२) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः। (२३) ततोऽपि सप्तभिराकर्षैरायुर्बध्नतश्चतुर्थाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्येयगुणः। (२४) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः। (२५) ततोऽपि षड्भिराकर्षैरायुर्बध्नतश्चतुर्थाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः। (२६) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः। (२७) ततोऽपि पञ्चभिराकर्षैरायुर्बध्नतश्चतुर्थाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः। (२८) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः। (२९) ततोऽपि चतुर्भिराकर्षैरायुर्बध्नतश्चतुर्थाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः। (३०) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो

विशेषाधिकः । (३१) ततोऽप्यष्टभिराकर्षैरायुर्बध्नतस्तृतीयाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः । (३२) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः । (३३) ततोऽपि सप्तभिराकर्षैरायुर्बध्नतस्तृतीयाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः । (३४) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः । (३५) ततोऽपि षड्भिराकर्षैरायुर्बध्नतस्तृतीयाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः । (३६) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः । (३७) ततोऽपि पञ्चभिराकर्षैरायुर्बध्नतस्तृतीयाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः । (३८) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः । (३९) ततोऽपि चतुर्भिराकर्षैरायुर्बध्नतस्तृतीयाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः । (४०) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः । (४१) ततोऽपि त्रिभिराकर्षैरायुर्बध्नतस्तृतीयाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः । (४२) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः । (४३) ततोऽप्यष्टभिराकर्षैरायुर्बध्नतो द्वितीयाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः । (४४) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः । (४५) ततोऽपि सप्तभिराकर्षैरायुर्बध्नतो द्वितीयाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः । (४६) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः । (४७) ततोऽपि षड्भिराकर्षैरायुर्बध्नतो द्वितीयाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः।(४८) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः। (४९) ततोऽपि पञ्चभिराकर्षैरायुर्बध्नतो द्वितीयाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः (५०) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः । (५१) ततोऽपि चतुर्भिराकर्षैरायुर्बध्नतो द्वितीयाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः । (५२) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः (५३) ततस्त्रिभिराकर्षैरायुर्बध्नतो द्वितीयाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः । (५४) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः।(५५) ततोऽपि द्वाभ्यामाकर्षाभ्यामायुर्बध्नतो द्वितीयाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः। (५६) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः।(५७) ततोऽप्यष्टभिराकर्षैरायुर्बध्नतः प्रथमाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः । (५८) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः । (५९) ततोऽपि सप्तभिराकर्षैरायुर्बध्नतः प्रथमाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः । (६०) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः । (६१) ततोऽपि षड्भिराकर्षैरायुर्बध्नतः प्रथमाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः । (६२) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः । (६३) ततोऽपि पञ्चभिराकर्षैरायुर्बध्नतः प्रथमाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः । (६४) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः (६५) ततोऽपि चतुर्भिराकर्षैरायुर्बध्नतः प्रथमाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः । (६६) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः । (६७) ततोऽपि त्रिभिराकर्षैरायुर्बध्नतः प्रथमाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः । (६८) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो-बन्धकालो विशेषाधिकः । (६९) ततोऽपि द्वाभ्यामाकर्षाभ्यामायुर्बध्नतः प्रथमाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः । (७०) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो विशेषाधिकः । (७१) ततोऽप्येकेनाकर्षेणायुर्बध्नतस्तस्यैवाकर्षस्य जघन्यो बन्धकालः संख्यातगुणः । (७२) ततस्तस्यैवोत्कृष्टो बन्ध-

कालो विशेषाधिकः । गतं तन्त्रान्तरीयोक्तमल्पबहुत्वम्, अथ प्रसङ्गतो जीवानधिकृत्य **प्रज्ञापनासूत्रोक्तं** प्रस्तुतमल्पबहुत्वम्—

"एतेसिं णं भंते ! जीवाणं जातिनामनिहत्ताउयं जहन्नेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं अट्ठहिं आगरिसेहिं पकरेमाणाणं कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा । सव्वथोवा जीवा जातिणामनिहत्ताउयं अट्ठहि आगरिसेहिं पकरेमाणा, सत्तहि आगरिसेहि पकरेमाणा संखेज्जगुणा, छहिं आगरिसेहिं पकरेणमाणा संखेज्जगुणा, एवं पंचहिं संखिज्जगुणा, चउहिं संखिज्जगुणा, तीहिं संखिज्जगुणा, दोहिं संखिज्जगुणा, एगेणं आगरिसेणं पगरेमाणा संखेज्जगुणा," इति ॥१२९॥

तदेवं दर्शितोऽष्टप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टद्विविधानुभागस्य बन्धकाल ओघतः । साम्प्रतमादेशतस्तस्य प्रदर्शनावसरः, तत्रायुष्कस्याल्पवक्तव्यत्वात् सर्वासु मार्गणास्वोघतुल्यवक्तव्यत्वाच्चादौ तावत्तमेवौघवदतिदिशन्नाह—

एमेव जाणियव्वो सव्वासु णवरि होइ समयो वा ।
आहारमीसजोगे तिव्वऽणुभागस्स उक्कोसो ॥१३०॥

(प्रे०) **'एमेव'** इत्यादि, एवमेव-आयुष्कस्यौघतो यथा उत्कृष्टानुत्कृष्टद्विविधानुभागस्य बन्धकालः प्रदर्शितस्तथैवेति भावः, सर्वासु-आयुर्बन्धायोग्यवैक्रियमिश्रादिसप्तमार्गणावर्जत्रिसप्तधिकशतमार्गणासु आयुर्बन्धकालो ज्ञातव्यः । तथाहि- सर्वासु मार्गणास्वायुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकालो जघन्यत एकसमयः, उत्कृष्टतस्तु द्विसमयप्रमाणः, अनुत्कृष्टानुभागस्य तु बन्धकालो जघन्यत एकसमयः, उत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्तप्रमाणः ।

अथ मतान्तरमाश्रित्य विशेषमाह—**'णवरि'** इत्यादिना, वाशब्दो मतान्तरसूचकः, ततश्च मतान्तरेण विशेषं दर्शयति— **'आहारमीसजोगे'** इति आहारकमिश्रयोगमार्गणायां 'तीव्रानुभागस्य'— उत्कृष्टानुभागस्य 'उत्कृष्टो' बन्धकालः 'समय' एकसमयमात्रो भवति । इयमत्र भावना—प्रथममते प्रकृतमार्गणायाः कस्मिंश्चिदपि समये वर्तमानः साकारादिविशेषणविशिष्टः आयुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेन प्रागुक्तः, तन्मतमाश्रित्य द्विसमयप्रमाण उत्कृष्टत उत्कृष्टानुभागस्य बन्धकालः प्राप्यते, अत एव सर्वासु मार्गणासूत्कृष्टानुत्कृष्टलक्षणस्य द्विविधस्यानुभागस्योत्कृष्टतो जघन्यतश्च बन्धकाल ओघवत्प्ररूपितः । द्वितीयमते तु साकारादिविशेषणविशिष्टः प्रागुक्तस्वामी शरीरपर्याप्त्या निष्पत्तेरर्वाक्समये एवोत्कृष्टानुभागं बध्नाति, ततस्तन्मतमाश्रित्य शरीरपर्याप्त्याऽपर्याप्तावस्थायाश्चरमसमये उत्कृष्टानुभागबन्धस्य प्राप्यमाणत्वाद् उत्कृष्टतोऽपि बन्धकाल एकसमयमात्रो भवति अत एव द्वितीयमतमाश्रित्य एतावन्मात्रो विशेषः पृथग् दर्शितः ॥१३०॥

प्ररूपित आदेशत आयुःकर्मण उत्कृष्टानुत्कृष्टद्विविधानुभागस्य बन्धकालः । अधुना सप्तकर्मणामुत्कृष्टानुभागस्य जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं बन्धकालं सर्वासु मार्गणासु निजिगदिषुरादौ तावत्तस्य जघन्यादिबन्धकालं निरूपयन्नाह—

सव्वासु लहू समयो तिव्वऽणुभागस्स होइ सत्तण्हं ।
सव्वणिरयतिरियेसुं अपज्जणरसव्वदेवेसुं ॥१३१॥
सव्वेसुं एगिंदियविगलिंदियपंचकायभेएसुं ।
असमत्तपणिंदियतसविउवाहारेसु असुहलेसासुं॥१३२॥[उद्गीतिः]
अभवियअमणेसु दुवे समया जेट्ठो तिमिस्सजोगेसुं ।
एगं दो वा समया कम्मावेअचउणाणेसुं ॥१३३॥
संयमसामइएसुं छेअसुहमदेसओहिसम्मेसुं ।
उवसममीसेसु तहाणाहारे होअए समयो ॥१३४॥

(प्रे०) **'सव्वासु'** इत्यादि, सर्वासु मार्गणासु सप्तानामायुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां तीव्रानुभागस्य-उत्कृष्टानुभागस्य लघुः-जघन्यबन्धकालः 'समयः'-एकसमयप्रमाणो भवति । अथ यासु मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य द्विसमयप्रमाण उत्कृष्टबन्धकालस्ता मार्गणाः समादिशति-**'सव्वणिरय-तिरियेसु'** इति सर्वशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् सर्वनारकेषु अष्टसंख्याकसर्वनारकमार्गणासु सर्वतिर्यक्षु-पञ्चभेदरूपासु सर्वतिर्यग्मार्गणासु अपर्याप्तमनुष्यभेदे सर्वदेवेषु-त्रिंशत्संख्याकसर्वदेवेषु **'सव्वेसुं एगिंदिय-विगलिंदिय-पंचकायभेएसु'** इति सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् सर्वैकेन्द्रियभेदेषु सर्वविकलेन्द्रियभेदेषु पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिरूपाणां पञ्चकायानां सर्वभेदेषु,**'असमत्त-पणिंदियतस'** इति असमाप्तशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् 'असमाप्तपञ्चेन्द्रिये' अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-भेदे, 'असमाप्तत्रसकाये' अपर्याप्तत्रसकायभेदे वैक्रियकाययोगे आहारककाययोगे, **'असुहलेसासु'** इति अशुभलेश्यासु कृष्णनीलकापोतलेश्यामार्गणासु अभव्यमार्गणाभेदेऽसंज्ञिमार्गणायां चेत्येतेष्वष्टा-धिकशतमार्गणाभेदेषु द्वौ समयौ द्विसमयप्रमाणो ज्येष्ठः- उत्कृष्टबन्धकालो भवति, सप्तप्रकृती-नामुत्कृष्टानुभागस्येत्यनुवर्तते । **अयम्भावः**-गतिमार्गणास्थानस्य मनुष्यगतित्रिभेदवर्जचतुश्चत्वा-रिंशद्भेदेषु, तथेन्द्रियमार्गणास्थानस्य पञ्चेन्द्रियपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणाद्वयवर्जसप्तदशभेदेषु तथा कायमार्गणास्थानस्य त्रसपर्याप्तत्रसमार्गणाद्वयवर्जचत्वारिंशद्भेदेषु तथा योगमार्गणास्थानस्य वैक्रिया-हारकभेदद्वये तथा लेश्यामार्गणास्थानस्य त्र्यशुभलेश्यासु तथाऽभव्याऽसंज्ञिभेदद्वये इत्येवं सर्वसंख्य-याऽष्टाधिकशतमार्गणासु सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्योत्कृष्टतो द्विसमयप्रमाणो निरन्तरबन्धकालो भवति, कुतः ? एतासु मार्गणासूत्कृष्टानुभागोऽभिमुखाद्यवस्थायाश्चरमादिनियतसमये एव न बध्यते, किन्तु स्वस्थानतादृक्संक्लेशेन घातिचतुष्कस्य, विशुद्धया चाघातित्रयस्य ज्येष्ठानुभागो निर्वर्त्यते, अत एव सप्तानां प्रकृतानुभागस्य द्विसमयप्रमाणः प्रकृष्टबन्धकाल उक्तः स्वस्थानतीव्रसंक्लेशस्य तादृग्विशुद्धया उत्कृष्टतः समयद्वयावस्थानात् ।

अथ त्रिमिश्रयोगेषु मतान्तरमाश्रित्य प्रकृतानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालस्य द्वैविध्यमाह—**'तिमिस्सजोगेसुं एगं दो वा समया'** इति सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकाल इत्यनुवर्तते, त्रिमिश्रयोगेषु—औदारिकवैक्रियाहारकमिश्रलक्षणेषु त्रिमिश्रयोगेषु'एकम्'—एकसमयप्रमाणः 'वा' मतान्तरद्योतकः ततश्चान्यमते द्वौ समयौ—द्विसमयप्रमाणः प्रकृष्टबन्धकाल इत्यर्थः। इयमत्र भावना—औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रयोगमार्गणाद्वये संज्ञिमिथ्यादृष्टिर्घातिचतुष्कस्य,अघातिनीनां पुनः सम्यग्दृष्टिरुत्कृष्टानुभागस्वामित्वेन प्रागभिहितः। तथा च तत्स्वामित्वद्वारस्य ग्रन्थः—

"ओरालमीसजोगे सण्णी मिच्छो चउण्ह घाईणं। सम्मादिट्ठीयो खलु णेओ तिण्हं अघाईणं॥३५॥
विक्कियमीसे मिच्छो घाईणं होअए अघाईणं। सम्मो व सुरो व पढमसमये सेणिअ परिवडिउं ॥३६॥ इति

आहारकमिश्रयोगे च घातिचतुष्कस्य मार्गणाप्रायोग्यसंक्लिष्टः अघातिनां पुनर्मार्गणाप्रायोग्यविशुद्धः प्रकृतस्वामित्वेन सामान्यवक्तव्यतायां प्रागुक्तः। ततः स्वस्थानत एव सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धसद्भावेन प्रकृष्टबन्धकाल एतन्मतमधिकृत्य द्विसमयप्रमाण उक्तः। यदि पुनः—

"अहवा उरलाईसुं तिमिस्सजोगेसु सोऽत्थि सत्तण्हं। योऽणंतरम्मि काले गहेहिइ सरीरपज्जत्ति"॥३७॥ इति प्राक्तनस्वामित्वग्रन्थेन"'शरीरपर्याप्त्या निष्पत्स्यमानः समये वर्तमानः" सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेन भणितः,स स्वामी स्वीक्रियते तर्हि नियतसमये एव तद्बन्धस्य प्राप्यमाणत्वादुत्कृष्टतोऽपि बन्धकालः समयप्रमाणः संभवति। वैक्रियमिश्रयोगमार्गणायां "सम्मो व सुरो व पढमसमये सेणीअ परिवडिउं"इति। तृतीयमतमप्याश्रित्याऽघातित्रयस्योत्कृष्टबन्धकाल एक समयो भवति।

सम्प्रति यासु मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टरसबन्धकाल एक एव समयो भवति तासु तथैवाह-**'कम्मावेअचउणाणेसु'** इत्यादि, कार्मणापगतवेदचतुर्ज्ञानभेदेषु, संयमसामान्यसामायिकभेदयोः, छेदोपस्थापनीयसूक्ष्मसम्परायदेशविरत्यवधिदर्शनसम्यक्त्वसामान्यभेदेषु, उपशममिश्रभेदद्वये, तथाशब्दः समुच्चयार्थः, अनाहारके चेत्येतेषु षोडशभेदेषु सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्योत्कृष्टतो निरन्तरबन्धकाल एकसमयो भवति, कुतः ? भण्यते-अत्र कार्मणकाययोगानाहारकमार्गणाद्वये मार्गणाचरमसमये वर्तमानः संज्ञिमिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिश्च यथासंख्यं घातिचतुष्कस्याघातित्रयस्योत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वेनोक्तः,तथा "सम्मो व सुरो व पढमसमये सेणीअ पडिउमण्णेसि" इति मतान्तरेणाऽघातित्रयस्य श्रेणितः पतित्वा देवभवप्रथमसमये वर्तमानः सुरः प्रकृतस्वामित्वेन प्राक्कथितः, तेन नियतसमय एवोत्कृष्टरसबन्धस्य सद्भावात् मतान्तरेणाऽपि सुतरामेकसमयता घटते। शेषाऽपगतवेदादिचतुर्दशमार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धस्याभिमुखाद्यवस्थायाः प्रतिनियतसमय एव निर्वर्त्यमानत्वात् ,तदुत्कृष्टबन्धकालस्यैकसमयता सुतरां घटते। तथाहि—अपगतवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये च घातिचतुष्कस्य श्रेणितः पतन् स्वमार्गणायाश्चरमसमये वर्तमान उपशामकः, तथाऽघातित्रयस्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमानः क्षपको ज्येष्ठानुभागस्वामित्वेन पुरा कथितः, ततः प्रतिनियतसमये एवोत्कृष्टानुभागबन्धस्य सद्भावादेतन्मार्गणाद्वये यथोक्तकालो घटामञ्चति। तथा

मतिश्रुतावधिज्ञान-संयमसामान्य--सामायिक--छेदोपस्थापनीय--देशविरतावधिदर्शन--सम्यक्त्वसामान्योपशमसम्यक्त्वमिश्रदृष्टिलक्षणेषु एकादशमार्गणाभेदेषु मिथ्यात्वाभिमुखत्वस्य चरमसमये, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां त्वसंयमाभिमुखत्वस्य चरमसमये घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धो भवति,तथा मतिश्रुतावधिमनःपर्यवज्ञानसंयमसामान्यावधिदर्शनसम्यक्त्वौघोपशमरूपाष्टमार्गणासु सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य,सामायिकछेदोपस्थापनीययोः पुनरनिवृत्तिकरणस्य,देशविरतौ तु संयमाभिमुखत्वस्य, मिश्रमार्गणायां पुनः सम्यक्त्वाभिमुखत्वस्य चरमसमये एवाघातित्रयस्य ज्येष्ठानुभागबन्धो भवति,ततः सप्तप्रकृतीनां प्रतिनियतसमये प्रकृतबन्धस्य सद्भावाद् यथोक्तकालमानता घटते ॥१३१तः...१३४॥

परिहारवेदकतेजःपद्मसास्वादनभेदेषु मतान्तरमधिकृत्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्वामिनो विशेषात् प्रकृतबन्धकालस्य विशेषं दर्शयन् तथा शेषमार्गणास्वोघवदतिदिशन्नार्याद्वयेनाह—

परिहारवेअगेसुं समयो सत्तण्ह उअ अघाईणं ।
दो समया सत्तण्हं दो समया तेउपउमासुं ॥१३५॥
अहव अघाईण भवे समयो सासायणम्मि घाईणं ।
समयो तिअघाईण दुसमया ओघव्व सेसासुं ॥१३६॥

(प्रे०) **'परिहारवेअगेसु'** इत्यादि, परिहारविशुद्धिसंयम-वेदकसम्यक्त्वमार्गणयोः सप्तानां प्रकृतीनां समयः–एकसमयमात्रः, उत्कृष्टानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालो भवतीत्यनुवर्तते । 'उत'-विकल्पार्थद्योतकः, ततश्च मतान्तरमाश्रित्याह–**'अघाईणं दो समया'** अघातिनीनां द्वौ समयौ द्विसमयप्रमाण उत्कृष्टानुभागस्य प्रकृष्टो बन्धकालः इत्यर्थः । **इदमुक्तं भवति**–परिहारविशुद्धिमार्गणायां घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धश्छेदोपस्थापनीयाभिमुखत्वस्य वेदकसम्यक्त्वमार्गणायां तु मिथ्यात्वाभिमुखत्वस्य चरमसमये भवति, अघातित्रयस्य चैतन्मार्गणाद्वये प्रकृतानुभागबन्धः कृतकरणाद्धाया अर्वाक्समये भवति ततः प्रतिनियतसमये एव तस्य प्राप्यमाणत्वेन प्रकृष्टोऽपि बन्धकाल एकसमयमात्र उक्तः । द्वितीयमते पुनरघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेनाप्रमत्तमुनिरभिहितः, ततोऽभिमुखाद्यवस्थाया अभावादुत्कृष्टानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालस्य द्विसमयता प्राप्यते । घातिचतुष्कस्य तूत्कृष्टानुभागबन्धस्वामिविषयकमतान्तरस्याभावात् द्वितीयमतमाश्रित्य प्रकृष्टबन्धकालः पृथग् नोक्तः ।

अथ तेजःपद्मलेश्यामार्गणाद्वये उत्कृष्टानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालमाह–**'सत्तण्हं दो समया तेउपउमासु'** इति, तेजःपद्मलेश्ययोः सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्योत्कृष्टो निरन्तरबन्धकालो द्वौ समयौ-द्विसमयप्रमाणो भवति । कुतः ? घातिचतुष्कस्य मिथ्यादृष्टिदेवः, अघातित्रयस्य चाप्रमत्तमुनिरुत्कृष्टानुभागबन्धस्वामी अभिमुखत्वाद्यवस्थारहितोऽप्यभिहितः ततो द्विसमयता सुतरां घटते, यदि पुनरघातित्रयस्य मतान्तरमाश्रित्य प्रकृतबन्धकालो विवक्ष्यते तदा स किय-

त्समयप्रमाणः ? इत्याशङ्कायामाह-**'अहव अघाईण भवे समयो'** अथवा-मतान्तरेण, अघातित्र-यस्योत्कृष्टानुभागस्योत्कृष्टतो बन्धकालः समयः-एकसमयमात्रो भवेदित्यर्थः, प्रतिनियतसमये एव प्रकृतबन्धस्य सद्भावात् , तथाहि—तेजःपद्मलेश्यामार्गणाद्वये मतान्तरेणाघातित्रयस्योत्कृष्टानु-भागस्वामी दर्शनत्रिकस्य क्षपकोऽप्रमत्तमुनिः कृतकरणाद्धाया अर्वाक्समये भवति,ततस्तदर्वाक्समयरूप एकसमयमात्रो बन्धकालः, अत एव तस्योत्कृष्टतोऽप्येकसमयप्रमाणबन्धकाल उक्तः ।

सम्प्रति सास्वादनमार्गणायामाह-**'सासायणम्मि घाईणं समयो तिअघाईण दुसमया'** सास्वादनमार्गणायां घातिनीनां समयः एकसमयप्रमाणः, त्र्यघातिनीनां द्वौ समयौ द्विसमयप्रमाण उत्कृष्टानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालो भवेत् । कुतः ? घातिनीनामुत्कृष्टानुभागबन्धो मिथ्यात्वाभिमुखस्वस्य चरमसमये भवति ततस्तासामुत्कृष्टत एकसमयः, अघातिनीनां पुनरतिवि-शुद्धस्य मार्गणायाः कस्मिन्नपि समये वर्तमानस्योत्कृष्टानुभागबन्धो भवति, ततस्तासामुत्कृष्टानुभाग-बन्धकस्याभिमुखत्वाद्यवस्थाया अभावात् द्विसमयता प्राप्यते । ग्रन्थकृता तु मतान्तरमाश्रित्येह तासां प्रकृतबन्धकालो नोक्तः, ततस्तदपेक्षयात्र विचार्यते, तथाहि-घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामी साकारादिविशेषणविशिष्टो मार्गणाया अन्यतरस्मिन्नपि समये वर्तमानः स्वस्थानतो मार्गणाप्रायोग्य-तीव्रसंक्लिष्टः प्रागुक्तः, तस्याभिमुखाद्यवस्थाया अभावात् प्रकृष्टबन्धकालो द्विसमय एतन्मतमाश्रित्य प्राप्यते, तथाऽघातित्रयस्य "मणुसो वा परिवडिओ संयमा अघाईणं" इति प्राक्तनग्रन्थेन ज्येष्ठानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालः स्वयमेवाभ्यूह्यः एवमुत्तरत्रापि मतान्तरमधिकृत्य यत्र प्ररूपणा न कृता तत्र सा स्वयमेव कर्तव्या ।

अथ शेषमार्गणास्वोघवदतिदिशन्नाह-**'ओघव्व सेसासु'** इति 'शेषासु'-भणितोद्धरिता-स्वष्टत्रिंशद्मार्गणासु, 'ओघवत्'-सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकाल ओघवद् द्रष्टव्यः । इदमुक्तं भवति-यथौघप्ररूपणायां घातिचतुष्कस्य ज्येष्ठानुभागस्योत्कृष्टबन्धकालो द्विसमयप्रमाणः, अघातित्रयस्य त्वेकसमयमात्रः तथैवात्राप्यष्टात्रिंशद्मार्गणासु सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य प्रकृष्ट-बन्धकालो वेदितव्यः । तत्राष्टात्रिंशद्मार्गणा नामत इमाः-अपर्याप्तवर्जात्रिमनुष्य-द्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रस-प-ञ्चमनः-पञ्चवचन-काययोगसामान्यौदारिककाययोग-त्रिवेद-चतुष्कषाय-त्र्यज्ञाना ऽसंयमचक्षुरचक्षुर्दर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-क्षायिकसम्यक्त्व-मिथ्यात्व संज्ञ्याहारिलक्षणा इत्येतास्वष्टात्रिंशद्मार्गणासु प्रस्तुत-बन्धकाल ओघवदवगन्तव्यः ।

इदन्तु बोध्यम्-एतासु प्रस्तुतबन्धकालस्यौघेन सर्वथा तुल्यत्वेऽप्युपपत्तिस्तु न सर्वथौ-घेन तुल्या, कुत्रचित्स्वामिनामोघेन तुल्यत्वेऽपि कुत्रचित्तेषामतुल्यत्वेनोपपत्तेरपि विलक्षणत्वात् । तथाहि-शुक्ललेश्याक्षायिकसम्यक्त्वमार्गणाद्वये घातिचतुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्वामिनामोघतो विसदृशत्वेनोत्कृष्टानुभागबन्धो मार्गणाप्रायोग्यो ज्ञातव्यः, अत्रापि उत्कृष्टरसबन्धकानां स्वस्थान-

गतस्य तीव्रसंक्लेशस्य प्राप्यमाणत्वेनौघवद् द्विसमयता घटते, शुक्लक्षायिकवर्जशेषषट्त्रिंशन्मार्गणासु घातिचतुष्कस्य प्रस्तुतस्वामिनामोघतुल्यत्वेन प्रकृतबन्धकालोऽपि सर्वथौघवदुपपद्यते। त्रिवेद-लोभवर्जत्रिकषाय–त्र्यज्ञाना-ऽसंयम- मिथ्यात्वरूपैकादशमार्गणासु त्वघातित्रयस्य ज्येष्ठानुभागस्य स्वामिनामोघापेक्षया विलक्षणत्वादुत्कृष्टानुभागबन्धो न ओघवत् किन्तु स्वमार्गणाप्रायोग्यो ज्ञेयः। तत्र त्रिवेदत्रिकषायमार्गणास्वनिवृत्तिकरणगुणस्थानके स्वस्वमार्गणायाश्चरमसमये तथा त्र्यज्ञानाऽसंयम-मिथ्यात्वमार्गणासु संयमाभिमुखत्वस्य चरमसमये एवाघातित्रयस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्य निर्वर्त्यमानत्वात् प्रकृष्टतयाऽप्येकसमयमात्रो बन्धकालः प्राप्यते। अनन्तरोक्तैकादशमार्गणावर्जसप्तविंशतिमार्गणास्वघातित्रयस्य प्रकृतरसबन्ध ओघसदृशो भवति,ततस्तदपर्यात्तरपि ओघवदेव कर्त्तव्या।१३५।१३६।

तदेवं निगदित आदेशत उत्कृष्टानुभागबन्धस्यापकृष्टोत्कृष्टभेदभिन्नो बन्धकालः, अधुनाऽऽदेशतोऽनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकालप्ररूपणाया अवसरः, तत्रादौ तावत् तयाऽपकृष्टं बन्धकालं निरूपयितुकामो गाथायुग्मेनाह—

दुपणिंदितसपुमेसु दुअणाणायतअचक्खुचक्खूसु।
सुइलभवियखइएसु मिच्छे सण्णिम्मि विण्णेयो ॥१३७॥
ओघव्व लहू कालोऽणुक्कोसरसस्स आउवज्जाणं।
मिस्सतिजोगेसु भवे भिन्नमुहुत्तं अदुव समयो ॥१३८॥

(प्रे०) **'दुपणिंदितसपुमेसु'** इत्यादि, द्विशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् द्विपञ्चेन्द्रिययोः–पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियरूपयोर्द्विपञ्चेन्द्रियभेदयोः, द्वित्रसयोः–त्रसकाय-पर्याप्तत्रसकायरूपयो–र्द्वित्रसभेदयोः, पुरुषवेदे द्व्यज्ञानयोः–मतिश्रुताज्ञानलक्षणयोः, असंयमे चक्षुरचक्षुदर्शनभेदयोः शुक्ल-लेश्यायां भव्ये क्षायिकसम्यक्त्वमिथ्यात्वभेदयोः संज्ञिभेदे चेत्येतासु पञ्चदशमार्गणासु आयुर्वर्जानाम्–आयुष्कस्योत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोर्बन्धकालस्यौघतुल्यवक्तव्यत्वेन प्रागभिहितत्वात्, आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसस्य लघुकालः–जघन्यो बन्धकाल ओघवद्–ओघे यासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागस्य यावान् बन्धकालः प्रदर्शितः, तावत्प्रमाणस्तासां प्रकृतीनां प्रकृते सततबन्धकालो विज्ञेय इति सार्धगाथार्थः।

भावार्थः पुनरेवम्–ओघप्ररूपणायां घातिचतुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धस्यापकृष्टो बन्धकालः "घाईण लहू समयो अगुरुरसस्स हवए" इति ग्रन्थेनैकसमयप्रमाणः प्रागभिहितः, तावत्प्रमाणो बन्धकाल आसु मार्गणासु प्रत्येकं घातिचतुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य वेदितव्यः। भावना चेयम्–अत्राभिमुखाद्यवस्थायामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धो न भवति, ततो ज्येष्ठानुभागबन्धानन्तरमेकं समयमनुत्कृष्टरसं बद्ध्वा पुनरुत्कृष्टानुभागं बध्नाति तदा प्रकृतानुभागस्य जघन्यबन्धकाल एकसमयो लभ्यते।

ओघप्ररूपणायामघातित्रयस्य पुनः "अघाईणं भिन्नमुहुत्तं" इति ग्रन्थेन जघन्यबन्धकालोऽन्तमुर्हूर्तप्रमाणः प्राक् कथितस्तथैवैतासु मार्गणास्ववगन्तव्यः । भावना पुनः कासुचिद् मार्गणास्त्वोघतः पृथग् द्रष्टव्या, स्वामिनामोघतो विसदृक्षत्वात् । तथाहि—द्व्यज्ञानासंयममिथ्यात्वमार्गणासु वेदनीयनामगोत्राणां ज्येष्ठानुभागबन्धः संयमाभिमुखत्वस्य चरमसमये भवति, तदनन्तरसमये संयमगुणस्थानकं प्राप्यते, तत्र प्रस्तुतमार्गणाया अभावादुत्कृष्टानुभागबन्धद्वयान्तराले एकसमयादिप्रमाणोऽनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाल एतासु मार्गणासु न लभ्यते किन्तु यदा मार्गणान्तरादागत्य स्वमार्गणायोग्याऽन्तमुर्हूर्तात्मकजघन्यकायस्थितिप्रमाणकालं च स्थित्वा पुनर्मार्गणान्तरं गच्छेत् तदा द्व्यज्ञानादिमार्गणास्वघातित्रयस्यानुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकालोऽन्तमुर्हूर्तं भवेदिति ।

पञ्चेन्द्रियसामान्यत्रससामान्यसंज्ञिमार्गणास्वघ्यघातिप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागजघन्यबन्धकालस्य घटना मार्गणाजघन्यकायस्थितिमेवाश्रित्य कर्तव्या । तथाहि—यदि कश्चिदेकेन्द्रियादिजीवः क्षुल्लकभवप्रमाणस्थितिकं पञ्चेन्द्रियत्वादिकमवाप्य तत्र तावत्कालमनुत्कृष्टानुभागं बध्नाति ततश्च कालं कृत्वा पुनरेकेन्द्रियादिषूत्पद्यते, तदा पञ्चेन्द्रियत्रससंज्ञिमार्गणास्वनुत्कृष्टानुभागबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते । नन्वेतासु मार्गणास्त्वोघवत्भावना प्राप्यते, यतोऽत्रोपशान्तमोहगुणस्थानके अबन्धं कृत्वा, अद्धाक्षयेण उपशान्तमोहगुणस्थानकादवरोहन् प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानकं प्राप्य झगिति क्षपकश्रेणिमारोहति, तदा सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य द्विचरमसमयं यावदघातित्रयस्यानुत्कृष्टानुभागं बध्नाति, स सर्वोऽपि कालोऽन्तमुर्हूर्तमात्रो भवति, तर्हि कथमेतद्घटनां विहाय कायस्थितिमाश्रित्य भावना क्रियते ? उच्यते—श्रेणिद्वयान्तरालवर्तिनिरन्तरबन्धकालतः क्षुल्लकभवप्रमाणकालस्य लघीयस्त्वात् । कुतः एतदवगम्यते ? **कषायप्राभृतचूर्णौ** तथैव प्रतिपादितत्वात् । तथा च तद्ग्रन्थः—

"खुद्दाभवग्गहणं विसेसाहियं । उवसंतद्धा दुगुणा । पुरिसवेदस्स पढमट्ठिदी विसेसाहिया । कोहस्स पढमट्ठिदी विसेसाहिया । मोहणीयस्स उवसामणद्धा विसेसाहिया । पडिवदमाणगस्स जाव असंखेज्जाणं समयपबद्धाणमुदीरणा सो कालो संखेज्जगुणो उवसामगस्स असंखेज्जाणं समयपबद्धाणमुदीरणकालो विसेसाहिओ । पडिवदमाणयस्स अणियट्टिअद्धा संखेज्जगुणा ।"

एतद्ग्रन्थोक्तप्रथमान्तिमपदाभ्यां क्षुल्लकभवप्रमाण कालतः प्रतिपतज्जन्तोरनिवृत्तिकरणगुणस्थानकस्य कालः संख्यातगुणः प्रतिपादितः, तत ओघभावनागतः श्रेणिद्वयान्तरालवर्तिकालः क्षुल्लकभवस्थितितो द्राघीयान् , तद्यथा—ओघभावनागतो दशमगुणस्थानकात् प्रमत्तगुणस्थानकं यावदुपशमश्रेणिसत्कपतनकालः, प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानकावस्थानकालः, क्षपकश्रेणेः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य द्विचरमसमयं यावदारोहणकालश्च एतत्सर्वश्रेणिद्वयान्तरालवर्तिनिरन्तरप्रकृतबन्धकालः क्षुल्लकभवप्रमाणकालतः सुतरां संख्येयगुणो भवति, अत एवेह स्वजघन्यकायस्थितिमाश्रित्याघातित्रयस्यानुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकालो भावितः, नत्वोघवदिति ।

शुक्ललेश्यामार्गणायां पुनर्लेश्यापरावर्तनेन जघन्यकालः प्राप्यते, ततस्तत्र तदपेक्षया प्रकृतानुभागस्य जघन्यबन्धकालस्य भावना कर्तव्या। तथौघे अघातित्रयस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धस्य जघन्यकालस्य यथा भावना कृता तथैव पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तत्रसकाय-पुरुषवेद-चक्षुरचक्षुर्दर्शन-भव्य-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणासु प्रकृतबन्धकालस्य सा कर्तव्या, नवरं पुरुषवेदमार्गणायामुपशान्तमोहगुणस्थानकतः पतित्वा यदा पुरुषवेदस्योदयो भवति, ततः प्रभृति प्रकृतानुभागस्य बन्धकालस्तावद् गणनीयः यावत्क्षपकश्रेणौ पुरुषवेदस्योदयविच्छेदस्य द्विचरमसमयः, चरमसमये ज्येष्ठानुभागस्य बन्धसद्भावात्।

अथ द्वितीयगाथाया उत्तरार्धं विवियते–'**मिस्सतिजोगेसु**' इत्यादि, औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्राहारकमिश्रलक्षणेषु त्रिमिश्रयोगेषु सप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागस्य भिन्नमुहूर्तम्-अन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवेत् ,जघन्यबन्धकाल इत्यनुवर्तते। एतासु तिसृषु मार्गणासु सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तावस्थाया अर्वाक्समये उक्तः, ततः प्रतिनियतसमये एवोत्कृष्टानुभागस्य बन्धसद्भावः स्वजघन्यकायस्थितिस्त्वन्तर्मुहूर्तप्रमाणा अत एव सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः, स च बन्धकालः स्वस्वजघन्यकायस्थितिकालप्रमाणो द्रष्टव्यः। तद्यथा–औदारिकमिश्रे जघन्यकायस्थितिकालस्त्रिसमयन्यूनक्षुल्लकभवप्रमाणः। वैक्रियमिश्राहारकमिश्रयोस्तु यावता लघिष्ठेन कालेन शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तो भवति, तावान् कालो वेदितव्यः।

अथ मतान्तरमधिकृत्य कालमानमाह–'**अदुव समयो**' इति , अथवा मतान्तरेण सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकाल एकसमयप्रमाणः। अस्मिन् मते उत्कृष्टानुभागो मार्गणायाः कस्मिंश्चिदपि समये बध्यते, ततः प्रतिनियतसमये उत्कृष्टानुभागबन्धस्याभावेन द्विरप्युत्कृष्टानुभागं बध्नाति, ततः उत्कृष्टानुभागबन्धद्वयस्यान्तराले एकसमयमनुत्कृष्टानुभागबन्धो भवति। अथवा उत्कृष्टानुभागं निर्वर्त्य एकसमयमनुत्कृष्टानुभागं बध्नाति तदनन्तरं च मार्गणा परावर्तते। तदेकसमयप्रमाणो जघन्यबन्धकालो घटत इति ॥१३७।१३८॥ अथान्यत्राह—

सत्तण्हं कम्माणं भिन्नमुहुत्तं भवे तिणाणेसुं।
देसे ओहिम्मि तहा सम्मत्ते उवसमे मीसे ॥१३९॥

(प्रे०) '**सत्तण्हं**' इत्यादि,सप्तानां कर्मणामनुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकालो भिन्नमुहूर्तम्–अन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवेत्। कुत्र ? इत्याह-'त्रिज्ञानेषु'–मतिश्रुतावधिज्ञानभेदेषु, देशविरतिभेदे, अवधिदर्शने, तथाशब्दः समुच्चयार्थः, सम्यक्त्वसामान्यभेदे, उपशमभेदे, तथा मिश्रे इत्येतेष्वष्टसु मार्गणाभेदेषु। कुतः ? इति चेत् , उच्यते–सकषायजीवानप्याश्रित्य जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तत्वात् , प्रतिपक्षभूतोत्कृष्टरसबन्धसमाप्त्या समं मार्गणायास्तत्तत्प्रकृते रसबन्धस्य वा विच्छेदात्। किमुक्तं भवति–सकषायजीवानाश्रित्य मार्गणाजघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तत्वात्तावत्कालं येन केनाऽपि उत्कृष्टेना-

ऽनुत्कृष्टेन वा रसबन्धेन प्रवर्तयितव्यमेवेति सुगमम्, सति प्रकृतिबन्धे कषायवर्जीवानां नियमतो रसबन्धभावात् एवमपि समयमेकमनुत्कृष्टरसबन्धभावे तदुत्तरं चोत्कृष्टरसबन्धभावेऽनुत्कृष्टरसबन्धकालः समयमात्रः स्यात् परन्त्वेतदप्यत्र न संभवति, घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य मिथ्यात्वाद्यभिमुखस्वामिकतया मार्गणाविच्छेदसमय एव भावात्, तत्पूर्वं जघन्यतोऽपि समयोनमार्गणाजघन्यकायस्थित्यन्तर्मुहूर्तकालस्य व्यतीतत्वाच्च। अघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनो न मिथ्यात्वाभिमुखाः, ततो न तेषामुत्कृष्टरसबन्धो मार्गणाचरमसमये एव, यद्यप्येवं तथाप्येतासु नामगोत्रयोरुत्कृष्टरसबन्धविच्छेदेन समं तत्प्रकृत्योरपि बन्धविच्छेदो जायते, वेदनीयस्योत्कृष्टरसबन्धेन समं यद्यपि तत्प्रकृतिबन्धविच्छेदो नैव भवति तथापि रसबन्धस्तु विच्छिद्यत एव, एतदपि मतिज्ञानादिमार्गणासु भवति। देशसंयमसिश्रदृष्टिमार्गणयोस्तु घातिप्रकृतीनामिवाघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धेन सममेव मार्गणाविच्छेदो जायते। तदेवमष्टास्वपि मार्गणासु सप्तानामपि प्रकृतीनां निरन्तरप्रवर्तमानरसबन्धस्य चरमसमये एवोत्कृष्टरसबन्धस्य सम्भवात्तदुत्तरसमयेषु रसबन्धाभावस्य मार्गणान्तरस्य वा प्रवर्तनाच्च, मार्गणाप्रथमसमयप्रभृतेरुत्कृष्टरसबन्धचरमसमयं यावदनुत्कृष्टरसबन्ध एव प्रवर्तते; स च कालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण एव। न च रसबन्धाभावादनु श्रेणितः प्रतिपाते पुनरपि प्रवर्तमानोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्तत्तन्मार्गणायां समयमेकं प्रवर्तेत इति वाच्यम् उपशान्ताद्धाक्षयेण क्रमेण प्रतिपततामन्तर्मुहूर्तेऽतिक्रान्ते एव मार्गणापरावृत्तिसंभवात् भवक्षयेण देवनयोत्पन्नानां तु तत्राऽन्तर्मुहूर्तादिकालेनापि मिथ्यात्वोदयस्यासम्भवेन तावत्कालं यावन्मार्गणापरावृत्तेरप्यसंभवात्, तदानीं तु निरवच्छिन्नमनुत्कृष्टरसबन्धस्य भावाच्च, वस्तुतस्तु एतत्कालापेक्षयाऽपि मिथ्यात्वजघन्यान्तरस्यैव लघुत्वेन तदपेक्षयैव प्रस्तुतजघन्यकालो बोध्य इति ॥१३९॥

अथ परिहारविशुद्धिवेदकसम्यक्त्वयोः सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धस्य कालमानमाह—

परिहारवेअगेसुं भिन्नमुहुत्तं हवेज्ज घाईणं ।
भिन्नमुहुत्तं समयो वा विण्णेयो अघाईणं ॥१४०॥

(प्रे०) **'परिहारवेअगेसु'** इत्यादि, परिहारवेदकमार्गणाद्विके घातिनाम् भिन्नमुहूर्तप्रमाणो भवति, अनुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकालः इति प्रस्तावाद् गम्यते, कुतः ? उच्यते—प्रस्तुतमार्गणाद्वये प्रत्येकं स्वजघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वमस्ति तथा घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धोऽभिमुखाद्यवस्थायामेव भवति, ततो घातिचतुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति। अघातित्रयस्य प्रकृतानुभागस्य कालो 'भिन्नमुहूर्तम्'-अन्तर्मुहूर्तप्रमाणः, वा शब्दो मतान्तरद्योतकः तेनाऽन्यमते पुनः एकसमयप्रमाणो विज्ञेयः। **इदमुक्तं भवति**—कृतकरणाद्धाया अर्वाक्समये अघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धो भवतीति यन्मते प्रागुक्तं तेन मतेन प्रतिनियतसमये एवोत्कृष्टानुभागबन्धस्योपलम्भात् स्वजघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वाच्चाघातित्रयस्यानुत्कृष्टा-

नुभागस्य जघन्यबन्धकालो-ऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति । तदन्यमतेन तु मार्गणायाः कस्मिंश्चिदपि समये वर्तमानः साकारादिविशेषणविशिष्टस्य तीव्रविशुद्धस्याघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागस्वामित्वाद् एतन्मते-नाभिमुखाद्यवस्थायाः प्रतिनियतसमये एवोत्कृष्टानुभागस्य बन्धाभावेनाऽघातित्रयस्यानुत्कृष्टानु-भागस्य जघन्यबन्धकाल एकसमयो भवति । तद्यथा-यः कश्चिद् उत्कृष्टानुभागबन्धद्वयस्यान्तराले समयं यावदनुत्कृष्टरसं बध्नाति, अथवा प्रस्तुतमार्गणाया द्विचरमसमये उत्कृष्टानुभागं बध्नाति, ततश्चरमसमये-ऽनुत्कृष्टानुभागं बद्ध्वा मार्गणान्तरं व्रजति तदा तस्याऽघातित्रयस्यानुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकाल एकसमयप्रमाणो भवति ॥१४०॥

अथैकयाऽऽर्यया शेषमार्गणासु प्रस्तुतकालप्ररूपणां समापयन्नाह—

तेउपउमासु समयो घाईणं होअए मुहुत्तंतो ।
समयो व अघाईणं समयो सत्तण्ह सेसासु ॥१४१॥

(प्रे०) **'तेउपउमासु'** इत्यादि, तेजःपद्मलेश्यामार्गणयोर्घातिप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकालः समयः-एकसमयप्रमाणो भवति, अभिमुखाद्यवस्थायाः प्रतिनियत समये एवोत्कृष्टा-नुभागबन्धस्याभावात् । अघातिप्रकृतीनां तमाऽऽह-**'मुहुत्तंतो'** इत्यादि, अघातित्रयस्यानुत्कृष्टा-नुभागस्य जघन्यबन्धकालो मुहूर्तान्तः-अन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति । वाशब्दो मतान्तरसूचकः, तत-श्चान्यमते समयः-एकसमयप्रमाणो भवति । भावना चात्रानन्तरोक्तपरिहारवेदकमार्गणावत् कार्या ।

अथ शेषासु मार्गणासु का वार्ता ? इत्याह–**'समयो सत्तण्ह सेसासु'** इति शेषासु-प्रागुक्ता-वशिष्टासु चत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः, सप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकाल एक-समयप्रमाणो भवति । ताश्च मार्गणा नामत इमाः-गतिमार्गणास्थानस्य सर्वभेदप्रभेदनिष्पन्नसप्तचत्वारिं-शन्मार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य पञ्चेन्द्रियपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदद्वयवर्जसप्तदशमार्गणाः, काय-मार्गणास्थानस्य त्रसौघ-पर्याप्तत्रसभेदद्वयवर्जाश्चत्वारिंशन्मार्गणाः, योगमार्गणास्थानस्य त्रिमिश्रकाय-योगवर्जपञ्चदशमार्गणाः, वेदमार्गणास्थानस्य स्त्रीनपुंसकापगतवेदलक्षणत्रिमार्गणाः, कषायमार्गणा-स्थानस्य चतुर्मार्गणाः, ज्ञानमार्गणास्थानस्य मनःपर्यवविभङ्गज्ञानरूपे द्वे मार्गणे, संयममार्गणास्था-नस्य संयमसामान्यसामायिकछेदोपस्थापनीयसूक्ष्मसम्परायसंयमलक्षणाश्चतुर्मार्गणाः, लेश्यास्थानस्य कृष्णनीलकापोतरूपत्रिमार्गणाः, भव्यमार्गणास्थानस्याभव्यलक्षणैकमार्गणा, सम्यक्त्वमार्गणास्था-नस्य सास्वादनलक्षणैकमार्गणा, संज्ञिमार्गणास्थानस्याऽसंज्ञिलक्षणैकमार्गणा, आहारकमार्गणास्थान-स्याहारकानाहारकरूपे द्वे मार्गणे चेति चत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणाः ।

भावना पुनरेवम्–यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्तत्तदभिमुखाद्यवस्थायाः प्रतिनियतसमय एव न भवति तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकालस्य घटना इत्थं कर्तव्या, तद्यथा–उत्कृष्टानुभागबन्धद्वयस्यान्तराले समयं यावदनुत्कृष्टानुभागं बध्नाति

तदेकसमयो जघन्यबन्धकालो भवति इति प्रथमः प्रकारः । अथवा यदा स्वमार्गणाया द्विचरमसमये ज्येष्ठानुभागं बद्ध्वा तस्याश्चरमसमयेऽनुत्कृष्टानुभागं बध्नाति तदनन्तरं च मार्गणान्तरं गच्छेत् , तदानुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकाल एकसमयो लभ्यते इति द्वितीयप्रकारः । अत्र हि सप्तमनरकमार्गणायां घातिचतुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकालस्य भावना प्रकारद्वयेन घटते, किन्त्वघातित्रयस्य प्रकृतानुभागबन्धकालस्य द्वितीयप्रकारेण भावना न घटते यतः सप्तमनारकोऽघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागं सम्यक्त्वावस्थायां बध्नाति । तदनन्तरमेकसमयमनुत्कृष्टानुभागं बद्ध्वा मार्गणान्तरं न प्राप्नोति, सम्यक्त्वावस्थायां तस्य मरणाभावात् । तत उत्कृष्टानुभागबन्धद्वयान्तराले समयमात्रमनुत्कृष्टानुभागं बध्नाति तदाऽघातित्रयस्यानुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकाल एकसमयः प्रथमेनैव प्रकारेण लभ्यते । एवं च यथासंभवं सर्वत्र भावनीयम् ।

यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धोऽभिमुखाद्यवस्थायाः प्रतिनियतसमये लभ्यते, तत्र यदि तासां मार्गणानां जघन्यकायस्थितिः समयप्रमाणा, तर्हि तत्र तासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागस्य समयप्रमाणस्य जघन्यबन्धकालस्य भावना कायस्थितिमाश्रित्य कर्तव्या । यथा—मनोयोगादिमार्गणास्वघातित्रयस्य ज्येष्ठानुभागबन्धः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमयलक्षणः प्रतिनियतसमय एव भवति, तत्राघातित्रयस्यानुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकाल उत्कृष्टानुभागबन्धद्वयान्तराले न लभ्यते, उत्कृष्टानुभागबन्धस्य क्षपकश्रेणौ सद्भावेन सकृदेव प्राप्यमाणत्वात् । अत एव मनोयोगादिमार्गणास्वघातित्रयस्यानुत्कृष्टानुभागस्य समयप्रमाणजघन्यबन्धकालस्य भावना समयप्रमाणस्वजघन्यकायस्थितिमाश्रित्य भवति । यद्वा श्रेणितोऽपि प्रकृतजघन्यबन्धकालः समयमात्रो भवति । तद्यथा—मनोयोगादिमार्गणासु क्षपकश्रेण्यां सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य द्विचरमसमय एव यदि तत्तन्मार्गणायाः प्रारम्भो भवति, तत्र समयं यावदघातित्रयस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धानन्तरं चरमसमये तस्योत्कृष्टानुभागबन्धो भवति । तत ऊर्ध्वं तस्य बन्धाभावः, एवं समयप्रमाणः प्रकृतबन्धकालो भवति । अथवा तत्तन्मार्गणायाः समयशेषे अद्धाक्षयेणोपशान्तमोहगुणस्थानतः प्रतिपतन् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके समयं यावत् तासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागं निर्वर्तयति, ततः परं मार्गणा परावर्तते एवमपि मनोयोगादिमार्गणास्वघातित्रयस्यानुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकाल एकसमयः । यद्वा यदा सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये मनोयोगादिमार्गणाऽऽरम्भो भवति तत्र समयं यावदनुत्कृष्टरसबन्धं कृत्वाऽनन्तरसमये उपशान्तमोहगुणस्थानकं प्राप्तः सन् तदबन्धको भवति एवमपि अघातित्रयस्यानुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यः काल एकसमय आयाति । अनया दिशा यथासंभवं शेषासु मार्गणासु सप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकाल आलोचनीयः ।

अथ यासां मनुष्यत्रिकादिमार्गणानां कायस्थितिः समयादधिका भवति तत्राऽघातित्रयस्य ज्येष्ठानुभागबन्धः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमयरूपप्रतिनियतसमये एव भवति तदा

तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकाल उपशमश्रेणिवशात् समयप्रमाणः प्राप्यते, तथाहि–मनुष्यत्रिकादिमार्गणासु यः कश्चिदुपशमश्रेणौ तासां प्रकृतीनामबन्धं कृत्वा तत्स्थानतश्च च्युत्वा समयं यावदनुत्कृष्टानुभागबन्धं विदधाति तदनन्तरं च कालं करोति, कालकरणेन च मार्गणायाः परावृत्तिर्भवति, इत्थं च प्रस्तुतमार्गणायामघातित्रयस्यानुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यतो बन्धकाल एकसमयः प्राप्यते । अवधिज्ञानावधिदर्शनपरिहारविशुद्धिमार्गणानां समयप्रमाणजघन्यकायस्थितिमभिगन्तॄणां मते तासु मार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकालः समयमात्रो विज्ञेयः । क्रोधमानमायामार्गणानां प्रत्येकं जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तत्वमभिगन्तॄणां मतेऽघातित्रयस्यानुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो ज्ञातव्यः, स्वजघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वे सति प्रतिनियतसमये एवाऽघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धसद्भावात् ॥१४१॥

निरूपितोऽनुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकालः । इदानीं तस्यैव प्रकृष्टबन्धकालप्ररूपणावसरः, तत्रादौ तावद् यासु मार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकाल ओघवद् भवति तासु तद्वदतिदिशति–

मत्तण्होघव्व गुरू दुअणाणायतअचक्खुमिच्छेसुं ।
एमेव होइ भविये णवरं ण भवे अणाइधुवो ॥१४२॥

(प्रे०) 'सत्तण्होघव्व' इत्यादि, 'द्व्यज्ञानायताचक्षुर्मिथ्यात्वेषु' मत्यज्ञानभेदे, श्रुताज्ञानभेदे, असंयमभेदे, अचक्षुर्दर्शनभेदे मिथ्यात्वभेदे चेत्येतेषु पञ्चमार्गणाभेदेषु सप्तानाम्-सप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागस्येत्यनुवर्तते । गुरुः- प्रकृष्टबन्धकाल ओघवद्-यथौघे सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालः प्ररूपितः तथैवैतेषु भेदेषु द्रष्टव्यः, तद्यथा– "परमो घाईण असंखपरिअट्टा" इति प्राक्तनग्रन्थेन घातिचतुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाण उक्तः स एवात्रापि घातिचतुष्कस्य द्रष्टव्यः । भावना चेयम्-एतासु पञ्चसु मार्गणासु संज्ञिनश्चासंज्ञिनश्चेति द्विविधा जीवाः सन्ति, असंज्ञिजीवानां घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धाभावादसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणमसंज्ञ्युत्कृष्टकायस्थितिकालं यावदनुत्कृष्टानुभागमेव बध्नाति, तदनन्तरमपि यावत्कालं ज्येष्ठानुभागो न बध्यते तावत्सर्वकालमनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धो भवति, अत एव घातिचतुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणो भवति ।

तथा "तिविगप्पो" इत्यादिग्रन्थेन वेदनीयनामगोत्रप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालस्त्रिविकल्पः - अनादिध्रुवानाद्यध्रुवसाद्यध्रुवलक्षणस्त्रिप्रकारो निरूपितः, तथैवात्रापि वेदितव्यः । यतो द्व्यज्ञानाऽसंयममिथ्यात्वमार्गणास्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धः संयमाभिमुखावस्थायाम्, अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां पुनः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये भवति, ततो-

ऽभव्यजीवाः कदाचनापि ज्येष्ठानुभागं न बध्नन्ति, तदपेक्षयाऽनुत्कृष्टानुभागस्योत्कृष्टबन्धकालोऽनादिध्रुवो भवति। भव्यजीवास्तूत्कृष्टानुभागबन्धमासादयिष्यन्ति, तदपेक्षया प्रकृष्टबन्धकालोऽनाद्यध्रुवो भवति। ये तु सम्यक्त्वादिभ्यः पतित्वा द्व्यज्ञानासंयममिथ्यात्वमार्गणाः पुनः प्राप्य, अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां चाबन्धं कृत्वा, भूयोऽप्यनुत्कृष्टानुभागं निर्वर्तयन्ति तानाश्रित्याऽनुत्कृष्टानुभागबन्धकालः साद्यध्रुवः, स च कालो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः, उत्कर्षतो देशोनापार्द्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणः।

अथ भव्यमार्गणायां द्व्यज्ञानादिमार्गणावत् सापवादमतिदिशति-'**एमेव**' इत्यादि-एवमेव-उक्तप्रकारेण-यथाऽनुत्कृष्टानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालस्त्रिविकल्पस्तथैव, भव्यमार्गणायां भवति, तत्रापवादमाह-'**नवरं ण भवे अणाइधुवो**' इति नवरमनादिध्रुवः-अनाद्यनन्तः प्रकृष्टबन्धकालो न भवति, कुतः? भव्यमार्गणायाः कायस्थितेरनादिसपर्यवसितत्वात्, अन्यथा भव्यत्वायोगादिति ॥१४२॥

सम्प्रति यासु मार्गणास्वनुत्कृष्टानुभागबन्धस्य प्रकृष्टकालोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणः तासु मार्गणासु प्राह—

एगिंदियम्मि पुढवीदगतेउअणिलणिगोअकायेसुं।
तेसिं छसु सुहमेसुं वणे य लोगा असंखेज्जा ॥१४३॥

(प्रे०) '**एगिंदियम्मि**' इत्यादि, एकेन्द्रियसामान्यमार्गणायां 'पृथ्वीदकतेजोवायुनिगोदकायेषु'-पृथ्वीकायसामान्याप्कायसामान्यतेजःकायसामान्यवायुकायसामान्यसाधारणवनस्पतिकाय-सामान्यरूपासु पञ्चकायमार्गणासु, 'तेषां षट्सु सूक्ष्मेषु' तच्छब्देन प्रागुक्तं परामृशति, ततश्च प्रागुक्तषण्मार्गणानां षट्सु सूक्ष्मभेदेषु-सूक्ष्मैकेन्द्रियसामान्य-सूक्ष्मपृथ्वीकायसामान्य-सूक्ष्माप्कायसामान्य-सूक्ष्मतेजःकायसामान्य-सूक्ष्मवायुकायसामान्य-सूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायसामान्यलक्षणासु षट्सु सूक्ष्ममार्गणास्वित्यर्थः, चः समुच्चयार्थः स च पर्यन्ते योज्यः, वनस्पतिकायौघमार्गणायां चेत्येतासु त्रयोदशमार्गणास्वनुत्कृष्टानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकाल इत्यनुवर्तते, '**लोगा असंखेज्जा**' असंख्येया लोकाः, लोकाकाशप्रमाणेष्वसंख्येयेष्वाकाशखण्डेषु प्रतिसमयमेकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽपह्रियमाणे यावता कालेन ते सर्वे आकाशप्रदेशा अपह्रियन्ते, तावानसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणः इत्यर्थः।

भावना त्वित्थम्-एकेन्द्रियपृथ्वीकायाप्कायतेजःकायवायुकायवनस्पतिकायसाधारणवनस्पतिकायसामान्यरूपासु सप्तसामान्यमार्गणासु साकारादिविशेषणविशिष्टो बादर उत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेन प्रागुक्तः, ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियावस्थायां केवलस्यानुत्कृष्टरसबन्धस्यैव प्रवर्तनात् सूक्ष्मोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणः प्रस्तुतकालः सुतरां लभते सूक्ष्मोत्कृष्टकायस्थितिस्त्वसंख्येयलोकप्रमाणा, न च तावन्मात्रां सूक्ष्मोत्कृष्टकायस्थितिं निर्वाह्य बादरतयोत्पन्नस्य कस्यचिज्जीवस्य यथाऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमुत्कृष्टरसबन्धो जायते, तथा केषाञ्चिदतिबहुदीर्घेण कालेनाऽप्यसौ भवति, तथा

च प्रस्तुतकालः सूक्ष्मोत्कृष्टकायस्थितितोऽप्यभ्यधिक एव इति वाच्यम्, न च सूक्ष्मोत्कृष्टकायस्थित्यसंख्यलोकेभ्योऽधिकोऽप्यसंख्येयलोकप्रमाण एवोच्यते, असंख्यलोकानामसंख्येयभेदभिन्नत्वात्, प्रस्तुतकालस्य तदन्यतमरूपत्वाच्च ।

शेषासु षट्सु मार्गणासु बादरजीवानामेवाऽप्रवेशेन यद्यपि न भवति अनन्तरोक्तनीत्या प्रस्तुतसूक्ष्मकायस्थितिप्रमाणाऽसंख्येयलोककालसिद्धिस्तथाऽपि प्रस्तुतमार्गणानामुत्कृष्टकायस्थितिं निर्वहतां जीवानामन्येषां सूक्ष्मैकेन्द्रियादितयाऽसंख्यलोककालं निर्वहतां वा अन्तराऽन्तरा तथास्वाभाव्येन नियमत उत्कृष्टरसबन्धस्य भावादुत्कृष्टरसबन्धद्वयोत्कृष्टान्तरानुसारेण अनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालघटना कार्या, न पुनरुत्कृष्टकायस्थितेरसंख्येयलोकप्रमाणत्वहेतोः, असंख्यलोकप्रमाणस्याऽपि प्रस्तुतकालस्य मार्गणोत्कृष्टकायस्थित्यपक्षेया ह्रस्वत्वात्, अत एव मार्गणास्वस्वोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणप्रस्तुतकालनिरूपणप्रस्तावे मार्गणा इमा असंगृह्यात्र पृथगेव तासु प्रस्तुतकालाभिधानमपि संगतमेव वेदितव्यमिति ॥१४३॥

साम्प्रतमभव्यमार्गणायां सप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागबन्धस्य कालमानमसंख्यपुद्गलपरावर्तास्तथा शेषासु मार्गणासु तस्यैव कालमानं कायस्थितिरिति दर्शयन्नाह—

होइ परमो अभविये असंखिया पोग्गलाण परिअट्टा ।
सेसासु उक्कोसा सगसगकायट्ठिई णेयो ॥१४४॥

(प्रे०) **'होइ परमो'** इत्यादि, अभव्यमार्गणायां सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य परमः-प्रकृष्टो बन्धकालो भवतीति योगः, कियत्प्रमाणः ? इत्याह—**'असंखिया'** इत्यादि, असंख्येयाः पुद्गलानां परावर्ताः अनन्तानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाण इत्यर्थः । कुतः ? अस्यां मार्गणायां सप्तानामुत्कृष्टरसबन्धस्वामी साकारादिविशेषणविशिष्टः संज्ञी भणितः, ततः कश्चिदभव्यः संज्ञ्यवस्थायामुत्कृष्टानुभागं बद्ध्वाऽसंज्ञिषूत्पद्यते तत्रासंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणप्रकृष्टकायस्थितिं यावदुत्कृष्टानुभागस्याबन्धकतया स्थित्वा पुनः संज्ञित्वमश्नुते, तत्रापि यावत्कालमुत्कृष्टानुभागबन्धं विनाऽपि विनेतुं शक्नोति तावत्कालमनुत्कृष्टानुभागबन्धेन गमयति तत्पश्चाद् यदा स उत्कृष्टानुभागं रचयति तदा तदर्वाक्समयं यावत्सर्वोऽपि कालोऽनुत्कृष्टानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालतया प्राप्यते, स चासंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणो भवति ।

अथ शेषमार्गणास्वतिदिशति—**'सेसासु'** इत्यादि, प्रागुक्तशेषासु सार्धशतमार्गणास्वित्यर्थः सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकाल इति प्रस्तावाद् गम्यते, कियत्प्रमाणः ? इत्याह—**'उक्कोसा सगसगकायट्ठिई णेयो'**—उत्कृष्टा स्वस्वकायस्थितिर्ज्ञेयः, शेषमार्गणानां स्वस्वोत्कृष्टकायस्थितेर्यावान् कालः, तावत्प्रमाणकालः सप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागबन्धस्य प्रकर्षतो ज्ञातव्यः इहाऽपि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः शेषमार्गणाऽन्तःप्रविष्टायामपगतवेदमार्गणायां "सेसासु उक्कोसा

सगसगकायठिई" इत्यनेनोत्कृष्टकायस्थितिरूपान्तर्मुहूर्तप्रमाणः प्राप्तोऽपि प्रस्तुतकालोऽन्तर्मुहूर्तं तु ज्ञातव्यः, न तूत्कृष्टकायस्थितिः, उत्कृष्टकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेऽपि तन्मध्ये उपशान्ताद्धादिकालस्य प्रविष्टत्वात्, तदानीं च कस्याश्चित् प्रकृतेर्बन्धाभावेऽपि रसबन्धस्याप्रवर्तनाच्चेति ।

पञ्चाशदुत्तरशतमार्गणा नामत इमाः-गतिमार्गणास्थानस्य सर्वभेदप्रभेदप्रयुक्तसप्तचत्वारिंशद्मार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्यैकेन्द्रियसामान्यसूक्ष्मैकेन्द्रियसामान्यवर्जसप्तदशमार्गणाः, कायमार्गणास्थानस्य पृथ्वीकायसामान्यसूक्ष्मपृथ्वीकायमार्गणाद्वयवर्जपञ्चपृथ्वीकायमार्गणाऽप्कायसामान्यसूक्ष्माप्कायमार्गणाद्वयवर्जपञ्चाप्कायमार्गणा—तेजस्कायसामान्यसूक्ष्मतेजस्कायमार्गणाद्वयवर्जपञ्चतेजस्कायमार्गणा-वायुकायसामान्यसूक्ष्मवायुकायवर्जपञ्चवायुकायमार्गणा-वनस्पतिकायसामान्यनिगोदसामान्यसूक्ष्मनिगोदवर्जाष्टवनस्पतिकायमार्गणा-त्रित्रसकायलक्षणा एकत्रिंशद्मार्गणाः, योगमार्गणास्थानस्याष्टादशसंख्याकमार्गणाः, वेदमार्गणास्थानस्य सर्वमार्गणाः, कषायमार्गणास्थानस्य चतुर्मार्गणाः, ज्ञानमार्गणास्थानस्य मत्यज्ञानश्रुताज्ञानवर्जपञ्चमार्गणाः, संयममार्गणास्थानस्याऽसंयमवर्जषण्मार्गणाः, दर्शनमार्गणास्थानस्य चक्षुरवधिदर्शनरूपे द्वे मार्गणे, लेश्यामार्गणास्थानस्य षण्मार्गणाः, सम्यक्त्वमार्गणास्थानस्य मिथ्यात्ववर्जषण्मार्गणाः संज्ञिमार्गणास्थानस्य संज्ञ्यसंज्ञिमार्गणे, आहारकमार्गणास्थानस्याहारकानाहारकमार्गणे चेति सार्धशतमार्गणाः । उक्तशेषमार्गणास्वऽनुत्कृष्टानुभागस्योत्कृष्टतः बन्धकालः स्वस्वोत्कृष्टकायस्थितितुल्यः कथम्? इति चेत्, उच्यते-यासां मार्गणानां कायस्थितिरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशकालतोऽल्पीयसी, तन्मार्गणावर्तिनः केचित् जीवाः मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिकालं यावद् ज्येष्ठानुभागबन्धप्रायोग्याध्यवसायं न प्राप्नुवन्ति रसबन्धाध्यवसायानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्, मार्गणाकायस्थितेरल्पत्वाच्च, ततोऽनुत्कृष्टानुभागस्य प्रकृष्टतो बन्धकालः स्वकायस्थितितुल्यो भवति,ताश्च तिर्यक्सामान्यकाययोगनपुंसकवेदाऽसंज्ञिचतुर्मार्गणावर्जषट्चत्वारिंशदुत्तरशतलक्षणाः अनन्तरोक्तमार्गणा ज्ञातव्याः ।

ननु तिर्यक्सामान्यकाययोगनपुंसकवेदासंज्ञिमार्गणास्वसंख्येयलोकतः कायस्थितिरधिका तर्हि कथं तत्र स्वकायस्थितितुल्योऽनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाल उक्तः? उच्यते-प्रस्तुतमार्गणागतानामुत्कृष्टकायस्थितेर्निर्वाहकाणां केषाञ्चिज्जीवानामुत्कृष्टकायस्थितिं यावदुत्कृष्टरसबन्धस्यैवाभावात् । एतदपि कुतः? इति चेत्, मार्गणोत्कृष्टस्थितेरनन्तबहुभागानामेकेन्द्रियविकलेन्द्रियभवैरेव पूर्यमाणत्वात्, शेषायाः पञ्चेन्द्रियतया पूर्यमाणायाः कायस्थितेस्तु स्तोकमात्रतया तां निर्वहतामपि उत्कृष्टानुभागबन्धस्यानियमाच्चेति । **अत्रेदमवधेयम्**—अपगतवेदमार्गणायामनुत्कृष्टरसबन्धस्य ज्येष्ठकालो मार्गणोत्कृष्टकायस्थितितः संख्येयगुणहीन एव तथाऽपि कायस्थितेः प्रस्तुतकालस्य चान्तर्मुहूर्तत्वेन रूपेण समानत्वात् लाघवार्थं कायस्थितिरित्यभिहिता । कायस्थितिश्चैतद्**बन्धविधान**ग्रन्थस्य मूलप्रकृति***स्थितिबन्धखण्डे*** यथा प्रतिपादिता तथैवात्रापि द्रष्टव्या । तद्ग्रन्थस्यातिविप्रकृष्टत्वात् संस्मारयितुमत्र तद्विषयकगाथाः प्रदर्श्यन्ते—

"कायठिई उक्कोसा णिरयसुराणं विभंगणाणस्स । किण्हसुइलखइआणं तेत्तीसा सागरा णेया ॥१५२॥
पढमाइगणिरयाणं कमसो एगो य तिण्णि सत्त दस। सत्तरह य बावीसा तेत्तीसा सागरा णेया ॥१५३॥
णेया असंखिया खलु परिअट्टा पोग्गलाण तिरियस्स। एगिंदियहरिआणं कायणपुंसगअसण्णीणं ॥१५४॥
तिपणिंदियतिरियाणं तिणराण च पलिओवमा तिण्णि। अब्भहिया पुव्वाणं कोडिपुहुत्तेण णायव्वा ॥१५५॥
सव्वापज्जत्ताणं समत्तबायरणिगोअकायस्स । पज्जत्तगसुहुमाणं पणमणवयउरलमीसाणं ॥१५६॥
विउवाहारदुगाणं अवगयवेअस्स चउकसायाणं। सुहुमुवसममीसाणं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वा (युग्मम्) ॥१५७॥
भवणस्स साहियुदही पल्लं वंतरसुरस्स विण्णेया। पलिओवममब्भहियं जोइसदेवस्स णायव्वा ॥१५८॥
सोहम्माईण कमा अयरा दो साहिया दुवे सत्त। अब्भहिया सत्त य दस चउदस सत्तरह णायव्वा ॥१५९॥
एत्तो एगेगऽहिया णायव्वा जाव एगतीसुदही । उवरिमगेविज्जस्स उ तेत्तीसाऽणुत्तराण भवे ॥१६०॥
अंगुलअसंखभागो बायरएगिंदियस्स सुहुमाणं । तह पुढवाइचउण्हं णेया लोगा असंखेज्जा ॥१६१॥
बायरपज्जेगिंदियभूदगपत्तेअवाउविगलाणं । संखेज्जसहस्ससमा समत्तबेइंदियस्स संखसमा ॥१६२॥
पज्जत्ततेइंदियवायरतेऊण होइ संखेज्जा । दियसा संखियमासा समत्तचउइंदियस्स भवे ॥१६३॥
पंचिंदियचक्खूणऽहियुदहिसहस्सं तसस्स त दुगुणं। पज्जपणिंदितसपुरिससण्णीणायरसयपुहुत्तं ॥१६४॥
अद्धतइअपरिअट्टा भवे णिगोअस्स होइ मोहठिई । बायरपुढवाइ चउगणि गोअपत्तेअहरिआणं ॥१६५॥
देसूणसहस्ससमा थीवेउस्स तिसमया णेया । कम्माणाहाराणं पल्लसयपुहुत्तमित्थीए ॥१६६॥
मणणाणसंयमाण समइअछेअपरिहारदेसाणं । देसूणा पुव्वाण कोडी एगा मुणेयव्वा ॥१६७॥
दुअणाणायतमिच्छाण अणाइधुवा अणाइअधुवा य। साइअधुवा य तिविहा तइआ हीणद्धपरिअट्टो ॥१६८॥
साहियछसट्ठिजलही तिणाण सम्मत्तवेअगोहीसुं। दुविहाऽत्थि अणाइधुवा अणाइअधुवा अचक्खुस्स ॥१६९॥
णीलाइचउण्ह कमा अयरा दस तिण्णि दोण्णि अट्ठार। भवियस्सऽणाइअधुवा तहा अभवियस्सऽणाइधुवा ॥१७०॥
सासाणस्सावलिआ छ भवे आहारगस्स णायव्वा। अंगुलअसंखभागो त्ति भवे उक्कोसकायठिई ॥१७१॥

अथ कतिपयासु मार्गणासूत्कृष्टकायस्थितिं मतान्तरेणार्याद्वयेनाह—

अण्णे उ भणन्ति भवे संखसहस्सवरिसा समत्ताण। बेइंदियतेइंदियचउरिंदियबायरग्गीणं ॥१७२॥
दो सागरा सहस्सा समत्ततसचक्खुदसणाण भवे। सत्तरह सत्त अयरा होइ कमा णीलकाऊसुं ॥१७३॥

साम्प्रतं प्रसङ्गात् प्रकृतोपयोगित्वाच्च सर्वमार्गणानां जघन्यां कायस्थितिमप्याह—

कायठिई णायव्वा जहण्णगा दससहस्सवासाणि । णिरयपढमणिरयाणं देवभवणवंतराणं च ॥१७४॥
दुइआइणिरयाण सा पढमाइणिरयाण जा जेट्ठा। खुड्डभवो तिरियपणिदितिरियमणुसतदपज्जाणं ॥१७५॥
पज्जत्तभेअवज्जिअसेसिंदियकायभेअसण्णीणं । असण्णस्स तिसमयूणो आहारिउरालमीसाणं ॥१७६॥
भिन्नमुहुत्तं उ सयलपज्जत्तगजोणिणीण कायस्स। मीसदुजोगपुमाणं कसायतिणाणजुगलाणं ॥१७७॥
अण्णाणदुगस्स तहा देसाऽयतचक्खुसव्वलेसाणं । सम्मत्तखइअवेअगउवसममीसाण मिच्छस्स ॥१७८॥
पलिअस्स अट्ठभागो जोइसिअस्स पलिओवमं णेया। सोहम्मसुरस्स भवे ईसाणस्सऽब्भहियपल्लं ॥१७९॥
दोण्णि हवेज्जा जलही सणंकुमारस्स दोण्णि अब्भहिया। माहिंदस्स हवेज्जा सत्त भवे बम्हदेवस्स ॥१८०॥
लंतकदेवाईणं सा बम्हसुराइगाण जा जेट्ठा। सव्वत्थाऽचक्खूण भवियाभवियाण णत्थि लहू ॥१८१॥
पणमणवयजोगाणं ओरालाहारविउवकम्माणं । थीणपुमावेआणं लोईविभंगोहिजुगलाणं ॥१८२॥
मणणाणसंयमाणं समइअछेअपरिहारसुहुमाणं। सासाणऽणाहाराणं समयोऽत्थि जहण्णकायठिई ॥१८३॥

अथ कतिपयासु मार्गणासु मतान्तरेण तामेवाह—

अण्णे कोहाईण समयो मणणाणओहिजुगलाणं। संयमपरिहाराणं भिन्नमुहुत्तं पढुव छउमत्थं ॥१८४॥" गीतिः

आसां व्याख्या-स्थितिबन्धवृत्तौ अस्मत्सहाध्यायिना मुनिवरेण श्रीजगच्चन्द्रविजयेन विहित-त्वादस्माभिर्नात्र वितन्यते,किन्तु सुबोधार्थं गत्यादिक्रमतः कायस्थितिर्यन्त्रेण प्रदर्श्यते ॥१४४॥

❀ A निरयगत्योघः,	÷ G·· त्रीन्द्रियौघः,	÷ P त्रसकायौघः,	∴ W विभङ्गज्ञानम्,	❀,A इत्यादिना संज्ञित मार्गणासंख्यया—
❀ B प्रथमनिरयभेदः,	+ J पर्याप्तत्रीन्द्रिय,★	+ M पर्याप्तत्रसकाय ★	∴ U २,संयमौघ-परि-★	
★ B ६, द्वितीयाद्या,	÷ E अपर्याप्त ,,	÷ E १२,शेषाऽपर्याप्त-	+ U देश० [हार०	
÷ C तिर्यग्गत्योघः	÷ G चतुरिन्द्रियौघ.	सूक्ष्मबादरपृथिव्या-	∴ U २,सामा० छेद०	
÷ D पञ्चेन्द्रियतिर्य-	+ K पर्याप्तचतुरिन्द्रिय ★	द्यपर्याप्तत्रसान्ता,	∴ E सूक्ष्मसम्परायः,	A २ U ६
ग्गोघः,	÷ E अपर्याप्त ,,	∴ E १०,मनोवचो-	+ V असंयमः,	B ३६ V ४
+ D तत्पर्याप्त०,	÷ L पञ्चेन्द्रियौघ	भेद०	+ L चक्षुर्दर्शनम्, ★	C ६ W ४
÷ E तदपर्याप्त०,	+ M पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः	+ C काययोगौघ,	● X अचक्षुर्दर्शनम्,	D ६ X १
+ D तिरश्ची,	÷ E अपर्याप्त ,,	∴ Q औदारिकः;	∴ T अवधिदर्शनम् .★	E ५० Y ४
÷ D मनुष्यौघः,	÷ H ४,पृथिव्यप्तेजो-	△ E " मिश्र,		
+ D पर्याप्तमनुष्य,	वायुकायौघाः,	∴ E वैक्रिय,	+ W कृष्णलेश्या,	F २ Z २
÷ E अपर्याप्तमनुष्य.,	÷ C वनस्पतिकायौघ	+ E " मिश्र,	+ Y ४,नील-कापोत-★	G ८ & १
+ D मानुषी.	÷ N साधारण ,, ,,	∴ E आहारकः,	तेज पद्मलेश्या.	H १० १७०
❀ A देवगत्योघः,	÷ O प्रत्येक ,, ,, ,,	+ E " मिश्र,	+ W शुक्ललेश्या.	I १ ✳ ५
❀ B २,भवन-व्यन्तर०,	÷ O ५,बादरपृथिव्य-	∴ R कार्मण,	● Z २,भव्या ऽभव्या	J २ ★ ३२
● B सर्वार्थसिद्ध,	★प्तेजोवायुसाधार-	∴ S स्त्रीवेद,	+ T सम्यक्त्वाद्य.	K १ — ५०
★ B ३६,ज्योतिष्काद्या	णवनौघभेदाः,	+ M पुरुषवेदः,	+ T क्षायोपशमिकम्,	L २ + ४८
÷ C एकेन्द्रियौघ,	÷ H ५,सूक्ष्मपृथिव्या-	∴ C नपुंसकवेदः,	+ W क्षायिकम्,	M ४ △ २
÷ F बादर ,, ,,	दिपञ्चसूक्ष्मौघा,	∴ E अपगतवेदः,	+ E औपशमिकम्,	N १ ● ४
+ G तत्पर्याप्तभेद,	+ G ३, पर्याप्तबादर-	+ E ३ क्रोध-मान ★	+ E सम्यग्मिथ्यात्वम्	O ६ ∴ २९
÷ E तदपर्याप्त ,	पृथिव्यब्वायु०	माया ★	∴ & सास्वादनम्,	१७०
÷ H सूक्ष्मैकेन्द्रियौघ,	+ J पर्याप्तबादरतेज-	∴ E लोभ,	+ V मिथ्यात्वम्,	P १
+ E तत्पर्याप्तभेदः,	स्कायः,			
÷ E तदपर्याप्त ,,	+ E ,, ,, साधारणवन	+ T २,मति श्रुतज्ञाने	—M संज्ञी.	Q १
÷ G द्वीन्द्रियौघ,	+ G , प्रत्येकवन०	∴ T अवधिज्ञानम् ★	—C असंज्ञी.	R २
+ I पर्याप्तद्वीन्द्रिय,★	+ E ५,पर्याप्तसूक्ष्म	∴ U मनःपर्यवज्ञानम् ★	△ F आहारी,	S १
÷ E अपर्याप्त ,,	पृथिव्याद्या	+ V २ मतिश्रुताऽज्ञाने	∴ R अनाहारी.	T ६

जघन्यकायस्थिति –÷ १० वर्षसहस्र० (गाथा १७४), ★ स्वजघन्यभवस्थिति (गा-१७५ १७६-१८० १८१), ÷ क्षुल्लकभव =२५६ आवलिका (गा-१७५-१७६), त्रिसमयोनक्षुल्लकभव. (गा १७६), + अन्तर्मुहूर्तम् (गा-१७७-१७८), ∴ १ समय (गा-१८२ १८३), ● या उत्कृष्टा सैव जघन्या (गाथा-१८१) ।

उत्कृष्टकायस्थिति –A ३३ सागरोपम० (गाथा-१५२) B स्वोत्कृष्टभवस्थिति (गा-१५३ १५८-१५९-१६०) C असंख्यपुद्गलपरावर्त० (गा-१५४), D पूर्वकोटिपृथक्त्वा-ऽभ्यधिकपल्योपमत्रयम् (गा-१५५), E अन्तर्मुहू० (१५६-१५७, F अङ्गुलाऽसंख्यभाग० (गा-१६१), G संख्येयवर्षसहस्र० (१६२) H असंख्येया लोका गा-१६१), I संख्येयवर्ष० गा १६२), J संख्येयदिवस० (गा-१६२, K संख्येयमास० (गा-१६३), L साधिकसहस्रसागरोप० (गा १६४), M सागरोपमशतपृथक्त्व (गा-१६४) N सार्धद्वयपुद्गलपराव०(गा-१६५), O ७०कोटिकोटिसागरोप० (गा-१६५), P साधिकसागरोपमसहस्रद्वयम् (१६४), Q देशोनद्वाविंशतिवर्षसहस्र० (गा-१६६), R त्रिसमय० (गा-१६६), S पल्योपमशतपृथक्त्व० (गा १६६), T ६६ सागरोपमसाधिक० (गा-१६६).→

मार्गणास्थानेषु जघन्योत्कृष्टभवस्थितिप्रदर्शकयन्त्रम् ।

भवस्थिति.	उत्कृष्टतः	जघन्यतः	भवस्थितिः	उत्कृष्टतः	जघन्यतः
निरयौघ	३३ सागरोपम.	१००००वर्ष-	सहस्रार	१८ सागरोप०	१७ सागरापम०
प्रथमा०	१ ,,	,, ,,	आनत०	१९ ,,	१८ ,,
द्वितीया	३ ,,	१ सागरोप.	प्राणत	२० ,,	१९ ,,
तृतीया	७ ,,	३ ,,	आरण०	२१ ,,	२० ,,
चतुर्थी	१० ,,	७ ,,	अच्युत०	२२ ,,	२१ ,,
पञ्चमी	१७ ,,	१० ,,	प्र.ग्रैवे०	२३ ,,	२२ ,,
षष्ठी	२२ ,,	१७ ,,	द्वि ,,	२४ ,,	२३ ,,
सप्तमी	३३ ,,	२२ ,,	तृ० ,,	२५ ,,	२४ ,,
तिर्यगोघ०	३ पल्योपम०	क्षुल्लकभव०	च० ,,	२६ ,,	२५ ,,
पञ्चेन्द्रिय-			पं० ,,	२७ ,,	२६ ,,
तिर्यगोघ०	३ ,,	,,	षष्ठ ,,	२८ ,,	२७ ,,
तत्पर्याप्त० ,,	,,	अन्तर्मुहू०	स० ,,	२९ ,,	२८ ,,
तदपर्याप्त०	अन्तर्मुहू०	क्षुल्लकभव०	अ० ,,	३० ,,	२९ ,,
तिरश्ची	३ पल्योपम०	अन्तर्मुहू०	न० ,,	३१ ,,	३० ,,
मनुष्यौघ	३ पल्योपम०	क्षुल्लकभव.	४ अनुत्त०	३३ ,,	३१ ,,
तत्पर्याप्त० ,,	,,	अन्तर्मुहू०	सर्वार्थसिद्ध	३३ ,,	३३ ,,
तदपर्याप्त०	अन्तर्मुहू०	क्षुल्लकभव०	एकेन्द्रियौघ,	२२सहस्रवर्ष	क्षुल्लकभव.
मानुषी०	३ पल्योपम०	अन्तर्मुहू०	बादर ,,	२२००० वर्ष	,,
देवौघ०	३३ सागरोप०	१००००वर्ष०	तत्पर्याप्त०	२२००० वर्ष.	अन्तर्मुहू०
भवनपति	साधिकसागरो०	१०००० ,,	तदपर्याप्त०	अन्तर्मुहू०	क्षुल्लकभव०
व्यन्तर०	१ पल्योपम०	१०००० ,,	सूक्ष्मैकेन्द्रियौघ०	,,	,,
ज्योतिष्क	साधिकपल्यो०	⅛ पल्योप०	तत्पर्याप्त०	,,	अन्तर्मुहू०
सौधर्म०	२ सागरोप०	१ ,,	तदपर्याप्त	,,	क्षुल्लकभव.
ईशान०	२ ,, साधिक०	१ ,, साधि०	द्वीन्द्रियौघ०	१२ वर्ष०	,,
सनत्कुमार.	७ सागरोप०	२ सागरो०	तत्पर्याप्त०	१२ वर्ष०	अन्तर्मुहू०
माहेन्द्र०	७ ,, साधिक	,, साधि०	तदपर्याप्त०	अन्तर्मु०	क्षुल्लकभव०
ब्रह्म०	१० सागरोप०	७ सागरोप०	त्रीन्द्रियौघ०	४९ दिवस.	,,
लान्तक०	१४ ,,	१० ,,	तत्पर्याप्त०	४९ दिवस.	अन्तर्मुहू०
शुक्र०	१७ ,,	१४ ,,	तदपर्याप्त०	अन्तर्मुहू०	क्षुल्लकभव०

भवस्थिति.	उत्कृष्टतः	जघन्यत
चतुरिन्द्रियौघ.	६ मास०	क्षुल्लकभव०
तत्पर्याप्त०	६ मास०	अन्तर्मुहू०
तदपर्याप्त०	अन्तर्मुहू०	क्षुल्लकभवः
पञ्चेन्द्रियौघ०	३३ सागरोप०	,,
तत्पर्याप्त०	३३ सागरोप०	अन्तर्मु.
तदपर्याप्त०	अन्तर्मुहू०	क्षुल्लकभव०

पृथिवीकायौघादिसप्तमार्गणास्थानेषूत्कृष्टतो जघन्यतश्च सर्वथैवैकेन्द्रियौघादिसप्तमार्गणावज्ज्ञेया ।

अप्काय-तेजस्काय-वायुकायसाधारणवनस्पतिकायसत्कसप्तसप्तमार्गणास्थानेष्वप्येकेन्द्रियौघादिसप्तमार्गणावदेव । **केवलम् उत्कृष्टपदे** —

अप्कायौघ बादराप्कायौघ-तत्पर्याप्तभेदेषु-७००० वर्ष० ।

तेजस्कायौघ बादरतेजस्कायौघतत्पर्याप्तभेदत्रये-३ दिवस० ।

वायुकायौघ-बादरवायुकायौघ-तत्पर्याप्तभेदेषु-३००० वर्ष० ।

साधारणवनस्पतिकायौघ बादर-साधारणवनस्पतिकायौघ तत्पर्याप्तभेदेषु-अन्तर्मुहूर्तम् ।

वनस्पत्योघ०	१०००० वर्ष	क्षुल्लकभव
प्रत्येक ,,	१०००० वर्ष	,,
तत्पर्याप्त०	१०००० वर्ष	अन्तर्मुहूर्त
तदपर्याप्त०	अन्तर्मुहूर्त०	क्षुल्लकभव०

त्रसकायभेदत्रयं सर्वथा पञ्चेन्द्रियभेदत्रयवत् । इति ॥

U देशोनपूर्वकोटि (गा-१६७), V भङ्गत्रयं, तृतीयभङ्गे देशोनाऽर्धपुद्गलपरावर्त० (गा-१६८), W ३३ सागरोपम० यथासम्भव साधिक० (गा-१५२), X अनादिध्रुव० अनाद्यध्रुव० (गा-१६९), Y क्रमेण साधिक १०-३-२-१८ सागरोप० (गा १७०), Z क्रमेणा-ऽनाद्यध्रुवा-ऽनादिध्रुवभङ्गौ (गा-१७०), & ६ आवलिका (गाथा-१७४) ।

***मतान्तरे कायस्थितिः-उत्कृष्टपदे** पर्याप्तद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-बादराग्निकायलक्षणमार्गणाचतुष्टये सङ्ख्येयवर्षसहस्राणि । पर्याप्तत्रस-चक्षुर्दर्शनमार्गणयोः सागरोपमसहस्रद्वयम् । नीललेश्याया साधिकमष्टादशसागरोपम० । कापोतलेश्याया साधिकसप्तसागरोपमाणि । जघन्यपदे-क्रोध-मान-मायामार्गणासु समयः । अवधि मनःपर्यवज्ञानाऽवधिदर्शन-सयमौघ-परिहारविशुद्धिकसंयमेष्वन्तर्मुहूर्तम् । (गाथा-१७२-१७३ १८४)

तदेवमष्टप्रकृतीनामोघत आदेशतश्चोत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागद्वयस्य निरन्तरबन्धकालं निरूप्य साम्प्रतं जघन्याजघन्यानुभागबन्धद्वयस्यौघतस्तमेव निगदन् प्रथमं तावद् जघन्यानुभागस्य जघन्यमुत्कृष्टं च बन्धकालमभिदधाति---

सत्तण्ह लहू समयो मंद ऽणुभागस्स वेअणामाणं ।
समया चत्तारि गुरू समयो सेसाण पंचण्हं ॥१४५॥

(प्रे०) **'सत्तण्ह लहू समयो'** इत्यादि, सप्तानामायुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां मन्दानुभागस्य जघन्यानुभागस्य लघुः--जघन्यो, बन्धकाल इति गम्यते, तस्यैव प्रस्तुतत्वात्, समयः--एकसमयप्रमाणो भवतीति शेषः । अथ जघन्यानुभागस्य प्रकर्षतो बन्धकालमाह--**'वेअणामाणं'** इत्यादि, **वेदनीयनामकर्मणोः** गुरुः--प्रकृष्टबन्धकालश्चतुःसमयप्रमाणो भवति । कुतः ? उच्यते---जघन्यानुभागबन्धप्रायोग्याध्यवसायस्थानस्य चतुःसमयान् यावदवस्थानात् । **'समयो सेसाण पंचण्हं'** इति शेषाणाम्--उक्तशेषप्रकृतीनाम्, जघन्यानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकाल इत्यनुवर्तते, कियत्प्रमाणः ? समयः- एकसमयमात्रो भवतीति शेषः । घातित्रयस्य जघन्यानुभागबन्धः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये, मोहनीयस्य पुनरनिवृत्तिकरणगुणस्थानकस्य चरमसमये क्षपकस्य, गोत्रकर्मणस्तु सम्यक्त्वाभिमुखतायाश्चरमसमये सप्तमनारकस्य भवति, ततः प्रतिनियतसमये एव जघन्यानुभागबन्धस्य सद्भावात् उत्कर्षतोऽपि बन्धकाल एकसमयमात्रो भवति ॥१४५॥

विहिता सप्तप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य जघन्यत उत्कृष्टतश्च बन्धकालप्ररूपणा । इदानीं तासामेवाजघन्यानुभागबन्धप्ररूपणां कर्तुकाम आर्याद्वयेनाह---

भिन्नमुहुत्तं हस्सो अजहण्णरसस्स घाइगोआणं ।
दुअघाईणं समयो असंखलोगा गुरू तंमि ॥१४६॥
पंचण्ह अणाइधुवो अणाइअधुवो य साइअधुवो य ।
साइअधुवोऽत्थि परमो देसूणो अद्धपरिअट्टो ॥१४७॥

(प्रे०) **'भिन्नमुहुत्तं'** इत्यादि, घातिगोत्रयोः चतुर्घातिगोत्रकर्मणामजघन्यरसस्य ह्रस्वः--जघन्यो बन्धकाल इति गम्यते, भिन्नमुहूर्तमन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति, भावना त्वित्थम्-चतुर्घातिकर्मणामजघन्यानुभागस्य बन्धकालो जघन्यानुभागबन्धद्वयस्यान्तराले न लभ्यते, कुतः ? जघन्यानुभागः सकृदेव बध्यते न तु द्विः, क्षपकश्रेणौ प्राप्यमाणत्वात् तस्य । अतोऽबन्धमेवाश्रित्य स लभ्यते, तथाहि-यः कश्चिदुपशमश्रेणिं प्रतिपन्नो जन्तुः तेषामबन्धं कृत्वोपशान्तमोहगुणस्थानकं गच्छति । अद्धाक्षयेण ततश्च्युत्वा सूक्ष्मसम्परायादिगुणस्थानकं चागत्य चतुर्णां यथास्थानमजघन्यानुभागबन्धमारभते, ततः क्रमशः प्रतिपत्य प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानके तावदवतिष्ठते यावत्सर्वजघन्यकालेन क्षपकश्रेणिं

न प्रतिपद्यते। ततः तां क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते, प्रतिपद्य च घातित्रयस्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य, मोहनीयस्य पुनरनिवृत्तिकरणगुणस्थानकस्य द्विचरमसमयं यावदजघन्यानुभागबन्धं निर्वर्तयति, एतत्सर्वकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण एव भवति, अत एवाबन्धमधिकृत्य भणितः। एवमेव गोत्रकर्मणोऽपि भावना कर्तव्या नवरमत्र बन्धविच्छेदं यावदजघन्यानुभागस्य बन्धो वक्तव्यः, जघन्यानुभागबन्धस्य स्वामित्वेन सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमनारकस्यैव प्रागुक्तत्वात्। यद्वा जघन्यानुभागबन्धद्वयस्यान्तराले-ऽजघन्यानुभागबन्धस्य प्राप्यमाणत्वेन जघन्यबन्धद्वयस्यान्तरालापेक्षयाऽपि भावना द्रष्टव्या। **तथाहि**–गोत्रकर्मणो जघन्यानुभागस्वामी सम्यक्त्वाभिमुखः सप्तमनारकः, स हि सम्यक्त्वाभिमुखः सन् नीचैर्गोत्रं बध्नन् सम्यक्त्वाभिमुखतायाश्चरमसमये जघन्यानुभागमारचयति, तत ऊर्ध्वं सम्यक्त्वमासादयति तत्र च गोत्रकर्मणोऽजघन्यानुभागबन्धं प्रारभते, अन्तर्मुहूर्तात् परतः सम्यक्त्वात् भ्रष्ट्वा मिथ्यात्वं व्रजति, तत्रापि यथायोग्यं सर्वाल्पकालं यावदवस्थायाऽतिविशुद्धो भूत्वा सम्यक्त्वाभिमुखः सन् यदा सम्यक्त्वाभिमुखत्वस्य चरमसमये पुनर्जघन्यानुभागबन्धं विदधाति तदाऽजघन्यानुभागबन्धस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणो जघन्यकालो भवति। अनन्तरोक्तभावनाद्वये अबन्धप्रयुक्तो गोत्रकर्मणोऽजघन्यानुभागस्यापकृष्टबन्धकालोऽल्पतरः संभाव्यते।

'दुअघाईणं समयो' वेदनीयनामलक्षणयोर्द्वयघातिकर्मणोः समयप्रमाणो भवति। अजघन्यानुभागस्यापकृष्टबन्धकालः, इत्यनुवर्तते। स इत्यनेन सर्वनाम्ना प्रागनन्तरमेवोद्दिष्टं परामृशति ततश्च **'तेसि'** इति तयोर्वेदनीयनामकर्मणोरजघन्यानुभागस्य गुरुः प्रकृष्टो बन्धकालः असंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयाः। स त्वसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाण इत्यर्थः। कुतः? तयोः कर्मणोर्जघन्यानुभागबन्धः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जायमानोऽपि न यथाकथञ्चिज्जायते किन्तु तत्र वर्तमानानां जीवानां यदा सम्भवत्सर्वजघन्यानुभागबन्धप्रायोग्याध्यवसायो जायते तदैव भवति, स चाध्यवसायोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयप्रमाणकाले गते सति तथास्वाभाव्यादवाप्यते एव। अतो जघन्यानुभागबन्धद्वयस्यान्तरालवर्तिकालोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयप्रमाणः, तावत्कालं चाजघन्यानुभागस्य निरन्तरं बन्धो भवति। ततो वेदनीयनामकर्मणोरजघन्यानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशसमयप्रमाणो भवतीति। साम्प्रतं **'पंचण्ह'** इत्यादिना घातिचतुष्कस्य गोत्रस्य चाजघन्यानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकाल उच्यते-'पञ्चानाम्-' ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायमोहनीयगोत्रलक्षणानामजघन्यानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालस्त्रिविकल्पः तद्यथा–अनादिध्रुवः, अनाद्यध्रुवः साद्यध्रुवश्चेति ज्ञानावरणादिपञ्चानां जघन्यानुभागो गुणाभिमुखाद्यवस्थायामेव बध्यते अभव्यानां सम्यक्त्वादिगुणाभिमुखत्वाभावेन जघन्यानुभागबन्धाभावात् अजघन्यानुभागोऽनादिध्रुवः। भव्यानां पुनरनाद्यध्रुवः। अबन्धादुत्तीर्णानां तेषां साद्यध्रुवः। भावना तु यथासंभवमघातित्रयस्यानुत्कृष्टानुभागवत् कार्या। साद्यध्रुवलक्षणस्तृतीयो विकल्पो जघन्योत्कृष्टभेदाद् द्विविधः आदिकालान्तकालयोरियत्तोपेतत्वात्। तत्र जघन्यतः कालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः प्रागेवाभिहितः, प्रकर्षतः कालः कियत्प्रमाणः? इत्यारेकायामाह–

'साइअधुवोऽत्थि' इत्यादि, पश्चानां प्रकृतीनामजघन्यानुभागस्य साद्यध्रुवलक्षणतृतीयविकल्पस्य प्रकृष्टबन्धकालो देशोनापार्द्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणोऽस्ति कुतः ? अधिगतसम्यक्त्वस्य प्रकर्षतो देशोनार्द्धपुद्गलपरावर्तकाले गते सति नियमात् मुक्तिगमनसंभवेन बन्धाभावसंभवात् यदुक्तम्—

"अंतोमुहुत्तमित्त पि फासिअ हुज्ज जेहिं सम्मत्तं । तेसिं अवड्ढपुग्गलपरिअट्टो चेव संसारो ॥"

अत एव देशोनार्द्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणः प्रकर्षतो बन्धकालो भवतीति ॥१४६।१४७॥

अथायुःकर्मणो जघन्याजघन्यानुभागबन्धद्वयस्य जघन्यमुत्कृष्टञ्च बन्धकालं प्रदर्शयन्नाह—

मंदरसस्स जहण्णो समयो आउस्स होइ चउसमया ।
जेट्ठो इयरस्स लहू समयो परमो मुहुत्तंतो ॥१४८॥

(प्रे०) **'मंदरसस्स'** इत्यादि, आयुषो 'मन्दरसस्य' जघन्यानुभागस्य जघन्यो बन्धकालः समयः—एकसमयो भवति, **'जेट्ठो'** ज्येष्ठः प्रकृष्टो बन्धकालश्चतुस्समयप्रमाणो भवति, आयुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धप्रायोग्याध्यवसायस्यावस्थितेरुत्कृष्टतश्चतुःसमयप्रमाणत्वात् ,साम्प्रतमजघन्यानुभागस्य बन्धकालमाह-**'इयरस्स'** इत्यादि, इतरस्य—प्रागुक्तेतरस्याजघन्यानुभागस्येत्यर्थः, लघुः जघन्यो बन्धकालः समयप्रमाणो भवति, भावनानन्तरोक्तगाथावत् कर्तव्या । 'परमः' प्रकृष्टो बन्धकालो मुहूर्तान्तः—अन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति, अन्तर्मुहूर्तात् परतो नियमादायुर्बन्धस्य विरमादिति ॥१४८॥

तदेवमोघतः प्रदर्शितमष्टप्रकृतीनां जघन्याजघन्यानुभागबन्धद्वयस्य कालमानम् । साम्प्रतं लाघवार्थमादावायुष्कस्यादेशतः सविशेषं कालमानमोघवदतिदिशन्नाह—

एमेव जाणियव्वो सव्वासु णवरि होइ समयो वा ।
आहारमीसजोगे मंदऽणुभागस्स उक्कोसो ॥१४९॥

(प्रे०) **'एमेव'** इत्यादि, एवमेव—अनन्तरोक्तेन प्रकारेणैव सर्वासु मार्गणासु ज्ञातव्यः, आयुष्कस्य बन्धकाल इति प्रकरणगम्यम् । इदमुक्तं भवति—यथौघे आयुष्कस्य जघन्यानुभागस्य तथाऽजघन्यानुभागस्य जघन्यतः प्रकर्षतश्च बन्धकालः प्रदर्शितः तथैवादेशतोऽपि त्रिषष्ट्यधिकशतलक्षणासु सर्वासु मार्गणास्वपि वेदितव्यः । तद्यथा—आयुष्कस्य जघन्यानुभागस्य जघन्यो बन्धकाल एकसमयः, प्रकर्षतो बन्धकालश्चतुःसमयप्रमाणः । तथा तस्यैवाजघन्यानुभागस्यापकर्षतो बन्धकाल एकसमयः, प्रकर्षतो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः । कथं सर्वासु मार्गणास्वायुष्कस्य बन्धकाल ओघतुल्यो भवति ? उच्यते—आयुष्कस्य बन्धकालः सर्वत्रान्तर्मुहूर्तप्रमाण एव, ततोऽजघन्यानुभागस्य प्रकर्षतो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः सर्वत्रैव प्राप्यते, जघन्यत एकसमयः । तद्यथा—सर्वत्रायुर्बन्धाद्धाया द्विचरमसमये जघन्यानुभागं बद्ध्वा चरमसमये एकसमयमजघन्यानुभागं बध्नाति तदैकसमयो लभ्यते अथवा जघन्यानुभागबन्धद्वयस्यान्तराल एकसमयमजघन्यानुभागं बध्नाति तदैकसमयः सर्वत्र लभ्यते । आयु-

ष्कम्य सर्वत्र जघन्यानुभागबन्धप्रायोग्याध्यवसायस्यावस्थितेरुत्कर्षतश्चतुःसमयप्रमाणत्वात्त जघन्यानुभागोऽपि चतुःसमयं यावद् बध्यते ततः सर्वत्र जघन्यानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालश्चतुःसमयप्रमाणो भवति तथा तस्यैव जघन्यतो बन्धकालः सर्वत्रैकसमयः प्राप्यते,तत्कारणीभूताध्यवसायस्य जघन्यावस्थानस्य एकसमयप्रमाणत्वात् । अत एव सर्वासु मार्गणासु जघन्यानुभागबन्धस्याजघन्यानुभागबन्धस्य च बन्धकाल ओघवदभिहितः । अथ मतान्तरमधिकृत्याहारकमिश्रयोगे विशेषमाह–'**णवरि**' इत्यादि, नवरंशब्दो विशेषद्योतकः, विशेषश्चायम्–आहारकमिश्रयोगे मन्दानुभागस्य–जघन्यानुभागस्य उत्कृष्टो बन्धकालः समयमात्रो भवति,यद्यपि स्वामित्वद्वारे आयुःकर्मणो जघन्यानुभागबन्धस्य मतान्तरेण स्वामित्वं नोक्तम् ,तथाप्यत्र एकाभिप्रायेण जघन्यानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालश्चतुःसमयप्रमाणः प्रदर्शितः अभिप्रायान्तरेण पुनरेकसमयः तेनाहारकमिश्रयोग आयुःकर्मणो मतान्तरेण जघन्यानुभागस्य स्वामित्वं स्वयमेवाभ्यूह्यम् ॥१४९॥ इदानीं सप्तप्रकृतीनामादेशतो जघन्यानुभागस्य जघन्यतः प्रकर्षतश्च बन्धकालं चिचिन्तयिषुराह—

सव्वासु लहू समयो मंदऽणुभागस्स होइ सत्तण्हं ।
जेट्ठो णारगसत्तमणारगवेउव्वकिण्हासुं ॥१५०॥
घाईण चउण्ह हवइ समया दो वेअणीअणामाणं ।
समया चत्तारि भवे समयो गोअस्स विण्णेयो ॥१५१॥

(प्रे०) '**सव्वासु**' इत्यादि, सर्वासु–सप्तत्युत्तरशतमार्गणासु सप्तानाम्–आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनाम् , आयुष्कस्यानन्तरमेवाभिहितत्वात् , 'मन्दानुभागस्य' जघन्यानुभागस्य 'लघुः'जघन्यो बन्धकालः समयप्रमाणो भवति। अथ निरयगत्यादिमार्गणासु क्रमशः जघन्यानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालमानं निर्देष्टुकाम आह–'**जेट्ठो**' इत्यादिना, नारकसामान्य-सप्तमनारक-वैक्रियकाययोग-कृष्णलेश्यालक्षणासु चतसृषु मार्गणासु चतसृणां घातिप्रकृतीनां मन्दानुभागस्य ज्येष्ठः–प्रकृष्टो बन्धकालो द्विसमयप्रमाणो भवति, मार्गणाप्रायोग्यसर्वविशुद्धानां स्वभावस्थानां सम्यग्दृशां तज्जघन्यानुभागबन्धस्य सद्भावात्।'**वेअणीअणामाणं समया चत्तारि भवे**'इति वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालश्चत्वारः समयाः चतुःसमयप्रमाणो भवेत् । तत्कारणीभूताऽध्यवसायस्य चतुःसमयं यावदवस्थानात् ।तथा'**समयो गोअस्स विण्णेयो**'इति गोत्रस्य मन्दानुभागस्य प्रकृष्टो निरन्तरबन्धकालः समयःएकसमयमात्रो विज्ञेयः। कथम्? अभिमुखावस्थयाश्चरमसमये तद्बन्धस्य सद्भावात् , तथाहि–एतासु चतसृषु मार्गणासु सम्यक्त्वाभिमुखत्वस्य चरमसमये वर्तमानः-सप्तमपृथ्वीनारको गोत्रस्य जघन्यानुभागस्वामित्वेनोक्तः, ततः चरमसमयलक्षण एकसमयो जघन्यानुभागस्य निरन्तरबन्धकालो लभ्यत इति गाथाद्वयार्थः ॥१५०।१५१॥

अधुना शेषनिरयभेदेषु तथा तत्समानवक्तव्यत्वाऽन्यत्रापि तत्सममेव जघन्यानुभागस्य प्रकृष्ट-बन्धकालमानमार्याद्वयेनाह—

पढमाइछणिरयमयलपणिंदियतिरियअपज्जमणुसेसु
सुरगेविज्जंतेसु सव्वविगलभूदगवणेसु ॥१५२॥
असमत्तपणिंदियतसकायेसु दोण्णि होअए समया ।
घाईणं चत्तारो समया णेयो अघाईणं ॥१५३॥

(प्रे०) **'पढमाइ'** इत्यादि, प्रथमादिषण्नारकेषु–रत्नप्रभापृथ्वीत आरभ्य तमःप्रभापर्यन्तेषु षण्नरकभेदेषु,-'सकलपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु'-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्–तिर्यग्योनिमती-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणाभेदेषु इत्यर्थः, अपर्याप्तमनुष्यभेदे, 'सुरग्रैवेयकान्तेषु'–देवसामान्यभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कद्वादशकल्पोपपन्ननवग्रैवेयकलक्षणेषु पञ्चविंशतिदेवमार्गणाभेदेषु **'सर्वविकलभूदकवनेषु'**–सर्वशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सर्वविकलेषु-द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियलक्षणानां विकलानां प्रत्येकं सामान्यपर्याप्तापर्याप्तभेदभिन्नत्वात् नवसु विकलभेदेष्वित्यर्थः। सर्वभूभेदेषु– सप्तात्मकसर्वपृथ्वीकायभेदेषु सर्वदकभेदेषु–सप्तात्मकसर्वाप्कायभेदेषु, सर्ववनभेदेषु–एकादशसंख्याकसर्ववनस्पतिकायभेदेषु, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदे, अपर्याप्तत्रसकायभेदे चेत्येतेषु द्वाषष्टिमार्गणाभेदेषु घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य प्रकृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ–द्विसमयप्रमाणो भवति। कथम्? एतेषु द्वाषष्टिमार्गणाभेदेषु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धो मार्गणाप्रायोग्यसर्वविशुद्धानां स्वभावस्थानामेव भवति न त्वभिमुखत्वप्राप्तानाम्, सर्वविशुद्धाध्यवसायस्य च प्रकृष्टतोऽवस्थानं द्विसमयप्रमाणं लभ्यते, अत एव तज्जघन्यानुभागबन्धकालोऽपि द्विसमयप्रमाणो भणितः। अथाघातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालमाह–**'चत्तारो'** इत्यादि, अघातिनाम्–वेदनीयनामगोत्रलक्षणानां जघन्यानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालश्चतुःसमयप्रमाणो ज्ञेयः, एतासु द्वाषष्टिमार्गणासु ह्यघातिनां जघन्यानुभागः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यते, न त्वभिमुखावस्थायां न वा स्वस्थानविशुद्ध्यादेरिति ॥१५२।१५३॥

सम्प्रति तिर्यग्गत्यादिमार्गणासु जघन्यानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालं गाथाद्वयेनाह—

तिरियपणऽणुत्तरसयलएगिंदियतेउवाउभेएसु ।
ओरालमीसविक्कियमीसाहारदुगणीलासु ॥१५४॥
काउअभवियेसु तह सासणअमणेसु वेअणामाणं ।
चत्तारो समया दो समया सेसाण पंचण्हं ॥१५५॥

(प्रे०) **'तिरियपणऽणुत्तर'** इत्यादि, 'तिर्यक्पञ्चानुत्तरसकलैकेन्द्रियतेजोवायुभेदेषु' तिर्यक्सामान्यभेदे, पञ्चानुत्तरदेवभेदेषु, सप्तसंख्याकसर्वैकेन्द्रियभेदेषु सकलशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् सकलतेजःकायभेदेषु-सप्तसंख्याकसर्वतेजःकायभेदेषु, सकलवायुकायभेदेषु-सप्तसंख्याकसर्ववायुकायभेदेषु च 'औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्राहारकद्विकनीलासु' औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्राहारकाहारकमिश्रकाययोगभेदेषु नीललेश्याभेदे, कापोतलेश्याभेदे अभव्यभेदे, तथाशब्दः समुच्चयार्थः। **'सासण असण्णेसु'**सास्वादनासंज्ञिभेदद्वये चेत्येतेषु षट्त्रिंशन्मार्गणाभेदेषु वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यानुभागबन्धस्य,प्रकृष्टो बन्धकाल इत्यनुवर्तते,चत्वारः समयाः चतुःसमयप्रमाण इत्यर्थः। परावर्तमानमध्यमपरिणामेन तयोर्जघन्यरसस्य बध्यमानत्वात्, शेषाणां बन्धकालः कियत्प्रमाणः ? इत्याह—**'दो समया'** इत्यादि—शेषाणां ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायगोत्रलक्षणानां पञ्चानां जघन्यरसस्य प्रकृतबन्धकालो द्विसमयप्रमाणो, भवतीति शेषः। कथम् ? एतेषु षट्त्रिंशन्मार्गणाभेदेषु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धः स्वभावस्थानां सर्वविशुद्धानां भवति तेषां जघन्यरसबन्धकारणीभूताध्यवसायस्य प्रकर्षतो द्विसमयप्रमाणमेवावस्थानं भवति, अत एव जघन्यानुभागस्य निरन्तरबन्धकालो द्विसमयप्रमाणो भवति। यासु मार्गणासु गोत्रकर्मणो जघन्यानुभागबन्धः परावर्तमानपरिणामेनाथवाऽभिमुखावस्थायामेव न भवति, तासु मार्गणासु तद्बन्धकालो द्विसमयप्रमाण एव भवति। तथाहि—पञ्चानुत्तराहारकाहारकमिश्रयोगभेदेषु केवलोच्चैर्गोत्रप्रकृतिर्बध्यते, तज्जघन्यरसस्तु मार्गणाप्रायोग्यसर्वसंक्लेशेन स्वभावस्थानां तत्तन्मार्गणावर्तिजीवानां बध्यते, अत एव गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धो द्विसमयं यावद् भवति, शेषैकोनत्रिंशन्मार्गणासु नीचैर्गोत्रस्य बन्धं प्रतीत्य गोत्रस्य जघन्यरसो बध्यते, तत्र तत्प्रायोग्यसर्वविशुद्ध एव गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धं निर्वर्तयति। तद्यथा—वैक्रियमिश्राभव्यसास्वादनमार्गणासु स्वभावस्थः सप्तमनारकः तथा षड्विंशतिमार्गणासु स्वभावस्थस्तेजःकायिको वायुकायिको वा स्वामित्वेनोक्तः, अत एवात्र गोत्रस्यापि जघन्यानुभागबन्धकालो द्विसमयप्रमाणः संघटते। अत्रेदमप्यवधेयम्—त्रिमिश्रयोगेषु चतुर्घातिनां गोत्रस्य च जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टतोऽपि कालोऽन्यमतेन समयप्रमाणो विज्ञेयः ॥१५४।१५५॥ अथ क्रमप्राप्तेषु मनुष्यगतिभेदेषु तथा तत्तुल्यवक्तव्यत्वादन्येष्वपि मार्गणाभेदेषु जघन्यानुभागस्य प्रकृष्टकालमानं प्रतिपादयति—

तिणरेसुं इत्थीए पुरिसे सुक्लाअ होअए समयो।
चउघाईणं चउरो समया णेयो अघाईणं ॥१५६॥

(प्रे०) **'तिणरेसु'** इत्यादि, 'त्रिनरेषु'मनुष्यसामान्य-मनुष्ययोनिमती-पर्याप्तमनुष्यभेदेषु, स्त्रीवेदभेदे, पुरुषवेदभेदे, शुक्ललेश्याभेदे चेत्येतेषु षट्सु मार्गणाभेदेषु चतुर्घातिनां जघन्यानुभागस्य प्रकृष्टो बन्धकालः समयः-एकसमयमात्रो भवति, क्षपकश्रेणेः प्रतिनियतसमय एव प्रकृतजघन्यानुभागस्य बन्धसद्भावात्। 'अघातिनां'—वेदनीयनामगोत्रलक्षणानां त्र्यघातिकर्मणां जघन्यानुभागस्य

प्रकर्षतो बन्धकालश्चतुःसमयप्रमाणो ज्ञेयः। परावर्तमानमध्यमपरिणामेन तस्य बन्धसद्भावात् ॥१५६॥

साम्प्रतमौदारिककाययोगक्षायिकसम्यक्त्वभेदद्वये प्रस्तुतकालमानमाह—

ओरालियखइएसु णेयो समयो चउण्ह घाईणं ।
गोअस्स दुवे समया चउसमया वेअणामाणं ॥१५७॥

(प्रे०)'**ओरालियखइएसु**'इत्यादि,औदारिककाययोगक्षायिकसम्यक्त्वभेदद्वये चतसृणां घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य प्रकर्षतो बन्धकालः समयः एकसमयप्रमाणो ज्ञेयः। क्षपकश्रेणौ सूक्ष्मसम्परायस्य चरमसमये एव बन्धसद्भावात् , '**गोअस्स दुवे समया**' गोत्रस्य द्विसमयप्रमाणो जघन्यानुभागस्योत्कृष्टो बन्धकालो भवति, कुतः ? औदारिककाययोगे गोत्रस्य जघन्यानुभागस्वामी नीचैर्गोत्रं बध्नन् तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्धस्तेजःकायिको वायुकायिको वा प्रागभिहितः, तथा क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां केवलमुच्चैर्गोत्रं बध्यते, तत्र मार्गणाप्रायोग्यस्वस्थानसर्वसंक्लिष्टः क्षायिकसम्यग्दृष्टिरुच्चैर्गोत्रस्य जघन्यानुभागं बध्नाति मार्गणाप्रायोग्यस्वस्थानविशुद्धिस्तादृक्संक्लेशो वोत्कृष्टतः समयद्वयं तिष्ठति अत एव प्रस्तुतमार्गणाद्वये गोत्रस्य जघन्यानुभागस्य प्रकर्षतो बन्धकालो द्विसमय एव । '**चउसमया वेअणामाणं**' वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यानुभागस्य प्रकर्षतो बन्धकालश्चतुःसमयप्रमाणो भवति, भावना चात्र पूर्ववदवगन्तव्या ॥१५७॥

इदानीं कार्मणकाययोगादिभेदेषु जघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टकालं भणितुकाम आह—

कम्माणाहारेसु समयतिगं होइ वेअणामाणं ।
सेसाण भवे समयो सव्वेसिं पि गयवेअसुहुमेसु ॥१५८॥ [गीतिः]

(प्रे०)'**कम्माणाहारेसु**'इत्यादि,कार्मणकाययोगानाहारकमार्गणयोर्वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यानुभागस्य प्रकृष्टो बन्धकालः समयत्रिकं–त्रिसमयप्रमाणो भवति, एतन्मार्गणयोः प्रत्येकं त्रिसमयप्रमाणकायस्थितेः सद्भावात् । '**सेसाण**'–उक्तशेषाणां–पञ्चानां प्रकृतीनामित्यर्थः, जघन्यानुभागस्य बन्धकालः समयप्रमाणो भवेत् ,कुतः ? अत्र घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागस्वामी सर्वविशुद्धः सम्यग्दृष्टिर्भवति, गोत्रस्य तु नीचैर्गोत्रं बध्नन् तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्धः सप्तमनारको भवति तत्र प्रतिनियतसमय एव बन्धसद्भावात् जघन्यानुभागस्य प्रकर्षतोऽपि बन्धकाल एकसमयमात्रो भवति ।

अथापगतवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये प्रकृतकालमानमाह– '**सव्वेसिं**' इत्यादि, सर्वासाम्–सप्तप्रकृतीनामित्यर्थः, अपिशब्दोऽनन्तरोक्तसमयशब्दानुकर्षी, ततश्चावेदक-सूक्ष्मसंपरायमार्गणयोः क्रमशः सप्तानां षण्णां जघन्यानुभागस्य प्रकर्षतोऽपि बन्धकालः समयमात्रः । कथम् ? अत्र घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धः क्षपकश्रेणौ स्वस्वबन्धविच्छेदसमये भवति, अघातित्रयस्य तु श्रेणितः पतत उपशामकस्य मार्गणायाश्चरमसमये भवति, प्रतिनियतसमये एव जघन्यानुभागस्य बन्धसद्भावात् प्रकर्षतोऽपि बन्धकाल एकसमयमात्रो भवतीति ॥१५८॥

अथ परिहारवेदकभेदद्वये तदेव बन्धकालमानमाह—

परिहारवेअगेसुं समयो दोण्णि समया व घाईणं ।
गोअस्स भवे समयो चउसमया वेअणामाणं ॥१५९॥

(प्रे०) 'परिहारवेअगेसु' इत्यादि, 'परिहारवेदकयोः' परिहारविशुद्धिसंयमभेदे तथा वेदकसम्यक्त्वभेदे घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य प्रकर्षतो बन्धकालः समयः–एकसमयमात्रो भवति, कथम् ? अत्र कृतकरणाऽद्धाया अर्वाक्समये अप्रमत्तमुनीनां घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धो भवति, ततः प्रतिनियतसमये एव बन्धसद्भावेन तस्य प्रकृष्टः कालः समयमात्र उक्तः । वाशब्दो मतान्तरद्योतकः, ततश्चान्यमते 'दोण्णि' इत्यादि, घातिकर्मणां जघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टकालो द्विसमयप्रमाणो भवति, तन्मते स्वभावस्थः साकारादिविशेषणविशिष्टोऽप्रमत्तमुनिः प्रकृतानुभागस्य स्वामित्वेन विवक्षितः, अतः प्रतिनियतसमये एव जघन्यानुभागस्य बन्धभावात् घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागस्य प्रकृष्टो बन्धकालो द्विसमयप्रमाणो भवतीति ।

तथा 'गोअस्स भवे समयो' गोत्रस्य जघन्यानुभागस्य प्रकर्षतो बन्धकालः समयमात्रो भवेत् , कुतः ? अत्र केवलोच्चैर्गोत्रस्य बन्धसद्भावेन गोत्रकर्मणः परावृत्तिर्न भवति, ततः संक्लेशेन जघन्यानुभागबन्धो भवति, स च बन्धोऽभिमुखावस्थायाः चरमसमयलक्षणे प्रतिनियतसमये एव भवति,अत एव गोत्रस्य जघन्यानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालः समयमात्रः । तथा 'वेअणामाणं' इत्यादि, वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यानुभागस्य प्रकृष्टो बन्धकालश्चतुःसमयप्रमाणो भवेत् , परावर्तमानमध्यमपरिणामेन तयोर्जघन्यानुभागस्य बन्धसद्भावादिति ॥१५९॥

अधुना तेजःपद्मलेश्यामार्गणाद्वये तदेव कालमानं कथयन् तथा शेषमार्गणास्वोघवदतिदिशन्नाह—

तेउपउमासु समयो दो समया वा चउण्ह घाईणं ।
चत्तारि अघाईणं सत्तण्होघव्व सेसासुं ॥१६०॥

(प्रे०) 'तेउपउमासु'इत्यादि,तेजःपद्मलेश्यामार्गणाद्वये चतसृणां घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य प्रकर्षतो बन्धकालः समयः-एकसमयमात्रः,कृतकरणाद्धायाः अर्वाक्समयलक्षणे नियतसमय एव जघन्यानुभागबन्धस्य प्रवर्त्तनात् । अत्र वाशब्दो मतान्तरं सूचयति,तेन मतान्तरमाश्रित्य कालमानमाह-'दो समया'इति मतान्तरेण घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालः द्वौ समयौ द्विसमयप्रमाण इत्यर्थः,कुतः ? एतन्मते साकारादिविशेषणविशिष्टः स्वस्थानविशुद्धोऽप्रमत्तमुनिः तज्जघन्यरसबन्धस्य स्वामित्वेन विवक्षितः,स्वस्थानविशुद्धिस्तूत्कृष्टतः समयद्वयं तिष्ठति ततो घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागस्य प्रकृष्टो बन्धकालो द्विसमयप्रमाणो भवति । तथा'चत्तारि अघाईणं' इति अघातिनाम्-तिसृणामघातिप्रकृतीनामित्यर्थः, जघन्यानुभागस्य प्रकृष्टो बन्धकालश्चतुःसमयप्रमाणो भवति ।

अत्र गोत्रकर्मणोऽपि परावृत्त्या बन्धो भवति, ततः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेनाघातित्रयस्य जघन्यानुभागबन्धो लभ्यते, अत एवाघातित्रयस्य जघन्यानुभागस्यप्रकृष्टबन्धकालश्चतुःसमयप्रमाण इति।

शेषमार्गणासु सप्तानां जघन्यानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकाल ओघवद् भवति, तथाहि—ओघे घातिचतुष्कस्य गोत्रस्य च प्रकृतबन्धकालः समयमात्र उक्तः, वेदनीयनामकर्मणोस्तु चतुःसमयप्रमाणो भणितः,तथैव शेषासु द्वाचत्वारिंशन्मार्गणासु घातिचतुष्कस्य गोत्रस्य च जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो वेदितव्यः। शेषद्वाचत्वारिंशन्मार्गणास्तु इमाः-पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियत्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगसामान्य-नपुंसकवेद-क्रोध-मान-माया-लोभकषाय-त्र्यज्ञान-चतुर्ज्ञान-संयमसामान्य-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-देशविरत्यसंयम-चक्षुरचक्षुरवधिदर्शन-भव्य-सम्यक्त्वसामान्योपशम-मिश्र-मिथ्यात्व-संज्ञ्याहारिलक्षणा इति। यद्यप्येताभ्यः कासुचिन्मार्गणासु जघन्यरसबन्धस्वाम्योघप्ररूपणोक्तस्वामितः विसदृशोऽस्ति तथापि सर्वत्र घातिचतुष्कस्य गोत्रस्य च जघन्यानुभागबन्धोऽभिमुखाद्यवस्थायाः प्रतिनियतसमय एव भवतीति हेतोः सर्वत्र पञ्चानां प्रकृतबन्धकालः समयमात्रो भवति। वेदनीयनामकर्मणोस्तु ओघवदिहापि सर्वासु मार्गणासु जघन्यानुभागबन्धः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यते ततस्तयोः सर्वत्र जघन्यानुभागबन्धकालश्चतुःसमयप्रमाणो भवति। अत एतासु द्वाचत्वारिंशन्मार्गणासु सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकाल ओघवदतिदिशन्नाह ग्रन्थकारः—'**सत्तण्ह**' इत्यादि, गतार्थम् ॥१६०॥

तदेवमादेशतः सप्तानां जघन्यानुभागस्य द्विविधं बन्धकालं निरूप्य साम्प्रतं तासामेवाजघन्यानुभागस्यापकृष्टबन्धकालं निर्दिदिक्षुराह—

अलहुरसस्स जहण्णो होइ णिरयचरमणिरयकिण्हासुं।
गोअस्स मुहुत्तंतो समयो सेसाण छण्ह भवे ॥१६१॥

(प्रे०) '**अलहुरसस्स**' इत्यादि, नरकसामान्यसप्तमनरककृष्णलेश्यालक्षणासु तिसृषु मार्गणासु गोत्रस्याऽलघुरसस्य–अजघन्यानुभागस्य 'जघन्यः'–अपकृष्टो बन्धकालो 'मुहूर्तान्तः'-अन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति, शेषाणां षण्णां घातिचतुष्कस्य वेदनीयानामकर्मणोश्चेत्यर्थः, प्रस्तुतबन्धकालः समयमात्रो भवेदित्यक्षरार्थः। **भावार्थः पुनरयम्**–यासां मार्गणानां कायस्थितिर्जघन्यतोऽपि समयादधिकाः, यत्रैव पुनर्यासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धोऽभिमुखाद्यवस्थायाः प्रतिनियतसमय एव भवति अपि च यत्राबन्धमाश्रित्याजघन्यानुभागस्य बन्धकालः समयमात्रो नैव भवति, तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनामजघन्यानुभागस्यापकृष्टो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवतीति **नियमः**। तद्व्यतिरिक्तासु मार्गणासु तु प्रकृतबन्धकालः समयमात्रो भवति। **तथाहि**–अत्र नियमे दलत्रयम्, तत्र कायस्थितिर्जघन्यतोऽपि समयादधिका इत्यनुक्ते विभङ्गादिमार्गणासु घातिचतुष्कस्य गोत्रस्य चाजघन्यानुभागस्य बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवेत्। अभिमुखाद्यवस्थायाः प्रतिनियत-

समय एव जघन्यानुभागस्य बन्धसद्भावात्, अबन्धमाश्रित्याजघन्यरसस्य बन्धाभावाच्च। ततस्तदतिव्याप्तिवारणाय कायस्थितिर्जघन्यतोऽपि समयादधिका इति प्रथमदलमुपात्तम्। विभङ्गादिमार्गणानां जघन्यकायस्थितेरेकसमयप्रमाणत्वेन तासां प्रकृतीनामजघन्यानुभागस्यापकर्षतो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो न भवति, किन्तु समयमात्रः।

तथा यासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धोऽभिमुखाद्यवस्थायाः प्रतिनियतसमये एव भवतीत्यनुक्ते तिर्यग्गत्यादिमार्गणासु सप्तप्रकृतीनामजघन्यानुभागस्यापकर्षतो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो लभ्येत, जघन्यतोऽपि कायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् अबन्धमाश्रित्याजघन्यरसस्य बन्धाभावाच्च। ततस्तन्निषेधार्थं द्वितीयदलमभिहितम्, तिर्यग्गत्यादिमार्गणासु नैकस्यापि कर्मणो जघन्यानुभागबन्धोऽभिमुखाद्यवस्थायाः प्रतिनियतसमय एव भवति, ततोऽजघन्यानुभागस्यापकृष्टो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो न भवति, किन्तु समयमात्र इति वक्ष्यते। तथाऽबन्धमाश्रित्याजघन्यरसस्य बन्धकालः समयमात्रो न भवतीत्यनुक्ते मनुष्यादिमार्गणासु घातिचतुष्कस्याजघन्यानुभागस्य लघुकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः प्रसज्येत। कुतः? मनुष्यादिमार्गणानां जघन्यतोऽपि कायस्थितिरन्तर्मुहूर्तादिप्रमाणा, तत्र च घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागोऽभिमुखाद्यवस्थायाः प्रतिनियतसमय एव बध्यते अत एव तासु मार्गणास्वन्तर्मुहूर्तप्रमाणस्य अजघन्यानुभागबन्धकालस्यातिप्रसङ्गः, तन्निवारणाय तृतीयदलस्य प्रयोजनम्, मनुष्यादिमार्गणासु घातिचतुष्कस्य प्रतिनियतसमय एव जघन्यानुभागबन्धसद्भावेऽप्यबन्धमाश्रित्याजघन्यरसस्य समयप्रमाणस्य बन्धकालस्य प्राप्यमाणत्वेन तत्कालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो न भवति किन्तु समयप्रमाणः। इदमुक्तं भवति–मनुष्यादिमार्गणासु कश्चिद् जन्तुरुपशमश्रेणिमारुह्य घातिचतुष्कस्याबन्धं कृत्वोपशान्तमोहगुणस्थानके विश्राम्यति, पश्चादद्धाक्षयेण ततश्च्युत्वा स्वस्वबन्धस्थाने समयं यावद् घातिचतुष्कस्याजघन्यानुभागं निर्वर्त्य कालं करोति तत ऊर्ध्वं प्रस्तुतमार्गणाया अभावात् मनुष्यादिमार्गणासु घातिचतुष्कस्याजघन्यानुभागस्य बन्धकालः समयमात्रो लभ्यते, एवं तृतीयदलस्य प्रवेशेन मनुष्यादिमार्गणासु प्रागुक्तोऽतिप्रसङ्गोऽपाक्रियते।

ननु काययोगमार्गणायां प्रागुक्तनियमस्यातिप्रसक्तिः गोत्रकर्मसत्काजघन्यानुभागस्य अबन्धमनाश्रित्यापि जघन्यबन्धकालस्य समयप्रमाणत्वात्, तथाहि–काययोगमार्गणायाः कायस्थितिः समयादधिका, अत्र गोत्रकर्मणो जघन्यानुभागबन्धः प्रतिनियत समये एव भवति, सम्यक्त्वाभिमुखत्वस्य चरमसमये सप्तमनारकस्य तज्जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेनाभिहितत्वात्। तथा चात्र गोत्रकर्मणः श्रेणिसत्काबन्धमाश्रित्य समयमात्रोऽजघन्यानुभागस्य बन्धकालोऽपि न भवति, तत एतद्दलत्रयस्य प्रवेशादतिप्रसक्तिः संजाता। सा चेत्थम्–सप्तमनारकस्य सम्यक्त्वाभिमुखावस्थाया द्विचरमसमये काययोगस्य प्रारम्भो भवति, ततः स काययोगी सन् तस्मिन् समये तस्याजघन्यानुभागमेव बध्नाति, ततश्च चरमसमये तस्य जघन्यानुभागं निर्वर्तयति, ततोऽजघन्यानुभागस्य समयमात्रो

लघुबन्धकालः श्रेणिसत्कावन्धं विनाऽपि लभ्यते, एवं तदजघन्यरसबन्धः श्रेणिसत्कावन्धमाश्रित्य समयमात्रो न भवति, इत्थं दलत्रयप्रवेशेनाऽपि जघन्यबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो न जायते, ततोऽतिप्रसक्तिः समापतिता। इति चेन्न, यद्यपि काययोगमार्गणायां गोत्रस्याजघन्यानुभागस्य जघन्यबन्धकालः समयमात्रोऽबन्धं विनाऽपि प्राप्यते, तथापि यत्राबन्धमाश्रित्याजघन्यानुभागस्य बन्धकालः समयमात्रो नैव भवति इति तृतीयदलं वक्तुं काययोगमार्गणायां न युज्यते, अबन्धमाश्रित्याऽपि समयमात्रस्य तद्बन्धकालस्य लभ्यमानत्वात्। तथाहि–यदा काययोगमार्गणायाः प्रारम्भ उपशमश्रेणौ सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये भवति, तत्र समयं यावद् गोत्रस्याजघन्यानुभागबन्धो भवति, तत ऊर्ध्वं तदबन्धो भवति तदाऽबन्धमाश्रित्य गोत्रस्याऽजघन्यानुभागस्य बन्धकालः समयमात्रो भवति,ततोऽबन्धमाश्रित्य समयमात्रो नैव भवतीति वक्तुं न युज्यते, तेन प्रागुक्तनियमस्याप्रवेशादतिप्रसङ्ग एव न भवति। अथ प्रस्तुते घटना क्रियते–अत्र नरकसामान्य-सप्तमनरक-कृष्णलेश्यासु तिसृषु मार्गणासु कायस्थितिः समयाद्धिकप्रमाणा,तथा गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धः सम्यक्त्वाभिमुखावस्थायाश्चरमसमयलक्षणे प्रतिनियतसमये एव भवति,तथाऽबन्धाभावाद्-बन्धमाश्रित्याजघन्यानुभागस्य बन्धोऽपि न भवति,ततः प्रागुक्तनियमेन गोत्रस्याजघन्यानुभागस्य लघुबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति,शेषाणां षण्णां प्रकृतीनामजघन्यानुभागोऽभिमुखावस्थायाः प्रतिनियतसमये न बध्यते ततस्तासामजघन्यानुभागस्य लघुबन्धकालः समयप्रमाणो भवति,स च बन्धकालो जघन्यानुभागबन्धद्वयस्यान्तराले समयं यावदजघन्यानुभागस्य बन्धो भवति तदा प्राप्यत इति ॥१६१॥

अथ यासु मार्गणासु घातिचतुष्कस्य गोत्रस्य चाजघन्यानुभागस्य लघुबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो वेदनीयनामकर्मणोस्तु समयप्रमाणो भवति तासु मार्गणास्वावेदयेनाह—

दुपणिंदितसेसुं तह दुअणाणतिणाणदेसअयतेसुं ।
दरिसणतिगम्मि भविये सम्मत्ते उवसमे मीसे ॥१६२॥
मिच्छत्ते सण्णिम्मि य विण्णेयो वेअणिज्जणामाणं ।
समयो भिन्नमुहुत्तं णेयो सेसाण पंचण्हं ॥१६३॥

(प्रे०) 'दुपणिंदितसेसु'–इत्यादि, द्विशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् द्विपञ्चेन्द्रिययोः पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियरूपयोः। द्वित्रसयोः–त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायलक्षणयोर्मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानरूपयोर्द्व्यज्ञानयोः,मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानलक्षणेषु त्रिज्ञानभेदेषु देशविरत्यसंयमभेदयोः, दर्शनत्रिके–चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनरूपेषु त्रिषु दर्शनभेदेषु, भव्ये, सम्यक्त्वसामान्योपशमसम्यक्त्व-मिश्रसम्यक्त्वभेदेषु, मिथ्यात्वभेदे, संज्ञिमार्गणाभेदे चेत्येतेषु विंशतिमार्गणाभेदेषु वेदनीयनाम-कर्मणोरजघन्यानुभागस्य लघुबन्धकालः समयमात्रो भवति, कुतः ? परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन-

तयोर्जघन्यानुभागबन्धो भवति, अभिमुखाद्यवस्थायाः प्रतिनियतसमये जघन्यानुभागस्य बन्धाभावेन जघन्यानुभागबन्धद्वयस्यान्तराले समयं यावदजघन्यानुभागबन्धस्य सम्भवात्, यद्वा यथासंभवं यदा मार्गणाया द्विचरमसमये जघन्यानुभागबन्धो भवति तदनन्तरं चरमसमये अजघन्यानुभागबन्धो भवति तदा समयमात्रो लघुकालः प्राप्यते,एवमग्रेऽपि समयमात्रस्याजघन्यानुभागसत्कजघन्यबन्धकालस्य यथासंभवं भावना कर्तव्या।

अथ शेषप्रकृतीनां प्रकृतकालः कियत्प्रमाणः ? इत्याह–'**भिन्नमुहुत्तं**' इत्यादि, शेषाणां पञ्चानां–ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायगोत्रप्रकृतीनामजघन्यानुभागस्य जघन्यो बन्धकालो भिन्नमुहूर्तमन्तर्मुहूर्तप्रमाणो ज्ञेयः। कुतः ? प्रागुक्तनियमस्य प्रवेशात्, तथाहि–एतासां विंशतिमार्गणानां जघन्यकायस्थितिः समयादधिकप्रमाणा, तथा घातिचतुष्कस्य गोत्रस्य च जघन्यानुभागबन्धोऽभिमुखाद्यवस्थायाः प्रतिनियतसमये एव भवति तथाऽत्राबन्धमाश्रित्याजघन्यानुभागस्य बन्धकालः समयमात्रो न लभ्यते, ततो दलत्रयमत्र संपूर्णं घटते, एवमेतासु विंशतिमार्गणासु पञ्चानामजघन्यानुभागस्य लघुबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति।

ननु पञ्चेन्द्रियादिमार्गणासूपशमश्रेणौ तासां प्रकृतीनामबन्धो भवति, तर्हि तासामजघन्यानुभागस्याबन्धप्रयुक्तो बन्धकालः कथं समयप्रमाणो न भवेत् ? उच्यते–श्रेणौ कालकरणेनाऽपि प्रकृतमार्गणायाः परावृत्तेरभावात्। तथाहि–पञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु यः कश्चिद् जन्तुरुपशमश्रेणिमारुह्योपशान्तमोहगुणस्थानकेऽबन्धं कृत्वा विश्राम्यति, अद्धाक्षयेण ततोऽवतीर्य स्वस्वबन्धस्थाने समयं यावत्तासामजघन्यानुभागस्य बन्धं कृत्वा कालं करोति स देवेषूत्पद्यते, तत्र च पञ्चेन्द्रियादिमार्गणानां सद्भावः, तत्राप्यजघन्यानुभागस्य बन्धो निरवच्छिन्नो भवति, अत एवाजघन्यानुभागस्याबन्धप्रयुक्तो बन्धकालः समयप्रमाणो न भवतीति।

ननु सूक्ष्मसम्परायादिगुणस्थानकस्य चरमसमये घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धो भवद्भिरुक्तः। तर्हि सोऽनुभागबन्धो मत्यज्ञानादिमार्गणासु कथं प्राप्यते ? ततोऽभिमुखाद्यवस्थायाः प्रागुक्तनियमस्य च का वार्ता ? अत्रोच्यते–जघन्याद्यनुभागबन्धस्वामी स्वस्वमार्गणामेवाश्रित्य भवति, तत आदेशतः सर्वत्र कालादिप्ररूपणा स्वस्वमार्गणाप्रायोग्यजघन्यादिरसबन्धस्वामिनमधिकृत्यैव कर्तव्या। अत एव मत्यज्ञानादिमार्गणासु घातिप्रकृतीनां जघन्याद्यनुभागबन्धस्वामी स्वस्वमार्गणाऽपेक्षया बोद्धव्यः, मत्यज्ञानादिमार्गणासु संयमाभिमुखत्वस्य चरमसमये घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धो भवति तेन प्रागुक्तनियमोऽपि तत्र सुतरां घटते। पञ्चेन्द्रियसामान्यत्रससामान्यसंज्ञिमार्गणासु घातिकर्मणां क्षपकस्य, गोत्रस्य पुनः सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमनारकस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन प्रागुक्तत्वात् स्वजघन्यकायस्थितिकपञ्चेन्द्रियादिमार्गणावर्ती मार्गणाजघन्यकायस्थित्यात्मकक्षुल्लकभवं यावत् पञ्चानामजघन्यमेवानुभागं बध्नाति, तदनन्तरं च मार्गणान्तरं व्रजेत् तदा

क्षुल्लकभवप्रमाणो प्रस्तुतानुभागस्य जघन्यबन्धकालो भवति स च बन्धकालोऽबन्धप्रयुक्ताजघन्यानुभागबन्धकालापेक्षया लघीयान्, तद्युक्तिश्चानुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धकालस्य प्ररूपणायां प्रागभिहितत्वादत्र न निरूप्यते । तथा पर्याप्तपञ्चेन्द्रियपर्याप्तत्रसकायचक्षुरचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणासु यथौघे नामवेदनीयवर्जपञ्चप्रकृतीनामजघन्यानुभागस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणजघन्यबन्धकालस्याऽबन्धद्वयान्तरालादिकमाश्रित्य घटना दर्शिता तथैव कर्तव्या, अथवा पर्याप्तपञ्चेन्द्रियपर्याप्तत्रसकायचक्षुर्दर्शनमार्गणासु ओघभाविताजघन्यानुभागबन्धजघन्यकालाद् मार्गणाजघन्यकायस्थितिकालो यदि लघीयान् तदा तदपेक्षया भावना विधेया । तथा मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-देशविरति-मिश्र-मिथ्यात्वमार्गणासु घातिचतुष्कस्य गोत्रस्य चाजघन्यानुभागबन्धस्यान्तर्मुहूर्तकालः स्वस्वजघन्यकायस्थितिमाश्रित्य बोद्धव्यः, तासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धानन्तरं मार्गणायाः परावर्तनेन जघन्यानुभागबन्धद्वयस्यान्तरालेऽजघन्यानुभागस्याप्राप्यमाणत्वात्, श्रेणेरभावेन श्रेणिमत्काबन्धमाश्रित्याजघन्यानुभागबन्धमत्कजघन्यकालस्यासंभवाच्च । असंयममार्गणायामपि घातिचतुष्कस्याजघन्यानुभागबन्धस्यान्तर्मुहूर्तकालः स्वजघन्यकायस्थितिमाश्रित्य बोद्धव्यः । भावना चात्र पूर्ववत्कार्या, यद्यपि गोत्रस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणोऽजघन्यानुभागबन्धकालो जघन्यानुभागबन्धद्वयस्यान्तराले प्राप्यते तथापि स्वजघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तकालस्य लघुतरत्वात् तदपेक्षया प्रकृतबन्धकालस्याऽन्तर्मुहूर्तं ज्ञातव्यम् । तथा त्रिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वोपशममार्गणासु स्वजघन्यकायस्थितिमाश्रित्य तथाऽबन्धमाश्रित्य पञ्चानामजघन्यानुभागस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणो बन्धकालो लभ्यते, घटना चेत्थम्—एतन्मार्गणावर्तिजीव उपशमश्रेणिमारुह्याऽबन्धं करोति, ततोऽद्धाक्षयेण प्रतिपतति, तत्र पञ्चानामजघन्यानुभागं निर्वर्तयितुं प्रारभते, ततः क्रमशः प्रतिपत्य प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानके किञ्चित्कालमवस्थाय तत्राजघन्यानुभागं बद्ध्वा शीघ्रं मार्गणान्तरं गच्छेत्, पुनर्बन्धादारभ्य मार्गणान्तरगमनं यावत् सर्वोऽपि कालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण एव इत्थमबन्धमाश्रित्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो बन्धकालः प्राप्यते, अत्र हि जघन्यकायस्थितिमत्काऽबन्धमत्कान्तर्मुहूर्तकालयोर्मध्ये यो लघुतरः कालो लभ्यते, तदपेक्षयाऽजघन्यस्य बन्धकालस्य घटना कार्येति ॥१६२।१६३॥

अथ पुरुषवेदशुक्लेश्याक्षायिकसम्यक्त्वभेदेषु सप्तानामजघन्यानुभागस्य जघन्यबन्धकालं निदर्शयितुकाम आह—

पुरिसमुइलखइएसु भिन्नमुहुत्तं चउण्ह घाईणं ।
पयडीण अघाईणं तिण्हं समयो मुणेयव्वो ॥१६४॥

(प्रे०) 'पुरिससुइलखइएसु' इत्यादि, पुरुषवेदशुक्ललेश्याक्षायिकसम्यक्त्वमार्गणाभेदेषु चतसृणां घातिप्रकृतीनामजघन्यानुभागस्य जघन्यबन्धकालो भिन्नमुहूर्तम्-अन्तर्मुहूर्तप्रमाण इत्यर्थः, प्रागुक्तनियमस्य प्रवेशात्, तथाहि–एतासां मार्गणानां जघन्यतोऽपि कायस्थितिः समयादधिक-

प्रमाणा, घातिचतुष्कस्य च जघन्यानुभागबन्धः क्षपकस्य प्रतिनियतसमय एव भवति, तथाऽबन्धप्रयुक्तोऽजघन्यानुभागस्य बन्धकालः समयमात्रो न भवति, श्रेणौ कालकरणेनापि मार्गणापरावृत्तेरभावात्। अत एवात्र घातिचतुष्कस्याजघन्यानुभागस्य जघन्यो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो ज्ञातव्यः। सम्प्रति त्र्यघातिप्रकृतीनां प्रकृतबन्धकालमानमाह–'**पयडीण**' इत्यादि, तिसृणामघातिनीनां प्रकृतीनां समयः-समयप्रमाणो ज्ञातव्यः, अजघन्यानुभागस्य जघन्यबन्धकाल इत्यनुवर्तते, अत्र परावर्तमानमध्यमपरिणामेनाघातित्रयस्य जघन्यानुभागबन्धो भवति, ततो जघन्यानुभागबन्धद्वयान्तराले समयं यावदजघन्यानुभागस्य बन्धो यदा भवति तदा समयप्रमाणोऽघातित्रयस्याजघन्यानुभागस्य जघन्यबन्धकालो भवति ॥१६४॥ परिहारवेदकमार्गणाद्वये तमेवाह—

परिहारवेअगेसुं घाईणंतोमुहुत्तमुअ समयो।
गोअस्स मुहुत्तंतो समयो खलु वेअणामाणं ॥१६५॥

(प्रे०) '**परिहारवेअगेसु**' इत्यादि, परिहारवेदकयोः-परिहारविशुद्धिसंयमवेदकसम्यक्त्वमार्गणाद्वये घातिनाम्–चतुर्घातिप्रकृतीनामजघन्यानुभागस्य जघन्यबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवतीति शेषः। अत्र घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धः कृतकरणाद्धाया अर्वाक्समये भवति, मार्गणायाः कायस्थितिः समयादधिका, अबन्धप्रयुक्तोऽजघन्यानुभागस्य बन्धकालोऽपि समयप्रमाणो न लभ्यते। एवं प्रागुक्तनियमस्य प्रवेशात् प्रकृतबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति। अथ मतान्तरमधिकृत्य विचार्यते '**उअ**' इत्यादिना, उतशब्दो मतान्तरद्योतकः, मतान्तरेण समयः- समयमात्रो भवति, अस्मिन् मते घातिचतुष्कस्य, जघन्यानुभागबन्धः सर्वविशुद्धानां स्वभावस्थानां भवति, नत्वभिमुखाद्यवस्थाप्राप्तानामेव। तत एतन्मतमधिकृत्य समयमात्रो बन्धो भवति। तथा '**गोअस्स मुहुत्तंतो**' गोत्रस्याजघन्यानुभागस्य बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति, प्रागुक्तनियमस्य प्रवेशात्। तथा '**समयो खलु वेअणामाणं**' खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, वेदनीयनामकर्मणोरजघन्यानुभागस्य बन्धकालः समयमात्रः, भवतीतिशेषः, परावर्तमानेन परिणामेन तयोर्बन्धसद्भावात्। ॥१६५॥ अथोक्तशेषमार्गणास्वाह–

तेउपउमासु समयो भिन्नमुहुत्तं व होइ घाईणं।
समयो तिअघाईणं समयो सत्तण्ह सेसासुं ॥१६६॥

(प्रे०) '**तेउपउमासु**' इत्यादि, तेजःपद्मलेश्यामार्गणाद्वये घातिनामजघन्यानुभागस्य जघन्यो बन्धकालः समयः, मतान्तरेणाऽन्तर्मुहूर्तम्, त्र्यघातिनां स एकसमयः। **भावना त्वित्थम्**–इह हि घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभाग एकेन मतेन कृतकरणाद्धाया अर्वाक्समयलक्षणे प्रतिनियतसमय एव भवति तयोः कायस्थितिर्जघन्यतोऽपि समयादधिकप्रमाणा, तथा श्रेणिसत्काऽबन्धाभावात् घातिचतुष्कस्याजघन्यानुभागस्य जघन्यबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तमेव भवति। द्वितीयमतेन पुनस्तासामेव जघन्यानुभागः स्वभावस्थानां मार्गणाप्रायोग्यसर्वविशुद्धानामेव भवति, न त्वभिमुखाद्य-

वस्थाप्राप्तानामेव . ततस्तन्मतेन घातिप्रकृतीनामजघन्यानुभागस्य लघुबन्धकालः समयमात्रो भवति, स चैकसामयिको बन्धो जघन्यानुभागबन्धद्वयस्यान्तराले भवति, अथवा यदा मार्गणाया द्विचरमसमये जघन्यानुभागं बद्ध्वा चरमसमयेऽजघन्यानुभागं बध्नाति, तत ऊर्ध्वं मार्गणायाः परावृत्तिर्भवति, तदाऽजघन्यानुभागस्य लघुबन्धकालः समयमात्रो भवति, तथाऽत्र त्र्यघातिप्रकृतीनामजघन्यानुभागः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यते ततस्तासामजघन्यानुभागस्य जघन्यबन्धकालः समयप्रमाणो जघन्यानुभागबन्धद्वयान्तरालादिना भवति ।

अथ शेषमार्गणासु तमेवाह–'**समयो सत्तण्ह सेसासु**' इति शेषासु भणितोद्वरितासु चत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः, सप्तानाम्–आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामजघन्यानुभागस्यापकृष्टो बन्धकाल इति प्रस्तावाद् गम्यते, 'समयः' समयमात्रः, प्रागुक्तनियमस्याऽप्रवेशात् , इदमुक्तं भवति–एतासु मार्गणासु नियमस्तत्कत्रिद्लेष्वन्यतरस्याभावेन प्रागुक्तनियमस्याप्रवेशात् सप्तानामजघन्यानुभागस्य लघुकालः समयमात्रो भवति ।

शेषमार्गणाः नामत इमाः–गतिमार्गणास्थानस्य नरकसामान्यसप्तमनरकमार्गणाद्वयवर्जशेषपञ्चचत्वारिंशन्मार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदद्वयवर्जनसप्तदशमार्गणाः, कायमार्गणास्थानस्य त्रससामान्य-पर्याप्तत्रसभेदद्वयवर्जचत्वारिंशद्मार्गणाः, योगमार्गणास्थानस्य सर्वभेदत्रभेदयुक्ताष्टादशमार्गणाः, स्त्रीनपुंसकापगतवेदमार्गणाः, चतुष्कषायमार्गणाः, ज्ञानमार्गणास्थानस्य मनःपर्यवविभङ्गज्ञानमार्गणे, संयमसामान्यसामायिकछेदोपस्थापनीयसूक्ष्मसम्पराय-मार्गणाः, नीलकापोतलेश्यामार्गणे, अभव्यमार्गणा, सास्वादनमार्गणा, असंज्ञिमार्गणा, आहारकानाहारकमार्गणे चेति चत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणाः ।

अत्र सप्तप्रकृतीनामजघन्यानुभागस्यापकृष्टो बन्धकालः समयमात्रो यथा भवति तथैव भावयामः—इह चत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणाभ्यः कासाञ्चिद् मार्गणानां जघन्यतः कायस्थितिः समयप्रमाणा, कासाञ्चित् पुनः समयादधिकामाणा, यासां मार्गणानां जघन्यतः कायस्थितिः समयप्रमाणा, तत्र सप्तानामजघन्यानुभागस्य जघन्यतो बन्धकालः समयप्रमाणः, इत्थं तावत् स्वजघन्यकायस्थितिमाश्रित्य वेदितव्यः । द्वितीया पुनर्घटनेत्थं कर्त्तव्या- कासुचित् मार्गणासु कासाञ्चित्प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धः प्रतिनियतसमय एव न भवति कासाञ्चित्प्रकृतीनां पुनर्भवति, अथ यासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धः प्रतिनियतसमय एव न भवति, तासां प्रकृतीनामजघन्यानुभागस्य समयप्रमाणो जघन्यकालो जघन्यानुभागबन्धद्वयस्यान्तराले प्राप्यते, अथवा यदा मार्गणाया द्विचरमसमये जघन्यानुभागं बद्ध्वा चरमसमयेऽजघन्यानुभागं बध्नाति तदाऽप्यजघन्यानुभागस्य बन्धकालः समयमात्रो भवति, तद्यथा–मनोयोगादिमार्गणासु वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यानुभागबन्धः प्रतिनियतसमये एव न भवति ततो यदा जघन्यानुभागबन्धद्वयान्तराले तयोः समयं यावदजघन्यानु-

भागं बध्नाति तदा प्राप्यते, अथवा मार्गणाया द्विचरमसमये जघन्यानुभागस्य बन्धो भवति तदनन्तरं समयं यावदजघन्यानुभागस्य बन्धो भवति, ततश्च मार्गणायाः परावृत्तिस्तदाऽपि प्रकृतबन्धकालः समयमात्रो भवति ।

तथा यासां प्रकृतीनां पुनर्जघन्यानुभागबन्धः प्रतिनियतसमये एव भवति तासां प्रकृतीनामजघन्यानुभागस्य समयमात्रोऽपकृष्टो बन्धकालः जघन्यानुभागबन्धप्रयुक्तो वाऽबन्धप्रयुक्तो वा लभ्यते तथाहि–मनोयोगादिमार्गणासु घातिचतुष्कस्य गोत्रस्य च जघन्यानुभागबन्धः प्रतिनियतसमय एव भवति ततश्चात्र घातिचतुष्कस्य गोत्रस्य च जघन्यानुभागबन्धप्रयुक्तो वाऽबन्धप्रयुक्तो वा प्रकृतबन्धकालः समयमात्रः प्राप्यते, तद्यथा–घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धः क्षपकश्रेणौ भवति, ततश्च जघन्यानुभागबन्धाऽर्वाक्समयेयदि मनोयोगादिमार्गणानां प्रारम्भो भवति, तदा मार्गणाप्रथमसमये तस्याजघन्यानुभागं बद्ध्वा द्वितीयसमये जघन्यानुभागं बध्नाति तदनन्तरं च घातिचतुष्कस्य बन्धविच्छेदो भवति,एवं घातिचतुष्कस्याजघन्यानुभागस्य समयमात्रो लघुबन्धकालः प्राप्यते,गोत्रस्य पुनर्जघन्यानुभागबन्धः सम्यक्त्वाभिमुखस्य चरमसमये सप्तमनारकस्य भवति । ततश्चात्र यदा जघन्यानुभागस्य बन्धानन्तरं समयमात्रा मनोयोगादिमार्गणानामवस्थितिर्भवति तदा मनोयोगादिमार्गणासु गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धानन्तरमजघन्यानुभागस्य जघन्यो बन्धकालः समयप्रमाणोऽवाप्यते । अबन्धमाश्रित्य घटना चेत्थम्- मनोयोगादिमार्गणासूपशमश्रेणिसत्काबन्धो भवति ततश्च यद्यबन्धस्थानतोऽर्वाक्समये एव मार्गणानां प्रारम्भो भवति,तदा एकसामयिकाऽजघन्यानुभागबन्धानन्तरं तासां प्रकृतीनां बन्धविच्छेदो भवति, एवमजघन्यानुभागस्य लघुबन्धकालः समयप्रमाणो भवति । यद्वोपशमश्रेणेः प्रतिपतन् तद्बन्धस्थानं प्राप्य तत्र समयं यावदजघन्यानुभागं बद्ध्वा मार्गणान्तरं व्रजति तदा समयमात्रः प्रकृतबन्धकालः प्राप्यते ।

तथा शेषचत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणासु यासां मार्गणानां जघन्यतः कायस्थितिः समयादधिकप्रमाणा, तासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागोऽभिमुखाद्यवस्थायाः प्रतिनियतसमये न भवति, तासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धद्वयस्यान्तराले अजघन्यानुभागस्य समयप्रमाणोऽपकृष्टो बन्धकालो लभ्यते, अथवा यदि मार्गणानां द्विचरमसमये तासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागं बद्ध्वा चरमसमये तासामजघन्यानुभागं बध्नाति ततश्च मार्गणानां परावृत्तिर्जायते तदाऽजघन्यानुभागस्य बन्धकालः समयप्रमाणो लभ्यते । तथा चात्र प्रथमादिनरकमार्गणानां जघन्यतः कायस्थितिः समयादधिकप्रमाणा, तथा सप्तानां जघन्यानुभागः प्रतिनियतसमये एव न भवति ततस्तत्र सप्तानामजघन्यानुभागस्यापकृष्टबन्धकालः समयमात्रोऽनन्तरोक्तनीत्या प्राप्यते ।

तथा यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागोऽभिमुखाद्यवस्थायाः प्रतिनियतसमये एव भवति तासां प्रकृतीनामजघन्यानुभागस्य समयप्रमाणो जघन्यो बन्धकालोऽबन्धप्रयुक्तः प्राप्यते ।

तच्चैवम्-मनुष्यादिमार्गणानां कायस्थितिः समयादधिकप्रमाणा, तत्र घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागः क्षपकश्रेणेः प्रतिनियतसमये भवति, एवं तासां प्रकृतीनामजघन्यानुभागस्य समयप्रमाणो तत्र जघन्यो बन्धकालोऽबन्धप्रयुक्तः प्राप्यते । तथाहि–कश्चिद् जन्तुरुपशमश्रेणिमारुह्य सप्तानामनुभागस्याऽबन्धं कृत्वोपशान्तमोहगुणस्थानके विश्राम्यति, उपशान्ताद्धाक्षयेण ततोऽवरोहन् तासां प्रकृतीनां समयं यावदजघन्यानुभागं निर्वर्त्य कालं करोति,ततश्च मनुष्यादिमार्गणानां परावृत्तिः,एवं मनुष्यादिमार्गणास्वजघन्यानुभागस्य समयप्रमाणोऽबन्धप्रयुक्तो जघन्यो बन्धकालो भवति ॥१६६॥

तदेवं सप्तानामजघन्यानुभागस्य जघन्यबन्धकालं निगद्य साम्प्रतं तस्यैव प्रकृष्टं बन्धकाल निरूपयन्नाह—

जेट्ठो तिरिकायणपुमअभवियअमणेसु वेअणामाणं ।
णेयो असंखलोगा पंचण्ह असंखपरिअट्टा ॥१६७॥

(प्रे०) 'जेट्ठो' इत्यादि, तिर्यक्सामान्यकाययोगनपुंसकवेदाभव्यासंज्ञिलक्षणासु पञ्चसु मार्गणासु वेदनीयनामकर्मणोरजघन्यानुभागस्य प्रकृष्टो बन्धकालो'असंख्येयलोकाः' असंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयविनिर्मिताऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्य इत्यर्थः । तथा 'पञ्चानां' चतुर्घातिगोत्रप्रकृतीनामजघन्यानुभागस्य, प्रकृष्टो बन्धकाल इत्यनुवर्तते असंख्येयपरावर्ताः–असंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणोऽनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणो ज्ञेय इत्यक्षरार्थः ।

भावार्थः पुनरेवम्–अत्र वेदनीयनामकर्मणोः परावर्तमानमध्यमपरिणामरूपो जघन्यानुभागबन्धप्रायोग्याऽध्यवसायो भवति,तस्य चाध्यवसायस्य सहजावस्थायामेव प्राप्यमाणत्वेनोत्कर्षतोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयप्रमाणकाले व्यतीते सति पुनरपि सोऽवश्यमेव प्राप्यते यतो विशिष्टभवगुणाद्यवस्थायामेव प्राप्तानामध्यवसायानां पुनः प्राप्तौ वनस्पतिकायस्थित्यादिना व्याघातो भवति। किन्तु सहजावस्थायां प्राप्तानामध्यवसायानां तद्व्याघातो न भवति । एतासां च चतसृणां मार्गणानां प्रत्येकं कायस्थितिरनन्तकालप्रमाणा, अभव्यमार्गणायाः पुनरनाद्यपर्यवसिता, तत एतन्मार्गणासु वर्तमानो जन्तुः प्रकर्षतोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयप्रमाणे काले व्यतीते जघन्यरसबन्धप्रायोग्यमध्यवसायमवश्यमेवावाप्नोति,अतो यथोक्तं कालं यावदेव आसु पञ्चसु मार्गणासु वेदनीयनामकर्मणोरजघन्यानुभागबन्धो भवति। तथा तिर्यक्सामान्यासंज्ञिमार्गणयोर्गोत्रकर्मणस्तेजःकायिको वायुकायिको वा जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन प्रागभिहितः । तत एतन्मार्गणाद्वये वर्तमानस्य जन्तोरसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणवनस्पतिकायस्थितिं यावज्जघन्यानुभागस्य बन्धाभावेन तावत्कालं निरन्तरमजघन्यानुभागस्यैव बन्धो भवति तत ऊर्ध्वमपि यावत् तेजःकायवायुकायत्वे तज्जघन्यानुभागबन्धप्रायोग्याध्यवसायस्तस्य न प्राप्यते तावत् तस्याजघन्यानुभागबन्धस्यैव प्रवर्त्तनात् एतन्मार्गणाद्वये गोत्रस्याजघन्यानुभागस्य निरन्तरबन्धकालोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणो भणितः । काय-

योगनपुंसकवेदयोः पुनर्गोत्रस्य सम्यक्त्वाभिमुखः सप्तमनारको जघन्यानुभागस्वामित्वेन पुरा प्रदर्शितः,ततः कस्यचित् स्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावत् सम्यक्त्वगुणस्य प्राप्त्यभावेन तावत्कालमजघन्यरस एव बध्यते कायस्थितिश्चोत्कृष्टतोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणा निरूपिता। अभव्यमार्गणायां पुनः साकारादिविशेषणविशिष्टः सप्तमनारकः स्वस्थानविशुद्धो गोत्रस्य जघन्यरसबन्धकतया प्रतिपादितः, ततोऽभव्यमार्गणावर्तिजन्तुरसंज्ञिकायस्थितिं यावदजघन्यानुभागमेव बध्नाति तत्पश्चाद् यावद् गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धको न भवति, तावत् तस्याजघन्यानुभागस्यैव प्रवर्त्तनादभव्यमार्गणायां गोत्रस्याजघन्यानुभागस्य प्रकृष्टो बन्धकालोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणो निगदितः ।

तिर्यक्सामान्यमार्गणायां घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धो देशविरतित्वे एव भवति, काययोगनपुंसकवेदमार्गणयोः पुनः क्षपकश्रेणौ, ततस्तद्गुणमप्राप्तानां मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिं यावदजघन्य एवानुभागो बध्यते । अभव्यमार्गणायां पुनः संज्ञी,तथाऽसंज्ञिमार्गणायां पञ्चेन्द्रियो घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन प्रागुक्तः । ततोऽभव्यमार्गणायामसंज्ञिकायस्थितिं यावत् तथा असंज्ञिमार्गणायां पुनरेकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिं यावत् तस्याजघन्यानुभागो निरन्तरं बध्यते, एवमेतासु पञ्चसु मार्गणासु घातिचतुष्कस्याजघन्यानुभागस्य प्रकृष्टो बन्धकालो तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थित्यात्मकाऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणो भवतीति ॥१६७॥ साम्प्रतमेकेन्द्रियमार्गणायां सप्तानामजघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टं कालमानमाह—

एगिंदियम्मि जेट्ठा सगकायठिई हवेज्ज गोअस्स ।
सेसाणं विण्णेयो छण्हं लोगा असंखेज्जा ॥१६८॥

(प्रे०) **एगिंदियम्मि**'इत्यादि,एकेन्द्रियसामान्यमार्गणायां गोत्रस्याजघन्यानुभागस्य,प्रकृष्टो बन्धकाल इत्यनुवर्तते,कियत्प्रमाणः ? इत्याह—'ज्येष्ठा स्वकायस्थितिः' स्वोत्कृष्टकायस्थितितुल्यो भवेत् , शेषाणां षण्णां-चतुर्घातिवेदनीयनामप्रकृतीनामसंख्येयलोका असंख्येयलोकाशप्रदेशतुल्यसमयप्रमाण इत्यर्थः ।**इयमत्र भावना**—अत्र गोत्रकर्मणो जघन्यानुभागस्वामित्वेन बादरतेजःकायिको बादरवायुकायिको वा निर्दिष्टः । तत एकेन्द्रियमार्गणावर्ती जन्तुर्वनस्पतिकायस्थितिं यावत् गोत्रकर्मणोऽजघन्यानुभागमेव विदधाति । तत ऊर्ध्वमपि यावत्कालं जघन्यानुभागं न बध्नाति तावान् कालस्तत्र पूरणीयः । एवमेकेन्द्रियमार्गणायामसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणां स्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावद् गोत्रस्याजघन्यरसस्यैव बन्धो भवति । तथा घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागस्वामी बादरैकेन्द्रियः, वेदनीयनामकर्मणोः पुनः परावर्तमानमध्यमपरिणामी, ततो वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यानुभागबन्ध एकेन्द्रियमार्गणायाः सर्वभेदप्रभेदेषु लभ्यते, एवं वनस्पत्यादिकायस्थित्यादिना व्याघाताभावादसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयप्रमाणे काले व्यतीते जघन्यानुभागबन्धप्रायोग्याऽध्यवसायोऽवश्यमेव प्राप्यते,घातिचतुष्कस्य सूक्ष्मादिषु जघन्यानुभागो न बध्यते, तेन सूक्ष्मकायस्थितिप्रमाणकालस्य व्यवधानं

भवति, ततः सूक्ष्मकायिककायस्थितिकालतः सुतरामधिककालो लगति, तेषां कायस्थितिकालस्त्वसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितः ततोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणकाले गते सति बादरत्वेऽवश्यमेव जघन्यानुभागबन्धप्रायोग्याध्यवसायमवाप्नोति सूक्ष्मोत्कृष्टकायस्थितिमतिवाह्य बादरत्वं प्राप्तानां प्रायः जघन्यरसबन्धप्रवर्त्तनात् ॥१६८॥

अथ सप्तानामजघन्यानुभागस्यासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणो निरन्तरबन्धकालो यासु मार्गणासु भवति तासु तथैवाह—

सुहुमेगिंदियपुहवीदगतेउअणिलणिगोअकायेसुं ।
पणकायनिगोएसुं सत्तण्ह असंखिया लोगा ॥१६९॥

(प्रे०) **'सुहुमेगिंदिय'** इत्यादि, सूक्ष्मशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् सूक्ष्मैकेन्द्रियसूक्ष्मपृथ्वीकायसूक्ष्माप्कायसूक्ष्मतेजःकायसूक्ष्मवायुकायसूक्ष्मनिगोदमार्गणासु, तथा 'पञ्चकायनिगोदेषु' पृथ्वीकायाऽप्कायतेजःकायवायुकायवनस्पतिकायलक्षणासु पञ्चसु कायसामान्यमार्गणासु साधारणवनस्पतिकायसामान्यमार्गणायां चेत्येतासु द्वादशमार्गणासु सप्तप्रकृतीनामजघन्यानुभागस्य प्रकृष्टो बन्धकालोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयप्रमाणो भवति ।

इयमत्र भावना—वनस्पतिकायसामान्यसाधारणवनस्पतिकायसामान्यमार्गणयोः प्रत्येकं कायस्थितिरनन्तकालः, तथा वेदनीयनामगोत्रकर्मणां जघन्यानुभागः परावर्तमानमध्यमपरिणामेनैव बध्यते, जघन्यरसबन्धप्रायोग्यपरावर्त्तमानमध्यमपरिणामस्याऽपर्याप्तसूक्ष्मादिष्वपि लभ्यमानत्वेन सूक्ष्मादिकायस्थित्यादिना व्याघातो न भवति, ततोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणकाले गते जघन्यानुभागबन्धप्रायोग्याध्यवसायः प्राप्यते एव, तत एतन्मार्गणावर्तिजन्तुः प्रकृष्टतोऽप्यसंख्येयलोकप्रदेशप्रमितसमयप्रमाणकालं यावदेवाजघन्यानुभागं बद्धुमर्हति । तथात्र घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन बादरः प्रागुक्तः, तत एतन्मार्गणावर्त्ती कश्चिज्जन्तुरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणसूक्ष्मकायस्थितिं यावदजघन्यानुभागमेव बध्नाति, तत ऊर्ध्वं बादरत्वं प्राप्तः सन् यावन्तं कालं घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धं विना गमयितुं शक्यते तावन्तं कालं विगमय्य जघन्यानुभागबन्धं विदधाति,एषः अजघन्यरसबन्धस्य सर्वकालोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितो भवति । यद्यपि षट्सूक्ष्ममार्गणानां कायस्थितिरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा तथापि पृथ्व्यादिपञ्चसूक्ष्मभेदेषु सप्तप्रकृतीनां, सूक्ष्मैकेन्द्रियभेदे च गोत्रवर्जानां षण्णामजघन्यरसस्य निरन्तरप्रकृष्टबन्धकालोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितसमयप्रमाण एव, नवरं स कायस्थित्यपेक्षयाऽसंख्येयगुणहीनो वेदितव्यः सूक्ष्माणां स्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावदसंख्येयवारं जघन्यानुभागबन्धस्य प्रवर्तनात् ॥ १६९ ॥

अथ यासु मार्गणासु सप्तप्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टकाल ओघवद् भवति तासु मार्गणासु तथैवातिदिशन्नाह—

ओघव्व अणाणदुगे असंयमाचक्खुभवियमिच्छेसुं ।
सत्तण्ह णवरि भविये धुवो ण सेसासु सगुरुकायठिई ॥१७०॥ [गीतिः]

(प्रे०) '**ओघव्व**' इत्यादि, 'अज्ञानद्विके' द्वयज्ञानमार्गणयोः, असंयमाचक्षुर्दर्शनभव्यमिथ्यात्वमार्गणासु सप्तप्रकृतीनामजघन्यानुभागस्य प्रकृष्टो बन्धकाल ओघवद् भवति, तद्यथा–वेदनीयनामकर्मणोरजघन्यानुभागस्य प्रकृष्टो बन्धकालोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयप्रमाणः। तथा चतुर्घातिगोत्रप्रकृतीनामनादिध्रुवः, अनाद्यध्रुवः साद्यध्रुवश्चेति त्रिविकल्पः, साद्यध्रुवलक्षणस्य तृतीयभङ्गस्य प्रकृष्टः कालो देशोनापार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणो भवति। भावना चेयम्–एतासु षट्सु मार्गणासु वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यानुभागः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यते, स च परिणामः सर्वत्र लभ्यते, अत एव तस्य कार्यस्थित्यादिना व्याघातो न भवति, असति च व्याघाते जघन्याद्यनुभागबन्धप्रायोग्याध्यवसायानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणकाले गते सत्यवश्यमेव पुनः प्राप्तिर्भवति, अत एव तयोरजघन्यानुभागस्य प्रकृष्टो बन्धकालोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणः प्रोक्तः। तथाऽज्ञानद्विकाऽसंयममिथ्यात्वमार्गणासु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धः संयमाभिमुखावस्थायाश्चरमसमये, अचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणयोः पुनः क्षपकश्रेण्यां भवति, तथा एतासु षट्स्वपि मार्गणासु गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धः सप्तमपृथ्वीनारकस्य सम्यक्त्वाभिमुखावस्थायाश्चरमसमये भवति। एवं पञ्चप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्य गुणाभिमुखावस्थायामेव सम्भवेनाऽभव्यानाश्रित्याऽनादिध्रुवलक्षणः प्रथमो भङ्गः। भव्यानाश्रित्याऽनादिसान्तलक्षणो द्वितीयो भङ्गः। अचक्षुर्भव्यमार्गणयोरबन्धादुत्तीर्णान् अज्ञानद्विकादिचतसृषु मार्गणासु मार्गणान्तरादागतान् भव्यानाश्रित्य सादिसान्तलक्षणस्तृतीयो भङ्गो वेदितव्यः, षण्मार्गणाविषया विशेषभावनाऽत्रात्यनुत्कृष्टरसबन्धवत्कार्या।

तथा भव्यमार्गणायाः कायस्थितेरेकजीवमाश्रित्यानादिसपर्यवसितत्वात्, तत्रानादिध्रुवलक्षणो विकल्पो न घटते अत एव तत्रापवादमाह–'**णवरि भविये धुवो ण**' इति, नवरंशब्दो विशेषद्योतकः, शेषं सुगमम्। अथ शेषमार्गणासु सप्तानामजघन्यानुभागस्य बन्धकालः स्वस्वकायस्थितितुल्योऽभिधीयते'**सेसासु सगुरुकायठिई**'इति उक्तशेषासु षट्चत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः सप्तानामजघन्यानुभागस्य प्रकृष्टो बन्धकालः स्वगुरुकायस्थितिः–स्वस्वोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणः। कायस्थितिः पुनरादेशतः शेषमार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालप्ररूपणाऽवसरे यथा प्रदर्शिता तथैवात्रापि ज्ञातव्या।

इमाश्च ताः षट्चत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणाः गतिमार्गणास्थानस्य तिर्यक्सामान्यवर्जशेषषट्चत्वारिंशद्मार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्यैकेन्द्रियसामान्यसूक्ष्मैकेन्द्रियभेदद्वयवर्जसप्तदशमार्गणाः, कायमार्गणास्थानस्य पृथ्वीकायसामान्यसूक्ष्मपृथ्वीकायभेदद्वयवर्जपञ्चपृथ्वीकायमार्गणा-ऽप्कायसामान्यसूक्ष्माप्कायभेदद्वयवर्जपञ्चाप्कायमार्गणा-तेजःकायसामान्यसूक्ष्मतेजःकायभेदद्वयवर्जपञ्चतेजः—

कायमार्गणा-वायुकायसामान्यसूक्ष्मवायुकायभेदद्वयवर्जपञ्चवायुकायमार्गणा-वनस्पतिकायसामान्यसाधारणवनस्पतिकायसामान्यसूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायभेदत्रयवर्जाष्टवनस्पतिकायमार्गणा-त्रित्रसकायलक्षणा एकत्रिंशद्मार्गणाः, काययोगसामान्यवर्जसप्तदशयोगमार्गणाः, वेदमार्गणास्थानस्य स्त्रीवेदपुरुषवेदापगतवेदलक्षणास्त्रिमार्गणाः, चतुष्कषायमार्गणाः ज्ञानमार्गणास्थानस्य मत्यज्ञानश्रुताज्ञानवर्जपञ्चमार्गणाः, संयममार्गणास्थानस्यासंयमवर्जषण्मार्गणाः, चक्षुरवधिदर्शनमार्गणे, लेश्यामार्गणास्थानस्य षण्मार्गणाः, सम्यक्त्वमार्गणास्थानस्य मिथ्यात्ववर्जषण्मार्गणाः, संज्ञिमार्गणा, आहारकानाहारकमार्गणे चेति । एतासां मार्गणानामुत्कृष्टा कायस्थितिरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणकालतोऽत्यल्पतरा, रसबन्धाध्यवसायाः पुनरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः, ततो मार्गणावर्तिनोऽनेके जीवाः मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिकालं यावत् सप्तकर्मणां जघन्यानुभागबन्धप्रायोग्याध्यवसायं न प्राप्नुवन्ति । अत एवैतासु मार्गणासु सप्तानामजघन्यानुभागस्य प्रकृष्टबन्धकालः स्वकायस्थितितुल्यः प्रोक्तः ॥१७०॥ प्रस्तुतद्वारोक्तार्थसंग्रहपराणि बन्धकालप्रदर्शकयन्त्रकाणि त्विमानि –卐

तदेवं निरूपित आदेशतोऽजघन्यानुभागस्य बन्धकालः,तन्निरूपणे चावसित ओघादेशाभ्यामजघन्यानुभागस्य बन्धकालः, तदवसाने च समर्थित ओघादेशाभ्यां जघन्याजघन्यानुभागयोर्बन्धकालः, तत्समर्थने च समाप्त ओघादेशाभ्यामुत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याजघन्यानुभागबन्धकालः, तत्समाप्तौ च गतं "काल" इत्यनेनोद्दिष्टं सप्तमं कालद्वारम् ।

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे प्रथमाधिकारे सप्तमं कालद्वारं समाप्तम् ॥



卐 एकजीवाश्रितबन्धकालप्रदर्शकयन्त्रकाणि दिदृक्षवः पाठकाः पश्यन्तु १३७ तमादीनि पृष्ठानि ।

अष्टप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्यैकजीवाश्रितकालप्रदर्शकं यन्त्रम्

ओघत —अष्टानामुत्कृष्टरसस्यैकजीवाश्रितबन्धकालो जघन्यतः १ समयः। उत्कृष्टतः पुनर्घातिचतुष्कस्याऽऽयुष्कस्य च २ समयौ, अघातित्रयस्य तु १ समय एव। (गाथा-१२६, १२९)

आदेशत.—सर्वत्र (१६३ मा०) आयुष्कस्योत्कृष्टरसस्य जघन्यबन्धकाल. १ समय', उत्कृष्टबन्धकाल २ समयौ नवरम् आहारकमिश्रमार्गणाया मतान्तरेणोत्कृष्ट बन्धकालोऽपि १ समय, । (गाथा-१३०)
सर्वासु १७० मार्गणासु सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य जघन्यबन्धकालः १ समयो विज्ञेयः, उत्कृष्टतो बन्धकाल' पुनर्निम्नलिखितयन्त्रकादवसेय.। (गाथा-१३१)

आयुर्वर्जसप्तकर्मणाम उ० रसस्य उ० कालः—

मार्गणा.-	२ समयौ	१ समयः	१ समयः २ समयौ वा	७ नाम्-१समय. अथवा अघा.३-२समयौ	७नाम्-२समयौ अथवा अघा.३-१ स.	卐	शेष० ओघवत्-
गति०	सर्वनिरय०-सर्व-तिर्यग्०-अपर्या.मनु.-सर्वदेव०=४४						त्रिमनु० ३
इन्द्रिय०	सर्वैकेन्द्रिय०सर्ववि-कल०अपर्या पञ्चे १७						द्विपञ्चे० २
काय०	सर्वपृथ्व्यादिभेदा:३९ अपर्या०त्रस०=४०						द्वित्रस० २
योग०	वैक्रिय० आहा० २	कार्मण० १	त्रिमिश्र० ३				शेष० १२
वेद०		अवेद० १					त्रिवेद० ३
कषाय०							सर्व० ४
ज्ञान०		चतुर्ज्ञान० ४					अज्ञान० ३
संयम०		संयम.,सामा., छेदो०सूक्ष्म०, देश०- ५		परिहार० १			असंयम० १
दर्शन०		अवधि० १					चक्षुरचक्षु० २
लेश्या०	अशुभ० ३				तेज पद्म० २		शुक्ल० १
भव्य०	अभव्य० १						भव्य० १
सम्य०		सम्य.,उपशम. मिश्र० ३		वेदक० १		सास्वा १	क्षायिक मिथ्या.२
संज्ञि०	असंज्ञि० १						संज्ञि० १
आहारि०		अनाहारि० १					आहारी १
सर्वमार्गणा.-	१०८	१६	३	२	२	१	३८
गाथाङ्क.-	१३१ तः १३३	१३३-१३४	१३३	१३५	१३५-१३६	१३६	१३६

卐 सास्वादने घातिचतुष्कस्य १ समय',मतान्तरेण २ समयौ,अघातित्रयस्य तु २ समयौ, मतान्तरेण स्वयमेवाभ्यूह्यम्।

अष्टप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागस्यैकजीवाश्रितबन्धकालप्रदर्शकं यन्त्रम्

ओघत.– घातिचतुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्यैकजीवाश्रितबन्धकालः जघन्यत १ समय, उत्कृष्टत पुनरसङ्ख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमितः। अघातित्रयस्य च त्रिविकल्पकः, तद्यथा–अनादिध्रुव, अनाद्यध्रुवः, साद्यध्रुवश्च, परमस्तु जघन्यतोऽन्तर्मु० उत्कृष्टतो देशोनाऽर्धपुद्गलपरावर्तमित। गाथा (१२७-१२८)। तथाऽऽयुष्कस्य जघन्यत समय, उत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तम्, आदेशत.–आयुष्कस्य सर्वत्रौघवद् (गाथा-१२९-१३०) सप्तप्रकृतीनां पुनर्जघन्यत उत्कृष्टतश्च बन्धकालो निम्नलिखितयन्त्रकाद् विज्ञेयः।

मार्गणा	सप्तानां जघन्यकाल.						सप्तानामुत्कृष्टकालः K		
	ओघवत्	△	अन्तर्मु०	卐	●	शेषासु १ समयः	ओघवत्	असं.लोककाल	त्र.उ.कायस्थिति
गति०						सर्वगतिभेदा ४७			सर्वगति० ४७
इन्द्रिय०	द्विपञ्चे० =२					द्विपञ्चे० वर्ज १७ भेदा		एके०ओघ, सूक्ष्मैके०=२	पर्या.अपर्या सू.२ बादरैके० ३, सर्वविकले० ९, त्रिपञ्चे० ३, =१७
काय०	द्वित्रस०=२					द्वित्रसवर्ज ४० भेदा		पृथ्व्यादि-पञ्चौघ० ५ निगोदौघ १ पञ्चसूक्ष्मौघ =११	पर्या अपर्या सू पृ अप् तेज वायु नि- १०, बादरपृ अ ते वा नि प्रत्येकवन सर्वभेदाः१८ त्रित्र स० ३ =३१
योग०		त्रिमिश्र				त्रिमिश्रवर्ज १५ भेदा			सर्व योग०=१८
वेद०	पुरुष०=१					स्त्रीनपु०अवेदि =३			सर्ववेद०=४
कषाय०						सर्व०=४			सर्व=४
ज्ञान०	द्व्यज्ञान=२		त्रिज्ञान* ३			मन पर्यव-विभङ्ग=२	द्व्यज्ञान २		द्व्यज्ञानवर्ज ५ भेद.
संयम०	असंयम=१		देश०=१	परिहा* १		संयम,सामा छे.सू=४	असंयम १		असंयमवर्ज ६
दर्शन०	चक्षुरचक्षु=२		अवधि* १				अचक्षु० १		चक्षुरवधि०=२
लेश्या	शुक्ल० =१				तेज● पद्म २	अशुभ०=३		असं पुग	सर्वलेश्या० ६
भव्य	भव्य=१					अभव्य०=१	भव्य० ※	अभव्य	
सम्य०	क्षायिक० मिथ्या०=२		सम्य०उप. मिश्र०=३	वेदक=१		सास्वा०=१	मिथ्या० १		मिथ्या०वर्ज=६
संज्ञि०	संज्ञि०=१					असंज्ञि०=१			संज्ञ्यसंज्ञि०=२
आहारि०						आहा०अनाहा०=२			आहा०अना०=२
सर्वमार्गणा.– १५		३	८	२	२	१६०	६	१३।१	१५०
गाथाङ्क.– १३७-८		१३८	१३९	१४०	१४१	१४१	१४२	१४३।१४४	१४४

△ त्रिमिश्रयोगमार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टरसस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, मतान्तरेण १ समयः।

卐 परिहारवेदकसम्यक्त्वभेदद्वये घातिनीनां जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, अघातिनीनामन्तर्मुहूर्तम् मतान्तरेण १ समयः।

● तेज पद्मलेश्याद्वये घातिनीनां जघन्यकालः १ समय, अघातिनीनामन्तर्मुहूर्तम् मतान्तरेण १ समयः

* अवधिज्ञानाऽवधिदर्शनपरिहारेषु जघन्यकायस्थितिसमयप्रमाणापेक्षया सप्तानामपि काल. १ समय।

※ भव्ये अनादिध्रुवभङ्गो न वक्तव्यः (गाथा १४२)। K कायस्थितिप्रदर्शकयन्त्र ११४-११५ तमे पृष्ठे लिखितमिति।

अष्टप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्यैकजीवाश्रितकालप्रदर्शकं यन्त्रम्

ओघतः—अष्टाना जघन्यानुभागस्य बन्धकालो जघन्यत १ समयः, उत्कृष्टतः पुन चतुर्घातिगोत्राणा १ समयः, वेदनीयनामायुषा च ४ समयाः। आदेशतः—सर्वत्राष्टकर्मणा जघन्यरसस्य बन्धकालो जघन्यत १ समयः। वेदनीयनामायुषां पुनरुत्कृष्टकालोऽपि सर्वत्रौघवद्, नवर वेदनीयनाम्नोरपगतवेदसूक्ष्मसम्परायद्वये उत्कृष्टतोऽपि प्रकृतबन्धकालः १समयमात्र, कार्मणाऽनाहारकद्वये तूत्कृष्टतः ३ समयाः, आयुष पुनराहारकमिश्रे मतान्तरेणोत्कृष्टकाल १ समयमात्र। शेषाणा चतुर्घातिगोत्राणा जघन्यरसस्योत्कृष्टबन्धकालो निम्नयन्त्रकादवसेय इति। (गाथा १४५-१४८-त १५०)

घाति.३.काल.२समयौ		२ समयौ	२ समयौ	१ समय	१सम०	१ समयः	२सम. १सवा	स० ५ स २०।	१ समय (ओघवत्-
गोत्र०→	१ ,,	४ समया	२ ,,	४ समया	२ स०	१ ,,	१समय	४समय	१ ,, शेषा.)
गति०	नरकौघ० सप्तमनारक.२	पश्चान्तनिरया, सर्वपञ्चे तिर्यग्, अपर्याप्तमनुज०, ग्रैवेयकान्तदेव ३६	तिर्यगोघ०, पञ्चानुत्तर० =६	त्रिमनुज० ३					
इन्द्रिय०		सर्वविकल अपर्या. पञ्चे०, =१०	सर्वकेन्द्रिय०=७						द्विपञ्चे० =२
काय०		सर्व पृथ्वी, सर्वा ऽप्०, सर्ववन०. अपर्या त्रस, =२६	सर्वतेजोवायुभेदाः =१४						द्वित्रसः=२
योग०	वैक्रिय० १		卐त्रिमिश्रयोग०, आहारक०=४		औदा० १	कार्मण० १			सर्वमनोवचोभेद० काययोग०=११
वेद०				स्त्री पुं २		अ.वे. १			नपु०=१
कषाय०									सर्वकषाय०=४
ज्ञान०									सर्वज्ञानभेदाः=७
संयम०						सूक्ष्म १ ●	परिहा १		परिहार-सूक्ष्म०वर्ज शेषसंयमभेदा. =५
दर्शन०									त्रिदर्शन० =३
लेश्या०	कृष्ण० १		नीलकापोत०=२	शुक्ल=१				ते प २	
भव्य०			अभव्य० =१						भव्य०=१
सम्य०			सास्वा०=१		क्षा १		वेदक		स उप मि मिथ्या =४
संज्ञि०			असंज्ञि०=१						संज्ञि०=१
आहारि०						अना० १			आहारि० =१
सर्वमार्गणाः—	४	७२	३६	६	२	४	२	२	४२
गाथाङ्क –	१५०-१	१५२-३	१५४ १५५	१५६	१५७	१५८	१५९	१६०	१६०

● मोहनीयवर्जत्रिघातिनां काल. १ समय. वक्तव्य.।

卐 अन्यमतेन त्रिमिश्रयोगेषु पञ्चानामप्युत्कृष्टकाल. समयप्रमाणो विज्ञेयः।

अष्टप्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धस्यैकजीवाश्रितकालप्रदर्शकं यन्त्रम्

ओघतः—चतुर्घातिगोत्रप्रकृतीनामजघन्यानुभागस्यैकजीवाश्रितबन्धकाल त्रिविकल्पक. । तद्यथा—अनादि-ध्रुव., अनाद्यध्रुव , साद्यध्रुवश्चेति । चरमविकल्प पुनर्जघन्यतो-ऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण., उत्कृष्टतो देशोनाऽपार्धपुद्गलपरावर्त-मित· । वेदनीयनाम्नोश्च जघन्यत १ समय , उत्कृष्टतस्त्वसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितः । तथाऽऽयुष्कस्य जघन्यतः १ समय , उत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तम् । (गाथा १४६ त १४८) आदेशत.—आयुष्कस्य प्रकृतकालः सर्वासु मार्गणास्वोघ-वद् ज्ञेयः । वेदनीयनाम्नो. पुनर्जघन्यकाल. सर्वत्र १ समयो विज्ञेयः । शेषघातिगोत्राणा जघन्यकाल , आयुर्वर्जसप्तानां चोत्कृष्टकालो निम्नलिखितयन्त्रकादवसेय इति । (गाथा १४९)

घातिगोत्राणा जघन्यकाल·							सप्तानामुत्कृष्टकालः			
घाति०—१समय.		अन्तर्मु०	卐	卐	अन्त०	शेषासु १ समय	● घातिगोत्र०—स्वकाय स्थिति०	असं.पु. परा०	असं.लोक०	ओघवद्
गोत्र०—अन्तर्मु०		,, ,,	अन्तर्मु	१सम०	१समय	,, ,, ,,	वेद०नाम०— ,,	असलो.	,, ,, ,,	
गति०	नरकौघसप्तमनरक २					नरकौघसप्तमवर्ज-शेषगति० =६५	तिर्यगोघवर्ज० शेष०=४६	तिर्य०		
इन्द्रिय०		द्विपञ्चे० २				द्विपञ्चे० वर्जशेष० =१७	एके०सूक्ष्म०२ वर्ज शेष=१७		एके० ओघ* सूक्ष्मैके०=२	
काय०		द्वित्रस० २				द्वित्रसवर्जशेष०=६०	शेष० ३१		पञ्चपृथ्व्याद्योघ निगोदौघ-पञ्च-सू पृथ्व्याद्योघ ११	
योग०						सर्वयोग० =१८	काययो वर्जशे १७	काय०		
वेद०					पु०	पु वर्जशेष० =२	नपु०वर्जशेष०३	नपु०		
कषाय०						सर्व कषाय०=४	सर्वकषाय०४			
ज्ञान०		द्व्यज्ञा त्रिज्ञा५				विभङ्ग०मन.पर्यव०२	द्व्यज्ञानवर्जशेष. ५			द्व्य २
संयम०		देश.,असं =२	परि०१			संयम० सामा०,छेद , सूक्ष्म०=४	असंयमवर्जशेष० =६			अस०१
दर्शन०		त्रिदर्शन०३					अचक्षुर्वर्जशेष० २			अच०१
लेश्या०	कृष्ण१			नप२	शुक्ल०	नील-कापोत०=२	सर्व० ६			
भव्य०		भव्य० १				अभव्य=१		अभव्य		※भ.१
सम्य०		स.,उप.,मिश्र मिथ्या०=४	वेदक० १		क्षायि०	सास्वा०=१	मिथ्या०वर्जशेष० =६.			मिथ्या १
संज्ञि०		संज्ञि० १				असंज्ञि०=१	संज्ञि०=१	असंज्ञि.		
आहारि०						आहा०, अना० =२	आहा०,अना =२			
सर्वमार्गणा —३		७०	२	२	२	१८०	१४६	५	*१ १२	६
गाथाङ्क — १६१		१६२-१६३	१६५	१६६	१६४	१६६	१७०	१६७	१६८ १६९	१७०

卐 परिहारविशुद्धिकवेदकसम्यक्त्वतेज.पद्मलेश्यामार्गणाचतुष्टये घातिचतुष्कस्याजघन्यानुभागबन्धस्य जघ-न्यकालो ऽन्तर्मुहूर्तम्, मतान्तरेण १ समयो वा । * एकेन्द्रियौघभेदे गोत्रस्योत्कृष्टत. काल स्वकायस्थितिप्रमाणः । ※ भव्यमार्गणाया ध्रुवभङ्गो नाभिधातव्यः । ● सर्वमार्गणानामुत्कृष्टादिकायस्थितिप्रदर्शकयन्त्र तु ११४-११५ तमे पृष्ठे लिखितमिति ।

॥ अथाऽष्टममन्तरद्वारम् ॥

गतं सप्तमं कालद्वारम् । साम्प्रतमष्टमस्यान्तरद्वारस्य व्याख्यानावसरः । अन्तरप्ररूपणा नाम जीवः सकृदुत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याऽजघन्यान्यतमरसबन्धं निर्वर्त्य तमेव रसबन्धं जघन्यत उत्कृष्टतो वा पुनः कियत्कालेन विधास्यतीति प्रतिपादनम् । तत्रैकजीवाश्रयामन्तरप्ररूपणां चिकीर्षुरादौ तावदुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टरसबन्धविषयां तामोघतः कुर्वन्नाह—

गुरुअणुभागस्स भवे ण अंतरं वेअणामगोआणं ।
सेसाणं पंचण्हं जहण्णगं होअए समयो ॥१७१॥
घाईण चउण्ह गुरुं असंखिया पोग्गलाण परिअट्टा ।
आउस्स जाणियव्वं देसूणो अद्धपरिअट्टो ॥१७२॥
अगुरुस्स रसस्स लहुं समयो अट्ठण्ह आउवज्जाणं ।
भिन्नमुहुत्तं परमं तेत्तीसाउस्स साहिया अयरा ॥१७३॥ [गीतिः]

(प्रे०) '**गुरुअणुभागस्स**' इत्यादि, वेदनीयनामगोत्राणां त्र्यघातिकर्मणामुत्कृष्टानुभागस्य अन्तरम्-बन्धान्तरं न भवेत्, क्षपकश्रेणौ तस्य निर्वर्त्यमानत्वेन सकृदेव बन्धसद्भावात्, क्षपकश्रेणौ त्र्यघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धं विधाय पुनस्तमेव रसबन्धं कदापि न विधास्यति, कर्मबन्धप्रधानकारणीभूतमोहनीयस्य समूलकाषं कषितत्वात् । अत एव त्र्यघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य पुनर्बन्धाभावेन बन्धान्तरं न प्राप्यते । अथ शेषप्रकृतीनां जघन्यतो बन्धान्तरमुच्यते-'**सेसाणं**' इत्यादि, शेषाणां पञ्चानां चतुर्घात्यायुःप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यं बन्धान्तरमेकसमयो भवति, उत्कृष्टानुभागबन्धद्वयस्यान्तराले समयं यावदनुत्कृष्टानुभागबन्धव्यवधानस्य लभ्यमानत्वात् । **तथाहि**-बन्धान्तरं त्रिधा लभ्यते, [१] क्वचिद् विपरीतबन्धप्रयुक्तं [२] क्वचिदबन्धप्रयुक्तं [३] क्वचिच्चोभयप्रयुक्तम् । अत्र तु विपरीतबन्धप्रयुक्तमन्तरं प्राप्यते, तच्चैवम्-घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेन संज्ञिमिथ्यादृष्टिरुक्तः, स चोत्कृष्टानुभागबन्धं विधाय समयं यावदनुत्कृष्टानुभागं बद्ध्वा पुनरुत्कृष्टानुभागं विदधाति तदा जघन्यतः समयमात्रमन्तरं लभ्यते । आयुष्कस्योत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यान्तरं तु तथैवाप्रमत्तमुनेः प्राप्यते । अबन्धादिप्रयुक्तान्तरं त्वग्रे भावयिष्यते अत्राशेषमन्तरनिरूपणमनया दिशा वक्ष्यते ।

अथ घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरमाह-'**घाईण चउण्ह**' इत्यादि, चतसृणां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरमसंख्येयाः पुद्गलानां परावर्ताः, **भावना चेयं**-संज्ञिमिथ्यादृष्टिजीवो घातिचतुष्कस्य ज्येष्ठानुभागं बद्ध्वा कालं च कृत्वाऽसंज्ञिषूत्पद्यते तत्रोत्कृष्ट-

कायस्थितिं यावदसंज्ञिमार्गणासत्कभवेषु भ्रान्त्वा पुनः संज्ञित्वमवाप्नोति तत्रापि यावन्तं कालं घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धं विना स्थातुं शक्यते, तावन्तं कालमनुत्कृष्टानुभागमेव बध्नाति, अत एवोत्कृष्टतोऽन्तरमसंख्येयपुद्गलपरावर्ता अभिहितम् ।

अथायुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरमाह–'**आउस्स जाणियव्वं**' इत्यादि, आयुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्योत्कृष्टतोऽन्तरमपार्द्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणं ज्ञातव्यम् । **इयमत्र भावना**–अप्रमत्तमुनिरनुत्तरप्रायोग्यदेवायुर्बन्धनायुष्कस्योत्कृष्टानुभागं बध्नाति, तदनन्तरं च तदनुभागमपवर्त्यापवर्त्य भवनपत्यादिप्रायोग्यं करोति, अन्यथाऽनुत्तरेषूत्पत्तिभावेन परिमितसंसारसंभवादनन्तकाललक्षणदेशोनापार्द्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणस्य बन्धान्तरस्यानुपपत्तिर्भवेत् । स जीवो भवनपत्यादिदेवो भूत्वा एकेन्द्रियादिप्रायोग्यं क्लिष्टं कर्मोपार्जयति, ततश्च कालं कृत्वैकेन्द्रियादिभवेषूत्पद्यते, देशोनापार्द्धपुद्गलपरावर्तं यावत्संसारे परिभ्रम्य दशदृष्टान्तदुर्लभं मनुजभवमवाप्य संसारपरितापशमनैकदक्षां भवभ्रमणभञ्जनप्रवणां प्रव्रज्यामङ्गीकृत्य, यदाऽप्रमत्तगुणस्थाने पुनर्देवायुर्बन्धनायुष्कस्योत्कृष्टानुभागं बध्नाति तदा तदुत्कृष्टानुभागबन्धद्वयस्यान्तरालवर्तिकाललक्षणमुत्कृष्टान्तरं देशोनापार्द्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणं भवति ।

अथाष्टानां कर्मणामनुत्कृष्टानुभागस्य जघन्योत्कृष्टभेदाभ्यां बन्धान्तरं दर्शयति–'**अणुक्कस्स रसस्स**' इत्यादि, अष्टानाम्-अष्टमूलकर्मप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्य रसस्य 'लघु'–जघन्यान्तरं 'समयः'–एकसमयमात्रं भवति, तत्र आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां जघन्यान्तरं तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तं वाऽबन्धप्रयुक्तं वा लभ्यते, तद्यथा–घातिचतुष्कस्य प्रतिपक्षबन्धप्रयुक्तं यदाऽनुत्कृष्टानुभागबन्धद्वयस्यान्तराले समयमेकमुत्कृष्टानुभागस्य बन्धो भवति तदाऽनुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यान्तरं समयो भवति, अबन्धप्रयुक्तं पुनः सप्तानां समयं यावदबन्धं कृत्वा कालं करोति, ततश्च देवेषूत्पद्य प्रथमसमये सप्तानामनुत्कृष्टानुभागं बध्नाति, तदाऽनुत्कृष्टानुभागस्य समयमात्रं बन्धान्तरं लभ्यते । आयुषः पुनरनुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यान्तरं विपरीतबन्धप्रयुक्तमेवावाप्यते, भावना प्रागवत्कर्तव्या ।

अथानुत्कृष्टानुभागस्योत्कृष्टान्तरं कियत्प्रमाणम् ? इत्याह–'**आउवज्जाणं**' इत्यादि, आयुर्वर्जानां-सप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं तच्चाऽबन्धप्रयुक्तमेव **तथा च तद्घटना**–उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नो यः कश्चिद् जन्तुरनिवृत्तिकरणगुणस्थानकस्य चरमसमयं यावद् मोहनीयस्य, शेषषट्प्रकृतीनां पुनः सूक्ष्मसम्परायस्य चरमसमयं यावदनुत्कृष्टानुभागं निरन्तरबन्धं विदधाति, अबन्धकालं यावदवस्थाय ततोऽवतरन् षट्प्रकृतीनां सूक्ष्मसम्परायस्य प्रथमसमये, मोहनीयस्य त्वनिवृत्तिकरणस्य प्रथमसमयेऽनुत्कृष्टानुभागस्य पुनर्बन्धमारचयति, तदा सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धस्याबन्धप्रयुक्तमुत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवतीति । नन्वत्रोत्कृष्टानुभागबन्धप्रयुक्तमन्तरं कथं न प्राप्यते ? उच्यते–संसारिजीवानां सप्तप्रकृतीनामनादिकालतो बन्धो भवति, तत्र यदा संज्ञिमिथ्यादृष्टिः

सन् घातिचतुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धं समयद्वयं यावद् विदधाति तदा तस्यानुत्कृष्टानुभागस्योत्कृष्टानुभागबन्धप्रयुक्तं द्विसमयमात्रमेवान्तरं लभ्यते, अघातित्रयस्य पुनरुत्कृष्टानुभागबन्धः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये क्षपकस्य भवति, तत ऊर्ध्वमनुभागबन्धस्याभावात् तस्यान्तरमुत्कृष्टरसबन्धप्रयुक्तं कदापि न प्राप्यते, किन्त्वबन्धप्रयुक्तमेव लभ्यत इति। आयुष्कस्य प्रकृतान्तरमाह– '**तेत्तीसाउस्स**' इत्यादि, आयुषोऽनुत्कृष्टरसस्य प्रकृष्टबन्धान्तरं साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणम्। भावना पुनरेवम्–पूर्वकोट्यायुष्को मनुष्यो वा तिर्यङ् वा स्वायुष्कस्य त्रिभागावशेषे त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणं देवप्रायोग्यं वा नरकप्रायोग्यं वाऽनुत्कृष्टानुभागयुक्तमायुरेकाकर्षेण बध्नाति, ततश्च शेषायुः परिभुज्य कालं च कृत्वा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुष्को देवो वा नरको वा भवति, तत्रापि किञ्चिदूनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणं स्वायुः परिपाल्यान्तर्मुहूर्तावशेषे स्वायुषि यदा पारभविकमायुरनुत्कृष्टानुभागेन बध्नाति तदाऽऽयुष्कस्यानुभागबन्धस्य साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणमुत्कृष्टान्तरं भवति ॥१७१।१७२।१७३॥

तदेवमष्टानामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागबन्धयोरोघतोऽन्तरप्ररूपणा कृता। साम्प्रतमादेशतोऽन्तरप्ररूपणाया अवसरः। सप्तानां कर्मप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विविधमन्तरं चिन्त्यते, तत्र कतिपयासु मार्गणासु सप्तानां, कतिपयास्वघातित्रयस्य, कतिपयासु घातिचतुष्कस्य, कतिपयासु च मतान्तरेण ज्येष्ठानुभागबन्धस्यान्तरं न भवति। अत्रादौ तावत् षोडशमार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धस्यान्तरं निषेधयन्नाह—

कम्मणगयवेएसु णाणचउगसंयमेसु सामइए।
छेअसुहमदेसेसु ओहीसम्मत्तुवसमेसु ॥१७४॥
मीसाणाहारेसु णो तिव्वरसस्स आउवज्जाणं।
मीस्सतिजोगेसु ण उअ हस्सं समयो गुरुं मुहुत्तंतो ॥१७५॥ [गीतिः]

(प्रे०) '**कम्मणगयवेएसु**' इत्यादि, कार्मणयोगापगतवेद-ज्ञानचतुष्क-संयमसामान्य-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-सूक्ष्मसंपराय-देशविरत्यवधिदर्शन-सम्यक्त्वसामान्यौपशमिकसम्यक्त्वमिश्रदृष्ट्यनाहारकलक्षणासु षोडशमार्गणासु आयुर्वर्जानाम् सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्याऽन्तरं न भवति, एतासु मार्गणासूत्कृष्टानुभागस्य द्वितीयवारं बन्धाभावात्, तथाहि—कार्मणानाहारकमार्गणाद्वयस्य कायस्थितेस्त्रिसमयप्रमाणत्वेऽपि उत्कृष्टानुभागबन्धकानां जीवानां कायस्थितेर्द्विसमयप्रमाणत्वेनान्तरं न प्राप्यते, अथ तेषां कायस्थितेर्द्विसमयता कुतः? उच्यते–संज्ञिजीवेभ्य उद्वृत्य संज्ञित्वेनोत्पद्यमानानां जीवानामेवोत्कृष्टानुभागबन्धसद्भावेन त्रसनाड्यामेव तेषां विग्रहगतेः सद्भावात् तेषां कार्मणानाहारकमार्गणयोरवस्थितिर्द्विसमयप्रमाणैव। तथाऽपगतवेदमार्गणायां घातिचतुष्कस्य, सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां तु घातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धः श्रेणितः पतन्नुपशामकस्य

स्वस्वमार्गणायाश्चरमसमये, तथा मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धोऽसंयमाभिमुखावस्थायाश्चरमसमये, मति-श्रुतावधिज्ञान-संयमसामान्य-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-देशविरत्यवधिदर्शन-सम्यक्त्वसामान्योपशम-मिश्रदृष्टिलक्षणास्वेकादशमार्गणासु पुनर्मिथ्यात्वाभिमुखावस्थायाश्चरमसमये भवति, तत ऊर्ध्वं मार्गणानां परावृत्तिर्भवति, अत एव तासु मार्गणासु वर्तमानो जन्तुर्घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धं द्वितीयवारं न विदधाति, ततस्तस्यान्तरं न भवति। अघातित्रयस्य तूत्कृष्टानुभागबन्धोऽपगतवेद-ज्ञानचतुष्क संयम-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-सूक्ष्मसम्परायावधिदर्शन-सम्यक्त्वसामान्यलक्षणास्वेकादशमार्गणासु क्षपकश्रेणौ प्रतिनियतसमय एव भवति, ततस्तस्य द्वितीयवारं बन्धो न भवति, तथा देशविरतौ उत्कृष्टानुभागबन्धः संयमाभिमुखावस्थायाश्चरमसमये, मिश्रदृष्टिमार्गणायां तु सम्यक्त्वाभिमुखस्य चरमसमये भवति, तदनन्तरं मार्गणायाः परावृत्तिर्जायते, उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां त्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धः सूक्ष्मसम्परायस्य चरमसमये श्रेणेरारोहकस्य भवति तदनूपशान्तमोहगुणस्थानेऽबन्धादूर्ध्वमद्धाक्षयेण प्रतिपाते बन्धस्य प्रवृत्तावप्युत्कृष्टानुभागस्तु नैव बध्यते, इत्येवमुत्कृष्टानुभागस्य द्विर्बन्धाऽलाभेनाघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्यान्तरं न लभ्यते। इत्येवं समुदितासु षोडशमार्गणास्वपि सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धस्यान्तरं प्रतिषिद्धम्। ननूपशमसम्यक्त्वमार्गणायां द्वितीयवारमुपशमश्रेणिमारूढस्य सूक्ष्मसम्परायचरमसमय उत्कृष्टानुभागबन्धस्य संभवेऽपि तत्र भवद्भिरुपशमसम्यक्त्वमार्गणायां कथमुत्कृष्टानुभागबन्धस्यान्तरं निषिद्धमिति चेत्, उच्यते–निरन्तरप्रवर्त्तमानायामौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां द्विरुपशमश्रेणेरेवासंभवात्। इदमुक्तं भवति–उपशमश्रेणेः प्रतिपत्य क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमप्राप्य न कोऽपि जीव उपशमश्रेणिं पुनरारोहति, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वप्राप्तौ च प्रस्तुतमार्गणाविच्छेदात् अविच्छिन्नोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां वारद्वयमुत्कृष्टानुभागबन्धस्यासंभवादेव निषिद्धमन्तरमिति।

अथ त्रिमिश्रयोगेषु मतान्तरकथनपूर्वकमाह–'**मिस्सतिजोगेसु**' इत्यादि, औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्राहारकमिश्रयोगलक्षणासु तिसृषु मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धस्यान्तरं न, भवतीति शेषः। एतन्मते योऽनन्तरसमये शरीरपर्याप्तिं समापयति स एव सप्तानां ज्येष्ठानुभागबन्धस्वामित्वेन विवक्षितः, उत्कृष्टानुभागबन्धानन्तरं मार्गणायाः परावृत्तिर्भवति, अत एव द्वितीयवारं तद्बन्धस्य विरहेणान्तरं न प्राप्यते। 'उअ' विकल्पार्थद्योतकः ततश्चान्यमते इत्यर्थः सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धस्य 'ह्रस्वम्'–जघन्यान्तरं समयमात्रं भवति, 'गुरु' उत्कृष्टान्तरं च 'मुहूर्तान्तः' अन्तर्मुहूर्तं, भवतीति शेषः। एतन्मते तु साकारादिविशेषणविशिष्टो मार्गणाया अन्यतरस्मिन्नपि समये सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धं विदधाति, ततो जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विविधमप्यन्तरं विपरीतबन्धप्रयुक्तं लभ्यते। तथाहि–एतासु त्रिमिश्रयोगमार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धद्वयस्यान्तराले यदा समयं यावदनुत्कृष्टानुभागं निर्वर्तयति तदा विपरीतबन्धप्रयुक्तं जघन्यान्तरं समयप्रमाणं भवति। यदा

पुनरन्तर्मुहूर्तं यावदनुत्कृष्टानुभागं विदधाति तदोत्कृष्टान्तरं भवति, तासां कायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेन प्रकृतान्तरस्याधिक्यासंभवात् ॥१७४।१७५॥

इदानीमष्टात्रिंशद्मार्गणासु त्र्यघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्यान्तरं प्रतिषेधयन्नार्याद्वयेनाह—

तिमणुसदुपणिंदियतसपणमणवयकायउरलजोगेसुं ।
थीपुरिसणपुंसगचउकसायतिअणाणअयतेसुं ॥१७६॥
णयणियरदंसणेसुं सुक्कभवियखइअमिच्छसण्णीसुं ।
आहारे णेव भवे तिण्ह अघाईण पयडीणं ॥१७७॥

(प्रे०) 'तिमणुस०' इत्यादि, मनुष्यसामान्यमनुष्ययोनिमतीपर्याप्तमनुष्यपञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियत्रससामान्यपर्याप्तत्रसकायपञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगकाययोगसामान्यौदारिककाययोगस्त्रीपुरुषनपुंसकवेदचतुष्कषायमत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानासंयमचक्षुरचक्षुर्दर्शनशुक्ललेश्याभव्यक्षायिकमिथ्यात्वसंज्ञ्याहारकलक्षणास्वष्टात्रिंशद्मार्गणासु तिसृणामघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्यान्तरं नैव भवतीत्यक्षरार्थः। **भावार्थः पुनरेवम्**—त्र्यज्ञानासंयममिथ्यात्वेति पञ्चमार्गणावर्जत्रयस्त्रिंशन्मार्गणास्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धः क्षपकश्रेण्यां भवति, तत ऊर्ध्वं बन्धाभावादन्तरं न लभ्यते। त्र्यज्ञानासंयममिथ्यात्वलक्षणासु पञ्चमार्गणासु तस्य ज्येष्ठानुभागबन्धः संयमाभिमुखावस्थायाश्चरमसमये भवति, तदनन्तरं च मार्गणायाः परावृत्तिर्भवति, एवमासु मार्गणास्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागस्य पुनर्बन्धाभावेनान्तरं न भवति ॥१७६।१७७॥

तदेवमष्टात्रिंशन्मार्गणास्वघातित्रयस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्यान्तराभावः प्रोक्तः। सम्प्रति तास्वेव मार्गणासु घातिचतुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्य जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विविधमन्तरं प्रदर्शयन्नाह—

चउघाईण जहण्णं समयो जेट्ठं हवेज्ज तिणरेसुं ।
पुव्वाकोडिपुहुत्तं कायुरलेसुं मुहुत्तंतो ॥१७८॥
अण्णाणदुगे अयते तहा अचक्खुभवियेसु मिच्छत्ते ।
णायव्वं परिअट्टा असंखिया पोग्गलाणं तु ॥१७९॥
सुक्काए लेसाए अट्ठारससागरा मुणेयव्वं ।
छव्वीसाए जेट्ठा देसूणाऽत्थि ससकायठिई ॥१८०॥

(प्रे०) 'चउघाईण'इत्यादि, अनन्तरोक्ताष्टात्रिंशन्मार्गणासु चतुर्घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्य जघन्यमन्तरं समयः-एकसमयमात्रं भवति, एतच्चान्तरं विपरीतबन्धप्रयुक्तं भवति। अथ त्रिमनुष्यादिद्वादशमार्गणासु तस्योत्कृष्टान्तरं दर्शयति-'जेट्ठं'इत्यादि, त्रिनरेषु-त्रिमनुष्यमार्गणासु घातिचतुष्क-

स्योत्कृष्टानुभागस्य ज्येष्ठम्–प्रकृष्टान्तरं भवतीति क्रियायोगः । कियत्प्रमाणम् ? इत्याह–'पूर्वकोटिपृथक्त्वम्' पूर्वकोटीनां पृथक्त्वं, तच्च किञ्चिदून्यूनं विज्ञेयं, प्रथमभवसत्कापर्याप्तावस्थाकालं गमयित्वा तस्य ज्येष्ठानुभागबन्धसद्भावात् । भावना चेयम्–एतासु मार्गणासु कश्चिज्जीवः पूर्वकोट्यायुष्कसप्तभवानां मध्ये प्रथमभवे पर्याप्तः सन्नुत्कृष्टानुभागबन्धयोग्यावस्थां च प्राप्य घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागं बद्ध्वाऽनुत्कृष्टानुभागं बध्नाति, ततः प्रभृति तस्यान्तरं प्रारब्धम्, स हि चरमभवस्य द्विचरमसमयं यावदनुत्कृष्टानुभागबन्धमेव विदधाति, ततश्च यदा चरमभवस्य चरमसमये तस्योत्कृष्टानुभागमारचयति तदा देशोनपूर्वकोटिपृथक्त्वमन्तरं घटते । ननु मनुष्यमार्गणायाः कायस्थितिः पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिका त्रिपल्योपमप्रमाणा , ततस्त्रिपल्योपमायुष्के चरमे भवे कथं तस्य ज्येष्ठानुभागबन्धो नाभिहितः, येन तस्यान्तरमधिकं लभ्येत ? इति चेत् , उच्यते–त्रिपल्योपमायुष्का मनुष्या हि युगलधर्मिणः ते चाल्पकषायाः ततस्तेषां तीव्रसंक्लेशाभावादुत्कृष्टानुभागस्य बन्धो न भवति, अत एव पूर्वकोट्यायुष्कचरमभवस्य चरमसमये ज्येष्ठानुभागबन्धमाश्रित्य प्रकृतान्तरमुक्तम् ।

तथा '**कायुरलेसु मुहुत्तंतो**' इति काययोगसामान्यौदारिककाययोगमार्गणाद्वये घातिचतुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरं 'मुहूर्तान्तः' अन्तर्मुहूर्तं भवति, कथमेतदवसीयते ? इति चेत् , उच्यते–एतन्मार्गणाद्वये संज्ञिमिथ्यादृष्टिर्घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेन दर्शितः संज्ञिजीवानां चोत्कृष्टतोऽपि विवक्षितयोगस्यावस्थितिकालोऽन्तर्मुहूर्तमेव, ततः परं योगान्तरेण व्यवधानं भवति, अत एव तन्मार्गणासत्कान्तर्मुहूर्तकालस्य प्रथमसमये यदा प्रकृष्टानुभागं बद्ध्वा पुनरन्तिमसमये तमेव विदधाति तदा यथोक्तमानं लभ्यते । ननु संज्ञिनामौदारिकयोगस्यावस्थानकालोऽन्तर्मुहूर्तमेव कालकरणे तु तस्य परावृत्तिर्भवति, ततः ज्येष्ठानुभागबन्धसत्कप्रथमचरमसमयद्वयं वर्जयित्वा अन्तरालवर्त्यन्तर्मुहूर्तं यावद् विपरीतबन्धः प्रवर्तते, अत एवौदारिकयोगे विपरीतबन्धप्रयुक्तं प्रकृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तमेव घटते, किन्तु काययोगमार्गणायां देवभवस्य चरमसमये ज्येष्ठानुभागं बद्ध्वा कालं च कृत्वा यद्येकेन्द्रियेषूत्पद्यते, तत्रासंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणकायस्थितिं यावदवतिष्ठते, तद्यपि मार्गणायाः परावृत्तिर्न भवति, तत उद्वृत्य संज्ञिषूत्पद्य काययोगमार्गणायामेवोत्कृष्टानुभागं बध्नीयात् , अतः घातिचतुष्कस्य ज्येष्ठानुभागस्य प्रकृष्टान्तरं स्वकायस्थितिप्रमाणं प्राप्येत तदनुक्त्वा कथमेतन्मार्गणायामन्तर्मुहूर्तमात्रमेव भणितम् ? इति चेत् , उच्यते–कालकरणे मार्गणायाः परावृत्तिविरहे सत्यपि पुनः संज्ञिभवसत्कपर्याप्तावस्थायाः प्राप्त्यनन्तरं यावदुत्कृष्टानुभागबन्धप्रायोग्यावस्था न लभ्यते तावद् योगानां परस्परं परावृत्तिसद्भावेन काययोगमार्गणाया व्यवहितत्वात् । तथाहि–यः कश्चिद् देवः स्वभवचरमसमये घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागं निर्वर्त्य कालं च कृत्वैकेन्द्रियेषूत्पद्यते तत्रासंख्येयपुद्गलपरावर्तात्मिकां स्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावत् काययोगमार्गणायामेवावतिष्ठते ततश्च कालं कृत्वा संज्ञिमनुष्यत्वेन संज्ञितिर्यक्त्वेन वा समुत्पद्यते, तत्रापर्याप्तावस्थां परित्यज्य पर्याप्तो भवति, तस्मिन्नेव समये ज्येष्ठानुभागबन्धप्रायोग्यसामर्थ्यविरहादुत्कृष्टानुभागं न

बध्नाति किन्तु कियत्कालं विश्राम्यैव तन्निर्वर्तयितुं समर्थो भवति, तत्र च विश्रान्तिकाले योगानां परस्परं परावृत्तिर्भवति तथा च पूर्वोक्तोत्कृष्टरसबन्धप्रभृतेः सातत्येन प्रवर्तमानायां काययोगमार्गणायां द्वितीयोत्कृष्टानुभागबन्धो न भवति किन्तु मनोयोगादिमार्गणान्तरस्य व्यवधानेन पुनः प्रवृत्तायां काययोगमार्गणायां, तयोश्चान्तरमत्रानुपयोगि, निरन्तरप्रवृत्तमार्गणाविषयकान्तरस्य प्रस्तुतप्ररूपणाविषयत्वात् । निरन्तरमार्गणायां तूत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तादधिकं न प्राप्यते इति तथैव भणितम् । तस्य च भावनौदारिककाययोगवत्कार्या ।

अथानादिभङ्गगतासु मार्गणासु तदेवान्तरमुपदर्शयति 'अण्णाणदुगे' इत्यादि, अज्ञानद्विके-मत्यज्ञानश्रुताज्ञानमार्गणाद्वये-असंयममार्गणायाम्, अचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणयोः, मिथ्यात्वे चेत्येतासु षण्मार्गणासु घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं ज्ञातव्यम्, कियत्प्रमाणम् ? इत्याह-पुद्गलानामसंख्येयाः परावर्ताः, असंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणमित्यर्थः भावना चेत्थम्-एतन्मार्गणावर्ती कश्चिद् जन्तुः संज्ञिमिथ्यादृष्टिः घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धं विधाय क्रमेणासंज्ञिभवेषूत्पद्यते तत्र चाऽसंज्ञिकायस्थितिं यावत् पुनः पुनरुत्पद्य विपद्य च प्रकृष्टानुभागबन्धं विना कालं गमयति, तदवमाने च पुनः संज्ञिभवप्रायोग्यायुर्बद्ध्वा संज्ञिषूत्पद्यते तत्रापि तदनुभागबन्धं विना यावन्तं कालं गमयितुं शक्यते तावन्तं कालं निगमय्य यदा तस्य ज्येष्ठानुभागं बध्नाति, तदा प्रकृष्टान्तरं प्राप्यते ।

अथ शुक्ललेश्यामार्गणायां प्रकृष्टान्तरमुच्यते-'सुक्काए लेसाए' इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायां घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरमष्टादशसागरोपमप्रमाणं ज्ञातव्यम् । तथाहि-एतन्मार्गणायामेकेन मतेन घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेनानतदेवः प्रोक्तः स च जघन्यकायस्थितिको द्रष्टव्यः ततस्तमाश्रित्य विपरीतबन्धप्रयुक्तं यथोक्तान्तरं लभ्यते । अन्यमतेन पुनः स्वामित्वेनानतादिदेव उक्तः, तदपेक्षया तु प्रकृष्टान्तरं स्वयमेवालोचनीयम् । चिन्तितं प्रागुक्ताष्टात्रिंशन्मार्गणान्तर्गतमनुष्यत्रिकादिद्वादशमार्गणासु घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्योत्कृष्टान्तरम् । सम्प्रति शेषषड्विंशतिमार्गणासु तदन्तरं देशोनस्वकायस्थितितुल्यमभिदधाति-'छब्बीसाए' इत्यादि, षड्विंशतिमार्गणासु घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोना स्वस्वकायस्थितिः-देशोनस्वस्वकायस्थितितुल्यमस्ति, कुतः ? भण्यते-तासु मार्गणासु प्रारम्भे अवसाने च घातिचतुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्य प्राप्तिः संभवति, ततो ज्येष्ठानुभागबन्धद्वयस्यान्तराले विपरीतबन्धो भवति, अतो विपरीतबन्धप्रयुक्तं प्रकृष्टान्तरं देशोनस्वस्वकायस्थितितुल्यं घटते । षड्विंशतिमार्गणा नामत इमाः-पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकाय-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेद-चतुष्कषाय-विभङ्गज्ञान-चक्षुर्दर्शन-क्षायिक-संज्ञ्याहारिमार्गणा इति ।

अथ पञ्चेन्द्रियमार्गणायामुत्कृष्टानुभागमत्कोत्कृष्टान्तरस्य भावना क्रियते-एकेन्द्रियादिर्जन्तुः संज्ञिपञ्चेन्द्रियत्वेन समुत्पद्यते, तदा तस्य एतन्मार्गणायाः प्रारम्भो भवति, तत्र पर्याप्तः सन् किञ्चि-

त्कालं विश्राम्य सामर्थ्ययुक्तः सन् घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागं बद्ध्वाऽनुत्कृष्टानुभागमारचयति, ततः प्रभृति प्रकृतान्तरं प्रारभते तत ऊर्ध्वं साधिकसहस्रसागरोपमात्मिकां शेषस्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावत्पञ्चेन्द्रियत्वेन समुत्पद्य समुत्पद्य पञ्चेन्द्रियकायस्थितेश्चरमभवे संज्ञिपञ्चेन्द्रियो भूत्वा भवान्ते पुनस्तस्य ज्येष्ठानुभागबन्धं विदधाति तदा पञ्चेन्द्रियमार्गणायां प्रकृष्टान्तरं देशोनस्वकायस्थितिप्रमाणं भवति। अत्र चरमभव ईशानदेवसत्को ग्राह्यः। एवमनया दिशाऽन्यत्रापि यथासंभवं भावना कर्तव्या, कायस्थितिस्तु प्राक्प्रदर्शितकायस्थितियन्त्रतोऽवलोकनीयेति ॥१७८।१७९।१८०॥

साम्प्रतं परिहारवेदकमार्गणाद्वये सप्तानामन्तरं निषेधयन्, तथा तत्र मतान्तरेणाघातित्रयस्य प्रकृतान्तरं दर्शयन्नाह—

परिहारवेअगेसुं सत्तण्हं णत्थि उअ अघाईणं।
हस्सं समयो जेट्ठं देसूणसजेट्ठकायठिई ॥१८१॥

(प्रे०) '**परिहारवेअगेसु**' इत्यादि, परिहारविशुद्धिसंयम-वेदकसम्यक्त्वमार्गणाद्वये सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धस्यान्तरं नास्ति। कुतः? भण्यते—परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां घातिचतुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धश्छेदोपस्थापनीयाभिमुखावस्थायाश्चरमसमये, वेदकसम्यक्त्वमार्गणायां पुनर्मिथ्यात्वाभिमुखावस्थायाश्चरमसमये भवति, तदनन्तरं च प्रस्तुतमार्गणायाः परावृत्तिर्भवति तत एतन्मार्गणायामव्यवच्छेदेन घातिचतुष्कस्य ज्येष्ठानुभागस्य पुनर्बन्धाभावादन्तरं न भवति अघातित्रयस्य तूत्कृष्टानुभागबन्धः कृतकरणाद्धाया अर्वाक्समये प्रोक्तः। ततः खण्डक्षपकश्रेणेः पुनः प्राप्त्यभावेन द्वितीयवारं कृतकरणकालस्याभावात् तस्य पुनर्बन्धो न भवति, अत एवान्तरं न भवति, अथ मतान्तरमधिकृत्याह—'उअ'इत्यादि, उत-विकल्पार्थद्योतकः ततश्चान्यमते अघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागस्य ह्रस्वम्-जघन्यान्तरं समयमात्रं, ज्येष्ठम्-प्रकृष्टान्तरं देशोनस्वज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणं, भवतीति शेषः। तच्चैवम्—एतेन मतेनाऽघातित्रयस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्वामित्वेनाभिमुखाद्यवस्थाविरहितः साकारादिविशेषणविशिष्टोऽप्रमत्तमुनिरुक्तः, तत एतन्मार्गणयोः कायस्थितेः प्रारम्भे अवसाने च यदोत्कृष्टानुभागबन्धो भवति, तदा तद्बन्धद्वयस्यान्तराले विपरीतबन्धप्रयुक्तमुत्कृष्टान्तरं देशोनस्वकायस्थितितुल्यं भवतीति ॥१८१॥

इदानीं तेजःपद्मलेश्यामार्गणाद्वये प्रकृतान्तरं निरूपयन्नार्याद्वयेनाह—

णो अत्थि अंतरं खलु तिण्ह अघाईण तेउपम्हासुं।
अहवा समयो हस्सं भिन्नमुहुत्तं भवे जेट्ठं ॥१८२॥
घाईणं पयडीणं चउण्ह समयो लहुं मुणेयव्वं।
देसूणा उक्कोसा सगसगकायट्ठिई जेट्ठं ॥१८३॥

(प्रे०) **'णो अत्थि'** इत्यादि, खलुः वाक्यालङ्कारे, तेजःपद्मलेश्यामार्गणाद्वये त्र्यघातिप्रकृतीनां ज्येष्ठानुभागबन्धस्य अन्तरं नास्ति, कुतः ? कृतकरणाद्धाया अर्वाक्समये त्र्यघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्य प्रोक्तत्वेन पुनरुत्कृष्टानुभागबन्धाभावादन्तरं न लभ्यते, अथवाशब्दो मतान्तरद्योतकः, ततश्चान्यमतेन तस्य ह्रस्वं-जघन्यान्तरं समयः- समयमात्रं ज्येष्ठम्-प्रकृष्टान्तरं भिन्नमुहूर्तं भवेत् , कथम् ? अस्मिन् मते अघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेनाभिमुखाद्यवस्थारहितः साकारादिविशेषणविशिष्टोऽप्रमत्तमुनिरभिहितस्तस्य पुनर्बन्धसद्भावादन्तरं लभ्यते, तच्च जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विविधमप्यन्तरं विपरीतबन्धप्रयुक्तं बोध्यम् ,भावना च प्राग्वद् द्रष्टव्या। ननु एतन्मार्गणाद्वये अघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनस्वकायस्थितितुल्यं कथं नाभिहितम् ? भण्यते—एतन्मार्गणाद्वये तत्कर्मणामुत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेनाप्रमत्तमुनिरुक्तः,स च मनुष्यः, मनुष्येषु लेश्या अन्तर्मुहूर्तेनान्तर्मुहूर्तेन परावर्तन्ते ततस्तल्लेश्यासत्कान्तर्मुहूर्तप्रारम्भेऽवसाने चोत्कृष्टानुभागस्य बन्धो भवति तदा मार्गणान्तराऽव्यवधानेन अन्तरं लभ्यते, अत एव देशोनस्वकायस्थितितुल्यं विहायान्तर्मुहूर्तप्रमाणमुत्कृष्टान्तरमभिहितम् । तथा **'घाईणं'** इत्यादि, चतसृणां घातिनीनां प्रकृतीनां ज्येष्ठानुभागबन्धस्य लघु-जघन्यान्तरं समयः-समयप्रमाणं ज्ञातव्यं, ज्येष्ठम्-प्रकृष्टान्तरं देशोनस्वस्वज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणं ज्ञातव्यम् , कथम् ? उच्यते—कायस्थितेः प्रारम्भेऽवसाने चोत्कृष्टानुभागबन्धस्य प्राप्यमाणत्वेन तयोरुत्कृष्टानुभागबन्धयोरन्तराले विपरीतबन्धप्रयुक्तं यथोक्तमन्तरं घटते । ॥१८२॥ १८३॥

अधुना सास्वादनमार्गणायां तदेव चिन्तयितुकाम आह—

सासायणम्मि हवए णो चेव चउण्ह घाइपयडीणं ।
तिअघाईणं समयो हस्सं जेट्ठं मुहुत्तंतो ॥१८४॥

(प्रे०) **'सासायणम्मि'** इत्यादि, सास्वादनमार्गणायां चतसृणां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्यान्तरं नैव भवति, कुतः ? मिथ्यात्वाभिमुखत्वस्य चरमसमये तासामुत्कृष्टरसबन्धसद्भावेन, तदन्तरं च मार्गणाया व्यवच्छेदेन पुनर्बन्धाभावात् । अन्यमतेनाभिमुखाद्यवस्थारहितः स्वामित्वेन कथितः, अतोऽन्तरं प्राप्यते तच्च स्वयमेवाभ्यूह्यम् । त्र्यघातिनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्य ह्रस्वम्—जघन्यान्तरं समयः-समयप्रमाणं, ज्येष्ठम्—उत्कृष्टान्तरं मुहूर्तान्तः—अन्तर्मुहूर्तं, भवतीति शेषः, तच्चान्तरं विपरीतबन्धप्रयुक्तमेव, अत्रापि मतान्तरेण स्वामित्वमवगम्य यथासंभवमन्तरं भावनीयम् ॥१८४॥ तदेवं द्वाषष्टिमार्गणासु कासाञ्चित्प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्यान्तरं भवति,कासाञ्चित्प्रकृतीनां तन्न भवतीत्युक्तम् , साम्प्रतमष्टोत्तरशतमार्गणासु सप्तानामवश्यमेवान्तरं प्राप्यते, अतस्तासु सर्वासु मार्गणासु प्रथमं तावज्जघन्यान्तरं समयमात्रं निगदन् , कासुचिन्मार्गणासु च प्रकृष्टान्तरं प्रतिपादयन्नाह—

सेसासु सत्तण्हं समयो हस्सं हवेज्ज उक्कोसं ।
तिरिये चउघाईणं देसूणा जेट्ठकायठिई ॥१८५॥
देसूणद्धपरट्टो तिण्ह अघाईण होइ सत्तण्हं ।
कोडिपुहुत्तं पुव्वा णेयं तिपणिंदितिरियेसु ॥१८६॥

(प्रे०) **'सेसासु'** इत्यादि, शेषासु-प्रागुक्तद्वाषष्टिवर्जाष्टोत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः-सप्तानां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य ह्रस्वम्-जघन्यान्तरं समयः-समयप्रमाणं भवति, सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धद्वयस्यान्तराले समयं यावद् विपरीतबन्धस्य लभ्यमानत्वात् । प्रथमं तावदत्रायं नियमो बोध्यः-यासु मार्गणासु ज्येष्ठानुभागबन्धोऽभिमुखाद्यवस्थायां न भवति, तासु मार्गणास्वेवोत्कृष्टानुभागबन्धद्वयान्तराले तद्विपरीतबन्धो हि जघन्यतः समयमेकं लभ्यते, ततोऽत्राष्टोत्तरशतमार्गणासु ज्येष्ठानुभागस्याभिमुखाद्यवस्थायामलभ्यमानत्वेनोत्कृष्टानुभागबन्धद्वयमध्ये विपरीतबन्धः समयमेकं भवति, अत एव सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धस्य जघन्यान्तरं विपरीतबन्धप्रयुक्तं समयमात्रं भवति ।

सप्तानां प्रकृष्टान्तरं प्रतिपादयन्नादौ तावत्तिर्यक्सामान्यमार्गणायामाह-**'तिरिये'** इत्यादि, तिर्यक्सामान्यमार्गणायां चतसृणां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनस्वज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणं भवति । भावना चेयम्-तिर्यग्गतिमार्गणायां कायस्थितिरसंख्येयपुद्गलपरावर्तात्मिका, अत्र च घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेन संज्ञिमिथ्यादृष्टिरुक्तः, मनुष्यादिगतिभ्य उद्वृत्य कश्चिद् जीवः संज्ञिमिथ्यादृष्टितिर्यक्त्वेन समुत्पद्यते तदा कायस्थितेः प्रारम्भो भवति, तत्र पर्याप्तः सन् कियत्कालानन्तरं घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागं बद्ध्वाऽनुत्कृष्टानुभागं बध्नाति, ततः प्रभृति विपरीतबन्धप्रयुक्तमन्तरं प्रारभते, किञ्चिन्न्यूनासंख्येयपुद्गलपरावर्तात्मिकां कायस्थितिं यावदसंज्ञितिरश्चां भवेषु परिभ्रमन् घातिचतुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागमेव बध्नाति, अन्ते च संज्ञिमिथ्यादृष्टितिर्यक्त्वेन समुत्पद्यते, तद्भवचरमसमये पुनरुत्कृष्टानुभागं निर्वर्तयति, तदा तिर्यक्सामान्यमार्गणायां घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्य देशोनस्वकायस्थितिप्रमाणमुत्कृष्टान्तरं भवति । तथा तस्यामेव तिर्यक्सामान्यमार्गणायां घातिप्रकृतीनामन्तरमाह-**'देसूणद्धपरट्टो'** इत्यादि, तिसृणामघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनार्धपुद्गलपरावर्तो भवति । कथम् ? इति चेद्, उच्यते-एतन्मार्गणायामघातित्रयस्य देशविरतितिरश्चो ज्येष्ठानुभागबन्धस्वामित्वेनाभिहितत्वात्, देशविरतस्य हि संसारभ्रमणस्य प्रकर्षतोऽपि देशोनापार्धपुद्गलप्रमाणत्वाच्च । इदमुक्तं भवति-तिर्यक्सामान्यमार्गणायां देशविरततिर्यङ्ङघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धं विधाय पश्चाद् मिथ्यात्वं गत्वा देशोनापार्धपुद्गलपरावर्तकालं यावदेकेन्द्रियादिषु परिभ्रमति, न त्वधिककालम्, सकृदपि सम्यक्त्वगुणप्राप्तानां जीवानां संसारस्य प्रकृष्टतोऽपि देशोनापार्धपुद्गलप्रमाणत्वात्, ततः पुनः संज्ञिपञ्चेन्द्रिय-

तिर्यक्त्वं समवाप्य द्विचरमान्तर्मुहूर्ते देशविरतिं च समुपार्ज्य यदा त्र्यघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागं निर्वर्त्य चरमान्तर्मुहूर्ते मिथ्यात्वमधिगच्छति तदा तासामुत्कृष्टानुभागस्योत्कृष्टान्तरं यथोक्तप्रमाणं भवति, अत्रेदं बोध्यम्–यदि त्र्यघातिप्रकृतीनां ज्येष्ठानुभागबन्धं कृत्वा मिथ्यात्वं न गच्छेत् तदा देशविरत्यवस्थायां मरणसद्भावेन वैमानिकदेवेषूत्पत्तिसंभवेनोत्कृष्टान्तरं देवभवन्यूनदेशोनापार्द्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणं लभ्येत, अत एव तदुत्कृष्टानुभागं बद्ध्वा मिथ्यात्वं व्रजति, ततश्च कालं कृत्वा मनुष्येषूत्पद्यते, तत्राष्टमवर्षे सर्वदुःखापहारिणीं प्रव्रज्यामङ्गीकृत्य, नवमे वर्षे तु क्षपकश्रेणिमारुह्य प्रबलध्यानानलेन कर्मकाष्ठानि च दग्ध्वाऽन्तकृत्केवली सन् जातिजरामरणविप्रमुक्तां सिद्धिगतिमुपगच्छति । अनया नीत्योत्कृष्टान्तरस्य प्राप्यमानत्वेन मिथ्यात्वादिगमनमावश्यकमिति ।

अथ त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणासु तदेवाह—'सत्तण्हं' इत्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिर्यग्योनिमती-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्रूपासु त्रिमार्गणासु सप्तप्रकृतीनां ज्येष्ठानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरं पूर्वकोटिपृथक्त्वप्रमाणं ज्ञेयम् । अत्रापि त्रिमनुष्यमार्गणावत् स्वकायस्थित्यन्तर्गतोऽन्तिमभवो युगलधर्मिसत्को भवति, तेषां च प्रतनुकषायत्वेन तीव्रसंक्लेशस्याभावात् घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धो न भवति, तथा देशविरत्यपेक्षया तेषां विशुद्धेरल्पत्वेनाघातित्रयस्यापि ज्येष्ठानुभागबन्धो न भवति । ततोऽन्तिमभवे सप्तानां ज्येष्ठानुभागस्य बन्धाभावेनान्तरं न प्राप्यते, तत ऊर्ध्वं तु देवेषूत्पत्तिसंभवेन मार्गणा परावर्तते,तेन त्रिपल्योपमस्थितिकमन्तिमभवं परित्यज्य शेषभवापेक्षया सप्तानां ज्येष्ठानुभागबन्धस्यान्तरं भावनीयम् ॥१८५।१८६॥

अथ देवौघमार्गणायामेकजीवमाश्रित्य सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य उत्कृष्टबन्धान्तरमुपदर्शनार्थमाह–

देवे चउघाईणं अट्ठारस सागरा मुणेयव्वं ।
देसूणा कायठिई जेट्ठा तिण्हं अघाईणं ॥१८७॥

(प्रे०) **'देवे'** इत्यादि, देवगतिमार्गणायां चतुर्घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्योत्कृष्टबन्धान्तरमष्टादश सागराः 'पदैकदेशे पदसमुदायोपचारः'इति न्यायाद् सागरोपमाणीति ज्ञातव्यम् ,अष्टादशसागरोपमप्रमाणं प्रकृष्टान्तरं वेदितव्यमित्यर्थः। तिसृणामघातिप्रकृतीनां प्रकृष्टान्तरं देशोना ज्येष्ठा कायस्थितिः । इदमुक्तं भवति–अघातित्रयस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनस्वज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणं-देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणमवसातव्यम्,यतो हि देवानां पुनर्देवेषूत्पादाभावेन देवानां भवस्थितिरेव कायस्थितिरिति ।

इह भावना चैवम्–देवसामान्यमार्गणायां घातिचतुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धः सहस्रारपर्यन्तदेवानामेव भवति आनताद्युपरितनदेवानां तु तथाविधसंक्लेशाऽभावेन तस्य ज्येष्ठानुभागबन्धो न भवति, अत एव सहस्रारदेवापेक्षया विपरीतबन्धप्रयुक्तं प्रकृष्टान्तरमष्टादशसागरोपमप्रमाणमभिहितम् । तथाऽघातिनामुत्कृष्टानुभागबन्धः सम्यग्दृष्टीनामेव भवति, अनुत्तरदेवास्तु सर्वे सम्यग्दृष्टयः,

तेषां चायुर्देवेषु सर्वोत्कृष्टम्, ततस्तदपेक्षया विपरीतबन्धप्रयुक्तमुत्कृष्टान्तरं भवति। तद्यथा–अनुत्तरसुरोऽपर्याप्तावस्थां गमयित्वा पर्याप्तः सन्नपि किञ्चित् कालमघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागं न बध्नाति, तथाविधसामर्थ्याभावात्; ततो यदा किञ्चित्कालेन तत्समर्थो भवति तदा समयं यावत् त्र्यघातिनामुत्कृष्टानुभागं बद्ध्वा भवद्विचरमसमयं यावदनुत्कृष्टानुभागं बध्नाति त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणस्य स्वायुष्कस्य चरमसमये पुनर्यदा ज्येष्ठानुभागं बध्नाति तदा देवसामान्यमार्गणायामघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्य देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणं प्रकृष्टान्तरमवाप्यते ॥१८७॥

एकेन्द्रियादित्रयोदशमार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयप्रमाणमिति वक्तुकाम आह—

एगिंदियम्मि पुहवीदगतेउअणिलणिगोअकायेसुं ।
एआण छसुहमेसुं वणे य लोगा असंखेज्जा ॥१८८॥

(प्रे०) '**एगिंदियम्मि**' इत्यादि, एकेन्द्रियसामान्य-पृथ्वीकायसामान्याप्कायसामान्य-तेजःकायसामान्य-वायुकायसामान्य-निगोदसामान्यलक्षणासु षट्सु मार्गणासु, तथा एतासां षण्णां मार्गणानां षट्सूक्ष्मभेदेषु तद्यथा–सूक्ष्मैकेन्द्रियसामान्य-सूक्ष्मपृथ्वीकायसामान्य-सूक्ष्माप्कायसामान्य-सूक्ष्मतेजःकायसामान्य-सूक्ष्मवायुकायसामान्य-सूक्ष्मनिगोदसामान्यलक्षणासु षट्सु मार्गणासु वनस्पतिकायौघमार्गणायां चेत्येतासु त्रयोदशमार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरमसंख्येया लोकाः–असंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयप्रमाणमित्यर्थः। एतासु त्रयोदशमार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्योत्कृष्टो यो निरन्तरबन्धकालः प्रागभिहितः, स एव ज्येष्ठानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरत्वेन प्राप्यते यत उत्कृष्टानुभागबन्धद्वयस्यान्तराले कस्यचिज्जन्तोरेतावन्तं कालमनुत्कृष्टानुभागस्यैव बन्धो भवति, ततः सप्तानां ज्येष्ठानुभागबन्धस्य विपरीतबन्धप्रयुक्तस्यास्य प्रकृष्टान्तरस्य भावना यथाऽनुत्कृष्टानुभागस्य निरन्तरबन्धकालविषया प्राग् विहिता तथैवात्रापि कर्तव्येति ॥१८८॥

अशुभलेश्यासु मतान्तरं प्रकृतमभिदधाति—

पल्लासंखियभागो तिण्ह अघाईण असुहलेसासुं ।
ऊणा गुरुकायठिई घाईण परे उ बिंति सत्तण्हं ॥१८९॥

(प्रे०) '**पल्लासंखियभागो**' इत्यादि, तिसृष्वशुभलेश्यामार्गणासु प्रत्येकं त्रयाणामघातिकर्मणामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरं पल्योपमासंख्येयभागः, देवानामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात्, प्रस्तुतलेश्याकानां च तेषां कायस्थितेरुत्कृष्टतोऽपि यथोक्तमानत्वात्। तथा '**घाईण**' इति चतुर्णां घातिकर्मणां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनोत्कृष्टकायस्थितिः, नारकाणामपि तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात्, ऊनत्वञ्चात्र मार्गणाप्रारम्भे यथासंभवं किञ्चित्कालं तदुत्कृष्टरसबन्धाऽप्रवर्तनात्। अथाऽत्रार्थे मतान्तरं प्रकटयति '**परे उ**' इत्यादिना, परे–**महाबन्धकारा** इत्यर्थः, सप्तानामपि

कर्मणामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनोत्कृष्टकायस्थितिमेव निगदन्ति, तैर्देवानां पर्याप्तावस्थायामप्रशस्तलेश्यानामनङ्गीकृतत्वेन तेषां तदुत्कृष्टरसबन्धाभावात् ,अघातिकर्मणामपि उत्कृष्टरसबन्धान्तरस्य नारकानेवाश्रित्योपलम्भादिति भावः ॥१८९॥

साम्प्रतमभव्यमार्गणायां सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्योत्कृष्टान्तरं प्रदर्शयन् तथा शेषमार्गणासु प्रकृताऽन्तरं देशोनस्वकायस्थितितुल्यमिति बिभणिषुराह—

अभवम्मि असंखेज्जा परिअट्टा पोग्गलाण बोद्धव्वं ।
सेसासु देसूणा सगसगकायट्ठिई जेट्ठा ॥१९०॥

(प्र०) **'अभवम्मि'** इत्यादि, अभव्यमार्गणायां सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरं पुद्गलानामसंख्येयाः परावर्ताः-असंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणं बोद्धव्यम् । अभव्यमार्गणायां सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य ज्येष्ठानुभागबन्धद्वयान्तरालवर्ती यो निरन्तरबन्धकालः प्रागुक्तः स एवात्र ज्येष्ठानुभागबन्धस्यान्तरत्वेन द्रष्टव्यः । भावना चात्राऽनुत्कृष्टानुभागस्य निरन्तरबन्धकालवत्कर्तव्या ।

अथ शेषासु तदेवाह—**'सेसासु'** इत्यादि, शेषासु-भणितोद्धरितासु प्रस्तुताष्टोत्तरशतमार्गणामध्ये तिर्यग्गत्यादिद्वाविंशतिमार्गणा वर्जयित्वा शेषषडशीतिमार्गणास्वित्यर्थः देशोनस्वज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणमुत्कृष्टान्तरं बोद्धव्यम् , स्वस्वकायस्थितेः प्रारम्भे अवसाने च ज्येष्ठानुभागबन्धस्य सद्भावात् ,**तथाहि**—यः कश्चिद् जीवः सप्तमनरके उत्कृष्टायुष्केषु नारकत्वेन समुत्पद्यते,तस्मिन् समये नरकसामान्यमार्गणायाः प्रारम्भो भवति, तत्रापर्याप्तावस्थामनुभूय पर्याप्तः सन् किञ्चित्कालानन्तरं ज्येष्ठानुभागं निर्वर्तयितुं समर्थो भवति,तदनु तीव्रसंक्लिष्टः सन् समयमेकं घातिचतुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धं विदधाति, ततः परमनुत्कृष्टानुभागबन्धं भवद्विचरमसमयं यावत् करोति, चरमसमये च घातिचतुष्कस्योत्कृष्टरसं बध्नाति, तादृशजीवकृतोत्कृष्टरसबन्धद्वयमपेक्ष्य नरकसामान्यमार्गणायां घातिचतुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणं भवति,एवमघातित्रयस्यापि भावना कर्तव्या, नवरं सम्यग्दृष्टिर्भूत्वा सर्वविशुद्धः सन् ज्येष्ठानुभागं च बद्ध्वा देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणं यावदनुत्कृष्टानुभागं बध्नाति, अवशिष्टे चान्तर्मुहूर्तमात्रे आयुषि अघातित्रयस्य ज्येष्ठानुभागं पुनर्बध्नाति,तदा तस्य देशोनस्वकायस्थितिप्रमाणं प्रकृतान्तरं लभ्यते। अनया दिशा शेषमार्गणास्वपि यथासंभवं भावना कर्त्तव्या । शेषषडशीतिमार्गणा नामत इमाः-गतिमार्गणास्थानस्य सर्वनरकभेदाः, अपर्याप्ततिर्यगपर्याप्तमनुष्यभेदौ देवसामान्यवर्जैकोनत्रिंशद्देवभेदाः, इत्येवमेकोनचत्वारिंशन्मार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य बादरैकेन्द्रियतत्पर्याप्ताऽपर्याप्त-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-नवविकलेन्द्रियभेदा-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियरूपाः पञ्चदशमार्गणाः, काययोगमार्गणास्थानस्य ओघ-सूक्ष्मौघभेदवर्जाः पृथिवीकाया-ऽप्कायतेजस्काय-वायुकायानां भेदाः, ते च प्रत्येकं पञ्च पञ्च , वनस्पतिकायसामान्य-साधारणवनस्पतिकायसूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायभेदत्रय-

वर्जाष्टवनस्पतिकायमार्गणाः, अपर्याप्तत्रसकायश्चेत्येवं एकोनत्रिंशन्मार्गणाः, योगमार्गणास्थानस्य वैक्रियाहारकयोगलक्षणे द्वे मार्गणे असंज्ञिमार्गणा चेति सर्वसंख्यया षडशीतिः ॥१९०॥

प्रदर्शितमादेशतः सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धस्यान्तरम् । साम्प्रतमनुत्कृष्टानुभागबन्धस्यान्तरं प्ररूपयन्नादौ यासु मार्गणासु सप्तप्रकृतीनामन्तरं नास्ति तासु मार्गणासु तथैवाऽऽह—

कम्मणसामइएसु छेअसुहमदेसमीसऽणाहारे ।
सत्तण्ह अंतरं णो अत्थि अतिव्वाणुभागस्स ॥१९१॥

(प्रे०) **'कम्मण'** इत्यादि, कार्मणयोग-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-सूक्ष्मसम्पराय-देशविरति-मिश्रदृष्ट्यनाहारकलक्षणासु सप्तसु मार्गणासु सप्तानां प्रकृतीनामतीव्रानुभागस्य-अनुत्कृष्टानुभागबन्धस्यान्तरं नास्ति । भावना त्वेवम्—कार्मणानाहारकमार्गणाद्वये सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेन संज्ञी भणितः, तत्रापि यः संज्ञिजीवेभ्य उद्वृत्य संज्ञित्वेनोत्पद्यते, तस्यैवोत्कृष्टानुभागबन्धो भवति कुतः ? उच्यते—तस्यैव तीव्रसंक्लेशविशुद्धिसद्भावात् , तादृशजीवस्य त्रसनाड्यामेव विग्रहगतिः, तत्र द्वयोरेव वक्रयोः सद्भावेन कार्मणानाहारकमार्गणयोरवस्थितिर्द्विसमयप्रमाणा, ततोऽन्तरं न लभ्यते यतोऽन्तरस्य प्राप्त्यर्थं जघन्यतोऽपि समयत्रयमावश्यकम् , तथाहि—प्रथमचरमसमयद्वये तद्बन्धः स्यात् , मध्यसमये च तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तमन्तरं लभेत । तथा सामायिकछेदोपस्थापनीयसूक्ष्मसम्परायदेशविरतिमिश्रदृष्टिमार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धो मार्गणायाश्चरमसमये भवति, तदनन्तरं च मार्गणापरावृत्त्या पुनः सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धाभावादन्तरं न लभ्यते ॥१९१॥

अधुना त्रिमिश्रयोगेषु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धान्तरं मतान्तरेण निरूपयन्नाह—

सत्तण्हं कम्माणं तिमिस्सजोगेसु अंतरं णत्थि ।
अहव जहण्णं समयो जेट्ठं हवए दुवे समया ॥१९२॥

(प्रे०)**'सत्तण्हं'** इत्यादि, औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्राहारकमिश्रलक्षणासु तिसृषु मार्गणासु सप्तानां कर्मणामनुत्कृष्टानुभागबन्धस्यान्तरं नास्ति,कथम् ? इति चेत् ,उच्यते—एकस्मिन् मते शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनादर्वाक्समये सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्याभिहितत्वेन तन्मते उत्कृष्टानुभागबन्धवदनुत्कृष्टानुभागस्यापि सकृदेव लाभात् , अन्यमते पुनर्मार्गणायाः कस्मिंश्चिदपि समये साकारादिविशेषणविशिष्टस्य सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धो भवति, ततोऽनुत्कृष्टानुभागबन्धस्य ज्येष्ठानुभागबन्धप्रयुक्तमन्तरं प्राप्यते, यदा ज्येष्ठानुभागस्य बन्धः समयं यावद् भवति तत्पश्चात् तन्मार्गणायां पुनरनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धो भवति तदा सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यबन्धान्तरं समयमात्रं प्राप्यते,यदा पुनर्ज्येष्ठानुभागस्य बन्धो द्विसमयं भवति तदाऽनुत्कृष्टानुभागस्योत्कृष्टं बन्धान्तरं द्विसमयं यावद् लभ्यते न तु तदधिकं ज्येष्ठानुभागबन्धकालस्योत्कृष्टतोऽपि समयद्वयमानत्वात् । एतदेवोक्तं मूलकारेण-

'अहव'इत्यादि, अथवाशब्दो मतान्तरद्योतकः,शेषं सुगममनन्तरमेव भावितत्वात् ॥१९२॥

इदानीं विशेषवक्तव्योपेतासु मार्गणासु गत्यादिक्रमेण सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धस्यान्तरं कथयन्नादौ तावत् त्रिमनुष्यादिमार्गणासु निगदति—

तिणरेसु लहुं समयो घाईण भवे गुरुं मुहुत्तंतो ।
तिण्ह अघाईण भवे लहुं तह गुरुं मुहुत्तंतो ॥१९३॥

(प्रे०) **'तिणरेसु'** इत्यादि, मनुष्यौघ-मनुष्ययोनिमती-पर्याप्तमनुष्यलक्षणासु त्रिमार्गणासु घातिप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागस्य लघु-जघन्यान्तरं समयमात्रं, गुरु-उत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवेत् , तिसृणामघातिप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागबन्धस्य लघु-जघन्यान्तरं तथा गुरु-उत्कृष्टान्तरं मुहूर्तान्तः-अन्तर्मुहूर्तं भवेदित्यक्षरार्थः । **भावार्थः पुनरेवम्**—एतासु मार्गणासु घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धः संज्ञिमिथ्यादृष्टीनामुक्तः, ततः समयमेकं ज्येष्ठानुभागं बद्ध्वा पुनरनुत्कृष्टानुभागं निर्वर्तयति तदा तस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धस्य जघन्यान्तरं समयमात्रं भवति, घातिचतुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य प्रकृष्टान्तरं तथैवाघातित्रयस्य जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तप्रमाणमन्तरमबन्धप्रयुक्तं द्रष्टव्यम् , कुतः ? भण्यते-घातिचतुष्कस्य तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तमन्तरं प्रकर्षतोऽपि द्विसमयप्रमाणमेव प्राप्यते, तद्विपरीतज्येष्ठानुभागस्य समयद्वयं यावदेव निरन्तरबन्धस्य प्रवर्तनात् ,अतो घातिचतुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरमबन्धप्रयुक्तमेव ज्ञेयम् । अघातित्रयस्य पुनरुत्कृष्टानुभागबन्धः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये क्षपकस्य भवति,तत ऊर्ध्वमनुभागबन्धस्य विच्छेदो भवति, तेन चानुत्कृष्टानुभागस्य पुनर्बन्धाभावात् तस्य विपरीतबन्धप्रयुक्तमन्तरं न प्राप्यते, अत एव जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरमबन्धप्रयुक्तमेव भवति । तद्भावना चैवम्—एतासु मार्गणासु कश्चिज्जन्तुरुपशमश्रेणिमारूढोऽनिवृत्तिकरणगुणस्थानकस्य चरमसमयं यावद् मोहनीयस्य, सूक्ष्मसंपरायस्य चरमसमयं यावत्तु घातित्रयस्याघातित्रयस्य चानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धं विदधाति तदनन्तरमबन्धो भवति, इतोऽन्तरं प्रारब्धं ततः परं स आरोहकोऽबन्धस्थाने अन्तर्मुहूर्तं यावदवतिष्ठते, अद्धाक्षयेण तत्स्थानतः प्रपतन् सूक्ष्मसम्परायस्य प्रथमसमये षट्कर्मणां तथाऽनिवृत्तिकरणगुणस्थानकस्य प्रथमसमये मोहनीयस्यानुत्कृष्टानुभागं बध्नाति तदाऽबन्धप्रयुक्तं यथोक्तमन्तरं घटते ॥१९३॥

साम्प्रतं पञ्चमनोयोगादिषु त्रयोविंशतिमार्गणासु त्र्यघातिप्रकृतीनामन्तरं प्रतिषेधयन् तथा घातिचतुष्कस्य तदेव दर्शयन्नार्याद्वयमाह—

पणमणवयउरलेसुं थीपुरिसणपुंसचउकसायेसुं ।
अण्णाणतिगे अयते मिच्छे णत्थि तिअघाईणं ॥१९४॥
घाईण चउण्ह लहुं समयो जेट्ठं भवे दुवे समया ।
णवरं लोहकसाये मोहस्स भवे मुहुत्तंतो ॥१९५॥

(प्रे०) **'पणमण'** इत्यादि, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोगौदारिकयोग-स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेद-चतुष्कषाय-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञाना-ऽसंयम-मिथ्यात्वलक्षणासु त्रयोविंशतिमार्गणासु त्र्यघातिप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धान्तरं नास्ति, कुतः ? उच्यते-तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तस्याऽबन्धप्रयुक्तस्य चान्तरस्यालभ्यमानत्वात्, तथाहि—त्रिवेदचतुष्कषायलक्षणासु सप्तसु मार्गणासु त्र्यघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धः क्षपकश्रेण्यां स्वस्वमार्गणायाश्चरमसमये भवति, तथाऽज्ञानत्रिकासंयम-मिथ्यात्वमार्गणासु मार्गणाचरमसमये संयमाभिमुखस्य तदुत्कृष्टरसबन्धो भवति, तदनन्तरसमये मार्गणाया अवस्थानाभावादेतासु मार्गणासु तासां पुनरनुत्कृष्टानुभागबन्धो न भवति, ततस्तस्य विपरीतबन्धप्रयुक्तमन्तरं न प्राप्यते, तथैतासु मार्गणास्वबन्धोऽपि न लभ्यते ततस्तत्प्रयुक्तमप्यन्तरं न लभ्यते । पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोगौदारिककाययोगलक्षणास्वेकादशमार्गणासु तासां ज्येष्ठानुभागबन्धः क्षपकश्रेण्यां सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये भवति तदनन्तरमनुभागबन्ध एव न भवति ततस्तासामनुत्कृष्टानुभागस्य पुनर्बन्धाभावात् तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तमन्तरं नावाप्यते, नन्वत्राऽबन्धसत्त्वेऽप्यबन्धप्रयुक्तमन्तरं कथं न लभ्यते ? इति चेत्, उच्यते-श्रेणिसत्काबन्धकालतो विवक्षितैकयोगपरिणमनकालस्य लघीयस्त्वेन योगानां परावृत्तिसद्भावात्, तथाहि—यः कश्चिदुपशमश्रेणिं प्रतिपन्नो जन्तुः सूक्ष्मसम्परायस्य चरमसमय औदारिककाययोगेन परिणतः सन् त्र्यघातिनामनुत्कृष्टानुभागं बध्नाति तदनन्तरसमये तासामनुभागस्य बन्धाभावो भवति अबन्धश्चान्तर्मुहूर्तं यावदवतिष्ठते, तत्पश्चात् श्रेणितोऽवतरणस्यार्वागेवौदारिककाययोगस्य परावृत्तिर्भवति, ततो मनोयोगाद्यन्यतरयोगेन परिणतः सन्नुपशान्तमोहगुणस्थानकस्यावशेषं कालं यावदवतिष्ठते, पश्चाद्भवाक्षयेण ततोऽवतीर्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकमवाप्नोति, तत्र तासामनुत्कृष्टानुभागं बध्नाति, किन्तु योगपरावर्त्तनेन निरन्तरप्रवृत्तायामौदारिककाययोगमार्गणायां पुनर्बन्धो न भवति, अत एवाबन्धप्रयुक्तमप्यन्तरं नावाप्यते, एवं पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगेष्वपि भावना द्रष्टव्या ।

सम्प्रति द्वितीयगाथा विव्रियते-**'घाईण चउण्ह'** इत्यादि, एतासु त्रयोविंशतिमार्गणासु चतसृणां घातिप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागबन्धस्य 'लघु' जघन्यान्तरं समयः- एकसमयप्रमाणं, 'ज्येष्ठं' उत्कृष्टान्तरं द्वौ समयौ-द्विसमयप्रमाणं भवेत् । कुतः ? भण्यते—अत्रोत्कृष्टानुभागबन्धप्रयुक्तमेव प्रकृतान्तरं लभ्यते, उत्कृष्टानुभागबन्धकालस्तु जघन्यतः समयः उत्कृष्टतश्च द्वौ समयौ इति । अथ लोभकषायमार्गणायां मोहनीयस्योत्कृष्टान्तरविषयकं विशेषमाह—**'णवरं लोहकसाये'** इत्यादि, लोभकषायमार्गणायां मोहनीयस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरं मुहूर्तान्तः अन्तर्मुहूर्तप्रमाणं भवेत् । कथम् ? इति चेत्, उच्यते-यथोक्तप्रमाणस्यैवाबन्धप्रयुक्तान्तरस्योत्कृष्टतः प्राप्यमाणत्वात्, तथाहि—लोभकषायमार्गणायां वर्त्तमानः कश्चिदुपशामकोऽनिवृत्तिकरणस्य चरमसमयेऽनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धं व्यवच्छिद्य सूक्ष्मसम्परायस्य चरमसमये कालं कृत्वा लोभकषायसमन्वित एव देवेषूत्पद्य प्रथमसमये मोहनीयस्यानुत्कृष्टानुभागस्य पुनर्बन्धं विदधाति, इत्येवमबन्धप्रयुक्तं प्रकृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति ।

नन्वेतस्यां मार्गणायां ज्ञानावरणादित्रिघातिनामनुत्कृष्टानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं कथं नोक्तम् ? इति चेत्, उच्यते—एतन्मार्गणायां मोहनीयवर्जत्रिघातिप्रकृतीनामबन्ध एव न भवति तर्हि कथं तासामबन्धप्रयुक्तमन्तरं प्राप्यते ? नैव प्राप्यते इत्यर्थः ॥१९४।१९५॥

साम्प्रतमपगतवेदमनःपर्यवज्ञानसंयमसामान्यमार्गणासु सप्तानां प्रकृतान्तरमाह—

अवगयवेअम्मि तहा मणपज्जवसंयमेसु बोद्धव्वं ।
सत्तण्हं कम्माणं लहुं तह गुरुं मुहुत्तंतो ॥१९६॥

(प्रे०) 'अवगयवेअम्मि' इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां तथा मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्यमार्गणाद्वये सप्तानां कर्मणां 'लघु'-जघन्यान्तरं तथा 'गुरु'-उत्कृष्टान्तरं 'मुहूर्तान्तः' अन्तर्मुहूर्तं बोद्धव्यमिति गाथाक्षरार्थः । **भावार्थः पुनरेवम्**-एतासु तिसृषु मार्गणासु घातिचतुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धः स्वस्वमार्गणायाश्चरमसमये भवति, तदनन्तरं च मार्गणाविच्छेदात् तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तमन्तरं न प्राप्यते, अघातित्रयस्य पुनरुत्कृष्टानुभागबन्धः सूक्ष्मसम्परायस्य चरमसमये क्षपकस्य भवति, ततः पुनर्बन्धाभावात् तस्यापि तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तमन्तरं न लभ्यते । अतः सप्तप्रकृतीनामबन्धप्रयुक्तमेव प्रकृतान्तरं द्रष्टव्यम् । ननु तदबन्धप्रयुक्तमन्तरं कथमेकसमयो न भवति ? उच्यते-अबन्धप्रयुक्तान्तरं समयप्रमाणं तदा प्राप्यते यदा समयमेकमबन्धको भूत्वा कालकरणेनाऽपि मार्गणान्तरं न गच्छति, न चैतदत्र संभवति, कालकरणेन नियमतः प्रस्तुतमार्गणाविच्छेदात्, अतोऽबन्धकालापेक्षया लभ्यमानं तज्जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तं दर्शितम् । एतदपि कुतः ? उच्यते—अद्धाक्षयेण प्रतिपततामुभयथाऽप्यबन्धस्यान्तर्मुहूर्तं यावत् प्रवर्तनादिति ॥१९६॥

अधुना परिहारविशुद्धिवेदकसम्यक्त्वमार्गणाद्वये तदेवान्तरमाह—

परिहारवेअगेसुं घाईणं ण इयराण तिण्ह लहुं ।
समयो णेयं जेट्ठं समयो अहवा दुवे समया ॥१९७॥

(प्रे०) **'परिहारवेअगेसु'** इत्यादि, परिहारविशुद्धिसंयमवेदकसम्यक्त्वमार्गणाद्वये घातिप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागबन्धस्यान्तरं नास्ति, तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तस्याबन्धप्रयुक्तस्य च बन्धान्तरस्यानवाप्यमानत्वात् । तथाहि-एतन्मार्गणाद्वये श्रेणेरभावेन श्रेणिसत्काबन्ध एव न भवति, ततः 'मूलं नास्ति कुतः शाखा' इति न्यायात् कथमबन्धप्रयुक्तमन्तरं ? तद्विपरीतबन्धानन्तरं पुनस्तद्बन्धाभावाद् विपरीतबन्धप्रयुक्तमप्यन्तरं न भवति । इदमुक्तं भवति परिहारविशुद्धिमार्गणागतस्य छेदोपस्थापनीयाभिमुखावस्थायाश्चरमसमये तथा वेदकसम्यग्दृष्टेर्मिथ्यात्वाभिमुखावस्थायां स्वीयमार्गणाचरमसमये घातिचतुष्कसत्कज्येष्ठानुभागबन्धस्य सद्भावेन तदनन्तरं प्रस्तुतमार्गणाया विच्छेदात् तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तान्तरं निषिद्धमिति । अथाघातिनीनामन्तरमाह—**'इयराण'** इत्यादि, इतरासां तिसृणाम-

घातिप्रकृतीनां 'लघु'-जघन्यान्तरं समयः-समयप्रमाणं, 'ज्येष्ठं' उत्कृष्टान्तरं समयः-समयप्रमाणं, अथवाशब्दो मतान्तरद्योतकः ततश्च मतान्तरेण द्वौ समयौ-द्विसमयप्रमाणं ज्ञेयम् ।

भावना त्वियम्–एतन्मार्गणाद्वयेऽघातित्रयस्य ज्येष्ठानुभागबन्ध एकेन मतेन कृतकरणाद्धाया अर्वाक्समये भवति, तद्बन्धानन्तरं च मार्गणापरावृत्तेरभावेन तस्यामेव मार्गणायां त्र्यघातिनामनुत्कृष्टानुभागस्य पुनर्बन्धो भवति, ततस्तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तमन्तरं प्राप्यते, तद्विपरीतबन्धकालस्य च प्रकर्षतोऽपि समयप्रमाणत्वात् तत्प्रयुक्तमन्तरमपि समयप्रमाणमेव लभ्यते, अन्यमतेन पुनः साकारादिविशेषणविशिष्टस्य सर्वविशुद्धस्य मार्गणायाः कस्मिंश्चिदपि समयेऽघातित्रयस्य ज्येष्ठानुभागबन्धो भवति, तद्बन्धस्य च निरन्तरकालः प्रकर्षतो द्विसमयप्रमाण एव ततश्चाघातित्रयस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धस्य तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तमन्तरं द्विसमयप्रमाणमेव भवतीति ॥१९७॥

इदानीं तेजःपद्मलेश्यामार्गणाद्वये सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धान्तरं समादिशन्नाह—

तेउपउमासु समयो सत्तण्ह लहु गुरु मुणेयव्वं ।
दो समया उअ समयो तिण्ह अघाईण पयडीण ॥१९८॥

(प्रे०) '**तेउपउमासु**' इत्यादि, तेजःपद्मलेश्यामार्गणाद्वये सप्तानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागबन्धस्य 'लघु'-जघन्यान्तरं समयः-समयप्रमाणं 'गुरु'-प्रकृष्टान्तरं द्वौ समयौ-द्विसमयप्रमाणं ज्ञातव्यम् । अथ मतान्तरेण त्र्यघातिनां प्रकृतान्तरमाह–'उअ' इत्यादि, उतशब्दो विकल्पार्थद्योतकः, ततश्चाऽन्यमते तिसृणामघातिप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरमित्यनुवर्तते, समयः-समयप्रमाणं ज्ञातव्यमिति गाथाक्षरार्थः । **भावार्थस्त्वेवम्**–एतन्मार्गणाद्वये अबन्धस्याभावादबन्धप्रयुक्तमन्तरं नैव प्राप्यते, तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तमन्तरं तु यदा सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यतः समयमेकं बन्धो भवति तदा समयप्रमाणं जघन्यान्तरं भवति, उत्कृष्टतश्च यदा द्विसमयं यावत्तस्य बन्धो भवति तदा द्विसमयप्रमाणं प्रकृष्टान्तरं भवति, अन्यमते पुनरघातिप्रकृतीनां कृतकरणाद्धाया अर्वाक्समयवर्तिजीवस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेनाभिहितत्वात् तासां समयप्रमाणप्रकृष्टान्तरस्य भावना अनन्तरोक्तपरिहारवेदकमार्गणावद् विधेयेति । ॥१९८॥ अथ सास्वादनमार्गणायां तदेवान्तरमाह—

सासायणम्मि ण भवे चउण्ह घाईण अंतरं चेव ।
तिण्ह अघाईण लहु समयो जेट्ठं दुवे समया ॥१९९॥

(प्रे०) '**सासाणयम्मि**' इत्यादि, सास्वादनमार्गणायां चतसृणां घातिप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागबन्धस्यान्तरं नैव भवेत्, कुतः ? मिथ्यात्वाभिमुखस्य मार्गणायाश्चरमसमये तासामुत्कृष्टरसबन्धसद्भावात्, तदनन्तरं च मार्गणायाः परावृत्तिर्भवति, एवं तन्मार्गणायां तासामनुत्कृष्टानुभागस्य पुनर्बन्धाभावेन तदन्तरं नैव घटते । तथा '**तिण्ह**' इत्यादि, तिसृणामघातिप्रकृतीनां 'लघु'-जघन्यान्तरं समयः-समयप्रमाणम्, 'ज्येष्ठं' प्रकृष्टान्तरं द्वौ समयौ–द्विसमयप्रमाणमनुत्कृष्टानु-

भागबन्धस्य भवेदित्यनुवर्तते । कुतः ? स्वस्थानविशुद्धानां मार्गणायाः कस्मिंश्चिदपि समये ज्येष्ठानुभागबन्धस्य सद्भावेन तस्य निरन्तरकालः द्विसमयप्रमाण एव भवति, तद्बन्धानन्तरं चानुत्कृष्टानुभागस्य पुनर्बन्धोऽपि भवति, एवं त्र्यघातिनीनामनुत्कृष्टानुभागबन्धस्य तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तमुत्कृष्टतो द्विसमयप्रमाणमेवान्तरं भवति । अत्रापि मतद्वयस्य सम्भवात् मतान्तरेण ज्येष्ठानुभागबन्धस्वामिनमवगम्य प्रकृतान्तरं स्वयमेवाभ्यूह्यम् ॥१९९॥

तदेवं चतुश्चत्वारिंशन्मार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धस्यान्तरप्ररूपणा कृता । सम्प्रति शेषषड्विंशत्युत्तरशतमार्गणासु सप्तानां प्रकृतान्तरं जघन्यत उत्कृष्टतश्चाभिदधन्नाह—

सेसासु मग्गणासुं समयो सत्तण्ह होअइ जहण्णं ।
दुपणिंदितसेसु तहा कायतिणाणतिदरिसणेसुं ॥२००॥
सुक्कभवियसम्मेसुं खइउवसमसण्णिगेसु आहारे ।
अंतमुहुत्तं जेट्ठं अवसेसासुं दुवे समया ॥२०१॥

(प्रे०) **'सेसासु'** इत्यादि, शेषासु प्रागुक्तचतुश्चत्वारिंशन्मार्गणावर्जषड्विंशत्युत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः, सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धस्य जघन्यम्-जघन्यान्तरं समयः-समयप्रमाणं भवति, इह भावना चैवम्-अनन्तरवक्ष्यमाणपञ्चेन्द्रियाद्यष्टादशमार्गणासु श्रेणिसत्काबन्धः प्राप्यते, ततो घातिचतुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धस्याबन्धप्रयुक्तमपि समयप्रमाणमन्तरं प्राप्यते, किन्त्वघातित्रयस्य केवलमबन्धप्रयुक्तमेव तत्प्राप्यते न तु तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तम्, तासां क्षपकश्रेण्यामुत्कृष्टानुभागबन्धसद्भावेन तद्बन्धानन्तरमनुत्कृष्टानुभागस्य पुनर्बन्धाभावात्, तथाहि—वक्ष्यमाणाऽष्टादशमार्गणाभ्यस्तत्तन्मार्गणावर्तिजन्तुरुपशमश्रेणिमारुह्य समयमेकमबन्धं कृत्वा कालं करोति, ततश्च देवेषूत्पद्य प्रथमसमय एव सप्तानामनुत्कृष्टानुभागं पुनर्बध्नाति तदा समयप्रमाणमबन्धप्रयुक्तं जघन्यान्तरं प्राप्यते, प्रकृष्टान्तरं पुनरेतास्वष्टादशमार्गणास्वन्तर्मुहूर्तमेव वक्ष्यते, अबन्धाद्धायाः प्रकर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्, तद्यथा—एतासु काययोगवर्जसप्तदशमार्गणासु प्रागुक्तजन्तुरबन्धस्थानतो यदि कालं न करोति तदा प्रकर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्तं यावदवस्थाय ततोऽवतरन् तामामनुत्कृष्टानुभागस्य पुनर्बन्धं विदधाति, तदा एतासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति । काययोगमार्गणायां पुनः मार्गणायाः प्रथमसमये कश्चिन्मनुष्यः सप्तानामनुत्कृष्टानुभागं बद्ध्वा द्वितीयसमये एवाबन्धं विदधाति । मनुष्येषु योगानां परावृत्तिरन्तर्मुहूर्तेन कालेन भवति, योगपरावृत्त्यर्वाक्समये पञ्चत्वं गतः स मनुष्यो देवेषूत्पद्य प्रथमसमये सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धमारभते, तदा काययोगमार्गणायां सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति । एतदेव ग्रन्थकृता निरूप्यते, **'दुपणिंदितसेसु'** इत्यादि, पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रससामान्य-पर्याप्तत्रसकाय-काययोगसामान्य-मतिश्रुतावधिज्ञान-चक्षुरचक्षुरवधिदर्शन--शुक्ल-भव्य--सम्यक्त्वसामान्य-

क्षायिकौपशमिकसम्यक्त्व-संज्ञ्याहारकलक्षणास्वष्टादशमार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धस्य ज्येष्ठं-प्रकृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, भावना त्वनुपदमेव कृता ।

अथावशेषासु तदेवाह–'अवसेसासु' इत्यादि, अवशेषासु–शेषषड्विंशत्युत्तरशतमार्गणास्यः पञ्चेन्द्रियाद्यष्टादशमार्गणा वर्जयित्वाऽवशिष्टास्वष्टोत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः, सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरं द्वौ समयौ–द्विसमयप्रमाणं भवति, तद्विपरीतज्येष्ठानुभागबन्धकालस्य प्रकर्षतोऽपि द्विसमयप्रमाणत्वेन तत्प्रयुक्तान्तरस्यापि तावत्प्रमाणत्वात् । तथाहि–अत्र तावत् प्रथममष्टोत्तरशतमार्गणा नामग्राहमभिधीयन्ते गतिमार्गणास्थानस्य त्रिमनुष्यभेदवर्जचतुश्चत्वारिंशन्मार्गणाः इन्द्रियमार्गणास्थानस्य द्विपञ्चेन्द्रियभेदवर्जसप्तदशमार्गणाः, कायमार्गणास्थानस्य द्वित्रसकायभेदवर्जचत्वारिंशन्मार्गणाः, योगमार्गणास्थानस्य वैक्रियाहारकरूपे द्वे मार्गणे, लेश्यामार्गणास्थानस्य कृष्णादित्रयशुभलेश्यामार्गणाः अभव्यमार्गणाऽसंज्ञिमार्गणा चेत्येता अष्टोत्तरशतमार्गणाः । आसु मार्गणासु श्रेणिविरहेणाबन्धप्रयुक्तमन्तरं नैव लभ्यते । ततः सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धस्य जघन्यतः प्रकर्षतश्चान्तरं तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तमेवावाप्यते । तद्विपरीतोत्कृष्टानुभागस्य च निरन्तरबन्धकालो जघन्यतः समयप्रमाणः प्रकर्षतश्च द्विसमयप्रमाणः, अभिमुखावस्थाया अभावेन प्रतिनियतसमये तस्य बन्धाभावात् तत्प्रयुक्तमन्तरमपि तावत्प्रमाणमेव भवति ॥२००।२०१॥

तदेवमभिहितं गत्यादिमार्गणास्वेकजीवाश्रितं सप्तानां कर्मणामुत्कृष्टानुभागस्यानुत्कृष्टानुभागस्य च बन्धान्तरम् । सम्प्रति वैक्रियमिश्रादिसप्तवर्जत्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्वायुष्कस्यैकजीवाश्रयं बन्धान्तरं निरूपयितुकाम आदौ तावत् तस्य ज्येष्ठानुभागस्य जघन्यतो बन्धान्तरमाह—

सव्वासु अंतरं खलु गुरुअणुभागस्स आउगस्स लहुं ।
समयो णेयं णवरं व णत्थि आहारमीसम्मि ॥२०२॥

(प्रे०) 'सव्वासु' सर्वासु-आयुर्बन्धप्रायोग्यसर्वमार्गणासु त्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः, वैक्रियमिश्रादिसप्तमार्गणानामायुर्बन्धायोग्यत्वेन प्राक् प्रतिषिद्धत्वात्, आयुष्कस्य 'गुर्वनुभागस्य'-उत्कृष्टानुभागस्यान्तरं-बन्धान्तरं 'लघु'-जघन्यं, 'समयः'-समयप्रमाणं ज्ञेयम्, खलुः वाक्यालङ्कारे, तच्चान्तरं सर्वत्र तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तं द्रष्टव्यम्, अन्यथा समयप्रमाणान्तरस्यालभ्यमानत्वात्, तथाहि – तत्तन्मार्गणावर्तिजीव आयुष्कस्य स्वमार्गणाप्रायोग्यज्येष्ठानुभागबन्धद्वयस्यान्तराले यदा तद्विपरीतानुत्कृष्टानुभागस्य समयमेकं बन्धं विदधाति तदा ज्येष्ठानुभागस्य तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तं समयप्रमाणमन्तरं लभ्यते । अबन्धप्रयुक्तमन्तरं तु यद्यायुर्बन्धाद्धायाश्चरमसमये उत्कृष्टानुभागस्य बन्धो भवेत्, तदनन्तरं च समयमेकमबन्धो भवेत्, ततः परं द्वितीयाकर्षेण पुनरायुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धः स्यात् तर्ह्यायुष्कस्य समयप्रमाणं प्रकृतान्तरं संभवेत् । किन्त्वनेन प्रकारेण बन्धो नैव भवति, आकर्षद्वयस्य जघन्यतोऽप्यन्तरस्यान्तर्मौहूर्तिकत्वात् । एवमबन्धप्रयुक्तसमयप्रमाणजघन्यान्तरस्यालभ्यमानत्वेन प्रकृतान्तरं तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तमेवेति ।

अथाहारकमिश्रमार्गणायां मतान्तरमधिकृत्य विशेषमाह—'णवरं व' इत्यादिना, मतान्तरेणाहारकमिश्रमार्गणायामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धान्तरं न भवति । तथाहि–एकेन मतेन प्रस्तुतमार्गणायां समयप्रमाणमन्तरमुक्तम् । अन्यमतेन पुनरायुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्यान्तरं नैव भवति कुतः ? एतन्मते शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनादर्वाक्समय आयुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धो भवति, तदनन्तरं चाहारकमिश्रमार्गणाया अवस्थानाभावेन ज्येष्ठानुभागस्य पुनर्बन्धाभावात् प्रकृतान्तरं निषिद्धमिति । **अत्रेदमवधेयम्**–आयुरष्टभिराकर्षैरपि बध्यते इति यैः मन्यते, तेषामभिप्रायेणाऽऽयुर्विषयकाऽन्तरप्ररूपणा ज्ञातव्या । एकभवमध्ये आयुः सकृदेव बध्यते इति यैः मन्यते तेषामभिप्रायेणाऽऽयुषोऽन्तरप्ररूपणा आगमाविरोधेन स्वयं कर्तव्या ॥२०२॥

सम्प्रति मार्गणास्वायुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं दर्शयन्नाह—

ओघव्व जाणियव्वं गुरु अचक्खुभवियेसु छम्मासा ।
सव्वणिरयदेवेसु पुव्वाणं कोडितंसंतो ॥२०३॥
तिरितिपणिंदितिरियणरणपुंसमणणाणसंयमेसु तहा ।
सामाइअछेएसु परिहारे देसखइअसमणेसु ॥२०४॥ [गीतिः]

(प्रे०) **'ओघव्व जाणियव्वं गुरु अचक्खुभवियेसु'** इति अचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणयोरायुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्य गुरु–उत्कृष्टान्तरमोघवद् ज्ञातव्यम् । यथौघे "आउस्स जाणियव्वं देसूणो अद्धपरिअट्टो" इति ग्रन्थेनायुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं देशोनार्धपुद्गलपरावर्तमितं प्ररूपितं तथैवात्रापि वेदितव्यम् । अथ सर्वनारकदेवभेदेषु तदेवान्तरमाह-**'छम्मासा सव्वणिरयदेवेसु'** इति सर्वशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् सर्वेषु निरयेषु, नरकसामान्ये तदुत्तरभेदसप्तके चेत्यर्थः । सर्वदेवेषु देवगतिसामान्ये तदुत्तरभवनपत्याद्येकोनत्रिंशद्भेदेषु चेत्यर्थः, आयुष उत्कृष्टानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तन्यूनाः षण्मासा भवति । तथाहि–देवनारकाणां षण्मासावशेषे स्वभवायुषि आयुर्बन्धो भवति नार्वाक्, तेन यः कश्चिद् देवो वा नारको वा आकर्षद्वयेनायुर्बिभन्त्सुः स्वभवायुषि षण्मासावशेषे प्रथमाकर्षस्य प्रथमसमये आयुष्कस्योत्कृष्टरसबन्धं विधायाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणाऽसंक्षेप्याद्धाशेषे स्वायुषि द्वितीयाकर्षस्य चरमसमये पुनरुत्कृष्टरसबन्धं विदधाति तमाश्रित्य ज्येष्ठरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तेनोनं षाण्मासिकं लभ्यते ऊनत्वञ्चात्र मूलेऽनुक्तमपि सामर्थ्याद् गम्यम् ।

अथ यासु प्रकृतान्तरं देशोनपूर्वकोटित्रिभागः प्राप्यते, तासु तदभिदधाति-'पुव्वाणं'इत्यादि, तिर्यक्सामान्यमार्गणायां त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिमतीपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्रूपासु तिसृषु मार्गणासु तथा त्रिशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् त्रिनरेषु-मनुष्यसामान्यमनुष्ययोनिमती-पर्याप्तमनुष्यलक्षणासु त्रिमार्गणासु , नपुंसकवेदमनःपर्यवज्ञानसंयमसामान्यमार्ग-

णासु तथा सामायिकछेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिकदेशविरतिक्षायिकसम्यक्त्वाऽसंज्ञिमार्गणास्विति सर्वसंख्यया षोडशमार्गणास्वायुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरं पूर्वाणां कोटिस्त्र्यंसान्तः- देशोनपूर्वकोटित्रिभाग इत्यर्थः। आयुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धानन्तरं कालकरणेन मार्गणान्तरगमनसंभवात् तद्भववर्तिबन्धद्वयस्यान्तरालकालो यथोक्तप्रमाणो घटते। इदमुक्तं भवति–तिर्यक्सामान्यत्रितिर्यक्पञ्चेन्द्रियमार्गणासु यः कश्चित् पूर्वकोटयायुष्कः संज्ञिमिथ्यादृष्टिः, असंज्ञिमार्गणायां पुनः पञ्चेन्द्रियजीव आकर्षद्वयेन नरकायुर्बध्नाति, तत्र प्रथमाकर्षः स्वभवायुष्कस्य तृतीयभागावशेषे भवति, तदाकर्षस्य च प्रथमसमये एवायुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धं विदधाति, ततश्च तस्यान्तर्मुहूर्तं यावदनुत्कृष्टानुभागं बद्ध्वाऽऽयुर्बन्धाद् निवर्तते, निवृत्तोऽसौ अन्तर्मुहूर्तप्रमाणाऽसंक्षेप्याद्धाशेषे स्वायुषि द्वितीयाकर्षेण भूयस्तदेवायुर्बन्धमारभते, तद्बन्धाद्धायाश्चरमसमये आयुष्कस्य पुनरुत्कृष्टानुभागमारचयति, तदेवमायुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटितृतीयभागप्रमाणं भवति। शेषास्वेकादशमार्गणास्वपि भावनाऽनन्तरोक्तप्रकारेणैव कर्त्तव्या नवरं देशविरतमार्गणायां देवायुर्बध्नन् मनुष्यः, शेषत्रिमनुष्यादिदशमार्गणासु पुनर्देवायुर्बध्नन्नप्रमत्तमुनिरायुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धं विदधातीति ॥२०३।२०४॥ साम्प्रतं यासु मार्गणासु देशोनप्रकृष्टभवस्थितित्रिभागप्रमाणं प्रकृतान्तरं लभ्यते तासु तथैवाह—

देसूणगुरुभवठिइतिभागोऽत्थि पणिंदितिरिअपज्जत्ते ।
सव्वेसु एगिंदियविगलिंदियभूदगवणेसु ॥२०५॥

(प्रे०)'**देसूण०**'इत्यादि,आयुष्कस्य ज्येष्ठानुभागस्य प्रकृष्टबन्धान्तरं देशोनगुरुभवस्थितित्रिभागोऽस्ति स्वस्वमार्गणाप्रायोग्यप्रकृष्टायुष्कस्य देशोनतृतीयभागप्रमाणं भवतीत्यर्थः, कुत्र? इत्याह– '**पणिंदि**' इत्यादि, 'पञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्त' अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदे तथा सर्वैकेन्द्रियभेदेषु सर्वविकलेन्द्रियभेदेषु, सर्वपृथ्वीकायभेदेषु, सर्वाप्कायभेदेषु, सर्ववनस्पतिकायभेदेषु चेत्येतेषु द्वाचत्वारिंशन्मार्गणाभेदेष्विति। **भावना चेयम्**–एतासु मार्गणास्वायुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धो मनुष्यायुर्बन्धवेलायामेव भवति, ततः कालकरणेन प्रस्तुतमार्गणानामभावेन कायस्थितिं विहाय स्वस्वोत्कृष्टभवस्थितिमाश्रित्य प्रकृतान्तरं दर्शितम्, भवस्थितेस्त्रिभागावशेषे आयुष्कबन्धः प्रारभ्यते नार्वाक्, तत आकर्षद्वयेन बध्यमानमनुष्यायुष्कस्य प्रथमाकर्षः स्वायुषि त्रिभागावशेषे भवति, तत्रापि तस्य प्रथमसमये उत्कृष्टानुभागस्य बन्धः ततोऽनुत्कृष्टानुभागस्यान्तर्मुहूर्तं यावद् बन्धो भवति, तदनन्तरं चायुर्बन्धाद् विरमति, अन्तर्मुहूर्तप्रमाणासंक्षेप्याद्धावशेषे स्वायुषि द्वितीयाकर्षेण भूय आयुर्बन्धमारभते, तस्य चरमसमये आयुष्कस्य पुनरुत्कृष्टानुभागस्य बन्धो भवति, तदा एतासु द्वाचत्वारिंशन्मार्गणास्वायुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरं स्वस्वभवस्थितेर्देशोनत्रिभागप्रमाणं भवति, भवस्थितिः पुनरेवम्-सर्वेषामपर्याप्तभेदानां सर्वेषां निगोदभेदानां शेषसर्वसूक्ष्मजीवानां च प्रकृष्टा भवस्थितिरन्त-

मुहूर्तप्रमाणा, एकेन्द्रियसामान्य-बादरैकेन्द्रिय-बादरपर्याप्तकेन्द्रिय-पृथ्वीकायसामान्य-बादरपृथ्वीकाय-पर्याप्तबादरपृथ्वीकायलक्षणषण्मार्गणावर्तिजन्तूनां प्रकृष्टा भवस्थितिर्द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि(२२-००० वर्ष०) अप्कायसामान्य-बादराप्काय-पर्याप्तबादराप्कायमार्गणावर्तिजन्तूनां पुनः सप्तसहस्रवर्षाणि (७००० वर्ष०), वनस्पतिकायसामान्य-प्रत्येकशरीरवनस्पतिकाय पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायिकानां तु दशसहस्रवर्षाणि (१०००० वर्ष०), द्वीन्द्रियसामान्य-पर्याप्तद्वीन्द्रियमार्गणावर्तिजन्तूनां पुनर्द्वादशवर्षाणि, त्रीन्द्रियसामान्य-पर्याप्तत्रीन्द्रियमार्गणावर्तिजीवानां पुनरेकोनपञ्चाशद् दिवसाः, चतुरिन्द्रियसामान्यपर्याप्तचतुरिन्द्रियमार्गणावर्तिजन्तूनां तु षण्मासाः, इति द्वाचत्वारिंशन्मार्गणासूत्कृष्टा भवस्थितिरुक्ता, तस्या देशोनतृतीयभागप्रमाणं यदन्तरमभिहितम् , तत्र देशोनत्वं प्रत्येकं मार्गणासु स्वयमेवावगन्तव्यम् ॥२०५॥

अथ यासु मार्गणास्वायुष्कस्य प्रकृष्टान्तरमेकाकर्षबन्धाद्धामध्ये प्राप्यमाणत्वेनान्तर्मुहूर्तप्रमाणमेव भवति, तासु तथैवाह—

पणमणवयकायउरलविउवाहारदुगचउकसायेसुं ।
लेसासुं सासाणे अंतमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥२०६॥

(प्रे०)'पणमण' इत्यादि, आयुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं ज्ञातव्यम् , कुत्र ? इत्याह–'पणमण' इत्यादि, पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगकाययोगसामान्यौदारिकवैक्रियाहारकाहारकमिश्रयोगचतुष्कषायषड्लेश्यासास्वादनलक्षणासु षड्विंशतिमार्गणास्विति ।

इयमत्र भावना प्रागुक्तपञ्चमनोयोगादिषड्विंशतिमार्गणास्वायुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धः संज्ञिजीवानामेव भवति, संज्ञिजीवानामेकयोगपरिणमनकालः प्रकर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणः ततो यस्मिन्नेव योगे आयुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धो भवति, तस्मिन्नेव योगे आयुर्बन्धस्य द्वितीयाकर्षो न भवति, आकर्षद्वयान्तरालवर्तिकालस्य दीर्घतरत्वात् । तत एकाकर्षमध्ये प्रकृतान्तरं यथोक्तप्रमाणं लभ्यते स चाकर्ष आयुषो ज्येष्ठबन्धाद्धाप्रमाणो ज्ञेयः । चतुष्कषायमार्गणाः प्रत्येकमप्यन्तर्मुहूर्तेन परावर्तन्ते, ततो मनोयोगादिमार्गणावद् भावना कार्या । त्रिशुभलेश्यासु मुनीनां, त्र्यशुभलेश्यासु तिरश्चां मनुष्याणां वाऽऽयुष्कस्य प्रकृष्टानुभागबन्धो भवति, तिर्यङ्मनुष्याणां तु लेश्या अन्तर्मुहूर्तेन परावर्तन्ते, तत एतास्वपि मार्गणासु मनोयोगादिवद् भावना विधेया । तथा सास्वादनमार्गणाया एकजीवमाश्रित्यावस्थानकालः षडावलिकाप्रमाणः, ततस्तस्यामप्येवमेव भावना कर्तव्या ॥२०६॥

अथ विभङ्गज्ञानमार्गणायां मतद्वयमाश्रित्य प्रकृतान्तरमाह—

विब्भंगे देसूणो कोडितिभागो हवेज्ज पुव्वाणं ।
अण्णे उण साहंते होअइ अंतोमुहुत्तं ति ॥२०७॥

(प्रे०) **'विब्भंगे'** इत्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायामायुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरं भवति, कियत्प्रमाणम् ? इत्याह–पूर्वाणां देशोनः कोटित्रिभागः-देशोनपूर्वकोटित्रिभागप्रमाणमित्यर्थः, कुतः ? उच्यते–अस्यां मार्गणायामायुष्कस्य प्रकृष्टानुभागबन्धः संज्ञितिरश्चां मनुष्याणां वा भवति, पूर्वकोट्यायुष्केषु तिर्यग्मनुष्येषु विभङ्गज्ञानस्यावस्थितिकालः पुनर्देशोनपूर्वकोटिप्रमाणः ततस्ते तिर्यग्मनुष्या विभङ्गज्ञानमासाद्य स्वायुषि त्रिभागावशेषे बध्यमानायुष्कस्य प्रकृष्टानुभागं प्रथमाकर्षस्याद्यसमये बद्ध्वाऽन्तर्मुहूर्तानन्तरमायुर्बन्धतो विरमन्ति, विरताश्च ते अन्तर्मुहूर्तप्रमाणाऽसंक्षेप्याद्धावशेषे स्वायुषि द्वितीयाकर्षेण भूयस्तदेवायुर्बन्धमारभन्ते तद्बन्धाद्धायाश्चरमसमये च आयुष्कस्य पुनरुत्कृष्टानुभागबन्धं विदधति, तदा प्रस्तुतमार्गणायामायुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागप्रमाणं भवति ।

अथ मतान्तरमधिकृत्याह–**'अण्णे'** इत्यादि, अत्र पुनःशब्दो विशेषद्योतनार्थः, तेन 'अन्ये'–केचिदाचार्याः **महाबन्धकाराः** इति यावत् , ते पुनः उक्ताद् विलक्षणं कथयन्ति, किं तत् ? अन्तर्मुहूर्तं भवतीति, आयुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरमिति गम्यते; तर्यैव प्रस्तुतत्वादिति । कथम् ? इति चेद् , भण्यते-तेषां मते तिर्यङ्मनुष्येषु विभङ्गज्ञानस्यावस्थितिकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण एव भवति, ततो मनोयोगादिमार्गणावत् प्रकृष्टान्तरमेकाकर्षेणायुर्बन्धकस्यैव भवति, तद्यथा–एकाकर्षेण बध्यमानायुष्कस्य बन्धाद्धायाः प्रथमसमये चरमसमये च यदा ज्येष्ठानुभागबन्धो भवति, तदा तयोरन्तरालवर्तिकालः प्रकृष्टान्तरत्वेन लभ्यते ॥२०७॥

सम्प्रति द्व्यज्ञानादिमार्गणासु प्रकृष्टान्तरमाह—

दुअणाणायतअभवियमिच्छत्तेसुं असंखपरिअट्टा ।
सेसासुं देसूणा मगमगकायट्ठिई जेट्ठा ॥२०८॥

(प्रे०) **'दुअणाणायत०'** इत्यादि, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानासंयमाभव्यमिथ्यात्वलक्षणासु पञ्चमार्गणास्वायुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः । इयमत्र भावना–एतासु हि मार्गणास्वायुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्वामित्वेन संज्ञी निर्यङ् मनुष्यो वा भणितः, स च ज्येष्ठानुभागं बद्ध्वा नरके उत्पद्य यथासम्भवमसंज्ञिषूत्पद्यते तत्रासंज्ञित्वकां प्रकृष्टां कायस्थितिं यावदसंज्ञिषु परिभ्रमन् , यदा यदाऽऽयुष्कं बध्नाति तदा तदा तस्यानुत्कृष्टमेवानुभागं निर्वर्तयति, असंज्ञिकायस्थितिं समाप्य संज्ञिषूत्पन्नोऽपि यावन्तं कालं तदुत्कृष्टानुभागबन्धं विना निर्वाहयितुं शक्यते तावन्तं कालं गमयित्वा यदाऽऽयुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धं प्रकरोति तदाऽऽसु मार्गणास्वायुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरं यथोक्तप्रमाणं लभ्यते ।

अथ शेषमार्गणासु प्रस्तुतान्तरमाह-**'सेसासु'** उक्तोद्धरितासु, त्रिंशदधिकशतमार्गणा वर्जयित्वा त्रयस्त्रिंशन्मार्गणास्वित्यर्थः । आयुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरं, भवतीति

गम्यते । कियत्प्रमाणम् ? इत्याह-देशोना ज्येष्ठा स्वस्वकायस्थितिः किञ्चिद्न्यूनस्वस्वोत्कृष्टकाय-स्थितिप्रमाणमित्यर्थः । कुतः ? उच्यते-तत्तन्मार्गणावर्तिजीवो यथासंभवं मार्गणाया आरम्भकाले आयुष्कस्योत्कृष्टानुभागं बद्ध्वा मार्गणायाः प्रान्तकाले पुनरायुष्कस्योत्कृष्टानुभागं निर्वर्तयति तदाऽऽयुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य देशोनस्वस्वज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणमुत्कृष्टान्तरं भवति । शेषा मार्गणा नामत इमाः--अपर्याप्तमनुष्य-पञ्चेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-तेजःकायसप्तभेद-वायुकायसप्तभेद-त्रसकायसामान्य-पर्याप्तत्रसकायापर्याप्तत्रसकायौदारिकमिश्रयोग-स्त्रीवेद-पुरुषवेद-मतिश्रुतावधिज्ञान-चक्षुरवधिदर्शन-सम्यक्त्वसामान्य-वेदकसम्यक्त्व--संज्ञ्याहारिलक्षणास्त्रयस्त्रिंशन्मार्गणा इति ॥२०८॥ तदेवमभिहितमादेशत आयुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धस्यान्तरम् । साम्प्रतं तस्यैवानुत्कृष्टानुभागबन्धस्यान्तरं वक्तुमुपक्रमते—

सव्वासु अंतरं खलु अगुरुस्स रसस्स आउगस्स भवे ।
समयो हस्सं णवरं व णत्थि आहारमीसम्मि ॥२०९॥

(प्रे०) 'सव्वासु' इत्यादि, सर्वासु-आयुर्बन्धप्रायोग्यसर्वमार्गणासु त्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः । आयुष्कस्य अगुरुरसस्य-अनुत्कृष्टानुभागबन्धस्य 'ह्रस्वं' जघन्यमन्तरं समयः समयप्रमाणं भवेत् । आहारकमिश्रमार्गणायां मतान्तरमधिकृत्य विशेषमाह—'णवरं' इत्यादि, मतान्तरेणाहारकमिश्रमार्गणायामायुषोऽनुत्कृष्टानुभागबन्धान्तरं न भवति। भावना चात्र ज्येष्ठानुभागबन्धस्य जघन्यान्तरवत्कर्तव्या॥ २०९॥ उक्तमायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धस्य जघन्यान्तरम् , सम्प्रति निरयगत्यादिषु तस्यैवोत्कृष्टान्तरमभिदधाति—

देसूणा छम्मासा उक्कोसं अंतरं मुणेयव्वं ।
सव्वणिरयदेवेसु पसत्थअपसत्थलेसासु ॥२१०॥

(प्रे०) 'देसूणा' इत्यादि, आयुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धस्य-'उत्कृष्टं' प्रकृष्टमन्तरं देशोनाः षण्मासाः, देशोनषण्मासप्रमाणं ज्ञातव्यम् । कासु कासु मार्गणास्वित्याह—'सव्व'इत्यादि, सर्वनिरयदेवेषु-सर्वनरकमार्गणाभेदेषु, सर्वदेवमार्गणाभेदेषु तथा प्रशस्ताप्रशस्तलेश्यासु-त्रिशुभत्र्यशुभलेश्यामार्गणाभेदेषु-सर्वसंख्यया चतुश्चत्वारिंशन्मार्गणाभेदेष्वित्यक्षरार्थः ।

भावार्थः पुनरेवम्-निरयदेवमार्गणासर्वभेदेषु प्रकर्षतः षण्मासावशेषे स्वायुषि आयुष्कस्य बन्धसद्भावात् , तत्तन्मार्गणावर्तिनो जीवाः षण्मासावशेषे स्वायुषि; प्रथमाकर्षे तस्यानुत्कृष्टानुभागं बद्ध्वा चरमान्तर्मुहूर्तावशेषे स्वायुषि द्वितीयाकर्षेणानुत्कृष्टानुभागं पुनर्निर्वर्तयन्ति तदाऽऽयुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनषण्मासप्रमाणं भवति। तथैव प्रशस्ताप्रशस्तलेश्यासु देशोनषण्मासप्रमाणं प्रकृतान्तरं भवति । देवनारकेषु लेश्यानामवस्थितत्वेन तानेवाश्रित्य प्रस्तुता-

न्तरस्य प्राप्यमाणत्वात् ॥२१०॥ अथ तिर्यग्गत्यादिषु प्रकृतान्तरं निर्दिशति–

सव्वेसुं तिरियमणुमएगिंदियविगलपंचकायेसुं ।
असमत्तपणिंदितसेसु साहिया भवठिई जेट्ठा ॥२११॥

(प्रे०) '**सव्वेसु**' इत्यादि, सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् सर्वेषु तिर्यग्भेदेषु, सर्वमनुष्यभेदेषु, सर्वैकेन्द्रियभेदेषु, सर्वविकलेन्द्रियभेदेषु, एकोनचत्वारिंशत्संख्याकेषु पृथ्व्यादिपञ्चकायभेदेषु अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदे, अपर्याप्तत्रसकायभेदे चेत्येतेषु षट्षष्टिमार्गणाभेदेषु प्रकृतान्तरम् कियत्प्रमाणं ? इत्याह–'**साहिया**' इत्यादि, साधिका ज्येष्ठा-प्रकृष्टा भवस्थितिरिति । इदमुक्तं भवति-एतासु षट्षष्टिमार्गणास्वायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं साधिकप्रकृष्टस्वस्वभवस्थितिप्रमाणं भवति । भावना चेत्थम्-तिर्यग्गत्यादिमार्गणासु स्वस्वमार्गणाप्रायोग्यप्रकृष्टायुष्को यः कश्चिज्जन्तुः त्रिभागावशेषे स्वायुषि, स्वमार्गणाप्रायोग्यप्रकृष्टस्थितिकमायुर्बध्नाति तदनन्तरं वेद्यमानशेषायुः परिभुज्य कालं च कृत्वा तस्यामेव मार्गणायां पुनरुत्कृष्टायुष्कत्वेनोत्पद्यते, तत्रापि चरमान्तर्मुहूर्तावशेषे स्वायुषि आयुष्कस्य पुनरनुत्कृष्टानुभागं निर्वर्तयति तदा तासु तासु मार्गणासु साधिकस्वस्वभवस्थितिप्रमाणमुत्कृष्टान्तरं भवति । नवरमपर्याप्तवर्जचतुस्तिर्यग्भेदेषु तथाऽपर्याप्तभेदवर्जित्रिमनुष्यमार्गणासु पूर्वभवः पूर्वकोटिवर्षायुष्को ग्राह्यः, उत्तरभवस्तु मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टायुष्कस्त्रिपल्योपममित इति ॥२११॥

इदानीं मनोयोगादिमार्गणासु प्रस्तुतान्तरं प्रतिपादयति—

विण्णेयं होइ दुवे समया पंचमणवयणजोगेसुं ।
विउवे आहारदुगे कसायचउगम्मि सासाणे ॥२१२॥

(प्रे०)'**विण्णेयं**'इत्यादि, आयुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य प्रकृष्टं बन्धान्तरं द्वौ समयौ-द्विसमयप्रमाणं विज्ञेयं-ज्ञातव्यं, कुत्र ? इत्याह–'**पंचमण**'इत्यादि, पञ्चमनोयोग पञ्चवचोयोग वैक्रियकाययोगाहारकाहारकमिश्रयोगलक्षणेषु त्रयोदशयोगमार्गणाभेदेषु कषायचतुष्के सास्वादने चेत्येतेष्वष्टादशमार्गणाभेदेष्विति । कुतः ? उच्यते–एता मार्गणा अन्तर्मुहूर्तेन कालेन परावर्तन्ते तत एकाकर्षेणाद्धायां तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तमेवान्तरं भवति, तस्य च तद्विपरीतबन्धस्य निरन्तरकालो द्विसमयप्रमाण एव ततस्तत्प्रयुक्तमन्तरमपि सुतरां द्विसमयप्रमाणमेवेति ॥२१२॥

अधुना काययोगमार्गणायामायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धान्तरं निरूपयन्नाह—

देसूणतिभागऽहिया जेट्ठा भूभवठिई भवे काये ।
उरलेऽब्भहियाणि भवे सत्तसहस्साणि वासाणि ॥२१३॥

(प्रे०) '**देसूणतिभागऽहिया०**' इत्यादि, काययोगमार्गणायामायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभाग-

स्योत्कृष्टतो बन्धान्तरं देशोनत्रिभागाधिका ज्येष्ठा पृथ्वीकायभवस्थितिर्भवेत् । अयम्भावः–द्वाविंशतिसहस्रायुष्कपृथ्वीकायजीवः काययोगे एव वर्तमानस्त्रिभागावशेषे स्वायुषि पारभविकं पृथ्वीकायप्रायोग्यमुत्कृष्टस्थितिकमायुरनुत्कृष्टानुभागान्वितं निर्वर्त्य साधिकसप्तसहस्रवर्षप्रमाणं शेषायुः परिभुज्य कालं च कृत्वा पुनः पृथ्वीकाये द्वाविंशतिसहस्रवर्षायुष्कत्वेन समुत्पद्यते तत्र चरमान्तर्मुहूर्तावशेषे स्वायुषि पुनरायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धं विदधाति तदा तस्याऽऽयुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्योत्कृष्टान्तरं साधिकैकोनत्रिंशत्सहस्रवर्षप्रमाणमर्थाद् देशोनत्रिभागाभ्यधिकज्येष्ठपृथ्वीकायभवस्थितिप्रमाणं भवति । अथौदारिककाययोगमार्गणायामाह–'उरले' इत्यादि, औदारिककाययोगमार्गणायामायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरमभ्यधिकानि सप्तसहस्राणि वर्षाणि भवेत् । भावना चेयम्–द्वाविंशतिसहस्रवर्षायुष्कः पृथ्वीकायिकस्त्रिभागावशेषे स्वायुषि आयुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागं निर्वर्त्य चरमान्तर्मुहूर्तावशेषे द्वितीयाकर्षेण पुनरायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धं विदधाति, तदा तस्य सातिरेकसप्तसहस्राणि वर्षाणि प्रकृष्टान्तरं भवति, कालकरणेन मार्गणायाः परावर्तनादधिकान्तरस्याऽसंभवाद् ।२१३।।

साम्प्रतमौदारिकमिश्रमार्गणायां स्त्रीवेदमार्गणायां च प्रस्तुतान्तरमाह—

ओरालमीसजोगे भिन्नमुहुत्तं हवेज्ज इत्थीए ।
पलिओवमा उ अहिया पंचावण्णा मुणेयव्वं ।।२१४।।

(प्रे०)'ओरालमीसजोगे' इत्यादि, औदारिकमिश्रयोगमार्गणायामायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरं भिन्नमुहूर्तमन्तर्मुहूर्तं भवेत् । भावना त्वियम्-अपर्याप्तप्रायोग्योत्कृष्टायुष्क औदारिकमिश्रयोगी त्रिभागावशेषे स्वायुषि एकेनैवाकर्षेणानुत्कृष्टानुभागमायुर्बद्ध्वा शेषायुः परिभुज्य कालं च कृत्वा पुनरपर्याप्तप्रायोग्योत्कृष्टायुष्केषूत्पद्य तत्रासंक्षेप्याद्धावशेषे स्वायुषि पुनरायुर्बन्धमारभते, तत्राद्यसमयद्वयं यावदुत्कृष्टानुभागं बद्ध्वा, पुनरनुत्कृष्टानुभागं निर्वर्तयति तदा यथोक्तान्तरं प्राप्यत इति । अथ स्त्रीवेदमार्गणायामायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्योत्कृष्टान्तरमाह–'इत्थीए' इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायां तु साधिकपञ्चपञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणं प्रकृतान्तरं ज्ञातव्यम् । तथाहि-पूर्वकोट्यायुष्का मानुषी तिर्यक्स्त्री वा तृतीयभागावशेषे स्वायुषि देवीप्रायोग्यायुर्बद्ध्वा शेषायुः परिपाल्य कालं च कृत्वा पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमायुष्कदेवीषूत्पद्य तत्र च चरमान्तर्मुहूर्तेऽसंक्षेप्याद्धायामायुर्बन्धं विदधाति तदा पूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकपञ्चपञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणमन्तरं लभ्यत इति ।।२१४।।

इदानीं विभङ्गज्ञानमार्गणायामाह—

विब्भंगे देसूणा जेट्ठा कायट्ठिई मुणेयव्वं ।
देसूणा छम्मासा हवए त्ति भणन्ति अण्णे उ ।।२१५।।

(प्रे०) 'विब्भंगे' इत्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायामायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणं ज्ञातव्यम् ,अन्ये पुनरेवं भणन्ति-देशोनषण्मासाः इति देशोनषण्मासप्र-

माणं भवतीति गाथाक्षरार्थः। **भावार्थः पुनरेवम्**–विभङ्गज्ञानस्य कायस्थितिः साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणा, ततश्च यः कश्चिद् विभङ्गज्ञानी पूर्वकोट्यायुष्को मनुष्यो वा तिर्यङ् वा त्रिभागावशेषे स्वायुषि आयुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धं विधाय शेषायुः परिभुज्य कालं च कृत्वा विभङ्गज्ञानान्वित एव सप्तमनरकेषूत्पद्यते, तत्र चान्तर्मुहूर्तन्यूनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुर्बन्धं विना गमयित्वाऽन्तर्मुहूर्तावशेषे स्वायुषि आयुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य पुनर्बन्धं विदधाति तदा देशोनज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणं प्रकृष्टान्तरं भवति। अन्यैः पुनः विभङ्गज्ञानमार्गणायामायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं देशोनषण्मासप्रमाणमिति मन्यते, यतः तेषां मते देवनारकाणामपर्याप्तावस्थायां विभङ्गज्ञानस्याभावः तथा मनुष्यतिर्यक्षु तु विभङ्गज्ञानस्यावस्थितिरन्तर्मुहूर्तमात्रा तस्मात् केवलदेवनारकभवमाश्रित्य प्रस्तुतान्तरस्य सद्भावेन देशोनषण्मासेभ्योऽधिकान्तरस्याभावः ॥२१५॥

अथ मनःपर्यवज्ञानादिषु तदेवान्तरमाह—

मणणाणसंयमेसुं समइअछेअपरिहारदेसेसुं।
देसूणो पुव्वाणं कोडितिभागो मुणेयव्वं ॥२१६॥

(प्रे०) '**मणणाणसंयमेसु**' इत्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्य-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-देशविरतिमार्गणास्वायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनपूर्वकोटित्रिभागप्रमाणं ज्ञातव्यम्, यतः पूर्वकोट्यायुष्कस्य तत्तन्मार्गणावर्तिजन्तोरायुर्बन्धसत्कप्रथमाकर्षद्वितीयाकर्षयोः प्रकर्षतोऽन्तरमेतावत्कालप्रमाणं भवतीति ॥२१६॥

साम्प्रतमसंज्ञिमार्गणायामुक्तशेषासु च प्रस्तुतान्तरमाह—

पुव्वाणेगा कोडी अब्भहिया होअए असण्णिम्मि।
सेसासु जाणियव्वं तेत्तीसा सागराऽब्भहिया ॥२१७॥

(प्रे०) '**पुव्वाणेगा**' इत्यादि, असंज्ञिमार्गणायामायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं पूर्वाणामेककोटिरभ्यधिका भवति, कथम्? उच्यते-पूर्वकोट्यायुष्कोऽसंज्ञी त्रिभागावशेषे स्वायुषि एकेनैवाकर्षेणासंज्ञिप्रायोग्यमायुर्बद्ध्वा शेषायुः परिभुज्य कालं च कृत्वा पुनः पूर्वकोट्यायुष्केष्वसंज्ञितिर्यक्षूत्पद्य तत्र चासंक्षेप्याद्धाशेषे स्वायुषि अनुत्कृष्टानुभागमाऽऽयुर्बन्धं प्रारभते, तदा यथोक्तान्तरं घटते। अथ शेषमार्गणास्वन्तरमाह–'**सेसासु**' इत्यादि, शेषासु-प्राक्कथितोद्धरितासु त्रयोविंशतिमार्गणास्वित्यर्थः, आयुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणं ज्ञातव्यम्। शेषास्त्रयोविंशतिमार्गणाः नामत इमाः-पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय त्रसौघ-पर्याप्तत्रसकाय-पुरुषवेद-नपुंसकवेद-मति-श्रुतावधिज्ञान-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमचक्षुरचक्षुरवधिदर्शन-भव्याभव्य-सम्यक्त्वसामान्य-वेदक-क्षायिक-मिथ्यात्व-संज्ञ्याहारिलक्षणास्त्रयोविंशतिमार्गणा इति।

भावना त्वियम्–एतासु त्रयोविंशतिमार्गणासु वर्तमानः पूर्वकोट्यायुष्को यथासंभवं मनुष्यो वा तिर्यङ् वा स्वाऽऽयुष्कस्य त्रिभागावशेषे पारभविकायुरेकेनाकर्षेण बद्ध्वा शेषायुश्च परिभुज्य कालं च कृत्वा यथासंभवं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुष्केषु नरकेषु वा देवेषु वोत्पद्य तत्र च स्वायुष्कस्यान्तर्मुहूर्तावशेषेऽनुत्कृष्टानुभागं पारभविकमायुर्निर्वर्तयति, तदा साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणमन्तरं भवतीति ॥ २१७ ॥ तदेवमभिहितमोघादेशाभ्यामष्टकर्मणामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागबन्धयोरन्तरम् । सम्प्रति अष्टानां कर्मणामोघेन जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं निरूपयिषुराह—

घाईण चउण्हं णो लहुअणुभागस्स अंतरं समयो ।
तिअघाईण जहण्णं गोअस्स भवे मुहुत्तंतो ॥२१८॥

(प्रे०) '**घाईण**' इत्यादि, चतसृणां घातिप्रकृतीनां लघ्वनुभागस्य-जघन्यानुभागस्यान्तरं-बन्धान्तरं न भवति, कुतः ? आसां जघन्यरसबन्धः क्षपकश्रेणौ सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये भवति, ततश्च पुनर्बन्धाभावादन्तरं न भवति । अथाघातिनीनामन्तरमाह–'**समयो तिअघाईण**' इति वेदनीयनामायुर्लक्षणानां तिसृणामघातिप्रकृतीनां जघन्यं-जघन्यान्तरं समयः-समयप्रमाणं भवेत् , तच्च तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तमवसेयम् , तथाहि-वेदनीयनामायुःप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन निष्पद्यते, ततो यदा तज्जघन्यानुभागबन्धद्वयस्यान्तराले समयमेकमजघन्याख्यविपरीतानुभागबन्धो भवति, तदा समयप्रमाणं जघन्यान्तरं लभ्यते । अथ गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धस्य जघन्यान्तरमाह–'**गोअस्स**' इत्यादि, गोत्रस्य मुहूर्तान्तो भवेत्–गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धस्य जघन्यतोऽप्यन्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति । गोत्रसत्कजघन्यानुभागबन्धस्य सम्यक्त्वाभिमुखतायाश्चरमसमये सद्भावेन पुनस्तदवस्थायाः जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तेन प्राप्यमाणत्वात् , तथाहि-गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धः सम्यक्त्वाभिमुखतायाश्चरमसमये सप्तमनारकस्य भवति, सप्तमनारको हि नीचैर्गोत्रं प्रतीत्य गोत्रस्य जघन्यानुभागं बद्ध्वा सम्यक्त्वरत्नं समुपार्जति, तत उच्चैर्गोत्रमाश्रित्य गोत्रकर्मणोऽजघन्यानुभागं बध्नाति, अन्तर्मुहूर्तात्परतो मिथ्यात्वं समासाद्य, तत्रान्तर्मुहूर्तं विश्राम्यति, पुनः सम्यक्त्वाभिमुखः सन् सम्यक्त्वाभिमुखत्वस्य चरमसमये गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धं विदधाति, एवं तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं प्रस्तुतमन्तरं भवति ॥२१८॥ भणितं जघन्यानुभागबन्धस्य जघन्यतोऽन्तरम् , अधुना तत्प्रकृष्टान्तरस्य प्रतिपादनार्थमाह—

उक्कोसमघाईणं तिण्हं लोगा भवे असंखेज्जा ।
गोअस्स जाणियव्वं देसूणो अद्धपरिअट्टो ॥२१९॥

(प्रे०) '**उक्कोसमघाईणं**' इत्यादि, गोत्रवर्जतिसृणामघातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्य उत्कृष्टं-प्रकृष्टमन्तरमसंख्याता लोकाः– असंख्येयलोकाकाशानां यावन्तः प्रदेशाः तावन्तः समया

इत्यर्थः। कथम्? उच्यते-आसां प्रकृतीनां जघन्यानुभागः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन संपद्यते, जघन्यरसबन्धप्रायोग्यपरावर्तमानमध्यमपरिणामस्य चोत्कृष्टतोऽसंख्येयलोकेभ्यः परतः पुनः संभवात्। गोत्रस्य पुनः कियत्प्रमाणमन्तरम्? इत्याह-'गोअस्स' इत्यादि, गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं देशोनाऽर्द्धपुद्गलपरावर्तो ज्ञातव्यम्। कुतः? उच्यते-गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धानन्तरं बोधिरत्नस्यावश्यमेवावाप्तेरधिगतसम्यक्त्वस्य जीवस्य संसारकाल एवार्द्धपुद्गलपरावर्तः, ततः एकजीवमाश्रित्य प्रकृतान्तरमधिकं न प्राप्यते इति भावः। ननु घातिचतुष्कस्य प्रकृष्टान्तरं कथं नोक्तम्? उच्यते-'मूलं नास्ति कुतः शाखा' इति न्यायात्, तद्यथा-घातिचतुष्कजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरमेव नास्तीति प्राक्कथितम्, ततस्तस्य जघन्योत्कृष्टयोर्वार्ताऽपि कथं स्यात्? ॥२१९॥ तदेवं जघन्यानुभागबन्धस्य जघन्योत्कृष्टभेदाभ्यामोघतोऽन्तरप्ररूपणा विहिता। इदानीमजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरप्ररूपणां विधातुकाम आह-

अलहुस्स रसस्स लहुं समयो अट्ठण्ह आउवज्जाणं।
भिन्नमुहुत्तं परमं तेत्तीसाउस्स साहिया अयरा ॥२२०॥ [गीतिः]

(प्रे०) 'अलहुस्स' इत्यादि, अष्टानां प्रकृतीनाम् 'अलघोः' रसस्य-अजघन्यानुभागबन्धस्येत्यर्थः, लघु-जघन्यान्तरं समयः- एकसमयप्रमाणं, भवतीति शेषः। तच्च तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तमबन्धप्रयुक्तं वा यथासंभवं द्रष्टव्यम्, तद्यथा-अबन्धप्रयुक्तं त्वायुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां, तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तं त्वघातिचतुष्कस्यैव ज्ञातव्यम्, भावना पुनः स्वयमेव कर्तव्या प्रागनेकशो भावितत्वात्। अथ प्रकृष्टान्तरं निरूपयति-'आउवज्जाणं' इत्यादि, आयुर्वर्जानां ज्ञानावरणादिसप्तप्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धस्य परमं-प्रकृष्टान्तरं भिन्नमुहूर्तमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं भवति, कुतः? अबन्धप्रयुक्तान्तरस्य लभ्यमानत्वात्, अबन्धकालस्य च प्रकर्षतोऽप्येतावत्प्रमाणत्वात्, अत्रापि भावना स्वयमेव कर्तव्या। अथाऽऽयुष्कस्य प्रस्तुतान्तरं दर्शयति 'तेत्तीसाउस्स' इत्यादि, आयुष्कस्याजघन्यानुभागबन्धस्य प्रकर्षतोऽन्तरं साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणं भवति। भावना त्वियम्-पूर्वकोट्यायुष्कस्तिर्यङ् मनुष्यो वा त्रिभागावशेषे स्वायुष्यजघन्यानुभागेनायुर्बद्ध्वा, शेषायुश्च परिभुज्य, कालं च कृत्वा यथासम्भवं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुष्कः सप्तमनारकोऽनुत्तरदेवो वा भूत्वा स्वभवचरमान्तर्मुहूर्ते पुनरायुर्बन्धं विदधाति तदा यथोक्तमन्तरं लभ्यत इति ॥२२०॥

तदेवं जघन्याजघन्यानुभागबन्धयोरोघतोऽन्तरप्ररूपणां विधाय सप्तप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्यादेशतोऽन्तरं निर्दिदिक्षुरादौ तावत् निरयगत्यादिषु सार्धगाथया तत् प्रदर्शयति—

गोअस्स मुहुत्तंतो विण्णेयो णिरयचरमणिरयेसुं।
लहुअणुभागस्स लहुं समयो छण्हाउवज्जाणं ॥२२१॥
सत्तण्हं देसूणा समगुरुकायट्ठिई भवे जेट्ठं।

(प्रे०) **'गोअस्स'** इत्यादि, नरकसामान्यसप्तमनरकयोर्गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धस्य लघु-जघन्यान्तरं मुहूर्तान्तः-अन्तर्मुहूर्तं विज्ञेयम् । सम्यक्त्वाभिमुखावस्थायाश्चरमसमये जघन्यानुभागबन्धस्य प्राप्यमाणत्वात् , सम्यक्त्वाभिमुखावस्थायाः पुनः प्राप्तेर्जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तेन कालेन संभवात् । शेषषट्प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्य जघन्यान्तरमाह–**'समयो'** इत्यादि, आयुर्वर्जानाम् आयुष्कस्यादेशतोऽन्तरप्ररूपणायाः पृथगभिधास्यमानत्वात् , गोत्रस्यानन्तरमेवोक्तत्वाद् घातिचतुष्कवेदनीयनामलक्षणानां षण्णां प्रकृतीना मित्यर्थः, प्रकृतान्तरं समयः-समयप्रमाणं भवति । अथ सप्तानां प्रकृष्टान्तरमुच्यते-**'सत्तण्हं'** इत्यादि, सप्तानां प्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य ज्येष्ठं-प्रकृष्टान्तरं देशोना स्वस्वज्येष्ठकायस्थितिर्भवेत्, यथासंभवं मार्गणायाः प्रारम्भकाले पर्यन्तकाले च जघन्यानुभागबन्धस्य सद्भावात् , जघन्यानुभागबन्धयोरन्तरालकालस्य च यथोक्तप्रमाणत्वेन प्राप्यमाणत्वात् । देशोनता चात्र यथासंभवं विज्ञेया । तद्यथा–नरकसामान्यमार्गणायां घातिचतुष्कसत्कजघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तचतुष्केन न्यूनं सप्तमपृथ्वीनारकोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणम् । नरकसामान्योत्कृष्टकायस्थितेः सप्तमपृथ्वीनारकमाश्रित्य प्राप्यमाणत्वात् । अन्तर्मुहूर्तचतुष्केन न्यूनत्वञ्चात्र सम्यग्दृशामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । तत्र सप्तमपृथ्वीनारकस्य भवाद्यान्तिमान्तर्मुहूर्तयोर्वर्जनं तत्र मिथ्यात्वसद्भावात् , द्वितीयद्विचरमान्तर्मुहूर्तयोः सम्यक्त्वसंभवेऽपि तद्वर्जनं तत्र घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धप्रायोग्याध्यवसायाप्राप्तेः । एवमेव गोत्रकर्मणोऽपि देशोनता वेदितव्या, नवरं तस्य जघन्यानुभागबन्धः सम्यक्त्वाभिमुखावस्थायाश्चरमसमये अभिधातव्यः । वेदनीयनामकर्मणोस्तु जघन्यानुभागबन्धः परावर्तमानमध्यमपरिणामकाले भवति, स च परिणामोऽपर्याप्तावस्थायां मरणकालेऽपि संभवति, ततस्तदपेक्षया देशोनता मार्गणाद्यान्त्यसमयरूपा द्विसमयमात्राऽवधेया, इत्थमुत्तरत्रापि यथासम्भवं घटना कर्तव्या ॥२२१॥ अथ तिर्यग्गतिसामान्यमार्गणायां जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं सार्धगाथया निरूपयति—

तिरिये भवे जहण्णं समयो सत्तण्ह कम्माणं ॥२२२॥
देसूणद्धपरट्टो घाईण गुरुं असंखपरियट्टा ।
गोअस्स भवे दोण्हं सेसाण असंखिया लोगा ॥२२३॥

(प्रे०) **'तिरिये'** इत्यादि, तिर्यग्गतिसामान्यमार्गणायामायुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां जघन्यानुभागबन्धस्य जघन्यमन्तरं समयो भवेत् , कुतः ? उच्यते-एतन्मार्गणायामभिमुखाद्यवस्थाविरहकाले एव सप्तानां जघन्यानुभागबन्धो भवति, ततो जघन्यानुभागबन्धद्वयस्यान्तराले अजघन्यानुभागलक्षणस्तद्विपरीतबन्धः समयमेकं संभवति, एवं सप्तानां जघन्यानुभागबन्धस्य जघन्यतोऽन्तरं समयप्रमाणं घटते । अथ प्रकृतानुभागबन्धस्य ज्येष्ठमन्तरमाह–**'देसूणद्धपरट्टो'** इत्यादि, चतसृणां घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्य गुरु-ज्येष्ठमन्तरं देशोनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणम् , कथम् ? उच्यते–इह देश-

विरत एव जघन्यानुभागबन्धस्वामी, तत्संसारसंसरणकालस्य च प्रकर्षतोऽपि देशोनापार्द्ध पुद्गलपरावर्त्तप्रमाणत्वात् । **'असंखपरियट्टा गोअस्स'** इति गोत्रस्य प्रस्तुतान्तरमसंख्येयपुद्गलपरावर्ताः भवेत्, कथम् ? अत्र तेजःकायिको वायुकायिको वा गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन प्रोक्तः, ततश्च तेजःकायिको वायुकायिको वा गोत्रस्य जघन्यानुभागं बद्ध्वा वनस्पतिषूत्पद्यते तत्र चासंख्येयपुद्गलपरावर्तात्मिकां प्रकृष्टकायस्थितिं यावत् स्थित्वा पुनः तेजःकायिकत्वेन वायुकायिकत्वेन वोत्पद्यते, तत्राऽपि कदाचित् तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्धः सन् गोत्रस्य पुनर्जघन्यानुभागबन्धं विदधाति, एवं गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धस्य यथोक्तमन्तरं घटामश्चति । वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरमाह–**'दोण्हं'** इत्यादि, शेषयोर्द्वयोर्वेदनीयनामलक्षणयोः प्रकृत्योः प्रकृतान्तरमसंख्येयलोकाः-असंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमया भवेत्, तयोर्जघन्यानुभागबन्धस्य परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन सद्भावः, असंख्येयलोककाले व्यतीते नियमात् जघन्यरसबन्धप्रायोग्यतत्परिणामस्य पुनः प्राप्तेरिति ॥२२२।२२३॥

साम्प्रतं तिर्यग्गतिमार्गणास्थानस्यापर्याप्तपञ्चेन्द्रियवर्जशेषत्रिभेदेषु जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं चिकथयिषुराह—

तिपणिंदियतिरियेसु समयो सत्तण्ह होअइ जहण्णं ।
जेट्ठं कोडिपुहुत्तं पुव्वाणं घाइणोआणं ॥२२४॥
दोण्ह गुरुकायठिई ऊणा तिणरेसु णत्थि घाईणं ।
तिण्ह अघाईण दुहा पणिंदितिरियव्व विण्णेयं ॥२२५॥

(प्रे०) **'तिपणिंदियतिरियेसु'** इत्यादि, त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु–पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तिर्यग्योनिमतीलक्षणासु तिसृषु मार्गणासु सप्तानां कर्मणां जघन्यानुभागबन्धस्य जघन्यान्तरं समयो भवति, भावना चात्र प्रागवद् द्रष्टव्या । अथोत्कृष्टान्तरमुच्यते- **'जेट्ठं'** इत्यादि, चतुर्घातिगोत्रप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्य ज्येष्ठं–प्रकृष्टान्तरं पूर्वाणां कोटिपृथक्त्वम्–पूर्वकोटिपृथक्त्वमित्यर्थः, कुतः ? उच्यते–एतासु तिसृषु मार्गणासु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धो देशविरतस्यैव भवति, तेन तत्तन्मार्गणायाः कायस्थितेस्त्रिपल्योपमात्मकश्चरमयुगलिकभवो न ग्राह्यः, तत्र देशविरतेरभावात्, कालकरणानन्तरं च मार्गणायाः परावर्तनात्, युगलिकभववर्जतिर्यक्पञ्चेन्द्रियकायस्थितेः पूर्वकोटिपृथक्त्वमितत्वात् । नन्वत्र देशविरतस्य घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामितयाऽभिहितत्वात् भवद्भिः पूर्वकोटिवर्षपृथक्त्वमन्तरं निर्दिष्टम्, तत्तु चारूक्तम् किन्तु गोत्रस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामी जघन्यानुभागबन्धस्वामितया प्राक्प्रतिपादितः, तर्हि कथं देशोनस्वकायस्थितिं परित्यज्य पूर्वकोटिवर्षपृथक्त्वं प्रकृतान्तरत्वेनाभिहितम् ?

इति चेत् , उच्यते–अत्रापि स्वकायस्थितेश्चरमयुगलिकभवे पर्याप्तावस्थायां देवगतिप्रायोग्यप्रकृतिभिः सह केवलमुच्चैर्गोत्रस्य बन्धो भवति, ततो नीचैर्गोत्रेण सह परावृत्तेरसंभवेन, परावर्तमानमध्यमपरिणामाभावात् गोत्रकर्मणो जघन्यानुभागबन्धाभावः, अत एव देशोनस्वकायस्थितिं विहाय प्राग्वत् पूर्वकोटिपृथक्त्वं प्रकृतान्तरत्वेन कथितम् ।

अथ द्वितीयगाथाऽन्तर्गतेन **'दोण्हं गुरुकायठिई ऊणा'** इति पदेन वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं देशोनस्वगुरुकायस्थितिरुक्तम् । कायस्थितिश्च पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकत्रिपल्योपमप्रमाणा ज्ञातव्या, ऊनत्वश्चात्र समयद्वयादिमितं मार्गणाऽऽद्यान्त्ययोर्जघन्यरसबन्धस्याऽऽवश्यकत्वात् । अथ त्रिमनुष्यमार्गणासु जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं प्ररूपयति–**'तिणरेसु'** इत्यादि, मनुष्यसामान्यमनुष्ययोनिमतीपर्याप्तमनुष्यमार्गणासु च त्रसृणां घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं नास्ति, घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्य क्षपकश्रेणौ सद्भावेन पुनर्बन्धाभावात् । अघातिप्रकृतीनामन्तरमतिदिशति–**'तिण्हं'** इत्यादि, तिसृणामघातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्य द्विविधं जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नमन्तरं पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणावद् विज्ञेयम् ,तच्चैवम्-गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धस्य जघन्यमन्तरं समयप्रमाणं, प्रकृष्टं तु पूर्वकोटिपृथक्त्वम् , वेदनीयनामकर्मणोस्तु जघन्यमन्तरं समयप्रमाणं, प्रकृष्टं पुनर्देशोनस्वस्वकायस्थितिप्रमाणमवसातव्यम् , भावना च पूर्ववद् वेदितव्या ॥२२४।२२५॥ अथ देवौघमार्गणायां प्रकृतमाह—

देवे सत्तण्ह लहुं समयो गोअस्स एगतीसुदही ।
देसूणा होइ गुरुं सेसाणूणगुरुकायठिई ॥२२६॥

(प्रे०) **'देवे'** इत्यादि, देवौघमार्गणायां सप्तानामायुषो वक्ष्यमाणत्वादधिकृतानां सर्वेषां कर्मणामित्यर्थः जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः,तत्र घातिनां जघन्यरसबन्धकस्य स्वस्थानविशुद्धत्वात् , ततः किम् ? स्वस्थानविशुद्धेर्हानिरनेकशः संभवेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले सामयिकाऽजघन्यरसबन्धप्रवर्तनात् । अघातित्रयस्य जघन्यानुभागबन्धः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जायते । तत्परिणामस्य चानेकशः संभवेन जघन्यतः समयान्तरेण प्राप्यमाणत्वात् तेषां जघन्यानुभागबन्धान्तरं जघन्यतः समयप्रमाणं संभवति । तथा **'गोअस्स'** इति गोत्रकर्मणो जघन्यरसबन्धस्य 'गुरुं' उत्कृष्टमन्तरं देशोनान्येकत्रिंशत्सागरोपमाणि, परावृत्त्या तद्बन्धकस्यैव तज्जघन्यरसबन्धकत्वादनुत्तरसुराणां च परावृत्त्या तद्बन्धाऽनुपलम्भात्, किमुक्तं भवति ? उच्चैर्गोत्रेण सह नीचैर्गोत्रस्य यदा परावृत्त्या बन्ध उपलभ्यते तदैव प्रस्तुतमार्गणायां नीचैर्गोत्रस्य जघन्यरसो बध्यते, स एव मूलकर्मणो विवक्षायां गोत्रकर्मणो जघन्यरसबन्धः, उत्कृष्टान्तरस्य प्रस्तुतत्वात् नवमग्रैवेयकसुरमेवाश्रित्य तत्प्राप्यते, देशोनत्वञ्चात्र समयद्वयेन बोध्यम् , नवमग्रैवेयकस्य सुरस्य भवाद्यान्त्यसमययोस्तज्जघन्यरसबन्धसंभवात् । तथा **'सेसाण'** इति गोत्रस्योक्त्वात् आयुष इहानधिकृतत्वाच्चोक्तशेषाणां षण्णां कर्मणां प्रत्येकं जघन्य-

रसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनोत्कृष्टकायस्थितिः, देशोनानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीत्यर्थः, अनुत्तरसुराणामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । अत्र विशेषचिन्तायां चतुर्णां घातिनामन्तर्मुहूर्तेनोनानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, अन्तर्मुहूर्तात्मकाऽपर्याप्तावस्थायां तज्जघन्यरसबन्धाभावात् । वेदनीयनाम्नोस्तु समयद्वयेनोनानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, कस्यचिन्मार्गणाऽऽद्यान्त्यसमययोरेव तज्जघन्यरसबन्धप्रवर्त्तनात् ॥२२६॥ इदानीमेकेन्द्रियसामान्यमार्गणायां प्रकृतमभिदधाति—

एगिंदिये जहण्णं समयो सत्तण्ह होइ उक्कोसं ।
छण्हं असंखलोगा गोअस्स असंखपरिअट्टा ॥२२७॥

(प्रे०) '**एगिंदिये**' इत्यादि, एकेन्द्रियसामान्यमार्गणायां सप्तानां जघन्यानुभागबन्धस्य जघन्यान्तरं समयप्रमितं भवति, अभिमुखाद्यवस्थाया अभावेन जघन्यरसबन्धयोरन्तराले तद्विपरीतबन्धस्य समयं यावद् लभ्यमानत्वात् । प्रकृष्टमन्तरं पुनः षण्णामायुर्गोत्रवर्जप्रकृतीनामसंख्येयलोका असंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयाः, कुतः ? घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धः स्वभावस्थानां सर्वविशुद्धानां बादरपर्याप्तानामेव पृथ्व्यादीनां भवति, ततः सूक्ष्मसत्ककायस्थितिप्रमाणं व्यवधानं भवति । तेन यथोक्तमन्तरं घटते । वेदनीयनामकर्मणोः पुनः परावर्तमानपरिणामानां पृथ्व्यादिपञ्चकायानां भवति, परावर्तमानमध्यमपरिणामस्य सूक्ष्माणामपि सम्भवेन व्याघाताभावेन च तद्बन्धप्रायोग्याध्यवसायः प्रवर्तितोऽप्यसंख्येयलोकप्रमाणकाले व्यतीते पुनरवश्यमेवाप्यते, तत उत्कर्षतोऽन्तरं यथोक्तमेव भवति । गोत्रस्य पुनरसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणमुत्कृष्टान्तरं भवति, वनस्पतिकायस्थितेर्व्यवधानसंभवात्, तथाहि—एकेन्द्रियमार्गणायां गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामितया तेजःकायिको वायुकायिको वा निर्दिष्टः, तेन स जघन्यानुभागं बद्ध्वा वनस्पतिकायिकेषूत्पद्यते, तत्र च वनस्पतिकायस्थितिं यावद् वनस्पतिभावं न जहाति ततोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणकाले गते व्याघातभूतं वनस्पतिभावं विमुच्य यदा तेजस्कायिकत्वेन वायुकायिकत्वेन वा समुत्पद्य, तद्बन्धकेषु चात्यन्तविशुद्धः सन् पुनर्गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धं विदधाति, तदा प्रकृष्टान्तरमसंख्येयपुद्गलपरावर्त्तप्रमाणं भवतीति ॥२२७॥ अथ यासु मार्गणासु सप्तानां जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरमसंख्येयलोकप्रमाणं भवति तासु तथैवाऽऽह—

पणकायणिगोएसुं छसुहमभेएसु सत्तकम्माणं ।
समयो अत्थि जहण्णं असंखलोगा भवे जेट्ठं ॥२२८॥

(प्रे०) '**पणकायणिगोएसु**' इत्यादि, पञ्चकायनिगोदेषु पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायसामान्यसाधारणवनस्पतिकायलक्षणेषु षड्भेदेषु तथा षट्सूक्ष्मभेदेषु - सूक्ष्मैकेन्द्रिय-सूक्ष्मपृथ्वीकाय-सूक्ष्माप्काय-सूक्ष्मतेजःकाय-सूक्ष्मवायुकाय-सूक्ष्मवनस्पतिकायलक्षणेषु षट्सूक्ष्मभेदेषु, सर्वसंख्यया

द्वादशमार्गणाभेदेषु सप्तकर्मणां जघन्यानुभागबन्धस्य जघन्यान्तरं समयोऽस्ति । ज्येष्ठं-प्रकृष्टान्तरं त्वसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयप्रमाणं भवेत् । यद्यपि सूक्ष्मभेदानां प्रत्येकं कायस्थितिरसंख्येय-लोकप्रमाणा, तथापि वक्ष्यमाणशेषमार्गणाभिः समं संगृह्य देशोनकायस्थितिप्रमाणमन्तरमिति न कथनीयम् , अन्तरकालापेक्षया कायस्थितेः कालस्यासंख्येयगुणेनाधिकत्वात् । पृथ्व्यप्तेजोवायुवन-स्पतिकायसामान्याः साधारणवनस्पतिकायश्चेति मार्गणाषट्के घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धः पर्याप्तबादराणामेव जीवानां भवति, ततः सूक्ष्मजीवानामसंख्येयलोकाकाशकायस्थितिप्रमाणं व्यवधानं भवति–अत एव घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्य यथोक्तमन्तरं घटते । वेदनीय-नामगोत्राणां पुनः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जघन्यानुभागबन्धस्य सद्भावात् प्राग्वद् भावना कार्या ॥२२८॥

सम्प्रति द्विपञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं दर्शयन्नाह—

दुपणिंदितसेसु तहा चक्खुदरिसणम्मि सण्णिगम्मि तहा ।
आहारम्मि चउण्हं घाईणं अंतरं णत्थि ॥२२९॥
गोअस्स मुहुत्तंतो लहुं खणो होइ वेअणामाणं ।
तिण्हं पि भवे जेट्ठं देसूणा जेट्ठकायठिई ॥२३०॥

(प्रे०) **'दुपणिंदितसेसु,'** इत्यादि, द्विशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् द्विपञ्चेन्द्रिययोः-पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियलक्षणयोः द्वयोर्भेदयोः, द्वित्रसयोः-त्रससामान्यपर्याप्तत्रसकायल-क्षणयोर्द्वयोर्भेदयोः, तथा चक्षुर्दर्शनभेदे तथा संज्ञिभेदे तथा आहारिभेदे इत्येतेषु सप्तमार्गणाभेदेषु चतसृणां घातिप्रकृतीनामन्तरं नास्ति, क्षपकश्रेणौ जघन्यानुभागस्य बन्धसद्भावेन द्वितीयवारं तद्बन्धो न भवतीति कृत्वा । गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धस्य जघन्यान्तरं मुहूर्तान्तः- अन्तर्मुहूर्त-प्रमाणमित्यर्थः । सम्यक्त्वाभिमुखावस्थायां जघन्यानुभागस्य बन्धसद्भावेन पुनस्तद्बन्धस्य जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तकालेन प्राप्यमाणत्वात् । वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यान्तरं समयः तच्चान्तरम-जघन्यरसबन्धाख्यतद्विपरीतबन्धप्रयुक्तमवसातव्यम् । अथ वेदनीयनामगोत्रकर्मणां प्रकृष्टान्तरमुच्यते- **'तिण्हं'**इत्यादिना, तिसृणां वेदनीयनामगोत्राख्यानां प्रकृतीनां ज्येष्ठं-प्रकृष्टान्तरं देशोना ज्येष्ठकाय-स्थितिः, देशोनता चात्र यथासंभवं प्राग्वद् द्रष्टव्या ॥२२९।२३०॥

इदानीं पञ्चमनोयोगमार्गणाभेदेषु तथा तत्तुल्यवक्तव्यत्वेनान्या अपि मार्गणाः संगृह्य तत्र प्रकृतान्तरमार्याद्वयेनाह–

पणमणवयजोगेसुं कसायणाणचउगम्मि विब्भंगे ।
संयमसामइएसुं छेए देसोहिसम्मेसुं ॥२३१॥

उवसममीसेसु भवे णो खलु पंचण्ह वेअणामाणं ।
समयो होइ जहण्णं जेट्ठं ऊणगुरुकायठिई ॥२३२॥

(प्रे०) **'पणमण'** इत्यादि, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-कषायचतुष्क-ज्ञानचतुष्क-विभङ्ग-संयमसामान्य-सामायिक–छेदोपस्थापनीय-देशविरत्यवधिदर्शन-सम्यक्त्वोपशम–मिश्रदृष्टिलक्षणासु सप्तविंशतिमार्गणासु किम् ? इत्याह-**'भवे णो खलु पंचण्ह'**इति चतुर्घातिगोत्ररूपाणां पञ्चानां प्रकृतीनामन्तरं न भवेत् खलुः-एवकारार्थकः तासां जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं नैव भवतीत्यर्थः । कुतः ? इति चेत् ,उच्यते-एतासु मार्गणासु तासां जघन्यानुभागस्य पुनर्बन्धाभावात् । तथाहि पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोगकषायचतुष्कज्ञानचतुष्कसंयमौघसामायिकछेदोपस्थापनीयावधिदर्शनसम्यक्त्वौघलक्षणासु त्रयोविंशतिमार्गणासु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धः क्षपकश्रेण्यां भवति,ततस्तस्य पुनर्बन्धाभावादन्तरं न लभ्यते, विभङ्गज्ञानदेशविरतिमार्गणाद्वये तु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धः संयमाभिमुखत्वस्य चरमसमये, मिश्रदृष्टिमार्गणायां पुनः सम्यक्त्वाभिमुखत्वस्य चरमसमये भवति,ततः सकृज्जघन्यरसबन्धानन्तरं मार्गणानां परावृत्तिः,एवं पुनर्बन्धाभावादन्तरं न प्राप्यते । उपशममार्गणायां पुनः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये जघन्यरसबन्धो भवति, तद्बन्धानन्तरं मार्गणायाः परावृत्तरभावेऽप्युपशान्तमोहगुणस्थानके तस्य बन्धाभावात् , तथा अद्धाक्षयेण ततः प्रच्यविनः संक्लेशसद्भावेन जघन्यानुभागबन्धो न भवति । ननु पुनरुपशमश्रेणिमारोहता तत्तद्बन्धस्थाने पुनर्जघन्यानुभागो बध्यते, तर्हि कथं प्रकृतान्तरं न प्राप्यते ? उच्यते-उपशमसम्यक्त्वादपि यावद् न परिभ्रश्यते तावत् पुनरप्युपशमश्रेणिं न प्रतिपद्यते–अत एव एतन्मार्गणासु घातिचतुष्कसत्कजघन्यानुभागस्य पुनर्बन्धाभावादन्तरं नोक्तम् । गोत्रस्य पुनर्जघन्यानुभागबन्धस्वामितया पञ्चमनःपञ्चवचनयोग-कषायचतुष्कविभङ्गलक्षणासु पञ्चदशमार्गणासु सम्यक्त्वाभिमुखः सप्तमपृथ्वीनारकोऽभिहितः, तस्य जघन्यानुभागबन्धानन्तरं बोधिरत्नस्य प्रभावेन विभङ्गज्ञानस्य विलोपो भवति, तथा सम्यक्त्वाभिमुखावस्थायाः पुनःप्राप्तिर्जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तकालेन भवति, पुनस्तत्प्राप्तितोऽर्वागेव प्रस्तुतमार्गणानां परावृत्तिः, तेनैतासु पञ्चदशमार्गणासु गोत्रस्य प्रकृतान्तरं न घटते । ज्ञानचतुष्कसंयमसामान्य-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-देशविरत्यवधिदर्शन-सम्यक्त्वसामान्योपशम-मिश्रलक्षणासु द्वादशमार्गणासु पुनर्गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धो मिथ्यात्वाद्यभिमुखावस्थायाश्चरमसमये भवति, तदनन्तरं च प्रकृतमार्गणानां परावर्तनेन गोत्रस्य जघन्यरसस्य बन्धान्तरं न भवति ।

अथ वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरमाह–**''वेअणामाणं'** इत्यादि, वेदनीय-नामप्रकृत्योर्जघन्यान्तरं समयः, ज्येष्ठान्तरं तु देशोनस्वगुरुकायस्थितिः, अत्र सर्वासु मार्गणासु तयोर्जघन्यानुभागः परावर्तमानपरिणामेन निर्वर्त्यते, ततस्तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तं जघन्योत्कृष्टभेद-भिन्नं द्विविधमन्तरं लभ्यत इति ॥२३१।२३२॥

अथ काययोगाऽज्ञानद्विकमिथ्यात्वमार्गणासु मतानां जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरमाचष्टे–

घाइचउगगोआणं ण भवे कायदुअणाणमिच्छेसुं ।
दोण्ह जहण्णं समयो असंखलोगा भवे जेट्ठं ॥२३३॥

(प्रे०) **'घाइचउगगोआणं'** इत्यादि, घातिचतुष्कगोत्रयोर्जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं न भवेत्, कुत्र ? इत्याह–काययोगद्व्यज्ञानमिथ्यात्वमार्गणास्विति । भावना च काययोगमार्गणाया-मनन्तरोक्तमनोयोगमार्गणावत्, द्व्यज्ञानमिथ्यात्वमार्गणासु पुनर्विभङ्गज्ञानवत्कर्तव्या । **'दोण्ह'** इति वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यं-लघ्वन्तरं समयः, ज्येष्ठं-प्रकृष्टान्तरमसंख्येयलोकाः असंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयप्रमाणं भवेत्, भावना च पूर्ववत्कार्या ॥२३३॥

अधुनौदारिककाययोगमार्गणायामभिदधाति—

घाईणुरले ण लहुं समयो तिण्हं गुरुं च गोअस्स ।
ऊणतिसहस्सवासा सेसाणूणगुरुकायठिई ॥२३४॥

(प्रे०) **'घाईणुरले'** इत्यादि, औदारिककाययोगमार्गणायां घातिप्रकृतीनां न, जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरमिति सर्वत्रानुवर्तते प्रक्रान्तत्वात्, क्षपकश्रेणौ तासां जघन्यानुभागबन्धसद्भावेन द्वितीयवारं तद्बन्धाभावात् । वेदनीयनामगोत्राख्यानां त्रयाणां कर्मणां जघन्यान्तरं समयः, 'गुरु'-उत्कृष्टान्तरं च गोत्रस्य न्यूनत्रिसहस्रवर्षाणि,कुतः ? उच्यते–इह गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामितया तेजःकायिको वायुकायिको वा निर्दिष्टः,तयोर्मध्ये वायुकायिकस्यौदारिककाययोगस्य स्थितिर्देशोन-त्रिसहस्रवर्षाणि, तत औदारिककाययोगी सन् वायुकायिको गोत्रस्य जघन्यानुभागं बद्ध्वा देशोनत्रि-सहस्रवर्षाणि यावत्तस्याजघन्यानुभागं निर्वर्तयति, स्वभवप्रान्ते च पुनर्जघन्यानुभागमारचयति तदा तस्य यथोक्तमेव प्रकृष्टान्तरं भवति, किन्त्वधिकं न प्राप्यते भवान्तरं गच्छतस्तस्य योगान्तरसद्भावात् । शेषयोर्वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं देशोनगुरुकायस्थितिप्रमाणम्, तच्च देशोनद्वाविंशतिसहस्रवर्षप्रमाणं पृथ्वीकायिकोत्कृष्टभवस्थितिमधिकृत्य वेदितव्यम् । देशो-नत्वञ्चात्रान्तर्मुहूर्तप्रमाणमपर्याप्तावस्थायां प्रस्तुतमार्गणाया अभावात् ॥२३४॥

साम्प्रतं त्रिमिश्रयोगेषु निरूपयति—

समयो अत्थि जहण्णं तिमिस्सजोगेसु सत्तकम्माणं ।
जेट्ठं अंतमुहुत्तं उअ ण भवे घाइगोआणं ॥२३५॥

(प्रे०) **'समयो'** इत्यादि, त्रिमिश्रयोगेषु–औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्राहारकमिश्रयोगलक्ष-णासु त्रिमार्गणासु सप्तकर्मणां जघन्यानुभागबन्धस्य जघन्यं-लघ्वन्तरं समयोऽस्ति ज्येष्ठं–प्रकृष्टान्त-रमन्तर्मुहूर्तं भवेत् । उतशब्देन मतान्तरमाक्षिपन्नाह–घातिगोत्रप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं न भवेत् ।

प्रथममते घातिगोत्रप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धो मार्गणायाः कस्मिंश्चिदपि समये भवति,तेन तत्तन्मार्गणायां द्वितीयवारमपि बन्धो भवितुमर्हति । अत एव प्रथममतेन तासां प्रकृतीनां प्रकृतानुभागबन्धस्यान्तरमुक्तम् । द्वितीयमते पुनरेतासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धो मार्गणायाश्चरमसमये भवति तत एतन्मतेनान्तरं निषिद्धम् ॥२३५॥ इदानीं वैक्रियकाययोगे भणति--

वेउव्वियजोगे णो हवए गोअस्स छण्ह सेसाणं ।
समयो अत्थि जहण्णं जेट्ठं णेयं मुहुत्तंतो ॥२३६॥

(प्रे०) 'वेउव्वियजोगे' इत्यादि, वैक्रियकाययोगमार्गणायां गोत्रस्यान्तरं न भवति, कुतः ? अव्यवधानेन तस्यामेव मार्गणायां पुनर्बन्धाभावात् , तथाहि–अस्यां गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन सम्यक्त्वाभिमुखः सप्तमनारकोऽभिहितः । तेन तद्जघन्यानुभागं पुनर्निर्वर्तयितुं सम्यक्त्वाभिमुखावस्थाऽऽवश्यकी, तस्याश्च पुनः प्राप्तिर्जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तकालेन संभवति, तावत्कालमध्येऽत्र वैक्रिययोगो मनोयोगादिभिः परावर्तते, अत एवाव्यवधानेन तस्यामेव मार्गणायां गोत्रसत्कजघन्यानुभागस्य पुनर्बन्धस्यालाभादन्तरं न प्राप्यते । शेषाणां–गोत्रवर्जशेषाणां षण्णां चतुर्घातिवेदनीयनामलक्षणानां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्य जघन्यान्तरं समयोऽस्ति, अभिमुखादिविशिष्टावस्थासु जघन्यानुभागस्य बन्धाभावेन तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तं प्रस्तुतान्तरं समयप्रमाणं प्राप्यते । तथा 'जेट्ठं' इत्यादि, प्रकृष्टान्तरं मुहूर्तान्तः–अन्तर्मुहूर्तं ज्ञेयम् । वैक्रिययोगस्य मनोयोगादिभिरन्तर्मुहूर्तकालेन परावर्तनात् ॥२३६॥

सम्प्रति कार्मणानाहारकमार्गणाद्वये जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरमाह—

कम्माणाहारेसुं णो चेव हवेज्ज घाइगोआणं ।
दुविहं पि मुणेयव्वं समयो खलु वेअणामाणं ॥२३७॥

(प्रे०) 'कम्माणाहारेसु' इत्यादि, कार्मणानाहारकमार्गणाद्वये चतुर्घातिगोत्रप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं नैव भवति, । भावना चात्र तासां जघन्यानुभागबन्धस्वामिनं ज्ञात्वा यथासंभवं कार्या । अथ शेषयोरन्तरमाह–'दुविहं पि'इत्यादि वेदनीयनामकर्मद्वयस्य द्विविधं–जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नमन्तरं समय एव, एतन्मार्गणाद्वयस्य त्रिसामयिकत्वेन मध्यमसमयस्यान्तरत्वेन लभ्यमानत्वात् । ननु तर्हि घातिगोत्राणामपि कथमन्तरं न लभ्यते ? उच्यते–एतन्मार्गणाद्वये घातिगोत्रयोर्जघन्यानुभागबन्धस्तीव्रविशुद्धया भवति , तीव्रविशुद्धिश्च संज्ञिजीवेभ्य उद्वृत्त्य संज्ञित्वेनोत्पद्यमानानां जीवानामेव भवति, ततस्त्रसनाड्यामेव तेषां विग्रहगतिः, तेन द्विवक्रसद्भावात् कार्मणानाहारकमार्गणयोरवस्थितिर्द्विसमयप्रमाणा , अत एव घातिगोत्राणामन्तरं न लभ्यते, वेदनीयनामकर्मणोस्तु जघन्यानुभागस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वेन सूक्ष्मैरपि स

बध्यते । तेन तयोर्जघन्यानुभागबन्धस्य मार्गणाया आद्यसमये चरमसमये च संभवात् मध्यमसमयोऽन्तरत्वेन लभ्यते ॥२३७॥

अथ स्त्रीपुरुषवेदक्षायिकमार्गणासु प्रकृतानुभागबन्धस्यान्तरं चिन्तयति—

पुमथीखइएसु भवे णो घाईण तिअघाइपयडीणं ।
हस्सं समयो जेट्ठं देसूणा जेट्ठकायठिई ॥२३८॥

(प्रे०) 'पुमथीखइएसु' इत्यादि, पुरुषस्त्रीवेदक्षायिकसम्यक्त्वमार्गणासु घातिनां-चतुर्घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं न भवेत्, क्षपकश्रेण्यां जघन्यानुभागबन्धस्य सद्भावेन पुनर्बन्धस्यालाभात् । त्र्यघातिप्रकृतीनां वेदनीयनामगोत्राख्यानां ह्रस्वं-जघन्यमन्तरं समयः ज्येष्ठं-प्रकृष्टमन्तरं देशोना ज्येष्ठकायस्थितिः । इयमत्र भावना-पुरुषस्त्रीवेदमार्गणयोस्त्र्यघातिप्रकृतीनां तथा क्षायिकमार्गणायां वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यानुभागः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन निर्वर्त्यते, ततो जघन्यतोऽन्तरं समयः, उत्कृष्टतो देशोनस्वकायस्थितिप्रमाणं संभवति । ननु क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां गोत्रस्य जघन्यानुभागः केवलोच्चैर्गोत्रस्य बन्धसद्भावात् परावर्तमानमध्यमपरिणामेन न बध्यते, तर्हि जघन्यान्तरं समयप्रमाणं कथं भवितुमर्हति ? उच्यते-स्वस्थानसंक्लेशेन तस्य बन्धसद्भावेन समयं यावत् तद्विपरीतबन्धलक्षणस्यान्तरस्य संभवात्, तथाहि-अत्र केवलोच्चैर्गोत्रस्य बन्धसद्भावेन तस्य जघन्यानुभागबन्धः संक्लेशेन जायते, संक्लेशोऽप्यत्र स्वस्थाने न तु मिथ्यात्वाभिमुखावस्थायाम्, क्षायिकसम्यग्दृष्टेः प्रतिपाताभावात् अन्यथा क्षायिकत्वहानेः । तेन कारणेन गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धानन्तरं समयं यावत् यदि तथाविधसंक्लेशस्य हानिर्भवति तर्हि तस्याजघन्यानुभागबन्धः प्रवर्त्तते, समयं यावत्तत्प्रवर्तनानन्तरं पुनस्तादृशसंक्लेशः समुत्पद्यते तदा गोत्रस्य पुनर्जघन्यानुभागबन्धो जायते । एवं जघन्यरसबन्धयोरन्तराले समयं यावत्तद्विपरीतबन्धस्य जायमानत्वात् समयप्रमाणं प्रकृतान्तरं घटते एव । प्रकृष्टं त्वन्तरं देशोनकायस्थितिप्रमाणम्, तत्तु क्षायिकमार्गणायाः प्रारम्भे तथा पर्यवसाने गोत्रस्य जघन्यानुभागो बध्यते तदा प्राप्यते । देशोनता चात्र स्वयमेवाभ्यूह्या ॥२३८॥

अधुना यासु मार्गणास्वोघवदन्तरं भवति तास्वतिदिशति—

सत्तण्होघव्व भवे णपुंसगायतअचक्खुभवियेसुं ।
णो सप्पाउग्गाणं सव्वाण अवेअसुहुमेसुं ॥२३९॥

(प्रे०) 'सत्तण्होघव्व' इत्यादि, सप्तानां कर्मणां जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरमोघवद् भवेत्, कुत्र ? उच्यते-नपुंसकवेदासंयताचक्षुर्दर्शनभव्यलक्षणासु चतसृषु मार्गणास्विति, अयं भावः-ओघप्ररूपणायां घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं निषिद्धम्, तथैवात्रापि वक्तव्यम्, नवरं भावनायां कश्चिद् विशेषो द्रष्टव्यः । तद्यथा-नपुंसकवेदाचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणासु क्षपकश्रेणि-

रवाप्यते, तेन ओघवद् भावना वेदितव्या, किन्त्वसंयतमार्गणायां श्रेणिर्न प्राप्यते, ततश्च भावना इत्थं ज्ञेया—तत्र घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामितया संयमाभिमुखत्वस्य चरमसमयेऽविरत-सम्यग्दृष्टिरुक्तः, तेन जघन्यानुभागबन्धानन्तरं मार्गणा परावर्तते, अत एवासंयतमार्गणायां घाति-चतुष्कस्यान्तरं न प्राप्यते । तथा वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं जघन्यतः समयः प्रकर्षतोऽसंख्येयलोकप्रमाणमोघप्ररूपणायामुक्तं तथैवात्रापि द्रष्टव्यम् , भावनाऽपि तथैव विज्ञेया गोत्रकर्मणस्तु जघन्यतोऽन्तरमन्तर्मुहूर्तम् , प्रकर्षतोऽर्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणं निरूपितम् तथैवात्रापि ज्ञातव्यम् , भावनाऽप्योघवदवसेया । अथाऽवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं निरूपणार्थमाह–'णो' इत्यादि,अपगतवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये स्वप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं नास्तीति गाथाक्षरार्थः । भावार्थः पुनरेवम्–अपगतवेदमार्गणायामायु-र्वर्जसप्तप्रकृतीनां बन्धः, सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां पुनर्मोहनीयायुर्वर्जषट्प्रकृतीनाम् , अत्र घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धः क्षपकश्रेण्यां भवति,ततस्तासां जघन्यानुभागस्य पुनर्बन्धाभावेना-न्तरं न लभ्यते, अघातित्रयस्य तु जघन्यानुभागबन्धो मार्गणायाश्चरमसमये श्रेणेरवरोहकोपशाम-कस्य भवति, ततश्च जघन्यरसबन्धानन्तरं मार्गणायाः परावर्तनेन जघन्यानुभागस्य पुनर्बन्धा-भावादन्तरं नैव प्राप्यत इति ॥२३९॥

इदानीं परिहारविशुद्धि-वेदकसम्यक्त्वमार्गणाद्वये जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरमाह—

परिहारवेअगेसु ण घाइगोआण अहव घाईणं ।
दुअघाईणं च लहु समयो गुरुमूणजेट्ठठिई ॥२४०॥

(प्रे०) **'परिहारवेअगेसु'** इत्यादि, परिहारवेदकमार्गणाद्वये घातिगोत्रप्रकृतीनां जघ-न्यानुभागबन्धस्यान्तरं न, भवतीति शेषः, अथ घातिप्रकृतीनां मतान्तरमधिकृत्य तथाऽघातिप्रकृ-तीनां जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरमाह–'अहव' इत्यादि, द्वितीयमते घातिप्रकृतीनां द्वयघातिनो-र्वेदनीयनामकर्मणोः, चकारः समुच्चयार्थः जघन्यानुभागबन्धस्य लघु–जघन्यान्तरं समयः, गुरु-प्रकृष्टान्तरम् ऊनज्येष्ठकायस्थितिः देशोनस्वस्वज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणमिति गाथाक्षरार्थः ।

भावार्थः पुनरेवम्–इह परिहारविशुद्धिमार्गणायां गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धश्छेदोपस्थापनीया-भिमुखत्वस्य,वेदकसम्यक्त्वमार्गणायां पुनर्मिथ्यात्वाभिमुखत्वस्य चरमसमये भवति,एवं जघन्यानुभाग-बन्धस्यानन्तरसमये एव प्रस्तुतमार्गणयोरपगमात् गोत्रस्यान्तरं न लभ्यते । तथाऽत्रैकेन मतेन घाति-चतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धः कृतकरणाद्धाया अर्वाक्समये भवति, कृतकरणाद्धा च खण्डक्षपक-श्रेण्यामेव भवति, खण्डक्षपकश्रेणिर्नाम क्षायिकसम्यक्त्वमुपार्जयितुमारब्धा या श्रेणिः, सा खण्डक्षप-कश्रेणित्वेन भण्यते, साऽपि क्षपकश्रेणिवद् द्वितीयवारं न लभ्यते, तेन कृतकरणाद्धाया अर्वाक्समये बद्धो यो घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागः सोऽपि द्वितीयवारं न बध्यते, अत एवास्मिन्मते घाति-

चतुष्कस्यान्तरं नाभिहितम् । अन्यमतेन तु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धः स्वस्वस्थानविशुद्ध्यामेव भवति, ततोऽजघन्यानुभागबन्धप्रयुक्तमन्तरं प्राप्यते,तच्च जघन्यतः समयप्रमाणम् ,उत्कृष्टतस्तु देशोनस्वस्वकायस्थितिप्रमाणम् , भावना सुगमा । वेदनीयनामकर्मणोस्तु परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जघन्यानुभागबन्धो भवति,अत एव पूर्वोक्तनीत्या यथोक्तमन्तरं घटते ॥२४०॥

अथ त्र्यशुभलेश्यासु मतान्तरपूर्वकं प्रकृतान्तरमभिदधन्नाह—

लहुमसुहतिलेसासु समयो घाईण पल्लऽसंखंसो ।
गुरुमण्णे जेट्ठठिई ऊणा णिरयव्व सेसाणं ॥२४१॥
णीलाए काऊए तिअघाईण समयो लहुं जेट्ठं ।
गोअस्स मुहुत्तंतो दोण्हं ऊणगुरुकायठिई ॥२४२॥

(प्रे०) '**लहुमसुह**' इत्यादि, तिसृष्वप्रशस्तलेश्यामार्गणासु' '**घाईण**' इति चतुर्णां घातिकर्मणां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरम् '**समयो**' इति एकः समयः, प्रस्तुतमार्गणावर्तिसुराणां जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धप्रवर्त्तनात् । तथा '**गुरु**' इति जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं घातिनामित्यनुवर्त्तते, पल्योपमाऽसंख्येयभागः, देवानामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् अप्रशस्तलेश्याकदेवानां भवस्थितेः कायस्थितेश्चोत्कृष्टतोऽपि यथोक्तमानत्वात् । अथ मतान्तरं दर्शयति'**अण्णे**'इति **महाबन्धकाराः**,तेषां मतेनेत्यर्थः देशोनोत्कृष्टकायस्थितिः अस्मिन्मते नारकानाश्रित्यान्तरस्य प्राप्यमाणत्वात्प्रकृतमार्गणोत्कृष्टकायस्थितेर्नारकानेवाश्रित्य संभवाच्चोक्तम् '**जेट्ठठिइ**'इत्यादि,गतार्थम् ,देशोनत्वञ्चात्र मार्गणाऽऽद्यान्तयोर्यथासंभवं जघन्यरसबन्धस्य प्रवर्त्तनात् । तथा '**सेसाण**' इति उक्तशेषाणां त्रयाणामघातिकर्मणामित्यर्थः '**णिरयव्व**'इति नरकौघमार्गणावत् प्रस्तुतमन्तरं भवति तद्यथा—गोत्रकर्मणो जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् , सम्यक्त्वाभिमुखस्यैव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् ,अभिमुखावस्थाद्वयान्तरालस्य जघन्यतोऽप्यान्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् । था वेदनीयनाम्नोः प्रत्येकं तदेकः समयः जघन्यरसबन्धद्वयान्तराल सामयिकाऽजघन्यरसबन्धस्य प्रवर्तनात् । तथा गोत्रकर्मणो जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तेनोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, सप्तमपृथ्वीनारकस्याऽपर्याप्तावस्थायां तज्जघन्यरसबन्धस्याऽप्रवर्त्तनात् । तथा वेदनीयनाम्नोः प्रत्येकं समयद्वयेनोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः कदाचिन्मार्गणाऽऽद्यान्त्यसमययोरेव तज्जघन्यरसबन्धप्रवर्तनात् , इति त्रयाणामघातिकर्मणां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टञ्चान्तरं कृष्णलेश्यामार्गणायामेव ज्ञेयम् , नीलकापोतयोस्तदनन्तरगाथायां पृथग् वक्ष्यमाणत्वात् । अथ नीलकापोतलेश्यामार्गणयोरघातिकर्मणां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टञ्चान्तरं दर्शयति, '**णीलाए काऊए**' इति नीललेश्यामार्गणायां कापोतलेश्यामार्गणायाञ्च प्रत्येकं त्रयाणामघातिकर्मणां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, वेदनीयनाम्नोः प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकस्य परावर्त्तमानपरिणामत्वात् । गोत्र-

कर्मणो जघन्यरसस्य तु स्वस्थानविशुद्धेन बध्यमानतया जघन्यरसबन्धयोरन्तराले एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धप्रवर्तनात् । गोत्रकर्मणस्तदुत्कृष्टमन्तरम् **'मुहुत्तंतो'** इति अन्तर्मुहूर्तम् , तेजोवायूनामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । ततः किम् ? अन्तर्मुहूर्तात् परतस्तेषां मार्गणाया एवाऽपगमात् तथा **'दोण्हं'** वेदनीयनाम्नोः प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, तज्जघन्यरसबन्धकस्य परावर्तमानपरिणामत्वेन नारकाणामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । देशोनत्वञ्चात्र समयद्वयेन बोध्यं, मार्गणाऽऽद्याऽन्त्यसमययोस्तज्जघन्यरसबन्धप्रवर्तनात् ॥२४१।२४२॥

अथ तेजःपद्मलेश्यामार्गणाद्वये प्रकृतान्तरमभिदधन्नाह—

तेउपउमासु घाईण ण उअ समयो लहु मुहुत्तंतो ।
जेट्ठं तिअघाईणं लहु खणो जेट्ठमूणजेट्ठठिई ॥२४३॥

(प्रे०) **'तेउपउमासु'** इत्यादि, तेजःपद्मलेश्यामार्गणाद्वये घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं न भवतीति शेषः-क्षपकश्रेण्याम्‌ अर्वाक् समये तस्य बन्धसद्भावात् । घटना चात्र परिहारमार्गणावत्कार्या । अथ मतान्तरमधिकृत्याह— 'उअ' इत्यादि, उतः विकल्पार्थद्योतकः, ततश्चान्यमते घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, प्रकृष्टान्तरं मुहूर्तान्तः- अन्तर्मुहूर्तप्रमाणमित्यर्थः । नन्विह प्रकृष्टान्तरं देशोनस्वकायस्थितिप्रमाणं विहाय कथमन्तर्मुहूर्तप्रमाणमुक्तम् ? उच्यते-अत्र घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धः स्वस्थानविशुद्धानामप्रमत्तमुनीनां भवति, मनुष्येषु पुनर्लेश्या अन्तर्मुहूर्तेन कालेन परावर्तन्ते, अत एव प्रस्तुतमार्गणाद्वये अन्तर्मुहूर्तमध्ये एवाजघन्यानुभागबन्धप्रयुक्तमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टमन्तरं भणितम् ।

अथ त्र्यघातिप्रकृतीनामन्तरमुच्यते—**'तिअघाईणं'** इत्यादि, वेदनीयनामगोत्रप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्य लघु-जघन्यान्तरं क्षणः-समयप्रमाणम् , ज्येष्ठम्-प्रकृष्टान्तरं देशोनस्वज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणं भवति, कुतः ? परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बन्धसद्भावात् , भावना चात्र प्राग्वदनुसरणीया ॥२४३॥ साम्प्रतं शुक्ललेश्यायामाह—

सुक्काअ ण घाईणं समयो णिण्ह लहुमेगतीसुदही ।
ऊणा गोअस्स गुरुं दोण्ह ऊण गुरुकायठिई ॥२४४॥

(प्रे०) **'सुक्काअ'** इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायां चतुर्घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं न भवति, तासां जघन्यानुभागबन्धस्य क्षपकश्रेण्यामेव सद्भावेन पुनर्बन्धाभावात् । त्र्यघातिप्रकृतीनां लघु-जघन्यान्तरं समयः । अथ तासां प्रकृतीनामुत्कृष्टान्तरं कथ्यते—गोत्रस्य 'गुरु'-प्रकृष्टान्तरं देशोनैकत्रिंशत्सागरोपमप्रमाणम् , कुतः ? उच्यते—सर्वेऽनुत्तरदेवाः शुक्ललेश्यावन्तोऽपि सम्यग्दृष्टयः एव ततस्तेषां केवलोच्चैर्गोत्रस्यैव बन्धसद्भावेन परावर्तमानपरिणामेन गोत्रकर्मणो बन्धा-

भावात् तस्य जघन्यानुभागं ते न बध्नन्ति, ततस्तदपेक्षया प्रकृष्टान्तरं न लभ्यते, किन्त्वेकत्रिंशत्सागरोपमायुष्कग्रैवेयकसुरापेक्षया तद् विज्ञेयम् , ग्रैवेयकेषु मिथ्यादृष्टीनां सद्भावेन गोत्रसत्कजघन्यानुभागस्य परावर्तमानपरिणामेन बध्यमानत्वात् । देशोनत्वं च समयद्वयप्रमाणं विज्ञेयम् , जघन्यरसबन्धप्रायोग्यपरावर्त्तमानपरिणामस्य ग्रैवेयकसुरस्य भवाऽऽद्यान्त्यसमययोरपि प्राप्यमाणत्वात् । तथा 'दोण्हं' इत्यादि, वेदनीयनामाख्ययोः द्वयोः प्रकृत्योः प्रकृतान्तरं देशोनज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणं, भवतीति शेषः । जघन्यानुभागस्य परावर्तमानपरिणामेन मार्गणायाः प्रारम्भे प्रान्ते च बध्यमानत्वादिति ॥२४४॥ अथाभव्यासंज्ञिमार्गणाद्वये सप्तानां जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं दर्शयति—

अभवासण्णीसु लहुं समयो सत्तण्ह वेअणामाणं ।
जेट्ठं असंखलोगा सेसाण असंखपरिअट्टा ॥२४५॥

(प्रे०) 'अभवासण्णीसु' इत्यादि, अभव्यासंज्ञिमार्गणाद्वये सप्तानां जघन्यानुभागबन्धस्य लघु-जघन्यान्तरं समयो भवति कुतः ? उच्यते—अभिमुखाद्यवस्थासु जघन्यानुभागस्य बन्धविरहेण जघन्यानुभागबन्धयोरन्तराले एकसामयिकस्य तद्विपरीतबन्धस्यान्तरत्वेन लभ्यमानत्वात् । अथ उत्कृष्टान्तरमाह—वेदनीयनामकर्मणोः ज्येष्ठं प्रकृष्टान्तरमसंख्येयलोकाः, भावना चात्र प्राग्वद्वसातव्या । 'सेसाण' इत्यादि, चतुर्घातिगोत्राख्यशेषप्रकृतीनां, जघन्यानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरमित्यनुवर्तते, कियत्प्रमाणम् ? असंख्येयपुद्गलपरावर्ताः, इदमेव भाव्यते—अभव्यमार्गणायां जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन घातिचतुष्कस्य संज्ञी,गोत्रस्य पुनः सप्तमनारकः प्रदर्शितः । असंज्ञिमार्गणायां तु घातिचतुष्कस्य पञ्चेन्द्रियः, गोत्रस्य पुनस्तेजःकायिको वायुकायिको वा निर्दिष्टः । ततश्च तत्तत्प्रकृतीनां प्रागुक्तस्वामी जघन्यानुभागं बद्ध्वा यथासंभवं वनस्पतिषूत्पद्यते, तत्र चासंख्येयपुद्गलपरावर्तात्मिकां तत्प्रकृष्टकायस्थितिं यावदवतिष्ठते, ततोऽप्युद्वृत्तः सन् यदा तत्तत्प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धप्रायोग्यामवस्थामवाप्य पुनस्तासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धं विदधाति, तदा यथोक्तं प्रकृष्टान्तरमवाप्यत इति ॥२४५॥

साम्प्रतं सास्वादनमार्गणायां शेषमार्गणासु च प्रकृतान्तरं दर्शयति—

सासायणम्मि समयो सत्तण्ह लहुं गुरुं मुहुत्तंतो ।
सेसासु लहुं समयो गुरुमूणा जेट्ठकायठिई ॥२४६॥

(प्रे०) 'सासायणम्मि' इत्यादि, सास्वादनमार्गणायां सप्तप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्य लघु-जघन्यान्तरं समयः, गुरु- प्रकृष्टान्तरं मुहूर्तान्तः-अन्तर्मुहूर्तं,भवतीति शेषः । भावना च प्रकृतस्वामिनं ज्ञात्वा यथासंभवं कर्तव्या । तथा घातिचतुष्कस्य मतान्तरेण जघन्यानुभागबन्धस्वामिनमवगम्य प्रस्तुतं स्वयमभिधातव्यम् । तदेवं निरूपितमष्टाशीतिमार्गणासु सप्तानां जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरम् ।

संग्र ति तद्वर्जशेषद्व्यशीतिमार्गणासु तदेवाभिधित्सुराह–'**सेसासु**' इत्यादि, शेषासु प्रागुक्ताऽष्टाशीतिवर्जितासु द्व्यशीतिमार्गणास्वित्यर्थः, सप्तानां जघन्यानुभागबन्धस्य इत्यनुवर्तते लघु–जघन्यान्तरं समयः, गुरु–प्रकृष्टान्तरं ऊणा-न्यूना ज्येष्ठकायस्थितिरिति । शेषमार्गणा नामत इमाः-गतिमार्गणा स्थानस्य प्रथमादिषण्नारकापर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्यदेवौघवर्जैकोनत्रिंशद्देवभेदलक्षणाः सप्तत्रिंशन्मार्गणाः , इन्द्रियमार्गणास्थानस्यैकेन्द्रियसामान्यसूक्ष्मैकेन्द्रियभेदद्वयवर्जपञ्चैकेन्द्रियनवविकलेन्द्रियापर्याप्तपञ्चेन्द्रियरूपाः पञ्चदशमार्गणाः, कायमार्गणास्थानस्य पृथ्वीकायसामान्यसूक्ष्मपृथ्वीकायभेदद्वयवर्जपञ्चपृथ्वीकाया-ऽप्कायसामान्यसूक्ष्माप्कायभेदद्वयवर्जपञ्चाप्काय-तेजःकायसामान्यसूक्ष्मतेजःकायभेदद्वयवर्जपञ्चतेजःकाय-वायुकायसामान्यसूक्ष्मवायुकायभेदद्वयवर्जपञ्चवायुकायवनस्पतिकायसामान्यसाधारणवनस्पतिकायसामान्यसूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायभेदत्रयवर्जाष्टवनस्पतिकाया ऽपर्याप्तत्रसकायाख्या एकोनत्रिंशन्मार्गणाः, आहारककाययोगमार्गणा चेति द्व्यशीतिमार्गणा इति । अत्र सामान्यतो भावना चेत्थम्–अत्र सर्वासु मार्गणासु जघन्यानुभागबन्धः स्वस्थाने एव भवति, न त्वभिमुखाद्यवस्थासु तेन तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तं जघन्यतः समयप्रमाणमन्तरं भवति, उत्कृष्टं पुनर्देशोनकायस्थितिप्रमाणं प्राप्यते, यतः सर्वासां मार्गणानां कायस्थितिरसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणकालतोऽत्यन्तहीनतरा, अत एव स्वस्वमार्गणाया यथासम्भवं प्रारम्भकाले पर्यवसानकाले च जघन्यानुभागस्य बन्धो भवति, तदा द्वयोर्जघन्यानुभागबन्धयोरन्तरमुत्कृष्टं यथोक्तप्रमाणोऽन्तरत्वेन लभ्यते । विशेषतो भावना प्रकृततत्स्वामिनमवबुध्य स्वयमेव करणीया ॥२४६॥

निरूपितमादेशतः सप्तानां कर्मणां जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरम् । साम्प्रतं तासामेवाजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरमादेशतो दर्शितुकाम आदौ तावत् निरयगत्यादिमार्गणासु गाथेगाथया आह—

अलहुरसस्स जहण्णं णिरयचरमणिरयविउव्वकिण्हासु ।
समयो सत्तण्ह भवे घाईण गुरुं दुवे समया ॥२४७॥
गोअस्स होइ समयो समया चत्तारि वेअणामाणं ।

(प्रे०) '**अलहुरसस्स**' इत्यादि, नरकसामान्यचरमनरकवैक्रियकाययोगकृष्णलेश्यालक्षणासु चतसृषु मार्गणासु सप्तानां प्रकृतीनामलघुरसस्य-अजघन्यानुभागबन्धस्य जघन्यं - ह्रस्वान्तरं समयः-समयप्रमाणं भवेत् । अथ तासां प्रकृष्टान्तरमुच्यते–'**घाईण**' इत्यादि, घातिप्रकृतीनां गुरु उत्कृष्टान्तरं द्वौ समयौ–द्विसमयप्रमाणं, गोत्रस्य प्रकृष्टान्तरं समयमात्रं, वेदनीयनामकर्मणोरुत्कृष्टान्तरं चत्वारः समयाः– चतुःसमयप्रमाणं भवतीति गाथाक्षरार्थः ।

भावार्थः पुनरेवम्–सामान्यतोऽत्राजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरप्ररूपणायां यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं प्रकर्षतः समयप्रमाणं द्विसमयप्रमाणं चतुःसमयप्रमाणं वा वक्ष्यते, तत्र तासां प्रकृतीनां तत्सर्वमन्तरं तद्विपरीतजघन्यानुभागस्य बन्धकालापेक्षया विज्ञेयम् ,

द्वयोरजघन्यानुभागबन्धयोर्जघन्यानुभागबन्धेनैव व्यवहितत्वात् । ततस्तदन्तरस्य भावनाऽपि तथैव द्रष्टव्या। सामान्येन च भावना इत्थम्—यत्र यासां प्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं चतुःसमयप्रमाणमभिधास्यते, तत्र तासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्य परावर्तमानपरिणामेन जायमानत्वात् प्रकर्षतस्तद्बन्धकालश्चतुःसमयप्रमाणः,तत्प्रयुक्तमजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरमपि चतुःसमयप्रमाणं भवति, तच्चान्तरं मुख्यतया वेदनीयनामप्रकृत्योरवगन्तव्यम् , गोत्रकर्मणः पुनः कासुचिद् मार्गणास्ववसातव्यम् ।

तथा यत्र यासां प्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं द्विसमयप्रमाणं कथयिष्यते तत्र तासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धः स्वस्थानविशुद्ध्या स्वस्थानसंक्लेशेन वा भवति। अशुभप्रकृतीनां हि जघन्यानुभागबन्धो विशुद्ध्यैव जायते, शुभप्रकृतीनां पुनः संक्लेशेन । प्रस्तुते च घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धो विशुद्ध्या भवति,गोत्रस्य पुनर्यासु मार्गणासु केवलनीचैर्गोत्रस्य बन्धकाले जघन्यानुभागबन्धः संभवति तत्र विशुद्ध्यैव,यासु पुनः केवलोच्चैर्गोत्रबन्धकाले गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धः संजायते तत्र तु संक्लेशनैव भवति । स्वस्थानतीव्रविशुद्धेः स्वस्थानतीव्रसंक्लेशस्य चावस्थानकालस्य प्रकर्षतोऽपि द्विसमयप्रमाणत्वेन तज्जघन्यबन्धोऽपि द्विसमयं यावद् भवति, तेन तत्प्रयुक्तमजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरमपि द्विसमयप्रमाणं संजायते, तच्चान्तरं बाहुल्येन बहुषु मार्गणासु घातिचतुष्कस्य भवति, कतिपयासु च गोत्रस्यापीति ।

तथा यत्र यासां प्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं समयमात्रमेव निगदिष्यते, तत्र तासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धोऽभिमुखादिविशिष्टावस्थानां प्रतिनियतसमये एव भवति, तद्बन्धानन्तरं च मार्गणायाः परावृत्तिर्न भवति, जघन्यानुभागबन्धानन्तरं तस्यामेव मार्गणायां पुनरजघन्यानुभागस्य बन्धो भवतीत्यर्थः । प्रस्तुते नरकादिमार्गणासु गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धः सम्यक्त्वाभिमुखावस्थायाः प्रतिनियतसमये एव भवति, तदनन्तरं च मार्गणायाः परावृत्त्यभावेन तस्यामेव मार्गणायामजघन्यानुभागस्य पुनर्बन्धो भवति, तेन कारणेन नरकसामान्यादिचतुर्मार्गणासु गोत्रस्याजघन्यानुभागबन्धस्य समयप्रमाणमन्तरमुक्तम् । तथा यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धस्यान्तराभावः प्ररूपयिष्यते तत्र तासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धोऽभिमुखाद्यवस्थानां प्रतिनियतसमये एव संभवति,तज्जघन्यानुभागबन्धानन्तरं मार्गणायाः परावृत्तिश्च। तथा कासुचिद् मार्गणासु श्रेणिसत्काबन्धसद्भावेऽपि पुनर्बन्धात्प्रागेव मार्गणापरावृत्तिसंभवेन प्रकृतान्तरं नैव लभ्यते। यथा पञ्चमनोयोगादिमार्गणासु घातिचतुष्कस्य, तथा यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धस्य प्रकर्षतोऽन्तरमन्तर्मुहूर्तं वक्ष्यते तत्र तदन्तरमबन्धप्रयुक्तं द्रष्टव्यम् यथा मनुष्यादिमार्गणासूपशमश्रेणिं प्रतिपन्नः सप्तानामजघन्यानुभागं बद्ध्वा तासामबन्धं करोति, ततश्चान्तर्मुहूर्तमबन्धस्थानेऽवस्थायाद्धाक्षयेण तत्स्थानादवतीर्य पुनस्तासामजघन्यानुभागं निर्वर्तयति

तदा प्रकृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तमेव भवति । एवंनीत्योत्तरत्र सर्वेषु मार्गणाभेदेषु सप्तानामजघन्यानुभाग-बन्धान्तरस्य घटना यथासंभवं स्वयमेव कर्तव्येति ॥२४७॥

अथ यासु मार्गणासु वेदनीयनामप्रकृत्योरजघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं चतुःसमय-प्रमाणं शेषपञ्चानाञ्च द्विसमयप्रमाणमन्तरं भवति तासु मार्गणासु तथैव सार्धगाथयाऽऽह—

तिरियपणऽणुत्तरसयलएगिंदियतेउवाऊसु ॥२४८॥
आहारनीलकाउअभवियेसु सासणे असण्णिम्मि ।
सत्तण्ह लहुं समयो चउसमया दोण्ह दुसमयाऽण्णेसिं ॥२४९॥[गीतिः]

(प्रे०) '**तिरियपणऽणुत्तर**' इत्यादि, तिर्यग्गतिसामान्य-पञ्चानुत्तर-सप्तैकेन्द्रियभेदसप्ततेजः-कायभेद-सप्तवायुकायभेदाहारककाययोग-नील-कापोतलेश्या-ऽभव्य-सास्वादनासंज्ञिलक्षणासु त्रयस्त्रिं-शद्मार्गणासु सप्तानामायुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धस्य इत्यनुवर्तते तस्यैव प्रस्तुतत्वात्, लघु–जघन्यान्तरं समयः द्वयोरजघन्यानुभागबन्धयोरन्तराले समयं यावत् तद्विपरीतजघन्यानुभाग-बन्धस्यावाप्यमानत्वात् । अथ तासां प्रकृष्टान्तरमभिदधाति–'**चउसमया दोण्ह**'इति द्वयोः–प्रकृत्योः वेदनीयनामाख्ययोः, प्रकृष्टान्तरमिति शेषः, चतुःसमयाः चतुःसमयप्रमाणं, कुतः ? सर्वत्रानयोर्जघन्यानुभागबन्धस्योत्कृष्टतः समयचतुष्कं यावत् परावर्तमानपरिणामेन बध्यमानत्वेन तत्प्रयुक्तान्तरस्य यथोक्तप्रमाणत्वात् । तथा'**दुसमयाऽण्णेसिं**'इति, अन्यासां-घातिगोत्रलक्षणानां पञ्चानां प्रकृतीनां प्रकृष्टान्तरं द्वौ समयौ द्विसमयप्रमाणं भवति, अत्रापि तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तमन्तरं द्रष्टव्यम्, घातिचतुष्कस्य तद्विपरीतजघन्यानुभागबन्धो विशुद्धया एव भवति, गोत्रस्य पुनः पञ्चानुत्तराहारककाययोगमार्गणासु केवलोच्चैर्गोत्रस्य बन्धसद्भावात् संक्लेशेनैव तथेहोक्तासु शेषसप्त-विंशतिमार्गणासु विशुद्धया एव तज्जघन्यानुभागबन्धो भवति नीचैर्गोत्रं प्रतीत्य तज्जघन्यरसबन्ध-सद्भावात्, स्वस्थानसंक्लेशविशुद्धयोरुत्कृष्टतो द्विसमयस्थायित्वेन तज्जघन्यरसस्य बन्धकालो द्विस-मयप्रमाणः, ततस्तत्प्रयुक्तमन्तरमपि द्विसमयप्रमाणं भवतीति भावः ॥२४८।२४९॥

इदानीमपर्याप्तभेदवर्जत्रिमनुष्यमार्गणासु प्रकृतान्तरं प्रदर्शयति—

तिणरेसुं घाईणं भिन्नमुहुत्तं लहुं मुणेयव्वं ।
सेसाण होइ समयो सत्तण्ह गुरुं मुहुत्तंतो ॥२५०॥

(प्रे०) '**तिणरेसु**' इत्यादि, मनुष्यसामान्यमनुष्ययोनिमतीपर्याप्तमनुष्यलक्षणासु तिसृषु मार्गणासु घातिचतुष्कस्याजघन्यानुभागबन्धस्य लघु-जघन्यान्तरं भिन्नमुहूर्तं ज्ञातव्यम् । कुतः ? घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धः क्षपकश्रेण्यामेव भवति, ततस्तद्बन्धानन्तरमजघन्यानुभागस्य पुन-र्बन्धाभावेन तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तमन्तरं न प्राप्यते, किन्त्वत्राबन्धप्रयुक्तमेवान्तरं लभ्यते, अब-

न्धस्थानतः प्रतिपततस्तद्बन्धकस्य मार्गणापरावृत्त्यभावात् । शेषाणां त्र्यघातिनां जघन्यान्तरं समयः, तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तान्तरस्य प्राप्यमाणत्वात् । अथ प्रकृष्टान्तरं 'सत्तण्ह' इत्यादि, सप्तानामजघन्यानुभागबन्धस्य गुरु-प्रकृष्टान्तरं मुहूर्तान्तः- अन्तर्मुहूर्तमेव भवति, तच्चाबन्धप्रयुक्तं द्रष्टव्यम् , भावना च ओघवद्विधेयेति ।।२५०।।

अधुना यासु मार्गणासु सप्तानामजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरमोघवद् भवति तासु तद्वदतिदिशन्नाह—

ओघव्व दुपंणिंदियतसकायतिणाणदंसणतिगेसु ।
सुक्कभवियसम्मखइअउवसमसण्णीसु आहारे ।।२५१।।

(प्रे०) 'ओघव्व' इत्यादि, पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकाय-पर्याप्तत्रसकाय-काययोगसामान्य-मतिश्रुतावधिज्ञान-चक्षुरचक्षुरवधिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकोपशमसंज्ञ्याहारिलक्षणास्वष्टादशमार्गणास्वजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरमोघवद् ज्ञातव्यमिति शेषः ।

अयम्भावः- ओघे सप्तानामजघन्यानुभागबन्धस्य जघन्यान्तरं समयप्रमाणं, प्रकृष्टान्तरं पुनरन्तर्मुहूर्तं प्रतिपादितं तथैवात्राप्यष्टादशमार्गणासु वेदितव्यम् । कुतः ? भण्यते—अत्र सर्वत्रोपशमश्रेणिर्लभ्यते, तथाऽबन्धस्थानात् पुनर्बन्धस्थाने आगमनेनाऽपि मार्गणानां परावृत्तिर्न संभवतीति कृत्वा, भावनौघवत्कार्या । नन्वत्र घातिचतुष्कस्याजघन्यानुभागबन्धस्य जघन्यमप्यन्तरमबन्धप्रयुक्तमेव भवति तर्हि मनुष्यमार्गणावत् जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तं कथं नोक्तम् ? उच्यते—अत्राबन्धस्थानतः कालकरणेनाऽपि मार्गणानामपरावृत्तेः, मनुष्यमार्गणायां तु कालकरणेन तत्परावृत्तेरिह जघन्यतः प्रकृतान्तरं समयप्रमाणमेव भवति ।।२५१।।

सम्प्रति पञ्चमनोयोगेषु प्रकृतान्तरं दर्शयन् तत्समानवक्तव्यत्वादन्यास्वपि मार्गणासु गाथाद्वयेनाह—

पणमणवय-णपुमेसुं कसायअयतेसु णत्थि घाईणं ।
णवरं लोहे समयो मोहस्स लहुं गुरुं मुहुत्तंतो ।।२५२।।[गीतिः]
अह तिण्ह अघाईणं हस्सं समयो गुरुं पि गोअस्स ।
विण्णेयं चत्तारो समया खलु वेअणामाणं ।।२५३।।

(प्रे०) 'पणमणवयणपुमेसु' इत्यादि, पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगनपुंसकवेदचतुष्कषायासंयतलक्षणासु षोडशमार्गणासु घातिप्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं नास्ति,कुतः ? मनोयोगादिषु कासुचिन्मार्गणासूपश्रेणावबन्धस्थानतः पुनर्बन्धप्राप्तेरर्वाग्मार्गणानां परावर्तनेन तथा नपुं-

सकवेदादिषु कासुचिन्मार्गणासु जघन्यरसबन्धानन्तरसमये मार्गणानां परावर्तनेन पुनर्बन्धाभावात् ।

अत्र लोभकषायमार्गणायामापतितामतिप्रसक्तिं निराकर्तुं विशेषमाह–'नवरं'इत्यादिना, लोभकषायमार्गणायां मोहनीयस्याजघन्यानुभागबन्धस्य लघु–जघन्यमन्तरं समयः, गुरु-प्रकृष्टान्तरं मुहूर्तान्तःअन्तर्मुहूर्तं भवति । कुतः ? भण्यते–लोभकषायमार्गणा दशमगुणस्थानकस्य चरमसमयं यावद् विद्यते, मोहनीयस्य बन्धविच्छेदस्तु नवमगुणस्थानकस्य चरमसमये भवति, ततो लोभकषायेनोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नो यः कश्चिद् जीवो यदि मोहनीयस्य बन्धविच्छेदं कृत्वा जघन्यतः समयं यावत् प्रकर्षतस्तु सूक्ष्मसम्परायस्य चरमसमयं यावदबन्धस्थानेऽवस्थाय कालं करोति, कालं च कृत्वा देवेषूत्पद्यते, तस्यामेव मार्गणायां वर्तमानः स तदुत्पत्तिप्रथमसमयतो मोहनीयस्याजघन्यानुभागस्य पुनर्बन्धं विदधाति, एवं प्रकृतान्तरं जघन्यतः समयप्रमाणम् उत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्तप्रमाणं प्राप्यते । 'अह' इत्यादि, अथ प्रागुक्तषोडशमार्गणासु तिसृणामघातिप्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धस्य ह्रस्वं जघन्यान्तरं समयः, तच्च तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तं द्रष्टव्यम् । अथ तासां प्रकृष्टान्तरमाह–**'गुरुंपि गोअस्स'** इति गोत्रस्याजघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टमप्यन्तरं समयमात्रं भवति, अबन्धप्रयुक्तान्तरस्याभावात् तद्विपरीतजघन्यानुभागबन्धस्य सम्यक्त्वाभिमुखावस्थायाः प्रतिनियतसमयएव सद्भावाच्च जघन्यरसबन्धप्रयुक्तमन्तरं प्रकर्षतोऽपि समयप्रमाणमेव भवति । वेदनीयनामकर्मणोः खलु चत्वारः समयाः चतुःसमयप्रमाणं विज्ञेयम्, अजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरमित्यनुवर्तते ॥२५२।२५३॥

इदानीमौदारिककाययोगमार्गणायामन्तरमाह—

घाईणुरले ण भवे लहुं अघाईण तिण्ह समयोऽत्थि ।
दोण्हं चउरो समया जेट्ठं गोअस्स दो समया ॥२५४॥

(प्रे०) **'घाईणुरले'**इत्यादि,औदारिककाययोगमार्गणायां घातिप्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं न भवेत्, भावना च मनोयोगादिमार्गणावत्कार्या । तिसृणामघातिप्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धस्य लघु–जघन्यान्तरं समयोऽस्ति । अथ ज्येष्ठान्तरमुच्यते–'दोण्हं' इत्यादि, द्वयोः वेदनीयनामकर्मणोरजघन्यानुभागबन्धस्य ज्येष्ठं-प्रकृष्टान्तरं चत्वारः समयाः, गोत्रस्य द्वौ समयौ अत्र गोत्रस्य तेजःकायिको वायुकायिको वा विशुद्धया नीचैर्गोत्रं बध्नन् गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धं विदधाति, स च जघन्यानुभागबन्धः प्रकर्षतोऽपि समयद्वयं यावत् प्रवर्तते,अत एव तत्प्रयुक्तमजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं द्विसमयप्रमाणं भवतीति ॥२५४॥

अथ त्रिमिश्रयोगेषु प्रस्तुतान्तरमभिदधाति–

सत्तण्ह लहुं समयो तिमिस्सजोगेसु वेअणामाणं ।
चउसमया जेट्ठं दो समया सेसाण उअ णत्थि ॥२५५॥

(प्रे०) **'सत्तण्ह'** इत्यादि, औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्राहारकमिश्रलक्षणासु तिसृषु मार्गणासु सप्तप्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धस्य 'लघु'-जघन्यान्तरं समयः । अथ प्रकृष्टान्तरमुच्यते–**'वेअणामाणं'** इत्यादि, वेदनीयनामकर्मणोः प्रकृष्टान्तरं चतुःसमयप्रमाणं, शेषाणां पञ्चानां द्विसमयप्रमाणं भवतीति, भावना चात्र प्राग्वत्कार्या । अथ शेषपञ्चानां प्रकृतीनां प्रकृतान्तरं मतान्तरेण निषेधयन्नाह–**'उअ णत्थि'** इति उतशब्दो मतान्तरद्योतकः, ततश्च मतान्तरेणेत्यर्थः, 'नास्ति' शेषाणां पञ्चानामजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं नास्तीत्यर्थः । कुतः ? उच्यते–अत्रासां प्रकृतान्तरं तद्विपरीतजघन्यानुभागबन्धमधिकृत्य भवति, अस्मिन् मते तु पञ्चानां जघन्यानुभागबन्धः स्वस्वमार्गणायाश्चरमसमये जायते,तदनन्तरं मार्गणाया एवापगमात्, पञ्चानामन्तरं निषिद्धम् ,प्रथममतेन तु तासां जघन्यानुभागबन्धो मार्गणायाः कस्मिंश्चिदपि समये भवति,ततश्चपुनर्बन्धसद्भावेनान्तरं प्राप्यते ॥२५५॥

साम्प्रतं कार्मणानाहारकमार्गणाद्वये सप्तानामजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं प्रदर्शनार्थमाह–

कम्माणाहारेसुं णेव भवे घाइगोअकम्माणं ।
दुविहं पि भवे समयो पयडीणं वेअणामाणं ॥२५६॥

(प्रे०) **'कम्माणाहारेसु'** कार्मणानाहारकमार्गणाद्वये घातिगोत्रप्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं नैव भवेत् , कुतः ? एतन्मार्गणयोः त्रिसामयिकत्वेऽपि जघन्यानुभागबन्धकानां संज्ञित्वेन तयोः कायस्थितेर्द्विसामायिकत्वादन्तरं न प्राप्यते । वेदनीयनामप्रकृत्योर्द्विविधमप्यन्तरं जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विप्रकारमप्यन्तरमित्यर्थः, समयः–समयप्रमाणं भवेत् । कार्मणानाहारकमार्गणयोरवस्थानस्य प्रकर्षतोऽपि त्रिसामयिकत्वात् ॥२५६॥

अथ स्त्रीपुरुषवेदमार्गणाद्वये प्रकृतान्तरं दर्शयति—

पुमथीसुं घाईणं ण भवे समयो लहुं अघाईणं ।
चउसमयाऽणमवेए सत्तण्ह दुहा मुहुत्तंतो ॥२५७॥

(प्रे०) **'पुमथीसु'** इत्यादि, स्त्रीपुरुषवेदमार्गणाद्वये चतुर्घातिनामजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं न भवेत् । क्षपकश्रेण्यां मार्गणायाश्चरमसमये तासां जघन्यानुभागस्य बन्धसद्भावेन तत्प्रयुक्तस्यान्तरस्याप्राप्यमाणत्वादबन्धप्रयुक्तान्तरस्याभावाच्च । तिसृणामघातिप्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धस्य लघु-जघन्यान्तरं समयः, अन्यद्–जघन्यादन्यत् प्रकृष्टान्तरं चतुःसमयप्रमाणं, वेदनीयनामवद् गोत्रस्यापि जघन्यानुभागबन्धस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन सद्भावात् । तज्जघन्यानुभागबन्धकालस्य जघन्यतः समयप्रमाणत्वात् प्रकर्षतश्चतुःसमयप्रमाणत्वात् तत्प्रयुक्तान्तरं जघन्यतः समयप्रमाणं उत्कृष्टतश्च चतुःसमयप्रमाणं बोध्यम् । साम्प्रतमवेदमार्गणायां प्रस्तुतान्तरं प्ररूप्यते 'अवेए' इत्यादि, अवेदमार्गणायां सप्तानामजघन्यानुभागबन्धस्य द्विधा-जघन्योत्कृष्टभेद-

भिन्नं द्विविधमप्यन्तरं मुहूर्तान्तः-अन्तर्मुहूर्तप्रमाणमित्यर्थः, तच्चाबन्धप्रयुक्तं द्रष्टव्यम् , भावना प्राग्वत् कर्तव्या ।।२५७।। इदानीं मनःपर्यवज्ञानसंयमौघमार्गणाद्वये तदेवान्तरं निगदति—

मणणाणसंयमेसुं भिन्नमुहुत्तं तु घाइगोआणं।
दुविहं दोण्ह जहण्णं समयो जेट्ठं मुहुत्तंतो ।।२५८।।

(प्रे०) '**मणणाणसंयमेसु**' इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानसंयमौघमार्गणयोश्चतुर्घातिगोत्रप्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धस्य द्विविधं-जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नमन्तरं तुरवधारणे ततश्च भिन्नमुहूर्तमेव, इदमुक्तं भवति–एतन्मार्गणाद्वये घातिगोत्रप्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धस्य जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं प्रकृष्टान्तरमप्यन्तर्मुहूर्तं भवति, कुतः ? जघन्यबन्धप्रयुक्तान्तरस्यालाभादबन्धप्रयुक्तान्तरस्याद्धाक्षयेणैव प्राप्यमाणत्वाच्च । तथाहि–गोत्रकर्मणो जघन्यरसबन्धो मार्गणाचरमसमये जायते घातिकर्मणां तु क्षपकश्रेणौ, तस्मात् तद्बन्धप्रयुक्तान्तरस्यालाभः । तथा अबन्धस्थानतः कालकरणे मार्गणायाः परावृत्तेरद्धाक्षयेण पतनानन्तरं तासामजघन्यानुभागबन्धकाले प्रकृतान्तरं प्राप्यते अत एव जघन्यतोऽप्यन्तरमन्तर्मुहूर्तमेव भवति, वेदनीयनामाख्ययोर्द्वयोः प्रकृत्योरजघन्यानुभागबन्धस्य जघन्यमन्तरं समयः,अजघन्यरसबन्धयोरन्तराले समयं यावत् तद्विपरीतस्य जघन्यानुभागबन्धस्य सद्भावात् । ज्येष्ठं प्रकृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति,अबन्धप्रयुक्तान्तरस्याप्राप्यमाणत्वादिति ।।२५८।।

अधुना त्र्यज्ञानादिमार्गणासु प्रकृतान्तरं प्रदर्शयन् तत्समानवक्तव्यत्वादन्यास्वपि तदाह—

णत्थि तिअणाण समइअछेएसु देससीममिच्छेसु ।
पचण्ह वेअणामाण लहुं समयो गुरुं च चउसमया ।।२५९।। [गीतिः]

(प्रे०) '**णत्थि**' इत्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञान-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-देशविरति-मिश्रदृष्टि–मिथ्यात्वलक्षणास्वष्टासु मार्गणासु पञ्चानाम्–चतुर्घातिगोत्राणामजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं नास्ति, कथम् ? भण्यते-तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तस्याबन्धप्रयुक्तस्य वान्तरस्याभावात् , तथाहि–इह पञ्चानां जघन्यानुभागबन्धोऽभिमुखावस्थायाः प्रतिनियतसमये एव भवति,तदनन्तरं च मार्गणापरावृत्तिः, ततश्चाजघन्यानुभागस्य पुनर्बन्धो न जायते, तेन कारणेन तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तमन्तरं न लभ्यते, अत एव पञ्चानामन्तरं नाभिहितम् । वेदनीयनामलक्षणयोर्द्वयोः प्रकृत्योर्लघु-जघन्यान्तरं समयः, गुरु - प्रकृष्टान्तरं च चतुःसमयाः, भावना च सुगमा ।।२५९।।

साम्प्रतं परिहार-वेदकसम्यक्त्वमार्गणाद्वये तथा सूक्ष्मसंपरायमार्गणायां निरूपयति–

परिहारवेअगेसुं णो चेव हवेज्ज गोअकम्मस्स ।
समयो अत्थि जहण्णं सेसाण छण्ह कम्माणं ।।२६०।।

एगं दो वा समया जेट्ठं घाईण वेअणामाणं ।
हवए समया चउरो ण भवे सुहमम्मि सव्वेसिं ॥२६१॥

(प्रे०) **'परिहारवेअगेसु'** इत्यादि, परिहारविशुद्धिसंयम-वेदकसम्यक्त्वमार्गणाद्वये गोत्र-कर्मणोऽजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं नैव भवति, भावना चात्र सामायिकादिमार्गणावत्कार्या । शेषाणां षण्णां प्रकृतीनां जघन्यान्तरं समयोऽस्ति घातिप्रकृतीनां ज्येष्ठं-प्रकृष्टान्तरं एकसमयः, द्वौ समयौ वा, कथम् ? उच्यते-येन मतेन घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धः कृतकरणाद्धाया अर्वाक्समये भणितः तेन मतेन जघन्यानुभागस्य प्रकृष्टोऽपि बन्धकालः समयः प्राप्यते,ततस्तत्प्रयुक्त-मन्तरमपि समयप्रमाणं भवति, येन मतेन स्वस्थानविशुद्धानां जघन्यानुभागबन्धः, तेन मतेन तस्य बन्धकालः द्विसमयप्रमाणः, ततस्तत्प्रयुक्तमन्तरमपि द्विसमयप्रमाणम् । तथा **'वेअणामाणं'** इत्यादि, वेदनीयनामरूपयोर्द्वयोः प्रकृत्योः प्रकृष्टान्तरं चत्वारः समयाः, सुगमत्वादत्र न भाव्यते ।

अथ सूक्ष्मसम्परायमार्गणायामन्तरं वक्तुमुपक्रमते-**'ण भवे सुहमम्मि सव्वेसिं'** अत्र षण्णामेव प्रकृतीनां बन्धसद्भावेन सर्वशब्देन षट्प्रकृतयः ग्राह्याः, ततश्च षण्णां प्रकृतीनामजघन्यानु-भागबन्धस्यान्तरं न भवेत् । मार्गणायाश्चरमसमये जघन्यानुभागस्य बन्धसद्भावेन तत्प्रयुक्तान्तर-स्यालभ्यमानत्वात् , अबन्धस्य विरहेण तत्प्रयुक्तान्तरस्याप्यभावाच्चेति ॥२६०।२६१॥

अथ तेजःपद्मलेश्यामार्गणाद्वये सप्तानामजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं प्रदर्शयन्नाह—

तेउपउमासु हस्सं समयो सत्तण्ह होइ घाईणं ।
जेट्ठं एगं दो वा समया चउरो अघाईणं ॥२६२॥

(प्रे०) **'तेउपउमासु'** इत्यादि , तेजःपद्मलेश्यामार्गणाद्वये सप्तप्रकृतीनामजघन्यानुभाग-बन्धस्य ह्रस्वं-जघन्यान्तरं समयः समयप्रमाणं भवति । अथ प्रकृष्टान्तरमुच्यते-**'घाईणं'** इत्यादि, घातिप्रकृतीनां ज्येष्ठं-प्रकृष्टान्तरमेकसमयप्रमाणं द्विसमयप्रमाणं वा भवति,-अत्रापि भावनानन्तरो-क्तपरिहारवेदकमार्गणावत्कर्तव्या । अघातिप्रकृतीनां वेदनीयनामगोत्राख्यानां तिसृणां प्रकृष्टान्तरं चतुःसमयप्रमाणं ज्ञेयम् , तासामन्तरप्रयोजकस्य जघन्यानुभागस्य परावर्तमानपरिणामेन बध्यमान-त्वेन जघन्यरसबन्धकालस्य उत्कृष्टतश्चतुःसमयप्रमाणत्वात् ॥२६२॥

सम्प्रति शेषमार्गणासु सप्तप्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं दर्शयति—

सेसासु सत्तण्हं हस्सं समयो गुरुं दुवे समया ।
घाईण होइ चउरो समया तिण्हं अघाईणं ॥२६३॥

(प्रे०) **'सेसासु'** इत्यादि, प्रागुक्तोद्धरितासु-अष्टनवतिमार्गणाभ्युक्तत्वाद् द्वासप्तति-मार्गणास्वित्यर्थः, सप्तप्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धस्य ह्रस्वं-जघन्यान्तरं समयः, **'गुरु'** प्रकृष्टा-

न्तरं घातिप्रकृतीनां द्वौ समयौ, अघातिनीनां वेदनीयनामगोत्राख्यानां तिसृणां प्रकृतीनां चत्वारः समयाः-चतुःसमयप्रमाणं भवति, कुतः ? उच्यते-अत्र सर्वासु द्वासप्ततिमार्गणासु सप्तानां प्रकृतान्तरं तद्विपरीतजघन्यानुभागबन्धापेक्षया प्राप्यते इति कृत्वा । तद्विपरीतजघन्यानुभागबन्धश्च घातिचतुष्कस्य स्वस्थानविशुद्धानामेव भवति, अघातित्रयस्य पुनः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जायते, अत एव घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागस्य बन्धकालो जघन्यतः समयः, प्रकृष्टतश्च द्विसमयप्रमाणः, अघातित्रयस्य तु जघन्येन समयः, प्रकर्षतश्च चतुःसमयप्रमाणः, ततस्तत्प्रयुक्तमन्तरमप्येतावत्प्रमाणमेव भवति । शेषद्वासप्ततिमार्गणा नामत इमाः-गतिमार्गणास्थानस्य प्रथमादिषण्नरकतिर्यग्गतिसामान्यवर्जचतुस्तिर्यग्गतिभेदाऽपर्याप्तमनुष्य-पञ्चानुत्तरवर्जपञ्चविंशतिदेवभेदरूपाः षट्त्रिंशन्मार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य नवविकलेन्द्रियभेदापर्याप्तपञ्चेन्द्रियलक्षणा दशमार्गणाः, कायमार्गणास्थानस्य सप्तपृथ्वीकायभेदसप्ताप्कायभेदैकादशवनस्पतिकायभेदापर्याप्तत्रसकायरूपाः षड्विंशतिमार्गणाश्चेति ॥२६३॥

तदेवं निर्दिष्टमादेशतः सप्तानां जघन्याजघन्यानुभागबन्धयोरन्तरम् । इदानीमायुःकर्मण आदेशतो जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं निरूपयितुकाम आदौ तावत् तुल्यवक्तव्यत्वेन सर्वासु मार्गणासु तस्य जघन्यान्तरं तथा नरकादिमार्गणासूत्कृष्टमन्तरमेकया गाथयाऽऽह—

सव्वासु लहुं समयो लहुअणुभागस्स आउगस्स भवे ।
जेट्ठं ऊणछमासा सव्वणिरयसुरसुलेसखइएसुं ॥२६४॥ [गीतिः]

(प्रे०) '**सव्वासु**' इत्यादि, सर्वासु-आयुर्बन्धप्रायोग्यासु त्रिपञ्चाशदधिकशतमार्गणास्वित्यर्थः, आयुष्कस्य 'लघ्वनुभागस्य' जघन्यानुभागबन्धस्य 'लघु' जघन्यमन्तरं समयो भवेत् । तच्च तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तमवसातव्यमन्यथा समयप्रमाणान्तरस्यालाभात् । अथ निरयगत्यादिषु प्रकृष्टान्तरमाह-'जेट्ठं' इत्यादि, सर्वनरकाः - अष्टनरकभेदाः , सर्वसुराः-सर्वदेवभेदाः , सर्वशुभलेश्याः-तेजःपद्मशुक्लाख्याः , क्षायिकसम्यक्त्वभेदश्चेत्येतेषु द्वाचत्वारिंशन्मार्गणाभेदेष्वायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं देशोनषण्मासप्रमाणं भवति । अत्रायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धको देवो वा नारको वा, देवनारकाणां प्रकर्षतः षण्मासावशेषे स्वायुषि आयुष्कस्य बन्धो भवति, ततश्च यदा यः कश्चिदाकर्षद्वयेनायुर्बध्नाति,तत्र षण्मासावशेषे प्रथमाकर्षेण जघन्यानुभागं बद्ध्वा विरमति, तत्पश्चादन्तर्मुहूर्तावशेषे स्वायुषि द्वितीयाकर्षस्य चरमसमये पुनर्जघन्यानुभागबन्धं विदधाति तदाऽऽयुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्याऽन्तर्मुहूर्तोनषण्मासप्रमाणं प्रकृष्टान्तरं भवति ॥२६४॥

अथ यासां मार्गणानां कायस्थितिरसंख्येयलोकप्रमाणा तदधिका वा, तासु मार्गणास्वायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरमसंख्येयलोकप्रमाणं भवतीत्येतद् निरूप्यते—

णेयं असंखलोगा तिरिये एगिंदियम्मि से सुहमे ।
पणकायणिगोएसुं सुहुमपुहविआइ चउणिगोएसुं ॥२६५॥ [गीतिः]
काये णपुंसगम्मि य अण्णाणदुगे असंयमम्मि तहा ।
अणयणभवियियरेसुं मिच्छत्ते तह असण्णिम्मि ॥२६६॥

(प्रे०) 'णेयं' इत्यादि, ज्ञेयमसंख्येयलोकप्रमाणमायुष्कस्य, जघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरमित्यनुवर्तते । कुत्र ? तिर्यग्गतिसामान्यमार्गणायां, एकेन्द्रियसामान्यमार्गणायां, 'तस्याः सूक्ष्मभेदे'-सूक्ष्मैकेन्द्रियमार्गणायां तथा 'पञ्चकायनिगोदेषु' पृथ्व्यादिपञ्चकायसाधारणवनस्पतिकायलक्षणासु षण्मार्गणासु तथा 'सूक्ष्मपृथ्व्यादिचतुर्निगोदेषु'-सूक्ष्मपृथ्वीकायसूक्ष्माप्कायसूक्ष्मतेजःकायसूक्ष्मवायुकायसूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायमार्गणासु तथा काययोगमार्गणायां, नपुंसकवेदमार्गणायां मत्यज्ञानश्रुताज्ञानमार्गणयोः-असंयममार्गणायामचक्षुर्दर्शनभव्याभव्यमार्गणासु, मिथ्यात्वमार्गणायामसंज्ञिमार्गणायां चेत्येतासु चतुर्विंशतिमार्गणासु जघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयप्रमाणं भवतीति ।

भावार्थः पुनरेवम्—आयुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धप्रायोग्याध्यवसायः प्रकर्षतोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यकाले व्यतीते नियमात्पुनरवाप्यते । अध्यवसायानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितत्वात् । आसां च मार्गणानां कायस्थितिर्जघन्यरसबन्धाऽध्यवसायस्य पुनःप्राप्तिकालतोऽसंख्येयगुणाधिकानन्तगुणाधिका वा प्रागुक्ता ततो देशोनस्वकायस्थितिप्रमाणं प्रकृतान्तरमिति वक्तव्यतां विहायासंख्येयलोकप्रमाणमित्यभिहितम् ॥२६५॥२६६॥

साम्प्रतं त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु प्रकृतान्तरमुच्यते—

तिपणिंदियतिरियेसुं कोडिपुहुत्तं हवेज्ज पुव्वाणं ।
ओराले देसूणो गुरुपुहविभवठिइतिभागो ॥२६७॥

(प्रे०) **'तिपणिंदियतिरियेसु'** इत्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिर्यग्योनिमती-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिलक्षणासु त्रिमार्गणास्वायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं पूर्वाणां कोटिपृथक्त्वप्रमाणम् । नन्वत्र त्रिपल्योपमसाधिकपूर्वकोटिपृथक्त्वप्रमाणं प्रकृष्टान्तरं कथं नाभिहितम् ? कायस्थितेस्तावत्प्रमाणत्वात् ,इति चेत् ,उच्यते-अत्र स्वस्वोत्कृष्टकायस्थितेश्चरमभवस्त्रिपल्योपमायुष्कयुगलिकसत्को भवति,तत्र चापर्याप्तप्रायोग्यजघन्यायुष्कस्य बन्धाभावेन जघन्यानुभागबन्धो न जायते, तेन कायस्थितेः पूर्वकोटयायुष्केषु भवेषु प्रथमभवे-चरमभवे च जघन्यानुभागस्य बन्धो भवति, ततश्च यथोक्तमेवान्तरं प्राप्यते, ननु प्रथमभवे जघन्यायुष्कस्य बन्धानन्तरं पूर्वकोटयायुष्केषु समुत्पत्तिः कथं स्यात् ? उच्यते-प्रथमभवे एव द्वितीयाकर्षकाले आयुष्कस्य स्थितिरसयोर्वृद्धि-

संभवात् , तथाहि–प्रथमभवे प्रथमाकर्षेण जघन्यानुभागं बद्ध्वा पुनः द्वितीयाकर्षेणायुष्कस्य बन्धकाले स्थितिं रसं च वर्धयित्वा यथासमयं कालं करोति, कृत्वा च पूर्वकोट्यायुष्केषूत्पद्यते । ततो न कश्चिद् दोषः । इदानीमौदारिककाययोगे तदन्तरं दर्शयति–'ओराले' इत्यादि, औदारिककाययोगमार्गणायामायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं देशोनपृथ्वीकायगुरुभवस्थितित्रिभागः, पृथ्वीकायोत्कृष्टभवस्थितिश्च द्वाविंशतिसहस्रवर्षप्रमाणा, तस्यास्त्रिभागः सातिरेकसप्तसहस्रवर्षप्रमाणमित्यर्थः । तच्चाकर्षद्वयस्यान्तरालापेक्षया भावनीयम् , कालकरणानन्तरं त्वौदारिकयोगस्याभावात् ॥२६७॥

अथ यासु मार्गणास्वायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं भवति, तासु तथैवाह—

भिन्नमुहुत्तं णेयं अपज्जमणुमम्मि पणमणवयेसुं ।
विउवाहारदुगेसुं कसायदुल्लेससासाणे ॥२६८॥

(प्रे०) **'भिन्नमुहुत्तं'** इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्य-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-वैक्रियाहारकाहारकमिश्रयोगाः, **'कसाय'** इति सामान्येनोपादानात् कषायचतुष्कमित्यर्थः, तथा **'दुल्लेस'** इति दुर्लेश्याः–कृष्णाद्यशुभलेश्यात्रिकमित्यर्थः, तथा सासादनमित्येवं समुदितासु द्वाविंशतिमार्गणास्वायुष्कस्य जघन्यरसबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं भिन्नमुहूर्तम्–अन्तर्मुहूर्तप्रमाणं ज्ञेयमित्यक्षरार्थः ।

भावार्थः पुनरेवम्–अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामायुष्कस्य जघन्यानुभागस्तिर्यगायुषा सह बध्यते, ततश्च मरणानन्तरं तिर्यक्षूत्पत्तिसंभवेन मार्गणायाः परावृत्तिर्भवति, अत एव एकभवमाश्रित्यैवायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टतो यथोक्तान्तरं प्राप्यते, तेन स्वदेशोनज्येष्ठकायस्थितिमनुक्त्वा प्रकृतान्तरमन्तर्मुहूर्तमुक्तम् । शेषास्वेकविंशतिमार्गणासु आयुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरमेकाकर्षप्रमाणबन्धाद्धायां प्राप्यमाणत्वेनान्तर्मुहूर्तप्रमाणं भवति, तथाहि–पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-वैक्रियाहारकाहारकमिश्रयोगमार्गणासु त्रसकायिका एव जीवाः, तेषामऽन्तर्मुहूर्तकालेन प्रस्तुतमार्गणापरावृत्तिः विवक्षितैकयोगपरिणतकालमध्ये तु एक एवाकर्षो भवति, तस्याकर्षस्य प्रथमे अन्तिमे च समये जघन्यानुभागो बध्यते, अन्तराले तद्विपरीतस्याऽजघन्यानुभागस्य बन्धोऽन्तर्मुहूर्तं यावद् भवति, ततस्तत्प्रयुक्तमन्तरमप्यन्तर्मुहूर्तमेव भवति । कषायमार्गणाचतुष्के तु त्रसानामिव स्थावराणां प्रवेशोऽपि तेषामपि प्रत्यन्तर्मुहूर्तं कषायाणां परावृत्तेः मनोयोगादिमार्गणावत्प्रस्तुतान्तरमेकाकर्षभाविजघन्यरसबन्धद्वयान्तरालप्रमाणमेवोत्कृष्टतोऽपि लभ्यते नाधिकम् । कृष्णनीलकापोतलेश्यामार्गणास्वायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन तिर्यङ् मनुष्यो वा दर्शितः, तिर्यङ्मनुष्याणां च लेश्या अन्तर्मुहूर्तेन कालेन परावर्तन्ते, ततो विवक्षितलेश्यापरिणतकालमध्ये आयुर्बन्धस्यैक एवाकर्षो भवति, एकाकर्षस्यैकबन्धाद्धायामन्तरस्य प्राप्यमाणत्वेन तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तं प्रकृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तमेव भवति । सास्वादनमार्गणायाः कालस्य षडावलिकामात्रत्वेनायुर्बन्धस्यैक एवाकर्षः, अत एव तस्यामपि आयुर्बन्धस्यैकाकर्षबन्धाद्धायां तद्विपरीतबन्धप्रयुक्तं प्रकृष्टान्तरं यथोक्तं

भवति, घटनाऽपि प्राग्वत्कर्तव्या॥२६८॥ अथ विभङ्गज्ञानमार्गणायामायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्य मतद्वयमाश्रित्य प्रकृष्टान्तरमभिधातुकाम आह—

विब्भंगे देसूणो कोडितिभागो हवेज्ज पुव्वाणं ।
अण्णे उण साहंते होअइ अंतोमुहुत्त ति ॥२६९॥

(प्रे०) '**विब्भंगे**' इत्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायामायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनपूर्वकोटित्रिभागप्रमाणं भवति । अन्ये पुनः कथयन्ति-अन्तर्मुहूर्तं भवतीति अक्षरार्थः ।

भावार्थः पुनरेवम्—विभङ्गज्ञानमार्गणायामायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन मनुष्यो वा तिर्यङ् वा निर्दिष्टः । स च विभङ्गज्ञानी पूर्वकोटयायुष्को मनुष्यस्तिर्यङ् वा त्रिभागावशेषे स्वायुषि आयुष्कस्य समयं यावद् जघन्यानुभागं बद्ध्वा अन्तर्मुहूर्तात् परतः आयुर्बन्धाद् विरमते, ततश्चान्तर्मुहूर्तावशेषे स्वायुषि द्वितीयाकर्षेण पुनरायुर्बन्धं विदधाति तत्र द्वितीयाकर्षस्य चरमसमये पुनरायुष्कस्य जघन्यानुभागं बध्नाति, तदाऽऽयुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्य प्रकर्षतो देशोनपूर्वकोटित्रिभागप्रमाणमन्तरं लभ्यते । अन्ये पुनस्तिर्यग्मनुष्येषु विभङ्गज्ञानस्यावस्थितिकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण एव मन्यन्ते ततस्तन्मतमाश्रित्यायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तमेव, एकाकर्षबन्धाद्धायामेव प्रस्तुतान्तरस्य प्राप्यमाणत्वात् ॥२६९॥

अथ यासु मार्गणास्वायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं देशोनपूर्वकोटित्रिभागप्रमाणं भवति तासु तथैव तथा शेषमार्गणासु स्वस्वकायस्थितिप्रमाणमभिदधन्नाह—

तिणरमणणाणसंयमसमइअछेअपरिहारदेसेसु ।
देसूणपुव्वकोडितिभागोऽण्णहि ऊणसगुरुकायठिई ॥२७०॥[गीतिः]

(प्रे०) '**तिणर**' इत्यादि, मनुष्यसामान्य-मनुष्ययोनिमती-पर्याप्तमनुष्य-मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्य-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-देशविरतिलक्षणासु नवमार्गणासु आयुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं देशोनपूर्वकोटित्रिभागप्रमाणम् । कुतः ? उच्यते—त्रिनरमार्गणास्वायुष्कस्य जघन्यानुभागस्तिर्यगायुषा सह बध्यते, द्वितीयाद्याकर्षेषु तिर्यगायुष्कस्य स्थितिः रसश्च वर्धेते किन्तु तिर्यगायुर्न परावर्तते, तदेवायुर्बध्यत इति भावः,एवं त्रिमनुष्यमार्गणासु जघन्यानुभागस्य बन्धानन्तरं तिर्यग्गतिमार्गणायामुत्पत्तिसंभवेन मार्गणाः परावर्तन्ते । तत एकस्मिन् भवे आकर्षद्वयेन बध्यमानायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धद्वयस्यान्तराले यथोक्तमन्तरं प्राप्यते । शेषमनःपर्यवज्ञानादिषण्मार्गणानां कायस्थितिरेव देशोनपूर्वकोटिप्रमाणा, तेनाकर्षद्वयमध्ये यथोक्तमन्तरं सुतरां घटते । अधुना शेषमार्गणासु जघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं प्रदर्शयति-'**ऽण्णहि**'इत्यादि,अन्यत्र प्रागुक्तशेषासु द्व्युत्तरशतमार्गणावर्जैकषष्टिमार्गणास्वित्यर्थः आयुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्य प्रकृष्टा-

न्तरं देशोनस्वस्वकायस्थितिप्रमाणं भवति । भावना चेयम् मार्गणानां यथासंभवं प्रारम्भे पर्यवसाने च जघन्यानुभागस्य बन्धो भवति, तदा जघन्यानुभागबन्धद्वयस्यान्तराले देशोनस्वस्वकायस्थितिप्रमाणं प्रकृष्टान्तरं प्राप्यते । इमाश्च ताः शेषा एकषष्टिमार्गणाः-गतिमार्गणास्थानस्यापर्याप्ततिर्यग्लक्षणैकामार्गणा, इन्द्रियमार्गणास्थानस्यैकेन्द्रियसामान्यसूक्ष्मैकेन्द्रियभेदद्वयवर्जपञ्चैकेन्द्रिय-सर्वविकलेन्द्रिय त्रिपञ्चेन्द्रियलक्षणाः सप्तदशमार्गणाः, कायमार्गणास्थानस्य सामान्यपृथ्वीकायसूक्ष्मपृथ्वीकायभेदद्वयवर्जपञ्चपृथ्वीकाय-सामान्याप्कायसूक्ष्माप्कायभेदद्वयवर्जपञ्चाप्काय-सामान्यतेजःकायसूक्ष्मतेजःकायभेदद्वयवर्जपञ्चतेजःकाय-सामान्यवायुकायसूक्ष्मवायुकायभेदद्वयवर्जपञ्चवायुकाय--सामान्यवनस्पतिकायसाधारणवनस्पतिकायसूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायभेदत्रयवर्जाष्टवनस्पतिकाय-त्रित्रसकायलक्षणा एकत्रिंशन्मार्गणाः, औदारिकमिश्रयोगमार्गणा, स्त्रीवेदपुरुषवेदमार्गणे मतिश्रुतावधिलक्षणास्त्रिज्ञानमार्गणाः, चक्षुरवधिदर्शनमार्गणे, सम्यक्त्वसामान्यवेदकसम्यक्त्वमार्गणे, संज्ञिमार्गणा आहारकमार्गणा चेत्येकषष्टिमार्गणाः । **अत्रेदमवधेयम्**–पर्याप्तपृथ्वीकायादिषु प्रथमाद्याकर्षेण आयुषो जघन्यरसबन्धकस्य तत्रैव द्वितीयाद्याकर्षेषु तत्स्थितिरसयोः वृद्धेरावश्यकत्वम् अन्यथा मार्गणापरावर्तनेन जघन्यरसस्योत्कृष्टान्तरं कायस्थितिः न प्राप्यते । ननु मार्गणापरावृत्तिः कथं ? उच्यते-जघन्यरसस्यापर्याप्तयोग्यत्वेन तत्रैव तेषामुत्पादात् ॥२७०॥ तदेवमायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं निर्दिश्य साम्प्रतं तस्यैवाजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं निगदितुकाम आह—

सव्वासु मग्गणासु अजहण्णरसस्स अंतर णेयं ।
समयो आउस्स लहु गुरुं अतिव्वाणुभागव्व ॥२७१॥
णवरं चउरो समया हवेज्ज पंचमणवयणजोगेसु ।
विउवे आहारदुगे कसायचउगम्मि सासाणे ॥२७२॥

(प्रे०) **'सव्वासु'** इत्यादि, सर्वासु मार्गणासु आयुर्बन्धार्हासु त्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः, आयुषोऽजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरम् **'समयो'** एकसमयः, अजघन्यरसबन्धद्वयान्तराले समयं यावज्जघन्यरसाख्यस्य विरुद्धरसबन्धस्य प्रवर्तनात् । तथा **'गुरु'** इति उत्कृष्टमन्तरम् **'अतिव्वाणुभागव्व'** अनुत्कृष्टरसबन्धवद् भवति, यावत्प्रमाणमनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं प्राक्प्रतिपादितम् अत्रापि तावत्प्रमाणं भवतीति भावः, कुतः ? यदा यदा आयुषो बन्धस्तदा तदाऽनुत्कृष्टरसबन्धवदजघन्यरसबन्धस्यापि अवश्यं प्रवर्तनात् । अथाऽत्रैवापवादं दर्शयति–**'णवरं'** इत्यादिना, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-वैक्रियकाययोगाऽऽहारक-तन्मिश्रकाययोग-चतुष्कषाय–सास्वादनलक्षणास्वष्टादशमार्गणासु प्रस्तुतमन्तरमुत्कृष्टतश्चत्वारः समयाः । ननु मनोयोगादिमार्गणासु आयुषोऽजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरमनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टान्तरवद् विपरीतबन्धप्रयुक्तमेव तर्हि कथं तद्-

वदनतिदिश्येह पृथग् दर्शितम् ? इति चेत्, उच्यते–अनुत्कृष्टरसस्य विपरीतरस उत्कृष्टरसो भवति, तद्बन्धस्य चोत्कृष्टतो निरन्तरप्रवृत्तिर्द्विसामयिकी, अजघन्यरसबन्धस्य विरुद्धरसबन्धो जघन्यरसबन्धः, तस्य चोत्कृष्टतश्चतुःसमयं यावत् प्रवर्तनमिति ।

अथ मनोयोगादिमार्गणासु अनन्तरमेव दर्शितत्वात् तद्व्यतिरिक्तासु मार्गणासु आयुषोऽजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टान्तरवद् यथा भवति तथैव दर्शयामः– अष्टौ नरकमार्गणाः, त्रिंशद्देवमार्गणाः, षड्लेश्यामार्गणाश्चेति चतुश्चत्वारिंशन्मार्गणासु आयुषोऽजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनषण्मासाः । तथा पञ्च तिर्यग्गतिभेदाः चत्वारो मनुष्यभेदाः, सप्तैकेन्द्रियभेदाः, नव विकलेन्द्रियमार्गणाः, पृथ्व्यादिकायपञ्चकस्यैकोनचत्वारिंशन्मार्गणाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, अपर्याप्तत्रसकायश्चेति षट्षष्टिमार्गणासु साधिका तत्तन्मार्गणोत्कृष्टभवस्थितिः, काययोगमार्गणायां देशोनत्रिभागेनाधिका पृथ्वीकायोत्कृष्टभवस्थितिः, औदारिककाययोगमार्गणायां पृथ्वीकायोत्कृष्टभवस्थितेरेकत्रिभागो देशोनः । औदारिकमिश्रमार्गणायामन्तर्मुहूर्तम् । स्त्रीवेदे पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि साधिकानि । विभङ्गज्ञाने देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः; महाबन्धकाराणां मतेन तु देशोनषण्मासाः । मनःपर्यव-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिक-देशविरतिलक्षणासु षण्मार्गणासु प्रत्येकं देशोनः पूर्वकोटित्रिभागः । असंज्ञिमार्गणायां साधिका पूर्वाणां कोटिः । तथा पञ्चेन्द्रियौघपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-पुरुषवेद-नपुंसकवेद-मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान--मत्यज्ञान--श्रुताज्ञाना-ऽसंयम-चक्षुरचक्षुरवधिदर्शन--भव्याऽभव्य--सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिक-मिथ्यात्व-संज्याहारिलक्षणासु त्रयोविंशतिमार्गणासु प्रत्येकं साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, आयुषोऽजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरमिति सर्वत्रानुवर्तते इति ॥२७१।२७२॥ प्रस्तुतद्वारोक्तार्थसंग्रहपराणि बन्धान्तरप्रदर्शकयन्त्रकाणि त्विमानि—★

तदेवं भणितमादेशतोऽजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरम् । तद्भणने चावसितमोघादेशाभ्यामजघन्यानुभागबन्धस्यान्तरम् । तदवसाने च समर्थितमोघादेशाभ्यां जघन्याजघन्यानुभागबन्धयोरन्तरम् । तत्समर्थने च समाप्तमोघादेशाभ्यामुत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याजघन्यानुभागबन्धानामन्तरम् । तत्समाप्तौ च गतं "अतर" इत्यनेनोद्दिष्टमष्टममन्तरद्वारम् ।

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे प्रथमाधिकारेऽष्टममन्तरद्वारं समाप्तम् ॥



★ एकजीवाश्रितबन्धान्तरप्रदर्शकयन्त्रकाणि दिदृक्षवः पाठकाः पश्यन्तु १९८ तमादीनि पृष्ठानि ।

* आयुर्वर्जसप्तकर्मणामुत्कृष्टरसस्यैकजीवाश्रिताऽन्तरप्रदर्शकं यन्त्रम् *

ओघतः—घातिचतुष्कस्योत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यतोऽन्तर १ समयः, उत्कृष्टतस्त्वसंख्येयपुद्गलपरावर्तमितम् । अघातित्रयस्यान्तरमेव नास्ति । (गाथा १७१ १७२)

आदेशतः—यासु मार्गणास्वन्तर प्रोक्त तासु सर्वत्र जघन्यत १ समय, तासु सर्वत्रोत्कृष्टान्तर तु यन्त्रकादवसेयमिति ।

	अघातित्रयस्य → अन्तरमेव नास्ति →				देशोनार्धपुद्. पगा०	पूर्वकोटिपृ०	असंख्यलोक०	देशोन का
	घाति० ४→नास्ति	पूर्वकोटिपृथक्त्व	अर्ध पुद् परावर्त	K देशोन उ काय.	,, उ० कायस्थि०	,,	,,	,, ,, K
गति०		त्रिमनु० ३			निर्यगोघ १ / दुश्रोघ-घाति १८साग.अघा. देशोनकाय १a	त्रिपञ्चे० तिर्यग्० ३		शेष० ३९
इन्द्रि०				द्विपञ्चे० २			ओघैकेन्द्रिय- सूक्ष्मैके० २	शेष०१५
काय०		घाति० ४ अन्तर्मु०		द्वित्रस० २			पञ्चपृथ्व्याद्योघ- तत्तत्सूक्ष्मौघ- निगोदौघ० ११	शेष० २६
योग०	कार्मण०त्रि* मिश्रयोग=४	कायौघ० औदा०२a		सर्वमनोवचो०१०				वैक्रिय० आहा०२
वेद०	अवेदि० १			त्रिवेद० ३				
कषाय				सर्वकषाय० ४				
ज्ञान०	ज्ञान० ४		अज्ञा.२	विभङ्ग० १				
संयम	असंयमवर्ज ६卐		अम.१					
दर्शन.	अवधि०१	घाति माधि० *१८साग.	अच १	चक्षु० १			अघा पल्यास भा. घाति -कायस्थि.	
लेश्या.		शुक्ल०१b		तेज पद्म० २ ★		सम -अस- पुद् परा	कृष्णादि० ३M	
भव्य०			भव्य १		घाति.नास्ति अघाति- अन्तर्मु०	अभव्य १a		
सम्य०	सम्य.उप.मिश्र वेदक. 卐 ४		मिथ्या १	क्षायिक० १	सास्वा १b			
संज्ञि०				संज्ञि० १				असंज्ञि. १
आहा०	अनाहारि०१			आहा० १				
सर्वमा०:-	१६+३+२	३+२a+१b	६	२६+१★	१+१a+१b	३+१a	१३+३M	८६
गाथाङ्क:-	१७४-५-८१	१७६	त	१८०	१८४b-५ ६ ७a	१८६-१९०a	१८८-१८९ M	१९०

* त्रिमिश्रयोगेषु मतान्तरेण समाना जघन्यत, १ समय, उत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्तम् । (गाथा १७५)

卐 परिहारवेदकद्वये मतान्तरेऽघातित्रयस्योत्कृष्टान्तर देशोनकायस्थिति । (गाथा १८१)

★ तेज.पद्मलेश्याद्वये मतान्तरेऽघातित्रयस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तम् । गाथा-१८२-१८३)

M कृष्णादित्रिलेश्यासु मतान्तरेऽघातित्रयस्यापि देशोना कायस्थिति । K कायस्थितियन्त्र तु ११४ ११५ तमे पृष्ठे लिखितमिति ।

* आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकजीवाश्रिता-ऽन्तरप्रदर्शकं यन्त्रम् *

ओघतः—सप्तानामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यतोऽन्तर १ समय , उत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्तम् । (गाथा १७३)

आदेशतः— त्रिमनुष्यमार्गणासु अघातित्रयस्य, अपगतवेदसंपर्यवसंयमौघमार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यतोऽन्तरमन्तर्मुहूर्तम् । शेषमार्गणातो यासु मार्गणास्वन्तरं प्रदर्शितं तासु सर्वत्र जघन्यतोऽन्तरं १ समयो ज्ञेयम् । उत्कृष्टान्तरं तु निम्नलिखितयन्त्रकादवसेयम् ।

घाति० ४ –अन्तरं नास्ति		२ समया	अन्तर्मुहू०	नास्ति	२ समयौ	नास्ति	शेषासु-२समयौ
अघाति० ३ – ,, ,,		नास्ति	,,	स० १, सम २ त्रा	स० २, सम०१त्रा	२सम	,, ,, ,,
गति०			त्रिमनुष्य० ३				शेष० ६४
इन्द्रिय०			द्विपञ्चे० २				शेष० १७
काय०			द्वित्रस० २				शेष० ४०
योग०	कार्मण० १ 卐 त्रिमिश्रयोग० ३	सर्वमनोवचोभेद०, औदा०=११	काय० १				वैक्रिय. राहा =२
वेद०		त्रिवेद० ३	अवेदि० १				
कषाय०		सर्व० ४ ★					
ज्ञान०		अज्ञान० ३	चतुर्ज्ञान–४				
संयम०	सामा०, छेद० सूक्ष्म० देश०=४	असंयम० १	संयमौघ० १	परिहार० १			
दर्शन०			दर्शन० ३				
लेश्या०			शुक्ल० १		तेज पद्म०=२		अशुभ ले० ३
भव्य०			भव्य० १				अभव्य० १
सम्य०	मिश्र० १	मिथ्या० १	सम्य०उप०क्षायिक ३	वेदक० १		सा सा०१	
संज्ञि०			संज्ञि० १				असंज्ञि० १
आहारि०	अनाहा०१		आहारि० १				
सर्वमार्गणा –	७+३	२२+१	२६	२	२	१	१०८
गाथाङ्क.–	१९१-२	१९४-५	१९३-६, २००१	१९७	१९८	१९९	२००-१

卐 मिश्रयोगत्रय मतान्तरेण सप्तानामुत्कृष्टतोऽन्तरं २ समयौ । (गाथा १९२)

★ नवरं लोभमार्गणाया मोहनीयस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तम् । (गाथा १९५)

* आयुष उत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यरसबन्धस्य चैकजीवाश्रिता-ऽन्तरप्रदर्शकं यन्त्रम् *

ओघतः—आयुष्कस्योत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यतो-ऽन्तरं १ समय, उत्कृष्टतस्तु देशोना ऽर्धपुद्गलपरावर्तमितम् । जघन्यरसबन्धस्य पुनर्जघन्यतोऽन्तरं १ समयः उत्कृष्टतस्त्वसङ्ख्येयलोकप्रदेशतुल्यसमयमात्रम् । आदेशतः-सर्वत्र (१६२) एतद्रसबन्धद्वयस्य जघन्यतो-ऽन्तर १ समय, उत्कृष्टतस्तु निम्नलिखितयन्त्रकाद् ज्ञेयम् ।

उत्कृष्टान्तरम्.	देशोन ६ मासाः	देशोनपूर्वकोटि त्रिभाग	देशोन१/३ भवस्थिति ★	उत्कृष्टरसबन्धस्य ★ अन्तर्मु०	देशो.कायस्थिति	— जघन्यरसबन्धस्य — देशोन ६ मासाः	असं०लोक०	पूर्वको.पृ०	अन्तर्मु०	देशोन१/३ पूर्वकोटिः	★ देशोन कायस्थितिः
गति०	सर्वनरकदेव० ३८	तिर्यगोघ०त्रितिर्यक्पञ्चे०, त्रिमनु०=७	अपर्या.पञ्चेनिर्यग्० १		अपर्या०मनु० १	सर्वनरक देव ३८	तिर्यगोघ १	त्रितिर्यक्पञ्चे०३	अपर्या० मनु० १	त्रिमनुज० ३	अपर्या०तिर्यक्पञ्चे० १
इन्द्रिय०			सर्वके ,सब, विकल० १६		त्रिपञ्चे० ३		एके० ओघ, सूक्ष्मैके० २				शेष० १७
काय०			सर्वपृथ्व्यब्वन० २५		सर्वतेजोवायुत्रस०=१७		पञ्चपृथ्व्याद्योघ तत्सूक्ष्मौघ.निगोदौघ ११	माघि ७ सहस्र वर्षाणि			शेष० ३१
योग०				औ मिश्र* वर्ज०१५*	औदा० मिश्र० १		काययोग० १	औदा.१	सर्व०मनोवचो वै आहा. तन्मि. १३		औ०मिश्र० १
वेद०		नपु ० १			स्त्री० पु ०=२		नपुं० १				स्त्री०पु ०=२
कषाय०	→			सर्वे० ४					सर्वे ४		
ज्ञान०	असपु.परा द्वयज्ञान.२	मन पर्यव० १ विभङ्ग० १ △			त्रिज्ञान० ३		द्वयज्ञान० २			मन पर्यव.१ △विभङ्ग१	त्रिज्ञान० ३
संयम०	असंयम १	म सा ,छे. प ,दे ,=५	ओघवन-				असंयम० १			अस.वर्ज.५	
दर्शन०			अचक्षु० १		चक्षुरवधि० २		अचक्षु० १				चक्षुरवधि०२
लेश्या०				सर्वले० ६		त्रिशुभ०३			अशुभ०३		
भव्य०	अभव्य १		भव्य० १				भव्याभव्य०२				
सम्य०	मिथ्या० १	क्षायिक० १		सास्वा० १	सम्य०वेदक० २	क्षायिक०१	मिथ्या० १		सास्वा०१		सम्य.,वेदक.२
संज्ञि०		असंज्ञि० १			संज्ञि० १		असंज्ञि० १				संज्ञि० १
आहारि०					आहा० १						आहा० १
सर्वमार्गणाः:-	३८+५	१६+१ △	४२+२		३३	४२	२८	३+१	२२	१+१ △	६१
गाथाङ्क.-	२०३-८	२०३-४,२०७	२०५ ३	२०६	२०८	२६४	२६५-६	२६७	२६८	२६९-७०	२७०

△ केचित्तु—विभङ्गज्ञानमार्गणायामन्तर्मुहूर्तमिति (गाथा २०७-२६९) * सर्वमनोवचोभेदकाययोगौदारिकवैक्रियाहारकमिश्ररूपपञ्चदशभेदा. । # तत्राहारकमिश्रे मतान्तरेणाऽन्तरं नास्ति । (गाथा २०२) ★ कायस्थितिभवस्थितिप्रदर्शकयन्त्रं तु ११४-११५ तमे पृष्ठे लिखितमिति ।

※ आयुःकर्मणोऽनुत्कृष्टाऽजघन्यरसबन्धद्वयस्यैकजीवाश्रयान्तरप्रदर्शकं यन्त्रकम् ※

ओघत.—आयुष्कस्यानुत्कृष्टाऽजघन्यरसबन्धयोरेकजीवाश्रितान्तरं जघन्यत १ समय, उत्कृष्टतस्तु साधिक३३सागरो० ।
आदेशत –सर्वासु (१६३) मार्गणासु जघन्यत १ समय, नवरमाहारकमिश्रमार्गणाया मनान्तरेणानुत्कृष्टरसबन्धस्याऽन्तर नास्ति । (गाथा २०९)

उत्कृ- :—	देशोना षण्मासाः	देशोनोत्कृष्ट-कायस्थिति ★	साधिकोत्कृष्टभवस्थितिः	२१ वर्षसहस्राणि साधिकानि	७ वर्ष सहस्राणि साधिकानि	अन्तर्मुहूर्तम्	५५ पल्योपमानि साधिकानि	देशोनपूर्वकोटि-त्रिभाग.	साधिक-पूर्वकोटिः	ओघवत् ३३ सागरोपम-साधिक०	अनु २स. अज.४स. 卐
गति०	सर्वनरकदेव० ३८		शेष० ६								
इन्द्रिय०			शेष० १७							पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त० २	
काय०			शेष० ४०							त्रसौघ-तत्पर्याप्तौ० २	
योग०				कायौघ० १	औदारिक० १	औ०मि०१					शेष० १३
वेद०							स्त्रीवेद० १			शेषवेद० २	
कषाय०											सर्व० ४
ज्ञान०		विभङ्ग*१						मनःपर्यव०१		शेष० ५	
संयम०								असंयमवर्ज० ५		असंयम० १	
दर्शन०										सर्व० ३	
लेश्या०	सर्व० ६										
भव्य०										सर्व० २	
सम्य०										शेष० ४	सास्वा० १
संज्ञ०									असंज्ञि० १	संज्ञी० १	
आहारि०										आहारक० १	
सर्वमार्गणाः–४४		१	६६	१	१	१	१	६	१	२३	१८
गाथाङ्कः– २१०		२१५	२११	२१३	२१३	२१४	२१४	२१६	२१७	२१७	२१२

* केचित्तु विभङ्गे देशोनषण्मासा इति । ★ सर्वमार्गणानामुत्कृष्टादिकायस्थितिप्रदर्शकयन्त्र तु ११४-११५ तमे पृष्ठे विलिखितमिति । 卐 एतन्मार्गणासु अनुत्कृष्टरसस्य प्रकृतान्तरं २ समयौ, अजघन्यरसस्य पुनः ४ समयाः । (गाथा २७२)

* आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्यैकजीवाश्रिताऽन्तरप्रदर्शकं यन्त्रम् *

ओघतः—घातिचतुष्कस्य जघन्यरसबन्धस्यान्तरमेव नास्ति। गोत्रस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम्, उत्कृष्टतस्त्वर्धपुद्गलपरावर्तमात्रम्। वेदनीयनाम्नो पुनर्जघन्यत १समय, उत्कृष्टतस्त्वसंख्येयलोकाकाशप्रदेशमितम्।(गाथा २१८-९)

आदेशतः—अवेदसूक्ष्मसम्परायवर्जासु (१६८ मा०) वेदनीयनाम्नो जघन्यतोऽन्तर १ समय, घातिचतुष्कस्य तु यत्रान्तर भवति, तत्र जघन्यत १ समय ज्ञेयम्। गोत्रस्य जघन्यतोऽन्तर तथा सप्तानामुत्कृष्टतोऽन्तर निम्नलिखितयन्त्रकादवसेयम्।

गाथाङ्कः	मार्गणासु	सर्वा	घातिनाम उत्कृ०	गोत्रस्य जघ०	गोत्रस्य उत्कृ०	वेदनीयनाम. उत्कृ०
२२१-२	नरकोघ० सप्तमनारक०	२	देशोनकाय०	अन्तर्मु	देशोनकाय	देशोनकाय
२२२-३	तिर्यगोघ०	१	देशोनार्धपुद् परा	१ स०	असं पु० परा	असं० लोक०
२२४-५	अपर्याप्तवर्जत्रितिर्यक्पञ्चे०	३	पूर्वकोटिपृथक्०	,,	पूर्वकोटिपृथक्०	देशोनकाय०
२२५	त्रिमनुष्य०	३	नास्ति	,,		,,
२२६	देवौघ०	४	देशोनकाय०	,,	देशोन३१सागरो	,,
२२७	एकेन्द्रियौघ०	१	असं० लोक०	,,	असं पुद् परा	असं० लोक०
२२८	सूक्ष्मैके०, पञ्चपृथ्व्याद्योघ-तत्पञ्चसूक्ष्मौघ-निगोदौघ०	१२	,,	,,	असं लोक	,,
२२९-३०	द्विपञ्चे० द्वित्रस० चक्षु० संज्ञि० आहारि०	७	नास्ति	अन्तर्मु	देशोनकाय०	देशोनकाय०
२३१-२	सर्वमनोवचो० चतुष्कषाय०चतुर्ज्ञान०विभङ्ग० संयम०सामा० छेदो० देश० अवधिद० सम्य० उपशम० मिश्र०	२७	नास्ति	→	नास्ति	,,
२३३	काययोग० द्व्यज्ञान० मिथ्या०	४	नास्ति	→	नास्ति	असं० लोक०
२३४	औदारिकयोग०	१	नास्ति	१ स०	देशोन त्रिसह वर्ष	देशोनकाय०
२३५	त्रिमिश्रयोग०	३	नास्ति अन्तर्मु वा	१ स०	नास्ति अन्तर्मु वा	अन्तर्मु०
२३६	वैक्रिय०	१	अन्तर्मु०	→	नास्ति	
२३७	कार्मण० अनाहारक०	२	नास्ति	→	नास्ति	१ समय.
२३८	स्त्री० पु वेद० क्षायिक०	३	नास्ति	१ स०	देशोन काय०	देशोनकाय०
२३९	नपुं०असंयम०अचक्षुर्द०भव्य० (ओघवत्)	४	नास्ति	अन्तर्मु	अर्ध० पु० परा०	असं०लोक०
,,	अवेद० सूक्ष्मसम्पराय० (मोह०वर्ज)	२	नास्ति	→	नास्ति	नास्ति
२४०	परिहारविशुद्धि० वेदकसम्य०	२	देशोन ,नास्ति वा	→	नास्ति	देशोनकाय०
२४१	कृष्णलेश्या०	१	* पल्यासंख्यभाग	अन्तर्मु	देशोनकाय०	देशोनकाय०
२४२	नीलकापोतलेश्या०	२	* ,,	१ स०	अन्तर्मु०	,,
२४३	तेजःपद्मलेश्या०	२	नास्ति अन्तर्मु .वा		देशोनकाय०	,,
२४४	शुक्ललेश्या०	१	नास्ति	,	३स न्यून३१माग	,
२४५	अभव्य० असंज्ञि०	२	असं० पु० परा०	,,	असं०,पुद्०परा०	असं० लोक०
२४६	सास्वादनदृष्टि०	१	अन्तर्मु०	,,	अन्तर्मु०	अन्तर्मु०
,,	卐शेषाः—गति०-३७, इन्द्रिय०-१५, काय० २९, आहारकयोग०१	८२	देशोनकाय०	,,	देशोनकाय०	देशोनकाय०

* त्र्यशुभलेश्यासु मतान्तरेण घातिचतुष्कस्य प्रकृष्टान्तरं देशोना स्वोत्कृष्टकायस्थिति। (गाथा २४१-२४२)

卐 शेषा ८२—प्रथमादिषष्ठान्तनिरया-ऽपर्याप्ततिर्यङ्मनुष्य देवौघवर्जसर्वदेवभेदरूपा, ३७ गतिभेदाः, ओघसूक्ष्मौघवर्जैकेन्द्रियपञ्चभेद-सर्वविकला-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियरूपा १५ इन्द्रियभेदा, पञ्चपृथ्व्याद्योघ-तत्पञ्चसूक्ष्मौघ-निगोदौघ११ भेदवर्जपञ्चकायसत्क २८ भेदा-ऽपर्याप्तत्रसकायरूपा २९ कायभेदा, आहारकयोगभेदश्चेति।

* आयुर्वर्जसप्तानामजघन्यरसबन्धस्यैकजीवाश्रिता-ऽन्तरप्रदर्शकं यन्त्रम् *

ओघत:—सप्तप्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यतोऽन्तर १ समय , उत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तम् । (गाथा २२०)
आदेशत.–अवेदसूक्ष्मसम्परायवर्जासु (१६८) सर्वासु वेदनीयनाम्नोर्जघन्यतोऽन्तर १ समयो ज्ञेयम् । अवेदमार्गणाया त्वन्तर्मुहूर्तम् , सूक्ष्मसम्पराये-ऽन्तरमेव नास्ति । घातिगोत्रयोर्जघन्यतो-ऽन्तर तथा सप्तानामुत्कृष्टतो-ऽन्तर निम्नलिखितयन्त्रकादवसेयम् ।

गाथाङ्क:	मार्गणासु	मार्गणा	घातिचतुष्कस्यान्तरम् जघ०	घातिचतुष्कस्यान्तरम् उत्कृ०	गोत्रस्यान्तरम् जघ०	गोत्रस्यान्तरम् उत्कृ०	वेदनीयनाम्नोरन्तरम् उत्कृष्ट०
२४७	नरकौघ सप्तमनारक वैक्रिय० कृष्णले०	४	१ समय	२ समयौ	१ स०	१ समय	४ समया.
२४८ २४९	तिर्यगोघ०, पञ्चानुत्तर०, सर्वके०, सर्वतेजोवायु०, आहारकयोग०, नीलकापोतलेश्या० अभव्य०, सास्वा०, असज्ञि०	३३	,,	,,	,,	२ समयौ०	,,
२५०	अपर्याप्तवर्जत्रिमनुष्य०	३	अन्तर्मु०	अन्तर्मु०	,,	अन्तर्मु०	अन्तर्मु०
२५१	द्विपञ्च०, द्वित्रस०, काययोग०, मतिश्रुतावधिज्ञान०,त्रिदर्शन०, शुक्ल०, भव्य०, सम्य०, क्षायिक०, उपशम०, सज्ञि०, आहारि० (ओघवत्)	१८	समय १	,,	,,	,,	,,
२५२३	सर्वमनोवचो , नपु , सर्व 卐 कषाय. असंयम.	१६	→	नास्ति, ←	,,	१समय	४ समया
२५४	औदारिक०	१	→	,,	,,	२ समयौ	,,
२५५	त्रिमिश्रयोग०	३	→ १ स०	नास्ति २ स० वा	→ १ स०	नास्ति २ स०वा	,,
२५६	कार्मणयोग०, अनाहारि०	२	→	नास्ति ←	→	नास्ति ←	१ समय
२५७	स्त्री०, पु०	२	→	,,	१ स०	४ समया	४ समया
,,	अवेद०	१	अन्तर्मु०	अन्तर्मु०	अन्तर्मु	अन्तर्मु०	अन्तर्मु०
२५८	मन पर्यव०, सयमौघ०	२	,,	,,	,,	,,	,,
२५९	अज्ञान०,सामा०,छेदो०,देश०, मिश्र०मिथ्यादृष्टि०	८	→	नास्ति ←	→	नास्ति ←	४ स०
२६०	परिहार०, वेदकसम्य०	२	१ स०	स०, स० १ २ वा०	→	,,	,,
२६१	सूक्ष्मसम्पराय० (मोहवर्जषण्णाम्)	१	→	नास्ति ←	→	,,	नास्ति
२६२	तेज.पद्मलेश्या०	२	१ स०	स०, स० १ २ वा०	१ स०	४ समया:	४ स०
२६३	प्रथमादिषष्ठान्तनरक.६, तिर्यगोघवर्जशेषतिर्यग्.४. अपर्याप्तमनु. १, अनुत्तरवर्जशेषदेव. २५, सर्वविकला-ऽपर्याप्तपञ्चे० १०,सर्वपृथ्व्यबवन० २५, अपर्याप्तत्रस० १,=शेषासु	७२	१ स०	२ स०	,,	,,	,,

卐 लोभमार्गणाया मोहनीयस्य जघन्यतोऽन्तरं १ समय:, उत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्तम् । (गाथा-२५२)

॥ अथ नवमं संनिकर्षद्वारम् ॥

तदेवं प्रपञ्चतो भावितमन्तरद्वारम्, साम्प्रतं क्रमप्राप्तस्य नवमसंनिकर्षद्वारस्य व्याख्यानावसरः, तत्र चोत्कृष्टजघन्यानुभागबन्धभेदाद् द्विविधः संनिकर्षः प्ररूपणीयः,–सन्निकर्षो नाम सम्बन्धः, स च प्रकृते एवम्–विवक्षितैकमूलप्रकृतेरुत्कृष्टानुभागं जघन्यानुभागं वा बध्नन् जीवः शेषप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागबन्धमध्ये जघन्याजघन्यानुभागबन्धमध्ये वा कथम्भूतमनुभागबन्धं विदधातीति विवक्षितैककर्मसत्कोत्कृष्टाद्यनुभागबन्धेन सह शेषप्रकृतीनामनुभागबन्धस्य यः सम्बन्धो भवति स संनिकर्षः, **इदमुक्तं भवति**–मूलाष्टप्रकृतिमध्ये विवक्षितज्ञानावरणाद्येकस्या उत्कृष्टानुभागबन्धं कुर्वन् जन्तुः शेषप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागबन्धयोर्मध्ये कीदृशमनुभागबन्धमारचयति ? यदि स शेषप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागबन्धं विदधाति, तदा तासां प्रकृतीनां स एवानुत्कृष्टानुभागबन्धः स्वस्वोत्कृष्टरसबन्धतः किमनन्तभागहीनः किमसंख्येयभागहीनः किं संख्यातभागहीनः किं संख्यातगुणहीनः किमसंख्येयगुणहीनः किमनन्तगुणहीनो वा इति प्रतिपादनम्, एवं जघन्यानुभागबन्धेन समभपि संनिकर्षो वक्तव्यः, नवरं यद्यजघन्यानुभागो बध्यते तदा स्वस्वजघन्यानुभागबन्धतः सोऽजघन्यानुभागबन्धः किमनन्तभागाधिको वा किमसंख्येयभागाधिको वा इत्यादिषड्विकल्पा अभिधातव्या इति।

तत्रोत्कृष्टानुभागबन्धविषयकं संनिकर्षमभिधित्सुराद्यां तावद्गाथामाह—

बंधंतो घाईए अण्णयराअ अणुभागमुक्कोसं ।
सेसतिघाईण रसं बंधइ जेट्ठं अजेट्ठं वा ॥२७३॥

(प्रे०) '**बंधंतो**' इत्यादि, चतसृणां घातिप्रकृतीनां मध्येऽन्यतमस्या घातिप्रकृतेरुत्कृष्टमनुभागं बध्नन् शेषत्रिघातिनां–विवक्षितैकप्रकृतिवर्जशेषत्रिघातिप्रकृतीनां ज्येष्ठमुत्कृष्टानुभागम्, अज्येष्ठमनुत्कृष्टानुभागं वा बध्नाति।

अयम्भावः–ज्ञानावरणीयकर्मण उत्कृष्टानुभागबन्धं विदधज्जीवः शेषत्रिघातिकर्मणां दर्शनावरणमोहनीयान्तरायलक्षणानामुत्कृष्टानुभागबन्धमनुत्कृष्टानुभागबन्धं वाऽऽरचयति, एवं दर्शनावरणीयस्योत्कृष्टानुभागं बध्नन् शेषज्ञानावरणमोहनीयान्तरायाणां ज्येष्ठानुभागमज्येष्ठानुभागमपि निर्वर्तयति, अनया नीत्या मोहनीयान्तरायकर्मणोरपि संनिकर्षो वाच्यः ॥२७३॥

तदेवं घातिप्रकृतीनां मध्ये अन्यतमस्या उत्कृष्टरसबन्धकाले शेषत्रिघातिप्रकृतीनामनुत्कृष्टो रसोऽपि बध्यते इति विकल्पिते सति सोऽनुत्कृष्टानुभागः स्वस्वोत्कृष्टरसतः किमनन्तभागहीनः ? असंख्यभागादिहीनो वा ? इति जिज्ञासायामाह—

स अजेट्ठो जेट्ठत्तोऽणंतासंखियरभागगुणहीणो ।
आउं ण चेव बंधइ सेसाण अगुरुमणंतगुणहीणं ॥२७४॥ [गीतिः]

(प्रे०)'स अजेट्ठो'इत्यादि,स घातिप्रकृतिमध्ये अन्यतमस्या उत्कृष्टरसबन्धकाले तत्स्वामिना निर्वर्त्यमानः शेषघातिप्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टानुभागबन्धः'जेट्ठत्तो'इति ज्येष्ठरसबन्धात् स्वस्वो-त्कृष्टरसबन्धमपेक्ष्येत्यर्थः। कियत्प्रमाणहीनः ? इत्याह 'ऽणंता' इति "द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पद प्रत्येक-मभिसम्बध्यते" इति न्यायेन हीनशब्दस्य द्वाभ्यां भागगुणाभ्यां सम्बन्धात्, तयोश्च प्रत्येकमभियो-जनात् अनन्तभागहीनः,असंख्यातभागहीनः, संख्यातभागहीनः, अनन्तगुणहीनोऽसंख्यातगुणहीनः संख्यातगुणहीनश्च भवति। अनन्तभागहीनोऽसंख्यातभागहीनः संख्यातभागहीनः संख्यातगुण-हीनोऽसंख्यगुणहीनोऽनन्तगुणहीनश्चे ति षट्स्थानहान्या हीनो भवतीत्यर्थः।

इदमुक्तं भवति–यदा ज्ञानावरणीयस्योत्कृष्टानुभागो बध्यते तदा दर्शनावरणीयादित्रिघा-तिकर्मणामुत्कृष्टानुभागोऽनुत्कृष्टानुभागो वा बध्यते,स चानुत्कृष्टानुभागबन्धः दर्शनावरणादीनां स्व-स्वोत्कृष्टानुभागबन्धतोऽनन्तभागहीनो वाऽसंख्यातभागहीनो वा संख्यातभागहीनो वा संख्यात-गुणहीनो वाऽसंख्यातगुणहीनो वाऽनन्तगुणहीनो वेति षट्स्थानहान्या भवति। एवं दर्शनावरणीय-स्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले शेषत्रिघातिनामपि वेदितव्यम्। इत्थमेव मोहनीयान्तराययोरपि द्रष्टव्यम्।

ननु ज्ञानावरणस्य ज्येष्ठानुभागबन्धप्रायोग्योऽध्यवसाय एक एव इति स्वामित्वद्वारेऽर्थतः प्राक्कथितम्, ततश्च ज्ञानावरणस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले दर्शनावरणादीनामेकविध एव बन्धो भवि-तुमर्हति, भवद्भिस्तु ज्येष्ठानुभागबन्धो वा षट्स्थानपतितोऽज्येष्ठानुभागबन्धो वा इत्याद्यनेकविधो रसबन्धः प्रोक्तः स च कथं भवितुमर्हति ? समानकारणरूपैकाध्यवसायेन तुल्यकार्यस्य निष्पत्तेः, इति चेत्, न,श्रेणिसत्काऽनिवृत्तिकरणादिगुणस्थानगताध्यवसायवर्जशेषसर्वाध्यवसायेषु नानाविचित्र-तायाः सद्भावेनानुभागबन्धस्याप्यनेकविधता सूपपद्यते इति। अथ घातिप्रकृतीनां मध्ये अन्यतमस्या उत्कृष्टानुभागबन्धकाले शेषाणामघातिप्रकृतीनां कीदृशो रसो बध्यते ? इत्याशङ्कायामाह–'आउं ण चेव बंधइ' इति तदा आयुर्नैव बध्नाति, यतो घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्तीव्रसंक्लेशेन भवति, आयुर्बन्धस्तु मध्यमपरिणामेन भवति, अत एव घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागं बध्नन्नायुष्कं नैव बध्नातीत्युक्तम्। शेषत्र्यघातिनीनामाह-'सेसाण' इत्यादि,घातिप्रकृतीनां मध्येऽन्यतमस्या उत्कृ-ष्टानुभागं बध्नन् जीवः शेषाणां–वेदनीयनामगोत्रलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनामनुभागमनुत्कृष्टमेव बध्नाति, स चानुत्कृष्टरसः स्वस्वोत्कृष्टरसतोऽनन्तगुणहीन एव भवति कुतः ? उच्यते–वेदनीय-नामगोत्रकर्मणामुत्कृष्टानुभागबन्धः सर्वविशुद्ध्या भवति, सर्वविशुद्धिश्च सूक्ष्मसम्परायगुणस्थान-कस्य चरमसमये क्षपकस्यैव भवति, नान्यत्र, घातिप्रकृतीनां पुनरुत्कृष्टानुभागबन्धस्तीव्रसंक्ले-शेन भवति, तीव्रसंक्लेशश्च संज्ञिमिथ्यादृष्टीनामेव भवति, अत एव घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभाग-बन्धकाले वेदनीयनामगोत्रप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागबन्धो भवति, सोऽपि स्वस्वोत्कृष्टानुभागबन्धतो-ऽनन्तगुणहीनो भवति॥२७४॥ तदेवं घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्य संनिकर्षमभिधाय साम्प्रतं वेदनीयनामगोत्रप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्य तमेव सार्धगाथया दर्शयन्नाह—

बंधंतो आउं विण अण्णयरस्स उ गुरुं अघाइत्तो ।
उक्कोसं चेव रसं बंधइ दुअघाइकम्माणं ॥२७५॥
णो मोहाऊ बंधइ घाईण अगुरुमणंतगुणहीणं ।

(प्रे०) **'बंधंतो'** इत्यादि, आयुर्विनाऽघातिकर्मणः-आयुर्वर्जत्र्यघातिकर्मणां वेदनीयनामगोत्ररूपाणामन्यतमस्य 'गुरुं'-ज्येष्ठानुभागं बध्नन् जीवः शेषद्वयघातिप्रकृत्योरुत्कृष्टानुभागमेव बध्नातीति गाथाक्षरार्थः। **भावार्थः पुनरेवम्**-वेदनीयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले नामगोत्रकर्मणोरप्युत्कृष्टानुभागस्यैव बन्धो भवति । कुतः ? सूक्ष्मसम्परायस्य चरमसमये क्षपकस्यैवाघातित्रयाणामुत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेनाभिहितत्वात् , एकस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले शेषद्वयस्योत्कृष्ट एवानुभागबन्धो भवति, एवं नामगोत्रयोरपि संनिकर्षो वाच्यः ।

अथ वेदनीयनामगोत्रेष्वन्यतमस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्य शेषकर्मभिः सह संनिकर्ष उच्यते-**'णो मोहाऊ'** इत्यादि, मोहनीयायुराख्यप्रकृतिद्वयं न बध्नाति, कथम् ? उच्यते-वेदनीयादीनामुत्कृष्टानुभागबन्धः सूक्ष्मसम्परायस्य चरमसमये भवतीति प्राक्कथितम् , तदा मोहनीयायुषोर्बन्धविच्छेदोऽस्ति, अत एवाघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले मोहनीयायुषोर्बन्धाभाव उक्तः । शेषत्रिघातिकर्मभिः सह संनिकर्षो निरूप्यते-**'घाईण'**इत्यादि-त्र्यघातिप्रकृतिमध्येऽन्यतमस्या ज्येष्ठानुभागबन्धं कुर्वन् जीवो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायलक्षणानां त्रिघातिकर्मणामगुरुम्- अनुत्कृष्टमेवानुभागं बध्नाति,स चानुत्कृष्टानुभागबन्धः स्वोत्कृष्टानुभागबन्धतोऽनन्तगुणहीन एव भवति, कुतः ? अघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले तीव्रविशुद्धिसद्भावेन घातित्रयस्य जघन्यानुभाग एव बध्यते, स च जघन्यानुभागबन्धोऽत्रानुत्कृष्टानुभागबन्धत्वेन विवक्षितः, उत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागबन्धयोरेव प्रस्तुतत्वात् ,ततः स एवानुत्कृष्टानुभागबन्धः स्वोत्कृष्टानुभागबन्धतः सुतरामनन्तगुणहीनो भवति।।२७५।।

इदानीमायुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्य शेषसप्तभिः सह संनिकर्षं निरूपयति—

गुरुमाउस्स कुणंतो सत्तण्ह अगुरुमणंतगुणहीणं ॥२७६॥ [गीतिः]

(प्रे०) **'गुरुमाउस्स'** आयुष्कस्य गुरुम्-उत्कृष्टानुभागबन्धं कुर्वन् जीवः सप्तानां कर्मणां अगुरुम्-अनुत्कृष्टानुभागमेव बध्नाति-स च स्वोत्कृष्टतोऽनन्तगुणहीनो द्रष्टव्यः । कुतः ? आयुर्बन्धकाले मध्यमपरिणामस्य सद्भावेन तीव्रसंक्लेशविशुद्ध्योरभावात् तेषां सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धो न भवति, अत एव तेषामनुत्कृष्टानुभागबन्ध एव, स च स्वस्वोत्कृष्टतोऽनन्तगुणहीनो द्रष्टव्यः , मध्यमपरिणामेन निष्पन्नत्वात्तस्य ॥२७६॥

तदेवमोघतः संनिकर्षप्ररूपणां विधाय साम्प्रतमादेशतस्तां चिकिर्षुरादौ तावत् शेषप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्यायुष्केन सह तथाऽऽयुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्य शेषप्रकृतिभिः सह संनिकर्षं सर्वासु मार्गणासु प्रदर्शयन् गाथाद्वयेनाह—

सव्वासु मग्गणासुं बंधेमाणोऽणुभागमुक्कोसं ।
सत्तण्हं कम्माणं आउं णो चेव बंधेइ ॥२७७॥
बंधंतो अणुभागं जेट्ठं आउम्स बंधए चेव ।
सेसाण अणुक्कोसं अणुभागमणंतगुणहीणं ॥२७८॥

(प्रे०) '**सव्वासु**' इत्यादि, वैक्रियमिश्रादिसप्तमार्गणास्वायुर्बन्धस्यैवाभावात् , सर्वासु त्रिषष्ट्यधिकशतमार्गणासु सप्तानां कर्मणामुत्कृष्टमनुभागं बध्नन् जीव आयुर्नैव बध्नाति । इदमत्र तात्पर्यम्–सर्वासु मार्गणासु घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्तीव्रसंक्लेशेन, अघातित्रयस्य तु सर्वविशुद्धया, ततः सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धकाले आयुर्बन्धप्रायोग्यमध्यमपरिणामस्याभावेन आयुषो बन्धो नैव भवतीति ।

इत्थं सर्वासु मार्गणासु शेषप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्यायुष्केन सह संनिकर्षः प्रदर्शितः, इदानीमायुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्य शेषप्रकृतिभिः सह संनिकर्षो द्वितीयगाथया विवियते–'**बंधंतो**' इत्यादि,आयुष्कस्य ज्येष्ठमुत्कृष्टमनुभागं बध्नन् तत्तन्मार्गणावर्तिजीवः शेषाणाम्–आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागमेव बध्नाति । स चानुत्कृष्टानुभागबन्धः स्वस्वोत्कृष्टानुभागबन्धतोऽनन्तगुणहीनो द्रष्टव्यः ,तदा सप्तानां मध्यमसंक्लेशेन मध्यमविशुद्धया वा बन्धसद्भावात् ॥२७७।२७८॥

तदेवं सर्वासु मार्गणास्वायुष्कस्य संनिकर्षो दर्शितः,अधुना यासु मार्गणासु सप्तानां संनिकर्षनिरूपणमोघवद् भवति तासु गाथायुग्मेनातिदिशति—

ओघव्व सण्णियासो तिव्वऽणुभागम्स आउवज्जाणं ।
तिणरदुपंचिंदियतसपणमणवयकायउरलेसुं ॥२७९॥
लोहे चउणाणेसुं संयमतिदरिसणसुक्कभवियेसुं ।
सम्मत्तखाइएसुं उवसमसण्णीसु आहारे ॥२८०॥

(प्रे०) '**ओघव्व**' इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां तीव्रानुभागस्य-उत्कृष्टानुभागबन्धस्य संनिकर्ष ओघवदवसेय इति शेषः तद्यथा–घातिचतुष्कस्य मध्ये अन्यतमस्योत्कृष्टानुभागं बध्नन् जीवः शेषत्रिघातिकर्मणामुत्कृष्टानुभागमपि जनयति, अथवाऽनुत्कृष्टानुभागं , यद्यनुत्कृष्टानुभागो निर्वर्त्यते तर्हि सोऽनुभागबन्धः स्वोत्कृष्टानुभागबन्धतः षट्स्थानपतितो भवति । स एव जीवः शेषत्र्यघातिप्रकृतीनामनन्तगुणहीनमनुत्कृष्टमेवानुभागमारचयति त्र्यघातिप्रकृतीनां मध्येऽन्यतमस्या ज्येष्ठानुभागबन्धं कुर्वन् जीवः शेषद्व्यघातिप्रकृत्योरप्युत्कृष्टानुभागस्यैव बन्धं विदधाति, मोहनीयस्य त्वत्र बन्धविच्छेदात्तद्वर्जशेषत्रिघातिप्रकृतीनां पुनरनुत्कृष्टानुभागबन्धमेव करोति,स चानुत्कृष्टानुभाग-

बन्धः स्वोत्कृष्टतोऽनन्तगुणहीनो भवति। अथ कासु मार्गणास्वित्याह–'**तिणर**' इत्यादि, मनुष्यसामान्य-मनुष्ययोनिमती-पर्याप्तमनुष्य-पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकाय-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगसामान्यौदारिककाययोग-लोभकषाय–मति–श्रुता–वधि-मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्य-चक्षुरचक्षुरवधिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिकोपशमसंज्ञ्याहारिलक्षणासु पञ्चत्रिंशन्मार्गणास्विति।

इयमत्र भावना–एतासु पञ्चत्रिंशन्मार्गणास्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये प्राप्यते, तेनाघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्य संनिकर्ष ओघवद् भवति, तथा घातिचतुष्कस्य तु सप्ततेजःकाय-सप्तवायुकायापगतवेदसूक्ष्मसम्परायवर्जशेषासु सर्वासु मार्गणास्वोघवत्संनिकर्षो भवति,यतो ज्ञानावरणाद्येकस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले शेषघातित्रयस्य ज्येष्ठानुभागबन्धोऽज्येष्ठानुभागबन्धो वा भवति, नानावैचित्र्यगर्भिताध्यवसायानां प्राप्यमाणत्वात् , किन्त्वपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये ज्ञानावरणादिघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकानां तुल्याध्यवसायसद्भावात् शेषघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्यैवानुभागस्य बन्धो भवति, सप्ततेजःकाय-सप्तवायुकायभेदेषु पुनर्गोत्रकर्मण उत्कृष्टानुभागबन्धस्य संनिकर्षो घातितुल्यो भवति, तेनैतासां षोडशमार्गणानां वर्जनं कृतम्। अत एवात्र सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्य संनिकर्ष ओघवद् दर्शितः। अत्रेदमवधेयम्–मार्गणास्थानेष्वोघवत्कृतेऽतिदेशे वचनसाम्यमेवाहृतम्, न पुनः पदार्थसाम्यमपि, अत उत्कृष्टाद्यनुभागबन्धस्थाने सर्वत्रौघिकरसबन्धा न धर्तव्याः, किन्तु तत्तन्मार्गणापेक्षया ये उत्कृष्टाद्यनुभागबन्धास्त एव ग्राह्यास्तदपेक्षया चानुत्कृष्टानुभागबन्धः षट्स्थानपतितो द्रष्टव्य इति ॥२७९।२८०॥

सम्प्रति तेजःकायवायुकायिकानां सर्वभेदेषु सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धस्य संनिकर्षं गाथाचतुष्टयेनाह—

बंधंतो अणुभागं सव्वेसु तेउवाउभेएसु।
तिव्वं अण्णयराए पयडित्तो घाइगोअत्तो ॥२८१॥
सेसचउगस्स तिव्वं उअ छट्ठाणपतितं रसमतिव्वं।
बंधइ दुअघाईणं अगुरुं तु अणंतगुणहीणं ॥२८२॥
बंधंतो अणुभागं जेट्ठं वेअस्स णामकम्मस्स।
बंधेइ रसं जेट्ठं छठाणपतितं वऽणुक्कोसं ॥२८३॥
पंचण्हं अणुभागमणुक्कोसं चिअ अणंतगुणहीणं।
बंधेइ सण्णियासो णामस्सेमेव णायव्वो ॥२८४॥

(प्र०) 'बंधंतो' इत्यादि, चतुर्घातिगोत्रप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्य संनिकर्षो गाथाद्वयेन कथ्यते, सर्वेषु तेजोवायुभेदेषु–तेजःकायिकस्य सप्तभेदेषु तथा वायुकायिकस्य सप्तभेदेषु चतुर्घातिगोत्ररूपाणां पञ्चप्रकृतीनां मध्ये अन्यतमस्यास्तीव्रमुत्कृष्टमनुभागं बध्नन् जीवो विवक्षितैकवर्जशेषचतुष्कस्य तीव्रमुत्कृष्टानुभागं बध्नाति, उत विकल्पान्तरद्योतकः, तेन षट्स्थानपतितमतीव्ररसं वा बध्नाति, स चानुत्कृष्टरसः सर्वोत्कृष्टरसतः षट्स्थानपतितो भवतीत्यर्थः । द्वयघातिप्रकृत्योः–वेदनीयनामाख्ययोस्तु अगुरुमनुत्कृष्टानुभागमनन्तगुणहीनं बध्नातीति गाथाद्वयाक्षरार्थः ।

भावार्थः पुनरेवम्–सर्वतेजःकायिकभेदेषु तथा सर्ववायुकायिकभेदेषु ज्ञानावरणस्योत्कृष्टानुभागं बध्नन् जन्तुर्दर्शनावरणमोहनीयान्तरायगोत्रप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धं विदधाति, क्वचिदनुत्कृष्टमप्यनुभागबन्धं करोति, यद्यनुत्कृष्टानुभागबन्धं करोति, तर्हि सोऽनुत्कृष्टानुभागः स्वस्वोत्कृष्टतः षट्स्थानपतितो भवति, वेदनीयनामकर्मणोः पुनरनुत्कृष्टमेवानुभागं निर्वर्तयति, स चानुभागः स्वोत्कृष्टतोऽनन्तगुणहीनो भवति । इत्थं दर्शनावरणस्य मोहनीयस्यान्तरायस्य गोत्रस्य च ज्येष्ठानुभागबन्धसंनिकर्षो वाच्यः । नन्वत्र ज्ञानावरणादिघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकाले गोत्रस्य ज्येष्ठानुभागबन्धो भवितुं कथमर्हति ? उच्यते–प्रकृतचतुर्दशमार्गणाभेदेषु केवलं नीचैर्गोत्रस्य बन्धो भवति, तस्य चाशुभत्वेन ज्येष्ठानुभागबन्धस्तीव्रसंक्लेशेन जायते, ज्ञानावरणादीनां चोत्कृष्टानुभागबन्धकाले तीव्रसंक्लेशो विद्यते, अत एव ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकाले गोत्रस्योत्कृष्टानुभागबन्धोऽपि भवितुमर्हति ।

अथ वेदनीयनामकर्मणोरुत्कृष्टानुभागबन्धस्य शेषप्रकृतिभिः सह संनिकर्षो गाथाद्वयेन निरूप्यते, **'बंधंतो'** इत्यादि, एतासु चतुर्दशमार्गणासु यो वेदनीयस्य ज्येष्ठमुत्कृष्टमनुभागं बध्नन् नामकर्मणो ज्येष्ठमुत्कृष्टं रसं बध्नाति, 'वा' विकल्पान्तरद्योतकः, तेन षट्स्थानपतितं–षट्स्थानहान्याऽनुत्कृष्टानुभागं बध्नाति, **'पंचण्हं'** इति पञ्चानां-ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायगोत्ररूपाणां पञ्चप्रकृतीनाम्, एवकारः अवधारणार्थे ततश्चानुत्कृष्टमेवानुभागं बध्नाति, उत्कृष्टानुभागं नैव बध्नातीत्यर्थः, स चानुत्कृष्टानुभागः स्वोत्कृष्टानुभागतोऽनन्तगुणहीनो भवति ।

भावना चेयम्–अत्र वेदनीयस्य नामकर्मणश्चोत्कृष्टानुभागबन्धः सर्वविशुद्ध्या भवति, ततश्च वेदनीयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले नामकर्मण उत्कृष्टानुभागबन्धो भवति, षट्स्थानहानियुक्तो नामकर्मणोऽनुत्कृष्टानुभागबन्धो वा भवति, श्रेणिविरहदशायां ज्येष्ठानुभागस्य बन्धसद्भावात् तथा चतुर्घातिगोत्राणां पुनरनुत्कृष्टानुभागमेव बध्नाति । कुतः ? उच्यते–तासां पञ्चानामुत्कृष्टानुभागबन्धस्तीव्रसंक्लेशेन जायते, वेदनीयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले तु तीव्रविशुद्धिर्भवति, ततश्च वेदनीयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले तासां चतुर्घातिगोत्रप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्यैव नुभागस्य बन्धो भवतीति ।

अथ नामकर्मण उत्कृष्टानुभागबन्धस्य संनिकर्षं वेदनीयवदतिदिशति–**'सण्णियासो'**इत्यादि-सुगमम् । नवरं वेदनीयस्थाने नामकर्म तथा नामकर्मणः स्थाने वेदनीयकर्मेति वक्तव्यमिति ॥२८१॥

॥२८२॥२८३॥२८४॥

अधुना वेदत्रिके संनिकर्षं निरूरूपयिषुस्तत्तुल्यवक्तव्यत्वेनान्यास्वपि मार्गणासु तन्निरूपयन्नाह–

वेअकसायतिगेसुं समइअछेएसु बंधमाणो उ ।
उक्कोसं अणुभागं अण्णयरस्स उ अघाइत्तो ॥२८५॥
तस्सेसाणं दोण्हं बंधइ चेव अणुभागमुक्कोसं ।
अगुरुमणंतगुणूणं घाईणोघव्व घाईणं ॥२८६॥

(प्रे०) '**वेअकसायतिगेसु**' इत्यादि, त्रिकशब्दस्य प्रत्येकमभियोजनात् वेदत्रिके-स्त्रीपुरुषनपुंसकलक्षणे, कषायत्रिके–क्रोधमानमायारूपे सामायिकच्छेदोपस्थापनीययोश्चेत्येतास्वष्टमार्गणासु अघातिप्रकृतीनां मध्ये वेदनीयप्रकृतेरुत्कृष्टानुभागं बध्नन् तच्छेषयोः वेदनीयवर्जशेषयोर्द्वयोः नामगोत्रप्रकृत्योरुत्कृष्टमेवानुभागं बध्नाति, कुतः ? तासां सर्वासामुत्कृष्टानुभागबन्धस्य क्षपकश्रेण्यां सर्वविशुद्धया युगपदेव सद्भावात् । तदा घातिप्रकृतीनां कीदृशमनुभागं बध्नाति ? इत्याह-'**अगुरुमणंतगुणूणं घाईण**' इति स जीवो घातिप्रकृतीनामगुरुमनुत्कृष्टानुभागं बध्नाति, कथम्भूतं ? अनन्तगुणूनं स्वोत्कृष्टानुभागबन्धापेक्षयाऽनन्तगुणहीनमनुत्कृष्टानुभागं बध्नातीत्यर्थः । कुतः ? सर्वविशुद्धिकाले घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागरूपस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धसद्भावात् । एवं नामगोत्रप्रकृत्योर्घटना कार्या ।

तदेवमघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धसत्कसंनिकर्षमभिधाय साम्प्रतं चतुर्घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्य संनिकर्षमोघवदतिदिशन्नाह–'**ओघव्व घाईणं**' इति सुगमम् । ओघवत्संनिकर्षस्त्वेवम्-एतास्वष्टासु मार्गणासु चतुर्घातिप्रकृतीनां मध्येऽन्यतमस्या ज्येष्ठानुभागबन्धं विदधज्जीवः शेषत्रिघातिनामुत्कृष्टानुभागबन्धं षट्स्थानहानियुक्तमनुत्कृष्टानुभागबन्धं वा विदधाति । अघातित्रयस्य पुनः स्वोत्कृष्टतोऽनन्तगुणहीनमनुत्कृष्टमेवानुभागबन्धं करोतीति ॥२८५॥२८६॥

इदानीमवेदकसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये तमेवाह–

जेट्ठरसं घाइत्तो अण्णयरस्स उ अवेअसुहमेसुं ।
बंधंतो तिव्वं चिअ बंधइ खलु सेसघाईणं ॥२८७॥
बंधइ तिअघाईणं रसं अतिव्वं अणंतगुणहीणं ।
ओघव्व सण्णियासो तिण्ह अघाईण कम्माणं ॥२८८॥

(प्रे०) '**जेट्ठरसं**' इत्यादि, अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये घातिप्रकृतीनां मध्ये अन्यतमस्या ज्येष्ठरसं बध्नन् शेषघातिप्रकृतीनां तीव्रमुत्कृष्टमेवानुभागं बध्नाति, कुतः ? तत्तन्मार्गणायाश्चरमसमये सर्वेषामुपशमश्रेणेरवरोहकाणामेकेनैवाध्यवसायेन सर्वघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य

युगपदेव बन्धसद्भावात् । सूक्ष्मसंपरायमार्गणायां मोहनीयस्य बन्धविच्छेदात् संनिकर्षनिरूपणं न कर्तव्यमिति प्रथमगाथार्थः । अथ घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्य त्र्यघातिप्रकृतिभिः सह संनिकर्षं दर्शयति–'**बंधइ**' इत्यादि, एतन्मार्गणाद्वये घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागं बध्नन् त्र्यघातिप्रकृतीनामनन्तगुणहीनमतीव्रमनुत्कृष्टं रसं बध्नाति, स्वोत्कृष्टानुभागबन्धत इति शेषः ।

साम्प्रतं त्र्यघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्य शेषप्रकृतिभिः सह संनिकर्षमोघवदतिदिशति-'**ओघव्व**' इत्यादि, तिसृणामघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्य संनिकर्ष ओघवद् भवति, प्रस्तुतमार्गणाद्वये सूक्ष्मसम्परायस्त्कचरमसमयस्य लभ्यमानत्वेनैकेनैवाध्यवसायेन त्र्यघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य युगपदेव बन्धसद्भावात् । ओघवत् संनिकर्षश्चैवम्–त्र्यघातिप्रकृतीनां मध्ये अन्यतमस्या उत्कृष्टानुभागबन्धं कुर्वन् तत्तन्मार्गणावर्तिजीवः शेषद्वयघातिप्रकृत्योरुत्कृष्टमेवानुभागं बध्नाति । मोहनीयवर्जत्रिघातिप्रकृतीनां पुनः स्वोत्कृष्टतोऽनन्तगुणहीनमनुत्कृष्टमेवानुभागं बध्नाति, मोहनीयस्य त्वबन्धः, तस्य प्रागेव बन्धविच्छेदात् ॥२८७॥२८८॥

साम्प्रतं प्रागुक्तशेषमार्गणासु तुल्यवक्तव्यत्वेनार्याद्वयेनाह—

सेसासु मग्गणासुं ओघव्व भवे चउण्ह घाईणं ।
बंधंतो तिव्वरसं अण्णयरस्स तिअघाइत्तो ॥२८९॥
सेसदुगस्सुक्कोसं उअ छट्ठाणपतितं अणुक्कोसं ।
घाईण अतिव्वरसं बंधेइ अणंतगुणहीणं ॥२९०॥

(प्रे०)'**सेसासु**' इत्यादि, [१]'तिणर' इत्यादिनाऽभिहिताः पञ्चत्रिंशन्मार्गणास्तथा [२]'सव्वेसु तेउवायुभेएसु' इत्यादिनोक्ताश्चतुर्दशमार्गणास्तथा [३]'वेअकसाय' इत्यादिना कथिता अष्टमार्गणास्तथा [४]'अवेअसुहमेसु' इत्यादिना निर्दिष्टे द्वे मार्गणे इत्येताः एकोनषष्टिमार्गणा विहायैकादशोत्तरशतमार्गणासु चतसृणां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्य संनिकर्ष ओघवद् भवेत् । स चैवम्–चतुर्घातिप्रकृतीनां मध्ये अन्यतमस्या उत्कृष्टानुभागबन्ध कुर्वन् तत्तन्मार्गणावर्तिजीवः शेषत्रिघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टानुभागं वा निर्वर्तयति, अघातित्रयस्य पुनरनन्तगुणहीनमनुत्कृष्टमेवानुभागमारचयतीति ।

अथ त्र्यघातिकर्मणामुत्कृष्टानुभागबन्धस्य शेषप्रकृतिभिः सह संनिकर्षं प्ररूपयति-'**बंधंतो**' इत्यादि, त्र्यघातिप्रकृतीनां मध्येऽन्यतमस्यास्तीव्ररसं-ज्येष्ठानुभागं बध्नन् तत्तन्मार्गणावर्तिजीवः शेषद्वयघातिप्रकृत्योरुत्कृष्टमनुभागं बध्नाति 'उत' विकल्पद्योतनार्थः, तेन षट्स्थानपतितं-षट्स्थानहानियुक्तमनुत्कृष्टं वाऽनुभागं बध्नातीति ज्ञेयम् । घातिप्रकृतिभिः सह संनिकर्ष उच्यते–'**घाईण**' इत्यादिना, घातिकर्मणामनन्तगुणहीनमनुत्कृष्टमेवानुभागं बध्नाति । शेषमार्गणा नामत इमाः-गतिमार्गणास्थानस्य त्रिमनुष्यभेदवर्जचतुश्चत्वारिंशन्मार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्त-

१ (गाथा-२७३-२८०) । २ (गाथा-२८१) । ३ (गाथा-२८५) । ४ (गाथा-२८७) ।

पञ्चेन्द्रियभेदद्वयवर्जसप्तदशमार्गणाः, कायमार्गणास्थानस्य सप्तपृथ्वीकायसप्ताप्कायैकादशवनस्पतिकायभेदापर्याप्तत्रसकायरूपाः षड्विंशतिमार्गणाः । योगमार्गणास्थानस्यौदारिकमिश्रवैक्रियवैक्रियमिश्राहारकाहारकमिश्रकार्मणलक्षणाः षण्मार्गणाः । ज्ञानमार्गणास्थानस्य मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानलक्षणास्त्रिमार्गणाः, संयममार्गणास्थानस्य परिहारविशुद्धिदेशविरत्यसंयमलक्षणास्त्रिमार्गणाः, लेश्यामार्गणास्थानस्य शुक्ललेश्यावर्जपञ्चमार्गणाः, अभव्यमार्गणा, सम्यक्त्वमार्गणास्थानस्य वेदकमिश्रदृष्टिसास्वादनमिथ्यात्वस्वरूपाश्चतुर्मार्गणाः, असंज्ञिमार्गणाऽनाहारिमार्गणा चेत्येता एकादशोत्तरशतमार्गणा इति । भावनाया बीजं त्विदम् एतासु सर्वासु मार्गणासु श्रेणिगतानिवृत्तिकरणादिगुणस्थानकस्याभावो विद्यते, तथा सर्वत्र गोत्रस्याप्युत्कृष्टानुभागबन्धः सर्वविशुद्धया भवति, अत एवाघातित्रयमध्येऽन्यतमस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले शेषद्वयस्य ज्येष्ठानुभागबन्धः षट्स्थानपतितोऽज्येष्ठानुभागबन्धो वा भवति, तदा च विशुद्धिसद्भावेन घातिचतुष्कस्य त्वनुत्कृष्टानुभागस्यैव बन्धो भवति । घातिचतुष्कस्य ज्येष्ठानुभागबन्धसत्कसंनिकर्षस्य भावना यथौघे प्रदर्शिता तथैव कर्त्तव्येति ॥२८९।२९०॥

प्ररूपित ओघत आदेशतश्चाष्टानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धविषयकः संनिकर्षः । साम्प्रतं जघन्यानुभागबन्धविषयकं तं दर्शयन्नादौ तावदोघत आह—

बंधेमाणो मंदं अण्णयरस्स उ रसं तिघाइत्तो ।
बंधेइ जहण्णं चिअ रसं दुघाईण सेसाणं ॥२९१॥
ण उ बंधइ मोहाऊ सेसाघाईण तिण्ह कम्माणं ।
अजहण्णं अणुभागं कुणइ अणंतगुणमब्भहियं ॥२९२॥

(प्रे०) '**बंधेमाणो**' इत्यादि, ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायलक्षणानां त्रिघातिप्रकृतीनां मध्ये अन्यतमस्या मन्दं जघन्यं रसमनुभागं बध्नन् स शेषयोर्द्विघातिप्रकृत्योर्जघन्यमेव रसं बध्नाति, सूक्ष्मसम्परायस्य चरमसमये सर्वेषां क्षपकानां त्रिघातिप्रकृतीनां युगपदेव जघन्यानुभागस्य बन्धसद्भावात् । मोहनीयायुषोः संनिकर्षं निषेधयन्नाह—'**ण उ**' स च जीवोऽत्र मोहनीयायुषी तु न बध्नाति, अतस्तयोः संनिकर्षस्याप्यभावः । अघातिप्रकृतिभिः सह प्रकृतसंनिकर्षमभिदधाति—'**सेसाघाईण**' इत्यादि, शेषाघातिनीनां वेदनीयनामगोत्राख्यानां तिसृणां प्रकृतीनां स्वस्वजघन्यानुभागबन्धापेक्षयाऽनंतगुणाभ्यधिकमजघन्यानुभागमेव बध्नाति, कुतः ? उच्यते-ज्ञानावरणादीनां जघन्यानुभागबन्धकाले अघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभाग एव बध्यते, स चात्राऽजघन्यानुभागबन्धत्वेन विवक्षितः, अत एव ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामन्यतमस्या जघन्यानुभागबन्धं कुर्वन् जीवः शेषत्र्यघातिप्रकृतीनामनन्तगुणाभ्यधिकमजघन्यानुभागमेव बध्नातीत्युक्तम्

॥२९१।२९२॥ तदेवं त्रिघातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्य शेषप्रकृतिभिः सह संनिकर्षं निगद्य सम्प्रति वेदनीयनामकर्मणोः शेषप्रकृतिभिः सह निर्देष्टुकाम आह—

बंधेमाणो मंदं रसमण्णयरस्स वेअणामत्तो ।
इयरस्स जहण्णं उअ छठाणपतितेण अजहण्णं ॥२९३॥
आउं ण व बंधइ से मंदं छट्ठाणपतितमियरं वा ।
सेसाणं पंचण्हं अजहण्णमणंतगुणअहियं ॥२९४॥

(प्रे०) 'बंधेमाणो' इत्यादि, वेदनीयनामकर्मणोरन्यतरस्य मन्दं-जघन्यं रसं बध्नन् यः कश्चिदसुमान् इतरस्य-विवक्षितेतरस्य जघन्यानुभागं 'उत'-विकल्पद्योतने, तेन षट्स्थानपतितेन स्वस्वजघन्यतः षट्स्थानवृद्धियुक्तमजघन्यानुभागं वा बध्नाति, कुतः ? द्वयोः परावर्तमानपरिणामेन जघन्यानुभागस्य बन्धसद्भावात् , क्वचिद् द्वयोः युगपदेव जघन्यानुभागस्य बन्धो भवति, क्वचिद् वैचित्र्यवशात्स्वेतरस्य स्वजघन्यापेक्षयाऽनन्तभागतोऽनन्तगुणं यावत् षट्स्थानवृद्धियुक्तोऽपि रसो बध्यते । अथ आयुष्केन सह संनिकर्षमाह—'आउं ण व' इत्यादि, आयुर्न वा बध्नाति, अयम्भावः—वेदनीयनामकर्मणोरन्यतरस्य जघन्यानुभागबन्धं कुर्वन् जीव आयुः कदाचित् बध्नाति कदाचिच्च न, यदाऽऽयुर्बध्नाति तदा 'से' त्ति तस्य मन्दं जघन्यानुभागं बध्नाति, वा विकल्पार्थे-तेन षट्स्थानपतितं षट्स्थानवृद्धियुक्तमितरमजघन्यानुभागं वा बध्नाति, कुतः ? आयुर्जघन्यानुभागबन्धस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन निर्वर्तनीयत्वेन वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यानुभागबन्धकालेऽपि तस्य प्राप्यमाणत्वात् । वैचित्र्यवशात् तस्य षट्स्थानवृद्धियुक्तस्याजघन्यानुभागबन्धस्यापि लभ्यमानत्वाच्च । शेषपञ्चप्रकृतिभिः सह संनिकर्षमाह—'सेसाणं' इत्यादि, शेषाणां-वेदनीयनामायुर्वर्जानां पञ्चानां चतुर्घातिगोत्रलक्षणानां प्रकृतीनामजघन्यानुभागं स्वजघन्यतोऽनन्तगुणाधिकं बध्नाति,कुतः ? भण्यते—चतुर्घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धः क्षपकश्रेण्यां, गोत्रस्य च सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमनारकस्य भवति, अत्र तु परावर्तमानमध्यमपरिणामस्य सत्त्वात् तासां नियमात् स्वजघन्यतोऽनन्तगुणेनाधिकस्याऽजघन्यानुभागस्य बन्धो भवति ॥२९३।२९४॥

इदानीं मोहनीयगोत्रप्रकृत्योर्जघन्यानुभागबन्धस्य संनिकर्षं प्रदर्शयन्नाह—

मोहस्स बंधमाणो मंदरसं णेव बंधए आउं ।
सेसाण अणंतगुणिअ अहियं एमेव गोअस्स ॥२९५॥

(प्रे०) 'मोहस्स' इत्यादि, मोहनीयस्य मन्दरसं-जघन्यानुभागं बध्नन् जीव आयुर्नैव बध्नाति, अनिवृत्तिकरणगुणस्थानचरमसमये मोहनीयजघन्यानुभागबन्धस्य सद्भावात् तत्र चायुष्कस्य बन्धाभावात् न तेन सह संनिकर्षः । 'सेसाण' इत्यादि, शेषाणां मोहनीयायुर्वर्जषट्

प्रकृतीनामनन्तगुणाभ्यधिकमजघन्यानुभागं बध्नाति । कुतः ? भण्यते- शेषघातित्रयस्य जघन्यानुभागबन्धः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये भवति, ततस्तासां नवमगुणस्थानकस्यान्ते मोहनीयस्य जघन्यानुभागबन्धकालेऽजघन्यानुभागस्यैव बन्धो भवति, स च स्वजघन्यतोऽनन्तगुणाधिको भवति स्वजघन्यस्थानतोऽन्तर्मुहूर्तमर्वागेव तस्य जायमानत्वात् । तथा गोत्रस्य सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमनारको जघन्यानुभागबन्धस्वामी, अतः क्षपकश्रेण्यां मोहनीयस्य जघन्यानुभागबन्धकाले गोत्रस्याजघन्यानुभागबन्ध एव भवति, स च स्वजघन्यतोऽनन्तगुणेनाधिको ज्ञेयः । वेदनीयनामकर्मणोः पुनः परावर्तमानमध्यमपरिणामिनो जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेनोक्तत्वादत्र तु तयोरजघन्यानुभागः स्वजघन्यतोऽनन्तगुणेनाभ्यधिक एव बध्यते ।

अथ गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धस्य संनिकर्षनिरूपणं मोहनीयवदतिदिशन्नाह–**'एमेव गोअस्स'** इति एवमेव गोत्रस्य-अनन्तरोक्तप्रकारेणैव मोहनीयस्य संनिकर्षवद् गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धविषयकः संनिकर्षो वेदितव्यः, अत्र तु केवलं वचनसाम्यमादृतं, न तु पदार्थसाम्यम्, कुतः ? मोहनीयस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामितो गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामी भिन्न इति कृत्वा । ततश्चात्र भावना इत्थम्-गोत्रस्य सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमनारको जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन प्रोक्तः । स च प्रतिसमयं विशुद्धो विशुद्धतरस्ततश्च जघन्यानुभागं बध्नन् स आयुर्नैव बध्नाति, मध्यमपरिणामेनैवायुष्कस्य बन्धसद्भावात् । स सप्तमनारको घातिचतुष्कस्य स्वजघन्यतोऽनन्तगुणाधिकमजघन्यानुभागमेव निर्वर्तयति, तज्जघन्यानुभागबन्धस्य क्षपकश्रेण्यामेव प्रवर्तनात् वेदनीयनामकर्मणोस्तु प्राग्वद् भावना कर्तव्या ॥२९५॥

साम्प्रतमायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धविषयकं संनिकर्षं निगदन्नाह–

आउस्स जहण्णरसं बंधमाणो अणंतगुणअहियं ।
अजहण्णं अणुभागं बंधइ खलु घाइगोआणं ॥२९६॥
बंधइ खलु अणुभागं पयडीणं वेअणीयणामाणं ।
मंदं अदुव अमंदं पत्तं छट्ठाण वुड्ढीए ॥२९७॥

(प्रे०) **'आउस्स'** इत्यादि, आयुष्कस्य जघन्यरसं बध्नन् यः कश्चिज्जीवो घातिगोत्रप्रकृतीनां स्वजघन्यतोऽनन्तगुणाधिकमजघन्यानुभागमेव बध्नाति, कुतः ? आयुष्कस्य जघन्यानुभागः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यते, घातिगोत्राणां पुनर्जघन्यानुभागबन्धो विशुद्ध्यैव भवति, तत्रायुर्बन्धकाले परावर्तमानमध्यमपरिणामसद्भावात् तासां स्वजघन्यतोऽनन्तगुणाधिकोऽजघन्यानुभागबन्धो भवति । अथ द्वितीयगाथा विव्रियते-आयुष्कस्य जघन्यरसं बध्नन् जीवो वेदनीयनामकर्मणोर्मन्दं जघन्यानुभागं बध्नाति, अथवाऽमन्दमजघन्यानुभागं बध्नाति, तमपि षट्स्थानवृद्ध्या

प्राप्तं बध्नाति अयं भावः-आयुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकाले क्वचिद् वेदनीयस्य नामकर्मणश्च जघन्यानुभागस्य बन्धो भवति, क्वचिदजघन्यानुभागस्यापि बन्धो भवति, स चाजघन्यानुभागबन्धः क्वचित् स्वजघन्यतोऽनन्तभागाधिकः क्वचिदसंख्यभागाधिकः क्वचित् संख्यातभागाधिकः क्वचित् संख्यातगुणाधिकः क्वचिदसंख्यातगुणाधिकः, क्वचिदनन्तगुणाधिको वेति षट्स्थानवृद्ध्या प्राप्तो भवति ॥२९६॥२९७॥

तदेवमोघतोऽष्टानां मूलप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्य संनिकर्षं निरूप्य साम्प्रतमादेशतः सप्तप्रकृतीनां तं विभणिषुरादौ तावद् यासु मार्गणास्वोघवद् भवति, तास्वतिदिशति—

ओघव्व सण्णियासो मंदऽणुभागस्स आउवज्जाणं ।
दुपणिंदितसेसुं तह पणमणवयकायउरलेसुं ॥२९८॥
लोहम्मि तिणाणेसुं चक्खुअचक्खुअवहीसु तह भविये ।
सम्मत्तखाइएसुं उवसमसण्णीसु आहारे ॥२९९॥

(प्रे०) 'ओघव्व' इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनां मन्दानुभागस्य जघन्यानुभागबन्धस्य संनिकर्ष ओघवद् , भवतीति शेषः । कुत्र ? इत्याह—'दुपणिंदि०' इत्यादि, द्विशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् द्विपञ्चेन्द्रिययोः-पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियरूपयोः, द्वित्रसयोः—त्रसकाय-पर्याप्तत्रसकायलक्षणयोः, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगसामान्यौदारिककाययोगेषु, लोभे, त्रिज्ञानेषु, चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनभव्येषु, सम्यक्त्वक्षायिकयोः, उपशमसंज्ञिनोः आहारके चेत्येतासु नवविंशतिमार्गणास्विति । ओघवत्संनिकर्षश्चैवम्—ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायप्रकृतीनामन्यतमस्या जघन्यानुभागस्य बन्धकाले शेषद्विप्रकृत्योर्नियमाद् जघन्यानुभागबन्धो भवति, मोहनीयायुषोश्च बन्ध एव न भवति शेषाघातित्रयस्य पुनरनन्तगुणाभ्यधिकोऽजघन्यानुभागबन्धो भवति । मोहनीयस्य जघन्यानुभागबन्धकाले आयुष्कस्य बन्ध एव न भवति, शेषषट्प्रकृतीनां तु स्वस्वजघन्यतोऽनन्तगुणाभ्यधिकस्याऽजघन्यानुभागस्यैव बन्धो भवति । गोत्रस्यापि जघन्यानुभागबन्धस्य संनिकर्ष एवमेव वाच्यः । वेदनीयनामकर्मणोरन्यतरस्य जघन्यानुभागबन्धकाले इतरस्य जघन्यानुभागबन्धः षट्स्थानवृद्धियुक्तोऽजघन्यानुभागबन्धो वा भवति, आयुःकर्मणो बन्धो भवति तदा एवमेव वाच्यम् । शेषघातिगोत्राणां पुनरजघन्यानुभागोऽनन्तगुणाभ्यधिक एव जायते ।

इदमत्र तात्पर्यम्—एतासु सर्वासु मार्गणासु मोहनीयस्य जघन्यानुभागबन्धोऽनिवृत्तिकरणगुणस्थानकस्य चरमसमये, शेषघातित्रयस्य पुनः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये भवति, वेदनीयनामकर्मणोरपि जघन्यानुभागबन्धः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन सर्वत्रौघतुल्यो भवति, गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन विना जायते, अत एतास्वेकोनत्रिंशन्मार्गणास्वोघवत्संनिकर्ष उक्तः ॥२९८॥२९९॥

अथ यासु मार्गणासु वेदनीयनामगोत्रप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन, घातिचतुष्कस्य पुनः श्रेणिमन्दाध्यवसायवर्जविशुद्धाध्यवसायेन बध्यते, तासु मार्गणासु संनिकर्षं निरूपयति—

पढमाइछणिरयमयलपणिंदितिरिविगलभूदगवणेसुं ।
सुरगेविज्जंतअपज्जणरपणिंदितसतेउपउमासुं ॥३००॥ [गीतिः]
बंधंतो घाइस्स उ लहुमण्णयरस्स सेसघाईणं ।
बंधइ रसं जहण्णं उअ छट्ठाणपतितममंदं ॥३०१॥
आउं चेव ण बंधइ सेसाघाईण तिण्ह कम्माणं ।
अजहण्णं अणुभागं बंधेइ अणंतगुणअहियं ॥३०२॥
विण आउमघाइस्स उ बंधेमाणो जहण्णअणुभागं ।
दोण्हं बंधइ मंदं उअ छट्ठाणपतितममंदं ॥३०३॥
आउं ण बंधइ अहव लहुं छठाणपतितं अमंदं वा ।
बंधइ रसं अमंदं घाईण अणंतगुणअहियं ॥३०४॥

(प्रे०) '**पढमाइ छणिरय०**'इत्यादि, प्रथमादिषण्नारकपार्गणाभेदेषु '**सयलपणिंदि**'इत्यादि, सकलशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् सकलपञ्चेन्द्रियतिर्यक्ष--तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्योनिमतीपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्लक्षणेषु चतुर्षु मार्गणाभेदेषु, सर्वविकलेन्द्रियभेदेषु, सर्वभूषु-सर्वपृथ्वीकायभेदेषु, सर्वदकेषु-सर्वाप्कायभेदेषु, सर्ववनेषु—सर्ववनस्पतिकायभेदेषु, सुरग्रैवेयकान्तेषु देवौघे तथा ग्रैवेयकपर्यन्तदेवभेदेषु, '**अपज्जणर**'इत्यादि, अपर्याप्तशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् अपर्याप्तमनुष्यभेदे, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदे, अपर्याप्तत्रसकायभेदे, तेजःपद्मलेश्याभेदद्वये चेत्येतासु चतुःसप्ततिमार्गणासु चतसृणां घातिप्रकृतीनामन्यतमस्या जघन्यानुभागं बध्नन् तत्तन्मार्गणावर्तिजन्तुः शेषत्रिघातिनीनां जघन्यं रसं बध्नाति 'उत' विकल्पान्तरद्योतकः—अथवा षट्स्थानपतितं षट्स्थानवृद्ध्या युक्तममन्दानुभागमपि बध्नाति । कुतः ? भण्यते नानाविचित्रतागर्भितेनाध्यवसायेन तासां रसस्य बध्यमानत्वात् । ततः किम् ? विवक्षितैकप्रकृतेर्जघन्यानुभागबन्धकाले शेषप्रकृतीनां जघन्यानुभाग उतानेकसंवेधयुक्तोऽजघन्यरसोऽपि बध्यते । यथोक्तजीव आयुष्कं नैव बध्नाति, तीव्रविशुद्धेरायुर्बन्धे प्रतिबन्धकत्वात्, शेषाघातिनीनां-वेदनीयनामगोत्रलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनामनन्तगुणाधिकमजघन्यानुभागमेव बध्नाति, तासां परावर्तमानपरिणामेन जघन्यानुभागस्य बन्धसद्भावात् ।

एवं घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्य संनिकर्षं निरूप्य सम्प्रति त्र्यघातिनां तमेव गाथाद्वयेन दर्शयति-**'विण आउमघाईणं'** आयुर्विना तिसृणां वेदनीयनामगोत्रलक्षणानां प्रकृतीनामन्यतमस्या जघन्यानुभागं बध्नन् शेषद्वयघातिप्रकृत्योर्जघन्यमथवा षट्स्थानपतितमजघन्यानुभागं बध्नाति, अत्र गोत्रस्यापि जघन्यानुभागस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बन्धसद्भावात्, आयुर्विनाऽघातिप्रकृतीनामित्युक्तम्। शेषघटना च पूर्ववत्कार्या. अथ त्र्यघातिनामायुषा सह संनिकर्षं **'आउं ण बंधइ अहव'** इत्यादिना कथयति आयुर्न बध्नाति, अथवा यदाऽऽयुर्बध्नाति, तदा तस्य जघन्यानुभागं बध्नाति, वा विकल्पान्तरे, तेन षट्स्थानपतितमजघन्यानुभागमपि बध्नाति। भावना चात्रौघवद् द्रष्टव्या। घातिप्रकृतीनामनन्तगुणाधिकममन्दमजघन्यमेव रसं बध्नाति, परावर्तमानपरिणामकाले तथाविधविशुद्धेरभावात् ॥३००।३०१।३०२।३०३।३०४॥

इदानीं त्रिमनुष्यशुक्ललेश्यासु प्रकटयति—

ओघव्व जाणियव्वो तिमणुससुक्कासु घाइचउगस्स।
पढमणिरयव्व णेयो तिण्ह अघाईण कम्माणं ॥३०५॥

(प्रे०) **'ओघव्व'** इत्यादि, मनुष्यसामान्यमनुष्ययोनिमतीपर्याप्तमनुष्यशुक्ललेश्यारूपासु चतसृषु मार्गणासु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्य, संनिकर्ष इति शेषः, ओघवद् ज्ञातव्यः, त्रिघातिनां सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये, मोहनीयस्य पुनरनिवृत्तिकरणगुणस्थानस्य चरमसमये ओघवत् जघन्यानुभागस्य बध्यमानत्वात्। ओघवत् संनिकर्षश्चैवम्–त्रिघातिनामन्यतमस्य जघन्यानुभागबन्धकाले शेषद्विकर्मणोर्जघन्यानुभाग एव बध्यते, मोहनीयायुषोश्च बन्ध एव न भवति, वेदनीयनामगोत्राणां पुनरनन्तगुणाभ्यधिकोऽजघन्यानुभागो निर्वर्त्यते। तथा मोहनीयस्य जघन्यरसबन्धकाले शेषत्रिघातिनामवश्यमेवाजघन्यानुभागोऽनन्तगुणाभ्यधिको बध्यते। आयुषश्च बन्ध एव न भवति। वेदनीयनामगोत्राणां त्वनन्तगुणाधिकाजघन्यानुभाग एव बध्यते इति।

अथ तिसृणामघातिप्रकृतीनां संनिकर्ष उच्यते, **'पढमणिरयव्व'** इत्यादि, वेदनीयनामगोत्ररूपाणां तिसृणामघातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्य संनिकर्षः प्रथमनरकवद् ज्ञातव्यः, अत्रापि तिसृणामघातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बन्धसद्भावात्। नरकवच्चैवम्-वेदनीयनामगोत्रकर्मणामन्यतमस्य जघन्यानुभागबन्धकाले शेषद्वयघातिकर्मणोर्जघन्यानुभागबन्धः षट्स्थानवृद्धियुक्तोऽजघन्यानुभागबन्धो वा भवति, आयुषश्च यदि बन्धो भवति तदा तथैव, घातिचतुष्कस्यानुभागबन्धस्तु नियमादनन्तगुणाधिकाजघन्य एव भवतीति ॥३०५॥

अधुना तेजोवाय्वोः सर्वभेदेषु प्रतिपादयति—

बंधंतो अणुभागं सव्वेसुं तेउवाउभेएसुं।
मंदं अण्णयराए पयडित्तो घाइगोअत्तो ॥३०६॥

सेसचउगस्स बंधइ जहण्णगं वा छठाणपतितं वा ।
अजहण्णं अणुभागं आउं णो चेव बंधेइ ॥३०७॥
सेसाण दोण्ह बंधइ अजहण्णरसं अणंतगुणअहियं ।
ओघव्व सण्णियामो दोण्ह अघाईण कम्माणं ॥३०८॥

(प्रे०) **'बंधंतो'** इत्यादि, सर्वेषु तेजोवायुभेदेषु सप्ततेजःकायभेदेषु सप्तवायुकायभेदेषु चेत्यर्थः । घातिगोत्रप्रकृतीनां पञ्चानां मध्येऽन्यतमस्या जघन्यानुभागं बध्नन् तत्तन्मार्गणावर्तिजीवः शेषचतुष्कस्य जघन्यानुभागं, षट्स्थानपतितमजघन्यानुभागं वा बध्नाति, अत्र केवलनीचैर्गोत्रस्य बन्धसद्भावेन गोत्रस्य सर्वविशुद्ध्या एव जघन्यानुभागो बध्यते अत एव घातिप्रकृतिभिः सह गोत्रस्यापि ग्रहणम् । भावना चात्र पूर्ववदवसेया । तदा आयुष्कं नैव बध्यते तीव्रविशुद्धिकाले आयुर्बन्धप्रायोग्यघोलनापरिणामस्याभावात् । वेदनीयनामकर्मणोः पुनरनन्तगुणाभ्यधिकमजघन्यानुभागमेव बध्नाति, तज्जघन्यानुभागबन्धप्रायोग्यपरावर्तमानपरिणामस्याभावात् ।

एवमत्र घातिगोत्राणां जघन्यानुभागबन्धस्य संनिकर्षं समादिश्य साम्प्रतं वेदनीयनामकर्मणोः संनिकर्षमोघवदतिदिशति–'ओघव्व' इत्यादि, द्वयोरघातिप्रकृत्योर्जघन्यानुभागबन्धस्य संनिकर्ष ओघवद् ज्ञातव्यः, कुतः ? श्रूयताम्–यासु मार्गणासु वेदनीयनामकर्मणोः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जघन्यानुभागबन्धसद्भावे सति गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धः संक्लेशेन विशुद्ध्या वा जायते न तु परावर्तमानमध्यमपरिणामेन, तत्र वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यानुभागबन्धस्य संनिकर्ष ओघवद् भवति, तद्यथा–वेदनीयनामकर्मणोरन्यतरस्य जघन्यानुभागबन्धकाले इतरस्य जघन्यानुभागः, षट्स्थानपतितोऽजघन्यानुभागो वा बध्यते । यद्यायुष्कस्य बन्धो भवति तदा एवमेव । घातिगोत्राणां पुनरजघन्यानुभागमनन्तगुणाभ्यधिकं बध्नाति ॥३०६।३०७।३०८॥

अथ यासु मार्गणासु सप्तानामपि कर्मणां जघन्यरसबन्धप्रस्तावे आयुर्नैव बध्यते तासु प्रकृतमाह–

आहारदुगे देसे परिहारे होई पढमणिरयव्व ।
घाईणोघव्व भवे मणपज्जवसंयमेसु च ॥३०९॥
सामाइअछेएसु इत्थिव्वोघव्व होइ अट्ठसु वि ।
तिण्ह अघाईण णवरि आउं णो चेव बंधेइ ॥३१०॥

(प्रे०) **'आहारदुगे'** इत्यादि, आहारद्विके- आहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोरित्यर्थः देशविरतिमार्गणायां परिहारविशुद्धिकसंयमे चेति चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्य सन्निकर्षः प्रथमनरकमार्गणावद् भवति, तद्यथा—चतसृषु अन्यतमस्या ज्ञानावरणादेर्जघन्यरसं

बध्नन् शेषाणां स्वभिन्नानां तिसृणां घातिप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यं, षट्स्थानपतितमजघन्यं वा रसं बध्नाति। तथा तिसृणामघातिप्रकृतीनामनन्तगुणाभ्यधिकमजघन्यमेव, आयुषस्तु बन्धमेव न करोति, इह घातिजघन्यरसबन्धकस्य विशुद्धतमत्वात्। तथा **'मणपज्जवसंयमेसु'** इति मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणयोः प्रत्येकं **'घाईण'** इति घातिकर्मणां जघन्यरसबन्धस्य सन्निकर्ष ओघवद् भवति, कुतः? ओघवदिहापि श्रेणेः सद्भावात्। ओघवच्चैवम्–ज्ञानावरणस्य जघन्यरसं बध्नन् दर्शनावरणाऽन्तरायलक्षणयोः शेषयोरपि द्वयोर्घातिकर्मणोर्जघन्यमेव रसं बध्नाति। मोहनीयस्याऽऽयुषश्च बन्धमेव न करोति, कुतः? इह सूक्ष्मसम्परायक्षपकस्यैव ज्ञानावरणादिजघन्यरसबन्धकत्वात्, तस्य च मोहनीयाऽऽयुषोरबन्धकत्वात्। मोहनीयं त्वनिवृत्तिबादरगुणस्थानकं यावदायुस्तु सप्तमगुणस्थानकं यावदेव बध्यते एवमेव दर्शनावरणाऽन्तराययोः प्रत्येकं संनिकर्षो वाच्यः। शेषत्रयाणामघातिनां प्रत्येकमनन्तगुणाभ्यधिकमजघन्यमेव रसं बध्नाति। तथा मोहनीयस्य जघन्यं रसं बध्नन् शेषत्रयाणां घातिनां त्रयाणामघातिनाञ्चाऽनन्तगुणाभ्यधिकमजघन्यमेव रसं बध्नाति। आयुस्तु न बध्नाति, तत्प्रायोग्यघोलनापरिणामाभावात्। तथा सामायिकछेदोपस्थापनीयमार्गणयोः प्रत्येकं जघन्यरसबन्धसन्निकर्षो वक्ष्यमाणस्त्रीवेदमार्गणावद् भवति तद्यथा–ज्ञानावरणाद्यन्यतमस्य जघन्यरसं बध्नन् शेषाणां त्रयाणामपि घातिकर्मणां जघन्यमेव रसं बध्नाति, अनिवृत्तिबादरगुणस्थानके चतुर्णामपि घातिनां युगपदेव बन्धविच्छेदात् बन्धविच्छेदसमय एव तज्जघन्यरसबन्धप्रवर्तनाच्च। तथा त्रयाणामघातिनां प्रत्येकमनन्तगुणाभ्यधिकमजघन्यमेव बध्नाति आयुस्तु बन्धमेव न करोति। अथाऽनन्तरोक्तास्वष्टास्वपि मार्गणास्वघातिनां जघन्यरसबन्धसन्निकर्षं दर्शयति–**'अट्ठसु वि'** इति अनन्तरोक्तास्वष्टसु प्रत्येकमघातिकर्मणां जघन्यरसबन्धस्य सन्निकर्ष ओघवद् भवति, कुतः? ओघवदिहाऽपि गोत्रस्य परावृत्त्या बन्धाभावात्। ओघवच्चैवम्–गोत्रस्य जघन्यं बध्नन् चतुर्णां घातिनां नामवेदनीययोश्चाऽनन्तगुणाऽभ्याधिकमजघन्यं बध्नाति। आयुषस्तु बन्धमेव न करोति। तथा नामवेदनीययोः प्रत्येकं जघन्यं बध्नन् चतुर्णां घातिनां गोत्रस्य चाऽनन्तगुणाऽभ्यधिकमजघन्यं बध्नाति स्वभिन्नस्य, शेषाघातिनो वेदनीयस्य नाम्नो वा जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा बध्नाति। ओघे आयुः कदाचिद् बध्यते कदाचिन्न इह तु आयुर्नैव बध्यते, यतः परावर्तमानपरिणामेन यदा अयशःकीर्त्तेरसातवेदनीयस्य च जघन्यरसो बध्यते तदैव मूलकर्माश्रित्य नामवेदनीययोर्जघन्यरस उच्यते, प्रस्तुतमार्गणासु एकस्य देवायुष एव बन्धः, तत्तु अयशःकीर्त्तेरसातवेदनीयस्य वा साकं नैव बध्यते देवायुर्बन्धकस्य नियमेन यशःकीर्त्ति-सातवेदनीययोरेव बन्धसद्भावात् अत एव मूले **'णवरि आउ णो चेव बंधइ'** इत्यादि गतार्थम् ॥३०९।३१०॥ अथ स्त्रीपुरुषवेदमार्गणाद्वये सप्तानां संनिकर्षमाह—

बंधंतो घाइस्स उ मंदरसं थीपुमेसु बंधेइ।

मंदं चिअ अणुभागं सेसाणं तिण्ह घाईणं ॥३११॥
आउं चेव ण बंधइ सेसाण रसं अणंतगुणअहियं ।
अजहण्णमघाईणं तिण्हं पढमणिरयव्व भवे ॥३१२॥

(प्रे०) **'बंधंतो'** इत्यादि, स्त्रीपुरुषवेदमार्गणाद्वये घातिप्रकृतीनामन्यतमस्या मन्दं रसं बध्नन् स्त्रीवेदी पुरुषवेदी च शेषाणां तिसृणां घातिप्रकृतीनां मन्दं-जघन्यमेव रसं बध्नाति क्षपकश्रेण्यां सर्वेषां स्त्रीवेदिनां पुरुषवेदिनां च स्वस्वमार्गणायाश्चरमसमये युगपदेव चतुर्घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्य सद्भावात्। आयुर्नैव बध्नाति, क्षपकश्रेण्यां घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्य सद्भावात् , वेदनीय-नामगोत्रलक्षणानां शेषाणां प्रकृतीनां पुनरनन्तगुणाधिकमजघन्यानुभागमेव बध्नाति । अथ तिसृणा-मघातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्य संनिकर्षं प्रथमनरकवदतिदिशति–**'अघाईण तिण्हं पढम-णिरयव्व भवे'** इति सुगमम् । अत्र गोत्रकर्मणोऽपि जघन्यानुभागबन्धः परावर्तमानपरिणामेन भवति, अत एव प्रथमनरकवदुक्तः । ॥३११॥३१२॥

सम्प्रति नपुंसकवेदमार्गणायां कषायत्रिके च संनिकर्षं दर्शयन्नाह–

णपुमे तिकसायेसुं इत्थिव्व भवे चउण्ह घाईणं ।
ओघव्व जाणियव्वो तिण्ह अघाईण कम्माणं ॥३१३॥

(प्रे०) **'णपुमे'** इत्यादि, नपुंसकवेदे, क्रोधमानमायाऽऽख्येषु त्रिकषायेषु च चतुर्घाति-प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्य संनिकर्षः स्त्रीवेदमार्गणावद् ज्ञातव्यः । कुतः ? उच्यते— स्त्रीवेदमार्गणावत् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकतोऽर्वागेव प्रस्तुतमार्गणानां विच्छेदात् ,चतुर्घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धो युगपदेव भवतीति कृत्वा च । तथा **'ओघव्व'** इत्यादि, तिसृणामघातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्य संनिकर्षं ओघवज्ज्ञेयः, वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यानुभागबन्धस्य परावर्तमान-परिणामेन गोत्रकर्मणस्तु ओघवत् परावर्तमानपरिणामं विना बध्यमानत्वात् ॥३१३॥

साम्प्रतमपगतवेदमार्गणायां सप्तानां जघन्यानुभागबन्धस्य संनिकर्षमाह—

ओघव्व जाणियव्वो अवगयवेए चउण्ह घाईणं ।
बंधंतो मंदरसं अण्णयराए अघाईए ॥३१४॥
बंधेइ जहण्णं चिअ रसं अघाईण दोण्ह सेसाणं ।
घाईण बंधइ रसं अजहण्णमणंतगुणअहियं ॥३१५॥

(प्रे०) **'ओघव्व'** इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां चतसृणां घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभाग-बन्धस्य संनिकर्षं ओघवद् ज्ञातव्यः, तासां जघन्यानुभागबन्धस्वामिनां सादृश्यात् । अथाऽघाति-

प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्य संनिकर्ष उच्यते-'**बंधंतो**' इत्यादि, वेदनीयनामगोत्ररूपाणामघातिप्रकृतीनां मध्ये अन्यतमस्या जघन्यानुभागं बध्नन्नपगतवेदी शेषयोर्द्वयोरघातिप्रकृत्योर्जघन्यमेव रसं बध्नाति । कुतः ? श्रृणु ! अस्यां मार्गणायां वेदनीयनामगोत्राणामेकैका शुभप्रकृतिर्बध्यते, ततः परावर्तमानपरिणामेन जघन्यानुभागो न बध्यते किन्तु संक्लेशेन तासां प्रशस्तत्वात् , स क्लेशश्च मार्गणायाश्चरमसमये श्रेणेरवरोहकानामुपशामकानामेव भवति,अत एव तिसृणां जघन्यानुभागबन्धस्य युगपदेव भवनात् त्र्यघातिप्रकृतीनां मध्ये एकतमस्या जघन्यानुबन्धकाले शेषयोर्द्वयोर्नियमाज्जघन्यानुभागबन्धो भवतीत्युक्तम् । तदा घातिप्रकृतीनामनन्तगुणाभ्यधिकमजघन्यानुभागमेव बध्नाति । भावना तु सुगमा ॥ ३१४।३१५॥

अधुना सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायामभिदधाति ।

मंदरसं घाइस्स उ अण्णयरस्स सुहमम्मि बंधंतो ।
बंधेइ जहण्णं चिअ अणुभागं दोण्ह घाईणं ॥३१६॥
तिअघाईण अमंदं बंधेइ रसं अणंतगुणअहियं ।
एमेव वच्चयेणं णेयो तिण्हं अघाईणं ॥३१७॥

(प्रे०) '**मंदरसं**' इत्यादि,सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां त्रिघातिनीनां ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायलक्षणानामन्यतमस्या मन्दरसं-जघन्यानुभागं बध्नन् द्वयोः शेषघातिप्रकृत्योर्जघन्यानुभागमेव बध्नाति, सूक्ष्मसम्परायस्य चरमसमये त्रिघातिनीनां युगपदेव जघन्यानुभागबन्धस्य सद्भावात् । त्र्यघातिनामनन्तगुणाधिकमजघन्यं रसं बध्नाति । अथाघातित्रयस्य जघन्यानुभागबन्धस्य संनिकर्षः प्रोच्यते-'**एमेव वच्चयेणं**'तिसृणामघातिप्रकृतीनामनन्तरोक्तप्रकारतो व्यत्ययेन संनिकर्षो ज्ञेयः । इदमुक्तं भवति-त्रिघातिप्रकृतीनां स्थाने त्र्यघातिप्रकृतयोऽभिधातव्याः, त्र्यघातिप्रकृतीनां स्थाने त्रिघातिप्रकृतयः कथयितव्याः । तद्यथा-त्र्यघातिनामन्यतमस्याः जघन्यानुभागबन्धं कुर्वन् शेषद्व्यघातिनां जघन्यानुभागमेव बध्नाति न तु षट्स्थानपतितमजघन्यानुभागमपि, त्रिघातिनां पुनरनन्तगुणाधिकमजघन्यानुभागमेव बध्नातीति । हेत्वादिभावनाऽपगतवेदमार्गणावद् विधेया ॥३१६।३१७॥

अथ प्रागुक्तशेषासु सर्वासु मार्गणासु एकगाथया सप्तानां जघन्यानुभागबन्धस्य संनिकर्षमाह-

सेसासु मग्गणासु चउण्ह घाईण पढमणिरयव्व ।
ओघव्व जाणियव्वो तिण्ह अघाईण कम्माणं ॥३१८॥

(प्रे०) '**सेसासु**' इत्यादि, शेषासु-प्राग्भणितोद्धरितासु-सप्तत्यधिकशतमार्गणाभ्यः प्राक्कथितसप्तत्रिंशदुत्तरशतमार्गणा वर्जयित्वा त्रयस्त्रिंशन्मार्गणास्वित्यर्थः, चतसृणां घातिप्रकृतीनां प्रथमनरकवज्जघन्यानुभागबन्धस्य, संनिकर्ष इति शेषः प्रस्तुतत्वात् । तद्यथा-चतुर्घातिप्रकृतीनां मध्ये

अन्यतमस्या जघन्यानुभागबन्धं विदधत् तत्तन्मार्गणावर्तिजीवः शेषत्रिघातिनां जघन्यानुभागं षट्स्थानवृद्धियुक्तमजघन्यानुभागं वा बध्नाति, आयुर्नैव बध्नाति, शेषत्रयघातिनामनन्तगुणाधिकमजघन्यानुभागबन्धमेव विदधाति, ननु प्रथमनरकादिमार्गणासु गोत्रप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन उक्तः ततस्तत्र घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकाले तस्याजघन्यानुभागबन्ध एव भवति, किन्त्वत्र कासुचिद् नरकसामान्यसप्तमनारकादिमार्गणासु गोत्रकर्मणो जघन्यानुभागबन्धो विशुद्धिनिबन्धनः ततो घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धेन सह गोत्रस्यापि जघन्यानुभागबन्धः कथं भवितुं नार्हति ? श्रूयताम्—अत्र घातिगोत्राणां जघन्यानुभागबन्धस्य भिन्नभिन्नस्थानीयविशुद्धिनिबन्धनत्वात् नैकत्र निर्देशः । तथाहि—नरकसामान्यसप्तमनरकमार्गणाद्वये गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धः सम्यक्त्वाभिमुखस्य चरमसमये भवति, घातिचतुष्कस्य पुनः सम्यग्दृष्टेः सर्वविशुद्धावस्थायामेव जायते, ततस्तयोर्जघन्यानुभागबन्धस्य भिन्नभिन्नस्थानसत्कविशुद्धिनिबन्धनत्वेन घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकाले गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धो भवितुं नार्हति, अपि त्वनन्तगुणाधिकोऽजघन्यानुभागबन्ध एवेति । एवं तिर्यग्गतिसामान्यमार्गणायां गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धस्तेजःकायवायुकायसत्कविशुद्धिनिबन्धनः, घातिचतुष्कस्य पुनर्देशविरतपञ्चेन्द्रियतिर्यक्सत्कविशुद्धिनिमित्तकः, एवमेवान्यत्रापि यथासम्भवं भावना विधेया ।

अथ तिसृणामघातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्य संनिकर्षमोघवदतिदिशति—'ओघव्व' इत्यादि, सुगमम्, ओघवत् कुतः ? अत्र वेदनीयनामकर्मणोः परावर्तमानपरिणामेन, गोत्रस्य पुनः संक्लेशेन विशुद्ध्या वा जघन्यानुभागबन्धस्य सद्भावादघातित्रयस्य संनिकर्ष ओघवदभिहितः, स चैवम्-वेदनीयनामकर्मणोरन्यतरस्य जघन्यानुभागबन्धं कुर्वन् तत्तन्मार्गणावर्तिजन्तुरन्यस्य जघन्यानुभागबन्धं षट्स्थानपतितमजघन्यानुभागबन्धं वा प्रकरोति, यद्यायुष्कं बध्नाति तदा एवमेव तस्य संनिकर्षो वाच्यः । चतुर्घातिगोत्रप्रकृतीनां पुनरनन्तगुणाधिकमजघन्यानुभागमेव विदधाति । गोत्रकर्मणो जघन्यानुभागं बध्नन् तत्तन्मार्गणावर्तिजीवो वेदनीयनामकर्मणोर्घातिचतुष्कस्य चानन्तगुणाभ्यधिकमजघन्यानुभागमेव निर्वर्तयति, आयुष्कस्य तु बन्धमेव न करोति, तीव्रविशुद्धत्वात् संक्लिष्टत्वाद् वा । शेषमार्गणा नामत इमाः—गतिमार्गणास्थानस्य नरकसामान्य-सप्तमनरक-तिर्यक्सामान्य-पञ्चानुत्तरदेवलक्षणा अष्टमार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य सर्वैकेन्द्रियमार्गणाः योगमार्गणास्थानस्यौदारिकमिश्र-वैक्रियवैक्रियमिश्रकार्मणकाययोगलक्षणाः चतुर्मार्गणाः, ज्ञानमार्गणास्थानस्य मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानलक्षणास्त्रिमार्गणाः, असंयममार्गणा, लेश्यामार्गणास्थानस्य कृष्णनीलकापोतलेश्यालक्षणास्त्रिमार्गणाः अभव्यमार्गणा; सम्यक्त्वमार्गणास्थानस्य वेदकमिश्रदृष्टिसास्वादनमिथ्यात्वलक्षणाश्चतुर्मार्गणाः, असंज्ञिमार्गणा, अनाहारकमार्गणा चेत्येताः त्रयस्त्रिंशन्मार्गणाः ॥३१८॥

तदेवं निरूपितः सप्तानां जघन्यानुभागबन्धस्य संनिकर्षः, साम्प्रतमायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धविषयकं संनिकर्षं दर्शयन्नाह—

आउस्स जहण्णरसं बंधंतो छपढमाइणिरयेसुं ।
सव्वपणिंदितिरियणरविगलिंदियभूदगवणेसुं ॥३१९॥
सुरगेविज्जंतेसु तहा अपज्जगपणिंदियतमेसुं ।
थीपुमसुहलेसासुं घाईण अणंतगुणअहियं ॥३२०॥
णियमा बंधइ लहुमुअ अलहुं छट्ठाणगयमघाईणं ।
आहारदुगे देसे मणपज्जवसंयमेसु तहा ॥३२१॥
सामाइअछेएसुं तह परिहारे अणंतगुणअहियं ।
अलहुं णियमा बंधइ सत्तण्होघव्व सेसासुं ॥३२२॥

(प्रे०) 'आउस्स' इत्यादि , षट् प्रथमादिषष्ठान्तनरकनारकाः , सर्वे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदास्ते च चत्वारः,सर्वे मनुष्यभेदास्तेऽपि चत्वारः, सर्वे विकलाक्षभेदास्ते च नव,'भू'इति सर्वे पृथ्वीकायभेदास्ते च सप्त. ' दग ' इति सर्वे अप्कायभेदास्तेऽपि सप्त, सर्वे वनस्पतिकायभेदाः ते चैकादश, ' सुर ' इति देवौघादयो ग्रैवेयकान्ताः सुरभेदाः पञ्चविंशतिः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, अपर्याप्तत्रसकायः, स्त्रीवेदः, पुरुषवेदः तिस्रः प्रशस्तलेश्याश्चेति सर्वसंख्ययाऽशीतौ मार्गणासु प्रत्येकमायुषो जघन्यरसं बध्नन् 'घाइण'इति चतुर्णां घातिनां प्रत्येकमनन्तगुणाभ्यधिकमेव रसं बध्नाति तथाभूतमजघन्यमित्यर्थः,आयुर्बन्धकस्य घोलनापरिणामत्वात् ,घातिनां जघन्यरसस्य तु सर्वविशुद्धयैव बध्यमानत्वात् । तथा 'अघाइणं' इति शेषाणां त्रयाणामघातिनां प्रत्येकं जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यमनुभागं वा बध्नाति। परावर्त्तमानपरिणामेन तज्जघन्यरसस्याऽपि बध्यमानत्वात् । तथा'आहारदुगे इत्यादि, आहारकतन्मिश्रकाययोगौ,देशविरतिः, मनःपर्यवज्ञानं,संयमौघः सामायिकं, छेदोपस्थापनीयं परिहारविशुद्धिसंयमश्चेति अष्टासु मार्गणासु प्रत्येकमायुषो जघन्यरसं बध्नन्नित्यनुवर्त्तते'सत्तण्ह' इति चतुर्णामपि घातिनां त्रयाणामपि शेषाघातिनाञ्चाऽनन्तगुणाभ्यधिकमजघन्यमेव रसं बध्नाति, तत्र घातिनां हेतुः पूर्ववत् । गोत्रस्य पुनः संक्लेशेन बध्यमानत्वात् , नामवेदनीययोः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वेऽपि आयुषो जघन्यरसबन्धकाले परावर्त्तमानप्रशस्तानामेव प्रकृतीनां बन्धात् ।

तथा'सेसासु'इति उक्तशेषासु पञ्चसप्ततौ मार्गणासु प्रत्येकं प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद् भवति, कुतः ? उच्यते—यथौघे तथैहापि घातिनां जघन्यरसो विशुद्धया,गोत्रस्य संक्लेशेन विशुद्धया वा, नामवेदनीययोः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यत इति कृत्वा। ओघवच्चैवम्--आयुषो जघन्यरसं बध्नन् चतुर्णां घातिनां गोत्रस्य चानन्तगुणाऽभ्यधिकमजघन्यं रसं बध्नाति, नामवेदनीययोः प्रत्येकं जघन्यमनन्तगुणाभ्यधिकमजघन्यं वेति । अथोक्तशेषा मार्गणाः—नरकौघः, सप्तमनरकः,

तिर्यगोघः, पञ्चाऽनुत्तरसुरभेदाः, सर्वे एकेन्द्रियभेदास्ते च सप्त, पञ्चेन्द्रियौघः, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, सप्त तेजःकायभेदाः, सप्त वायुकायभेदाः, त्रसकायौघः, पर्याप्तत्रसकायः, पञ्चमनोयोगाः, पञ्चवचोयोगाः, काययोगौघः औदारिकतन्मिश्रकाययोगौ, वैक्रियकाययोगः, नपुंसकवेदः,चत्वारः कषायाः, ज्ञानत्रिकम्, अज्ञानत्रिकम्, असंयममार्गणा, चक्षुर्दर्शनम्, अचक्षुर्दर्शनम्, अवधिदर्शनम्, तिस्रोऽप्रशस्तलेश्या भव्याभव्यौ उपशममिश्रदृष्टिवर्जपञ्चसम्यक्त्वमार्गणाः, संज्ञी, असंज्ञी आहारी चेति पञ्चसप्ततिः ।।३१९।३२०।३२१।३२२।।

तदेवं भणित आदेशतो जघन्यानुभागबन्धस्य संनिकर्षः । तद्भणने चावमित ओघादेशाभ्यां जघन्यानुभागबन्धस्य संनिकर्षः । तदवसाने च समाप्तमोघादेशाभ्यामुत्कृष्टजघन्यानुभागबन्धयोः संनिकर्षः । तत्समाप्तौ च गतं 'सण्णिगयासा' इत्यनेनोद्दिष्टं संनिकर्षद्वारम् ।

।। इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे नवमं संनिकर्षद्वारं समाप्तम् ।।



आयुःकर्मणो जघन्यरसबन्धस्य संनिकर्षप्रदर्शकं यन्त्रम्

ओघतः— आयुषो जघन्यरसं बध्नन्— घातिगोत्राणामजघन्यमनन्तगुणाधिकमेव, वेदनीयनाम्नोर्जघन्य वा अजघन्य षट्स्थानपतित वा बध्नाति । (गाथा२९६–२९७)

गाथा.	मार्गणाः	सर्वा -	आयु कर्मणो जघन्यरसं बध्नन्
३१९ ३२०	प्रथमादिषष्ठान्तनिरय०६ सर्वपञ्चे० तिर्यग्० ४, सर्व मनुष्य०४, देवग्रैवेयकान्त०२५, सर्वविकल०९, अपर्याप्त-पञ्चे०१, सर्वपृथ्व्यब्वन०२५,अपर्याप्तत्रस०१, स्त्रीपु०२ शुभलेश्या०३=	८०	घातिनामनन्तगुणाधिकमजघन्यमेव, अघातिना जघन्य षट्स्थानपतितमजघन्य वा बध्नाति ।
३२१ ३२२	आहारक-तन्मिश्र० मनःपर्यव० संयमौघ० सामा० छेदो० परिहार० देशवि०८=	८	सप्तानामजघन्यमनन्तगुणमभ्यधिकम् बध्नाति
३२२	नरकौघ० सप्तमनारक० तिर्यगोघ० पञ्चानुत्तर० सर्वैकेन्द्रिय० द्विपञ्चे० सर्वतेजोवायु० द्वित्रस० सर्वमनोवचो० काययोग औदा तन्मिश्र० वैक्रिय. नपु सर्वकषाय ज्ञानत्रिका-ऽज्ञानत्रिकासयम चक्षुरचक्षुरवधिदर्शन -अशुभलेश्या-भव्य. अभव्य० सर्वसम्यक्त्व०५, सञ्ज्य-सञ्ज्ञि आहारि =शेषासु	७५	ओघवत्—

* अष्टमूलप्रकृत्युत्कृष्टरसबन्धस्य संनिकर्षप्रदर्शकं यन्त्रम्

ओघत—(१)चतुर्घात्यन्यतमकर्मण: उत्कृष्टरसं बध्नन जीव: तद्वर्जघातिनामुत्कृष्ट षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा रस बध्नाति । अघातिना त्वनुत्कृष्टरसमनन्तगुणहीनमेव बध्नाति । आयुषोऽबन्धक: (गाथा २७३-४-५)

२) अघातित्रयान्यतमकर्मण उत्कृष्टरसं बध्नन तद्वर्जाघातिद्वयस्योत्कृष्टमेव बध्नाति,घातित्रयस्यानुत्कृष्टमनन्तगुणहीनमेव बध्नाति । मोहनीयायुषोरबन्धक एव । (गाथा २७५-६) (३) **आयुष उत्कृष्टरसं** बध्नन् सप्तानामनुत्कृष्टरसमनन्तगुणहीनमेव बध्नाति (गाथा २७५-२७६) ।

आदेशत –सर्वत्र (१६३ मा०) सप्तानामुत्कृष्टरसबन्धकाले आयुर्नैव बध्नाति, आयुष उ० बन्धकाले सप्तानामनन्तगुणहीनमनुत्कृष्टमेव रस बध्नाति । (गाथा-२७७ ८) सप्ताना सनिकर्षो निम्नलिखितयन्त्रकाद् ज्ञेय. ।

मार्गणा.	सप्तानाम् → **ओघवत्**	१घातिचतुष्कस्य ओघवत् २अघातित्रयान्यतमस्य उ० रसबध्नन् तदितरद्वयस्य उ० षटस्थान अनु वा। चतुर्घाति. अनन्तगुणहीनमनुत्कृ० बध्नाति	(१)चतुर्घातिगोत्रान्यतमस्य उ० रसं बध्नन तदितरघातिगोत्राणामुत्कृ०षट्स्थानपतितमनु० वा, वेदनीयनाम्नोरनुत्कृ० अनन्त गुणहीनम् । (२) **वेदनीयनाम्नोरन्यतरस्य उ० रसं बध्नन** तद्वर्जस्य उत्कृ० षट्स्थानपतितमनु०वा शेषपञ्चानामनुत्कृष्टमनन्तगुणहीनबध्नाति ।	(१) **घातिकर्मान्यतमस्य उ० रसं बध्नन** शेषघातिनामुत्कृ० एव अघातित्रयस्य अनु०अनन्त गुणहीनमेव २-अघातित्रयस्यान्यतमस्य उ रसं बध्नन्–**ओघवत्** सनिकर्ष: ।
गति०	त्रिमनुष्य ३	त्रिमनुष्यवर्ज-शेष० ४४		
इन्द्रि०	द्विपञ्चे० २	द्विपञ्चे०वर्जशेष १७		
काय०	द्वित्रस० २	द्वित्रसनवतेजोवायुवर्ज शेष० २६	सर्वतेजोवायुभेदा: १४	
योग०	सर्वमनोवचो० काय० औदा० १२	औ मिश्र, वैक्रियनम्मिश्र, आहा तन्मिश्र, कार्मण ६		
वेद०	त्रिवेद० ३ ★			अवेदक १
कषाय	लोभ० १, त्रिकषाय० ३★			
ज्ञान०	चतुर्ज्ञान० ४	अज्ञानत्रिक० ३		
संयम	संयमौघ० १ सामा० छेदो० २ ★	परिहार० देशवि० असंयम० ३		सूक्ष्मसम्पराय
दर्शन.	त्रिदर्शन० ३			
लेश्या	शुक्ल० १	शुक्लवर्जशेष० ५		
भव्य०	भव्य० १	अभव्य० १		
सम्य०	सम्य०,क्षायिक०, उपशम०, ३	वेदक० मिश्र० सास्वा० मिथ्या० ४		
संज्ञि०	संज्ञि० १	असंज्ञि० १		
आहा०	आहारि० १	अनाहारि० १		
सर्वमा०:-	३५+८ ★	१११	१४	२
गाथाङ्क	-२७९-८०,२८५-६	२८९-२९०	२८१-२-३-४	२८७-२८८

★ वेदत्रिक-कषायत्रिक-सामायिकछेदोपस्थापनीयाऽष्ट (८) मार्गणासु अघातित्रयस्योत्कृष्टरसबन्धकाले मोहनीयस्यापि अनुत्कृष्टरसमनन्तगुणहीनमेव बध्नाति, शेषमोघवत् (गाथा २८५-२८६) ।

* आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य संनिकर्षप्रदर्शकं यन्त्रम् *

ओघत-(१) **मोहवर्जघातित्रयान्यतमस्य जघन्यरसं बध्नन्** इतरघातिद्वयस्य नियमाद् जघ० रस, शेषाघातित्रयस्य अजघ० अनन्तगुणाधिकमेव बध्नाति, मोहनीयायुषो. अबन्धक एव ।
(३) **मोहनीयस्य जघन्यरस बध्नन**–आयुषोऽबन्धक एव । शेषषण्णामजघन्यमनन्तगुणाधिकमेव बध्नाति ।

(२) **वेदनीयनाम्नोरन्यतरस्य जघन्यरसं बध्नन**– इतरस्य जघन्यरसं षट्स्थानपतितम् अज० वा, घातिगोत्राणाम् अजघ० अनन्तगुणाधिकमेव बध्नाति । आयुषोऽबन्धको बन्धको वा, जघ० अजघ० षट्स्थानपतित वा बध्नाति ।
(४) **गोत्रस्य मोहनीयवत्** संनिकर्ष । (गा २९१तः२९५)
आदेशत -सप्ताना संनिकर्ष निम्नलिखितयन्त्रकादवसेय ।

गाथा०	मार्गणा	मार्ग	सप्तानां संनिकर्षः-
२९८ २९९	द्विपञ्चे० द्विग्रस० ५मनोवचो० १०, काययोग० औदा० लोभ० त्रिज्ञान० त्रिदर्शन० भव्य०सम्यक्त्वौघ० क्षायिक० उपशम० सज्ञि० आहारि०=	२९	**ओघवत्**
३०० तः ३०४	प्रथमादिषष्ठान्तनरक०६, सर्वपञ्चेन्द्रियतिर्यग् ४,अपर्याप्तमनुष्य०, देवौघग्रैवेयकान्ताः २५, सर्वविकल० ९, अपर्याप्तपञ्चे०सर्वपृथ्व्यब्वन २५ अपर्याप्तत्रस०तेज - पद्मलेश्या० २=	७४	(१) **चतुर्घात्यन्यतमस्य जघ० रसं बध्नन** तदितरघातिना जघ० षट्स्थान० अजघ० वा, अघातित्रयस्य अजघ० अनन्तगुणाधिक बध्नाति । आयुषोऽबन्धक एव । (२) **अघातित्रयान्यतमस्य जघ० रसं बध्नन**–तदितरद्वयस्य जघ वा अजघ, षट्स्थान वा, घातिनामजघन्यमनन्तगुणाधिकमेव, आयुषोऽबन्धको बन्धको वा, जघ० अजघ० षट्स्थान० वा बध्नाति०
३०५	त्रिमनुष्य० शुक्ललेश्या०=	४	घातिचतुष्कस्य–ओघवत् अघातित्रय प्रथमनरकवत्
३०६ ३०७ ३०८	सर्वतेजोवायुभेदा =	१४	चतुर्घातिगोत्रान्यतमस्य जघ० रस बध्नन–तदितरेषा जघ० वा अजघ० षट्स्थान० वा,वेदनीयनाम्नोरजघन्यमनन्तगुणा० आयुषोऽबन्धक एव । **वेदनीयनाम्नो** संनिकर्ष ओघवत् ।
३११ ३१२	स्त्री० पुरुषवेद०=	२	**चतुर्घात्यन्यतमस्य जघ० रसं बध्नन** शेषघातिना नियमाद् जघ० अघातित्रयस्याजघन्यमनन्तगुणाधिक बध्नाति आयुषोऽबन्धक अघातित्रय →**प्रथमनरकवत्**
३१३	नपुंसकवेद-त्रिकषाय० (लोभवर्ज०)	४	घातिचतुष्कस्य →स्त्रीवेदवत्, **अघातित्रयस्य ओघवत्**
३०९-१०	आहारक-तन्मिश्रयोग० २, देशविरति० परिहार०=	४	घाति-प्रथमनरकवत्, अघातिनामोघवत् ,आयुर्न बध्नाति
,,	सामायिक-छेदोपस्थापन०=	२	,, स्त्रीवेदवत् ,, ,, ,, ,, ,, ,,
,,	मनःपर्यवज्ञान०संयमौघ०=	२	,, ओघवत् ,, ,, ,, ,, ,, ,,
३१४ ३१५	अपगतवेद०	१	घाति →ओघवत् अघातित्रया जघन्यं बध्नन् तदितरद्वयस्य जघ एवघातिनामजघन्यमनन्तगुणाधिकं बध्नाति
३१६ ३१७	सूक्ष्मसम्पराय०	१	मोहवर्जत्रिघातिनां संनिकर्ष ओघवत् अघातित्रयस्य अपगतवेदवत् नवरं मोहनीयेन सह संनिकर्षो न वाच्यः ।
३१८	**शेषासु**–नरकौघ-सप्तमनरक-पञ्चानुत्तर-तिर्यगोघ० ८ सर्वैकेन्द्रिय ७,औदारिकमिश्र-वैक्रिय-तन्मिश्र-कार्मण ४ अज्ञानत्रिक०३, असंयम०१, अशुभले०३,अभव्य १. वेदक-मिश्रदृ-सास्वा०-मिथ्या०४ असंज्ञि० १, अनाहारि० १	३३	घातिचतुष्कस्य →संनिकर्षः प्रथमनरकवत् अघातित्रयस्य→ ,, ओघवत्

।। अथ दशमं भङ्गविचयद्वारम् ।।

तदेवं संनिकर्षद्वारमभिधाय साम्प्रतं 'यथोद्देशं निर्देश' इतिन्यायात् क्रमप्राप्तं दशमं भङ्गविचयद्वारं निगदितुमनाः प्रथमं तावद् भङ्गानां संख्यां स्वरूपं च दर्शयन्नाह—

भंगाऽट्ठ बंधगो खलु पढमो दुइओ अबंधगो तइओ ।
सव्वेवि बंधगा तह सव्वेवि अबंधगा तुरिओ ।।३२३।।
एगेण बंधगेणं एगेऽणेगे अबंधगा कमसो ।
णेगेहि बंधगेहिं सह एवं पंचमाइचऊ ।।३२४।।

(प्रे०) भङ्गविचयो नाम भङ्गानामेकद्व्यादिसंयोगनिष्पन्नानां विकल्पानां विचयः समूह इति शब्दार्थः, भावार्थः पुनरेवम्- विवक्षितपदार्थानामेकद्वित्रिचतुरादिपदार्थसंयोगैरनेकभङ्गा निष्पद्यन्ते एवं प्रकारेण निष्पादिता निष्पन्नाश्चानेकभङ्गा आगमादिग्रन्थेषु दरीदृश्यन्ते, परमत्र तूत्कृष्टानुभागादीनां बन्धकाबन्धकपदयोरेकवचनबहुवचनाभ्यां भङ्गा निष्पाद्यन्ते। तत एकसंयोगेन चत्वारो भङ्गाः, द्विसंयोगेन चत्वारो भङ्गा लभ्यन्ते,तत्स्वरूपन्तु अनन्तरवक्ष्यमाणकरणस्वरूपप्ररूपणानन्तरं वक्ष्यामः ।

अथ विनेयानुग्रहार्थं ग्रन्थान्तरतस्तेषां भङ्गगणितस्य सुबोधार्थं एकद्वित्र्यादिसंयोगभङ्गानामानयनाय करणमुच्यते—सर्वतः प्रथममध्रुवपदानां संख्या उत्क्रमेण स्थाप्या, तदधस्ताच्च भजनीयपदानां संख्या एकादिक्रमेण स्थाप्या,—इहोदाहरणार्थं पञ्चाऽध्रुवपदानि कल्प्यन्ते, प्रस्तुते च तदनन्तरं दर्शयिष्यामः । अथोदाहरणम् उत्क्रमेणादौ पञ्चकं ततः चतुष्कं ततः त्रिकं ततः द्विकं ततश्चैकमिति,तदधस्तात् भजनीयपदान्येकादिक्रमेण स्थाप्यानि। तच्चैवं पञ्चकस्याधस्तात् एकम् , चतुष्कस्याधस्तात् द्विकम्, त्रिकस्याधस्तात् त्रिकम्, द्विकस्याधस्तात् चतुष्कम् , एकस्याधस्तात् पञ्चकमिति । न्यासश्चैवम्— { ५–४–३–२–१
१–२–३–४–५

ततः किं कर्तव्यम् ? उच्यते–उपरितनो राशिः अधस्तनेन राशिना भक्तव्यः,अर्थाद् उपरितना अङ्का अंशत्वेन संजाताः, अधस्तनाश्च अङ्काः छेदत्वं प्राप्ताः, ततश्च संख्या इत्थं स्यात्—

$\frac{५}{१}$, $\frac{४}{२}$, $\frac{३}{३}$, $\frac{२}{४}$, $\frac{१}{५}$, एवं सति यद्येकसंयोगभङ्गान् लब्धुमिष्यते तदा अनन्तरोक्ता प्रथमसंख्या यावती भवति, तावत्संख्याकाः भङ्गा एकसंयोगेन लभ्यन्ते, अत्र प्रथमसंख्या $\frac{५}{१}$, ततः पञ्चसंख्याका एकसंयोगभङ्गाः प्राप्ताः । द्विसंयोगभङ्गानामानयनाय प्रथमसंख्या द्वितीयसंख्यया हन्यते, अर्थात् एकसंयोगभङ्गसंख्या द्वितीयाङ्केन ताडयते तदा द्विसंयोगभङ्गा लभ्यन्ते—ततः प्रस्तुतोदाहरणे $\frac{५}{१} \times \frac{४}{२} = १०$ विकल्पाः द्विसंयोगेन लब्धाः । तथा त्रिसंयोगभङ्गानानेतुं प्रथमद्वितीयतृतीयसंख्याः परस्परेण ताडयन्ते, अर्थाद् द्विसंयोगभङ्गसंख्या तृतीयाङ्केन गुण्यते तदा त्रिसंयोगेन विकल्पा अवाप्यन्ते, यथाऽत्र—$\frac{५}{१} \times \frac{४}{२} \times \frac{३}{३} = १०$ विकल्पा अवाप्ताः । तथा चतुःसंयोगभङ्गानयनार्थं प्रथम-

द्वितीयतृतीयचतुर्थसंख्याः परस्परेण संताड्यन्ते, अर्थात् त्रिसंयोगभङ्गानां या संख्या, सा चतुर्थाङ्केन विहन्यते तदा चतुःसंयोगभङ्गाः समवाप्यन्ते, तद्यथा–त्रिसंयोगभङ्गसंख्या १० × चतुर्थाङ्केन $\frac{२}{४}$ गुणिते = ५ पञ्चसंख्याकाः चतुःसंयोगभङ्गा लब्धाः। तथा पञ्चसंयोगभङ्गानानेतुं प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमसंख्याः रस्परेण ताड्यन्ते, अर्थाच्चतुःसंयोगभङ्गसंख्या पञ्चमाङ्केन गुण्यते तदा पञ्चसंयोगभङ्गानां प्राप्तिः। तद्यथा– $\frac{५}{१} \times \frac{१}{५}$ = १ ततश्च पञ्चसंयोगभङ्ग एक एव लब्धः। यदि भजनीयपदानां संख्या अतोऽप्यधिकतरा तदा अनया रीत्या अग्रेऽपि षडादिसंयोगभङ्गा आनेतव्या इति।

अथ एकादिसंयोगविकल्पेषु एकानेकादिभेदेन भङ्गानानेतुं करणमभिधीयते–यदि एकवचनं बहुवचनं चेति द्वे पदे, तदा एकसंयोगभङ्गानामधस्तात् द्विकं स्थापयितव्यं ततः परमुत्तरोत्तरं द्विगुणं द्विगुणं स्थापयितव्यम्, तद्यथा–द्विसंयोगभङ्गानामधस्तात् चतुष्कं स्थाप्यम्, त्रिसंयोगभङ्गानामधस्तात् अष्टौ स्थाप्याः, चतुःसंयोगभङ्गानामधस्तात् षोडश स्थाप्याः एवमुत्तरोत्तरं द्विगुणं कृत्वा तत्तत्संख्याकसंयोगभङ्गानामधस्तात् स्थापनीयाः। ततः किं कर्तव्यम्? उच्यते–उपरितनराशिः अधःस्थापितया संख्यया गुणयितव्यः। प्रस्तुतोदाहरणे न्यासश्चैवम्—

एकसं०	द्वि० सं०	त्रि० सं०	चतु सं०	पञ्चसं०	
५	१०	१०	५	१	
२	४	८	१६	३२	
१०	४०	८०	८०	३२	=२४२

अतोऽत्र भजनीयपदानां संकलिताः सर्वे भङ्गा जाता द्वाचत्वारिंशदुत्तरद्विशतप्रमिताः।

यदि एकवचनेन द्विवचनेन बहुवचनेन च इति त्रिपदविचारः तदा एकसंयोगभङ्गानामधस्तात् त्रिकं स्थापयितव्यम्, ततः परं त्रिगुणं त्रिगुणं स्थापयितव्यम्, एवं चतुर्थादिपदेषु चतुरादिभिः गुणयितव्यमिति।

ननु, भवद्भिः केवलाध्रुवपदानां भङ्गानयनार्थं करणमुक्तम्, किन्तु ध्रुवाध्रुवसर्वपदानां भङ्गानयनार्थं किं कर्तव्यम्? इति तु लेशमात्रमपि नाऽभिहितम्? सत्यम्, त्वं तु भङ्गगणिते अतीव कुशलो दृश्यते, यत् त्वच्चित्ते एवंविधः प्रश्नः संजायते, शृणु–यदा ध्रुवाध्रुवाणि द्विविधानि पदानि सन्ति, तदा अध्रुवपदभङ्गाः ये समागताः, तन्मध्ये एकरूपस्य प्रक्षेपः कर्तव्यः, ध्रुवपदानां सर्वदैव प्राप्यमाणत्वेन एक एव भङ्गो लभ्यते, तेन प्रस्तुतोदाहरणे भजनीयपदभङ्गाः एकेन भङ्गेन युतास्ते जातास्त्रयश्चत्वारिंशदुत्तरद्विशतप्रमिताः (ध्रुवपदकल्पनेन २४२+१=२४३)इति।

अथ प्रस्तुते घटना क्रियते—अत्र भङ्गविचयद्वारे बन्धकाबन्धकलक्षणे द्वे अध्रुवपदे ततश्चादौ भजनीयपदानां संख्योत्क्रमेण स्थापनीया, तदधस्तात् च क्रमेण न्यासः $\frac{२}{१}$ $\frac{१}{२}$, ततः उपरितनो राशिः अधस्तनेन राशिना भक्तव्यः, प्राप्ता लब्धिस्तु क्रमेण द्वे, द्विभागः, न्यासः–२, $\frac{१}{२}$, प्रथमाङ्कः एकसंयोगभङ्गकत्वेन प्राप्यते अत एव एकसंयोगेन द्वौ भङ्गौ लब्धौ। प्रथमाङ्कः द्वितीयसंख्यया विह-

न्यते तदा द्विसंयोगविकल्पः प्राप्यते,अत एव द्विसंयोगेन एक एव विकल्पः प्राप्तः,न्यासः $२ \times \frac{१}{२} = १$ । अत्र पुनरेकानेकभेदाभ्यां भङ्गा इष्यन्ते,अतः एकसंयोगभङ्गयोरधस्तात् द्विकं स्थाप्यम् , द्विसंयोगभङ्गस्याधस्तात् चतुष्कं स्थापनीयम् ,उत्तरोत्तरं द्विगुणमिति वचनात् । न्यासश्चैवम्-

२	१
×२	×४
४	४

तत एकसंयोगविकल्पाश्चत्वारः, द्विसंयोगभङ्गा अपि चत्वार इत्युक्तम् ।

अथाष्टानां भङ्गानां समुत्कीर्तनं क्रियते–तद्यथा (१) स्यादेकबन्धक एव, इति प्रथमभङ्गः । (२) स्यादेकोऽबन्धक एव,इति द्वितीयभङ्गः । (३)स्यात् सर्वे बन्धकाः इति तृतीयभङ्गः । (४)स्यात् सर्वेऽबन्धका इति चतुर्थभङ्गः इति चत्वार एकसंयोगभङ्गाः । (५) स्यादेक एव बन्धक एक एवाऽबन्धक इति पञ्चमो भङ्गः । (६) स्यादेक एव बन्धकः, अनेकेऽबन्धकाः इति षष्ठभङ्गः । (७) स्यादनेके बन्धका एक एवाऽबन्धक इति सप्तमभङ्गः । (८) स्यादनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका इति अष्टमभङ्गः, इति चत्वारो द्विसंयोगभङ्गाः । उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याजघन्यानुभागानां प्रत्येकमेते एवाष्टौ भङ्गा ज्ञातव्याः । एतदेवात्र ग्रन्थकृद् निरूपयति–**'भंगाऽट्ठ'** इति अत्र भङ्गविचयप्ररूपणायामष्टौ भङ्गाः सन्ति । अथाष्टानामपि विकल्पानां क्रमशः स्वरूपं दर्शयति–**'बन्धगो खलु पढमो'** इति-अष्टभङ्गानां मध्ये प्रथमो भङ्गो 'बन्धकः' सिविभक्त्यन्तत्वेनैकत्वं प्राप्यते तत 'एको बन्धकः' इति । तथा खलुशब्द एवकारार्थकः, ततश्च 'एक बन्धक एव' इत्यर्थो लभ्यते । "यत एवकारस्ततोऽन्यत्र व्यवच्छेदः" इति न्यायेनाऽबन्धकानां व्यवच्छेदः । तेनैकबन्धकस्य सत्त्वेऽपि पञ्चमषष्ठभङ्गाभ्यां सह न साङ्कर्यम् । **अयम्भावः**-यदा विवक्षितमार्गणायां विवक्षितकर्मणो विवक्षितोत्कृष्टादिरसस्य बन्धक एक एव जीवः स्यात् , तथा तदितरस्यानुत्कृष्टादिरसस्य बन्धकः कोऽपि जीवो न स्यात् , तदा तस्यां मार्गणायां तस्य कर्मणः तस्योत्कृष्टादिरसस्य एकबन्धक एव इति-स्वरूपः प्रथमभङ्गः प्रवर्तते, यत्र पुनरुत्कृष्टादिरसस्यैको बन्धक एकश्चाबन्धकः, अनेके वाऽबन्धकाः तत्र यथाक्रमं पञ्चमषष्ठभङ्गयोः प्रवृत्तिः । तदेवं विषयविभागस्य व्यवस्थितत्वात् न साङ्कर्यम् ।

अथ द्वितीयभङ्गस्वरूपमाह–**'बितीयोऽबन्धकः'** इति, अत्राप्यबन्धकस्य सिविभक्त्यन्तत्वादेकत्वं प्राप्यते ; पूर्वोक्तखलुशब्दस्याऽत्रापि योजनात् द्वितीयो भङ्गः "एकोऽबन्धक एव" इति । योजितेनैवकारार्थकखलुशब्देन बन्धकानां व्यवच्छित्तिः, तेन पञ्चमे भङ्गे सप्तमे च भङ्गेऽबन्धकस्यैकत्वेऽपि न तयोर्द्वितीयभङ्गेन सह साङ्कर्यम् । एवमग्रेऽपि एवकारफलं भावनीयम् ।

अत्रेदं तात्पर्यम्-यदा कस्याश्चिद् मार्गणायां विवक्षितकर्मणो विवक्षितोत्कृष्टादिरसस्याबन्धक एक एव जीवः स्यात् , स एव च तदितरस्यानुत्कृष्टादिरसस्य बन्धकः स्यात् , तदा तस्योत्कृष्टादिरसस्य 'एकाबन्धक एव' इतिस्वरूपो द्वितीयभङ्गः संभवति । अर्थाद् यदाऽनुत्कृष्टरसस्य प्रथमो भङ्गः संभवेत् तदोत्कृष्टरसस्य द्वितीयो भङ्गः संभवेत् । एवं यदोत्कृष्टरसस्य प्रथमो भङ्गः संभवेत् तदाऽनुत्कृष्टरसस्य द्वितीयः । एवमेव जघन्याजघन्यानुभागविषयेऽपि बोध्यम् ।

इदानीं तृतीयभङ्गमाह–**'तइओ सव्वे वि बंधगा'** इति सर्वेऽपि बन्धकाः; अपिशब्द एवकारार्थकः भिन्नक्रमश्च, ततः सर्वे बन्धका एव इति तृतीयभङ्गः, यदि विवक्षितमार्गणायां विवक्षितकर्मणो विवक्षितोत्कृष्टादिरसस्य बन्धका जीवा अनेके स्युः, तदितरस्य चानुत्कृष्टादिरसस्य बन्धकः कोऽपि जीवो न स्यात्, तदा तस्योत्कृष्टादिरसस्य सर्वे बन्धका इतिस्वरूपः तृतीयभङ्गः।

अथ चतुर्थभङ्गस्वरूपमाह–**'तह'** इत्यादि, तथाशब्दः समुच्चये, सर्वेऽबन्धका एव इति चतुर्थभङ्गः। **अयम्भावः**-यदि विवक्षितमार्गणायां विवक्षितकर्मणो विवक्षितोत्कृष्टादिरसस्यानेके जीवा अबन्धका भवेयुः, ते एव च तदितरस्यानुत्कृष्टादिरसस्य बन्धकाः स्युः, तदा तस्यां मार्गणायां तस्य कर्मणस्तस्योत्कृष्टादिरसस्य सर्वेऽबन्धका इति तुर्यभङ्गः संभवति। ततश्चेदमायातम्–यदानुत्कृष्टरसस्य तृतीयो भङ्गः संभवेत्, तदोत्कृष्टरसस्य चतुर्थः। एवं यदोत्कृष्टरसस्य तृतीयो भङ्गः संभवेत् तदा-ऽनुत्कृष्टरसस्य चतुर्थः, एवमेव जघन्याजघन्यरसविषयेऽपि ज्ञेयम्। इदानीं द्विसंयोगभङ्गान् वक्तुमुपचिक्रमयिषुरादौ तावत्पूर्वार्धेन पञ्चमषष्ठौ भङ्गौ निर्वक्ति–**'एगेण'** इत्यादि, एकेन बन्धकेन इत्यत्र सहशब्दाभावेऽपि सहार्थस्य गम्यमानत्वात् "सहार्थे" (सिद्धहेम २.२.४५) इत्यनेन सूत्रेण बन्धकशब्दात् तृतीया विभक्तिः विहिता। 'क्रमशः' क्रमेण 'एकोऽनेकेऽबन्धकाः'-एकोऽबन्धकः अर्थवशाद् वचनविपरिणामात्, अनेकेऽबन्धकाश्च। अनेकैर्बन्धकैः सह 'एवं'-यथैकबन्धकेन सह दर्शितौ द्वौ भङ्गौ तथैव एकोऽबन्धकः, अनेकेऽबन्धकाश्च। ततः किं भवति ? इत्यत आह–**'पंचमाइचऊ'** पञ्चमादिचत्वारः-पञ्चमप्रभृत्यष्टमपर्यवसानाश्चत्वारो भङ्गा भवन्ति। तद्यथा–एको बन्धक एकश्चा-ऽबन्धक इति पञ्चमभङ्गः, एको बन्धकोऽनेकेऽबन्धका इति षष्ठो भङ्गः। अनेके बन्धका एकाबन्धक इति सप्तमभङ्गः। अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका इत्यष्टमो भङ्गः।

भावना पुनरेवम्–यदा विवक्षितमार्गणायां विवक्षितकर्मणो द्वावेव बन्धकौ स्याताम्, तयोरेको विवक्षितोत्कृष्टादिरसस्य बन्धकः स्यात्, अन्यश्चाबन्धकः स्यात्, तदा तस्योत्कृष्टादिरसस्य 'एक एव बन्धक एक एवाबन्धक' इतिस्वरूपः पञ्चमो भङ्गः संभवति। ततश्चेदं समापतितम्–यदोत्कृष्टरसस्य पञ्चमो भङ्गः संभवेत, तदाऽनुत्कृष्टरसस्यापि पञ्चमो भङ्ग इति। एवं जघन्याजघन्यरसविषयेऽपि ज्ञेयम।

यदा चानेके जीवा बन्धकाः स्युः, तेष्वेक एव विवक्षितरसस्य बन्धकः स्यात्, तदन्ये चाबन्धकाः स्युः, तदा तस्य रसस्य 'एक एव बन्धकोऽनेकेऽबन्धकाः' इतिस्वरूपः षष्ठो भङ्गः संभवति। यदा विवक्षितमार्गणायां विवक्षितकर्मणो बन्धका अनेके जीवाः स्युः, तेष्वेक एव जीवो विवक्षितोत्कृष्टादिरसस्याबन्धकः स्यात्, तदन्ये च बन्धकाः स्युः, तदा तस्योत्कृष्टादिरसस्य 'अनेके बन्धका एक एवाबन्धक' इति सप्तमो भङ्गः संभवति। ततश्चेदं समापतितम्–यदोत्कृष्टरसस्य षष्ठो भङ्गः संभवेत्, तदानुत्कृष्टरसस्य सप्तमः संभवेत्। एवं यदाऽनुत्कृष्टरसस्य षष्ठो

भङ्गः संभवेत् , तदोत्कृष्टरसस्य सप्तमः संभवेत् । एवं जघन्याजघन्यविषयेऽपि वक्तव्यम् । यदि चानेके जीवा बन्धकाः स्युः अनेके चाबन्धकाः स्युः, तदा 'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धकाः' इत्यष्टमो भङ्गः संभवति । ततश्चेदं प्राप्तम्-यदोत्कृष्टरसस्याष्टमो भङ्गः संभवेत् , तदाऽनुत्कृष्टरसस्यापि स एव संभवेत् । एवं यदाऽनुत्कृष्टरसस्याष्टमो भवेत् , तदोत्कृष्टरसस्यापि स एव । एवं जघन्याजघन्यरसविषयेऽपि बोध्यम् ॥३२३।३२४॥

इदानीमत्राऽबन्धकाः कथम्भूता ग्राह्या इति निर्दिशति–

अत्थ खलु भंगविचये तप्पडिपक्खस्स बंधगा जेऽत्थि ।
ते च्चिअ अबंधगा खलु णेया तस्स अणुभागस्स ॥३२५॥

(प्रे०) 'अत्थ' इत्यादि, अत्र प्ररूपणविषये भङ्गविचये तत्प्रतिपक्षस्य-तस्य उत्कृष्टादिरसस्य प्रतिपक्षो योऽनुत्कृष्टादिरसः तस्य बन्धका ये जीवाः सन्ति, ते कीदृशाः ? इत्याह–'ते च्चिअ' इत्यादि, ते एव जीवाः 'खलु' वाक्यालङ्कारे, तस्य उत्कृष्टादिरसस्य अबन्धका द्रष्टव्याः ।

इदमत्र हृदयम्–भङ्गविचये अबन्धप्रयुक्तभङ्गेषु सामान्यतोऽनुभागस्याबन्धका अबन्धकत्वेन न ग्राह्याः, किन्तूत्कृष्टरसस्य प्रतिपक्षभूतो योऽनुत्कृष्टरसस्तस्य बन्धकाः ये जीवास्त एव जीवा उत्कृष्टरसस्याबन्धकत्वेन ग्राह्याः । एवमनुत्कृष्टरसस्य प्रतिपक्षभूतो यः उत्कृष्टरसस्तस्य बन्धका ये जीवाः, ते एव जीवा अनुत्कृष्टरसस्याबन्धकत्वेन ग्राह्याः । एवं जघन्याजघन्यरसविषयेऽपि बोध्यम् । अन्यथा वक्ष्यमाणभङ्गानामनुपपत्तिः स्यात् । यथा-अनन्तरगाथामध्ये सामान्यवक्तव्यतायामनुत्कृष्टरसस्य "इयरस्स तिण्णि भंगा तिअसत्तमअट्ठमा णेया"इति ग्रन्थेन तृतीयसप्तमाष्टमा-भङ्गा निरूपयिष्यन्ते । तत्र तृतीयसप्तमभङ्गौ नोपपद्येते , तद्यथा–"सर्वे बन्धकाः" इति हि तृतीयो भङ्गः, उक्तनियमाभावे सिद्धा उपशान्तमोहादिगुणस्थानवर्तिनश्च जीवा अत्राबन्धकत्वेन गृहीतुं शक्यन्ते, सामान्यतोऽपि तेषामनुभागबन्धाभावात् । ततः 'सर्वे बन्धकाः' इति तृतीयभङ्गो घटां नाश्वति,एवम्-'अनेके बन्धका एक एवाबन्धकः'इति सप्तमो भङ्गोऽपि न संभवेत् ,उक्तनियमाभावे अनेकेषां सिद्धादीनामबन्धकत्वेन गृहीतुं शक्यत्वात् । ततः केवलम् 'अनेके बन्धका अनेके अबन्धका-'इत्यष्टम एव भङ्गो घटेत् , अष्टकर्मणामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानामनेकेषां संसारिजीवानामबन्धकानां चानेकेषां सिद्धानां सर्वदैव प्राप्यमाणत्वात् । किन्तु तृतीयसप्तमौ भङ्गौ इष्येते एव, ततो निरुक्तनियमः कक्षीकरणीयः, कक्षीकृते च तस्मिन् सिद्धादयोऽबन्धकत्वेन गृहीतुं न शक्यन्ते, तेषां विवक्षितानुभागात् प्रतिपक्षानुभागस्याबन्धकत्वात् । एवं तृतीयसप्तमभङ्गयोरपि घटनाद् न काऽप्यनुपपत्तिः ॥३२५॥

साम्प्रतमोघतोऽष्टकर्मणामुत्कृष्टमनुत्कृष्टं चानुभागबन्धमधिकृत्य संभवतो भङ्गान् वक्तुकामः प्राह–

तिव्वरसस्स विगप्पा तिण्णि तुरिअछट्ठअट्ठमाऽट्ठण्हं ।
इयरस्स तिण्णि भंगा तिअसत्तमअट्ठमा णेया ॥३२६॥

(प्रे०) **'तिव्वरसस्स'** इत्यादि, अष्टप्रकृतीनां तीव्ररसस्य-उत्कृष्टानुभागस्य तुर्यषष्ठाष्टमाः 'सर्वेऽबन्धका' इति चतुर्थभङ्गः,'एक एव बन्धकः, अनेकेऽबन्धका'इति षष्ठो भङ्गः'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका' इत्यष्टमो भङ्गः इति त्रयो विकल्पाः–भङ्गाः संभवन्तीति पूर्वार्धः ।

भावार्थः पुनरेवम्–ओघे आदेशे वा यत्रोत्कृष्टरसबन्धका वा जघन्यरसबन्धका वा असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः ततोऽप्यधिका वा भवन्ति तत्रोत्कृष्टादिरसबन्धकाः सर्वदा प्राप्यन्ते अन्यत्र कदाचित् प्राप्यन्त इति व्याप्तिः । अनया व्याप्त्या ओघप्ररूपणायामष्टप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकाः कादाचित्काः भवन्ति, तासामुत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेन संज्ञ्यादिजीवानामभिहितत्वेन तद्बन्धकानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽत्यल्पत्वात् । ये जीवा अष्टानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः, ते सर्वे अत्रोत्कृष्टानुभागस्याबन्धकत्वेन गृह्यन्ते,प्रतिपक्षरसस्य बन्धकानामेवात्राऽबन्धकत्वेन विवक्षितत्वात् ,ततोऽष्टानामुत्कृष्टानुभागस्याबन्धकाः सर्वदा प्राप्यन्ते।कुतः? उच्यते-अनन्तानन्तनिगोदादिजीवाः प्रतिसमयमनुत्कृष्टानुभागमायुर्बध्नन्ति तत अष्टानामनुत्कृष्टानुभागस्याबन्धकाः सर्वदा प्राप्यन्ते,आयुषा सह सप्तानामपि अनुत्कृष्टानुभागबन्धस्य सद्भावात् ।अत एव प्रस्तुते अनेकाबन्धकप्रयुक्तभङ्गाः प्राप्यन्ते,किन्त्वबन्धकरहितभङ्गाः तथा एकाबन्धकयुक्तभङ्गा न लभ्यन्ते। तद्यथा-एकबन्धकसर्वबन्धकाख्यौ प्रथमतृतीयभङ्गौ न प्राप्येते, अबन्धकशून्यत्वात्। 'एकोऽबन्धक एव'इति द्वितीयः,'एको बन्धकएकोऽबन्धक'इति पञ्चमः,'अनेके बन्धका एक एवाबन्धक इति सप्तमः एवं त्रयोऽपि एकाबन्धकयुक्तत्वेन न लभ्यन्ते,किन्तु'सर्वेऽबन्धकाः'इति चतुर्थभङ्गः,'एक एवबन्धकः अनेकेऽबन्धका' इति षष्ठभङ्गः'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका'इत्यष्टमभङ्गः,इति अनेकाबन्धकयुक्तत्वेन त्रयो विकल्पा अवाप्यन्ते। तथा च तद्भावना –यदा एकोऽपि जीवोऽष्टानामुत्कृष्टानुभागं न बध्नाति तदा 'सर्वेऽबन्धका' इति चतुर्थभङ्गो लभ्यते अबन्धकानां सर्वदा सद्भावात् । प्रागुक्ताबन्धकजीवेभ्य यद्येको जीव उत्कृष्टानुभागं बध्नाति तदा 'एक एव बन्धकः अनेकेऽबन्धका' इति षष्ठभङ्गः प्राप्यते, यदाऽनेके जीवा उत्कृष्टानुभागबन्धं विदधति तदा अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका इत्यष्टमभङ्गः समवाप्यते।

अथानुत्कृष्टानुभागस्य घतो भङ्गत्रयं दर्शयन्नुत्तरार्धेन प्राह–**'इयरस्स'** इत्यादि अष्टकर्मणामित्यत्रापि सम्बध्यते इतरस्य-उत्कृष्टानुभागेतरस्य अनुत्कृष्टानुभागस्येत्यर्थः । तृतीयसप्तमाष्टमाः-'सर्वे बन्धकाः'इति तृतीयः,'अनेके बन्धका एक एवाबन्धक'इति सप्तमः,'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धकाः'इत्यष्टम एवं त्रयो विकल्पा ज्ञेयाः । **अयम्भावः**-उत्कृष्टानुभागस्य अबन्धकाः,ते एवानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका भवन्ति, प्रतिपक्षानुभागस्य बन्धकानामेवाबन्धकत्वेन गृहीतत्वात् । ततश्च यावत्कालं यावन्तश्चोत्कृष्टानुभागस्याबन्धका विद्यन्ते,तावत्कालं तावन्तश्चानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः,

अर्थात् यदोत्कृष्टानुभागस्य चतुर्थो भङ्गः संभवति तदाऽनुत्कृष्टानुभागस्य तृतीयभङ्गो निराबाधं भवति, उत्कृष्टानुभागस्य चतुर्थभङ्गस्तु प्रागुपपादितः, ततोऽष्टकर्मणामनुत्कृष्टानुभागस्य 'सर्वे बन्धका'इति तृतीयभङ्गः सुतरां घटते। उत्कृष्टानुभागस्य 'एक एव बन्धकोऽनेकेऽबन्धका' इति षष्ठभङ्गः, स एवानुत्कृष्टानुभागापेक्षया सप्तमो भङ्गो भवति, तद्यथा-अनेकेषु य उत्कृष्टानुभागं बध्नाति स एवानुत्कृष्टानुभागस्याबन्धकत्वेन गृह्यते, तदन्ये च ये उत्कृष्टानुभागस्याबन्धकाः तेऽत्रानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकत्वेन गृह्यन्ते, ततः उत्कृष्टानुभागापेक्षया षष्ठभङ्गः, स एवानुत्कृष्टानुभागापेक्षया सप्तमो भङ्गो भवति। उत्कृष्टानुभागस्य षष्ठभङ्गस्तूपपादित एव, ततोऽनुत्कृष्टानुभागस्य सप्तमभङ्गोऽपि सूपपादो भवति। 'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धकाः' इत्यष्टमभङ्ग उत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोरेक एव उभयोरपि परस्परं सापेक्षत्वात्, इदमुक्तं भवति-उत्कृष्टानुभागस्य ये बन्धकाः, ते सर्वे अनुत्कृष्टानुभागस्याबन्धकत्वेन गृहीताः, तस्यैव पुनर्येऽबन्धकाः, ते सर्वे अनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकत्वेन प्राप्ताः, अत उभयोरनुभागयोरष्टमभङ्ग एक एवोक्तः। अत्र घटना उत्कृष्टानुभागस्याष्टमभङ्गवत्॥३२६॥

तदेवमोघत उत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोर्भङ्गविचयं प्रदर्श्य मार्गणासु सप्तकर्मणामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोर्भङ्गविचयं चिचिन्तयिषुर्यदा तावद्यासु मार्गणास्वष्टावपि भङ्गाः संभवन्ति तासु तथैव प्राह—

भंगाऽट्ठ अपज्जणरे आहारदुगे विउव्वमीसे य।
गयवेए सुहुमुवसमसामणमीसेसु सत्तण्हं ॥३२७॥
जेट्ठियराण रसाणं सयमुज्झा उ परिहारछेएसुं।

(प्रे०) 'भंगाऽट्ठ अपज्जणरे' इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्ये, आहारकाहारकमिश्रलक्षणे आहारकद्विके, वैक्रियमिश्रयोगे, अवेदे, सूक्ष्मसम्पराये, उपशमे, सास्वादने, मिश्रे चेति नवमार्गणासु आयुर्वर्जानां सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्येतरस्य-अनुत्कृष्टस्य च रसस्याष्टौ भङ्गाः संभवन्ति।

एता मार्गणाः सान्तरास्तत एतासु कदाचिदेकोऽपि जीवः संभवति, स च यदा सप्तकर्मणामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकः स्यात्, तदा सप्तकर्मणामुत्कृष्टानुभागस्य प्रथमो भङ्गः संभवति यदा स एवाबन्धकः तदा द्वितीयो भङ्गः। यदा चानेके जीवाः, ते च सर्वे सप्तकर्मणामुत्कृष्टरसस्य बन्धकाः स्युः, तदा तृतीयभङ्गः। यदा च ते सर्वेऽबन्धकाः स्युः, तदा चतुर्थो भङ्गः। यदा च द्वावेव जीवौ, तयोरेको बन्धकः, एकश्चाबन्धकः स्यात् तदा पञ्चमो भङ्गः। यदा चानेके जीवाः, तेष्वेकः एव बन्धकः स्यात् तदा षष्ठो भङ्गः। यदा च तेष्वेक एवाबन्धकः स्यात्, शेषाः सर्वे बन्धकाः स्युः, तदा सप्तमो भङ्गः। यदा च केचिद् बन्धकाः, केचिच्चाबन्धकाः स्युः, तदाऽष्टमो भङ्गः। एवमेवानुत्कृष्टानुभागस्याप्यष्टौ भङ्गाः परिभावनीयाः, यतो यदोत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोरन्यतरस्याष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते, तदा द्वितीयस्यापि ते अष्टौ लभ्यन्ते। तद्यथा—यदोत्कृष्टानुभागस्य प्रथमो भङ्गः,

तदाऽनुत्कृष्टरसस्य 'अबन्धकः' इति द्वितीयो भङ्गः संभवति । प्रतिपक्षरसबन्धकानामेवाबन्धकत्वेन गृहीतत्वात् । एवं यदाऽनुत्कृष्टरसस्य प्रथमो भङ्गस्तदोत्कृष्टरसस्य द्वितीयो भङ्गः संभवति । यदोत्कृष्टानुभागस्य तृतीयभङ्गः संभवति तदाऽनुत्कृष्टानुभागस्य चतुर्थभङ्गः । एवमनुत्कृष्टरसस्य तृतीयभङ्गः, तदोत्कृष्टरसस्य चतुर्थभङ्गः । यदोत्कृष्टरसस्य पञ्चमो भङ्गः, तदाऽनुत्कृष्टरसस्यापि पञ्चमो भङ्गः, प्रतिपक्षरसबन्धकानामेवाबन्धकत्वेन स्वीकृतत्वात् । तथाहि-यदा विवक्षितकर्मणो बन्धकत्वेन द्वावेव जीवौ स्याताम् तदा तन्मध्ये एक उत्कृष्टानुभागबन्धं विदधाति, अपरः पुनरनुत्कृष्टानुभागबन्धं करोति, यो जीव उत्कृष्टरसस्य बन्धकः सोऽनुत्कृष्टरसस्याबन्धकः । यश्चोत्कृष्टरसस्याबन्धकः सोऽनुत्कृष्टरसस्य बन्धकः । ततश्च सिद्धं यदोत्कृष्टरसस्य पञ्चमो भङ्गः, तदाऽनुत्कृष्टानुभागस्यापि पञ्चमो भङ्ग इति । यदाऽनुत्कृष्टानुभागस्य पञ्चमभङ्गः, तदोत्कृष्टानुभागस्यापि पञ्चमः, इत्येवमनयोः पञ्चमभङ्गस्य समव्याप्तत्वं सिद्धं भवति । यदोत्कृष्टानुभागस्य षष्ठभङ्गः स्यात् , तदा-ऽनुत्कृष्टानुभागस्य सप्तमभङ्गो भवति, यदा-ऽनुत्कृष्टानुभागस्य षष्ठभङ्गः स्यात् तदोत्कृष्टानुभागस्य सप्तमभङ्गो भवति । विवक्षितकर्मस्याष्टमभङ्गस्तदा तत्प्रतिपक्षस्याप्यष्टमः, सुगमत्वात् स्वयमेव भावनीयम् । **सयमुज्झा उ परिहारछेएसु**" इत्यादि, परिहारविशुद्धिमार्गणायां तथा छेदोपस्थापनीयमार्गणायां भङ्गविचयविषयकप्ररूपणा स्वयं ज्ञातव्या । एतन्मार्गणाद्वयस्याऽनित्यत्वेऽपि तत्र जघन्यपदगतजीवप्रमाणस्य निश्चयेन ज्ञातुमशक्यत्वात् ,सान्तरमार्गणायां भङ्गविचयस्य जघन्यपदगतजीवपरिमाणस्यापेक्ष्यमाणत्वाच्चेति भावः ॥३२७॥

साम्प्रतं यासु मार्गणासु सप्तकर्मणामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोः केवलाष्टम एव भङ्गः प्राप्यते तासु तथैव निर्वक्ति—

सव्वेसु एगिंदियणिगोअभेएसु सेससुहमेसु ॥३२८॥ [गीतिः]
बायरअपज्जपुहवाइचउगपत्तेअवणवणोहेसु ।
भंगोऽत्थि अट्ठमो खलु ओघव्व हवेज्ज सेसासु ॥३२९॥

(प्रे०)'**सव्वेसु**'इत्यादि,सर्वेषु-सप्तस्वेकेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु-सप्तसु निगोदभेदेषु तथा शेषसूक्ष्मेषु-सामान्य-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नान् त्रीनेकेन्द्रियसत्कांस्त्रीन् च साधारणवनस्पतिसत्कानन्तरं '**सव्वेसु एगिंदियणिगोअभेएसु**'इत्यनेन संगृहीतान् सर्वसंख्यया षट्सूक्ष्मभेदान् वर्जयित्वा शेषेषु सूक्ष्मपृथिव्यप्तेजोवायुकायसत्केष्वोघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु द्वादशसु सूक्ष्मभेदेष्वित्यर्थः । अथान्यानपि भेदान संगृहीतुमाह-'**बायरअपज्ज**' इत्यादि, बादरापर्याप्तशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् बादरापर्याप्तपृथ्वीकाय-बादरापर्याप्ताप्काय-बादरापर्याप्ततेजःकाय-बादरापर्याप्तवायुकायलक्षणे बादराऽपर्याप्तपृथिव्यादिचतुष्के , बादरापर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदे, '**वणोहेसु**'—वनस्पतिकायसामान्यभेदे चेत्येतेषु द्वात्रिंशन्मार्गणाभेदेषु प्रत्येकम् । एतेषु किमित्याह-'**भंगोऽत्थि अट्ठमो खलु**'

सप्तकर्मणामुत्कृष्टानुभागस्यानुत्कृष्टानुभागस्य च, खलुशब्दोऽवधारणार्थः, अनेके बन्धकाः अनेकेऽबन्धका इत्यष्टम एव भङ्गोऽस्ति,न तु प्रथमादयोऽपि । इयमत्र भावना–एतासु मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धका जघन्यतोऽपि कासुचिदसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितुल्याः, कासुचित्पुनरनन्ता जीवाः प्राप्यन्ते,ततः प्रागुक्तव्याप्त्याऽत्र सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्यानुत्कृष्टानुभागस्य च बन्धकानां सर्वदा प्राप्यमाणत्वेनाष्टम एव भङ्गोऽभिहितः । यासु मार्गणासूत्कृष्टानुभागस्याष्टम एव भङ्गः संभवति, तास्वनुत्कृष्टानुभागस्याप्यष्टम एव भङ्गः संभवति, उभयोरष्टमभङ्गस्य समव्याप्तत्वात् । उत्कृष्टानुभागस्याष्टमभङ्गोपपादेनाऽनुत्कृष्टानुभागस्याप्यष्टमभङ्ग उपपादित एव ।

अथ शेषमार्गणास्वोघवदतिदिशन्नाह–'**ओघव्व**'इत्यादि,उक्तशेषासु सप्तविंशत्यभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकमोघवद् भवन्ति,सप्तानामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोर्भङ्गाः इति प्रक्रमाद्गम्यते । उत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोः प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भङ्गाः यथौघे निरूपितास्तथैवात्रापि वेदितव्याः । तद्यथा–उत्कृष्टानुभागस्य'सर्वेऽबन्धका'इति चतुर्थः'एक एव बन्धकोऽनेकेऽबन्धकाः'इति षष्ठः, 'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका'इत्यष्टमः एवं त्रयो विकल्पाः,अनुत्कृष्टानुभागस्य पुनः'सर्वे बन्धकाः'इति तृतीयः,'अनेके-बन्धका एक एवाबन्धक'इति सप्तमः'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका'इत्यष्टमः एवं त्रयो विकल्पाः ।

भावना पुनरेवम्–मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोः भङ्गविचयप्ररूपणायां मुख्यतया व्याप्तित्रयं प्रवर्तते, तेन मार्गणासु निरूपणमपि त्रिविधं भवति, तद्यथा-या मार्गणाः सान्तराः, तासां मार्गणानां यदा सद्भावो विद्यते तदा तासु कदाचिदेको वा द्वौ वाऽनेके वा जीवा लभ्यन्ते, ततस्तासु मार्गणास्वष्टौ भङ्गा लभ्यन्ते । अत एव "भंगाऽट्ठ अपज्जणरे"(गाथा-३२७) इत्यादिगाथोक्तनवमार्गणासु अष्टौ भङ्गाः लभ्यन्ते इति **प्रथमव्याप्तिप्रयुक्तं** निरूपणं कृतं द्रष्टव्यम् ।

द्वितीया व्याप्तिस्त्वेवम्–यासु मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धका असंख्येयलोकप्रमिता अनन्ता वा लभ्यन्ते तासु मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोः'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका' इत्येवंस्वरूपः अष्टम एक एव भङ्गो लभ्यते। अत एव'**सव्वेसु एगिंदियणिगोअभेएसु**' इत्यादि-ग्रन्थोक्तद्वात्रिंशन्मार्गणास्वेकोऽष्टम एव भङ्गः प्राप्यते इति द्वितीयव्याप्तिनिरूपणं कृतं वेदितव्यम् ।

तृतीयव्याप्तिः पुनरियम्–यासां मार्गणानां नानाजीवानाश्रित्यावस्थितिः सार्वदिकी,तासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धकजीवाः पुनरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितः न्यूनाः,तासु मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य चतुर्थषष्ठाष्टमा इति त्रयो भङ्गाः ओघवत् लभ्यन्ते । शेषसप्तविंशत्युत्तरशतमार्गणानां एतद्व्याप्तिविषयत्वेन तत्र भङ्गविचयनिरूपणमोघवद् भवति । तथाहि–नरकादिमार्गणा नानाजीवानाश्रित्य सर्वदा सन्ति, तासूत्कृष्टानुभागबन्धका चाऽसंख्येयलोकराशितो न्यूना अत एवोत्कृष्टानुभागस्य ओघवत् त्रयो भङ्गा लभ्यन्ते, मार्गणानां सदा सद्भावेन सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः सर्वदा लभ्यन्ते, सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः पुनः कादाचित्काः भवन्ति,

असंख्येयलोकराशितो न्यूनत्वात्। अयम्भावः-यदैकोऽपि जीव उत्कृष्टानुभागस्य बन्धको न स्यात्, सर्वे एवानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः स्युः, तदा सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य 'सर्वे अबन्धकाः' इति चतुर्थभङ्गः, स एवानुत्कृष्टानुभागस्य तृतीयभङ्गः, समव्याप्तत्वेन प्रागुक्तत्वात्, यदैक एवोत्कृष्टानुभागस्य बन्धकः स्यात्, तदा 'एक एव बन्धकोऽनेकेऽबन्धकाः' इति षष्ठभङ्गः। अनुत्कृष्टानुभागापेक्षया स एव 'अनेके बन्धका एक एवाऽबन्धक' इति सप्तमभङ्गः। यदाऽनेके उत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः अनेके चानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः स्युः, तदोत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोः 'अनेके-बन्धका अनेकेऽबन्धका' इत्यष्टमभङ्ग इति।

शेषमार्गणा नामत इमाः—गतिमार्गणास्थानस्यापर्याप्तमनुष्यवर्जशेषषट्चत्वारिंशन्मार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य नवविकलेन्द्रियत्रिपञ्चेन्द्रियलक्षणा द्वादशमार्गणाः, कायमार्गणास्थानस्य पृथ्वीकायसामान्य--बादरपृथ्वीकाय--पर्याप्तबादरपृथ्वीकायाऽप्कायसामान्य-बादराप्काय-पर्याप्तबादराप्काय-तेजःकायसामान्य-बादरतेजःकाय पर्याप्तबादरतेजःकाय-वायुकायसामान्य-बादरवायुकाय-पर्याप्तबादरवायुकाय-प्रत्येकवनस्पतिकाय-पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय-त्रित्रसकायरूपाः सप्तदशमार्गणाः,वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकाहारकमिश्रवर्जशेषपञ्चदशयोगमार्गणाः, त्रिवेदमार्गणाः, चतुष्कषायमार्गणाः, मत्यादिचतुर्ज्ञानमत्यादित्र्यज्ञानरूपाः सप्तज्ञानमार्गणाः, संयममार्गणास्थानस्य संयमसामान्य-सामायिक-देशसंयमा-ऽसंयमलक्षणाः चतुर्मार्गणाः त्रिदर्शनमार्गणाः, षड् लेश्यामार्गणाः, भव्याभव्यमार्गणे, सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिक-वेदक-मिथ्यात्वलक्षणाश्चतुर्मार्गणाः, संज्ञ्यसंज्ञिमार्गणे आहारकानाहारकमार्गणे चेत्येताः सप्तविंशत्युत्तरशतमार्गणा इति।

ननु तिर्यक्सामान्य-काययोगसामान्यादिमार्गणासु जीवा असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितः न न्यूनाः, तर्हि तासु 'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धकाः' इत्यष्टमभङ्ग एक एव कथं नोक्तः ? उच्यते—तासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेन संज्ञिपञ्चेन्द्रियादीनामभिहितत्वेनोत्कृष्टानुभागबन्धकानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽत्यल्पत्वादुत्कृष्टानुभागबन्धकाः कादाचित्काः भवन्ति। अतो यथोक्तास्त्रयो भङ्गाः भवन्ति,न त्वेकोऽष्टम एवेति ॥३२८॥३२९॥

तदेवं सप्तानामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोरादेशतो भङ्गनिरूपणं विधायायुःकर्मणस्तदेव विधातुकाम आदौ तावद् यासु मार्गणास्वष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते तासु तथैवाह—

सव्वेसुं खलु णारग-पणिंदितिरिय-णर-देवभेएसुं।
सव्वेसुं विगलिंदिय-पणिंदि-तसकायभेएसुं ॥३३०॥
बायरसमत्तपुहवाइचउग-पत्तेअ-पणमण-वयेसुं।
विउवाहारदुग-पुरिस-थी-चउणाणेसु विब्भंगे ॥३३१॥

संयम-समइअ-छेअ-परिहार-देसोहि-चक्खुतेऊसु ।
पम्ह-सुइल-सम्म-खइअ-वेअग-सासाण-सण्णीसु ॥३३२॥
भंगा अट्ठ रसाणं उक्कोसियराण हुन्ति आउस्स ।
सेसासु मग्गणासु भंगा ओघव्व बोद्धव्वा ॥३३३॥

(प्रे०) **'सव्वेसु'** इत्यादि,–सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् सर्वनारकभेदेषु, सर्वपञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्भेदेषु-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सामान्य-तिर्यग्योनिमती-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-लक्षणेषु, सर्वमनुष्यभेदेषु, सर्वदेवभेदेषु खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे तथा **'सव्वेसु विगलिंदिय'** इत्यादि, अत्रापि सर्वशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात्-सर्वविकलेन्द्रियभेदेषु, सर्वपञ्चेन्द्रियभेदेषु, सर्वत्रस-कायभेदेषु चेति प्रथमगाथाक्षरार्थः। बादरसमाप्तपृथ्व्यादिचतुष्के-बादरपर्याप्तपृथ्वीकायबादरपर्याप्ताऽ-प्कायबादरपर्याप्ततेजःकायबादरपर्याप्तवायुकायलक्षणेषु चतुर्षु बादरपर्याप्तपृथ्व्यादिभेदेषु इत्यर्थः । बादर-पर्याप्तशब्दस्याभिसम्बन्धात् बादरपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदे-पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगभेदेषु वैक्रियाहारकाहारकमिश्रयोगपुरुषवेदस्त्रीवेदचतुर्ज्ञानेषु विभङ्गज्ञाने चेति द्वितीयगाथाक्षरार्थः। अथान्य-भेदान् संगृहीतुमाह-**'संयम'**इत्यादि, संयमसामान्य-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-देश-विरत्यवधिदर्शन-चक्षुर्दर्शन-तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिक-वेदक-सास्वा-दन-संज्ञिभेदेषु चेत्येकोत्तरशतमार्गणासु, कति भङ्गाः? इत्याह–**'भंगा अट्ठ'** इत्यादि, आयुष्कस्य उत्कृष्टेतरयो रसयोः उत्कृष्टानुभागस्यानुत्कृष्टानुभागस्य चेत्यर्थः, अष्टौ भङ्गाः भवन्ति । शेषासु मार्गणास्वतिदिशन्नाह**'सेसासु'**इत्यादि, शेषासु मार्गणासु आयुर्बन्धप्रायोग्यत्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणाभ्यः प्रागुक्तैकोत्तरशतमार्गणा वर्जयित्वा द्वाषष्टिमार्गणास्वित्यर्थः, भङ्गाः ओघवत् ,यथौघे आयुष्कस्यो-त्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोः प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भङ्गाः प्रतिपादिताः, तावन्तो भङ्गा अत्रापि बोद्धव्याः । तद्यथा–उत्कृष्टानुभागस्य 'सर्वे अबन्धकाः' इति चतुर्थभङ्गः, 'एक एव बन्धकोऽनेकेऽबन्धकाः' इति षष्ठभङ्गः, 'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धकाः' इत्यष्टमभङ्गः इति त्रयो भङ्गाः । अनुत्कृष्टानुभागस्य पुनः 'सर्वे बन्धकाः' इति तृतीयभङ्गः, 'अनेके बन्धका एक एवाबन्धक'इति सप्तमभङ्गः, 'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका' इत्यष्टमभङ्गः इति त्रयः ।

इदमत्र तात्पर्यम्–आयुर्बन्धप्रायोग्यत्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणामध्ये प्रागुक्तैकोत्तरशतमार्ग-णासु प्रत्येकं जीवा असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतिन्यूनाः । शेषद्वाषष्टिमार्गणासु पुनरसंख्येय-लोकाकाशप्रदेशराशितुल्याः तदधिका वा । यासु मार्गणासु असंख्येयलोकप्रदेशराशिप्रमाणतः जीवा न्यूनाः, तासु मार्गणास्वायुर्बन्धः कादाचित्को भवति, यासु मार्गणासु पुनः जीवा असंख्य-लोकप्रमाणाः, तदधिका वा तासु मार्गणास्वायुर्बन्धो निरन्तरं भवतीति नियमः, एतन्नियमवशात्

प्रागुक्तैकोत्तरशतमार्गणास्वायुर्बन्धः कादाचित्को भवति, ततश्चायुर्बन्धस्याभावोऽपि कदाचिल्लभ्यते, कदाचिदायुष्कस्य एकोऽपि बन्धको लभ्यते, स च बन्धकः कदाचिदायुष्कस्योत्कृष्टानुभागं बध्नाति, कदाचिच्चानुत्कृष्टानुभागम्, एवं द्विश्यादयोऽपि जीवाः संभवन्ति, ते च सर्वे कदाचिदुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः, कदाचिदनुत्कृष्टानुभागस्य, कदाचिद् द्वौ एव जीवौ स्तः, तयोः एक उत्कृष्टाऽनुभागं बध्नाति, एकः पुनरनुत्कृष्टानुभागं बध्नाति। कदाचिदनेके जीवाः सन्ति । तेषु एक उत्कृष्टानुभागं बध्नाति शेषाः पुनरनुत्कृष्टानुभागम् . एवमेकोऽनुत्कृष्टानुभागं बध्नाति, शेषास्तु सर्वे उत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति, कदाचिदनेके जीवा उत्कृष्टानुभागम्, अनेके चानुत्कृष्टानुभागं निर्वर्तयन्ति । एवंप्रकारेणायुष्कस्य बन्धकानां लभ्यमानत्वेन प्रागुक्तैकोत्तरशतमार्गणासूत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागबन्धयोः प्रत्येकमष्टौ भङ्गा अभिहिताः ।

शेष द्वाषष्टिमार्गणासु पुनर्निरुक्तनियमेनायुर्बन्धो निरन्तरं भवति, ततोऽनेकेषां जीवानामायुर्बन्धसद्भावेन एकजीवप्रयुक्ता जीवद्वयप्रयुक्ताश्च भङ्गा न लभ्यन्ते । तेन द्वयोरप्यनुभागबन्धयोः प्रथमद्वितीयपञ्चमा भङ्गाः न कथिताः । आसु मार्गणासु पुनरायुष्कस्योत्कृष्टानुभागः संज्ञिप्रायोग्यनरकाद्यायुर्बन्धकैर्बध्यते, संज्ञिप्रायोग्यनरकाद्यायुष्कस्य बन्धकाः पुनरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽत्यल्पाः, सर्वसंज्ञिजीवानामप्यल्पत्वात् । तत उत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः कादाचित्का भवन्ति, अनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकास्तु सर्वदा लभ्यन्ते, अत एवानुत्कृष्टानुभागस्यानेकबन्धकयुक्ता भङ्गाः प्राप्यन्ते, किन्तु तस्य बन्धकशून्यभङ्गाः, एकबन्धकयुक्तभङ्गाश्च न लभ्यन्ते,तेनोत्कृष्टानुभागस्य चतुर्थषष्ठाष्टमरूपास्त्रयो भङ्गाः, अनुत्कृष्टानुभागस्य पुनस्त्रयस्तृतीयसप्तमाष्टमरूपा अभिहिताः । भावना पूर्ववद्विधेया । शेषमार्गणा नामत इमाः-गतिमार्गणास्थानस्य तिर्यग्गतिसामान्यलक्षणैका मार्गणा, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य सर्वैकेन्द्रियमार्गणाः, कायमार्गणास्थानस्य बादरपर्याप्तपृथ्व्यादिचतुष्कपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतित्रिसकायवर्जचतुर्विंशन्मार्गणाः, योगमार्गणास्थानस्य काययोगसामान्यौदारिकौदारिकमिश्रलक्षणास्तिस्रो मार्गणाः, वेदमार्गणास्थानस्य नपुंसकवेदलक्षणैका मार्गणा, कषायमार्गणास्थानस्य चतुष्कषायमार्गणाः, ज्ञानमार्गणास्थानस्य मत्यज्ञानश्रुताज्ञानलक्षणे द्वे मार्गणे, असंयममार्गणा, अचक्षुर्दर्शनमार्गणा, लेश्यामार्गणास्थानस्य कृष्णनीलकापोतलक्षणास्तिस्रो मार्गणाः, भव्याभव्ये द्वे मार्गणे, मिथ्यात्वमार्गणा असंज्ञिमार्गणा आहारकमार्गणा चेत्येता द्वाषष्टिमार्गणाः ॥३३०।३३१।३३२।३३३॥

तदेवमुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोर्भङ्गविचयनिरूपणं कृतम् । साम्प्रतं जघन्याजघन्यानुभागयोस्तदेवोपचिक्रंसुरादौ तावदोघत आह–

मंदियराण रसाणं तिण्ह अघाईण अट्ठमो भंगो ।
तिव्वियररसव्व कमा तितिभंगा घाइगोआणं ॥३३४॥

(प्रे०) **'मंदियराण'** इत्यादि, तिसृणामघातिप्रकृतीनां-वेदनीयनामायुर्लक्षणानां मन्देतरयोः जघन्याजघन्ययोः रसयोः अष्टमः-'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धकाः' इतिस्वरूप एक एव भङ्गः। कुतः ? उच्यते-एतासां तिसृणां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन भवति, जघन्यरसबन्धप्रायोग्यः स परिणामः संसारस्थजीवानामसंख्येयलोककाले गते सत्यवश्यमेव पुनः संभवति इति तु प्रागुक्तमेव, ततश्च तज्जघन्यानुभागबन्धकत्वेनानन्तानन्तजीवाः प्राप्यन्ते, यत्रोत्कृष्टरसबन्धका वा जघन्यरसबन्धका वा असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः, यद्वा ततोऽप्यधिका भवन्ति, तत्रोत्कृष्टादिरसबन्धकाः सर्वदा लभ्यन्ते, इति व्याप्त्या जघन्याजघन्यानुभागयोरनेके जीवा बन्धकत्वेनावाप्यन्ते, ततो वेदनीयनामायुःप्रकृतीनां जघन्याजघन्यानुभागयोरष्टम एक एव भङ्गः प्रोक्तः।

अथ शेषप्रकृतीनां भङ्गविचयमाह-**'निव्वियररसव्व'** इत्यादि, घातिगोत्राणां जघन्याजघन्यानुभागयोः क्रमशः तीव्रेतररसवत् त्रयस्त्रयो भङ्गा ज्ञातव्याः। इदमुक्तं भवति-घातिगोत्रप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य "तुरिअछट्ठअट्ठमा" इति त्रयो भङ्गा उक्ताः, तथैवात्र जघन्यानुभागस्य द्रष्टव्याः, अनुत्कृष्टानुभागस्य "तिअसत्तमअट्ठमा" इति त्रयो भङ्गा उक्ताः, तथैवात्राजघन्यानुभागस्य वेदितव्या इति।

भावना पुनरियम्-घातिचतुष्कस्य क्षपकः, गोत्रस्य पुनः सम्यक्त्वाभिमुखः सप्तमनारकः जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन प्रागभिहितः, ततश्च जघन्यानुभागबन्धकानामत्यल्पत्वेन ते कादाचित्का भवन्ति, अजघन्यानुभागबन्धकाः पुनः सार्वदिकाः, मिथ्यादृष्टयादीनां घातिगोत्राणां सर्वदैवाजघन्यानुभागस्य बन्धसद्भावात्। ततो यदा जघन्यानुभागबन्धकत्वेनैकोऽपि जीवो न लभ्यते, तदा जघन्यानुभागापेक्षया'सर्वे अबन्धका'इति चतुर्थः, अजघन्यानुभागापेक्षया पुनः 'सर्वे बन्धका'इति तृतीयः। यदा जघन्यानुभागस्य बन्धकत्वेनैको जीवो लभ्यते, तदा तदनुभागापेक्षया'एको बन्धकोऽनेकेऽबन्धकाः' इति षष्ठः, अजघन्यानुभागापेक्षया तु 'अनेके बन्धका एकोऽबन्धकः' इति सप्तमः। यदा जघन्यानुभागस्य बन्धकत्वेनानेके जीवाः प्राप्यन्ते तदोभयानुभागापेक्षया अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका इत्यष्टमभङ्गः। एवमग्रेऽपि भङ्गविचयभावना द्रष्टव्येति ॥३३४॥

अथ सप्तानां जघन्याजघन्यानुभागयोर्भङ्गविचयं मार्गणासु दर्शयन्नादौ तावत् यासु मार्गणास्वोघवद् भवति तासु तथैव सार्धगाथाद्वयेनाह—

तिरियागणिवाऊसुं बायरऽगणिवाउकायजोगेसुं।
उरलदुगकम्मणेसुं णपुंसगे चउकसायेसुं ॥३३५॥
अण्णाणदुगे अयते अचक्खुदंसणतिअसुहलेसासुं।
भवियेयरमिच्छेसुं असण्णिआहारगियरेसुं ॥३३६॥
मंदियराण रसाणं भंगा ओघव्व आउवज्जाणं।

(प्रे०)'**तिरयाणणि**' इत्यादि, तिर्यग्गत्योघ-तेजःकायसामान्य-वायुकायसामान्य-बादराग्निकाय-बादरवायुकाय-काययोगसामान्यौदारिकयोगौदारिकमिश्र-कार्मणयोग-नपुंसकवेद-चतुष्कषाय-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानासंयमाचक्षुदर्शन-कृष्ण-नील-कापोतलेश्या-भव्याभव्य-मिथ्यात्वासंज्ञ्याहारकानाहारकलक्षणासु सप्तविंशतिमार्गणासु आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनां मन्देतरयोः रसयोः—जघन्यानुभागस्याजघन्यानुभागस्य च भङ्गा ओघवत्, ज्ञेया इतिशेषः। तद्यथा—"तिण्ह अघाईण अट्ठमो भंगो" इति ग्रन्थेनाघातित्रयस्य जघन्यानुभागस्याजघन्यानुभागस्य चाष्टम एवैको भङ्गः प्रोक्तः, अघातित्रयेन तत्र वेदनीयनामायुष्कप्रकृतित्रयं गृहीतम्। अत्र त्वायुष्कवर्जप्रकृतीनां प्रस्तुतत्वात् वेदनीयनामप्रकृतिद्वयस्यैकोऽष्टमो भङ्गो द्रष्टव्यः। "ति ति भंगा घाइगोआणं" इत्यनेन चतुर्घातिगोत्रप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य चतुर्थषष्ठाष्टमा इति त्रयो भङ्गाः, अजघन्यानुभागस्य पुनस्तृतीयसप्तमाष्टमा इति त्रयो भङ्गा द्रष्टव्याः।

भावना पुनरेवम्—निरुक्तसप्तविंशतिमार्गणामध्ये कासुचिद् मार्गणासु जीवा असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितुल्याः, कासुचित् पुनरनन्ताः, वेदनीयनाम्नोर्जघन्यानुभागस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वेन तज्जघन्यरसबन्धका अप्यनन्तरोक्तप्रमाणास्ततस्ते सर्वदा प्राप्यन्ते, अत एवाघातिद्वयस्य जघन्याजघन्यानुभागयोः 'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका' इत्यष्टमभङ्ग ओघवदुक्तः।

एतन्मार्गणासु घातिगोत्राणां जघन्यानुभागस्य बन्धका असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतिस्तोकाः, ततस्ते कादाचित्का भवन्ति, अजघन्यानुभागस्य ते सर्वदैव लभ्यन्ते। ततस्तयोरनुभागयोः प्रागुक्तास्त्रयो भङ्गाः प्राप्यन्ते। यथा तिर्यग्गतौ सत्यपि जीवानामानन्त्ये घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन देशविरतस्यैव लाभात् तज्जघन्यानुभागस्य बन्धकाः स्वल्पा एव प्राप्यन्ते, ततस्ते कादाचित्काः, अत एव तज्जघन्याजघन्यानुभागबन्धयोः प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भङ्गाः कथिताः, एवं सर्वत्र तत्तत्प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्वामिनं ज्ञात्वा भावना संभावनीया ॥३३५।३३६॥

अधुना यासु मार्गणासु सप्तानां जघन्याजघन्यानुभागयोरष्टावेव भङ्गाः प्राप्यन्ते तासु परिहारविशुद्धिकछेदोपस्थापनीयमार्गणेऽप्याह—

विण्णेया अडभंगा अपज्जणरविउवमीसेसु ॥३३७॥
आहारदुगे सुहुमे अवेउवसमेसु सासणे मीसे।
णाऊणं विण्णेया सयंच परिहारछेएसु ॥३३८॥

(प्रे०)'**विण्णेया**' इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्यवैक्रियमिश्राहारकाहारकमिश्रयोगसूक्ष्मसंपरायापगतवेदोपशमसास्वादनमिश्रदृष्टिलक्षणासु नवसु मार्गणासु सप्तानां जघन्यानुभागस्याजघन्यानुभागस्य चाष्टौ भङ्गा विज्ञेयाः, मार्गणानां सान्तरत्वात्। भावना चात्रोत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोर्भङ्गविचयभावनावत् कर्तव्या। '**णाऊणं विण्णेया**' इत्यादि-परिहारछेदोपस्थापनीययोः प्रकृतप्ररूपणा स्वयमेव श्रुतानुसारेण वितर्क्य विज्ञेया। हेतुस्तु पूर्ववत् ॥३३७।३३८॥ अथान्यत्राह—

एगिंदियतब्बायरतप्पज्जत्तेसु अट्ठमो चेव ।
भंगो छण्हं णेयो गोअस्सोघव्व विण्णेया ॥३३९॥

(प्रे०) '**एगिंदिय**' इत्यादि, एकेन्द्रियसामान्यभेदे, 'तद्बादरे' बादरैकेन्द्रियभेदे, 'तत्पर्याप्ते' पर्याप्तबादरैकेन्द्रियभेदे च षण्णां चतुर्घातिवेदनीयनामलक्षणानां प्रकृतीनां जघन्यानुभागस्याजघन्यानुभागस्य चाष्टम एवैको भङ्गो ज्ञेयः, न तु प्रथमादयोऽपि विकल्पाः । कुतः ? उच्यते-एतत्प्रकृतिसत्कजघन्यानुभागबन्धकानामानन्त्यात् । तथाहि-एतन्मार्गणात्रये घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन मार्गणाप्रायोग्यसर्वविशुद्धः पर्याप्तबादरैकेन्द्रियोऽभिहितः, पर्याप्तबादरैकेन्द्रियत्वेन च पर्याप्तबादरनिगोदजीवा अपि संगृह्यन्ते, वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यरसबन्धस्वामिनः परावर्तमानमध्यमपरिणामाः ते च निगोदा अपि सन्ति, अत एव वक्ष्यमाणपरिमाणद्वारे प्रस्तुतमार्गणासु षण्णां जघन्यानुभागबन्धका अनन्तप्रमाणा वक्ष्यन्ते,तथा सति प्रागुक्तव्याप्त्या तासां जघन्यानुभागबन्धकाः सर्वदा प्राप्यन्ते, तेन प्रकृतमार्गणात्रये षण्णां जघन्यानुभागस्याजघन्यानुभागस्य च 'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धकाः'इत्यष्टम एव भङ्गो भणितः । अथ गोत्रस्य भङ्गानाह-'**गोअस्सोघव्व**'इत्यादि; गोत्रस्य जघन्यानुभागस्याजघन्यानुभागस्य च भङ्गा ओघवद् विज्ञेयाः, तद्यथा-जघन्यानुभागस्य चतुर्थषष्ठाष्टमा एते त्रयो भङ्गाः, अजघन्यानुभागस्य तृतीयसप्तमाष्टमा एते त्रयः, कुतः ? उच्यते-एतन्मार्गणासु जीवानामनन्तप्रमाणत्वेऽपि गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामिनः पर्याप्तबादरतेजःकायवायुकायिका इति कृत्वा । ततः किम् ? तज्जघन्यानुभागबन्धकानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतिस्तोकत्वेन कादाचित्कत्वादिति ॥३३९॥

साम्प्रतं यासु मार्गणासु सप्तानां जघन्याजघन्यानुभागयोरष्टम एक एव भङ्गः प्राप्यते तासु तथैवाऽऽह–

असमत्तबायरसयलसुहुमेगिंदिचउकायभेएसुं ।
वणसयलणिगोएसुं अपज्जपत्तेअवणकाये ॥३४०॥
सत्तण्ह वि कम्माणं विण्णेयो अट्ठमो च्चिअ विगप्पो ।

(प्रे०) '**असमत्तबायर**'इत्यादि, एकेन्द्रियशब्दस्य प्रत्येकं योजनात्-असमाप्तबादरैकेन्द्रिये-अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियभेदे इत्यर्थः, सकलसूक्ष्मैकेन्द्रियेषु सामान्यपर्याप्तापर्याप्तरूपेषु त्रिषु सूक्ष्मैकेन्द्रियभेदेषु तथा '**चउकायभेएसु**' असमाप्तबादरशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात्-अपर्याप्तबादरपृथ्व्यादिचतुर्भेदेषु, अत्र सकलसूक्ष्मशब्दस्यापि योजनात् सकलसूक्ष्मपृथ्व्यादिचतुष्कायभेदेषु तद्यथा–सामान्य-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदात् त्रिषु सूक्ष्मपृथ्वीकायभेदेषु, एवं त्रिषु सूक्ष्माप्कायभेदेषु, त्रिषु सूक्ष्मतेजःकायभेदेषु, त्रिषु सूक्ष्मवायुकायभेदेषु, वनस्पतिकायसामान्यभेदे, 'सकलनिगोदेषु'-निगोदसामान्य-त्रिबादर-त्रिसूक्ष्मरूपेषु सप्तसु निगोदभेदेषु, अपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदे चेत्येतेष्वेकोनत्रिंश-

न्मार्गणाभेदेषु सप्तानामपि कर्मणां जघन्याजघन्यानुभागयोरष्टमः-'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धकाः' इत्येक एव विकल्पो विज्ञेयः । एतासु सर्वासु मार्गणासु सप्तानां जघन्यानुभागबन्धका असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः तदधिका वा प्राप्यन्ते, नतस्ते सर्वदा लभ्यन्ते, अत एवोभयोरनुभागयोः 'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धकाः' इत्यष्टम एव भङ्गः प्रोक्तः ॥३४०॥

साम्प्रतं पृथ्वीकायसामान्यादिभेदेषु भङ्गान् भावयन् तथा शेषमार्गणास्वतिदिशन्नाह–

पुढवीदगतब्बायरपत्तेअवणेसु घाईणं ॥३४१॥
ओघव्व जाणियव्वो तिण्ह अघाईण अट्ठमो भंगो ।
सेसासु सत्तण्ह वि विण्णेया ओघघाइव्व ॥३४२॥

(प्रे०)'पुढवी' इत्यादि, पृथ्वीकायसामान्या-ऽप्कायसामान्य-बादरपृथ्वीकाय-बादराप्काय-प्रत्येकवनस्पतिकायलक्षणेषु पञ्चसु मार्गणाभेदेषु घातिप्रकृतीनां जघन्याजघन्यानुभागयोर्भङ्गविचय ओघवद् ज्ञातव्यः । तद्यथा–जघन्यानुभागस्य चतुर्थषष्ठाष्टमा एते त्रयो भङ्गाः, अजघन्यानुभागस्य तृतीयसप्तमाष्टमा इति त्रयो विकल्पाः ।

भावना पुनरेवम्–अत्र घातिनां जघन्यानुभागबन्धस्वामिनः पर्याप्तबादरपृथ्व्यादिजीवाः, ते चासंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतीव स्तोकाः, ततस्तज्जघन्यानुभागबन्धकाः कादाचित्का भवन्ति । अत एव द्वयोरनुभागयोस्त्रयस्त्रयो भङ्गा उक्ताः । अथ अघातित्रयस्याह-'**तिण्ह**' इत्यादि, तिसृणामघातिप्रकृतीनां जघन्याजघन्यानुभागयोरष्टम एक एव भङ्गो ज्ञातव्यः तज्जघन्यरसबन्धकानामप्यसंख्यलोकमितत्वेन सर्वदा प्राप्यमाणत्वात् । अथ शेषमार्गणास्वाह–'**सेसासु**' इत्यादि, शेषासु-प्रागुक्तपञ्चसप्ततिमार्गणावर्जासु पञ्चनवतिमार्गणास्वित्यर्थः, सप्तानामपि प्रकृतीनां जघन्याजघन्यानुभागयोर्भङ्गा ओघघातिवत्–ओघप्ररूपणायां घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्याजघन्यानुभागस्य च यावन्तो भङ्गा उक्ताः, तावन्त एव भङ्गा अत्रापि सप्तानां जघन्यानुभागस्याजघन्यानुभागस्य च विज्ञेया इत्यर्थः । तद्यथा–जघन्यानुभागस्य 'सर्वे अबन्धका' इति तृतीयः, 'एक एव बन्धकोऽनेकेऽबन्धकाः' इति षष्ठः, 'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धकाः' इत्यष्टमः, एवं त्रयो भङ्गाः, अजघन्यानुभागस्य पुनः 'सर्वे बन्धकाः' इति तृतीयः 'अनेके बन्धका एकाबन्धकः' इति सप्तमः, 'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धकाः' इत्यष्टमः, एवं त्रय इति । शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः–गतिमार्गणास्थानस्य तिर्यगोघाऽपर्याप्तमनुष्यभेदद्वयवर्जाः पञ्चचत्वारिंशद्मार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य नवविकलेन्द्रिय-त्रिपञ्चेन्द्रियलक्षणा द्वादशमार्गणाः, कायमार्गणास्थानस्य पर्याप्तबादरपृथ्व्यादिचतुर्भेदपर्याप्तबादरप्रत्येकवनस्पतिकायत्रित्रसकायरूपा अष्टमार्गणाः, योगमार्गणास्थानस्य पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगवैक्रियकाययोगलक्षणा एकादशमार्गणाः, वेदमार्गणास्थानस्य स्त्रीपुरुषलक्षणे द्वे मार्गणे, ज्ञानमार्गणास्थानस्य मति-श्रुताऽवधि-मनःपर्यव-विभङ्गज्ञानरूपाः पञ्चमार्गणाः, संयममार्गणास्थानस्य संयमसामान्य-सामायिक-देश-

विरतिलक्षणास्त्रिमार्गणाः, दर्शनमार्गणास्थानस्य चक्षुरवधिदर्शनरूपे द्वे मार्गणे, लेश्यामार्गणास्थानस्य तेजःपद्मशुक्ललेश्यालक्षणास्त्रिमार्गणाः , सम्यक्त्वमार्गणास्थानस्य सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिक-वेदकरूपास्त्रिमार्गणाः, संज्ञिमार्गणा चेत्येताः पञ्चनवतिमार्गणाः । अयमत्र हेतुः—एतासु मार्गणासु जीवसंख्याऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतीव स्तोका, नित्याः पुनरेता मार्गणाः, ततः सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकाः कादाचित्काः, अजघन्यानुभागस्य बन्धकाः पुनः सार्वदिका भवन्ति, अत एव सप्तानामुभयोरनुभागयोः प्रागुक्तास्त्रयस्त्रयो विकल्पा भवन्तीति ॥३४१।३४२॥

तदेवं सप्तानां जघन्याजघन्यानुभागयोर्भङ्गविचयं विचिन्त्य साम्प्रतमायुष्कस्य जघन्या-ऽजघन्यानुभागयोस्तमेव दर्शयन्नाह—

भंगा अट्ठ रसाणं उक्कोसियराण जासु आउस्स ।
तासु जहण्णियराण वि सेसासु अट्ठमो भंगो ॥३४३॥

(प्रे०) '**भंगा**' इत्यादि, यासु मार्गणास्वायुष्कस्य उत्कृष्टेतरयोः रसयोः-उत्कृष्टानुभागस्यानुत्कृष्टानु-भागस्य चाष्टौ भङ्गा उक्ताः, तासु मार्गणासु 'जघन्येतरयोरपि'-जघन्यानुभागस्याजघन्यानुभागस्यापि अष्टौ एव भङ्गा ज्ञातव्याः । तद्यथा—आयुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्यानुत्कृष्टानुभागस्य च प्ररूपणायां—

[1]"सव्वेसु खलु णारग-पणिदितिरिय णर-देवभेएसु । सव्वेसु विगलिंदिय-पणिंदि-तसकायभेएसु ॥
बायरसमत्तपुहवाइचउग-पत्तेअ पण मणवयेसु । विउवाहारदुग-पुरिस-थी-चउणाणेसु विब्भंगे ॥
सयम-समइअ-छेअ-परिहार-देसेहिं चक्खुनेऊसु । पम्ह-सुइल-सम्म-खइअ-वेअग-सासाण सण्णीसु ॥"

इति त्रिगाथाभिः प्रोक्तास्वेकोत्तरशतमार्गणास्वायुष्कस्य जघन्याजघन्यानुभागयोरप्यष्टौ भङ्गा वेदितव्या इत्यर्थः, हेत्वादिभावनाप्युत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागवत् कर्तव्येति ।

अथ शेषमार्गणासु भङ्गविचयमाह—'**सेसासु**' इत्यादि, शेषासु-प्रागुक्तैकोत्तरशतमार्गणा वर्जयित्वा द्वाषष्टिमार्गणास्वित्यर्थः, आयुष्कस्य जघन्याजघन्यानुभागयोरष्टम एक एव भङ्गो, ज्ञेय इति शेषः, द्वाषष्टिमार्गणाश्चोत्कृष्टानुत्कृष्टाष्टमप्ररूपणातोऽवसेयाः । भावना त्वियम्—एतासु मार्ग-णासु जीवा असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा अनन्ता वा, तथाऽत्राऽऽयुष्कसत्कजघन्यानुभाग-स्याऽपर्याप्तप्रायोग्यत्वेन तद्बन्धकानामप्यसंख्यलोकप्रदेशप्रमाणतयाऽनन्तप्रमाणतया वा प्राप्य-माणत्वात् प्रस्तुतरसबन्धकाः सार्वदिका भवन्ति । अत एवाऽऽयुष्कस्य जघन्यानुभागस्याजघन्या-नुभागस्य च 'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका' इत्यष्टम एक एव भङ्गः प्राप्यत इति ॥३४३॥

प्रस्तुतद्वारोक्तार्थसंग्रहपरे भङ्गविचयप्रदर्शके यन्त्रके त्विमे— ❀

तदेवमुक्त आयुःकर्मणो जघन्याजघन्यानुभागयोर्भङ्गविचयः । तद्भणने चावसितोऽष्टानामपि मूलप्रकृतीनां जघन्याजघन्यानुभागयोर्भङ्गविचयः । तदवसाने च समर्थित उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्या-जघन्यानुभागानां भङ्गविचयः । तत्समर्थने च गतं 'भंगविचयो' इत्यनेनोद्दिष्टं दशमं भङ्गविचयद्वारम् ।

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे प्रथमाधिकारे दशमं भंगविचयद्वारं समाप्तम् ॥

---

1 (गाथा-३३०-१-२)। ❀ भङ्गविचयप्रदर्शके यन्त्रके दिदृक्षव पाठकाः पश्यन्तु २४४ तमं २४५ तमं च पृष्ठम् ।

* सप्तकर्मोत्कृष्टेतररसयोरायुषश्च चतुर्विधरसानां भङ्गविचयदर्शकं यन्त्रम् *

भङ्गक्रमः			ओघतः
	(१) (प्रथम) एको बन्धकः	(५) (पञ्चम) एको बन्धक एकोऽबन्धकः	अष्टकर्म०उत्कृष्टरसस्य चतुर्थषष्ठाष्टमा इत्येव त्रयो भङ्गा अनुत्कृष्टरसस्य च तृतीय सप्तमाऽष्टमा इत्येवं त्रयो भङ्गा आयुषः-जघन्या-ऽजघन्यरसयोरष्टम इति एक एव भङ्ग. । (गाथा ३२६)
	(२) (द्वितीय.)  एकोऽबन्धक	(६) (षष्ठः) एको बन्धकोऽनेकेऽबन्धका	
	(३) (तृतीय) सर्वे बन्धका	(७) (सप्तम) अनेके बन्धका एकोऽबन्धक	
	(४) (चतुर्थ) सर्वेऽबन्धकाः	(८) (अष्टम) अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका	

	आदेशत – आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनाम्– उत्क० अनु० रसद्वयस्य				आयुष चतुर्विधरसानाम्	
	अष्टौ भङ्गा	★	अष्टम एव एकभङ्ग	ओघवत्	अष्टौ भङ्गाः	ओघवत्
गति०	अपर्याप्तमनु० १			शेष० ४६	तिर्यगोघवर्जशेष० ४६	तिर्यगोघ० १
इन्द्रिय०			सर्वे एकेन्द्रियभेदा ७	सर्वविकल० त्रिपञ्चे० १२	सर्वविकल०त्रिपञ्चे० १२	सर्वके० ७
काय०			७ सर्वसाधारणवनस्पति, १२ शेषसूक्ष्म-अपर्याप्तबादरपृथ्व्यप्-तेजो-वायुकायभेदा, अपर्या प्रत्ये वन., वनौघभेदश्च०=२५	शेष० १७	४ पर्याप्तबादरपृथ्व्यप्तेजो वायु०, पर्याप्तप्रत्येकवन०, ३ सर्वत्रसकाय०=८	शेष० ३४
योग०	आहा० तन्मिश्र० वैक्रियमिश्र० ३			शेष० १५	सर्वमनोवचो० वैक्रिय० आहा० तन्मिश्र० १३	कार्म०, औदा०, तन्मिश्र० ३
वेद०	अवेद० १			त्रिवेद० ३	स्त्री० पु० २	नपु० १
कषाय०				सर्वे० ४		सर्वे० ४
ज्ञान०				सर्वे० ७	चतुर्ज्ञान०, विभङ्ग० ५	मत्यज्ञान० श्रुताज्ञान०, २
संयम०	सूक्ष्म० १	छेद★ परिहा.		शेष० ४	संयमौघ० सामा० छेद० परिहार० देश० ५	असंयम० १
दर्शन०				त्रिदर्शन० ३	चक्षुरवधि० २	अचक्षु० १
लेश्या०				सर्वे० ६	त्रिशुभले० ३	अशुभले० ३
भव्य०				भव्याभव्य० २		भव्याभव्य० २
सम्य०	औप०,सास्वा० मिश्र० ३			शेष० ४	सम्य०, क्षायिक०, वेदक०, सास्वा० ४	मिथ्या० १
संज्ञि०				संज्ञ्यसंज्ञि० २	संज्ञि० १	असंज्ञि० १
आहारि.				आहा० अना० २		आहा० १
सर्वमार्गणाः–	९	२	३२	१२७	१०१	६२
गाथाङ्कः–	३२७	३२८	३२८-३२९	३२९	३३०-१-२-३	३३३

卐 अबन्धका नाम ये प्रतिपक्षरसस्य बन्धकास्ते, न तु सर्वथाऽबन्धका इति । (गाथा ३२५)

★ प्रतिपन्नछेदोपस्थापनीयपरिहारसंयतादीना जघन्यादिपरिमाणानुसारेण सम्भवद्भङ्गा. स्वयमूह्याः ।

* आयुर्वर्जसप्तकर्मणां जघन्याजघन्यरसद्वयस्य भङ्गविचयप्रदर्शकं यन्त्रम् *

ओघत –चतुर्घातिगोत्राणाम्–जघन्यानुभागस्य चतुर्थ षष्ठो-ऽष्टमश्च इत्येव त्रयो भङ्गाः ।

,, ,, अजघन्यानुभागस्य तृतीय सप्तमो-ऽष्टमश्च ,, ,, , ।

वेदनीयनामाऽऽयुषाम्–जघन्याऽजघन्यरसद्वयस्याऽष्टम इत्येक एव भङ्ग । (गाथा ३३४)

सप्तप्रकृतीनां जघन्याजघन्यरसद्वयस्य						
आदेशत	ओघवत	अष्टौ भङ्गा	गोत्रस्य-ओघवत् षण्णाम् अष्टम	अष्टमः	चतु० ओघवत त्रयघा०-अष्टमः	जघ → चतुर्थषष्ठाष्टमाः अजघ०-→ तृतीय-सप्तमाऽष्टमा इति त्रय
गति०	तिर्यगोघ १	अपर्या० मनु० १				शेष० ४५
इन्द्रिय०			एकेन्द्रियौघ० बादरैके० पर्याप्त बादरैके० ३	अपर्याप्तबादरैके० सर्वसूक्ष्मैके० ४		नवविकल० त्रिपञ्चे० १२
काय०	तेजोवायुकायौघ० बादरतेजोवायु-कायौघ०=४			१२ शेषसूक्ष्मा-ऽपर्याप्तबादरपृथ्व्यप्तेजोवायुभेदा,वनौघ०, अपर्या०प्रत्ये०वन०, ७ सर्वे निगोदभेदाः =२५	३पृथिव्यप्-प्रत्येकवनौघभेद०, २ बादर-पृथिव्यप्काय० ५	पर्याप्त बादरपृथिव्यप्-तेजोवायु० पर्याप्तप्रत्येक-वन० सर्वत्रस०=८
योग०	काययोग०,औदारिकमिश्र ,कार्मण० ४	वैक्रियमिश्र० आहा० तन्मिश्र० ३				सर्वमनोवचो० वैक्रिय० ११
वेद०	नपुं० १	अवेद० १				स्त्री-पु० २
कषाय०	सर्वे० ४					
ज्ञान०	मत्यज्ञान श्रुताज्ञान० २		स्वयमूह्या ★			चतुर्ज्ञान० विभङ्ग०५
संयम०	असयम० १	सूक्ष्मसम्प० १	छेदो. परि० २			सयमौघ सामा देश ३
दर्शन०	अचक्षु० १					चक्षुरवधि० २
लेश्या०	अशुभले० ३					त्रिशुभले० ३
भव्य०	भव्याभव्य० २					
सम्य०	मिथ्या० १	उपशम० सास्वा० मिश्र० ३				सम्यक्त्वौघ० क्षायिक० वेदक० ३
संज्ञि०	असज्ञि० १					सज्ञि० १
आहारि०	आहा०अना०२					
सर्वमार्गणा.– २७		९	★ २+३	२९	५	
गाथाङ्कः– ३३५ ३३६		३३७-८	★ ३३८ ३३९	३४०-३४१	३४१-२	३४२

★ प्रतिपन्नछेदोपस्थापनीयसयतादीना जघन्यादिपरिमाणानुसारेण सम्भवद्भङ्गा. स्वयमूह्याः।

॥ अथैकादशं भागद्वारम् ॥

गतं भङ्गविचयद्वारम् । सम्प्रति क्रमप्राप्तस्य 'भागो' इत्यनेनोद्दिष्टस्य भागद्वारस्य व्याख्यानावसरः । भागप्ररूपणा नाम यदा विवक्षितकर्मण उत्कृष्टानुभागस्य बन्धका उत्कृष्टपदे वर्तन्ते, तदा विवक्षितकर्मण उत्कृष्टानुभागस्यानुत्कृष्टानुभागस्य च बन्धका विवक्षितकर्मणः सर्वबन्धकेषु कतितमे भागे वर्तन्ते ? इति प्रतिपादनम् , एवं जघन्याजघन्यानुभागयोरपि बन्धकानां भागप्ररूपणा विज्ञेया । तत्रादौ तावदोघतोऽष्टकर्मणामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागबन्धकानां भागान् निजगदिषुराह—

भागो उ अणंतयमो तिव्वऽणुभागस्स बंधगा णेया ।
अट्ठण्ह अणंतंमा अत्थि अतिव्वाणुभागस्स ॥३४४॥

(प्रे०) **'भागो उ'** इत्यादि , उत्तरार्धस्थम् **'अष्टानाम्'** इति पदमत्र पूर्वार्धेऽपि संबध्यते । ततोऽयमर्थः-अष्टानां कर्मणामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका जीवा अनन्ततमो भागो ज्ञेयाः । तेषां रसबन्धकानां जीवानामनन्ता भागाः क्रियन्ते , तेष्वेकोऽनन्ततमो भाग उत्कृष्टरसबन्धकाः, तद्यथा—घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः संज्ञिमिथ्यादृष्टयः, ते चोत्कृष्टतोऽप्यसंख्याता एव, अघातित्रयस्य तूत्कृष्टानुभागबन्धकाः सूक्ष्मसम्परायचरमसमयवर्तिनः, आयुष्कस्य पुनरप्रमत्तमुनयः, ते च सर्वे उत्कृष्टतोऽपि संख्याता एवेति परिमाणद्वारे सप्रमाणं निरूपयिष्यते । ततः प्रतिसमयमनुभागबन्धं विदधतां जीवानामपेक्षया ते सर्वे एकानन्तभागमात्राः, प्रतिसमयमनुभागबन्धकानां जीवानामानन्त्यात् । अथोत्तरार्धं विव्रियते **'अट्ठण्ह'** इत्यादि, पूर्वार्धस्थं 'बन्धका' इति पदमत्र सम्बध्यते । अष्टानां कर्मणामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका अनन्तांशाः–अनन्तबहुभागाः सन्ति । उत्कृष्टानुभागबन्धकरूपमेकमनन्ततमं भागं विहाय शेषाः सर्वेऽपि भागा अनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां भवन्तीति कृत्वा ॥३४४॥

साम्प्रतमादेशतो भागद्वारेण सप्तकर्मणामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकान् निरूपयिषुरादौ तावत् यासु मार्गणासु ते बन्धका अनन्ततमभागमात्रा भवन्ति तासु प्राह—

सत्तण्ह अणंतंमो तिव्वणुभागस्स तिरियकायेसुं ।
उरलदुगकम्मणेसुं णपुंसगे चउकसायेसुं ॥३४५॥
अण्णाणदुगे अयते अचक्खुदंसणनिअसुहलेसासुं ।
भवियेयरमिच्छेसुं असण्णिआहारगियरेसुं ॥३४६॥

(प्रे०) **'सत्तण्ह'** इत्यादि, तिर्यग्गतिसामान्य-काययोगौदारिकतन्मिश्रकार्मणयोगनपुंसकवेद-चतुष्कषायमत्यज्ञानश्रुताज्ञानासंयमाचक्षुर्दर्शनकृष्णनीलकापोतलेश्याभव्याभव्यमिथ्यात्वासंज्ञ्याहारका-

नाहारकलक्षणासु त्रयोविंशतिमार्गणासु सप्तानां 'तीव्रानुभागस्य' उत्कृष्टानुभागस्य बन्धका अनन्तांशाः–अनन्ततमभागमात्राः भवन्ति । कुतः ? इति चेद्, उच्यते–निरुक्तमार्गणासु प्रत्येकं जीवा अनन्ताः निगोदजीवानां प्रवेशात् । तत्र पुनः सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः सामान्यतः पञ्चेन्द्रियाः, विशेषतः पुनः कासुचिद् मार्गणास्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः सूक्ष्मसम्परायस्थाः, कासुचिद् सयमाभिमुखाः, घातिचतुष्कस्य त्वसंज्ञिमार्गणायां पञ्चेन्द्रियाः, शेषोक्तमार्गणासु संज्ञिमिथ्यादृष्टय इत्यादि, ते च संख्याता असंख्याता वा, ततः तत्तन्मार्गणासु प्रतिसमयं सप्तानामनुभागबन्धं विदधतामनन्तजीवानामपेक्षया उत्कृष्टानुभागस्य बन्धका अनन्ततमभागमात्राः । 'सव्वासु सेसभागा अत्थि अजेट्ठाणुभागस्स' इति वक्ष्यमाणवचनेन सर्वासु मार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः शेषभागप्रमिताः सन्ति । ततोऽत्र उत्कृष्टानुभागबन्धकरूपमेकमनन्ततमं भागं विहाय शेषा अनन्तबहुभागा अनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां भवन्तीति ॥३४५।३४६॥

अथ यासु मार्गणासु जीवाः सर्वसंख्यया संख्याता एव, तासु मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकान् भागद्वारेण विभावयिषुराह—

पज्जणरमणुस्सीसु सव्वत्थाहारदुगअवेएसु ।
मणणाणसंयमेसु समइयछेअपरिहारसुहुमेसु ॥३४७॥ [गीतिः]
होअन्ति संखभागो असंखभागो हवन्ति सेसासु ।
सव्वासु सेसभागा अत्थि अजेट्ठाणुभागस्स ॥३४८॥

(प्रे०) **'पज्जणर'** इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मनुष्ययोनिमती-सर्वार्थसिद्धदेवा-हारकाहारकमिश्रयोगापगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्य-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसम्परायलक्षणासु द्वादशमार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः **'संखभागो'** एकसंख्येयतमभागमात्रा भवन्ति । **'सव्वासु सेसभागा'** इत्यादिवचनात् सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः संख्यातबहुभागप्रमाणाः ।

अथ शेषमार्गणास्वाह–**असंखभागो हवन्ति सेसासु**' इति शेषासु-प्राग्भणितोद्धरितासु [1]"सत्तण्ह अणंतसा तिव्वणुभा स्स तिरियकायेसु" इत्यादिगाथाद्वयेनाभिहितास्त्रयोविंशतिमार्गणाः [2]"पज्जणर" इत्यादिगाथोक्ता द्वादशमार्गणा इति सर्वसंख्यया पञ्चत्रिंशन्मार्गणा वर्जयित्वा पञ्चत्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः **'असंख्यभागः'**–एकासंख्येयभागमात्रा भवन्ति । शेषमार्गणा नामत इमाः–गतिमार्गणास्थानस्य तिर्यग्गतिसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-सर्वार्थसिद्धभेदचतुष्कवर्जत्रिचत्वारिंशद्मार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्यैकोनत्रिंशत्यात्मकसर्वमार्गणाः, कायमार्गणास्थानस्य द्विचत्वारिंशदात्मकसर्वमार्गणाः, योगमार्गणास्थानस्य पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगवै-

---

१ (गाथा ३४५-३४६), २ (गाथा ३४७-३४८) ।

क्रियवैक्रियमिश्रयोगरूपा द्वादशमार्गणाः, स्त्रीपुरुषलक्षणे द्वे वेदमार्गणे, मतिश्रुतावधिज्ञानविभङ्ग-रूपाः चतुर्ज्ञानमार्गणाः, देशविरतिमार्गणा, चक्षुरवधिदर्शनमार्गणे, लेश्यामार्गणास्थानस्य तेजःपद्म-शुक्ललक्षणास्त्रिमार्गणाः, सम्यक्त्वमार्गणास्थानस्य सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिक-वेदकोपशम-मिश्रदृष्टि-सास्वादनलक्षणाः षड्मार्गणाः, संज्ञिमार्गणा चेत्येताः पञ्चत्रिंशदुत्तरशतमार्गणाः। अत्र सप्तैकेन्द्रि-यभेदवनस्पतिसामान्यसप्तसाधारणवनस्पतिकायलक्षणासु पञ्चदशमार्गणासु यद्यपि प्रत्येकमनन्ता जीवाः सन्ति तथापि तासु बादरसाधारणवनस्पतिकायाद्यनन्तजीवानामपि तत्तन्मार्गणासत्कोत्कृष्टा-नुभागबन्धस्वामित्वादुत्कृष्टानुभागबन्धका असंख्येयतमभागगता एव प्राप्यन्ते, न त्वनन्ततमभाग-मात्राः, एकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिकालमध्ये प्रत्येकं जीवानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यकाले व्य-तीते तत्तन्मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टानुभागबन्धस्य प्राप्यमाणत्वात्। शेषनिरयगत्यादिलक्षणासु विंशत्यु-त्तरशतमार्गणासु सप्तानामनुभागबन्धका असंख्येयाः, तेषु एकासंख्येयतमभागमात्रा उत्कृष्टानुभाग-स्य बन्धकाः सन्ति उत्कृष्टानुभागबन्धनिर्वर्तकाध्यवसायस्थानस्यैकत्वेन स्तोकैर्जीवैर्निष्पाद्यमान-त्वात्। अथ सर्वमार्गणास्वनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकान् भागद्वारेण प्राह–'**सव्वासु**' इत्यादि सुगमम्, नवरं '**सेसभागा**' इति यास्वेकोऽनन्तभागः एकोऽसंख्येयभागः, एकः संख्येयभागश्च सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका उक्ताः, तासु शेषा अनन्तबहुभागाः, असंख्येयबहुभागाः संख्येय-बहुभागाश्च यथाक्रमं सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः द्रष्टव्या इति ॥३४७।३४८॥ तदेवमादे-शतः सप्तकर्मणामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोर्भागद्वारेण बन्धकान् निरूप्य साम्प्रतमायुष्कस्य तानाह–

आउस्स अणंतंसो तिव्वऽणुभागस्स बंधगा णेया।
तिरिये सव्वेगिंदियणिगोअवणकायुरालियदुगेसुं ॥३४९॥ [गीतिः]
णपुमचउकसायेसुं दुअणाणेसु अयते अचक्खुम्मि।
तिअसुहलेसाभवियरमिच्छाऽसण्णीसु आहारे ॥३५०॥

(प्रे०) '**आउस्स**' इत्यादि, आयुष्कस्य तीव्रानुभागस्य-उत्कृष्टानुभागस्य बन्धका अनन्तांशः-एकानन्तभागमात्रा ज्ञेयाः। क्व? इत्याह–'**तिरिये**' इत्यादि, तिर्यग्गतिमार्गणायां '**सव्वेगिंदिय**' इत्यादि, सर्वशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् सर्वैकेन्द्रियेषु-सप्तैकेन्द्रियमार्गणासु, सर्वनिगोदेषु-सप्त-साधारणवनस्पतिकायमार्गणासु, वनस्पतिकायसामान्यमार्गणायां काययोगमार्गणायाम्, 'औदारिक-द्विके' औदारिकौदारिकमिश्रयोगमार्गणाद्वये, नपुंसके, चतुष्कषायमार्गणासु, द्वयज्ञानयोः-मत्य-ज्ञानश्रुताज्ञानमार्गणाद्वये, असंयममार्गणायाम्, अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां, 'त्र्यशुभलेश्यासु'-कृष्णनील-कापोतलेश्यामार्गणासु, भव्येतरयोः-भव्याभव्यमार्गणाद्वये, मिथ्यात्वमार्गणायामसंज्ञिमार्गणायामा-हारिमार्गणायां चैवं सर्वसंख्यया षट्त्रिंशद्मार्गणास्विति। कुतः? इति चेदुच्यते-कासुचिद् मार्गणास्वा-युष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाः संख्याताः, कासुचित्पुनरसंख्याताः आयुष्कस्य बन्धकास्त्वनन्ताः,

ततस्तदपेक्षयोत्कृष्टानुभागस्य बन्धका अनन्ततमभागमात्राः सुतरां घटते ।**'सव्वासु सेसभागा'** इत्यादिवचनेनायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका अनन्तबहुभागमात्रा भवन्ति ॥३४९।३५०॥

अथ पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु प्रकृतानुभागस्य भागद्वारेण बन्धकान् प्राह—

पज्जणरमणुस्सीसुं आहारदुगाणताइदेवेसुं ।
मणणाणसंयमसमइअछेअपरिहारसुक्कखइएसुं ॥३५१॥ [गीतिः]
होअन्ति संखभागो असंखभागो हवन्ति सेसासुं ।
सव्वासु सेसभागा अत्थि अतिव्वाणुभागस्स ॥३५२॥

(प्रे०) **'पज्जणर'** इत्यादि,-पर्याप्तमनुष्यमनुष्ययोनिमतीमार्गणाद्वये 'आहारद्विकानतादिदेवेषु'-आहारकाहारकमिश्रयोगमार्गणाद्वये आनतप्राणतारणाच्युतनवग्रैवे.कपञ्चानुत्तरसर्वार्थसिद्धद्वादशमार्गणासु, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां, संयमसामान्यसामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिमार्गणासु शुक्ललेश्यामार्गणायां, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां चेत्येतासु एकोनत्रिंशद्मार्गणासु आयुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः 'संख्यभागः' संख्येयतमभागमात्रा भवन्ति । एतासु मार्गणास्वायुष्कस्य बन्धकानां संख्यातप्रमाणत्वात् ज्येष्ठानुभागबन्धकाः संख्यातभागमात्रा न त्वसंख्यभागादिमात्राः । अज्येष्ठानुभागबन्धकाः पुनः संख्येयबहुभागमिता विज्ञेयाः ।

अथ शेषमार्गणासु कथयति-**'असंखभागो हवन्ति सेसासु'** 'आउस्स अणंतमो' इत्यादिगाथाद्वयेनाभिहिताः तिर्यग्गत्यादिरूपाः पट्त्रिंशद्मार्गणाः, 'पज्जणर' इत्यादिगाथोक्ता एकोनत्रिंशन्मार्गणाः सर्वसंख्यया पञ्चषष्टिमार्गणाः ता वर्जयित्वा शेषासु अष्टनवतिमार्गणास्वित्यर्थः,आयुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः तत्तन्मार्गणागतबन्धकापेक्षया कतितमे भागे वर्तन्ते ? इत्याह-**'असंखभागो'** इत्यादि, असंख्येयतमभागमात्रा भवन्ति, **'सव्वासु सेसभागा अत्थि अतिव्वाणुभागस्स'** इत्यनेन शेषमार्गणासु असंख्यबहुभागमिता आयुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका भवन्ति, । शेषमार्गणा नामत इमाः-गतिमार्गणास्थानस्य नरकसामान्यप्रथमादिसप्तनरकपञ्चेन्द्रियतिर्यक् तिर्यग्योनिमतीपर्याप्तापर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यसामान्यापर्याप्तमनुष्यदेवसामान्यभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मादिसहस्रारपर्यन्तवैमानिकदेवलक्षणाः षड्विंशतिमार्गणाः,इन्द्रियमार्गणास्थानस्य नवविकलेन्द्रियत्रिपञ्चेन्द्रियरूपाः द्वादशमार्गणाः,कायमार्गणास्थानस्य वनस्पतिकायसामान्यसप्तसाधारणवनस्पतिकायभेदवर्जचतुस्त्रिंशद्मार्गणाः, योगमार्गणास्थानस्य पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगवैक्रियकाययोगरूपाः एकादशमार्गणाः, वेदमार्गणास्थानस्य स्त्रीपुरुषलक्षणे द्वे मार्गणे, ज्ञानमार्गणास्थानस्य मतिश्रुतावधिज्ञानविभङ्गरूपाश्चतुर्ज्ञानमार्गणाः, देशविरतिमार्गणा, चक्षुरवधिदर्शनमार्गणे,तेजःपद्मलेश्यामार्गणे, सम्यक्त्वमार्गणास्थानस्य सम्यक्त्वसामान्यवेदकसास्वादनलक्षणास्त्रिमार्गणाः, संज्ञिमार्गणा चेत्येता अष्टनवतिमार्गणाः ॥३५१।३५२॥

तदेवमुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोर्भागद्वारेण बन्धकान् निर्दिश्य संप्रति जघन्याजघन्यानुभागयोर्भागद्वारेण बन्धकान् निरूपयिषुरादौ तावदोघत आह—

णेया अणंतभागो मंदणुभागस्स घाइगोआणं ।
सेसाण असंखंसो णेया इयरस्स सेसंसा ॥३५३॥

(प्रे०) '**णेया**' इत्यादि, 'घातिगोत्रयोः' चतुर्घातिगोत्रलक्षणानां पञ्चानां प्रकृतीनां मन्दानुभागस्य-जघन्यानुभागस्य बन्धका अनन्तभागाः-एकानन्ततमभागप्रमाणा ज्ञेयाः । कुतः ? भण्यते-घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन क्षपका उक्ताः, ते च उत्कृष्टतोऽपि संख्याता एव लभ्यन्ते, गोत्रस्य तु सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमनारकाः कथिताः,ते चोत्कृष्टतोऽप्यसंख्याता एव, घातिगोत्रप्रकृतीनां सामान्यतो बन्धकाः पुनरनन्ताः, ततस्तदपेक्षया जघन्यानुभागबन्धका एकानन्ततमभागमात्राः भवन्ति । '**इयरस्स सेसंसा**' इति वचनेन तासां पञ्चानामजघन्यानुभागस्य बन्धकाः शेषांशाः-एकानन्ततमभागवर्जशेषानन्तबहुभागप्रमाणा भवन्ति ।

अथ शेषप्रकृतीनामाह–'**सेसाण असंखंसो**' इति शेषाणां-प्रागुक्तघातिगोत्रवर्जवेदनीयनामायुष्कलक्षणानां तिसृणां प्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य बन्धका 'असंख्यांश-एकासंख्येयतमभागमात्रा भवन्ति । भावना त्वियम्-तिसृणां परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जघन्यानुभागबन्धस्याभिहितत्वेन निगोदानामपि तद्बन्धकत्वात् तासामनन्ताः बन्धकाः प्राप्यन्ते, सर्वसंसारिजीवानामुत्कृष्टतोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमये व्यतीते तासां जघन्यानुभागबन्धस्य नियमेन प्राप्यमाणत्वात् सामान्यतोऽनुभागबन्धकापेक्षया असंख्येयगुणेन हीना भवन्ति,अत एव तासां जघन्यानुभागबन्धका एकासंख्येयतमभागमात्रा उक्ताः, न त्वनन्ततमभागमात्रा इति । '**इयरस्स सेसंसा**' इति तासां तिसृणामितरस्य-अजघन्यानुभागस्य बन्धकाः शेषांशाः-प्रागुक्तैकासंख्यभागवर्जशेषभागाः असंख्यबहुभागा इत्यर्थः ॥३५३॥तदेवमोघतोऽष्टप्रकृतीनां जघन्याजघन्यानुभागयोर्बन्धकानां भागप्ररूपणा कृता । अधुना सप्तप्रकृतीनामादेशतस्तामेवाह—

मंदरसस्स हवेज्जा सत्तण्होघव्व तिरियकायेसु ।
उरलदुगकम्मणेसु णपुंसगे चउकसायेसु ॥३५४॥
अण्णाणदुगे अयते अचक्खुदंसणतिअसुहलेसासु ।
भवियेयरमिच्छेसु असण्णिआहारगियरेसु ॥३५५॥

(प्रे०) '**मंदरसस्स**' इत्यादि,सप्तानां–आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां मन्दरसस्य-जघन्यानुभागस्य बन्धका ओघवद् ज्ञेयाः, तद्यथा-चतुर्घातिगोत्रप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य बन्धका अनन्ततमभागमात्राः, वेदनीयनामकर्मणोः पुनरसंख्येयतमभागमात्राः, तासामजघन्यानुभागस्य बन्धकास्तु शेषभागप्रमाणा

वेदितव्याः । कुत्र ? इत्याह-**'तिरियकायेसु'** इत्यादि, तिर्यग्गतिसामान्य-काययोगौदारिकौदारिकमिश्रकार्मणयोगनपुंसकवेदचतुष्कषायमत्यज्ञानश्रुताज्ञानासंयमाचक्षुर्दर्शनकृष्णनीलकापोतभव्या--भव्यमिथ्यात्वासंज्ञ्याहारकानाहारकलक्षणासु त्रयोविंशतिमार्गणास्विति ।

एतासु मार्गणासु प्रत्येकं सप्तानां कर्मणामनुभागबन्धका अनन्ताः, तेषु घातिकर्मणां जघन्यानुभागबन्धकाः संख्याता असंख्याता वा गोत्रस्य त्वसंख्याता एव प्राप्यन्ते, कुतः ? घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन यत्र मनुष्याः प्राप्यन्ते तत्र तज्जघन्यानुभागबन्धकाः संख्याताः । यासु पुनः सामान्यतः सर्वविशुद्धाः पञ्चेन्द्रियजीवाः तास्त्वऽसंख्याता ज्ञातव्याः । गोत्रकर्मणः पुनर्जघन्यानुभागस्य बन्धकः कासुचिद् मार्गणासु सर्वविशुद्धस्तेजःकायिको वायुकायिको वा कासुचिद् मार्गणासु पुनः सप्तमनारकः ततस्तज्जघन्यानुभागबन्धका अत्राऽसंख्याता एव वेदितव्याः । अत एव घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकाः संख्याता असंख्याता वा प्रोक्ताः । गोत्रस्य पुनरसंख्याता एव दर्शिताः । तेन पञ्चानां जघन्यानुभागबन्धकाः एकानन्तभागमात्रा भवन्ति । अनन्तापेक्षया संख्यातासंख्यातयोरनन्ततमभागमात्रत्वात् वेदनीयनामकर्मणोस्तु जघन्यानुभागस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वादसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणकाले व्यतीते तज्जघन्यानुभागबन्धो नियमात् प्राप्यते, तेनासंख्यलोकभाजितैकभागमात्रा जघन्यानुभागस्य बन्धकाः प्राप्यन्ते । अजघन्यानुभागस्य बन्धकाः 'सव्वासु सेसभागा' इत्यादिवचनाद् घातिगोत्राणामनन्तबहुभागाः, वेदनीयनाम्नोरसंख्येयबहुभागप्रमाणा लभ्यन्त इति ॥३५४।३५५॥ अथ पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु निर्वक्ति—

पज्जणरमणुस्सीसुं सव्वत्थाहारदुगअवेएसुं ।
मणणाणसंयमेसुं समइअछेअपरिहारसुहमेसुं ॥३५६॥ [गीति
होअन्ति संखभागो एगिंदियसक्कसव्वभेएसुं ।
छण्हं असंखभागो अणंतभागोऽत्थि गोअस्स ॥३५७॥

(प्रे०)**'पज्ज'** इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मनुष्ययोनिमतीमार्गणाद्वये,**'सव्वत्थाहारदुगअवेएसु'** सर्वार्थसिद्धाहारकाहारकमिश्रयोगापगतवेदमार्गणासु, मनःपर्यवज्ञानसंयमसामान्यमार्गणाद्वये, सामायिकछेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्परायमार्गणासु चेत्येतासु द्वादशमार्गणासु सप्तानां जघन्यानुभागस्य बन्धकाः संख्यातैकभागमात्राः, 'सव्वासु सेसभागा' इत्यादिवचनात् तासामजघन्यानुभागस्य बन्धकाः संख्यातबहुभागमात्रा भवन्ति, आसु मार्गणासु संख्यातजीवानामेव सद्भावात् ।

साम्प्रतमेकेन्द्रियस्य सप्तभेदेष्वाह-**'एगिंदिय'** इत्यादि,एकेन्द्रियसत्कसर्वभेदेषु षण्णां-घातिचतुष्कवेदनीयनामलक्षणानां प्रकृतीनामसंख्येयतमैकभागमात्रा जघन्यानुभागस्य बन्धका भवन्ति, निगोदजीवानामपि तासां जघन्यानुभागस्य बन्धसद्भावेन तद्बन्धका अनन्ताः । ते च मार्गणागतजीवानपेक्ष्यैकासंख्यभागमात्राः । गोत्रस्य पुनरनन्तभागः-अनन्ततमैकभागमात्राः भवन्ति, तेजस्का-

यिकवायुकायिकानामेव गोत्रस्य जघन्यानुभागस्य बन्धसद्भावेन तद्बन्धकानामसंख्येयत्वाद-नन्तराशिप्रमाणैकेन्द्रियापेक्षया च तेषामनन्तगुणहीनत्वात् । 'सव्वासु सेसभागा' इत्यादिवक्ष्यमाण-वचनेन षण्णां प्रकृतीनामजघन्यानुभागस्य बन्धका असंख्येयबहुभागप्रमिताः, गोत्रस्य पुनरनन्त-बहुभागप्रमाणा भवन्तीति ।।३५६।३५७।। इदानीं शेषमार्गणासु प्रकृतमाह—

सेसासु मग्गणासु असंखभागो हवन्ति सत्तण्हं ।
सव्वासु सेसभागा अत्थि असंदाणुभागस्स ।।३५८।।

(प्रे०) **'सेसासु'** इत्यादि, शेषासु-प्रागभणितोद्धरितासु-अष्टाविंशत्युत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः, सप्तानां प्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य बन्धकाः 'असंख्येयभागः' असंख्येयतमैकभागमात्रा भवन्ति । सर्वासु मार्गणासु सप्तानामजघन्यानुभागस्य बन्धकाः शेषभागा भवन्ति, ततोऽत्र असंख्येयबहुभागप्रमाणा अजघन्यानुभागस्य बन्धका भवन्ति इत्यर्थः ।

शेषमार्गणा नामतः इमाः-गतिमार्गणास्थानस्य नरकसामान्य-प्रथमादिसप्तनरक-तिर्यग्गतिसा-मान्यवर्जचतुष्पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेद-मनुष्यसामान्यापर्याप्तमनुष्यगतिभेद-सर्वार्थसिद्धवर्जैकोनत्रिंशद्देव-भेदरूपास्त्रिचत्वारिंशन्मार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य नवविकलेन्द्रिय-त्रिपञ्चेन्द्रियलक्षणा द्वाद-शमार्गणाः, कायमार्गणास्थानस्य सर्वभेदप्रभेदप्रयुक्ता द्वाचत्वारिंशन्मार्गणाः, योगमार्गणास्थानस्य पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगवैक्रियवैक्रियमिश्रयोगरूपा द्वादशमार्गणाः, वेदमार्गणास्थानस्य स्त्रीपु-रुषलक्षणे द्वे मार्गणे, ज्ञानमार्गणास्थानस्य मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानविभङ्गज्ञानलक्षणाश्चतुर्मा-र्गणाः, संयममार्गणास्थानस्य देशविरतिरूपा एकैव मार्गणा, दर्शनमार्गणास्थानस्य चक्षुरवधिलक्षणे द्वे मार्गणे, लेश्यामार्गणास्थानस्य तेजःपद्मशुक्ललक्षणास्त्रिमार्गणाः । सम्यक्त्वमार्गणास्थानस्य मिथ्यात्ववर्जषण्मार्गणाः, संज्ञिमार्गणा चेत्येताः अष्टाविंशत्युत्तरशतमार्गणा इति ।

अत्र वनस्पतिकायसामान्य-साधारणवनस्पतिकायसप्तभेदवर्जविंशत्युत्तरशतमार्गणासु जीवा एवासंख्याताः ततः सप्तानां जघन्यानुभागस्य बन्धका एकासंख्येयतमभागमात्रा भवन्ति, किन्तु वनस्पतिकायसामान्याद्यष्टमार्गणासु जीवा अनन्ताः, तर्हि सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकाः कथमेका-नन्तभागमात्रा नाभिहिताः ? उच्यते–निरुक्ताष्टमार्गणासु परावर्तमानमध्यमपरिणामेन वेदनीय-नामगोत्राणां जघन्यानुभागस्य बन्धसद्भावेनासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणकाले व्यतीते सर्वेषां वनस्पतिजीवानां पुनः तज्जघन्यानुभागबन्धस्य सद्भावात् तथा घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्य निगोदजीवानामपि संभवात् सप्तानां जघन्यानुभागबन्धस्य बन्धका अनन्ता लभ्यन्ते, ते च स्वस्व-मार्गणावर्तिसर्वजीवेभ्य असंख्येयगुणहीनाः, ततस्ते एकासंख्येयभागमात्रा भवन्ति न त्वनन्तत-मभागमात्रा इति ।।३५८।।

तदेवं सप्तानां जघन्याजघन्यानुभागयोर्भागद्वारेण बन्धकान् निरूप्य साम्प्रतमायुष्कस्य तानेवाह–

पज्जणरमणुस्सीसुं आहारदुगाणताइदेवेसुं ।
मणणाणसंयममसइअछेअपरिहारसुक्कखइएसुं ॥३५९॥
आउस्स संखभागो मंदऽणुभागस्स बंधगा णेया ।
सेसासु असंखंसो सव्वह इयरस्स सेसंसा ॥३६०॥

(प्रे०) **'पज्जणर'** इत्यादि, पर्याप्तमनुष्यमानुष्योः 'आहारकद्विकानतादिदेवेषु'-आहारकाहारकमिश्रयोगमार्गणाद्वये आनतप्राणतारणाऽच्युतनवग्रैवेयकपञ्चानुत्तरलक्षणास्वष्टादशमार्गणासु,मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्य--सामायिक--छेदोपस्थापनीय--परिहारविशुद्धि--शुक्लेश्या--क्षायिकलक्षणासु सप्तमार्गणासु चेत्येतास्वेकोनत्रिंशन्मार्गणासु आयुष्कस्य मन्दानुभागस्य--जघन्यानुभागस्य बन्धकाः--संख्येयतमभागमात्रा ज्ञेयाः, **'सव्वह इयरस्स सेसंसा'** इत्यादिवचनेन तस्याऽजघन्यानुभागस्य बन्धकाः संख्यातबहुभागप्रमिता भवन्ति । आनतादिषु यद्यपि जीवा असंख्याताः, तथापि तेषां गर्भजमनुष्यतयैव उत्पादादायुष्कस्य बन्धकाः संख्याता एव लभ्यन्ते, प्रस्तुतद्वारे च बन्धकजीवापेक्षया एव भागप्ररूपणा विधास्यते इति प्राक् कथितं, तत आनतादिदेवेष्वायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकाः संख्येयतमभागमात्रा उक्ताः ।

अथ शेषमार्गणास्वाह— **'सेसासु'** इत्यादि शेषासु प्रागुक्तैकोनत्रिंशद्वर्जितासु चतुस्त्रिंशदुत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः, आयुष्कस्य जघन्यानुभागस्य बन्धकाः ज्ञेया इत्यनुवर्तते । कतिभागाः ? इत्याह– **'असंखंसो'** असंख्यांशः-असंख्येयतमभागमात्रा इत्यर्थः । अजघन्यानुभागस्य बन्धकाः पुनः कतिभागप्रमाणाः ? इत्याह– **'सव्वह'** इत्यादि, सर्वत्र इतरस्य-अजघन्यानुभागस्य बन्धकाः शेषांशाः शेषभागप्रमाणाः, जघन्यानुभागस्य बन्धकानां यावान् भागः तावन्तं भागं वर्जयित्वा शेषभागप्रमिता भवन्तीति भावः । ततश्च शेषमार्गणासु जघन्यानुभागस्य बन्धकानामसंख्येयतमैकभागं विहाय शेषासंख्येयबहुभागप्रमाणा अजघन्यानुभागस्य बन्धका भवन्ति । शेषमार्गणा नामत इमाः-गतिमार्गणास्थानस्य नरकगतेः भेदप्रभेदयुक्ताः सर्वमार्गणाः, तिर्यग्गतेः सर्वमार्गणाः,मनुष्यगतेः मनुष्यसामान्यापर्याप्तमनुष्यलक्षणे द्वे मार्गणे, देवगतेर्देवसामान्यभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मादिसहस्रारपर्यन्तवैमानिकलक्षणाः द्वादशमार्गणाः सर्वमीलने सप्तविंशतिमार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य भेदप्रभेदप्रयुक्ताः सर्वमार्गणाः, कायमार्गणास्थानस्य भेदप्रभेदयुक्तसर्वमार्गणाः, योगमार्गणास्थानस्य पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगकाययोगसामान्यौदारिकौदारिकमिश्रवैक्रियकाययोगरूपाश्चतुर्दशमार्गणाः,-वेदमार्गणास्थानस्य स्त्रीपुरुषनपुंसकलक्षणास्त्रिमार्गणाः, कषायमार्गणास्थानस्य चतुर्मार्गणाः, ज्ञानमार्गणास्थानस्य मनःपर्यवज्ञानवर्जषण्मार्गणाः, संयममार्गणास्थानस्य देशविरत्यसंयमलक्षणे द्वे मार्गणे, दर्शनमार्गणास्थानस्य चक्षुरचक्षुरवधिरूपास्त्रिमार्गणाः, लेश्यामार्गणास्थानस्य शुक्ललेश्यावर्ज-

पञ्चमार्गणाः, भव्यमार्गणास्थानस्य भव्याभव्यरूपे द्वे मार्गणे, सम्यक्त्वमार्गणास्थानस्य सम्यक्त्व-सामान्य-वेदक-सास्वादन-मिथ्यात्वरूपाश्चतुर्मार्गणाः, संज्ञ्यसंज्ञिलक्षणे द्वे मार्गणे, आहारकमार्गणा चेत्येताश्चतुस्त्रिंशदुत्तरशतमार्गणा इति ॥३५९।३६०॥

प्रस्तुतद्वारोक्तार्थसंग्रहपरं बन्धकभागप्रदर्शकं यन्त्रं त्विदम्—★

तदेवमुक्ता आयुःकर्मणो जघन्याजघन्यानुभागबन्धकानां भागप्ररूपणा, तेन चावसिता सर्वासां मूलप्रकृतीनां जघन्याजघन्यरसयोर्बन्धकानां भागप्ररूपणा, तदवसाने च समर्थिता उत्कृष्टानुत्कृष्ट-जघन्याजघन्यानुभागबन्धकानाश्रित्य भागप्ररूपणा तत्समर्थने च समाप्तिं गतं "भागो" इत्यनेनो-द्दिष्टमेकादशं भागद्वारमिति ।

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे प्रथमाधिकारे एकादशं भागद्वारं समाप्तम् ॥



★ बन्धकानां भागप्रदर्शकयन्त्रं दिदृक्षवः पाठकाः पश्यन्तु २५५ तमं पृष्ठम् ।

* अष्टमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टजघन्येतररसबन्धकानां भागप्रदर्शकयन्त्रम् *

ओघतः—अष्टकर्मणाम् उत्कृष्टरसबन्धका अनन्तैकभागमात्रा ,, ,, अनुत्कृष्ट,, ,, अनन्तबहुभागमात्रा. (गाथा ३५४)	चतुर्घाति ोत्राणाम्-जघन्यरसबन्धकाअनन्तैकभागमात्रा ,, ,, ,, अजघन्य ,, ,, ,, अनन्तबहु ,, ,, वेदनी ानामायुषामजघन्य ,, ,, असंख्यातैकभाग ,, (गाथा-३५३) अजघन्य ,, ,, असख्यातबहु ,, ,,

आदेशत — आयुर्वर्ज ाप्रकृतोनाम्- उत्कृष्टजघन्ययो —ओघवन	सख्यातैकभाग०	असख्यातैकभाग०	आयुषः— ओघवन 卐	सख्यातैकभाग०	असंख्यातैकभाग०

अनुत्कृष्ट-ऽजघन्य०	ओघवन	सख्यातबहुभाग०	असख्यातबहुभाग.	ओघवन 卐	सख्यातबहुभाग०	असख्यात-बहुभाग०
गति०	तिर्यगोघ० १	पर्या मनुष्य मानुषी सर्वार्थसिद्धदेव ३	शेष० ४३	तिर्यगोघ० १	पर्याप्तमनुष्य०मानुषी आनतादिसर्वार्थ-सिद्धान्तदेव० २०	शेष० २६
इन्द्रिय०			★ सर्व० १९	सर्वैकेन्द्रियभेद० ७		शेष १२
काय०			सर्व० ४२	वनौघ सर्वनिगोदभे-८		शेष ३४
योग०	काययोगौघ० औदारिक-तन्मिश्र० कार्मण० ४	आहारक-तन्मिश्र० २	शेष० १२	काययोगौघ० औदारिक-तन्मिश्र० ३	आहारक-तन्मिश्र० २	शेष० ११
वेद०	नपुंसक० १	अवेद० १	स्त्री० पुं. २	नपुंसक १		स्त्री०पु २
कषाय०	सर्व० ४			सर्व ४		
ज्ञान०	मत्यज्ञा०श्रुताज्ञा०२	मन पर्यव १	शेष० ४	मत्यज्ञा०श्रुताज्ञा० २	मनःपर्यव० १	शेष० ४
संयम०	असयम० १	सयमोघ सामा छेदो.परि सूक्ष्म ५	देशसयम १	असंयम० १	संयमौघ० सामा० छेदो० परिहार० ४	देशसंयम० १
दर्शन०	अचक्षु० १		चक्षु० अवधि० २	अचक्षु० १		चक्षु अवधि २
लेश्या०	अशुभत्रिले० ३		शुभले० ३	अशुभत्रिले० ३	शुक्ल० १	तेज. पद्म० २
भव्य०	भव्य० अभव्य० २			भव्य० अभव्य० २		
सम्य०	मिथ्यात्व० १		शेष० ६	मिथ्यात्व० १	क्षायिक० १	शेष० ३
संज्ञि०	असज्ञि० १		संज्ञि० १	असंज्ञि० १		सज्ञि० १
आहारि०	आहा० अना० २			आहारि० १		
सर्वमार्गणा.— २३		१२	१३५	卐 ३६	२९	९८
गाथाङ्कः-३४५-६-३५४-५		३४७-८-३५६-७।	३४८-३५८	३४९-३५०-६	३५१-२	३५२

★ सर्वैकेन्द्रिय (७) भेदेषु गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धका एकानन्तभागमात्रा , अजघन्यरसबन्धकाःपुनरनन्त-बहुभागप्रमिताः । (गाथा ३५७)

卐 एतत्षट्त्रिंशन्मार्गणासु (३६) आयुषो जघन्यरसबन्धका एकासख्यातभागमात्राः, तत एताः (३६) शेषाष्टनवतिमार्गणाभि (९८) सह मीलिता चतुस्त्रिंशदुत्तरशतमार्गणाः सजाताः, तासु (१३४) आयुषो जघन्यरसबन्धका एकासख्यातभागमात्रा., अजघन्यरसबन्धकाः पुनरसख्यातबहुभागप्रमाणा. । (गा ३६०)

॥ अथ द्वादशं परिमाणद्वारम् ॥

गता भागप्ररूपणा । इदानीं क्रमप्राप्तं परिमाणद्वारं वक्तुमुपक्रमते—

घाईण असंखेज्जा तिव्वाणुभागस्स बंधगा णेया ।
सेसाणं संखेज्जाऽण्णस्स अणंताऽत्थि सव्वाणं ॥३६१॥

(प्रे०) 'घाईण' इत्यादि ओघतः- समस्तजीवराश्यपेक्षया घातिनां-चतुर्घातिप्रकृतीनां तीव्रानुभागस्य-उत्कृष्टरसस्य बन्धका असंख्याता ज्ञेयाः, संज्ञिमिथ्यादृष्टीनामेव घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेनाभिहितत्वात् । 'सेसाणं संखेज्जा' इति शेषाणां चतुर्घातिवर्जचतुरघातिप्रकृतीनां संख्याताः, उत्कृष्टानुभागस्य बन्धका ज्ञेया इत्यनुवर्तते । अघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्य स्वामित्वेन क्षपकः, आयुष्कस्य पुनरप्रमत्तः प्रागभिहित इति कृत्वा । अथ तासां सर्वासामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां परिमाणमाह-'ऽण्णस्स' इत्यादि, लुप्ताकारस्य दर्शनात् अन्यस्य-उत्कृष्टानुभागादन्यस्य अनुत्कृष्टानुभागस्येत्यर्थः बन्धका अनन्ताः सन्ति । अष्टप्रकृतीनां बन्धकजीवेभ्य उत्कृष्टानुभागबन्धकजीवान् वर्जयित्वा शेषसर्वजीवानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धसद्भावात् ॥३६१॥

तदेवमोघतः परिमाणप्ररूपणा कृता । अथ मार्गणास्वुत्कृष्टाद्यनुभागस्य बन्धकानां परिमाणं वक्तुं प्रक्रमते । तत्रादौ यासु मार्गणासु सप्तकर्मणामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः संख्यातास्ताः, यासु चानन्तास्ता गाथाद्वयेन प्ररूपयति—

आउगवज्जाण तिणरसव्वत्थाहारदुगअवेएसुं ।
मणणाणसंयमेसुं समइअछेअपरिहारसुहमेसुं ॥३६२॥ [गीतिः]
होअन्ति बंधगा खलु संखा उक्कोसियाणुभागस्स ।
णेया सव्वेगिंदियणिगोअहरिएसु य अणंता ॥३६३॥

(प्रे०) 'आउगवज्जाण' इत्यादि, तत्र 'आउगवज्जाण' इत्यस्य 'होअन्ति' इत्यादि, उत्तरगाथायाः पूर्वार्धेन सहान्वयः, ततश्च आयुर्वर्जानां-सप्तानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः खलुः-वाक्यालङ्कारे, संख्याता भवन्ति । कासु मार्गणास्वित्याह-'तिणर' इत्यादि, त्रिमनुष्येषु- मनुष्यसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मनुष्ययोनिमतीलक्षणासु त्रिमार्गणासु, सर्वार्थसिद्धदेवभेदे आहारकतन्मिश्रयोगलक्षणयोर्द्वयोर्मार्गणयोः, अवेदमार्गणायां, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां, संयमसामान्यसामायिक-छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धि सूक्ष्मसंपरायमार्गणासु चेत्येतासु त्रयोदशमार्गणासु । तत्र मनुष्यसामान्यमार्गणां वर्जयित्वा शेषासु द्वादशमार्गणासु संख्यातानामेव जीवानां सद्भावात् ,मनुष्यसामान्यमार्गणायामपि

पर्याप्तमनुष्याणामेवोत्कृष्टरसबन्धसद्भावात् तेषां चोत्कृष्टतोऽपि संख्येयमात्रत्वादुक्ताधिकपरिमाणस्यासम्भव इति । अथ यासु तद्बन्धकानां परिमाणमनन्तं ता मार्गणाः संगृह्याह–'णेया' इत्यादि, सर्वशब्दस्य योजनात् सर्वे एकेन्द्रियभेदाः, सर्वे च निगोदभेदाः, हरितभेदः–वनस्पतिकायसामान्यभेदश्चेत्येतासु पञ्चदशमार्गणासु अनन्ता ज्ञेयाः, सप्तकर्मणामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका इत्यनुवर्तते, उत्कृष्टानुभागबन्धस्य निगोदजीवानामपि प्राप्तेरानन्त्यं सुतरां घटते इति ॥३६२।३६३॥

साम्प्रतं यासु मार्गणासु घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धका असंख्याताः, अघातित्रयस्य च संख्याताः, तासु मार्गणासु तथैवाह–

विण्णेया दुपणिंदियतसपणमणवयणकायजोगेसुं ।
उरलदुगतिवेएसुं कसायचउगे तिणाणेसुं ॥३६४॥
तिअणाणदेसअविरयतिदरिसणपसत्थलेसभवियेसुं ।
सम्मत्तखाइगेसुं वेअगुवसमेसु मिच्छत्ते ॥३६५॥
सण्णिम्मि तहाहारे घाईण असंखिया अघाईणं ।
संखेज्जा सेसासुं सत्तण्ह असंखिया णेया ॥३६६॥

(प्रे०) 'विण्णेया' इत्यादि, द्विशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् द्विपञ्चेन्द्रिययोः-पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणयोः, द्वित्रसयोः-त्रसकायौघपर्याप्तत्रसकायमार्गणयोः, पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगमार्गणासु, काययोगमार्गणायाम्, औदारिकौदारिकमिश्रमार्गणाद्वये, वेदत्रये, कषायचतुष्के, त्रिज्ञानेषु-मतिश्रुतावधिलक्षणासु तिसृषु ज्ञानमार्गणासु त्र्यज्ञानेषु-मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानलक्षणासु तिसृषु अज्ञानमार्गणासु, देशविरतासंयममार्गणाद्वये, चक्षुरचक्षुरवधिलक्षणासु त्रिदर्शनमार्गणासु, तेजःपद्मशुक्लाख्यासु, त्रिलेश्यामार्गणासु, भव्यमार्गणायाम्, सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिक-वेदकोपशम-मिथ्यात्वरूपपञ्चमार्गणासु, संज्ञिमार्गणायां तथाऽऽहारकमार्गणायामित्येतासु षट्चत्वारिंशद्मार्गणासु चतसृणां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका असंख्याताः, तिसृणामघातिप्रकृतीनां पुनः संख्याताः । कुतः ? इति चेद्, उच्यते-अघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागस्य पर्याप्तमनुष्याणामेव बन्धसद्भावात्, तेषां च संख्येयत्वात्, घातिचतुष्कस्य पुनः सञ्ज्ञिजीवानां बन्धसद्भावात् तेषां च निरुक्तमार्गणासु प्रत्येकमसंख्येयप्रमाणत्वादिति । अथ शेषमार्गणासु निरूपयति–'सेसासुं सत्तण्ह असंखिया णेया' इति शेषासु प्रागुक्तशेषासु-षण्णवतिमार्गणास्वित्यर्थः, सप्तानां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका असंख्याता ज्ञेयाः । शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः-नरकगतेः सर्वभेदप्रभेदाः, तिर्यग्गतेः सर्वभेदप्रभेदाः, मनुष्यगतेरपर्याप्तमनुष्यभेदः, देवगतेश्च सर्वार्थसिद्धदेववर्जसर्वभेदाः सर्वसंख्यया गतिमार्गणास्थानस्य त्रिचत्वारिंशद्मार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य नवविकलाक्षापर्याप्त-

पञ्चेन्द्रियलक्षणा दशमार्गणाः, पृथ्व्यप्तेजोवायुकायिकानां प्रत्येकं सप्त सप्त भेदाः, तथा प्रत्येकवनस्पतिकायिकानां त्रयो भेदाः तथाऽपर्याप्तत्रसकायः सर्वमीलने कायमार्गणास्थानस्य द्वात्रिंशन्मार्गणाः, योगमार्गणास्थानस्य वैक्रियवैक्रियमिश्रकार्मणयोगलक्षणास्तिस्रो मार्गणाः, लेश्यामार्गणास्थानस्य कृष्णनीलकापोतलक्षणास्तिस्रो मार्गणाः, अभव्यमार्गणा सम्यक्त्वमार्गणास्थानस्य सास्वादनमिश्रदृष्टिलक्षणे द्वे मार्गणे, असंज्ञिमार्गणा, अनाहारकमार्गणा चेत्येताः पण्णवतिमार्गणा इति ।

अत्र सर्वासु मार्गणासु जीवा असंख्याताः । सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका ये संख्येयराशिप्रमाणाः केवलपर्याप्तमनुष्यादयस्ते एवात्र न प्राप्यन्ते, अत एवैतासु तासामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः प्रकृष्टतः असंख्याता लभ्यन्त इति । मतान्तरमधिकृत्य यदि वैक्रियमिश्र कार्मणाऽनाहारकमार्गणास्वघातित्रयसत्कोत्कृष्टानुभागबन्धस्य स्वामित्वेनोपशान्तमोहगुणस्थानके कालं कृत्वा देवत्वं प्राप्तो जीवः स्वीक्रियते तदा तद्बन्धकाः संख्याता एव लभ्यन्ते, श्रेणौ कालं कृत्वा तत्तन्मार्गणायां देवत्वेनोत्पद्यमानानां संख्येयमात्रत्वात् ॥३६४।३६५।३६६॥

तदेवमादेशतः सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां परिमाणमुक्तम् ,साम्प्रतं तासामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां परिमाणस्य प्रदर्शनार्थमाह—

तिरिये सव्वेगिंदियणिगोअभेअवणकायजोगेसु ।
उरलदुगकम्मणेसु णपुंसगे चउकसायेसु ॥३६७॥
अण्णाणदुगे अयते अचक्खुदंसणतिअसुहलेसासु ।
भवियेयरमिच्छेसु असण्णिआहारगियरेसु ॥३६८॥
अगुरुरसस्स हवेज्जा आउगवज्जाण बंधगाऽणंता ।

(प्र०) **'तिरिये०'** इत्यादि, तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु आयुर्वर्जानां सप्तानां प्रकृतीनामगुरुरसस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका अनन्ता भवन्ति, प्रत्येकं मार्गणासु जीवानामानन्त्यात् । कासु मार्गणासु ? तदेवाह–**'तिरिये'** इत्यादि, तिर्यक्सामान्ये, सर्वेषु एकेन्द्रियभेदेषु , सर्वशब्दस्य अत्रापि सम्बन्धात्-सर्वेषु निगोदभेदेषु , वनस्पतिकायसामान्ये , काययोगसामान्ये , औदारिकौदारिकमिश्रकार्मणभेदेषु नपुंसके , चतुष्कषायभेदेषु , मत्यज्ञानश्रुताज्ञानद्विके , असंयमे, अचक्षुर्दर्शने, कृष्ण-नील-कापोताख्येषु त्र्यप्रशस्तलेश्याभेदेषु, भव्याभव्यभेदद्वये, मिथ्यात्वे, असंज्ञिभेदे, आहारकानाहारकमार्गणाद्वये, चेत्येतास्वष्टात्रिंशन्मार्गणास्विति ॥३६७।३६८॥

अथ यासु मार्गणासु जीवाः संख्याता एव, तासु मार्गणास्वनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः सुतरां संख्याता एव लभ्यन्ते अत एव तासु मार्गणासु तथाह—

पज्जमणुसमणुसीसुं सव्वत्थाहारदुगअवेएसुं ॥३६९॥ [गीतिः]
मणणाणसंयमेसुं समइअछेअपरिहारसुहमेसुं ।
संखेज्जा विण्णेया सेमासु असंखिया णेया ॥३७०॥

(प्रे०) **'पज्जमणुस'** इत्यादि,पर्याप्तमनुष्यमानुष्योः सर्वार्थसिद्धाहारकाहारकमिश्रयोगाऽपगतवेदेषु, मनःपर्यवज्ञानसंयमसामान्ययोः, सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्परायेषु चेति सर्वसंख्यया द्वादशमार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः संख्याता विज्ञेयाः, प्रत्येकं मार्गणासु जीवानां संख्येयराशिप्रमाणत्वात् । एवमनन्तजीवराशिप्रमाणासु मार्गणासु तद्बन्धका अनन्ताः,तथा संख्यातजीवराशिप्रमाणासु मार्गणासु संख्याता अभिहिताः,साम्प्रतमसंख्यातजीवराशिप्रमाणासु मार्गणास्वसंख्याता इति वक्तुकामस्ता मार्गणाः शेषमार्गणात्वेन संगृह्याह— **'सेसासु असंखिया णेया'** इति शेषासु प्राग्भणितोद्धरितासु विंशत्युत्तरशतमार्गणासु, सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका असंख्याता ज्ञेयाः, प्रत्येकं मार्गणासु स्वल्पानुत्कृष्टरसबन्धकान् वर्जयित्वा शेषाणां सर्वेषामसंख्यराशिप्रमाणजीवानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धसद्भावात् ।

शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः—गतिमार्गणास्थानस्य सर्वनिरयभेद-तिर्यग्गतिसामान्यवर्जचतुस्तिर्यग्गतिभेद-मनुष्यसामान्यापर्याप्तमनुष्य-सर्वार्थसिद्धवर्जसर्वदेवभेदलक्षणास्त्रिचत्वारिंशन्मार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य नवविकलाक्षत्रिपञ्चेन्द्रियभेदलक्षणा द्वादशमार्गणाः , कायमार्गणास्थानस्य पृथ्व्यप्तेजोवायुकायिकानां प्रत्येकं सप्त सप्त मार्गणाः तथा प्रत्येकवनस्पतिकायिकस्य त्रिमार्गणाः,त्रसकायस्य त्रिमार्गणाः, सर्वमीलने चतुस्त्रिंशन्मार्गणाः, योगमार्गणास्थानस्य वैक्रियवैक्रियमिश्रपञ्चमनःपञ्चवचनयोगरूपा द्वादशमार्गणाः,वेदमार्गणास्थानस्य स्त्रीपुरुषलक्षणे द्वे मार्गणे,ज्ञानमार्गणास्थानस्य मतिश्रुतावधिविभङ्गरूपाश्चतुर्मार्गणाः, देशविरतिमार्गणा, दर्शनमार्गणास्थानस्य चक्षुरवधिलक्षणे द्वे मार्गणे, लेश्यामार्गणास्थानस्य तेजःपद्मशुक्ललक्षणास्त्रिमार्गणाः, सम्यक्त्वमार्गणास्थानस्य सम्यक्त्वसामान्यक्षायिकवेदकोपशममिश्रदृष्टिसास्वादनलक्षणाः षण्मार्गणाः, संज्ञिमार्गणा चेत्येता विंशत्युत्तरशतमार्गणा इति ॥३६९।३७०॥

अथ शेषमार्गणान्तर्गतासु यासु मार्गणासु प्रकृतबन्धका असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः, तासु मार्गणासु विशेषतः प्रदर्शयन्नाह—

तहि पुढवाइचउण्हं बायरपज्जत्तवज्जभेएसुं ।
पत्तेअवणम्मि तहा तदपज्जत्ते असंखलोगसमा ॥३७१॥[गीतिः]

(प्रे०) **'तहि'** इत्यादि, तत्र पृथ्व्यादिचतुर्णां बादरपर्याप्तवर्जभेदेषु, पृथ्व्यप्तेजोवायुकायिकानां प्रत्येकं बादरपर्याप्तभेदं वर्जयित्वा शेषषड्भेदेषु तथा प्रत्येकवनस्पतिकायौघे तथा-

ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाये इत्येतासु षड्विंशतिमार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका असंख्येयलोकाकाशप्रदेशसमा भवन्ति, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितजीवानां प्रत्येकं मार्गणासु सद्भावात्, तेषामेकासंख्येयभागं मुक्त्वा शेषसर्वजीवानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धसद्भावात् ॥३७१॥

प्ररूपितमादेशतः सप्तानामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोर्बन्धकानां परिमाणम्, इदानीमायुष्कस्य तत्परिमाणं दिदर्शयिषुरादौ तावदुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां परिमाणमार्याद्वयेनाभिदधाति—

तमतमतिरिनिपणिंदियतिरियमयलतेउवाउभेएसुं ।
अण्णाणतिगे अयते तिअसुहलेसाअभवियेसुं ॥३७२॥
मिच्छत्तासण्णीसुं तिव्वऽणुभागस्स बंधगा णेया ।
आउस्स असंखेज्जा संखेज्जा हुन्ति सेसासुं ॥३७३॥

(प्रे०)**'तमतम'**इत्यादि, तमस्तमःप्रभानारकभेदे, तिर्यग्गतिसामान्ये त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदेषु-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्तिर्यग्योनिमतीपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्रूपेषु, सकलशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सकलतेजःकायभेदेषु, सकलवायुकायभेदेषु, अज्ञानत्रिके, अयते-असंयमे, 'त्र्यशुभलेश्याऽभव्येषु' कृष्ण नील-कापोतलेश्याभेदेषु, अभव्ये, मिथ्यात्वे, असंज्ञिभेदे चेत्येतेषु एकोनत्रिंशन्मार्गणाभेदेषु आयुष्कस्य तीव्रानुभागस्य-उत्कृष्टानुभागस्य बन्धका असंख्याता ज्ञेयाः ।

कुतः ? इति चेद्, उच्यते– यासु मार्गणास्वायुष्कस्य बन्धका असंख्याता अनन्ता वा तथा येनायुषा सहोत्कृष्टानुभागो बध्यते, तदायुरुदयवज्जीवा अपि असंख्याता लभ्यन्ते तदा तासु मार्गणास्वायुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धका असंख्याताः, इति व्याप्तेः प्रस्तुते च सर्वासु मार्गणासु बन्धका यथायोगमसंख्याता अनन्ता वा प्राप्यन्ते, तथा च तमस्तमःप्रभादिषु कासुचिद्मार्गणासु आयुर्बन्धस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यो भवति, तिर्यग्गतिसामान्यादिषु कासुचिद् मार्गणासु पुनरायुर्बन्धः नारकप्रायोग्यः, ते तिर्यक्पञ्चेन्द्रियजीवाः नारकजीवाश्चासंख्याताः, तत उत्कृष्टपदे आयुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धका असंख्याताः प्राप्यन्ते इति ।

अथ शेषासु मार्गणास्वाह–**'संखेज्जा हुन्ति सेसासु'**इत्यादि, शेषासु प्रागुक्तैकोनत्रिंशद्वर्जचतुस्त्रिंशदुत्तरशतमार्गणारूपास्वर्थः, आयुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः संख्याताः । इयमत्र भावना–कासुचिद् मनुष्यादिषु मार्गणासु बन्धकाः संख्याताः, नरकौघादिषु कासुचिद् मार्गणासु पुनरुत्कृष्टानुभागो मनुष्यायुषा सह बध्यते, अत एव शेषमार्गणासूत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः संख्याता एवाभिहिताः ।

शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः–गतिमार्गणास्थानस्य तमस्तमःप्रभावर्जशेषसर्वनरकभेदापर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्सर्वमनुष्यभेदसर्वदेवभेदरूपा द्वाचत्वारिंशद्मार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य सर्वमा-

गणाः,कायमार्गणास्थानस्य पृथ्वीकायसप्तभेदाप्कायसप्तभेदवनस्पतिकायैकादशभेदत्रिसकायलक्षणा अष्टाविंशतिमार्गणाः,योगमार्गणास्थानस्यायुर्बन्धायोग्यवैक्रियमिश्रकार्मणभेदद्वयवर्जषोडशमार्गणाः,वेद-मार्गणास्थानस्य स्त्रीपुरुषनपुंसकलक्षणास्त्रिमार्गणाः, कषायमार्गणास्थानस्य क्रोधमानमायालोभरूपा-श्चतुर्मार्गणाः, ज्ञानमार्गणास्थानस्य मतिश्रुतावधिमनःपर्यवलक्षणाश्चतुर्मार्गणाः, संयममार्गणास्थानस्य संयमसामान्यसामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिकदेशविरतिरूपाः पञ्चमार्गणाः, दर्शनमार्गणा-स्थानस्य चक्षुरचक्षुरवधिलक्षणास्त्रिमार्गणाः, लेश्यामार्गणास्थानस्य तेजःपद्मशुक्लक्षणास्त्रिमार्गणाः, भव्यमार्गणा, सम्यक्त्वमार्गणास्थानस्य सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिक-वेदक-सास्वादनरूपाश्चतुर्मार्गणाः, संज्ञिमार्गणा, आहारिमार्गणा चेत्येताश्चतुस्त्रिंशदुत्तरशतमार्गणा इति ॥३७२।३७३॥

साम्प्रतमायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां परिमाणमार्याद्वयेन प्रदर्शयन्नाह—

पज्जमणुममणुसीसु आहारदुगाणताइदेवेसु ।
मणणाणसंयमसमइअछेअपरिहारसुक्कखइएसु ॥३७४॥
अगुरुस्सस्स हवेज्जा संखेज्जाउस्स हुन्ति सेसासु ।
तावइआ सत्तण्हमजेट्ठऽणुभागस्स जावइआ ॥३७५॥

(प्रे०) **'पज्जमणुस'** इत्यादि, पर्याप्तमनुष्यमानुष्योः, आहारकद्विके-आहारकाहारकमिश्र-मार्गणाद्वये, आनतादिदेवेषु-आनतप्राणतारणाच्युतनवग्रैवेयकपञ्चानुत्तरलक्षणास्वष्टादशदेवमार्गणासु मनःपर्यवज्ञानसंयमसामान्यसामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिशुक्ललेश्याक्षायिकमार्गणासु चेत्ये-तासु एकोनत्रिंशन्मार्गणास्वायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः संख्याता भवन्ति । ननु पर्याप्त-मनुष्यमानुषीसर्वार्थसिद्धाहारकद्विकमनःपर्यवज्ञानसंयमसामान्यसामायिकच्छेदोपस्थानीयपरिहारविशु-द्धिरूपासु दशमार्गणासु जीवा एव संख्याताः, तत आयुष्कस्य बन्धकाः सुतरां संख्यातास्तत्र लभ्यन्ते, किन्त्वानतप्राणतारणाच्युतनवग्रैवेयकचतुरनुत्तरशुक्लक्षायिकरूपास्वेकोनविंशतिमार्गणासु जीवा असंख्याताः, तर्ह्यायुष्कस्य बन्धका असंख्याताः कथं नोक्ताः ? इति चेद्, उच्यते-आनता-दिसप्तदशमार्गणावर्त्तिदेवानां केवलपर्याप्तगर्भजमनुष्येषूत्पत्तिसंभवेनायुष्कस्य बन्धकाः संख्याता एव प्राप्यन्ते अत एव तदनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः संख्याता एवाभिहिताः,नत्वसंख्याताः । शुक्ललेश्या-यामायुषो बन्धकानां संख्यातत्वं **बन्धविधान**स्य मूलप्रकृतिस्थितिबन्धचूर्ण्यनुसारेण परिभावनीयम् ।

साम्प्रतं क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां प्रकृतबन्धकानां संख्यातत्वं चिन्त्यते । तथाहि-क्षायिक-सम्यग्दृष्टिजीवाः चतुर्ष्वपि गतिषु भवन्ति, तत्र मनुष्यगतौ संख्याता एव, तथा नरकादित्रिगतिषु क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामसंख्यातत्वेऽपि आयुषो बन्धकाः संख्याता एव । तद्यथा—नरकदेवगत्यो-रुद्वृताः क्षायिकसम्यग्दृष्टयो जीवा मनुष्येष्वेवोत्पद्यन्ते, मनुष्याणां च संख्यातत्वात् नरकदेवगति-

द्वये संख्याता एव क्षायिकसम्यग्दृष्टय आयुर्बध्नन्ति । बद्धतिर्यगायुष्कक्षायिकसम्यग्दृष्टिमनुष्या असंख्यवर्षायुष्केषु एव तिर्यक्षु उत्पद्यन्ते, ते च उत्पद्यमाना उत्कृष्टतोऽपि संख्याता एव । उत्पन्ना अपि-[1]व्याख्याप्रज्ञप्त्यनुसारेणासंख्येयवर्षायुष्कास्तिर्यञ्चः उत्कृष्टतः संख्याता एव, अत आयुर्बन्धका अपि संख्याताः । [2]कषायप्राभृतकारादीनां मते त्वसंख्येयवर्षायुष्कतिर्यञ्चो असंख्येयाः, अतः तेषां मते असंख्यकालेन ते क्षायिकसम्यग्दृष्टय असंख्याता भवन्ति, किन्तु तेषां षण्मासावशेषे स्वायुषि आयुष्कस्य बन्धो भवति, तथाऽवशिष्टषण्मासायुष्काः क्षायिकसम्यग्दृष्टयः संख्याता एव विद्यन्ते, षण्मासकालस्य संख्यातावालिकामात्रत्वात् । ततः किम् ? उत्कृष्टपदेऽपि प्रतिसमयं संख्येयानामेवोत्पादच्यवनसम्भवेन क्षायिकसम्यग्दृष्टितिर्यञ्च आयुर्बन्धकत्वेनोत्कृष्टतोऽपि सुतरां संख्याताः प्राप्यन्त इति । इत्येवं क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः संख्याता एवेति समायातम् । ततः प्रागुक्तैकोनविंशतिमार्गणासु जीवानामसंख्यातत्वेऽपि आयुष्कसत्कानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः संख्याता एवेति सिद्धम् ।

अथ शेषमार्गणास्वतिदिशन्नाह-'**सेसासु**' इत्यादि, शेषासु-प्रागुक्तोद्धरितासु, पर्याप्तमनुष्याद्येकोनत्रिंशद्मार्गणा वर्जयित्वा चतुस्त्रिंशदुत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः । आयुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकास्तावन्तो भवन्ति, यत्तत्पदयोर्नित्यसम्बन्धात् यत्पदेन प्रकृतबन्धकानां प्रमाणं दर्शयति-समप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागस्य यावन्तो बन्धका इति । अयम्भावः-कासुचिन्मार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः अनन्ताः, कासुचित्पुनरसंख्याता उक्ताः, तासु तासु मार्गणास्वायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः क्रमेणानन्ताः असंख्याताश्चाभिधातव्या इति । तद्यथा—

[3]तिरिये सव्वेगिंदियणिगोअभवणकायजोगेसु । उरलदुगकम्मणेसु णपुंसगे चउकसायेसु ॥
अण्णाणदुगे अयते अचक्खुदंसणतिअसुहलेसासु । भवियेयरमिच्छेसु असण्णिआहारगियरेसु ॥

इति गाथाद्वयेन प्रोक्ताभ्योऽष्टात्रिंशन्मार्गणाभ्य आयुष्कबन्धानर्हं कार्मणानाहारकमार्गणाद्वयं वर्जयित्वा शेषषट्त्रिंशन्मार्गणास्वायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका अनन्ता द्रष्टव्याः । अष्टनवतिमार्गणास्त्वायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका असंख्याता द्रष्टव्याः, ताश्च नामतः पुनरिमाः-गतिमार्गणास्थानस्य सर्वनारकतिर्यग्गतिसामान्यवर्जचतुस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यसामान्यापर्याप्तमनुष्यदेवसामान्यभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसहस्रारपर्यन्तवैमानिकदेवलक्षणाः षड्विंशतिमार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य नवविकलाक्षत्रिपञ्चेन्द्रियरूपा द्वादशमार्गणाः, कायमार्गणास्थानस्य पृथ्वीकायसप्त-

१ व्याख्याप्रज्ञप्तौ (भगवतीसूत्रम्-सूत्र० ७१२, पत्राङ्क-५२०)
"असंख्यातवर्षायुषां पञ्चेन्द्रियतिरश्चामसंख्यातानामभावादिति ॥

२ कषाय प्राभृते-संखेज्जा च मणुस्सेसु खीणमोहा सहस्ससो णियमा ।
सेसासु खीणमोहा गदीसु णियमा असंखेज्जा ॥ ६१४ ॥

३ (गाथा ३६७-३६८)

भेदाप्कायसप्तभेदतेजःकायसप्तभेदवायुकायसप्तभेदप्रत्येकवनस्पतिकायत्रिभेदत्रिसकायलक्षणाश्चतुर्स्त्रिशन्मार्गणाः, योगमार्गणास्थानस्य पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगवैक्रियकाययोगरूपा एकादशमार्गणाः, वेदमार्गणास्थानस्य स्त्रीपुरुषलक्षणे द्वे मार्गणे,ज्ञानमार्गणास्थानस्य मतिश्रुतावधिज्ञानविभङ्गरूपाश्चतुर्मार्गणाः, देशविरतिमार्गणा, दर्शनमार्गणास्थानस्य चक्षुरवधिरूपे द्वे मार्गणे, लेश्यामार्गणास्थानस्य तेजःपद्मलक्षणे द्वे मार्गणे, सम्यक्त्वमार्गणास्थानस्य सम्यक्त्वसामान्यवेदकसास्वादनलक्षणास्त्रिमार्गणाः, संज्ञिमार्गणा चेति । एतास्वष्टनवतिमार्गणासु जीवानामसंख्यातत्वेन तथा आयुर्बन्धानन्तरं मृत्वा असंख्यातजीवराशियुक्तासु मार्गणासूत्पत्तिसंभवेन, प्रकृष्टत आयुष्कस्य बन्धका असंख्याताः प्राप्यन्ते,ततस्तस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका अप्यसंख्याता अवाप्यन्ते, उत्कृष्टानुभागबन्धकानामेकाऽसंख्येयभागमात्रत्वेन शेषासंख्येयबहुभागप्रमाणजीवानां तद्बन्धकत्वात् ॥३७४।३७५॥

तदेवमष्टानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोर्बन्धकानां परिमाणमभिहितम् , सम्प्रति तासां जघन्याजघन्यानुभागयोर्बन्धकानां परिमाणं दिदर्शयिषुरादौ तावदोघतः सार्धगाथयाऽऽह–

घाईणं संखेज्जा मंदऽणुभागस्स बंधगाऽणंता ।
वेआउगणामाणं असंखिया अत्थि गोअस्स ॥३७६॥
अट्ठण्ह वि कम्माणं अजहण्णरसस्स बंधगाऽणंता ।

(प्रे०) 'घाईणं' इत्यादि, घातिप्रकृतीनां ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायरूपाणां चतसृणां प्रकृतीनां मन्दानुभागस्य-जघन्यानुभागस्य बन्धकाः संख्याताः सन्ति । घातिचतुष्कसत्कजघन्यानुभागबन्धस्वामिनां क्षपकत्वेनोत्कृष्टतोऽप्यष्टोत्तरशतमात्रत्वात् । वेदनीयायुर्नामप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य बन्धका अनन्ताः, तासां जघन्यानुभागस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वेन निगोदादिष्वपि प्राप्यमाणत्वात् । तथा **'असंखिया अत्थि गोअस्स'** गोत्रस्य जघन्यानुभागस्य बन्धका असंख्याताः सन्ति । कुतः ? उच्यते-गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामिनः सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमनारकाः उत्कृष्टपदे च तेऽसंख्याता भवन्ति,अत एव गोत्रस्य बन्धका असंख्याताः प्रोक्ताः इति । अथाष्टानां प्रकृतीनामजघन्यानुभागस्य बन्धकानां परिमाणमोघत आह–**'अट्ठण्ह-वि'** इत्यादि, अष्टानां कर्मणामजघन्यानुभागस्य बन्धका अनन्ताः, निगोदजीवानामप्येतद्बन्धकत्वात् ॥३७६॥

दर्शितमोघतोऽष्टानां मूलप्रकृतीनां जघन्याजघन्यानुभागयोर्बन्धकानां परिमाणम् । साम्प्रतमादेशतः तेषां परिमाणं निरूपयिषुरादौ तावत् सप्तानां जघन्यानुभागस्य बन्धकानां परिमाणमाह–

तिरियगइकम्मणेसुं तिअसुहलेसाअभवियेसुं ॥३७७॥
अमणाणाहारेसुं मंदऽणुभागस्स घाइगोआणं ।
पंचण्ह असंखेज्जा दोण्ह अणंता मुणेयव्वा ॥३७८॥

(प्रे०) '**तिरियगइकम्मणेसु**' इत्यादि, तिर्यग्गतिसामान्य-कार्मणमार्गणयोः, त्र्यशुभलेश्याऽभव्यमार्गणासु, असंज्ञ्यनाहारकमार्गणयोश्चेत्येतास्वष्टसु मार्गणासु पञ्चानां–चतुर्घातिगोत्राणां जघन्यानुभागस्य बन्धका असंख्याता ज्ञातव्याः, कुतः ? इति चेद् , उच्यते-निगोदभिन्नजीवानां तद्बन्धकत्वात् तथाहि–असंज्ञिमार्गणावर्जसप्तमार्गणासु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकः सामान्यतः सर्वविशुद्धः संज्ञी भवति, गोत्रस्य पुनः कासुचित् सप्तमनारकः कासुचिच्च तेजःकायिको वायुकायिको वा, ततः प्रकर्षतः पञ्चानां जघन्यानुभागस्य बन्धका असंख्याताः प्राप्यन्ते । असंज्ञिमार्गणायां तु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन सर्वविशुद्धः पञ्चेन्द्रियः, गोत्रस्य पुनस्तेजःकायिको वायुकायिको वा प्रोक्तः, ततस्तस्यामपि प्रकर्षतो जघन्यानुभागस्य बन्धका असंख्याता अभिहिताः । तथा '**दोण्ह अणंता मुणेयव्वा**' द्वयोः-वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यानुभागस्य बन्धका अनन्ता ज्ञातव्याः, तयोः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जघन्यानुभागबन्धसद्भावेन निगोदानामपि तद्बन्धकत्वात् ॥३७७।३७८॥

सम्प्रति यासु मार्गणासु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकाः संख्याताः, अघातित्रयस्य पुनरसंख्याता लभ्यन्ते । तासु मार्गणासु आर्याद्वयेनाह–

णरदुपणिंदितसेसुं पणमणवयइत्थिपुमतिणाणेसुं ।
विब्भंगे देसम्मि य णयणोहिपसत्थलेसासुं ॥३७९॥
सम्मत्तखइअवेअगउवसमसण्णीसु बंधगा णेया ।
घाईणं संखेज्जा तिअघाईणं असंखेज्जा ॥३८०॥

(प्रे०) '**णरदुपणिंदि**' इत्यादि, मनुष्यसामान्यमार्गणायां, द्विशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् , द्विपञ्चेन्द्रिययोः-पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणयोः, द्वित्रसयोः त्रसकायौघपर्याप्तत्रसकायमार्गणयोः पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगस्त्रीपुरुषवेदमतिश्रुतावधिज्ञानमार्गणासु, विभङ्गज्ञानमार्गणायां, देशविरतिमार्गणायां चक्षुर्दर्शनावधिदर्शनप्रशस्तत्रिलेश्यामार्गणासु, सम्यक्त्वक्षायिकवेदकोपशमसंज्ञिमार्गणासु चेत्येतासु द्वात्रिंशन्मार्गणासु चतसृणां घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य बन्धकाः संख्याता ज्ञेयाः । कुतः ? उच्यते-विभङ्गदेशविरतिमार्गणे वर्जयित्वा शेषमार्गणासु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन सामान्यतः संयतः, विभङ्गदेशविरतिमार्गणयोः पुनः संयमाभिमुखो मनुष्यः प्राप्यते, अत एव घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागस्य बन्धकाः संख्यातमात्रा उक्ताः । अथ त्र्यघातिप्रकृतीनां प्रकृतबन्धकानां परिमाणमाह–'**तिअघाईणं असंखेज्जा**' इत्यादि, त्र्यघातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य बन्धका असंख्याताः, एतासु मार्गणासु वेदनीयनाम्नोर्जघन्यानुभागस्य बन्धः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन भवति । गोत्रस्य पुनः जघन्यानुभागबन्धः कासुचिद् मार्गणासु परावर्तमानपरिणामेन भवति । कासुचिद् पुनर्विशुद्धया, कासुचित् संक्लेशेन वा जायमानत्वेऽपि

मनुष्यभिन्नजीवानामपि तद्बन्धकत्वात् तथा प्रत्येकं मार्गणासु जीवा असंख्यातास्ततः प्रकृष्टतोऽपि बन्धका असंख्याता लभ्यन्ते ॥३७९।३८०॥

साम्प्रतं पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु जीवानां संख्यातत्वेन सप्तानां जघन्यानुभागस्य बन्धका अपि प्रकृष्टतः संख्याता एव लभ्यन्त इति तत्र तथैव प्रदर्शयन्नाह—

पज्जणरमणुस्सीसुं सव्वत्थाहारदुगअवेएसुं ।
मणणाणसंयमेसुं समइअछेअपरिहारसुहुमेसुं ॥३८१॥ [गीतिः]
सत्तण्हं संखेज्जा

(प्रे०) 'पज्जणर०' इत्यादि, पर्याप्तनरमानुष्योः सर्वार्थसिद्धदेवाहारकाहारकमिश्रापगतवेदेषु मनःपर्यवज्ञानसंयमयोः सामायिकछेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मेषु चेत्येतेषु द्वादशमार्गणाभेदेषु आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य बन्धकाः संख्याता ज्ञातव्याः ॥३८१॥

अथ सर्वैकेन्द्रियभेदेष्वाह—

एगिंदियसव्वभेएसुं ।
गोअस्स असंखेज्जा छण्ह अणंता मुणेयव्वा ॥३८२॥

(प्रे०) '**एगिंदिय**' इत्यादि, एकेन्द्रियसत्कसप्तमार्गणाभेदेषु गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धका असंख्याता ज्ञातव्याः, तेजोवायुकायिकानामेव तज्जघन्यानुभागस्य बन्धसद्भावात्, तेषां च प्रकृष्टतोऽप्यसंख्यातप्रमाणत्वात् । तथा 'छण्ह' इत्यादि, षण्णां-घातिचतुष्कवेदनीयनामलक्षणानां षण्णां प्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य बन्धका अनन्ता ज्ञातव्याः, निगोदजीवानामपि जघन्यानुभागस्य बन्धसद्भावात् ॥३८२॥ इदानीं यासु मार्गणासु सप्तानां जघन्यानुभागस्य बन्धका अनन्ता लभ्यन्ते, तासु मार्गणास्वाह—

वणसव्वणिगोएसुं सत्तण्हं अत्थि बंधगाऽणंता ।

(प्रे०) 'वण' इत्यादि, वनस्पतिकायसामान्यमार्गणायां तथा सर्वनिगोदेषु-सप्तसु साधारणवनस्पतिकायमार्गणासु सप्तानां प्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य बन्धका अनन्ताः, निगोदजीवानामपि तज्जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन लभ्यमानत्वात् ।

अधुना यासु मार्गणासु प्रकृतबन्धका ओघवद् भवन्ति तासु तथैवाह—

कायुरलदुगणपुंसगकसायचउगदुअणाणेसुं ॥३८३॥
अयताचक्खुभवीसुं मिच्छत्ताहारगेसु सत्तण्हं ।
ओघव्व जाणियव्वा सेसासु असंखिया णेया ॥३८४॥

(प्रे०) '**कायुरल**' इत्यादि, काययोगसामान्यौदारिकौदारिकमिश्रनपुंसककषायचतुष्क-

मत्यज्ञानश्रुताज्ञानेषु,असंयमाचक्षुर्भव्येषु,मिथ्यात्वाहारकयोश्चेत्येतेषु पञ्चदशमार्गणाभेदेषु सप्तानां जघन्यानुभागस्य बन्धका ओघवद् ज्ञातव्याः । तद्यथा-घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागस्य बन्धकाः संख्याताः, गोत्रस्य पुनरसंख्याताः, वेदनीयनाम्नोस्त्वनन्ता इति । **भावना पुनरेवम्**-एतासु सर्वासु मार्गणासु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागस्य बन्धकत्वेन मनुष्याः प्राप्यन्ते, यतः काययोगौदारिकनपुंसकवेदकषायचतुष्काचक्षुर्दर्शनभव्याहारकलक्षणासु दशमार्गणासु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धः श्रेण्यामेव भवति, अज्ञानद्विकासंयममिथ्यात्वरूपचतुर्मार्गणासु पुनः संयमाभिमुखस्य मनुष्यस्यैव भवति, औदारिकमिश्रमार्गणायां तु सम्यग्दृष्टितिर्यङ्मनुष्याणां भवति, सम्यग्दृष्टितिर्यञ्चोऽप्येतद्मार्गणायां संख्याता एव, कुतः ? उच्यते-बद्धतिर्यगायुष्का मनुष्या एव क्षायिकसम्यक्त्वं प्राप्य कृतकरणाद्धायां वा कालं कृत्वा तिर्यक्षूत्पद्यन्ते, इति हेतोः । ततो निरुक्तपञ्चदशमार्गणासु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागस्य बन्धका मनुष्यास्ते च संख्याताः । औदारिकौदारिकमिश्रयोगमार्गणाद्वये गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन तेजोवायुकायिकानामेवाभिहितत्वेन, शेषत्रयोदशमार्गणासु पुनः सप्तमनारकाणामेवोक्तत्वेन प्रकृततोऽसंख्याताः प्राप्यन्ते । वेदनीयनामकर्मणोश्च जघन्यानुभागस्य परावर्तमानपरिणामेन बध्यमानत्वेन निगोदानामपि तद्बन्धकत्वात् उक्तसर्वासु मार्गणासु निरुक्तरसबन्धका अनन्ताः, अत एव एतासु त्रयोदशमार्गणासु सप्तानां जघन्यानुभागस्य बन्धका ओघवदभिहिता इति । अथ शेषमार्गणासु निर्वक्ति-**'सेसासु असंखिया णेया'** [1]'तिरियगइकम्मणंसु' इत्यादिना प्रोक्ता अष्टमार्गणाः, [2]'णरदुपणिंदितसेसु' इत्यादिना दर्शिता द्वात्रिंशन्मार्गणाः, [3]'पञ्जणरमणुस्सीसु' इत्यादिना कथिता द्वादशमार्गणाः, तथा एकेन्द्रियसप्तमार्गणाः, [4]'वणमदवणिगोएसु' इत्यनेन निरूपिता अष्टमार्गणाः, [5]'कायुरल' इत्यादिना प्रदर्शिताः पञ्चदशमार्गणाः, सर्वसंख्यया द्व्यशीतिमार्गणा वर्जयित्वा शेषास्वष्टाशीतिमार्गणास्वित्यर्थः सप्तानां जघन्यानुभागस्य बन्धका असंख्याता ज्ञेयाः । शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः-गतिमार्गणास्थानस्य सर्वनरकभेद-तिर्यग्गतिसामान्यवर्जसर्वतिर्यग्भेदापर्याप्तमनुष्यसर्वार्थसिद्धवर्जसर्वदेवभेदरूपा द्वाचत्वारिंशन्मार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य नवविकलाक्षऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदलक्षणा दशमार्गणाः, कायमार्गणास्थानस्य पृथ्व्यप्तेजोवायुकायिकानां प्रत्येकं सप्त सप्त मार्गणाः, तथा त्रिप्रत्येकवनस्पतिकायाऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणाः सर्वमीलने द्वात्रिंशन्मार्गणाः, योगमार्गणास्थानस्य वैक्रियवैक्रियमिश्रलक्षणे द्वे मार्गणे,सम्यक्त्वमार्गणास्थानस्य सास्वादनमिश्रलक्षणे द्वे मार्गणे चेत्येता अष्टाशीतिमार्गणाः । ॥३८३।३८४॥

तदेवं सप्तानां कर्मणां जघन्यानुभागस्य बन्धकानां परिमाणं दर्शितम् । साम्प्रतं सप्तानामजघन्यानुभागस्य तथाऽऽयुष्कस्य जघन्याजघन्यानुभागयोर्बन्धकानां परिमाणमनुत्कृष्टानुभागवत् सापवादमतिदिशन्नाह–

---

१ (गाथा ३७७-३७८) । २ (गाथा ३७९-३८०) । ३ (गाथा-३८१-३८२) । ४ (गाथा ३८३) ।
५ (गाथा ३८३-३८४) ।

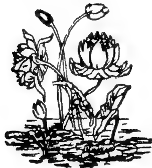
सव्वत्थऽट्ठण्हामन्दस्साउस्स इयरस्स अगुरुव्व ।
ह्रस्सस्स उ संखेज्जा तिणाणऽवहिसम्मवेअगेसु परं ॥३८५॥ [विपुला]

(प्रे०) **'सव्वत्थ'** इत्यादि, सर्वत्र-सर्वासु मार्गणास्वष्टानां प्रकृतीनाममन्दस्य-अजघन्यानुभागस्य, आयुष इतरस्य-जघन्यस्येत्यर्थः, बन्धकानां परिमाणम् 'अगुरुवत्'–अनुत्कृष्टरसबन्धकानां परिमाणवद् भवतीत्यर्थः। तद्यथा–तिर्यगोघाद्यनन्तजीवराशिकाऽष्टात्रिंशन्मार्गणासु सप्तानामजघन्यानुभागस्य बन्धका अनन्ताः, पर्याप्तमनुष्यादिसंख्यातजीवराशिकद्वादशमार्गणासु पुनः संख्याताः, शेषविंशत्युत्तरशतमार्गणासु त्वसंख्याताः। तिर्यगत्यादिषट्त्रिंशन्मार्गणासु आयुष्कस्य जघन्यानुभागस्याऽजघन्यरसस्य च बन्धका अनन्ताः पर्याप्तमनुष्याद्येकोनत्रिंशन्मार्गणासु पुनः संख्याताः, नरकाद्यष्टनवतिमार्गणासु त्वसंख्याताः भवन्ति, तत्र जघन्यानुभागबन्धकानां परिमाणविषये अपवादमाह– **'ह्रस्सस्स'** इत्यादि, परं-नवरं त्रिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वसामान्यवेदकलक्षणासु षण्मार्गणासु 'ह्रस्वस्य'-आयुष्कसत्कजघन्यानुभागस्य बन्धकाः संख्याता भवन्ति। कुतः? इति चेद्, उच्यते-निरुक्तषण्मार्गणासु मनुष्यायुर्बध्नतां नारकदेवानामेवायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धसद्भावात् तेषां संख्यातत्वाच्च। अत एवासंख्यातत्वमनभिधाय संख्यातत्वं युक्तमुक्तमिति ॥३८५॥

प्रस्तुतद्वारोक्तार्थसंग्रहपराणि बन्धकपरिमाणप्रदर्शकयन्त्रकाणि त्विमानि—卐

तदेवं समर्थितं सर्वासां मूलप्रकृतीनां जघन्याजघन्यानुभागयोर्बन्धकानां परिमाणम्। तत्समर्थिते चौघादेशाभ्यामष्टानां जघन्याजघन्यानुभागयोरुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोश्च परिमाणं समाप्तम्। तत्समाप्तौ च गतं "परिमाण" इत्यनेनोद्दिष्टं द्वादशं द्वारम्।

इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे प्रथमाधिकारे द्वादशं परिमाणद्वारं समाप्तम् ॥



卐 बन्धकपरिमाणप्रदर्शकयन्त्रकाणि दिदृक्षवः पाठकाः पश्यन्तु २६८ तमादीनि पृष्ठानि।

※ आयुर्वर्जसप्तकर्मणामुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टाऽजघन्यरसबन्धकानां परिमाणप्रदर्शकं यन्त्रम् ※

ओघतः–घातिचतुष्कस्य उत्कृष्टरसबन्धका असंख्याता । अघातित्रयस्य तु संख्याता एव । (गाथा–३६१) सप्तानाम्-अनुत्कृष्टाऽजघन्यरसबन्धका अनन्ता (गाथा ३६१ ३७७) । **आदेशत**.–तत्परिमाण यन्त्रकादवसेयम् ।

सप्तानाम् → उत्कृष्टरसस्य					अनुत्कृष्टा-ऽजघन्यरसयोः–		
बन्धकाः →	संख्याताः	अनन्ता	घाति०४-असंख्याता अघाति०३-संख्याताः	असंख्याताः	अनन्ताः	संख्याताः	असंख्येया
गति०	त्रिमनुष्य-सर्वार्थसिद्ध० ४			शेष० ४३	तिर्यगोघ० १	पर्या.मनु.मानु सर्वार्थसिद्ध ३	शेष०४३
इन्द्रिय०		सर्वकेन्द्रिय भेद० ७	पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त.२	शेष० १०	सर्वेकेन्द्रिय० ७		शेष० १२
काय०		वनौघ-सर्वसाधारणवन भेदा ८	त्रसौघ तत्पर्याप्त० २	शेष० ३२	वनौघ-सर्वसाधारण वन० ८		卐 शेष० ३४
योग०	आहारक-तन्मिश्र० २		सर्वमनोवचो० कायौघ० औदारिक-तन्मिश्र० १३	शेष०३	कायौघ०औदा० तन्मिश्र० कार्मण० ४	आहारक-तन्मिश्र० २	शेष० १२
वेद०	अवेद० १		त्रिवेद० ३		नपुंसक० १	अवेद० १	स्त्री पु० २
कषाय०			सर्वकषाय० ४		सर्वकषाय० ४		
ज्ञान०	मन.पर्यव० १		त्रिज्ञान-त्र्यज्ञान० ६		मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान० २	मन पर्यव०१	त्रिज्ञान-विभङ्ग० ४
संयम०	संयमौघ० सामा० छेदो०परि० सूक्ष्म० ५		देशविरत० अविरत० २		असंयम० १	संयम०सामा० छेदो०परि० सूक्ष्म० ५	देश० १
दर्शन०			त्रिदर्शन० ३		अचक्षुर्द० १		शेष० २
लेश्या०			त्रिशुभलेश्या० ३	अशुभ० ३	अशुभ० ३		शुभ० ३
भव्य०			भव्य० १	अभव्य० १	भव्याऽभव्य० २		
सम्य०			सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-वेदक–उपशम-मिथ्यात्व० ५	सास्वा० मिश्र० २	मिथ्यात्व० १		शेष० ६
संज्ञि०			संज्ञि० १	असंज्ञि० १	असंज्ञि० १		संज्ञि० १
आहारि०			आहारि० १	अनाहारि० १	आहा० अना० २		
सर्वमार्गणा –	१३	१५	४६	९६	३८	१२	१२०
गाथाङ्क.–	३६२ ३	३६२	३६४-५-६	३६६	३६७-३६८	३६९-७०	३७०

卐 पृथ्व्यादिचतुर्णां बादरपर्याप्तभेद वर्जयित्वा शेषेषु षट्सु षट्सु भेदेषु, तथा प्रत्येकवनौघा-ऽपर्याप्तप्रत्येक-वनस्पतिकायभेदद्वये इत्येतेषु षड्विंशति(२६)भेदेषु सप्तानामनुत्कृष्टाऽजघन्यरसबन्धका असंख्येयलोक-प्रदेशसमाः (गाथा ३७१)

※ आयुष्कस्य उत्कृष्टानुत्कृष्ट-जघन्याऽजघन्यरसबन्धकपरिमाणप्रदर्शकं यन्त्रम् ※

ओघत·—आयुष उत्कृष्टरसबन्धका· सख्याताः। अनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यरसबन्धका अनन्ता·। (गाथा-३६१-३७६-७)

आयुषः— बन्धकाः	उत्कृष्टरसस्य असंख्येयाः	सख्येया·	अनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यरसानाम् ★ संख्येयाः	अनन्ताः	असंख्येयाः
गति०	सप्तमनारक, तिर्यगोघ०, त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्० ५	शेष० ४२	पर्याप्तमनु०, मानुषी, आनतादि-१८ देवाश्च०=२०	तिर्यगोघ १	शेष० २६
इन्द्रिय०		सर्व० १६		सर्वैकेन्द्रिय भेदा ७	शेष० १२
काय०	सर्वतेजोवायुभेदा १४	शेष० २८		वनौघ-सर्वसाधा-रणवनभेदा =८	शेष० ३४
योग०		सर्व० १६	आहारक-तन्मिश्र० २	काययोगौघ-औदा-रिकतन्मिश्र० ३	शेष० ११
वेद०		सर्व० ३		नपुंसक० १	स्त्री-पुं० २
कषाय०		सर्व० ४		सर्व० ४	
ज्ञान०	अज्ञानत्रिक० ३	चतुर्ज्ञान० ४	मन·पर्यव० १	मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान.२	शेष० ४ ★
संयम०	असयम०१	शेषसयम० ५	सयमौघ०-सामा० छेदो० परिहार० ४	असंयम० १	देशसंयम० १
दर्शन०		त्रिदर्शन० ३		अचक्षुर्द० १	चक्षुरवधि० ★२
लेश्या०	अशुभलेश्या० ३	शुभ० ३	शुक्ललेश्या० १	अशुभले० ३	तेज.पद्म० २
भव्य०	अभव्य० १	भव्य० १		भव्याऽभव्य० २	
सम्य०	मिथ्यात्व० १	शेष० ४	क्षायिक० १	मिथ्यात्व० १	शेष० ३ ★
सञ्ज्ञि०	असञ्ज्ञि० १	सञ्ज्ञि० १		असञ्ज्ञि० १	सञ्ज्ञि० १
आहारि		आहारि० १		आहारि० १	
सर्वमार्गणाः—	२९	१३४	२६	३६	९८
गाथाङ्कः—	३७२-३७३	३७३	३७४	३७५	३७५

★ आयुषो जघन्याऽजघन्यरसयोर्बन्धकपरिमाणमनुत्कृष्टरसवदेव केवल मति-श्रुता-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु जघन्यरसस्य बन्धका. संख्याता, न त्वसंख्येयाः (गाथा-३८५)

* आयुर्वर्जसप्तकर्मणां जघन्यरसबन्धकानां परिमाणप्रदर्शकं यन्त्रम् *

ओघतः—घातिचतुष्कस्य जघन्यरसबन्धका संख्येयाः, वेदनीयनाम्नोः पुनरनन्ताः, गोत्रस्य त्वसख्येयाः (गाथा-३७६) ।

चतुर्घाति०४ →असंख्येया		संख्येया	सख्याता.	अनन्ता	अनन्ता:	सख्येया:	असख्येया
वेदनीयनाम्नो २ →अनन्ता		असंख्येया:	,,	अनन्ता:	,,	अनन्ता	,,
गोत्रस्य०१ →असख्येया		,,	,,	असंख्येयाः	,,	असंख्येया:	,,
गति०	तिर्यगोघ० १	मनुष्योघ० १	पर्याप्तमनु० मानुषी-सर्वार्थ-सिद्ध० ३				शेष० ४२
इन्द्रिय०		पञ्चेन्द्रिय-तत्पर्याप्त२		सर्वैकेन्द्रिय० ७			शेष० १०
काय०		त्रसौघ-तत्पर्याप्त० २			वनौघ-सर्वसाधा-रणवन० भेदा. ८		शेष० ३२
योग०	कार्मण० १	सर्वमनोवचोभेदाः १०	आहारक-तन्मिश्र. २			काययोग-औदा० तन्मिश्र० ३	वैक्रिय-तन्मिश्र० २
वेद०		स्त्री-पुं० २	अवेदि० १			नपुंसक० १	
कषाय०						सर्व० ४	
ज्ञान०		मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान विभङ्ग० ४	मन पर्यव० १			मत्यज्ञान श्रुता-ज्ञान० २	
संयम०		देशविरत० १	संयम० सामा० छेदो० परि० सूक्ष्म० ५			असंयम० १	
दर्शन०		चक्षुरवधिद० २				अचक्षु० १	
लेश्या०	अशुभले० ३	शुभलेश्या० ३					
भव्य०	अभव्य० १					भव्य० १	
सम्य०		सम्यक्त्वौघ-क्षायिक वेदको-पशम० ४				मिथ्या० १	सास्वा० मिश्र० २
संज्ञि०	असंज्ञि० १	सज्ञि० १					
आहारि	अनाहारि० १					आहारि० १	
सर्वमार्गणा –	८	३२	१२	७	८	१५	८८
गाथाङ्क –	३७७ ८	३७९-३८०	३८१	३८२	३८३	३८३-३८४	३८४

॥ अथ त्रयोदशं क्षेत्रद्वारम् ॥

गतं परिमाणद्वारम् । साम्प्रतं क्रमप्राप्तं 'खेत्त' इत्यनेनोद्दिष्टं त्रयोदशं क्षेत्रद्वारं निरूपयितुमना आदौ तावदोघतोऽष्टकर्मणामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागबन्धकानां क्षेत्रं लोकाकाशस्य कतितमे भागे वर्तत इति दर्शयन्नाह—

लोगासंखियभागे तिव्वऽणुभागस्स बंधगाऽट्ठण्हं ।
होअन्ति सव्वलोगेऽणुक्कोसस्स अणुभागस्स ॥३८६॥

(प्रे०) क्षेत्रप्ररूपणा नाम यदा विवक्षितकर्मण उत्कृष्टाद्यनुभागबन्धकजीवा उत्कृष्टपदे वर्तन्ते, तदा चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकाकाशस्य कतितमो भाग उत सर्वलोकस्तैर्निरुद्धो वर्तते इति निरूपणम् , नन्वेवं सति क्षेत्रस्पर्शनयोरविशेषत्वेनानन्तरवक्ष्यमाणस्पर्शनाद्वारस्य निरूपणे पिष्टपेषणमेव स्यात्, यतो जीवाः स्वस्थानादिना यस्मिन् स्थाने सम्भवन्ति तदेव स्थानं तेषां क्षेत्रं भवति, तत्रैव च स्पर्शना भवति । ततो यावत्क्षेत्रं तावत्येव स्पर्शना भवतीत्यतः स्पर्शनाप्ररूपणा कौतस्कुती पृथक्कृता ? इति चेद् ,उच्यते–क्षेत्रं वर्तमानकालविषयकमेव , स्पर्शना त्वतीतादिकालविषयाऽपीति क्षेत्रस्पर्शनयोर्भिन्नविषयत्वाद् न पिष्टपेषणम् , एवं तस्याः पृथक्निरूपणमपि युक्तमेव । इदमुक्तं भवति–जीवानां यत् वर्तमानकालिकं स्वस्थानं समुद्घातव्याप्तं वा,तदेव क्षेत्रं भवति, तदेवातीतकालमाश्रित्य चिन्त्यते तदा स्पर्शना भवति । तथा चोक्तं **'बन्धविधानस्य'** मूलप्रकृतिबन्धसत्कप्रथमाधिकारस्य क्षेत्रद्वारे—

"कालं तु वट्टमाणं पडुच्च खेत्ते परूवणा णेया । आसिज्ज अईअद्धा परूवणा उण फ़रिसणाए ॥" इति

एवं **जीवसमासे**ऽपि–

"सट्ठाण समुग्घाएणुववाएणं च जे जहिं भावा । संपइ काले खेत्तं तु फोसणा होइ समईए ॥" इति

ततः कासुचिन्मार्गणासु क्षेत्रस्य लोकासंख्येयभागमात्रत्वेऽपि तत्रातीतकालापेक्षया जीवानामानन्त्येन स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणाऽपि प्राप्यते, इत्थं भिन्नविषयत्वेन स्पर्शनाया निरूपणे न पिष्टपेषणम् । अथ प्रकृतम्–**'लोगासंखियभागे'** इत्यादि, अष्टानां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका लोकासंख्येयभागे भवन्ति, अर्थाद् तद्बन्धकानां क्षेत्रं लोकस्याऽसंख्येयभागमात्रं भवतीत्यर्थः । इत्थमेवोत्तरत्रापि बोद्धव्यम् ।

इयमत्र भावना–घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः संज्ञिमिथ्यादृष्टयः, अघातित्रयस्य तु सूक्ष्मसंपरायस्थाः, आयुष्कस्य पुनरप्रमत्तमुनयः सन्ति । **प्रज्ञापनादिग्रन्थेषु** पञ्चेन्द्रियमात्रस्य क्षेत्रं स्वस्थानादिना लोकस्यासंख्याततमो भागो निरूपितमस्ति, ततोऽष्टानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां पर्याप्तसंज्ञिनां तु सुतरां तल्लोकासंख्याततमभागः सिद्धिमुपयाति ।

अथानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां क्षेत्रमाह–'**सव्वलोगे**'इत्यादि, '**अट्ठण्हं**' इति पदमत्रापि सम्बध्यते, ततश्चाष्टानां कर्मणामनुत्कृष्टस्यानुभागस्य बन्धकाः सर्वलोके भवन्ति,कुतः ? इति चेद् , उच्यते-अनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकास्तु सूक्ष्मापर्याप्तैकेन्द्रिया अपि सम्भवन्ति, ते चातिबहुकाः सर्वदा सर्वलोकव्यापिनश्चेति कृत्वाऽनुत्कृष्टानुभागबन्धकानां क्षेत्रं सर्वलोकप्रमाणं प्राप्यत इति ॥३८६॥

तदेवमभिहितमोघतोऽष्टानामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोर्बन्धकक्षेत्रम् । साम्प्रतं तदेवादेशतो व्याजिहीर्षुरादौ तावदायुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनामेकेन्द्रियौघादित्रिमार्गणास्वाह—

एगिंदियतब्बायरतप्पज्जत्तेसु वेअणामाणं ।
सयमुज्झा सव्वजगे घाईणोघव्व गोअस्स ॥३८७॥

(प्रे०) '**एगिंदिय**' इत्यादि, 'एकेन्द्रियतद्बादरतत्पर्याप्तेषु'-एकेन्द्रियौघ-बादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरैकेन्द्रियलक्षणासु तिसृषु मार्गणासु वेदनीयनाम्नोः-वेदनीयनामप्रकृतिद्वयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाः कियति क्षेत्रे विद्यन्ते ? इत्याह–'**सयमुज्झा**'स्वयमूह्याः आत्मनैव वितर्क्याः,ते कियत्प्रमाणे क्षेत्रे विद्यन्ते इति स्वयमेव तज्ज्ञातृमुखात् ज्ञेयमिति भावः कुत इयमुक्तिर्ग्रन्थकारस्येति चेत् ? उच्यते-वेदनीयनाम्नोरुत्कृष्टरसबन्धकानां वायुकायिकानां विशेषपरिमाणस्यानिर्णयात् । तथाहि-एतत्त्रिमार्गणासु वेदनीयनाम्नोरुत्कृष्टानुभागबन्धकत्वेन तीव्रविशुद्धाः पर्याप्तबादरवायुकायिका अपि,तेषां स्वस्थानतः क्षेत्रं देशोनलोकप्रमितं विद्यते,किन्तूत्कृष्टरसबन्धप्रायोग्याऽध्यवसायस्थानस्यैकात्मकत्वेन ते सर्वे उत्कृष्टरसबन्धका न भवन्ति,किन्त्वनन्ताः-ते च रसबन्धप्रायोग्यैकैकाध्यवसायस्थाने कियत्प्रमाणाः ? इति चिन्तायाम् ,यत्र तद्बन्धार्हा जीवा असंख्येयलोकप्रदेशप्रमाणाः सन्ति तत्रैकैकाध्यवसायस्थाने जघन्यतोऽप्यसंख्येयलोकप्रमाणा जीवा लभ्यन्ते, यत्र पुनस्तद्बन्धार्हा जीवा असंख्येयलोकप्रदेशराशितोऽतीव स्तोकाः तत्र एकैकाध्यवसायस्थाने उत्कृष्टत आवलिका-ऽसंख्येयभागगतसमयराशिप्रमाणा जीवा लभ्यन्ते । यथा त्रसजीवा असंख्येयलोकप्रदेशराशितो न्यूनास्ततस्तत्प्रायोग्यैकैकाऽध्यवसायस्थाने उत्कृष्टतोऽप्यावलिकाऽसंख्येयभागमात्रा जीवाः कर्मप्रकृत्यादिग्रन्थे प्रोक्ताः न त्वधिकाः, तथैव यदि पर्याप्तबादरवायुकायविषयेऽपि संभवेत् तर्हि ते पर्याप्तबादरवायुकायिका एकेन्द्रियौघादित्रिमार्गणासु वेदनीयनाम्नोरुत्कृष्टानुभागबन्धका आवलिकाऽसंख्यातभागगतसमयराशिप्रमाणाः प्राप्येरन् सकलपर्याप्तबादरवायुकायिकानामसंख्यप्रतरमात्रत्वात् . एवं च सति पर्याप्तबादरवायुकायिकानाश्रित्य प्रस्तुतमार्गणासु क्षेत्रस्य प्राधान्यं न प्राप्यते , तेषामावलिकाऽसंख्यभागमात्रत्वेना-ऽत्यल्पत्वात् तद्व्याप्तं क्षेत्रमत्यल्पमेव समवाप्यते, अत एव तदपेक्षया क्षेत्रस्य प्राधान्यं न भवति, किन्तु पर्याप्तबादरवनस्पतिकायिकानेवाश्रित्य . तेषामानन्त्यात्-तच्च क्षेत्रं लोकस्यैकाऽसंख्यातभागप्रमाणमेव भवति, न त्वधिकम् । कुतः ? उच्यते–वेदनीयनाम्नोरुत्कृष्टानुभागस्य तीव्रविशुद्ध्या जायमानत्वेन मरणसमुद्घातगतानां तद्बन्धकानां पर्याप्तबादरवनस्पतिकायिकानां मनुष्येष्वेवोत्पत्तेः,

तेषां च संख्येयमात्रत्वात् मारणान्तिकसमुद्घातेनाऽपि प्रागुक्तक्षेत्रादधिकक्षेत्रस्याऽलाभः। किन्तु यदि पर्याप्तबादरवायुकायिका उत्कृष्टानुभागबन्धका घनीकृतलोकस्याऽसंख्यातप्रतरप्रदेशप्रमाणाः स्युः तर्हि तदपेक्षया क्षेत्रप्राधान्यस्य संभवेन तेष्वाप्तं क्षेत्रं देशोनलोकप्रमितं संभवति किन्त्वेतदर्थे विशेषोपदेशाभावाद् ग्रन्थकारेण 'स्वयमूह्या' इति निगदितमिति।

अथैतासु मार्गणासु घातिप्रकृतीनां प्रकृतबन्धकक्षेत्रमाह–**'सव्वजगे घाईण'**इति घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः सर्वजगति–सर्वलोके भवन्ति।

इयमत्र भावना–यत्र यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकत्वेन अनुत्कृष्टानुभागबन्धकत्वेन वा सूक्ष्मजीवा लभ्यन्ते तत्र तद्बन्धकानां क्षेत्रं स्वस्थानत एव सर्वलोकप्रमाणं भवति। यत्र पुनरुत्कृष्टादिरसबन्धकत्वेन सूक्ष्मभिन्नजीवा लभ्यन्ते, ते च यदि मरणसमुद्घातावस्थायामप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः तदधिका वा, तदा समुद्घातादिना सर्वलोकप्रमाणं क्षेत्रं भवति, मारणान्तिकसमुद्घातगतानां तद्बन्धकानामतिप्रचुरत्वेन सर्वलोकव्यापित्वात्। अत्र घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेन बादरैकेन्द्रियाः सन्ति। ते च परिमाणतोऽनन्ताः, निगोदजीवानामन्तर्गतत्वात्। तथा च घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्य संक्लेशेन जायमानत्वेन मारणान्तिकसमुद्घातगतानां तद्बन्धकानामुत्पादोऽतिनिकृष्टस्थाने भवति,बादरैकेन्द्रियाणां चातिनिकृष्टस्थानं सूक्ष्मजीवसमकमस्ति। अतो घातिचतुष्कस्योत्कृष्टरसबन्धका मरणसमुद्घातकालेऽप्यनन्तास्तेन तद्बन्धकानां क्षेत्रं सर्वलोकप्रमाणं भवति।

साम्प्रतं गोत्रकर्मण उत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां क्षेत्रमोघवदतिदिशन्नाह–**'ओघव्व गोअस्स'** इत्यादि,गोत्रस्य ओघवत् ,तद्यथा-लोकस्यैकासंख्येयभागमात्रे क्षेत्रे उत्कृष्टानुभागस्य बन्धका भवन्तीति।

नन्वत्रापि गोत्रस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेन बादरनिगोदजीवा अपि लभ्यन्ते तर्हि कथं सर्वलोकप्रमाणं क्षेत्रं नोक्तम्? इति चेद्, उच्यते-मारणान्तिकसमुद्घातावस्थायां तद्बन्धकाले तेषां विशुद्धिसद्भावेन सूक्ष्मेषूत्पादाभावात्। तथाहि-एतासु तिसृषु मार्गणासु गोत्रस्योच्चैर्गोत्रेण सहोत्कृष्टानुभागस्य बन्धसद्भावेन तत्स्वामितया तीव्रविशुद्धा बादरपृथ्वीकायाप्कायवनस्पतिकायिका एव न तु बादरतेजोवायुकायिका अपि, तेषामुच्चैर्गोत्रस्य बन्धाभावात्। बादरपृथ्व्यादीनां स्वस्थानतः क्षेत्रं लोकस्यैकासंख्येयभागमात्रं भवति, तथात्र गोत्रस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले तीव्रविशुद्धिसद्भावेन मारणान्तिकसमुद्घातगतानां तद्बन्धकानामुत्पादः स्वप्रायोग्यसर्वोच्चस्थाने भवति, बादरैकेन्द्रियाणां च स्वप्रायोग्यसर्वोत्कृष्टं स्थानं पर्याप्तनृभवसत्कम्, पर्याप्तनृणां संख्यातत्वेन तत्रोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातगतानां बादरनिगोदानामपि संख्येयमात्रत्वात् प्रस्तुतरसबन्धकानां क्षेत्रं लोकस्यैकासंख्येयभागमात्रं भवति। अत एव क्षेत्रं सर्वलोकप्रमाणं नोक्तमिति ॥३८७॥

इदानीमपर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणायामाह—

घाईण सव्वलोए बायरएगिंदियासमत्तम्मि ।
गोअस्सोघव्व जगे देसूणे वेअणामाणं ॥३८८॥

(प्रे०) 'घाईण' इत्यादि, अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणायां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकाः सर्वलोके, गोत्रस्य पुनरोघवद्–लोकस्यैकाऽसंख्यभागप्रमिते क्षेत्रे विद्यन्त इत्यर्थः, भावनाऽत्रानन्तरोक्तबादरैकेन्द्रियमार्गणावत्कार्या । वेदनीयनाम्नोरुत्कृष्टानुभागबन्धका देशोने जगति-देशोनलोके क्षेत्रे सन्ति । कुतः ? इति चेद्, उच्यते–अपर्याप्तबादरवायुकायिकानां स्वस्थानक्षेत्रस्य प्राधान्यात् । तथाहि-प्रस्तुतमार्गणायां वेदनीयनाम्नोरुत्कृष्टानुभागबन्धका अपर्याप्तबादरवायुकायिकाः, तेषां चाऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितत्वात् वेदनीयनाम्नोरुत्कृष्टरसबन्धका अप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः प्राप्यन्ते, ततस्तैरपि स्वस्थानरूपं देशोनलोकमितं क्षेत्रं व्याप्यते, अतो यथोक्तं क्षेत्रं घटते । निगोदजीवानामानन्त्येऽपि तेषां स्वस्थानक्षेत्रस्य लोकस्यासंख्येयभागमात्रत्वात् ,अपर्याप्तबादरवायूनां स्वस्थानस्येह प्राधान्यं द्रष्टव्यम् ,ननु तर्हि तद्बन्धकानां सर्वलोकमितं क्षेत्रं कथं न प्राप्यते इति चेत्, उच्यते–वेदनीयनाम्नोरुत्कृष्टानुभागबन्धस्य सर्वविशुद्ध्या सद्भावेन तद्बन्धकानां सूक्ष्मेषूत्पादाभावादिति ॥३८८॥

अथ सर्वसूक्ष्मभेदेषूत्कृष्टरसबन्धकानां क्षेत्रमाह,तथा यासु मार्गणासु घातिचतुष्कस्योत्कृष्टरसस्य बन्धकानां क्षेत्रं सर्वलोकः, अघातित्रयस्य पुनर्लोकासंख्यातभागमात्रं प्राप्यते तासु मार्गणासु तथैवाऽऽह—

सत्तण्ह सव्वलोगे तिव्वऽणुभागस्स सव्वसुहमेसु ।
णेया वणे णिगोए तब्बायरसव्वभेएसु ॥३८९॥
असमत्तबायरपुहविदगपत्तेअहरिएसु घाईणं ।
होअन्ति सव्वलोगे तिअघाईणऽत्थि ओघव्व ॥३९०॥

(प्रे०) 'सत्तण्ह' इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां प्रत्येकं तीव्रानुभागस्योत्कृष्टरसस्य बन्धकाः सर्वलोके ज्ञेयाः, कासु मार्गणासु ? इत्याह–'सर्वसूक्ष्मेषु'–एकेन्द्रिय-पृथ्वीकायाप्कायतेजःकायवायुकायसाधारणवनस्पतिकायानां प्रत्येकं सूक्ष्मौघ-तत्पर्याप्ताऽपर्याप्तभेदैः त्रयस्त्रयो मार्गणाभेदाः भवन्ति, सूक्ष्माणामष्टादशमार्गणाभेदेष्वित्यर्थः । सूक्ष्मजीवानां सर्वदा सर्वलोकव्यापित्वात् ।

'वणे' इत्यादि-वनस्पतिकायसामान्ये, 'निगोदे' साधारणवनस्पतिकायसामान्ये, 'तद्बादरसर्वभेदेषु' बादरसाधारणवनस्पतिकायिकानां सर्वभेदेषु-बादरसाधारणवनस्पतिकाय-पर्याप्तबादरसाधारणवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तबादरसाधारणवनस्पतिकायलक्षणेषु त्रिषु मार्गणाभेदेषु इत्यर्थः, 'अस-

मत्त' इत्यादि , असमाप्तबादरशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् अपर्याप्तबादरपृथ्वीकायभेदे , अपर्याप्तबादराप्कायभेदे, अपर्याप्तबादरप्रत्येकवनस्पतिकायभेदे चेति सर्वसंख्ययाऽष्टमार्गणाभेदेषु घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः सर्वलोके भवन्ति, त्र्यघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका ओघवद्-लोकस्यैकासंख्याततमे भागे सन्ति । **भावना त्वियम्**–अत्र वनस्पतिकायसामान्यनिगोदसामान्यमार्गणाद्वयवर्तिजीवाः स्वस्थानतोऽपि सर्वलोकव्यापिनः । शेषषण्मार्गणावर्तिजीवाः स्वस्थानतः लोकस्यैकासंख्यातभागवर्त्तिनः, समुद्घातादिना पुनः सर्वलोकव्यापिनः आसु मार्गणासु प्रत्येकं जीवानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितत्वात् तदधिकप्रमाणत्वाद्वा । एतास्वष्टास्वपि मार्गणासु घातिचतुष्कस्याघातित्रयस्य चोत्कृष्टानुभागबन्धस्वामिनो बादरजीवाः, बादरजीवानां च क्षेत्रं स्वस्थानतो लोकस्यैकाऽसंख्यातभागमात्रम् ,ननु तर्हि कथमत्र घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानां क्षेत्रं सर्वलोकप्रमाणमभिहितम् ,अघातित्रयस्य तु लोकस्यैकाऽसंख्येयभागमात्रम् ? इति चेद् , उच्यते–घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धः सर्वसंक्लेशेन भवति स च बन्धः सूक्ष्मतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातावस्थायामपि संभवति, सूक्ष्मेषु च बहूनां जीवानामुत्पत्तिसंभवेन मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहतानां बहूनां जीवानां घातिचतुष्कसत्कोत्कृष्टानुभागस्य बन्धो भवति, तैश्च प्रतिसमयं सर्वलोको व्याप्यते, एवं घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां क्षेत्रं सर्वलोकः प्राप्यते । अघातित्रयस्य तूत्कृष्टानुभागबन्धः सर्वविशुद्धया भवति, मारणान्तिकसमुद्घातगतानां जीवानां यदि तद्बन्धो भवति तदा सर्वविशुद्धिसद्भावेन तेषामुत्पादः पर्याप्तमनुष्येष्वेव भवति,पर्याप्तमनुष्याणां च संख्यातत्वात् ,मारणान्तिकसमुद्घातगतानां तद्बन्धकजीवानामपि संख्यातत्वम् ,ततः मारणान्तिकसमुद्घातनिरुद्धक्षेत्रमपि लोकस्यैकासंख्येयभागमात्रं भवति,अत एवाघातित्रयसत्कोत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां क्षेत्रं लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रमभिहितम् ॥३८९।३९०॥

सम्प्रति बादरापर्याप्ततेजःकाये उत्कृष्टरसबन्धकानां क्षेत्रमाह—

पंचण्ह सव्वलोगे हवन्ति बायरअपज्जतेउम्मि ।
लोगासंखियभागे विण्णेया वेअणाभाणं ॥३९१॥

(प्रे०) **'पंचण्ह'** इत्यादि, बादरापर्याप्ततेजःकाये पञ्चानां-चतुर्घातिगोत्रलक्षणानां पञ्चप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः सर्वलोके भवन्ति । कुतः ? इति चेद् , उच्यते-बादरापर्याप्ततेजःकायिकानां स्वस्थानतः क्षेत्रं लोकासंख्येयभागमात्रं,परिमाणतश्चासंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिमिताः, तथात्र केवलनीचैर्गोत्रस्य बन्धसद्भावेन गोत्रस्याप्युत्कृष्टानुभागबन्धः संक्लेशेन जायते, ततो मारणान्तिकसमुद्घातगतानां जीवानां तासां पञ्चप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकाले सूक्ष्मेषूत्पादसंभवेन मारणान्तिकसमुद्घातगतैर्नानाजीवैः स्वात्मप्रदेशैः सर्वलोकः पूर्यते, एवं पञ्चानामुत्कृष्टरसबन्धकाः सर्वलोके भवन्ति । वेदनीयनामकर्मणोरुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः 'लोकासंख्येयभागे' लोकस्यैका-

संख्यातभागमात्रे विज्ञेयाः। कथम्? इति चेद्, उच्यते-वेदनीयनामकर्मणोरुत्कृष्टानुभागबन्धो विशुद्ध्या भवति, मारणान्तिकसमुद्घातसमापन्ना विशुद्धबादरपर्याप्ततेजःकायिकाः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्यन्ते, तेषां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां च स्थानं लोकस्यैकासंख्येयभागमात्रं विद्यते। अत एव वेदनीयनामकर्मणोरुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका लोकस्यैकासंख्यातभाग इत्युक्तम् ॥३९१॥

अथ बादरापर्याप्तवायुकायमार्गणायां तदेवाह—

पंचण्ह सव्वलोगे हवन्ति बायरअपज्जवाउम्मि ।
देसेणूणे लोगे विण्णेया वेअणामाणं ॥३९२॥

(प्रे०) '**पंचण्ह**' इत्यादि, बादरापर्याप्तवायुकायमार्गणायां पञ्चानां-चतुर्घातिगोत्रलक्षणानां पञ्चप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः सर्वलोके भवन्ति। भावना चात्र बादरापर्याप्ततेजःकायवत्कार्या। वेदनीयनामकर्मणः पुनरुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः कियत्क्षेत्रे विद्यन्ते? इत्याह-'**देसेणूणे**' देशेन-असंख्येयतमैकभागलक्षणेनोने-न्यूने लोके विज्ञेयाः। इयमत्र भावना-बादरापर्याप्तवायुकायिकानां क्षेत्रं स्वस्थानतः लोकस्यासंख्यातबहुभागप्रमाणं, परिमाणं चासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणं प्रज्ञापनादिग्रन्थेषु निरूपितम्। भागद्वारे अत्रोत्कृष्टानुभागस्य बन्धका एकासंख्येयभागमात्रा उक्ताः, वक्ष्यते च नानाजीवानाश्रित्यान्तरप्ररूपणायां तद्बन्धकानामन्तरं कदापि न भवतीति, तेन प्रतिसमयमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमिता जीवा वेदनीयनाम्नोरुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका भवन्ति, ततः स्वस्थानमेवाश्रित्य प्रकृतबन्धकानां देशोनलोकप्रमाणं क्षेत्रं प्राप्यते, समुद्घातमाश्रित्य तु स्वल्पमेव तत्प्राप्यते, तद्बन्धस्य विशुद्धिनिबन्धनतया मारणान्तिकसमुद्घातसमापन्नानां संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्यमानत्वेनात्यल्पत्वात् ॥३९२॥

इदानीं वायुकायसामान्य-बादरवायुकाय-पर्याप्तबादरवायुकायरूपत्रिमार्गणासु तथा शेषमार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां क्षेत्रमाह—

सत्तण्ह वाउकाये बायरवाउम्मि तस्स पज्जत्ते ।
सयमुज्झा सेसासु लोगस्स असंखभागम्मि ॥३९३॥

(प्रे०) '**सत्तण्ह**' इत्यादि, वायुकाये, बादरवायुकाये, तस्य पर्याप्त-बादरपर्याप्तवायुकाये चेत्येतासु तिसृषु मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः स्वयमूह्याः कियति क्षेत्रे विद्यन्ते इति स्वयमेवानेतव्यम्। भावना पुनरेकेन्द्रियौघादित्रिमार्गणासु यथा वेदनीयनाम्नोरुत्कृष्टानुभागबन्धकक्षेत्रस्य कृता तथैव कार्या। साम्प्रतं यासु मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां क्षेत्रं लोकस्यैकाऽसंख्येयभागमात्रं भवति तासु '**सेसासु लोगस्स असंखभागम्मि**' इत्यादिनाऽऽह-शेषासु-प्रागुक्तपञ्चत्रिंशन्मार्गणा वर्जयित्वा शेषपञ्चत्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु लोकस्यासंख्येयभागे-लोकस्यैकासंख्याततमे भागे, सप्ताना-

मुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका इति प्रक्रमाद् गम्यते। शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः-गतिमार्गणास्थानस्य सर्वभेदप्रभेदाः,इन्द्रियमार्गणास्थानस्य नवविकलाक्षत्रिपञ्चेन्द्रियभेदाः,कायमार्गणास्थानस्य पृथ्वीकायसामान्य-बादरपृथ्वीकाय-पर्याप्तबादरपृथ्वीकायाऽप्कायसामान्य-बादराप्काय-पर्याप्तबादराप्काय- तेजः-कायसामान्यबादरतेजःकाय-पर्याप्तबादरतेजःकाय-प्रत्येकवनस्पतिकाय-पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायत्रित्रस-कायरूपाश्चतुर्दशभेदाः, योग-वेद-कषाय-ज्ञान-संयम-दर्शन-लेश्या-भव्य-सम्यक्त्व-संज्ञ्याहारिमार्गणास्थानानां प्रत्येकं सर्वभेदप्रभेदाश्चेत्येताः पञ्चत्रिंशदुत्तरशतमार्गणा इति।

भावना त्वियम्-अत्र तिर्यग्गतिसामान्य-काययोगौदारिकौदारिकमिश्र-कार्मण-नपुंसक-क्रोध-मान-माया-लोभ-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्ण-नील-कापोतलेश्या-भव्याऽभव्य-मिथ्यात्वाऽसंज्ञ्याहारकानाहारकलक्षणासु त्रयोविंशतिमार्गणासु यद्यपि जीवा अनन्ताः,तथापि सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धकानां पञ्चेन्द्रियत्वेन तेऽत्यल्पाः प्राप्यन्ते,ततस्तेषां मारणान्तिकसमुद्घातेनापि क्षेत्रं लोकस्यैकासंख्येयभागमात्रं भवति। तथैव पृथ्वीकायौघ-बादरपृथ्वीकायाऽप्कायौघ-बादराप्कायतेजः-कायौघ-बादरतेजःकाय-प्रत्येकवनस्पतिकायरूपासु सप्तमार्गणासु यद्यपि जीवा असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः, तथापि सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेन बादरपर्याप्तजीवा लभ्यन्ते,ते चैकलोकाकाशप्रदेशराशितोऽपि स्तोकाः, ततो ज्ञानावरणादिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकानां मरणसमुद्घातेन सूक्ष्मेषु उत्पादसंभवेऽपि तेषां क्षेत्रं लोकस्यैकासंख्येयभागमात्रं भवति, वेदनीयादिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां तु क्षेत्रं सुतरां तावन्मात्रं घटते, तेषां सूक्ष्मेषूत्पादाभावात्। निरुक्तत्रिंशन्मार्गणावर्जपञ्चाधिकशतमार्गणासु जीवा असंख्येयलोकप्रदेशराशितोऽत्यल्पाः, ततस्तेषां च स्वस्थानतः मारणान्तिकसमुद्घातेनाऽपि क्षेत्रं लोकस्यैकासंख्येयभागमात्रं भवति,एवं सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां क्षेत्रं लोकस्यैकासंख्येयभागमात्रं सूपपद्यत इति ॥३९३॥

तदेवं दर्शितमादेशतः सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां क्षेत्रम्। साम्प्रतं तासामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां क्षेत्रं चिन्तयितुमनाः प्राह-

तिरिये सव्वेगिंदियणिगोअवणसेससुहुमभेएसुं।
पुहवाइचउसु तेसिं बायरबायरअपज्जेसुं ॥३९४॥
पत्तेअवणम्मि तहा तदपज्जत्तम्मि कायजोगे य।
उरलदुगकम्मणेसुं णपुंसगे चउकसायेसुं ॥३९५॥
अण्णाणदुगे अयते अचक्खुअपसत्थलेसभवियेसुं।
अभवियमिच्छत्तेसुं असण्णिआहारगियरेसुं ॥३९६॥

सत्तण्ह सव्वलोगेऽणुक्कोसरसस्स बंधगा णेया ।
देसेणूणे लोगे बायरपज्जत्तवाउम्मि ॥३९७॥

(प्रे०) **'तिरिये'** इत्यादि, तिर्यग्गतिसामान्यादिमार्गणासु सप्तानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसस्य बन्धकाः सर्वलोके, ज्ञेया इति चतुर्थगाथायाः पूर्वार्धेनान्वयः । कुत्रेत्याह–'तिरश्चि' तिर्यग्गति-सामान्यमार्गणायां, सर्वशब्दस्य एकेन्द्रियनिगोदयोरभिसम्बन्धात् सर्वेष्वेकेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु निगोदभेदेषु **'वण'**–वनस्पतिकायौघमार्गणायाम् , शेषसूक्ष्मभेदेषु-पृथ्व्यप्तेजोवायुकायिकानां प्रत्येकं त्रिषु त्रिषु भेदेषु द्वादशसूक्ष्मभेदेष्वित्यर्थः, पृथ्व्यादिचतुर्षु-सामान्यपृथ्व्यप्तेजोवायुकायरूपेषु 'तेषां-बादरबादरापर्याप्तेषु' पृथ्व्यप्तेजोवायुकायिकानां प्रत्येकं बादरबादरापर्याप्तभेदयोः सर्वसंख्यया बादरपृथ्व्यादीनामष्टसु भेदेषु, प्रत्येकवनस्पतिकाये, तथाशब्दः समुच्चयार्थः, 'तदपर्याप्ते,' प्रत्येकवन-स्पतिकायस्यापर्याप्तभेदे, काययोगे, 'औदारिकद्विककार्मणेषु' औदारिकौदारिकमिश्रकार्मणकाययोग-भेदेषु, नपुंसके, चतुष्कषायेषु, 'अज्ञानद्विके'-मत्यज्ञानश्रुताज्ञानलक्षणे असंयमे, अचक्षुर्दर्शने, अप्र-शस्तलेश्याभेदेषु, भव्याभव्यभेदद्वये, मिथ्यात्वे, असंज्ञिभेदे, 'आहारकेतरयोः'-आहारकानाहारक-भेदद्वये चेत्येतेषु चतुःषष्टिमार्गणाभेदेष्विति । **अयमत्र नियमः**–यत्र सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकत्वेन सूक्ष्मजीवा अपि लभ्यन्ते, तत्र तद्बन्धकानां क्षेत्रं स्वस्थानतोऽपि सर्वलोकप्रमितं भवति, यथा तिर्यग्गतिसूक्ष्मैकेन्द्रियादिमार्गणासु । यत्र पुनः सूक्ष्मभिन्नजीवाः तद्बन्धकत्वेन लभ्यन्ते, ते च असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा, तदधिका वा, तदा समुद्घातादिना सर्वलोकप्रमाणं क्षेत्रं भवति, मारणान्तिकसमुद्घातगतैस्तद्बन्धकैः सर्वलोकस्य पूरितत्वात् , यथाऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रिया-दिमार्गणास्विति ।

अथ पर्याप्तबादरवायुकायमार्गणायां सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः कियत्क्षेत्रे विद्यन्ते ? इत्याह–**'देसेणूणे लोगे'** इति देशेन-एकासंख्येयभागमात्रेण ऊने-न्यूने लोके, पर्याप्तबादरवायुकायि-कानामत्यल्पतया समुद्घातादिना सर्वलोकप्रमितक्षेत्रस्यालभ्यमानत्वात् तेषां स्वस्थानक्षेत्रस्य च यथोक्तमानत्वात् ॥३९४।३९५।३९६।३९७॥

साम्प्रतं शेषासु पञ्चोत्तरशतमार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां क्षेत्रं तथा सर्वासु मार्गणास्वायुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां क्षेत्रं प्रदिदर्शयिषुरेकगाथयाऽऽह—

लोगासंखियभागे सेसासु हवन्ति सव्वहाउस्स ।
तिव्वरसस्स हवन्ते लोगस्स असंखभागम्मि ॥३९८॥

(प्रे०) **'लोगासंखियभागे'** इत्यादि, शेषासु प्रागुक्तपञ्चषष्टिमार्गणा वर्जयित्वा पञ्चाधि-कशतमार्गणास्वित्यर्थः , सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका लोकासंख्यभागे-लोकस्यैकासंख्यात-

भागमात्रे क्षेत्रे भवन्ति । कुतः ? इति चेद्, उच्यते-निरुक्तपञ्चाधिकशतमार्गणासु जीवाः एकलोकाकाशप्रदेशराशितोऽपि स्तोकाः, ते चासंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितः सुतरामत्यल्पसंख्याकाः, ततो मरणसमुद्घातेनापि लोकस्यैकासंख्येयभागमात्रक्षेत्रतः अधिकं क्षेत्रं न प्राप्यते, स्वस्थानं तु तेषां लोकस्यैकासंख्येयभाग एव ततोऽत्र सर्वासु मार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां क्षेत्रं लोकस्यैकासंख्येयभागमात्रमुक्तम् ।

पञ्चोत्तरशतमार्गणा नामतः पुनरिमाः-गतिमार्गणास्थानस्य तिर्यग्गतिसामान्यभेदवर्जषट्चत्वारिंशन्मार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य नवविकलाक्षत्रिपञ्चेन्द्रियभेदरूपा द्वादशमार्गणाः, कायमार्गणास्थानस्य पर्याप्तबादरपृथ्व्यप्तेजःप्रत्येकवनस्पतिकायचतुर्भेदत्रित्रसकायभेदलक्षणाः सप्तमार्गणाः योगमार्गणास्थानस्य पञ्चमनःपञ्चवचनवैक्रियवैक्रियमिश्राऽऽहारकाऽऽहारकमिश्ररूपाश्चतुर्दशमार्गणाः, वेदमार्गणास्थानस्य स्त्रीपुरुषाऽपगतवेदलक्षणास्त्रिमार्गणाः, ज्ञानमार्गणास्थानस्य मतिश्रुतावधिमनःपर्यवविभङ्गरूपाः पञ्चमार्गणाः, संयममार्गणास्थानस्याऽसंयमभेदवर्जषण्मार्गणाः, दर्शनमार्गणास्थानस्य चक्षुरवधिलक्षणे द्वे मार्गणे, लेश्यामार्गणास्थानस्य तेजःपद्मशुक्लाख्यास्त्रिमार्गणाः, सम्यक्त्वमार्गणास्थानस्य मिथ्यात्ववर्जषण्मार्गणाः, संज्ञिमार्गणा चेति ।

अथाऽऽयुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानां क्षेत्रं निरूप्यते-'**सव्वहाउस्स**' सर्वत्र-आयुर्बन्धप्रायोग्यसर्वमार्गणासु वैक्रियमिश्र-कार्मणकाययोगा-ऽपगतवेद-सूक्ष्मसंपरायोपशम-मिश्रा-ऽनाहारकरूपसप्तमार्गणावर्जत्रिष्ट्यधिकशतमार्गणास्वित्यर्थः, आयुष्कस्य तीव्ररसस्य-उत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः लोकस्याऽसंख्यातभागे-एकासंख्यातभागमात्रे क्षेत्रे भवन्ति । कुतः ? उच्यते—सर्वत्रोत्कृष्टानुभागान्वितायुषः संज्ञिप्रायोग्यत्वेन स्तोकजीवैर्बध्यमानत्वात् ॥३९८॥

तदेवमायुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां क्षेत्रमभिधाय साम्प्रतं तस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां क्षेत्रस्य प्रचिकटयिषयाऽऽह—

तिरिये एगिंदियपणकायणिगोएसु सव्वसुहमेसुं ।
कायुरलदुगणपुंसगकसायचउगदुअणाणेसुं ॥३९९॥
अयताचखूसु असुहलेसाभवियेयरेसु मिच्छत्ते ।
अमणाहारेसु सयलजगं अतिव्वाणुभागस्स ॥४००॥

(प्रे०) '**तिरिये**' इत्यादि, तिरश्चि-तिर्यग्गतिमार्गणायां, 'एकेन्द्रियपञ्चकायनिगोदेषु' एकेन्द्रियसामान्य-पृथ्व्यादिपञ्चसामान्यभेदसाधारणवनस्पतिकायौघभेदेषु 'सर्वसूक्ष्मेषु' सर्वसूक्ष्मभेदेषु-एकेन्द्रिय-पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायिकानां प्रत्येकं सामान्यपर्याप्ताऽपर्याप्तलक्षणास्त्रयो भेदाः, ततः सर्वमीलने अष्टादशसूक्ष्मभेदास्तेष्वित्यर्थः, काययोगौदारिकतन्मिश्रयोगेषु, नपुंसकवेदे, कषाय-

चतुष्के, मत्यज्ञानश्रुताऽज्ञानद्वये, असंयमे, अचक्षुर्दर्शने, कृष्णनीलकापोताख्येषु त्र्यशुभलेश्याभेदेषु, भव्याभव्यभेदयोः, मिथ्यात्वे, असंज्ञिभेदे तथाहारकभेदे इत्येतेषु षट्चत्वारिंशन्मार्गणाभेदेषु आयुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः सकलजगति-सर्वलोके,विद्यन्ते इति शेषः । कुतः ? इति चेद् , उच्यते—एतासु सर्वासु मार्गणासु सूक्ष्मजीवानामन्तःप्रविष्टत्वेन प्रतिसमयमायुष्कस्य बन्धकानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणतयाऽनन्तप्रमाणतया वा लभ्यमानत्वात् , तेषां स्वस्थानक्षेत्रस्य सर्वलोकप्रमाणत्वाच्च ॥३९९।४००॥

सम्प्रति यासां मार्गणानां स्वस्थानतः क्षेत्रं देशोनलोकप्रमाणं विद्यते, तासु मार्गणासु प्रकृतबन्धकानां क्षेत्रं दर्शयन्नाह—

देसूणजगे बायरएगिंदियवाउसव्वभेएसुं ।
लोगस्स असंखयमे भागे सेमासु बोद्धव्वा ॥४०१॥

(प्रे०) **'देसूणजगे'** इत्यादि, देशोनलोके आयुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः, विद्यन्त इति शेषः । क्व ? इत्याह—'बादरैकेन्द्रियवायुसर्वभेदेषु' बादरशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् , सर्वभेदशब्दस्य च **'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं'**इत्यादिन्यायेन प्रत्येकं योजनात् 'बादरैकेन्द्रियसर्वभेदेषु'बादरसामान्य-पर्याप्तबादराऽपर्याप्तबादररूपासु तिसृषु बादरैकेन्द्रियमार्गणासु 'बादरवायुकायसर्वभेदेषु' बादरसामान्य-पर्याप्तबादरा-ऽपर्याप्तबादरलक्षणासु तिसृषु बादरवायुकायमार्गणासु ।

इयमत्र भावना—बादरवायुकायिकानां त्रिषु भेदेषु स्वस्थानतः क्षेत्रं लोकस्यासंख्यातबहुभागप्रमितमस्ति , ततस्तदपेक्षया बादरैकेन्द्रियाणामपि स्वस्थानतः क्षेत्रं तावत्प्रमाणं भवति । नन्वत्राऽऽयुष्कस्य बन्धकाः सर्ववायुकायिकादयो न प्राप्यन्ते, तर्हि कथं तद्बन्धकैर्व्याप्तं क्षेत्रं देशोनलोकप्रमाणं भवेत् ? इति चेद् , उच्यते—यद्यपि आयुर्बन्धकालतो बादरवायूनां जीवनकाल उत्कृष्टोऽपि संख्यातगुणः , तेन प्रकृष्टत आयुर्बन्धकास्तेषां सर्वराशितः संख्यातभागमात्रा भवन्ति । तत आयुर्बन्धकानां संख्यातभागमात्रत्वेन तेषां क्षेत्रमपि संख्यातभागमात्रं भवितुमर्हति तथापि एकैकेन वायुकायिकेना-ऽवगाहितक्षेत्रस्याऽसंख्येयैर्वायुकायिकैरप्यवगाहितत्वात् , आयुर्बन्धकानां क्षेत्रं स्वस्थानतुल्यं देशोनलोकमात्रं भवति ।

अथ शेषमार्गणासु आयुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका लोकस्य कतितमे भागे वर्तन्ते ? इत्याह—**'लोगस्स असंखयमे भागे'** इत्यादि, शेषमार्गणासु-प्रागुक्तद्विपञ्चाशन्मार्गणा वर्जयित्वा एकादशोत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः, आयुष्कानुत्कृष्टरसबन्धकाः लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रे क्षेत्रे बोद्धव्याः आयुर्बन्धकाले मारणान्तिकसमुद्घाताभावात् , सर्वत्र तद्बन्धकानां स्वस्थानक्षेत्रस्य यथोक्तप्रमाणत्वाच्च । शेषमार्गणा नामत इमाः-गतिमार्गणास्थानस्य तिर्यग्गतिसामान्यभेदवर्जषट्चत्वारिंशन्मार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य नवविकलाक्षत्रिपञ्चेन्द्रियलक्षणा द्वादशमार्गणाः कायमार्गणा-

स्थानस्य बादर-पृथ्व्यप्तेजःप्रत्येकसाधारणवनस्पतिकायिकानां प्रत्येकमोघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तरूपास्तिस्रः तिस्रः मार्गणाः, त्रित्रसकायमार्गणाश्च सर्वमीलने अष्टादशमार्गणाः,योगमार्गणास्थानस्य पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोगवैक्रियाऽऽहारकाऽऽहारकमिश्ररूपास्त्रयोदशमार्गणाः, वेदमार्गणास्थानस्य स्त्रीपुरुषलक्षणे द्वे मार्गणे,ज्ञानमार्गणास्थानस्य मतिश्रुताऽवधिमनःपर्यवज्ञानविभङ्गज्ञानलक्षणाः पञ्चमार्गणाः, संयम-मार्गणास्थानस्य संयमसामान्य-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-देशविरतिरूपाः पञ्चमार्गणाः, दर्शनमार्गणास्थानस्य चक्षुरवधिदर्शनलक्षणे द्वे मार्गणे, लेश्यामार्गणास्थानस्य तेजःपद्मशुक्ला-ख्यास्त्रिमार्गणाः , सम्यक्त्वमार्गणास्थानस्य सम्यक्त्वसामान्यक्षायिक-वेदक-सास्वादनलक्षणा-श्चतुर्मार्गणाः , संज्ञिमार्गणा चेत्येता एकादशाधिकशत (१११) मार्गणा इति ॥४०१॥

तदेवमष्टप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोर्बन्धकानां क्षेत्रं दर्शितम् । अथ जघन्याजघन्यानु-भागयोर्बन्धकानां क्षेत्रं दर्शयन्नादौ तावदोघत आह—

लोगासंखियभागे मंदऽणुभागस्स घाइगोआणं ।
सेसाण सव्वलोगे अट्ठण्हियरस्स सव्वजगे ॥४०२॥

(प्रे०) '**लोगासंखियभागे**' इत्यादि, घातिगोत्राणां-चतुर्घातिगोत्रप्रकृतीनां मन्दानुभागस्य जघन्यानुभागस्य बन्धका लोकासंख्यातभागे-लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रे क्षेत्रे वर्तन्ते इति शेषः । घातिप्रकृतीनां गोत्रस्य च जघन्यानुभागबन्धस्वामिनः क्रमेण क्षपकाः सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमनारकाश्च तेषां चात्यल्पत्वात् निरुक्तबन्धकानां क्षेत्रं लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रमेव भवतीति । अथ शेष-प्रकृतीनामाह-'**सेसाण सव्वलोगे**'इति शेषाणां-घातिगोत्रवर्जानां-वेदनीयायुर्नामप्रकृतीनां,जघन्या-नुभागस्य बन्धका इति प्रस्तावाद् गम्यते, सर्वलोके विद्यन्ते । कथम् ? भण्यते-एतत्प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जायते,स च परिणामः सूक्ष्मादिजीवेष्वपि लभ्यत इति कृत्वा । कृता जघन्यानुभागस्य बन्धकानामोघतः क्षेत्रप्ररूपणा, साम्प्रतमजघन्यानुभागस्य तच्चिकी-र्षयाऽऽह-'**अट्ठण्हियरस्स**' इत्यादि, अष्टानां प्रकृतीनामितरस्य जघन्यानुभागादितरस्य-अजघन्या-नुभागस्य बन्धकाः सर्वलोके भवन्ति, सर्वलोकव्यापिसूक्ष्माणामपि तद्बन्धकत्वात् ॥४०२॥

अधुनाऽऽयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य बन्धकानां क्षेत्रमादेशतो निरूपयन्नाह—

मंदऽणुभागस्स तिरियउरालदुगणीलकाउअमणेसुं ।
ओघव्व बंधगा खलु छण्हं गोअस्स सयमुज्झा ॥४०३॥

(प्रे०) '**मंदऽणुभागस्स**' इत्यादि , तिर्यग्गतिसामान्यौदारिकतन्मिश्रनीलकापोताऽसंज्ञि-लक्षणासु षण्मार्गणासु षण्णां घातिवेदनीयनामप्रकृतीनां मन्दानुभागस्य--जघन्यानुभागस्य बन्धका ओघवद् ज्ञेयाः । तद्यथा–घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धका लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रे क्षेत्रे

विज्ञेया । कुतः ? इति चेद् उच्यते—एतन्मार्गणासु सामान्यतया घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्ध-स्वामित्वेन तीव्रविशुद्धाः पञ्चेन्द्रियजीवा लभ्यन्ते, तेषां चात्यल्पत्वात् तन्निरुद्धक्षेत्रं प्रकृष्टतोऽपि लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रं भवतीति । तथा वेदनीयनाम्नोर्जघन्यानुभागस्य बन्धकाः सर्वलोके भवन्ति, परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जघन्यानुभागबन्धस्य जायमानत्वेन तत्तन्मार्गणावर्तिसूक्ष्मनिगोदादिजीवानामपि तद्बन्धकत्वात् । अथ गोत्रस्य प्रकृतबन्धकानां क्षेत्रं निर्दिशति—'**गोअस्स**' इत्यादि, **गोत्रस्य** जघन्यानुभागस्य बन्धकाः स्वयमूहनीयाः, प्रकृतबन्धकाः कियत्क्षेत्रे विद्यन्ते तत्तु स्वयमेव ज्ञातव्यमित्यर्थः । कुतः ? उच्यते—बादरपर्याप्तवायुकायिकानाश्रित्य क्षेत्रप्राधान्येऽपि क्षेत्र-प्रयोजकीभूतं प्रस्तुतरसबन्धकपरिमाणं निर्णेतुमशक्यमिति कृत्वा । अत्र विशेषवक्तव्यता पूर्व-वज्ज्ञेया ॥४०३॥ अथैकेन्द्रियादिमार्गणासु प्रस्तुतक्षेत्रमाह—

एगिंदियतब्बायरतप्पज्जगवाउबायरऽणिलेसुं ।
पंचण्हं मयमुज्झा सव्वजगे वेअणामाणं ॥४०४॥

(प्रे०) '**एगिंदिय**' इत्यादि, 'एकेन्द्रियतद्बादरतत्पर्याप्तवायुबादराऽनिलेषु'—एकेन्द्रियौघ-बादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-वायुकायौघ-बादरवायुकायलक्षणासु पञ्चमार्गणासु घातिगोत्राणां पञ्चप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य बन्धकाः कियति क्षेत्रे ? इति स्वयमूह्याः—स्वयमेवानेतव्या इत्यर्थः । अत्राऽयं हेतुः—यदि पर्याप्तबादरवायुकायिकानाश्रित्यैवात्र क्षेत्रप्राधान्यमवाप्यते, तदा तेषां प्रस्तुतबन्धकानां परिमाणमसंख्येयप्रतरप्रदेशराशिप्रमाणमेवाऽऽवश्यकम्, ततश्च प्रकृतक्षेत्रं देशोनलोकप्रमितं भवितुमर्हति, नान्यथा, किन्तु तत्परिमाणं निर्णेतुमशक्यमिति हेतोः स्वयमूह्या इत्युक्तम् । तथा '**सव्वजगे**' इत्यादि, वेदनीयनाम्नोर्जघन्यानुभागबन्धकाः सर्वजगति-सर्वलोके विद्यन्ते इह परावर्तमानमध्यमपरिणामेन तयोर्बन्धसद्भावेन सर्वत्र बन्धका असंख्येयलोकराशिप्रमाणाः तदधिका वा लभ्यन्ते, ततो यत्र स्वस्थानतः सर्वलोकमितं क्षेत्रं न प्राप्यते, तत्र प्रकृतक्षेत्रं समुद्घातेन सर्वलोकप्रमाणं भवति ॥४०४॥

साम्प्रतमपर्याप्तबादरैकेन्द्रियवायुकायभेदद्वये समानां जघन्यानुभागबन्धकानां क्षेत्रमाह—

पंचण्हं ऊणजगे अपज्जबायरइगिंदियऽणिलेसुं ।
दोण्हऽत्थि सव्वलोए सत्तण्हं सव्वसुहमेसुं ॥४०५॥

(प्रे०) **पंचण्हं'** इत्यादि, अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियाऽपर्याप्तबादरवायुकायमार्गणाद्वये घातिगोत्राणां पञ्चप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धका ऊनजगति-देशोनलोके ज्ञेयाः । कुतः ? भण्यते—एतन्मार्गणाद्वये पञ्चानां जघन्यानुभागस्य बन्धका अपर्याप्तबादरवायुकायिका अपि लभ्यन्ते, ते चाऽसंख्येयलोकप्रदेशराशिप्रमाणाः ततस्तेषां स्वस्थानापेक्षया प्रकृतक्षेत्रमवगन्तव्यम् । आसां पञ्चानां जघन्या-

नुभागबन्धस्तीव्रविशुद्धया जायते,ततः समुद्घातेन लोकाऽसंख्यभागादधिकं क्षेत्रं न प्राप्यते । एवं तत्स्वस्थानमाश्रित्य देशोनलोकः प्राप्यते । तथा द्वयोर्वेदनीयनाम्नोर्जघन्यानुभागस्य बन्धकाः सर्वलोके भवन्ति, घटना च पूर्ववत् । अधुना सर्वसूक्ष्मभेदेषु प्रवक्ति–'सत्तण्हं' इत्यादि, सर्वेषु सूक्ष्मभेदेषु–एकेन्द्रिय-पृथ्व्यप्तेजो-वायु-साधारणवनस्पतिकायिकसम्बन्धिनां सूक्ष्माणां प्रत्येकमोघपर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नास्त्रयस्त्रयो मार्गणाभेदाः सर्वमीलने चाष्टादशमार्गणाभेदाः, तेषु सप्तानां प्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य बन्धकाः सर्वलोके भवन्ति,भावना चात्र सुगमा ॥४०५॥

इदानीं पृथ्व्यादिमार्गणासु प्रदर्श्यते—

पुढविदगणिगोएसुं सिं बायरबायरासमत्तेसुं ।
बायरपज्जनिगोए पत्तेअवणम्मि तदपज्जे ॥४०६॥
वणकाये य असंखियभागे लोगस्स घाइचउगस्स ।
होअन्ति सव्वलोगे तिण्ह अघाईण कम्माणं ॥४०७॥

(प्रे०) 'पुढवि' इत्यादि, पृथ्वीदकनिगोदेषु-पृथ्वीकायाप्कायसाधारणवनस्पतिकायेषु तथा 'सिं' तेषां प्रत्येकं बादरबादरापर्याप्तभेदेषु बादरपृथ्वीकायबादराऽपर्याप्तपृथ्वीकायबादराप्कायबादराऽपर्याप्ताऽप्कायबादरसाधारणवनस्पतिकायबादराऽपर्याप्तसाधारणवनस्पतिकायभेदेषु-तथा 'बादरपर्याप्तनिगोदे'–बादरपर्याप्तसाधारणवनस्पतिकायभेदे,तथा प्रत्येकवनस्पतिकाये तथा 'तदपर्याप्ते' अपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाये तथा वनस्पतिकायसामान्ये इति त्रयोदशमार्गणाभेदेषु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागस्य बन्धका लोकस्यैकासंख्यातभागे भवन्ति । इयमत्र भावना- पृथ्वीकायसामान्य-बादरपृथ्वीकायाऽप्कायसामान्य-बादरा-ऽप्काय-प्रत्येकवनस्पतिकायरूपासु पञ्चमार्गणासु घातिचतुष्कसत्कजघन्यानुभागबन्धस्य तीव्रविशुद्धिनिबन्धनतया तत्स्वामित्वेन बादरपर्याप्तजीवा उक्ताः, तेषां च स्वस्थानतः क्षेत्रं लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रम् , परिमाणं चासंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतिस्तोकम् , ततस्तद्बन्धकानां क्षेत्रं लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रं भवति । ननु पृथ्वीकायसामान्यादिपञ्चमार्गणासु जीवानामल्पत्वेन प्रकृतबन्धकानां क्षेत्रं लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रं भवतु, किन्तु शेषाष्टमार्गणासु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकाः असंख्यलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा अनन्ताः वा लभ्यन्ते, तर्हि कथं तद्बन्धकनिरुद्धक्षेत्रं सर्वलोकप्रमाणं न भवति ? इति चेद् , उच्यते-तद्बन्धकानां मरणसमुद्घातेन व्याप्तक्षेत्रस्यापि लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रत्वात् । तथाहि–अत्र निगोदसामान्य-बादरनिगोद-बादरपर्याप्तनिगोद-बादराऽपर्याप्तनिगोदबादरापर्याप्तपृथ्वीकायबादरापर्याप्ताप्कायाऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय-वनस्पतिकायसामान्यलक्षणास्वष्टमार्गणासु घातिचतुष्कसत्कजघन्यानुभागबन्धस्य तीव्रविशुद्धिनिबन्धनत्वेन तत्स्वामितया बादरजीवाः प्राप्यन्ते, तेषां स्वस्थानतः क्षेत्रं लोकस्यैकासंख्यातभागमितम् ,परिमाणं च बादराऽपर्याप्तपृथ्वीकायादिमार्गणासु असंख्येयलोकाकाश-

प्रदेशराशिप्रमाणं, निगोदादिमार्गणासु पुनरनन्तप्रमाणं प्राप्यते, तथापि मारणान्तिकसमुद्घातावस्थायां संख्यातमात्रा जीवाः प्राप्यन्ते, कुतः एतत्परिज्ञायते ? युक्तिवशात्, तथाहि–घातिचतुष्कसत्क-जघन्यानुभागबन्धकानां मारणान्तिकसमुद्घातावस्थायां तीव्रविशुद्धिसद्भावेन तेषामुत्पादः स्वप्रायोग्योच्चतमस्थानेषु भवति, तेषामुच्चतमं च स्थानं पर्याप्तमनुष्यभवरूपम्, ततो मारणान्तिकसमुद्घात-समापन्नाः प्रकृतबन्धकाः संख्यातमात्रा एव, अत एव आसु मार्गणासु प्रकृतबन्धकानामसंख्येयलोका-काशादिमितत्वेऽपि लोकस्यैकासंख्यातभागमात्राद् क्षेत्रादधिकं क्षेत्रं न प्राप्यत इति ॥४०६।४०७॥

सम्प्रति यासु मार्गणासु सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानां क्षेत्रमोघवद् भवति, तासु मार्गणासु तथैवाऽऽह— ओघव्व जाणियव्वा सत्तण्हं बंधगा उ तेउम्मि।
बादरतेउम्मि तहा तदपज्जे कायकम्मेसुं ॥४०८॥
णपुमचउकसायेसुं दुअणाणेसु अयते अचक्खुम्मि।
किण्हभवियेयरेसुं मिच्छत्ताहारगियरेसुं ॥४०९॥

(प्रे०) 'ओघव्व' इत्यादि, सप्तानां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धका ओघवद् ज्ञातव्याः, तद्यथा–चतुर्घातिगोत्रप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य बन्धका लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रे क्षेत्रे विद्यन्ते, वेदनीयनामप्रकृत्योः पुनः सर्वलोके वर्तन्त इति। क्व ? इत्याह–'तेउम्मि' इत्यादि, तेजःकाय-सामान्ये, बादरतेजःकायभेदे, तथाशब्दः समुच्चये, स च पर्यन्ते योज्यः। 'तदपज्जे' बादरतेजः-कायस्याऽपर्याप्तभेदे 'कायकार्मणोः' काययोगसामान्यकार्मणकाययोगभेदद्वये, नपुंसकचतुष्कषायेषु' नपुंसकवेदचतुष्कषायमार्गणासु, द्व्यज्ञानयोः-मत्यज्ञानश्रुताज्ञानलक्षणभेदद्वये अयते-असंयममार्गणा-याम्, अचक्षुषि-अचक्षुर्दर्शनभेदे, 'कृष्णभव्येतरेषु'-कृष्णलेश्याभव्याभव्यमार्गणासु, 'मिथ्यात्वाहार-केतरेषु',-मिथ्यात्वाहारकानाहारकभेदेषु चैतासु विंशतिमार्गणास्विति। भावना पुनरेवम्-अत्र तेजः-कायसामान्यबादरतेजःकायमार्गणाद्वये चतुर्घातिगोत्राणां जघन्यानुभागबन्धस्य तीव्रविशुद्ध्या जाय-मानत्वेन तत्स्वामितया बादरपर्याप्तजीवा उक्ताः। तेषां च परिमाणमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितो-ऽप्यल्पम्, ततः पञ्चप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य बन्धका लोकस्यैकासंख्यातभागे भवन्ति, बादरा-ऽपर्याप्ततेजःकायमार्गणायां यद्यपि बन्धका असंख्यलोकाकाशप्रदेशराशिमात्राः प्राप्यन्ते तथापि जघन्यरसबन्धकाले तीव्रविशुद्धिसद्भावेन मारणान्तिकसमुद्घातावस्थायां तेषामुत्पादः स्वयोग्योच्च-तमस्थानभूतसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु भवति। ततः समुद्घातेनापि लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रक्षेत्रादधिकं क्षेत्रं न प्राप्यते, स्वस्थानतस्तु तल्लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रमेव अतस्तद्बन्धकानां क्षेत्रं यथोक्त-प्रमाणमेव प्राप्यते। शेषसप्तदशमार्गणासु घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन संज्ञि-जीवाः, गोत्रस्य पुनः सप्तमनारकाः अत एव तद्बन्धकानां क्षेत्रं लोकस्यैकासंख्यात-भागमात्रमेव। वेदनीयनामप्रकृत्योः पुनर्जघन्यानुभागबन्धः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जायते,

ततः तेजःकायिकस्य प्रस्तुतत्रिभेदेषु तद्बन्धका असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः, शेषासु सप्तदशमार्गणासु त्वनन्ता लभ्यन्ते । तत्र बादरतेजःकायाऽपर्याप्तबादरतेजःकायमार्गणाद्वये स्वस्थानतः क्षेत्रस्य लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रत्वेऽपि समुद्घातेन सर्वलोकप्रमाणं तत्क्षेत्रं ज्ञेयम् । शेषाष्टादशमार्गणासु स्वस्थानतोऽपि सर्वलोकप्रमाणं, तत्र सूक्ष्मजीवानां प्रविष्टत्वादिति ॥४०८।४०९॥

अथ पर्याप्तबादरवायुकायमार्गणायां तथा शेषमार्गणासु प्रकृतबन्धकानां क्षेत्रं दर्शयन्नाह—

णाऊणं सयमुज्झं बायरपज्जत्तवाउकायम्मि ।
सत्तण्हं सेसासु लोगस्स असंखभागम्मि ॥४१०॥

(प्रे०) 'णाऊणं' इत्यादि बादरपर्याप्तवायुकायमार्गणायां सप्तप्रकृतीनां, जघन्यानुभागस्य बन्धका इति प्रकमाद् गम्यते, कियति क्षेत्रे ? इत्याह **'णाऊणं'** इत्यादि, स्वयं ज्ञेयाः । कुतः ? भण्यते—जघन्यानुभागबन्धस्थानस्यैकात्मकत्वादेकस्मिन् रसबन्धस्थाने प्रस्तुतबन्धकानां परिमाणस्य दुःशमानुभावेन सम्यगपरिज्ञानादिति । अथ शेषमार्गणास्वाह—**'सत्तण्हं सेसासु'** इत्यादि, शेषासु-उक्तपञ्चषष्टिमार्गणा वर्जयित्वा पञ्चोत्तरशतमार्गणासु । सप्तानां जघन्यानुभागस्य बन्धका लोकस्यैकाऽसंख्यातभागे विद्यन्ते । कुतः ? इति चेद् , उच्यते—अत्र सर्वत्र तत्तन्मार्गणावर्तिजीवानां स्वस्थानतः क्षेत्रं लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रं तथा परिमाणमसंख्यातलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतिहीनम् , ततः समुद्घातेनाऽपि लोकस्यैकासंख्यातभागादधिकं क्षेत्रं न प्राप्यत इति । शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः—गतिमार्गणास्थानस्य तिर्यग्गतिसामान्यभेदवर्जषट्चत्वारिंशद्मार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य नवविकलेन्द्रियत्रिपञ्चेन्द्रियरूपा द्वादशमार्गणाः, कायमार्गणास्थानस्य पर्याप्तबादरपृथ्व्यप्तेजःप्रत्येकवनस्पतिकायत्रित्रसकायलक्षणाः सप्तमार्गणाः, योगमार्गणास्थानस्य पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगवैक्रियवैक्रियमिश्राहारकाऽऽहारकमिश्रयोगलक्षणाश्चतुर्दशमार्गणाः, वेदमार्गणास्थानस्य स्त्रीपुरुषाऽपगतवेदरूपास्त्रिमार्गणाः, ज्ञानमार्गणास्थानस्य मत्यादिचतुर्ज्ञानविभङ्गलक्षणाः पञ्चमार्गणाः संयममार्गणास्थानस्याऽसंयमभेदवर्जषण्मार्गणाः, दर्शनमार्गणास्थानस्य चक्षुरवधिरूपे द्वे मार्गणे, लेश्यामार्गणास्थानस्य त्रिप्रशस्तलेश्यामार्गणाः, सम्यक्त्वमार्गणास्थानस्य मिथ्यात्ववर्जषण्मार्गणाः, संज्ञिमार्गणा चेत्येताः पञ्चोत्तरशतमार्गणा इति ॥४१०॥

तदेवमादेशतः सप्तानां जघन्यानुभागस्य बन्धकानां क्षेत्रं निरूप्य, साम्प्रतं तासामेवाऽजघन्यानुभागस्य तथाऽऽयुष्कर्मणो जघन्याजघन्यानुभागयोर्बन्धकानामादेशतः क्षेत्रमनुत्कृष्टरसबन्धकानां क्षेत्रवद् भवतीति सापवादमतिदिशन्नाह—

सव्वासु सत्तण्हं अजहण्णरसस्स बंधगाण तहा ।
आउस्स हवेज्ज दुविहरसाण खेत्तमणुरुरसव्व ॥४११॥
णवरं आउस्स भवे मंदणुभागस्स बंधगाण सयं ।
उज्झं खेत्तं बायरएगिंदियवाउपज्जेसु ॥४१२॥

(प्रे०) 'सव्वासु'[1] इत्यादि, सर्वासु मार्गणासु सप्तानां प्रकृतीनामजघन्यानुभागस्य बन्धकानां तथा-ऽऽयुष्कर्मणो द्विविधरसयोः-जघन्याजघन्यानुभागयोर्बन्धकानां क्षेत्रम् 'अणुरस-वद्' अनुत्कृष्टानुभागवद् भवेत् , एतदुक्तं भवति–यासु यासु मार्गणासु सप्तानामायुष्कस्य चा-ऽनुत्कृष्टरसबन्धकानां क्षेत्रं यावत्प्रमाणमभिहितम् तावत्प्रमाणं क्षेत्रमत्र तासु तासु मार्गणासु क्रमशः सप्तानां केवलाजघन्यानुभागबन्धकानामायुष्कस्य पुनर्जघन्याजघन्ययोरुभयोरनुभागयो-र्बन्धकानां वेदितव्यम् ।

तत्र पर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरवायुकायमार्गणाद्वये आयुषो जघन्यानुभागबन्धकानां क्षेत्र-विषये निरुक्तातिदेशेन या काचिदतिप्रसक्तिः समापतिता , तां निराकुर्वन्नाह–'णवरं' इत्यादि, पर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरवायुकायभेदद्वये मन्दानुभागस्य-जघन्यानुभागस्य बन्धकानां क्षेत्रं स्वयमूह्यम् । कुतः ? इति चेत् , उच्यते–यद्यप्यत्र पर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणायां निगोदजीवाना-श्रित्यायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धका अनन्ताः प्राप्यन्ते, ते च तद्भवादुद्वृत्य सूक्ष्मेष्वपि उत्पद्य-न्ते, तथापि आयुर्बन्धकाले मारणसमुद्घातस्याप्रवर्तनात् स्वस्थानमाश्रित्य बादरनिगोदानां लोक-स्यैकाऽसंख्यातभागमात्रमेव क्षेत्रं प्राप्यते । पर्याप्तबादरवायुकायिकानां क्षेत्रस्य स्वस्थानतो देशोन-लोकत्वेऽपि तानाश्रित्य क्षेत्रप्राधान्यं तदा प्राप्यते यदा एतन्मार्गणाद्वये पर्याप्तबादरवायुकायिकाः प्रकृतबन्धकाः घनीकृतलोकस्याऽसंख्यप्रतरप्रमाणाः स्युः, अन्यथा लोकस्यैकाऽसंख्यात-भागमात्रम् , कथम् ? भण्यते–पर्याप्तबादरवायुकायिका असंख्येयलोकराशितोऽतीव स्तोकाः, ततश्च एकात्मके जघन्यानुभागबन्धस्थाने पर्याप्तबादरवायुकायिकजीवास्त्रसकायवदावलिकाया एकाऽसंख्य-भागगतसमयराशिप्रमाणाः प्रागवत् संभाव्यन्ते,तथा च सति तैर्व्याप्तं क्षेत्रं लोकस्यैकाऽसंख्यभागमात्र-मेव भवति,तद्बन्धकानामत्यल्पत्वात् । किन्तु तद्बन्धकपरिमाणं बहुश्रुता एव विदन्ति, इत्यतः 'स्वयमूह्यम्' इति निर्दिष्टम् । इति गाथाद्वयार्थः । सर्वमार्गणासु अजघन्यानुभागबन्धकानां क्षेत्रं पुनरित्थम्–मार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां क्षेत्रनिरूपणे [1]"तिरिये' इत्यादिचतुर्गाथाभिश्चतुःषष्टि-मार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः सर्वलोके, बादरपर्याप्तवायुकाये पुनर्देशोनलोके इति दर्शितम् , तथा [2]"लोगासंखियभागे सेसासु हवन्ति' इत्यनेनैव पञ्चोत्तरशतमार्गणासु प्रकृतबन्धकाः लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रे क्षेत्रे विद्यन्त इति निरूपितं तथैवात्रापि सप्तानामजघन्यानुभागस्य बन्ध-कास्तावति क्षेत्रे द्रष्टव्या इति । आयुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां पुनः क्षेत्रम्–

[3]"तिरिये एगिंदियपणकायणिगोएसु सव्वसुहमेसु । कायुरलदुगणपुंसगकसायचउगदुअणाणेसु ।
अयताचक्खुसु असुहलेसाभवियेयरेसु मिच्छत्ते । अमणाहारेसु सयलजगे अतिव्वाणुभागस्स ॥"

इति गाथाद्वयेन षट्चत्वारिंशद्मार्गणाभेदेषु आयुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः सर्व-लोके इति कथितम् , तथैवात्र जघन्याजघन्ययोरुभयानुभागयोर्बन्धकास्तावति क्षेत्रे भणितव्याः । तथा [4]"देसूणजगे बायरएगिंदियवाउसव्वभेएसु ।" इत्यनेन बादरैकेन्द्रियस्य बादरवायुकायस्य च त्रिषु त्रिषु भेदेषु अनुत्कृष्टरसबन्धका देशोनलोके इत्युक्तम् ,तथैवात्र पर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरवायुकाय-

---

१ (गाथा ३९४-५-६-७) । २ (गाथा ३९८) । ३ (गाथा-३९९-४००) । ४ (गाथा ...) ।

भेदद्वयवर्जशेषचतुर्भेदेषु वक्तव्यम्, पर्याप्तबादरैकेन्द्रियपर्याप्तबादरवायुकायभेदद्वये पुनर्जघन्यरसबन्धस्वामिसत्कक्षेत्रविषय एव 'णवरं' इत्यादिगाथया स्वयमूह्यमित्यपवादो दर्शितः। तथा "लोगस्स असंखभमे भागे सेसासु बोद्धव्वा ॥४०१॥" इत्यनेन शेषासु प्रागुक्तद्विपञ्चाशद्मार्गणावर्जैकादशोत्तरशतमार्गणासु लोकस्यैकासंख्यातभागे इति प्रदर्शितम्, तद्वदत्रायुष्कस्य जघन्याजघन्यानुभागयोर्बन्धका अभिधातव्या इति। अनुत्कृष्टानुभागवत् कथनेऽयं हेतुः–यासु यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका अनन्ताः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः, ततोऽपि न्यूना वा विद्यन्ते तासु तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनामजघन्यानुभागस्य बन्धका अपि क्रमशः अनन्ताः असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः ततोऽपि न्यूना वा लभ्यन्ते ततस्तद्बन्धकैर्व्याप्तं क्षेत्रमपि तद्वत् भवति, अत एवाजघन्यानुभागस्य बन्धकानां क्षेत्रमनुत्कृष्टानुभागवत् कथितम्। नन्वायुष्कसत्कजघन्यानुभागस्य बन्धकानां क्षेत्रं कथमनुत्कृष्टानुभागबन्धस्वामिक्षेत्रवदभिहितम्? इति चेत्, उच्यते–आयुष्कसत्कजघन्यानुभागस्य घोलनपरिणामेन बन्धसद्भावेन यत्रानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका अनन्ताः असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा वा, तत्र जघन्यानुभागस्य बन्धका अप्यनन्ता असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा वा क्रमशः प्राप्यन्ते, कुतः? स्वस्वप्रायोग्याध्यवसायराशितः पृथ्व्यादिजीवानामाधिक्यात्। यद्यप्यायुष्कसत्कानुत्कृष्टानुभागबन्धकानामनन्तत्वाद्यपेक्षया जघन्यानुभागस्य बन्धकानामानन्त्यम्, असंख्येयलोकप्रदेशप्रमाणत्वं वाऽसंख्येयगुणेन न्यूनम्, उत्कृष्टरसबन्धप्रायोग्यैकाध्यवसायस्थानवर्जशेषसर्वासंख्यलोकप्रमाणाध्यवसायस्थानैरनुत्कृष्टरसबन्धस्य जायमानत्वात्, जघन्यरसबन्धस्य पुनरेकेनैवाध्यवसायेन निष्पद्यमानत्वात्। तथाप्यनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकैर्व्याप्तं यावत् क्षेत्रमुक्तं तावत्क्षेत्रं जघन्यानुभागबन्धकानां भवति। जघन्यरसबन्धकानामसंख्यलोकमितत्वादानन्त्याद्वा किञ्च आयुर्बन्धकाले मारणान्तिकसमुद्घातस्याऽप्रवर्तनेन सर्वत्र स्वस्थानतः एव क्षेत्रं प्राप्यते। ततो यत्राऽऽयुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां क्षेत्रं सर्वलोकप्रमाणमुक्तं तत्र तत्क्षेत्रं सूक्ष्मजीवापेक्षया वेदितव्यम्, सूक्ष्मजीवानामप्यायुषो जघन्यानुभागस्य बन्धसद्भावात् तथा बादरैकेन्द्रियस्य बादरवायुकायिकस्य च प्रत्येकं पर्याप्तवर्जभेदद्वयेऽनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रवद् देशोनलोकप्रमाणं क्षेत्रमपर्याप्तबादरवायुकायिकजीवापेक्षया द्रष्टव्यम्, अपर्याप्तबादरवायुकायिकानामपि जघन्यानुभागस्य बन्धसद्भावात्। तत्तत्पर्याप्तभेदे आयुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकानां परिमाणस्याऽनिर्णितत्वेन स्वयमूह्यमिति निर्दिष्टम्, शेषमार्गणास्वनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां क्षेत्रं लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रं दर्शितम्, तावत् क्षेत्रं जघन्यानुभागस्य बन्धकानां सुतरां प्राप्यते। अत एवायुष्कसत्कजघन्यानुभागबन्धकानां क्षेत्रमनुत्कृष्टानुभागवदभिहितमिति ॥४११॥४१२॥ प्रस्तुतद्वारोक्तार्थसंग्रहपरे क्षेत्रप्रदर्शकयन्त्रके त्विमे–卐

तदेवं समर्थितं सर्वासां मूलप्रकृतीनां जघन्याजघन्यानुभागयोर्बन्धकानां क्षेत्रम्। तत्समर्थिते चौघादेशाभ्यामष्टानामुत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याजघन्यानुभागबन्धकानां क्षेत्रप्ररूपणं समाप्तम्। तत्समाप्तौ च गतं 'खेत्त' इत्यनेनोद्दिष्टं त्रयोदशं द्वारम्।

इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे प्रथमाधिकारे त्रयोदशं क्षेत्रद्वारं समाप्तम्॥

卐 रसबन्धकानां क्षेत्रप्रदर्शकयन्त्रके दिदृक्षवः पाठकाः पश्यन्तु २८८ तमं २८९ तमं च पृष्ठम्।

अष्टमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टाऽजघन्यरसबन्धकानां तथाऽऽयुषो जघन्यरसबन्धकानां क्षेत्रप्रदर्शकं यन्त्रम्

ओघतः—अष्टकर्मणामुत्कृष्टरसबन्धकस्य क्षेत्र लोकासंख्येयभागः, अनुत्कृष्टाऽजघन्यरसबन्धकक्षेत्र तथा आयुषो जघन्यरसबन्धकक्षेत्रं तु सर्वलोक. । (गाथा ३८६-४०२)

आदेशतः—आयुषः सर्वत्र (१६३ मा०) उत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभाग । (गाथा ३९८) सप्तानामुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रं तथा आयुषो जघन्यरसबन्धकक्षेत्र तथा अष्टानामनुत्कृष्टाऽजघन्यरसबन्धकक्षेत्रं निम्नलिखितयन्त्रकादवसेयम् ।

सप्तानामुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रम्			सप्तानामनुत्कृष्टाऽजघन्यरसबन्धकक्षेत्रम्			*आयुषोऽनुत्कृष्टजघन्याऽजघन्यरसबन्धकक्षेत्रम्		
इन्द्रिय० एके० ७ घाति०४-सर्वलोकः वेद० नाम०-स्वयमूह्यम् गोत्र०-लोकाऽसंख्यभाग	मार्गणाः	शेषासु सप्ताना लोकाऽस.भा	सप्ताना-सर्वलोक.	देशोन-लोकः	लोका-ऽसंख्य-भागः	सर्वलोक	देशोन-लोक.	लोका-ऽसंख्य-भाग.
एके० ओघ,त्रिबादरे. ४ A	गति०	सर्वे ४७	तिर्यगोघ० १		शेष० ४६	तिर्यगोघ० १		शेष० ४६
नवरमपर्याप्तबादरैकेन्द्रिये वेदनीयनाम्नोः देशोनलोकः — सप्ताना सर्वलोक. सूक्ष्मैके० ३ B	इन्द्रिय०	नवविकल त्रिप १२	सर्वैकेन्द्रिय.७		शेष० १२	एकेन्द्रियौघ-तत्सर्वसूक्ष्मभेदा =४	सर्वबादरैके० * ३	सर्वविकल-पञ्चे० १२
काय० २८→ सप्ताना-सर्वलोकः पृथ्व्यादि-	काय०	शेष० १४ 卐	शेष० ३४ ★	बादर पर्याप्त वायु १	पर्याप्तबादर-पृथ्व्यप्तेज.प्रत्येकवन४त्रि.७	पृथ्व्यादिपञ्चौघ० ५ तत्तत्सर्वसूक्ष्मभेद०१५ निगोदौघ०=२१	सर्वबादरवायु ३ *	शेष० १८ ●
पञ्चकस्यसर्वसूक्ष्मभेदाः१५B	योग०	सर्वे १८	काय.औदारिक मिश्र-कार्मण४		शेष० १४	कायौघ० औदारिक० तन्मिश्र० ३		शेष० १३
घाति.४-सर्वलोकः अघाति.३ लोकासंख्यभागः अपर्याप्त	वेद०	सर्वे ४	नपु० १		शेष० ३	नपु० १		स्त्री० पु २.
०ादरपृथ्व्यप्प्रत्येकवन.३-	कषाय०	सर्वे ४	सर्वे ४			सर्व० ४		
वनौघ.निगोदौघ० त्रिबादर-निगोदभेदा ३=८ C	ज्ञान०	सर्वे ७	अज्ञान० २		चतुर्ज्ञान-विभङ्ग० ५	अज्ञान० २		चतुर्ज्ञान० विभङ्ग०५
घातिगोत्र० सर्वलोकः बादरा	संयम०	सर्वे ७	असंयम० १		शेष० ६	असंयम० १		शेष० ५
ऽपर्याप्ततेजोवायुकाय-	दर्शन०	सर्वे ३	अचक्षु० १		शेष० २	अचक्षु० १		शेष० २
द्वये, वेदनीयनाम्नो पुनः क्रमशः लोकासंख्य०	लेश्या०	सर्वे ६	अशुभले० ३		शुभले० ३	अशुभले० ३		शुभले० ३
देशोनलोकश्च २ D	भव्य०	सर्वे २	सर्व० २			सर्व० २		
सप्ताना-स्वयमूह्या वायुका-	सम्य०	सर्वे ७	मिथ्या० १		शेष० ६	मिथ्या० १		शेष० ४
यौघ-बादरवायु० पर्याप्त	संज्ञि०	सर्वे २	असंज्ञि० १		संज्ञि० १	असंज्ञि० १		संज्ञि० १
बादरवायु० ३ E	आहारि०	सर्वे २	सर्वे २			आहारि० १		
A-४,B-१८,C-८,D-२, E-३=३५ मार्गणाः	सर्वाः	१३५	६४	१	१०५	४६	६	१११
३८७ त० ३९३	गाथाङ्क	३९३	३९४तः३९७	३९७	३९८	३९९-४००	४०१	४०१

卐शेष १४-पृथ्व्यप्-तेज.कायाना प्रत्येकमोघ-बादरौघ-तत्पर्याप्तभेदरूपास्त्रयो भेदा ९+प्रत्येकवन-तत्पर्याप्त०+त्रित्रसरूपा ३।

★शेष ३४-बादरपर्याप्तभेदवर्जपृथ्व्यादिपञ्चकस्य षट् षट् भेदा २४+वनौघ १+प्रत्येकवन० तदपर्याप्त०२+सर्वनिगोदरूपाः।

● शेष १८ मार्गणाः—पृथ्व्यप्तेज -प्रत्येकवन-निगोदाना प्रत्येक त्रयस्त्रयो बादरभेदाः १५+त्रित्रसकायरूपा ३ ।

* सर्वत्र सप्तानामजघन्यरसबन्धकानां क्षेत्र तथा आयुषो जघन्याजघन्यरसबन्धकाना क्षेत्रमनुत्कृष्टरसवत् नवरं बादर-पर्याप्तैकेन्द्रियवायुकायमार्गणाद्वये आयुषो जघन्यानुभागबन्धकाना क्षेत्र स्वयमेवाभ्यूह्यम् । (गाथा ४१२)

* आयुर्वर्जसप्तकर्मणां जघन्यरसबन्धकानां क्षेत्रप्रदर्शकं यन्त्रम् *

ओघत.—चतुर्घातिगोत्रप्रकृतीना जघन्यरसबन्धकानां क्षेत्रं लोकाऽसंख्यभागः, वेदनीयनाम्नोस्तु सर्वलोकः (गाथा ४०२)

आदेशत.—सर्वत्र (१७० मा०) निम्नलिखितयन्त्रकादवसेयम् ।

घाति.४-लोकासंख्यभाग		स्वयमूह्यम्	सर्वलोकः	लोकाऽसंख्यभागः	लोकाऽसंख्य-भागः	देशोनलोकः	लोकाऽसंख्यभागः
वेद०नाम०→सर्वलोकः		सर्वलोकः	,,	सर्वलोकः	सर्वलोकः	सर्वलोकः	,,
गोत्र०→स्वयमूह्यम्		स्वयमूह्यम	,,	,,	लोकाऽसंख्यभागः (ओघवत्)	देशोनलोकः	,,
गति०	तिर्यगोघ० १						शेष० ४६
इन्द्रिय०		एकेन्द्रियोघ-तद्बादर-तत्पर्याप्त० ३	सर्वसूक्ष्मके० ३			अपर्याप्तबादरैके० १	नवविकलत्रिपञ्चे १२
काय०		वायुकायौघ-बादरवायु० २	सर्वपृथ्व्यादिसूक्ष्मभेदा० १५	पृथ्व्यप्निगोदानां प्रत्येकमोघ-बादरौघ-तदपर्याप्तरूपास्त्रयस्त्रयो भेदाः ९ वनकायौघश्च प्रत्येकवन-तदपर्याप्त०बादरपर्याप्त-निगोद० १३	तेजःकायौघ-बादरतेज.काय-तदपर्याप्त=३	अप०बा.वा.१ सप्तानां-स्वयमूह्या बा० प० वायु०१	पर्याप्तबादर-पृथ्व्यप्तेजःप्रत्येकवनभेदाः ४, त्रित्रसकाय०=७
योग०	औदारिकमिश्र २				काययोगौघ-कार्मण० २		शेष० १४
वेद०					नपुं० १		स्त्री-पुं. अवेद.३
कषाय०					सर्वकषाय० ४		
ज्ञान०					मत्यज्ञानश्रुताज्ञान २		चतुर्ज्ञा.-विभ.=५
संयम०					असंयम० १		शेष० ६
दर्शन०					अचक्षुर्द० १		चक्षुरवधि० २
लेश्या०	नीलकापोत.२				कृष्ण० १		शुभले० ३
भव्य०					भव्याभव्य० २		
सम्य०					मिथ्या० १		शेष० ६
संज्ञि०	असंज्ञि० १						संज्ञि० १
आहारि०					आहा० अना०२		
सर्वमार्गणाः—	६	५	१८	१३	२०	२+१	१०५
गाथाङ्कः—	४०३	४०४	४०५	४०६-४०७	४०८-४०९	४०५-४१०	४१०

॥ अथ चतुर्दशं स्पर्शनाद्वारम् ॥

तदेवं निरूपितं क्षेत्रद्वारम् । इदानीं क्रमप्राप्तं 'फोसणा' इत्यनेनोद्दिष्टं स्पर्शनाद्वारं निर्वक्तुकाम आदौ तावदोघतो घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां स्पर्शनामाह—

घाईणं पयडीणं चउण्ह उक्कोसियाणुभागस्स ।
होअन्ति बंधगेहिं तेरह परिफोसिआ भागा ॥ ४१३॥
फुसणाअ वुच्चिरे इह जे भागा भाजिआअ चउदसहिं ।
तसनाडीअ लहे जं णेया ते तावइअमाणा ॥ ४१४ ॥

(प्रे०) **'घाईणं'** इत्यादि,चतसृणां घातिनीनां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकैः **'तेरह'** त्रयोदश भागाः परिस्पृष्टा भवन्ति । तत्र षड्भागा अधोलोकसत्काः सप्त चोर्ध्वलोकसम्बन्धिनो बोद्धव्याः । नन्वत्र त्रयोदश भागाः प्ररूपिताः,अग्रे च ये षडादयो भागाः प्ररूपयिष्यन्ते, ते प्रत्येकं कियन्माना इत्याशङ्कायां भागानां परिमाणं व्यवस्थापयन्नाह—**'फुसणाअ'** इत्यादि, इह प्रस्तुत-स्पर्शनाद्वारे ये भागा उच्यन्ते, ते सर्वेऽपि प्रत्येकं कियन्माना ? इत्याह—**'भाजिआअ चउदसहिं तसनाडीअ'** इति चतुर्दशरज्ज्वुच्चैकरज्जुवृत्तविस्तृतायां त्रसनाड्यां च चतुर्दशसंख्याभि-र्भाजितायां सत्यां **'लहे जं'** इति यावद् भागफलं लभेत **'ते तावइअमाणा'** तावत्प्रमाणाः प्राप्तल-ब्धिप्रमाणास्ते ज्ञेयाः । एकरज्ज्वुच्चैकरज्जुवृत्तविस्तृतप्रमाणः खण्डः त्रसनाड्या एकचतुर्दशभागो भवतीति निष्कर्षः । ततो यावद्भागप्रमाणा स्पर्शना निरूप्यते तावद्रज्जुप्रमिता स्पर्शना भवतीत्या-यातमिति गाथाद्वयसंक्षेपार्थः ।

विस्तरार्थस्त्वेवम्—घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकत्वेन संज्ञिमिथ्यादृष्टयोऽभिहिताः, तेषां च जीवानामतीतकालं त्रिकालं वाऽऽश्रित्य यदा स्पर्शना विचार्यते, तदा चतुर्दशरज्ज्वात्मि-कायास्त्रसनाड्यास्त्रयोदशभागाः स्पर्शनाविषयत्वेन प्राप्यन्ते ।

ननु संज्ञिजीवानां क्षेत्रं लोकस्यैकासंख्यातभागप्रमाणमुक्तम्, तर्हि स्पर्शना कथं त्रयो-दशभागप्रमाणा लभ्यते ? इति चेद्, उच्यते-त्रिकालमाश्रित्य मारणान्तिकसमुद्घाताद्यपेक्षया तावत्प्रमाणस्पर्शनायाः प्राप्यमाणत्वात् । तथाहि—घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले तीव्र-संक्लेशसद्भावेन मारणसमुद्घातगताः सप्तमनारकाः प्रक्षिप्तैः स्वात्मप्रदेशैः संज्ञिपञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्गतिलक्षणं स्वप्रायोग्यनिकृष्टस्थानं स्पृशन्ति, यतो मारणसमुद्घातगतो हि जीवः स्वशरीर-विष्कम्भबाहल्यं,जघन्यतो दैर्घ्येणाङ्गुलासंख्येयभागमात्रमुत्कृष्टेनासंख्येयानि योजनानि स्वशरीरतः स्वात्मप्रदेशदण्डं निसृजति, निसृज्य च तत्र स्थित एव यत्र स्थानेऽग्रेतनभवे समुत्पत्स्यते

तत्र स्थाने तं स्वात्मप्रदेशदण्डं प्रक्षिपति । तथा चोक्तं प्रज्ञापनायां समुद्घातपदे "जीवे णं भंते ! मारणंतियसमुग्घातेणं समोहणइ समोहणित्ता जे पोग्गले निच्छुभति तेहिं णं भंते ! पोग्गलेहिं केवतिते खेत्ते अप्फुण्णे ? केवतिते खेत्ते फुडे ? गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्ते विक्खंभबाहल्लेणं आयामेणं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं उक्कोसेणं असंखेज्जातिं जोयणातिं एगदिसि एवतिते खेत्ते अफुण्णे एवतिते खेत्ते फुडे"। नन्वित्थं च सप्तमनारकः सप्तमपृथ्वीतस्तिर्यग्लोकं यावत् षड्रज्जुप्रमाणं स्वात्मप्रदेशदण्डं निसृजति, तथा सति एकजीवं वर्त्तमानकालं चाश्रित्यापि षड्रज्जुप्रमाणा स्पर्शना अधोलोके प्राप्यते, तर्हि कथमत्र स्पर्शना त्रिकालमाश्रित्य नानाजीवैः कृता च भवद्भिर्गीयते ? इति, अत्र प्रतिविधीयते-स्पर्शनाद्वारे ये भागा उच्यन्ते, ते चतुर्दशसंख्याभिर्भाजितायां सत्यां चतुर्दशरज्जूच्चैकरज्जुवृत्तविस्तृतायां त्रसनाड्यां यावद् भागफलं लभ्येत, तावत्प्रमाणा इति प्रागभिहितम् । तत आयामेन विष्कम्भतो बाहल्येन चेति त्रिधाऽपि या तुल्या रज्जुः सा घनरज्जुरेकचतुर्दशभागप्रमाणत्वेन विवक्षिता । एकजीवमाश्रित्य षड्रज्जुप्रमाणा या स्पर्शना भवति, सा तु विष्कम्भेन बाहल्येन च शरीरप्रमाणा, दैर्घ्येणैव षड्रज्जुप्रमाणा, ततो वर्तमानकालिकस्पर्शनया घनरज्जुप्रमाणस्यैकचतुर्दशभागस्याऽसंख्यातभागमात्रस्यैव स्पृष्टत्वेन षड्रज्जुप्रमाणाः षट् चतुर्दशभागा न प्राप्यन्ते, किन्तु नानाजीवानाश्रित्यातीनकालविषयकस्पर्शनया एव । कथम् ? इति चेद्, उच्यते-भिन्नभिन्नस्थाने तूत्पित्सुभिरतीतकालवर्त्यनन्तजीवैरपान्तरालस्य सर्वेषामाकाशप्रदेशानां स्पृष्टत्वात्, तथाहि-स्वस्थानतः स्वप्रायोग्योत्पत्तिस्थानेषु गच्छद्भिः सप्तमनारकैः ऋजुवक्रादिगतिरूपैर्यावद्विकल्पैर्गन्तुं शक्यते तावत्सर्वविकल्पैः, मारणान्तिकसमुद्घातगतैरतीतकालवर्त्यनन्तजीवैर्नियमतः तिर्यग्लोकसप्तमनरकयोरन्तरालगतं सर्वं क्षेत्रं स्पृष्टमस्ति कालस्यानन्त्यात् । एवमधोलोके नानासप्तमनारकानाश्रित्य स्पर्शना षड्घनरज्जुप्रमाणा एवमेव तिर्यग्लोकतः सप्तमपृथ्व्यां नारकतयोत्पित्सूनां नानातिरश्चामप्यपेक्षया षड्रज्जुप्रमाणा स्पर्शना भवति ।

ननु भवतु अतीताद्यनन्तकालविषया स्पर्शना, किन्तु नानाजीवास्तु अत्र नोपयुज्यन्ते, एकेनाऽपि जीवेन विवक्षितक्षेत्रस्य स्पर्शनात्, कुतः ? इति चेत्, उच्यते-कालस्यानन्त्यादिति चेन्न, यद्यपि अतीतानन्तकालापेक्षया सप्तमनरकादिमार्गणास्वेकोऽपि जीवः षडादिरज्जुमितं क्षेत्रं स्प्रष्टुमर्हति तथापि देशविरत्यादिषु मार्गणासु वक्ष्यमाणपञ्चरज्ज्वादिमिता स्पर्शना एकजीवमाश्रित्य नोपपद्यते, कुतः ? समस्तसंसारपरिभ्रमणकाले एको जीवः पल्योपमाऽसंख्येयभागगतनभःप्रदेशसंख्यातोऽधिकवारं देशविरतित्वं नैवासादयति तत्रापि देशविरतित्वे मृत्युन्तु अत्याल्पवारानेवाश्नुते,एवमतीतकालस्यानन्त्येऽपि एकं जीवमाश्रित्य देशविरत्यादिषु मार्गणासु लोकाऽसंख्येयभागमात्रा स्पर्शना सङ्गच्छते, वक्ष्यते च तत्र पञ्चरज्जुप्रमाणा, ततः प्रस्तुतस्पर्शना अनन्तकालविषया नानाजीवाश्रया च बोद्धव्येत्युक्तम् ।

अथ प्रकृतम्-उर्ध्वलोके पुनर्घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां सप्तरज्जुप्रमाणा

स्पर्शना इत्थम्–भवनपत्यादिदेवा मारणान्तिकसमुद्घातकाले घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति तदा ते एकेन्द्रियेष्वेवोत्पद्यन्ते, ते यदा सिद्धशिलायां पृथ्वीकायत्वेन समुत्पित्सवः, तदा तिर्यग्लोकतो दैर्घ्येण सप्तरज्जुप्रमाणान् स्वात्मप्रदेशदण्डान् आसिद्धशिलं प्रक्षिपन्ति । एवमतीतादिकालवर्त्यनन्तभवनपत्यादिदेवैर्मारणान्तिकसमुद्घातेन तिर्यग्लोकेषत्प्राग्भारपृथ्व्योः सर्वमपान्तरालक्षेत्रं स्पृष्टं भवति अत एव ऊर्ध्वलोकस्पर्शना सप्तचतुर्दशभागाः प्रोक्ता, ततः पूर्वोक्ताः षड्भागाः भागसप्तकेन सहिता जातास्त्रयोदश,ते च घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकैः स्पृष्टा भवन्तीति ।

नन्वत्र सप्तमनारकादीनां प्रकृतबन्धकानां स्पर्शना त्रसनाड्या भागद्वारेण कथमभिधीयते ? इति चेत् , उच्यते–प्रस्तुतबन्धकेषु येषां जीवानामपेक्षया स्पर्शनाऽधिकतमा प्राप्यते, तेषां च जीवानां यद्युत्पादो गमनागमनं वा त्रसनाड्या बहिर्न संभवति तदा तद्बन्धकानां स्पर्शना त्रसनाड्या भागद्वारेण निगद्यते । प्रकृते सप्तमनारकभवनपत्यादीनामुत्पादो गमनागमनं वा त्रसनाड्या बहिर्न विद्यते,अत एवात्र तानाश्रित्य स्पर्शना त्रसनाड्या भागद्वारेण प्रोक्ता एवमग्रेऽपि भावनीयम् ।

अथ एकादिभागप्रमाणा स्पर्शना कुत्र प्राप्यते इति ज्ञापनार्थं सामान्यतो नियमाः प्रदर्श्यन्ते—

(1) सामान्यतो यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टाद्यनुभागबन्धकानां स्वस्थानोत्पत्त्यादिस्थानयोरन्यतरस्थानसत्कक्षेत्रस्य तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणत्वे सति तयोरपान्तरालक्षेत्रं यद्येकादिरज्जुप्रमाणं वर्तते तदा तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनामुत्कृष्टाद्यनुभागबन्धकानामतीतादिकालमाश्रित्य स्पर्शना एकादिभागप्रमाणा प्राप्यत इति **प्रथमो नियमः**—

घटना चेत्थम्–अत्र नियमे दलद्वयम् , तत्र स्वस्थानोत्पत्त्यादिस्थानयोरन्यतरस्थानसत्कक्षेत्रस्यैकप्रतररज्जुप्रमाणत्वमिति प्रथमं दलम् , द्वितीयं पुनस्तयोरपान्तरालक्षेत्रं यद्येकादिरज्जुप्रमाणमिति, अत्र उत्पत्त्यादिस्थानशब्दान्तर्गतादिपदं विबुधानां गमनागमनक्षेत्रपरमिति । सप्तमनरकमार्गणास्वेतद्दलद्वयप्रवेशात् घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शना षड्रज्जुप्रमाणा प्राप्यते । तथाहि–सप्तमनरकगतिमार्गणायां घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धका मारणान्तिकसमुद्घातगताः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्वेनोत्पद्यन्ते , तदुत्पत्तिस्थानस्यैकप्रतररज्जुप्रमाणत्वेन प्रथमदलस्य प्रवेशो भवति, तयोः स्वस्थानोत्पत्तिस्थानयोरपान्तरालक्षेत्रस्य षड्रज्जुप्रमाणत्वेन द्वितीयदलस्यापि प्रवेशात् प्रकृतबन्धकानां स्पर्शना षड्भागप्रमाणा भवति । इत्थमग्रेऽपि भावनीयम् ।

अत्र मत्यन्तलक्षणे प्रथमदलेऽनुक्तं घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धका मारणसमुद्घातगताः सप्तमनारकत्वेनोत्पद्यमाना मनुष्याः स्वात्मप्रदेशदण्डान् षड्रज्जुप्रमाणान् निसृजन्ति, स्वस्थानोत्पत्तिस्थानयोरन्तरालक्षेत्रस्य तावत्प्रमाणत्वात् , ततो मनुष्यादिमार्गणासु षड्भागप्रमाणा स्पर्शना प्राप्येत, किन्तु मनुष्यमार्गणासु प्रकृतस्पर्शना लोकस्यैकासंख्यातभागप्रमाणा इत्यग्रे वक्ष्यते, सा चैवम्-मनुष्याः मारणान्तिकसमुद्घातवेलायां स्वस्वस्थानतः प्रथम-

मधोलोके सप्तममेदिनीं प्रति स्वात्मप्रदेशदण्डान् निक्षिपन्ति, तत्पश्चाद् द्वितीयसमये सप्तमपृथ्वी-सत्कप्रस्तटे दिशासु ततो विदिशासु,एवं तैर्विष्कम्भेन मनुष्यक्षेत्रप्रमाणरज्ज्वेकासंख्यातभागमात्रक्षेत्रं विहाय शेषषड्रज्जुप्रमाणस्यापान्तरालक्षेत्रस्यास्पृष्टत्वात् षड्भागप्रमाणा स्पर्शना न प्राप्यते अत एव तद्वारणाय सत्यन्तलक्षणं प्रथमं दलमुपात्तम् । तेन स्वस्थानोत्पत्तिस्थानयोरन्यतरस्यापि क्षेत्रस्य एकप्रतररज्जुप्रमाणत्वाभावात् एकादिभागप्रमाणाऽपि स्पर्शना न प्राप्यते किन्तु अनन्तरोक्तप्रकारेण लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रा इति । तथा प्रथमनरकमार्गणायां घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानामेकादिभागप्रमाणस्पर्शनाया अतिप्रसङ्गवारणाय तयोरपान्तरालक्षेत्रं यद्येकादिरज्जुप्रमाणं वर्तते इति द्वितीयदलस्य प्रवेशः । कथम् ? इति चेद्, उच्यते—प्रथमनरकमार्गणायां घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानां तीव्रसंक्लेशसद्भावेन संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्लक्षणे स्वप्रायोग्यनिकृष्टस्थाने उत्पादो भवति, संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां च स्थानं तिर्यग्लोकस्य सर्वप्रस्तटः, ततोऽन्यतरक्षेत्रस्य एकप्रतररज्जुप्रमाणत्वं समागतम्, द्वितीयदलस्य चाकथने प्रस्तुतनियमोऽत्र प्रविशेत्, तत एतन्मार्गणायां घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानामेकादिभागप्रमाणा स्पर्शनाऽतिप्रसज्येत, तत्स्पर्शनाया अग्रे लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । अत एवातिप्रसङ्गवारणाय स्वस्थानोत्पत्त्यादिस्थानयोरपान्तरालक्षेत्रं यद्येकादिरज्जुप्रमाणं वर्तत इति द्वितीयदलस्योपादानं कृतम् । तयोरपान्तरालक्षेत्रस्य लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रत्वेनैकादिरज्जुप्रमाणत्वाभावात् एकादिभागप्रमाणा स्पर्शना न प्राप्यते किन्तु लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रा इति । एतद्नियमे'सामान्यत' इति पदस्य प्रयोजनं निगद्यते—

यासु मार्गणासु उत्कृष्टाद्यनुभागबन्धकत्वेन सूक्ष्मवर्जशेषजीवा लभ्यन्ते,ते च यदि उत्कृष्टाद्यनुभागं बध्नन्तो मारणान्तिकसमुद्घातगता मनुष्यक्षेत्रे एवोत्पद्यन्ते, तासु मार्गणासु यद्यपि प्रागुक्तनियमसत्कदलद्वयस्य प्रवेशो भवति, तथापि तद्बन्धकानां स्पर्शना एकादिभागप्रमाणा न प्राप्यते, ततस्तदतिप्रसङ्गवारणाय सामान्यत इति पदमभिहितम् । तद्यथा—पृथ्वीकायादिमार्गणासु अघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले तीव्रविशुद्धिसद्भावेन बादरपृथ्वीकायिकानामुत्पादो मनुष्यगतिरूपे स्वप्रायोग्योच्चतमस्थाने भवति, बादरपृथ्वीकायिकानां स्वस्थानमेकप्रतररज्जुप्रमाणतोऽधिकमस्ति,केवलसप्तमनरकपृथ्वीस्थानां पृथ्वीकायिकानां स्वस्थानक्षेत्रस्याऽऽयामविष्कम्भतः सप्तरज्जुप्रमाणत्वात्, स्वस्थानोत्पत्तिस्थानयोरपान्तरालक्षेत्रमपि एकादिरज्जुप्रमाणं भवति, सप्तममेदिनीस्थपृथ्वीकायिकानामपेक्षया स्वस्थानोत्पत्तिस्थानयोरन्तरालं षड्रज्जुप्रमाणं भवति इति कृत्वा प्रागुक्तनियमसत्कदलद्वयस्य प्रवेशात्, सप्तमभूमिस्थपृथ्वीकायिकानां षड्भागप्रमाणा स्पर्शना प्राप्येत, किन्त्वग्रे लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रा वक्ष्यते, ततो यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टाद्यनुभागबन्धकाले बादरपृथ्व्यादिजीवा मारणान्तिकसमुद्घातेन मनुष्यत्वेनैवोत्पद्यन्ते तेषां निषेधार्थं 'सामान्यत' इति पदस्योपादानम् ।

अथ तमस्तमःप्रभावर्तिबादरपृथ्वीकायिका मारणान्तिकसमुद्घातकाले कया रीत्या मनुष्यक्षेत्रे स्वात्मप्रदेशदण्डान् निक्षिपन्ति, येन प्रकृतस्पर्शना लोकासंख्यातभागमात्रा प्राप्यते, न तु षडादिभागप्रमाणा। **अत्रेत्थं संभाव्यते**–यत् प्रकृतबन्धकत्वेन निर्दिष्टाः पृथ्वीकायिकाः स्वस्थानतो यदि ऊर्ध्वमेव स्वात्मप्रदेशदण्डान् प्रसारयेरन् तदा षड्घनरज्जुप्रमाणा स्पर्शना सुखेन प्राप्यते। किन्तु लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रत्वेनाग्रे वक्ष्यते, तत एवमनुमीयते–ते च प्रथमं तिर्यगेव स्वात्मप्रदेशदण्डान् निक्षिपन्ति, ततश्च सप्तममेदिन्यामेव मनुष्यलोकतः संपूर्णतयाऽधःस्थाने यत्र यत्र स्वोत्पत्तिस्थानं भवति, तत्र तत्र स्वात्मप्रदेशदण्डान् निसृज्य तत्पश्चादूर्ध्वं मनुष्यक्षेत्रे निसृजन्ति। ततोऽपान्तरालक्षेत्रस्य विष्कम्भेन मनुष्यक्षेत्रप्रमाणा उच्चैस्त्वेन च षडरज्जुप्रमाणा स्पर्शना संभवति। सा च घनरज्ज्वपेक्षया रज्जोरेकासंख्यातभागमात्रा, यद्येवं स्यात् तर्हि प्रकृतस्पर्शना लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रा भवति, अथवा भिन्नभिन्ननयानवलम्ब्य ग्रन्थकारमहर्षीणां प्रवृत्तिदर्शनादत्रापि नयविशेषमवलम्ब्य प्ररूपणा कर्त्तव्या इति।

(2) यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टाद्यनुभागस्य बन्धकत्वेन बादरवायुकायिका अपि गृह्यन्ते, तत्र यदि तद्बन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकप्रमिता न प्राप्यते तर्हि तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनामुत्कृष्टाद्यनुभागबन्धकानां स्पर्शना लोकस्याऽसंख्यातबहुभागप्रमाणा वेदितव्या, बादरवायूनां स्वस्थानस्य यथोक्तमानत्वात्। इति **द्वितीयो नियमः**।

यथा-एकेन्द्रियादिमार्गणासु वेदनीयनामप्रकृत्योरुत्कृष्टानुभागबन्धकत्वेन बादरवायुकायिका अपि गृहीताः, एकेन्द्रियेषु बादरपृथ्वीकायिकादीनां स्वस्थानतः क्षेत्रमत्यल्पम्, यदि समुद्घातमाश्रित्य विचार्यते तदा वेदनीयनाम्नोरुत्कृष्टानुभागबन्धस्य विशुद्ध्या जायमानत्वेन तद्बन्धकानां मनुष्येष्वेवोत्पादात् पृथ्वीकायिकादीनाश्रित्य लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रा एव स्पर्शना प्राप्यते, अत एव एकेन्द्रियौघादिमार्गणासु बादरवायुकायिकानाश्रित्य लोकस्यासंख्यातबहुभागप्रमाणा स्पर्शना भवति।

(3)यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टाद्यनुभागबन्धकाः सूक्ष्मजीवाः सन्ति, यद्वा प्रकृतबन्धकाः सूक्ष्मेषूत्पद्यन्ते तदा तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनामुत्कृष्टाद्यनुभागबन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा लभ्यते, सूक्ष्माणां स्वस्थानस्य यथोक्तमानत्वात्, सूक्ष्मवर्जानां सूक्ष्मतयोत्पित्सूनाञ्च मारणान्तिकसमुद्घातक्षेत्रस्य यथोक्तमानत्वाच्चेति **तृतीयो नियमः**। घटना चैवम्–सूक्ष्मैकेन्द्रियादिमार्गणासु सप्तकर्मणामुत्कृष्टाद्यनुभागबन्धकाः सूक्ष्मजीवाः सन्ति, ततस्तासु मार्गणासु सप्तकर्मणामुत्कृष्टाद्यनुभागबन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा प्राप्यते इति। अपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणागता घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाः तीव्रसंक्लेशसद्भावेन सूक्ष्मलक्षणे स्वनिकृष्टस्थाने उत्पद्यन्ते ततोऽपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां स्पर्शना मारणान्तिकसमुद्घातगतानाश्रित्य सर्वलोकप्रमाणा प्राप्यत इति। एते नियमाः सामान्यतो द्रष्टव्याः, एतान् नियमानधिकृत्य सर्वं स्पर्शनानिरूपणं भावयिष्यते। तेन स्पर्शनाया ज्ञानं विनाऽऽयासेन भविष्यति।

अत्र स्पर्शनानिरूपणे जीवानां परिमाणज्ञानापेक्षया तेषां स्वस्थानतदुत्पत्तिस्थानयोरन्तरालक्षेत्रं कियद्रज्जुप्रमाणमिति ज्ञानमत्यावश्यकम्। ततस्तिर्यग्लोकतोऽधस्तनपृथ्व्यादीनामूर्ध्वलोकस्थसुरालयानां चापान्तरालक्षेत्रं सामान्यतया प्रथमं प्रदर्श्यते—सर्वाधस्तनलोकान्तादारभ्योर्ध्वं यत्र प्रथमा रज्जुः समाप्यते, तत्र सप्तमपृथिवीनारकाणां स्वस्थानानि सन्ति, तिर्यग्लोकस्तु सर्वाधस्तनलोकान्तादारभ्य यत्राष्टमी रज्जुः प्रारभ्यते तत्र विद्यते,तथा च सति सप्तमनरकतिर्यग्लोकयोरपान्तराले षड् रज्जवः क्षेत्रम् , तच्चैकरज्जुप्रमाणतिर्यगवृत्तविस्तृतं, षड्रज्जुप्रमाणोच्चम् ,तच्च षड् भागाः इति शब्देनात्र व्यवह्रियते । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । तथा तिर्यग्लोकतः षष्ठपृथ्वी-पञ्चमपृथ्वी-चतुर्थपृथ्वी-तृतीयपृथ्वी-द्वितीयपृथ्वीनां प्रत्येकमपान्तरालक्षेत्रं यथोत्तरं पञ्च-चतु-स्त्रि-द्वये करज्जुप्रमाणोच्चमेकरज्जुवृत्तविस्तृतं च । प्रथमनरकस्य सप्तमरज्जोरुपरितनभागवर्तित्वात् तिर्यग्लोकस्याष्टमरज्ज्वाः प्रारम्भभागवर्तित्वाच्च तयोरन्तरं नैकरज्जुप्रमाणमपि, किन्त्वसंख्यातयोजनप्रमिताया एकस्या रज्ज्वा असंख्येयतमभागमात्रम् , संख्येययोजनमात्रमंतरमित्यर्थः । एवं तिर्यग्लोकतोऽधोलोकस्थनरकावासानामपान्तरालक्षेत्रं दर्शितम् , अथ तिर्यग्लोकत ऊर्ध्वलोकस्थसुरालयानां क्षेत्रं निगद्यते-तिर्यग्लोकात् सौधर्मेशानसुरालयौ यावत् सार्धरज्जुप्रमाणं, सनत्कुमारमाहेन्द्रदेवलोकौ यावत् सार्धरज्जुद्वयम् , सहस्रारकल्पं यावत् पञ्चरज्जुप्रमाणम् , अच्युतकल्पं यावत् षड्रज्जुप्रमितम् , लोकान्तं यावत् सप्तरज्जुप्रमाणं क्षेत्रं भवति । तथा चोक्तं **जीवसमासे—**

"इसाणम्मि दिवड्ढा अड्ढाइज्जा य रज्जु माहिंदे । पंचेव सहस्सारे छ अच्चुए सत्त लोगंते ॥ **इति बृहत्संग्रहणीवृत्तौ मलयगिरिसूरिपादैरपि** प्रत्यपादि—

"सोहम्मम्मि दिवड्ढा अड्ढाइज्जा य रज्जु माहिंदे । पंचेव सहस्सारे छ अच्चुए सत्त लोगंते ॥ **इति**

एतदनुसारेणैवात्र स्पर्शना बोद्धव्या । यद्यपि तिर्यग्लोकत ऊर्ध्वलोकस्थसुरालयानामपान्तरालक्षेत्रविषयकं मतान्तरमवलम्ब्य स्पर्शनाऽन्यथा प्राप्यते, तथाप्यत्र ग्रन्थगौरवभयात् सुबोधार्थं च मतान्तरमनाश्रित्यैव स्पर्शनानिरूपणं करिष्यते । मतान्तरमाश्रित्य स्पर्शनां ज्ञातुकामानां भव्यजीवानां ज्ञानार्थं मतान्तरेणाऽपान्तरालं प्रदर्श्यते-तत्र श्रीमद् **विनयविजयोपाध्यायविरचितश्रीलोकप्रकाशग्रन्थस्य** क्षेत्रलोकाख्यद्वितीयविभागे द्वादशसर्गे—

"अस्य सत्रस्य लोकस्य कल्प्या भागाश्चतुर्दश । एकैकश्च विभागोऽयमेकैकरज्जुसम्मितः ॥
सर्वाधस्तनलोकान्तादारभ्योपरिगं तलम । यावत् सप्तममेदिन्या एका रज्जुरियं भवेत् ॥
प्रत्येकमेवं सप्तानां भुवामुपरिवर्तिषु । तलेषु रज्जुरेकैका स्युरेवं सप्त रज्जवः ॥
रत्नप्रभोपरितलादारभ्यादिमताविषे । पर्याप्तेषु विमानेषु स्यादेषा रज्जुरष्टमी ॥
तत आरभ्य नवमी महेन्द्रान्ते प्रकीर्तिता । अत. परं तु दशमी लान्तकान्ते समाप्यते ॥
भवेदेकादशी पूर्णा सहस्रारान्तसीमनि । स्याद् द्वादश्यच्युतस्यान्ते क्रमादेवं त्रयोदशी ॥
भवेद् ग्रैवेयकस्यान्ते लोकान्ते च चतुर्दशी । धर्मोर्ध्वभागादूर्ध्वाधः सप्त सप्तेति रज्जवः ॥

अयं च आवश्यकनिर्युक्तिचूर्णिसंग्रहण्याद्यभिप्रायः ॥ भगवत्यादौ च घर्माया अधोऽसंख्ययोजनैः लोकमध्यमुक्तम् । तदनुसारेण तत्र सप्तरज्जवः समाप्यन्ते । परं तदिह स्वल्पत्वान्न विवक्षितमिति संभाव्यते ॥

योगशास्त्रवृत्तौ तु धरणीतलात् समभागात् सौधर्मेशानौ यावत् सार्धरज्जुः, सनत्कुमारमाहेन्द्रौ यावत सार्धरज्जुद्वयम् , ब्रह्मलोकेऽर्धचतुर्था रज्जव ,अच्युत यावत् पञ्चरज्जवः, ग्रैवेयकं यावत् षड् रज्जवः,लोकान्तं यावत् सप्त रज्जव इत्युक्तमिति ज्ञेयम ,

जीवाभिगमवृत्तौ अपि 'बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिमसूरियगहगणणक्खत्ततारारूवाणं बहुओ जोयणकोडीओ यावत् दूरं उड्ढं उप्पइत्ता एत्थ णं सोहम्मीसाणे'त्यादिसूत्रव्याख्याने "अत्र बह्वीः योजनकोटीः ऊर्ध्वं दूरमुत्प्लुत्य गत्वा । एतच्च सार्धरज्जूपलक्षणम् " इति उक्तम् ।

लोकनालिस्तवेऽपि-"सोहम्ममि दिवड्ढा अड्ढाइज्जा य रज्जु माहिंदे । चत्तारि सहस्सारे पणऽच्चुए सत्त लोगन्ते ॥१॥" इत्युक्तम् ॥ (क्षेत्रलोके १२ सर्गः-श्लोक० ८ तः १४)

विशेषावश्यकभाष्यवृत्तौ अपि—

"सम्मत्त-चरणसहिया सव्वं लोगं फुसे निरवसेसं । सत्त य चोद्दसभागा पंच य सुय-देसविरईए" ॥

एतद्गाथाव्याख्याने श्रीमद् मलधारिहेमचन्द्रसूरिपूज्यपादैरपि 'छलच्चुए' इति पाठो दर्शितः, किन्तु तस्य वृद्धसंप्रदायद्वारेण समाधानं कृतं-तच्चैवम्-"आह-नन्वन्यत्र 'छलच्चुए' (षडच्युते) इति पठ्यते, तत् कथमिहाच्युते समुत्पद्यमानः पञ्चैव रज्जूः स्पृशतीति निगद्यते ? सत्यम् , किन्त्वच्युत-ग्रैवेयकापान्तरालमपेक्ष्यान्यत्र षड्रज्जवः पठ्यन्ते,इह त्वच्युतदेवलोकमपेक्ष्य पञ्चेति वृद्धसंप्रदायः । "इति(विशेषा० गाथा २७८२) ॥४१३।४१४॥

इदानीमोघतः पूर्वार्धेनाऽघातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य उत्तरार्धेन पुनरष्टानामपि कर्मणामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकैः कियत्क्षेत्रं स्पृष्टमिति दिदर्शयिषयाऽऽह—

लोगासंखियभागो अघाइचउगस्स फरिसिओ णेयो ।
अट्ठण्हं सव्वजगं छुत्तमतिव्वाणुभागस्स ॥४१५॥

(प्रे०) **'लोगासंखियभागो'** इत्यादि, अघातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकैरित्यनुवर्तते, लोकासंख्यातभागो-लोकस्यैकासंख्यातभागः स्पृष्टो ज्ञेयः । कथम् ? इति चेद् , उच्यते-अघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेन सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्तमानाः क्षपका अभिहिताः आयुष्कस्य पुनरप्रमत्तमुनयः, क्षपकाणामायुर्बन्धकानाञ्च मारणसमुद्घाताभावात् स्वस्थानक्षेत्रप्रमिता स्पर्शना भवति,अत एव प्रकृतबन्धकानां स्पर्शना लोकस्यैकासंख्यातभागप्रमाणा प्रोक्ता ।

तदेवमोघतोऽष्टानां कर्मणामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां स्पर्शना निगदिता, साम्प्रतमोघत एवानुत्कृष्टानुभागस्य स्पर्शनां बिभणिषुराह-**'अट्ठण्हं'** इत्यादि, अष्टानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकैः सर्वजगत् स्पृष्टम् । कुतः ? भण्यते-सूक्ष्माणामपि बन्धसद्भावेन स्वस्थानत एव तावत्प्रमाणस्पर्शनायाः प्राप्यमाणत्वात् ।

निगदिता ओघतोऽष्टानां कर्मणामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोर्बन्धकानां स्पर्शना । सम्प्रत्या-

देशतः सप्तकर्मणामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां स्पर्शनां चिन्तता भवन्ति । कुतः ? उच्यते-अत्र घातिचतुष्कस्य प्रकृतबन्धकानां स्पर्शना षडादिभागप्रमाणा, अध॰ देवाः प्रोक्ताः, भवनपत्यादि-भागमात्रा तासु मार्गणासु गाथात्रिकेनाह— नरकसंस्थितानां पूर्वभवस्वज-

घाईण चउण्ह णिरयचरमणिरयउरलणपुमसु, पञ्चसंग्रहे—
भागा छ बंधगेहिं छुहिआ तिव्वाणुभागस्स ॥
दुइआइणिरयपणगे थीए तेउपउमासु हुन्ति कमा ।
भागा एगाईपण बारस नव अट्ठ परिपुट्ठा ॥४१७॥
भागाट्ठ तिणाणावहिसम्मखइअवेअगेसु य उवसमे ।
एआसु असंखंसो जगस्स तिण्हं अघाईणं ॥४१८॥

तिर्यग्लोकादधो रज्जु- प्रान्तदेवैर्मारणा- भागद्वयेन च्यते-अत्र गाना- र्

(प्रे०) 'घाईण' इत्यादि, चतसृणां घातिप्रकृतीनां तीव्रानुभागस्य-उत्कृष्टानुभागस्य बन्धकैः षड्भागाः स्पृष्टाः, क ? इत्याह—'णिरय' इत्यादि नरकसामान्ये, चरमनरके-सप्तमनरके, औदारिककाययोगे, नपुंसकवेदे शुक्लेश्यायां चेत्येतासु पञ्चमार्गणास्विति । भावना पुनरेवम्—नारकाणां स्वस्थानं तिर्यक्प्रतरासंख्येयभागमात्रमेव, तथा क्षेत्रादिवेदनादावानलेन दंदह्यमानास्ते पापभर-भरिताः स्वस्थानादन्यत्र जिगमिषवोऽपि गन्तुं न शक्नुवन्ति, पिण्डीकृतपापकर्मराशिनिगडेन निबद्धत्वात् । किन्तु नरकादुद्वृत्य यदा तिर्यग्लोके तिर्यक्पञ्चेन्द्रियत्वेनोत्पद्यन्ते तदा पारभविकोत्पत्तिस्थानं तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणं प्राप्यते । प्रस्तुते च सप्तमनारकाः घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले मारणान्तिकसमुद्घातगताः सन्तः तिर्यग्लोके षड्रज्जुप्रमाणान् स्वात्मप्रदेशदण्डान् प्रक्षिपन्ति, अतः प्रागुक्तप्रथमनियमसत्कदलद्वयस्य प्रवेशो भवति । ततो नानाजीवैः सप्तमपृथ्वीतः तिर्यग्लोकं यावत् षड्भागाः परिस्पृष्टाः भवन्ति । एवं नरकौघेऽपि सप्तमनरकमाश्रित्य परिभावनीयम् , यतः शेषनरकानाश्रित्य तावती स्पर्शना न भवति । औदारिककाययोगमार्गणायां घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेन संज्ञिपञ्चेन्द्रियाः प्रोक्ताः, तेषां मध्ये संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चां स्वस्थानं तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणं भवति । ते यदुत्कृष्टानुभागबन्धकाले मारणान्तिकसमुद्घातसमापन्नाः, तदा ते सप्तमपृथ्व्यां नारकत्वेन समुत्पद्यन्ते, ततः स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोरपान्तरालं षड्रज्जुप्रमाणं भवति, इत्थं प्रथमनियमसत्कदलद्वयस्य प्रवेशो भवति, अत एव षड्भागप्रमाणा स्पर्शना भणिता । नपुंसकवेदमार्गणायां प्रकृतबन्धकानां स्पर्शना सप्तमनारकानाश्रित्य संज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियापेक्षया वा षड्भागप्रमाणा प्राप्यते, सा चैवम्—अत्र घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामिनः संज्ञिपञ्चेन्द्रियाः, तेषां मध्ये मनुष्याणां स्वस्थानक्षेत्रस्याल्पत्वेन यथोक्तस्पर्शनाया अप्राप्यमाणत्वात् , संज्ञितिर्यक्-

पञ्चेन्द्रियानाश्रित्य सा भवति नारकेषु सप्तमनारकापेक्षयैव यथोक्तस्पर्शनाया लाभात् सप्तमनारकानेवाश्रित्येति । भावना चात्र सप्तमनरकमार्गणावत् कार्या, संज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियापेक्षया स्पर्शनाया भावना तु औदारिकमार्गणावत् विधेया । अत्रोभयापेक्षयाऽपान्तरालक्षेत्रस्यैक्यात् स्पर्शना निरुक्तप्रमाणा प्राप्यते । शुक्ललेश्यामार्गणायां घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेनानतादिसुरा गृहीताः, तेषां स्वस्थानं मनुष्येष्वेवोत्पादात् पारभविकस्थानमपि प्रतरासंख्यातभागमात्रमेव,एवं तेषां स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोस्तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणत्वाभावेऽपि जिनजन्ममहोत्सवादिप्रयोजनवशात् तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणक्षेत्रे तिर्यग्लोके उत्तरवैक्रियरूपमादधाना अपरावर्त्तमानशुक्ललेश्यायां वर्त्तमानास्ते आनतादिविबुधा इतस्ततः संचरन्ति तदा तेषामात्मप्रदेशाः बद्धशृंखलावत् स्वस्वविमानस्थमूलशरीरेण सह संलग्ना आयामेन षड्रज्जुप्रमाणा भवन्ति । इत्थमतीतादिकालमाश्रित्य घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकैरनन्तैरानतादिदेवैः तिर्यग्लोकतोऽच्युतदेवलोकं यावद् एकरज्जुविस्तृतं षड्रज्जूच्चमपान्तरालक्षेत्रं परिस्पृष्टं भवति,अपि च कालस्यानन्त्याद् मूलशरीरेणापि निरुक्तस्पर्शना प्राप्यत इति ।

अथ द्वितीयगाथा विव्रियते–'दुइआइ' इत्यादि, द्वितीयादिनिरयपञ्चके, स्त्रीवेदे, तेजःपद्मलेश्ययोश्च क्रमेण एकादिपञ्चद्वादशनवाष्टभागाः परिस्पृष्टा भवन्ति, घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकैरित्यनुवर्तते । इदमुक्तं भवति-द्वितीयनरके प्रस्तुतबन्धकैस्त्रसनाड्या एकचतुर्दशभागः स्पृष्टः, तृतीयनरके पुनः द्वौ भागौ स्पृष्टौ, चतुर्थनरके तु त्रयो भागाः परिस्पृष्टाः, पञ्चमनरके च चत्वारो भागाः स्पृष्टाः,षष्ठनरके तु पञ्चभागाः परिस्पृष्टा भवन्ति । भावना चात्र सप्तमनरकवत् कार्या, नवरं षष्ठपञ्चमादिनरकपृथिवीनां यथोत्तरं तिर्यग्लोकादभ्यर्णाऽभ्यर्णतराऽभ्यर्णतमवर्तित्वात् मारणसमुद्घातेन तत्रत्यनारकैः कृता स्पर्शनाऽपि यथोक्तप्रमाणा प्राप्यते । स्त्रीवेदमार्गणायां तु घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकैः तिर्यक्स्त्र्यपेक्षयाऽधोलोके पञ्चभागाः, भवनपत्यादिदेव्यपेक्षया ऊर्ध्वलोके सप्त भागा एवं द्वादशभागाः स्पृष्टा भवन्ति । तद्यथा–तिर्यक्स्त्रीणां स्वस्थानं तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणम् , घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले तीव्रसंक्लेशसद्भावेन तासामुत्पादः षष्ठनरकलक्षणे स्वप्रायोग्यनिकृष्टस्थाने भवति, ततः स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोरपान्तरालक्षेत्रस्य पञ्चरज्जुप्रमाणत्वेन प्रथमनियमसन्कदलकस्य प्रवेशाद् अधोलोके पञ्चरज्जुप्रमाणा स्पर्शना लभ्यते । भवनपत्यादिदेवीनां स्वस्थानगमनागमनतः क्षेत्रं तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणम् , ताश्च यदि घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले मारणसमुद्घातं कुर्वन्ति, तदा तीव्रसंक्लेशसद्भावेन तासामुत्पादः स्वनिकृष्टस्थानेषु पृथ्व्यप्प्रत्येकवनस्पतिषु भवति, ततो यदा ताः सिद्धशिलायां बादरपृथ्वीत्वेन समुत्पद्यन्ते तदा विष्कम्भेन स्वशरीरप्रमाणम् ,आयामेन पुनः सप्तरज्जुप्रमाणं स्वात्मप्रदेशदण्डं प्रक्षिपन्ति, इत्थमतीतादिकालवर्त्यनन्तभवनपत्यादिदेवीभिः स्वात्मप्रदेशदण्डैः विष्कम्भेनैकरज्जुप्रमाणं दैर्घ्येण पुनः सप्तरज्जुप्रमाणमूर्ध्वलोकं स्पृष्टं भवति । अत एव स्त्रीवेदमार्गणायां घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकैर्द्वादशभागाः स्पृष्टा इत्युक्तम् ।

तेजोलेश्यामार्गणायां प्रस्तुतबन्धकैर्नवभागाः परिस्पृष्टा भवन्ति । कुतः ? उच्यते-अत्र घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेन भवनपत्यादीशानान्ता देवाः प्रोक्ताः, भवनपत्यादिदेवानां तथास्वभावतोऽधोलोके पृथ्वीकायादित्वेनोत्पादाभावेऽपि नरकसंस्थितानां पूर्वभवस्वजनानां स्नेहवशात् तृतीयां पृथ्वीं यावत् तेषां गमनागमनं विद्यते । उक्तं च **पञ्चसंग्रहे**—

'सहसारंतियदेवा नारयनेहेण जंति तइयभुवं' इति, एवं च सति तेषां तिर्यग्लोकादधो रज्जुद्वयं स्पर्शना भवति; ऊर्ध्वं त्वीषत्प्राग्भारपृथिव्यां पृथिवीकायतयोत्पद्यमानैरीशानकल्पान्तदेवैर्मारणान्तिकसमुद्घातेनानन्तरोक्तभवनपत्यादिदेवीवत् सप्तभागाः स्पृष्टाः, ततश्च ते सप्तभागाः भागद्वयेन सहिता नव भागा भवन्तीति । पद्मलेश्यायां पुनरष्टौ भागाः स्पृष्टाः । कथम् ? भण्यते-अत्र घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेन सनत्कुमारादयो देवा अभिहिताः, तेषां च विबुधानामेकेन्द्रियत्वेनोत्पत्तिर्निषिद्धा , अतस्तेषामूर्ध्वमीषत्प्राग्भारपृथ्व्यामुत्पादाभावेन तिर्यग्लोकादूर्ध्वं सप्तरज्जुस्पर्शना न लभ्यते किन्तु ते स्वसामर्थ्येन गन्तुमशक्ता अप्यच्युतदेवैः स्नेहादिनोर्ध्वं स्वस्थानेषु नीयन्ते । उक्तं च **पञ्चसंग्रहे**–'निज्जंति अच्चुयं जा अच्चुयदेवेण इयरसुरा' इति । एवं च नीयमानैः पूर्वनीतैश्च प्रकृतबन्धकैरनन्तपद्मलेश्याकदेवैरच्युतकल्पान्तं तिर्यगेकरज्जुवृत्तविस्तृतं सर्वं क्षेत्रं स्पृष्टं भवति, अतस्तेषां तिर्यग्लोकादूर्ध्वं षड्रज्जुस्पर्शना जायते, अधोलोके तु ते तृतीयां पृथ्वीं यावद् गच्छन्तीति प्रागभिहितम् , ततस्तेजोलेश्यावदत्राप्यधोलोके द्विरज्जुप्रमाणा स्पर्शना सम्पद्यते इत्थं च समस्ता स्पर्शनाऽष्टरज्जुप्रमाणा जाता ।

अथ तृतीयगाथा व्याख्यायते-'**भागाऽट्ठ**' इत्यादि, भागा अष्टौ , घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकैः स्पृष्टा भवन्तीत्यनुवर्तते । कुत्र ? इत्याह–'**तिणाणा**' इत्यादि, त्रिज्ञानेषु, अवधिदर्शने, सम्यक्त्वसामान्ये, क्षायिकसम्यक्त्वे, वेदकसम्यक्त्वे उपशमसम्यक्त्वे चेत्यष्टासु मार्गणास्विति । एतास्वष्टसु मार्गणासु सम्यग्दृष्टिदेवानां गमनागमनक्षेत्रापेक्षया निरुक्तस्पर्शना प्राप्यते । भावना प्रागुक्तपद्मलेश्यावत् कर्तव्या,नवरमत्राच्युतकल्पपर्यन्ताः सम्यग्दृष्टिदेवा ग्राह्याः । ननु सम्यग्दृष्टिदेवा अत्यल्पाः क्षेत्रपल्योपमस्यासंख्यातभागमात्राः,तत्कथं तैः स्वात्मप्रदेशैरष्टभागाः स्पृष्टाः ? उच्यते-स्पर्शनानिरूपणं त्वतीतादिकालमाश्रित्य क्रियत इति प्रागुक्तम् , ततोऽतीतादिकालवर्त्यनन्तसम्यग्दृष्टिदेवैस्तावन्तो भागा सुतरां स्पृष्टा भवन्ति ।

अथाघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां स्पर्शनां दर्शयति–'**एआसु**' इत्यादि, एतासु गाथात्रयोक्तास्वेकविंशतिमार्गणासु । तद्यथा–प्रथमगाथोक्तनरकादिपञ्चमार्गणासु,द्वितीयगाथोक्तद्वितीयनरकाद्यष्टमार्गणासु तथा तृतीयगाथोक्तत्रिज्ञानाद्यष्टमार्गणास्विति । तिसृणामघातिप्रकृतीनां 'जगतः'-लोकस्य 'असंख्यांशः'-एकासंख्यातभाग उत्कृष्टानुभागस्य बन्धकैः स्पृष्टो भवतीत्यनुवर्तते । कुतः ? इति चेद् , उच्यते-एतन्मार्गणामध्ये औदारिकादिमार्गणास्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धका मनुष्या

इति कृत्वा। नारकादिमार्गणासु पुनः प्रकृतबन्धकानां मनुष्यक्षेत्रेषूत्पत्तिस्ततः समुद्घातापेक्षयाऽपि यथोक्तैव स्पर्शना। तथाहि—नरकौघ-द्वितीयादिपञ्चनरकलक्षणासु षण्मार्गणास्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाः तीव्रविशुद्धिमन्तस्ततस्ते मनुष्यक्षेत्रे समुत्पद्यन्ते, एवं स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोरन्यतरक्षेत्रस्य तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणत्वाभावात्। सप्तमनरके त्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धः सम्यग्दृष्टीनामेव संपद्यते, तत्र सम्यक्त्वावस्थायां मरणाभावात् मारणान्तिकसमुद्घातो न प्रवर्तते, ततः स्वस्थानक्षेत्रतुल्यलोकस्यैकासंख्यभागप्रमाणा स्पर्शना भवति। औदारिककाययोग-नपुंसकवेद-शुक्ललेश्या-स्त्रीवेद-तेजःपद्मलेश्या-मतिश्रुताऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिक-वेदकोपशमलक्षणासु चतुर्दशमार्गणासु पुनरघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामिनोऽप्रमत्तादयः संयताः, तेषां च गमनागमनस्थानं सुपर्ववद् रज्ज्वादिप्रमाणं न भवति, किन्तु लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रम् ,ततः किम्? वेदकोपशमसम्यक्त्वमार्गणाद्वये मरणसंभवेन मारणान्तिकसमुद्घातेन इलिकागत्या वाऽनुत्तरविमानं यावद् गमनेऽपि पारभविकोत्पत्तिस्थानस्यापि तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणत्वाभावात् लोकस्यैकाऽसंख्यातभागमात्रस्पर्शना भवति, एवं तेजःपद्ममार्गणाद्वयेऽपि, किन्तूत्पत्तिस्थानं क्रमेण ईशानं सहस्रारं यावद्वक्तव्यम् , शेषासु दशसु पुनः प्रकृतबन्धकत्वेन क्षपकाः गृह्यन्ते , तेषां च परभवगमनस्याभावात् मारणान्तिकसमुद्घात एव न प्रवर्तते, ततस्तेषां स्पर्शना स्वस्थानक्षेत्रतुल्या भवतीति। ॥४१६।४१७।४१८॥

सम्प्रति यासु मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शना लोकस्यैकासंख्यातभागः, तासु मार्गणासु गाथाद्विकेनाह—

पढमणिरयतिणरेसुं गेविज्जाइसुरउरलमीसेसुं ।
वेउव्वमीसजोगे आहारदुगम्मि गयवेए ॥४१९॥
मणणाणसंयमेसुं समइअछेअपरिहारसुहमेसुं ।
देसासण्णीसु जगासंखंसो फोसिओऽत्थि सत्तण्हं॥४२०॥ [गीतिः]

(प्रे०) 'पढमणिरय' इत्यादि, प्रथमनरके, त्रिनरेषु-मनुष्यसामान्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणेषु त्रिषु मनुष्यभेदेषु, ग्रैवेयकादिसुरेषु-नवग्रैवेयकपञ्चानुत्तरलक्षणेषु चतुर्दशदेवगतिभेदेषु, औदारिकमिश्रयोगे, वैक्रियमिश्रयोगे, आहारकाहारकमिश्रयोगाद्वके, अपगतवेदे, मनःपर्यवज्ञाने, संयमसामान्ये, समायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसंपरायेषु, देशविरतौ, असंज्ञिभेदेचेत्येतेष्वेकत्रिंशद्मार्गणाभेदेषु सप्तानां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकैरित्यनुवर्तते, 'जगदसंख्यांशः' लोकस्यैकासंख्यांशः—लोकस्यैकासंख्यभागः स्पृष्टोऽस्तीति।

भावार्थः पुनरेवम्—प्रथमनरकमार्गणायां घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकैरतीतादिकालापेक्षया मारणान्तिकसमुद्घातेन तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणे तिर्यग्लोके स्वात्मप्रदेशदण्डाः प्रक्षिप्तास्त-

थापि स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोरपान्तरालक्षेत्रस्य लोकैकासंख्यातभागमात्रत्वेन स्पर्शना लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रा प्राप्यते, अघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानामुत्पादक्षेत्रं मनुष्यभवरूपं ततः स्वस्थानोत्पादक्षेत्रयोः प्रत्येकं लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रत्वेन सुतरां यथोक्तप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यते। वैक्रियमिश्रयोगे सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शना स्वस्थानक्षेत्रतुल्या भवति, कुतः ? उच्यते-एतद्योगोऽपर्याप्तावस्थायामेव भवति,अपर्याप्तावस्थायां देवनारकाणां मरणाभावेन मरणसमुद्घाताभावः,इन्द्रियादिसामर्थ्यरहितत्वाच्च गमनागमनमपि न प्रवर्तते,अत एव स्वस्थानक्षेत्रतुल्या स्पर्शना भवति। स्वस्थानक्षेत्रं च लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रम्, ततश्च स्पर्शनाऽपि तावत्प्रमाणा। औदारिकमिश्रयोगे सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धका लब्धिपर्याप्तसंज्ञिजीवाः, तेषां मारणान्तिकसमुद्घाताभावात् प्रकृतबन्धकानां स्वस्थानक्षेत्रतुल्या स्पर्शना प्राप्यते। ग्रैवेयकादिचतुर्दशदेवगतिभेदवर्तिसुराणामुत्पादो मनुष्येष्वेव भवति, तेन स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोरन्यतरस्यापि तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणत्वाभावः, ते च स्वस्थानादन्यत्र गमनागमनं न कुर्वन्ति, अन्यत्तावद् दूरे तिष्ठतु तीर्थकरनमस्कारादिकमपि तत्र स्थिता एव कुर्वन्ति कल्पातीतत्वात्। इत्येवं तेषां तन्निमित्तं गमनागमनक्षेत्रमपि न विद्यते। एवं प्रकृतबन्धकानां स्पर्शना लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रा भवति। तथा असंज्ञिमार्गणायां यद्यपि प्रस्तुतबन्धकानां स्वस्थानक्षेत्रं तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणमस्ति,किन्त्वपान्तरालक्षेत्रस्य लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रत्वेन स्पर्शना लोकस्यैकासंख्यातभागप्रमिता भवति।

इदमुक्तं भवति–असंज्ञिनि घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानामुत्पादः प्रथमनरके, अघातित्रयस्य पुनः भवनपतिव्यन्तरेषु, यतोऽसंज्ञिजीवानां प्रकृष्टतः देवनरकप्रायोग्यपल्योपमाऽसंख्यातभागप्रमाणाऽऽयुष्कस्य बन्धः, तेन तीव्रसंक्लेशे सति प्रथमनरके, तीव्रविशुद्धौ च सत्यां भवनपतिव्यन्तरेष्वेवोत्पत्तिः। एवं स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोरपान्तरालक्षेत्रस्य लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रत्वात् स्पर्शना लोकस्यैकासंख्यातभागप्रमाणा लभ्यते।

आहारकाऽऽहारकमिश्रयोगाऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्य-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहार-सूक्ष्मसंपरायलक्षणासु नवसु मार्गणासु केवलसंयतमनुष्या लभ्यन्ते, तेषां च स्वस्थानक्षेत्रं लोकस्यैकाऽसंख्यातभागप्रमितम् पारभविकोत्पत्तिक्षेत्रमपि सुरालयलक्षणं लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रम्, ततः सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां स्पर्शना सुतरां लोकस्यैकासंख्यातभागप्रमाणा प्राप्यते, तयोरन्यतरस्यापि क्षेत्रस्य तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणत्वाभावात्। अत्र सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां षण्णामेव प्रकृतीनां बन्धसद्भावेन षट्प्रकृतीनां स्पर्शनाऽभिधातव्या। अपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमसामान्य-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-सूक्ष्मसंपरायमार्गणास्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाः क्षपकाः,तेषां च परभवगमनस्याभावात् मारणान्तिकसमुद्घातोऽपि न प्रवर्तते, अतः तद्बन्धकानां स्वस्थानक्षेत्रतुल्या स्पर्शना भवति। तथा संयमादिमार्गणासु घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धो मिथ्यात्वाभिमुखाद्यवस्थास्वेव निर्वर्त्यते तासु च मारणान्तिकसमुद्घातो न प्रवर्तते, सामान्यतः गुणा-

भिमुखावस्थासु दोषाभिमुखावस्थासु च मरणाभावात् । अत्र मिथ्यात्वापेक्षया मिश्राऽविरतसम्यक्त्व-देशविरति-संयमा गुणत्वेन द्रष्टव्याः, संयमापेक्षया देशविरति-सम्यक्त्व-मिश्र-मिथ्यात्वानि दोषत्वेन वेदितव्यानि एवं स्वस्वस्थानतो गुणदोषाः स्वयमेव द्रष्टव्याः ।

देशविरतिमार्गणायां घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामी मिथ्यात्वाभिमुखः तिर्यङ्मनुष्यो वा, अघातित्रयस्य तु संयमाभिमुखो मनुष्यः। मिथ्यात्वाभिमुखावस्थायां संयमाभिमुखावस्थायां च मरणसमुद्घाताभावात् ,स्वस्थानक्षेत्रतुल्यलोकैकासंख्यभागप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यते। त्रिमनुष्यमार्गणास्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः क्षपकाः, ततः संयममार्गणावद् भावना कर्तव्या, घातिचतुष्कस्य पुनस्तीव्रसंक्लिष्टाः संज्ञिमिथ्यादृष्टयः,तेषां चोत्पादः सप्तमनरके,मनुष्ययोनिमतीनां पुनः षष्ठनरके,ततः स्वस्थानवत् तेषां पारभविकोत्पत्तिक्षेत्रस्यापि तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणत्वाभावात् स्पर्शना लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रा भवतीति ॥४१९।४२०॥

साम्प्रतं तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु समानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकैः कियत्क्षेत्रं स्पृष्टमित्याऽऽह—

छुहिआ अत्थि छभागा घाईण तिरिदुपणिंदितिरियेसु ।
पंच तिरिजोणिणीए चउसु वि पंच ति अघाईणं ॥४२१॥

(प्रे०) 'छुहिआ' इत्यादि, तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यक् पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्लक्षणासु तिसृषु तिर्यग्मार्गणासु 'घातिनीनां' चतुर्घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकैरित्यनुवर्तते, षड् भागाः स्पृष्टा भवन्ति । कुतः ? भण्यते-एतन्मार्गणासु घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाः संज्ञिजीवाः, तेषां च स्वस्थानक्षेत्रं तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणमस्ति । समुद्घातगताश्च ते तस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले तीव्रसंक्लेशसद्भावेन सप्तमनारकत्वेन समुत्पद्यन्ते उत्पद्यमानाश्च ते स्वात्मप्रदेशदण्डान् सप्तमनरकपृथ्वीं यावत् निक्षिपन्ति, ततः प्रागुक्तनियमसत्कदलद्वयस्य प्रवेशात् तेषां षड्भागाः स्पर्शना भवति । समुद्घातगतानां तिर्यक्स्त्रीणां पुनः प्रकृतबन्धकाले षष्ठपृथ्वीनारकत्वेनोत्पादसंभवेन तिर्यग्योनिमतीमार्गणायां षड्भागप्रमाणा स्पर्शना न लभ्यते, अत एव तस्यां पृथक् प्रदर्शयति–'**पंच तिरिजोणिणीए**'तिर्यग्योनिमतीमार्गणायां घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकैः पञ्च भागाः स्पृष्टा इति ।

अथ तिर्यग्गतेर्निरुक्तचतुर्मार्गणाभेदेष्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शना निगद्यते–'**चउसु वि**' इत्यादि,-चतसृष्वपि मार्गणासु-तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्तिलक्षणासु तिसृषु मार्गणासु तथा तिर्यग्योनिमतीमार्गणायां वदेनीयनामगोत्राख्यानां त्र्यघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकैः पञ्चभागाः स्पृष्टा भवन्ति । कथम् ? भण्यते-एतासु चतसृषु मार्गणास्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाः देशविरताः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः, तेषां स्वस्थानं तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणं भवति, उत्पत्तिस्थानं सहस्रारकल्पं यावद् विद्यते, यतोऽस्योत्कृष्टानुभागब-

न्धकाल तीव्रसंशुद्धिसद्भावेन मारणान्तिकसमुद्घातगतास्ते महस्रारकल्पे देवत्वेन समुत्पद्यन्ते ततः स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोरन्तरालं पञ्चरज्जुप्रमाणं भवति, एवं प्रथमनियमस्य प्रवेशात् पञ्चभागाः स्पर्शना प्राप्यते ॥४२१॥

अधुना यासु मार्गणासु घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकैर्नवभागाः स्पृष्टाः, अघातित्रयस्य पुनरष्टभागाः स्पृष्टाः तथा यासु मार्गणासु सप्तानां प्रकृतबन्धकैरष्टभागाः स्पृष्टाः तासु मार्गणास्वाह—

देवीसाणंतेसु घाईणं साऽत्थि नव अघाईणं ।
अडफुसिआ सत्तण्ह वि सेससहस्सारअंतमीसेसु ॥४२२॥ [गीतिः]

(प्रे०) '**देवीसाणंतेसु**' इत्यादि, देवेशानान्तेषु-देवसामान्यभेदे, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानाख्येषु पञ्चसु देवभेदेषु च चतसृणां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकैर्नव भागाः स्पृष्टाः । घटना चात्र तेजोलेश्यायां घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां स्पर्शनावत् कार्या । अघातित्रयस्य प्रकृतबन्धकैः कियन्तो भागाः स्पृष्टाः ? इत्याह–'**अघाईणं**' इत्यादि, निरुक्तषण्मार्गणास्वघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकैरित्यनुवर्तते अष्टौ भागाः स्पृष्टाः विबुधानां गमनागमनक्षेत्रस्याष्टरज्जुप्रमाणत्वात् , तथाहि–भवनपत्यादिदेवा अच्युतसुरसाहाय्येनोर्ध्वमच्युतकल्पं यावद् गच्छन्ति, अधोलोके तु अन्यदेवसाहाय्यमन्तरेणापि तृतीयां पृथ्वीं यावद् गच्छन्तीति पुरा कथितम्–एवं च गच्छद्भिः पूर्वगतैश्च देवसामान्यादिमार्गणावर्तिभिरतीतादिकालमाश्रित्यानन्तप्रकृतबन्धकैस्तृतीयपृथिवीतोऽच्युतकल्पं यावत् तिर्यगेकरज्जुवृत्तविस्तृतं च सर्वं क्षेत्रं स्पृष्टं तच्चाऽष्टभागप्रमाणं भवति, अत एव देवौघादिमार्गणास्वघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टा इति निगदितम् ।

अथ यासु सप्तप्रकृतीनामप्युत्कृष्टानुभागबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः भवन्ति, तासु दर्शयति-'**सत्तण्ह वि**' इत्यादि, सप्तानां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टानुभागबन्धकैः, अत्रापिशब्दः अनन्तरोक्तं परामृशति ततश्चाष्टभागाः स्पृष्टाः भवन्ति, कुत्र ? इत्याह– '**सेससहस्सारअंतमीसेसु**' शेषसहस्रारान्तेषु-अनन्तरोक्तेशानान्तदेवभेदान् वर्जयित्वा शेषेषु सहस्रारपर्यन्तदेवभेदेषु, सनत्कुमारादिसहस्रारपर्यन्तेषु षट्सु देवभेदेष्वित्यर्थः मिश्रभेदे च । कुतः ? उच्यते–मिश्रमार्गणायां मरणाभावात् मारणसमुद्घातो न प्रवर्तते, अतो गमनागमनतो निरुक्तस्पर्शना लभ्यते, सा च देवानाश्रित्य भवति , मिश्रमार्गणायां संयमाभिमुखत्वाभावात् देवा अपि सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका भवन्ति । ततोऽनन्तरोक्तप्रकारेण सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धकैरष्टभागाः स्पृष्टा भवन्ति । सनत्कुमारादिषण्णमार्गणावर्तिदेव एकेन्द्रियेषु न समुत्पद्यते, तत आसिद्धशिलं समुद्घाताभावात् भवनपत्यादिदेवस्पर्शनात एकरज्जून्यूना स्पर्शना लभ्यते सा च सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धकानां गमनागमनक्षेत्रमाश्रित्य भवनपत्यादिदेववत् परिभावनीया ॥४२२॥

इदानीमानतादिदेवभेदेषु तथैकेन्द्रियादिभेदेषु प्रस्तुतबन्धकानां स्पर्शनां निरूपयति—

आणतपहुडिसुरेसुं चउसुं सत्तण्ह छ फुसिआ भागा ।
एगिंदियम्मि तस्स य बायरभेएसु सव्वेसुं ॥४२३॥
सव्वजगमत्थि छुहिअं घाईणं वेअणीयणामाणं ।
हीणजगं गोअस्स य लोगस्स भवे असंखंसो ॥४२४॥

(प्रे०) 'आणतपहुडिसुरेसु' इत्यादि, 'आनतप्रभृतिसुरेषु चतुर्षु' आनत-प्राणता-ऽऽरणा-ऽच्युतरूपासु चतसृषु देवमार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकैः षड्भागाः स्पृष्टाः । ते चा-ऽच्युतदेवलोकात् तिर्यग्लोकं यावदतीतादिकालवर्त्यनन्तैः प्रकृतबन्धकैर्यथोक्तप्रमाणस्यैव क्षेत्रस्य स्पृष्टत्वादूर्ध्वलोकतिर्यग्लोकसत्का ज्ञेयाः, न पुनरधोलोकसत्काः, कथम् ? प्रथमादिनरकेषु तेषां गमना-गमनस्याभावादिति ।

अथैकेन्द्रियौघतद्बादरसर्वभेदेषु स्पर्शना चिन्त्यते—'एगिंदियम्मि' इत्यादि, एकेन्द्रियसामा-न्यभेदे, सर्वेषु च तस्य बादरभेदेषु-बादरैकेन्द्रियसामान्य-पर्याप्तबादरैकेन्द्रियाऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियरू-पेषु घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकैः सर्वजगत् स्पृष्टमस्ति । कुतः ? उच्यते-अत्र घातिचतुष्क-सत्कोत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाले तीव्रसंक्लेशसद्भावेन तद्बन्धकाः सूक्ष्मैकेन्द्रियलक्षणे स्वप्रायोग्य-निकृष्टस्थाने उत्पद्यन्ते, एवं तेषां सूक्ष्मेषूत्पत्तिसंभवेन प्रागुक्ततृतीयनियमस्य प्रवेशात् सर्वलोक-प्रमाणा स्पर्शना लभ्यते । अथ वेदनीयनाम्नोः स्पर्शनामाह—'वेअणीयणामाणं हीणजगं' वेदनीयनाम्नोरुत्कृष्टानुभागबन्धका बादरवायुकायिका अपि सन्ति, तेषां च स्वस्थानं देशोनलोक-प्रमितम् , ततः प्रागुक्तद्वितीयनियमानुसारेण प्रकृतबन्धकानां स्पर्शना देशोनलोकप्रमाणा भवति । अथ गोत्रस्य प्रकृतबन्धकानां स्पर्शना चिन्त्यते—'गोअस्स य' इत्यादि, गोत्रस्य च लोकस्य असंख्यांशः—लोकैकासंख्यातभागः स्पृष्टो भवेत् , उत्कृष्टानुभागस्य बन्धकैरित्य-नुवर्तते । एतासु मार्गणासु गोत्रस्योत्कृष्टानुभागबन्धो बादरपृथ्व्यब्वनस्पतिकायिकानामेव भवति, उच्चैर्गोत्रस्य बन्धेन सह गोत्रसत्कोत्कृष्टानुभागबन्धस्य लभ्यमानत्वात् । तद्बन्धकाले च मारणा-न्तिकसमुद्घातगतास्ते पृथ्व्यादयो जीवा अतिविशुद्धत्वेन मनुष्येष्वेव समुत्पद्यन्ते, यतो मनुष्येषूत्प-द्यमानानां बादरजीवानां स्पर्शना लोकस्यैकासंख्यातभागप्रमाणा प्राप्यते इति प्रथमनियमोक्तेन 'सामान्यतः' इति पदेनाऽभिहितम् । ततो गोत्रस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां स्पर्शना लोकस्यै-कासंख्यातभाग इति भणितम् ॥४२३।४२४॥

साम्प्रतं सर्वसूक्ष्मभेदेषु तथा यासु मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां स्पर्शना ओघवद् भवति, तासु मार्गणास्वाह—

सव्वसुहमभेएसु सव्वजगं फुसिअमत्थि सत्तण्हं ।
ओघव्व दुपंचिंदियतसपणमणवयणजोगेसु ॥४२५॥
कायपुरिसेसु चउसु कोहाईसु तिअणाणअयतेसु ।
णयणेयरभवियेसु मिच्छे सण्णिम्मि आहारे ॥४२६॥

(प्रे०) **'सव्वसुहमभेएसु'** इत्यादि, सर्वसूक्ष्मभेदेषु-एकेन्द्रिय-पृथ्व्यप्-तेजोवायु-साधारणवनस्पतिकायिकानां प्रत्येकं सूक्ष्मसामान्य-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तलक्षणेषु त्रिषु त्रिषु भेदेषु, सर्वमीलने चाष्टादशसु सूक्ष्मभेदेषु सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धकैः सर्वजगत् स्पृष्टमस्ति । कुतः ? भण्यते–तेषां स्वस्थानं सर्वलोकप्रमाणमिति कृत्वा । अथ यासु ओघवत् स्पर्शना प्राप्यते तास्वाह **'ओघव्व'** इति, द्विपञ्चेन्द्रिययोः-पञ्चेन्द्रियसामान्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदयोः, द्विशब्दस्यात्रापि सम्बन्धात् द्वित्रसयोः-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायभेदयोः, पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगेषु, काययोगे, पुरुषवेदे, चतुर्षु क्रोधादिषु, त्र्यज्ञानेषु, असंयमे, नयनेतरयोः-चक्षुरचक्षुर्दर्शनभेदयोः, भव्ये, मिथ्यात्वे, संज्ञिभेदे आहारकभेदे चेत्येतेषु त्रिंशन्मार्गणाभेदेषु, सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां स्पर्शना ओघवद् ज्ञेयेति शेषः । **तद्यथा**–घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकैस्त्रयोदशभागाः स्पृष्टाः, अघातित्रयस्य पुनर्लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रम् । **भावना पुनरेवम्**–अत्र सर्वासु मार्गणासु घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाः सप्तमनारकाः भवनपत्यादिदेवाश्च लभ्यन्ते, तत ओघवद् ऊर्ध्वलोके सप्तरज्जवः अधोलोके पुनः षड्रज्जवः सर्वमीलने च त्रयोदशरज्जवः, नवरं पुरुषवेदमार्गणायां सप्तमनारकाणामसंभवेन सप्तमनारकत्वेन समुत्पद्यमानानां संज्ञितिरश्चामधोलोकसत्का षड्रज्जुस्पर्शना द्रष्टव्या । एवं निरुक्तत्रिंशन्मार्गणासु त्रयोदशभागाः स्पृष्टा भवन्ति । तथा द्विपञ्चेन्द्रियद्वित्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोग-पुरुषवेद-चतुष्कषाय-चक्षुरचक्षुर्दर्शन-भव्य-संज्ञ्या-हारकलक्षणासु पञ्चविंशतिमार्गणास्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाः क्षपकाः, तेषां मारणसमुद्घाताभावात् स्वस्थानक्षेत्रतुल्या लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रा स्पर्शना भवति, त्र्यज्ञानाऽसंयम-मिथ्यात्वरूपासु पञ्चसु मार्गणासु पुनरघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाः संयमाभिमुखा मनुष्याः, संयमाभिमुखानां मारणान्तिकसमुद्घाताभावात् स्वस्थानक्षेत्रतुल्या स्पर्शना भवति, अत एव एतत्त्रिंशन्मार्गणासु त्र्यघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शना ओघवदतिदिष्टा ॥४२५।४२६॥

अधुना तेजःकायस्य भेदेषु प्रस्तुतबन्धकानां स्पर्शनां चिचिन्तयिषुराह—

तेउम्मि बायरेसु से सव्वजगं तु घाइगोआणं ।
लोगासंखियभागो छुहिओ दोण्हं अघाईणं ॥४२७॥

(प्रे०) **'तेउम्मि'** इत्यादि, तेजःकायसामान्ये 'से' तस्य बादरेषु बादरतेजःकाय-पर्याप्त-

बादरतेजःकाया-ऽपर्याप्तबादरतेजःकायेषु चेत्येतेषु चतुर्भेदेषु घातिगोत्रलक्षणानां पञ्चानां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकैः सर्वजगत् स्पृष्टं भवति, तीव्रसंक्लिष्टत्वेन एतदुत्कृष्टानुभागबन्धकाः सूक्ष्मेषु समुत्पद्यन्ते, एवं तृतीयनियमस्य प्रवेशात् सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना संप्राप्ता । वेदनीयनामप्रकृत्योरुत्कृष्टानुभागबन्धो विशुद्ध्या एव निर्वर्त्यते, ततस्तन्निर्वर्तकानां बादरतेजःकायिकानामुत्पादः स्वप्रायोग्योच्चतमस्थाने संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्लक्षणे भवति । तेषां स्वस्थानं च मनुष्यलोकः, अतः स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोरपान्तरालरयैकरज्ज्वादिप्रमाणत्वाभावेन प्रथमनियमसत्कद्वितीयदलस्याप्रवेशात् प्रकृतबन्धकानां स्पर्शना लोकस्यैकासंख्यानभागमात्रा भवति ॥४२७॥

इदानीं वायुकायिके तद्बादरभेदेषु च प्रकृतबन्धकानां स्पर्शनां दर्शयितुकाम आह—

वाउम्मि बायरेसुं से सव्वजगं तु घाइगोआणं।
देसेणूणो लोगो फुसिओ दोण्हं अघाईणं ॥४२८॥

(प्रे०) **'वाउम्मि'** इत्यादि, वायुकायसामान्ये **'से'** तस्य बादरेषु-बादरवायुकायपर्याप्तबादरवायुकाया-ऽपर्याप्तबादरवायुकायेषु चेत्येतेषु चतुर्मार्गणाभेदेषु पञ्चानां घातिगोत्रलक्षणानामुत्कृष्टानुभागबन्धकैः सर्वजगत् स्पृष्टं भवतीति शेषः। भावना चात्रानन्तरोक्ततेजःकायमार्गणावत्कार्या। वेदनीयनामाख्ययोरघातिप्रकृत्योरुत्कृष्टानुभागबन्धकैर्देशोनलोकः स्पृष्टः, कुतः? उच्यते—अत्र तीव्रविशुद्धा बादरवायुकायिका वेदनीयनाम्नोरुत्कृष्टानुभागबन्धकाः, तेषां स्वस्थानं देशोनलोकप्रमाणम्, अत एव वेदनीयनाम्नोरुत्कृष्टानुभागबन्धकैर्देशोनलोकः स्पृष्ट इत्युक्तम् ॥४२८॥

अधुना वैक्रियकाययोगाऽभव्यमार्गणाद्वये स्पर्शना चिन्त्यते—

वेउव्वाभवियेसुं तेरह भागा चउण्ह घाईणं ।
फुसिआऽत्थि बंधगेहिं भागा अट्ठ तिअघाईणं ॥४२९॥

(प्रे०) **'वेउव्वाभवियेसु'** इत्यादि, वैक्रियकाययोगाऽभव्यमार्गणाद्वये चतसृणां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकैस्त्रयोदश भागाः स्पृष्टाः । कुतः? उच्यते—अत्र घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकत्वेन सप्तमनारका भवनपत्यादिदेवाश्च लभ्यन्ते; तत ओघवत् सप्तमनारकानाश्रित्य षड्रज्जवः स्पर्शना अधोलोके, ऊर्ध्वलोके पुनर्भवनपत्यादिसुरापेक्षया सप्तरज्जवः, एवमेतन्मार्गणाद्वये घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकैस्त्रयोदशभागाः स्पृष्टा भवन्ति । त्र्यघातिनामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः । भावना त्वियम्-वैक्रियकाययोगे त्र्यघातिनामुत्कृष्टानुभागबन्धकास्तीव्रविशुद्धा देवाः, अतो गमनागमनं कुर्वतो देवानाश्रित्याऽष्टरज्जुप्रमाणा स्पर्शना वेदितव्या, अभव्यमार्गणायामपि देवापेक्षया एवाष्टरज्जवः स्पर्शना प्राप्यते । यदा मतान्तरमाश्रित्य चिन्त्यते तदा स्पर्शना लोकस्यैकासंख्यातभागप्रमिता भवति, मतान्तरेण द्रव्यसंयतानामेवाऽघातित्रयसत्कोत्कृष्टरसस्य बन्धकत्वात् ॥४२९॥

एतर्हि कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वये स्पर्शनां दर्शयति—

कम्माणाहारेसुं चउण्ह घाईण फोसिआ भागा ।
एगारस बारस वा भागा पंच तिअघाईणं ॥४३०॥

(प्रे०) 'कम्माणाहारेसुं' इत्यादि, कार्मणानाहारकमार्गणाद्वये चतसृणां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकैरेकादश भागाः द्वादश भागा वा स्पृष्टाः त्र्यघातिनीनां च तैः पञ्चभागाः स्पृष्टा इति गाथाक्षरार्थः । भावार्थः पुनरेवम्-अत्र घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शना मतद्वयं संगृह्याऽभिहिता, तत्र द्वादश भागा अच्युतकल्पगतैः सहस्रारान्तदेवैः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतया तिर्यग्लोके समुत्पद्यमानैर्मारणान्तिकसमुद्घातेन षड्भागाः स्पृष्टाः, एवं सप्तमनारकानाश्रित्याऽधोलोकसत्का अपि षड्भागाः स्पृष्टा भवन्ति,सर्वमीलने च जाता द्वादश भागाः । मतान्तरेण अच्युतसहस्रारकल्पयोरन्तरालवर्त्येकरज्जुः स्पर्शनाविषयत्वेन न प्राप्यते, अतो निरुक्तस्पर्शना एकादश भागा भवति । तथा अत्राऽघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामित्वेन चतुर्गतिकाः सम्यग्दृष्टयोऽभिहिताः, मतान्तरेण पुनरुपशमश्रेणितः पतन्तो देवभवप्रथमसमयवर्तिनस्ततः द्वितीयमतमाश्रित्य लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रा स्पर्शना भवति, मनुष्येभ्यो देवत्वं प्रतिपित्सूनां स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोरन्यतरस्य तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणत्वाभावात् । ग्रन्थकृता प्रथममेव मतमवलम्ब्य पञ्च भागाः स्पर्शना निर्दिष्टा, सा तु सहस्रारकल्पेषु समुत्पद्यमानानां सम्यग्दृष्टितिरश्चां स्पर्शनामपेक्ष्य द्रष्टव्या ॥४३०॥ इदानीं कृष्णादित्र्यशुभलेश्यासु प्रकृतबन्धकैः कियत्क्षेत्रं स्पृष्टमिति दर्श्यते–

किण्हाईसुं कमसो घाईणं हुन्ति फोसिआ भागा ।
तेरस एगारस नव तिसु वि अघाईण अड भागा ॥४३१॥

(प्रे०) 'किण्हाईसु' इत्यादि, कृष्णादिषु-कृष्ण-नील-कापोताख्यासु त्र्यशुभलेश्यामार्गणासु घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकैः क्रमशः त्रयोदश एकादश नव भागाः स्पृष्टा भवन्ति, घटना चेत्थम्– कृष्ण-नील-कापोतलेश्याकानां भवनपतिव्यन्तरदेवानामुत्पाद ऊर्ध्वलोके सिद्धशिलां यावद् भवति, ततस्तदपेक्षया तिसृषु लेश्यासूर्ध्वलोके सप्तरज्जवः स्पर्शना लभ्यते । अधोलोके पुनः कापोतलेश्याका नारकास्तृतीयपृथ्वीं यावद् विद्यन्ते, ततोऽधोलोके कापोतलेश्यायां रज्जुद्वयप्रमाणा एव स्पर्शना लभ्यते । नीललेश्याका नारकास्त्वधस्तात् तृतीयपृथिव्या आरभ्य पञ्चमपृथ्वीं यावत् सन्ति,ततश्चतस्रो रज्जवः स्पर्शना प्राप्यते । कृष्णलेश्याका नारकास्तु पञ्चमपृथ्व्या आरभ्य सप्तमपृथ्वीं यावद् विद्यन्ते,ततःषड्रज्जवः स्पर्शना समवाप्यते,तेन कापोतलेश्यायां नवभागाः,नीललेश्यायामेकादश भागाः कृष्णलेश्यायां च त्रयोदश भागा घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकैः स्पृष्टाः सन्ति ।

अथाघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शनां निरूपयति–'तिसु वि' इत्यादि,तिसृष्वपि-अत्रापिशब्दः संग्राहकः, ततश्च नैकादिलेश्यायां, किन्तु तिसृषु- अत्रोक्तासु कृष्णनील-

कापोतलेश्यास्वित्यर्थः, अघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः, कुतः ? उच्यते-तत्तल्लेश्यावतां विबुधानां गमनागमनक्षेत्रस्य तावत्प्रमाणत्वात् । एतदुक्तं भवति-अघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले तीव्रविशुद्धिसद्भावात् यदि तदा कालं करोति तर्हि नारकाणां समुत्पादो मनुष्येष्वेव भवति ततो मारणान्तिकसमुद्घातेन लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रा एव स्पर्शना भवति । नारकाणां स्वस्थानादन्यत्र गमनागमनस्याभावात्तानाश्रित्य निरुक्तस्पर्शना न प्राप्यते, किन्तु कृष्णादिलेश्याकानां देवानामूर्ध्वलोके अच्युतकल्पं यावत् , अधोलोके तृतीयपृथ्वीं यावद् गमनागमनमाश्रित्याऽष्टौ भागाः स्पर्शना भवति । तिर्यङ्मनुष्याणां पुनर्विशुद्धयां सत्यामशुभलेश्या एव नावतिष्ठते, ततस्तेषां मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धेरभावात् कृष्णादिलेश्यास्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्ध एव न भवति । ततस्तदपेक्षया प्रस्तुतस्पर्शनाया विमर्शोऽपि न कर्त्तव्य इति ॥४३१॥

साम्प्रतमेतास्वेव त्र्यशुभलेश्यासु मतान्तरमधिकृत्य स्पर्शनां विभणिषुराह—

अण्णे उ भणन्ति कमा छचउदुभागा हवेज्ज घाईणं ।
लोगासंखियभागो छुहिओ तिसु वि अघाईणं ॥४३२॥

(प्रे०) 'अण्णे' इत्यादि, अन्ये-ये भवनपतिव्यन्तराणां पर्याप्तावस्थायां कृष्णादित्र्यशुभलेश्या न सन्तीत्येवं मन्यन्ते ते ग्रन्थकाराः स्पर्शनानिरूपणे त्र्यशुभलेश्यामार्गणास्वित्थं भणन्ति, 'कमा' इत्यादि, अयं भावः-एतन्मतेन भवनपतिव्यन्तराणां पर्याप्तावस्थायां कृष्णादित्र्यशुभलेश्यानां निषेधात् देवप्रयुक्तमूर्ध्वलोकसत्कं सप्तभागप्रमाणं स्पर्शनाक्षेत्रं न प्राप्यते किन्तु तिर्यङ्निरयप्रयुक्तमधोलोकसत्कमेवाऽवाप्यते, अतः घात्युत्कृष्टरसबन्धकानां कृष्णलेश्यायां षड्भागप्रमाणा, नीललेश्यायां चतुर्भागप्रमाणा,कापोतलेश्यायां द्विभागप्रमाणा स्पर्शना भवति, नीलकापोतलेश्याद्वये नैरयिकसत्केति । अथाऽघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शनामाह-'लोगासंखियभागो' इत्यादि, 'तिसृष्वपि'-कृष्णनीलकापोताख्येषु त्रिषु मार्गणाभेदेषु अघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकैः लोकस्यैकासंख्यातभागः स्पृष्टः,कुतः ? देवप्रयुक्तस्पर्शनाया अभावेन नारकानाश्रित्य यथोक्तप्रमाणा एव स्पर्शना लभ्यते तथाहि-भवनपतिव्यन्तराणां गमनागमनमाश्रित्याष्टभागप्रमाणा स्पर्शना प्रागुक्ता, किन्त्वेतन्मते भवनपतिव्यन्तराणां पर्याप्तावस्थायां कृष्णादिलेश्यानां प्रतिषेधात् देवप्रयुक्ता स्पर्शना न प्राप्यते । किन्तु नारकाणां मारणसमुद्घातमाश्रित्य प्राप्यते, नारकाणां चाघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले तीव्रविशुद्धिसद्भावेन मनुष्येष्वेवोत्पादात् . तैर्लोकस्यैकासंख्यातभागः स्पृष्टो भवति ॥४३२॥ अधुना सास्वादनमार्गणायां सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शनां चिन्तयति—

सासायणम्मि छुहिआ भागा बारह चउण्ह घाईणं ।
अट्ठ फरिसिआ भागा णेया तिण्हं अघाईणं ॥४३३॥

(प्रे०) **'सासायणम्मि'** इत्यादि, सास्वादनमार्गणायां चतसृणां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकैर्द्वादश भागाः स्पृष्टाः, कथम् ? इति चेद् , उच्यते–सिद्धशिलायामुत्पत्तुकामानां सास्वादनिभवनपत्यादिदेवानामपेक्षया सप्तभागाः स्पर्शना मरणसमुद्घातेनोर्ध्वलोके प्राप्यते, तिर्यक्षु समुत्पित्सून् षष्ठनारकानधिकृत्य तु पञ्चभागप्रमाणा अधोलोकसत्का, सर्वमीलने च जाता द्वादश भागाः । अत्रेदमवगन्तव्यम्–सप्तमनारकाः मिथ्यात्वगुणस्थाने वर्त्तमाना म्रियन्ते,ततस्तानधिकृत्याऽधोलोकसत्का स्पर्शना नावाप्यते, तिर्यङ्मनुष्याः सास्वादनेन सह नरकं न व्रजन्ति ततस्तदपेक्षयाऽपि भावना न कर्तव्या ।

अत्र स्पर्शनानिरूपणे यत्र यत्रैकादिभागप्रमाणा स्पर्शना कथिता, तत्र तत्र देशोनता यथासंभवं विज्ञेया । यतः सिद्धशिलायामेकेन्द्रियत्वेन समुत्पित्सूनां भवनपत्यादिदेवानां सप्तभागप्रमाणा स्पर्शना कथिता किन्तु सिद्धशिलातो योजनमूर्ध्वं गत्वा सप्तमीरज्जुः समाप्यते, एवं स्वयंभूरमणवारिधिवेदिकाबहिर्भागे पञ्चेन्द्रियाणामुत्पत्तिनिषेधात् , तावत्प्रमाणन्यूना स्पर्शना लभ्यते,तथापि स्वल्पत्वेनाऽविवक्षित्वात् सामान्यतो द्वादशादिभागप्रमाणा स्पर्शनाऽभिहिता, इत्थं सर्वत्र देशोनता यथासंभवं वेदितव्या ।

अथाऽघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शनामाह–**'अट्ठ फरिसिआ भागा'** इत्यादि,तिसृणामघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टा ज्ञेयाः । अतीतकालवर्त्यनन्तैः प्रकृतबन्धकैः सास्वादनिभवनपत्यादिदेवैर्गमनागमनत उच्चैस्त्वेनाऽष्टरज्जुप्रमाणस्य, आयामविष्कम्भाभ्यां पुनरेकरज्जुप्रमाणस्य, त्रसनाडीसत्कस्य क्षेत्रस्य स्पृष्टत्वात् ।

ननु सास्वादनिनारकाणां मारणसमुद्घातमाश्रित्याधिका स्पर्शना प्राप्यते, तत्कथं भवद्भिरेतावत्प्रमाणा एव कथिता । इति चेद् ,उच्यते–सास्वादनिनारकाणामघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले तीव्रविशुद्धिसद्भावेन यदि ते कालं कुर्वते तदा मनुष्येष्वेवोत्पद्यन्ते,तैश्च मारणान्तिकसमुद्घातेन लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रं क्षेत्रं स्पृष्टं भवति,एवं स्वल्पत्वात्तदत्र न विवक्षितमिति ॥४३३॥

उक्तशेषासु मार्गणासु घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टः, अघातित्रयस्य बन्धकैः पुनर्लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रं क्षेत्रं स्पृष्टमिति दर्शयन्नाह—

सेसासु घाईणं सव्वजगं फोसिअं मुणेयव्वं ।
लोगासंखियभागो छुहिओ तिण्हं अघाईणं ॥४३४॥

(प्रे०) **'सेसासु'** इत्यादि, शेषासु-भणितोद्धरितासु एकोनत्रिंशन्मार्गणासु घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकैः सर्वजगत् स्पृष्टं ज्ञातव्यम् । कुतः ? इति चेद् , उच्यते–एतन्मार्गणावर्तिजीवाः घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले तीव्रसंक्लेशसद्भावेन सूक्ष्मेषूत्पद्यन्ते, ततः प्रागुक्ततृतीयनियमस्य प्रवेशात् सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यते । अघातिप्रकृतीनां स्पर्शनामाह–**'लोगासंखिय-**

भागो'इत्यादि, तिसृणामघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकैर्लोकस्यैकोऽसंख्यातभागः स्पृष्टः, कथम् ? भण्यते-एतन्मार्गणावर्तिजीवा अघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाले कालं कुर्वन्ति तदा स्वप्रायोग्योच्चतमस्थानेषु मनुष्येष्वेवोत्पद्यन्ते ततोऽत्र कासुचित् पृथ्व्यादिमार्गणासु प्रथमनियमसत्कयोर्द्वयोरपि दलयोः प्रवेशसद्भावेन लोकस्यैकासंख्यातभागादधिकप्रमाणायाः स्पर्शनायाः प्राप्यमाणत्वेऽपि प्रथमनियमान्तर्गतसामान्यपदेन निवारणं कृतं द्रष्टव्यम्, एवमेतास्वेकोनत्रिंशन्मार्गणास्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकैर्लोकस्यैकासंख्यातभागः स्पृष्टो ज्ञेयः । शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः- अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणा, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणा, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणा, अपर्याप्तत्रसकायमार्गणा, नवविकलाक्षमार्गणाः, पृथ्व्यब्वनस्पतिसाधारणवनस्पतिकायिकानां प्रत्येकमोघमार्गणाः ताश्च चतस्रः, बादरपृथ्व्यप्प्रत्येकवनस्पतिनिगोदानां प्रत्येकं सामान्यपर्याप्ताऽपर्याप्तरूपास्तिस्रो मार्गणाः ताश्च द्वादश, सर्वमीलने त्वेकोनत्रिंशन्मार्गणा इति ॥४३४॥

तदेवमादेशतः सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शना चिन्तिता, साम्प्रतं तासामनुत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शनां निजिगदिषुरादौ तावद् देशविरतिमार्गणां वर्जयित्वा यासु मार्गणासु सप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागबन्धकाः सूक्ष्मजीवा न सन्ति यद्वा सूक्ष्मेषु नैवोत्पद्यन्ते तासु मार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शनां घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शनावदतिदिशन्नाह-

सव्वणिरयदेवेसुं वेउव्वाहारदुगअवेएसुं ।
चउणाणसंयमेसुं समइअछेअपरिहारेसुं ॥४३५॥
सुहमावहिसुहलेसासम्मखइअवेअगेसु तहुवसमे ।
सासायणमीसेसुं भवे अतिव्वाणुभागस्स ॥४३६॥
सत्तण्हं कम्माणं घाइगुरुरसव्व फोसणा देसे ।
भागा पंच फरिसिआ छुहिअं सेसासु सव्वजगं ॥४३७॥

(प्रे०)"सव्वणिरयदेवेसु" इत्यादि, सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् सर्वनिरयेषु नरकसामान्यरत्नप्रभादिसप्तनारकरूपास्वष्टसु मार्गणासु, सर्वदेवेषु-त्रिंशद्देवभेदेषु, द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् वैक्रियद्विके--वैक्रियवैक्रियमिश्रयोगमार्गणाद्वये, आहारकद्विके--आहारकाऽऽहारकमिश्रयोगमार्गणाद्विके, अवेदे, चतुर्ज्ञानसंयमेषु-मतिश्रुतावधिमनःपर्यवज्ञानलक्षणासु चतसृषु ज्ञानमार्गणासु संयमसामान्यमार्गणायाम्, सामायिक-छेदोपस्थानीय-परिहारविशुद्धिमार्गणासु, सूक्ष्मसंपराये, अवधिदर्शने, शुभलेश्यासु-तेजःपद्मशुक्लाख्यासु तिसृषु शुभलेश्यामार्गणासु सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिक-वेदकेषु, तथाशब्दः समुच्चयार्थे स च प्रान्ते योज्यः, उपशमे, सास्वादने, मिश्रे चेत्येतेषु द्वाषष्टिमार्गणाभेदेषु सप्तानां कर्मणामनुत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शना घातिगुरुरसवद् भवेत् ।

इदमुक्तं भवति–इह यासु यासु मार्गणासु घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकानां यावत्प्रमाणा स्पर्शना कथिता, तासु तासु मार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां स्पर्शना तावत्प्रमाणा वेदितव्या, कुतः ? इति चेद् , उच्यते-एतन्मार्गणावर्तिजीवाः सूक्ष्मेषु नोत्पद्यन्ते, ततो घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शनातोऽधिका सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना न प्राप्यते, अन्यच्चैतासु बादरवायुकायिका जीवा नैव प्रविष्टाः, ततो देशोनलोकप्रमाणाऽपि स्पर्शना न लभ्यते, तथा घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानां यावत् स्वस्थानादिक्षेत्रं यावच्चापान्तरालक्षेत्रमस्ति, अनुत्कृष्टानुभागबन्धकानामपि तावत्प्रमाणं स्वस्थानादिक्षेत्रमपान्तरालक्षेत्रमपि भवति, अत एव घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शनावत् सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां स्पर्शनाऽतिदिष्टा। इदं त्ववधेयम् सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां मोहनीयस्य बन्धो न भवतीति षट्प्रकृतिबन्धकानां तत्र यथोक्तस्पर्शना वक्तव्या।

नरकादिद्वाषष्टिमार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शना त्वित्थम्-नरकसामान्यसप्तमनरकमार्गणाद्वये षड् भागाः, षष्ठनरके पञ्च भागाः, पञ्चमनरके चत्वारो भागाः, चतुर्थनरके त्रयो भागाः, तृतीयनरके द्वौ भागौ, द्वितीयनरके एको भागः, प्रथमनरके लोकस्यैकासंख्यातभागः, देवौघे ईशानान्तदेवेषु च नव भागाः, शेषसहस्रारान्तदेवेषु अष्टौ भागाः, आनतादिचतुर्देवभेदेषु षड् भागाः, नवग्रैवेयक-पञ्चानुत्तरेषु लोकस्यैकासंख्यातभागः, वैक्रियकाययोगे त्रयोदश भागाः, वैक्रियमिश्राऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रा-ऽपगतवेद-मनःपर्यव-संयमसामान्य-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसम्परायलक्षणासु दशमार्गणासु लोकस्यैकासंख्यातभागः, मतिश्रुताऽवधिज्ञानाऽवधिदर्शनसम्यक्त्वौघ-क्षायिक-वेदकोपशमलक्षणास्वष्टसु मार्गणास्वष्टौ भागाः, तेजोलेश्यायां नव भागाः, पद्मलेश्यामिश्रमार्गणाद्वये अष्टौ भागाः, शुक्ललेश्यायां षड्भागाः, सास्वादनमार्गणायां च द्वादशभागाः सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धकैः स्पृष्टा इति।

अथ देशविरतिमार्गणायां प्रकृतस्पर्शनां प्राह–'**देसे**' इत्यादि, देशविरतिमार्गणायां सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धकैः पञ्च भागाः स्पृष्टाः। इदमत्र तात्पर्यम्–देशविरतिमार्गणायां घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धो मिथ्यात्वाभिमुखावस्थायामेव भवति, तस्यां च मरणाभावेन मारणान्तिकसमुद्घातस्याप्रवर्तनात् स्वस्थानक्षेत्राक्षिप्ता लोकैकासंख्यातभागप्रमाणा एव स्पर्शना भवति, सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धकाले तु मारणसमुद्घातोऽपि प्रवर्तते, ततो मरणसमुद्घातगता देशविरतितिर्यञ्चः सहस्रारकल्पं यावत् स्वात्मप्रदेशदण्डान् प्रक्षिपन्ति, तेषां च स्वस्थानं तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणम् , अपान्तरालक्षेत्रं च पञ्चरज्जुप्रमाणम् , एवं प्रथमनियमसत्कदलद्वयस्य प्रवेशात् पञ्चभागाः स्पर्शना भवति, अत एव देशविरतिमार्गणायां सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शना घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शनावत् नातिदिष्टेति।

इदानीं शेषमार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धकैः कियत्क्षेत्रं स्पृष्टमिति निर्देष्टुमनाः प्राह–

'छुहिअं सेसासु सव्वजगं' इति, शेषासु-अनन्तरोक्तत्रिषष्टिमार्गणा वर्जयित्वा सप्ताधिकशतमार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धकैः सर्वं जगत् स्पृष्टम् कुतः ? भण्यते—कासुचिद् मार्गणासु सूक्ष्मजीवाः सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकत्वेन लभ्यन्ते, कासुचित्तद्बन्धकानामुत्पादः सूक्ष्मेषु भवति, एवं तृतीयनियमस्य प्रवेशात् सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना निर्दिष्टा । शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः-सर्वतिर्यग्गतिभेदाः, सर्वमनुष्यगतिभेदाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य सर्वभेदाः, कायमार्गणास्थानस्य सर्वभेदाः योगमार्गणास्थानस्य पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगकाययोगौदारिकौदारिकमिश्रकार्मणलक्षणाश्चतुर्दशभेदाः, वेदमार्गणास्थानस्य स्त्रीपुरुषनपुंसकभेदाः, कषायमार्गणास्थानस्य सर्वभेदाः , त्र्यज्ञानभेदाः, असंयमभेदः चक्षुरचक्षुर्दर्शनरूपौ द्वौ दर्शनमार्गणाभेदौ, त्र्यशुभलेश्याभेदाः, भव्याभव्यभेदौ, मिथ्यात्वभेदः, संज्ञ्यसंज्ञिलक्षणौ द्वौ संज्ञिमार्गणाभेदौ, आहारकाऽनाहारकरूपौ द्वौ आहारकमार्गणाभेदौ इत्येवं सर्वसंख्यया सप्तोत्तरशतमार्गणा इति ॥४३५।४३६।४३७॥

दर्शिताऽऽदेशतः सप्तानामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शना, साम्प्रतमायुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शनां गाथात्रयेणाऽभिधातुकामः प्राह—

आउस्स बंधगेहिं देवसहस्सारअंतविउवेसुं ।
भागा अट्ठ फरिसिआ णेया तिव्वाणुभागस्स ॥४३८॥
आणतपहुडिसुरेसुं चउसुं णेया छ फरिसिआ भागा ।
सव्वसुहुमभेएसुं सव्वजगं फोसिअं णेयं ॥४३९॥
वाउम्मि बायरेसुं से देसूणं जगं भवे छुहिअं ।
सेसासु असंखयमो भागो लोगस्स परिपुट्ठो ॥४४०॥

(प्रे०) **'आउस्स'** इत्यादि, आयुष्कस्य तीव्रानुभागस्य-उत्कृष्टानुभागस्य बन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः । कासु कासु मार्गणासु ? इत्याह—**'देवसहस्सारअंतविउवेसु'** इति, देवसामान्यभेदे सहस्रारान्तेषु-भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्माद्यष्टकल्पेषु वैक्रियकाययोगे चेत्येतासु त्रयोदशमार्गणास्विति प्रथमगाथाक्षरार्थः ।

तथा **'आणतपहुडिसुरेसु'** इत्यादि, आनतप्रभृतिसुरेषु चतुर्षु भेदेषु षड् भागाः रज्जवः स्पृष्टाः ज्ञेयाः । सर्वसूक्ष्मभेदेषु-एकेन्द्रियपृथ्व्यप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतिकायानां प्रत्येकं सूक्ष्मसामान्य-पर्याप्ताऽपर्याप्तभेदरूपास्त्रयस्त्रयो भेदाः, सर्वमीलने चाष्टादशसूक्ष्मभेदाः, तेषु सर्वं जगत् स्पृष्टं ज्ञेयम् , सर्वत्रायुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकैरित्यनुवर्तते इति द्वितीयगाथाक्षरार्थः ।

तथा **'वाउम्मि'** इत्यादि, वायुकायसामान्ये **'से'** तस्य-बादरेषु-बादरवायुकायपर्याप्तबादरवायुकाया-ऽपर्याप्तबादरवायुकायभेदेषु देशोनं जगत् स्पृष्टं भवेत् । अथ शेषासु दर्शयति—**'सेसासु'**

इत्यादि, शेषासु—'देवसहस्सारअंतिउवेसु' इत्यादिनाऽनन्तरकथितास्त्रयोदशमार्गणाः, 'आणतपहुडि-सुरेसु', इत्यनेन भणिताश्चतुर्मार्गणाः, 'सव्वसुहुमभेएसु' इत्यनेनोद्दिष्टा अष्टादशमार्गणाः, 'वाउम्मि बायरेसु' से' इत्यनेनाऽभिहिताश्चतुर्मार्गणाश्चेत्येता एकोनचत्वारिंशद्मार्गणा वर्जयित्वा शेषासु चतुर्विंशत्यधिकशतमार्गणास्वित्यर्थः, आयुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकैर्लोकस्याऽसंख्याततमो भागः परिस्पृष्ट इति तृतीयगाथाक्षरार्थः।

भावार्थः पुनरेवम्—आयुर्बन्धकाले मारणसमुद्घातो न प्रवर्तते, अत आयुर्बन्धकानां स्पर्शना स्वस्थानतो गमनागमनतो वा प्राप्यते, तत्र गमनागमनतः स्पर्शनाऽच्युतपर्यन्तानामेव त्रिबुधानां भवति, ततो यासु मार्गणास्वायुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकत्वेनाऽच्युतान्तसुरा लभ्यन्ते तत्र गमनागमनप्रयुक्ता स्पर्शना द्रष्टव्या। अत एव प्रथमगाथोक्तदेवसामान्यादित्रयोदशमार्गणास्वष्टभागप्रमाणा स्पर्शना निर्दिष्टा आनतादिचतुर्देवभेदेषु तु षड्भागप्रमाणा निरूपिता, एतत्सप्तदशमार्गणा वर्जयित्वा पट्चत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणास्वायुष्कस्य बन्धकानां स्पर्शना स्वस्थानत एव लभ्यते, तत्र च सूक्ष्मजीवानां स्वस्थानं सर्वलोकः, ततो यत्र प्रकृतबन्धकत्वेन सूक्ष्मजीवाः प्राप्यन्ते तत्र सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना भवति, अत एव सूक्ष्माणामष्टादशभेदेषु सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना भणिता, न पुनः तिर्यग्गतिमार्गणायां, तस्यां सूक्ष्मजीवानां प्रविष्टत्वेऽपि आयुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्यानिर्वर्तनात्। अन्यच्च बादरवायुकायिकानां स्वस्थानक्षेत्रं देशोनलोकप्रमाणम्, ततो यत्र प्रकृतबन्धकत्वेन सूक्ष्माणामभावे सति बादरवायुकायिका लभ्यन्ते तत्र देशोनलोकप्रमाणा स्पर्शना भवति। अत एव वायुकायौघ-बादरवायुकाय-पर्याप्तबादरवायुकायाऽपर्याप्तबादरवायुकायमार्गणासु देशोनलोकप्रमाणा स्पर्शना निगदिता। तथा शेषासु चतुर्विंशत्युत्तरशतमार्गणास्वायुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकत्वेन बादरवायुकायवर्जा बादरपृथ्व्यादयो लभ्यन्ते, बादरपृथ्व्यादीनां च स्वस्थानक्षेत्रं लोकस्यैकासंख्यातभागप्रमाणं, तत एतासु शेषमार्गणासु लोकस्यासंख्येयतमो भागः स्पर्शना प्रतिपादिता इति संक्षेपः, विस्तरस्तु प्रत्येकं मार्गणास्वायुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामिनमवगम्य यथासंभवं स्वयमेव कर्तव्य इति।

चतुर्विंशत्युत्तरशतमार्गणाभेदाः पुनरेते—सर्वनिरयगतिभेदाः, सर्वतिर्यग्गतिभेदाः, सर्वमनुष्यगतिभेदाः, देवगतेः नवग्रैवेयकपञ्चानुत्तरलक्षणाश्चतुर्दशभेदाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य सूक्ष्मैकेन्द्रियसत्कत्रिभेदवर्जषोडशभेदाः, कायमार्गणास्थानस्य पृथ्व्यप्तेजःकायिकानां सामान्य-बादरसामान्यपर्याप्तबादराऽपर्याप्तबादररूपाश्चत्वारश्चत्वारो भेदाः, वनस्पतिकायस्य सूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायसत्कत्रिभेदवर्जाऽष्टौ भेदाः, त्रसकायस्य त्रिभेदाः, सर्वमीलने च त्रयोविंशतिभेदाः, योगमार्गणास्थानस्यायुर्बन्धप्रायोग्यवैक्रिययोगवर्जपञ्चदशभेदाः, स्त्रीपुरुषनपुंसकवेदाः, चतुष्कषायभेदाः, ज्ञानमार्गणास्थानस्य सर्वज्ञानाज्ञानभेदाः, संयममार्गणास्थानस्यायुर्बन्धायोग्यसूक्ष्मसंपरायभेदवर्जषड्भेदाः,

चक्षुरचक्षुरवधिरूपास्त्रिदर्शनभेदाः, लेश्यामार्गणास्थानस्य सर्वभेदाः,भव्याभव्यभेदौ,सम्यक्त्वमार्गणा-स्थानस्यायुर्बन्धायोग्योपशममिश्रभेदद्वयवर्जपञ्चभेदाः, संज्ञ्यसंज्ञिभेदौ, आहारकभेदश्चेत्येते चतुर्विंश-त्युत्तरशतमार्गणाभेदा इति ॥४३८।४३९।४४०॥

तदेवं प्ररूपिताऽऽदेशत आयुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शना, साम्प्रतं तस्याऽनुत्कृष्टा-नुभागबन्धकानां स्पर्शनां व्याजिहीर्षुरादौ तावद् यासु मार्गणासु सूक्ष्मजीवानां प्रकृतबन्धकत्वेना-वाप्यमानत्वात् सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना लभ्यते, ता मार्गणाः संगृह्य तत्र प्राह—

तिरिये एगिंदियपणकायनिगोएसु सव्वसुहमेसु ।
कायुरलदुगणपुमचउकसायदुअणाणअयतेसुं ॥४४१॥
अणयणअसुहतिलेसाभवियरमिच्छअमणेसु आहारे ।
सव्वो लोगो छुविओऽणुक्कोसरसस्स आउस्स ॥४४२॥

(प्रे०) 'तिरिये' इत्यादि, तिर्यग्गतिभेदे, एकेन्द्रियभेदे, पञ्चकायेषु-पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पति-कायिकानां पञ्चसु सामान्यभेदेषु, निगोदे-साधारणवनस्पतिकायौघभेदे, सर्वसूक्ष्मेष्वष्टादशसूक्ष्मभेदेषु, काययोगे, औदारिकौदारिकमिश्रयोगद्वये, नपुंसकवेदे, चतुष्कषायेषु, मत्यज्ञान-श्रुताऽज्ञानद्विके, असंयमे, अचक्षुर्दर्शने, कृष्णादित्र्यशुभलेश्यासु, भव्याभव्यरूपे भेदद्वये, मिथ्यात्वे, असंज्ञिभेदे, आहारकभेदे चेत्येतेषु पट्चत्वारिंशद्भेदेषु आयुष्कस्याऽनुत्कृष्टरसस्य बन्धकैः सर्वो लोकः स्पृष्टः,कुतः ? भण्यते—एतासु सर्वासु मार्गणासु सूक्ष्मजीवा अपि प्रकृतबन्धकत्वेन प्राप्यन्ते इति कृत्वा ॥४४१।४४२॥

अथ यासु मार्गणासु सहस्रारान्तदेवानाश्रित्य गमनागमनतोऽष्टौ भागाः स्पर्शना लभ्यते तासु तथाऽऽनतादिमार्गणासु प्रस्तुतस्पर्शनामाह—

देवऽट्ठमंतसुरदुपणिंदितसपणमणवयणविउवेसुं ।
पुमथीतिणाणविब्भंगोहिणयणतेउपम्हासुं ॥४४३॥
सम्मत्तखइअवेअगसासणसण्णीसु अट्ठ छिव्वीअ ।
परिफोसिआ छ भागा चउआणतआइसुक्कासुं ॥४४४॥

(प्रे०) 'देवऽट्ठमंतसुर' इत्यादि,देवसामान्यभेदे 'अष्टमान्तसुरेषु' भवनपतिभेदादारभ्य सह-स्रारपर्यन्तैकादशदेवभेदेषु,द्विपञ्चेन्द्रिययोः-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिययोः, द्वित्रसयोः-त्रसकाय-पर्याप्तत्रसकाययोः,पञ्चमनोयोगभेदेषु,पञ्चवचनयोगभेदेषु,वैक्रियकाययोगे,स्त्रीपुरुषवेदद्वये,मति-श्रुता-ऽवधिज्ञानेषु,विभङ्गज्ञाने,चक्षुरवधिदर्शनभेदद्वये, तेजःपद्मलेश्याद्वये, सम्यक्त्वसामान्य-क्षायिक-वेदक-

सास्वादन-संज्ञिभेदेषु चेत्येतेषु द्वाचत्वारिंशन्मार्गणाभेदेष्वायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः। कथम् ? इति चेद् ,उच्यते—अत्रायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्वस्थानतः क्षेत्रं लोकस्यैकाऽसंख्यातभागमात्रम् । यद्यप्येवं तथापि निरुक्तसर्वमार्गणासु देवाः प्रकृतबन्धकत्वेन लभ्यन्ते, तेषां च गमनागमनक्षेत्रमष्टरज्जुप्रमाणं भवति । अत एवैतासु देवौघादिषु द्वाचत्वारिंशन्मार्गणासु प्रस्तुतानुभागबन्धकैरष्टौ भागा स्पृष्टा इत्यभिहितमिति ।

अथ यासु प्रस्तुतबन्धकैः षड् भागाः स्पृष्टाः तासु मार्गणासु प्रवक्ति-**'परिफोसिआ'** इत्यादि, 'चतुरानतादिशुक्लासु'-आनत-प्राणताऽऽरणाऽच्युत-शुक्ललेश्यारूपासु पञ्चमार्गणास्वायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकैः षड् भागाः परिस्पृष्टाः । आनतादिदेवानां गमनागमनक्षेत्रस्य तावत्प्रमाणत्वात् , शुक्ललेश्यायां चानतादिदेवानेवाश्रित्य प्रकृतस्पर्शनाया अवाप्यमानत्वात् ॥४४३।४४४॥

अधुना यासु मार्गणासु बादरवायुकायिकानधिकृत्य देशोनलोकप्रमाणा स्पर्शना लभ्यते, तासु मार्गणासु तथैव दर्शयति—

देसूणजगं बायरएगिंदियवाउ रव्वभेएसुं ।
लोगस्स असंखयमो भागो छुहिओऽत्थि सेसासुं ॥४४५॥

(प्रे०) **'देसूणजगं'** इत्यादि, बादरैकेन्द्रियसर्वभेदेषु बादरैकेन्द्रियस्यौघ-पर्याप्ताऽपर्याप्तरूपेषु त्रिषु भेदेषु,बादरवायुकायसर्वभेदेषु-बादरवायुकायिकस्यौघ-पर्याप्ताऽपर्याप्तलक्षणेषु त्रिषु भेदेषु सर्वमीलने च षड्मार्गणाभेदेष्वायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकैरित्यनुवर्तते, देशोनं जगत् स्पृष्टम् । भावना चात्र सुगमा । इदानीं शेषमार्गणासु प्राह—**'लोगस्स'** इत्यादि, शेषासु,अनन्तरोक्तनवनवतिमार्गणा वर्जयित्वा चतुःषष्टिमार्गणास्वायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धकैर्लोकस्याऽसंख्येयतमो भागः स्पृष्टोऽस्ति । कथम् ? इति चेद् ,उच्यते—सूक्ष्माणां बादरवायुकायानामच्युतान्तानां देवानां च इहाप्रवेशात् , शेषजीवानां तु स्वस्थानतो लोकाऽसंख्येयभागमात्रवर्तित्वाच्चेति ।

शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः-गतिमार्गणास्थानस्य सर्वनरकसर्वपञ्चेन्द्रियतिर्यक्सर्वमनुष्य-नवग्रैवेयकपञ्चानुत्तररूपास्त्रिंशन्मार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य नवविकलाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियलक्षणा दशमार्गणाः, कायमार्गणास्थानस्य बादराणां पृथ्व्यप्तेजःप्रत्येकवनस्पतिसाधारणवनस्पतिकायिकानां प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भेदाः, अपर्याप्तत्रसकायश्च सर्वसंख्यया षोडशमार्गणाः, योगमार्गणास्थानस्याऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रलक्षणौ द्वौ भेदौ, मनःपर्यवज्ञानभेदः, संयममार्गणास्थानस्य संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-देशविरतिरूपाः पञ्च मार्गणाभेदाश्चेत्येताश्चतुःषष्टिमार्गणाः ॥४४५॥

तदेवमोघादेशाभ्यामष्टप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोर्बन्धकानां स्पर्शनां निरूप्य साम्प्रतं जघन्याऽजघन्याऽनुभागयोर्बन्धकानां स्पर्शनां व्याजिहीर्षुरादौ तावदोघतः प्राह—

पयडीण बंधगेहिं मंदऽणुभागस्स घाइगोआणं ।
लोगस्स असंखयमो भागो परिफोसिओ णेयो ॥४४६॥
सव्वजगं परिपुट्ठं विण्णेयं वेअआउणामाणं ।
इयरस्स बंधगेहिं पुट्ठं सव्वजगमट्ठण्हं ॥४४७॥

(प्रे०) **'पयडीण'** इत्यादि, घातिगोत्राणां-चतुर्घातिगोत्रलक्षणानां पञ्चप्रकृतीनां मन्दानुभागस्य जघन्यानुभागस्य बन्धकैर्लोकस्यासंख्यतमो भाग-एकासंख्यातभागः परिस्पृष्टो ज्ञेयः । कुतः ? उच्यते—घातिनीनां जघन्यानुभागबन्धकत्वेन क्षपकः प्रोक्तः गोत्रस्य पुनः सम्यक्त्वाभिमुखः सप्तमनारकः, तयोश्च मारणसमुद्घाताभावेन स्वस्थानक्षेत्राक्षिप्तायाः स्पर्शनाया लाभात् लोकस्यासंख्यतमो भागः स्पृष्ट इत्यभिहितम् ।

अथ वेदनीयायुष्कनामकर्मणामाह—**'सव्वजगं'** इत्यादि, वेदनीयायुर्नामप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य, बन्धकैरित्यनुवर्तते, सर्वं जगत् परिस्पृष्टं विज्ञेयम् , वेदनीयायुष्कनामप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जायमानत्वेन सूक्ष्मजीवानामपि तस्य बन्धसद्भावात् , सूक्ष्माणां च सर्वलोकव्यापित्वात् ।

इदानीमजघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शनां द्वितीयगाथाया उत्तरार्द्धेन प्रकटयति-**'इयरस्स'** इत्यादि, अष्टप्रकृतीनामितरस्य-जघन्यानुभागादितरस्याऽजघन्यानुभागस्य बन्धकैः सर्वं जगत् स्पृष्टम्, सूक्ष्मजीवानामपि तद्बन्धसद्भावादिति ॥४४६।४४७॥

चिन्तिता ओघतोऽष्टप्रकृतीनां जघन्या-ऽजघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शना, सम्प्रत्यादेशत आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां जघन्याजघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शनां वक्तुमुपक्रमते—

णिरयचरमणिरयेसुं मंदऽणुभागस्स घाइगोआणं ।
लोगासंखियभागो भागाऽत्थि छ वेअणामाणं ॥४४८॥

(प्रे०) **'णिरय'** इत्यादि, नरकसप्तमनरकमार्गणाद्वये चतुर्घातिगोत्रप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकैर्लोकस्यासंख्यातभागः स्पृष्टः, वेदनीयनाम्नोः पुनः षड्भागाः,स्पृष्टा इति शेषः । भावना पुनरेवम्—नरकसामान्यसप्तमनरकमार्गणाद्वये गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धकत्वेन सम्यक्त्वाभिमुखः सप्तमनारकोऽभिहितः,तस्य च मारणसमुद्घातासम्भवात् स्वस्थानक्षेत्रवत् स्पर्शना भवतीति,नरकसामान्यमार्गणायां घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन सर्वविशुद्धाः सम्यग्दृष्टिनारकाः प्रोक्ताः, ते च मारणसमुद्घातेन समुद्धताः सन्तस्तीव्रविशुद्धत्वात् स्वात्मप्रदेशान् मनुष्यलोकं यावत् प्रक्षिपन्ति, एवं स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोस्तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणत्वाभावात् तैर्लोकस्यैकासंख्यातभागः स्पृष्टो भवति, सप्तमनरके पुनः सम्यक्त्वावस्थायां मरणासंभवेन मारणसमुद्घातस्याप्रवर्तनात्

घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकानां स्वस्थानक्षेत्रवद् लोकैकासंख्यातभागमात्रा स्पर्शना भवतीति । एतन्मार्गणाद्वये वेदनीयनाम्नोर्जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन परावर्तमानपरिणामिनो जीवा भणिताः, ततः सप्तमनरकतः तिर्यग्लोके संज्ञितिर्यक्त्वेन समुत्पत्तुकामानां तेषां बन्धकानामपेक्षया प्रागुक्तप्रथमनियमसत्कदलद्वयस्य प्रवेशनेन षड् भागाः स्पर्शना भवति ॥४४८॥

अथ क्रमप्राप्तप्रथमनरकमार्गणायां प्रकृतस्पर्शनां दिदर्शयिषुस्तत्समानवक्तव्यत्वादन्यत्रापि सममेव तां गाथाद्वयेन आह—

आइमणिरयम्मि तहा गेविज्जाइगसुरेसु चउदससुं ।
वेउव्वमीसजोगे आहारदुगम्मि गयवेए ॥४४९॥
मणणाणसंयमेसुं समइअछेअपरिहारसुहमेसुं ।
लोगासंखियभागो परिपुट्ठो होइ सत्तण्हं ॥४५०॥

(प्रे०) '**आइमणिरयम्मि**' इत्यादि, आदिमनरके, तथाशब्दः समुच्चयार्थे, चतुर्दशसु ग्रैवेयकादिसुरेषु नवग्रैवेयकपञ्चानुत्तररूपेषु चतुर्दशदेवभेदेषु, वैक्रियमिश्रयोगे, आहारकद्विके-आहारकाऽऽहारकमिश्रयोगमार्गणाद्वये, गतवेदे-अपगतवेदे, मनःपर्यवज्ञानभेदे, संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसंपरायभेदेषु चेत्येतेषु पञ्चविंशतिमार्गणाभेदेषु सप्तप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकैर्लोकस्यैकासंख्यातभागः स्पृष्टो भवति । "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति"रितिन्यायादत्र सूक्ष्मसंपरायमार्गणायां षण्णामेव प्रकृतीनां बन्धसद्भावात् षट्प्रकृतीनां स्पर्शना कथयितव्या । घटना चेहेत्थम्-प्रथमनारकाणामुत्पादस्तिर्यग्लोके एव भवति,ततोऽपान्तरालक्षेत्रस्य लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रत्वात् प्रकृतबन्धकानामपि स्पर्शना लोकासंख्येयतमभागमात्रा भवति, ग्रैवेयकादिसुराणां गमनागमनक्षेत्रं न विद्यते,तेषां स्वस्थानं लोकासंख्यभागमात्रं पारभविकोत्पत्तिस्थानं च मनुष्यक्षेत्रमेव,तस्य क्षेत्रद्वयस्य तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणत्वाभावात् निरुक्तस्पर्शना घटते । वैक्रियमिश्रयोगे मारणसमुद्घाताभावात् गमनागमनाभावाच्च स्वस्थानक्षेत्रतुल्या प्रकृतबन्धकानां स्पर्शना भवति । आहारकयोगादिशेषनवमार्गणावर्तिजीवाः संयतमनुष्याः तेषां स्वस्थानस्य मनुष्यलोकमात्रत्वेन पारभविकोत्पत्तिस्थानस्य वैमानिकदेवलोकरूपत्वेन च स्थानद्वयस्य तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणत्वाभावात् सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शना लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रा भवतीति संक्षेपः, कासु कासु मार्गणासु प्रकृतबन्धकानां मारणसमुद्घातः प्रवर्तितुं युज्यते, कासु कासु मार्गणासु न युज्यते; यासु च न युज्यते तासु स्वस्थानक्षेत्रतुल्या स्पर्शना भवतीत्यादिविस्तरस्तु तत्तत्प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्वामिनं ज्ञात्वा यथासंभवमुत्कृष्टानुभागबन्धकवत् स्वयमेव कर्तव्यः ॥४४९।४५०॥

इदानीं द्वितीयादिपञ्चनरकेषु प्रस्तुतबन्धकानां स्पर्शनामाह—

दुइयाइणिरयपणगे असंखभागो जगस्स घाईणं ।
कमसो भागेगाई पण छुव्वीअ तिअघाईणं ॥४५१॥

(प्रे०)'**दुइयाइणिरयपणगे**'इत्यादि,'द्वितीयादिनिरयपञ्चके'-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठ-नरकलक्षणे निरयपञ्चके चतसृणां घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकैर्जगत एकासंख्यातभागः स्पृष्टः, त्र्यघातिप्रकृतीनां पुनः क्रमशः एकादयः पञ्चभागाः स्पृष्टाः, इदमुक्तं भवति-द्वितीयनरकमार्गणाया-मघातित्रयस्य जघन्यानुभागबन्धकैरेको भागः स्पृष्टः, तृतीयनरके पुनः द्वौ भागौ, चतुर्थनरके तु त्रयो भागाः, पञ्चमनरके च चत्वारो भागाः तथा षष्ठनरके पञ्च भागाः स्पृष्टाः, द्वितीयादिपृथ्वीनां तिर्यग्लोकत एकद्वयादिरज्जुभिरन्तरितत्वादिति ।

इदमत्र हृदयम्–अत्र घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकत्वेन सम्यग्दृष्टिनारकाः कथिताः तेषां चोत्पत्तिस्थानं मनुष्यक्षेत्रम्, ततो लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रा स्पर्शना घटते । अघाति-त्रयस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन परावर्तमानमध्यमपरिणामिनो नारका दर्शिताः, तेषां चोत्पत्तिः तिर्यग्लोके संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्वेनापि भवति,अतः पारभविकोत्पत्तिस्थानस्य तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाण-त्वात् तयोरपान्तरालक्षेत्रस्यैकादिरज्जुप्रमाणत्वाच्चैकादिभागप्रमाणा स्पर्शना प्राप्यत इति ॥४५१॥

सम्प्रति तिर्यग्गत्योघमार्गणायां प्रस्तुतस्पर्शनामाह—

तिरिये घाईणं पण भागा छुहिआऽत्थि वेअणामाणं ।
सव्वजगं परिपुट्ठं णेयं गोअस्स हीणजगं ॥४५२॥

(प्रे०) '**तिरिये**' इत्यादि, तिर्यग्गत्योघमार्गणायां चतसृणां घातिप्रकृतीनां जघन्यानु-भागबन्धकैः पञ्च भागाः स्पृष्टा भवन्ति, कुतः ? भण्यते–एतत्प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकानां देशविरततिरश्चां तीव्रविशुद्धिमद्भावेन सहस्रारकल्पे उत्पादो भवतीति कृत्वा । तथा '**वेअणामाणं**' इत्यादि, वेदनीयनामप्रकृत्योर्जघन्यानुभागबन्धकैः सर्वजगत् परिस्पृष्टं ज्ञेयम्, परावर्तमानमध्यम-परिणामेन तयोर्जघन्यानुभागबन्धस्य जायमानत्वेन सूक्ष्मजीवानामपि तस्य बन्धसद्भावात् । तथा '**गोअस्स हीणजगं**' इति गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धकैः हीनजगत्-देशोनलोकः स्पृष्टः, कथम् ? उच्यते–अत्र गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धो नीचैर्गोत्रेण सह प्राप्यते, तत्स्वामित्वेन तीव्र-विशुद्धा बादरतेजःकायिका बादरवायुकायिकाश्च लभ्यन्ते, तेभ्यो बादरवायुकायिकानां स्वस्थानतः क्षेत्रं देशोनलोकप्रमाणम्, अत एव तिर्यग्गतिमार्गणायां गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धकैर्हीनजगत् स्पृष्टमित्युक्तम् ॥४५२॥

अधुना त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणासु प्रकृतस्पर्शनां निर्वक्ति—

तिपणिंदियतिरियेसुं घाईणं बंधगेहि पणभागा।
फुसिआऽत्थि सव्वलोगो पुट्ठो तिण्हं अघाईणं ॥४५३॥

(प्रे०) **'तिपणिंदियतिरियेसु'** इत्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिमतीलक्षणासु तिसृषु मार्गणासु घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकैः पञ्च भागाः स्पृष्टा भवन्ति, भावना चात्रानन्तरोक्ततिर्यग्गत्योघमार्गणावत् कार्या । अथाघातित्रयस्य स्पर्शनां निरूपयति-**'सव्वलोगो'** इत्यादि, तिसृणामघातिप्रकृतीनां सर्वलोकः स्पृष्टः,कुतः ? उच्यते-अघातित्रयस्य जघन्यानुभागबन्धस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जायमानत्वात् सूक्ष्मतयोत्पित्सवोऽपि जीवास्तद्बन्धका भवन्ति। ततोऽतीतादिकालवर्त्यनन्तैः सूक्ष्मतया समुत्पित्सुभिः मारणसमुद्घातेन स्वोत्पत्तिस्थानं यावत् स्वात्मप्रदेशान् प्रसारयद्भिः तत्पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भिः सर्वलोकः स्पृष्टो भवतीति ॥४५३॥

साम्प्रतं कतिपयेषु देवगतेर्भेदप्रभेदेषु सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शनां चिकथयिषुराह—

सुरईसाणंतेसुं घाईणं बंधगेहि अडभागा।
परिपुट्ठा णेया नवभागा तिण्हं अघाईणं ॥४५४॥

(प्रे०) **'सुरईसाणंतेसु'** इत्यादि,देवसामान्यभेदे,ईशानान्तदेवेषु—भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवभेदेषु चेत्येतेषु षड्मार्गणाभेदेषु चतसृणां घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य बन्धकैरष्टौ भागाः परिस्पृष्टा ज्ञेयाः । तिसृणामघातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकैर्नव भागाः स्पृष्टा इति गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थः पुनरेवम्-अत्र घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धका अतिविशुद्धाः सम्यग्दृष्टिदेवाः, अतः समुद्घातप्रयुक्ताधिकस्पर्शनाया अलाभात् गमनागमनमाश्रित्य अष्टरज्जुस्पर्शना प्राप्यते, तस्याश्च भावना प्राग्वद् द्रष्टव्या । मारणसमुद्घातं प्राप्ता अघातित्रयस्य जघन्यानुभागबन्धका मध्यमपरिणामिन इति कृत्वा एकेन्द्रियतयाप्युत्पद्यन्ते , सिद्धशिलायां पृथ्वीकायतयोत्पित्सवस्ते मारणसमुद्घातेन तिर्यग्लोकादीषत्प्राग्भारापृथ्वीं यावन्निक्षिप्तस्वात्मप्रदेशदण्डा ऊर्ध्वलोकसत्काः सप्तरज्जूः स्पृशन्ति । अधोलोके तु तृतीयां पृथ्वीं यावद् गच्छन्ति ततस्तदपेक्षया रज्जुद्वयप्रमाणा स्पर्शना गमनागमनकृता भवति । इत्येवं जाता नव रज्जवः स्पर्शनेति ॥४५४॥

अधुना शेषदेवभेदेषु मिश्रे च सप्तकर्मणां प्रस्तुतस्पर्शनामाह—

सत्तण्ह अट्ठभागा सेससहस्सारअंतमीसेसुं ।
छुहिआ अत्थि छभागा सुरेसु चउआणताईसुं ॥४५५॥

(प्रे०) **'सत्तण्ह'** इत्यादि,शेषसहस्रारान्तदेवेषु-सनत्कुमारादारभ्य सहस्रारपर्यन्तेषु षट्सु देवभेदेषु मिश्रे च सप्तप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकैरष्टौ भागा गमनागमनतः स्पृष्टा भवन्ति । अथ चतुरानतादिदेवेषु प्रस्तुतस्पर्शनां दर्शयति— **'छ भागा'**इत्यादि,चतुरानतादिषु सुरेषु सप्तानां

जघन्यानुभागबन्धकैः षड् भागाः स्पृष्टाः । आनतादिदेवानां गमनागमनत इयं षड्रज्जुस्पर्शना ऊर्ध्वलोकसम्बन्धिनी द्रष्टव्या ॥४५५॥

साम्प्रतमेकेन्द्रियौघादिमार्गणासु प्रकृतस्पर्शनामाह—

एगिंदियवाऊसुं ताण सयलबायरेसु पंचण्हं ।
देसूणजगं पुट्ठं सव्वजगं वेअणामाणं ॥४५६॥

(प्रे०) 'एगिंदियवाऊसु' इत्यादि, एकेन्द्रियवायुकाययोः - एकेन्द्रियौघवायुकायौघमार्गणाद्वये, तयोः सकलबादरेषु, इदमुक्तं भवति—एकेन्द्रियमार्गणायाः सकलबादरभेदेषु, बादरौघपर्याप्ताऽपर्याप्तलक्षणेषु त्रिषु बादरभेदेष्वित्यर्थः, तथैव वायुकायमार्गणायाः सकलबादरभेदेषु सर्वमीलने चाष्टमार्गणासु पञ्चानां चतुर्घातिगोत्रप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकैर्देशोनं जगत् स्पृष्टम् , इयं हि स्पर्शना प्रागुक्तद्वितीयनियमस्य प्रवेशात् बादरवायुकायिकानां स्वस्थानक्षेत्रापेक्षया वेदितव्या । तथाहि—एकेन्द्रियचतुर्भेदेषु घातिचतुष्कस्य गोत्रस्य च जघन्यानुभागबन्धकतया बादरपर्याप्तवायुकायिका अपि प्राप्यन्ते, तेषां स्वस्थानक्षेत्रस्यैव देशोनलोकप्रमाणत्वात् बादरवायुकायस्वस्थानापेक्षया पञ्चानां प्रकृतीनां प्रस्तुतस्पर्शना लभ्यते, वायुकायिकभेदेषु तु एषा सुतरां सिद्धेति ।

अथ वेदनीयनामप्रकृत्योः प्रकृतबन्धकानां स्पर्शनां दर्शयति—'सव्वजगं वेअणामाणं' इति, वेदनीयनामप्रकृत्योर्जघन्यानुभागबन्धकैः सर्वं जगत् स्पृष्टम् , घटना त्वेवम्—एकेन्द्रियसामान्यवायुकायसामान्यभेदद्वये सूक्ष्मजीवाः प्रविष्टाः, ते च तत्प्रकृत्योर्जघन्यानुभागबन्धं विदधाति, ततः स्वस्थानत एव सर्वलोकः प्राप्यते । तयोर्बादरभेदेषु वेदनीयनाम्नोर्जघन्यानुभागं बध्नतां मारणान्तिकसमुद्घातसम्भवात् सूक्ष्मतयोत्पित्सव एते समुद्घातेन सर्वलोकं स्पृशन्तीति ॥४५६॥

इदानीं सर्वसूक्ष्मभेदेषु तथा यासु मार्गणासु सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शना ओघवद् भवति तासु गाथाद्वयेन प्राह—

सत्तण्हं सव्वजगं पुट्ठं सव्वसुहमेसु ओघव्व ।
तेउम्मि बायरेसुं तस्स य दुपणिंदियतसेसुं ॥४५७॥
पणमणवयकायणपुमकसायचउगतिअणाणअयतेसुं ।
चक्खुअचक्खुभवेसुं मिच्छे सण्णिम्मि आहारे ॥४५८॥

(प्रे०) 'सत्तण्हं' इत्यादि, 'सर्वसूक्ष्मेषु'-एकेन्द्रिय-पृथ्व्यप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतिकायिकानां प्रत्येकं सूक्ष्मौघ-पर्याप्ताऽपर्याप्तरूपेषु त्रिषु त्रिषु भेदेषु सर्वसंख्ययाऽष्टादशभेदेषु सप्तानां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकैः सर्वजगत् स्पृष्टम् ,सूक्ष्माणां स्वस्थानक्षेत्रस्य तावत्प्रमाणत्वात् ।

अथौघतुल्यवक्तव्योपेतासु मार्गणास्वाह—'ओघव्व' इत्यादि,ओघवत्—यथौघे घातिगोत्राणां

लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रा,वेदनीयनामप्रकृत्योः पुनः सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना निरूपिता तथैवात्र समानां जघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शना वेदितव्येति शेषः । कासु कासु मार्गणासु ? इत्याह- 'तेउम्मि' इत्यादि, तेजःकायौघमार्गणायां, तस्य च बादरेषु तेजःकायिकस्य बादरौघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तरूपासु तिसृषु मार्गणास्वित्यर्थः, 'द्विपञ्चेन्द्रिययोः'-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणाद्वये, द्वित्रसयोः-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायमार्गणाद्वये , पञ्चमनोयोगमार्गणासु,पञ्चवचनयोगमार्गणासु , काययोगमार्गणायाम् , नपुंसकवेदमार्गणायाम् , कषायमार्गणाचतुष्के, त्र्यज्ञानमार्गणासु, असंयममार्गणायाम् , चक्षुरचक्षुर्दर्शनमार्गणाद्वये, भव्यमार्गणायाम् , मिथ्यात्वमार्गणायाम् , संज्ञिमार्गणायाम् , आहारकमार्गणायां चेत्येतासु चतुस्त्रिंशद्मार्गणास्विति ।

इयमत्र भावना–अत्र तेजःकायौघ-काययोगनपुंसकवेदादिमार्गणासु सूक्ष्मजीवाः प्रविष्टाः, तेऽपि वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यानुभागबन्धं विदधाति, ततस्तासु मार्गणासु सूक्ष्मानाश्रित्य स्वस्थानतोऽपि सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना संजायते,यासु बादरतेजःकायपञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु पुनः सूक्ष्मजीवाः न सन्ति, तासु वेदनीयनाम्नोर्जघन्यानुभागबन्धकाः सूक्ष्मेष्वपि समुत्पद्यन्ते, ततस्तत्र मारणसमुद्घातेन वेदनीयनाम्नोर्जघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा प्राप्यते । तथा तेजःकायिकस्य चतुर्मार्गणासु चतुर्घातिगोत्राणां जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन बादरतेजःकायिकाः प्रोक्ताः तेषां च स्वस्थानक्षेत्रं मनुष्यक्षेत्रम् ,घातिगोत्राणां जघन्यानुभागबन्धकाले तीव्रविशुद्धिसद्भावेन ते जघन्यानुभागबन्धकाः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्ष्वेवोत्पद्यन्ते,तत ऊर्ध्वाऽधोऽपान्तरालक्षेत्रस्याभावादेकादिभागप्रमाणा स्पर्शना न प्राप्यते किन्तु लोकस्यैकासंख्यातभागप्रमाणा एव । प्रागुक्ततेजःकायिकसत्कचतुर्मार्गणावर्जशेषत्रिंशन्मार्गणासु गोत्रस्य सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमनारकाणां जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन,त्र्यज्ञाना-ऽसंयम-मिथ्यात्वलक्षणासु पञ्चसु मार्गणासु संयमाभिमुखमनुष्याणां घातिकर्मणां जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन, शेषपञ्चेन्द्रियादिपञ्चविंशतिमार्गणासु क्षपकाणां घातिकर्मणां जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन मारणसमुद्घाताऽसम्भवात् स्वस्थानक्षेत्राक्षिप्ता स्पर्शना लभ्यते सा च लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रा भवति, अत एव प्रागुक्तचतुस्त्रिंशन्मार्गणासु समानां जघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शना ओघतुल्या निर्दिष्टेति ॥४५७।४५८॥

साम्प्रतमौदारिकौदारिकमिश्रासंज्ञिमार्गणासु समानां जघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शनामाह–

उरलदुगअसण्णीसुं असंखभागो जगस्स परिपुट्ठो ।
घाईण अघाईणं फुसणा तिरियव्व बोद्धव्वा ॥४५९॥

(प्रे०) **'उरलदुग'** इत्यादि, औदारिकौदारिकमिश्रयोगाऽसंज्ञिमार्गणासु घातिनां जघन्यानुभागबन्धकैर्लोकस्यैकासंख्यातभागः परिस्पृष्टो ज्ञेयः । कुतः ? भण्यते–औदारिकमार्गणायां

घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकत्वेन क्षपकाः प्रोक्ताः, तत ओघवद् घटना द्रष्टव्या । औदारिकमिश्रमार्गणायां पुनः सम्यग्दृष्टयः प्रोक्ताः तेषां चापर्याप्तावस्थायां मरणाभावात् मारणान्तिकसमुद्घातो न प्रवर्तते, ततः प्रकृतबन्धकानां स्पर्शनायाः स्वस्थानत एव लभ्यमानत्वात् लोकस्यैकाऽसंख्यातभागमात्रा कथिता । असंज्ञिमार्गणायां तु तद्बन्धकास्तीव्रविशुद्धा असंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः प्रोक्ताः, मरणसमुद्घातगतैश्च तैर्यदा जघन्यरसो बध्यते तदा विशुद्धत्वात् तेषामुत्पादो भवनपतिव्यन्तरदेवरूपस्वप्रायोग्यप्रकृष्टस्थाने एव, एवं स्वस्थानपारभविकक्षेत्रयोरन्तरालस्य संख्येययोजनमात्रत्वेन स्पर्शना लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रा कथिता ।

अथाऽघातित्रयस्य जघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शनां तिर्यगोघवदतिदिशति-'**अघाईणं फुसणा तिरियव्व बोद्धव्वा**'अक्षरार्थः सुगमः । भावार्थस्त्वेवम्–एतन्मार्गणात्रये सूक्ष्मजीवा विद्यन्ते, तेऽपि वेदनीयनामप्रकृत्योर्जघन्यानुभागबन्धं विदधति, ततः स्वस्थानत एव सर्वलोकस्पर्शना लभ्यते, अत्र गोत्रस्य पुनः जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन बादरतेजःकायिका बादरवायुकायिकाःप्रोक्ताः, तेभ्यो बादरवायुकायिकानां देशोनलोकव्यापित्वात्तदपेक्षया गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शना देशोनलोकप्रमाणा भवति, अत एवैतन्मार्गणात्रये अघातित्रयस्य जघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शना तिर्यगन्योघवदभिहितेति ॥४५९॥

अधुना वैक्रिययोगमार्गणायां प्रस्तुतबन्धकानां स्पर्शनां निर्वक्ति—

विउवे घाईणं अड भागा फुसिआऽत्थि वेअणामाणं ।
तेरह असंखभागो जगस्स गोअस्स परिपुट्ठो ॥४६०॥

(प्रे०) '**विउवे**'इत्यादि, वैक्रिययोगमार्गणायां घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः सन्ति, एषा स्पर्शना विबुधानां गमनागमनक्षेत्रापेक्षया बोद्धव्या । कुतः ? भण्यते-अत्र घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकत्वेन सम्यग्दृष्टयो देवा कथिताः, अतो गमनागमनतो निरुक्तस्पर्शना घटत इति ।

तथा '**वेअणामाणं तेरह**' इति वेदनीयनाम्नोर्जघन्यानुभागबन्धकैस्त्रयोदश भागाः स्पृष्टाः । इयं च स्पर्शना इत्थं द्रष्टव्या–संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्वेन समुत्पित्सूनां सप्तमनारकानामपेक्षया ऽधोलोके षड्रज्जवः सिद्धशिलायां च पृथ्वीकायत्वेनोत्पत्तुकामानां भवनपत्यादिविबुधानामपेक्षया ऊर्ध्वलोके सप्तरज्जवश्चेति, समस्तास्त्रयोदश रज्जवः संजाता इति । अथ गोत्रस्य प्रकृतबन्धकानां स्पर्शनां दर्शयति–'**असंखभागो**' इत्यादि, इह गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धकैर्जगतः लोकस्यैकासंख्यातभागः परिस्पृष्टः । कथम् ? निगद्यते-अत्र गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धकत्वेन सम्यक्त्वाभिमुखाः सप्तमभूमिनारकाः प्रोक्ताः, सम्यक्त्वाभिमुखावस्थायां च तेषां मरणाभावात् स्वस्थानत एव स्पर्शना लभ्यते सा च लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रेति ॥४६०॥

सम्प्रति कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वये स्पर्शनां चिन्तयति—

कम्माणाहारेसुं घाईणं पंच फोसिआ भागा ।
गोअस्स छ परिपुट्ठा सव्वजगं वेअणामाणं ॥४६१॥

(प्रे०) 'कम्माणाहारेसु' इत्यादि, कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणयोर्घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकैः पञ्च भागाः स्पृष्टाः । इयमत्र भावना-एतन्मार्गणाद्वये घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामिविषये मतद्वयी प्राक् स्वामित्वद्वारे दर्शिता तत्र प्रथममतेनोपशमश्रेणितः पतित्वा विग्रहगत्या देवत्वेन समुत्पद्यमानाः सर्वविशुद्धाः सम्यग्दृष्टय उपात्ताः । द्वितीयमतेन तु सुविशुद्धाश्चतुर्गतिस्थसम्यग्दृष्टयः । अत्र ग्रन्थकारेण द्वितीयमतमवलम्ब्य स्पर्शना प्रदर्शिता, प्रथममतेन त्वित्थम्-इह श्रेणितः भवक्षयेण प्रतिपतन्तो जीवा घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन विवक्षिताः, ततस्तेषां स्पर्शना लोकास्यैकासंख्यातभागमात्रा एव लभ्यते, स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोरुभयोस्तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणत्वाभावात् । यद्यपि ते श्रेणितः प्रतिपतन्तोऽनुत्तरताविषं यावद् दैर्घ्येण सप्तरज्जुप्रमाणान् स्वात्मप्रदेशदण्डान् निक्षिपन्ति, तथापि प्रस्तुतस्पर्शनानिरूपणे घनरज्जुप्रमाण एको भाग इति विवक्षितत्वादत्रायामेन सप्तरज्जुप्रमाणत्वेऽपि विष्कम्भेन लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रत्वात् घनरज्जोरेकासंख्यातभागमात्रा स्पर्शना लभ्यते । अथ द्वितीयमतमवलम्ब्य भावना क्रियते—यद्यप्यत्र विग्रहगत्यापन्नाश्चतुर्गतिकाः सम्यग्दृष्टयः प्रकृतस्वामित्वेनाधिकृतास्तथाऽपि मूलोक्ताः पञ्चभागप्रमाणा स्पर्शना सहस्रारकल्पे समुत्पित्सूनां विग्रहगतिसमापन्नानां भूतपूर्वन्यायेन सम्यग्दृष्टितिरश्चामपेक्षया द्रष्टव्या । ते च कालं कृत्वा विग्रहगत्यां देवायुरुपभोगेन देवत्वेन व्यवह्रीयमाणा विद्यन्ते, अतो 'भूतपूर्वन्यायेन' इति बोध्यम् । तेषां च तिर्यग्गतिरूपं स्वनिर्गमस्थान तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणम्, स्वनिर्गमस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोरपान्तरालं च पञ्चरज्जुप्रमाणं ततः प्रथमनियमसत्कदलद्वयप्रवेशादत्र पञ्चभागाः स्पर्शना निरूपिता। साम्प्रतं गोत्रस्य प्रकृतस्पर्शनामाह-**'गोअस्स छ परिपुट्ठा'** गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धकैः षड् भागाः परिस्पृष्टाः तद्यथा—अत्र गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धकाः सर्वविशुद्धा विग्रहगत्यापन्नाः सप्तमनारकाः, ते च संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भ्य उद्वृत्य सप्तमपृथ्व्यां नारकत्वेन समुत्पत्तुकामाः, ततः प्रथमनियमसत्कदलद्वयस्य प्रवेशाद् षड् भागाः स्पृष्टा इत्यभिहितम् । अथ वेदनीयनाम्नोराह—**'सव्वजगं वेअणामाणं'** इति अत्र वेदनीयनाम्नोर्जघन्यानुभागबन्धकत्वेन सूक्ष्मजीवा अपि लभ्यन्ते, ततः सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना भणितेति ॥४६१॥

इदानीं यासु मार्गणासु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकैर्लोकस्यैकासंख्यातभागः स्पृष्टः, अघातित्रयस्य चाष्टौ भागाः स्पृष्टाः, तास्वाह—

णाणतिगे ओहिपउमसम्मखइअवेअगेसु तहुवसमे ।
घाईण असंखंसो जगस्स भागाऽट्ठ सेसाणं ॥४६२॥

(प्रे०) 'णाणतिगे' इत्यादि, 'ज्ञानत्रिके'मतिश्रुताऽवधिज्ञानलक्षणे, अवधिदर्शनपद्म-लेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-वेदकेषु, तथाशब्दः समुच्चयार्थे. उपशमसम्यक्त्वे चेत्येतासु नवमार्गणासु घातिनीनां जघन्यानुभागबन्धकैर्जगतः लोकस्यैकासंख्यांशः'शेषाणां'-अघातित्रयस्याष्टौ भागाः स्पृष्टा भवन्तीति गाथाऽक्षरार्थः ।

भावार्थः पुनरेवम्–अत्र घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामितयाऽप्रमत्तादिगुणस्थानवर्तिनः संयतमनुष्या लभ्यन्ते, तत्र ज्ञानत्रिकाऽवधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षायिकसम्यक्त्वमार्गणासु पुनः क्षपकाणामेव जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वात् , तेषां मारणान्तिकसमुद्घाताभावाच्च स्वस्थानत एव निरुक्तस्पर्शना लभ्यते, तथा पद्मलेश्यावेदकसम्यक्त्वोपशमसम्यक्त्वमार्गणासु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकानां संयतानां परभवगमनसंभवेन इलिकागत्या सहस्रारादिदेवलोकेषूत्पत्तिः संभवति, तथाप्युभयस्थानयोस्तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणत्वाभावेन, घनरज्ज्वादिलक्षणैकादिभागस्पर्शना न घटते, किन्तु लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रा एव प्राप्यत इति ।

ननु का नामेलिका गतिः ? उच्यते– इह द्विधा गतिः,कन्दुकगतिरिलिकागतिश्च । तत्र कन्दुकस्येव गतिः कन्दुकगतिः । किमुक्तं भवति ? यथा कन्दुकः स्वप्रदेशसंपिण्डित ऊर्ध्वं गच्छति, तथा जीवोऽपि कश्चित्परभवायुष उदये परलोकं गच्छन् स्वप्रदेशानेकत्र संपिण्डय गच्छति । अथ इलिकाया इव गतिरिलिकागतिः । यथा इलिका पुच्छदेशमपरित्यजन्ती, मुखेनाग्रेतनं स्थानं शरीरप्रसारणेन संस्पृश्य ततः पुच्छं संहरति, एवं जीवोऽपि कश्चित्स्वभवान्तकाले स्वप्रदेशैरुत्पत्तिस्थानं संस्पृश्य परभवायुःप्रथमसमये प्राक्तनशरीरं परित्यजति इति ।

इहाघातित्रयस्य जघन्यानुभागबन्धकत्वेन विबुधा अपि प्राप्यन्ते, तेषां च गमनागमनक्षेत्रमष्टरज्जुप्रमाणं भवति, अत एव तदपेक्षयाऽष्टौ भागाः स्पृष्टा इति प्रत्येयमिति ॥४६२॥

अधुना देशविरतिमार्गणायां सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकैः कियत्क्षेत्रं स्पृष्टं तद् दर्शयति–

लोगासंखियभागो छुहिओ देसम्मि घाइगोआणं ।
परिपुट्ठा पण भागा विण्णेया वेअणामाणं ॥४६३॥

(प्रे०) **'लोगासंखियभागो'** इत्यादि, देशविरतिमार्गणायां चतुर्घातिगोत्राणां जघन्यानुभागबन्धकैर्लोकासंख्येयभागः स्पृष्टः । कथम् ? उच्यते-इह घातिनीनांजघन्यानुभागबन्धकत्वेन संयमाभिमुखा मनुष्याः कथिताः, गोत्रस्य पुनः मिथ्यात्वाभिमुखास्तिर्यञ्चो मनुष्या वा निर्दिष्टाः, ते च संयमाभिमुखावस्थायां मिथ्यात्वाभिमुखावस्थायां वा वर्तमाना न म्रियन्ते,अतो भवस्था एव गृह्यन्ते ततो लोकस्यैकासंख्यातभागमात्रा स्पर्शना घटते । अथ वेदनीयनाम्नोराह–**'परिपुट्ठा'**इत्यादि, वेदनीयनामप्रकृत्योर्जघन्यानुभागबन्धस्वामितया परावर्तमानमध्यमपरिणामिनस्तिर्यञ्चो मनुष्या

वा लभ्यन्ते, ततः सहस्रारकल्पे समुत्पन्नमनसां तिरश्चामपेक्षया निरुक्तस्पर्शना वेदितव्या, यतो हि तेषां स्वस्थानस्य तिर्यक्प्रतररज्जुप्रमाणत्वेन स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानयोरपान्तरालक्षेत्रस्य पञ्चरज्जुप्रमाणत्वेन च प्रथमनियमसत्कदलद्वयस्य प्रवेशो भवतीति ॥४६३॥

एतर्हि कृष्ण-नील-कापोताख्यासु त्र्यशुभलेश्यासु मप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शनां कथयति—

घाईण कुलेसासुं भागाऽट्ठ परे उ जगअसंखंसो ।
किण्हाअ अघाईणं ओघव्व तिरिव्व णीलकाऊसुं ॥४६४॥ [गीतिः]

(प्रे०) 'घाईण' इत्यादि, 'कुलेश्यासु'-कृष्ण-नील-कापोतरूपासु त्र्यशुभलेश्यामार्गणासु घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः, इयं हि स्पर्शना सुराणां गमनागमनतो द्रष्टव्या। अत्रैव मतान्तरमुपक्षिपन्नाह–'परे उ'इत्यादि,अपर्याप्तावस्थाया अन्यत्र वर्तमानानां देवानामशुभलेश्या अस्वीकुर्वन्तः परे-अन्ये तुः-पुनः प्रस्तुताशुभलेश्यामार्गणात्रये घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शना 'जगअसंखंसो' इति जगतः-लोकस्याऽसंख्यभागो भवतीति वदन्ति, कथम् ? इति चेद् , तन्मतेऽशुभलेश्यामार्गणात्रये देवानां घातिजघन्यानुभागबन्धस्वामितयाऽलाभेन तदीयगमनागमनक्षेत्राक्षिप्ताऽष्टरज्जुस्पर्शनाया अयोगात् , शेषजीवापेक्षया तु सा लोकासंख्येयभागमात्रैव प्राप्यते, न च मा भवतु यथोक्तनीत्या देवानां प्रस्तुतमार्गणाभाविघातिजघन्यानुभागबन्धस्वामितयाऽलाभेन तदीयगमनागमनक्षेत्रापेक्षया लभ्यमानाऽष्टरज्जुस्पर्शना,किन्तु मारणसमुद्घातेन तिर्यग्लोकं यावन्निक्षिप्तस्वात्मप्रदेशानां नारकाणां स्पर्शनापेक्षया सा षड्रज्जुप्रमाणा तु लभ्येत इति वाच्यम् । नारकाणामपि सम्यक्त्वे सति घातिजघन्यरसबन्धभावेन ततश्च्युत्वा तिर्यग्लोके सर्वत्रोत्पत्तिर्न सम्भवति, किन्तु मनुष्यलोके एव सम्भवति, तथा च मारणसमुद्घातेनाऽपि मनुष्यलोके एव निक्षिप्तस्वात्मप्रदेशास्ते लोकासंख्येयभागमेव स्पृशन्ति, न पुनस्तदधिकं क्षेत्रम् , स्वस्थानमिव तदीयपारभविकोत्पत्तिस्थानस्यापि मनुष्यलोकमात्रवर्तित्वेन तिर्यक्प्रतरासंख्येयभागमात्रवर्तित्वादिति ।

अथ कृष्णलेश्यायामघातित्रयस्य जघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शनामोघवद् तथा नीलकापोतमार्गणाद्वये तिर्यग्गत्योघवदतिदिशति–'किण्हाअ' इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः । भावार्थः पुनरेवम्–यथा ओघे वेदनीयनाम्नोः सर्वलोकप्रमाणा तथा गोत्रस्य लोकैकासंख्यातभागमात्रा स्पर्शना कथिता, तथात्र कृष्णलेश्यायां तत्तत्प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शना वेदितव्या, उभयत्र जघन्यानुभागबन्धस्वामिनां तुल्यत्वादिति भावः । अथ नीलकापोतलेश्याद्वये तिर्यग्गत्योघवत् प्रदर्श्यते-तिर्यग्गत्योघमार्गणायां वेदनीयनाम्नोः सर्वलोकप्रमिता, तथा गोत्रस्य देशोनलोकप्रमाणा स्पर्शना यथा निर्दिष्टा, तथैवात्र नीलकापोतलेश्याद्वये तत्तद्जघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शना बोद्ध-

ष्या, इहापि वेदनीयनाम्नोर्जघन्यानुभागबन्धकत्वेन सूक्ष्मजीवाः प्राप्यन्ते ततः सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना घटते, गोत्रस्य पुनर्जघन्यानुभागबन्धकत्वेन तेजःकायिका वायुकायिका वा भणिताः, ततोऽत्रापि प्रकृतस्वामिनां तुल्यत्वात् तिर्यग्गत्योघवदघातित्रयस्य जघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शनाऽतिदिष्टेति ।।४६४।। इदानीं तेजःशुक्ललेश्यामार्गणाद्वये स्पर्शनां दर्शयति—

तेउसुइलासु फुसिओ असंखभागो जगस्स घाईणं ।
तिण्ह अघाईण कमा भागा णव छ छिविआ णेया ।।४६५।।

(प्रे०) '**तेउसुइलासु**' इत्यादि, तेजःशुक्ललेश्यामार्गणाद्वये घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकैर्जगतः-लोकस्यासंख्येयतमभागः स्पृष्टः, कथम् ? भण्यते—तेजोलेश्यायां घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धका अप्रमत्तमुनयः,शुक्ललेश्यायां पुनः क्षपकाः,ततो लोकासंख्यातभागमात्रा स्पर्शना प्रकटिता । अथ निरुक्तमार्गणाद्वये तिसृणामघातिनीनां स्पर्शनां व्याहरति-'**तिण्ह अघाईण**' इत्यादि, तिसृणामघातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकैः क्रमात्-यथाक्रमं नव भागाः, षड्भागाश्च स्पृष्टा ज्ञेया । इदमुक्तं भवति—तेजोलेश्यायामघातित्रयस्य जघन्यानुभागबन्धकानां नवभागाः स्पर्शना विज्ञेया, सिद्धशिलायां पृथिवीकायत्वेनोत्पत्तुकामानां भवनपत्यादिदेवानामपेक्षया ऊर्ध्वलोके सप्तभागा स्पर्शना लभ्यते,द्विभागप्रमाणा स्पर्शना चाधोलोके तृतीयपृथ्वीं यावद् गमनागमनेन प्राप्यते, सर्वमीलने च नवभागाः स्पर्शना संजातेति । शुक्ललेश्यायां पुनः षड्भागप्रमाणाऽवसेया, इयं हि स्पर्शना शुक्ललेश्याकानतादिदेवानां गमनागमनापेक्षया ज्ञातव्या ।।४६५।।

साम्प्रतमभव्यमार्गणायामाह—

चउघाईण अभविये फुसिया भागाऽट्ठ वेअणामाणं ।
सव्वजगं परिपुट्ठं गोअस्स छ फोसिआ भागा ।।४६६।।

(प्रे०) '**चउघाईण**' इत्यादि, अभव्यमार्गणायां चतुर्घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः, इयमत्र भावना-अभव्यमार्गणायां घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धस्वामिविषये मतद्वयं वर्तते, तत्र प्रथममते द्रव्यसंयताः प्रोक्ताः ततस्तन्मतमाश्रित्य लोकासंख्यातभागमात्रा स्पर्शना भवति,किन्तु ग्रन्थकारेण तन्मतमाश्रित्यप्ररूपणा न कृता । द्वितीयमतेन तु प्रकृतबन्धकत्वेन सर्वविशुद्धाश्चतुर्गतिकजीवाः प्रोक्ताः, ततो देवानां गमनागमनक्षेत्रमधिकृत्योत्कृष्टस्पर्शनाया लाभात् तदपेक्षया भावना विधेयेति । अथ वेदनीयनाम्नोराह—'**वेअणामाणं**' इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः । अत्राभव्यमार्गणावर्तिसूक्ष्मजीवानामपि वेदनीयनाम्नोर्जघन्यानुभागबन्धसद्भावेन सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना कथिता । गोत्रस्य दर्शयति—'**गोअस्स छ फोसिया भागा**' इति गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धकैः षड् भागाः स्पृष्टाः, गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धकत्वेन तीव्रविशुद्धाः सप्तम-

नारकाः प्रोक्ताः, ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु समुत्पद्यमानैस्तैर्मारणसमुद्घातेन षड्भागाः स्पृष्टा भवन्तीति भावः ॥४६६॥ सम्प्रति सास्वादनमार्गणायां सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शनां निर्वक्ति—

सासाणे घाईणं पुट्ठा भागाऽट्ठ वेअणामाणं ।
बारह गोअस्स भवे जगस्स भागो असंखयमो ॥४६७॥

(प्रे०) 'सासाणे' इत्यादि, सास्वादनमार्गणायां घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकैरष्टौ भागाः स्पृष्टाः । सा च स्पर्शना देवानां गमनागमनतो वेदितव्या, कुतः ? सास्वादनगुणस्थानां देवानामपि घातिचतुष्कसत्कजघन्यरसस्य बन्धकत्वात् ।

अथ वेदनीयनाम्नोराह–'वेअणामाणं बारह' इति वेदनीयनाम्नोर्जघन्यानुभागबन्धकैर्द्वादशभागाः स्पृष्टाः । इयमत्र भावना–वेदनीयनाम्नोर्जघन्यानुभागबन्धस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जायमानत्वेन तं कुर्वन्तो जीवाः कालं कृत्वा स्वप्रायोग्यसर्वस्थानेषु गन्तुं शक्नुवन्ति, ततश्च सास्वादनगुणस्थानां षष्ठनारकाणां संज्ञितिर्यग्भवे समुत्पत्तिसंभवेन मारणसमुद्घातेनाधोलोकसत्काः पञ्चभागाः स्पर्शना लभ्यते, ऊर्ध्वलोके पुनः सिद्धशिलायां पृथ्वीकायत्वेनोत्पित्सुभिर्भवनपत्यादिभिः कृता सप्तभागाः स्पर्शना प्राप्यते, इति समस्ता द्वादशभागाः स्पर्शना भवति । इह प्रायः सास्वादनभावमापन्नानामधोलोके उत्पत्तिर्न जायते ततोऽधोलोकसत्कां षड्रज्जुस्पर्शनां विहाय पञ्चरज्जुस्पर्शना गृहीतेति । तथा 'गोअस्स भवे' इत्यादि , गोत्रस्य जघन्यरसबन्धकैर्जगतः-लोकस्यासंख्येयतमो भागः स्पृष्टो भवेत् । अत्र गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धकत्वेन सप्तमनारकाः प्रोक्ताः ते च सास्वादनभावे सति न म्रियन्ते , ततः स्पर्शना स्वस्थानमेवाश्रित्य, अत एव लोकासंख्यभागमात्रा स्पर्शना प्रदर्शिता ॥४६७॥

सम्प्रति शेषमार्गणासु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकैर्लोकस्यासंख्यातभागः, अघातित्रयस्य बन्धकैश्च सर्वलोकः स्पृष्ट इत्येतदेकया गाथया प्राह—

सेसासु घाईणं असंखभागो जगस्स परिपुट्ठो ।
सव्वजगं परिछुहिअं णेयं तिण्हं अघाईणं ॥४६८॥

(प्रे०) 'सेसासु' इत्यादि, 'शेषासु'प्रागुक्तषट्त्रिंशदुत्तरशतमार्गणा वर्जयित्वा चतुस्त्रिंशन्मार्गणास्वित्यर्थः । घातिनीनां जघन्यानुभागबन्धकैर्लोकस्यासंख्यातभागः परिस्पृष्टः । तथा तिसृणामघातिप्रकृतीनां सर्वजगत् परिस्पृष्टं ज्ञेयमिति । इदमत्र बीजम्-घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकत्वेन त्रिमनुष्यस्त्रीपुरुषवेदमार्गणासु क्षपकाः प्राप्यन्ते, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगाद्येकोनत्रिंशद्मार्गणासु जघन्यानुभागबन्धकाले तीव्रविशुद्धिसद्भावेन तद्बन्धकानां समुत्पत्तिर्मनुष्येष्वेव भवति, अत एव घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकानामियन्मात्रा स्पर्शना प्रतिपादिता । इहाघातित्रयस्य जघन्यानुभागबन्धः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन भवति ततश्च कासुचिद्मार्गणासु तज्जघन्यानु-

भागबन्धकत्वेन सूक्ष्मजीवानां लाभात् तथा कासुचिन्मार्गणासु सूक्ष्मजीवानामप्रवेशेऽपि तत्र तज्जघन्यानुभागबन्धकानामुत्पादस्य सूक्ष्मेषु सद्भावात् एतासु सर्वमार्गणासु अघातित्रयस्य जघन्यानुभागबन्धकस्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा भवति ।

शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः—गतिमार्गणास्थानस्याऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-सर्वमनुष्यभेदलक्षणाः पञ्चमार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य नवविकलाक्षापर्याप्तपञ्चेन्द्रियरूपा दशमार्गणाः, कायमार्गणास्थानस्य पृथ्वीकायौघ-बादरपृथ्वीकायत्रिभेदाऽप्कायौघबादरा-ऽप्कायत्रिभेद-वनस्पतिकायौघ-प्रत्येकवनस्पतिकायत्रिभेद-साधारणवनस्पतिकायौघ-बादरनिगोदत्रिभेदा-ऽपर्याप्तत्रसकायलक्षणाः सप्तदशमार्गणाः, वेदमार्गणास्थानस्य स्त्रीपुरुषवेदलक्षणे द्वे मार्गणे चेत्येताश्चतुस्त्रिंशद्मार्गणा इति ॥४६८॥

तदेवं सर्वासु मार्गणासु सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शनामभिधाय, साम्प्रतं सप्तानामजघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शनां सर्वासु मार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धकवदतिदिशन्नाह—

सव्वासु मग्गणासुं सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं ।
अजहण्णरसस्स भवे फुसणा-ऽतिव्वाणुभागव्व ॥४६९॥

(प्रे०) '**सव्वासु**' इत्यादि, सर्वासु मार्गणासु-सप्तत्युत्तरशतमार्गणासु आयुर्वर्जानां 'स्वप्रायोग्यानां' यासु मार्गणासु यावतीनां प्रकृतीनां बन्धो भवति तावतीनां प्रकृतीनामजघन्यरसस्य बन्धकानां स्पर्शनाऽतीव्रानुभागवद् भवेत् । कुतोऽजघन्यरसबन्धकानां स्पर्शना सर्वथाऽनुत्कृष्टरसबन्धकवत् ? इति चेद्, उच्यते-अनुत्कृष्टरसबन्धवत् सर्वेषां जीवानां सर्वावस्थायां चाजघन्यरसबन्धस्य सम्भवादिति ॥४६९॥

इत्थमादेशतः सप्तानां जघन्याजघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शना प्रतिपादिता । इदानीमादेशत आयुष्कस्य जघन्याजघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शनां सापवादमतिदिशति—

मंदियराण रसाणं फुसणाऽणुक्कोसियाणुभागव्व ।
आउस्स होइ सव्वह णवरं मंदाणुभागस्स ॥४७०॥
लोगासंखियभागो छिविओ अत्थि दुपणिंदियतसेसुं ।
पणमणवयपुमथीसुं विब्भंगे चक्खुसण्णीसुं ॥४७१॥

(प्रे०) '**मंदियराण**' इत्यादि, आयुष्कस्य 'मन्देतरयोः'-जघन्याजघन्ययोः रसयोर्बन्धकानां स्पर्शनाऽनुत्कृष्टानुभागवद् भवति, **इदमुक्तं भवति**-यासु यासु मार्गणास्वायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धकानां यावती लोकासंख्येयभागादिप्रमाणा स्पर्शना प्रतिपादिता, तासु तासु मार्गणास्वायुष्कस्य जघन्याजघन्यानुभागयोर्बन्धकानां तावती स्पर्शना वेदितव्या ।

तत्र जघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शनाविषये साम्यताबाहुल्येन लाघवार्थमतिदेशे कृते या काचिद-तिप्रसक्तिः समापतिता तां निराचिकीर्षुरपवादं दर्शयति-'णवरं'इत्यादि, नवरं'मन्दानुभागस्य'जघन्यानुभागस्य बन्धकैर्लोकासंख्यातभागः स्पृष्टोऽस्ति । कासु कासु मार्गणासु ? इत्याह–'दुपणिंदियतसेसु" इत्यादि, द्विपञ्चेन्द्रिययोः-पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणाद्वये, द्वित्रसयोः-त्रसकाय-पर्याप्तत्रसकायमार्गणाद्वये,पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगमार्गणासु स्त्रीपुरुषवेदमार्गणाद्वये,विभङ्गज्ञानमार्गणायाम् , चक्षुर्दर्शनमार्गणायां संज्ञिमार्गणायां चेत्येतास्वेकोनविंशतिमार्गणास्विति । कुतः ? उच्यते-एतासु मार्गणास्वायुषोऽनुत्कृष्टानुभागबन्धस्वामितया देवानां लाभेऽपि तस्य जघन्यानुभागस्वामितया तु ते न प्राप्यन्ते, अतो या देवानां गमनागमनक्षेत्रापेक्षयाऽनुत्कृष्टानुभागबन्धकानां स्पर्शना सा जघन्यानुभागबन्धकस्पर्शनातया न प्राप्यते मार्गणाप्रविष्टशेषजीवापेक्षया लभ्यमाना तु सा लोकासंख्यभागमात्रैव भवतीति अपोद्य तथैवाभिहितेति । इत्थं हि अपोदिते—

"देवऽट्ठमंतसुरदुपणिंदितसपणमणवयणविउव्वेसु । पुमथीतिणाणविब्भंगोहिणयणतेउपम्हासु ॥
सम्मत्तखइअवेअगसासणसण्णीसु अट्ठ छिव्वीअ" .... ॥४४३-४॥

इत्यनेनाभिहिताभ्यो द्विचत्वारिंशन्मार्गणाभ्य आयुषो जघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शना द्विपञ्चेन्द्रियाद्येकोनविंशतिमार्गणासु लोकासंख्यातभागमात्रा कथिता । शेषदेवादित्रयोविंशतिमार्गणासु तु आयुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शनाऽष्टभागप्रमाणा एव । सार्धगाथोक्तद्वाचत्वारिंशदात्मकसर्वमार्गणासु आयुष्कस्याजघन्यानुभागबन्धकानां स्पर्शना तु अष्टभागप्रमाणैव तथा 'परिफोसिआ छभागा चउआणताइसुक्कासु" इति गाथार्धेनानतादिपञ्चमार्गणास्वायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धकानां षड्भागस्पर्शना कथिता तथैवात्र जघन्याजघन्यानुभागयोः षड्भागाः स्पर्शना वक्तव्या । तथा

"तिरिये एगिंदियपणकायनिगोएसु सव्वसुहुमेसु । कायउरलदुगणपुमचउकसायदुअणाणअयतेसु ॥४४१॥
अणयणअसुहतिलेसाभवियरमिच्छअमणेसु आहारे । सव्वो लोगो छुविओऽणुक्कोसरसस्स आउस्स" ॥४४२॥

इति गाथाद्वयेन षट्चत्वारिंशन्मार्गणासु सर्वलोकप्रमाणा स्पर्शना भणिता, तथैवात्र जघन्याजघन्यानुभागयोरभिधातव्या ।

तथा "देसूणजगं बायरएगिंदियवाउसव्वभेएसु" इति गाथार्धेन षड्मार्गणासु देशोनलोकप्रमाणा स्पर्शना गदिता, तथैवात्र जघन्याजघन्यानुभागयोः कथनीया,तथा "लोगस्स असंखयमो भागो छुहिओऽत्थि सेसासु" ॥४४५॥ इति गाथार्धेन सर्वनरकादिशेषचतुःषष्टिमार्गणासु लोकस्यैकासंख्यभागमात्रा स्पर्शना प्रदर्शिता, तथैवात्र जघन्याजघन्यानुभागयोर्भणितव्येति ॥४७०।४७१॥

प्रस्तुतद्वारोक्तार्थसंग्रहपराणि स्पर्शनाप्रदर्शकयन्त्रकाणि त्वेवम्–卐

तदेवं समर्थिता सर्वासां मूलप्रकृतीनां जघन्याजघन्यानुभागयोर्बन्धकानां स्पर्शना । तत्समर्थितायां चौघादेशाभ्यामष्टानां जघन्याजघन्यानुभागयोरुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोश्च स्पर्शना समाप्ता । तत्समाप्तौ च गतम् 'फोसणा' इत्यनेनोद्दिष्टं चतुर्दशद्वारम् ।

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे प्रथमाधिकारे चतुर्दशं स्पर्शनाद्वारं समाप्तम् ॥

---

४२ 卐 स्पर्शनाप्रदर्शकयन्त्रकाणि दिदृक्षवः पाठकाः पश्यन्तु ३३० तमादीनि पृष्ठानि ।

❀ आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य बन्धकानां स्पर्शनाप्रदर्शकं यन्त्रम् ❀

ओघत –घातिचतुष्कस्योत्कृष्टरसबन्धकैः १३ रज्जवः स्पृष्टा., अघातित्रयस्य तु लोकैकाऽसंख्यभाग स्पृष्ट.। (गाथा४१३-४ ५)

४घाति०–६ रज्जु०		卐	९ रज्जु०	लोकाऽसंख्य-भाग	६ रज्जु०	८ रज्जु०	सर्वलोकः	सर्वलोक	आघवत्०	सर्वलोक
३अघाति०–लोकाऽसंख्यभाग		लोकाऽसंख्यभाग०	८ रज्जु०	,,	५ रज्जु०	,,	गा.लो.अ-स.भा.। वे. नामदे.लो	,,	,,	लोऽसं. भागः
गति०	नरकौघ० सप्तमनरक० २	द्वितीयादि-षष्ठान्त-नरक० ५	देवौघ० ईशा-नान्तदेव०=६	प्रथमनरक-त्रिमनु ६ग्रैवे.-५अनु.=१८	अपर्याप्तवर्ज ति.र्यग्. ४ ★	श।हस्रारान्त.६ आनतादि-४d पञ्च.ना-६रज्जु०				अपपचे तिर्यग् अपया प्त.मनु. २
इन्द्रिय०						वा[illegible] सर्वलोकः वेद. नाम्नो ●ef	एकेन्द्रियौघ तद्बादर सर्व =४	त्रिसूक्ष्मैकेन्द्रिय. ३	द्विप ञ्चे २	सव-यवल. अप [illegible] =१०
काय०					नवरं–४घाति११ रज्जु १२ गा ८	तेजोवायु ओघ तत्सर्वबादर० ८of	वा १३ रज्जु. अघा. ८र.g	पञ्चस्था-दिसर्व-सू.भेद =१५	द्वित्रस २	शेष० १७ ❀
योग०	औदा-रिक० १		घाति०-८ रज्जु.अघाति-लोकाऽसंख्यभा b	औदा.मिश्र, वै मिश्र, आहा. तन्मिश्र.=४	कार्मण.१		वैक्रि १		[illegible] योगी ११	
वेद०	नपु० १	स्त्री० १		अवेद० १					पु०१	
कषाय०									सवे ४	
ज्ञान०			त्रिज्ञान३	मन पर्यव० १					३ज्ञा३	
संयम०				असंयमवर्ज ६					[illegible] १	
दर्शन०			अवधि० १							
लेश्या०	शुक्ल०१	शेष ५ *							[illegible] २	
भव्य०	घा -१२ रज्जु अ-घा.-८,, मा १ [illegible]						अभ १		भव्य १	
सम्य०			सम्य.क्षा वेद.उप ४			मिश्र० १ (सहस्रारवत्)			मि. १	
संज्ञि०				असंज्ञि० १					संज्ञि १	
आहार०					अनाहार १				आहा १	
सर्वमार्गणा	–५+१०	११	८b+६	३१	४+२०	७+d४+e४+f४	४+२g	१८	३०	२६
गाथाङ्क.	–४१६-३३	४१७-३१	४१८-२२	४१९-२०	४२१-३०	४२२-३-७-८	४२३-९	४२५	४२५६	४३४

卐 चतुर्घातिना स्पर्शना इत्थम्-द्वितीयनरके १ रज्जु०, तृतीये-२ रज्जु०, चतुर्थे-३रज्जु०,पञ्चमे ४ रज्जु० षष्ठे-५रज्जु स्त्रीवेदे १२ रज्जु०, पद्मलेश्यायाम्-८रज्जु०, तेज.कापोतद्वये ९रज्जु०,(गाथा४१७)नील०-११रज्जु०,कृष्ण-१३रज्जु।

* मतान्तरे कृष्ण-नील-कापोतलेश्यासु घातिनां स्पर्शना यथाक्रमं ६ रज्जु०, ४ रज्जु० २ रज्जु०। तथाऽशुभलेश्या-त्रये अघातित्रयस्य स्पर्शनाऽष्टरज्जुप्रमाणा मतान्तरेण लोकासंख्यभागप्रमाणा ज्ञेया। (गाथा ४३१-२)

★ तिर्यग्योनिमतीभेदे घातिना स्पर्शना ५ रज्जु०। (गाथा-४२१)

● तेजसौघ तद्बादरभेदेषु वेदनीयनाम्नोः स्पर्शना लोकाऽसंख्यभाग०. वायुकायौघतद्बादरभेदेषु तु देशोनलोकः।

❀ शेष १७ मार्गणाः-पृथ्व्यब्निगोदौघ-तत्तद्बादरत्रित्रिभेद ७=१२+वनौघ-त्रिप्रत्येकवन०-अपर्याप्तत्रसकायरूपाः।

※ सप्तकर्मणामनुत्कृष्टाजघन्यरसयोः आयुषश्च चतुर्विधरसानां बन्धकानां स्पर्शनाप्रदर्शकं यन्त्रम् ※

ओघतः—सप्तानामनुत्कृष्टाऽजघन्यरसबन्धकानां स्पर्शना सर्वलोक. । **आयुष**.उत्कृष्टरसबन्धकानां स्पर्शना लोकस्यैकोऽसंख्यभाग , शेषानुत्कृष्टजघन्येतररसबन्धकानां तु सर्वलोकः

	सप्तानामनुत्कृष्टाजघन्य०			उत्कृष्टरसस्य ←आयुष				→आयुष अनुत्कृष्टजघन्याऽजघन्यरसानाम्				
	आतिनामुत्कृष्टरसबन्धकानां स्पर्शनावत्	५रज्जु.	सर्वलोक:	८रज्जु	६ रज्जु०	सर्वलो.	लोकासंख्यभाग	सर्वलोक:	८ रज्जु	७ रज्जु०	देशोन लोक:	लोकाऽसंख्यभाग:
गति०	सर्वनरक०सर्वदेव० ३८		सर्वतिर्यङ्मनु० ९	दे०सह आगत १२	आनता०४		शेष० ३१	तिर्यगोघ: १	देव० सहस्रारान्त १२	आनतादि ४		शेष० ३०
इन्द्रिय०			सर्व० १९		देशोन लोक	त्रिसूक्ष्म०३	शेष० १३	एके त्रिसूक्ष्म० ४	*द्विपञ्चे० २		त्रिबादरैके० ३	शेष० १०
काय०			सर्व० ४२		वायु त्रिबा. वायु= ४	सर्वसूक्ष्म. १५	शेष० २३	पृथ्व्यादिपञ्चोघ० सर्वसूक्ष्म० १५-निगोदौघ० =२१	*द्वित्रस० २		त्रिबादरवायु० ३	शेष० १६
योग०	वैक्रिय-तन्मिश्र० आहा०तन्मिश्र० ४		शेष० ११	वैक्रिय. १			शेष०१५	काय.औ.तन्मिश्र० =३	सर्वमनोवचो० * वैक्रिय ११			आहा० तन्मिश्र० २
वेद०	अवेद० १		त्रिवेद० ३				त्रिवेद० ३	नपुं०१	* स्त्री०पु०२			
कषाय०			सर्व० ४				सर्व० ४	सर्व० ४				
ज्ञान०	ज्ञान० ४		अज्ञान० ३				सर्व० ७	द्व्यज्ञान० २	*त्रिज्ञान.वि. ४			मन.पर्यव० १
संयम०	संयम सामा.छेदो परि० सूक्ष्म० ५	देशवि १	असंयम० १				सर्व० ६	असंयम० १				शेष० ५
दर्शन०	अवधिद० १		चक्षुरचक्षु. २				सर्व० ३	अचक्षु० १	* चक्षुरवधि. २			
लेश्या०	शुभ० ३		अशुभ० ३				सर्व० ६	अशुभ० ३	तेज पद्म०२	शुक्ल० १		
भव्य०			सर्व० २				सर्व० २	सर्व० २				
सम्य०	मिथ्यात्ववर्ज-शेष० ६		मिथ्या० १				सर्व० ५	मिथ्या० १	म० क्षा०वेदक सास्वा० ४			
संज्ञि०			सर्व० २				सर्व० २	असंज्ञि० १	* संज्ञि० १			
आहारि०			सर्व० २				आहा० १	आहा० १				
सर्वमार्गणा:—	६२	१	१०७	१३	४+४	१८	१२४	४६	४२	५	६	६४
गाथाङ्क:—	४३५-६-७	४३७	४३७	४३८	४३९	४३९	४४०	४४१-४४२	४४३-४	४४४	४४५	४४५

*आयुषो जघन्यरसबन्धकानां स्पर्शना अनुत्कृष्टवत् नवरं द्विपञ्चे० द्वित्रस० पञ्चमनो० पञ्चवचो० स्त्री० पुं० विभङ्ग० चक्षुर्दर्शन० संज्ञिलक्षणासु (११) मार्गणासु [illegible]

* आयुर्वर्जसप्तकर्मणां जघन्यरसबन्धकानां स्पर्शनाप्रदर्शकं यन्त्रम् *

ओघतः—घातिगोत्राणां जघन्यरसबन्धकानां स्पर्शना लोकस्यैकाऽसंख्यभागमात्रा, वेदनीयनाम्नोस्तु **सर्वलोकप्रमाणा** । (गाथा ४४६-४४७)

गाथाङ्कः	मार्गणाः	सर्वाः	स्पर्शना चतुर्घाति नाम्	स्पर्शना वेदनीय नाम्नो	गोत्रस्य
४४८	नरकौघ० सप्तमनरक०	२	लोकाऽस०	६ रज्जु०	लोकासंख्यभाग०
४४९ ४५०	प्रथमनरक. नवग्रैवेयक. ९, पञ्चानुत्तर ५, वै मिश्र., आहा., तन्मिश्र. अवेद. मनःपर्यव-संयम. सामा. छेदो. परिहार., सूक्ष्मसम्प.	२५	,,	लोकाऽसंख्यभाग.	,,
४५१	द्वितीय.तृतीय.चतुर्थ.पञ्चम.षष्ठनरके तु क्रमशोऽघातित्रयस्य.	५	,,	१-२-३ ४ ५ रज्जु०	१-२-३-४-५ रज्जु०
४५२	तिर्यगोघ०	१	५ रज्जु०	सर्वलोकः	देशोनलोकः
४५३	त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गति०	३	,,	सर्वलोक	सर्वलोकः
४५४	देवौघ० ईशानान्ताः ५.	६	८ रज्जु०	९ रज्जु०	९ रज्जु०
४५५	शेषसहस्रारान्ताः ६, मिश्रदृष्टि०	७	,,	८ रज्जु०	८ रज्जु०
४५५	आनतादि ४,	४	६ रज्जु०	६ रज्जु०	६ रज्जु०
४५६	एकेन्द्रियौघ. त्रिबादरैकेन्द्रिय वायुकायौघ त्रिबादरवायु	८	देशोनलोक	सर्वलोकः	देशोनलोक
४५७	सर्वसूक्ष्मभेदाः	१८	सर्वलोक	सर्वलोक	सर्वलोक.
४५७ ४५८	तेजःकायौघ., त्रिबादरतेजःकाय द्विपञ्चे द्वित्रस. पञ्चमनो. पञ्चवचो. काययोग. नपु. सर्वकषाय. त्र्यज्ञान. असंयम. चक्षुरचक्षु. भव्य. मिथ्या. संज्ञि. आहारि. (ओघवत्)	३४	लोका-ऽसंख्यभाग.	सर्वलोकः	लोकाऽसंख्यभाग०
४५९	औदारिक. तन्मिश्र. असंज्ञि.	३	,,	सर्वलोक	देशोनलोकः
४६०	वैक्रिययोग.	१	८ रज्जु०	१३ रज्जु	लोकाऽसंख्यभाग०
४६१	कार्मण. अनाहारक	२	५ रज्जु०	सर्वलोक	६ रज्जु०
४६२	मतिश्रुतावधिज्ञान. अवधिदर्शन. पद्मलेश्या. सम्य. क्षायिक. वेदक. उपशम	९	लो.असंभा	८ रज्जु०	८ रज्जु०
४६३	देशविरति.	१	,,	५ रज्जु०	लोकाऽसंख्यभाग०
४६४	कृष्ण. मतान्तरेण घातिना लोकाऽसंख्यभाग०	१	८रज्जु.,	सर्वलोक	,,
४६४	नील. कापोत. ,, ,, ,, ,,	२	,, ,,	,,	देशोनलोकः
४६५	तेजःलेश्या.	१	लोऽसं भा.	९रज्जु०,	९ रज्जु०
४६५	शुक्ललेश्या.	१	,,	६ रज्जु	६ रज्जु०
४६६	अभव्य.	१	८ रज्जु०	सर्वलोक	,,
४६७	सास्वादन.	१	,,	१२ रज्जु०	लोकाऽसंख्यभागः
४६८	अपर्याप्तपञ्चे०तिर्यग्, चतुर्मनुष्य, सर्वविकल.९, अपर्याप्तपञ्चे., पृथ्व्यप्कायौघ-त्रिबादरपृथ्वी. त्रिबादराप्काय-त्रिप्रत्येकवन. वनौघ. निगोदौघ-त्रिबादरनिगोद, अपर्याप्तत्रस. स्त्री. पुं. ।	३४	लोकाऽसंख्य भाग०	सर्वलोकः	सर्वलोकः

॥ अथ पञ्चदशं कालद्वारम् ॥

गतं स्पर्शनाद्वारम् । सम्प्रति क्रमप्राप्तेन नानाजीवाश्रयकालद्वारेण मूलकर्मणामुत्कृष्टादिरसबन्धकानां जघन्योत्कृष्टकालं प्रतिपिपादयिषुरादौ तावदष्टानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टरसयोर्बन्धकानां कालमोघत आह—

अट्ठण्ह लहू कालो तिव्वऽणुभागस्स बंधगाण भवे ।
समयो घाईण गुरू आवलिआए असंखंसो ॥४७२॥
समया खलु संखेज्जा भवे चउण्हं अघाइपयडीणं ।
अट्ठण्ह बंधगाणमणुक्कोसरसस्स सव्वद्धा ॥४७३॥

(प्रे०) '**अट्ठण्ह**' इत्यादि, अष्टानां मूलप्रकृतीनां तीव्रानुभागस्य-उत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां 'लघुः'-जघन्यः कालो नानाजीवाश्रितः कालो भवेत् , कियान् ? इत्याह-'समयः'एकसमयः । अथ घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानामुत्कृष्टतः कालमाह-'घाईण गुरू' इत्यादि, चतसृणां घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानामित्यनुवर्त्तते, 'गुरुः'-उत्कृष्टः कालः आवलिकायाः 'असंख्यांशः'-एकाऽसंख्यातभागमात्रो भवेदिति । अघातिप्रकृतीनां प्रकृतबन्धकानां कियान् कालः ? इत्याह-'**समया खलु संखेज्जा**' इत्यादि, संख्याताः समयाः उत्कृष्टः कालो भवेत् खलु एवकारार्थे ।

इदमुक्तं भवति–प्राक् सप्तमद्वारे एकजीवमाश्रित्याष्टप्रकृतीनामुत्कृष्टाद्यनुभागस्य बन्धकालः प्रतिपादितः, साम्प्रतं तु नानाजीवानधिकृत्य तासामुत्कृष्टाद्यनुभागस्य बन्धकालः प्रतिपादनीयः । न चाऽष्टप्रकृतीनामुत्कृष्टादिरसस्य नानाजीवाश्रयबन्धकालनिरूपणावसरे तद्बन्धकानां कालनिरूपणमसङ्गतमिति वाच्यम् , बन्धं विदधतामेव बन्धकत्वेन व्यपदेशात् नानाजीवाश्रयबन्धकाल-बन्धककालयोः परस्परानतिरेकेणैकस्य निरूपणेऽन्यस्य निरूपणस्य चरितार्थतयाऽसङ्गत्यभावः, अत एव प्रागनिरूपितभङ्गविचयादिद्वारेषु अग्रे निरूपयिष्यमाणाऽन्तरादिद्वारेषु च बन्धकानाश्रित्य कृताऽपि प्ररूपणा अविरुद्धैव इति ।

ननु नानाजीवानधिकृत्य बन्धकाल इत्यस्य कोऽर्थः ? उच्यते–विवक्षितमार्गणासु भिन्नभिन्नजीवैरारब्धो विवक्षितोत्कृष्टाद्यनुभागस्य बन्धोऽविच्छिन्नतयोत्कृष्टतो यावन्तं कालं प्रवर्तते,परतश्च तासु मार्गणासु कस्यापि जीवस्य तद्बन्धो न भवति, तावान् सर्वकालस्तासु मार्गणासु नानाजीवानधिकृत्य विवक्षितोत्कृष्टाद्यनुभागस्योत्कृष्टो बन्धकालः प्रोच्यते । जघन्यतः पुनर्यावन्तं कालं प्रकृतबन्धो लभ्यते तावान् सर्वकालो नानाजीवानधिकृत्य जघन्यो बन्धकालो भण्यते तत्तन्मार्गणावर्तिनानाजीवापेक्षया तद्बन्धकालस्य विवक्षितत्वात् । तेन कासुचिद् मार्गणास्वेकजीवमाश्रित्य प्रोक्तजघन्यबन्धकालवत् प्रकृतजघन्यबन्धकालस्य प्राप्यमाणत्वेऽपि न क्षतिः । तथाहि-मार्गणावर्तिसर्व-

जीवापेक्षया कदाचिदेक एव जीवो विवक्षितरसस्य बन्धकतया प्राप्यते, स च समयं यावद् विवक्षितरसं बद्ध्वा विरमते, तदनन्तरं नैरन्तर्येण तन्मार्गणावर्त्येकोऽपि जीवस्तद्बन्धकतया न प्राप्यते ततस्तासु मार्गणासु विवक्षितरसबन्धकानां सर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं भवति, तदा नानाजीवाश्रितो जघन्यकालः समयमात्रः प्राप्यते। एकजीवाश्रितो जघन्यबन्धकालस्तु मार्गणावर्त्येकजीवापेक्षया एव विचार्यते,स च जीवः समयं यावद् विवक्षितरसं बध्नाति तदा समयो विवक्षितकालः प्राप्यते,मार्गणावर्तिशेषजीवा अनन्तरसमये विवक्षितरसं बध्नन्ति न वा तत्तु न विचार्यते। तत एकजीवाश्रितकालस्यैकजीवविवक्षाऽधीनत्वम् नानाजीवाश्रितकालस्य मार्गणावर्तिविवक्षितरसबन्धकानां निरन्तरोपलब्धिरपेक्षिता। अत एव उभयोः जघन्यकालस्य कुत्रचित् तुल्यत्वेऽपि न क्षतिः, नातिव्याप्तीत्यर्थः।

अथ सर्वमार्गणाविषयकनानाजीवाश्रितकालावबोधरूपप्रासादं प्रवेष्टुकामानामेतदध्ययनरसिकानां प्रस्तुतविषयसत्कगहनतारूपतालकस्योद्घाटनार्थं काश्चित् कुञ्चिकाः प्रदर्श्यन्ते। ताश्चेमाः-

(१) यत्र यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टाद्यनुभागानां बन्धार्हा जीवाः संख्याता एव अपि चात्रोत्कृष्टाद्यनुभागानामेकजीवाश्रितो बन्धकालः संख्यातसमयमात्रस्तत्र तदुत्कृष्टाद्यनुभागबन्धका नैरन्तर्येणोत्कृष्टतः संख्यातसमयकालं यावल्लभ्यन्ते। तदूर्ध्वं त्ववश्यमेव तद्बन्धकानां सर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं भवतीति **प्रथमा कुञ्चिका**।

तद्घटना चेत्थम्-प्रस्तुतौघनिरूपणे अघातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामिनः संयताः, ततस्तद्बन्धकाः संख्याता एव सन्ति, तथाऽघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागस्य दशमगुणस्थानकस्य चरमसमये बन्धसद्भावादेकजीवाश्रितो बन्धकाल एकसमयः, आयुष्कस्य पुनः द्वौ समयौ, अत्र प्रथमकुञ्चिकायाः प्रवेशात् तद्बन्धकानामुत्कृष्टः कालः संख्यातसमयमात्र उक्तः। इत्थमेव मार्गणास्थानेष्वपि भावनीयम्।

(२) यत्र यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टाद्यनुभागानां बन्धका जीवा असंख्येयाः सन्तोऽप्यसंख्यलोकाकाशप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकाः सन्ति, अपि चैकजीवमाश्रित्य तद्बन्धकालः संख्यातसमयप्रमितस्तत्र तदुत्कृष्टाद्यनुभागबन्धकाः सातत्येनावलिकाया असंख्येयतमभागकालं यावदवाप्यन्ते। तदूर्ध्वं तु नियमात् तद्विरहलक्षणमन्तरं सम्पद्यते। इति **द्वितीया कुञ्चिका**।

प्रकृतौघप्ररूपणायां घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धविषयेऽपि तथात्वात् तद्बन्धकानामुत्कृष्टः काल आवलिकाया असंख्येयतमभागो भवति, इदमुक्तं भवति-अत्रौघे घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकतया संज्ञिमिथ्यादृष्टिजीवाः प्रोक्ताः, ते चोत्कृष्टपदे असंख्याता लभ्यन्ते इति परिमाणद्वारे प्रोक्तम्, संज्ञित्वात्तेऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतिस्तोकाः सन्ति, तत्तत्कर्मणां चोत्कृष्टानुभागस्यैकजीवाश्रितो बन्धकालो द्वौ समयौ, तेन प्रस्तुतकुञ्चिकायाः प्रवेशादावलिकाऽसंख्यातभागमात्रो नानाजीवाश्रितः प्रकृतबन्धकालो भणित इति।

(३)यत्र यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टाद्यनुभागानां बन्धार्हा जीवा असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा अनन्ता वा विद्यन्ते,तत्र तद्बन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः सर्वाद्धा भवतीति तृतीया कुञ्चिका ।

एकेन्द्रियादीनां सर्वभेदेषु तथा शेषसूक्ष्मभेदेषु सप्तानामुत्कृष्टाद्यनुभागबन्धका अनन्ता असंख्येय-लोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा वा सन्ति,ततस्तत्र तद्बन्धकानां कालः सर्वाद्धा भवतीत्यग्रे वक्ष्यते ।

(४) या मार्गणाः सार्वकालिक्यः सन्ति, तासु मार्गणासु सप्तकर्मणामनुत्कृष्टानुभागस्याऽजघन्यानुभागस्य च बन्धकानां कालः सर्वाद्धा भवतीति चतुर्थी कुञ्चिका । वक्ष्यते चाग्रे मनुष्यादि-मार्गणासु तथात्वात् सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्याऽजघन्यानुभागस्य च बन्धकाः सर्वदा भवन्तीति ।

(५) या मार्गणा नानाजीवानाश्रित्य सान्तराः सन्ति, तासु मार्गणासु सप्तकर्मणामनुत्कृष्टा-नुभागस्याजघन्यानुभागस्य च बन्धकानां कालो जघन्यतो यथासम्भवं समयादिप्रमाणः,तथोत्कृष्टतस्तु सर्वत्र मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणो भवति । वक्ष्यते चाग्रेऽपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु प्रकृतबन्धकानां कालो जघन्यतः समयादिप्रमाणः, उत्कृष्टतस्तु पल्योपमासंख्यभागादिप्रमाण इति पञ्चमी कुञ्चिका ।

(६) यत्रायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्याऽजघन्यानुभागस्य वा बन्धका असंख्येयाः सन्तोऽप्यसं-ख्येयलोकाकाशप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकाः सन्ति, अपि चैकजीवाश्रित उत्कृष्टतो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्त-मात्र एव भवति तत्र तद्बन्धका नैरन्तर्येणोत्कृष्टतः पल्योपमस्याऽसंख्यभागप्रमाणकालं यावत्प्राप्य-न्ते, तदूर्ध्वं तु नियमतः सर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं भवतीति षष्ठी कुञ्चिका ।

नरकसामान्यादिमार्गणास्वायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्याऽजघन्यानुभागस्य वा बन्धका असं-ख्येयाः, किन्तु ते असंख्यलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतीव स्तोकाः, ततः प्रस्तुतकुञ्चिकायाः प्रवेशात् तद्बन्धका उत्कृष्टतः सातत्येन पल्योपमस्याऽसंख्यभागकालं यावदवाप्यन्त इत्यग्रे वक्ष्यते ।

(७) तथा यत्रायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्याऽजघन्यानुभागस्य वा बन्धकाः संख्याता एव विद्य-न्ते, एकजीवाश्रितस्तद्बन्धकालश्चाऽन्तर्मुहूर्तमात्र एव, तत्र तद्बन्धका नैरन्तर्येणाऽन्तर्मुहूर्तं यावद् लभ्यन्ते तदूर्ध्वं तु नियमादन्तरं सम्पद्यत इति सप्तमी कुञ्चिका ।

पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणास्वायुष्कसत्कानुत्कृष्टानुभागस्याऽजघन्यानुभागस्य वा बन्धविषये तथात्वात् तद्बन्धकानामुत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्तमेव इत्यग्रे वक्ष्यते ।

अनया दिशा एतद्नानाजीवाश्रितबन्धकालनिरूपणमासमाप्ति भावयितव्यम इति ।

अथाष्टानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां कालमोघतः प्रवक्ति–'अट्ठण्ह' इत्यादि, अष्टानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसस्य बन्धकानां कालः सर्वाद्धा भवति अनन्तसंसारिजीवानां तद्रसस्य बन्धसद्भा-वादिति ।।४७२।४७३।।

तदेवमष्टानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोर्नानाजीवाश्रितं बन्धकालमोघतः प्रतिपाद्य, साम्प्रतमायुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकालमादेशतो व्याजिहीर्षुरादौ तावद् यासु मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां कालः सर्वाद्धा भवति तासु मार्गणासु तथैव प्राह—

सव्वेसु एगिंदियणिगोअभेएसु सेससुहुमेसु ।
बायरअपज्जपुहवाइचउगपत्तेअवणवणोहेसु ॥४७४॥ [गीतिः]
कालोऽत्थि बंधगाणं तिव्वऽणुभागस्स आउवज्जाणं ।
सव्वद्धा सेसासु हस्सो समयो मुणेयव्वो ॥४७५॥

(प्रे०)'**सव्वेसु**'' इत्यादि, सर्वेषु एकेन्द्रियनिगोदभेदेषु एकेन्द्रियस्य सप्तभेदेषु तथा साधारणवनस्पतिकायस्य सप्तभेदेषु, 'शेषसूक्ष्मेषु' पृथ्व्यप्तेजोवायुकायिकानां प्रत्येकं सूक्ष्मौघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तलक्षणेषु त्रिषु त्रिषु भेदेषु चेति सूक्ष्मसत्कद्वादशकायभेदेषु, बादराऽपर्याप्तशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् बादरापर्याप्तपृथ्व्यादिचतुष्के-बादराऽपर्याप्तपृथ्वीकाय–बादराऽपर्याप्ताऽप्काय-बादराऽपर्याप्ततेजःकायबादराऽपर्याप्तवायुकायरूपभेदचतुष्टये, बादराऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदे वनस्पत्योघभेदे चेत्येतासु द्वात्रिंशन्मार्गणासु आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनां तीव्रानुभागस्य-उत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः सर्वाद्धाऽस्ति । कुतः ? इति चेद्, उच्यते–तृतीयकुश्चिकायाः प्रवेशात् । तथाहि–अत्रैकेन्द्रियादिमार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धकतया निगोदजीवानामपि गृहीतत्वात् प्रकृतबन्धका अनन्ताः, सूक्ष्मपृथ्वीकायादिमार्गणासु पुनः असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः, एवं तृतीयकुश्चिकानुसारेण प्रकृतबन्धकानां नानाजीवानधिकृत्य सर्वाद्धा कालो घटत इति ।

अथ प्रागुक्तैकेन्द्रियादिद्वात्रिंशन्मार्गणा वर्जयित्वा शेषाष्टात्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धकानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतिस्तोकत्वेन नानाजीवानाश्रित्य सर्वाद्धाकालस्याऽप्राप्यमाणत्वात् जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नः कालो लभ्यते अथ सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां जघन्यकालमाह–**सेसासु हस्सो समयो मुणेयव्वो**' इति शेषासु अष्टात्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु ह्रस्वो-जघन्यः कालः समयो ज्ञातव्य इति ॥४७४।४७५॥

साम्प्रतं शेषाष्टात्रिंशदुत्तरशतमार्गणान्तर्गतासु यासु मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवानधिकृत्योत्कृष्टः काल ओघवद् भवति तासु सार्धगाथाद्वयेनाऽतिदिशति—

दुपणिंदितसेसु तह पणमणवयकायुरालियदुगेसु ।
थीपुरिसणपुंसेसु कसायचउगे तिणाणेसु ॥४७६॥
तिअणाणेसु देसे अयततिदरिसणपमत्तलेसासु ।
भवियम्मि य सम्मत्ते खाइअवेअगउवसमेसु ॥४७७॥
मिच्छत्ते सण्णिम्मि य तह आहारम्मि होइ ओघव्व ।

(प्रे०) '**दुपणिंदितसेसु**'' इत्यादि, 'द्विपञ्चेन्द्रिययोः'–पञ्चेन्द्रियौघपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणाद्वये, 'द्वित्रसयोः'–त्रसौघ-पर्याप्तत्रसकायमार्गणाद्वये, तथाशब्दः समुच्चयार्थे पञ्चमनोयोग-

पञ्चवचनयोग-काययोगसामान्यौदारिकौदारिकमिश्रयोगेषु,स्त्रीपुरुषनपुंसकवेदेषु,कषायचतुष्के, त्रिज्ञानेषु-मतिश्रुताऽवधिलक्षणेषु त्रिषु ज्ञानभेदेषु, त्र्यज्ञानेषु, देशविरतिभेदे, असंयमे,चक्षुरचक्षुरवधिरूपेषु त्रिदर्शनेषु, तेजःपद्मशुक्लाख्यासु त्रिप्रशस्तलेश्यासु, भव्ये, सम्यक्त्वौघक्षायिकवेदकोपशममिथ्यात्वेषु,संज्ञिभेदे,आहारिभेदे चेत्येतासु षट्चत्वारिंशद्मार्गणासु सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकानां नानाजीवानाश्रित्योत्कृष्टकाल ओघवद् भवति। अयम्भावः—यथौघे घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानां कालः आवलिकाया एकासंख्यातभागमात्रः,अघातित्रयस्य पुनः संख्यातसमयप्रमितः प्रोक्तः, तथैवासु षट्चत्वारिंशद्मार्गणासु प्रस्तुतकालो वेदितव्य इति । कुतः ? इति चेद् , उच्यते-एतासु मार्गणासु घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धविषये द्वितीयकुञ्चिकायाः, अघातित्रयस्य प्रकृतबन्धविषये पुनः प्रथमकुञ्चिकायाः प्रवेशात् । तथाहि—इहाऽज्ञानत्रिकासंयमदेशविरतिमिथ्यात्वमार्गणास्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकत्वेन संयमाभिमुखा मनुष्याः,वेदकतेजःपद्मलेश्यामार्गणासु पुनः संयतमनुष्याः, उपशममार्गणायां तु दशमगुणस्थानवर्त्युपशमकमनुष्याः, शेषौदारिकमिश्रवर्जपञ्चेन्द्रियादिपञ्चत्रिंशद्मार्गणासु पुनः क्षपकाः प्रोक्ताः, ते च संख्याताः, औदारिकमिश्रमार्गणायां तु सम्यग्दृष्टयो मनुष्यास्तिर्यञ्चो वा कथिताः तेऽपि संख्याता एव,कुतस्तिर्यञ्चोऽप्यत्र संख्याता एव ? इति चेत् ,उच्यते—अत्रौदारिकमिश्रयोगोऽपर्याप्तावस्थायामेव वर्तते,तिर्यक्षु तदवस्थायां च सम्यक्त्ववन्तो ये जीवाः क्षायिकसम्यक्त्वसहिताः कृतकरणा वा मनुष्येभ्य उद्वृत्य तिर्यक्षु समुत्पद्यन्ते तेषामेव स भवति,अतोऽत्र सम्यग्दृष्टिसंज्ञितिर्यञ्चोऽपि संख्याता इति। परिमाणद्वारेऽपि एतासु षट्चत्वारिंशद्मार्गणास्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः संख्याता एव प्ररूपिताः, घातिचतुष्कस्य पुनरसंख्याता दर्शिताः, तथा च तद्ग्रन्थः—

"णिरयेया दुपणिंदियतसपणमणवयणकायजोगेसुं । उरलदुगतिवेएसुं कसायचउगे तिणाणेसुं ॥३६४॥
तिअणाणदेसअविरयतिदरिसणपसत्थलेसभवियेसुं । सम्मत्तखाइएसुं वेअगुवसमेसु मिच्छत्ते ॥३६५॥
सण्णिम्मि तहाहारे घाईण असंखिया अघाईणं संखेज्जा"...... ....॥३६६॥ इति

एतासु सर्वासु मार्गणास्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानामेकजीवाश्रित उत्कृष्टः कालः समयमात्रः तथा घातिचतुष्कस्य प्रकृतबन्धकानामेकजीवाश्रित उत्कृष्टः कालः पञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु द्वौ समयौ, त्रिज्ञानादिमार्गणासु पुनरेकसमयः, ततश्चैकजीवाश्रित उत्कृष्टानुभागबन्धकालोऽप्युत्कृष्टतः संख्यातसमयमात्रो लब्धः। तेनाऽघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धविषये प्रथमकुञ्चिकायाः प्रवेशात् तद्बन्धका उत्कृष्टतः संख्यातसमयान् यावद् नैरन्तर्येण संप्राप्यन्ते घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धविषये द्वितीयकुञ्चिकायाः प्रवेशात् तद्बन्धका उत्कृष्टत आवलिकाया असंख्यभागप्रमितकालं यावत् सातत्येन समवाप्यन्ते अत एवैतासु षट्चत्वारिंशन्मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकाल ओघवदतिदिष्टः ॥४७६।४७७॥

इदानीं यासु मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः संख्याता एव प्राप्यन्ते, तासु अन्यासु च मार्गणासु तद्बन्धका उत्कृष्टतः सातत्येन कियन्तं कालं यावदवाप्यन्त इत्याह—

तिमणुससव्वत्थेसु आहारदुगम्मि गयवेए ॥४७८॥
मणणाणसंयमेसु समइअछेअपरिहारसुहमेसु ।
संखियसमयाऽण्णासु आवलियाए असंखंसो ॥४७९॥

(प्रे०) 'तिमणुससव्वत्थेसु' त्रिमनुष्येषु-मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मनुष्ययोनिमतीलक्षणासु तिसृषु मार्गणासु, सर्वार्थसिद्धसुरमार्गणायाम्, आहारकाऽऽहारकमिश्रमार्गणाद्वये, अपगतवेदमार्गणायाम्, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायाम्, संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थानीय-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसम्पराय-मार्गणासु चेत्येतासु त्रयोदशमार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकालः संख्यातसमयाः। अयं भावः—अत्र द्वादशमार्गणासु सप्तानां सूक्ष्मसम्पराये च षण्णामुत्कृष्टानुभागबन्धका उत्कृष्टतः संख्यातसमयकालं यावद् नैरन्तर्येण समवाप्यन्ते, तदूर्ध्वं तु नियमात् तद्बन्धकानां सर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं भवति। कुतः? इति चेत्, उच्यते—एतासु प्रत्येकं मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः संख्याता एव, अथ चैकजीवाश्रित उत्कृष्टबन्धकालः संख्यातसमयमात्रः, एवं प्रथमकुञ्चिकायाः प्रवेशात् प्रकृतबन्धकाः संख्यातसमयकालं यावल्लभ्यन्त इत्युक्तम्।

सम्प्रति यासु मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानामुत्कृष्टतो नानाजीवाश्रितकाल आवलिकाऽसंख्येयतमभागमात्रो भवति तासु मार्गणास्वाह—'ऽण्णासु आवलिआए असंखंसो' इति,अन्यासु प्रागुक्ताष्टात्रिंशदुत्तरशतमार्गणातो द्विपञ्चेन्द्रियादिषट्चत्वारिंशद्मार्गणास्तथा त्रिमनुष्यादित्रयोदशमार्गणाः सर्वमीलने चैकोनषष्टिमार्गणा वर्जयित्वा शेषैकोनाशीतिमार्गणास्वित्यर्थः; सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवानधिकृत्योत्कृष्टतः कालः आवलिकाया असंख्यांशः—एकासंख्यभागमात्रो भवति।

ता मार्गणा नामतः पुनरिमाः—गतिमार्गणास्थानस्य त्रिमनुष्य-सर्वार्थसिद्धदेववर्जत्रिचत्वारिंशद्मार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य नवविकलाक्षाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियरूपदशमार्गणाः, कायमार्गणास्थानस्य पृथ्व्यप्तेजोवायुकायिकानां प्रत्येकमोघबादरौघपर्याप्तबादररूपाः तिस्रस्तिस्रो मार्गणास्तथा प्रत्येकवनस्पतिकाय-पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायाऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणाः, सर्वमीलने च पञ्चदशमार्गणाः, योगमार्गणास्थानस्य वैक्रिय-वैक्रियमिश्र-कार्मणयोगरूपास्त्रिमार्गणाः, अप्रशस्तलेश्यामार्गणाः,अभव्यमार्गणा, सास्वादनमिश्ररूपे द्वे मार्गणे,असंज्ञिमार्गणा,अनाहारिमार्गणा चेत्येता नवसप्ततिमार्गणा इति।

भावना त्वियम् परिमाणद्वारे निरुक्तनवसप्ततिमार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका असंख्याता एवाभिहिताः। तदनुभागस्यैकजीवाश्रितो बन्धकालो द्वौ समयौ तत एकजीवाश्रितो बन्धकालः संख्यातसमयमात्रः प्राप्तः, एवञ्च द्वितीयकुञ्चिकायाः प्रवेशादत्र सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितः काल आवलिकाया असंख्यातभागप्रमितः प्ररूपितः। अत्र वैक्रियमिश्र-

कार्मणाऽनाहारकमार्गणात्रये मतान्तरेणाऽघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामिनः श्रेणौ भवक्षयेण कालं कृत्वा देवत्वं प्राप्ता देवभवप्रथमसमयवर्तिजीवास्तेन तदुत्कृष्टानुभागबन्धकजीवाः संख्याता एव लभ्यन्ते, अत्र च प्रथमकुक्षिकायाः प्रवेशात् निरुक्तत्रिमार्गणास्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितः प्रकृष्टकालः तन्मते संख्यातसमया एव वेदितव्यः ।।४७८।४७९।।

एवं सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवानधिकृत्य बन्धकाल आदेशतः प्ररूपितः, साम्प्रतं तासामेवानुत्कृष्टानुभागबन्धकानां कालं व्याहरन्नादौ तावद् यासु मार्गणासु प्रकृतबन्धकानां कालः सर्वाद्धा न भवति, तासु मार्गणासु तद्बन्धकानां जघन्यकालं निर्दिशति—

असमत्तणरे विक्रियमीसे आहारदुगअवेएसुं ।
तह सुहमसासणेसुं अगुरुरसस्स समयो हस्सो ।।४८०।।
भिन्नमुहुत्तं हवए उवसममीसेसु अद्धतइअसयं ।
वासा छेए णेयो सयं च णाऊण परिहारे ।।४८१।।

(प्रे०) 'असमत्तणरे'-इत्यादि,अपर्याप्तमनुष्ये, वैक्रियमिश्रयोगमार्गणायाम् ,आहारकद्विके-आहारकाऽऽहारकमिश्रमार्गणाद्वये, अपगतवेदमार्गणायाम् , सूक्ष्मसम्परायमार्गणायाम् , सास्वादन-मार्गणायाम् 'अगुरुरसस्स' अनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां जघन्यः कालः समयोऽस्ति । उपशम-सम्यक्त्वमिश्रमार्गणाद्वये जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो ज्ञेयः । तथा पदैकदेशेन पदसमुदायस्य गम्यमानत्वात् 'छेदे' इति छेदोपस्थापनीयमार्गणायां निरुक्तबन्धकानां कालः 'अर्धतृतीयशतं वर्षाः'-पञ्चाशदधिकद्विशतवर्षाणीत्यर्थः (२५० वर्ष०)। अथ परिहारमार्गणायामाह–**सयं च**'इत्यादि, परिहारविशुद्धिमार्गणायां च प्रकृतबन्धकान् ज्ञात्वा स्वयमेव जघन्यकालो ज्ञेयः ।

इयमत्र भावना–अपर्याप्तमनुष्य-वैक्रियमिश्राहारकाऽऽहारकमिश्र-छेदोपस्थापनीय-परिहार-विशुद्धिक-सूक्ष्मसंपरायौपशमिक-सास्वादन-मिश्रदृष्टिलक्षणा दशमार्गणास्तथास्वाभाव्याद् नानाजीवा-नाश्रित्यापि सान्तरा भवन्ति, अपगतवेदमार्गणायां नानाजीवानाश्रित्य सयोगिकेवलिसिद्धानां प्रवेशेन निरन्तरत्वेऽपि रसबन्धकानाश्रित्य सान्तरत्वम् , कुतः ? रसबन्धकत्वेनानिवृत्तिकरण-सूक्ष्मसम्परायस्थसंयतानां लाभात् तेषां च कादाचित्कत्वात् । शेषमार्गणास्तु नानाजीवानाश्रित्य सार्वकालिक्यः । तेन तासु सप्तकर्मणामनुत्कृष्टानुभागस्याऽजघन्यानुभागस्य वा बन्धकालः सर्वाद्धा प्राप्यते, स चाग्रे ग्रन्थकृता वक्ष्यतैव । न हि तत्र जघन्योत्कृष्टतः कालः संभवति । अपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु तु नानाजीवाश्रयो जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नो बन्धकालो लभ्यते मार्गणानां सादिसान्तत्वात् । तत्र छेदोपस्थानीय-परिहारविशुद्धिसंयमौपशमिकसम्यक्त्वमिश्रदृष्टिरूपाश्चतुर्मार्गणा विहाय शेषासु मार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका एकादय विद्यन्ते, सर्वे च ते एकसमयं यावदनुत्कृष्टानुभागं बद्ध्वा उत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति अथवा मार्गणाया द्विचरमसमये उत्कृष्टानुभागं

बद्ध्वा चरमसमये समयं यावदनुत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति अथवा कुत्रचिदबन्धस्थानादवतीर्य समयं यावदनुत्कृष्टानुभागं बद्ध्वा कालं कुर्वन्ति तदूर्ध्वं तु मार्गणा विरमते अथवा कुत्रचिद् मार्गणाजघन्यकायस्थितेः समयमात्रत्वात्तावन्तं कालमनुत्कृष्टरसं बध्नन्ति अत एव निरुक्तसप्तमार्गणासु समयः जघन्यो बन्धकालः प्रोक्तः, उपशमसम्यक्त्वमिश्रमार्गणाद्वये यद्यपि एकादिजीवाः प्राप्यन्ते तथापि प्रकृतरसबन्धकानां जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो ज्ञेयः, एकजीवाश्रयकालस्य जघन्यतोऽपि तावन्मात्रत्वात् । छेदोपस्थापनीयमार्गणायां तु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यः कालः पञ्चाशदधिकद्विशतवर्षाणि, मार्गणाया जघन्यकालस्य तावन्मात्रत्वात् यदुक्तं **श्रीविवाहप्रज्ञप्तिसूत्रे—**

"छेदोवट्ठाणवणिएसु पुच्छा,गोयमा ! जहन्नेण अड्ढाइज्जाइं वाससयाइं" इति । तदेवं नानाजीवानधिकृत्य जघन्यतोऽपि छेदोपस्थानीयसंयताः पञ्चाशदधिकवर्षशतद्वयं यावद् भवन्ति, ते च बाहुल्येन सप्तकर्मणामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका भवन्ति,तेन छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणायां सप्तकर्मणामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रयजघन्यकालो यथोक्तमानो लभ्यते ।

परिहारविशुद्धिमार्गणायां ग्रन्थकृता सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य नानाजीवाश्रितो बन्धकालो न सूचितः । तद्बीजं त्विदम्—यदि एतद्मार्गणायां सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानामष्टौ भङ्गा अङ्गीक्रियन्ते तदा पूर्ववत् समयो द्रष्टव्यः । यदि प्रकृतबन्धकानां 'सर्वे बन्धका' इति तृतीयो भङ्गः, 'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका' इत्यष्टमो भङ्गः 'अनेके बन्धका एकोऽबन्धक' इति सप्तमः, एवमेते त्रय एव भङ्गाः स्वीक्रियेरन् तदा जघन्यतो बन्धकालोऽन्यथा प्राप्यते स च मार्गणाजघन्यकायस्थितिप्रमाणः । जघन्यकायस्थितिः **श्रीभगवत्यामित्थम्—**

"परिहारविसुद्धिए पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं देसूणाइं दोवाससयाइं, उक्कोसेणं देसूणाओ दो पुव्वकोडिओ" । इत्युभयोः पक्षयोर्मध्ये कः पक्षः श्रेयानिति निर्णेतुं सर्ववेदमां ज्ञानमेवाऽलम्, ततो ग्रन्थकृता परिहारविशुद्धिमार्गणायां सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकालो न दर्शित. ॥४८०।४८१॥

अनन्तरवक्ष्यमाणास्वेकादश मार्गणासु पञ्चमकुञ्चिकायाः प्रवेशात् तत्र सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य नानाजीवानाश्रित्योत्कृष्टबन्धकालस्तत्तन्मार्गणाया उत्कृष्टकालप्रमितो लभ्यते, तत एतन्मार्गणासु तावन्तं कालं दर्शयति—

असमत्तमणुसविक्कियमीसुवसममीससासणेसु गुरू ।
पलियासंखियभागो आहारदुगे अवेअसुहमेसुं ॥४८२॥ [गीतिः]
भिन्नमुहुत्तं छेए अयरा पण्णासलक्खकोडीओ ।
ऊणा दुपव्वकोडी परिहारेऽण्णासु सव्वद्धा ॥४८३॥

(प्रे०) **'असमत्तमणुस'** इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्य-वैक्रियमिश्रयोगौपशमिकसम्यक्त्व-

मिश्र-सास्वादनलक्षणासु पञ्चसु मार्गणासु प्रत्येकं **'गुरू'** प्रकृतत्वात् सप्तकर्मसत्कानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टः कालः पल्योपमाऽसंख्यभागो ज्ञातव्यः । तत्तन्मार्गणानां नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्य तावन्मात्रत्वात् । यदुक्तं **जीवसमासे**–"पल्लासंखियभागो वेउव्विय-मिस्सगाण अणुसारो" । तथा "पल्लासंखियभागो सासणमिस्सा य हु ति उक्कोसं" । इति । तथा **पञ्च-संग्रहवृत्तौ**-"नानाप्रकारा अपर्याप्तकानेकमनुष्यकायस्य तत्सन्ततेरव्यवच्छिन्नतया उत्कृष्टतः पल्योपमाऽ-संख्येयभागमात्रा स्थितिः" इत्यादि । अथाऽऽहारकद्विकादिमार्गणास्वाह-**'आहारदुगे'**इत्यादि,आहारक-तन्मिश्रकाययोगमार्गणालक्षणे आहारकद्विके अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये चेत्येतासु चत-सृषु मार्गणासु प्रत्येकं **'भिन्नमुहुत्तं'** इत्युत्तरगाथास्थितपदस्यात्रान्वयेन अन्तर्मुहूर्तप्रमाणो ज्ञेयः, सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टः काल इत्यनुवर्तते, सूक्ष्मसम्पराय-मार्गणायां मोहनीयस्य बन्धाभावात् षट्कर्मणामित्यभिधातव्यम् । एतासु चतसृष्वपि मार्गणा-स्वनुत्कृष्टानुभागस्योत्कृष्टोऽपि बन्धकालः कुतोऽन्तर्मुहूर्तमेव ? इति चेत् ,उच्यते—एतन्मार्गणानां नानाजीवाश्रय उत्कृष्टोऽपि कालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण इति कृत्वा । यदुक्तं **जीवसमासे**–"भिन्नमुहुत्तं आहारमिस्सा" इति । एवमाहारककाययोगकालेऽपि ग्रन्थान्तरसंवादो ज्ञातव्यः ।

अवेद-सूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये प्रकृतबन्धका अन्यतरश्रेणिवर्तिनो भवन्ति, अन्यतरश्रेणेश्चो-त्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तमेव । तदेवं व्यापकीभूतानां जीवानां नानाजीवापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तस्थायित्वात् तद्व्याप्यभूता अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायमार्गणावर्तिजीवाः सुतरामन्तर्मुहूर्तस्थायिनः सन्ति, न त्व-धिकस्थितिकाः, अत एव निरुक्तमार्गणाचतुष्टयेऽनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रय उत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तमात्रो न विरुध्यते ।

'छेए' इत्यादि, छेदे-छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणायां सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकालः **'अयरा पण्णासलक्खकोडीओ'** पञ्चाशल्लक्षकोट्यो 'अतराः' अतिमहत्त्वात् सागरवत् तरितुमशक्या इति अतराः सागरोपमाणीत्यर्थः । यतः छेदोपस्थापनीयसंय-तानां नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालः सागरोपमाणां पञ्चाशत्कोटिशतसहस्राणि प्रवचने प्ररूपितः । यदु-क्तं **श्रीभगवत्याम्**–"छेओवट्ठावणियसंजये णं भंते ! कालओ केवचिरं हुंति ? गोयमा ! जहण्णेणं अड्ढाइज्जाइं वाससयाइं उक्कोसेणं पन्नासं सागरोवमकोडिसयसहस्साइं ।" इति

साम्प्रतं परिहारमार्गणायां तमेव दर्शयति–**'ऊणा'**इत्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवानधिकृत्योत्कृष्टकालः ऊने-न्यूने द्विपूर्वकोटी-पूर्वाणां द्वे कोटी देशोने इत्यर्थः । कथमेतदवसीयते ? इति चेत् , उच्यते–अवसर्पिणीकाले प्रथमतीर्थकर-स्य पार्श्वे, यद्वा उत्सर्पिणिकाले चरमतीर्थकरस्य पार्श्वे पूर्वकोट्यायुष्केण केनचिद् नवकेन गणेन स्वायुष एकोनत्रिंशद्वर्षेष्वतिक्रान्तेषु परिहारविशुद्धिसंयमः प्रतिपन्नः, आमरणं चासेवितः,तदायुःपर्य-

न्ते च पूर्वकोट्यायुष्केणाऽन्येन नवकेन गणेन स्वायुष्कस्य एकोनत्रिंशद्वर्षेषु समतिक्रान्तेषु परिहारविशुद्धिसंयमः स्वीकृतोऽनुपालितश्च,तीर्थकरं तत्समीपप्रतिपन्नपरिहारविशुद्धिकसंयमं वा विहायाऽन्यस्याऽन्तिके तत्प्रतिपत्तिनिषेधात् देशोनपूर्वकोटिद्वयप्रमाणः कालो दर्शितः ।

यदुक्तं विवाहप्रज्ञप्तौ—"परिहारविसुद्धियाणं भंते कालओ केवचिरं हुंति ? गोयमा ! जहण्णेणं देसूणाइं दो वाससयाइं उक्कोसेणं देसूणाओ दो पुव्वकोडीओ ।"

ते च परिहारविशुद्धिकसंयताः उत्कृष्टानुभागबन्धकालं विहाय शेषसर्वकालं सप्तानामनुत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति । तेन परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां सप्तकर्मणामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रय उत्कृष्टकालो यथोक्तमानो लभ्यते ।

शेषमार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः सर्वाद्धा इति दर्शयन्नाह—'**ऽण्णासु सव्वद्धा**' अन्यासु-अनन्तरोक्ताऽपर्याप्तमनुष्याद्येकादशमार्गणाः संत्यज्य शेषास्वेकोनषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं सर्वाद्धा सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकालो ज्ञातव्यः। सर्वाद्धाया निरवधिकत्वेन जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नत्वाभावात् न जघन्यो न वोत्कृष्टो लभ्यते। कुतः सर्वाद्धा ? प्रागुक्तचतुर्थकुलिकायाः प्रवेशात्, तथाहि-एताः सर्वमार्गणाः सार्वकालिक्यः ततः सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धकाः सर्वदा समवाप्यन्ते,अत एव निरुक्तबन्धकानां कालः सर्वाद्धा दर्शित इति ॥४८२।४८३॥

तदेवमादेशत आयुर्वर्जानां सप्तकर्मणामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोर्बन्धकानां नानाजीवानधिकृत्य कालोऽभिहितः । साम्प्रतमायुष्कस्य द्वयोरनुभागयोर्बन्धकानां नानाजीवाश्रयं कालं व्याहर्तुमना आदौ तावत् तदुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां कालं गाथाद्वयेनाऽऽह—

सव्वासु मग्गणासुं कालो उक्कोसियाणुभागस्स ।
समयो जहण्णगो खलु बोद्धव्वो आउकम्मस्स ॥४८४॥
जहि बंधगा असंखा तहि गुणतीसाअ होइ उक्कोसो ।
आवलिआऽसंखंसो सेसासुं संखिया समया ॥४८५॥

(प्रे०) '**सव्वासु**' इत्यादि, सर्वासु मार्गणासु-आयुर्बन्धप्रायोग्यत्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु आयुःकर्मण उत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां जघन्यकालः समयो बोद्धव्यः । कुतः ? इति चेत् ? उच्यते-सर्वासु मार्गणास्वायुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धका असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतीवस्तोकाः सन्ति,तथा एतासु सर्वासु मार्गणास्वायुष्कसत्कोत्कृष्टानुभागः संज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यायुष्केण सह बध्यते, तेन प्रकृतकालः सर्वाद्धा न प्राप्यते, किन्तु जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नः प्राप्यते । यदा तत्तद्मार्गणासु समयं यावद् उत्कृष्टरसो बध्यते तदूर्ध्वं त्वेकोऽपि जीवस्तद्बन्धकत्वेन न लभ्यते तदा तत्तद्मार्गणास्वायुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवानाश्रित्य जघन्यकालः समयो भवति ।

अथ द्वितीयगाथयाऽऽयुष्कसत्कोत्कृष्टानुभागबन्धकानामुत्कृष्टः कालो निगद्यते–**'जहि'** इत्यादि, यत्र 'बन्धकाः' आयुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धका असंख्याताः, तत्र **'गुणतीसाअ'** एकोनत्रिंशद्मार्गणासु प्रकृतबन्धकानामुत्कृष्टः काल आवलिकाऽसंख्यांशः-आवलिकाया एकासंख्यभागमात्रो भवति, कुतः ? इति चेत् , उच्यते–द्वितीयकुञ्चिकायाः प्रवेशात् । तथाहि–आसु एकोनत्रिंशद्मार्गणासु प्रकृतबन्धका असंख्याता भवन्तीति परिमाणद्वारे प्रोक्तम् । तथा च तद्ग्रन्थः–

''तमतमतिरितिपणिंदियतिरियसयलतेउवाउभेएसु । अण्णाणिगे अयते तिअसुहलेसा अभवियेसु ॥३७२॥
मिच्छत्तासण्णीसु तिव्वऽणुभागस्स बंधगा णेया । आउस्स असंखेज्जा संखेज्जा हुंति सेसासु ॥३७३॥'' इति

ते च बन्धका असंख्येयाः सन्तोऽप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतीव स्तोका इति प्राग् कथितम् , तथा चात्रायुष्कसत्कोत्कृष्टानुभागस्यैकजीवाश्रितो बन्धकालः संख्यातसमय एव, एवं प्रागुक्तद्वितीयकुञ्चिकायाः प्रवेशेन निरुक्तबन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकाल आवलिकाऽसंख्येयभागमात्रो भणित इति । अथ शेषमार्गणास्वाह–**''सेसासु संखिया समया'** इति, शेषासु प्रागुक्तैकोनत्रिंशद्भेदवर्जचतुस्त्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु आयुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकालः संख्याताः समयाः, कुतः ? इति चेत् , उच्यते–अत्रायुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाः संख्याता एकजीवाश्रितो बन्धकालोऽपि संख्यातसमयमात्रः, एवं प्रथमकुञ्चिकायाः प्रवेशेनायुष्कसत्कोत्कृष्टानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकालः संख्यातसमयमात्रो भवतीति ।

शेषमार्गणा नामत इमाः–सप्तमनारकभेदवर्जनिरयभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदः, सर्वे मनुष्यभेदाः, सर्वे देवभेदाः इन्द्रियमार्गणास्थानस्य सर्वे भेदाः, सर्वे पृथ्वीकायभेदाः, सर्वेऽप्कायभेदाः, सर्वे वनस्पतिकायभेदाः, सर्वे त्रसकायभेदाः आयुर्बन्धायोग्यवैक्रियमिश्र-कार्मणभेदद्वयवर्जाः शेषाः षोडशयोगमार्गणाभेदाः । स्त्री-पुं-नपुंसक-क्रोधादिचतुष्कषाय-मत्यादिचतुर्ज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-देशविरति-चक्षुरचक्षुरवधिदर्शन-तेजः-पद्म-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-वेदक-सास्वादन-संज्ञ्याहारि-मार्गणाभेदाश्चेति ॥४८४।४८५॥

प्रदर्शित आयुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः । सम्प्रति तस्यैवानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां कालं चिकथयिषुरादौ तावद् यासु मार्गणासु निरुक्तकालः सर्वाद्धा प्राप्यते तासु मार्गणास्वाह—

तिरिये सव्वेगिंदियनिगोअवणसेससुहुमभेएसु ।
पुहवाइचउसु तेसिं बायरबायरअपज्जेसु ॥४८६॥
पत्तेअवणम्मि तहा तदपज्जत्तम्मि कायजोगे य ।
ओरालदुगम्मि तहा णपुंसगे चउकसायेसु ॥४८७॥

अण्णाणदुगे अयते अचक्खुअपसत्थलेसभवियेसुं ।
अभवियमिच्छत्तेसुं असण्णिआहारगेसुं च ॥४८८॥
आउस्स बंधगाणं अत्थि अणुक्कोसियाणुभागस्स ।
सव्वद्धा सेसासुं हस्सो समयो मुणेयव्वो ॥४८९॥

(प्रे०) 'तिरिये' इत्यादि, तिर्यगोघ-सर्वैकेन्द्रिय-सर्वनिगोद-वनस्पत्यौघ-सूक्ष्मपृथ्वीकाय-त्रिभेद-सूक्ष्माप्कायत्रिभेद-सूक्ष्मतेजःकायत्रिभेद-सूक्ष्मवायुकायत्रिभेद-पृथ्व्यादिचतुःसामान्यभेद-तद्बादरचतुर्भेद-तद्बादराऽपर्याप्तचतुर्भेद-प्रत्येकवनस्पतिकायौघ-तदपर्याप्तभेद-काययोगौदारिकौदारिकमिश्रयोग-नपुंसकवेद-चतुष्कषाय-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्ण-नील-कापोतलेश्या-भव्याऽभव्य-मिथ्यात्वाऽसंज्ञ्याहारिलक्षणासु द्वाषष्टिमार्गणासु प्रत्येकमायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः सर्वाद्धाऽस्ति। कुतः ? इति चेत्, उच्यते-एतासु प्रत्येकं मार्गणासु जीवा असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा अनन्ता वा सन्ति, तत आयुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका अप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा अनन्ता वा लभ्यन्ते। एवमत्र तृतीयकुक्षिकायाः प्रवेशात् प्रकृतबन्धकानां कालः सर्वाद्धा कथितः । उक्तशेषमार्गणासु प्रकृतकालस्य सादिसान्तत्वात् जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नः कालो लभ्यते, तत्रायुष्कमस्कानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितं जघन्यकालमाह 'सेसासु' इत्यादि, शेषासु-अनन्तरोक्तद्वाषष्टिमार्गणाः संत्यज्यैकाधिकशतमार्गणासु हस्वो-जघन्यः कालः समयो ज्ञातव्यः। भावना चेयम्-अत्र तत्तद्मार्गणास्वेकादिजीवा आयुष्कस्य बन्धकाः सन्ति ते च सर्वे यदि तस्योत्कृष्टानुभागं बद्ध्वा समयं यावदनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धं विदधति ततश्च पुनरुत्कृष्टानुभागबन्धं विदधति अथवाऽऽयुर्बन्धात् सर्वे विरमन्ते तदा नानाजीवाश्रितः प्रकृतबन्धकालः समयमात्रो भवतीति ॥४८६।४८७।४८८।४८९॥

इदानीमेकाधिकशतमार्गणाभ्यो यासु मार्गणास्वायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां संख्यातत्वेन नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तमात्रो भवति तासु अन्यासु च प्राह—

दुणराणतपहुडीसुं आहारदुगमणपज्जवेसु तहा ।
संयमसामइएसुं छेए परिहारसुक्कखइएसुं ॥४९०॥ [गाथा]
जेट्ठो भिन्नमुहुत्तं बोद्धव्वो मग्गणासु सेसासुं ।
पलिओवमस्स भागो असंखिययमो मुणेयव्वो ॥४९१॥

(प्रे०)'दुणराणतपहुडीसु' इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मनुष्ययोनिमत्यानत-प्राणताऽऽरणाऽच्युत-नवग्रैवेयक-पञ्चानुत्तराऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रयोग-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थाप-

नीय-परिहारविशुद्धि-शुक्ललेश्या- क्षायिकसम्यक्त्वलक्षणास्वेकोनत्रिंशद्मार्गणास्वायुष्कसत्कानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकालो भिन्नमुहूर्तोऽन्तर्मुहूर्तं बोद्धव्यः । कुतः ? इति चेत्, उच्यते-एतासु मार्गणास्वेवायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः संख्याताः । यदुक्तम्—

"पज्जमणुसमणुसीसु आहारदुगाणताइदेवेसु । मणणाणसंयमसमइअछेअपरिहारसुक्कखइएसु ॥३७४॥
अणुरुरसस्स हवेज्जा संखेज्जाउस्स........ ....।" इति ॥३७५॥

तथैकजीवाश्रित उत्कृष्टबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तमेव, ततः सप्तमकुञ्चिकायाः प्रवेशादायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य नानाजीवाश्रित उत्कृष्टबन्धकाल अन्तर्मुहूर्तमेव भवति, तदूर्ध्वं तु तद्बन्धकानां सर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं भवति ।

निरुक्तैकोत्तरशतमार्गणाभ्योऽनन्तरोक्तपर्याप्तमनुष्याद्येकोनत्रिंशन्मार्गणा वर्जयित्वा शेषद्वासप्ततिमार्गणास्वायुष्कसत्कानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धका असंख्येयाः सन्तोऽप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतीवस्तोकाः, एकजीवाश्रितस्तदुत्कृष्टबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तमात्रः, तेन षष्ठकुञ्चिकायाः प्रवेशो भवति, अतस्तासु प्रत्येकमायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकाः सातत्येनोत्कृष्टतः पल्योपमस्याऽसंख्येयतमभागकालं यावत् समवाप्यन्ते तदूर्ध्वं तु नियमात् तद्बन्धकानामन्तरं भवति । स च बन्धकालो ग्रन्थकृता स्वयमेव दर्श्यते-**'मग्गणासु सेसासु"** इत्यादि, सुगममनन्तरमेव भावितत्वात् । शेषद्वासप्ततिमार्गणा नामतः पुनरिमाः—सर्वे निरयभेदाः सर्वे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिभेदाः, मनुष्यौघाऽपर्याप्तमनुष्यभेदौ, देवौघः, भवनपत्यादिसहस्रारकल्पान्ता एकादशदेवभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियभेदाः, बादरपर्याप्तपृथ्व्यादिचतुर्भेदाः, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदः, सर्वे त्रसकायभेदाः,पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-वैक्रिययोगभेदाः,स्त्री-पुरुषवेद-मत्यादित्रिज्ञान-विभङ्ग-देशविरति-चक्षुरवधिदर्शन-तेजः-पद्मलेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायोपशमिक-सास्वादन-संज्ञिमार्गणाभेदाश्चेति । ॥४९०।४९१॥

तदेवं प्रतिपादित ओघादेशाभ्यामष्टानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोः प्रत्येकं बन्धकानां नानाजीवाश्रितो निरन्तरकालः । सम्प्रति जघन्याजघन्यानुभागविषयकं तत्कालं बिभणिषुरादौ तावदोघतः प्राह—

कालो तिअघाईणं पयडीणं बंधगाण सव्वद्धा ।
मंदरसस्स जहण्णो पंचण्हं होअए समयो ॥४९२॥
जेट्ठो संखियसमया चउण्ह घाईण होइ गोअस्स ।
आवलिआऽसंखंसो अट्ठण्हियरस्स सव्वद्धा ॥४९३॥

(प्रे०) **'कालो'** इत्यादि, त्र्यघातिनीनां वेदनीयायुर्नामलक्षणानां प्रकृतीनां मन्दरसस्यजघन्यानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः सर्वाद्धा ज्ञातव्यः । कुतः ? इति चेत्,

उच्यते-एतत्प्रकृतीनां जघन्यानुभागः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यते, ततस्तत्बन्धकत्वेन निगोद-जीवानामपि संभवाज्जघन्यानुभागबन्धका अनन्ताः प्राप्यन्ते एवं प्रागुक्ततृतीयकुञ्चिकायाः प्रवेशात् त्र्यघातिनीनां जघन्यानुभागबन्धकाः नियमात् सर्वदा लभ्यन्ते अत एव प्रकृतकालः सर्वाद्धा प्रोक्तः ।

अथ शेषपञ्चप्रकृतीनां निरुक्तकालः कियत्प्रमाणः ? इत्याह-'पंचण्ह' इत्यादि, पञ्चानां-चतुर्घातिगोत्रप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितो जघन्यकालः समयो भवति । तासामुत्कृष्टकालमाह-'जेट्ठो' इत्यादि, चतसृणां घातिप्रकृतीनां 'ज्येष्ठः', जघन्यानुभागस्य बन्धकानां ज्येष्ठ-उत्कृष्टकालः संख्याताः समयाः, गोत्रस्य चावलिकाऽसंख्यांशः-आवलिकाया एकाऽसंख्यातभागमात्रो भवति । इयमत्र भावना-इह घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकतया क्षपकमहानुभावाः प्रोक्ताः, ते च ख्याता एव एकजीवाश्रितश्च तद्बन्धकालः समयमात्रः, एवं प्रागुक्तप्रथमकुञ्चिकायाः प्रवेशात् तद्बन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकालः संख्यातसमया एव, गोत्रस्य पुनर्जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वेन सम्यक्त्वाभिमुखाः सप्तमनारकाः कथिताः, ते चोत्कृष्टपदे असंख्याता एव लभ्यन्ते, एकजीवाश्रितश्च तद्बन्धकालः समयः, अतो निरुक्तद्वितीयकुञ्चिकायाः प्रवेशात् तद्बन्धका उत्कृष्टत आवलिकाया एकासंख्यातभागकालं यावद् नैरन्तर्येणाऽवाप्यन्त इति ।

तथा 'अट्ठण्हियरस्स' इत्यादि, अष्टानां मूलप्रकृतीनाम् इतरस्य-जघन्यादितरस्याऽजघन्यानुभागस्येत्यर्थः, बन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः सर्वाद्धा, कुतः ? इति चेदुच्यते-निगोदादिजीवेषु सर्वदा तासामजघन्यानुभागस्य बन्धसद्भावात् ॥४९२।४९३॥

तदेवमोघतोऽष्टानां मूलप्रकृतीनां जघन्याजघन्यानुभागयोर्बन्धकानां नानजीवाश्रितं कालं प्ररूप्य, साम्प्रतमादेशत आयुष्कवर्जसप्तप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकानां कालं चिचिन्तयिषुरादौ तावत् तद्बन्धकानां जघन्यकालं प्राह—

जहि कालो सव्वद्धा मंदऽणुभागस्स वक्खमाणाणं ।
जेसिं णत्थि तहिं सिं समयो हस्सो मुणेयव्वो ॥४९४॥

(प्रे०) 'जहि' इत्यादि, यत्र वक्ष्यमाणानां यासां प्रकृतीनां मन्दानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवानधिकृत्य कालः सर्वाद्धा नास्ति, तत्र तासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकानां 'ह्रस्वः'-जघन्यकालः समयो ज्ञातव्य इति ।

भावार्थः पुनरेवम्-यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां नानाजीवानधिकृत्य जघन्यानुभागबन्धः सार्वकालिको न भवति तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्य कादाचित्कत्वात् तद्बन्धकालो जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नः संप्राप्यते । यदि तत्तद्मार्गणासु तत्तत्प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकाः समयं यावद् लभ्यन्ते, तत्पश्चाद् तासु मार्गणासु तत्प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकत्वेनै-

कोऽपि न लभ्यते तदा तासु मार्गणासु तत्प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितो जघन्यबन्धकालः समयमात्रो भवतीति ॥ ४९४ ॥

तदेवं सर्वत्र सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितं यथासंभवं जघन्यकालं प्रदर्श्य साम्प्रतं सर्वासु मार्गणासु तासां तद्बन्धकानामुत्कृष्टकालं, सर्वाद्धाकालं वा दिदर्शयिषुरादौ तावद् यासु मार्गणासु घातिगोत्रप्रकृतीनां निरुक्तबन्धकानामुत्कृष्टकाल आवलिकाया असंख्येयतमभागः वेदनीयनाम्नोः पुनः सर्वाद्धा प्राप्यते तासु मार्गणासु प्राह—

कालो हवेज्ज तिरिये तेउअणिलबायरग्गिवाऊसुं ।
कम्मासुहलेसासुं अभवे अमणे अणाहारे ॥४९५॥
उक्कोसो बोद्धव्वो मंदऽणुभागस्स घाइगोआणं ।
आवलिआऽसंखंसो सव्वद्धा वेअणामाणं ॥४९६॥

(प्रे०) 'कालो' इत्यादि, तिर्यगोघ-तेजःकायोघ-वायुकायोघ-बादरतेजःकाय-बादरवायुकाय-कार्मणयोग--कृष्णादित्र्यशुभलेश्याऽभव्याऽसंज्ञ्यनाहारकलक्षणासु द्वादशमार्गणासु घातिगोत्राणां पञ्चप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टः काल आवलिकाऽसंख्यांशः—आवलिकाया एकासंख्यातभागमात्रः, वेदनीयनाम्नोश्च सर्वाद्धा भवति। कुतः ? इति चेत् , उच्यते—एतासु सर्वासु मार्गणासु घातिगोत्राणां जघन्यानुभागबन्धस्य विशुद्धिनिबन्धनत्वात् तत्स्वामिनोऽसंख्याताः सन्तोऽप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतीव स्तोकाः, एकजीवाश्रितो बन्धकालः संख्यातसमयप्रमाणः, यतः सामान्यतोऽप्येकजीवाश्रितो जघन्यानुभागबन्धकालः चतुःसमयेभ्योऽधिको न प्राप्यते, अत्र तु तद्बन्धो विशुद्धिनिबन्धनः, ततः समयद्वयादधिको न प्राप्यते । एवमत्र द्वितीयकुञ्चिकायाः प्रवेशाद् घातिगोत्राणां जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकाल आवलिकाऽसंख्यातभागमात्र उक्तः ।

वेदनीयनाम्नोः पुनर्जघन्यानुभागबन्धः परावर्तमानपरिणामेन जायते, ततस्तद्बन्धकास्तेजोवायुतद्बादरलक्षणासु चतसृषु मार्गणास्वसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमिताः । शेषाष्टमार्गणासु पुनरनन्ताः सन्ति, ततः प्रागुक्ततृतीयकुञ्चिकायाः प्रवेशाद् निरुक्तबन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः सर्वाद्धा घटते ॥ ४९५ । ४९६ ॥

अधुना यासु मार्गणासु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितः प्रकृष्टकालः संख्यातसमयमात्रः, अघातित्रयस्य पुनरावलिकाऽसंख्यातभागमात्रोऽस्ति तासु प्राह—

णरदुपणिंदितसेसुं पणमणवयपुरिसथीतिणाणेसुं ।
विब्भंगे देसम्मि य णयणोहिपसत्थलेसासुं ॥४९७॥

सम्मत्तखइअवेअगउवसमसण्णीसु संखसमयाऽत्थि ।
घाईण असंखंसो आवलिआए अघाईणं ॥४९८॥

(प्रे०) **'णरदुपणिंदि'** इत्यादि, मनुष्यौघ-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-पुरुष-स्त्रीवेद-मत्यादित्रिज्ञान-विभङ्ग-देशविरति-चक्षुरवधिदर्शन-तेजःप्रमुखत्रिप्रशस्तलेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-वेदकोपशमसम्यक्त्व-संज्ञिरूपासु द्वात्रिंशद्मार्गणासु चतुर्घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकालः संख्याताः समयाः, तथाऽघातिनीनां वेदनीयनामगोत्रप्रकृतीनामावलिकाऽसंख्यांशः-आवलिकाया एकाऽसंख्यातभागमात्रोऽस्ति । **इयमत्र भावना**-एतद्द्वात्रिंशद्मार्गणासु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकाः संख्याता एव, अघातित्रयस्य पुनरसंख्याता इति परिमाणद्वारे प्रदर्शितम् । तद्ग्रन्थश्चेत्थम्—
"णरदुपणिंदितसेसु पणमणवयइत्थिपुमतिणाणेसु । विब्भंगे देसम्मि य णयणोहिपसत्थलेसासु ॥३७९॥
सम्मत्तखइअवेयगउवसमसण्णीसु बधगा णेया । घाईणं संखेज्जा तिअघाईणं असंखेज्जा ॥३८०॥" इति
सप्तानां जघन्यानुभागस्यैकजीवाश्रित उत्कृष्टबन्धकालः संख्यातसमयमात्रः, ततो घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धविषये प्रथमकुक्षिकायाः, अघातित्रयस्य जघन्यानुभागबन्धविषये तु द्वितीयकुक्षिकायाः प्रवेशात् तद्बन्धकानां क्रमशः नानाजीवाश्रितः कालः सङ्ख्यातसमयप्रमितः, आवलिकाऽसंख्येयतमभागप्रमाणश्च प्रतिपादित इति ॥४९७।४९८॥

इदानीं यासु मार्गणासु सप्तानां जघन्यानुभागबन्धका उत्कृष्टतोऽपि संख्याता एव सन्ति, तासु मार्गणासु सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकालः संख्यातसमयमात्रोऽस्तीति निगदन्नाह—

पज्जत्तणराईसुं संखियरासीसु मग्गणासु भवे ।
बारससुं संखेज्जा समया सत्तण्ह कम्माणं ॥४९९॥

(प्रे०) **'पज्जत्तणराईसु'** इत्यादि, पर्याप्तमनुष्यादिषु-अत्रादिपदेन मनुष्ययोनिमतीसर्वार्थसिद्धाऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रयोगाऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायलक्षणा एकादशमार्गणा ग्राह्याः, ततश्च **'बारससु'** द्वादशसु संख्यातराशिषु मार्गणासु सप्तानां कर्मणां जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकालः संख्यातसमयप्रमितो भवेत् । नवरं सूक्ष्मसम्पराये षट्कर्मणामिति व्याख्यानतो ज्ञेयम् । भावना चात्र सुगमा ॥४९९॥

साम्प्रतमेकेन्द्रियौघ-तद्बादर-तत्पर्याप्तबादररूपासु त्रिमार्गणासु प्रकृतमाह—

एगिंदिये तहा से बादरपज्जत्तबायरेसु भवे ।
आवलिआऽसंखंसो गोअस्सियराण सव्वद्धा ॥५००॥

(प्रे०) 'एगिंदिये' इत्यादि, एकेन्द्रियौघ-बादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरैकेन्द्रियलक्षणासु तिसृषु मार्गणासु गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकालः आवलिकाऽसंख्यातभागमात्रः जघन्यकालस्तु "जहि कालो सव्वद्धा ..." इत्यादिगाथया समयमात्रो निगदितः । इतरेषां चतुर्घातिवेदनीयनामकर्मणां सर्वाद्धा भवति । कुतः ? इति चेत्, उच्यते–अत्र गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धकत्वेन पर्याप्तबादरास्तेजोवायुकायिका निर्दिष्टाः, ते चाऽसंख्येयाः सन्तोऽप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतीव स्तोकाः, एवं द्वितीयकुञ्चिकायाः प्रवेशात् यथोक्तकालः प्राप्यते । तथा घातिचतुष्कमन्कजघन्यानुभागबन्धस्य पर्याप्तबादरनिगोदानामपि जायमानत्वात् तद्बन्धका अनन्ताः प्राप्यन्ते, वेदनीयनाम्नोस्तु परावर्तमानमध्यमपरिणामेन तद्बन्धसद्भावात् सुतरामनन्ताः प्रकृतबन्धकाः लभ्यन्ते, एवं तृतीयकुञ्चिकायाः प्रवेशात् षण्णां जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः सर्वाद्धा प्रोक्तः ।।५००।।

सम्प्रति यासु मार्गणासु भङ्गविचयद्वारे सप्तानां जघन्यानुभागस्य 'अनेके बन्धकाः अनेकेऽबन्धकाः' इति अष्टम एव भङ्गः प्रदर्शितः, तासु मार्गणासु सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः सर्वाद्धा भवतीति प्रकटयन्नाह—

जहि अट्ठमो च्च भंगो मंदऽणुभागस्स अत्थि सत्तण्हं ।
तासु गुणतीसाए हवेज्ज सत्तण्ह सव्वद्धा ।। ५०१ ।।

(प्रे०) 'जहि' इत्यादि, यत्र-यासु मार्गणासु सप्तप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्याष्टमः अनेके बन्धकाः अनेकेऽबन्धकाः' इति लक्षण एक एव भङ्गोभङ्गविचयद्वारे—

"असमत्तबायरसयलसुहमेगिंदिचउकायभेएसुं । वणसयलनिगोएसुं अपज्जपत्तेअवणकाये ।।३४०।।
सत्तण्ह वि कम्माणं विण्णेयो अट्ठमो च्चिअ विगप्पो ।" .... ।।३४१।।

इति गाथया प्रतिपादितोऽस्ति तासु-अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियपृथ्व्यादिचतुर्भेदाष्टादशात्मकसर्वसूक्ष्मभेद-वनस्पतिकायौघा-ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय-साधारणवनस्पतिकायौघ-तद्बादरत्रिभेदलक्षणास्वेकोनत्रिंशद्मार्गणासु सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितकालः सर्वाद्धा भवति, कुतः ? इति चेत् , उच्यते–अत्र सप्तानां जघन्यानुभागस्य बन्धका असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमिताः, अनन्ता वा, ततस्तासां तद्बन्धकाः सर्वदा प्राप्यन्ते, तेन'अनेके बन्धकाः अनेकेऽबन्धकाः' इत्येक एव भङ्गः प्रतिपादितः,अत एव निरुक्तबन्धकानां कदाचिदपि सर्वथाऽभावलक्षणस्यान्तरस्याभावात् सर्वाद्धा निरुक्तकालः प्रोक्तः ।।५०१।।

सम्प्रति यासु मार्गणासु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकालः आवलिकाऽसंख्यातभागमात्रः, अघातित्रयस्य पुनः सर्वाद्धा प्राप्यते, तासु प्राह–

पुढवीदगतब्बायरपत्तेअवणेसु होइ घाईणं ।
आवलिआऽसंखंसो तिण्ह अघाईण सव्वद्धा ।।५०२।।

(प्रे०) **'पुढवीदग'** इत्यादि-पृथ्वीकायौघ-बादरपृथ्वीकायाऽप्कायौघबादराऽप्काय-प्रत्येकवनस्पतिकायौघलक्षणासु पञ्चसु मार्गणासु घातिनीनां-ज्ञानावरणादिचतुर्घातिप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकाल आवलिकाऽसंख्यातांशः, तिसृणामघातिनीनां-वेदनीयनामगोत्ररूपाणां सर्वाद्धा भवति ।

इयमत्र भावना- एतासु प्रत्येकं मार्गणासु घातिचतुष्कसत्कजघन्यानुभागबन्धस्य तीव्रविशुद्धया जायमानत्वेन तत्स्वामिनः पर्याप्तबादरजीवाः प्राप्यन्ते, ते चासंख्येयाः सन्तोऽप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतीव स्तोकाः एवं प्रागुक्तद्वितीयकुञ्चिकायाः प्रवेशात् घातिचतुष्कसत्कजघन्यानुभागबन्धकाः सातत्येन प्रकृष्टतः आवलिकाया एकासंख्यातभागकालं यावदवाप्यन्ते, ततः परं तत्रैकोऽपि जीवस्तद्बन्धकत्वेन न लभ्यते, अघातित्रयस्य चात्र परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जघन्यानुभागबन्धसद्भावेनाऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणास्तद्बन्धका लभ्यन्ते, भङ्गविचयद्वारे आसु मार्गणासु तज्जघन्यानुभागस्य 'अनेके बन्धकाः अनेकेऽबन्धकाः' इत्यष्टम एक एव भङ्गः प्रोक्तः तेनात्राऽघातित्रयस्य जघन्यानुभागबन्धकाः सर्वदैव प्राप्यन्ते इति ॥५०२॥

एतर्हि यासु मार्गणासु सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितः काल ओघवद् भवति, तासु मार्गणास्वाह—

सत्तण्होघव्व भवे कायउरलदुगणपुंकमायेसुं ।
दुअणाणायतअणयणभविमिच्छत्तेसु आहारे ॥५०३॥

(प्रे०) **'सत्तण्होघव्व'** इत्यादि, काययोगौदारिकौदारिकमिश्रयोगनपुंसकवेद-चतुष्कषाय-मत्यज्ञान श्रुताज्ञानाऽसंयमाऽचक्षुर्दर्शन-भव्य-मिथ्यात्वाऽऽहारिलक्षणासु पञ्चदशमार्गणासु सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानां काल ओघवद् भवेत् । इदमुक्तं भवति-निरुक्तपञ्चदशमार्गणासु यथौघे घातिचतुष्कस्य संख्याताः समयाः गोत्रस्य चावलिकाऽसंख्यातभागमात्रः वेदनीयनाम्नोः पुनः सर्वाद्धा जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकालः प्रोक्तः, तथैवात्रापि वेदितव्यः ।

इयमत्र भावना–मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाऽसंयममिथ्यात्वलक्षणासु चतसृषु मार्गणासु यद्यपि घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकत्वेन क्षपकाः न प्राप्यन्ते तथापि तत्र तद्बन्धकत्वेन संयमाभिमुखमनुष्याः प्रोक्ताः ते च संख्याता एव, शेषमार्गणासु पुनस्तद्बन्धकत्वेन क्षपकाः लभ्यन्ते अत एव ओघवद् घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकानां कालः संख्यातसमयमात्रो लभ्यते । तथा चात्रौदारिकौदारिकमिश्रमार्गणाद्वयवर्जशेषत्रयोदशमार्गणासु गोत्रसत्कजघन्यानुभागबन्धकास्तु ओघवद् भवन्ति, औदारिकौदारिकमिश्रमार्गणाद्वये पुनः पर्याप्तबादरतेजोवायुकायिकाः, ते त्वसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतीव स्तोकाः ततो गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धका उत्कृष्टतः आवलिकाऽसंख्यातभागमात्रकालं सातत्येन लभ्यन्ते । इह वेदनीयनाम्नोस्तु जघन्यानुभागबन्धका अनन्ताः,

ततः सर्वदा लभ्यन्ते अत एव आसु पञ्चदशमार्गणासु सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितकाल ओघवदतिदिष्टः ॥५०३॥

साम्प्रतं यासु मार्गणासु सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टः काल आवलिकाऽसंख्यातभागमात्रो भवति, ताः मार्गणाः शेषशब्देन संगृह्य तत्राह—

सेसासु असंखंसो आवलिआए हवेज्ज सत्तण्हं ।

(प्रे०) '**सेसासु**' इत्यादि, शेषासु-प्राग्भणितोद्धरितासु-अष्टोत्तरशतमार्गणा वर्जयित्वा द्वाषष्टिमार्गणास्वित्यर्थः । सप्तप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकाल आवलिकाऽसंख्यांशः-आवलिकाया एकासंख्यातभागमात्रो भवति ।

अत्र सप्तानां जघन्यानुभागबन्धका असंख्येयाः सन्तोऽप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणतः स्तोकाः सन्ति अत एव तद्बन्धका उत्कृष्टत आवलिका-ऽसंख्यभागकालं यावद् नैरन्तर्येणाऽवाप्यन्ते, ततः परमवश्यमेव तद्बन्धकानां सर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं संपद्यते ।

द्वाषष्टिमार्गणाः पुनरिमाः—सर्वे नरकभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिभेदाः, अपर्याप्तमनुष्यभेदः, सर्वार्थसिद्धवर्जैकोनत्रिंशद्देवगतिभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदः, पर्याप्तबादरपृथ्व्यादिचतुर्भेदाः पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदः, अपर्याप्तत्रसकायभेदः वैक्रियवैक्रियमिश्रयोगभेदौ, सास्वादनमिश्रभेदौ चेति ।

तदेवमादेशतः सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितं कालं निरूप्य साम्प्रतं तासामेवाजघन्यानुभागबन्धकानां कालमनुत्कृष्टरसवदतिदिशन्नाह—

कालो सव्वासु अगुरुरसव्व अलहुअणुभागस्स ॥५०४॥

(प्रे०) '**कालो सव्वासु**' इत्यादि, सर्वासु-सप्तत्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकं सप्तानामजघन्यानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः 'अगुरुरसव्व'-अनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां कालवद् भवतीत्यर्थः । कुतः ? इति चेद्, उच्यते-सर्वासु मार्गणासु जघन्यानुभागबन्धकान् विहाय ये अनुत्कृष्टरसस्य बन्धकाः सन्ति, ते सर्वे अजघन्यानुभागस्य बन्धका भवन्ति, उत्कृष्टानुभागबन्धकान् संत्यज्य ये अजघन्यानुभागबन्धकास्ते सर्वे अनुत्कृष्टानुभागबन्धका भवन्ति । अत्र चोत्कृष्टजघन्यानुभागबन्धकास्त्वतीव स्तोकाः, अत एव सप्तानामजघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालोऽनुत्कृष्टरसवदतिदिष्टः । स च काल इत्थमवगन्तव्यः, अपर्याप्तमनुष्यवैक्रियमिश्राऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रयोगापगतवेदछेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्परायोपशममिश्रदृष्टिसास्वादनलक्षणासु एकादशमार्गणासु नानाजीवाश्रितो जघन्यकालस्त्वेवम्-अपर्याप्तमनुष्यवैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रा-ऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसास्वादनलक्षणासु सप्तमार्गणासु सप्तानामजघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितो जघन्यकालः समयमात्रो, वैक्रियमिश्राहारकमिश्रमार्गणाद्वये जघन्य-

कालः समयः प्रोक्तः स च स्वस्थानस्वाम्यपेक्षया वेदितव्यः, छेदोपस्थापनीयमार्गणायां पुनः सार्धशतद्वयवर्षाणि, परिहारे तु सप्तानामजघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितो जघन्य उत्कृष्टश्च कालोऽनुत्कृष्टानुभागवद् ज्ञेयः। उपशम-मिश्रदृष्टिमार्गणाद्वये पुनरन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति। तथा तेषां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकालः अपर्याप्तमनुष्यवैक्रियमिश्रोपशममिश्रदृष्टिसास्वादनलक्षणासु पञ्चसु मार्गणासु पल्योपमस्यैकाऽसंख्यातभागमात्र आहारका-ऽऽहारकमिश्रा-ऽपगतवेदसूक्ष्मसंपराय-लक्षणचतुर्मार्गणासु पुनरन्तर्मुहूर्तप्रमितः छेदोपस्थापनीयमार्गणायां तु पञ्चाशत्कोटिशतसहस्राणि सागरोपमाणि परिहारविशुद्धिकमार्गणायां च देशोनपूर्वकोटिद्वयवर्षप्रमितो भवति। प्रागुक्ता-ऽपर्याप्तमनुष्याद्येकादशमार्गणावर्जैकोनषष्ट्यधिकशतमार्गणाः सार्वकालिक्यः सन्ति, ततः सप्तानाम-जघन्यानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः सर्वाद्धा भवतीति ॥५०४॥

प्रतिपादितः सप्तानां जघन्याजघन्यानुभागयोर्बन्धकानां नानाजीवाश्रितः काल आदेशतः। साम्प्रतमायुष्कस्यैतयोरनुभागयोर्बन्धकानां कालं प्रस्तुवन्नादौ तावत् जघन्यानुभागविषयं काल-मार्याद्वयेनाचष्टे—

जहि अट्ठमो च्च भंगो मंदऽणुभागस्स आउगस्स भवे।
तहि कालो सव्वद्धा सेसासु भवे लहू समयो ॥५०५॥
जहि बंधगाऽत्थि संखा तहि गुणतीसाअ संखिया समया।
जेट्ठो अवसेसासु आवलिआए असंखंसो ॥५०६॥

(प्रे०) 'जहि अट्ठमो' इत्यादि, यत्र-यासु मार्गणासु आयुष्कस्य मन्दानुभागस्य-जघन्या-नुभागस्य 'अट्ठमो' 'अनेके बन्धकाः अनेकेऽबन्धकाः' इति अष्टम एक एव भङ्गो भवेत्, तत्र किम्? इत्याह-'तहि कालो सव्वद्धा' इति तत्र-तासु तिर्यगोघादिद्वाषष्टिमार्गणास्वायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितकालः सर्वाद्धा भवति, अनेकेषां बन्धकानां सर्वदा सद्भावात्। तथाहि-आयुष्कस्य जघन्यानुभागस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जायमानत्वेन तिर्यगोघादिमार्गणासु तद्बन्धका अनन्ताः, सूक्ष्मपृथ्व्यादिमार्गणासु पुनरसंख्येयलोकाकाशप्रदेश-राशिप्रमाणा लभ्यन्ते, एवं प्रागुक्ततृतीयकुञ्चिकायाः प्रवेशादायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकाः सर्वदा लभ्यन्ते अत एव भङ्गविचयद्वारे अष्टम एक एव भङ्गः प्रोक्तः, अत्र च सर्वाद्धाकाल इति। द्वाषष्टिमार्गणास्त्विमाः-तिर्यगोघ-सर्वैकेन्द्रियभेद-सर्वनिगोदभेद-पृथ्व्यादिपञ्चकायोघ-बादरपृथ्व्यादि-चतुर्भेदा-ऽपर्याप्तबादरपृथ्व्यादिचतुर्भेद-सूक्ष्मपृथ्वीकायत्रिभेद-सूक्ष्माप्कायत्रिभेद-सूक्ष्मतेजःकायत्रि-भेद-सूक्ष्मवायुकायत्रिभेद-प्रत्येकवनस्पतिकायाऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय-काययोगसामान्यौदारिकौ-दारिकमिश्रयोग-नपुंसकवेद-चतुष्कषाय-मत्यज्ञान-श्रुताऽज्ञाना-ऽसंयमाऽचक्षुर्दर्शन-कृष्णादित्र्यशुभले-श्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्या-हारिमार्गणा इति। द्वाषष्टिमार्गणावर्जैकोत्तरशतमार्गणास्वायु-

ष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकानां कालः सर्वाद्धा न प्राप्यते, अतो नानाजीवाश्रितः स जघन्योत्कृष्ट-भेदभिन्नो भवति, तत्र जघन्यकालमाह–'**सेसासु भवे लहू समयो**' इति शेषासु-उक्तशेषासु-एकोत्तरशतमार्गणासु आयुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितो जघन्यतः कालः समयो भवेत् । अथोत्कृष्टकालो निगद्यते–'**जहि बंधगाऽत्थि**' इत्यादि, यत्र-यासु मार्गणासु 'बन्धकाः' आयुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकाः संख्याताः सन्ति, '**तहि**'-तत्र पञ्चत्रिंशद्मार्गणासु संख्याताः समयाः, आयुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितः उत्कृष्टकालः । कुतः ? इति चेत्, उच्यते–अत्र पर्याप्तमनुष्यादिपञ्चत्रिंशद्मार्गणास्वायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकाः संख्याता एव, ततः प्रथमकुञ्चिकायाः प्रवेशात् संख्यातसमयप्रमाण उत्कृष्टकालः प्राप्यते । पर्याप्तमनुष्यादिपञ्च-त्रिंशद्मार्गणाः पुनरिमाः-पर्याप्तमनुष्य-मनुष्ययोनिमत्यानत-प्राणताऽऽरणाऽच्युत-नवग्रैवेयक-पञ्चाऽ-नुत्तराऽऽहारकाऽऽहारकमिश्र-मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान-मनःपर्यवज्ञान संयमौघ-सामायिक-छेदोप-स्थापनीय-परिहारविशुद्धिका-ऽवधिदर्शन-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-वेदकमार्गणा इति । तथा '**अवसेसासु**' अवशेषासु–एकोत्तरशतमार्गणाभ्यः पर्याप्तमनुष्यादिपञ्चत्रिंशद्मार्गणा वर्जयित्वाऽव-शिष्टासु षट्षष्टिमार्गणास्वावलिकाया असंख्यांशः-एकासंख्यभागमात्र आयुष्कस्य जघन्यानुभाग-बन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकालो द्रष्टव्यः । अत्रायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धका उत्कृष्टतोऽसं-ख्येयाः सन्तोऽप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतीवस्तोकाः एकजीवाश्रितस्तद्बन्धकालश्चोत्कृष्ट-तोऽपि संख्यातसमयमात्रः एवं द्वितीयकुञ्चिकायाः प्रवेशादत्राऽऽवलिकाया एकासंख्यातभागमात्रः कालः प्रोक्तः ।

अवशिष्टा नरकादिषट्षष्टिमार्गणाः पुनरिमाः–सर्वा निरयमार्गणाः, सर्वाः पञ्चेन्द्रियतिर्य-ग्गतिमार्गणाः, मनुष्यौघाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणे, देवौघ-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-सहस्रारान्तवैमा-निकदेवमार्गणाः, सर्वा विकलेन्द्रियमार्गणाः, सर्वाः पञ्चेन्द्रियमार्गणाः, पर्याप्तबादरपृथ्व्यादिचतुर्भेद-पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायत्रिसकायमार्गणाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-वैक्रिययोगमार्गणाः, स्त्री-पुरुषवेद-विभङ्गज्ञान देशविरति चक्षुर्दर्शन तेजःपद्मलेश्या-सास्वादन-संज्ञिमार्गणाश्चेति ॥५०५।५०६॥

साम्प्रतमायुष्कस्याजघन्यानुभागस्य बन्धकानां कालोऽनुत्कृष्टानुभागवदतिदिशन्नाह—

सव्वासु मग्गणासुं कालोऽणुक्कोसियाणुभागव्व ।
आउस्स जाणियव्वो अजहण्णस्स अणुभागस्स ॥५०७॥

(प्रे०) '**सव्वासु**' इत्यादि, सर्वासु आयुर्बन्धाप्रायोग्यवैक्रियमिश्रादिसप्तमार्गणावर्जत्रिषष्ट्यु-त्तरशतमार्गणास्वायुष्कस्याजघन्यानुभागस्य बन्धकानां कालोऽनुत्कृष्टानुभागवद् ज्ञेयः, सप्तानाम-जघन्यानुभागबन्धकानां कालनिरूपणे उक्तहेतुवदत्राप्यनुत्कृष्टानुभागवत्कथने हेतुः वेदितव्यः ।

बन्धकालश्चेत्थमवगन्तव्यः—प्रागुक्ततिर्यगोघादिद्वाषष्टिमार्गणास्वायुष्कस्याजघन्यानुभागस्य

बन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः सर्वाद्धा, शेषैकाधिकशतमार्गणासु तु जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टतः पुनस्ताभ्यः पर्याप्तमनुष्याद्येकोनत्रिंशद्मार्गणासु अन्तर्मुहूर्तप्रमितः अवशिष्टासु नरकौघादिद्वासप्ततिमार्गणासु तु पल्योपमस्यैकासंख्यातभागमात्रो भवति। भावना चात्रानुत्कृष्टानुभागवत्कार्येति ॥५०७॥ प्रस्तुतद्वारोक्तार्थसंग्रहपराणि यन्त्रकाणि त्वेवम्—卐

तदेवं समर्थितः सर्वासां मूलप्रकृतीनां जघन्याजघन्यानुभागयोर्बन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः। तत्समर्थिते चौघाऽऽदेशाभ्यामष्टानां जघन्याजघन्यानुभागयोरुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोश्च कालः समाप्तः। तत्समाप्तौ च गतम् 'कालो' इत्यनेनोद्दिष्टं पञ्चदशं द्वारम्।

* नानाजीवाश्रितकालसंग्राहककुञ्चिकासप्तकप्रदर्शकं यन्त्रम् *		
उत्कृष्टजघन्यरसबन्धकानां कालसंग्राहिका—बन्धकपरिमाणम् ↓	एकजीवाश्रितकाल ↓	नानाजीवाश्रितकाल ↓
(१) प्रथमा कुञ्चिका— संख्याता	सख्यातसमया	∴ सख्यातसमया एव ,,
(२) द्वितीया—,, असख्याताः—असंख्यलोकराशितो न्यूना.	,,	∴ आवलिकाऽसंख्यभाग. ,,
चतुर्विधरसबन्धकानां कालसंग्राहिका—		
(३) तृतीया— प्रकृतबन्धका असख्यलोका अनन्ता वा		∴ सर्वाद्धा
सप्तानामनुत्कृष्टाऽजघन्यरसबन्धकानां कालसंग्राहिका—		
(४) चतुर्थी—या मार्गणाः सार्वकालिक्य	∴ तत्र सप्तानामनुत्कृष्टाऽजघन्यरसबन्धकाना सर्वाद्धा	
(५) पञ्चमी— ,, सान्तराः	∴ ,, ,, ,, जघन्यतो यथासभव समयादिप्रमाणम् उत्कृष्टतश्च स्वस्वकायस्थितिप्रमाणम्।	
आयुषोऽनुत्कृष्टाऽजघन्यरसबन्धकानां कालसंग्राहिका—		प्रकृतबन्धकाना
(६) षष्ठी—बन्धका असंख्याः-असख्यलोकराशितो न्यूनाः	एकजीवाश्रितकाल अन्तर्मु०	∴ पल्याऽसख्यभागकाल.
(७) सप्तमी— ,, संख्याताः	,, ,, ,, ,,	अन्तर्मु०

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे प्रथमाधिकारे पञ्चदशं कालद्वारं समाप्तम् ॥



卐 नानाजीवाश्रितबन्धकालप्रदर्शकयन्त्रकाणि दिदृक्षवः पाठकाः पश्यन्तु ३५५ तमादीनि पृष्ठानि।

※ सप्तानामुत्कृष्ट-तदितराऽजघन्यरसबन्धकानां नानाजीवाश्रितकालप्रदर्शकं यन्त्रम् ※

ओघत.–सप्तानामुत्कृष्टरसबन्धकानां नानाजीवाश्रित. काल: जघन्यत: १ समय: उत्कृष्टतो घातिचतुष्कस्य आवलिकाऽसंख्यभाग:, अघातित्रयस्य तु संख्यातसमया., सप्तानामनुत्कृष्टाऽजघन्यरसबन्धक.ना काल सर्वाद्धा । (गाथा ४७२-४७३)

आदेशत–यत्र प्रकृतकाल सर्वाद्धा न भवति तत्र जघन्यत: १ समय उत्कृष्टतस्तु यन्त्रकादवसेय: । नवरं मिश्रदृष्टयु. पशमभेदद्वयेऽनुत्कृष्टरसबन्धकानां जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, छेदोपस्थापनीये २५० वर्ष०, परिहारविशुद्धिभेदे स्वयमूह्य । (गाथा ४८१)

नाना० काल.– उत्कृष्टरसबन्धकानाम् →					अनुत्कृष्टाऽजघन्यरसबन्धकानाम्				
४ घाति	सर्वाद्धा	आवलिकाऽसंख्यभाग	संख्यातसमया:	आवलिकाऽसंख्यभाग	पल्यासंख्यभाग	अन्तर्मु०	५० लक्ष कोटीसागरो०	देशोन पूर्वकोटिद्वय०	सर्वाद्धा
३ अघाति	,,	संख्यातसमया.	,,	.		,,			,,
गति०			त्रिमनुज सर्वा. र्थसिद्ध० ४	शेष० ४३	अपर्याप्त-मनु० १				शेष० ४६
इन्द्रिय०	सर्वैकेन्द्रिय० ७	द्विपञ्चे० २		शेष० १०					सर्वे० १९
काय०	सर्वनिगोद,७ शेषसर्वसूक्ष्म १२ बादरपर्याप्तपृथ्व्यादि०४ अपर्याप्तप्रत्येकवनौघ० १=२५	द्वित्रस० २		पृथ्व्यादिचतुरौघ०४ तत्तद् बादरौघ ४ तत्पर्याप्तबाद. ४, प्रत्येकवनौघ १तत्पर्या १, अपर्याप्त्रस.१=१५					सर्वे० ४२
योग०		सर्वमनोवचो १० काय० औदा० तन्मिश्र०=१३	आहा० तन्मिश्र० २	वै० तन्मिश्र० कार्मण० ३	वैक्रिय मिश्र० १	आहारक० तन्मिश्र.२			शेष० १५
वेद०		स्त्री-पु.-नपु. ३	अवेद० १			अवेद०१			त्रिवेद०३
कषाय०		सर्वे० ४							सर्वे० ४
ज्ञान०		त्रिज्ञान-त्र्यज्ञान० ६	मन पर्यव० १						सर्वे० ७
संयम०		देशविरति-असंयम० २	शेष० ५			सूक्ष्मसं १	छेदो० १	परि-हार०१	शेष० ४
दर्शन०		त्रिदर्शन० ३							सर्वे० ३
लेश्या०		त्रिशुभ० ३		त्र्यशुभ० ३					सर्वे० ६
भव्य०		भव्य० १		अभव्य० १					सर्वे० २
सम्य०		मिश्र० सास्वा-वर्जशेष० ५		सास्वा० मिश्र० २	उपशम०मिश्र सास्वा० ३				शेष० ४
संज्ञि०		संज्ञि० १		असंज्ञि० १					सर्वे० २
आहारि		आहारि० १		अनाहारि० १					सर्वे० २
सर्वा —	३२	४६	१३	७९	५	४	१	१	१५९
गाथाङ्क:– ४७४-५		४७६-७	४७८-९	४७९	४८२-३	४८३	४८३	४८३	४८३

* आयुष्कस्य चतुर्विधरसबन्धकानां नानाजीवाश्रितकालप्रदर्शकं यन्त्रम् *

ओघतः—आयुष उत्कृष्टरसबन्धकाना नानाजीवाश्रितकालो जघन्यतः १ समयः, उत्कृष्टतस्तु संख्याताः समयाः। शेषत्रिरसबन्धकानां पुन सर्वाद्धा। (गाथा ४७३-४९२-४९३)

आदेशतः—यत्र प्रकृतकालः सर्वाद्धा न भवति तत्र सर्वत्र जघन्यतः १ समयः, उत्कृष्टतस्तु यन्त्रकादवसेयः।

नाना-जीवा० कालः	आयुष उत्कृष्टरसबन्धकानाम्— आवलिकाऽसंख्यभाग	संख्यात-समयाः	अनुत्कृष्ट-जघन्याऽजघन्यरसबन्धकानाम् — जघ०→सर्वाद्धा अनु० अज० } २→ ,,	संख्यातसमया अन्तर्मु०	आवलिकाऽसंख्यभाग पल्योपमाऽसंख्यभागः
गति०	सप्तमनरक० तिर्यगोघ० अपर्याप्तवर्जत्रितिर्यक्पञ्चे० ५	शेष० ४२	तिर्यगोघ० १	मनुष्यपर्या मानुषी आनतादि १८ भेदाः=२०	सर्वनरक ८ सर्वतिर्यक् पञ्चे० ४, शेषमनुज.२, शेषदेव १२=२६
इन्द्रिय०		सर्व० १९	सर्वैकेन्द्रिय० ७		सर्वविकल पञ्चे० १२
काय०	सर्वतेजोवायु० १४	शेष० २८	सर्वनिगोद० ७ वनौघ० १ प्रत्येकवन० १ तदपर्याप्त० १, पृथ्व्यादिचतुर्णां-बादरपर्याप्तवर्जशेषषट्-षड्भेदा २४=३४		बादरपर्याप्तपृथ्व्यादि-चत्वारः पर्याप्त-प्रत्येकवन-सर्वत्रस० ८
योग०		सर्व० १६	काययोग० औदा० तन्मिश्र० ३	आहा० तन्मिश्र० २	सर्वमनोवचो० वैक्रिय० ११
वेद०		सर्व० ३	नपुं० १		स्त्री-पु० २
कषाय०		सर्व० ४	सर्व० ४		
ज्ञान०	अज्ञानत्रिक० ३	शेषज्ञान० ४	मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान० २	मनःपर्यव० १	*त्रिज्ञान-विभङ्ग. ४
संयम०	असयम० १	शेष० ५	असयम० १	सयम० सामा० छेदो० परिहार० ४	देशविरति० १
दर्शन०		सर्व० ३	अचक्षुर्द० १		चक्षुरवधि०* १
लेश्या०	अशुभलेश्या० ३	शुभले० ३	अशुभ० ३	शुक्ल० १	तेज.पद्म० २
भव्य०	अभव्य० १	भव्य० १	सर्व० २		
सम्य०	मिथ्या० १	शेष० ४	मिथ्या० १	क्षायिक० १	*सम्य० वेदक० सास्वा० ३
संज्ञि०	असंज्ञि० १	संज्ञि० १	असंज्ञि० १		संज्ञि० १
आहारि०		आहारि० १	आहारि० १		
सर्वमार्गणाः—	२१	१३४	६२	२१	७२
गाथाङ्कः—	४८५	४८५	४८७त० ४८९	४९०-४९१	४९१

* त्रिज्ञानाऽवधिदर्शनसम्यक्त्वौघवेदकमार्गणासु जघन्यरसबन्धकानामुत्कृष्टकालः संख्यातसमयाः, ततः सर्वमीलने ३५ मार्गणासु संख्यातसमयाः शेष६६मार्गणास्वावलिकाऽसंख्यभागः। (गाथा ५०६)

* आयुर्वर्जसप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितकालप्रदर्शकं यन्त्रम् *

ओघतः वेदनीयनाम्नोर्जघन्यरसबन्धकानां नानाजीवाश्रितकालः सर्वाद्धा । घातिगोत्राणां तु जघन्यतः १ समयः, उत्कृष्टतस्तु घातिचतुष्कस्य संख्यातसमयाः, गोत्रस्य पुनरावलिकाऽसंख्यभागः । (४९२-४९३)

आदेशतः यत्र प्रकृतकालः सर्वाद्धा न भवति तत्र सर्वत्र जघन्यतः १ समयः, उत्कृष्टतस्तु यन्त्रकादवसेयः (गाथा ४९४)

४घाति० →	आवलिका-ऽसंख्यभाग	संख्यातसमयाः	संख्यात-समया	सर्वाद्धा	आवलिकाऽसंख्य०	ओघवत्	सर्वाद्धा	आवलिका-ऽसंख्यभागः
गोत्र० →	,,	आवलिकाऽसंख्य-भाग.	,,	आवलिकाऽसंख्य०	सर्वाद्धा	,,	,,	,,
वेद०नाम० →	सर्वाद्धा	,,	,,	सर्वाद्धा ,,	,	,	,,	,,
गति०	तिर्यगोघ० १	मनुष्यौघ० १	पर्याप्तमनुष्य० मानुषी० सर्वार्थसिद्ध० ३					शेष० ४२
इन्द्रिय०		द्विपञ्चे० २		एके.तद्बाद. तत्पर्याप्त-बाद० ३			सर्वसूक्ष्मके० ३ अपर्याप्तबादरैके. १=४	सर्वविकल० अपर्याप्तपञ्चे० १०
काय०	तेजोवायुकायौघ० तत्-बादरौघभेदौ० ४	द्वित्रस० २			पृथ्व्यप्कायौघ० तत्-बादरौ० प्रत्येक-वनौघ० ५		सर्वनिगोद०,७ शेषसर्वसूक्ष्म०१२ बादराऽपर्याप्त-पृथ्व्यादि० ४ अपर्याप्तप्रत्येक-वन०१ वनौघ०१ =२५	पर्याप्तबादर-पृथ्व्यादि० ४ पर्याप्तप्रत्येकवन.१ अपर्याप्तत्रस० १ =६
योग०	कार्मण० १	सर्वमनोवचो० १०	आहा० तन्मिश्र० २			काययोग. औदा० तन्मिश्र. ३		वैक्रिय०तन्मिश्र० २
वेद०		स्त्री० पुं० २	अवेद० १			नपुं० १		
कषाय०						सर्वे० ४		
ज्ञान०		त्रिज्ञान० विभङ्ग० ४	मनःपर्यव० १			अज्ञान-द्विक० २		
संयम०		देशविरति० १	संयम० सामा. छेदो० परि० सूक्ष्म० ५			असंयम०१		
दर्शन०		चक्षुरवधि० २				अचक्षु० १		
लेश्या०	अशुभले० ३	शुभले० ३						
भव्य०	अभव्य० १					भव्य० १		
सम्य०		सम्य० क्षायिक० वेदकोपशम० ४				मिथ्या० १		सास्वादन० मिश्र० २
संज्ञि०	असंज्ञि० १	संज्ञि० १						
आहारि०	अनाहारि० १					आहारि. १		
सर्वमार्गणाः —	१२	३२	१२	३	५	१५	२९	६२
गाथाङ्कः —	४९५-६	४९७-८	४९९	५००	५०२	५०३	५०१	५०४

॥ अथ षोडशमन्तरद्वारम् ॥

गतं नानाजीवाश्रितं कालद्वारम् । इदानीं क्रमप्राप्तं नानाजीवाश्रयं मूलाष्टप्रकृतिसत्कोत्कृष्टादिरसबन्धकानामन्तरं बिभणिषुरादौ तावदुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोरोघतस्तत्प्राह–

अट्ठण्ह लहुं समयो जेट्ठऽणुभागस्स बंधगाण भवे ।
अंतरमसंखलोगा उक्कोसं घाइआऊणं ॥५०८॥
छम्मासा विण्णयं पयडीणं वेअणामगोआणं ।
अट्ठण्हं कम्माणं णत्थि अतिव्वाणुभागम्स ॥५०९॥

(प्रे०) नानाजीवाश्रिताऽन्तरप्ररूपणा नाम-विवक्षितमार्गणादिषु विवक्षितोत्कृष्टादिरसबन्धकानां सर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं संपद्यते न वा ? यदि संपद्यते तर्हि तदन्तरं जघन्यत उत्कृष्टतश्च नैरन्तर्येण कियन्तं कालं समुपलभ्यते ? अर्थाद् यावन्तं कालं जघन्यत उत्कृष्टतश्च विवक्षितरसबन्धो न प्रवर्त्तते तावान् कालो जघन्याद्यन्तरतयाऽभिधीयते तस्य प्ररूपणाऽन्तरप्ररूपणा ।

अथौघतो जघन्यान्तरमाह–'**अट्ठण्ह**' इत्यादि अष्टानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानामन्तरं सर्वथा शून्यलक्षणं लघु-जघन्यं समयः-समयमात्रं भवेत् । कथम् ? इति चेद् , उच्यते–नानाजीवाश्रितकालप्ररूपणायामष्टमूलप्रकृतीनां प्रकृष्टानुभागबन्धकानां जघन्यः कालः समयमात्रः, उत्कृष्टतः पुनर्घातिचतुष्कस्याऽऽवलिकाऽसंख्यातभागप्रमितः, अघातित्रयस्य च संख्यातसमयमात्रः प्रदर्शितः, तदूर्ध्वं तु तेषां नियमादन्तरं समवाप्यते ततः समयमन्तरयित्वा यद्येकादिजीवः पुनरुत्कृष्टरसबन्धकतया लभ्यते तदा तासामुत्कृष्टानुभागबन्धकानां जघन्यतोऽन्तरं समयमात्रं घटते ।

साम्प्रतमुत्कृष्टान्तरमाह–'**असंखलोगा**' इत्यादि, चतुर्घात्यायुष्कप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितमन्तरम् असंख्येयलोकाः-असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणसमयाः, वेदनीयनामगोत्ररूपाणां प्रकृतीनां तु षण्मासाः विज्ञेयम् । '**अट्ठण्हं**' इत्यादि, अष्टानां मूलकर्मणामतीव्रानुभागस्य-अनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितमन्तरं नास्ति, नानाजीवाश्रिततद्बन्धस्य सार्वकालिकत्वात् ।

इदमत्र हृदयम्–(१) यत्र मार्गणादौ यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टाद्यनुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः सर्वाद्धा प्रोक्तः, तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनामुत्कृष्टाद्यनुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितमन्तरं न प्राप्यते इति **प्रथमो नियमः** ।

प्रस्तुतौघे अष्टानां मूलकर्मणामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धविषये तथात्वात् तद्बन्धकानामन्तरं नास्तीति कथितम् । वक्ष्यते च सूक्ष्मैकेन्द्रियादिमार्गणास्वपि समानामुत्कृष्टानुभागस्य नानाजीवाश्रितबन्धकालस्य सार्वकालिकत्वेन सर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं नास्तीति ।

(२) यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यानुभागस्य वा बन्धका उत्कृष्टतोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतीवस्तोकाः, अपि च ते बन्धका अश्रेणिगताः तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यानुभागस्य वा बन्धकानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टतोऽन्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणं प्राप्यत इति **द्वितीयो नियमः** ।

इयमत्र भावना—एतद्नियमे 'अश्रेणिगताः' इति पदे अनुक्ते प्रस्तुतौघनिरूपणे वेदनीयनामगोत्रप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टान्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिसमयप्रमितं प्रसज्येत, तद्बन्धकानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतीवस्तोकत्वात् , ततस्तदतिप्रसङ्गवारणाय अश्रेणिगता इतिपदमुपात्तम् ।

अत्रैकैकमार्गणाप्रायोग्यरसबन्धाऽध्यवसाया असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितुल्याः सन्ति, उत्कृष्टरसबन्धाध्यवसायो जघन्यरसबन्धाध्यवसायो वा एक एव, ततः सामान्येन प्रकृष्टतस्तत्तद्मार्गणायां कस्याऽपि जीवस्य सकृदुत्कृष्टादिरसबन्धप्रवर्तनानन्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितुल्यकाले व्यतीते उत्कृष्टानुभागबन्धस्य जघन्यानुभागबन्धस्य वा नियमात् पुनः प्रवृत्तिः ।

(३) यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागस्य जघन्यानुभागस्य च बन्धकाः श्रेणिगताः तासु मार्गणासु श्रेणेरुत्कृष्टाऽन्तरेण तुल्यं तासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टान्तरं भवतीति **तृतीयो नियमः** ।

यथा-प्रस्तुतौघेऽघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाः क्षपकश्रेणिगता एव,तत ओघतः क्षपकश्रेणेरन्तरं यावत्प्रमाणं भवति, तावत्प्रमाणमन्तरमघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानां भवति । क्षपकश्रेणेरन्तरं षण्मासप्रमितं प्रवचने प्रतिपादितम् , अत एव ओघेऽघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टान्तरं यथोक्तमानं प्ररूपितम् । यथा स्त्रीवेदमार्गणायां श्रेणेरुत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वम् , ततस्तत्राघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानामुत्कृष्टान्तरं तावत्प्रमाणमग्रे वक्ष्यते । एवमेव सर्वत्र बोद्धव्यम् ।

नन्वत्र क्षपकश्रेण्यामुपशमश्रेणौ वा रसबन्धप्रायोग्याऽध्यवसायानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् प्रकृतबन्धकानामन्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणं भवितुमर्हति, तथाप्यत्र तत् श्रेणेरन्तरतुल्यं कथमुक्तम् ? इति चेत्, उच्यते-यद्यपि क्षपकश्रेण्यामुपशमश्रेणौ वा रसबन्धप्रायोग्याऽध्यवसाया असंख्येयलोकप्रमाणाः सन्ति तथापि ते असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा अपूर्वकरणगुणस्थानकं यावत् प्राप्यन्ते न त्वनिवृत्तिकरणगुणस्थाने न वा सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके, तत्तच्छ्रेणिसत्काऽनिवृत्तिकरणसूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकयोर्यावन्तः समयास्तावत्संख्याकास्तयोर्गुणस्थानकयो रसबन्धाध्यवसायाः सन्तीति, तथाऽनिवृत्तिकरणगुणस्थानके सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके वा मूलप्रकृतीनां जघन्योत्कृष्टानुभागबन्धौ भवतः, न त्वपूर्वकरणे, ततो यत्र यन्मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टादिरसबन्धः क्षपकश्रेण्या उपशमश्रेण्या वा यस्मिन् समये प्रदर्शितः, तत्र तत्प्रकृतीनामुत्कृष्टाद्यनुभागबन्धः तत्समये तत्तच्छ्रेणि-

वर्तिनां सर्वेषां जीवानां भवति, तत्तच्छ्रेणिसत्कतत्तत्समयवर्तिजीवानामध्यवसायानां तुल्यत्वात् । अत एव प्रकृतबन्धकानामन्तरं श्रेणेरन्तरतुल्यमभिहितम्, न तु तदसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितुल्यसमयप्रमितमिति ॥५०८।५०९॥

तदेवमोघतः कर्माष्टकस्योत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोर्बन्धकानां नानाजीवाश्रयमन्तरं निरूप्य, साम्प्रतमादेशत आयुष्कवर्जानां सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकानामन्तरं दिदर्शयिपुरादौ तावद् यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकानां कालः सर्वाद्धा निर्दिष्टः, तासु मार्गणासु तद्बन्धकानामन्तरं निषेधयन् तथा यासु सर्वाद्धा नोक्तः तासु जघन्यतोऽन्तरं समयमात्रं निगदन्नाह-

तिव्वऽणुभागस्स जहिं सव्वद्धा अत्थि आउवज्जाणं ।
तहि णो सिमंतरं खलु सेसासु लहु भवे समयो ॥५१०॥

(प्रे०) **'तिव्वऽणुभागस्स'** इत्यादि, यत्राऽऽयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनां तीव्रानुभागस्य-उत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रयः कालः सर्वाद्धा अस्ति, तत्र तेषां बन्धकानां नानाजीवाश्रितमन्तरं न भवति 'खलुः'-एवकारार्थे । अयं भावः—

"सव्वेसु एगिंदियणिगोअभेएसु सेससुहुमेसु । बायरअपज्जहुयवहपवणतेअवणवणोहेसु" ॥ ४७४॥

इति गाथोक्तद्वात्रिंशद्मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः सर्वाद्धा कथितः, तेन तत्र तद्बन्धकानां सर्वदा सद्भावात् सर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं कदापि न संपद्यते ।

'सेसासु' इत्यादि, अनन्तरोक्तद्वात्रिंशद्मार्गणाः संत्यज्य शेषास्वष्टात्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु नानाजीवाश्रितोत्कृष्टरसबन्धस्य कादाचित्कत्वादन्तरं जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं भवति, तत्र जघन्यान्तरं कियत्प्रमाणं भवतीत्याह-**'लहु भवे समयो'** इति जघन्यमन्तरं समयो भवेत्, घटना चेत्थमवगन्तव्या-निरुक्तमार्गणासु विवक्षितसमये सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य केचिद् बन्धकाः स्युः, तदनन्तरसमये च तासु नैकोऽपि जीवस्तद्बन्धकतया स्यात् अनन्तरसमये पुनः प्राप्यते, तदा **प्रकृतमार्गणासु** सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धकानां समयप्रमितमन्तरं घटते ॥५१०॥

तदेवमष्टात्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां जघन्यान्तरं समयमात्रं प्रदर्श्य तासु तद्बन्धकानामुत्कृष्टतोऽन्तरं विभणिषुरादौ तावद् मनुष्यौघाद्येकत्रिंशद्मार्गणास्वोघवदतिदिशन्नाह—

ओघव्व जाणियव्वं उक्कोसं मणुसपज्जमणुसीसु ।
दुपणिंदितसेसु तह पणमणवयकायउरलेसु ॥५११॥
लोहम्मि दुणाणेसु संयमसमइअअचक्खुचक्खूसु ।
सुक्कभवियसम्मेसु खइए सण्णिम्मि आहारे ॥५१२॥

(प्रे०) 'ओघव्व' इत्यादि, सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानामुत्कृष्टान्तरमोघवद् भवति, यथौघे घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानामुत्कृष्टाऽन्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिसमयप्रमाणम् ,अघातित्रयस्य पुनः षण्मासप्रमितं भणितं तथैवात्रापि ज्ञातव्यमित्यर्थः । कासु मार्गणासु ? इत्याह-'मणुस' इत्यादि , मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकाय-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगौघौदारिककाययोग-लोभकषाय-मतिज्ञान-श्रुतज्ञान-संयमौघ-सामायिक-चक्षुरचक्षुर्दर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक संज्ञ्याहारिलक्षणास्वेकत्रिंशद्मार्गणास्विति ।

इयमत्र भावना-एतासु प्रत्येकं मार्गणासु घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाः संज्ञिपञ्चेन्द्रियाः, ते चाऽसंख्येयलोकनभःप्रदेशराशितोऽतीवस्तोकाः अपि च ते सर्वेऽश्रेणिगताः ततः प्रागुक्तद्वितीयनियमेनात्रैकत्रिंशद्मार्गणासु प्रत्येकं घातिचतुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानां प्रकृष्टान्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिसमयप्रमाणं भवति । तथाऽघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाः क्षपकश्रेणिगता एव, ततोऽत्र प्रागुक्ततृतीयनियमवशात् सर्वत्र नानाजीवानाश्रित्य क्षपकश्रेणेरुत्कृष्टान्तरतुल्यं प्रकृतबन्धकानामन्तरं भवति । क्षपकश्रेणेश्चोत्कृष्टमन्तरं निरुक्तैकत्रिंशद्मार्गणासु षण्मासप्रमितं ततोऽघातित्रयस्योत्कृष्टरसबन्धकानामुत्कृष्टान्तरमपि तावत्प्रमाणमेव ॥५११॥५१२॥

इदानीं यासु मार्गणास्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकाः श्रेणिगताः, श्रेणेरन्तरस्य च न सादृश्यम् , ततस्तत्राघातित्रयरसोत्कृष्टानुभागबन्धकानामन्तरस्य वैविध्यम् , घातिचतुष्कस्य पुनः प्रकृताऽन्तरमसंख्येयलोकप्रमितं भवति, तासु द्वादशसु मार्गणासु तथैवाह—

तिअघाईण मणूमीइत्थीणपुममणणाणुवसमेसु ।
वासपुहुत्तं हवए साहियवासो भवे पुरिसे ॥५१३॥
तिकसायेसु णेयो साहियवरिसमहवाऽत्थि छम्मासा ।
ओहिदुगे अब्भहियो वासो उअ हायणपुहुत्तं ॥५१४॥
छेए अयराऽट्ठारस कोडीकोडी हवेज्ज एआसु ।
बारससु घाईणं असंखलोगा मुणेयव्वं ॥५१५॥

(प्रे०) '**तिअघाईण**' इत्यादि, मानुषी-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-मनःपर्यवज्ञानौपशमिकसम्यक्त्वलक्षणासु पञ्चसु मार्गणासु त्र्यघातिनामुत्कृष्टानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रिताऽन्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति । '**साहियवासो**' इत्यादि, पुरुषवेदमार्गणायां साधिकवर्षप्रमाणं प्रस्तुतान्तरं भवेत् । तथा '**तिकसायेसु**' इत्यादि , क्रोधमानमायाऽऽख्यासु त्रिकषायमार्गणासु साधिकवर्षप्रमाणम् , अथवाशब्दो मतान्तरसूचकः, ततश्च मतान्तरेण षण्मासाः-षण्मासप्रमाणं प्रस्तुतान्तरं भवति । तथा '**ओहिदुगे**' अवधिज्ञानाऽवधिदर्शनलक्षणे अवधिमार्गणाद्विके अभ्यधिको वर्षः-साधिकवर्षप्रमाणम् ,

उतशब्दो मतान्तरं दर्शयति–'**हायणपुहुत्तं**' इति हायनशब्दो वर्षवाचकः ततश्च मतान्तरेण वर्षपृथक्त्वमित्यर्थः । '**छेए**' इत्यादि, छेदोपस्थापनीयमार्गणायामष्टादशसागरोपमकोटिकोट्यः, अघातित्रयसत्कोत्कृष्टानुभागबन्धकानामुत्कृष्टान्तरमित्यनुवर्तते । '**एआसु**' इत्यादि, एतासु अनन्तरोक्तासु द्वादशसु मार्गणासु घातिनां-चतुर्घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकानामुत्कृष्टान्तरमसंख्येयलोकाः–असंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमया ज्ञातव्यमिति ।

भावार्थः पुनरेवम् –एतासु द्वादशमार्गणास्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धः श्रेण्यामेव भवति, ततः तत्तन्मार्गणासु क्षपकादिश्रेणेरुत्कृष्टाऽन्तरं यावत्प्रमाणमस्ति, तावत्प्रमाणमघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानामुत्कृष्टान्तरं प्रोक्तम् । पृथक्त्वशब्दोऽत्र बहुत्ववाची द्रष्टव्यः, यदुक्तम् **उपशमनाकरणचूर्णौ**–"पुहुत्तसद्दो बहुवाचा" इति । तेन मनुष्ययोनिमतीस्त्रीवेदनपुंसकवेदमनःपर्यवज्ञानलक्षणासु चतसृषु मार्गणासु सिद्धप्राभृते यत् सिद्धानामन्तरं संख्येयवर्षसहस्रप्रमाणमभिहितं तत् **सिद्धप्राभृतवचनमपि सङ्गच्छते** ।

औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्ध उपशमश्रेण्यां सूक्ष्मसम्परायस्य चरमसमये भवति, उपशमश्रेणेश्च नानाजीवाश्रितोत्कृष्टान्तरस्य **जीवसमासे** - 'वासपुहुत्तमुवसामएसु' इत्यनेन वर्षपृथक्त्वाभिधानादत्राघातित्रयसत्कोत्कृष्टानुभागबन्धकानां यथोक्तप्रमाणमुत्कृष्टान्तरं घटते । शेषमार्गणासु क्षपकश्रेण्यामेव तदुत्कृष्टानुभागबन्धो भवति, तत्र क्षपकश्रेणेरुत्कृष्टान्तरं सिद्धप्राभृतादिग्रन्थतः सिद्धानामन्तरवत् प्रायो द्रष्टव्यम् । क्षपकश्रेणिमन्तरेण सिद्धिगतिगमनस्याभावात् । तथा निरुक्तद्वादशमार्गणासु घातिचतुष्कसत्कोत्कृष्टानुभागस्य बन्धका असंख्येयलोकाकाशनभःप्रदेशराशितोऽतीवस्तोकाः, ते पुनरश्रेणिगताः, अत एव तद्बन्धकानामुत्कृष्टतोऽन्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयप्रमाणमुक्तमिति ॥५१३।५१४।५१५॥

साम्प्रतमवेदकसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये प्रकृतान्तरमाह —

घाईणऽद्दपुहुत्तं अवेअसुहमेसु होइ छम्मासा ।
तिअघाईण असंखा लोगा सेसासु सत्तण्हं ॥५१६॥

(प्रे०) '**घाईण-ऽद्दपुहुत्तं**' इत्यादि, अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायमार्गणयोर्घातिप्रकृतीनाम्-अपगतवेदमार्गणायां चतुर्घातिप्रकृतीनां, सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां पुनर्मोहनीयस्य बन्धाभावात् त्रिघातिनीनाम्–उत्कृष्टानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितोत्कृष्टान्तरमब्दपृथक्त्वं–वर्षपृथक्त्वम् । कुतः ? इति चेत्, उच्यते–एतद्मार्गणाद्वये घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्ध उपशमश्रेणेरवरोहकजीवानां मार्गणायाश्चरमसमये भवति, उपशमश्रेणेश्चोत्कृष्टतो नानाजीवाश्रिताऽन्तरं वर्षपृथक्त्वमितिकृत्वा । '**छम्मासा**' इत्यादि, एतद्मार्गणाद्वये त्र्यघातिनीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकानामुत्कृष्टान्तरं षण्मासाः, कथम् ? क्षपकाणामुत्कृष्टान्तरस्य यथोक्तमानत्वात् ।

इदानीं यासु मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुभागबन्धकानामुत्कृष्टाऽन्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितमस्ति तास्वाह–'**असंखा लोगा सेसासु सत्तण्हं**' इति, यासु प्रागुक्ताऽष्टात्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु जघन्यान्तरं समयमात्रं दर्शितम् ताभ्यो मनुष्यादिपञ्चचत्वारिंशद्मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टाऽन्तरमिह कथितम्, ततस्ताः मार्गणा वर्जयित्वा शेषत्रिनवतिमार्गणास्वित्यर्थः, सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितोत्कृष्टान्तरमसंख्याता लोकाः–असंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयप्रमाणमित्यर्थः। ते हि बन्धका असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतीवस्तोकाः, अत्रे णिगताश्चेति कृत्वा। शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः–मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मनुष्ययोनिमतीरूपत्रिमार्गणावर्जशेषचतुश्चत्वारिंशद्गतिमार्गणाः, नवविकलाक्षाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियरूपा दशेन्द्रियमार्गणाः, पृथिव्यादिचतुरोघभेद-पृथ्व्यादिचतुर्बादरौघभेद-पृथ्व्यादिचतुष्पर्याप्तबादरभेद-प्रत्येकवनस्पतिकायौघपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तत्रसकायरूपाः पञ्चदशकायमार्गणाः, औदारिकमिश्र-वैक्रिय-वैक्रियमिश्राऽऽहारकाऽऽहारकमिश्र-कार्मणकाययोगरूपाः षड्योगमार्गणाः, मति-श्रुत-विभङ्गलक्षणास्त्र्यज्ञानमार्गणाः, परिहारविशुद्धिक-देशविरत्यसंयमलक्षणास्त्रिसंयममार्गणाः, शुक्ललेश्यावर्जपञ्चलेश्यामार्गणाः, अभव्यमार्गणा, वेदक-सास्वादन-मिश्र-मिथ्यात्वरूपचतुःसम्यक्त्वमार्गणाः, असंज्ञिमार्गणाऽनाहारकमार्गणा चेत्येतास्त्रिनवतिमार्गणा इति ॥५१६॥

तदेवमादेशतः सप्तानामुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितमन्तरं प्ररूप्य साम्प्रतमनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानामन्तरं बिभावयिषुरादौ तावदनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां यासु मार्गणासु सर्वाद्धाकालो दर्शितः तासु मार्गणासु तद्बन्धकानामन्तरं नैव प्राप्यत इति प्रचिकटयिषुस्तथा छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणायां प्रकृतजघन्यान्तरं दर्शयन् प्राह—

जहि सव्वद्धा कालो सत्तण्ह अगुरुरसस्स तहि तेसिं।
अंतरमत्थि ण छेए लहुं तिवट्ठी सहस्ससमा ॥५१७॥

(प्रे०) '**जहि**' इत्यादि, यत्र-यासु मार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां कालः सर्वाद्धा तत्र-तासु मार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानामन्तरं नास्ति। कुतः इति चेत्, उच्यते–याः मार्गणाः सार्वकालिक्यः सन्ति तत्रानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां सर्वदा सद्भावात्, सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां सर्वथा विरहलक्षणमन्तरं नैव समुपलभ्यते, ताश्च सार्वकालिक्यः सर्वमार्गणा अपर्याप्तमनुष्याद्येकादशमार्गणावर्जैकोनषष्ट्यधिकशत(१५९)रूपा द्रष्टव्या इति।

अपर्याप्तमनुष्याद्येकादशमार्गणानां कादाचित्कत्वेन तत्र प्रस्तुतबन्धकान्तरं लभ्यते एव, तत्र जघन्यान्तरं दिदर्शयिषुरादौ तावच्छेदोपस्थापनीयमार्गणायां निर्वक्ति–'छेए' इत्यादि, छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणायां सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां लघु-जघन्यमन्तरं त्रिषष्टिसहस्रवर्षाणि। कथम्? इति चेत्, उच्यते–मार्गणाजघन्यविरहकालस्य तावन्मात्रत्वात्। तद्यथा-अव-

सर्पिण्याः षष्ठारकस्य उत्सर्पिण्याः पुनः प्रथमारकस्य द्वितीयारकस्य च प्रत्येकमेकविंशतिसहस्र-वर्षप्रमाणत्वात् त्रिषष्टिसहस्रवर्षाणि यावत् जगति छेदोपस्थापनीयसंयता नैव विद्यन्ते । अत एव छेदोपस्थापनीयमार्गणायां सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रयं यथोक्तमन्तरं घटते ॥५१७॥

सम्प्रति परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां तथा शेषनवमार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां जघन्यान्तरं दर्शयन्नाह—

परिहारविसुद्धीए सयं च णाऊण विण्णेयं ।
सेसासु मग्गणासु समयो हस्सं मुणेयव्वं ॥५१८॥ [उपगीतिः]

(प्रे०) '**परिहारविसुद्धीए**' इत्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां सप्तानामनुत्कृष्टा-नुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रयाऽन्तरं स्वयं ज्ञात्वा विज्ञेयम् । किमुक्तं भवति ? उच्यते—परिहार-विशुद्धिकसंयममार्गणायां जघन्यपदे कियत्संख्याका जीवा इति निश्चेतुं ग्रन्थस्याभावेनाऽशक्य-त्वात् स्वयं ज्ञात्वा विज्ञेयमित्यभिहितम् ।

इदमत्र संभाव्यते—निरुक्तमार्गणायां जघन्यपदे यदि कदाचिदेकोऽपि जीवः स्यात् , स चानुत्कृष्टानुभागबन्धद्वयस्यान्तराले समयं यावदघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धं विदध्यात् तदपेक्ष-याऽघातित्रयस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धस्य नानाजीवाश्रितं समयमात्रमन्तरं भवति । एवं द्वयाद-योऽपि जीवा यदा प्रागुक्तनीत्या युगपद् उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टानुभागबन्धं विदधति तदा तानप्या-श्रित्य नानाजीवाश्रयं समयमात्रमन्तरं लभ्यते । यद्यत्र जघन्यपदे महत्वपृक्त्वादयो जीवाः स्युस्तदा ते सर्वे नैरन्तर्येणोत्कृष्टानुभागं नैव बध्नन्ति, अतो मार्गणाया अवस्थितिकालं यावदनुत्कृष्टानु-भागस्य बन्धो भवति, ततो मार्गणाया जघन्याऽन्तरवत् सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितं जघन्यमन्तरं भवेत् । अत्र तत्त्वं तु बहुश्रुता विदन्ति ।

'**सेसासु**' इति शेषासु- प्रागुक्तकादाचित्कैकादशमार्गणान्तर्गतपरिहारविशुद्धिकछेदोपस्थाप-नीयमार्गणाद्वयं वर्जयित्वा नवमार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रयं ह्रस्वं-जघन्यमन्तरं समयो ज्ञातव्यम् । भावना चात्रैकजीवाश्रयान्तरवत् कार्या, नवरमत्रमार्गणा-स्वेको वाऽनेके वा जीवा विद्यन्ते तेषां सर्वेषामपेक्षया प्रकृतान्तरं द्रष्टव्यम् ॥५१८॥

एतास्वेकादशमार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टान्तरं स्वस्वमार्गणाया उत्कृष्टान्तरवद् भवति; तच्चान्तरं प्रत्येकं मार्गणासु दर्शयन्नादौ तावदपर्याप्तमनुष्या-दिमार्गणास्वाह—

पल्लासंखियभागो अपज्जणरमीससासणेसु गुरुं ।
वेउव्वमीसजोगे विण्णेयं बारहमुहुत्ता ॥५१९॥

(प्रे०) **'पल्लासंखियभागो'** इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्य-मिश्र-सास्वादनरूपासु तिसृषु मार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितं गुरु-उत्कृष्टमन्तरं पल्योपमस्यैकाऽसंख्यातभागप्रमितम् , प्रस्तुतमार्गणानामुत्कृष्टान्तरस्य तावत्प्रमाणत्वात् ।

अथ वैक्रियमिश्रयोगमार्गणायामाह-**'वेउव्वमीसजोगे'** वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां सप्तानामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानामन्तरं द्वादशमुहूर्त्ताः विज्ञेयम् । मार्गणायाः प्रकृष्टान्तरस्य तावत्प्रमाणत्वात् ॥५१९॥ अथाऽऽहारककाययोगादिष्वाह—

वासपुहुत्तं णेयं आहाराहारमीसजोगेसु ।
छम्मासा गयवेए तहा सुहुमसंपरायम्मि ॥५२०॥
छेओवट्ठावणिये परिहारे होइ कोडिकोडीओ ।
अयराणं अट्ठारस भवे उवसमम्मि सत्त दिणा ॥५२१॥

(प्रे०) **'वासपुहुत्तं'** इत्यादि, वर्षपृथक्त्वं-सप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वं ज्ञेयम् । कुत्र ? इत्याह–**'आहार'** इत्यादि, आहारकाऽऽहारकमिश्रयोगमार्गणाद्वये इति । **'छम्मासा'** इत्यादि अपगतवेदमार्गणायां तथा सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां प्रकृतान्तरं षण्मासाः सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां तु षट्प्रकृतीनामित्यभिधातव्यम् , मोहनीयस्य बन्धाभावात् ।

अथ द्वितीयगाथा विव्रियते—**'छेओवट्ठावणिये'** इत्यादि, छेदोपस्थापनीयमार्गणायां तथा परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायाम् 'अतराणं' सागरोपमाणामष्टादशकोटीकोट्यः-अष्टादशकोटिकोटिसागरोपमप्रमाणं, सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरमित्यनुवर्तते । औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां पुनः सप्तदिनाः-सप्तदिवसाः , स्वस्वमार्गणायाः प्रकृष्टान्तरस्य तावत्प्रमाणत्वात् ॥५२०।५२१॥

तदेवमभिहितमादेशतः सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोर्बन्धकानां नानाजीवाश्रितमन्तरम् । इदानीमायुष्कस्योत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागबन्धकानामन्तरनिरूपणावसरः । तत्रादौ तावत् सर्वासु मार्गणासूत्कृष्टानुभागबन्धकानामन्तरमेकया गाथया प्राह—

सव्वासु मग्गणासु तिव्वऽणुभागस्स अंतरं णेयं ।
आउस्स लहु समयो जेट्ठं लोगा असंखेज्जा ॥५२२॥

(प्रे०) **'सव्वासु'** इत्यादि, सर्वासु-आयुर्बन्धार्हासु त्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु आयुष्कस्य तीव्रानुभागस्य-उत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां लघु-जघन्यमन्तरं समयो ज्ञेयम् । 'ज्येष्ठम्'–उत्कृष्टमन्तरमसंख्येया लोकाः–असंख्येयलोकाकाशनभःप्रदेशराशितुल्यसमयाः, कुतः ? इति चेद् , उच्यते–

सर्वत्राऽऽयुष्कसत्कोत्कृष्टानुभागस्य बन्धका असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतीवस्तोकाः, अश्रेणिगताश्च, श्रेण्यां ह्यायुष्कस्य बन्धाभावात् । ततः प्रागुक्तद्वितीयनियमानुसारेण असंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयप्रमितमन्तरमायुष्कस्योत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां सर्वत्र प्राप्यत इति ॥५२२॥

साम्प्रतं मार्गणास्वायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रयमन्तरं चिचिन्तयिषुराह–

जहि अट्ठमो च्च भंगोऽणुक्कोसरसस्स आउगस्स भवे।
तहि तस्स अंतरं णो सेसासु भवे लहु समयो ॥५२३॥

(प्रे०) 'जहि' इत्यादि, यत्र-यासु मार्गणासु आयुष्कस्याऽनुत्कृष्टरसस्य बन्धकानामष्टमः'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धकाः' इतिलक्षणोऽष्टम एक एव भङ्गो भङ्गप्ररूपणायां दर्शितः तत्र-तासु तिर्यगोघादिद्वाषष्टिमार्गणासु आयुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानामन्तरं नैव भवेत्, तत्तद्मार्गणासु प्रस्तुतबन्धकानां सर्वदा सद्भावात् । तिर्यगोघादिद्वाषष्टिमार्गणाः पुनरिमाः-तिर्यगोघैकेन्द्रियसप्तभेद-पर्याप्तबादरभेदवर्जपृथ्वीकायषड्भेदाप्कायषड्भेद-तेजःकायषड्भेद-वायुकायषड्भेद-वनस्पतिकायौघ-प्रत्येकवनस्पतिकायौघापर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय-साधारणवनस्पतिकायसत्कसप्तभेद-काययोगसामान्यौदारिकौदारिकमिश्रयोग-नपुंसकवेदचतुष्कषाय-मत्यज्ञानश्रुताऽज्ञानाऽसंयमाऽचक्षुर्दर्शनाऽप्रशस्तत्रिलेश्या-भव्याऽभव्य-मिथ्यात्वाऽसंज्ञ्याहारिलक्षणा बोद्धव्याः ।

शेषैकोत्तरशतमार्गणास्वायुष्कसत्कानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नमन्तरं लभ्यते, तत्र जघन्यमाह–'सेसासु' इति प्रागुक्तद्वाषष्टिमार्गणावर्जैकोत्तरशतमार्गणासु आयुष्कस्यानुत्कृष्टानुभागबन्धकानां लघु-जघन्यमन्तरं समयो भवेत् ॥५२३॥

इदानीमेकोत्तरशतमार्गणासु प्रकृतबन्धकानामुत्कृष्टान्तरं व्याहरन्नादौ तावत् पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु चिन्तयति—

पंचिंदियतिरियविगलपणिंदियतसेसु सिं अपज्जेसु ।
बायरपज्जत्तपुहविदगऽणिलपत्तेअहरिएसु ॥५२४॥
सोलससु मग्गणासु भिन्नमुहुत्तं गुरुं मुणेयव्वं ।
सेसासु मग्गणासु मयं च्च णाऊण णेयव्वं ॥५२५॥

(प्रे०) 'पंचिंदिय' इत्यादि, आयुष्कस्याऽनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितं गुरु-उत्कृष्टमन्तरं भिन्नमुहूर्तम्-अन्तर्मुहूर्तम् ज्ञातव्यमिति सम्बन्धः । कासु मार्गणास्वित्याह-'पंचिंदिय' इत्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियलक्षणत्रिविकल-पञ्चेन्द्रियौघत्रसौघेषु-'सिं' तेषामपर्याप्तेषु-अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तद्वीन्द्रियादित्रिविकलाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्त-

त्रसकायरूपेषु, 'बादरपर्याप्तपृथ्वीदकाऽनिलप्रत्येकहरितेषु'-बादरपर्याप्तपृथ्व्यप्वायुप्रत्येकवनस्पतिकाय-लक्षणेषु चेति सर्वसंख्यया षोडशमार्गणास्विति ।

शेषमार्गणासु वक्तुमनाः प्राह—'सेसासु' इत्यादि, प्रागुक्तैकाधिकशतमार्गणान्तर्गताः पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिषोडशमार्गणा वर्जयित्वा पञ्चाशीतिमार्गणास्वायुष्कस्याऽनुत्कृष्टानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टान्तरं आगमानुसारेणोत्पातविरहादिकं ज्ञात्वा स्वयमेव नेतव्यम्, बोद्धव्यमित्यर्थः. इदमत्र तात्पर्यम्—एतासु मार्गणासु प्रकृतिबन्धे आयुष्कस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितमन्तरं यावत्प्रमाणं लभ्यते, तावत् प्रमाणमत्र तस्यानुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां भवति, आयुर्बन्धकाले अनुत्कृष्टानुभागस्य मुख्यतया बन्धसद्भावात् तद्विरामे च तस्य विरमात् । आयुर्बन्धविरहकालस्य ज्ञानं तु मुख्यवृत्त्या उत्पातच्यवनविरहकालज्ञानाधीनम्, अत एव प्रकृते उत्पातच्यवनविरहयोर्ज्ञानमत्यावश्यकम्, तज्ज्ञानेन प्रकृतान्तरं स्वयमेव नेतव्यमिति ॥५२४।५२५॥

तदेवमष्टानामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोर्बन्धकानामोघाऽऽदेशाभ्यां नानाजीवाश्रितमन्तरमभिधाय सम्प्रति जघन्याजघन्यानुभागयोर्बन्धकानामन्तरं व्याजिहीर्षुर्गाथाद्वयेन तावद् जघन्याजघन्यानुभागयोर्बन्धकानामन्तरमोघतः प्राह—

तिण्ह अघाईण भवे मंदऽणुभागस्स अंतरं णेव ।
सेसाणं पंचण्हं जहण्णगं होअए समयो ॥५२६॥
उक्कोसं छम्मासा घाईण भवे असंखिया लोगा ।
गोअस्स जाणियव्वं अट्ठण्हियरस्स णेव भवे ॥५२७॥

(प्रे०) 'तिण्ह' इत्यादि, त्रयाणामघातिकर्मणां वेदनीयनामायुष्कलक्षणानां मन्दानुभागस्य जघन्यानुभागस्य बन्धकानामन्तरं नैव भवेत्, कुतः ? इति चेत्, उच्यते—एतेषां त्रयाणां जघन्यानुभागबन्धकाः परावर्तमानमध्यमपरिणामिनः, अनन्तसंख्यकाश्च ततस्ते सर्वदा लभ्यन्ते, ततोऽन्तरं न प्राप्यते । 'सेसाणं' इत्यादि, शेषाणां पञ्चानां-चतुर्घातिगोत्राख्यानां जघन्यमन्तरं समयो भवति । घटना चेत्थम्-चतुर्घातिगोत्रप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धानन्तरं समयं यावद् नैकोऽपि जीवो जघन्यानुभागबन्धं विदधाति, तत्पश्चात् पुनरेकादिजीवस्तज्जघन्यानुभागबन्धं विदधाति, तदा नानाजीवाश्रितं समयमात्रं जघन्यमन्तरं घटते ।

अथ चतुर्घातिगोत्रप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्य बन्धकानामुत्कृष्टान्तरमाह—'उक्कोसं' इत्यादि घातिनां घातिचतुष्कसत्कजघन्यानुभागबन्धकानामुत्कृष्टान्तरं षण्मासा भवेद् । कथम् ? क्षपकश्रेण्यां तासां जघन्यानुभागस्य बन्धसद्भावेन क्षपकश्रेण्या उत्कृष्टान्तरतुल्यं तद्बन्धकानामुत्कृष्टान्तरं भवतीति तृतीयनियमानुसारेण षण्मासाः प्रकृतान्तरं कथितमिति । गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धकानामुत्कृष्टा-

न्तरमसंख्येया लोकाः–असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितुल्यसमयाः, कथम् ? इति चेत् ? उच्यते-इह गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धका असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतीव स्तोकाः, अश्रेणिगताश्च अतो द्वितीयनियमानुसारेण गोत्रसत्कजघन्यानुभागबन्धकानामन्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयप्रमितं घटते । अजघन्यानुभागबन्धकानामन्तरमोघत आह–'अट्ठण्हियरस्स' मूलाष्टकृतीनाम् इतरस्य अजघन्यानुभागस्य बन्धकानामन्तरं नैव भवेत्, सर्वदाऽनन्तजीवानां तद्बन्धसद्भावात् ॥५२६।५२७॥

प्रतिपादितमोघतोऽष्टानां जघन्याजघन्यानुभागयोर्बन्धकानामन्तरम् । इदानीमादेशतः आयुष्कवर्जसप्तप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितमन्तरं निरूरूपयिषुरादौ तावत् सर्वासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः सर्वाद्धा, तासु सर्वमार्गणासु तासां निरुक्तबन्धकानामन्तरं नैव भवति इति निषेधयन्, तथा शेषप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकानामन्तरं दर्शयन्नाह—

सव्वह जेसिं कालो मंदऽणुभागस्स होइ सव्वद्धा ।
सिं अंतरं भवे णो इयराण लहुं भवे समयो ॥५२८॥
घाइअघाईण गुरुं तावइअं अंतरं भवे कमसो ।
तिव्वऽणुभागस्स गुरुं जावइअं गोअविग्घाणं ॥५२९॥
णवरं एगिंदियतब्बायरपज्जत्तबायरेसु गुरुं ।
लोगा असंखिया खलु विण्णेयं गोअकम्मस्स ॥५३०॥

(प्रे०) 'सव्वह' इत्यादि सर्वत्र-सर्वासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां मन्दानुभागस्य जघन्यानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः सर्वाद्धा भवति । तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितमन्तरं न भवेत्, यत्र यासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकानां कालः सर्वाद्धा न भवति, तत्र तासां प्रकृतीनां तद्बन्धकानामन्तरं कियत्प्रमाणम् ? इत्याह–'इयराणं' इतरासां-यासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकानां सर्वाद्धा कालः ताः प्रकृतीः संत्यज्य शेषप्रकृतीनामित्यर्थः, लघु-जघन्यमन्तरं समयो भवेत् । तासां जघन्यानुभागस्य बन्धकानामुत्कृष्टाऽन्तरं कियत्प्रमाणम् ? इत्याह–'घाइअघाइण' इत्यादि, अनन्तरोक्तशेषप्रकृतिमध्ये घातिप्रकृतीनामघातिप्रकृतीनां च गुरु-जघन्यानुभागबन्धकानामुत्कृष्टमन्तरं क्रमशः तावत्कं-तावत्प्रमाणं भवेत्, यावत्कं-यावत्प्रमाणं गोत्रविघ्नयोः–गोत्रस्य चान्तरायस्य च तीव्रानुभागस्य-उत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टान्तरं भवति । इदमुक्तं भवति–यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकानां कालः सर्वाद्धा न भवति तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितं जघन्यान्तरं समयमात्रम्, उत्कृष्टान्तरं पुनः घातिप्रकृतीनां गोत्रस-

त्कोत्कृष्टानुभागबन्धकानामुत्कृष्टाऽन्तरवद् द्रष्टव्यम् । अघातिप्रकृतीनां पुनरन्तरायकर्मसत्कोत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानामुत्कृष्टान्तरवद् वेदितव्यमिति ।

तदेवं लाघवार्थमतिदेशे कृते या काचिदतिप्रसक्तिः समापतिता, तां निराचिकीर्षुः प्राह—'णवरं' इत्यादि, नवरंशब्दोऽपवादसूचकः, तेन एकेन्द्रियौघ-तद्बादर-तत्पर्याप्तबादरलक्षणासु तिसृषु मार्गणासु गोत्रकर्मणो जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितं गुरु-उत्कृष्टमन्तरं खलुः-निश्चयेन असंख्येया लोकाः—असंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमया विज्ञेयम् । कुतः ? इति चेत् , उच्यते—एतद्मार्गणात्रये गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः सर्वाद्धा न कथितः किन्त्वावलिकाऽसंख्येयतमभागप्रमितः । ततोऽत्रान्तरस्य प्राप्तिर्भवति , प्रकृते च तदन्तरमन्तरायकर्मसत्कोत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानामन्तरवदतिदिष्टम् ,अन्तरायकर्मणश्चोत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानामन्तरं नास्ति, निगोदादिजीवानामपि तद्बन्धसद्भावेन निरुक्तबन्धकानां सर्वदा लाभात्, एवमऽतिदेशमधिकृत्य गोत्रकर्मणो जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितमन्तरं न लभ्येत किन्त्वत्र गोत्रकर्मणो जघन्यानुभागबन्धकाः पर्याप्तबादरतेजोवायुकायिका एव, तेषां चासंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितोऽतीव स्तोकत्वात् नियमतोऽन्तरं प्राप्यते अतस्तदतिप्रसङ्गवारणाय नवरमित्यादिना कथितम् ।

अथ नरकगत्यादिसप्तत्यधिकशतमार्गणास्वायुष्कवर्जसप्तप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितमन्तरं गत्यादिक्रमेण प्रदर्श्यते-नरकौघ-प्रथमादिसप्तनरक-सर्वपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिभेदाऽपर्याप्तमनुष्य-सर्वदेवगतिभेदरूपेषु त्रिचत्वारिंशद्मार्गणाभेदेषु सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानामुत्कृष्टान्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयाः । तिर्यगोघमार्गणाभेदे पुनर्वेदनीयनाम्नोः प्रकृतान्तरं नास्ति चतुर्घातिगोत्राणां त्वसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयाः । मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्यभेदद्वये घातिचतुष्कस्य प्रस्तुतबन्धकानामन्तरं षण्मासाः, मनुष्ययोनिमतीमार्गणाभेदे तु वर्षपृथक्त्वम् , एतन्मार्गणात्रये अघातित्रयस्यासंख्येयलोकनभःप्रदेशराशितुल्यसमया इति ॥ गता गतिमार्गणा ॥

एकेन्द्रियौघ—बादरैकेन्द्रिय—पर्याप्तबादरैकेन्द्रियरूपेषु त्रिमार्गणाभेदेषु गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टान्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयाः, शेषषट्प्रकृतीनामन्तरं नास्ति । सूक्ष्मैकेन्द्रियत्रिभेदाऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियलक्षणचतुर्मार्गणाभेदेषु सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानामन्तरं नास्ति । सर्वविकलभेदाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाख्यदशमार्गणाभेदेषु सप्तानां प्रकृतबन्धकानामुत्कृष्टाऽन्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयाः । पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणाद्वये घातिकर्मणां जघन्यानुभागबन्धस्यान्तरं षण्मासाः, अघातित्रयस्य चासंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयप्रमाणमस्तीति ॥ गतेन्द्रियमार्गणा ॥

पृथ्व्यप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतिकायिकानां प्रत्येकं त्रिषु त्रिषु सूक्ष्मसत्कभेदेषु तथा बादराऽपर्याप्तपृथ्व्यादिचतुर्भेद—वनस्पतिकायौघाऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय-साधारणवनस्पतिकायौघ-बादर-

साधारणवनस्पतिकायत्रिभेदेषु सर्वसंख्यया पञ्चविंशतिमार्गणाभेदेषु सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानामन्तरं नास्ति । पृथ्वीकायौघतद्बादरौघाप्कायौघ-तद्बादरौघ-प्रत्येकवनस्पतिकायौघलक्षणासु पञ्चमार्गणासु घातिप्रकृतीनां प्रस्तुतबन्धकानामन्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशसमयप्रमाणम्, अघातित्रयस्य त्वन्तरं नास्ति । बादरपर्याप्तपृथ्व्यादिचतुर्भेदपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायरूपासु पञ्चमार्गणासु सप्तानां जघन्याऽनुभागबन्धकानामुत्कृष्टान्तरमसंख्येयलोकनभःप्रदेशतुल्यसमयप्रमितम् । तेजःकायौघ-तद्बादरौघ-वायुकायौघ-तद्बादरौघलक्षणेषु चतुर्मार्गणाभेदेषु वेदनीयनाम्नोर्जघन्यानुभागबन्धकानामन्तरं नास्ति, चतुर्घातिगोत्राणां पुनरन्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितसमयाः । त्रसकायौघपर्याप्तत्रसकायमार्गणाद्वये घातिचतुष्कस्य षण्मासाः, अघातित्रयस्य चासंख्येयलोकाकाशप्रदेशसमयाः । अपर्याप्तत्रसकायमार्गणायां च सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानामन्तरमसंख्येयलोकनभःप्रदेशतुल्यसमयप्रमितं भवति ॥ गता कायमार्गणा ॥

पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगलक्षणदशमार्गणासु चतुर्घातिकर्मणां जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टाऽन्तरं षण्मासाः, अघातित्रयस्य पुनरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयाः । काययोगौदारिकयोगमार्गणाद्वये घातिचतुष्कस्य षण्मासाः गोत्रस्य चासंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयाः, वेदनीयनाम्नोस्त्वन्तरं नास्ति । औदारिकमिश्रकार्मणयोगमार्गणाद्वये चतुर्घातिगोत्राणां जघन्यानुभागबन्धकानामन्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयाः, वेदनीयनाम्नोस्त्वन्तरं नास्ति । वैक्रिय-वैक्रियमिश्राऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रयोगमार्गणासु सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानामुत्कृष्टान्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमया इति ॥ गता योगमार्गणा ॥

स्त्रीवेदनपुंसकवेदमार्गणाद्वये घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वम्, पुरुषवेदमार्गणायां तु सातिरेकवर्षप्रमाणं स्त्रीपुरुषवेदमार्गणाद्वये अघातित्रयस्य प्रस्तुतान्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयप्रमाणम्, नपुंसकवेदमार्गणायां गोत्रस्यान्तरमसंख्यलोकप्रदेशसमयप्रमाणं वेदनीयनाम्नोस्त्वन्तरं नास्तीति ॥ गता वेदमार्गणा ॥

क्रोधमानमायामार्गणात्रये घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकानामुत्कृष्टान्तरं सातिरेकवर्षप्रमाणं मतान्तरेण पुनः षण्मासाः, लोभमार्गणायां तु षण्मासाः, एतद्मार्गणाचतुष्के वेदनीयनाम्नोस्त्वन्तरं नास्ति, गोत्रस्य चासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितमिति ॥ गता कषायमार्गणा ॥

मत्यज्ञानश्रुताज्ञानमार्गणाद्वये चतुर्घातिगोत्रप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकानामुत्कृष्टान्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयप्रमाणम्, वेदनीयनाम्नोस्त्वन्तरं नास्ति । विभङ्गज्ञानमार्गणायां सप्तानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशसमयप्रमितम् । मतिश्रुतज्ञानमार्गणाद्वये घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकानामुत्कृष्टान्तरं षण्मासाः, अवधिज्ञानमार्गणायां तु साधिकवर्षम्, मतान्तरेण तु वर्षपृथक्त्वम्, मनःपर्यवमार्गणायां च वर्षपृथक्त्वम्, एतज्ज्ञानमार्गणाचतुष्के अघातित्रयस्य त्वसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमया इति ॥ गता ज्ञानमार्गणा ॥

संयमौघ-सामायिकमार्गणाद्वये घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टान्तरं षण्मासाः, छेदोपस्थापनीयमार्गणायां त्वष्टादशकोटिकोटिसागरोपमप्रमाणम्, एतद्मार्गणात्रये अघातित्रयस्य पुनरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयाः, परिहारविशुद्धिकसंयमदेशविरतिमार्गणाद्वये सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानामुत्कृष्टान्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयाः, सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां मोहनीयवर्जघातित्रयस्य जघन्यानुभागबन्धकानामुत्कृष्टान्तरं षण्मासाः अघातित्रयस्य पुनर्वर्षपृथक्त्वम्। असंयममार्गणायां घातिगोत्राणां प्रस्तुतबन्धकानामन्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयाः, वेदनीयनाम्नोस्त्वन्तरं नास्तीति ॥ गता संयममार्गणा ॥

चक्षुरचक्षुर्दर्शनमार्गणाद्वये घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकानामुत्कृष्टाऽन्तरं षण्मासाः, अवधिदर्शनमार्गणायां पुनः साधिकवर्षम्, मतान्तरेण तु वर्षपृथक्त्वम्। चक्षुर्दर्शनमार्गणायामघातित्रयस्य जघन्यानुभागबन्धकानामुत्कृष्टान्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयाः, अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां वेदनीयनाम्नोस्तु प्रकृताऽन्तरं नास्ति, गोत्रस्य पुनरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयाः, अवधिदर्शनमार्गणायामघातित्रयस्य त्वसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमया इति ॥ गता दर्शनमार्गणा ॥

कृष्ण-नील-कापोताख्यत्रिलेश्यामार्गणासु घातिगोत्राणां जघन्यानुभागबन्धकानामुत्कृष्टान्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयाः, वेदनीयनाम्नोस्त्वन्तरं नास्ति। तेजःपद्मलेश्यामार्गणाद्वये सप्तानां जघन्यानुभागबन्धकानामुत्कृष्टान्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशसमयप्रमाणम्। शुक्ललेश्यायां घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकानामुत्कृष्टान्तरं षण्मासाः, अघातित्रयस्य त्वसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमया इति ॥ गता लेश्यामार्गणा ॥

भव्यमार्गणायां घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागस्य बन्धकानामुत्कृष्टान्तरं षण्मासाः। गोत्रस्य पुनरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशसमयाः, वेदनीयनाम्नोस्त्वन्तरं नास्ति। अभव्यमार्गणायां घातिगोत्राणामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयाः, वेदनीयनाम्नोः पुनरन्तरं नास्ति ॥ गता भव्यमार्गणा ॥

मिथ्यात्वमार्गणायां प्रकृतान्तरमभव्यमार्गणावद् द्रष्टव्यम्। सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणाद्वये घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकानामुत्कृष्टान्तरं षण्मासाः। अघातित्रयस्य पुनरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितसमयाः। क्षायोपशमिक-सास्वादन-मिश्रदृष्टिमार्गणात्रये सप्तप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयप्रमाणम्, औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां घातिचतुष्कस्य प्रस्तुतबन्धकानामुत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वम्, अघातित्रयस्य त्वसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमया इति ॥ गता सम्यक्त्वमार्गणा ॥

संज्ञिमार्गणायां घातिचतुष्कस्य प्रस्तुताऽन्तरं षण्मासप्रमितम्, अघातित्रयस्य त्वसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितसमयाः। असंज्ञिमार्गणायां घातिगोत्राणां प्रकृतबन्धकानामन्तरमसंख्येयलोकप्रदेशसमयप्रमितम्, वेदनीयनाम्नोस्त्वन्तरं नास्ति ॥ गता संज्ञिमार्गणा ॥

अनाहारकमार्गणायां प्रस्तुताऽन्तरमसंज्ञिमार्गणावद् विज्ञेयम् । आहारिमार्गणायां घातिचतुष्कस्य प्रकृतबन्धकानामुत्कृष्टान्तरं षण्मासप्रमितम् , वेदनीयनाम्नोस्त्वन्तरं नास्ति, गोत्रस्य पुनरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशसमयप्रमाणमिति ॥ गता आहारिमार्गणा ॥

एतासु सर्वासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकानामुत्कृष्टान्तरमुक्तम् , तत्र जघन्याऽन्तरं समयप्रमाणं द्रष्टव्यम् । हेत्वादिभावना च सर्वत्र प्रागुक्तनियमत्रयानुसारेण यथासम्भवं कार्या ॥५२८।५२९।५३०॥

तदेवं सप्तानां जघन्यानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितमन्तरमभिहितम् । साम्प्रतं सप्तानामजघन्यानुभागस्य बन्धकानामन्तरमनुत्कृष्टानुभागवद् गाथार्धेनातिदिशन्नाह—

अजहण्णरसस्स अगुरुरसव्व सव्वासु आउवज्जाणं ।

(प्रे०) '**अजहण्णरसस्स**' इत्यादि, सर्वासु मार्गणास्वायुर्वर्जानां सप्तानामजघन्यरसस्य बन्धकानामन्तरम् 'अगुरुरसवत्' यथाऽनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानामन्तरं प्राग् निगदितम् तथैव विज्ञेयम् । तद्यथा-अपर्याप्तमनुष्याद्येकादशमार्गणाः कादाचित्क्यः, ततस्तत्र सप्तानामजघन्यानुभागस्य बन्धकानामन्तरं प्राप्यते, तच्च जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नमन्तरं प्रागुक्तानुत्कृष्टानुभागबन्धकसत्कान्तरवदभिधातव्यम् । शेषैकोनषष्टयुत्तरशतमार्गणासु सप्तानामजघन्यानुभागबन्धकानामन्तरं नास्ति ।

अथाऽऽयुष्कस्य जघन्याजघन्यानुभागयोर्बन्धकानां नानाजीवाश्रितमन्तरमादेशतोऽभिधित्सुः सार्धगाथया प्राह—

तहि लहुरसस्स णंतरमाउस्स उ अट्ठमो च्च जहि भंगो ॥५३१॥ [गीतिः]
सेसासु लहुं समयो असंखलोगा गुरुं मुणेयव्वं ।
अजहण्णरसस्स अगुरुरसव्व आउस्स सव्वासु ॥५३२॥

(प्रे०) '**तहि**' इत्यादि, तत्र-तासु मार्गणास्वायुष्कस्य लघुरसस्य-जघन्यानुभागस्य बन्धकानामन्तरं, नास्तीति शेषः, '**जहि**'इत्यादि, यत्र-यासु मार्गणास्वायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकानाम्-'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका' इतिलक्षणोऽष्टम एक एव भङ्गः तासु मार्गणास्वायुष्कमन्वजघन्यानुभागबन्धकानां सर्वदा लाभादिति । ताश्च मार्गणा द्वाषष्टिः तद्यथा-तिर्यगोघमार्गणा—सर्वैकेन्द्रियमार्गणाः पर्याप्तभेदवर्जपृथ्वीकायादिचतुर्णां प्रत्येकं षट् षड् मार्गणाः, वनस्पतिकायौघप्रत्येकवनस्पतिकायाऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायमार्गणाः , साधारणवनस्पतिकायस्य सप्तमार्गणाः, काययोगौदारिकौदारिकमिश्रयोगमार्गणाः, नपुंसकवेदमार्गणा, चतुष्कषायमार्गणाः, मत्यज्ञानश्रुताऽज्ञानमार्गणे, असंयममार्गणा, अचक्षुर्दर्शनमार्गणा, कृष्णादित्र्यशुभलेश्यामार्गणाः, भव्या-ऽभव्यमार्गणे, मिथ्यात्वमार्गणा, असंज्ञिमार्गणाऽऽहारिमार्गणा चेति । द्वाषष्टिमार्गणावर्जैकोत्तरशतमार्गणासु किम् ? इत्याह-'**सेसासु**' इत्यादि,

प्रागुक्तद्वाषष्टिमार्गणा वर्जयित्वा शेषैकाधिकशतमार्गणास्वायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रयं लघु-जघन्यमन्तरं समयः, गुरु-उत्कृष्टमन्तरमसंख्येया लोकाः–असंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयाः ज्ञातव्यम् । कुतः ? प्रागुक्तद्वितीयनियमस्य प्रवेशात् तथाहि–एतासु मार्गणास्वायुष्कसत्कजघन्यानुभागबन्धका असंख्येयलोकाकाशराशितोऽतीवस्तोकाः, अश्रेणिगताश्च, एवं द्वितीयनियमानुसारेणात्र यथोक्तमानमन्तरं घटते ।

अथायुष्कसत्काऽजघन्यानुभागस्य बन्धकानामन्तरमनुत्कृष्टानुभागबन्धकानामन्तरवदतिदिशति–'अजहण्णरसस्स' इत्यादि, सर्वासु–आयुर्बन्धप्रायोग्यत्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु आयुष्काऽजघन्यरसस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितमन्तरमनुत्कृष्टानुभागवत् बोद्धव्यमिति शेषः ।।५३१।५३२।।

प्रस्तुतद्वारोक्तार्थसंग्रहपरे नानाजीवाश्रिताऽन्तरप्रदर्शकयन्त्रके त्वेवम्—★

तदेवं समर्थितमष्टानां जघन्याजघन्यानुभागयोर्बन्धकानामोघाऽऽदेशाभ्यां नानाजीवाश्रितमन्तरम्, तत्समर्थिते च समाप्तमष्टानामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोर्जघन्याजघन्यानुभागयोर्बन्धकानामोघाऽऽदेशाभ्यां नानाजीवाश्रयमन्तरम् । तत्समाप्ते च गतम् 'अंतर' इत्यनेनोद्दिष्टं षोडशं द्वारम् ।।

*** आयुर्वर्जसप्तानामनुत्कृष्टा-ऽजघन्यरसबन्धकानां नानाजीवाश्रिताऽन्तरप्रदर्शकं यन्त्रम् ***

ओघत —सप्तानामनुत्कृष्टाऽजघन्यरसबन्धकाना नानाजीवाश्रितान्तर नास्ति । (गाथा ५०९)

आदेशत –यासु मार्गणासु अनुत्कृष्टाऽजघन्यरसबन्धकानां नानाजीवाश्रितकाल सर्वाद्धा, तासु अन्तरं नास्ति, ततः अपर्याप्तमनुष्याद्येकादशमार्गणा वर्जयित्वा शेषासु १५६ मार्गणासु अन्तर न प्राप्यते, अपर्याप्तमनुष्याद्येकादशमार्गणासु यन्त्रकादवसेयम् । (गाथा ५१७)

गाथा०	मार्गणा	जघन्यान्तरम्	उत्कृष्टान्तरम्	गाथा०	मार्गणा	सर्वाः	जघन्या-न्तरम्	उत्कृष्टा-न्तरम्
५१७	छेदोपस्थाप० १	६३ सहस्र-वर्षाणि०	१८ कोटा-कोटिसागरो.	५१९	वैक्रियमिश्र०	१	१ समयः	१२ मुहूर्त०
५१८	परिहारविशुद्धि० १	स्वयं ज्ञेयम्	,, ,,	५२०	आहारक० तन्मिश्र०	२	,,	वर्षपृथक्त्व०
५१८-९	अपर्याप्तमनुष्य-सास्वा० मिश्र० ३	१ समयः	पल्याऽसंख्य-भागः	५२०	अवेद० सूक्ष्मसम्प०	२	,,	६ मासाः
				५२१	उपशम०	१	,,	७ अहोरात्राः

।। इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे प्रथमाधिकारे षोडशमन्तरद्वार समाप्तम् ।।

★ नानाजीवाश्रिताऽन्तरप्रदर्शकयन्त्रे दिदृक्षवः पाठकाः पश्यन्तु ३७३ तम ३७४ तम च पृष्ठम् ।

* आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य नानाजीवाश्रितान्तरप्रदर्शकं यन्त्रम् *

ओघतः—सप्तानां जघन्यतो नानाजीवाश्रितान्तरं १ समयः, उत्कृष्टतश्चतुर्घातीनामसंख्येयलोकाः, वेदनीयनामगोत्राणां षण्मासाः। (गाथा ५०८-९)

आदेशतः—यत्रान्तरं प्राप्यते, तत्र जघन्यतः १ समयः, उत्कृष्टतस्तु यन्त्रकादवसेयम्। (गाथा ५१०)

घाति४—नास्ति		ओघवत्	असंख्यलोकाः	असंख्यलोकाः	वर्षपृथक्त्व	असंख्यलोका	असंख्यलोकाः
अघाति३—नास्ति		ओघवत्	वर्षपृथक्त्वम्	साधिकवर्ष०	६ मासाः	१८ कोटाकोटिसागरो०	असंख्यलोकाः
गति०		मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य० २	मानुषी० १				शेष० ४४
इन्द्रिय०	सर्वैकेन्द्रिय० ७	पञ्चेन्द्रियौघ० तत्पर्याप्त० २					सर्वविकल० अपर्याप्तपञ्चे० १०
काय०	सर्वनिगोद० ७, शेषसर्वसूक्ष्म० १२ बादराऽपर्याप्त-पृथ्व्यादि० ४ अपर्याप्तप्रत्येकवन० १ वनौघ० १=२५	त्रसौघ-त्रसपर्याप्त० २					पृथ्व्यादिचतुरोघ४ तत्तद्बादरौघ० ४ तत्तत्पर्याप्तबादर ४ प्रत्येकवनौघ० १ तत्पर्याप्त० १ अपर्याप्तत्रस० १ =१५
योग०		सर्वमनोवचो० १० काययोगौदारिकयोग०=१२					शेष० ६
वेद०			स्त्री० नपुं०.२	पुरुष० १	अवेद० १		
कषाय०		लोभ० १		शेष० ३ 卐			
ज्ञान०		मति-श्रुतज्ञान० २	मनःपर्यव० १	अवधिज्ञान १ *			अज्ञानत्रिक० ३
संयम०		संयमौघ० सामायिक० २			सूक्ष्मसंप० १	छेदोपस्था० १	परिहार० देशविरति० असंयम० ३
दर्शन०		चक्षुरचक्षु० २		अवधि० १ *			
लेश्या०		शुक्ल० १					शेष० ५
भव्य०		भव्य० १					अभव्य० १
सम्य०		सम्यक्त्वौघ० क्षायिक० २	उपशम० १				वेदक० सास्वा० मिश्र० मिथ्या ४
संज्ञि०		संज्ञि० १					असंज्ञि० १
आहारि०		आहारि० १					अनाहारि० १
सर्वा०	३२	३१	५	१+३+२	२	१	६३
गाथाङ्कः	५१०	५११–५१२	५११-५१२	५१३ ४-५	५१६	५१५	५१६

卐 क्रोध-मान मायामार्गणासु मतान्तरेणाऽघातित्रयस्योत्कृष्टान्तरं ६ मासाः। (गाथा ५१४)

* अवधिज्ञानाऽवधिदर्शनमार्गणाद्वये ,, ,, ,, ,, ,, वर्षपृथक्त्वम्। (गाथा ५१४)

* आयुषश्चतुर्विधरसबन्धकानां नानाजीवाश्रिताऽन्तरप्रदर्शकं यन्त्रम् *

ओघत —आयुष उत्कृष्टरसबन्धकाना नानाजीवाश्रितान्तरं जघन्यन: १ ममय:, उत्कृष्टत: पुनरसख्येयलोका: । अनुत्कृष्टजघन्याऽजघन्यरसबन्धकानामन्तरमेव नास्ति ।

आदेशत. उत्कृष्टरसबन्धकानाम गाथा		जघन्य०	उत्कृष्टान्तरम
५२०	सर्वासु—१६३ मा०	१ समय:	असंख्येय-लोका
	जघन्यरस०		
५३१	अनन्ताऽसख्येयलोकजीव-राशिकतिर्यगोघादि६२-मार्गणासु	नास्ति	नास्ति
५३२	शेष १०१ मार्गणासु०	१ समय	असंख्येय-लोका:

गाथा०	अनुत्कृष्टाऽजघन्यरसयो:	जघन्या	उत्कृष्टान्तरम्
५२३	तिर्यगोघ-सर्वेकेन्द्रिय.,-सर्वनिगोद, वनौघ. प्रत्येकवन.-तदपर्याप्त.-पृथ्व्यादिचतुष्कसत्कबादरपर्याप्त-भेदवर्जषट्षड्भेद.२४-काय-योगौदारिक-तन्मिश्र.-नपुं.-सर्व-कषाय.४-द्वयज्ञान.२-असंयम-अचक्षु० अशुभलेश्या.३-भव्याभव्य-मिथ्या. असंज्ञि. आहारि० =६२	नास्ति	नास्ति
५२४ ५२५	पञ्चेन्द्रियतिर्यग्-त्रिविकलौघ-पञ्चेन्द्रियौघ.त्रसौघ.=६ तत्तदपर्याप्तभेदा: ६ । बादरपर्या-प्तपृथ्व्यब्वायुप्रत्येकवन० ४=१६	१समय	अन्तर्मु०
५२५	शेष० ८५	"	प्रकृति-बन्धवत्

↓

* आयुर्वर्जसप्तानां जघन्यरसबन्धकानां नानाजीवाश्रितान्तरप्रदर्शकं यन्त्रम् *

ओघत — वेदनीयनाम्नोर्जघन्यरसबन्धकाना नानाजीवाश्रितान्तरमेव नास्ति । घातिगोत्राणा जघन्यत: १ समय, उत्कृष्टतस्तु घातिचतुष्कस्य ६ मासा:, गोत्रस्य पुनरसख्येयलोका: । (गाथा ५२६-५२७)

आदेशत —यासु मार्गणासु यासा प्रकृतीना जघन्यरसबन्धकस्य नानाजीवाश्रितकाल. सर्वाद्धा, तत्र तासां प्रकृतीनां नानाजीवाश्रिताऽन्तरमेव नास्ति । शेषमार्गणासु शेषप्रकृतीनां जघन्यान्तरं १ समय:, घातिचतुष्कस्य जघन्यरसबन्धकानामुत्कृष्टमन्तर गोत्रस्योत्कृष्टरसबन्धकानामुत्कृष्टान्तरवत्, अघातित्रयस्योत्कृष्टान्तर पुनरन्तरायकर्मण उत्कृष्टरसबन्धकानामुत्कृष्टान्तरवद् ज्ञातव्यम् । अपवाद:-नवरमेकेन्द्रियौघबादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरैकेन्द्रियलक्षणासु त्रिमार्गणासु गोत्रस्य जघन्यरसबन्धकानामन्तरमसंख्येयलोकप्रमाणं विज्ञेयम् । (गाथा ५२८-५२९-५३०)



॥ अथ सप्तदशं भावद्वारम् ॥

गतं नानाजीवाश्रयमन्तरद्वारम् । अधुना क्रमप्राप्तस्य 'भावो' इत्यनेनोद्दिष्टस्य सप्तदशद्वारस्य व्याख्यानावसरः । तत्राऽष्टानामुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागयोर्जघन्याजघन्यानुभागयोश्च बन्धका औदयिकादिपञ्चभावमध्ये कस्मिन् भावे वर्तमानास्तद्बन्धं विदधतीति भावनिरूपणमोघाऽऽदेशाभ्यामेकगाथया एव प्राह–

बज्झइ ओदइयेणं भावेण चउव्विहो रसोऽट्ठण्हं ।
एमेव जाणियव्वं सप्पाऊगाण सव्वासुं ॥५३३॥

(प्रे०) 'बज्झइ' इत्यादि, अष्टानां प्रकृतीनां चतुर्विधः-उत्कृष्टाऽनुत्कृष्टजघन्याजघन्यलक्षणश्चतुष्प्रकारोऽपि रस औदयिकेन भावेन बध्यते । अथाऽऽदेशतः प्राह–सर्वासु मार्गणासु स्वप्रायोग्याणां स्वस्वबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामुत्कृष्टादिचतुर्विधो रसः एवमेव-औदयिकेन भावेनैव बध्यत इति ज्ञातव्यम् । कुतः ? इति चेद्, उच्यते–इह कर्मप्रकृतीनां रसः कषायमोहनीयस्योदयेनैव बध्यते, यतो हि यावत् कषायमोहनीयस्योदयो भवति, तावद्रसबन्धः इति त्वेतद्ग्रन्थस्य प्रारम्भे एव प्रोक्तम्, अतः कषायोदयरहितास्वकषायकेवलज्ञानकेवलदर्शनयथाख्यातसंयमलक्षणासु चतुर्मार्गणासु रसबन्धो नाभिहितः; प्रकृतिबन्धविधाने आदेशतः चतुःसप्तत्युत्तरशतमार्गणासु स्वामित्वादिप्ररूपणा कृता, रसबन्धविधाने पुनरकषायादिचतुर्मार्गणा वर्जयित्वा शेषसप्तत्युत्तरशतमार्गणास्विति, आसु सर्वासु कषायोदयस्य सद्भावात् चतुर्विधोऽपि रस औदयिकेन भावेन बध्यत इति निगदितम् ॥५३३॥

तदेवं समर्थितमष्टानां प्रकृतीनामुत्कृष्टादिचतुर्विधरसानामोघाऽऽदेशाभ्यां भावद्वारम्, तत्समर्थिते च गतं 'भावो' इत्यनेनोद्दिष्टं सप्तदशं द्वारम् ।

❋ अष्टानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टादिचतुर्विधरसबन्धे भावप्रदर्शकं यन्त्रम् ❋		
कुत्र	केषाम्	केन भावेन बन्धः
ओघे सर्वमार्गणासु च	अष्टकर्मसत्कोत्कृष्टादिचतुर्विधरसानां प्रत्येकम्	औदयिकेन भावेन

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे प्रथमाधिकारे सप्तदशं भावद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथाऽष्टादशमल्पबहुत्वद्वारम् ॥

गतं भावद्वारम् । सम्प्रति क्रमप्राप्तस्य 'अप्पबहु 'इत्यनेनोद्दिष्टस्याष्टादशद्वारस्य व्याख्यानावसरः । तत्र 'अल्पबहुत्वं' इत्यस्यार्थस्तु सुप्रसिद्धः, प्रकृतेऽल्पबहुत्वप्ररूपणा नाम अष्टकर्मणामुत्कृष्टानुभागबन्धविषये कस्य कर्मणो रसः सर्वोत्कृष्टो विद्यते, तत्कर्मसत्कसर्वोत्कृष्टरसतश्च शेषकर्मणामुत्कृष्टोऽपि रसः कतिगुणो हीनो वर्तते इति निरूपणम् । एवमष्टकर्मणां जघन्यानुभागबन्धविषयेऽपि बोध्यम्, नवरमत्र प्रथमपदे कस्य कर्मणो रसः सर्वजघन्यस्ततः शेषकर्मणां रसः क्रमशः कतिगुणोऽधिको भवतीति प्रतिपादनम् । तत्रादौ तावदुत्कृष्टानुभागस्य बन्धविषयकमल्पबहुत्वमाह–

तिव्वरसो सव्वऽहियो वेअस्स तओ अणंतगुणहीणो ।
कमसोऽत्थि अघाइजुगलचउत्थघाइतिगआऊणं ॥५३४॥

(प्रे०) **'तिव्वरसो'** इत्यादि, वेदनीयकर्मणो बन्धविषयं तीव्ररसः–उत्कृष्टरसः सर्वाऽधिकोऽस्ति तथास्वाभाव्यात् ,शेषकर्मणां रसः तदपेक्षया कतिगुणहीनः ? इत्याह–**'तओ'** इत्यादि,ततः वेदनीयकर्मसत्कसर्वोत्कृष्टरसतः शेषप्रकृतीनां रसः क्रमशोऽनन्तगुणहीनोऽस्ति, कस्तत्क्रमः ? इत्याह–**'अघाइजुगल'** इत्यादि, अघातियुगलस्य नामगोत्रकर्मलक्षणस्य, ततः चतुर्थघातिकर्मणः-मोहनीयस्य ततः घातित्रयस्य-ज्ञानावरण-दर्शनावरणाऽन्तरायलक्षणस्य, ततश्चायुषः-आयुष्कर्मण उत्कृष्टरसः क्रमशोऽनन्तगुणहीनो द्रष्टव्य इति ।

भावार्थः पुनरेवम्–इह वेदनीयनामगोत्रकर्मणामुत्कृष्टरसः शुभप्रकृत्या सह क्षपकश्रेण्यां बध्यते, शुभप्रकृतीनां च रसस्तथास्वभावतोऽधिको विद्यते क्षपकश्रेण्यां पुनस्तीव्रविशुद्धिसद्भावेन स प्रभूतो निर्वर्त्यते, तत्र वेदनीयस्योत्कृष्टरसः प्रकृतिविशेषात् सर्वाधिकः । नामगोत्रयोरुत्कृष्टरसः वेदनीयसत्करसापेक्षया अनन्तगुणहीनः परस्परं तुल्यश्च । आयुःकर्मणोऽल्पस्थितिकत्वात् तदपेक्षया चतुर्घातिकर्मणामुत्कृष्टरसोऽधिकः, तेष्वपि मोहनीयस्य दीर्घस्थितिकमिथ्यात्वापेक्षया शेषज्ञानावरणादित्रिघातिकर्मसत्करसतोऽनन्तगुणाऽधिको वर्तते, अत एव नामगोत्रयोरनन्तरं स्थानं मोहनीयस्य ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायकर्मणामुत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, तेषां समस्थितिकत्वात् परस्परं तुल्यश्च । ततोऽप्यायुष्कसत्कोत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनः, सर्वकर्मसत्कस्थित्यपेक्षयाऽऽयुष्कस्यात्यल्पस्थितिकत्वादिति ॥५३४॥

अथ मार्गणासु प्रस्तुतमल्पबहुत्वं त्रिभणिपुरादौ तावत् पञ्चानुत्तरसुरादिमार्गणास्वाह—

वेअस्स रसो तिव्वो अहियो पंचसु अणुत्तरसुरेसुं ।
आहारदुगम्मि य मइसुओहिमणपज्जवेसुं च ॥५३५॥

संयमसामइएसुं छेए परिहारदेसओहीसुं ।
सम्मत्तखइअवेअगउवसमसासाणमीसेसुं ॥५३६॥
ताउ अणंतगुणूणो दुअघाइ तिघाइमोहआऊणं ।
होइ कमाऽप्पाबहुगं अवेअसुहमेसु सयमुज्झं ॥५३७॥

(प्रे०) 'वेअस्स' इत्यादि, पञ्चानुत्तरसुराः, आहारकतन्मिश्रकाययोगौ, ज्ञानचतुष्कं, संयमौघः, सामायिकचारित्रं, छेदोपस्थापनीयं, परिहारविशुद्धिकं, देशविरतिः, अवधिदर्शनं तथा सम्यक्त्वौघः, क्षायिकम्, क्षायोपशमिकम्, उपशमसम्यक्त्वं, सास्वादनः, मिश्रसम्यक्त्वञ्चेत्येतासु त्रयोविंशतिमार्गणासु प्रत्येकं 'वेअस्स' वेदनीयकर्मणः 'तिव्वो' उत्कृष्टरसः 'अहियो' सर्वाधिकः,ततो नामगोत्रयोः प्रत्येकमनन्तगुणहीनस्तयोः परस्परं च तुल्यः, ततस्त्रिघातिनां प्रत्येकमनन्तगुणहीनः, ततो मोहनीयायुषोः क्रमशो यथोत्तरमनन्तगुणहीनः । उपशम-मिश्रदृष्टिमार्गणाद्वये आयुषो बन्धाभावात्तत्र सप्तकर्मणामल्पबहुत्वं निरुक्तक्रमेण ज्ञेयम् ।

इदमत्र बोद्धव्यम्-प्रस्तुतमार्गणासु शेषत्रिघातिनामुत्कृष्टरसतो मोहनीयस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणहीनो मिथ्यात्वस्य बन्धाभावात् । ओघे तु मिथ्यात्वस्य बन्धमाश्रित्य शेषत्रिघातिनामुत्कृष्टरसतो मोहनीयस्योत्कृष्टरसोऽनन्तगुणाभ्यधिकः प्राप्यते, मोहनीयोत्कृष्टरसात् शेषत्रिघातिनामनन्तगुणहीनः प्राप्यते इति हेतोरत्रौघवदतिदेशं विहाय पृथग्निर्देशप्रयासः-'अवेअसुहमेसु' इति अवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणयोः प्रस्तुतमुत्कृष्टरसबन्धस्याल्पबहुत्वं स्वयमूह्यम्, तज्ज्ञातृप्रकाशात् स्वयमेव ज्ञातव्यमिति भावः । कुतः इयमुक्तिग्रन्थकारस्येति चेद्, उच्यते-उपशमश्रेणिरारोहकोऽन्तरायादिप्रकृतीनां देशघातिरसकरणानन्तरं नपुंसकवेदस्योपशमनं करोति ततोऽवेदी भवति । स एव श्रेणेरवरोहन् आदौ सवेदी भवति तत्पश्चादेवान्तरायादिप्रकृतीनां सर्वघातिरसं बध्नाति । एवं गतवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणयोरन्तरायकर्मणो रसो देशघाती बध्यते, ज्ञानावरणदर्शनावरणयोश्च सर्वघाती, तत एवं स्वरूपमल्पबहुत्वमिह वक्तव्यं स्यात् । तद्यथा-वेदनीयस्योत्कृष्टरसः सर्वाधिकस्ततो नामगोत्रयोः प्रत्येकमनन्तगुणहीनस्तयोः परस्परं तुल्यश्च, ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणयोः प्रत्येकमनन्तगुणहीनः परस्परं तुल्यश्च ततोऽन्तरायस्यानन्तगुणहीनस्ततो मोहनीयस्यानन्तगुणहीनः । सूक्ष्मसम्पराये मोहनीयस्य बन्धाभावात् तत्र षण्णामेव कर्मणां यथोक्तक्रमेणाऽल्पबहुत्वं वक्तव्यं स्यात् । ग्रन्थान्तरे तु अतोऽन्यथा प्ररूपणं दृश्यते तच्च न घटामञ्चति किन्त्वत्रार्थे विशेषनिर्णयाभावादुक्तं स्वयमूह्यमिति ॥५३५।५३६।५३७॥

अथोक्तशेषासु मार्गणास्वाह—

असमत्तपणिंदितिरियमणुअपणिंदियतसेसुं सव्वेसुं ।
एगिंदियविगलिंदियपणकायेसुं असण्णिम्मि ॥५३८॥

मोहस्स रसो अहियो तत्तो कमसो अणंतगुणहीणो।
वेअदुअघाइतिइयरआऊणोघव्व सेसासुं ॥५३९॥

(प्रे०) 'असमत्त' इत्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्, अपर्याप्तमनुष्यः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, अपर्याप्तत्रसकायः, सर्वे एकेन्द्रियभेदास्ते च सप्त, सर्वे विकलाक्षास्ते च नव, 'पणकाय' इति एकोनचत्वारिंशत्पृथ्व्यादिपञ्चकायभेदाः, असंज्ञी चेति, सर्वसंख्यया षष्टिमार्गणासु प्रत्येकं 'मोहस्स' इति मोहनीयकर्मण उत्कृष्टरसः सर्वाधिकः ततो वेदनीयस्यानन्तगुणहीनः, ततः 'दुअघाइ' इति वेदनीयस्यानन्तरमेवोक्तत्वात्, आयुषश्च वक्ष्यमाणत्वात् नामगोत्रयोरनन्तगुणहीनः 'तिइयर' इतरशब्देनाघातिप्रतिप्रक्षभूतानां घातिनां ग्रहणम्। तेन नामगोत्रयोरुत्कृष्टरसतस्त्रिघातिनामनन्तगुणहीनः, तेषां परस्परं च तुल्यः, तत आयुषोऽनन्तगुणहीनः।

अत्रेदं बोध्यम्-प्रस्तुतमार्गणासु प्रत्येकं संज्ञिपर्याप्तजीवानामभावात् अघात्युत्कृष्टरसतो मोहनीयस्योत्कृष्टरसोऽधिकः-अनन्तगुणेनाऽधिकः-अघातिनां पुनर्मोहनीयस्योत्कृष्टरसतोऽनन्तगुणहीनः। ओघे तु अघातिनामुत्कृष्टरसतो मोहनीयस्यानन्तगुणहीनः, ओघप्ररूपणायाः सकलसंसारिजीवविषयकत्वेन संज्ञिपर्याप्तानामपि तद्विषयत्वात्। ओघप्ररूपणातः कुतोऽयं व्यत्यासः ? यत्र पर्याप्तसंज्ञिजीवानामन्तःपातः तत्र मोहनीयस्योत्कृष्टरसतोऽघातिनामुत्कृष्टरसोऽधिकः, अन्यत्र तु मोहनीयस्याधिकः ततोऽघातिनामनन्तगुणहीन इति हेतोः।

अथोक्तशेषास्वाह-'ओघव्व' इत्यादि, उक्तशेषासु पञ्चाशीतौ मार्गणासु प्रस्तुतमल्पबहुत्वमोघवद् विज्ञेयम्, कुतः ? तत्र पर्याप्तसंज्ञिजीवानामन्तःप्रवेशात् मोहनीयस्योत्कृष्टरसबन्धकाले मिथ्यात्वस्य बन्धसद्भावाच्च। ततोऽपि किमिति चेत्, यासु मार्गणासूत्कृष्टरसबन्धकाः पर्याप्तसंज्ञिनो मिथ्यात्वं च बन्धार्हं तत्र प्रस्तुताल्पबहुत्वमोघवद् भवतीति नियममद्भावादिति। इमाश्च ता उक्तशेषा मार्गणाः-अष्टौ नरकमार्गणाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वर्जास्तिर्यग्मार्गणाश्चतस्रः, अपर्याप्तमनुष्यवर्जा मनुष्यमार्गणास्तिस्रः, पञ्चानुत्तरसुरवर्जा देवमार्गणाः पञ्चविंशतिः, पञ्चेन्द्रियौघपर्याप्तपञ्चेन्द्रियौ, त्रसकायौघपर्याप्तत्रसकायौ, आहारकतन्मिश्रयोगवर्जा योगमार्गणाः षोडश, त्रयो वेदाः, चत्वारः कषायाः, त्रीण्यज्ञानानि, अयतः, चक्षुरचक्षुर्दर्शनमार्गणे, लेश्यामार्गणाः षट्, भव्याभव्यौ, मिथ्यात्वम्, संज्ञी, आहार्यनाहारिमार्गणे चेति पञ्चाशीतिमार्गणा इति ॥५३८।५३९॥

तदेवमष्टानामुत्कृष्टानुभागस्याल्पबहुत्वमभिहितम्। साम्प्रतं जघन्यानुभागस्याऽल्पबहुत्वं प्रस्तोतुमना आदौ तावदोघतः प्राह—

मंदरसो सव्वऽप्पो मोहस्स तओ अणंतगुणअहियो।
कमसोऽत्थि विग्घघाइदुगाऊणं गोअणामवेआणं ॥५४०॥[गीतिः]

(प्रे०) **'मंदरसो'** इत्यादि, मोहनीयस्य मन्दरसः-जघन्यानुभागः सर्वाऽल्पः, ततः शेषप्रकृतीनां जघन्यरसः क्रमशोऽनन्तगुणाधिकोऽस्ति, अत्र कः क्रमः ? इत्याह **'विग्घघाइ'** इत्यादि, मोहनीयसत्कजघन्यरसतो विघ्नघातिद्विकायुषां गोत्रनामवेदनीयानां जघन्यरसः क्रमशोऽनन्तगुणाऽधिकोऽस्ति। अयम्भावः-मोहनीयस्य जघन्यरसः शेषमूलकर्मसत्कजघन्यरसापेक्षया सर्वाल्पः, ततोऽन्तरायस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणाधिकः, तस्मादपि ज्ञानावरणदर्शनावरणयोर्जघन्यरसोऽनन्तगुणाऽधिकः परस्परं तुल्यश्च, ततोऽप्यायुष्कस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणाऽभ्यधिकः, ततो गोत्रसत्कजघन्यरसोऽनन्तगुणाऽधिकः, तस्मादपि नामकर्मणो जघन्यरसोऽनन्तगुणाऽभ्यधिकः, ततोऽपि वेदनीयस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणाऽधिक इति।

इयमत्र भावना-इह चतुर्घातिकर्मणां जघन्यानुभागबन्धः क्षपकश्रेण्यां तीव्रविशुद्धया जायते, अत एवाघातिप्रकृतीनां जघन्यरसापेक्षया घातिकर्मसत्कजघन्यरसोऽल्पः प्राप्यते, घातिकर्मसत्कजघन्यरसेष्वपि मोहनीयान्तराययोर्देशघाती एव निरुक्तरसः, ज्ञानावरणदर्शनावरणसत्कजघन्यरसस्तु सर्वघाती, अतो ज्ञानावरणदर्शनावरणापेक्षया मोहनीयान्तरायसत्कजघन्यरसोऽल्पः, तत्रापि मोहनीयसत्कजघन्यरसः सर्वाल्पः अन्तरायापेक्षया मोहनीयसत्कस्थितिबन्धस्याल्पत्वात्, तथा चोक्तं **स्थितिबन्धविधाने** द्वितीयाधिकारे-

सव्वऽप्पो ठिइबंधो आउस्स जहण्णगो मुणेयव्वो। नाहिन्तो णायव्वो संखेज्जगुणो उ मोहस्स ॥४९३॥
तत्तो उ तिघाईणं संखगुणो ....'' इति॥

अशुभप्रकृतिमध्ये यस्याः प्रकृत्या जघन्यस्थितिः सर्वाल्पा बध्यते तस्याः प्रकृत्या जघन्यरसः सर्वाल्पः प्राप्यते इति सामान्यनियमः। ततो मोहनीयस्य जघन्यरसः सर्वाल्पो भणितः। ततोऽप्यन्तरायस्य जघन्यानुभागोऽनन्तगुणाऽधिको दर्शितः,तस्मादपि ज्ञानावरणदर्शनावरणयोर्जघन्यरसोऽनन्तगुणाऽभ्यधिकः परस्परं तुल्यश्च निर्दिष्ट इति। तत्पश्चादघातिचतुष्कमध्ये आयुष्कजघन्यस्थितेः क्षुल्लकभवप्रमाणत्वेन सर्वाल्पत्वात्, आयुष्कस्य जघन्यानुभागो ज्ञानावरणदर्शनावरणसत्कजघन्यानुभागानन्तरं निगदितः-तदपेक्षया पुनरनन्तगुणाऽधिको दर्शित इत्यर्थः। ततो गोत्रसत्कजघन्यानुभागोऽनन्तगुणाऽधिकः, वेदनीयनामकर्मणोर्जघन्यानुभागः परावर्तमानपरिणामेन बध्यते, गोत्रस्य पुनर्जघन्यानुभागोऽशुभप्रकृत्या सह बध्यमानत्वेन विशुद्धिनिबन्धनः। अतो वेदनीयनामकर्मसत्कजघन्यरसापेक्षया गोत्रस्य जघन्यानुभागोऽनन्तगुणो हीनः। वेदनीयनामकर्मसत्कजघन्यरसयोः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वेऽपि तथास्वाभाव्येन वेदनीयसत्करसस्याधिक्यात्, गोत्रसत्कजघन्यरसानन्तरं नामकर्मसत्कजघन्यरसोऽनन्तगुणाधिकः कथितः, तदनन्तरं वेदनीयस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणाऽभ्यधिको निरूपित इति ॥५४०॥

तदेवमभिहितमोघतोऽष्टानां मूलप्रकृतीनां जघन्यरसस्याल्पबहुत्वम्, इदानीमादेशतोऽल्पबहुत्वं निरूपयितुमना आदौ तावद् यासु मार्गणास्वोघवदल्पबहुत्वं भवति, तासु मार्गणासु प्राह--

दुपणिंदितसपणमणवयकायुरलणपुमचउकसायेसुं ।
णयणियरभवियसण्णीसु तहाहारम्मि ओघव्व ॥५४१॥

(प्रे०) 'दुपणिंदि' इत्यादि, द्विपञ्चेन्द्रिययोः-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणाद्वये, द्वित्रसयोः-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायमार्गणाद्वये, पञ्चमनोयोगेषु, पञ्चवचनयोगेषु, काययोगसामान्ये, औदारिकयोगे, नपुंसकवेदे, चतुष्कषायेषु, चक्षुरचक्षुर्दर्शनमार्गणाद्वये, भव्ये, संज्ञिनि, आहारके चेत्येतासु षड्विंशतिमार्गणासु मूलाऽष्टप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्याऽल्पबहुत्वमोघवद् भवति तच्चैवम्-मोहनीयस्य जघन्यरसः सर्वाल्पः, ततोऽन्तरायकर्मसत्कजघन्यरसोऽनन्तगुणाधिकः ततोऽनन्तगुणाधिकः ज्ञानावरणदर्शनावरणसत्कजघन्यरसः, परस्परं तुल्यश्च, ततोऽनन्तगुणाधिक आयुष्कसत्कजघन्यरसः, ततोऽनन्तगुणाऽधिको गोत्रस्य जघन्यरसः, ततोऽनन्तगुणाऽधिको नामकर्मसत्कजघन्यरसः, ततोऽनन्तगुणाऽधिको वेदनीयस्य जघन्यरसः । ओघवत्कथने बीजं त्विदम्-यासु मार्गणासु घातिचतुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धः क्षपकश्रेण्यां प्राप्यते, तथा गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धस्तीव्रविशुद्धया जायते, वेदनीयनाम्नोर्जघन्यानुभागबन्धः परावर्तमानपरिणामेन जायते तथाऽऽयुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धः क्षुल्लकभवप्रमाणायुषा सह निर्वर्त्यते तासु मार्गणासु मूलकर्माष्टकस्य जघन्यरससत्काऽल्पबहुत्वमोघवद् भवतीति ॥५४१॥ नरकौघादिमार्गणासु प्रकृताल्पबहुत्वमाह—

णिरयचरमणिरयविउवदुगसामाणेसु मोहमंदरसा ।
कमसो तिघाइसत्तमणामतइअआउगाणऽणंतगुणो ॥५४२॥[गीतिः]

(प्रे०) 'णिरय' इत्यादि, नरकौघ-चरमनरक-वैक्रियकाययोग-वैक्रियमिश्रयोग-सास्वादनमार्गणासु मोहनीयस्य मन्दरसात् क्रमशोऽनन्तगुणाधिकस्त्रिघातिगोत्राख्यसप्तमकर्म-नामकर्म-वेदनीयाख्यतृतीयकर्मायुष्काणां जघन्यरसो भवेत् । भावार्थः पुनरेवम्-आसु मार्गणासु मोहनीयस्य जघन्यानुभागः सर्वस्तोकः, ततोऽनन्तगुणाधिको ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायकर्मणां प्रत्येकं जघन्यरसस्तेषां परस्परं तुल्यश्च, ततोऽनन्तगुणाधिको गोत्रस्य जघन्यानुभागः, ततोऽनन्तगुणाभ्यधिको नामकर्मणो जघन्यरसः, ततोऽनन्तगुणाधिको वेदनीयस्य जघन्यरसः, ततोऽप्यनन्तगुणाधिक आयुष्कस्य जघन्यरसो विज्ञेयः ।

एतासु मार्गणासु श्रेण्यभावेन त्रिघातिनां जघन्यानुभागः परस्परं तुल्यः प्राप्यते गोत्रस्य च जघन्यानुभागः परावर्तमानपरिणामेन न जायते, अतः त्रिघात्यनन्तरं केवलं गोत्रस्य स्थानम्, तथा आयुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धः पर्याप्तप्रायोग्याऽऽयुषा सह जायते, अत अत्र तस्यान्तिमं स्थानं सर्वाधिकस्तस्य जघन्यरस इति भावः । वैक्रियमिश्रे आयुष्कस्य बन्धाभावात् तदल्पबहुत्वं नाभिधातव्यमिति ॥५४२॥

अधुना यासु मार्गणासु श्रेण्यभावो विद्यते, तथा गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धः परावर्तमान-मध्यमपरिणामेन जायते, आयुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धः पुनः पर्याप्तप्रायोग्याऽऽयुष्केण सह निर्व-र्त्यते, तासु मार्गणासु मूलकर्माऽष्टकस्य जघन्यानुभागस्याऽल्पबहुत्वमाह—

पढमाइछणिरयेसुं सुरगेविज्जंततेउपउमासुं ।
मंदरसो सव्वप्पो विण्णेयो मोहणीयस्स ॥५४३॥
तो तिण्हं घाईणं ताहिन्तो होइ णामगोआणं ।
तत्तो वेअस्स तओ आउस्स अणंतगुणअहियो ॥५४४॥

(प्रे०) 'पढमाइ' इत्यादि, प्रथमादिषड्निरयेषु 'सुरग्रैवेयकान्ततेजःपद्मलेश्यासु' देवसामा-न्य-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-द्वादशवैमानिक-नवग्रैवेयकरूपपञ्चविंशतिदेवभेदेषु, तेजःपद्मलेश्याभेद-द्वये चेत्येतासु त्रयस्त्रिंशद्मार्गणास्वल्पबहुत्वमेवम्–मोहनीयस्य जघन्यानुभागः सर्वाल्पस्ततस्त्रि-घातिकर्मणां प्रत्येकं जघन्यानुभागोऽनन्तगुणाधिकः तेषां परस्परं तुल्यश्च, ततो नामगोत्रयोः प्रत्येकं जघन्यानुभागोऽनन्तगुणाधिकः तयोः परस्परं तुल्यश्च, ततो वेदनीयस्य जघन्यानुभागो-ऽनन्तगुणाधिकः, तत आयुष्कस्य जघन्यानुभागोऽनन्तगुणाधिको ज्ञातव्यः ।

इदमत्र बोध्यम्-सर्वत्र अघातिसत्कजघन्यरसाद् घातिसत्कजघन्यरसोऽनन्तगुणहीनः तत्रापि तथास्वभावाद् मोहनीयस्य जघन्यरसः सर्वाल्पः अतो मोहनीयस्य स्थानं प्रथमम् । तदनन्तरं शेषघातित्रयस्य स्थानम् , तत्रापि यदा श्रेणौ घातित्रयस्य जघन्यरसो बध्यते तदा ओघक्रमेण अन्त-रायस्य द्वितीयं स्थानम् , तदनन्तरं ज्ञानावरणदर्शनावरणयोः प्रत्येकं तृतीयं स्थानम् ,अन्यथा मोहनी-यानन्तरं घातित्रयस्य प्रत्येकं द्वितीयं स्थानं यथा प्रकृते, घात्यनन्तरमायुष्कस्य स्थानं तदा भवति यदा तस्य जघन्यरसोऽपर्याप्तप्रायोग्यः अन्यथा नामगोत्रयोः स्थानम् । तत्रापि गोत्रस्य जघन्यरसो यदि विशुद्ध्या बध्यते तर्हि तस्यैव स्थानम् , यदि गोत्रस्यापि जघन्यरसो नामवत् परावर्तमानपरिणामेन बध्यते तदा नामगोत्रयोः प्रत्येकं स्थानं यथा प्रकृते तृतीयं स्थानम् । ततः परं वेदनीयस्य स्थानम् । यद्यपि नामकर्मवत् वेदनीयस्य जघन्यरसः परावर्तमानपरिणामेन बध्यते तथापि तथास्वाभाव्याद् नामकर्मसत्कजघन्यरसात् तस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणाधिको बध्यते, ततः नामकर्मानन्तरं वेदनीयस्य स्थानमागतम् , यदाऽऽयुष्कस्य जघन्यरसः पर्याप्तप्रायोग्यस्तदा तस्य स्थानं चरमं ज्ञेयम् ,सर्वा-धिकरसयुक्तत्वात्तस्य यथा प्रकृते ॥५४३।५४४॥

सम्प्रति यासु मार्गणास्वायुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धः क्षुल्लकभवप्रायोग्याऽऽयुषा सह जायते,गोत्रस्य पुनर्विशुद्ध्या निर्वर्त्यते,श्रेणिश्च न प्राप्यते तासु मार्गणासु जघन्यरसस्याऽल्पबहुत्वं प्रदर्शनार्थमाह–

तिरिये सव्वेगिंदियऽगणिवाउउरालमीसअयतेसुं ।
तिअणाणअसुहलेसाअभवियमिच्छत्तअमणेसुं ॥५४५॥

मंदरसो सव्वऽप्पो मोहस्स तओ अणंतगुणअहियो ।
कमसो तिघाइआउगगोआणं णामवेआणं ॥५४६॥

(प्रे०) **'तिरिये'** इत्यादि, तिर्यगोघैकेन्द्रियसप्तभेद-तेजःकायसप्तभेद-वायुकायसप्तभेदौदारिकमिश्र-त्र्यज्ञानाऽसंयम-कृष्णादित्र्यशुभलेश्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिलक्षणासु त्रयस्त्रिंशद्मार्गणासु मोहनीयस्य जघन्यरसः सर्वाल्पः, ततोऽनन्तगुणाऽधिकः क्रमशः त्रिघातिनां चायुष्कस्य च गोत्रस्य च नामकर्मणश्च वेदनीयस्य च जघन्यरसो बोद्धव्यः । कथम् ? इति चेत् , उच्यते-अत्राऽऽयुष्कस्य जघन्यानुभागः क्षुल्लकभवप्रायोग्यायुषा सहैव बध्यते,अतो घातित्रयानन्तरमायुष्कस्य स्थानम् ,आयुषो जघन्यरसाद् गोत्रसत्कजघन्यरसोऽनन्तगुणाऽधिकः वेदनीयनामकर्मसत्कजघन्यरसापेक्षया त्वनन्तगुणहीनः, विशुद्धया बध्यमानत्वात् ,गोत्रस्य जघन्यरसाद् नामकर्मसत्कजघन्यरसोऽनन्तगुणाधिकः, ततोऽनन्तगुणाऽभ्यधिकः वेदनीयसत्कजघन्यरसः प्रकृतिविशेषादिति ॥५४५।५४६॥

इदानीं यासु मार्गणास्वायुष्कस्य जघन्यानुभागः क्षुल्लकभवायुषा सह बध्यते, गोत्रस्य जघन्यानुभागबन्धः परावर्तमानपरिणामेन निर्वर्त्यते, श्रेणिश्च न प्राप्यते तासु मार्गणास्वल्पबहुत्वं निगदन्नाह—

सव्वपणिंदियतिरियअपज्जत्तमणुसपणिंदियतसेसुं ।
सव्वेसुं विगलिंदियपुहवीसलिलवणकायेसुं ॥५४७॥
मंदरसो सव्वऽप्पो मोहस्स तओ अणंतगुणअहियो ।
कमसो तिघाइआउगअघाइदुगवेअणीयाणं ॥५४८॥

(प्रे०) **'सव्वपणिंदियतिरिय'** इत्यादि , पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिमती-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकाय-सर्वविकलेन्द्रिय-सर्वपृथ्वीकायभेद-सर्वाऽप्कायभेद-सर्ववनस्पतिकायभेदरूपास्वेकचत्वारिंशद्मार्गणासु मोहनीयस्य जघन्यरसः सर्वाल्पः, ततोऽनन्तगुणाऽधिको ज्ञानावरणदर्शनावरणाऽन्तरायलक्षणत्रिघातिसत्को जघन्यरसः परस्परं तुल्यश्च । ततोऽप्यनन्तगुणाधिक आयुष्कस्य जघन्यरसः । तस्मादप्यनन्तगुणाधिको नामगोत्रसत्कजघन्यरसः, परस्परं तुल्यश्च । ततोऽप्यनन्तगुणाधिको वेदनीयस्य जघन्यरसः । इयमत्र भावना-अत्राऽऽयुष्कस्य जघन्यानुभागबन्धः क्षुल्लकभवप्रमाणाऽऽयुषा सह निर्वर्त्यते ततोऽत्र घातिचतुष्कस्यानन्तरमायुष्कस्य स्थानम् । गोत्रस्य पुनर्जघन्यानुभागबन्धः परावर्तमानपरिणामेन जायते, ततो नामकर्मसत्कजघन्यानुभागतुल्यो गोत्रस्य जघन्यानुभागो भवति अत एव गोत्रसत्कजघन्यानुभागो नामकर्मणा सार्द्धं प्ररूपितः इति ॥५४७।५४८॥

अधुना त्रिमनुष्यस्त्रीपुरुषवेदलक्षणमार्गणापञ्चके प्रस्तुताल्पबहुत्वं प्राह—

तिमणुसथीपुरिसेसुं णेयो ओघव्व मंदअणुभागो ।
णवरं हवए तुल्लो मंदरसो णामगोआणं ॥५४९॥

(प्रे०) 'तिमणुसथी' इत्यादि, मनुष्यौघ-मनुष्ययोनिमती-पर्याप्तमनुष्य-स्त्रीवेद-पुरुषवेद-लक्षणासु पञ्चमार्गणासु प्रत्येकमष्टप्रकृतीनां जघन्यानुभागस्याऽल्पबहुत्वमोघवद् ज्ञेयः । तत्र विशेषमाह-'णवरं' इत्यादि, किन्त्वत्र नामगोत्रयोर्जघन्यरसः तुल्यो भवेत्, गोत्रसत्कजघन्यानुभागबन्धस्यापि परावर्तमानमध्यमपरिणामेन निर्वर्त्यमानत्वात्, ततश्चाल्पबहुत्वमेवम्- मोहनीयस्य जघन्यरसः सर्वाल्पः । ततोऽनन्तगुणाधिकोऽन्तरायकर्मसत्कजघन्यरसः, तस्मादप्यनन्तगुणाधिको ज्ञानावरणदर्शनावरणयोर्जघन्यरसः परस्परं तुल्यश्च, ततोऽनन्तगुणाधिक आयुष्कस्य जघन्यरसः, तस्मादप्यनन्तगुणाधिको नामगोत्रयोर्जघन्यरसः । ततोऽप्यनन्तगुणाधिको वेदनीयस्य जघन्यरस इति ॥५४९॥ अनुत्तरसुरादिमार्गणास्वाह—

पंचसु अणुत्तरेसुं आहारदुगपरिहारदेसेसुं
तह वेअगमीसेसुं थोवो मोहस्स मंदरसो ॥५५०॥
ताओ अणंतगुणिओ तिघाइणामतइआउगाण कमा
अप्पाबहुगं तु सयं विण्णेयं गोअकम्मस्स ॥५५१॥

(प्रे०) 'पंचसु' इत्यादि, पञ्चानुत्तरसुराहारकतन्मिश्रकाययोगपरिहारविशुद्धिदेशविरतवेदकसम्यक्त्वमिश्रदृष्टिमार्गणासु मोहनीयस्य मन्दरसः सर्वाल्पः, ततः त्रिघातिकर्मणां प्रत्येकं जघन्यरसोऽनन्तगुणाधिकः तेषां परस्परं तुल्यश्च ततो नामकर्मणो जघन्यरसोऽनन्तगुणाधिकः, ततो वेदनीयकर्मणो जघन्यरसोऽनन्तगुणाधिकः, तत आयुःकर्मणो जघन्यरसोऽनन्तगुणाधिको विज्ञेयः । तथा 'अप्पाबहुगं तु सयं' इति, आस्वेकादशमार्गणासु गोत्रकर्मणो जघन्यरसस्याल्पबहुत्वं स्वयमेव विज्ञेयम्, तज्ज्ञातृसकाशादिति शेषः । कुत इयमुक्तिर्ग्रन्थकारस्य इति चेत्, विशेषोपदेशाभावात्, तद्यथा-ओघे गोत्रकर्मणो जघन्यरसबन्धः सुविशुद्धेन मिथ्यादृष्टिना सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमपृथ्वीनारकेण विधीयते, नामकर्मणः पुनः परावर्त्तमानपरिणामेनायशःकीर्त्यादिप्रकृतीराश्रित्य षष्ठगुणस्थानकं यावत् क्रियते, ततस्तत्र गोत्रकर्मणो जघन्यरसोऽल्पः,अप्रशस्तत्वे सति विशुद्धया बध्यमानत्वात्, ततो नामकर्मणोऽनन्तगुणः,अप्रशस्तत्वेऽपि परावर्त्तमानपरिणामेन जायमानत्वात् । मार्गणासु पुनः यत्र परावर्त्तमानपरिणामेन गोत्रस्य जघन्यरसो बध्यते तत्र द्वितीयगुणस्थानकं यावदेव बध्यते, तत ऊर्ध्वं नीचैर्गोत्रस्य बन्धाभावात् नाम्नस्तु षष्ठगुणस्थानकपर्यन्तं परावर्त्तमानपरिणामेन बध्यते, अयशःकीर्त्तेः षष्ठगुणस्थानकं यावत् यशःकीर्त्या सह परावृत्तिसंभवात् । अतो यत्र परावर्तमानपरिणामेन नामगोत्रयोर्जघन्यरसबन्धस्तत्र तयोस्तुल्यो रसो भवति । प्रस्तुतास्त्वनुत्तरसुराहारककाययोगादिमार्गणासु

चतुर्थादीनामेव गुणस्थानानां सद्भावेन नीचैर्गोत्रस्य बन्धाभावात् गोत्रस्य बन्धः परावृत्त्या नैवाऽस्ति, ततोऽत्रोच्चैर्गोत्रमाश्रित्य गोत्रकर्मणो जघन्यरसः प्राप्यते,उच्चैर्गोत्रस्य च प्रशस्तत्वात् उनामकर्मणो जघन्यरसस्य त्वयशःकीर्त्याद्यप्रशस्तप्रकृतिमाश्रित्य प्राप्यमाणत्वात्-इह नामकर्मणो जघन्यरसाद् गोत्र-कर्मणो जघन्यरसोऽनन्तगुणो भवितुमर्हति। किन्तु यथा चतुर्थादिगुणस्थानकेऽप्रशस्ताया अयशःकीर्तेर्ज-घन्यरसस्य परावर्तमानपरिणामेन बध्यमानत्वेन गोत्रकर्मणो जघन्यरसाद् नामकर्मणो जघन्यरसस्या-ल्पत्वं संभवति तथैव देवद्विकादीनां बन्धस्याऽपरावर्त्तमानपरिणामेन जायमानत्वेन नामगोत्रयोः प्रत्येकं जघन्यरसस्य तुल्यत्वमपि घटते। कुतः ? यथा उच्चैर्गोत्रं प्रशस्तं प्रस्तुते तज्जघन्यरसबन्धोऽपरावर्त्तमान-परिणामेन च, तथैव देवगतिप्रमुखनामादि प्रशस्तं तज्जघन्यरसबन्धोऽपरावर्त्तमानपरिणामेन चेति कृत्वा । देवगतिनामोच्चैर्गोत्रयोः प्रत्येकं जघन्यरसस्याऽपरावर्त्तमानपरिणामेन जायमानत्वेऽपि-प्रकृतेर्वैशिष्ट्यमाश्रित्य नामकर्मणो जघन्यरसतो गोत्रकर्मणो जघन्यरसोऽल्पोऽपि भवितुमर्हति अधिकोऽपि वा संभवति ।

तथा ओघे नामकर्मणो जघन्यो रसोऽयशःकीर्तेर्जघन्यरसमाश्रित्य षष्ठगुणस्थानकं यावत् प्राप्यते तस्याः षष्ठगुणस्थानकपर्यन्तं परावृत्त्या बन्धोपलम्भात् । परन्तु यदि विवक्षितसमये बध्य-मानजघन्यरसानां सर्वासां नामप्रकृतीनां मध्ये यस्याः प्रकृते रसः सर्वाधिकः तस्या जघन्यरस-माश्रित्य मूलकर्मविषयमल्पबहुत्वं चिन्त्यते तर्हि प्रथमादिगुणस्थानके तु अयशःकीर्तेर्जघन्यरसमा-श्रित्य नामकर्मणो जघन्यरसः प्राप्यते किन्तु चतुर्थादिगुणस्थानके देवगतिनामादीनामपरावर्त-मानपरिणामेन बन्धः, ततस्तत्र अयशःकीर्तेर्जघन्यरसापेक्षया देवगत्यादीनां जघन्यरसोऽधिकः संभवति स च गोत्रकर्मणो जघन्यरसतस्तुल्योऽधिकोऽल्पो वेति चिरन्तनोक्तिलक्षणस्य विशेषो-पदेशस्याभावेन निश्चेतुमशक्यत्वात् मूलकृतोक्तं स्वयमेव विज्ञेयमिति ॥५५०।५५१॥

एतर्हि कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वये आयुष्कस्य बन्धाभावात् सप्तप्रकृतीनां जघन्याऽनुभाग-स्याऽल्पबहुत्वं निर्वक्ति—

कम्माणाहारेसु थोवो मोहस्स तो अणंतगुणो ।
तिण्हं घाईण तओ सत्तमछट्टतइआण कमा ॥५५२॥

(प्रे०) 'कम्माणाहारेसु' इत्यादि, कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वये मोहनीयस्य जघन्य-रसः सर्वतः स्तोकः, ततोऽनन्तगुणाधिकस्त्रिघातिनां जघन्यरसः । ततोऽनन्तगुणाधिको गोत्राख्य-सप्तमकर्मसत्कजघन्यरसः, ततोऽप्यनन्तगुणाधिकः नामाख्यषष्ठकर्मसत्को जघन्यरसः, ततोऽप्य-नन्तगुणाधिको वेदनीयाख्यतृतीयकर्मणो जघन्यरस इति । अत्र गोत्रसत्कजघन्यानुभागः सप्तमनार-केण तीव्रविशुद्धया बध्यते, ततो वेदनीयनामकर्मापेक्षया गोत्रसत्कजघन्यरसोऽत्यल्पः, अत एव घातिसत्कजघन्यानुभागानन्तरं गोत्रस्य स्थानमिति ॥५५२॥

इदानीमपगतवेदमार्गणायामप्यायुष्कस्य बन्धाभावात् सप्तप्रकृतीनां प्रकृताऽल्पबहुत्वमाह—

गयवेए मंदरसो थोवो मोहस्स ताउ होइ कमा ।
विग्घदुघाइइयरदुगवेआण अणंतगुणअहियो ॥५५३॥

(प्रे०) '**गयवेए**' इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां मोहनीयस्य जघन्यरसः सर्वस्तोकः ततो विघ्नद्विघातीतरद्विकवेदनीयानाम् अन्तरायस्य, ज्ञानावरणदर्शनावरणद्वयस्य, नामगोत्रद्विकस्य, वेदनीयस्य च जघन्यरसः क्रमादनन्तगुणाधिको भवति । **अयम्भावः**-मोहनीयस्य जघन्यरसः सर्वाल्पः, ततोऽनन्तगुणाधिकोऽन्तरायकर्मसत्कजघन्यरसः, तस्मादप्यनन्तगुणाधिकः ज्ञानावरणदर्शनावरणयोर्जघन्यरसः, परस्परं तुल्यश्च । ततोऽप्यनन्तगुणाधिको नामगोत्रकर्मसत्कजघन्यरसः, परस्परं तुल्यश्च । तस्मादप्यनन्तगुणाऽधिको वेदनीयस्य जघन्यरसः । भावना चात्र सुगमा ॥५५३॥

सम्प्रति चतुर्ज्ञानाद्येकादशमार्गणास्वल्पबहुत्वं चिन्तयति—

चउणाणसंयमेसुं समइअछेओहिसम्मुवसमेसुं ।
खइए य जहण्णरसो सव्वप्पो मोहणीयस्स ॥५५४॥
ताउ कमाऽणंतगुणो विग्घदुआवरणणामवेआणं ।
तत्तो आउस्स भवे सयं च्च गोअस्स विण्णेयं ॥५५५॥

(प्रे०) '**चउणाणसंयमेसु**' इत्यादि, मति श्रुता-ऽवधि-मनःपर्यवरूपचतुर्ज्ञान-संयमौघमार्गणासु, सामायिक-छेदोपस्थापनीयाऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघोपशमेषु क्षायिकसम्यक्त्वे चेत्येतासु एकादशमार्गणासु मोहनीयस्य जघन्यरसः सर्वाल्पः, ततोऽनन्तगुणाधिको '**विग्घ**' इति अन्तरायस्य जघन्यरसः, ततोऽप्यनन्तगुणाधिको '**दुआवरण**' इति ज्ञानावरणदर्शनावरणसत्को जघन्यरसः, ततोऽप्यनन्तगुणाधिको नामकर्मसत्को जघन्यरसः । तस्मादप्यनन्तगुणाधिको वेदनीयस्य जघन्यरसो भवति । तस्मादप्यनन्तगुणाधिक आयुष्कस्य जघन्यरसः । तथा '**सयं च गोअस्स विण्णेयं**' इति आस्वेकादशमार्गणासु गोत्रकर्मणो जघन्यरसस्याल्पबहुत्वं स्वयमेव विज्ञेयम् । अस्यामुक्तौ हेत्वादिकं प्रागुक्तानुत्तरसुरादिमार्गणाविवरणतो ज्ञेयम् ॥५५४।५५५॥

अथ सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां मोहनीयायुष्कप्रकृतिद्वयस्य बन्धाऽभावात् तत्र षट्प्रकृतिसत्कजघन्यानुभागस्याल्पबहुत्वं प्राह—

सुहमे मंदऽणुभागो थोवो विग्घस्स ताउ होइ कमा ।
घाइदुगाघाइजुगलवेआण अणंतगुणअहियो ॥५५६॥

(प्रे०) '**सुहमे**' इत्यादि, सूक्ष्मसंपरायमार्गणायां विघ्नस्याऽन्तरायस्य जघन्यानुभागः स्तोकः, ततः क्रमात् घातिद्विकाऽघातियुगलवेदनीयानां जघन्यरसोऽनन्तगुणाऽधिको भवति । इदमुक्तं

भवति-इहाऽन्तरायस्य जघन्यानुभागः सर्वस्तोकः, ततोऽनन्तगुणाऽधिको ज्ञानावरणदर्शनावरणयोर्जघन्यरसः, परस्परं तुल्यश्च ततोऽप्यनन्तगुणाधिको नामगोत्रयोर्जघन्यानुभागः परस्परं तुल्यश्च । तस्मादप्यनन्तगुणाऽधिको वेदनीयस्य जघन्यरस इति ॥५५६॥ अधुना शुक्ललेश्यामार्गणायां प्राह–

सुक्काए मंदरसो थोवो मोहस्स ताउ होइ कमा ।
विग्घदुघाइअघाइदुगवेअआऊणऽणंतगुणअहियो ॥५५७॥

(प्रे०) 'सुक्काए' शुक्ललेश्यामार्गणायां मोहनीयस्य जघन्यरसः सर्वस्तोको भवति ततः क्रमाद् विघ्न-द्विघात्यघातिद्विकवेदनीयायुषां जघन्यरसोऽनन्तगुणाधिको भवति, अयं भावः-अत्र मोहनीयस्य जघन्यरसः सर्वाल्पः, ततोऽनन्तगुणाधिकोऽन्तरायसत्कजघन्यरसः, ततोऽप्यनन्तगुणाधिको ज्ञानावरणदर्शनावरणयोर्जघन्यरसः परस्परं तुल्यः, तस्मादप्यनन्तगुणाधिको नामगोत्रयोर्जघन्यानुभागः परस्परं तुल्यश्च, ततोऽनन्तगुणाधिको वेदनीयस्य जघन्यरसः । ततोऽप्यनन्तगुणाधिक आयुष्कस्य जघन्यरसः । अत्र गोत्रसत्कजघन्यानुभागः नामकर्मणा सह प्रोक्तः, परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् आयुष्कस्य तु जघन्यानुभागः पर्याप्तप्रायोग्यायुष्केण सह बध्यमानत्वात् चरमे पदे प्रोक्तः ॥५५७॥

प्रस्तुतद्वारोक्तार्थसंग्रहपराणि अल्पबहुत्वप्रदर्शकयन्त्रकाणि त्वेवम्—卐

तदेवमभिहितं यन्त्रपूर्वकमल्पबहुत्वद्वारम् । तदभिहिते च गतमष्टादशमल्पबहुत्वद्वारम् । गते च तस्मिन् निष्ठितोऽष्टादशद्वारात्मकः प्रथमाधिकारः ।



॥इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे प्रथमाधिकारेऽष्टादशमल्पबहुत्वद्वारं समाप्तम् ॥

卐अल्पबहुत्वप्रदर्शकयन्त्रकाणि दिदृक्षवः पाठकाः पश्यन्तु ३८८ तमादीनि पृष्ठानि ।

* अष्टकर्मणां जघन्यरसबन्धस्याऽल्पबहुत्वप्रदर्शकं यन्त्रम् *

अ.घत:—(१) मोहनीयस्य जघन्यरस: सर्वाल्प:, (२) अन्तरायस्य जघन्यरसोऽनन्तगुणाधिक, (२) ज्ञाना० दर्श०जघ० रस० अनन्तगुणाधिक, परस्परं तुल्यश्च:, (४) आयु० जघ० रस० अनन्तगुणाधिक:, (५) गोत्र० जघ० रस०अनन्त-गुणाधिक:,(६) नाम. जघ. रस. अनन्तगुणाधिक, (७) वेदनीयस्य, जघ. रस. अनन्तगुणाधिक: । (गाथा ५४०) →

क्रमशोऽनन्त-गुणाधिक:-	ओघवत्	(१) मोह० (२) त्रिघाति० (३) गोत्र० (४) नाम० (५) वेदनीय० (६) आयु०	(१) मोह० (२) त्रिघाति० (३) नामगोत्र० (४) वेदनीय० (५) आयु०	(१) मोह० (२) त्रिघाति० (३) आयु० (४) गोत्र० (५) नाम० (६) वेदनीय०	(१) मोह० (२) त्रिघाति० (३) आयु० (४) नामगोत्र० (५) वेदनीय०	(१) मोह० (२) अन्त० (३) ज्ञाना.दर्श (४) आयु० (५) नामगोत्र० (६) वेदनीय०
गति०		नरकौघ-सप्तमनरक २	प्रथमादिषष्ठान्ता:६ ग्रैवेयकान्ता: २५ =३१	तिर्यगोघ० १	सर्व०पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग् ४-अप-र्याप्तमनु १=५	त्रिमनु० ३
इन्द्रिय०	द्विपञ्चे० २			सर्वैकेन्द्रिय०७	अप० पञ्चे० सर्वविकल=१०	
काय०	द्वित्रस० २			सर्वतेजोवायु० १४	सर्वपृथ्व्यब्-वनकाय२५-अप० त्रस०१=२६	
योग०	सर्वमनोवचो० काय० औदा० =१२	वैक्रिय-तन्मिश्र० २		औदा० मिश्र०१		
वेद०	नपु० १					स्त्री पु० २
कषाय०	सर्व० ४					
ज्ञान०				अज्ञान० ३		
संयम०				असंयम० १		
दर्श०	चक्षुरचक्षु० २					
लेश्या०			तेज पद्म० २	अशुभ० ३		
भव्य०	भव्य० १			अभव्य० १		
सम्य०		सास्वा० १		मिथ्या० १		
संज्ञि०	संज्ञि० १			असंज्ञि० १		
आहारि	आहा० १					
सर्वा:-	२६	५	३३	३३	४१	५
गाथाङ्क:-	५४१	५४२	५४३-४	५४५-६	५४७-८	५४९

* अष्टकर्मणां जघन्यरसबन्धस्याऽल्पबहुत्वप्रदर्शकं यन्त्रम् *

आदेशतः—*पञ्चानुत्तरा-ऽऽहारक-तन्मिश्र-चतुर्ज्ञान संयमौघ सामायिक च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि० देशविरत्यवधि-दर्शनसम्यक्त्वौघ-क्षायिकोपशम-वेदक-मिश्ररूप (२२) मार्गणासु गोत्रस्याल्पबहुत्वं स्वयं ज्ञेयम् । शेषं यन्त्रकादवसेयम् । [गाथा ५५१ ५५५]

क्रमशो-ऽनन्त-गुणा-धिकः→	(१) मोह० (२) त्रिघाति० (३) नाम० (४) वेदनीय० (५) आयु०	(१) मोह० (२) त्रिघाति० (३) गोत्र० (४) नाम० (५) वेदनीय०	(१) मोह० (२) अन्त० (३) ज्ञाना दर्शना (४) नामगोत्र० (५) वेदनीय०	(१) मोह० (२) अन्त० (३) ज्ञाना.दर्शना (४) नाम० (५) वेदनीय० (६) आयु०	(१) अन्त० (२) ज्ञाना. दर्शना. (३) नामगोत्र० (४) वेदनीय०	(१) मोह० (२) अन्तराय० (३) ज्ञाना.दर्शना (४) नाम०गोत्र० (५) वेदनीय० (६) आयु०
गति०	अनुत्तर -५ *					
इन्द्रिय०						
काय०						
योग०	*आहा०तन्मिश्र. २	कार्मण० १				
वेद०			अवेद० १			
कषाय०						
ज्ञान०				* ज्ञान० ४		
संयम०	परिहार० * देश० २			* संयम० सामा०छेदो० ३	सूक्ष्मसं०१	
दर्शन०				* अवधि० १		
लेश्या०						शुक्ल० १
भव्य०						
सम्य०	वेदक० * मिश्र० २			*सम्य०क्षायिक० उपशम० ३		
संज्ञि०						
आहारि०		अनाहारि० १				
सर्वाः	११	२	१	११	१	१
गाथाङ्कः	५५०-१	५५२	५५३	५५४-५	५५५-६	५५६

✻ अष्टकर्मणामुत्कृष्टरसबन्धस्याऽल्पबहुत्वप्रदर्शकं यन्त्रम् ✻

ओघतः—(गाथा ५३४)	गाथाङ्कः	आदेशतः	अल्पबहुत्व० क्रमशोऽनन्तगुणहीनः
(१) वेदनीय० उ.रस. सर्वाधिकः (२) नामगोत्र० „ अनन्तगुणहीन. (परस्पर तुल्यः)	५२५ ५३६ ५३७	अनुत्तर.५, आहा. तन्मिश्र , चतुर्ज्ञान.४, सयम. सामा. छेदो. परि. देश. अवधि. सम्य. क्षायिक. वेदक. उप. सास्वा. मिश्र. =२३	(१ वेद.सर्वाधिक. (२) नाम०गोत्र० (३) त्रिघाति- „ } (४) मोह० (५) आयु०
	५३७	अवेद० सूक्ष्मसम्पराय०=२	स्वयमूह्यम्
(३) मोहनीय० „ अनन्तगुणहीन.	५३८ ५३९	अपर्याप्तपञ्चे. तियग् १, अप. मनु, १. अप पञ्च १, अप. त्रस. १, सर्वके.७, सर्वविकल.९, पञ्चकायसर्वभेद०३९, असंज्ञि १=६०	(१) मोह० (२) वेदनीय० (३) नाम गोत्र० (४) त्रिघाति० } (५) आयु०
(४) ज्ञाना० दर्शन० अन्त० } „ अनन्तगुणहीन. (परस्पर तुल्यः) (५) आयु० „ अनन्तगुणहीन.	५३९	अपर्याप्ततिर्यङ्मनुजपञ्चानुत्तरवर्जगति ४० द्विपञ्चे., द्वित्रस , आहारकद्विकवर्ज. योग०१६,त्रिवेद.३, कषाय.४, अज्ञान.३, असयम , चक्षुरचक्षु. २, सर्वलेश्या.६ भव्याभव्य.२, मिथ्या , संज्ञि. आहा. अना =शेष ८५	ओघवत् (१) वेदनीय० (२) नाम गोत्र० (३) मोह० (४) त्रिघाति० (५) आयु०





॥ ॐ ह्रीँ अर्हँ नमः ॥

भूयस्काराधिकारः

इदानीं क्रमप्राप्तस्य प्रस्तुतरसबन्धग्रन्थप्रारम्भे "भूगारा" इत्यनेन उद्दिष्टस्य द्वितीयस्य भूयस्काराधिकारस्य व्याख्यानाऽवसरः। अत्र ह्यधिकारे मूलप्रकृतीनां भूयस्कारस्तदुपलक्षणादल्पतरः, अवस्थितः, अवक्तव्यश्चेत्येवं चतुष्प्रकारा रसबन्धविशेषाः सत्पदस्वामित्वादिद्वारेषु प्रागवच्चिन्तनीयाः, अतोऽधिकारप्रारम्भ आदौ तावत् "तेसु पढमाईसुं अहिगारेसु" इत्यादितृतीयगाथायां संख्यामात्रेण प्राक् परिकीर्तितानां त्रयोदशद्वाराणां नामधेयान्याविष्कुर्वन्नाह—

दुइए भूओगारे अहिगारम्मि हविरे दुआराइं।
तेरस [1]संतपयं तह [2]सामी [3]कालं-[4]तराइं च ॥५५८॥
[5]भंगविचयो य [6]भागो [7]परिमाणं [8]खेत्त-[9]फोसणा उ तहा।
[10]कालो [11]अंतर-[12]भावा [13]अप्पाबहुगं जहाकममो ॥५५९॥

(प्रे०) 'दुइए भूओगारे' इत्यादि, मूलप्रकृतिरसबन्धमधिकृत्य प्रागुद्दिष्टपञ्चाधिकारान्तर्गते द्वितीये भूयस्काराभिधेऽधिकारे त्रयोदशद्वाराणि यथाक्रमं भवन्ति। अथ द्वारनामान्याह- 'संतपयं' इत्यादि, तद्यथा-(१) आद्यं सत्पदद्वारम् (२) द्वितीयं स्वामित्वद्वारम्, (३) तृतीयं कालद्वारम् (४) चतुर्थमन्तरद्वारम् (५) पञ्चमं भङ्गविचयद्वारम्, (६) षष्ठं भागद्वारम् (७) सप्तमं परिमाणद्वारम्, (८) अष्टमं क्षेत्रद्वारम्, (९) नवमं स्पर्शनाद्वारम् (१०) दशमं कालद्वारम्, (११) एकादशमन्तरद्वारम्, (१२) द्वादशं भावद्वारम्, (१३) त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारम्। अत्राऽपि गताधिकारवद् भङ्गविचयादीनि पञ्चमादीनि द्वाराणि नानाजीवानाश्रित्य प्ररूपयिष्यन्त इति विज्ञेयम् ॥५५८।५५९॥

॥ अथ प्रथमं सत्पदद्वारम् ॥

तदेवमभिहितानि प्रारिप्सिताधिकारगतानां द्वाराणां नामानि। साम्प्रतमुद्दिष्टक्रमेणैव तेषु भूयस्कारादिरसबन्धं विचिन्तयिषुरादौ तावत् प्रथमे सत्पदद्वारे ओघतः सत्पदानि प्रदर्शयन्नाह—

अट्ठण्हं कम्माणं रसस्स बंधा हवेज्ज चत्तारो।
भूगारो अप्पयरो अवट्ठिओ तह अवत्तव्वो ॥५६०॥

(प्रे०) सत्पदद्वारं नाम सन्ति-विद्यमानानि पदानि भूयस्कारादिरसबन्धलक्षणानीति सत्पदानि, तानि यत्र चिन्त्यन्ते तत् सत्पदद्वारम्, ओघतः सर्वजीवराशौ आदेशतश्च मार्गणास्थानेषु मूलाष्टकर्मणां भूयस्कारादिरसबन्धेभ्यः कियन्ति पदानि सन्तीत्यस्य प्ररूपणमिति भावः।

इदानीमोघतः प्राह–'अट्ठण्हं' इत्यादि, अष्टानां मूलप्रकृतीनां रसस्य चत्वारो बन्धा भवन्ति। बन्धस्य चातुर्विध्यं दर्शयति–'भूगारो' इत्यादि, वक्ष्यमाणस्वरूपो भूयस्कारबन्धोऽल्पतरबन्धोऽवस्थितबन्धोऽवक्तव्यबन्धश्चेति ॥५६०॥ अथ भूयस्कारादीनां स्वरूपं दिदर्शयिषुराह—

पुव्वसमयाउ समये अणंतरे बंधए पहुत्तयरं।
बंधो स भूअगारोऽप्पयरं बंधइ स अप्पयरो ॥५६१॥
तावइयं चिअ बंधइ सो णायव्वो अवट्ठिओ बंधो।
होउं अबंधगो उण बंधइ स हवइ अवत्तव्वो ॥५६२॥

(प्रे०) 'पुव्वसमयाउ' इत्यादि, पूर्वसमयेऽल्परसं बध्नन् कश्चिज्जीवः पूर्वसमयादनन्तरे समये यदा 'पहुत्तयरं' प्रभूततरमनन्तभागादिनाऽधिकं रसं बध्नाति तदा तस्य बन्धः प्रकृते भूयस्कारनामा 'बंधो' त्ति रसबन्धो, भवतीति परेणान्वयः, इत्थमुत्तरत्राऽपि वेदितव्यम्। अल्पतरबन्धस्वरूपमाह–'ऽप्पयरं बंधइ' इत्यादि, अत्र लुप्ताऽकारस्य दर्शनात् "पुव्वसमयाउ समये अणंतरे" इत्यस्यानुवर्तनाच्च पूर्वसमये प्रभूतरसं बध्नन् कश्चिज्जीवः तदनन्तरसमये यदा अल्पतरं रसमनन्तभागादिना स्तोकं रसं बध्नाति तदा तस्य सोऽल्पतरनामा रसबन्धो भवति। अवस्थितबन्धस्वरूपमाह–'तावइयं चिअ बंधइ' इत्यादि, पूर्ववत् 'पुव्वसमयाउ' इत्यस्यानुवर्तनात् पूर्वसमये कश्चिज्जीवः यावद्रसं बध्नाति तदनन्तरे समये 'तावइयं चिअ' इति तावन्तमेव पूर्वसमयबद्धरसेन तुल्यं रसं बध्नाति, न पुनरनन्तभागादिना हीनमधिकं वेत्यर्थः। तस्य किमित्याह–'सो णायव्वो' इत्यादि, तस्य सोऽवस्थितनामा रसबन्धो भवति। अथाऽवक्तव्यबन्धस्य स्वरूपमाह–'होउं अबंधगो उण' इत्यादि, अत्र पुनःशब्दः प्राक्तनोक्तबन्धत्रयापेक्षया वक्ष्यमाणाऽवक्तव्याख्यबन्धस्वरूपस्य विशेषद्योतकः, यतो हि तत्तद्भूयस्कारादिबन्धानां निर्वर्तको जीवस्तत्तद्बन्धसमयादनन्तरप्राक्तनसमये स्तोक-प्रभूत-तुल्यानामन्यतमस्य रसस्य बन्धक आसीत्, अत्राऽन्तिमप्रकारे त्वसावन्यतमस्याऽपि रसस्य बन्धको न गृह्यते, किन्तु सर्वथाऽबन्धक एव, एतदेव दर्शयति-'होउं अबंधगो' इति कश्चिज्जीवः पूर्वसमये तत्तज्ज्ञानावरणादिमूलकर्मणो रसबन्धमपेक्ष्याऽबन्धको भूत्वाऽनन्तरसमये 'बंधइ' इति उत्कृष्टादिरसानामन्यतमं रसं बध्नाति 'स हवइ अवत्तव्वो' इति स रसबन्धोऽवक्तव्यनामा भवति। इदमुक्तं भवति-भूयस्कारादिबन्धाः स्तोक-प्रभूत-तुल्यरसबन्धान्तरसापेक्षाः सन्तो भूयस्कारादिपदवाच्या भवन्ति, अबन्धानन्तरं जायमानो बन्धस्तु पूर्वसमये रसबन्धाभावादपेक्षाविरहितः सन् भूयस्काराद्यन्यतमेनापि पदेन वक्तुमशक्य इति कृत्वाऽवक्तव्यपदेनैव व्यपदिश्यते। तथा च प्रत्यपादि कर्मप्रकृतिवृत्तौ महामहोपाध्यायैर्यशोविजयमुनिपुङ्गवैः–"यदा तु सर्वथैवाऽबन्धकादिर्भूत्वा भूयोऽपि बन्धादिकमारभते तदा स बन्धादेश्चतुर्थो भेदोऽवक्तव्यनामा,भूयस्कारादिशब्देन वक्तुमशक्यत्वात्" इति।

इत्थं हि भूयस्कारादिलक्षणानां रसबन्धविशेषाणां स्वरूपं व्यवस्थितम् । अथ प्रथमगाथया प्रदर्शितसत्पदानां भावना-यदा यदा यस्य कस्याऽपि जीवस्य संक्लेशो वर्धते तदा तदा तस्याऽशुभप्रकृतीनां रसस्य पूर्वसमयवर्तिरसापेक्षया बन्धमाश्रित्य वृद्धिर्भवति, शुभप्रकृतीनां पुनर्हानिर्भवति । एवं विशुद्धिर्वर्धते तदा त्वशुभप्रकृतिरसबन्धस्य प्राक्तनरसापेक्षया हानिर्भवति , शुभप्रकृतीनां पुनर्वृद्धिर्भवति । सर्वसंसारिजीवानां संक्लेशस्य विशुद्धेश्च वृद्धिहानी नियमेन जायेते, वर्धमानहीयमानयोः संक्लेशविशुद्ध्योरुत्कृष्टतोऽप्यान्तर्मौहूर्तिकत्वात् , अवस्थितयोश्च तयोरुत्कृष्टतोऽष्टसामायिकत्वाच्च । ततो यः पूर्वसमयादुत्तरसमये जायमानोऽनन्तभागादिनाऽधिको रसबन्धः, स एव भूयस्कारः, तथा यः पूर्वसमयादुत्तरसमये जायमानोऽनन्तभागादिना हीनो रसबन्धः स एवाऽल्पतर इत्येवं भूयस्कारपदमस्त्येवाल्पतरपदमप्यस्त्येव । यदा तु संक्लेशविशुद्ध्योर्हानिर्वृद्धिर्वा न भवति, तदा तु यावतो रसस्य बन्धः पूर्वसमये आसीत्तावत एवोत्तरसमये प्रवर्तते । इत्येवमवस्थितरसबन्धसत्ताऽपि प्रसिद्धा ।

उपशमश्रेणौ रसस्याबन्धस्थानत उपशान्ताद्धाक्षयात् कालकरणेन वा परिपततो जीवस्य प्रथमसमये सप्तप्रकृतीनां यो रसबन्धो भवति सोऽवक्तव्यत्वेन ज्ञातव्यः,ततस्तस्याऽपि सत्ता प्रसिद्धा । आयुषः पुनरवक्तव्यबन्धस्य सत्त्वं सुप्रसिद्धम् , आयुर्बन्धस्य कादाचित्कत्वात् , यदाऽऽयुष्कसत्करसबन्धः प्रारभ्यते, तदा प्रथमसमये तस्याऽवक्तव्यबन्धो भवति द्वितीयादिसमयेषु यथासम्भवं भूयस्कारादिबन्धाः प्रवर्तन्ते । एवमोघतोऽष्टप्रकृतीनां भूयस्कारादयश्चत्वारो रसबन्धाः प्रोक्ताः, अनया दिशा मार्गणास्वपि भूयस्कारादिसत्पदानां भावना विधेयेति ॥५६१।५६२॥

तदेवमोघतोऽष्टप्रकृतीनां भूयस्कारादिचतुर्विधबन्धस्य सत्पदप्ररूपणा कृता । साम्प्रतं मार्गणासु सप्तप्रकृतीनां तामेव चिकीर्षुराद्यां तावद् भूयस्काराऽल्पतराख्यरसबन्धद्वयस्य सर्वत्र सद्भावात्तस्य सत्पदप्ररूपणां पूर्वार्द्धेन करोति—

सव्वासु भूअगारो अप्पयरो अत्थि सत्तकम्माणं ।
सत्तण्ह अवेअसुहमवज्जासु अवट्ठिओ अत्थि ॥५६३॥

(प्रे०) **'सव्वासु'** इत्यादि, सर्वासु सप्तत्यधिकशतमार्गणासु सप्तकर्मणामायुर्वर्जानां भूयस्कारोऽल्पतरश्च रसबन्धोऽस्त्येव कुतः ? सर्वत्र संक्लेशस्य विशुद्धेश्च हानिवृद्धिसद्भावेन तज्जन्यरसबन्धस्याऽपि हीनाऽऽधिक्यसंभवात् । नवरं सूक्ष्मसम्पराये षट्कर्मणामिति वक्तव्यम् ।

इदानीमवस्थितरसबन्धस्य सत्पदप्ररूपणा उत्तरार्द्धेन विधीयते-**'सत्तण्ह'** इत्यादि, 'अवेदकसूक्ष्मवर्जासु'-अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वयं वर्जयित्वाऽष्टषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः सप्तानाम्-आयुष्कवर्जसप्तप्रकृतीनामवस्थितरसबन्धोऽस्ति । इयमत्र भावना—क्षपकश्रेणेरुपशमश्रेणेश्चारोहकाणां

विशुद्धिः प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्धया वर्धमाना एव, उपशमश्रेणेरवरोहकाणां पुनरनन्तगुणवृद्धया प्रतिसमयं संक्लेशो वर्धते एव, ततः श्रेण्यन्तर्गतमार्गणायामवस्थितसंक्लेशस्यावस्थितविशुद्धेर्वाऽभावो विद्यते, अपगतवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वयं च श्रेण्यन्तर्वर्त्येव, तत एतद्‌मार्गणाद्वयेऽवस्थितरसबन्धो न भवति, एतद्‌मार्गणाद्वयवर्जशेषाऽष्टषष्ठ्यधिकशतमार्गणासु पुनः संक्लेशस्य विशुद्धेश्चाऽवस्थानस्यापि सद्भावात् तज्जन्योऽवस्थितोऽपि रसबन्धो भवति ॥५६३॥

साम्प्रतं सप्तानामवक्तव्यरसबन्धः कासु कासु मार्गणासु जायत इत्याशङ्कायामाह—

सत्तण्ह अवत्तव्वो अत्थि मणुसपज्जमणुसमणुसीसुं ।
दुपणिंदितसेसुं तह पणमणवयकायउरलेसुं ॥५६४॥
चउणाणावेएसुं संयमतिदरिसणसुइलभवियेसुं ।
सम्मत्तउवसमेसुं खइए सण्णिम्मि आहारे ॥५६५॥

(प्रे०) 'सत्तण्ह' इत्यादि, मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मनुष्ययोनिमतीषु, द्विशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् द्विपञ्चेन्द्रिययोः-पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिययोः, द्वित्रसयोः-त्रसकाय-पर्याप्तत्रसकाययोः, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगसामान्यौदारिकयोगेषु, चतुर्ज्ञानाऽवेदेषु, संयमौघ-चक्षुरचक्षुरवधिरूपत्रिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्येषु, सम्यक्त्वौघोपशमयोः, क्षायिके, संज्ञिभेदे, आहारके चेत्येतासु पञ्चत्रिंशद्‌मार्गणासु सप्तानाम्-आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामवक्तव्यो रसबन्धोऽस्ति ।

इयमत्र भावना—एतासु पञ्चत्रिंशद्‌मार्गणासु सप्तप्रकृतीनामबन्धः पुनर्बन्धश्च प्राप्यते ततः पुनर्बन्धस्य प्रथमसमये तत्तत्प्रकृतीनां जायमानो रसबन्धोऽवक्तव्यरसबन्धः कथ्यते । लोभकषायमार्गणायामबन्धानन्तरं पुनर्बन्धः केवलमोहनीयस्य भवति, ततस्तत्र मोहनीयस्यैवाऽवक्तव्यबन्धो भवति शेषषट्प्रकृतीनां न भवतीत्यग्रे वक्ष्यते । शेषचतुस्त्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु तु सप्तानामवक्तव्यरसबन्धो न भवति । कुतः ? इति चेद् , उच्यते—कासुचिद् नरकादिमार्गणासु श्रेण्यभावेन नैरन्तर्येण बन्धसद्भावात् सप्तानामबन्ध एव न भवति, कासुचित् स्त्रीवेदादिमार्गणासु पुनः श्रेणेः सद्भावेऽपि अबन्धस्थानात्प्रागेव मार्गणानामपगमः, अतः शेषचतुस्त्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु सप्तानामवक्तव्यरसबन्धो नास्ति ॥५६४।५६५॥

सम्प्रति लोभकषायमार्गणायां केवलमोहनीयस्याऽवक्तव्यरसबन्धो भवति, तथाऽऽयुष्कस्य सर्वासु मार्गणासु भूयस्कारादिचतुष्प्रकारोऽपि रसबन्धो भवतीति दर्शयन्नाह—

लोहेऽत्थि अवत्तव्वो मोहस्साउस्स अत्थि सव्वासुं ।
भूगारो अप्पयरो अवट्ठिओ तह अवत्तव्वो ॥५६६॥

(प्रे०) 'लोहे' इत्यादि, लोभकषायमार्गणायां मोहनीयस्याऽवक्तव्यो रसबन्धोऽस्ति, कथम् ? इति चेत्, उच्यते-यः कश्चिद् जीवो लोभकषायमार्गणायां वर्तमानः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके मोहनीयस्याऽबन्धं करोति, तत्पश्चात् कालं कृत्वा देवत्वेनोत्पद्यते, तत्र लोभे वर्तमानः सन् मोहनीयस्य रसबन्धं विदधाति, तदा देवभवप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धो भवति । अथवाऽद्धाक्षयेणाऽवतरतो लोभकषाये वर्तमानस्य जीवस्य नवमगुणस्थानकप्रथमसमये मोहनीयस्य बन्धो भवति, सोऽवक्तव्यबन्धः । अधुनाऽऽयुष्कसत्कभूयस्कारादिरसबन्धानां सत्पदप्ररूपणायाः चिकीर्षया प्राह-'ऽऽउस्स' इत्यादि,आयुष्कस्य सर्वासु मार्गणासु-आयुर्बन्धायोग्यसप्तमार्गणावर्जेत्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु भूयस्कारोऽल्पतरोऽवस्थितस्तथाऽवक्तव्य इति चत्वारोऽपि रसबन्धा भवन्ति । भावना चौघवत् कर्त्तव्येति ॥५६६॥

तदेवं समाप्ता द्वितीयाधिकारेऽष्टानामोघाऽऽदेशाभ्यां भूयस्कारादिरसबन्धानां सत्पदप्ररूपणा । समाप्तायाञ्च तस्यां गतं 'संतपयं' इत्यनेनोद्दिष्टं प्रथमं सत्पदद्वारम् ।

*** अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिरसबन्धसत्पदप्रदर्शकं यन्त्रम् ***

भूयस्कारादीनां स्वरूपम्— (गाथा५६१-५६२)	(१) पूर्वसमयादुत्तरसमये अधिकरसबन्धे भूयस्काररसबन्धः । (२) पूर्वसमयादुत्तरसमये हीनरसबन्धेऽल्पतररसबन्धः । (३) पूर्वसमयादुत्तरसमये तावन्मात्ररसबन्धेऽवस्थित रसबन्धः । (४) रसबन्धाभावतो रसबन्धेऽवक्तव्यरसबन्धः ।	ओघतः—अष्टकर्मणा प्रत्येकं भूयस्कारादीनि चत्वारि पदानि (गाथा५६०)
आदेशतः— (१) भूयस्कार० (२) अल्पतर०	←कासु मार्गणासु—सत्पदम्(अस्ति)आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनाम्→ १७० मार्गणासु–(सर्वासु)	असत्पदं (सत्पद नास्ति) (गाथा ५६३)
(३) अवस्थित०	१६८ ,,	अवेद-सूक्ष्मसम्प०=२
(४) अवक्तव्य०	३५ मार्गणासु सप्तानां— त्रिमनु० ३, द्विपञ्चे० २, द्वित्रस० २, सर्वमनोवचो० १०, काययोग० औदा० अवेद० चतुर्ज्ञान० ४, संयम० त्रिदर्शन० ३, शुक्ल० भव्य० सम्य० उपशम० क्षायिक० संज्ञि० आहारि० । लोभे केवल मोहनीयस्य	लोभभेदे—मोहवर्जषण्णाम् शेष १३४ मार्गणासु सप्तानामऽवक्तव्यबन्धो न विद्यते । (गाथा ५६४ ५६५-५६६)
आयुषश्चत्वारो भूयस्कारादिरसबन्धाः सर्वासु १६३ मार्गणासु सन्ति		(गाथा ५ ६)

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे द्वितीये भूयस्काराधिकारे प्रथमं सत्पदद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

गतं सत्पदद्वारम् । अधुना 'सामी' इत्यनेनोद्दिष्टस्य द्वितीयस्य भूयस्कारादिरसबन्धस्वामित्वद्वारस्य व्याख्यानावसरः । तत्रादौ तावदोघतः सप्तानामवक्तव्यरसबन्धस्वामिनं प्राह—

सत्तण्ह अवत्तव्वं कुणए सेढीअ णिवडमाणो उ ।
मणुसो वा देवो वा वट्टमाणो पढमसमये ॥५६७॥

(प्रे०) '**सत्तण्ह**' इत्यादि, सप्तानाम्-आयुष्कवर्जसप्तप्रकृतीनाम् अवक्तव्यम्-अवक्तव्याख्यरसबन्धं करोतीति क्रियाऽन्वयः, कः ? इत्याह-मनुष्यः, भवप्रथमसमये वर्तमानो देवो वा, कीदृशः ? इत्याह-श्रेणितः-उपशमश्रेणितः निपतन्, तुशब्दो विशेषद्योतकः, विशेषश्चैवम्—अवक्तव्यरसबन्धस्य स्वामी अद्धाक्षयेण श्रेणितो निपतन् मनुष्यः । कालकरणेन तु देवत्वं प्राप्तो भवप्रथमसमयवर्ती देव इति ।

इयमत्र भावना—सप्तानामबन्धतः पुनर्बन्धो भवति, तदा प्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धो भवति, सप्तानामबन्धश्च श्रेण्यां भवति, पुनर्बन्धश्च श्रेणितः पततां जायते, पतनं च द्विविधमद्धाक्षयेण कालकरणेन च । उपशान्तमोहगुणस्थानतोऽद्धाक्षयेण निपतन् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकमागत्य मोहनीयवर्जषण्णां प्रकृतीनां रसबन्धं विदधाति, तत्र प्रथमसमये जायमानो रसबन्धोऽवक्तव्यो भवति, ततश्च सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानतोऽपि अद्धाक्षयेणैव पतित्वाऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकमागत्य मोहनीयस्यापि रसबन्धं निर्वर्तयितुं प्रारभते, तत्र प्रथमसमये जायमानो रसबन्धोऽवक्तव्यो भवति, एवमद्धाक्षयेण निपतन् मनुष्यः सप्तानामवक्तव्यरसबन्धस्य स्वामी भवति । तथा सप्तानामबन्धस्थानतः कालं करोति, तदा देवेष्वेवोत्पद्यते, तत्र भवप्रथमसमयत एव सप्तानां रसबन्धं विदधाति, तत्र भवप्रथमसमये जायमानो रसबन्धोऽवक्तव्यो भवति, एवं कालकरणेन देवत्वं प्राप्तो भवप्रथमसमयवर्ती देवः सप्तानामवक्तव्यरसबन्धस्य स्वामी भवतीति ॥५६७॥

इदानीमायुष्कसत्काऽवक्तव्यबन्धस्य तथाऽष्टानां शेषभूयस्कारादिबन्धत्रयस्यौघतः स्वामिनं निर्जिगदिषुस्तथा मार्गणास्थानेष्वोघवदतिदिदिक्षुराह—

आउस्स सबंधपढमसमयेऽण्णयरो कुणेइ अट्ठण्हं ।
सेसतिबंधाऽण्णयरो सव्वह एमेव सगसगपयाणं ॥५६८॥ [गीतिः]

(प्रे०) '**आउस्स**'-आयुष्कस्य स्वबन्धप्रथमसमये'**अण्णयरो**' चतुर्गतिकेष्वन्यतमः करोति, अवक्तव्यरसबन्धमित्यनुवर्तते, आयुर्बन्धस्य कादाचित्कत्वेन सर्वेषां तद्बन्धप्रथमसमयेऽवक्तव्यरसबन्धस्य लाभात् । अथाऽष्टानां शेषभूयस्कारादिबन्धत्रयस्य स्वामिनमाचष्टे-'**अट्ठण्हं**' इत्यादि अष्टानां प्रकृतीनां शेषत्रिबन्धान्-भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थितरूपान् चतुर्गतिकेभ्योऽन्यतमो जीवः करोति, चतसृष्वपि गतिषु भूयस्कारादिबन्धत्रयस्य प्राप्तिसंभवात् ।

तदेवमोघतोऽष्टानां भूयस्कारादिबन्धचतुष्टयस्य स्वामिनो दर्शिताः, साम्प्रतमादेशतस्तत्स्वामिनमोघवदतिदिशति-'सव्वह' सर्वत्र-सर्वासु मार्गणासु स्वस्वपदानां-स्वस्वमार्गणासु यावन्ति भूयस्कारादिपदानि लभ्यन्ते, तावतां पदानाम् एवमेव-ओघवद् बन्धो भवति ।

अयम्भावः-उक्तसत्पदप्ररूपणायां यासु यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां यावतां भूयस्कारादिबन्धानां सत्ता दर्शिता तासु तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनां तावतां भूयस्कारादिबन्धानां स्वाम्योघवद् ज्ञेयः । तद्यथा-सर्वासु मार्गणासु सप्तप्रकृतीनां भूयस्काराऽल्पतरबन्धद्वयस्य स्वामी स्वस्वमार्गणावर्त्यन्यतमजीवोऽभिधातव्यः, किन्त्ववेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये घातिप्रकृतीनामल्पतरबन्धस्य, अघातित्रयस्य पुनर्भूयस्कारबन्धस्य स्वामित्वेन क्षपक आरोहकोपशमको वा ज्ञेयः । तत्तद्विपरीतबन्धस्य स्वामित्वेन श्रेणितः पतन्नुपशमको भवतीत्यग्रे वक्ष्यते । तथाऽवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वयवर्जाऽष्टापष्टयुत्तरशतमार्गणास्वपि स्वस्वमार्गणावर्त्यन्यतमजीवोऽवस्थितरसबन्धस्य स्वाम्यभिधातव्यः अवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वयेऽवस्थितबन्ध एव नास्ति । अथ प्रागुक्तमनुष्यत्रिक-द्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगौदारिकयोगाऽपगतवेद-चतुर्ज्ञान-संयम-त्रिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वोपशम-क्षायिक-संज्ञ्याहारिलक्षणासु पञ्चत्रिंशद्मार्गणास्वष्टानामवक्तव्यबन्धस्य स्वामी ओघवद् भवति । ततश्च तत्स्वामित्वेन श्रेणितः पतन् मनुष्यो भवप्रथमसमयवर्तिदेवो वा प्राप्यते ॥५६८॥ अनन्तरोक्तासु कासुचिद् मनुष्यादिमार्गणासु भवप्रथमसमयवर्तिदेवो तत्स्वामित्वेन भवितुं नार्हति, मार्गणान्तरवर्तित्वात् एतदतिप्रसङ्गवारणाय विशेषं दर्शयति—

णवरं सत्तण्ह कुणइ बंधं णो चिअ सुरो अवत्तव्वं ।
तिणरपणमणवयउरलअवेअमणणाणसंयमेसुं च ॥५६९॥ [गीतिः]

(प्रे०) 'णवरं' इत्यादि, नवरंशब्दो विशेषद्योतकः । सप्तानां प्रकृतीनामवक्तव्यं बन्धं-रसबन्धं सुरः-देवो नैव करोति । कासु मार्गणास्वित्याह-'तिणर' इत्यादि, त्रिमनुष्यपञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगौदारिकयोगाऽपगतवेदमनःपर्यवज्ञानसंयमौघलक्षणासु सप्तदशमार्गणास्ववक्तव्यरसबन्धस्य स्वामित्वेन देवो नाऽभिधातव्यः, कालकरणेन तत्तद्मार्गणायाः परावर्तनात् । शेषपञ्चेन्द्रियाद्यष्टादशमार्गणासु सप्तानामवक्तव्यरसबन्धस्य स्वामी श्रेणितः पतन् मनुष्यो भवप्रथमसमयवर्ती देवो वा भवति ॥५६९॥ इदानीमपगतवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये भूयस्काराऽल्पतरबन्धद्वयविषयकस्वामित्वस्य विशेषं दर्शयति—

घाईण भूअगारं अवेअसुहमेसु कुणइ निवडंतो ।
खवगो ऽण्णो व चडंतो अप्पयरं वच्चयेण इयराणं ॥५७०॥ [गीतिः]

(प्रे०) 'घाईण' इत्यादि,अवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये घातिनीनां-सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां

मोहनीयवर्जत्रिघातिनीनामवेदकमार्गणायां तु चतुर्घातिनीनां भूयस्कारबन्धं श्रेणितो निपतन्करोति, उपशमक इति शेषः, तासामल्पतरबन्धं च क्षपकोऽन्यो वा श्रेणिमारोहन्नुपशमको करोति। अथ त्र्यघातिनीनामाह-इतरासां घातिप्रकृतितो भिन्नानां त्र्यघातिप्रकृतीनां व्यत्ययेन घातिप्रकृतिसत्कभूयस्काराल्पतरबन्धस्वामितो वैपरीत्येन अर्थाद् यो घातिप्रकृतिसत्कभूयस्कारबन्धस्य स्वामी दर्शितः,सोऽघातित्रयसत्काऽल्पतरबन्धस्य स्वामी भवति। योऽल्पतरबन्धस्य स्वामी स पुनरघातित्रयसत्कभूयस्कारस्य स्वामी भवति। कुतः ? इति चेत्, उच्यते–घातिप्रकृतिसत्काऽल्पतरबन्धोऽघातित्रयसत्कभूयस्कारबन्धश्च विशुद्धिनिबन्धनः। क्षपकस्तथा श्रेणेरारोहक उपशमकः प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्धः। ततस्तत्स्वामित्वेन क्षपकः श्रेणेरारोहकोपशमको वा प्रदर्शितः। घातिप्रकृतिसत्कभूयस्कारबन्धोऽघातित्रयसत्काऽल्पतरबन्धश्च संक्लेशनिबन्धनः। संक्लेशश्चात्र श्रेणितः पतत उपशमकस्य भवति, ततस्तत्स्वामित्वेन श्रेणितः पतन्नुपशमकः कथित इति। आयुर्बन्धप्रायोग्यत्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्वायुष्कसत्कभूयस्कारादिबन्धचतुष्टयस्य स्वामित्वमोघवद् ज्ञेयम्। तद्यथा-अवक्तव्यरसबन्धस्य स्वामी स्वबन्धप्रथमसमयवर्ती भूयस्कारादिबन्धत्रयस्य पुनस्तत्तद्मार्गणावर्त्यन्यतमः कोऽपि बन्धद्वितीयादिसमयवर्त्ती जीवोऽस्ति ॥५७०॥

तदेवं समर्थितमोघाऽऽदेशाभ्यामष्टप्रकृतीनां भूयस्कारादिबन्धचतुष्टयस्य स्वामित्वम्। तत्समर्थिते च गतम् "सामी" इत्यनेनोद्दिष्टं द्वितीयं स्वामित्वद्वारम्।

*** अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिरसबन्धस्वामित्वप्रदर्शकं यन्त्रम् ***

ओघतः—आयुर्वर्जसप्तानामवक्तव्यरसबन्धस्वामी } श्रेणितः पतन् मनुष्यः, श्रेणौ कालं कृत्वा देवतयोत्पन्नो भवप्रथमसमये वर्तमानो वा जीवः।

आयुषोऽवक्तव्यरसबन्धस्य स्वामी } स्वबन्धप्रथमसमये वर्तमानोऽन्यतमो जीवः।

अष्टाना भूयस्काराऽल्पतरावस्थितरसबन्धाना स्वामी— } तत्तत्प्रकृतिबन्धकः संसारस्थोऽन्यतमो जीवः। (गाथा ५६७-५६८)

आदेशतः—सर्वासु मार्गणासु सर्वमूलप्रकृतीनां सर्वेषां भूयस्कारादिरसबन्धानां स्वामी ओघवत् (गाथा ५६९-५७०)

नवरम् (१) अवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये घातिनां भूयस्कार०—अघातिनाम् अल्पतर० → { श्रेणितः पतन्नुपशमकः | घातिनामल्पतर० अघातिनां भूयस्कार० } श्रेणेरारोहकः क्षपक उपशमको वा

(२) मनुष्यौघ-तत्पर्याप्त-मानुषी-सर्वमनोवचोयोगौदारिकयोगाऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघलक्षणासु सप्तदश-(१७) मार्गणासु सप्तानामवक्तव्यरसबन्धस्वामी श्रेणितः पतन्नुपशमकमनुष्य एव, न पुनर्देव इति।

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे द्वितीये भूयस्काराधिकारे द्वितीयं स्वामित्वद्वारं समाप्तम् ॥

*** अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिरसबन्धानामेकजीवाश्रयकालप्रदर्शकं यन्त्रम् ***

ओघतः—अष्टप्रकृतीनां भूयस्कारादिचतुर्बन्धानामेकजीवाश्रितकालो जघन्यतः १ समयः।

उत्कृष्टतस्तु -भूयस्काराऽल्पतररसबन्धयोरन्तर्मुहूर्तम्, अवस्थितरसबन्धस्य पुनः सप्त अष्टौ वा समयाः। अवक्तव्यस्य तु १ समय एव। (गाथा ५७१-५७२)

आदेशतः—सर्वप्रकृतीनां सर्वमार्गणासु स्वस्वभूयस्कारादिसर्वपदानामेकजीवाश्रितकाल ओघवद् भवति।

नवरम्—कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वये भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टतः २ समयौ एव।
कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वये अवस्थितरसबन्धस्योत्कृष्टतः ३ समया एव। (गाथा ५७३)

॥ अथ तृतीयं कालद्वारम् ॥

साम्प्रतं क्रमप्राप्तं 'काल'इत्यनेनोद्दिष्टं तृतीयं कालद्वारं विवरिषुरादौ तावदोघतोऽष्टानां भूयस्कारादिबन्धानां कालं प्रतिपादयन् ,तथा तमेव मार्गणास्वोघवत् मापवादमतिदिशन् गाथात्रयेणाऽऽह-

समयो लहू चउण्हं भूओगाराइगाण अट्ठण्हं ।
भूगारप्पयराणं भिन्नमुहुत्तं भवे जेट्ठो ॥५७१॥
सत्त व अट्ठ व समया अवट्ठिअस्स इयरस्स खलु समयो ।
सव्वासु दुहा कालो अट्ठण्होघव्व सगसगपयाणं ॥५७२॥
णवरं णेयो परमो कम्माणाहारगेसु दो समया ।
भूगारप्पयराणं अवट्ठिअस्स समया तिण्णि ॥५७३॥

(प्रे०) **'समयो'** इत्यादि, अष्टानां प्रकृतीनां चतुर्णां भूयस्कारादिरसबन्धानां लघुः-जघन्यकालः समयोऽस्ति । इयमत्र भावना यः कश्चिद् जीवः समयं यावद् घातिचतुष्कस्य भूयस्कारबन्धं कृत्वाऽनन्तरसमये एवाऽल्पतराद्यन्यतमबन्धं करोति तदा घातिचतुष्कसत्कभूयरकारबन्धस्य जघन्यकालः समयो भवति, एवमघातिप्रकृतीनां भूयस्कारबन्धसत्कसमयमात्रजघन्यकालस्यापि भावना कार्या । इत्थमष्टप्रकृतीनामल्पतरादिशेषबन्धत्रयस्यापि घटना कर्तव्येति । अथ भूयस्कारादिबन्धानामुत्कृष्टकालं दर्शयन्नादौ तावद् भूयस्काराऽल्पतरबन्धद्वयस्योत्कृष्टकालमाह-**'भूगारप्पयराणं'** भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोः प्रत्येकं ज्येष्ठः-उत्कृष्टकालो भिन्नमुहूर्तं भवेत् । संक्लेशस्य विशुद्धेश्चोत्कृष्टतो वृद्धिहान्योरान्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् ।

अथाऽवस्थितरसबन्धस्योत्कृष्टतः कालमाह-**'सत्त व अट्ठ व'** इत्यादि, अवस्थितस्य-अवस्थितरसबन्धस्योत्कृष्टतः कालः सप्त वाऽष्टौ वा समयाः, कुतः ? इति चेत् , उच्यते-उत्कृष्टतो रसबन्धप्रायोग्यविवक्षिताऽध्यवसायस्य प्रकृष्टतोऽवस्थानस्याऽष्टसमयप्रमाणत्वात् विवक्षितरसबन्धकालस्याऽपि प्रकृष्टतोऽवस्थानमष्टसमयप्रमाणम् , अतोऽष्टप्रकृतीनामवस्थितरसबन्धस्य कालोऽष्टसमयप्रमितः प्रोक्तः । यदा प्रागुक्ताऽष्टसु समयेषु प्रथमसमये जायमानस्य बन्धस्य भूयस्कारत्वेन वाऽल्पतरत्वेन वा विवक्षा क्रियते, तदा प्रथमसमयस्याऽवस्थितत्वेनालभ्यमानत्वादष्टकर्मणामवस्थितरसबन्धस्य कालः उत्कृष्टतः सप्तसमयमात्रो भवतीति ।

इदानीमवक्तव्यबन्धस्योत्कृष्टं कालमाह-**'इयरस्स समयो'** इतरस्य प्रागुक्तेतरस्य अवक्तव्यबन्धस्येत्यर्थः । खलुः-एवकारार्थः तेन उत्कृष्टकालः समय एव भवति, कुतः ? इति चेत् ,उच्यते-अबन्धस्थानात् पततो बन्धप्रथमसमय एवावक्तव्यरसबन्धो भवति, तदनन्तरसमये तु क्वचिदल्पतरः, क्वचिद् भूयस्कारः, क्वचिदवस्थितो रसबन्धो भवति, एवं बन्धद्वितीयादिसमयेऽवक्तव्यरसबन्धस्याऽभावादुत्कृष्टोऽपि तस्य कालः समयमात्रः ।

इत्थमष्टानां भूयस्कारादिरसबन्धानां कालमोघतः प्ररूप्य साम्प्रतमादेशतः तेषां कालमोघवद्-तिदिशति-'**सव्वासु**' इत्यादि, सर्वासु मार्गणास्वष्टप्रकृतीनां स्वस्वपदानां-यासु यासु मार्गणासु भूयस्कारादिचतुर्बन्धमध्याद् यावन्तो बन्धाः तासु तासु मार्गणासु तावतां बन्धानां जघन्यत उत्कृष्टतश्च काल ओघवद् भवति । कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वयस्य त्रिसामायिकत्वेन तत्र भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थितबन्धानामन्तर्मुहूर्तादिप्रमाणस्योत्कृष्टकालस्याऽघटमानत्वात् तत्राऽपवादं दर्शयति-'**णवरं**' इत्यादिना, कार्मणाऽनाहारकमार्गणयोः भूयस्काराऽल्पतरयोः सप्तानां प्रकृतीनां भूयस्कारस्याऽल्पतरस्य च परमः-उत्कृष्टबन्धकालो द्वौ समयौ, अवस्थितस्य पुनस्त्रयः समया ज्ञेयाः । कथम् ? इति चेत्, उच्यते-मार्गणाप्रथमसमये भूयस्काराऽल्पतरबन्धौ न भवतः । यतो हि भूयस्काराऽल्पतरबन्धौ प्राक्समयवर्तिबन्धसापेक्षौ, तत्तद्मार्गणायाः प्रथमसमये तत्तद्मार्गणात्मकप्राक्समयवर्तिबन्धस्याभावेन भूयस्कारादिबन्धस्याभावात् मार्गणाप्रथमसमये भूयस्कारबन्धोऽल्पतरबन्धश्च न भवति, किन्तु द्वितीयसमयत एव प्राक्समयवर्तिबन्धस्य लाभात् द्वितीयसमये तृतीयसमये वा भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोर्लाभः, ततस्तदुत्कृष्टकालः द्वौ समयौ एवाभिहितः तदूर्ध्वं तु मार्गणा विरमति तस्या उत्कृष्टतस्त्रिसामयिकत्वात् । एतद्मार्गणाद्वयस्य त्रिसामयिकत्वेनाऽवस्थितबन्धकालः त्रिसमयतोऽधिको नैव प्राप्यत इति । इत्थं कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वयवर्जाऽष्टषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु सप्तानां भूयस्कारस्याऽल्पतरस्य च बन्धकालो जघन्यतः समयः, उत्कृष्टतः पुनरन्तर्मुहूर्तम् । कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वये तु जघन्यतः समयः, उत्कृष्टतश्च द्वौ समयौ इति । अपगतवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वयेऽवस्थितबन्धो न भवति ततस्तद्मार्गणाद्वयवर्जाऽष्टषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु सप्तानामवस्थितबन्धस्य जघन्यः कालः समयः, तत्र कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वये उत्कृष्टकालः त्रिसमयप्रमितः, शेषषट्षष्ट्युत्तरशतमार्गणासु पुनः सप्तसमयमात्रो वाऽष्टसमयप्रमितो वा । त्रिमनुष्य-द्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगौदारिकयोग--चतुर्ज्ञानापगतवेद-संयमौघ-त्रिदर्शन--शुक्ललेश्या-भव्य--सम्यक्त्वोपशम--क्षायिक--संज्ञ्याऽऽहारकलक्षणासु पञ्चत्रिंशद्मार्गणासु सप्तानामवक्तव्यबन्धस्य जघन्यत उत्कृष्टतश्च कालः समय एव । लोभकषायमार्गणायां तु केवलमोहनीयस्यावक्तव्यबन्धस्य कालः समयः । शेषषण्णामवक्तव्यबन्धो न भवति । शेषचतुस्त्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु सप्तानामवक्तव्यबन्धो न भवति । ततो नावक्तव्यबन्धसत्ककालावकाशः । आयुर्बन्धप्रायोग्यत्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु आयुष्कस्य भूयस्कारादिचतुर्बन्धानां जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टकालः पुनर्भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोरन्तर्मुहूर्तम्, अवस्थितबन्धस्य तु सप्तसमयप्रमाणोऽष्टसमयप्रमितो वा, अवक्तव्यबन्धस्य पुनरुत्कृष्टकालोऽपि समयमात्र इति ॥५७१।५७२।५७३॥

तदेवमवसितमष्टानां भूयस्कारादिरसबन्धानां जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नमेकजीवाश्रितं कालनिरूपणम् । तदवसाने च गतम् "काल" इत्यनेनोद्दिष्टं तृतीयं कालद्वारम् ।

॥इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे द्वितीये भूयस्काराधिकारे तृतीयं कालद्वारं समाप्तम्॥

॥ अथ चतुर्थमन्तरद्वारम् ॥

गतमेकजीवाश्रितं तृतीयं कालद्वारम् । इदानीं क्रमप्राप्तस्य "कालंतराइ" इत्यनेनोद्दिष्टस्य चतुर्थस्यैकजीवाश्रिताऽन्तरद्वारस्य व्याख्यानावसरः । तत्रादौ तावदोघतोऽष्टप्रकृतीनां भूयस्कारादिचतुर्बन्धानां जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नमन्तरं वक्तुमुपक्रमते—

अट्ठण्ह मुहुत्तंतो लहुं अवत्तव्वगस्स सेसाणं ।
तिण्हं समयो लोगा असंखियाऽवट्ठिअस्स गुरुं ॥५७४॥

(प्रे०) 'अट्ठण्ह' इत्यादि, अष्टानां प्रकृतीनाम् अवक्तव्यस्य-अवक्तव्यरसबन्धस्य लघु-जघन्यमन्तरं मुहूर्तान्तः-अन्तर्मुहूर्तं भवति, तत्र सप्तानामवक्तव्यबन्धान्तरस्य श्रेणिद्वयान्तरसापेक्षत्वात्, आयुष्कनिरुक्तबन्धान्तरस्याकर्षद्वयान्तरसापेक्षत्वात्, श्रेणिद्वयान्तरस्य आकर्षद्वयान्तरस्य च जघन्यतोऽप्यान्तर्मौहूर्तिकत्वात् । घटना त्वित्थम्-इह सप्तानामवक्तव्यरसबन्ध उपशमश्रेण्यामबन्धस्थानतः पततो बन्धप्रथमसमये भवति, ततो यः कश्चिद् जीव उपशमश्रेणिमारुह्य सप्तप्रकृतीनामबन्धञ्च कृत्वा अद्धाक्षयेण ततोऽवतरन् बन्धप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धं विदधाति द्वितीयादिसमयेषु तु भूयस्कारादिबन्धं करोति, इतश्चान्तरं प्रारब्धम् । निरुक्तजीवः क्रमशः पतन् षष्ठगुणस्थानकमागच्छति ततश्च षष्ठं सप्तमं च गुणस्थानं गमनागमनेन अनेकशः स्पृष्ट्वान्तर्मुहूर्तकालेन सप्तमगुणस्थानतः पुनरुपशमश्रेणिमारोहति, आरोहंश्च सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकप्रथमसमये मोहस्योपशान्तमोहगुणस्थानकप्रथमसमये च षण्णामबन्धं विधाय कालं करोति, कृत्वा च देवेषूत्पद्यमानो देवभवप्रथमसमये पुनरवक्तव्यबन्धं विदधाति तदा सप्तानामवक्तव्यबन्धस्यान्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं घटते । यस्य जीवस्य जघन्यान्तरकालान्तरितयोरायुर्बन्धाकर्षयोः प्रत्येकं प्रथमसमये यदाऽवक्तव्यबन्धो भवति तदा तमाश्रित्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणं प्रकृतं जघन्यान्तरं प्राप्यते । शेषबन्धत्रयस्य जघन्यान्तरमाह-'सेसाणं' इत्यादि, भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थितलक्षणानां शेषाणां त्रयाणां बन्धानां जघन्यमन्तरं समयः, तत्तद्बन्धद्वयस्यान्तराले समयं यावद् तद्विजातीयबन्धस्य संभवात् । तदेवमष्टप्रकृतीनां भूयस्कारादिचतुर्बन्धानां जघन्यान्तरं निरूप्य साम्प्रतं तेषामेव बन्धानामुत्कृष्टान्तरं निर्दिदिक्षुरादौ तावदवस्थितरसबन्धस्य तत् प्राह 'लोगा' इत्यादि, अष्टप्रकृतीनामवस्थितरसबन्धस्य गुरु-उत्कृष्टमन्तरमसंख्येया लोकाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणसमया इत्यर्थः । कुतः ? अवस्थितरसबन्धकारणीभूताध्यवसायस्थानसत्कोत्कृष्टान्तरस्य तावन्मितत्वात् ॥५७४॥ अथाऽऽयुष्कस्य शेषत्रिपदानां तथा सप्तकर्मणां भूयस्काराल्पतररसबन्धयोरुत्कृष्टमन्तरं दर्शयन्नाह—

साहियतेत्तीसुदही णेयं आउस्स सेसतिपयाणं ।
भूगारप्पयराणं सत्तण्ह भवे मुहुत्तंतो ॥५७५॥

(प्रे०) 'साहियतेत्तीसुदही' इत्यादि, आयुष्कस्य शेषत्रिपदानाम्—भूयस्काराऽल्पतरा-

ऽवक्तव्यलक्षणानां त्रयाणां बन्धानामुत्कृष्टान्तरं साधिकत्रयस्त्रिंशदुदधयः-साधिकत्रयस्त्रिंशत्साग-रोपमाणि ज्ञेयम्, आयुर्बन्धोत्कृष्टान्तरस्य तावन्मितत्वात्। नवरमायुर्बन्धोत्कृष्टान्तरतः प्रकृतबन्ध-त्रयस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तेनाधिकं ज्ञेयम्, अधिकान्तरप्रयोजकीभूतान्तर्मुहूर्तप्रमाणविजातीयबन्धस्य प्राप्यमाणत्वात्। सम्प्रति सप्तप्रकृतीनां भूयस्काराल्पतरबन्धयोरुत्कृष्टान्तरं निर्वक्ति—'**भूगारप्पयराणं**' इत्यादि, सप्तानां प्रकृतीनां भूयस्काराऽल्पतरयोर्बन्धयोरन्तरं मुहूर्तान्तः-अन्तर्मुहूर्तं भवेत्।

इयमत्र भावना इह सप्तानां भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोरन्तर्मुहूर्तप्रमाणमन्तरं विजातीयबन्ध-प्रयुक्तम्, उभयप्रयुक्तं वा प्राप्यते, उभयप्रयुक्तं नाम विजातीयबन्धेनाबन्धेन च प्रयुक्तम्। अत्र घटना त्वित्थम्-यः कश्चिद् जीवो भूयस्कारबन्धं विधाय अल्पतरावस्थितबन्धौ भूयस्कारबन्धेनानन्तरितौ याव-त्कालं कर्तुं शक्यते तावत्कालमन्तर्मुहूर्तं कृत्वा भूयो भूयस्कारबन्धं करोति तदा भूयस्कारबन्धस्यान्त-र्मुहूर्तप्रमाणमन्तरं भवति, यतो भूयस्कारबन्धस्य निबन्धनं संक्लेशो विशुद्धिर्वा, तयोश्च संक्लेश-विशुद्ध्योरन्तरमुत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तम्। अत एव भूयस्कारबन्धस्याऽन्तरमन्तर्मुहूर्तं विजातीयबन्ध-प्रयुक्तं समुपलभ्यते। एवमल्पतरबन्धस्याप्यन्तरस्य भावना कार्या, नवरं भूयस्कारस्थानेऽल्पतरः, तथाऽल्पतरस्थाने भूयस्कारोऽभिधातव्य इति। उभयप्रयुक्तस्य प्रस्तुतान्तरस्य भावना त्वेवम्—यः कश्चिदुपशमश्रेणिमारोहन्स्वस्वप्रकृतीनामबन्धस्थानादर्वाक्समये एव चतसृणां घाति-प्रकृतीनां चरममल्पतरबन्धम्, अघातित्रयस्य तु भूयस्कारबन्धं विधायाऽबन्धं करोति, ततस्त-योरन्तरं प्रारभते। अबन्धकतया अन्तर्मुहूर्तं स्थित्वा अद्धाक्षयेण क्रमशः पतति तत्र बन्धप्रथम-समयेऽवक्तव्यबन्धः, ततः षष्ठगुणस्थानकं यावत् पतनावस्थायां घातिचतुष्कस्य भूयस्कारसमबन्धः, अघातित्रयस्याऽल्पतरबन्धः, तत्पश्चाद् विशुद्धौ सत्यां घातिचतुष्कस्याऽल्पतरबन्धमघातित्रयस्य च भूयस्कारबन्धं करोति, अयश्चाबन्धसमयतः पुनस्तत्तद्बन्धपर्यन्तं सर्वकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण एव तथा घातिचतुष्कसत्कभूयस्कारस्याऽघातित्रयसत्काल्पतरस्य श्रेण्यारोहणावस्थाया विशुद्धिकालादर्वाग् यथासंभवं चरमो बन्धो भवति तदनन्तरं च विजातीयबन्धः प्रवर्तते, ततस्तयोरितोऽन्तरं प्रारभ्यते तत्पश्चात् श्रेण्यारोहणकालेऽपि तद्विजातीयबन्धस्य प्रवर्तनात् सर्वश्रेण्यारोहणकालः, सर्वोऽबन्धकालश्चा-ऽन्तरतया प्राप्यते, श्रेणेरवरोहकस्य बन्धप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धो द्वितीयसमये घातिप्रकृतीनां पुन-र्भूयस्कारबन्धः, अघातित्रयस्य पुनरल्पतरबन्धो जायते, इत्थं तासामन्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति। एवं प्रागुक्तनीतिद्वयमध्ये ययाऽधिकः कालो भवति, सोऽत्रोत्कृष्टान्तरतया ग्राह्यः ॥५७५॥

सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमभिधायौघतोऽन्तरप्ररूपणां गमयन् तथाऽष्टाना-मादेशतो भूयस्कारादिचतुर्बन्धानामन्तरं दिदर्शयिषुरादौ तावत्सप्तानां भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोरन्तरं सर्वासु मार्गणास्वोघवत् सापवादमतिदिशन्नाह—

देसूणाद्धपरट्टो भवे अवत्तव्वगस्स सत्तण्हं ।
भूगारप्पयराणं सत्तण्होघव्व सव्वासु ॥५७६॥

णवरऽत्थि अंतरं चिअ णो भूओगारअप्पयरगाणं ।
कम्मणगयवेएसु सुहमम्मि तहा अणाहारे ॥५७७॥

(प्रे०) 'देसूणाड्ढपरट्टो' इत्यादि, सप्तानां प्रकृतीनामवक्तव्यस्य रसबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनार्धपरावर्तो-देशोनार्धपुद्गलपरावर्तो भवत् । कुतः ? इति चेत् , उच्यते-सप्तानामवक्तव्यरसबन्ध उपशमश्रेण्यामेव भवति, एकजीवमाश्रित्योपशमश्रेणेरुत्कृष्टाऽन्तरं देशोनापार्धपुद्गलपरावर्तस्ततः सप्तानामवक्तव्यबन्धस्याप्युत्कृष्टाऽन्तरं तावत्प्रमाणमेव भवति । तदेवमष्टानां प्रकृतीनां भूयस्कारादिचतुर्बन्धानामोघतोऽन्तरमुक्तम् , अथाऽऽदेशतः सप्तप्रकृतीनां तदेवान्तरं दर्शयन् प्रथमं तावद् भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोरन्तरमतिदिशति—'भूगारप्पयराणं' इत्यादि, सर्वासु मार्गणासु सप्तप्रकृतीनां भूयस्काराऽल्पतरयोः रसबन्धयोरन्तरमोघवद्-यथौघे सप्तानां भूयस्कारबन्धस्याऽल्पतरबन्धस्य च जघन्यमन्तरं समयप्रमितम् ,उत्कृष्टं पुनरन्तर्मुहूर्तं दर्शितं तथैवाऽत्रापि विज्ञेयम् । अत्राऽपवादमाह 'णवरऽत्थि' इत्यादि, कार्मणयोगाऽपगतवेदानाहारकलक्षणासु तिसृषु मार्गणासु सप्तप्रकृतीनां, सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां तु मोहनीयवर्जषट्प्रकृतीनां भूयस्काराऽल्पतरयोरन्तरं नास्ति, कुतः ? इति चेत् ,उच्यते—कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वये सप्तानां भूयस्कारबन्धोऽल्पतरबन्धश्च मार्गणाया द्वितीयसमये तृतीयसमये वा प्रवर्तयितुं शक्यः प्रस्तुतमार्गणायाश्च त्रिसामयिकत्वेनाऽन्तरालसमयस्यान्तरत्वेनाऽलाभादन्तरं न प्राप्यते, सूक्ष्मसम्परायमार्गणायामुपशमश्रेणेरारोहकस्य प्रतिसमयं घातित्रयस्याऽल्पतरबन्धः, अघातित्रयस्य तु भूयस्कारबन्धो भवति यावद् मार्गणायाश्चरमसमयः । श्रेणेरवरोहकस्य एतद्मार्गणायां प्रतिसमयं मार्गणाचरमसमयं यावत् प्रागुक्तात् बन्धात् केवलं विपरीतबन्धो भवति, एवं विवक्षितबन्धस्य निरन्तरप्रवर्तनादन्तरं न लभ्यते । अपगतवेदमार्गणायामारोहकस्यावरोहकस्य च सूक्ष्मसम्परायमार्गणावद् बन्धो भवति, यद्यप्यत्राऽबन्धो भवति तथापि विवक्षितप्रकृतीनां भूयस्कारादिविवक्षितरसबन्धस्य पुनरप्रवर्त्तनादन्तरं नैव प्राप्यते । तत एतच्चतुर्मार्गणा वर्जयित्वा शेषपट्षष्ट्युत्तरशतमार्गणासु सप्तानां भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोरन्तरं जघन्यतः समय उत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तं भवति । अत्रेदमवगन्तव्यम्-यद्यपि सप्तप्रकृतीनां भूयस्काराल्पतरयोः प्रत्येकमन्तरमन्तर्मुहूर्तमोघवदतिदिष्टं तथापि उभयप्रयुक्तमन्तरं मनुष्यादिमार्गणास्वेव प्राप्यते,कासुचिद् मनोयोगादिमार्गणासु श्रेणेः सद्भावेऽपि उभयप्रयुक्तमन्तरं नैव प्राप्यते तथा श्रेण्यनर्हासु मार्गणासूभयप्रयुक्तमन्तरं न प्राप्यते इति प्रतीतमेव ॥५७६।५७७॥ अधुना सप्तानामवस्थितबन्धस्याऽऽदेशतोऽन्तरमाह—

सव्वासु लहु समयो अवट्ठिअस्स परमं असंखेज्जा ।
लोगा तिरियेगिंदियणिगोअपुहवाइचउगेसु ॥५७८॥
छसुहुमभेएसु वणे कायणपुंसदुअणाणअयतेसुं ।
अणयणभवियियरेसुं मिच्छासण्णीसु णायव्वं ॥५७९॥

(प्रे०) '**सव्वासु**' इत्यादि, सर्वासु अवस्थितबन्धप्रायोग्याष्टषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः। सप्तानामवस्थितबन्धस्य लघु-जघन्यमन्तरं समयो ज्ञेयः। साम्प्रतमुत्कृष्टाऽन्तरं दर्शयन्नादौ तावद् यासु मार्गणासु तदुत्कृष्टाऽन्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयप्रमाणं भवति तासु तदाह-'**परमं**' इत्यादि, तिर्यगोघै केन्द्रियौघ-पृथ्व्यादिचतुरोघ-साधारणवनस्पतिकायौघ-पट्सूक्ष्मौघ-वनस्पतिकायौघ-काययोग-नपुंसकवेद-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानाऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्याऽभव्य-मिथ्यात्वाऽसंज्ञिलक्षणासु चतुर्विंशतिमार्गणासु सप्तानामवस्थितबन्धस्य परमम्-उत्कृष्टमन्तरमसंख्येयाः लोकाः-असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयप्रमाणं ज्ञातव्यम्। **इयमत्र भावना**-एतासां मार्गणानां कायस्थितिरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितसमयास्ततोऽधिका वा। सप्तानामवस्थितबन्धस्योत्तरः प्रकृष्टाऽन्तरं चासंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयाः ततस्तासु तदधिकमन्तरं नैव प्राप्यते ॥५७८।५७९॥ सम्प्रति कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वये शेषमार्गणासु च सप्तानामवस्थितबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं दर्शयति-

जाणेयव्वं समयो कम्माणाहारगेसु सेसासु ।
देसूणा उक्कोसा सगसगकायट्ठिई णेयं ॥५८०॥

(प्रे०) '**जाणेयव्वं**' इत्यादि, कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वये सप्तानामवस्थितबन्धस्याऽन्तरं समयमात्रं ज्ञातव्यम्। अत्र मार्गणायाः प्रथमसमये चरमसमये चावस्थितबन्धस्य लाभेनान्तरालरूपे द्वितीयसमये च भुयस्कारादिविजातीयबन्धस्य संभवेन समयोऽन्तरं प्राप्यते।

अथ शेषासु मार्गणासु प्रकृताऽन्तरं निर्वक्ति-'**सेसासु**' इत्यादि, शेषासु-तिर्यगोघादिचतुर्विंशतिमार्गणाः,कार्मणाऽनाहारकमार्गणा-समपरायवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वयं च वर्जयित्वा द्वाचत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः। सप्तानामवस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोना उत्कृष्टा स्वस्वकायस्थितिर्ज्ञेयम्। कुतः? इति चेत्, उच्यते-सप्तानामवस्थितबन्धस्योत्कृष्टोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्ये काले व्यतीते नियमात् पुनः प्राप्तिर्भवति। एतासां मार्गणानां कायस्थितिरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशकालतोऽतीवस्तोका। तत एतासु सर्वासु मार्गणासु यथासंभवं प्रारम्भकालेऽवस्थितबन्धो भवति,ततश्च स्वस्वकायस्थितेः प्रान्तेऽवस्थितबन्धो जायते, तदा यथोक्तमन्तरं सर्वासु मार्गणासु प्राप्यते। सर्वमार्गणानां कायस्थितिस्तु प्रथमाधिकारगतैकजीवाश्रितकालद्वारतोऽवसेयेति ॥५८०॥ साम्प्रतं सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यबन्धस्याऽन्तरं प्ररूपयन्नादौ तावत् पञ्चमनोयोगादिषु प्रस्तुताऽन्तरं प्रतिषेधयन्नाह—

पणमणवयकायउरलअवेअसुइलुवसमेसु सत्तण्हं ।
मोहस्स य लोहे णो चेव अवत्तव्वगस्स भवे ॥५८१॥

(प्रे०) '**पणमण**' इत्यादि,मनुष्यत्रिकादिपञ्चत्रिंशद्मार्गणासु सप्तानां,लोभमार्गणायां च मोहनीयस्याऽवक्तव्यबन्धो भवति,तत आसु पट्त्रिंशद्मार्गणास्वेतदन्तरप्ररूपणाऽवसरः। तत्रादौ तावद् यासु मार्गणासु प्रस्तुताऽन्तरं न भवति,तासु मार्गणासु तथैव निर्दिशति-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काय-

योगौदारिककाययोगा-ऽपगतवेद-शुक्ललेश्योपशमसम्यक्त्वलक्षणासु पञ्चदशमार्गणासु सप्तानां, लोभमार्गणायां च मोहनीयस्याऽवक्तव्यबन्धस्यान्तरं नैव भवेत् । **इदमत्र हृदयम्**–अत्र सप्तानामवक्तव्यबन्धः उपशमश्रेणिसत्काबन्धस्थानात् पततो जीवस्य भवति,ततः पुनरवक्तव्यबन्धो द्वितीयवारमुपशमश्रेणितः पतत एव जायते । अतो निरुक्तषट्त्रिंशद्मार्गणान्तर्गतानां यासां मार्गणानां निरन्तराऽवस्थानकालमध्ये वारद्वयमुपशमश्रेणिः प्राप्यते , तासु मार्गणासु सप्तानामवक्तव्यबन्धस्याऽन्तरं भवति, तच्चान्तरं श्रेणेरन्तरवद् द्रष्टव्यम् । यासु पुनर्वारद्वयमुपशमश्रेणिर्न लभ्यते तासु प्रस्तुताऽन्तरं न भवति, निरुक्तपञ्चमनोयोगादिपञ्चदशमार्गणानां लोभमार्गणायाश्च निरन्तराऽवस्थानकालमध्ये द्विः श्रेणेरप्राप्यमाणत्वादन्तरं न प्राप्यत इति ।।५८१।।

सप्तानामवक्तव्यबन्धस्याऽन्तरं शेषमार्गणासु प्राह—

सेसासु अवत्तव्वो सत्तण्हं जासु अत्थि तासु से ।
भिन्नमुहुत्तं हस्सं ओघव्व गुरुं अचक्खुभवियेसु ।।५८२।। [गीतिः]

(प्रे०) '**सेसासु**' इत्यादि,शेषासु-प्रागुक्तशेषासु यासु मार्गणासु सप्तानां प्रकृतीनामवक्तव्यबन्धोऽस्ति, ताभ्यः षट्त्रिंशद्मार्गणाभ्यः प्रागुक्तपञ्चमनोयोगादिषोडशमार्गणा वर्जयित्वा शेषासु मनुष्यत्रिक-द्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रस-चतुर्ज्ञान-संयमौघ-त्रिदर्शन-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञ्याहारकलक्षणासु विंशतिमार्गणासु ' से ' तस्यावक्तव्यबन्धस्य ह्रस्वं-जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति । आसु द्विवारमुपशमश्रेणेः प्राप्यमाणत्वात् श्रेणिद्वयान्तराऽकालस्य च जघन्यतोऽप्यान्तर्मौहूर्तिकत्वादिति ।

एतासु मनुष्यत्रिकादिविंशतिमार्गणासु सप्तकर्मणामवक्तव्यबन्धस्योत्कृष्टान्तरं निरूपयन्नादौ तावद् यासु मार्गणास्वोघवद् भवति तासु तद् दर्शयति-'**ओघव्व गुरु**'इत्यादि, सप्तानामवक्तव्यबन्धस्योत्कृष्टान्तरमोघवद् , यथौघे सप्तानामवक्तव्यबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं देशोनापार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणं प्रोक्तं तथैवात्राऽपि वेदितव्यमिति भावः । कुत्र ? इत्याह-'**अचक्खुभवियेसु**'-अचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणाद्वये इति । कुतः ? एतद्मार्गणाद्वये उपशमश्रेण्युत्कृष्टान्तरस्य यथोक्तमानत्वात् ।।५८२।।

इदानीं त्रिमनुष्यमार्गणासु तथा शेषपञ्चदशमार्गणासु प्रकृताऽन्तरं प्रकटयन्नाह—

तिणरेसु पुव्वाणं कोडिपुहुत्तं हवेज्ज सेसासु ।
देसूणा उक्कोसा सगसगकायट्ठिई णेयं ।।५८३।।

(प्रे०) '**तिणरेसु**' इत्यादि, मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मनुष्ययोनिमतीलक्षणासु त्रिमनुष्यमार्गणासु सप्तानामवक्तव्यबन्धस्याऽन्तरं पूर्वाणां कोटिपृथक्त्वं-पूर्वकोटिपृथक्त्वं भवेत् । नन्वत्र-देशोनस्वकायस्थितिप्रमाणं प्रस्तुताऽन्तरं कथं नोक्तम् ? इति चेत् , उच्यते-एतत्त्रिमनुष्यमार्गणास्तूत्कृष्टकायस्थितिपूरको भवस्त्रिपल्योपमायुष्कमनुष्यभवको भवति , तत्र चोपशमश्रेण्यभावेन

सप्तानामवक्तव्यबन्धाभावः, अतस्त्रिपल्योपमायुष्कमनुष्यसत्कभवं वर्जयित्वा शेषभवसत्कान्तरालस्थैवाऽन्तरत्वेन लभ्यते ततो देशोनस्वकायस्थितिप्रमाणमन्तरं नाऽभिहितम् । अथ शेषपञ्चदशमार्गणासु प्राह-**'सेसासु'** इत्यादि, शेषासु पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-चक्षुरवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-सम्यक्त्वसंज्ञ्या-हारकलक्षणासु पञ्चदशमार्गणासु सप्तानामवक्तव्यबन्धस्याऽन्तरं देशोना उत्कृष्टस्वकायस्थितिः-देशोनस्वस्वोत्कृष्टकायस्थितिप्रमितं ज्ञेयम् । कुतः ? इति चेत् , उच्यते-मार्गणायाः प्रारम्भे पर्यवसाने चोपशमश्रेणेर्लाभसंभवात् । तथाहि-पञ्चेन्द्रियमार्गणायां यः कश्चिद् मनुष्योऽल्पवयसि श्रेणिमारुह्य सप्तानामबन्धं च विधायाऽद्धाक्षयेण श्रेणेः प्रतिपतन् बन्धप्रथमसमये सप्तानामवक्तव्यबन्धं करोति द्वितीयादिसमये तु भूयस्कारादिविजातीयबन्धम्, इतोऽन्तरस्य प्रारम्भो भवति । तत्पश्चात् स जीवः स्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावत् सप्तानामवक्तव्यबन्धमकुर्वन् निरुक्तमार्गणायां यथासंभवं परिभ्रमति, स्वमार्गणाकायस्थितेश्चरमभवे स जीवो मनुष्यो भूत्वा भवान्ते पुनरुपशमश्रेणिमारोहन् सप्तानामबन्धं करोति, कृत्वा चाऽद्धाक्षयेण पतन् सप्तानां बन्धप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धं करोति तदा प्रस्तुताऽन्तरस्य समाप्तिर्भवति एष सर्वोऽन्तरालकालो देशोनस्वकायस्थितिप्रमाणो भवति, अत एव पञ्चेन्द्रियमार्गणायां सप्तानामवक्तव्यबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं देशोनस्वकायस्थितिप्रमितमुक्तम् । एवमेव पर्याप्तपञ्चेन्द्रियादिमार्गणास्वपि भावना कार्या । नवरं मनःपर्यवज्ञानसंयमौघमार्गणयोः यदा यः कश्चिज्जीवः कायस्थितेः प्रारम्भकाले यथासंभवमवक्तव्यबन्धं कृत्वा देशोनपूर्वकोटिकालं गमयित्वा मार्गणाचरमसमये पुनरवक्तव्यबन्धं कृत्वा कालं करोति तदा तमाश्रित्य प्रकृष्टं प्रकृतान्तरं प्राप्यते ॥५८३॥ तदेवं मार्गणासु सप्तानां भूयस्कारादिचतुर्बन्धानामन्तरमभिधाय साम्प्रतमायुष्कसत्कानां तेषां जघन्याऽन्तरं बिभणिषुराह—

आउस्स अंतरं णो च अवत्तव्वस्स पणमणवयेसुं ।
विउवे आहारदुगे कसायचउगम्मि सासाणे ॥५८४॥
सेसासु मग्गणासुं भिन्नमुहुत्तं लहुं मुणेयव्वं ।
सव्वासु जाणियव्वं समयो सेसाण तिपयाणं ॥५८५॥

(प्रे०) **'आउस्स'** इत्यादि, आयुष्कस्य अवक्तव्यरसबन्धस्याऽन्तरं नास्ति । कुत्र ? इत्याह-**'पणमण'** इत्यादि, पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगेषु, वैक्रियकाययोगे, आहारकद्विके, कषायचतुष्के, सास्वादने चेत्येतास्वष्टादशमार्गणासु । कुतः ? इति चेत् , उच्यते—आयुष्कस्य पुनर्बन्धप्रवर्त्तनात् प्रागेव प्रस्तुतमार्गणानामपगमेन एतासु मार्गणास्वायुषो द्वितीयवारं बन्धाभावादायुष्कसत्कावक्तव्यबन्धस्याऽन्तरं नास्ति । अथ शेषास्वायुष्कस्यावक्तव्यबन्धस्य जघन्याऽन्तरमाह-

'सेसासु' इत्यादि, शेषासु पञ्चचत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणास्वायुष्कस्यावक्तव्यबन्धस्य लघु-जघन्यमन्तरं भिन्नमुहूर्तं ज्ञातव्यम् , आयुष्कमत्कावक्तव्यबन्धस्य जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तकालेन संभवात् । अथ भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थितबन्धानां जघन्यमन्तरमाह–'सव्वासु' इत्यादि, शेषाणां त्रिपदानां भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थिताख्यानां समयः-एकसमयप्रमितं ज्ञातव्यम् , जघन्यमन्तरमित्यनुवर्तते, विवक्षितरसबन्धद्वयस्याऽन्तराले समयं यावद् विजातीयरसबन्धस्य सम्भवात् ॥५८४।५८५॥

अथ यासु मार्गणास्वायुष्कस्य भूयस्कारादिचतुर्बन्धानामुत्कृष्टाऽन्तरं देशोनषण्मासप्रमाणं भवति, तासु औदारिककाययोगमार्गणायाश्च प्राह—

आउस्सूणछमासा गुरुं सयलणिरयदेवलेसासु ।
सव्वपयाणं उरले गुरुभूभवठिइतिभागंतो ॥५८६॥

(प्रे०) 'आउस्स' इत्यादि, सर्वशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सर्वनरकभेदेषु सर्वसुरभेदेषु सर्वलेश्याभेदेषु च, सर्वमीलने चतुश्चत्वारिंशद्मार्गणाभेदेषु आयुष्कस्य सर्वपदानां-भूयस्कारादिचतुर्बन्धानां गुरु-उत्कृष्टमन्तरं देशोनषण्मासप्रमितं भवति । इयमत्र भावना-देवनारकाः षण्मासावशेषे स्वायुषि पारभविकमायुर्बध्नन्ति न त्वर्वाग् , ततस्तत्तद्मार्गणावर्ती यः कश्चिद् जीवः षण्मासावशेषे स्वायुषि आकर्षद्वयेन पारभविकमायुर्बध्नाति, तत्र प्रथमाकर्षस्य प्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धो भवति, द्वितीयादिसमयतो भूयस्कारान्यतरबन्धो भवति, तेन द्वितीयसमयतोऽवक्तव्यबन्धसत्कान्तरस्य प्रारम्भो भवति । असंक्षेप्याऽद्धाऽवशेषे स्वायुषि स द्वितीयाकर्षेण पुनरायुर्बन्धं प्रारभते, तत्र प्रथमसमये पुनरवक्तव्यबन्धो भवति, एवमवक्तव्यबन्धस्य देशोनषण्मासप्रमितमन्तरं भवति।अवस्थितबन्धान्तरस्य घटना त्वेवम्–यः कश्चिद् जीवः बन्धद्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धं करोति तद्बन्धानन्तरसमये भूयस्काराऽल्पतरयोरन्यतरबन्धस्यापि संभवेन तृतीयसमयतोऽवस्थितबन्धान्तरस्य प्रारम्भो भवति, अन्तर्मुहूर्तात्परत आयुर्बन्धसत्कप्रथमाकर्षाद् विरमति, तत ऊर्ध्वं देशोनषण्मासं यावदायुर्न बध्नाति । असंक्षेप्याद्धावशेषे स्वायुषि पुनर्द्वितीयाकर्षेणायुर्बन्धं प्रारभते, तत्र बन्धचरमसमये पुनरवस्थितबन्धं करोति एवमवस्थितबन्धस्य देशोनषण्मासप्रमितमन्तरं प्राप्यते ।

भूयस्कारबन्धान्तरस्य घटना क्रियते–अनन्तरोक्तजीवस्याल्पतरावस्थितयोः समुदितबन्धकाल उत्कृष्टतो यावान् भवितुमर्हति प्रथमाकर्षस्य तावति कालावशेषे स एव जीवश्चरमं भूयस्कारबन्धं विधाय निरुक्ताकर्षस्य चरमसमयं यावद् विजातीयबन्धं विदधाति । तत आयुर्बन्धसत्कप्रथमाकर्षतो विरम्य देशोनषण्मासकालमायुर्बन्धं विना गमयित्वाऽसंक्षेप्याद्धायां प्रविशति, तत्र द्वितीयाकर्षेण पुनरायुर्बन्धं विदधाति, तत्रापि अल्पतराऽवस्थितबन्धाभ्यां यावन्तं कालं गमयितुं शक्यते, तावन्तं

कालं निर्गमय्य भूयस्कारबन्धं विदधाति तदा देशोनषण्मासप्रमितमुत्कृष्टान्तरं भवति । एवमल्पतरबन्धान्तरस्यापि घटना कार्या, नवरं भूयस्काररसबन्धस्थानेऽल्पतररसबन्धोऽभिधातव्यः । एवमेतासु सर्वासु मार्गणासु सर्वपदानां देशोनषण्मासमितमुत्कृष्टान्तरं लभ्यते ।

इदानीमौदारिककाययोगमार्गणायामायुष्कस्य भूयस्कारादिचतुर्बन्धानामुत्कृष्टान्तरं दर्शयति-'**उरले गुरुभूभवठिइतिभागंतो**' इति, औदारिककाययोगमार्गणायां भूयस्कारादिचतुर्बन्धानामुत्कृष्टान्तरं गुरुभूभवस्थितित्रिभागान्तः पृथ्वीकायसत्कोत्कृष्टायुष्कस्य देशोनत्रिभागप्रमाणं सातिरेकसप्तसहस्रवर्षप्रमाणं भवतीत्यर्थः । इयमत्र भावना—द्वाविंशतिसहस्रवर्षायुष्कः पृथ्वीकायिकः कश्चिज्जीवः पारभविकमायुराकर्षद्वयेन बध्नाति, तत्र तस्य स्वायुषः त्रिभागाऽवशेषे प्रथमाकर्षो भवति, द्वितीयाकर्षः स्वायुष्कस्यान्तर्मुहूर्तावशेषे भवति, शेषभावना नरकादिमार्गणासु यथा कृता तथैव कार्या ॥५८६॥

अथ पञ्चमनोयोगाद्येकोनविंशतिमार्गणासु येषां भूयस्कारादिबन्धानामन्तरमस्ति, तेषामुत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तमेवाऽस्तीति प्रकटयन्नाह—

जाणऽत्थि मुहुत्तंतो ताण पणमणवयउरलमीसेसु ।
विउवे आहारदुगे कसायचउगम्मि सासाणे ॥५८७॥

(प्रे०) '**जाण**' इत्यादि, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोगौ-दारिकमिश्र-वैक्रिययोगा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-कषायचतुष्क-सास्वादनलक्षणास्वेकोनविंशतिमार्गणास्वायुष्कस्य येषां भूयस्कारादिबन्धानाम् '**अत्थि**' इति अन्तरं न निषिद्धम् तेषां भूयस्कारादीनामुत्कृष्टाऽन्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति । अयं भावः-अत्रौदारिकमिश्रयोगमार्गणावर्जशेषाष्टादशमार्गणासु "आउस्स अंतरं णो त्ति अवत्तव्वस्स पणमणवयेसु"॥५८४॥ इत्यादिप्रागुक्तगाथया आयुष्कस्याऽवक्तव्यबन्धस्यान्तरं निषिद्धम् , ततस्तासु मार्गणासु भूयस्काराऽल्पतरावस्थितरसबन्धानामेवोत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तमभिधातव्यम् , औदारिकमिश्रमार्गणायां पुनश्चतुर्णामपि बन्धानामुत्कृष्टाऽन्तरमन्तर्मुहूर्तं भणितव्यम् ; एताः सर्वमार्गणा अन्तर्मुहूर्तकालेन परावर्तन्ते, तत उत्कृष्टमप्यन्तरमन्तर्मुहूर्तमेव भवति । नन्वौदारिकमिश्रमार्गणायामायुष्कसत्काऽवक्तव्यबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं कथं लभ्यते ? इति चेत् , उच्यते-लब्ध्यपर्याप्तजीवानामाभवमौदारिकमिश्रयोगोऽवतिष्ठते, तथा येऽपर्याप्तजीवा ऋजुगत्याऽपर्याप्तेषु समुत्पद्यन्ते, तेषां भवद्वये औदारिकमिश्रयोग एव विद्यते , ततस्तत्प्रायोग्योत्कृष्टायुष्काणां तादृशजीवानां भवद्वयापेक्षया प्रकृतान्तरं प्राप्यते, इह विशेषभावना स्वयं कर्तव्या ॥५८७॥ सम्प्रति यासु मार्गणास्वायुष्कस्य भूयस्कारादिचतुर्बन्धानां प्रकृष्टान्तरं देशोनपूर्वकोटित्रिभागप्रमाणं भवति, तासु तदाह—

मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहार-देसेसुं ।
देसूणो पुव्वाणं कोडितिभागो मुणेयव्वं ॥५८८॥

(प्रे०) 'मणणाण०' इत्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिक-देशविरतिलक्षणासु षण्मार्गणासु आयुष्कसत्कभूयस्कारादिचतुर्बन्धानां प्रत्येकमुत्कृष्टान्तरं 'देशोनः पूर्वाणां कोटित्रिभागः'-देशोनपूर्वकोटित्रिभागप्रमाणं भवति, आसु मार्गणासु प्रत्येकमायुर्बन्धसत्काकर्षद्वयस्योत्कृष्टान्तरस्य तावन्मितत्वात् ॥५८८॥ सम्प्रति विभङ्गज्ञानमार्गणायामायुष्कस्य भूयस्कारादिचतुर्विधबन्धस्योत्कृष्टान्तरं मतान्तरप्रदर्शनपूर्वकं दर्शयति—

विभंगे देसूणा जेट्ठा कायट्ठिई मुणेयव्वं ।
देसूणा छम्मासा हवए त्ति भणन्ति अण्णे उ ॥५८९॥

(प्रे०) 'विभंगे' इत्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायामायुष्कस्य भूयस्कारादिचतुर्बन्धानामुत्कृष्टान्तरं 'देशोना ज्येष्ठा कायस्थितिः'-देशोनमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणं ज्ञातव्यम् , अन्ये 'तु'-पुनः 'देशोनाः षण्मासाः'-देशोनषण्मासप्रमाणं भवतीति भणन्तीति गाथाऽक्षरार्थः ।

भावार्थः पुनरेवम्–विभङ्गज्ञानस्य कायस्थितिः साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणा, ततश्च यः कश्चिद् विभङ्गज्ञानी पूर्वकोट्यायुष्को मनुष्यो वा तिर्यग् वा त्रिभागशेषे स्वायुषि आयुर्बन्धं प्रारभते, तत्र प्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धो भवति, ततः प्रभृति तदन्तरस्य प्रारम्भः, तथाऽऽयुर्बन्धाद्धाया द्वितीयसमयेऽवस्थितबन्धस्ततस्तदन्तरस्य प्रारम्भः, तथा यावत्कालमुत्कृष्टतो निरन्तरं विजातीयरसबन्धं कर्तुं शक्यते आयुर्बन्धाद्धायास्तावति कालावशेषे चरमो भूयस्कारादिबन्धो भवति तत्समयादनन्तरं भूयस्कारादिबन्धान्तरप्रारम्भः, ततः क्रमेणायुर्बन्धाद् विरम्य वेद्यमानायुःशेषं च परिभुज्य विभङ्गज्ञानेन सह सप्तमनरके उत्पद्यते, तत्र चाऽन्तर्मुहूर्तन्यूनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावदायुर्बन्धं विना कालं गमयति, अन्तर्मुहूर्तावशेषे च स्वायुषि आयुर्बन्धं प्रारभते, तत्र प्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धो निरुक्तबन्धकालस्य चरमसमयेऽवस्थितबन्धः विजातीयरसबन्धसत्कदीर्घतमान्तर्मुहूर्तादुत्तरं भूयस्कारादिरसबन्धो यदा भवति, तदाऽवक्तव्यादिबन्धानामुत्कृष्टाऽन्तरं यथोक्तप्रमाणं सम्पद्यते ।

अन्ये पुनर्विभङ्गज्ञानस्य कायस्थितिं देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणां कथयन्ति, तिर्यङ्मनुष्येषु पुनरन्तर्मुहूर्तमात्रामेव स्वीकुर्वन्ति, ततश्च तन्मतेन एकमेव भवमाश्रित्य प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते, तदपि देवनारकानधिकृत्य संपद्यते, तच्च देशोनषण्मासप्रमितमेव, तस्य च घटना नारकादिमार्गणावत्कार्येति ॥५८९॥ तदेवं प्रागुक्तैकसप्ततिमार्गणास्वायुष्कस्य भूयस्कारादिचतुर्बन्धानामुत्कृष्टाऽन्तरमपि प्रदर्शितम् । साम्प्रतं शेषद्विनवतिमार्गणासु प्रथमतोऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं दर्शयति–

एगिंदियपुहवाइगचउगणिगोएसु ताण सुहुमेसुं ।
तिरिवणकायणपुअयतदुअणाणाचक्खुभवियइयरेसुं ॥५९०॥ [गीतिः]
मिच्छत्तासण्णीसुं अवट्ठिअस्स परमं असंखेज्जा ।
लोगा सेसासु भवे देसूणसगसगजेट्ठकायठिई ॥५९१॥ [गीतिः]

(प्रे०) 'एगिंदिय' इत्यादि, एकेन्द्रियौघ-पृथ्व्यादिचतुरोघभेद-साधारणवनस्पतिकायेषु तेषां 'सुहमेसु'-षट्सु सूक्ष्मौघभेदेषु, तिर्यगोघ-वनस्पतिकायौघ-काययोगौघ नपुंसकवेदा-ऽसंयम-मत्यज्ञान-श्रुताऽज्ञाना-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽभव्येषु मिथ्यात्वाऽसंज्ञिमार्गणयोश्चेत्येतासु चतुर्विंशतिमार्गणास्वायुष्कस्याऽवस्थितबन्धस्य परमम् उत्कृष्टमन्तरमसंख्येया लोकाः-असंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमया भवेत् । कुतः ? इति चेत्, उच्यते-उत्कृष्टतोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्ये काले व्यतीते रसबन्धप्रायोग्यैकाऽध्यवसायस्थाने जघन्यतोऽपि समयद्वयमवस्थितिः सम्प्राप्यते, ततः रसबन्धाध्यवसायावस्थानस्योत्कृष्टाऽन्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशसमयप्रमाणं भवति, तेन तज्जन्याऽवस्थितरसबन्धस्याप्युत्कृष्टान्तरं तावत्प्रमाणमेव, तथा च प्रस्तुतचतुर्विंशतिमार्गणानामेकं जीवमाश्रित्य कायस्थितेरसंख्येयलोकनभःप्रदेशतुल्यसमयप्रमाणत्वेऽनन्तकालप्रमाणत्वेऽपि वा एतद्मार्गणास्वायुष्कसत्काऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं यथोक्तमानमेव प्राप्यते । उक्तशेषाणां मार्गणानां कायस्थितेः पुनरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशसमयप्रमाणतोऽत्यल्पत्वेन यथोक्तमानमन्तरं न घटते किन्तु तासु मार्गणासु स्वस्वकायस्थित्यनुसारेणैव लभ्यमानं तद् देशोनस्वस्वकायस्थितिप्रमाणं भवति, तदपि मार्गणाया यथासंभवं प्रारम्भे पर्यवसाने चायुष्कसत्काऽवस्थितबन्धमद्भावेनावस्थितबन्धयोरन्तरालमेव प्रस्तुतान्तरतया प्राप्यते । एतदेव ग्रन्थकारः प्राह-'सेसासु' इत्यादि, अवशिष्टद्वानवतिमार्गणाभ्योऽनन्तरोक्तचतुर्विंशतिमार्गणा वर्जयित्वा शेषास्वष्टषष्टिमार्गणास्वित्यर्थः, आयुष्कस्याऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमित्यनुवर्तते, देशोनस्वस्वज्येष्ठकायस्थितिः-देशोनमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणं भवेदिति । शेषा अष्टषष्टिमार्गणाभेदाः पुनरिमे-सर्वे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, सर्वे मनुष्यगतिभेदाः, एकेन्द्रियौघसूक्ष्मैकेन्द्रियौघभेदद्वयवर्जशेषसप्तदशेन्द्रियभेदाः, पृथ्व्यादिपञ्चौघभेद-तत्सूक्ष्मौघपञ्चभेद-साधारणवनस्पतिकायरूपानेकादशभेदान् वर्जयित्वा शेषैकत्रिंशत्कायमार्गणाभेदाः, स्त्रीपुरुषवेदभेदौ, त्रिज्ञानभेदाः, चक्षुरवधिदर्शनभेदौ, सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-वेदकभेदाः संज्ञ्याहारिभेदौ चेति ॥५९०।५९१॥

इत्थमवशिष्टासु द्वानवतिमार्गणास्वायुष्कस्याऽवस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्रदर्शितम् । सम्प्रति तास्वेव मार्गणासु भूयस्कारा-ऽल्पतरा ऽवक्तव्याख्यानां शेषत्रिबन्धानामुत्कृष्टाऽन्तरं निर्जिगदिषुरादौ तावद् यासु मार्गणासु तत्तद्बन्धानामुत्कृष्टान्तरं साधिकस्वस्वोत्कृष्टभवस्थितिप्रमाणं भवति, तास्वाह-

तिपयाण सव्वतिरिणरएगिंदियविगलपंचकायेसुं ।
असमत्तपणिंदितसेसु साहिया भवठिई जेट्ठा ॥५९२॥

(प्रे०) 'तिपयाण' इत्यादि, सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् सर्वे तिर्यग्गतिभेदाः, सर्वे मनुष्यगतिभेदाः, सर्वे एकेन्द्रियभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, सर्वे पृथ्व्यादिपञ्चकायभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदः, अपर्याप्तत्रसकायभेदश्च सर्वमीलने षट्पष्टिमार्गणाभेदेषु आयुष्कस्य 'तिपयाण' इति भूयस्कारबन्धाऽल्पतरबन्धाऽवक्तव्यबन्धाख्यानां त्रिपदानामुत्कृष्टाऽन्तरं साधिका ज्येष्ठा भवस्थितिः, तत्तन्मार्गणागतजीवस्य साधिकोत्कृष्टायुष्कस्थित्या तुल्यमित्यर्थः । भावना त्वियम्-यदा यः कश्चिद् मनुष्यौघ-

मार्गणावर्ती पूर्वकोट्यायुष्को जन्तुस्त्रिभागावशेषे स्वायुषि भोगभूमिजमनुजसत्कं पारभविकमायुर्बध्नाति, तत्र च बन्धप्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धं विधाय द्वितीयादिसमये भूयस्कारादिबन्धं करोति, इतः प्रभृति अवक्तव्यबन्धसत्कमन्तरं प्रारभते । ततो यथासंभवमायुर्बन्धाद् विरम्य वर्त्तमानभवायुःशेषं परिभुज्य कालं च कृत्वा भोगभूमिषु त्रिपल्योपमायुष्कयुगलिकमनुष्यत्वेन उत्पद्यते, तत्र चान्तर्मुहूर्तावशेषे स्वायुषि पारभविकमायुर्बध्नाति, आयुर्बन्धस्य प्रथमसमये पुनरवक्तव्यबन्धं विदधाति, तदाऽवक्तव्यबन्धस्य साधिकत्रिपल्योपमप्रमाणं साधिकस्वोत्कृष्टभवस्थितिप्रमाणमुत्कृष्टाऽन्तरं भवति, इत्थं भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोर्यथासंभवं भावना कार्या । अनया दिशा तिर्यग्गत्यादिशेषमार्गणास्वपि भावना कर्तव्या ॥५९२॥ अधुना काययोगमार्गणायां स्त्रीवेदमार्गणायाश्चायुष्कस्य भूयस्कारादित्रिपदानामुत्कृष्टान्तरं निर्वक्ति—

कायम्मि भूभवठिई देसूणतिभागसंजुया जेट्ठा ।
अब्भहिया पणवण्णा पलिया थीए मुणेयव्वं ॥५९३॥

(प्रे०) 'कायम्मि' इत्यादि, काययोगमार्गणायामायुष्कस्य भूयस्काराऽल्पतराऽवक्तव्यबन्धाख्यानां त्रिपदानामुत्कृष्टाऽन्तरं देशोनत्रिभागयुक्ता ज्येष्ठा पृथ्वीकायभवस्थितिः, देशोनत्रिभागाभ्यधिकपृथ्वीकायसत्कोत्कृष्टायुष्कप्रमाणमित्यर्थः । घटना चेत्थम्—द्वाविंशतिसहस्रवर्षायुष्को यः कश्चित् पृथ्वीकायिको जीवः स्वायुषस्त्रिभागावशेषे उत्कृष्टस्थितिकं पृथ्वीकायसत्कं पारभविकमायुर्बध्नाति, तत्र बन्धप्रथमसमये एवावक्तव्यबन्धो भवति, अन्तर्मुहूर्तात् परत आयुर्बन्धाद् विरमति, शेषायुः परिभुज्य कालं करोति, कृत्वा च कालं द्वाविंशतिसहस्रवर्षायुष्कपृथ्वीकायिकत्वेन समुत्पद्यते, तत्र चान्तर्मुहूर्तावशेषे स्वायुषि पारभविकमायुर्बध्नाति, तत्र बन्धप्रथमसमये आयुष्कस्य पुनरवक्तव्यबन्धं विदधाति तदाऽवक्तव्यबन्धस्य यथोक्तमन्तरं घटामञ्चति । एवं भूयस्काराल्पतरयोः प्रत्येकं यथासंभवं घटना विधेया ।

अथ स्त्रीवेदमार्गणायामभिदधाति—'अब्भहिया' इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायामायुष्कस्य भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवक्तव्यबन्धाख्यानां त्रिपदानामुत्कृष्टान्तरमित्यनुवर्तते । कियत्प्रमाणम् ? इत्याह-'अभ्यधिकाः पञ्चपञ्चाशत् पल्याः'-साधिकपञ्चपञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणं विज्ञेयम् ,कुतः ? अस्यां मार्गणायामायुर्बन्धद्वयस्योत्कृष्टान्तरस्य तावन्मितत्वादेकैकस्यामायुर्बन्धाद्धायां निरुक्तबन्धत्रयस्य नियमेन प्रवर्तनाच्च ॥५९३॥ साम्प्रतमसंज्ञिमार्गणायां शेषमार्गणासु च प्रस्तुताऽन्तरं दर्शयति—

पुव्वाण एगकोडी अब्भहिया होअए असण्णिम्मि ।
सेसासु विण्णेयं तेत्तीसा सागराऽब्भहिया ॥५९४॥

(प्रे०) 'पुव्वाण' इत्यादि, असंज्ञिमार्गणायामायुष्कस्य भूयस्काराऽल्पतराऽवक्तव्यबन्धाख्यानां त्रिपदानामुत्कृष्टान्तरं पूर्वाणामभ्यधिका एककोटिः-साधिकैकपूर्वकोटिवर्षप्रमाणं भवति ।

असंज्ञिमार्गणायामुत्कृष्टायुरेकपूर्वकोटिवर्षप्रमाणमसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चामेव भवति, ततस्तानाश्रित्य भावना पूर्ववद् विधेया । अथ यासु मार्गणास्वायुष्कस्य त्रिपदानामुत्कृष्टान्तरं साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणं भवति ताः सर्वमार्गणाः शेषशब्देन संगृह्य तासु प्राह–'**सेसासु**' इत्यादिना शेषासु निरुक्तद्वानवतिमार्गणाभ्यः तिर्यग्गत्यादिषट्षष्टिमार्गणाः,काययोग-स्त्रीवेदा-ऽसंज्ञिमार्गणाश्चेत्येता एकोनसप्ततिमार्गणा वर्जयित्वा शेषत्रयोविंशतिमार्गणास्वित्यर्थः । आयुष्कस्य भूयस्कारा ऽल्पतरा ऽवक्तव्यबन्धरूपाणां त्रिपदानामुत्कृष्टान्तरमित्यनुवर्तते । कियत्प्रमाणम् ? इत्याह-त्रयस्त्रिंशत् सागरा अभ्यधिकाः विज्ञेयम्-साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणं ज्ञातव्यमित्यर्थः ।

शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः-पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकाय-पर्याप्तत्रसकाय-पुरुषवेद-नपुंसकवेद--मत्यज्ञान--श्रुताज्ञान-मति--श्रुता ऽवधिज्ञाना-ऽसंयम--त्रिदर्शन-भव्याऽभव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक वेदक-मिथ्यात्व-संज्ञ्याहारकमार्गणा इति ।

निरुक्तमार्गणागतानां मनुष्यतिरश्चां यथासंभवं देवनारकेषु समुत्पादेऽपि विवक्षितपञ्चेन्द्रियादिमार्गणायाः परावृत्तिर्न भवति, तत उभयभवमन्तकालोऽन्तरतया प्राप्यते तेन प्रस्तुताऽन्तरं सातिरेकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणं भवति, शेषघटना त्वोघवदनुसर्तव्या.केवलमत्र पारभविकमायुस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमितं यथासंभवं देवभवमन्कं नरकभवसन्कं वा बध्नातीति वक्तव्यमिति ॥५९४॥

तदेवं समर्थितमष्टानां कर्मणां चतुर्णां भूयस्कारादिबन्धानामेकजीवाश्रितमन्तरम् । समर्थिते च तस्मिन् गतम् "अंतराइ" इत्यनेनोद्दिष्टं द्वितीयाधिकारगतं चतुर्थमन्तरद्वारम् ।

※ आयुर्वर्जसप्तकर्मणां भूयस्कारादिचतुर्बन्धानामेकजीवाश्रिताऽन्तरप्रदर्शकं यन्त्रम् ※

ओघतः—सप्तानाम**वक्तव्य**रसबन्धस्य जघन्यतोऽन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, उत्कृष्टतः पुनर्देशोनार्धपुद्गलपरावर्तमितम् ।
भूयस्कारादिशेषत्रिबन्धानां जघन्यत. १ समय, उत्कृष्टतस्तु **भूयस्काराऽल्पतरबन्धयो**रन्तर्मुहूर्तम्, **अवस्थितबन्धस्य** पुनरसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितम् । (गाथा ५७४ ५७५)

आदेशत.—**भूयस्काराऽल्पतर**बन्धयोरन्तर सर्वमार्गणास्वोघवत् (जघ० १ समयः,उ० अन्तरमन्तर्मु०)
नवरम्—कार्मणाऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्पराया-ऽनाहारकमार्गणास्वन्तर नास्ति । (गाथा ५७६-५७७)

अवस्थितबन्धस्य सूक्ष्मसम्परायाऽपगतवेदवर्ज १६८ मार्गणासु जघन्यतोऽन्तर १ समय, उत्कृष्टतस्त्वेवम्→
तिर्यगोघ० एकेन्द्रियौघ० सूक्ष्मैकेन्द्रियौघ. निगोदौघ० पृथ्व्यादिचतुरोघ०४, सूक्ष्मपृथ्व्यादिपञ्चौघ० ५, वनौघ०-काययोगौघ० नपुंसकवेद० मत्यज्ञान० श्रुताज्ञान० असयम० अचक्षुर्दर्शन० भव्याऽभव्य० मिथ्यात्व० असंज्ञि=२४ } असङ्ख्य लोकाः (गाथा ५७८-५७९)
कार्मणानाहारकद्वये=२→ → → → → → १समयः
(गाथा ५८०-५८१) शेष १४२ मार्गणासु→ → → → → देशोनस्वोत्कृष्टकायस्थितिः

अवक्तव्यरसबन्धस्य पञ्चमनोयोग० पञ्चवचनयोग० काययोगौदारिकयोग० अवेद० शुक्ललेश्या० उपशम=१५ अन्तर नास्ति, लोभे **मोहनीयस्यान्तरं** नास्ति, शेष२० मार्गणासु तु जघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तम् । (गाथा ५८१-५८२)
उत्कृष्टान्तरं पुनरेवम्— (गाथा ५८२ ५८३)
अचक्षुर्दर्शनभव्य० २→ओघवत्
त्रिमनुष्य० ३→पूर्वकोटिपृथक्त्वम्
शेष १५=द्विपञ्चे० द्वित्रस. चतुर्ज्ञान०४, सयमौघ० चक्षुरवधिद० सम्यक्त्वौघ-क्षायिक० संज्ञि० आहारि० } → देशोनस्वोत्कृष्टकायस्थितिमितम्

। इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे द्वितीये भूयस्काराधिकारे चतुर्थमन्तरद्वारं समाप्तम्।

* आयुषो भूयस्कारादिचतुर्बन्धानामेकजीवाश्रिताऽन्तरप्रदर्शकं यन्त्रम् *

ओघतः—आयुषोऽवक्तव्यरसबन्धस्य **जघन्यतो**ऽन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धाना तु १ समयः।
उत्कृष्टतः—अवस्थितबन्धस्याऽसङ्ख्येयलोकाः, भूयस्काराऽल्पतराऽवक्तव्यबन्धानां पुनःसाधिक३३सागरो०।(गाथा ५७४-५७५)
आदेशतः—**अवक्तव्यस्य** सर्वमनोवचोभेदवैक्रियाहारकतन्मिश्रयोगसर्वकषायसास्वादन (१८) मार्गणासु अन्तरं नास्ति।
शेषासु १४५ मार्गणासु जघन्यतोऽन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थितबन्धाना सर्वासु १६३ मार्गणासु जघन्यतः १ समयः, उत्कृष्टतो यन्त्रकादवसेयम्।

	भूयस्कारादिचतुर्बन्धानाम् (७१ मार्गणासु)			अवस्थितस्य (शेष ९२ मार्गणासु)		भूयस्काराऽल्पतराऽवक्तव्य ३ बन्धानाम् (शेष ९२ मार्गणासु)			
उ० अन्तरम् →	दशोन ६ मासा	१/३ भूभवस्थितिः	अन्तर्मु० 卐	असंख्यलोका	देशोन-स्वकायस्थिति	साधिक भवस्थितिः	१ १/३ भूभव स्थितिः	साधिक ५५ पल्यो०	साधिक ३३ सागरो०
गति०	सर्वनारक सर्वदेव० १८			तिर्यगोघ० १	सर्वपञ्चे० ति०४सर्व-मनुष्य४-८	सर्वतिर्यग्. ५ सर्वमनुष्य०४ =९			
इन्द्रिय०				एकेन्द्रियोघ-सूक्ष्मैकेन्द्रियोघ० २	शेष०१७	सर्वके०७ सर्वविकल.९अपर्या.पञ्चे-१७			द्विपञ्चे २
काय०				पृथ्व्यादिचतुरोघ.४,तत्सूक्ष्मौघ.४,वनौघ०निगोदौघ. तत्सूक्ष्म०११	शेष० ३१	पृथ्व्यादिपञ्चकायसर्वभेद ३९ अपर्या० त्रस०=४०			द्वित्रस २
योग०		औदा० १	सर्वमनोवचो.औ.मिश्र.वैक्रिय आहा.तन्मिश्र१४	काययोग० १			काययोग० १		
वेद०		देशोन१/३ पूर्वकोटिः		नपु० १	स्त्री-पुं. २			स्त्री०.१	नपुं०पु२
कषाय०			सर्व० ४						
ज्ञान०	विभङ्ग० ★ १	मनःपर्यव १		अज्ञानद्विक २	त्रिज्ञान. ३				त्रिज्ञान ३ द्व्यज्ञान२-५
संयम०		संयम.० सामा.छेदो परि देश५		असंयम० १					असंयम० १
दर्शन०				अचक्षु० १	चक्षुरवधि २				सर्व० ३
लेश्या०	सर्व ले ६								
भव्य०				सर्व० २					सर्व ०२
सम्य०			सास्वा० १	मिथ्या० १	सम्य.क्षा० वेदक० ३			साधिक पूर्वकोटिः	सम्य०वेदक क्षा.मिथ्या४
संज्ञि०				असंज्ञि० १	संज्ञि० १			असंज्ञि.१	संज्ञि० १
आहारि					आहारि.१				आहारि० १
सर्वा-	४४+१	१+६	१९	२४	६८	६६	१	१+१	२३
गाथाङ्कः-	५८६–९	५८६–८	५८७	५९०–१	५९१	५९२	५९३	५९३–४	५९४

卐औदारिकमिश्रवर्जसर्वमनोयोगादि १८ मार्गणासु अवक्तव्यस्याऽन्तरं प्रागेव निषिद्धमिति। (गाथा ५८४)
★विभङ्गज्ञानभेदे भूयस्कारादिचतुर्बन्धानामन्तरं देशोनकायस्थितिप्रमाणं मतान्तरेण देशोनषण्मासाः। (गाथा ५८९)

॥ अथ पञ्चमं भङ्गविचयद्वारम् ॥

गतमेकजीवाश्रितमन्तरद्वारम् । इतो नानाजीवाश्रितानि द्वाराणि । तत्रादौ क्रमप्राप्ते 'भंग-विचयो' इत्यनेनोद्दिष्टे पञ्चमद्वारे भङ्गविचयः प्रस्तूयते । अत्र ग्रन्थकारो भङ्गविचयोत्पत्त्यर्थमादौ भूयस्कारादिबन्धानां मध्ये ध्रुवाध्रुवपदानि प्रदिदर्शयिषुः प्रथममोघतस्तानि दर्शयति—

सत्तण्ह अवत्तव्वो भजणीओ अत्थि सेसपया ।
णियमा हवन्ति सव्वे पयाउगस्स हविरे णियमा ॥५९५॥ [उपगीतिः]

(प्रे०) '**सत्तण्ह**' इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनामवक्तव्यरसबन्धो भजनीयोऽस्ति, कदाचिल्लभ्यते, कदाचित्तु नेत्यर्थः, अध्रुवपदमेतदिति यावत् । कुतः ? उच्यते—सप्तानामवक्तव्यरसबन्धस्य निर्वर्तका उपशान्तमोहादिगुणं प्राप्य निपतन्तो जीवाः, ते च स्वल्पतराः संख्येया एव सन्ति, एकजीवाश्रित उत्कृष्टोऽपि तस्य कालः समयमात्रस्ततस्तन्निर्वर्तकाः कादाचित्काः, तेन सप्तानामवक्तव्यबन्धोऽपि कादाचित्कः, अतः स नानाजीवापेक्षयाऽध्रुवः । अथ शेषबन्धानामाह—'**सेसपया**' इत्यादि, 'शेषपदानि'-शेषा भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थिताख्यास्त्रयो बन्धा नियमात् भवन्ति, ओघचिन्तायां तन्निर्वर्तकानां न कदाचिदभावो लभ्यत इत्यर्थः, ध्रुवपदान्येतानीति यावत् । कथम् ? इति चेत्, उच्यते—सप्तानां भूयस्कारादित्रिविधबन्धः सूक्ष्मादिसर्वजीवानां भवितुमर्हति, तत्राऽवस्थितबन्धस्यैकजीवाश्रितान्तरस्यासंख्येयलोकनभःप्रदेशसमयप्रमितत्वेऽपि, यत्र तन्निर्वर्तका असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा अनन्ता वा लभ्यन्ते तत्र ते सर्वदा प्राप्यन्ते, अत्र तु तन्निर्वर्तका अनन्ताः, ततस्ते सार्वदिकाः । यत्र सप्तप्रकृतीनां बन्धः सर्वदा लभ्यते तत्र तासां भूयस्कारबन्धोऽल्पतरबन्धश्चापि सर्वदा प्राप्यते, एवं त्रिप्रकारबन्धत्रयस्य ध्रुवत्वमवसेयम् ।

अथाऽऽयुष्कस्य भूयस्कारादिचतुर्बन्धानां ध्रुवाध्रुवत्वं दर्शयति—'**सव्वे**' इत्यादि, आयुष्कस्य 'सर्वाणि पदानि'-भूयस्कारादयश्चत्वारोऽपि बन्धा नियमाद् भवन्ति । कुतः ? सूक्ष्मादिजीवेष्वायुर्बन्धकानां नैरन्तर्येण लाभाद् आयुर्बन्धस्य प्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धस्य द्वितीयादिसमयेषु भूयस्काराल्पतरयोरन्यतरबन्धस्य नियमतः प्रवर्तनाच्च । अवस्थितबन्धस्य ध्रुवत्वं तु सप्तकर्मवद् बोध्यम् ॥५९५॥

तदेवमोघतो भङ्गविचयप्रयोजकानि ध्रुवाध्रुवपदानि प्रतिपाद्य साम्प्रतमादेशतो तानि व्याजिहीर्षुरादौ तावत् सर्वत्र सप्तप्रकृतिसत्काऽवक्तव्यबन्धस्याप्तमनुष्यादिषु भूयस्काराल्पतरयोश्चाऽध्रुवत्वमन्यत्र च तयोर्ध्रुवत्वं निर्वक्ति—

जहि अत्थि अवत्तव्वो आउगवज्जाण तहि स भजणीओ ।
असमत्तणरे विक्कियमीसे आहारदुगअवेएसु ॥५९६॥ [गीतिः]
छेअम्मि य परिहारे सुहुमुवसममीसमासणेसु च ।
भूओगारप्पयरा भजणीआऽत्थि णियमाऽन्नत्थ ॥५९७॥

(प्रे०) **'जहि'** इत्यादि, 'यत्र'-यासु मार्गणासु आयुष्कवर्जानां सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यरसबन्धो-ऽस्ति 'तत्र'-तासु मार्गणासु सोऽवक्तव्यबन्धो भजनीयोऽध्रुव इत्यर्थः, अयं भावः-त्रिमनुष्य-द्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगौदारिकयोगाऽपगतवेद-मत्यादिचतुर्ज्ञान-संयमौघ-त्रिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकोपशम-संज्ञ्याहारिलक्षणासु पञ्चत्रिंशद्मार्गणासु सप्तानां, लोभकषायमार्गणायां पुनर्मोहनीयस्यैवाऽवक्तव्यरसबन्धस्य जायमानत्वेन तत्र तस्य भजनीयता भणितव्या, शेषचतुस्त्रिंशदुत्तरशतमार्गणास्ववक्तव्यबन्धाभावात् न तद्विचारावकाशः ।

अथ भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोरध्रुवत्वं ब्रूते-**'असमत्तणरे'** इत्यादि, या मार्गणाः कादाचित्क्यः, तासु मार्गणासु सप्तानां भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोरपि कादाचित्कत्वम्, ततोऽपर्याप्तमनुष्य-वैक्रियमिश्राऽऽहारकद्विकाऽपगतवेद-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायोपशम-मिश्र-सास्वादनलक्षणास्वेकादशमार्गणासु भूयस्काराऽल्पतरबन्धौ 'भजनीयौ'-अध्रुवौ स्तः । **'णियमा-ऽन्नत्थ'** इति, प्रोक्तापर्याप्तमनुष्याद्येकादशमार्गणाभ्योऽन्यत्र-शेषैकोनषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु सप्तानां भूयस्काराऽल्पतरबन्धौ नियमाद् भवतः, सर्वदा सप्तप्रकृतीनां बन्धसद्भावात् ॥५९६।५९७॥

साम्प्रतमवस्थितरसबन्धस्य ध्रुवत्वमध्रुवत्वं चाह—

तिरिये सव्वेगिंदियणिगोअसेससुहुमेसु वणकाये ।
पुहवाइचउसु तेसिं बायरबायरअपज्जेसु ॥५९८॥
पत्तेअवणे तस्स अपज्जत्ते कायुरालियदुगेसु ।
कम्मणपुंसगेसुं कसायचउगे अणाणदुगे ॥५९९॥
अयतावक्खूसु तहा अपसत्थतिलेसभवियेसुं ।
अभवियमिच्छत्तेसुं असण्णिआहारगियरेसुं ॥६००॥ [उपगीतिः]
सत्तण्हं कम्माणं णियमाहिन्तो अवट्ठिओ अत्थि ।
सेसासु मग्गणासुं चउअहिअसयम्मि भजणीओ ॥६०१॥

(प्रे०) **'तिरिये'** इत्यादि, तिर्यग्गत्योघे, सर्वैकेन्द्रियभेदेषु, सर्वशब्दस्यात्रापि योजनात् सर्वनिगोदभेदेषु, 'शेषसूक्ष्मेषु'-सूक्ष्मपृथ्वीकायादिद्वादशसु सूक्ष्मसत्कभेदेषु, वनस्पतिकायौघे, 'पृथ्व्यादिचतुर्षु'-पृथिवीकायादिवायुकायान्तेषु चतुर्षु पृथ्व्याद्योघभेदेषु **'तेसिं'** तेषां-पृथ्व्यादिचतुर्णां चतुर्षु बादरसत्कौघभेदेषु चतुर्षु चापर्याप्तबादरसत्कभेदेषु बादरपृथ्व्यप्तेजोवायुकायेषु अपर्याप्तबादरपृथ्व्यप्तेजोवायुकायेषु चेत्यर्थः । प्रत्येकवने-प्रत्येकवनस्पतिकायौघे, तस्य-प्रत्येकवनस्पतिकायस्याऽपर्याप्तभेदे, काययोगसामान्यौदारिकौदारिकमिश्रयोगेषु, कार्मणकाययोग-नपुंसकवेदयोः, क्रोधादि-कषायचतुष्के, मत्यज्ञान-श्रुताऽज्ञानरूपेऽज्ञानद्विके, असंयमाऽचक्षुर्दर्शनयोस्तथाऽप्रशस्तकृष्णा-

दित्रिलेश्याभव्यमार्गणाभेदेषु, अभव्यमिथ्यात्वमार्गणयोः, असंज्ञिमार्गणायामाहारकमार्गणायां तथेतरपदादनाहारिमार्गणायां चेत्येतासु चतुःषष्टिमार्गणासु प्रत्येकमायुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां नियमादवस्थितरसबन्धोऽस्ति, कुतः ? आसु मार्गणासु प्रत्येकं जीवानामसंख्यलोकप्रमाणत्वादानन्त्याद् वा। अथ शेषासु प्राह-'**सेसासु**' इत्यादि, सूक्ष्मसम्परायाऽपगतवेदमार्गणाद्वयेऽवस्थितरसबन्धस्याभावादुक्तशेषासु चतुरधिकशतमार्गणासु सप्तानां कर्मणामवस्थितरसबन्धो भजनीयोऽध्रुव इत्यर्थः। कुतः ? एतासु प्रत्येकं जीवानामसंख्येयलोकप्रदेशराशितोऽतीवाऽल्पत्वेन प्रकृतरसबन्धस्य कादाचित्कत्वात् ॥५९८।५९९। ।६००।६०१॥ तदेवमादेशतः सप्तानां भूयस्कारादिचतुर्बन्धानां ध्रुवाध्रुवत्वं विचिन्त्य साम्प्रतमायुष्कस्य तदेवाऽऽह—

जासु अगुरुअणुभागो सव्वद्धाउस्स अत्थि तासुं से।
चउरो वि पया णियमा हवन्ति सेसासु भजणीआ ॥६०२॥

(प्रे०) '**जासु**' इत्यादि, यासु मार्गणास्वायुष्कस्याऽनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकालः सर्वाद्धाऽस्ति, तासु मार्गणासु तस्य चत्वार्यपि पदानि-चत्वारोऽपि भूयस्कारादिरसबन्धा नियमाद् भवन्ति, ध्रुवा इत्यर्थः। ताश्च-प्रागुक्ततिर्यगोघादिचतुःषष्टिमार्गणाभ्यः कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वयं वर्जयित्वा शेषा द्वाषष्टिमार्गणा इति। शेषैकाधिकशतमार्गणास्वायुष्कस्य भूयस्कारादयश्चत्वारोऽपि रसबन्धा भजनीयाःअध्रुवाः, आयुर्बन्धकानां कादाचित्कत्वात्। विनेया ध्रुवाध्रुवपदानि ज्ञात्वा वक्ष्यमाणकरणसूत्रेण स्वयमेव भङ्गा आनेतुं समर्था इत्येवं मन्यमानेन ग्रन्थकारेण भङ्गा न प्रदर्शिताः। किन्तु सुबोधार्थमत्राऽस्माभिः कियन्तोऽभिधीयन्ते। तद्यथा–ओघत आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनां प्रत्येकमवक्तव्यरसबन्धका अध्रुवा भणिताः, शेषभूयस्कारादित्रयाणां तु ध्रुवा उक्ताः, तथा च सत्यध्रुवपदमेकमिति कृत्वा द्वौ भङ्गौ प्राप्तौ, ध्रुवपदत्रयप्रयुक्तस्त्वेको भङ्गः प्राप्त इत्येवमोघतो ज्ञानावरणादीनां प्रत्येकं त्रयो भङ्गा जाताः। तद्यथा–ज्ञानावरणादिसप्तान्यतमस्य कर्मणो रसस्य स्यादनेके भूयस्कारबन्धकाः अनेकेऽल्पतरबन्धकाः अनेकेऽवस्थितबन्धका इति प्रथमः। यदाऽवक्तव्यबन्धकानां सर्वथाऽभावो विद्यते तदाऽयं भङ्गः प्राप्यते। द्वितीयभङ्गस्तु स्यादनेके भूयस्कारबन्धकाः अनेकेऽल्पतरबन्धकाः अनेकेऽवस्थितबन्धकाः एकोऽवक्तव्यबन्धक इति। तृतीयः पुनः स्यादनेके भूयस्कारबन्धकाः अनेकेऽल्पतरबन्धकाः अनेकेऽवस्थितबन्धकाः अनेकेऽवक्तव्यबन्धका इति। आयुर्विषये त्वोघचिन्तायामेक एव भङ्गः, भूयस्कारादिचतुर्बन्धानामपि ध्रुवत्वात् ,पदानामनेकत्वेऽपि तेषां ध्रुवत्वे एक एव भङ्ग इति नियमात्। तदुच्चारणा त्वित्थम्-आयुष्कस्यानेके भूयस्कारबन्धका अनेकेऽल्पतरबन्धकाः अनेकेऽवस्थितबन्धकाः अनेकेऽवक्तव्यबन्धका इति। अथ मार्गणास्थानेषु भङ्गविचयः प्रदर्श्यते। तद्यथा–काययोगसामान्यौदारिककाययोगाऽचक्षुर्दर्शनभव्याऽऽहारकलक्षणासु पञ्चमार्गणास्वोघवद् ज्ञेयः। लोभकषायमार्गणायां मोहनीयस्याऽऽयुष्कस्य च चतुर्णां भूयस्कारादिबन्धानां भङ्गविचय ओघवद्

द्रष्टव्यः, शेषषट्कर्मणामवक्तव्यरमबन्धवर्जबन्धत्रयस्य ध्रुवत्वादेक एव भङ्गो ज्ञेयः, समुत्कीर्तना त्वेवम्- अनेके भूयस्कारबन्धकाः, अनेकेऽल्पतरबन्धकाः, अनेकेऽवस्थितबन्धका इति । तिर्यग्गत्योघ-सर्वैकेन्द्रिय-बादरपर्याप्तभेदवर्जपृथ्वीकायसत्कषड्भेदा-ऽप्कायसत्कषड्भेद-तेजःकायसत्कषड्भेद-वायुकायसत्कषड्भेद--पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायवर्जवनस्पतिकायसत्कदशभेदौ--दारिकमिश्रयोग--कार्मणकाययोग-नपुंसकवेद-क्रोधादित्रिकषाय-मत्यज्ञान--श्रुताज्ञाना-ऽसंयम--कृष्ण-नील- कापोतलेश्याऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्य-नाहारिरूपास्वष्टपञ्चाशन्मार्गणासु सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यबन्धो नास्ति, शेष-भूयस्कारादिरसबन्धकानां तु निरन्तरं बन्धप्राप्तेस्त्रीणि पदानि ध्रुवाणीत्येवमेक एव भङ्गः प्राप्यते । कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वयं वर्जयित्वाऽनन्तरोक्तासु शेषषट्पञ्चाशन्मार्गणास्वायुष्कस्य चतुर्णां भूयस्कारादिबन्धानां ध्रुवत्वादेक एव भङ्गः प्राप्यत इति ।

सर्वनारक-सर्वदेव-सर्वपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेद-सर्वविकला-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-बादरपर्याप्तपृथ्व्यादि-चतुर्भेद-पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तत्रसकाय-वैक्रियकाययोग-स्त्री-पुंवेद-- विभङ्गज्ञान-सामायिक-देशविरति-तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वलक्षणासु सप्तषष्टिमार्गणासु सप्तानां भूयस्कारा-ऽल्पतरबन्धकानां ध्रुवत्वमवस्थितबन्धकानां तु भजनीयता, अवक्तव्यबन्धकास्तु न सन्ति, ततश्च द्वे पदे ध्रुवे एकमध्रुवम्, एवं त्रयो भङ्गाः । भङ्गोच्चारणं तु पूर्ववत् । अत्रायुःकर्मणश्चतुर्णामपि पदानाम-ध्रुवत्वात् ध्रुवपदस्य चाभावादशीतिर्भङ्गाः प्राप्यन्ते । प्रथमाधिकारगतभङ्गविचयद्वारे अस्माभिर्भङ्गानयनार्थं करणं विस्तरतः प्रतिपादितम्, तथाऽपि विनेयानां स्मृत्यर्थमत्र पूर्वोक्तकरणानुसारेण किञ्चित् प्रदर्श्यते-अत्राऽऽयुष्कस्य भूयस्कारादीनि चत्वारि पदानि भजनीयानि, ततश्चादौ भजनीय-पदानामुत्क्रमेण संख्या स्थापनीया, तदधस्ताच्च क्रमेण स्थाप्या । न्यासश्चैवम् $\begin{matrix}४\text{-}३\text{-}२\text{-}१\\१\text{-}२\text{-}३\text{-}४\end{matrix}$ तत उप-रितनो राशिरधस्तनेन राशिना भक्तव्यः, प्राप्ता लब्धिस्तु क्रमेण $\frac{४}{१},\frac{३}{२},\frac{२}{३},\frac{१}{४}$ ततश्च प्रथमाङ्क एकसंयोग-भङ्गकत्वेन प्राप्यते, अत एव एकसंयोगेन चत्वारो भङ्गा लब्धाः, प्रथमाङ्कः द्वितीयसंख्यया विहन्यते तदा द्विसंयोगविकल्पाः प्राप्यन्ते । अत एव द्विसंयोगेन षड्भङ्गाः प्राप्ताः । न्यासश्चैवम् $\frac{४}{१}\times\frac{३}{२}=६$ । प्रथमत्रिसंख्याः परस्परेण विहन्यन्ते तदा त्रिसंयोगविकल्पाः प्राप्यन्ते, अत एव त्रिसं-योगेन चत्वारो भङ्गा लब्धाः । न्यासः $\frac{४}{१}\times\frac{३}{२}\times\frac{२}{३}=४$ । प्रथमचतुःसंख्याः प्रस्तुते चतूरूपाः, ताः सर्वा अपि संख्याः परस्परेण विहन्यन्ते तदा चतुःसंयोगविकल्पाः प्राप्यन्ते । अत एव चतुःसंयोगेन एक एव भङ्गः प्राप्तः । न्यासः $\frac{४}{१}\times\frac{३}{२}\times\frac{२}{३}\times\frac{१}{४}=१$ । अत्र पुनरेकानेकभेदाभ्यां भङ्गा इष्यन्ते अत एकसंयोगभङ्गा-नामधस्तात् द्विकं स्थाप्यम्, द्विसंयोगभङ्गानामधस्तात् चतुष्कं, त्रिसंयोगभङ्गानामधस्तात् अष्टकं, चतुःसंयोगभङ्गानामधस्तात् षोडशकं स्थापनीयमुत्तरोत्तरं द्विगुणमिति वचनात् ।

न्यासश्चैवम्— एकसंयोगभङ्गाः—	द्विसंयोगभङ्गाः—	त्रिसंयोगभङ्गाः—	चतुःसंयोगभङ्गाः—
४	६	४	१
×२	×४	×८	×१६
८	२४	३२	१६

अत्रैकमपि पदं ध्रुवं न विद्यते, अत एको भङ्गो न प्रक्षेपणीयः, ततः सर्वमीलने अशीतिर्भङ्गाः सञ्जाताः । भङ्गोच्चारणं तु स्वयमेव प्राग्वत् कर्तव्यमिति । अनया नीत्याऽग्रेऽपि भङ्गा आनेतव्याः । अपर्याप्तमनुष्य वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्र-मिश्रदृष्टि-सास्वादनलक्षणासु षट्सु मार्गणासु सप्तानामवक्तव्यबन्धो न भवति, मार्गणानां सान्तरत्वेन भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थितबन्धानां त्वध्रुवत्वम्, ततस्त्रीणि पदान्यध्रुवाणि । ततः सप्तकर्मणां प्रत्येकं षड्विंशतिर्भङ्गाः संजाताः । आयुष्कस्य पुनर्भूयस्कारादिचतुर्विधबन्धा अपर्याप्तमनुष्या-ऽऽहारका-हारकमिश्र-सास्वादनलक्षणासु चतसृषु मार्गणासु भजनीयाः, ततश्चतुर्णां पदानामध्रुवत्वेनाशीतिर्भङ्गा जाताः । वैक्रियमिश्र-मिश्रदृष्टि-मार्गणाद्वये आयुष्कस्य बन्धो न भवति । छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिमार्गणाद्वये स्वयमेवाष्टकर्मणां भङ्गा आनेतव्याः । त्रिमनुष्य-द्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-चतुर्ज्ञान-संयमौघ-चक्षुरवधिदर्शन-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-संज्ञिलक्षणास्वष्टाविंशतिमार्गणासु सप्तकर्मणां भूयस्कारा-ऽल्पतरबन्धयोर्ध्रुवत्वम्, अवस्थिताऽवक्तव्यबन्धयोरध्रुवत्वम्, ततश्च द्वे पदे ध्रुवे द्वे च पदे अध्रुवे, तथा च सप्तकर्मणां प्रत्येकं नव नव भङ्गा जाताः । आयुष्कस्य चतुर्णां भूयस्कारादिबन्धानामध्रुवत्वम्, ततश्च तस्याशीतिर्भङ्गाः संजाता इति ।

उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां सप्तकर्मणां चतुर्णामपि भूयस्कारादिबन्धानामध्रुवत्वम्, ततः प्रत्येकमशीतिर्भङ्गाः संप्राप्ताः । अपगतवेदमार्गणायां सप्तकर्मणां भूयस्काराऽल्पतराऽवक्तव्यबन्धानामध्रुवत्वम् ततः षड्विंशतिर्भङ्गाः संजाताः । सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां मोहनीयायुर्वर्जषट्प्रकृतीनां भूयस्कारा-ऽल्पतरबन्धयोरध्रुवत्वम्, शेषपदद्वयं तु नास्ति, ततः षट्प्रकृतीनां प्रत्येकमष्टौ भङ्गा जाताः ॥६०२॥

प्रस्तुते समुदितभङ्गसंख्याया आनयनार्थं करणसूत्रमाह—

णेया अधुवपयसमा ठविय तिसंखा परोप्परऽब्भत्था ।
भंगा धुवसहिआणं ते धुवरहिआण एगूणा ॥६०३॥

(प्रे०) 'णेया' इत्यादि, यावन्ति अध्रुवपदानि सन्ति, तावद्वारमङ्कत्रयं न्यस्य परस्परं गुणनेन यत्संख्या प्राप्ता तत्संख्याप्रमाणा ध्रुवपदे सति भङ्गा वेदितव्याः, ध्रुवपदविरहे तु एकेन न्यूनास्तत्संख्यया तुल्या भङ्गा वेदितव्याः । अथोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां घटना क्रियते-अत्र भजनीयपदानि चत्वारि सन्ति, अतस्तावद्वारं त्रिकेण सह गुणनं कर्तव्यम् । ततश्च त्रिकं चतुर्वारं स्थापयित्वा परस्परं गुण्यते । न्यासः-३×३×३×३=८१ जाता एकाशीतिः, किन्त्विह ध्रुवपदमेकमपि न विद्यते ततश्चैकेन न्यूना तत्संख्या कार्या, अतोऽशीतिर्भङ्गाः संप्राप्ता इति । एवमन्यत्रापि घटना कर्तव्येति ॥६०३॥

तदेवं समर्थितोऽष्टप्रकृतीनां भूयस्कारादिचतुर्विधबन्धानां नानाजीवाश्रितः भङ्गविचयः । समर्थिते च तस्मिन् गतं 'भंगविचयो' इत्यनेनोद्दिष्टं द्वितीयाऽधिकारगतं पञ्चमं भङ्गद्वारम् ।

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे द्वितीये भूयस्काराधिकारे पञ्चमं भङ्गविचयद्वारं समाप्तम् ॥

* अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिसम्बन्धे भङ्गविचयप्रदर्शकं यन्त्रम् *					
आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकम्					आयुषः
कुत्र ?	भूयस्कारा-ऽल्पतरपद०	अवस्थित०	अवक्तव्यपदेऽसति, भङ्गा	अवक्तव्यपदे सति भङ्गाः	भूयस्कारादिसर्वपदानि–
ओघतः—	ध्रुव०	ध्रुव०	अध्रुव०=३	--	ध्रुव० भङ्ग-१
सान्तरमार्गणा. ११ (आयु[illegible]–[illegible]मार्गणाः) [illegible]पर्याप्तमनु० वैक्रिय मिश्र० आहा[illegible] तन्मिश्र० [illegible]वेद० *छेदो० * परि० सूक्ष्मस० उपशम० [illegible]	अध्रुव०	अध्रुव०	अध्रुव०=८०	२६	अध्रुव० „८०
[illegible] तिर्यगो-[illegible] [illegible]मार्ग०)	ध्रुव०	ध्रुव०	अध्रुव-ओघ-वत् ३ भङ्गा	१	ध्रुव० „ १
शेष ६९ निरन्तरमार्गणासु-	ध्रुव०	अध्रुव०	अध्रुव०-२७	९	अध्रुव० ८०

* [illegible]मार्गणाद्वयेऽष्टप्रकृतीनां भूयस्कारादिबन्धकानां भङ्गाः स्वयमेवानेतव्याः ।



॥ अथ षष्ठं भागद्वारम् ॥

गतं भङ्गविचयद्वारम् । साम्प्रतं क्रमप्राप्तं 'भागो' इत्यनेनोद्दिष्टं षष्ठं भागद्वारं विवरिषुरादौ तावदोघतो भूयस्कारादिसम्बन्धकानां भागान् प्राह—

> अट्ठण्ह बंधगा खलु भूओगारस्स साहियदुभागो ।
> अप्पयरस्स दुभागो देसूणो बंधगा णेया ॥६०४॥
> णेया असंखभागो सेसाण पयाण बंधगा णवरं ।
> सत्तण्ह अवत्तव्वस्स हुन्ति भागो अणंतयमो ॥६०५॥

(प्रे०) 'अट्ठण्ह' इत्यादि, अष्टानां प्रकृतीनां भूयस्कारस्य बन्धकाः, खलुः वाक्यालङ्कारे, 'साधिकद्विभागः'-स्वस्वभूयस्कारादिसर्वबन्धकापेक्षया साधिकार्धाः । अयं भावः–अष्टप्रकृतीनां प्रत्येकं स्वस्वभूयस्कारादिचतुर्विधबन्धानां निर्वर्तकाऽपेक्षया तत्प्रकृतीनां भूयस्कारबन्धस्य निर्वर्तकाः साधिकाऽर्धा इति । 'अप्पयरस्स'–अल्पतरस्य बन्धकाः, 'देशोनो द्विभागो' देशोनाऽर्धप्रमाणा ज्ञेयाः । 'सेसाण पयाण' इति शेषयोः पदयोः-अवस्थिताऽवक्तव्यलक्षणयोर्बन्धकाः 'असंख्यातभागः'-

एकाऽसंख्यातभागप्रमाणा ज्ञेयाः। तत्र विशेषमाह–'णवरं' इत्यादि, सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यस्य बन्धका 'अनन्ततमो भागः'-एकाऽनन्ततमभागप्रमाणा भवन्ति। इयमत्र भावना-अष्टप्रकृतीनामवस्थितबन्धस्यैकजीवमाश्रित्य प्रकृष्टान्तरमसंख्येयलोकनभःप्रदेशप्रमितसमयप्रमाणम्, ततः सामान्यतस्तन्निर्वर्तका भूयस्कारादिबन्धकापेक्षयाऽसंख्यलोकभाजितैकासंख्यातभागप्रमाणा भवन्ति, सप्तकर्मणां पुनरवक्तव्यबन्धः श्रेणितः पततामेव संभवति, ततस्तन्निर्वर्तकाः प्रकृष्टतोऽपि संख्याताः, तथा च ते भूयस्कारादिबन्धकापेक्षया अनन्तैकभागमात्रा भवन्ति। आयुर्बन्धनतां सर्वजीवानामायुर्बन्धकालस्य प्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धो भवति, आयुर्बन्धाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणकालस्य शेषाऽसंख्यसमयान् यावत् भूयस्कारादिविजातीयबन्धाः प्रवर्तन्ते, ततस्तदवक्तव्यस्य बन्धका भूयस्कारादिसर्वबन्धकापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तभाजितैकासंख्यातभागप्रमाणाः सुतरां घटन्ते। इत्थमवस्थितबन्धकानामवक्तव्यबन्धकानां चात्यल्पत्वेन संसारस्थजीवानां मुख्यतया भूयस्काराऽल्पतरयोर्बन्धः प्रवर्तते, तयोर्मध्येऽपि भूयस्कारसत्कबन्धकालोऽधिकः। अत एवाष्टानां भूयस्कारबन्धकाः साधिकाऽर्धभागप्रमाणाः, अल्पतरबन्धकास्तु देशोनाऽर्धभागप्रमिता भवन्तीति ॥६०४।६०५॥

तदेवमोघतोऽष्टप्रकृतीनां चतुर्णां भूयस्कारादिबन्धकानां भागप्ररूपणां विधाय, साम्प्रतमादेशत आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनां तस्याश्चिकीर्षया प्रथमं तावद् भूयस्काराऽल्पतरयोर्बन्धकानां भागप्ररूपणां कर्तुमुपक्रमते—

घाईण संखभागा अप्पयरस्स गयवेअसुहमेसुं।
भूगारस्स हवन्ते संखंसो वच्चयो अघाईणं ॥६०६॥ [गीतिः]
सेसासुं सत्तण्हं भूओगारस्स बंधगा णेया।
अहियदुभागोऽप्पयरस्स दुभागो हुन्ति देसूणो ॥६०७॥
णवरं सम्मत्ती चिअ जहऽत्थि गोअस्स तत्थ विण्णेया।
अप्पयरस्स दुभागोऽब्भहियो इयरस्स देसूणो ॥६०८॥

(प्रे०) 'घाईण' इत्यादि, अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणाद्वये घातिप्रकृतीनामल्पतरस्य बन्धकाः संख्यातभागाः-संख्यातबहुभागप्रमाणाः सन्ति। अत्राऽपगतवेदमार्गणायां चतसृणां घातिनीनां, सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां पुनस्त्रिघातिनीनामल्पतरबन्धका विज्ञेयाः। भूयस्कारस्य बन्धकाः 'संख्यांशः'-संख्यातैकभागमात्रा भवन्ति। अघातिप्रकृतीनां व्यत्ययो ज्ञेयः, ततश्चैवम्-अघातिप्रकृतीनां भूयस्कारस्य बन्धकाः संख्यातबहुभागप्रमाणाः, अल्पतरस्य बन्धकाः पुनरेकसंख्यातभागमात्राः सन्तीत्यर्थः। भावना पुनरेवम्–एतद्मार्गणाद्वये घातिप्रकृतीनामल्पतरबन्धकत्वेनाऽघातित्रयस्य च भूयस्कारबन्धकत्वेन सर्वे क्षपकाः सर्वे उपशमश्रेणेरारोहकाश्च सन्ति ते च स्वस्वमार्गणावर्तिबन्धक-

जीवापेक्षया संख्यातबहुभागप्रमाणाः, कुतः ? उच्यते—अत्र निरुक्तरसबन्धाद्विजातीयरसबन्धकाः श्रेणेरवरोहका एव ते चैकसंख्येयभागमात्रा इति कृत्वा ।

अथ शेषमार्गणासु सप्तप्रकृतीनां भूयस्काराऽल्पतरयोर्बन्धकानां भागप्ररूपणां सापवादं विदधाति—'**सेसासु**' इत्यादि, शेषासु-अपगतवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वयवर्जशेषाष्टषष्ट्युत्तरशत-मार्गणासु सप्तानां प्रकृतीनां भूयस्कारस्य बन्धका 'अधिकद्विभागः'-साधिकाऽर्धप्रमाणा ज्ञेयाः । अल्पतरस्य बन्धका 'देशोनो द्विभागः'-देशोनाऽर्धप्रमाणा भवन्ति । घटना त्वोघवत्कार्या ।

साम्प्रतं यासु मार्गणासु केवलमुच्चैर्गोत्रस्य बन्धो भवति । तत्र गोत्रकर्मसत्कभूयस्काराऽल्पतरयोर्भागप्ररूपणायां विशेषं प्रतिपादयति—'**णवरं**' इत्यादि, णवरंशब्दोऽपवादं सूचयति यत्र गोत्रस्य, भूयस्काराऽल्पतरयोर्बन्धका इति प्रक्रमाद् गम्यते, सम्यग्दृष्टय एव न तु मिथ्यादृष्ट्या-दयोऽपि, अत्र सम्यग्दृष्टिपदेन मिश्रदृष्टयोऽपि ग्राह्याः, तेषामपि नीचैर्गोत्रस्याऽबन्धात् । 'तत्र' तासु मार्गणासु विज्ञेयाः के ? इत्याह—'**अप्पयरस्स**' इत्यादि, अल्पतरस्य बन्धकाः 'द्विभागो-ऽभ्यधिकः' साधिकाऽर्धभागप्रमाणाः, '**इयरस्स**' इतरस्य भूयस्कारस्य बन्धकाः पुन'र्देशोनः'-देशो-नाऽर्धभागप्रमाणा विज्ञेयाः । कथम् ? इति चेत्, उच्यते—सम्यग्दृष्ट्यादयो जीवा उच्चैर्गोत्रस्यैव बन्धं विदधति, उच्चैर्गोत्रस्य च शुभप्रकृतित्वेन संक्लेशकालेऽल्पतर एव रसो बध्यते । अत्रापि विशुद्धि-कालतो संक्लेशकालस्याधिक्यादेतासु मार्गणासु गोत्रस्याऽल्पतररसस्य बन्धकाः साधिकाऽर्ध-प्रमाणाः, भूयस्कारस्य बन्धकाः पुनर्देशोनाऽर्धप्रमाणाः प्ररूपिता इति । अपगतवेदसूक्ष्मसम्परायमार्ग-णाद्वयस्य प्राग्निर्दिष्टत्वेन तद् वर्जयित्वा केवलसम्यग्दृष्टिसत्का मार्गणा ज्ञेयाः, ताःपुनरेवम्-पञ्चानुत्तरा-ऽऽहारकद्विक-चतुर्ज्ञान-संयमौघ--सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिक--देशविरत्य-वधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-वेदक-क्षायिकौ-पशम-मिश्रलक्षणा द्वाविंशतिमार्गणा इति ॥६०६।६०७।६०८॥

अधुना सप्तानामवस्थितरसबन्धकानां भागप्ररूपणां कुर्वन्नादौ तावद् यासु मार्गणासु संख्येयजीवा एव सन्ति, तासु मार्गणासु प्रकृतबन्धका एकसंख्यातभागमात्रा इति दर्शयन्नाह—

पज्जणरमणुस्सीसुं सव्वत्थाहारजुगलजोगेसुं ।
मणणाणसंयमेसुं समइयछेअपरिहारेसुं ॥६०९॥
सत्तण्ह बंधगा खलु होअन्ति अवट्ठिअस्स संखंसो ।
सेसासु मग्गणासुं णेया भागो असंखयमो ॥६१०॥

(प्रे०) '**पज्जणर**' इत्यादि, सप्तप्रकृतीनामवस्थितस्य अवस्थितरसस्य बन्धकाः, 'खलु' पाद-पूर्तौ । संख्यांशः-एकसंख्यातभागप्रमिता भवन्ति । कुत्र ? इत्याह—'**पज्ज**' इत्यादि, पर्याप्तमनु-ष्य-मानुषी-सर्वार्थसिद्धदेवाऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रयोग—मनःपर्यवज्ञान—संयमौघ--सामायिक-छेदोप-स्थापनीय--परिहारविशुद्धिलक्षणासु दशमार्गणास्विति ।

अथ शेषमार्गणासु प्राह-'**सेसासु**' इत्यादि, शेषासु-अपगतवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वयवर्जित-

स्थितरसबन्धप्रायोग्याऽष्टपष्ट्युत्तरशतमार्गणाभ्योऽनन्तरोक्तपर्याप्तमनुष्यादिदशमार्गणा वर्जयित्वाऽष्टपञ्चाशदुत्तरशतमार्गणासु सप्तप्रकृतीनामवस्थितरसबन्धका इत्यनुवर्तते। कतिभागप्रमाणाः ? इत्याह-'**भागो असंखयमा**' एकाऽसंख्यातभागप्रमाणा ज्ञेयाः। भावना च प्राग्वद् ॥६०९।६१०॥

साम्प्रतमवक्तव्यबन्धप्रायोग्यषट्त्रिंशद्मार्गणास्ववक्तव्यरसबन्धकानां भागप्ररूपणां चिकीर्षुरादौ तावद् यासु मार्गणासु संख्येया जीवाः सन्ति तासु शेषासु चाह—

पज्जणरमणुस्सीसुं अवेअमणणाणसंयमेसुं च।
होअन्ति अवत्तव्वस्साउगवज्जाण संखंसो ॥६११॥
कायुरललोहअणयणभवियाहारेसु उण अणंतंसो।
सेसासु मग्गणासुं णेया भागो असंखयमो ॥६१२॥

(प्रे०) '**पज्जणर**' इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य मनुष्ययोनिमत्यपगतवेद-मनःपर्यवज्ञानसंयमौघलक्षणासु पञ्चमार्गणासु आयुष्कवर्जानां सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यरसबन्धकाः सङ्ख्यांशः-एकसंख्यातभागमात्रा भवन्ति। कुतः ? इति चेत्, उच्यते-उपशमश्रेणितः पततां जीवानामवक्तव्यरसबन्धो भवति, तत्तद्मार्गणायां शेषजीवाः प्रकृतबन्धकापेक्षया संख्येयगुणाः ततः सप्तानामवक्तव्यरसबन्धका एकसंख्यातभागप्रमिता भवन्ति। यासु मार्गणासु जीवा अनन्ताः, प्रकृतबन्धकाश्च संख्यातत्वेन स्वस्वमार्गणावर्तिजीवापेक्षया एकाऽनन्तभागमात्रा भवन्ति तासु मार्गणासु प्राह-'**कायुरल**' इत्यादि, काययोगौदारिकयोगलोभकषायाऽचक्षुर्दर्शनभव्याऽऽहारकलक्षणासु षण्मार्गणासु, 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति' रितिन्यायादत्र लोभकषायमार्गणायां केवलमोहनीयस्य, शेषपञ्चमार्गणासु पुनः सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यरसबन्धका अनन्तांशः-एकाऽनन्तभागप्रमाणा ज्ञेयाः। उक्तशेषासु मार्गणासु जीवा असंख्याताः, सप्तानामवक्तव्यरसबन्धकाः पुनः संख्याताः, ततस्ते मार्गणावर्तिभूयस्कारादिरसबन्धकापेक्षया एकाऽसंख्यातभागप्रमिता भवन्ति, एतदेवाऽऽह-'**सेसासु**' मनुष्यौघादिपञ्चविंशतिमार्गणास्वित्यर्थः, सप्तानामवक्तव्यरसस्य बन्धका असंख्येयतमो भागः एकाऽसंख्यातभागमात्रा ज्ञेयाः। मनुष्यौघादिपञ्चविंशतिमार्गणाः पुनरिमाः-मनुष्यौघ द्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान-चक्षुरवधिदर्शन-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकोपशम संज्ञिलक्षणाः पञ्चविंशतिमार्गणा इति ॥६१२॥ तदेवमादेशतः सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारादिरसबन्धकानां भागप्ररूपणां विधाय साम्प्रतमादेशत आयुष्कस्य भूयस्कारादिरसबन्धकानां तामेव कर्तुकामः प्राह—

भूओगाराईणं चउण्ह आउस्स हुन्ति ओघव्व।
णवरऽत्थि संखभागोऽवत्तव्वावट्ठिआणं तु ॥६१३॥
दुणराणताइआहारजुगलमणणाणसंयमेसु तहा।
सामाइयछेएसुं परिहारे सुहुमखइएसुं ॥६१४॥

(प्रे०) 'भूओगाराइणं' इत्यादि, सर्वासु मार्गणासु आयुष्कस्य चतुर्णां भूयस्कारादीनां बन्धका ओघवद् भवन्ति । इत्थमतिदेशे कृतेऽत्र या काचिदतिप्रसक्तिः, तां निराकरोति-'णवर' इत्यादिना, अवक्तव्याऽवस्थितयोर्बन्धकास्तु संख्यभागः-एकसंख्यातभागप्रमाणाः सन्ति, नत्वोघवदेकाऽसंख्यातभागमात्राः,कुतः? आयुष्कस्य बन्धकानां संख्येयत्वात् । कासु कासु मार्गणास्वित्याह-'दुणर' इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मनुष्ययोनिमत्यानतप्राणता ऽऽरणा-ऽच्युत नवग्रैवेयकपञ्चाऽनुत्तरा-ऽऽहारक-तन्मिश्रयोग-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिक-शुक्ल-लेश्या-क्षायिकरूपास्वेकोनत्रिंशद्मार्गणास्विति । तत्र भूयस्कारस्य बन्धका ओघवत् साधिकद्विभागप्रमाणाः अल्पतरस्य बन्धकाः पुनर्देशोनाऽर्धमात्रा विज्ञेयाः । शेषचतुस्त्रिंशदुत्तरशतमार्गणास्वायुष्कस्य चतुर्णामपि भूयस्कारादिरसबन्धकानां भागा अविशेषेणौघवद् ज्ञेयाः ॥६१३।६१४॥

तदेवं समर्थिताऽष्टप्रकृतीनां भूयस्कारादिबन्धकानां भागप्ररूपणा । समर्थितायां च तस्यां गतम् 'भागो' इत्यनेनोद्दिष्टं द्वितीयाऽधिकारगतं षष्ठं भागद्वारम् ।

※ अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिरसबन्धकभागप्रदर्शकं यन्त्रम् ※

ओघत —अष्टाना भूयस्काररसबन्धकाः साधिकाऽर्धभागप्रमाणा. अष्टानामल्पतररसबन्धका देशोनाऽर्धभागप्रमाणाः । अष्टानामवस्थितरसबन्धका एकाऽसंख्यभागप्रमाणाः । सप्तानामवक्तव्यरसबन्धका एकाऽनन्तभागप्रमाणाः । आयुषोऽवक्तव्यरसबन्धका एकाऽसंख्यभागप्रमाणा. । (गाथा ६०४-६०५)	
आदेशतः— सप्तानां भूयस्कराऽल्पतररसबन्धक० (गाथा ६०६-६०७-६०८) अवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये—चतुर्घातिनामल्पतरबन्धकाः } संख्यातबहुभागा ,भूयस्कारबन्धकाः पुनरेकसंख्यभागमात्राः अघातिना भूयस्कारबन्धकाः } " " " अल्पतरबन्धकाः " " शेष १६८ मार्गणासु—सप्ताना भूयस्कारबन्धकाः साधिकार्धभागप्रमाणाः अल्पतरबन्धकास्तु देशोनार्धभागप्रमाणाः ।	
अपवाद.—पञ्चानुत्तर० ५,आहारकद्विक० २,चतुर्ज्ञान०४,संयमौघ०सामा०छेदो० परिहार० देशविरति० अवधिदर्शन० सम्यक्त्वौघ० क्षायिक० उपशम० वेदक मिश्र० =२२ मार्गणासु ।	गोत्रस्याल्पतरबन्धका:साधिकार्धा. भूयस्कारबन्धकाः देशोनार्धाः
←: सप्तानामवस्थितबन्धक० :→(गाथा ६०९ ६१०) पर्याप्तमनुष्य० मानुषी० सर्वार्थसिद्ध० आहारक० तन्मिश्र० मन पर्यव० संयमौघ० सामा० छेदो० परिहार०=१० } →	एकसंख्यातभागः
शेष १५८ मार्गणासु→	एकाऽसंख्यातभागः
← सप्तानामवक्तव्यबन्धक० .→(गाथा ६११-६१२) पर्याप्तमनुष्य० मानुषी० अवेद० मन.पर्यव० संयमौघ०=५ →	एकसंख्यातभाग.
काययोगौघ० औदा० अचक्षु० भव्य० आहारि०=५ । लोभे१ (केवलमोहनीयस्य)→	एकानन्तभागः
मनुष्यौघ० द्विपञ्चे० २, द्वित्रस०२.सर्वमनोवचो० १०, त्रिज्ञान० ३,चक्षुरवधि० शुक्ल० सम्यक्त्वौघ-क्षायिकोपशम० संज्ञि०=२५ } →	एकाऽसंख्यातभागः
आयुष —भूयस्कारादिचतुर्बन्धानां भागप्ररूपणा ओघवत्—(गाथा ६१३ ६१४ । अपवादः—पर्याप्तमनुष्य० मानुषी० आनतादिदेव० १८, आहा० तन्मिश्र० मन:पर्यव० संयमौघ० सामा० छेदो० परिहार० शुक्ल० क्षायिक०=२९ } →	अवक्तव्याऽवस्थित-बन्धकाः एकसंख्यातभागः

॥इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे द्वितीये भूयस्काराधिकारे षष्ठं भागद्वारं समाप्तम्॥

॥ अथ सप्तमाऽष्टमनवमानि परिमाणक्षेत्रस्पर्शनाद्वाराणि ॥

गतं भागद्वारम् । साम्प्रतं क्रमप्राप्तस्य परिमाण-क्षेत्र-स्पर्शनालक्षणद्वारत्रयस्यातिदेशेन प्ररूपणां कर्तुकाम आदौ तावदेतद्द्वारत्रये ओघत आदेशतश्च सप्तप्रकृतिसत्काऽवक्तव्यरसबन्धस्वामिनां परिमाणं क्षेत्रं स्पर्शनां चाऽघातित्रयसत्कोत्कृष्टानुभागबन्धस्वामिनां परिमाणादिवदतिदिशन्नाह—

परिमाणखेत्तफोसणदारेसु तहा भवे अवत्तव्वे ।
सत्तण्ह जहा उत्तं गुरुअणुभागे अघाईणं ॥६१५॥

(प्रे०) **'परिमाण'** इत्यादि, परिमाण-क्षेत्र-स्पर्शनाद्वारेषु सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यविषयं नानाजीवाश्रयपरिमाणादिकमिति गम्यते, तथा भवेत् यथाऽघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागपरिमाणादिकं प्रागुक्तम् । भावार्थः पुनरेवम्-प्रथमाधिकारगतपरिमाणद्वारेऽघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानामोघाऽऽदेशाभ्यां यत्परिमाणं निर्दिष्टम् , तत्परिमाणमिहौघाऽऽदेशाभ्यां सप्तानामवक्तव्यरसबन्धस्य भवति, एवमेव क्षेत्रं स्पर्शना च वेदितव्या ।

अत्रातिदेशे बीजं त्विदम्-ओघत आदेशतश्च त्रिमनुष्य-द्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगसामान्यौदारिकयोगावेद-चतुर्ज्ञान-संयमौघ-चक्षुरचक्षुरवधिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघोपशम-क्षायिक-संज्ञ्याहारकलक्षणासु पञ्चत्रिंशद्मार्गणासु सप्तानां लोभकषायमार्गणायां तु केवलं मोहनीयस्याऽवक्तव्यबन्धो भवतीति प्राक् कथितम् । तत्स्वामिनः श्रेणितः पतन्तो जीवाः, ते च परिमाणतः संख्याता एव, तेषां क्षेत्रं स्पर्शना च लोकस्यैकाऽसंख्यातभागः । एतासु मनुष्यादिमार्गणास्वघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामिनः सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकस्य चरमसमयवर्तिनो जीवाः ते च संख्याताः; तेषां क्षेत्रं स्पर्शना च लोकस्यैकाऽसंख्यातभागः । एवमघातित्रयसत्कोत्कृष्टरसबन्धकानां सप्तप्रकृतिसत्काऽवक्तव्यरसबन्धकानां च परिमाणस्य क्षेत्रस्य स्पर्शनायाश्च तुल्यत्वात् सप्तानामवक्तव्यरसबन्धकानां परिमाण-क्षेत्र-स्पर्शना अघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानां परिमाण-क्षेत्र-स्पर्शनावदतिदिष्टाः । इदमत्राऽवधेयम्-इह सप्तानामवक्तव्यबन्धका उपशमश्रेणितः पतन्तो जीवाः, उपशमसम्यक्त्ववर्जशेषमार्गणासु त्वघातिनामुत्कृष्टानुभागबन्धकास्तु क्षपकाः, उत्कृष्टपदे-उपशमकापेक्षया क्षपका द्विगुणाः समवाप्यन्त इति प्रवचने प्रतिपादितत्वादत्र परिमाणे संख्यातत्वेन संख्यातसंख्या ग्राह्या न तु प्रतिनियतपरिमाणरूपा, एवं क्षेत्रस्पर्शनयोरपि द्रष्टव्यम् । तद्यथा-अघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानां क्षपकत्वेन मरणाभावात् स्वस्थानतः क्षेत्रं स्पर्शना च प्राप्यते, सप्तानामवक्तव्यबन्धकानां पुनः कासुचिद् मार्गणासु मरणसंभवेन मारणान्तिकसमुद्घातेन ते स्वात्मप्रदेशदण्डान् पारभविकोत्पत्तिस्थानं सर्वार्थसिद्धसुरालयं यावत् प्रक्षिपन्ति । एवं तेषां क्षेत्रस्य स्पर्शनायाश्चाधिकत्वेऽपि घनरज्ज्वपेक्षया लोकस्यैकाऽसंख्यातभागमात्रत्वाद् अघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धकानां क्षेत्रादिवत् सप्तानामवक्तव्यरसबन्धकानां क्षेत्रस्पर्शनेऽतिदिष्टे ॥६१५॥

साम्प्रतं सप्तप्रकृतीनामोघाऽऽदेशाभ्यां भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थितरसबन्धकानां परिमाण-क्षेत्र-स्पर्शनाः सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धकानां परिमाण-क्षेत्र-स्पर्शनावत्तथाऽऽयुष्कस्यैकसर्वपदानां द्वारत्रयं सविशेषमतिदिशन्नाह—

सत्तण्हऽण्णपयेसुं तहाऽत्थि जह होइ सत्तअगुरुरसे ।
सव्वपयेसु भवे तह आउस्स जहाउअगुरुरसे ॥६१६॥
णवरं सयं च्च खेत्तं विण्णेयमवट्ठिअस्स आउस्स ।
बायरपज्जत्तेसुं एगिंदियवाउकायेसुं ॥ ६१७ ॥

(प्रे०) 'सत्तण्हं' इत्यादि, परिमाणक्षेत्रस्पर्शनाद्वारेष्वित्यनुवर्तते तथा च परिमाणादि-द्वारत्रये 'ऽण्णपयेसु' इति प्रस्तुतत्वादायुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामुक्तावक्तव्यपदादन्यपदत्रयविषयं बन्धक-परिमाणक्षेत्रादिकं तथा वक्तव्यं भवति यथा 'होइ सत्तअगुरुरसे' इति सप्तप्रकृतीनामगुरुरस-विषयकपरिमाणादिकं प्राक्कथितम् ।

इदमुक्तं भवति-ओघत आदेशतश्च सप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां यावत्परिमाणं यावत्क्षेत्रं यावती च स्पर्शना प्राक्प्रतिपादिता, तावत्परिमाणं तावत्क्षेत्रं तावती च स्पर्शना सप्त-प्रकृतीनां भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थितरसबन्धकानां भवति । कुतः ? यासु मार्गणासु सप्तानामनुत्कृ-ष्टानुभागस्य बन्धका अनन्ताः, तासु मार्गणासु भागप्ररूपणायामवस्थितरसबन्धस्य निर्वर्तका एकाऽसं-ख्यातभागप्रमिता अभिहिताः, ततस्तेऽपि अनन्ताः, भूयस्कारबन्धस्य निर्वर्तकाः साधिकद्विभाग-प्रमाणा अल्पतरस्य च बन्धका देशोनद्विभागप्रमाणाः, ततस्ते सुतरामनन्ताः समुपलभ्यन्ते अर्थाद-नन्तत्वेन रूपेणानुत्कृष्टरसबन्धकपरिमाणेन तुल्यमेव भूयस्कारादिबन्धकपरिमाणम् , तत्तुल्यत्वे च प्रस्तुतबन्धकानां क्षेत्रस्पर्शनेऽपि अनुत्कृष्टरसबन्धकक्षेत्रस्पर्शनाभ्यां तुल्यमेव भवति, समुद्घातादौ अनुत्कृष्टरसबन्धवद् भूयस्कारादिरसबन्धस्याऽपि प्रवर्तनात् ।

यत्र सप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टानुभागबन्धका असंख्येयलोकाः, असंख्यलोकतोन्यूना असंख्येयाः, संख्याता वा सन्ति तत्र भूयस्कारादिबन्धानां निर्वर्तका अपि तावत्प्रमाणा एव लभ्यन्ते, तत्र प्रविष्टसर्वजीवानामनुत्कृष्टरसबन्धवत् प्रस्तुतभूयस्कारादित्रिविधरसबन्धस्यापि सामान्यतः सर्वाव-स्थासु प्रायोग्यत्वात् । परिमाणतुल्यत्वे च प्रागिव क्षेत्रस्पर्शनातुल्यत्वमपि ।

तच्चैवम्-तत्रादौ **परिमाणं** दर्श्यते-ओघतः सप्तकर्मणां भूयस्कारस्याऽल्पतरस्याऽवस्थितस्य च प्रत्येकं बन्धका अनन्ताः । आदेशतः पुनः तिर्यग्गत्योघ-सर्वैकेन्द्रिय-वनस्पतिकायौघ-सर्व साधारणवनस्पतिकाय--काययोगौदारिकतन्मिश्रयोग कार्मणयोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्क -मत्यज्ञान-श्रुताऽज्ञानाऽसंयमाऽचक्षुर्दर्शनाऽशुभलेश्यात्रिक--भव्याभव्य–मिथ्यात्वाऽसंज्ञ्याहारकाऽनाहारकलक्ष–णास्वष्टात्रिंशद्मार्गणासु सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारस्या--ऽल्पतरस्या -ऽवस्थितरसबन्धस्य च प्रत्येकं

बन्धका अनन्ताः । पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-सर्वार्थसिद्धाऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रयोगाऽपगतवेदमनः-पर्यव संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायलक्षणासु द्वादशमार्गणासु संख्याताः । शेषविंशत्यधिकशतमार्गणासु पुनरसंख्याताः । शेषविंशत्यधिकशतमार्गणाश्चैताः-नरकौघ-रत्नप्रभादिसप्तनरक-तिर्यग्गत्योघवर्जचतुष्पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्-मनुष्यौघाऽपर्याप्तमनुष्य-सर्वार्थसिद्धवर्जैकोनत्रिंशद्देवभेद-नवविकलेन्द्रिय-त्रिपञ्चेन्द्रिय-पृथ्वीकायसप्तभेदाऽप्कायसप्तभेद-तेजःकायसप्तभेद-वायुकायसप्तभेद-त्रिप्रत्येकवनस्पतिकाय-त्रित्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-वैक्रिय-वैक्रियमिश्रयोग-स्त्री-पुरुषवेद-मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान-विभङ्गज्ञान-देशविरति-चक्षुरवधिदर्शन-त्रिप्रशस्तलेश्या-मिथ्यात्ववर्जषड्सम्यक्त्वमार्गणासंज्ञिमार्गणा इति ।

अथ **क्षेत्रं** निगद्यते—ओघतः सप्तानां भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थितरसबन्धानां निर्वर्तकानां क्षेत्रं सर्वलोकप्रमितम् । आदेशतश्च तिर्यग्गत्योघादिचतुःषष्टिमार्गणासु सप्तप्रकृतिसत्कभूयस्कारादिबन्धत्रयस्य निर्वर्तकानां क्षेत्रं सर्वलोकप्रमाणमिति । तिर्यग्गत्योघादिचतुःषष्टिमार्गणा नामतः पुनरिमाः-तिर्यग्गत्योघ-सर्वैकेन्द्रिय-बादरपर्याप्तभेदवर्जपृथ्वीकायसत्कषड्भेदाऽप्कायसत्कषड्भेद-तेजःकायसत्कषड्भेद-वायुकायसत्कषड्भेद-वनस्पतिकायौघ-साधारणवनस्पतिकायसत्कसप्तभेद-प्रत्येकवनस्पतिकायौघा-ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय-काययोगौदारिकौदारिकमिश्रयोग-कार्मणयोग-नपुंसकवेद-चतुष्कषाय-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानाऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽप्रशस्तत्रिलेश्या-भव्याऽभव्य-मिथ्यात्वाऽसंज्ञ्याहारका-ऽनाहारकमार्गणा इति ।

बादरपर्याप्तवायुकायमार्गणायां च सप्तप्रकृतिसत्कभूयस्काराऽल्पतररसबन्धकानां प्रत्येकं क्षेत्रं देशोनलोकमितमवस्थितरसबन्धकानां तु क्षेत्रं स्वयमेव ज्ञात्वाऽऽनेतव्यम्, भावना चात्रोत्कृष्टानुभागबन्धकक्षेत्रवत्कार्या । शेषासु पञ्चोत्तरशतमार्गणासु पुनर्लोकस्यैकाऽसंख्यातभागमानं भवतीति ।

अथ **स्पर्शना** प्रदर्श्यते—ओघतः सप्तकर्मणां भूयस्कारस्याऽल्पतरस्याऽवस्थितस्य च बन्धकानां स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा भवति । आदेशतश्च नारकादित्रिषष्टिमार्गणासु सप्तानां भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थितरसबन्धानां निर्वर्तकानां प्रत्येकं स्पर्शना त्वित्थम्-नरकसामान्यसप्तमनरकमार्गणाद्वये त्रसनाड्याः षड्भागाः, षष्ठनरके पञ्चभागाः, पञ्चमनरके चत्वारो भागाः, चतुर्थनरके त्रयो भागाः, तृतीयनरके द्वौ भागौ, द्वितीयनरके एको भागः, प्रथमनरके लोकस्यैकाऽसंख्यातभागः, देवौघे ईशानान्तदेवेषु च नवभागाः, शेषसहस्रारान्तदेवेषु अष्टौ भागाः, आनतादिचतुर्देवभेदेषु षड्भागाः, नवग्रैवेयकपञ्चानुत्तरेषु लोकस्यैकाऽसंख्यातभागः, वैक्रियकाययोगे त्रयोदश भागाः, वैक्रियमिश्राऽऽहारकाऽऽहारकमिश्राऽपगतवेद-मनःपर्यव-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसम्परायलक्षणासु दशमार्गणासु लोकस्यैकाऽसंख्यातभागः, मति-श्रुता-ऽवधिज्ञानाऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-वेदकोपशमलक्षणास्वष्टसु मार्गणास्वष्टौ भागाः, देशविरतौ पञ्चभागाः, तेजोले-

श्यायां नवभागाः, पद्मलेश्यामिश्रसम्यक्त्वमार्गणाद्वयेऽष्टौ भागाः, शुक्ललेश्यायां षड्भागाः, सास्वादनमार्गणायां च द्वादशभागा इति । नपुंसकवेदसूक्ष्मसम्पराययोः प्रत्येकमवस्थितरसबन्धकानां स्पर्शना न वक्तव्या । शेषसप्ताधिकशतमार्गणासु पुनः सर्वलोकः स्पृष्ट इति । शेषसप्ताधिकशतमार्गणाभेदा नामत इमे–सर्वे तिर्यग्गतिभेदाः, सर्वे मनुष्यगतिभेदाः, सर्वे इन्द्रियमार्गणाभेदाः सर्वे कायमार्गणाभेदाः, पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगकाययोगौदारिकौदारिकमिश्रकार्मणलक्षणाश्चतुर्दश योगमार्गणाभेदाः, स्त्रीपुरुषनपुंसकरूपास्त्रयो वेदभेदाः, सर्वे कषायभेदाः, त्र्यज्ञानभेदाः, असंयमभेदः, चक्षुरचक्षुरूपौ द्वौ दर्शनभेदौ, त्र्यशुभलेश्याभेदाः, भव्याऽभव्यभेदौ, मिथ्यात्वभेदः, संज्ञ्यसंज्ञिलक्षणौ द्वौ भेदौ, आहारकाऽनाहारकभेदौ चेति ।

अथायुषो भूयस्कारादिबन्धकपरिमाणादिकमतिदिशन्नाह–**'सव्वपयेसु'** इत्यादि, इह गाथाया मिश्रार्थकत्वात् आयुषो भूयस्कारादिचतुर्विधं बन्धकपरिमाणादिकं तथा भवेद् यथाऽऽयुषोऽनुत्कृष्टरसविषयं बन्धकपरिमाणादिकं प्राक्प्रतिपादितमित्यर्थः । इदमुक्तं भवति–ओघत आदेशतश्चायुषोऽनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां यावत्परिमाणं, यावत्क्षेत्रं यावती च स्पर्शना प्राक्प्रतिपादिता तावत्परिमाणं तावत्क्षेत्रं तावती च स्पर्शना आयुषो भूयस्काराल्पतराऽवस्थिताऽवक्तव्यबन्धकानां भवति । विशेषतः परिमाणादिकं स्वयमेव ज्ञेयम् । अत्र या काचिद्विशेषतास्ति सम्भाविता तामुद्दिदमना आह–**'णवर'** इत्यादि, बादरपर्याप्तैकेन्द्रियबादरपर्याप्तवायुकायमार्गणाद्वये आयुषोऽवस्थितरसबन्धकानां क्षेत्रमतिदेशानुसारेण देशोनलोकप्रमाणं प्राप्यते देशोनलोकप्रमितञ्च क्षेत्रं बादरपर्याप्तवायुकायानामेव, एकस्मिन् समये आयुष्कावस्थितरसबन्धकास्ते बादरपर्याप्तवायुकायिका यदि प्रमाणतोऽसंख्येयप्रतरगतनभःप्रदेशराशितः [illegible] क्षेत्रं घटते किन्तु तेषां प्रमाणविषये विशेषोपदेशाभावादुक्तं **'सयं च खेत्तं विण्णेयं'** इति ॥६१६।६१७॥

तदेवं समर्थितमष्टप्रकृतीनां भूयस्कारादिचतुर्बन्धानां परिमाणक्षेत्रस्पर्शनालक्षणं द्वारत्रयम् । समर्थिते च तस्मिन् गतानि 'परिमाण खेत्तफोसणाउ' इत्यनेनोद्दिष्टानि द्वितीयाधिकारगतानि सप्तमाष्टमनवमानि परिमाणक्षेत्रस्पर्शनाऽऽख्यद्वाराणि ।

* अष्टप्रकृतीनां भूयस्कारादिचतुर्विधबन्धकानां परिमाण-क्षेत्र-स्पर्शनाप्रदर्शकं यन्त्रम् *

(i) सप्तानां भूयस्कारादिबन्धकानां परिमाण क्षेत्र स्पर्शना चाऽघातिनामनुत्कृष्टरसबन्धवत् । (गाथा ६१५)

(ii) सप्तानां भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थितबन्धकानां परिमाणं क्षेत्र स्पर्शना च सप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसवत् । (गाथा ६१६)

(iii) आयुषो भूयस्कारादिचतुर्विधबन्धकानां परिमाण क्षेत्र स्पर्शना चायुषोऽनुत्कृष्टरसवत् ।
अपवाद:—बादरपर्याप्तैकेन्द्रिय बादरपर्याप्तवायुकायमार्गणाद्वये आयुषोऽवस्थितबन्धकानां क्षेत्र स्वयं ज्ञेयम् । (गाथा ६१६-६१७)

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे द्वितीये भूयस्काराधिकारे सप्तमाष्टमनवमानि परिमाणक्षेत्रस्पर्शनाद्वाराणि समाप्तानि ॥

॥ अथ दशमं कालद्वारम् ॥

गतं नानाजीवाश्रित-परिमाण क्षेत्र-स्पर्शनालक्षणद्वारत्रयम् । साम्प्रतं क्रमप्राप्तस्य नानाजीवाश्रित-कालद्वारस्य व्याख्याना-ऽवसरः । तत्र तावत् प्रथममोघतो मूलाऽष्टप्रकृतिसत्कभूयस्कारादिचतुर्विध-रसबन्धस्य निर्वर्तकानां कालं दर्शयति—

सत्तण्ह बंधगाणमवत्तव्वस्स समयो लहू कालो ।
संखखणाऽण्णोऽट्ठण्ह वि पयाण सेसाण सव्वद्धा ॥६१८॥

(प्रे०) **'सत्तण्ह'** इत्यादि, सप्तानाम्-आयुर्वर्जानां प्रकृतीनामवक्तव्यरसबन्धस्य निर्वर्तकानां लघुः-जघन्यः **'कालो'** नानाजीवाश्रितः कालः समयः **'ऽण्णो'** जघन्यकालादन्यः-उत्कृष्टकालः संख्याताः समयाः । अथ शेषपदानामाह **'ऽट्ठण्ह'** इत्यादि, लुप्ताऽकारस्य दर्शनात् अष्टानामपि प्रकृतीनां शेषपदानाम्- आयुष्कस्याऽवक्तव्यरसबन्धकानां तथाऽष्टप्रकृतीनां भूयस्काररसबन्धकाना-मल्पतररसबन्धकानामवस्थितरसबन्धकानां चेत्यर्थः । कियान् कालः ? **'सव्वद्धा'** सर्वाद्धा, ते च बन्धकाः सर्वदा समुपलभ्यन्त इति भावः ।

इह खलु उक्तकालोपपत्तौ मार्गणास्थानेषु वक्ष्यमाणकालोपपत्तौ च षट् नियमा विद्यन्ते तद्यथा—(१) ओघे तथा यासु मार्गणासु जीवा असंख्यलोकप्रदेशप्रमाणा अनन्ता वा तत्र सप्त-कर्मणां भूयस्काराल्पतरावस्थितरसबन्धनिर्वर्तकाः तथाऽऽयुष्कसत्कभूयस्कारादिसर्वरसबन्धनिर्वर्तकाः सर्वदा प्राप्यन्ते, अर्थात् तेषां कालः सर्वाद्धा इति **प्रथमो नियमः** ।

(२) या मार्गणाः सार्वकालिक्यः तासु सप्तानां भूयस्काराल्पतररसबन्धनिर्वर्तकानां कालः सर्वाद्धा इति **द्वितीयो नियमः** । यथा नरकौघादिमार्गणासु तथैव प्रदर्शयिष्यते ।

(३) या मार्गणाः कादाचित्क्यः, तासु सप्तानां भूयस्काराल्पतररसबन्धनिर्वर्तकानां कालो जघन्यतो यथासंभवं समयः, उत्कृष्टतस्तु मार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितितुल्यो भवतीति **तृतीयो-नियमः** । यथाऽपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु ।

(४) ओघे तथा यासु मार्गणासु सप्तानामवक्तव्यबन्धो भवति तत्र तस्य कालो जघन्यतः समयः उत्कृष्टतः संख्यातसमया एव इति **चतुर्थो नियमः** ।

(५) यासु मार्गणासु जीवा असंख्यलोकतः स्तोकास्तासु सप्तानामवस्थितरसबन्धस्य तथा आयु-षोऽवक्तव्यावस्थितरसबन्धयोः प्रत्येकं जघन्यः कालः समयस्तथा सप्तानां संख्यातराशिकमार्गणा-स्वायुषश्च संख्यातबन्धकमार्गणासूत्कृष्टकालः संख्यातसमयाः, सप्तानामसंख्यातराशिकमार्गणास्वा-युषोऽसंख्यातबन्धकमार्गणासूत्कृष्टकाल आवलिकाऽसंख्यभागः, इति **पञ्चमो नियमः** ।

(६) आयुषो भूयस्काराल्पतरबन्धयोः प्रत्येकं कालोऽनुत्कृष्टरसबन्धकालवद् भवति अर्थात्संख्यात-बन्धकमार्गणासु जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तं तथा असंख्यलोकतस्स्तोकाऽसंख्यात-बन्धकमार्गणासु जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टकालः पल्योपमासंख्यभागः इति **षष्ठो नियमः** ॥६१८॥

तदेवमोघतोऽष्टप्रकृतीनां भूयस्कारादिचतुर्विधरसबन्धकानां नानाजीवाश्रितकालनिरूपणं विधाय, साम्प्रतमादेशतो व्याजिहीर्षुरादौ तावत् सर्वत्र सप्तानामवक्तव्यरसबन्धकानां नानाजीवाश्रितकालमोघवत् तथा सर्वत्र सप्तानां भूयस्काराऽल्पतरबन्धयोर्निर्वर्तकानां तमनुत्कृष्टानुभागवदतिदिशन्नाह—

जत्थाउगवज्जाणमवत्तव्वो तत्थ तस्स ओघव्व ।
भूगारऽप्पयराणमगुरुअणुभागव्व सव्वासुं ॥६१९॥

(प्रे०) **'जत्थ'** इत्यादि, यत्र-यासु मार्गणासु आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यबन्धोऽस्ति, तत्र-तासु मार्गणासु 'तस्य' सप्तानामवक्तव्यरसबन्धस्य जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नो नानाजीवाश्रितः काल ओघवद् भवति । तद्यथा–जघन्यतः समयः, उत्कृष्टतः पुनः संख्यातसमयाः । कासु कासां प्रकृतीनाम् ? त्रिमनुष्य-द्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगौदारिकयोगा-ऽपगतवेद-चतुर्ज्ञान-संयम-त्रिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकौपशम-संज्ञ्या-हारकलक्षणासु पञ्चत्रिंशन्मार्गणासु सप्तप्रकृतीनां, लोभमार्गणायां पुनर्मोहनीयस्य इति ।

सम्प्रति सर्वासु मार्गणासु सप्तप्रकृतीनां भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालः सप्तानामनुत्कृष्टानुभागवदतिदिशति- **'भूगार'** इत्यादि, सुगमम् । भावार्थः पुनरेवम्-सप्तत्यधिकशतमार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रितो यावान् कालः प्रदर्शितः, तावान् कालो भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकानामपि द्रष्टव्यः । कुतः ? इति चेत्, उच्यते–एकोनषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु निरुक्तबन्धकानां कालोऽनुत्कृष्टरसबन्धककालवत्सर्वाद्धा तथा अपर्याप्तमनुष्याद्येकादशमार्गणासु जघन्यतः यथासंभवं समयादिकमुत्कृष्टतस्तु मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणो लभ्यते इति कृत्वा ॥६१९॥ लाघवार्थं कृतेऽतिदेशे या काचिदतिप्रसक्तिः समापतिता तां निराकुर्वन्नाह—

णवरि जहण्णो कालो विण्णेयो उवसमे तहा मीसे ।
भूगारप्पयराणं समयो सत्तण्ह कम्माणं ॥६२०॥

(प्रे०) **'णवरि'** इत्यादि–उपशमसम्यक्त्वे मिश्रमार्गणायां चानुत्कृष्टरसबन्धकालो जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाण उक्तः किन्तु प्रस्तुतमार्गणाद्वये भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकानां नानाजीवाश्रितकालो जघन्यतः समयप्रमाणो भवति विजातीयबन्धद्वयान्तराले समयं यावद्निरुक्तरसबन्धस्य प्रवर्तनात् ६२०॥

अधुना सप्तप्रकृतीनामवस्थितरसबन्धकानां नानाजीवाश्रितं कालं चिकथयिषुरादौ तावद् भङ्गविचयद्वारे यासु मार्गणासु सप्तानामवस्थितबन्धो नियमादस्तीति प्रतिपादितं तासु मार्गणासु ततश्च शेषासु सप्तानामवस्थितबन्धकानां नानाजीवाश्रितं कालं प्रदर्शयन्नाह—

सत्तण्ह जत्थ णियमा अवट्ठिओ अत्थि तत्थ तस्स भवे ।
सव्वद्धा सेसासुं समयो हस्सो मुणेयव्वो ॥६२१॥

(प्रे०) '**सत्तण्ह**' इत्यादि, यत्र-यासु मार्गणासु सप्तानां प्रकृतीनां निरन्तरमवस्थितो रसबन्धोऽस्ति, तत्र किम् ? इत्याह '**तत्थ**' इत्यादि, तत्र तासु मार्गणासु तिर्यगोघादिचतुःषष्टिमार्गणासु तस्य-तासां प्रकृतीनामवस्थितरसबन्धस्य निरन्तरकालः सर्वाद्धा भवति । कुतः ? इति चेद् , उच्यते—एतासु मार्गणासु सप्तानामवस्थितरसबन्धकानामानन्त्येनाऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वेन वा सर्वदा प्राप्यमाणत्वात् । इमाश्च ताश्चतुःषष्टिमार्गणाः-तिर्यगोघ-सर्वैकेन्द्रिय-बादरपर्याप्तभेदवर्जपृथ्वीकायषड्भेदा-ऽप्कायषड्भेद-तेजःकायषड्भेद-वायुकायषड्भेद-वनस्पतिकायौघ-प्रत्येकवनस्पतिकायाऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय-सर्वसाधारणवनस्पतिकायभेद-काययोगसामान्यौदारिकौदारिकमिश्र-कार्मणयोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुताऽज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽप्रशस्तलेश्यात्रय-भव्याऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्याहारका-ऽनाहारकमार्गणा इति ।

अथ शेषासु मार्गणासु जघन्यकालमाह-'**सेसासु**' इत्यादि, अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वयेऽवस्थितरसबन्धस्याभावात् अवस्थितरसबन्धकालाप्रतिपादकत्वात्, सर्वत्र मार्गणास्वपि तिर्यगोघादिचतुःषष्टिमार्गणा वर्जयित्वा चतुरधिकशतमार्गणासु इत्यर्थः—सप्तानामवस्थितबन्धकानां जघन्यकालः समयो ज्ञातव्यः ॥६२१॥ सम्प्रति यासु मार्गणासु सप्तानामवस्थितबन्धकानां नानाजीवाश्रितो निरन्तरकाल उत्कृष्टतः संख्याताः समया भवन्ति, तासु शेषासु चाह—

उक्कोसो संखेज्जा समया पज्जत्तमणुसमणुसीसु ।
सव्वत्थसिद्धदेवे आहारदुगम्मि मणणाणे ॥६२२॥
संयमसामइएसु छेए परिहारसंयमे य भवे ।
सेसासु होइ भागो आवलिआए असंखयमो ॥६२३॥

(प्रे०) '**उक्कोसो**' उत्कृष्टतः कालः संख्याताः समयाः-संख्यातसमयप्रमितः, सप्तानामवस्थितरसबन्धस्येति प्रकरणगम्यम् । कुत्र ? पर्याप्तमनुष्य-मनुष्ययोनिमती-सर्वार्थसिद्धदेवा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्र मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकलक्षणासु दशमार्गणास्विति । कुतः ? एतन्मार्गणासु सप्तानामवस्थितबन्धकाः संख्याताः, तथात्रैकजीवाश्रितो बन्धकालः सप्तसमयप्रमाणत्वेन संख्यातसमयप्रमितः, एवं प्रागुक्तपञ्चमनियमस्य प्रवेशनेन प्रस्तुतबन्धकालः संख्यातसमयप्रमाणः प्राप्यते । शेषचतुर्नवतिमार्गणासु सप्तानामवस्थितबन्धका असंख्येयाः सन्तोऽप्यसंख्येयलोकनभःप्रदेशराशितोऽतीवस्तोकाः तथाऽवस्थितबन्धस्यैकजीवाश्रितो निरन्तरकालः संख्यातसमयप्रमितः, एवं पञ्चमनियमस्य प्रवेशात् सप्तानामवस्थितबन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकाल आवलिकाया असंख्यातभागो भवति । एतदेव ग्रन्थकार आह—'**सेसासु**' इत्यादि, सुगमम् । शेषचतुर्नवतिमार्गणास्त्विमाः-सर्वनरक-सर्वपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यौघा-ऽपर्याप्तमनुष्य-सर्वार्थसिद्धवर्जसर्वदेव-सर्वविकलाक्ष-त्रिपञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तबादरसत्कपृथ्व्यादिचतु-

भेद-पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय--त्रिप्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-वैक्रिय--वैक्रियमिश्रयोग-स्त्री-पुंवेद-त्रिज्ञान-विभङ्ग--देशविरति-चक्षुरवधिदर्शन-त्रिशुभलेश्या--मिथ्यात्ववर्जसम्यक्त्वमार्गणास्थानस-त्कपड्भेद संज्ञिमार्गणा इति ॥६२२।६२३॥

तदेवमादेशतः सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारादिचतुर्विधरसबन्धस्य नानाजीवाश्रितं कालं प्ररूप्य साम्प्रतमायुष्कस्य तमनुत्कृष्टानुभागवत् सापवादमतिदिशन्नाह—

सव्वासु बंधगाणं सव्वपयाणाउगस्स इस्सियरो ।
अगुरुसमव्व हवेज्जा णवरि जहि गुरू मुहुत्तंतो ॥६२४॥
तत्थ अवत्तव्वावट्ठिआण संखसमया भवे जेट्ठं ।
पल्लासंखियभागो तहि आवलिआअसंखंसो ॥६२५॥

(प्रे०) **'सव्वासु'** इत्यादि, सर्वासु-त्रिपष्टयुत्तरशतमार्गणासु आयुष्कस्य सर्वपदानां-चतुर्णां भूयस्कारादिरसबन्धकानां इस्वेतरकालः-जघन्येतरकालः-जघन्यकाल उत्कृष्टकालश्चेत्यर्थः अगुरुस-वत्-अनुत्कृष्टरसबन्धकानां नानाजीवाश्रितजघन्येतरकालवत् भवेत् । इह सर्वमार्गणासु भूयस्कारा-ऽल्पतरसबन्धकानामेव कालोऽतिदेशानुसारी भवति, न पुनरवक्तव्याऽवस्थितरसबन्धकानामपि अमी, इति ज्ञेयम् । कुतः ? कासुचिन्मार्गणास्वनुत्कृष्टरसबन्धकानामुत्कृष्टकालापेक्षयाऽवक्तव्या-ऽवस्थितरसबन्धयोरुत्कृष्टकालस्य विलक्षणत्वात्, अत एव सामस्त्येन कृतेऽतिदेशेऽपवदति **'णवरि'** इत्यादि, नवरंशब्दोऽपवादसूचकः । यत्र-यासु पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणास्वायुष्कस्यानुत्कृष्टानुभाग-बन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमितः प्रोक्तः तत्राऽऽयुष्कस्याऽवक्तव्याऽवस्थित-रसबन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकालः संख्यातसमया भवेत्, पञ्चमनियमस्य प्रवेशात् । तथा **'पल्लासंखियभागो'** इत्यादि, यत्राऽऽयुष्कस्याऽनुत्कृष्टानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकालः पल्योपमस्यैकाऽसंख्यातभागमित उक्तः, तत्र तासु नरकौघादिद्वासप्ततिमार्गणास्ववक्त-व्याऽवस्थितरसबन्धकानां नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकालः आवलिकाया एकासंख्यातभागो ज्ञेयः, पञ्चमनियमस्य प्रवेशात् ।

अधुना चतुर्णां भूयस्कारादिरसबन्धकानां नानाजीवाश्रितोऽतिदिष्टः कालः सुबोधार्थं प्रद-र्श्यते । प्रागुक्ततिर्यगोघादिचतुःषष्टिमार्गणाभ्यः कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वयं वर्जयित्वा शेषद्वाषष्टि-मार्गणास्वायुष्कस्य भूयस्कारादिरसबन्धका असंख्येयलोकनभःप्रदेशराशिप्रमाणा अनन्ता वा, ततः प्रथमनियमस्य प्रवेशनेन सर्वपदानां कालः सर्वाद्धा, शेषैकोत्तरशतमार्गणासु चतुर्णां भूयस्कारादिरस-बन्धकानां नानाजीवाश्रितो जघन्यकालः समयः । अथ तेषामुत्कृष्टकालो भण्यते तत्र-पर्याप्तमनुष्य-मनु-ष्ययोनिमत्यानतायष्टादशदेवभेदा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्र-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोप-स्थापनीय-परिहारविशुद्धि-शुक्ललेश्या-क्षायिकसम्यक्त्वलक्षणास्वेकोनत्रिंशन्मार्गणास्वायुष्कस्य चतुर्णां

भूयस्कारादिरसबन्धानां निर्वर्त्तकाः संख्याताः, भूयस्काराऽल्पतररसबन्धयोरेकजीवाश्रितकालश्चान्तर्मुहूर्तमितः, अतो नानाजीवाश्रितः कालोऽन्तर्मुहूर्तम् । अवक्तव्याऽवस्थितरसबन्धयोरेकजीवाश्रितकालः क्रमेण समयः संख्यातसमयाः, अतो नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकालः संख्यातसमयाः ।

शेषद्वासप्ततिमार्गणासु चतुर्णां भूयस्कारादिरसबन्धानां निर्वर्तका असंख्येयाः, भूयस्काराऽल्पतररसबन्धयोरेकजीवाश्रितः कालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः,अतो नानाजीवाश्रित उत्कृष्टतः कालः पल्योपमस्यैकाऽसंख्यातभागप्रमाणो भवति। अवक्तव्याऽवस्थितबन्धयोः पुनरेकजीवाश्रितः कालः क्रमेण समयः, संख्यातसमयाः अतो नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकाल आवलिकाया एकाऽसंख्यातभागमितः । शेषद्वासप्ततिमार्गणाः पुनरेवम्-सर्वनरकभेद-सर्वतिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेद--मनुष्यौघा-ऽपर्याप्तमनुष्य-देवौघ-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मादिसहस्रारान्तदेवभेद-नवविकल-त्रिपञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तबादरपृथ्व्यादिचतुर्भेद--पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय-त्रित्रसकाय--पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-वैक्रियकाययोग-स्त्री-पुरुषवेद-त्रिज्ञान-विभङ्गज्ञान--देशविरति-चक्षुरवधिदर्शन-तेजःपद्मलेश्या-सम्यक्त्वौघ-वेदक-सास्वादन-संज्ञिमार्गणा इति ॥६२४।६२५॥

तदेवं समर्थितोऽष्टप्रकृतीनां चतुर्णां भूयस्कारादिरसबन्धकानां कालः । समर्थिते च तस्मिन् गतं 'कालो' इत्यनेनोद्दिष्टं द्वितीयाधिकाराऽन्तर्गतं दशमं नानाजीवाश्रितं कालद्वारम् ।

* अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिरसबन्धकानां नानाजीवाश्रितकालप्रदर्शकं यन्त्रकम् *

ओघतः—सप्तानामवक्तव्यरसबन्धकाना नानाजीवाश्रितो जघन्यकालः १ समय, उत्कृष्टस्तु संख्यातसमयाः ।
आयुषोऽवक्तव्यस्य अष्टानां भूयस्काराऽल्पतरावस्थितरसबन्धानां बन्धकानां कालः सर्वाद्धा । (गाथा ६१८)

आदेशतः—अवक्तव्य०-यत्र सप्तानामवक्तव्यरसबन्ध-, तत्र तद्बन्धकाना कालः ओघवत् । (गाथा ६१९)

सप्तनाम् | भूयस्काराऽल्पतरयोः—सर्वासु १७० मार्गणासु अनुत्कृष्टरसबन्धवत् ।
अपवादः—उपशममिश्रदृष्टिमार्गणाद्वये भूयस्काराऽल्पतरयोर्जघन्यकालः १ समय. । (गाथा ६२०)

अवस्थितस्य रसबन्धकानाम्—	(गाथा–६२१-६२२-६२३)
असंख्यलोक-तदधिकजीवपरिमाणासु तिर्यगोघादिषु ६४ मार्गणासु सप्तानाम् →	→ सर्वाद्धा
पर्याप्तमनुष्य० मानुषी० सर्वार्थसिद्ध० आहारकद्विक० २, मन.पर्यव० सयम० सामा० छेद० परि०=१० } →	→ ज० १ समय, उ० संख्यातसमयाः
शेष० ६४→	→ ,, ,, उ० आवलिकाऽसंख्यभागः

आयुषः—सर्वासु (१६३) मार्गणासु भूयस्कारादिचतुर्विधबन्धकानां नानाजीवाश्रितः कालोऽनुत्कृष्टरसबन्धकानां नानाजीवाश्रितकालवद् । (गाथा ६२४-६२५)

अपवादः-यत्राऽनुत्कृष्टरसबन्धकाना नानाजीवाश्रितप्रकृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तम् तत्राऽवस्थिताऽवक्तव्यबन्धकाना संख्यातसमयाः
,, ,, ,, ,, ,, ,, पल्याऽसंख्यभागः ,, ,, ,, ,, ,, आवलिकाऽसंख्यभागः ।

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे द्वितीये भूयस्काराधिकारे दशमं कालद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथैकादशमन्तरद्वारम् ॥

गतं नानाजीवाश्रितं कालद्वारम् । साम्प्रतं क्रमप्राप्तं भूयस्कारादिरसबन्धकानामन्तरमभिधित्सुरादौ तावदोघतः तत्प्राह—

सत्तण्ह लहु समयोऽवत्तव्वस्संतरं सरपुहुत्तं ।
जेट्ठं सेसपयाणं णंतरमाउस्स सव्वेसिं ॥६२६॥

(प्रे०) 'सत्तण्ह' इत्यादि, आयुर्वर्जसप्तकर्मणामवक्तव्यरसबन्धस्य नानाजीवाश्रितं जघन्यमन्तरं समयः, प्रकृष्टमन्तरं 'सरपुहुत्तं' इति शरत्पृथक्त्वं वर्षपृथक्त्वमित्यर्थः । कुतः ? इति चेदुच्यते-सप्तकर्मणामवक्तव्यरसबन्धस्य निर्वर्तका उपशमकास्तेषां च जघन्यमन्तरं समय उत्कृष्टमन्तरं वर्षपृथक्त्वमतः निरुक्तमन्तरमुक्तप्रमाणम् । 'सेसपयाणं' इति, सप्तकर्मणां भूयस्काराल्पतरावस्थितरसबन्धानां तथाऽऽयुष्कसत्कभूयस्कारादिसर्वबन्धानामन्तरं नास्ति । कुतः ? तेषां निर्वर्तकानामानन्त्येन सर्वदा प्राप्यमाणत्वात् ॥६२६॥

तदेवमष्टानां मूलप्रकृतीनां चतुर्णां भूयस्कारादिरसबन्धकानां नानाजीवाश्रितमन्तरं व्याहृत्य साम्प्रतं तदेवादेशतो व्याजिहीर्षुरादौ तावत् सप्तानामवक्तव्यबन्धकानां नानाजीवाश्रितमन्तरमोघवद् भूयस्काराल्पतररसबन्धकानाञ्चानुत्कृष्टरसवदतिदिशन्नाह—

जहि अत्थि अवत्तव्वो आउगवज्जाण तहि सिमोघव्व ।
भूगारऽप्पयराणं अगुरुरसव्वऽत्थि सव्वासु ॥६२७॥

(प्रे०) 'जहि' इत्यादि, यत्र-यासु मार्गणासु सप्तानामवक्तव्यरसबन्धोऽस्ति तासु-मनुष्यादिपञ्चत्रिंशद्मार्गणासु सप्तकर्मणां लोभकषायमार्गणायां तु मोहनीयस्याऽवक्तव्यरसबन्धकानां नानाजीवाश्रितमन्तरमोघवद् भवति, तच्चैवम्–जघन्यतः समयः, उत्कृष्टतस्तु वर्षपृथक्त्वं सर्वत्रोपशमश्रेणेरन्तरस्य तावत्प्रमाणत्वात् । अथ सर्वमार्गणासु सप्तप्रकृतीनां भूयस्काराऽल्पतररसबन्धकानां नानाजीवाश्रितमन्तरं सप्तानामनुत्कृष्टानुभागबन्धकानां नानाजीवाश्रिताऽन्तरवदतिदिशन्नाह–'भूगार' इत्यादि, सुगमम् । एतच्चाऽन्तरं प्रथमाधिकारगतनानाजीवाश्रितान्तरद्वारतोऽवसेयम् ॥६२७॥ साम्प्रतं सप्तानामवस्थितबन्धकानां नानाजीवाश्रितमन्तरं निर्वक्ति—

जहि णियमा सत्तण्हं अवट्ठिओ तत्थ अंतरं से णो ।
सेसासु लहु समयो भवे गुरुमसंखिया लोगा ॥६२८॥

(प्रे०) 'जहि' इत्यादि, यत्र-यासु मार्गणासु सप्तानां प्रकृतीनामवस्थितबन्धो नियमात् ध्रुवः, तत्र-तिर्यगोघादिचतुःषष्टिमार्गणासु सप्तानामवस्थितबन्धकानामन्तरं नास्ति, सर्वदा तद्बन्धकानां

सद्भावात् । इदमुक्तं भवति–तिर्यगोघादिचतुःषष्टिमार्गणासु सप्तानामवस्थितरसबन्धका असंख्येयलोकप्रमिता अनन्ता वा, ततश्च तद्बन्धकानां सर्वदा लभ्यमानत्वेनाऽन्तरं न भवति । अथ शेषमार्गणासु दर्शयति–'सेसासु' इत्यादि, शेषासु सूक्ष्मसम्परायाऽपगतवेदमार्गणाद्वयेऽवस्थितबन्धस्याऽभावेन एतद्मार्गणाद्वयं तिर्यगोघादिचतुःषष्टिमार्गणाश्च वर्जयित्वा शेषचतुरधिकशतमार्गणास्वित्यर्थः सप्तानामवस्थितरसबन्धकानां नानाजीवाश्रितं लघु-जघन्यमन्तरं समयः, गुरु-उत्कृष्टमन्तरमसंख्येया लोकाः-असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणसमया भवेत् । कुतः ? इति चेत् , उच्यते–एतासु मार्गणासु सप्तानामवस्थितबन्धका असंख्येयलोकराशितोऽतीवस्तोकाः, प्रत्येकं जीवस्योत्कृष्टतोऽवस्थितरसबन्धोऽसंख्येयलोककाले व्यतीते प्राप्यते, तत एतासु प्रत्येकं मार्गणासु सप्तानामवस्थितबन्धकानामुत्कृष्टतोऽन्तरमसंख्येयलोकनभःप्रदेशतुल्यसमयप्रमाणं भवति ॥६२८॥

तदेवमादेशतः सप्तकर्मणां चतुर्विधानां भूयस्कारादिरसबन्धकानां नानाजीवाश्रितमन्तरं प्रदर्श्य साम्प्रतमायुष्कसत्कानां तेषामन्तरं निर्दिशति—

अंतरमाउस्स अगुरुरसव्व सव्वह पयाण सव्वाणं ।
णवरि जहि अंतरं तहि असंखलोगा अवट्ठिअस्स गुरुं ॥६२९॥ [गीतिः]

(प्रे०) 'अंतरमाउस्स' इत्यादि, सर्वत्र-सर्वासु मार्गणासु आयुष्कस्य 'सर्वेषां पदानां' चतुर्णां भूयस्कारादिरसबन्धकानामन्तरम् 'अगुरुरसवद्' आयुष्कस्याऽनुत्कृष्टानुभागस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितान्तरवद् भवति । तद्यथा–तिर्यगोघादिचतुःषष्टिमार्गणाभ्यः कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वयं वर्जयित्वा द्वाषष्टिमार्गणास्वायुष्कस्य चतुर्णां भूयस्कारादिरसबन्धकानां नानाजीवाश्रितमन्तरं नास्ति। शेषैकाधिकशतमार्गणासु पुनरवस्थितरसबन्धस्य जघन्यतः समयमात्रमुत्कृष्टतस्त्वसंख्येयलोकनभःप्रदेशसमयप्रमाणं तथाऽल्पतरभूयस्कारावक्तव्यरसबन्धानामन्तरमनुत्कृष्टरसबन्धान्तरवद् ज्ञेयम् ॥६२९॥

तदेवं समर्थितमोघादेशाभ्यामष्टकर्मणां चतुर्णां भूयस्कारादिरसबन्धकानां नानाजीवाश्रितमन्तरम् ,समर्थिते च तस्मिन् गतम् 'अंतर' इत्यनेनोद्दिष्टं द्वितीयाऽधिकाराऽन्तर्गतमेकादशं नानाजीवाश्रितमन्तरद्वारम् ।

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे द्वितीये भूयस्काराधिकारे एकादशमन्तरद्वारं समाप्तम् ॥



॥ अथ द्वादशं भावद्वारम् ॥

गतं नानाजीवाश्रितमन्तरद्वारम्। साम्प्रतं क्रमप्राप्तं भावद्वारमोघाऽऽदेशाभ्यामेकया गाथया प्राह–

ओदइये खलु भावे अट्ठण्ह भवे चउण्ह वि पयाणं।
बंधो एमेव हवइ सव्वासुं मग्गणपयाणं ॥६३०॥

(प्रे०) 'ओदइये' अष्टानां कर्मणां चतुर्णामपि पदानां-चतुर्णां भूयस्कारादिलक्षणानां बन्ध औदयिके भावे भवेत् खलुः एवकारार्थकः, कषायमोहनीयस्योदये एव रसबन्धस्य जायमानत्वात्। एवमेव सर्वासु मार्गणासु स्वस्वपदानां स्वस्वमार्गणाप्रायोग्यभूयस्कारादिपदानां बन्धो भवति ॥६३०॥

तदेवं गतं 'भावा' इत्यनेनोद्दिष्टं द्वितीयाऽधिकाराऽन्तर्गतं त्रयोदशं भावद्वारम्।

*** अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिरसबन्धानां नानाजीवाश्रिताऽन्तरप्रदर्शकं यन्त्रम् ***

ओघत —सप्तानामवक्तव्यरसबन्धस्य नानाजीवाश्रितमन्तरं जघन्यतः १ समय उत्कृष्टत वर्षपृथक्त्वम्, सप्तानां भूयस्काराल्पतराऽवस्थितबन्धत्रयस्य, आयुषश्च चतुर्बन्धानामन्तरं नास्ति। (गाथा ६२६)

आदेशत — आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनाम् (गाथा ६२७-६२८) अन्तरम् | आयुषः (गाथा ६२९)

बन्ध०	मार्गणा	जघ०	उत्कृ०	सर्वासु मार्गणासु		
अवक्तव्य०	यत्र मनु तत्र ओघवत् } त्रिमनुष्यादि ३५ मा० लोभे मोहनीयस्य	१ समयः	वर्षपृथक्त्वम्	→ अनुत्कृष्टरसवत्		
भूयस्काराऽल्पतर०	१७० मार्गणासु	अनुत्कृष्टरसवत्		→ अनुत्कृष्टरसवत्		
अवस्थित०	असङ्ख्यलोक-तदधिकपरिमाणासु तिर्यगोघादिषु ६४मार्गणासु	नास्ति	नास्ति	→ तिर्यगोघादि–६२ → नास्ति		
	शेष० १०४	१ समयः	असङ्ख्यलोकाः	शेष० १०१	१ समयः	असङ्ख्यलोकाः

*** अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिचतुर्विधरसबन्धे भावप्रदर्शकं यन्त्रम् ***

कुत्र	केषाम् (गाथा ६३०)	केन भावेन
ओघे सर्वमार्गणासु च	अष्टकर्मसत्कभूयस्कारादिचतुर्बन्धानाम् प्रत्येकम्	औदयिकेन भावेन

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे द्वितीये भूयस्काराधिकारे द्वादशं भावद्वारं समाप्तम् ॥



॥ अथ त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारम् ॥

गतं भावद्वारम् । साम्प्रतं क्रमप्राप्तस्याल्पबहुत्वद्वारस्य व्याख्यावसरः । तत्रादौ तावदोघतस्तत्प्राह–

सत्तण्ह अवत्तव्वगअवट्ठिअऽप्पयरभूअगाराणं ।
कमसोऽत्थि बंधगाऽप्पाणंतअसंखगुणअब्भहिया ॥६३१॥

(प्रे०) 'सत्तण्ह' इत्यादि, सप्तानां प्रकृतीनामवक्तव्याऽवस्थिताऽल्पतरभूयस्काररसबन्धानां बन्धकाः-निर्वर्तकाः क्रमशः अल्पा-ऽनन्ता-ऽसंख्यगुणा-ऽभ्यधिकाः सन्ति । अयं भावः- सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यरसबन्धकाः सर्वाल्पाः, प्रकृतबन्धका उपशमकास्तेषां च संख्यातत्वेन वक्ष्यमाणबन्धकापेक्षयानन्तगुणहीनत्वात् । ततोऽनन्तगुणा अवस्थितरसबन्धकाः, कुतः ? उच्यते-सर्वेषां जीवानामुत्कृष्टतोऽसंख्येयलोककाले व्यतीतेऽवश्यमेवाऽवस्थितरसबन्धो भवति, ततश्च सर्वजीवराशेरसंख्येयलोकराशिना भागे हृते यद्भागफलं प्राप्यते ततो न्यूनाः प्रतिसमयं सप्तानामवस्थितरसबन्धस्य बन्धका न भवन्ति ते चाऽनन्ताः, अत एव सप्तानामवक्तव्यबन्धकेभ्योऽवस्थितरसबन्धका अनन्तगुणाः । तेभ्योऽपि सप्तानामल्पतरबन्धका असंख्येयगुणाः, कथम् ? इति चेत् , उच्यते–सर्वबन्धकानामेकाऽसंख्यातभागप्रमाणाः सप्तानामवस्थितस्य बन्धकाः, अल्पतरस्य बन्धकाः पुनर्देशोनद्विभागप्रमाणाः, ततश्च सप्तानामवस्थितबन्धकेभ्योऽल्पतरबन्धकाः सुतरामसंख्येयगुणा भवन्ति । ततोऽपि विशेषाधिकाः सप्तानां भूयस्कारस्य बन्धकाः, सर्वरसबन्धकानां साधिकद्विभागप्रमाणत्वादिति ॥६३१॥ तदेवमोघतः सप्तानां भूयस्कारादिरसबन्धकानामल्पबहुत्वं प्ररूप्य साम्प्रतमायुष्कस्य तदल्पबहुत्वं निरूपयति—

आउस्सऽवट्ठिअअवत्तव्वगअप्पयरभूअगाराणं ।
कमसोऽत्थि बंधगाऽप्पअसंखअसंखगुणअब्भहिया ॥६३२॥

(प्रे०) 'आउस्स' इत्यादि, आयुष्कस्याऽवस्थिताऽवक्तव्याऽल्पतरभूयस्काराणां बन्धकाः क्रमशः 'अल्पा-ऽसंख्या-ऽसंख्यगुणाभ्यधिकाः'-अल्पाः असंख्येयगुणा असंख्येयगुणा विशेषाधिकाश्च सन्ति । इदमुक्तं भवति–अत्राऽऽयुष्कस्याऽवस्थितरसबन्धकाः सर्वाल्पाः, ततोऽवक्तव्यस्य बन्धका असंख्येयगुणाः, कुतः ? उच्यते–सर्वजीवानामनन्तबहुभागप्रमाणा निगोदाः, तेषां च प्रत्यन्तर्मुहूर्तमायुष्कस्यावक्तव्यबन्धो जायते, अवस्थितबन्धस्तूत्कृष्टतोऽसंख्येयलोककाले गते प्राप्यते, अतोऽवस्थितरसबन्धकेभ्योऽसंख्येयगुणा अवक्तव्यरसबन्धकाः । तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणा अल्पतरस्य बन्धकाः सन्ति, पूर्वपदस्य बन्धका एकासंख्यभागप्रमाणाः, निरुक्तपदस्य बन्धका देशोनाऽर्धभागप्रमाणा इति कृत्वा । ततोऽपि विशेषाधिका भूयस्कारस्य बन्धकाः सर्वबन्धकानां किञ्चिदधिकाऽर्धभागप्रमाणत्वात् ॥ ६३२ ॥ तदेवमष्टप्रकृतिसत्कभूयस्कारादिबन्धकानामोघतोऽल्पबहुत्वमभिधाय साम्प्रतमादेशतो निगदन्नादौ मनुष्यादिमार्गणास्वाह—

णरदुपणिंदियतसपणमणवयणाणतिगचक्खुओहीसुं ।
सुइलाए सम्मत्ते खइअउवसमेसु सण्णिम्मि ॥६३३॥
सत्तण्होघुत्तें णं कमेण होअन्ति बंधगा कमसो ।
थोवा असंखियगुणा असंखियगुणा विसेसहिया ॥६३४॥

(प्रे०) '**णरदुपणिंदिय**' इत्यादि, मनुष्यौघ-पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकाय-पर्याप्त-त्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-ज्ञानत्रिक-चक्षुरवधिदर्शन-शुक्लेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकौ-पशम-संज्ञिलक्षणासु पञ्चविंशतिमार्गणासु सप्तप्रकृतीनामोघोक्तेन-'**अवत्तव्वगअवट्ठिअऽप्पयरभूअ-गाराणं**' इत्येवं क्रमेण बन्धकाः स्तोका असंख्येयगुणा असंख्येयगुणा विशेषाधिकाश्च भवन्ति ।

अयम्भावः—एतासु मार्गणासु सप्तानामवक्तव्यबन्धकाः सर्वाल्पाः, उपशमकानामेव तद्बन्ध-सद्भावात् । ततोऽप्यसंख्यातगुणा अवस्थितस्य बन्धका मार्गणावर्तिसर्वजीवानां तद्बन्धयोग्यत्वात् मार्गणागतजीवानामसंख्यत्वाच्च । तेभ्योऽप्यसंख्यातगुणा अल्पतरस्य बन्धकाः,मार्गणावर्तिसर्वबन्धकानां देशोनार्द्धभागप्रमाणत्वात् । ततोऽपि विशेषाधिका भूयस्कारस्य बन्धकाः,साधिकार्द्धभागप्रमाणत्वात् ।

नन्वत्र सप्तानामवस्थितस्य बन्धकानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टाऽन्तरमसंख्येयलोकप्रमित-मुक्तम् , अवक्तव्यबन्धकानां पुनर्वर्षपृथक्त्वमात्रमभिहितम् , तर्हि कथमवस्थितबन्धका अवक्तव्य-बन्धकेभ्योऽसंख्येयगुणा भवन्ति ? यतो येषामन्तरं न्यूनं ते एवाधिका भवितुमर्हन्ति, इति चेत् , उच्यते-यद्यपि सप्तानामवस्थितबन्धकानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टतोऽन्तरमसंख्येयलोकप्रमितं तथापि उत्कृष्टपदे सप्तानामवस्थितस्य बन्धका असंख्येयाः प्राप्यन्ते, अवक्तव्यरसस्य बन्धकाः पुनरुत्कृष्टपदे संख्यातमात्रा अत एव सप्तानामवक्तव्यबन्धकेभ्योऽवस्थितरसबन्धका असंख्येयगुणाः ॥६३३।६३४॥

यासु मार्गणासु केवलं सम्यग्दृष्टयो मिश्रदृष्टयो वा जीवाः सन्ति तत्र नीचैर्गोत्रस्य बन्धो न भवति केवलमुच्चैर्गोत्रस्य बन्धो भवतीति तस्य चाल्पतररसबन्धः संक्लेशेन जायते, संक्लेशकालस्य च विशुद्धिकालापेक्षयाधिक्येन तद्मार्गणासु गोत्रस्याऽल्पतरबन्धकाः किञ्चिदधिकाऽर्धभागप्रमाणाः, भूयस्कारस्य बन्धकास्तु देशोनाऽर्धभागप्रमाणाः सन्तीति प्रागेव प्रदर्शितम् , ततोऽत्राऽल्पबहुत्वद्वारे तासु मार्गणासु गोत्रस्य भूयस्कारबन्धकेभ्योऽल्पतरबन्धका विशेषाऽधिका भवन्ति, अत एव प्रस्तुता-तिदेशेन कासुचिन्मार्गणास्वतिप्रसङ्गः समायाति तस्य वारणाय प्राह—

जहि केवलाऽत्थि सम्मा तहि खलु सव्वह वि अप्पयरगव्व ।
गोअस्स भूअगारस्स तओऽप्पयरस्स अब्भहिया ॥६३५॥

(प्रे०) '**जहि**' इत्यादि, यत्र-यासु मार्गणासु केवलाः सम्यग्दृष्टय उपलक्षणाद् मिश्रदृष्टयो वा जीवाः सन्ति, तत्र-तासु सर्वत्र पञ्चाऽनुत्तरादिद्वाविंशतिमार्गणासु गोत्रस्य भूयस्कारस्याऽल्पतरवत्

सर्वत्राऽल्पतरस्य स्थाने भूयस्कारस्य स्थानमवगन्तव्यम्, ततो भूयस्कारबन्धकेभ्योऽल्पतरस्य बन्धका अभ्यधिकाः-विशेषाधिका-द्रष्टव्या इति । किमुक्तं भवति-प्रस्तुतेऽवस्थितबन्धकेभ्यो भूयस्कारबन्धका असंख्यगुणा ततोऽल्पतरबन्धका विशेषाधिका इति भावः । तेन इहोक्तासु ज्ञानत्रिकावऽधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकोपशमलक्षणासु सप्तमार्गणासु तथा वक्ष्यमाणपञ्चानुत्तराऽऽहारकद्विक-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-देशविरति-क्षयोपशम-मिश्रदृष्टि-लक्षणासु पञ्चदशमार्गणासु गोत्रस्याऽल्पतरबन्धकानां स्थाने भूयस्कारस्य बन्धकानां स्थानमभिधातव्यम्-तत्पश्चाद् भूयस्कारबन्धकेभ्योऽल्पतरबन्धका विशेषाधिका इति भणितव्यम् । अत्रेदमवधेयम्—यद्यपि अवेदसूक्ष्मसम्पराययोः केवलसम्यग्दृष्टयो जीवास्तथापि तत्र गोत्रस्याल्पतरबन्धकेभ्यो भूयस्कारबन्धका न स्तोकतराः किन्तु संख्यातगुणा ज्ञातव्याः प्रकृतात्पतररसबन्धनिर्वर्तकावरोहकोपशमकेभ्यो भूयस्काररसनिर्वर्तकक्षपकारोहकोपशमकानां संख्यातगुणत्वात् ॥६३५॥

अथ पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु प्राह—

पज्जणरमणुस्सीसु मणपज्जवसंयमेसु ओघकमा ।
थोवा संखेज्जगुणा संखेज्जगुणा विसेसऽहिया ॥६३६॥

(प्रे०) 'पज्जणर' इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघलक्षणासु चतुर्मार्गणासु ओघक्रमात् ओघोक्तक्रमेण ओघे यत्क्रमेण यानि भूयस्कारादिपदानि भणितानि तत्क्रमेणैवात्रापि भूयस्कारादिपदानि बोद्धव्यानीत्यर्थः । तत्क्रमश्चैवम्—सप्तानामवक्तव्यबन्धकास्ततोऽवस्थितबन्धकास्ततोऽल्पतरबन्धकास्ततो भूयस्कारबन्धका इति । अथाऽल्पबहुत्वमुच्यते 'थोवा' इत्यादि, स्तोकाः संख्येयगुणाः संख्येयगुणा विशेषाधिकाश्च यथासंख्यं द्रष्टव्याः । ततश्चैवम्—एतासु मार्गणासु सप्तानामवक्तव्यरसबन्धकाः सर्वाल्पाः, ततः संख्येयगुणा अवस्थितरसबन्धकाः, तेभ्यः संख्येयगुणा अल्पतरस्य बन्धकाः ततो विशेषाधिका भूयस्कारस्य बन्धका इति । अत्र मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणाद्वये केवलाः सम्यग्दृष्टयो जीवास्ततः 'जहि केवलाऽत्थि सम्मा' इत्यादिवचनाद् गोत्रस्याऽल्पतरस्थाने तस्य भूयस्कारस्थानमभिधातव्यम्, तथा च गोत्रस्य भूयस्कारबन्धकेभ्योऽल्पतरस्य बन्धका विशेषाधिकाः ॥६३६॥ अधुना सर्वार्थसिद्धदेवादिमार्गणासु निर्दिशति—

सव्वत्थाहारजुगलसमइअछेअपरिहारेसु ।
थोवा संखेज्जगुणाऽब्भहिया कमसो अवट्ठिआईणं ॥६३७॥[उद्योतिः]

(प्रे)० 'सव्वत्थाहार' इत्यादि, सर्वार्थसिद्धाऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रयोग-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकलक्षणासु षण्मार्गणासु सप्तप्रकृतीनामवस्थितादीनाम्-अवस्थिताऽल्पतर-भूयस्काररसबन्धानां निर्वर्तकाः क्रमशः स्तोकाः संख्येयगुणा अभ्यधिकाश्च ज्ञेयाः । गोत्रवर्जज्ञानावरणादिषट्प्रकृतीनामवस्थितस्य बन्धकाः सर्वाल्पाः, तेभ्योऽल्पतरस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः ।

ततो भूयस्कारस्य बन्धका विशेषाधिका इति। एतासु षण्मार्गणासु सर्वे सम्यग्दृष्टयः सन्ति, ततः "जहि केवलाऽत्थि सम्मा" इत्यादिप्रागुक्तवचनाद् गोत्रस्याऽवस्थितबन्धकाः सर्वाल्पाः तेभ्यो भूयस्कारस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः ततोऽप्यल्पतरस्य बन्धका विशेषाधिकाः, इति गोत्रविषयकाल्पबहुत्वे विशेषोऽवगन्तव्य इति ॥६३७॥

इदानीं यासु मार्गणासु भूयस्कारादिबन्धकानामल्पबहुत्वमोघवद् भवति तासु तथैव तत्प्राह—

ओघव्व हुन्ति काये उरलाचक्खुभवियेसु आहारे ।
मोहस्स बंधगा खलु लोहे ओघव्व विण्णेया ॥६३८॥

(प्रे०) 'ओघव्व' इत्यादि, काययोगौदारिकयोगाऽचक्षुर्दर्शनभव्याऽऽहारिलक्षणासु पञ्चसु मार्गणासु सप्तानां भूयस्कारादिचतुर्विधरसबन्धस्य निर्वर्तकानामल्पबहुत्वमोघवद् भवति, तद्यथा-सप्तानामवक्तव्यबन्धकाः सर्वाल्पाः, तेभ्योऽनन्तगुणा अवस्थितबन्धकाः, तेभ्योऽप्यसंख्यातगुणा अल्पतरस्य बन्धकाः ततोऽपि विशेषाधिका भूयस्कारस्य बन्धकाः सन्ति । भावना चौघवत्कार्या । अथ लोभकषायमार्गणायां केवलमोहनीयस्यावक्तव्यबन्धसद्भावेन मोहनीयस्यैवौघवद् भवति, तदेवाऽतिदिशति—'मोहस्स' इत्यादि, लोभकषायमार्गणायां मोहनीयस्य बन्धका-भूयस्कारादिचतुर्विधरसबन्धका ओघवद् विज्ञेयाः, तद्यथा-मोहनीयस्याऽवक्तव्यरसबन्धकाः सर्वाल्पाः, ततोऽनन्तगुणा अवस्थितरसबन्धकाः, तेभ्योऽसंख्येयगुणा अल्पतरस्य बन्धकाः, तेभ्यो विशेषाधिका भूयस्कारस्य बन्धका इति ॥६३८॥ अथ लोभमार्गणायामेव शेषषट्प्रकृतीनां भूयस्कारादिरसबन्धकानां मध्ये केऽल्पाः, के बहव इत्याशङ्कायामाह—

मोहाउगवज्जाणं अवट्ठिअऽप्पयरभूअगाराणं ।
कमसोऽत्थि बंधगाऽप्पा असंखियगुणा विसेसहिया ॥६३९॥

(प्रे०) 'मोहाउगवज्जाणं'-इत्यादि, मोहनीया-ऽऽयुष्कवर्जानां षण्णां प्रकृतीनामवस्थिता-ऽल्पतरभूयस्काराणां बन्धकाः क्रमशोऽल्पा असंख्येयगुणा विशेषाधिकाः सन्ति । अयं भावः इह षण्णां प्रकृतीनामवस्थितस्य बन्धकाः सर्वाल्पाः, ततोऽसंख्येयगुणा अल्पतरस्य बन्धकाः, ततो विशेषाधिका भूयस्कारस्य बन्धकाः, लोभमार्गणायामित्यनुवर्तते । भावना च प्राग्वद् द्रष्टव्या ॥६३९॥

साम्प्रतमपगतवेदमार्गणायामाह—

गयवेए घाईणं हुन्ति अवत्तव्वगस्स सव्वप्पा ।
ताउ कमा संखगुणा भूओगारऽप्पयरगाणं ॥६४०॥
होअन्ति अघाईणं तिण्ह अवत्तव्वगस्स सव्वऽप्पा ।
तत्तो संखेज्जगुणा कमसो अप्पयरभूअगाराणं ॥६४१॥ [गीतिः]

(प्रे०) 'गयवेए' इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां घातिप्रकृतीनामवक्तव्यस्य बन्धकाः सर्वाल्पाः, श्रेणितः पततां बन्धप्रथमसमये एव तद्बन्धसद्भावात् । ततः क्रमात् संख्यातगुणाः भूयस्काराऽल्पतरयोर्बन्धकाः । तद्यथा–अवक्तव्यस्य बन्धकेभ्यो भूयस्कारस्य बन्धकाः संख्यातगुणाः, श्रेणेरवरोहकाणां प्रतिसमयं तद्बन्धसद्भावात्, ततोऽपि संख्यातगुणा अल्पतरस्य बन्धकाः सन्ति, क्षपकोपशमश्रेणिद्वयस्यारोहकाणां तद्बन्धसद्भावात् । अथाऽघातिप्रकृतीनामाह-'होअन्ति' इत्यादि, तिसृणामघातिप्रकृतीनामवक्तव्यरसबन्धस्य बन्धकाः सर्वाल्पाः, श्रेणितः पततां बन्धप्रथमसमये एव तद्बन्धसद्भावात्, ततः संख्यातगुणा अल्पतरस्य बन्धकाः, कुतः ? उपशमश्रेणेरवरोहकाणां प्रतिसमयं वर्धमानसंक्लेशेनाऽघातित्रयसत्काऽल्पतरस्यैव बन्धसद्भावात् । ततोऽपि संख्यातगुणा भूयस्कारस्य बन्धकाः । कुतः ? क्षपकोपशमश्रेणिद्वयस्यारोहकाणां तद्बन्धसद्भावात् । ततः किं ? श्रेणेरवरोहकेभ्यः केवलक्षपकाः संख्यातगुणाः ततः सुतरामघातित्रयस्याऽल्पतरबन्धकेभ्यो भूयस्कारबन्धकाः संख्यातगुणा भवन्ति ॥६४०।६४१॥ अधुना सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां पट्प्रकृतीनां भूयस्काराऽल्पतरबन्धद्वयसद्भावेन तद्बन्धकानामल्पबहुत्वमाह—

सुहुमे घाईणऽप्पा भूओगारस्स ताउ संखगुणा ।
अप्पयरस्स हवन्ते विवरीआ उण अघाईणं ॥६४२॥

(प्रे०) 'सुहुमे' इत्यादि, सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां घातिप्रकृतीनां भूयस्कारस्य बन्धका अल्पाः-सर्वाल्पाः, ततः संख्यातगुणा अल्पतरस्य बन्धका भवन्ति, अघातिप्रकृतीनां पुनः विपरीताः, तद्यथा अघातिप्रकृतीनामल्पतरस्य बन्धकाः सर्वाल्पाः, ततः संख्यातगुणा भूयस्कारस्य बन्धका विज्ञेयाः । हेत्वादिभावना च प्राग्वत् कार्या ॥६४२॥ सम्प्रति शेषमार्गणास्वाह—

सेसासु सत्तण्हं अवट्ठिअऽप्पयरभूअगाराणं ।
कमसोऽत्थि बंधगाप्पा असंखियगुणा विसेसहिया ॥६४३॥

(प्रे०) 'सेसासु' इत्यादि, शेषासु प्रागुक्तशेषासु सप्तविंशत्युत्तरशतमार्गणासु सप्तप्रकृतीनामवस्थिताऽल्पतरभूयस्काराणां बन्धकाः क्रमशोऽल्पा असंख्येयगुणा विशेषाधिकाः सन्ति । कुतः ? अत्राऽवस्थितस्य बन्धका एकाऽसंख्यातभागमात्राः, अल्पतरस्य बन्धकाः पुनर्देशोनाऽर्धभागप्रमाणाः, भूयस्कारस्य च बन्धकाः किञ्चदधिकाऽर्धभागप्रमाणा इति भागप्ररूपणायां दर्शितत्वात् ।

सप्तविंशत्युत्तरशतमार्गणाः पुनरिमाः–गतिमार्गणास्थानस्य त्रिमनुष्यसर्वार्थसिद्धभेदवर्जाः त्रिचत्वारिंशद्मार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य द्विपञ्चेन्द्रियवर्जसप्तदशमार्गणाः, कायमार्गणास्थानस्य द्वित्रसकायभेदवर्जचत्वारिंशद्मार्गणाः, योगमार्गणास्थानस्यौदारिकमिश्र-वैक्रिय-वैक्रियमिश्र-कार्मणयोगरूपाश्चतुर्मार्गणाः, त्रिवेदमार्गणाः, क्रोध-मान-मायारूपास्त्रिकषायमार्गणाः, त्र्यज्ञानमार्गणाः, देशविरतिमार्गणाऽसंयममार्गणा, शुक्ललेश्यावर्जपञ्चलेश्यामार्गणाः, अभव्यमार्गणा, क्षयो-

पशम–सास्वादन-मिश्र–मिथ्यात्वरूपाश्चतुःसम्यक्त्वमार्गणाः, असंज्ञिमार्गणाऽनाहारिमार्गणा चेति ॥६४३॥ तदेवमादेशतः सप्तानां भूयस्कारादिचतुर्विधरसबन्धकानामल्पबहुत्वं प्रदर्श्य साम्प्रतमायुष्कस्य तदेवाल्पबहुत्वमभिदधाति—

दुणराणताइआहारजुगलमणणाणसंयमेसु तहा ।
सामाइयछेएसुं परिहारे सुइलखइएसुं ॥६४४॥
आउस्सोघुत्तकमा णायव्वा बंधगा कमा थोवा ।
संखगुणा संखगुणा अब्भहियोघव्व सेसासुं ॥६४५॥

(प्रे०) '**दुणराणताइ**' इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मनुष्ययोनिमत्यानताद्यष्टादशदेवभेदा-ऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रयोग-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिक-शुक्ललेश्या-क्षायिकलक्षणास्वेकोनत्रिंशद्मार्गणासु आयुष्कस्यौघोक्तक्रमात् बन्धकाः-अवस्थिता-ऽवक्तव्या-ऽल्पतर-भूयस्कारबन्धका इत्यर्थः । क्रमात्-यथाक्रमं स्तोकाः संख्यातगुणाः संख्यातगुणा अभ्यधिकाश्च ज्ञातव्या इति गाथाक्षरार्थः । **भावार्थः पुनरेवम्**-एतासु मार्गणास्वायुष्कस्य बन्धकाः सख्याताः तत ओघवदल्पबहुत्वं न भवति, किन्तु बन्धकानामोघवत् क्रमो भवति, ततश्चाल्पबहुत्वमेवम्-अवस्थितरसबन्धकाः सर्वाल्पाः, तेभ्यः संख्यातगुणा अवक्तव्यरसबन्धकाः, ततोऽपि संख्यातगुणा अल्पतररसबन्धकाः तेभ्यो विशेषाधिकाः भूयस्काररसबन्धका इति ।

अथ शेषमार्गणास्वायुष्कस्य भूयस्कारादिचतुर्विधबन्धकानामल्पबहुत्वमोघवदतिदिशति- '**ओघव्व सेसासु**' इत्यादि, शेषासु प्रागुक्तैकोनत्रिंशद्मार्गणा वर्जयित्वा शेषचतुस्त्रिंशदुत्तरशतमार्गणास्वायुष्कस्य भूयस्कारादिचतुर्विधरसबन्धकानामल्पबहुत्वमोघवद् भवति । तद्यथा-अवस्थितस्य बन्धकाः सर्वाल्पाः, ततोऽसंख्येयगुणा अवक्तव्यस्य बन्धकाः, तेभ्योऽसंख्येयगुणा अल्पतरस्य बन्धकाः, ततोऽपि विशेषाधिका भूयस्कारस्य बन्धका इति भावना चौघवत् कार्येति ॥६४४।६४५॥

तदेवमभिहितमष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिबन्धकाल्पबहुत्वम् । तदभिहिते च गतम् 'अप्पाबहुग' इत्यनेनोद्दिष्टं त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारम् । गते च तस्मिन्निष्ठितस्त्रयोदशद्वारात्मको द्वितीयो भूयस्काराख्योऽधिकारः ।

॥इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे द्वितीये भूयस्काराधिकारे त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारं समाप्तम्॥



* अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिरसबन्धकानामल्पबहुत्वप्रदर्शकं यन्त्रम् *

ओघतः—(१) सप्तानामवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः (२) ततोऽवस्थितबन्धका अनन्तगुणाः (३) ततोऽल्पतरबन्धका असंख्यगुणाः (४) ततो भूयस्कारबन्धका विशेषाधिकाः । **आयुषः**—(१) अवस्थितबन्धकाः स्तोकाः (२) अवक्तव्य-बन्धका असंख्यगुणाः (३) अल्पतरबन्धका असंख्यगुणाः (४ भूयस्कारबन्धका विशेषाधिकाः । (गाथा ६३१-६३२)

	सप्तकर्मणाम्					आयुष्कस्य	
मार्गणाः ↓	अवक्त. स्तो. अव. अस. गु अल्प. ,, ,, भूय. विशे.	अवक्त. स्तो. अव. स. गु. अल्प. ,, ,, भूय. विशे.	अवस्थि. स्तो. अल्प. सं. गु. भूय. विशे.	अवक्त. स्तो. अव. अन. गु. अल्प. अस. गु. भूय. विशे.	अवस्थि स्तो. अल्प. असं गु भूय. विशे	अवस्थित. स्तोक. अवक्तव्य स. गु. अल्प. स. गु. भूय. विशेषा.	अवस्थित स्तोक.: अवक्तव्य. असं. गु. अल्प. ,, ,, भूय. विशेषा.
गति०	मनुष्योघ० १	पर्याप्तमनुष्य. मानुषी० २	सर्वार्थसिद्ध० १ *		शेष. ४३ *	पर्याप्तमनु मानुषी. प्रानतादि० १८=२०	शेष. २७
इन्द्रिय०	द्विपञ्चे० २				शेष. १७		सर्वे. १६
काय०	द्वित्रस० २				शेष ४०		सर्वे. ४२
योग०	सर्वमनोवचो० १०		* आहा० तन्मिश्र २	काययोगोघ० औदा० २	औ. मिश्र, वैक्रिय. तन्मिश्र कार्मण ४	आहा०-तन्मिश्र. * २	शेष. १४
★वेद०					त्रिवेद ३		त्रिवेद. ३
कषाय०				लोभ ४ (केवल मोहनीयस्य)	सर्व ४ (लोभ-६ कर्मणा)		सर्वे. ४
ज्ञान०	* त्रिज्ञान० ३	मन पर्यव० * १			अज्ञान ३	मन पर्यव १	शेष. ६
संयम०		*संयमोघ० १	सामा० छेदो० परिहार०३ *		* देशविरत असंयम. २	संयम. सामा. छेदो परिहार. ४	देशविरत. असंयम. २
दर्शन०	चक्षुरवधि *२			अचक्षु० १			सर्वे ३
लेश्या०	शुक्ल० १				शेष. ५	शुक्ल १	शेष. ५
भव्य०				भव्य० १	अभव्य० १		सर्वे. २
सम्य०	सम्य. क्षायिक * उपशम० ३				* वेदक. सास्वा *मिश्र मिथ्या ४	क्षायिक. १	शेष. ४
संज्ञि०	संज्ञि० १				असंज्ञि. १		सर्वे. २
आहारि				आहारि० १	अनाहारि. १		आहारक. १
सर्वाः-	२५	४	६	५+१	१२७+(१)	२६	१३४
गाथाङ्कः-	६३३-४	६३६	६३७	६३८	६४३ (६३९)	६४४-५	६४५

* **अपवादः**—अनुत्तर० ५, आहारक-तन्मिश्रयोग० चतुर्ज्ञान० ४, संयम० सामा० छेदो० परिहार० देश-विरति० अवधिदर्शन० सम्य० उपशम० वेदक० क्षायिक० मिश्र० २२ मार्गणासु गोत्रस्याल्पतरस्थाने भूयस्कारः भूयस्कारस्य स्थानेऽल्पतरोऽभिधातव्यः । (गाथा ६३५)

★**अपगतवेदे**-घातिनीनाम्-(१) अवक्तव्य० स्तोका (२) भूय० संख्यातगुणाः (३ अल्प० संख्येयगुणाः । अघातिनी-नाम्-(१)अवक्तव्य० स्तोकाः (२) अल्प० संख्येयगुणाः (३) भूय० संख्येयगुणाः । 卐 **सूक्ष्मसंपराये**:-त्रिघाति०-(१) भूय० स्तोकाः (२) अल्प० संख्यगुणा । **अघातिनाम्**-(१) अल्प. स्तोकाः (२) भूय. संख्य. गु. । (गाथा ६४०-१-२)

॥ ॐ ह्रीँ अर्हँ नमः ॥

पदनिक्षेपाधिकारः

गतो द्वितीयोऽधिकारः । सम्प्रति प्रस्तुतरसबन्धविधानग्रन्थप्रारम्भे **"पयणिक्खेवो"** इत्यनेन संज्ञामात्रतः परिकीर्तितस्य तृतीयस्य पदनिक्षेपाख्याऽधिकारस्य व्याख्यानावसरः । तत्र च त्रीण्यनुयोगद्वाराणि, तान्येव नामतः क्रमतश्चाह—

तइए पयणिक्खेवे अहिगारे तिण्णि हुन्ति दाराइं ।
संतपयं सामित्तं अप्पाबहुगं ति जहकमसो ॥६४६॥

(प्रे०) **'तइए'** इत्यादि, तृतीये-अधिकारक्रमापेक्षया तृतीये **"पयणिक्खेवे"** इति भूयस्कारादिविशेषनिरूपणात्मके पदनिक्षेपाभिधानाधिकारे त्रीणि द्वाराणि भवन्ति । वृद्धिहान्यवस्थानरूपाणां भूयस्कारादित्रयाणां जघन्योत्कृष्टात्मके पदद्वये निक्षेपणात्-चिन्तनात् प्रस्तुताऽधिकारः पदनिक्षेप इत्यभिधीयते । **एतदुक्तं भवति–**"पुव्वसमयाउ समये अणंतरे"इत्यादिना भूयस्काराधिकारप्रारम्भे पूर्वसमयादुत्तरसमये प्रभूततरं रसं बध्नतो या रसबन्धवृद्धिस्तामपेक्ष्य भूयस्काररसबन्धः प्रोक्तः । अल्पतरं रसं बध्नतो या रसबन्धहानिस्तामधिकृत्याऽल्पतररसबन्धः प्रदर्शितः । इत्थमेवाऽनन्तरसमये तुल्यं रसं बध्नतो यस्तावन्मात्रोऽवस्थितरसबन्धस्तमाश्रित्याऽवस्थितरसबन्धः प्ररूपितो ग्रन्थकारेण । नवरं तत्र भूयस्कारादिबन्धतया निगदितानि वृद्ध्यादीनि सामान्यत उत्कृष्टादिभेदमनधिकृत्यैव प्रदर्शितानि । तानि पुनरुत्कृष्टादिपदे विशेषरूपेण यत्र चिन्त्यन्ते सोऽयं प्रकृताऽधिकारः पदनिक्षेप उच्यते। तत्र त्रीणि द्वाराणि सन्ति, (१) सत्पदम्, (२) स्वामित्वम्, (३) अल्पबहुत्वं च । तान्येवाह– **'संतपयं'** इत्यादि, गतार्थम्, इह केवलं पदनिक्षेपस्य प्राग्बन्धात् तत्तद्द्वारे उत्कृष्टजघन्यपदद्वयापेक्षया भूयस्कारादिविशेषवृद्ध्यादेः सत्पदादिकं चिन्तयिष्यते इति ॥ ६४६ ॥

॥ अथ प्रथमं सत्पदद्वारम् ॥

कृतं प्रस्तुताऽधिकारगतानां द्वाराणां नामोत्कीर्तनम् । साम्प्रतं तेषु द्वारेषु मूलप्रकृतिरसबन्धमधिकृत्य पदनिक्षेपं चिकीर्षुः प्रथमे सत्पदद्वारे ओघाऽऽदेशाभ्यां सत्पदान्येकगाथया प्रतिपादयन्नाह—

अट्ठण्हं अत्थि दुहा वड्ढी हाणी तहा अवट्ठाणं ।
एवं सव्वासु णवरि अवेअसुहमेसु णो अवट्ठाणं ॥६४७॥ [गीतिः]

(प्रे०) **'अट्ठण्हं'** इत्यादि, अष्टप्रकृतीनां 'द्विधा'-जघन्योत्कृष्टभेदाद् द्विधा वृद्धिः, द्विधा हानिस्तथा द्विधाऽवस्थानं भवति ओघत इति शेषः । **अयम्भावः**-ओघतोऽष्टप्रकृतीनामुत्कृष्टवृद्धिः,

उत्कृष्टहानिस्तथोत्कृष्टाऽवस्थानमित्येतत्पदत्रयं सदेव, एवं जघन्यवृद्धिः, जघन्यहानिस्तथा जघन्याऽवस्थानमित्येतत्पदत्रयमपि सदेव, न पुनरेकमपि गर्दभशृङ्गवदसत् ।

आदेशत आह-'एवं सव्वासु' एवम्-ओघोक्तप्रकारेणैव सर्वासु मार्गणासु उत्कृष्टवृद्धयादीनि षट्पदानि सद्भूतान्येवेत्यर्थः, अत्रायुर्विषये सर्वशब्देनाऽऽयुर्बन्धप्रायोग्यत्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणा वेदितव्याः, सप्तकर्मविषये तु सप्तत्यधिकशतमार्गणा इति । ओघवदतिदिष्टे योऽतिप्रसङ्गस्तं निराचिकीर्षुरपवादमाह-'णवरि' इत्यादि-नवरमपगतवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वयेऽवस्थानं नास्ति । सामान्येन निषिद्धे जघन्योत्कृष्टात्मके विशेषावस्थाने निषिद्धे एव भवतः, सामान्यनिवृत्तौ तत्सकलविशेषनिवृत्तेरनिवार्यत्वात् ,तत एतन्मार्गणाद्वये चत्वार्येव पदानि सन्ति,सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां पुनर्मोहनीयस्य बन्धाभावेन षण्णां कर्मणामेव तानि पदानि सद्भूतानीत्यपि वेदितव्यम् ।

अत्रेदमवगन्तव्यम्–इह जघन्यानुभागबन्धादुत्प्लुत्याऽनन्तरसमये एवोत्कृष्टानुभागं बध्नतो जीवस्योत्कृष्टवृद्धिर्नाभिप्रेता, एवं वैपरीत्येनोत्कृष्टहानिरपि नाभिमता, तथाविधवृद्धयादीनां कदाचिदप्यऽनुपलम्भात्, किन्त्वत्र या वृद्धिरोघतः सर्वजीवेषु, आदेशतश्च तत्तद्मार्गणावर्तिजीवेषु सर्वाधिका यदपेक्षयाऽन्या वृद्धिरधिका न विद्यते इति भावः, सा वृद्धिरत्रोत्कृष्टवृद्धित्वेनाऽभिप्रेता, एवं वैपरीत्येनोत्कृष्टहानिरपि द्रष्टव्या । तत ओघतः सर्वमार्गणास्थानेषु च तयोः सत्त्वं प्रतिपादितम् । भूयस्काराधिकारोक्ततत्तत्प्रकृतिसत्कभूयस्काराऽल्पतररसबन्धानां मध्ये येषाम व्यवहितोत्तरमवस्थानं लभ्यते, तेष्ववस्थानानन्तरप्रागभाविषु भूयस्काराल्पतररसबन्धेषु यौ उत्कृष्टपदगतौ भूयस्काराल्पतररसबन्धौ तयोर्मध्ये बन्धेन यावतो रसस्य वर्धनात् भूयस्कारो जायते ततोऽधिकरसस्य हान्याल्पतरबन्धस्तदाऽल्पतरोत्तरसमये प्रवर्तमानोऽवस्थितरसबन्ध इहोत्कृष्टावस्थानं भवति , यदि तयोरुत्कृष्टपदगतयोस्तथाविधयोरवस्थानानन्तरप्राग्भाविनोर्भूयस्काराल्पतरयोर्मध्ये यावतो रसस्य हान्याऽल्पतरबन्धो जायते ततोऽधिकरसस्य वर्धनेन भूयस्कारबन्धस्तदा भूयस्कारोत्तरमुत्कृष्टमवस्थानं भवति । तथाविधं च तत् कुत्रचित् नरकौघादिमार्गणासु मार्गणाभाव्युत्कृष्टहान्युत्तरं लभ्यते, कुत्रचित् पुनर्मार्गणाभाव्युत्कृष्टवृद्धिहान्योरनन्तरं न प्राप्यते, किन्त्वन्यत्रैव,यथा-अघातिकर्मणामुत्कृष्टमवस्थानं मनुष्यौघादिमार्गणासु । अपगतवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणावर्जशेषाष्टषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु तु एतादृशमुत्कृष्टावस्थानं लभ्यत एव इति । इत्थं जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानामपि भावना विधेया ॥६४७॥ तदेवं दर्शितान्योघाऽऽदेशाभ्यामष्टप्रकृतिसत्कजघन्योत्कृष्टवृद्धयादिसत्पदानि यथासंभवम् । दर्शितेषु च तेषु गतं "संतपयं" इत्यनेनोदिष्टं तृतीयाधिकारस्य प्रथमं सत्पदद्वारं ।

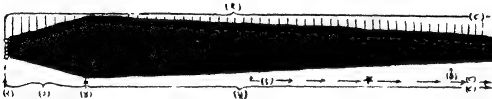
॥इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे तृतीये पदनिक्षेपाधिकारे प्रथमं सत्पदद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

गतं सत्पदद्वारम् । साम्प्रतं स्वामित्वद्वारस्य व्याख्यानावसरः । तत्रौघतोऽष्टानामुत्कृष्टवृद्धयादीनां स्वामिनमभिधित्सुरादौ तावद् घातिचतुष्कस्योत्कृष्टवृद्धेः स्वामिनं गाथायुग्मेनाऽऽह—

घाईणं गुरुवड्ढिं बंधंतो अंतकोडिकोडिठिइं ।
चउठाणिययवमज्झुवरित्थोऽणंतगुणवड्ढीए ॥६४८॥
रसमन्तमुहुत्तं जा वड्ढंतो जेट्ठसंकिलेसेणं ।
गुरुडायं गचा गुरुठिइं गुरुरसं च बंधंतो ॥६४९॥

(प्रे०) 'घाईणं' इत्यादि, इह करोति इतिक्रियापदमध्याहृतम्, तथा च 'वड्ढंतो' इत्यादिना वक्ष्यमाणस्वरूपो जीवः 'घाईणं' इति ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायलक्षणानां चतसृणां घातिप्रकृतीनां 'गुरुवड्ढिं' इति उत्कृष्टां रसवृद्धिं करोति, उत्कृष्टरसवृद्धेः स्वामी भवतीत्यर्थः । को भवतीत्याह-'बंधंतो' इत्यादि, चतुःस्थानिकयवमध्योपरिस्थोऽन्तःकोटिकोटिसागरोपमस्थितिं बध्नन्नन्तमुहूर्तं यावद्रसं च अनन्तगुणवृद्ध्या वर्धयन् 'ज्येष्ठसंक्लेशेन'--उत्कृष्टसंक्लेशमवाप्येत्यर्थः, 'गुरुडायं' उत्कृष्टकालां गत्वा-प्राप्य उत्कृष्टां स्थितिमुत्कृष्टरसं च युगपद् 'बंधतो' इति बध्नन् जीव इति सान्वयः पदसंस्कारः । भावार्थः पुनरयम्-प्रागिहैव स्थानद्वारे शुभाशुभप्रकृतीर्बध्नतां जीवानां द्वि-त्रि-चतुःस्थानभेदभिन्नो रसः प्रतिपादितः तत्र च घातिप्रकृतीनामशुभत्वात् तासां घातिनीनां चतुस्थानिकरसबन्धं कुर्वतां जीवानां स्वप्रायोग्यजघन्यस्थितेरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्थानेषु वर्तमानानां स्थापनामपेक्ष्य या यवाकृतिः,—



(१) चतुःस्थानिकरसबन्धकानां बन्धप्रायोग्याणि स्थितिबन्धस्थानानि ।
(२) अत्र सर्वजघन्यस्थितिबन्धस्थानम्, अत्र स्तोका बन्धकाः ।
(३) जघन्यस्थितेरारभ्य सागरोपमशतपृथक्त्वप्रमाणानि स्थितिबन्धस्थानानि, अत्र समयसमयोत्तरेषु स्थितिस्थानेषु विशेषाधिका विशेषाधिका बन्धकाः, इमानि यवमध्याद्धस्तनानि स्थितिबन्धस्थानानि ।
(४) यवमध्यलक्षणं स्थितिबन्धस्थानम्, अत्र सर्वाधिकबन्धकाः ।
(५) इमानि यवमध्यादुपरितनानि स्थितिबन्धस्थानानि, अत्र समय-समयस्थितिवृद्धौ विशेषहीनविशेषहीनबन्धका यावत् त्रिंशत्कोटिकोट्यादिमाना ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टा स्थितिः ।
(६) यत्र स्थितिबन्धस्थाने वर्तमानो जीव उत्कृष्टडायेनोत्कृष्टस्थितिबन्धमुत्कृष्टरसबन्धं च कर्तुं शक्नोति तत्स्थानम् ।
(७) उत्कृष्टपदगतान्तःकोटिकोटीसागरोपमलक्षणं स्थितिबन्धस्थानम् ।
(८) यावज्ज्ञानावरणादिमूलप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धः ।
→★(६)इहान्तमुहूर्तं यावद्यथोत्तरसमयेषु अनन्तगुणानन्तगुणरसबन्धं कृत्वैकहेलया युगपदुत्कृष्टस्थितिमुत्कृष्टरसं च बध्नन्नुत्कृष्टरसबन्धवृद्धेः स्वामी, ।।।।स्थितिबन्धस्थानप्रदर्शकानि चिह्नानि ।

तदपेक्षया यश्चतुःस्थानिकः यवः तस्य मध्यात्-सर्वाधिकबन्धकप्रायोग्यस्थितिबन्धस्थान-लक्षणात् मध्यभागात् एतदुक्तं भवति-चतुःस्थानिकरसं बध्नतां जीवानां प्रायोग्येषु स्थितिस्थानेषु जघन्यस्थितिस्थानादारभ्य सागरोपमशतपृथक्त्वप्रमाणेषु स्थितिबन्धस्थानेषु यथोत्तरं विशेषाधिका विशेषाधिका जीवाः प्राप्यन्ते, ततः पुनः समयसमयवृद्धया वर्धमानेषु उत्तरोत्तरस्थितिस्थानेषु विशेष-हीनविशेषहीनक्रमेण जीवाः प्राप्यन्ते, इह यज्जघन्यस्थितेः सागरोपमशतपृथक्त्वप्रमाणस्थितिस्थानानि गत्वा वर्तमानं यत् स्थितिस्थानं भवति तत्र पूर्वोत्तरस्थेकैकस्थितिस्थानादधिकतमबन्धकराशिर्लभ्यते तदेव स्थापनासमुद्भूतयवाकृतौ मध्यमं स्थानं तस्मान्मध्यमस्थितिबन्धस्थानात् **'उवरित्थो'** इति, उपरिस्थः अधिकाऽधिकतरस्थितिबन्धस्थानलक्षणो यश्चतुस्थानिकयवमध्योपरिभागः तत्रस्थः, स चातिदीर्घः, अन्तःकोटीकोटीप्रभृतिस्थितेः उत्कृष्टस्थितिपर्यन्तानां सर्वेषां स्थितिबन्धस्थानानां तत्र प्रवेशात्, अत उक्तम् **'बंधंतो'** इत्यादि, अन्तःकोटिकोटिस्थितिं बध्नन् जीवः, य उत्कृष्टस्थिति-बन्धवृद्धिस्वामी **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविधाने** पदनिक्षेपाधिकारे निरूपितः, स एव प्राक्-समयवर्ती इति भावः, स च तत्र ततः स्थानादनुपदमेव उत्कृष्टस्थितिं बध्नन्नुत्कृष्टस्थितिवृद्धि-स्वामितया भणितः, इह तु न तथा तर्हि किमित्याह–**'अनन्तगुणवड्ढीए'** इत्यादि, तामेवाऽन्तः-कोटिकोटिस्थितिं बध्नन् रसं पुनरन्तर्मुहूर्तं यावदनन्तगुणवृद्धया प्रतिसमयं तथाविधरसबन्धसंक्लेशस्य वर्धनेन वर्धयन्ननुपदं यदा उत्कृष्टरसदायां 'गत्वा' संप्राप्य उत्कृष्टस्थित्या सह उत्कृष्टरसमपि 'बध्नन्' इति बध्नातीत्यर्थः तदा उत्कृष्टरसवृद्धेः स्वामी भवतीति प्राग्योजितमेव । इह यो य उत्कृष्ट-स्थितिबन्धवृद्धेः स्वामी प्राक् **स्थितिबन्धविधाने** उक्तः स एव उत्कृष्टरसबन्धवृद्धेः स्वामी भवति, नान्यः, सोऽपि यथोक्तान्तःकोटिकोटिसागरोपमस्थितिं बध्नन् अन्तर्मुहूर्तं यावद् अनन्त-गुणाऽनन्तगुणक्रमेण रसबन्धं वर्धयति तादृक्कश्चिदेव, न तु सर्वः, । एतदुक्तं भवति-यथा कश्चित् प्लवगो दीर्घतरां फालां प्रदत्तुकामः पूर्वं यथोत्तरं वर्धमानाऽन्तरान् कतिपयान् क्रमान् दत्त्वा उत्प्लवते तथाऽयमपि जीवो तथाविधरसबन्धाध्यवसायाधीनामुत्कृष्टरसबन्धवृद्धिं कर्तुकामः यथोक्त-स्थितिबन्धस्थाने वर्तमानः सन् प्रतिसमयमनन्तगुणक्रमेण रसं वर्धयति तदनु च युगपदुत्कृष्ट-स्थितिमुत्कृष्टरसं च बध्नन् उत्कृष्टरसवृद्धिं करोतीति ॥ ६४८।६४९ ॥

सम्प्रति घातिचतुष्कोत्कृष्टहान्याः स्वामिनं निगदन्नाह—

तिव्वरसं बंधंतो यो मरियेगिंदिये समुप्पण्णो ।
तप्पाउग्गजहण्णं गओ स कुणए गुरुं हाणिं ॥६५०॥

(प्रे०) **'तिव्वरसं'** इत्यादि, भवचरमसमये चतसृणां घातिप्रकृतीनामित्यनुवर्तते, तीव्र-रसम् उत्कृष्टानुभागं बध्नन् यो जीवः **'मरियेगिंदिये समुप्पण्णो'** इति, अनन्तरसमये मृत्वा-कालं कृत्वैकेन्द्रियजातावेकेन्द्रियतया समुत्पन्नः, एतादृशो हीशानकल्पान्तवासी देव एव भवति,

नान्यः, भवचरमसमये तीव्रसंक्लेशेन घातिचतुष्कसत्कोत्कृष्टाऽनुभागबन्धं कुर्वतां संज्ञिपञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्मनुष्याणामनन्तरसमये नरकगतावेवोत्पादात्, शेषदेवनारकाणां तु स्वभावत एवैकेन्द्रियतयाऽनुत्पादाच्चेति । अथैकेन्द्रियतया समुत्पन्नः सन्नसौ किं कुर्वन्नुत्कृष्टरसबन्धहानिस्वामी भवतीत्याह— '**तप्पाउग्ग**'इत्यादि, तत्र चैकेन्द्रियभवप्रथमसमय एव 'तत्प्रायोग्यजघन्यं गतः'तस्य-उत्कृष्टरस-बन्धादागतस्य भवप्रथमसमयवर्त्येकेन्द्रियस्य प्रायोग्यो यो घातिचतुष्कसत्कजघन्यरसबन्धः स तत्प्रायोग्यजघन्यः, तं गतः-प्राप्तः, तं रसबन्धं कुर्वन्नित्यर्थः । '**स कुणए गुरु हाणिं**' इति स तथाकुर्वन् जीवः गुरुम्-उत्कृष्टां हानिं करोति । घातिचतुष्कसत्कोत्कृष्टहानेः स्वामी भवतीत्यर्थः ॥ ६५० ॥

अधुना घातिचतुष्कस्योत्कृष्टाऽवस्थानस्य स्वामिनं प्रतिपादयन्नाह—

यो सागारखयेणं जेट्ठा तदरिहजहण्णरसबंधे ।
पडिओऽणंतरसमये स कुणइ जेट्ठं अवट्ठाणं ॥६५१॥

(प्रे०) '**यो सागारखयेणं**' इत्यादि, यो घातिचतुष्कसत्कोत्कृष्टाऽनुभागबन्धकः 'ज्येष्ठात्' उत्कृष्टानुभागबन्धात्, घातिचतुष्कसत्कोत्कृष्टानुभागं बद्ध्वेत्यर्थः । '**सागारखयेण**'इति, उत्कृष्ट-रसबन्धप्रयोजकीभूतस्य साकारोपयोगस्य क्षयेण-भ्रंशनेनानाकारोपयोगतया परावृत्त्येत्यर्थः । '**तदरिहजहण्णरसबन्धे**' तस्य-उत्कृष्टरसबन्धं कुर्वतः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टिजीवस्याऽनाकारोपयोगप्राप्तौ यः प्रायोग्यः जघन्यः सर्वस्तोकः रसबन्धः स तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धः तत्र पतित्वा-तं जघन्यरसबन्धं कृत्वेति भावः '**अणंतरसमये**'इति तस्याऽनन्तरसमये अनाकारोपयोग-द्वितीयसमये पूर्वसमयबद्धरसतुल्यं रसं बध्नन् स जीवो ज्येष्ठम्-उत्कृष्टमवस्थानं करोति, घातिचतुष्क-सत्कोत्कृष्टाऽवस्थानस्य स्वामी भवतीत्यर्थः ॥६५१॥

तदेवमोघतो घातिचतुष्कस्योत्कृष्टवृद्ध्यादीनां स्वामिनः प्रदर्श्य, इदानीमघातित्रयस्य तान् चिन्तयन्नादौ तावदुत्कृष्टवृद्धेः स्वामिनमाह—

खवगोऽणुभागबंधे चरमे खलु सुहमसंपरायस्स ।
कुणए जेट्ठं वड्ढि तिण्ह अघाईण कम्माणं ॥६५२॥

(प्रे०) '**खवगो**' इत्यादि, त्रयाणामघातिनां कर्मणां 'ज्येष्ठाम्' उत्कृष्टां वृद्धिं सूक्ष्मसम्परायस्य 'चरमे' चरमसामयिकेऽनुभागबन्धे वर्तमानः क्षपकः 'खलु' एव करोति, नान्य इत्यर्थः । तद्यथा-सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके क्षपकस्य द्विचरमसमयतश्चरमसमये या त्र्यघातिसत्करसवृद्धिर्भवति सा सर्वातिशायिनी, यतोऽघातित्रयस्य या वृद्धयो भवन्ति, तासु सर्वासु एषा वृद्धिरनन्तगुणाधिका, क्षपकाणां यथोत्तरसमयमनन्तगुणक्रमेण विशुद्ध्यमानतया प्रथम-द्वितीयसमयक्षपकयोर्यद् विशुद्धि-

तारतम्यं तदपेक्षया द्वितीयतृतीयसमययोः क्षपकयोस्तदधिकतरं भवति, ततोऽपि तृतीय-चतुर्थसमययोः, एवं यावत् त्रिचरम-द्विचरमक्षपकयोर्विशुद्धितारतम्यं ततो द्विचरम-चरमसमयक्षपकयोस्तदधिकतमं तथा च रसबन्धतारतम्यमपि तदनुवर्तमानं सद् द्विचरमसमयात् चरमसमयं गच्छतः क्षपकस्येति असावेवोत्कृष्टवृद्धिस्वामीति ॥६५२॥

साम्प्रतमघातित्रयस्योत्कृष्टहानेः स्वामिनं निर्वक्ति—

उवसामगो भविस्सइ यो अकसायी अणंतरखणे सो ।
मरिअ तदरिहजहण्णे जाअसुरो कुणइ गुरुहाणिं ॥६५३॥

(प्रे०) **'उवसामगो'** इत्यादि, य उपशमकोऽनन्तरक्षणेऽकषायी भविष्यति, इह नासौ अकषायत्वमवश्यं गमिष्यति 'भविष्यती'त्यनेनाकषायत्वयोग्यताया एव विवक्षितत्वात् तथा चासौ सकषायत्वचरमसमयवर्त्येवेति ज्ञेयम्, कस्मात् ? **'मरिअ'** इत्यादिना, अनन्तरसमये भवक्षयेण तस्य देवतयोत्पत्तेर्दर्शयिष्यमाणत्वात् । तथा च सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने सकषायावस्थायाश्चरम समये वर्तमान एवंभूतो य उपशमकः स **'मरिअ'** इति मृत्वा **'जाअसुरो'** इति जातसुरः देवतयोत्पद्येति भावः, ततः किमित्याह **'तदरिहजहण्णे'** इति तत्र देवभवप्रथमसमये तस्यार्हे बन्धप्रायोग्ये जघन्ये, रसबन्धस्थाने वर्तमानः सन **'कुणइ गुरुहाणिं'** इति उत्कृष्टां रसबन्धहानिं करोति, स तथा कुर्वन् जीवोऽघातित्रयस्योत्कृष्टरसबन्धहानेः स्वामी भवतीति भावः । इह क्षपकस्य यद्यपि अघातित्रयस्योत्कृष्टरसबन्धो भवति, तथापि असौ तं बद्ध्वाऽनन्तरसमये नियमतोऽबन्धको भवति, तथा च सति न लभ्यते तदपेक्षया स्तोकमात्राऽपि रसबन्धहानिः । प्रपतत्प्रथमसमयोपशमकस्यानन्तरसमये रसबन्धभावेन शेषोपशमकापेक्षया लभ्यते महती हानिस्तथाऽपि प्रपतत्प्रथमसमयोपशमकापेक्षयाऽऽरोहकचरमसमयसूक्ष्मसम्परायोपशमकस्यानन्तगुणरसबन्धभावेन तं रसं बद्ध्वा भवक्षयेण कालं कुर्वत एव गरीष्ठा रसहानिः सम्पद्यते । अतः शेषोपशमकान् विहाय सूक्ष्मसंपरायचरमसमयवर्तिनं मुमूर्षूपशमकं गृहीत्वा तस्यैवानन्तरसमये उत्कृष्टहानिर्दर्शितेति ॥६५३॥

अथौघतोऽघातित्रयस्योत्कृष्टाऽवस्थानं निरूपयति—

सट्ठाणे सुविसुद्धो अपमत्तोऽणंतगुणिअवड्ढीए ।
वड्ढिअ से समये खलु अवट्ठिओ गुरुमवट्ठाणं ॥६५४॥

(प्रे०) **'सट्ठाणे'** इत्यादि, स्वस्थाने सुविशुद्धो न पुनः श्रेणिगतः, एवंभूतो यः 'अप्रमत्तः' अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती मुनिः **'अणंतगुणिअवड्ढीए'** इति यथोत्तरसमयेऽनन्तगुणेन गुणितया रसबन्धवृद्ध्या **'वड्ढिअ'** इति बध्यमानं रसं वर्धयित्वा, **'से समये'** इति तस्या निरन्तरानन्तगुणरसबन्धवृद्धेरनन्तरसमये **'अवट्ठिओ'** इति अवस्थितः सन्, पूर्वसमयबद्धरसेन तुल्यमेव रसं बध्नन्निति भावः, **'गुरुमवट्ठाणं'** इति प्रस्तुतत्वादायुर्वर्जानां तिसृणामघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टमवस्थानम्, करो-

तीत्यनन्तरगाथातोऽनुवर्तते, इह 'स्वस्थाने' इत्यनेन श्रेणिगतानां जीवानां वर्जनम् , यथोत्तरमनन्तगुणविशुद्ध्यमानानां तेषां स्वस्थानमुविशुद्धाप्रमत्तसंयतापेक्षयाऽधिकतररसबन्धवृद्धेः सद्भावेऽपि तदनु अवस्थानस्याऽसद्भावात् , अवस्थानस्वामिनिरूपणस्य प्रस्तुतत्वाच्च । यत् पुनरवस्थानसमयादर्वाग् यथोत्तरमनन्तगुणवृद्धिप्रदर्शनं तत्तु प्रागुक्तफलवगन्यायात् , एवमन्यत्रापि तथाविधवृद्धिप्रदर्शनफलमवगन्तव्यमिति ॥६५४॥

साम्प्रतमायुष्कस्योत्कृष्टवृद्धेः स्वामिनं दर्शयति—

तप्पाउग्गजहण्णा पत्तो तिव्वं विसुद्धिमपमत्तो ।
जेट्ठरसं बंधंतो कुणए गुरुवड्ढिमाउस्स ॥६५५॥

(प्रे०) '**तप्पाउग्गजहण्णा**' इत्यादि, आयुष्कस्य गुरुवृद्धिम्-उत्कृष्टवृद्धिं करोतीति सम्बन्धः । कः करोति ? अप्रमत्तो मुनिः, कीदृशः ? '**तप्पाउग्गजहण्णा**'इत्यादि, तत्प्रायोग्यजघन्याया विशुद्धेः-तत्प्रायोग्यजघन्यविशुद्धित इत्यर्थः तीव्राम्-उत्कृष्टां विशुद्धिं प्राप्तः सन् , तस्मात् किम् ? ज्येष्ठरसं बध्नन्-उत्कृष्टरसबन्धं कुर्वन् यथोक्तविशेषणविशिष्टोऽप्रमत्तमुनिरायुष्कस्योत्कृष्टवृद्धेः स्वामी भवतीति भावः ॥६५५॥

इदानीमायुष्कस्योत्कृष्टहानेरुत्कृष्टाऽवस्थानस्य च स्वामी दर्श्यते—

सागारखयेण गओ तिव्वा तदरिहजहण्णरसबंधं ।
जेट्ठं हाणिं कुणए से काले गुरुमवट्ठाणं ॥६५६॥

(प्रे०) '**सागारखयेण**' इत्यादि, आयुष्कस्योत्कृष्टानुभागबन्धकः तीव्रात्-उत्कृष्टानुभागबन्धतः साकारक्षयेण-उत्कृष्टरसबन्धप्रयोजकीभूतस्य साकारोपयोगस्य क्षयेण-भ्रंशनेनानाकारोपयोगतया परावृत्त्येत्यर्थः । 'तदर्हजघन्यरसबन्धं'-तस्य उत्कृष्टरसबन्धं कुर्वतोऽनाकारोपयोगप्राप्तौ यः सर्वस्तोको जघन्यरसबन्धः, स तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धस्तं गतोऽप्रमत्तमुनिरायुष्कस्य ज्येष्ठामुत्कृष्टां हानिं करोति । तथाविधो मुनिरायुष्कस्योत्कृष्टहानेः स्वामी भवतीति भावः । अथोत्कृष्टाऽवस्थानस्य स्वामी चिन्त्यते-'**से काले गुरुमवट्ठाणं**' इति '**से**'-आनन्तर्यार्थकः ततश्च तस्या उत्कृष्टहानेरनन्तरसमये आयुष्कस्याऽवस्थितबन्धसद्भावेन स एवाऽऽयुष्कस्योत्कृष्टहानिस्वामी गुरुमुत्कृष्टमवस्थानं करोति ॥६५६॥

तदेवमोघतोऽष्टप्रकृतीनामुत्कृष्टपदगतवृद्ध्यादीनां स्वामिनं प्रदर्श्य साम्प्रतं तमेवाऽऽदेशतो विभणिषुरादौ तावत्सर्वासु मार्गणास्वष्टप्रकृतीनामुत्कृष्टपदगतवृद्धेः स्वामिनमेकया गाथया दर्शयति—

यो गुरुरसस्स सामी हवेज्ज सव्वासु अट्ठकम्माणं ।
स चिअ कुणइ गुरुवड्ढिं तदरिहमंदाऽगओ तेसिं ॥६५७॥

(प्रे०) 'यो' इत्यादि, सर्वासु सप्तत्युत्तरशतलक्षणासु मार्गणास्वष्टानामपि कर्मणामुत्कृष्टरसवृद्धिं स एव करोति यस्तत्र तेषामुत्कृष्टरसबन्धस्य स्वामी। उत्कृष्टरसबन्धक एवोत्कृष्टवृद्धिं करोतीतिभावः। किं सर्व उत्कृष्टरसबन्धक उत्कृष्टवृद्धिं करोति ? नेत्याह–'तदरिहमंदाऽगओ' इति तदर्हमन्दादागतः, कोऽर्थः ? उत्कृष्टरसबन्धकः सर्वोऽपि नोत्कृष्टवृद्धेः स्वामी किन्तु यो यथासंभवं मन्दतमं रसबन्धस्थानं बध्नन्ननन्तरसमये मार्गणाप्रायोग्यमुत्कृष्टरसबन्धस्थानं बध्नाति स उत्कृष्टरसबन्धक उत्कृष्टवृद्धिं करोतीति । अथ सुबोधार्थमत्र किञ्चिद्विस्तरतो दिदर्शयिषवो वयमादौ तावत्तिसृणामघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टवृद्धिस्वामिनं दर्शयामः–त्रिमनुष्य-द्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रस-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगौघौदारिककाययोगाऽपगतवेद-लोभकषाय-चतुर्ज्ञान-संयमौघ-सूक्ष्मसम्परायत्रिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ क्षायिक-संज्ञ्याहारिलक्षणासु षट्त्रिंशन्मार्गणासु त्र्यघातिप्रकृतीनां रसबन्धस्योत्कृष्टवृद्धिस्वामी ओघवद् भवति, स चैवम्–सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानस्य द्विचरमसमये त्र्यघातिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धं कृत्वा यस्तच्चरमसमये तदुत्कृष्टरसं बध्नाति स क्षपकः तासामुत्कृष्टवृद्धिस्वामी ।

त्रिवेद-त्रिकषाय-सामायिक-छेदोपस्थापनीयरूपास्वष्टसु मार्गणासु मार्गणाया द्विचरमसमये तासामनुत्कृष्टरसं बद्ध्वा चरमसमये य उत्कृष्टरसबन्धं करोति स क्षपकः त्र्यघातिनीनामुत्कृष्टरसवृद्धेः स्वामी, उपशमसम्यक्त्वमार्गणायामनन्तरोक्तत्रिमनुष्यादिमार्गणावद् वाच्यं नवरमुपशामक इति भणितव्यं न तु क्षपक इति उपशमसम्यग्दृष्टेः क्षपकत्वायोगात् ।

अज्ञानत्रिका-ऽसंयम-देशविरति-मिश्रदृष्टि-मिथ्यात्वरूपासु सप्तसु मार्गणासु मार्गणाद्विचरमसमये यथासंभवं जघन्यरसबन्धप्रायोग्येऽध्यवसाये वर्तमानो यश्चरमसमये उत्कृष्टरसं बध्नाति स संयमाभिमुखः प्रकृतस्वामितया ज्ञेयः, मार्गणाद्विचरमसमयेऽध्यवसायानां नानात्वेन उत्कृष्टवृद्धेः प्रस्तुतत्वेन च 'यथासंभवं जघन्यरसबन्धप्रायोग्येऽध्यवसाये' इत्यस्यात्रावश्यकत्वम् । प्रस्तुतमार्गणानां द्विचरमसमयेऽसंख्येयलोकप्रदेशप्रमिता रसबन्धप्रायोग्याध्यवसायाः सन्ति न तु नवमदशमगुणस्थानकवदेकः, ततः तेषु तदर्हमन्दतमेऽध्यवसाये वर्तमानो यस्तत्प्रायोग्यजघन्यरसं बद्ध्वा मार्गणाचरमसमये उत्कृष्टरसबन्धं करोति सोऽत्रोत्कृष्टवृद्धेः स्वामितया ज्ञेयः । शेषासु अष्टादशोत्तरशतमार्गणासु तदर्हमन्दविशुद्धौ वर्तमानोऽनन्तरसमये मार्गणाप्रायोग्यामुत्कृष्टविशुद्धिं प्राप्योत्कृष्टरसं बध्नाति स उत्कृष्टवृद्धेः स्वामी । विवक्षितसमये चतुःस्थानिकरसबन्धार्हाध्यवसायानां यवमध्यस्योपरिष्टाद् वर्तमानाऽध्यवसायेष्वेव वर्तमानो जन्तुरनन्तरसमये चतुःस्थानिकमुत्कृष्टरसं बद्धुमर्हति । ततस्तेषु अध्यवसायेषु यस्मिन् मन्दतमेऽध्यवसाये वर्तमानो मन्दतमविशुद्धः सन्ननन्तरसमये उत्कृष्टविशुद्धो भूत्वा उत्कृष्टरसं बध्नाति सोऽत्रोत्कृष्टवृद्धेः स्वामीतिभावः । इह परिहारविशुद्धि-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वतेजःपद्मलेश्यामार्गणासु कृतकरणस्योत्कृष्टरसबन्धमधि-

कृष्यानन्तरोक्ताज्ञानत्रिकादिवद् भावना ज्ञेया । शेषा अष्टादशोत्तरशतमार्गणास्त्विमाः-अष्टौ नरकाः, सर्वे तिर्यञ्चस्ते च पञ्च, अपर्याप्तमनुष्यः, त्रिंशद्देवभेदाः, सर्वैकेन्द्रियाः, त्रविकलाक्षाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, पृथ्व्यादिकायचतुष्कस्य सर्वे भेदास्ते चाष्टाविंशतिः, एकादश वनस्पतिभेदाः, अपर्याप्तत्रसकायः, वैक्रियकाययोगः, वैक्रियमिश्रकाययोगः, आहारक-तन्मिश्रकाययोगौ, औदारिकमिश्रकाययोगः, कार्मणकाययोगः, परिहारविशुद्धिः, शुक्लवर्जपञ्चलेश्याः, अभव्यः, क्षायोपशमिकं, सास्वादनम्, असंज्ञी अनाहारिमार्गणा चेति ।

अथ घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टवृद्धिस्वामिनं दर्शयामः—गतवेद-सूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये उपशमश्रेणेः प्रतिपतन् मार्गणाद्विचरमसमयेऽनुत्कृष्टरसं बद्ध्वा चरमसमये उत्कृष्टरसं बध्नाति स चतुर्घातिनीनामुत्कृष्टरसवृद्धेः स्वामी ।

चतुर्ज्ञानानि, संयमौघः, सामायिकम्, छेदोपस्थापनीयम्, परिहारविशुद्धिकम्, देशविरतिः, अवधिदर्शनम्, सम्यक्त्वौघः, उपशमसम्यक्त्वम्, क्षायोपशमिकम्, मिश्रदृष्टिश्चेति चतुर्दशसु मार्गणासु मिथ्यात्वाद्यभिमुखोऽभिमुखत्वस्य द्विचरमसमये यथासंभवमल्परसं बद्ध्वा चरमसमये उत्कृष्टरसं बध्नाति स चतुर्घातिनीनामुत्कृष्टरसवृद्धेः स्वामी । अत्र आदिशब्दाद् मनःपर्यवमार्गणायामसंयमाभिमुखः परिहारविशुद्धिमार्गणायां पुनः छेदोपस्थापनीयाभिमुख इत्यनयोः परिग्रहः । शेषासु चतुष्पञ्चाशदुत्तरशतमार्गणासु तदर्हमन्दतमे संक्लेशे वर्तमानो योऽनन्तरसमये मार्गणाप्रायोग्यमुत्कृष्टं संक्लेशमधिगत्योत्कृष्टरसं बध्नाति स चतुर्घातिनीनामुत्कृष्टवृद्धेः स्वामी । शेषमार्गणास्त्विमाः-अष्टौ नरकाः, पञ्चतिर्यञ्चः, चत्वारो मनुष्यभेदाः, त्रिंशद्देवभेदाः, एकोनविंशतिरिन्द्रियभेदाः, द्विचत्वारिंशत् कायभेदाः, अष्टादश योगमार्गणाः, त्रयो वेदाः, चत्वारः कषायाः, त्र्यज्ञानानि, असंयमः, चक्षुरचक्षुर्दर्शने, षड्लेश्याः, भव्याभव्यौ, क्षायिकम्, सास्वादनम्, मिथ्यात्वम्, संज्ञी, असंज्ञी, आहारी, अनाहारी चेति चतुष्पञ्चाशदुत्तरशतं मार्गणानाम् । आयुर्बन्धार्हासु त्रिषष्ट्युत्तरशतलक्षणासु सर्वासु मार्गणासु आयुष उत्कृष्टवृद्धिस्वामी तत्प्रायोग्यमन्दरसं बध्नन् योऽनन्तरसमये तत्प्रायोग्योत्कृष्टरसं बध्नाति स ज्ञेयः । तत्र-तिर्यगोघ-त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-त्र्यज्ञानासंयम-त्र्यशुभलेश्याऽभव्यमिथ्यात्वाऽसंज्ञिमार्गणासु तत्प्रायोग्यजघन्यसंक्लेशतस्तत्प्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशं प्राप्तस्योत्कृष्टा रसवृद्धिर्भवति शेषमार्गणासु पुनस्तत्प्रायोग्यजघन्यविशुद्धितस्तत्प्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धिं प्राप्तस्येति ॥६५७॥

अथोत्कृष्टपदगतहान्यवस्थानयोः स्वामिनं दिदर्शयिषुरादौ तावच्चतुर्ज्ञानादिषु मार्गणासु चतुर्घातिनीनां तमाह—

चउणाणसंयमेसुं समइअछेअपरिहारदेसेसुं ।
ओहिम्मि य सम्मत्ते तहुवसमे वेअगे मीसे ॥६५८॥

सट्ठाणगुरुरसाओ सागारखयेण तदरिहजहण्णं ।
घाईणं गुरुहाणिं से काले गुरुमवट्ठाणं ॥६५९॥

(प्रे०) **'चउणाण'** इत्यादि, चतुर्ज्ञानादिषु चतुर्दशमार्गणासु स्वस्थानोत्कृष्टरसबन्धात्, साकारक्षयेण तदर्हजघन्यरसं बध्नन् घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टहानिं करोति इह-**'से काले'** इति यस्मिन् समये हानिः कृता तदनन्तरसमये चोत्कृष्टमवस्थानं करोति । अत्रायं भावः-निरुक्तज्ञानादिमार्गणासु घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसं मिथ्यात्वाद्यभिमुखो मार्गणायाश्चरमसमये बध्नाति, स तु तदनन्तरसमये मार्गणान्तरं व्रजति अतस्तमाश्रित्योत्कृष्टहानिर्न प्राप्यते, किन्तु यः स्वस्थानगतो मिथ्यात्वाद्यनभिमुखो विवक्षितसमये यथासंभवमुत्कृष्टरसं बद्ध्वाऽनन्तरसमये साकारोपयोगक्षयेणाऽनाकारोपयोगवान् सन् यथासंभवमल्परसं बध्नाति स घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टहानेः स्वामी । उत्कृष्टहानेः स्वस्थानस्वामिकत्वेन तदनन्तरसमये रसबन्धस्थानपरावृत्तेरनावश्यकत्वेन पूर्वसमयबद्धतुल्यरसबन्धस्य संभवात् तत्रोत्कृष्टावस्थानं भवति, उत्कृष्टहानेः स्वाम्येव हानेरनन्तरसमये उत्कृष्टावस्थानस्य स्वामीति तात्पर्यम् ॥६५८।६५९॥ अथाऽवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणयोरवस्थानस्याभावात् घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टहानेः स्वामिनं दर्शयति—

उवसामगो चडंतो वट्टंतोऽज्जाउ दुइअरसबंधे ।
कुणए जेट्ठं हाणिं अवेअसुहमेसु घाईणं ॥६६०॥

(प्रे०) **'उवसामगो'** इत्यादि, अवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणयोर्घातिनीनां रसस्योत्कृष्टहानिमुपशमश्रेणिमारोहन् आद्याद्रसबन्धाद् द्वितीयरसबन्धे वर्त्तमान उपशमकः करोति, मार्गणाया आद्यसमये रसबन्धं कृत्वा यो द्वितीयसमये घातिनीनामल्पतररसबन्धं करोति स एवोत्कृष्टहानेः स्वामीति भावः । इदमुक्तं भवति-आरोहत उपशमकस्य प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्धिसद्भावेन मार्गणाद्वितीयादिसमयभाविरसबन्धानन्तरं जायमानस्य रसबन्धस्य स्वामी अत्रोत्कृष्टहानेः स्वामी भवितुं नार्हति न वा क्षपकः, तस्य तु विशुद्धतरत्वेन मार्गणाद्यसमयेऽपि स्वल्परसस्य बन्धसद्भावात् । एवं मार्गणाद्यसमये रसबन्धं कृत्वा मार्गणाद्वितीयसमये यो घातिनीनामल्पतररसबन्धं करोति स आरोहन्नुपशमक उत्कृष्टहानेः स्वामी भवतीति ॥६६०॥

अथ त्रिमनुष्यादिमार्गणासु त्र्यघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टहानेरुत्कृष्टावस्थानस्य च स्वामिनं दर्शयति—

तिणरपणमणवयउरलथीणपुमअवेअतुरिअणाणेसुं ।
संयमसामइएसुं छेए सुहमे अघाईणं ॥६६१॥
उवसामगो पडंतो कुणए बंधस्स दुइअसमयम्मि ।
गुरुहाणिं ओघव्वऽत्थि अवट्ठाणस्स जेट्ठस्स ॥६६२॥

(प्रे०)'तिणर' इत्यादि, त्रिमनुष्यादिषु द्वाविंशतिमार्गणासु तिसृणामघातिप्रकृतीनां रसस्योत्कृष्टां हानिमवरोहन्नुपशमको बन्धस्य द्वितीयसमये करोति । तत्र त्रिमनुष्य-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोगौदारिककाययोगाऽवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सूक्ष्मसम्परायरूपास्वष्टादशमार्गणास्ववरोहन्नुपशमकः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य प्रथमसमये रसबन्धं कृत्वा द्वितीयसमयेऽघातिनीनामल्पतररसबन्धं करोति स प्रकृतोत्कृष्टहानेः स्वामी। स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-सामायिक-छेदोपस्थापनीयरूपासु चतसृषु तु स्वस्वमार्गणाद्यसमये रसं बद्ध्वा द्वितीयसमयेऽल्पतररसबन्धं करोति स निरुक्तोपशमकोऽघातिप्रकृतीनां रसस्योत्कृष्टहानेः स्वामी ।

अथोत्कृष्टावस्थानस्य स्वामिनमतिदिशति-'ओघव्व' इत्यादि, निरुक्तासु त्रिमनुष्यादिद्वाविंशतिमार्गणास्वघातिप्रकृतीनां रसबन्धोत्कृष्टावस्थानस्य स्वामी ओघवदस्ति, स चैवम्-अपूर्वकरणादेः प्रतिसमयं वृद्ध्यादिसद्भावेनाऽवस्थानाभावात्, अप्रमत्तमुनिर्विवक्षितसमये यथासंभवं तत्प्रायोग्यं जघन्यरसं बद्ध्वाऽनन्तरसमये स्वस्थानोत्कृष्टरसं बध्नाति तदनन्तरसमये तावन्तमेव रसं बध्नन् स उत्कृष्टावस्थानस्य स्वामी भवति ॥६६१।६६२॥

अथ द्विपञ्चेन्द्रियादिमार्गणासूत्कृष्टावस्थानस्वामिनमतिदिशन्नुत्कृष्टहानिस्वामिनश्च दर्शयन्नाह–

दुपणिंदितसेसु तहा काये पुरिसम्मि चउकसायेसु ।
णाणदरिसणतिगसुइलभविसम्मेसु खइए उवसमे य ॥६६३॥ [गीतिः]
सण्णिम्मि तहाहारे जेट्ठअवट्ठाणगस्स ओघव्व ।
गुरुहाणिं चरमखणे मरिउवसमगो सुरो जाओ ॥६६४॥

(प्रे०) 'दुपणिंदि' इत्यादि, द्विपञ्चेन्द्रियादिषु त्रयोविंशतिमार्गणासु तिसृणामघातिप्रकृतीनां रसबन्धसत्कोत्कृष्टावस्थानस्य स्वाम्योघवद् भवति, निरुक्तमार्गणासु प्रत्येकमप्रमत्तगुणस्थानकस्य सद्भावात् । 'गुरुहाणिं' इत्यादि, श्रेणिमारोहन् य उपशमकः 'चरमखणे' इति सूक्ष्मसम्परायचरमसमये मार्गणाचरमसमये वा मृत्वा देवो जातः सोऽघातिप्रकृतीनां रसस्योत्कृष्टहानिं करोति, स एवोत्कृष्टहानेः स्वामी भवतीत्यर्थः । अत्र पुरुषवेदत्रिकषायवर्जशेषमार्गणासूत्कृष्टरसबन्धहानेः स्वामी सर्वथा ओघवद् भवति, पुरुषवेदत्रिकषायेषु तु मार्गणाचरमसमयवत्युपशमकः कालं कृत्वा देवभवप्रथमसमये यदा तत्प्रायोग्यजघन्यरसं बध्नाति तदोत्कृष्टरसबन्धहानेः स्वामी भवति । इमाश्च अत्रोक्तास्त्रयोविंशतिमार्गणाः-द्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रसकाय-काययोगौघ-पुरुषवेद-चतुष्कषाय-त्रिज्ञान-त्रिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकोपशम-संज्ञ्याहारिमार्गणा इति ॥६६३।६६४॥

अथ त्र्यज्ञानादिमार्गणासु प्रकृतमाह—

गुरुहाणीअ सयं चिअ ऊज्झा तिअणाणअयतमिच्छेसु ।
सट्ठाणगुरूअ लहुं सागारखअेण गुरुमवट्ठाणं ॥६६५॥ [गीतिः]

(प्रे०)'**गुरुहाणीअ**' इत्यादि, अज्ञाना-ऽयत-मिथ्यात्वरूपासु पञ्चमार्गणासु तिसृणामघातिप्रकृतीनां रसस्योत्कृष्टहानेः स्वामिनः स्वयमेवोह्याः विशेषोपदेशाभावात् तद्यथा–प्रस्तुतमार्गणासु स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धोऽघातिनीनां चतुःस्थानिकरसं बद्ध्वा साकारक्षयेणाऽनाकारोपयुक्तः सन् यथासंभवं द्विस्थानिकाल्परसं बध्नाति सोऽत्रोत्कृष्टहानेः स्वामी भवितुमर्हति। यद्वा प्रमत्तगुणस्थानकात् परिभ्रष्टो निरुक्तमार्गणासु प्रविष्टः सन् यो मार्गणाद्वितीयसमयेऽनन्तगुणहीनं रसं बध्नाति स उत्कृष्टहानेः स्वामी भवितुमर्हतीति न ज्ञायते, अत उक्तं '**सयं चिअ उज्झा**' इति। अथोत्कृष्टावस्थानस्वामिनमाह–'**सट्ठाणगुरूअ**' इत्यादि, यः स्वस्थानोत्कृष्टरसबन्धात् साकारक्षयेण पतित्वा '**लहुं**' इति यथासंभवमल्परसं बध्नाति तदनन्तरसमये तत्तुल्यं रसं बध्नाति, स उत्कृष्टावस्थानस्य स्वामी भवतीति ॥६६५॥

अथ देशविरतिमिश्रमार्गणयोस्तिसृणामघातिनीनामुत्कृष्टहानेरुत्कृष्टावस्थानस्य च स्वामिनं दर्शयति—

> सट्ठाणविसुद्धयमो सागारखयेण देसमीसेसुं ।
> तदरिहलहुं गुरुरसा गुरुहाणिं से गुरुं अवट्ठाणं ॥६६६॥ [गीतिः]

(प्रे०) '**सट्ठाण**' इत्यादि, देशविरतिमिश्रदृष्टिमार्गणयोः स्वस्थानविशुद्धतमस्तिसृणामघातिनीनां तत्प्रायोग्योत्कृष्टरसबन्धात् साकारक्षयेण पतित्वाऽनन्तरसमये तदर्हजघन्यं-यथासंभवमल्परसं बध्नाति सोऽघातिप्रकृतीनां रसस्योत्कृष्टां हानिं करोति, स उत्कृष्टहानेः स्वामीत्यर्थः। '**से**' त्ति हानेरनन्तरसमये तावन्तमेव रसं बध्नन् उत्कृष्टावस्थानस्य स्वामी भवति। इह हि मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टरसं मार्गणाप्रायोग्यविशुद्धतमो गुणाभिमुखो मार्गणाचरमसमये बध्नाति तस्य चोत्कृष्टरसबन्धानन्तरं मार्गणान्तरप्राप्तिः, न तु प्रस्तुतमार्गणयोरवस्थितिः, तदभावे च मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टरसबन्धकः पतित्वोत्कृष्टहानेः स्वामी भवितुं नार्हति अत एवेह स्वस्थानविशुद्धतमस्य ग्रहणम् ॥ ६६६ ॥

अथोक्तशेषासु मार्गणासु चतुर्घातिनीनां तथा तिसृणामघातिनीनां सर्वासु मार्गणासु चायुष उत्कृष्टहान्यवस्थानयोः स्वामिनमाह—

> सेसासुं घाईणं तहा अघाईण तिण्ह सव्वासुं ।
> आउस्स बंधगो यो हवेज्ज तिव्वाणुभागस्स ॥६६७॥
> सो चेव कुणइ भट्ठो सागारखयेण तदरिहजहण्णं ।
> बंधंतो गुरुहाणिं से काले गुरुमवट्ठाणं ॥६६८॥

णवरि गुरुरसं बंधिअ जहि घाईणं सुरो करिअ कालं ।
एगिंदियम्मि गच्छइ तहि मिं स कुणइ गुरुहाणिं ॥६६९॥
तिण्ह अघाईण भवे तेउपउमवेअगेसु यो सामी ।
तिव्वऽणुभागस्स स चिअ कालं किच्चा सुरो जाओ ॥६७०॥
तदरिहमंदरसगओ गुरुहाणिं से अणंतरे समये ।
कुणइ गुरुमवट्ठाणं णवरि मयं वेअगम्मि तम्मुज्झं ॥६७१॥[गीतिः]
कम्माणाहारेसु सागारखयेण बायरेगिंदी ।
बंधंतो तदरिहलहुमवट्ठिओ गुरुमवट्ठाणं ॥६७२॥

(प्रे०) 'सेसासु' इत्यादि, उक्तशेषासु मार्गणासु चतसृणां घातिप्रकृतीनां तथा तिसृणामघातिप्रकृतीनां सर्वासु मार्गणासु चायुषो रसस्योत्कृष्टहानिं स एव करोति य उत्कृष्टानुभागस्य बन्धकः, कीदृशः सः ? इत्याह-'सागारखयेण' इत्यादि, साकारक्षयेणोत्कृष्टानुभागबन्धाद् भ्रष्टः सन् तदर्हजघन्यं रसं बध्नन् विवक्षितसमये उत्कृष्टरसं बद्ध्वा तदनन्तरसमये यो यथासंभवमल्परसं बध्नाति स उत्कृष्टहानेः स्वामीत्यर्थः । 'से काले' त्ति उत्कृष्टहानेरनन्तरसमय उत्कृष्टमवस्थानं करोति । उत्कृष्टहानिं कृत्वा तदनन्तरसमये प्राक्तनमेव रसबन्धस्थानं बध्नन्नुत्कृष्टावस्थानस्य स्वामी भवतीति भावः । इति सर्वत्राविशेषेण प्रतिपाद्य यासु कश्चिद् विशेषोऽस्ति तासु 'णवरि' इत्यादि, गाथाचतुष्केण त्रीन् विशेषान् दर्शयति-तत्र (१) एकस्तावद् घातिचतुष्कोत्कृष्टहानिविषयकः (२) द्वितीयः पुनः तेजोलेश्यादिमार्गणास्वघातिनीनामुत्कृष्टहान्यवस्थानसत्कः (३) तृतीयश्च कार्मणाऽनाहारकमार्गणयोः सप्तकर्मणामुत्कृष्टावस्थानविषयकः । तद्यथा-'गुरुरसं बंधिअ' इत्यादिना प्रथमं विशेषं दर्शयति यासु काययोगौघादिमार्गणासु सुरः स्वभवचरमसमये घातिनीनामुत्कृष्टं रसं बद्ध्वा कालं च कृत्वा एकेन्द्रियमार्गणायां 'गच्छति'-गन्तुं शक्नोति तासु काययोगौघकषायचतुष्का-ऽज्ञानद्विका-ऽसंयमा--ऽचक्षुर्दर्शना--ऽप्रशस्तलेश्यात्रिक-भव्याभव्य-मिथ्यात्वा--ऽऽहारिरूपासु षोडशसु मार्गणास्वीशानान्तदेवः स्वभवचरमसमये घातिनीनामुत्कृष्टरसं बद्ध्वा कालञ्च कृत्वा एकेन्द्रियमार्गणायां गच्छति, एकेन्द्रियत्वं प्राप्तः सन् तद्भवप्रथमसमये तत्प्रायोग्यं जघन्यं रसं बध्नन्नुत्कृष्टहानेः स्वामी भवति, उत्कृष्टरसबन्धानन्तरसमये तस्यैवाल्पतमरसबन्धकत्वात्, आसु षोडशसु मार्गणासूत्कृष्टावस्थानस्य स्वामी तूक्तनीत्या चतुर्गतिक उत्कृष्टरसबन्धकः साकारक्षयेणोत्कृष्टरसबन्धाद् भ्रष्टः सन्ननन्तरसमये तदर्हजघन्यं बद्ध्वा द्वितीयसमये तावन्तमेव रसं बध्नाति स भवति, न त्वेकेन्द्रियत्वं प्राप्तः सुर इति भावः । मतान्तरेण त्र्यशुभलेश्यामार्गणासूत्कृष्टहानेः स्वामी उत्कृष्टावस्थानप्राक्क्षणवर्ती बन्धको ज्ञेयः । अस्मिन् मते सुराणां पर्याप्तावस्थायामप्रशस्त-

लेश्याऽनभ्युपगमात्, प्रस्तुतलेश्याकनारकादीनां च घातिप्रकृतिसत्कोत्कृष्टरसबन्धानन्तरसमये एकेन्द्रियेषूत्पादाभावात् । इति प्रथमो विशेषः ।

अथ '**तिण्ह अघाईण**' इत्यादिना द्वितीयं विशेषं दर्शयति-तेजःपद्मलेश्याक्षायोपशमिकसम्यक्त्वरूपासु तिसृषु मार्गणासु योऽघातित्रयस्योत्कृष्टानुभागबन्धस्य स्वामी प्रागप्रमत्तमुनिरभिहितः स एव कालं कृत्वा देवो जातः सन् 'तदर्हमन्दानुभागगतः'-भवप्रथमसमयप्रायोग्यं जघन्यानुभागं बध्नन्नुत्कृष्टहानेः स्वामी भवति देवत्वं प्राप्तस्य तस्य चतुर्थगुणस्थानकस्याऽप्राप्तेरप्रमत्तापेक्षयाल्पतररसबन्धसंभवात् ।

उत्कृष्टावस्थानं तु '**से अणंतरे समये**' उत्कृष्टहानिं कृत्वाऽनन्तरसमये-देवभवद्वितीयसमये करोति, अपर्याप्तावस्थायामपि रसबन्धस्थानावस्थानस्य संभवात्, योगस्थानस्येव तस्य नियमात् परावृत्तेरभावादिति भावः । देवभवप्रथमसमये यावन्तं रसं बध्नाति द्वितीयादिसमयेऽपि तावन्तमेव रसं बद्धुमर्हतीति तात्पर्यम् । अथ क्षायोपशमिकमार्गणायामवस्थानस्वामित्विषयं विशेषं दर्शयति '**वेअगम्मि**' इत्यादि, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामुत्कृष्टावस्थानस्य स्वामित्वम् स्वयमूह्यम्, किमुक्तं भवति ? प्रस्तुतमार्गणायामुत्कृष्टरसबन्धकः शुक्ललेश्याकोऽप्रमत्तमुनिः यो भवचरमसमयेऽघातित्रयस्योत्कृष्टरसं बद्ध्वा कालञ्च कृत्वा देवभवप्रथमसमये यथासंभवमल्पतरं बध्नाति स एवोत्कृष्टहानेः स्वामी भवति, किन्तु देवभवद्वितीयसमये तस्य तथाविधशुक्ललेश्यापरिणामावस्थानासंभवात् देवभवद्वितीयसमयवर्ती निरुक्तजीव उत्कृष्टावस्थानस्य स्वामी भवितुं नार्हति, अतः स्वस्थानोत्कृष्टरसबन्धं कृत्वा योऽनन्तरसमये तावन्तमेव रसं बध्नाति सोऽत्रोत्कृष्टावस्थानस्य स्वामित्वेन ग्राह्यः परन्तु उत्कृष्टहानेरनन्तरसमये देवभवद्वितीयसमये यदि देवभवप्रथमसमयभाविशुक्ललेश्यापरिणामोऽवतिष्ठते तर्हि उत्कृष्टहानेरनन्तरसमये देवभवद्वितीयसमयवर्ती उत्कृष्टावस्थानस्य स्वामी भवितुमर्हति, यद्वौघवदुत्कृष्टावस्थानस्य स्वामी भवितुमर्हति । तथाहि-तदर्हजघन्यरसं बध्नन्नप्रमत्तः स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धः तत्प्रायोग्योत्कृष्टरसं बद्ध्वानन्तरसमये तावन्तमेव रसं बध्नाति स उत्कृष्टावस्थानस्य स्वामी भवितुमर्हति; ओघे प्रस्तुते च स्वामिनोरविशेषात्, एवमत्रार्थे विशेषचिरन्तनोक्तेरदर्शनाद् ग्रन्थकृतोक्तं स्वयमूह्यमिति द्वितीयो विशेषः ।

अथ कार्मणाऽनाहारमार्गणयोरुत्कृष्टावस्थानविषयं विशेषमाह-'**कम्माणाहारेसु**' इत्यादि, कार्मणाऽनाहारमार्गणयोः चतुर्घातित्र्यघातिरूपाणां सप्तानां प्रकृतीनां रसस्योत्कृष्टमवस्थानं बादरैकेन्द्रियः करोति, एकेन्द्रियाणामेव प्रकृतमार्गणयोस्त्रिसामयिकत्वेन तेषु तस्यैवोत्कृष्टावस्थानस्य संभवात् । अयं भावः-प्रस्तुतमार्गणापन्नो बादरैकेन्द्रियो मार्गणाप्रथमसमये तत्प्रायोग्योत्कृष्टरसबन्धं द्वितीयसमये तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं करोति तृतीयसमये यो द्वितीयसमयबद्धरसतुल्यं रसं बध्नाति स उत्कृष्टावस्थानस्य स्वामी । प्रकृतमार्गणयोर्द्वीन्द्रियादीनां त्रसजीवानां तूत्कृष्टतः समयद्वयमेवावस्थितिरतस्तेषां वृद्धेर्हानेर्वानन्तरभाव्यवस्थानस्यालाभात्-ते उत्कृष्टावस्थानस्य स्वामिनो भवितुं-

नार्हन्ति । सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य तथाविधविशुद्ध्यादेरभावेनोत्कृष्टवृद्धिहान्योरभावात् तत्प्रयुक्तमुत्कृष्टावस्थानं न संभवति अतो बादरैकेन्द्रिय इत्युक्तम् , सोऽपि लब्धिपर्याप्तको ज्ञेयः तस्यैवोत्कृष्टवृद्धिहान्योः संभवात् । इति तृतीयो विशेषः ।

अथ **'सेसासु घाईणं तहा अघाईण'** इत्यादिना संगृहीताः । **घातिप्रकृतीराश्रित्य शेषा मार्गणास्त्विमाः**-गतिमार्गणाः सप्तचत्वारिंशत् ,एकेन्द्रियादीन्द्रियमार्गणा एकोनत्रिंशतिः,पृथ्व्यादिकायमार्गणा द्विचत्वारिंशत् , काययोगौघवर्जयोगमार्गणाः सप्तदश, त्रयो वेदाः, विभङ्गज्ञानम् , चक्षुदर्शनं, तिस्रः प्रशस्तलेश्याः, क्षायिकसम्यक्त्वम् , सास्वादनम् , संज्ञ्यसंज्ञिनौ,अनाहारी चेति अष्टात्रिंशदुत्तरशतं मार्गणाः । एतासु घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टहानेः स्वामी स भवति य उत्कृष्टानुभागबन्धकः साकारक्षयेणोत्कृष्टरसबन्धाद् भ्रष्टः सन् तदर्हजघन्यं बध्नाति । तदर्हजघन्यबन्धानन्तरसमये तावन्तमेव रसं बध्नन् उत्कृष्टावस्थानस्य स्वामीति प्रागेव दर्शितम् । इत्थंभूतः स्वामी कार्मणानाहारकमार्गणाद्वयवर्जानन्तरोक्तशेषषट्त्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु ज्ञातव्यः, निरुक्तमार्गणाद्वये पृथगुक्तत्वात् ।

अघातिकर्माश्रित्य शेषमार्गणा इमाः—त्रिमनुष्यवर्जचतुश्चत्वारिंशद्गतिमार्गणाः, द्विपञ्चेन्द्रियवर्जसप्तदशेन्द्रियमार्गणाः, द्वित्रसवर्जाः चत्वारिंशत् कायमार्गणाः, औदारिकमिश्रयोगः, वैक्रियतन्मिश्रयोगौ, आहारकतन्मिश्रयोगौ, कार्मणकाययोगः, परिहारविशुद्धिः, त्र्यप्रशस्तलेश्याः, अभव्यः, सास्वादनसम्यक्त्वमार्गणा, असंज्ञी, अनाहारकश्चेति पञ्चदशोत्तरशतं मार्गणाः । एतास्वघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टहानेः कार्मणानाहारकवर्जशेषासूत्कृष्टावस्थानस्य स्वामी प्रागुक्तविशेषणविशिष्टस्तत्तन्मार्गणावर्तिजीवो भवतीति ।

अत्रौदारिकादित्रिमिश्रमार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामित्वनिरूपणं स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धस्योत्कृष्टरसबन्धकत्वाभिगन्तृमतेन कृतं द्रष्टव्यम् । मार्गणाचरमसमये एवोत्कृष्टरसबन्ध इति येषां मतम् , तन्मतेन यो मार्गणाद्विचरमसमये तत्प्रायोग्यजघन्यरसं बद्ध्वा चरमसमये मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टरसं बध्नाति स उत्कृष्टवृद्धेः स्वामी ज्ञातव्यः, यो मार्गणात्रिचरमसमये तत्प्रायोग्योत्कृष्टरसं बद्ध्वा द्विचरमसमये तत्प्रायोग्यजघन्यं बध्नाति चरमसमये च तावन्तमेव बध्नाति स उत्कृष्टावस्थानस्य स्वामी भवति । उत्कृष्टहानेः स्वामी उत्कृष्टावस्थानप्राक्क्षणवर्ती मार्गणाद्विचरमसमये तत्प्रायोग्यं जघन्यं बध्नन् भवति उत मार्गणाद्विचरमसमये तत्प्रायोग्यमुत्कृष्टरसं बद्ध्वा चरमसमये तत्प्रायोग्यं जघन्यं बध्नन्निति स्वयमेव ज्ञातव्यम् । इति उत्कृष्टवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामित्वनिरूपणम् ॥६६७।६६८।६६९।६७०।६७१।६७२॥

साम्प्रतं जघन्यपदे वृद्ध्यादीनां स्वामिनं दिदर्शयिषुरादौ तावदोघतस्तं दर्शयन् घातिचतुष्कस्य वृद्ध्यादीनां स्वामिनं दर्शयति—

सुहमस्स दुइअसमये लहुवड्ढिमुवसमगो तिघाईणं ।
णिवडंतो कुणइ चरमसमये खवगो लहुं हाणिं ॥६७३॥

मोहस्सेवं दुपया परमणियट्टीअ सिं अवट्टाणं ।
वड्ढिअऽणंतंसमवट्टिओ सठाणसुविसुद्धअपमत्तो ॥६७४॥ [गीतिः]

(प्रे०)'**सुहमस्स**' इत्यादि, मोहस्यानन्तरगाथायां वक्ष्यमाणत्वात् '**तिघाईणं**' ति ज्ञानावरणदर्शनावरणाऽन्तरायलक्षणानां त्रिघातिप्रकृतीनां रसस्य जघन्यां वृद्धिं सूक्ष्मसम्परायस्य द्वितीयसमये करोति, कः ? निपतन्नुपशमकः उपशमश्रेणेः प्रतिपतन्नुपशमक इति । प्रतिपतन्नुपशमकः सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमये घातिनीनामल्परसं बद्ध्वानन्तरद्वितीयसमयेऽधिकरसं बध्नन् जघन्यवृद्धेः स्वामी भवतीति भावः, तस्यैवाल्पतमरसवृद्धेः सद्भावात् । तासां रसस्य जघन्यां हानिं सूक्ष्मसम्परायस्य चरमसमये क्षपकः करोति, क्षपकः सूक्ष्मसम्परायद्विचरमसमये त्रिघातिप्रकृतीनामजघन्यरसं बद्ध्वा चरमसमये जघन्यरसं बध्नाति स जघन्यहानेः स्वामीति भावः ।

अत्रेदं बोध्यम्—यद्यपीहावरोहकोपशमकः सूक्ष्मसम्परायप्रथमसमयतो द्वितीयसमये घातिनीनां रसस्याऽनन्तगुणां वृद्धिं करोति, तथापि सा वृद्धिरप्रमत्तस्याऽनन्तभागवृद्ध्यपेक्षयाऽपि अनन्तगुणहीना, अप्रमत्तसत्काऽनन्तभागवृद्धिस्तु तदपेक्षयाऽनन्तगुणाऽभ्यधिका । कुतः ? सर्वविरतिदेशविरत्यविरतसम्यग्दृष्टिमिथ्यात्वगुणस्थानवर्तिनां जीवानां पूर्वपूर्वेषामनन्तगुणवृद्धेरपेक्षयोत्तरोत्तरेषामनन्तभागवृद्धेरप्यनन्तगुणत्वात् , एवमेव सूक्ष्मसम्परायचरमसमयवर्ती क्षपको द्विचरमसमयापेक्षया तिसृणां घातिनीनामनन्तगुणां हानिं करोति तथापि साऽप्रमत्तादिसत्काऽनन्तभागहान्यपेक्षयाऽनन्तगुणहीना, ततो निरुक्तक्षपक एव जघन्यहानेः स्वामी ।

अत्रेमे नियमाः (१) सर्वत्र-ओघे मार्गणासु च यो घातिनीनां जघन्यरसबन्धस्य स्वामी स एव तासां जघन्यहानेः स्वामी । (२) यत्र यो जघन्यरसबन्धानन्तरसमये वृद्धिं कर्तुं शक्नोति जघन्यबन्धानन्तरसमये यथासंभवमल्पां वृद्धिं च करोति तत्र स सामान्यतो जघन्यवृद्धेः स्वामी । (३) यत्र जघन्यहानिवृद्ध्योः प्रत्येकमनन्तरसमयेऽवस्थानं भवितुमर्हति तत्र तयोः प्रत्येकं स्वामी हान्यादेरनन्तरसमये जघन्यावस्थानस्य स्वामी भवति, A यत्र जघन्यहानेरनन्तरं नावस्थानं तत्र वृद्धेरनन्तरं तद् संभवति । B यत्र च जघन्यवृद्धिहान्योरन्यतरयोरप्यनन्तरं नावस्थानं तत्र तत्प्रायोग्यवृद्धिहान्योरनन्तरं तद् बोध्यम् । घटना चेत्थम्-ओघप्ररूपणायां त्रिघातिनीनां जघन्यरसबन्धस्वामी बन्धचरमसमये सूक्ष्मसम्परायक्षपकः स एव तत्र जघन्यहानेः स्वामीति प्रथमनियमस्य घटना ।

ओघे त्रिघातिनीनां जघन्यरसबन्धकः क्षपकः किन्तु स तज्जघन्यरसबन्धानन्तरं वृद्धिं न करोति क्षपकस्य पतनायोगात् । अजघन्यरसबन्धकोऽवरोहकोपशमकः सूक्ष्मसम्परायद्वितीयसमये जघन्यां वृद्धिं करोतीति द्वितीयनियमस्य घटना ।

ओघत आदेशतश्च सूक्ष्मसम्परायाऽपगतवेदवर्जसर्वमार्गणासु वेदनीयनाम्नोः, नरकगत्यादिषु त्रिघातिनीनामपि जघन्यहानिवृद्ध्योः प्रत्येकमनन्तरसमये तावन्तमेव रसं बध्नन् जीवो जघन्या-

वस्थानस्य स्वामी भवति । A ओघतो गोत्रस्य जघन्यावस्थानस्वामी जघन्यवृद्धेरनन्तरं भवति, B तथा घातिनीनां स जघन्यवृद्धिहान्योरन्यत्र-तत्प्रायोग्यवृद्धिहान्योरनन्तरं भवतीति तृतीयनियमस्य घटना।

अथ मोहनीयस्य जघन्यवृद्धिहान्योः स्वामिनं दर्शयति-'मोहस्सेवं' इत्यादि, मोहनीयस्य जघन्यवृद्धिजघन्यहानिरूपे द्वे पदे अनन्तरोक्तत्रिघातिवद् भवति, किमविशेषेण ? नेत्याह, 'परमणियट्टीअ' इत्यादि, तद्यथा-अवरोहक उपशमकोऽनिवृत्तिकरणद्वितीयसमये जघन्यवृद्धेः स्वामी। अनिवृत्तिकरणगुणस्थानकचरमसमये क्षपको जघन्यहानेः स्वामीति ।

'सिं' ति तासां-त्रिघातिनीनां मोहनीयस्य चेति चतसृणामपि प्रकृतीनां जघन्यावस्थानं यः करोति तं दर्शयति 'वड्ढिअ' इत्यादि, स्वस्थानसुविशुद्धोऽप्रमत्तमुनिस्तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धकोऽनन्तभागं रसं वर्धयित्वाऽवस्थितो-द्वितीयसमये तावन्तमेव रसं बध्नाति , स तासां जघन्यावस्थानस्य स्वामी । श्रेणौ रसबन्धावस्थानस्याभावादप्रमत्तस्य ग्रहणम् , श्रेणिमारोहदप्रमत्तस्य प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्धत्वेनावस्थितरसबन्धाभावात् स्वस्थानसुविशुद्ध इत्यस्योपादानम् ॥६७३।६७४॥ अथावनो वेदनीयनाम्नोः जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामिनमाह—

मज्झिमपरिणामी खलु दुअघाईण कुणए अणंतंसं ।
वड्ढिअ वड्ढि हाउं हाणिमवड्ढिअ अवट्ठाणं ॥६७५॥

(प्रे०) 'मज्झिमपरिणामी' इत्यादि. गोत्रायुषोर्वक्ष्यमाणत्वात् 'दुअघाईण' त्ति वेदनीयनाम्नोः मध्यमपरिणामश्चतुर्गतिको जीवो जघन्यरसबन्धादल्पतममनन्तभागं रसं वर्धयित्वा वृद्धिं, विवक्षितरसबन्धादल्पतममनन्तभागं हापयित्वा हानिं करोति। वेदनीयनाम्नोर्यो जघन्यरसबन्धं कृत्वा जघन्यरसबन्धस्थानानन्तरानन्तभागवृद्धरसबन्धस्थानं बध्नाति स जघन्यवृद्धेः स्वामी भवति । जघन्यरसबन्धस्थानानन्तरानन्तभागवृद्धस्थानं बद्ध्वानन्तरसमये जघन्यरसं बध्नाति स जघन्यहानेः स्वामी भवतीति । 'अवड्ढिअ' विवक्षितसमये जघन्यां वृद्धिं हानिं वा कृत्वाऽनन्तरसमये अवस्थितः-तावन्तमेव रसं बध्नन् जघन्यमवस्थानं करोति, जघन्यावस्थानस्य स्वामी भवतीति भावः ॥६७५॥

अथ गोत्रस्य जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामिनमाह—

गोअस्स लहुं वड्ढि अभविअपाउग्गगुरुविसुद्धीओ ।
पडिओऽणंतरठाणेऽणंतंसं वड्ढिअ तमतमो ॥६७६॥
कुणए अवट्ठिओऽवट्ठाणं से खलु अणंतरं हाणिं।
सम्माहिमुहो मिच्छो पज्जत्तो तमतमो विसुद्धयमो ॥६७७॥[गीतिः]

(प्रे०) 'गोअस्स' इत्यादि, तमस्तमाः सप्तमपृथ्वीनारकः अभव्यप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धेरन-

न्तरस्थाने पतितो 'ऽणंतंसं' ति यथासंभवमल्पतममनन्तभागं रसं वर्धयित्वा जघन्यां वृद्धिं करोति। अयम्भाव–यद्यपि सामान्यतो जघन्यवृद्धेः स्वामी जघन्यरसबन्धको भवति किन्तु गोत्रस्य जघन्यरसबन्धकः सुविशुद्धः सम्यक्त्वाभिमुखो मिथ्यात्वचरमसमयवर्ती नीचैर्गोत्रबन्धकः सप्तमपृथ्वीनारकः, स चानन्तरसमये सम्यक्त्वं समासाद्योच्चैर्गोत्रं बध्नन् तस्य प्रभूतं रसं बध्नाति, अत एवात्राऽभव्यप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धेर्ग्रहणम् । अभव्यप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धो नीचैर्गोत्रस्य स्वल्पं रसं बद्ध्वाऽनन्तरसमये किञ्चिदल्पविशुद्धः सन् प्राग् बद्धं रसमनन्तभागेन वृद्धं बध्नाति स जघन्यरसवृद्धेः स्वामीति ।

'अवट्ठिओ अवट्ठाणं' ति तत्राभव्यप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धेरनन्तरस्थाने पतितो द्वितीयसमयेऽवस्थितः–प्राक्समयबद्धरसतुल्यं रसं द्वितीयसमये बध्नाति तस्यावस्थानम् , स जघन्यावस्थानस्य स्वामी । अथवा 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः' इति न्यायात् अनन्तरानन्तभागवृद्धस्थानं बद्ध्वा योऽभव्यप्रायोग्यजघन्यरसं बध्नाति तदनन्तरं तावन्तमेव रसं बध्नाति सोऽपि जघन्यावस्थानस्य स्वामी प्रकृते भवतीति । 'हाणिं सम्माहिमुहो' इत्यादि, सम्यक्त्वाभिमुखो विशुद्धतमो मिथ्यादृष्टिः पर्याप्तः सप्तमपृथ्वीनारको जघन्यां हानिं करोति । सुविशुद्धः सम्यक्त्वाभिमुखोऽभिमुखत्वस्य द्विचरमसमये यथासंभवमल्परसं बद्ध्वा तच्चरमसमयेऽनन्तगुणं हीनं रसं बध्नाति स जघन्यरसहानेः स्वामी भवति । यद्यपीह प्राक्समयबद्धरसापेक्षयाऽनन्तरसमयेऽनन्तगुणहीनो रसो बध्यते तथापि तत्र स्वल्पस्यैव रसस्य हानिः । स्वस्थानविशुद्धस्य योऽनन्तभागहीनो रसो बध्यते तत्र प्रभूतरसस्य हानिरित्यादि प्राग्वद् भावनीयम् । अत्र बन्धकस्य पर्याप्त इति विशेषणं स्वरूपदर्शकं ज्ञेयं न तु व्यवच्छेदपरमपर्याप्तस्य सम्यक्त्वाभिमुखत्वायोगात् । शेषाणि तु तानि यथासंभवं व्यवच्छेदपराणीति ॥६७६।६७७॥

अथौघतो जघन्यपदे आयुष्कस्य वृद्ध्यादीनां स्वामिनमाह—

यो लहुरसस्स सामी स चिआउस्स कुणए अणंतंसं ।
वड्ढिअ वड्ढि हाउं हाणिमवट्ठाणमण्णयरो ॥६७८॥

(प्रे०) 'यो' इत्यादि, य आयुषो जघन्यरसबन्धस्य स्वामी स एवानन्तभागं रसं वर्धयित्वा जघन्यां वृद्धिं करोति, अनन्तभागं हापयित्वा च जघन्यां हानिं करोति । जघन्यावस्थानन्तु 'अन्यतरः'-जघन्यवृद्धिस्वामी जघन्यहानिस्वामी वा करोति, जघन्यवृद्धेर्जघन्यहानेर्वाऽनन्तरसमये तावन्तमेव रसं बध्नन् इति शेषः ॥६७८॥ तदेवमोघतोऽष्टकर्मणां जघन्यपदे वृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामिनं प्रदर्श्य, साम्प्रतमादेशतस्तं व्याजिहीर्षुरल्पवक्तव्यत्वेनादौ तावदायुष्कस्य वृद्ध्यादिस्वामिनं प्राह—

यो लहुरसस्स सामी सव्वह आउस्स सचिअणंतंसं ।
वड्ढिअ वड्ढि हाउं हाणिमवट्ठाणमण्णयरो ॥६७९॥

(प्रे०) **'यो'** इत्यादि, सुगमम्, अनन्तरोक्तगाथया बहुतुल्यत्वात्। नवरं **'सव्वह'** त्ति सर्वत्र आयुर्बन्धप्रायोग्यासु त्रिसप्तत्युत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः ॥६७९॥

अथ सप्तकर्मणां प्रकृतस्वामिनमादेशतो दिदर्शयिषुस्तावत् सर्वासु मार्गणासु वेदनीयनाम्नो-र्वृद्ध्यादीनां स्वामिनं सापवादमोघवदतिदिशति—

सव्वह ओघव्व तइअणामाण पयाण तिण्ह होइ परं।
उवसामगो चडंतो वीअखणे मग्गणाए य ॥६८०॥
कुणइ अवेए सुहमे लहुवड्ढिं लहुरसस्स यो सामी।
स चिअ कुणइ लहुहाणिं दुचरमसमया चरमसमये ॥६८१॥

(प्रे०) **'सव्वह'** इत्यादि, सर्वत्र-सर्वासु मार्गणासु **'तइअणामाण'** त्ति वेदनीयनाम्नोः जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानलक्षणानां त्रयाणां पदानामोघवद् भवति, स्वामीति गम्यते। कुत ओघवदिति चेत् उच्यते-मार्गणास्वपि वेदनीयनाम्नोर्जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानपरिणामेन जायमानत्वात्। यत्र त्वनयोर्जघन्यरसबन्धः परावर्तमानपरिणामेन न भवति तत्रौघवद् न भवति, अतस्तत्र **'परं'** इत्यादि-नापवादं दर्शयति–**'उवसामगो'** इत्यादि, अवेदमार्गणायां सूक्ष्मसम्परायमार्गणायाञ्च जघन्यां वृद्धिं मार्गणाया द्वितीयसमये आरोहक उपशमकः करोति। यद्यपीह मार्गणाद्यसमये बद्धरसापेक्षया द्वितीय-समयेऽनन्तगुणो रसो बध्यते तथापि तद्बन्धको जघन्यवृद्धेः स्वामी भवति, आरोहकस्य प्रतिसमय-मनन्तगुणविशुद्धिवर्धनेन मार्गणातृतीयादिसमये बन्धमाश्रित्याधिकतररसवर्धनात्। अथ जघन्यहानेः स्वामिनं दर्शयति–**'लहुरसस्स'** इत्यादि, यो जघन्यरसस्य स्वामी स एव जघन्यहानेः स्वामी, कीदृशः स जघन्यरसबन्धस्वामीत्याह–**'दुचरमसमया'** इत्यादि, 'द्विचरमसमयाच्चरमसमये' मार्गणाद्विचरमसमयेऽजघन्यरसं बद्ध्वा मार्गणाचरमसमये यो जघन्यं रसं बध्नाति स मार्गणाचरम-समयवर्त्ती जघन्यरसबन्धक उपशमको जघन्यहानेः स्वामी, स च श्रेण्यवरोहको बोध्यः, आरोहकस्य प्रतिसमयं रसवृद्धिसंभवेन हान्यसंभवात्। अत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः सर्वासु मार्गणासु त्रयाणां पदानां वृद्धिहान्यवस्थानलक्षणानामोघवदतिदिष्टेऽपि कार्मणाऽनाहारमार्गणयोर्जघन्यवृद्धि-हानिस्वामिन एवौघवदेकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियावसाना जीवा बोद्धव्याः। जघन्यावस्थानस्य स्वामी त्वे-केन्द्रिय एव द्वीन्द्रियादीनां प्रस्तुतमार्गणयोरुत्कृष्टतोऽपि द्विसमयिकत्वेन वृद्धेर्हानेर्वाऽनन्तर-मवस्थानस्यानवकाशात्। तद्यथा-मार्गणाद्यसमये वेदनीयनाम्नोर्यथासंभवं रसं बद्ध्वा द्वितीयसमये रसस्य हानिं वृद्धिं वा कर्तुमर्हतीति ततश्च मार्गणापगम इति ॥६८०।६८१॥

अथ त्रिमनुष्यादिमार्गणासु घातिप्रकृतिसत्कवृद्ध्यादीनां स्वामिनमतिदेशादिनाऽऽह—

तिणरदुपणिंदितसपणमणवयकायुरललोहणाणेसुं।
संयमतिदरिसणेसुं सुक्कभवियसम्मखइएसुं ॥६८२॥

सण्णिम्मि तहाहारे घाईणोघव्व तिण्ह वि पयाणं ।
दोण्ह अवेए सुहमे भवे तिवेअतिकसायेसु ॥६८३॥
समइअछेअउवसमे यो सामी लहुरसस्स घाईणं ।
स चिअ कुणइ लहुहाणिं लहुवड्ढिं बंधदुइअखणे ॥६८४॥
उवसामगो पडंतो सठाणसुद्धो कुणेइ अपमत्तो ।
वड्ढिअ अणंतभागं अवट्ठिओ लहुमवट्ठाणं ॥६८५॥

(प्रे) **'तिणर'** इत्यादि, त्रिमनुष्य-द्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रस-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगौदारिककाययोग-लोभकषाय-चतुर्ज्ञान-संयमौघ-त्रिदर्शन--शुक्ललेश्या--भव्य-सम्यक्त्व--क्षायिक-संज्ञ्याहारिरूपासु चतुस्त्रिंशन्मार्गणासु घातिप्रकृतीनां जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानलक्षणानां त्रयाणां पदानां स्वाम्योघवद् भवति, कुतः ? यथौघे तथाऽत्रापि उपशमक्षपकश्रेणिद्वयस्याऽप्रमत्तगुणस्थानकस्य च सद्भावात् । **'दोण्ह'** त्ति अवेदमार्गणायां सूक्ष्मसम्परायमार्गणायाञ्च जघन्यवृद्धिहानिलक्षणयोर्द्वयोरेव पदयोरोघवत् स्वामी भवति, तत्र प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्धिहानिसंभवेनावस्थानस्याभावात् ।

'तिवेअ' इत्यादि, त्रिवेद--त्रिकषाय--सामायिक-छेदोपस्थापनीयोपशमसम्यक्त्वरूपासु नवसु मार्गणासु यो घातिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य स्वामी स एव जघन्यहानेः स्वामी । इदमुक्तं भवति–उपशमसम्यक्त्ववर्जाष्टमार्गणासु स्वस्वमार्गणाद्विचरमसमयेऽजघन्यरसं बद्ध्वा मार्गणाचरमसमये जघन्यं रसं बध्नाति स क्षपको घातिप्रकृतिसत्कस्य जघन्यहानेः स्वामी, उपशमसम्यक्त्वमार्गणायान्तु सूक्ष्मसम्परायद्विचरमसमयेऽजघन्यं रसं बद्ध्वा चरमसमये जघन्यं रसं बध्नन् घातिप्रकृतीनां रसस्य जघन्यहानेः स्वामी भवतीति ।

'लहुवड्ढिं' इत्यादि, आसु नवसु मार्गणासु घातिनीनां रसस्य जघन्यां वृद्धिं बन्धद्वितीयसमये करोति, श्रेणेः पतन्नुपशमकस्तत्तन्मार्गणाया आद्यसमये रसबन्धं कृत्वा द्वितीयसमये प्रथमसमयबद्धरसादनन्तगुणमपि वृद्धं रसं बध्नन् जघन्यरसवृद्धेः स्वामी भवति हेतुश्चात्रौघोक्तश्चिन्तनीयः । अथ जघन्यावस्थानस्य स्वामिनं दर्शयति–**'सठाणसुद्धो'** इत्यादिना, स्वस्थानविशुद्धोऽप्रमत्तो विवक्षितसमयेऽल्परसं बद्ध्वा विशुद्धिमान्द्यादनन्तरसमये प्राक्समयबद्धरसस्याऽनन्तभागप्रमितं रसं बन्धे वर्धयित्वा **'अवट्ठिओ'** तदनन्तरसमयेऽपि तावन्तमेव रसं बध्नन् जघन्यमवस्थानं करोति, जघन्यावस्थानस्य स्वामी भवतीति भावः । निरुक्तनवसु मार्गणास्ववस्थानस्य स्वाम्यविशेषेणौघवद्भवतीति ध्येयम् ॥६८२।६८३।६८४।६८५॥

अथ घातिप्रकृतीनामेव त्र्यज्ञानादिमार्गणासु जघन्यवृद्ध्यादीनां त्रिपदानां स्वामिनमाह—

घाईण यो अहिमुहो सामी तिअणाणअयतमिच्छेसु ।
मंदऽणुभागस्स भवे सिं सो चेवागओ कुणए ॥६८६॥
तदरिहमन्दऽणुभागा लहुहाणिं संयमाउ परिभट्ठो ।
तप्पाउग्गलहुरसं बंधंतो बंधदुइअखणे ॥६८७॥
कुणइ जहण्णं वड्ढिं सठाणसुद्धो रसं अणंतंसं ।
वड्ढिअ अवट्ठिओ खलु कुणइ जहण्णं अवट्ठाणं ॥६८८॥

(प्रे०) 'घाईण' इत्यादि, त्र्यज्ञाना-ऽयत-मिथ्यात्वरूपासु पञ्चसु मार्गणासु योऽभिमुखः संयमाभिमुखो जघन्यानुभागस्य स्वामी, स एव जघन्यां हानिं करोति, कीदृशः सः? इत्याह-'**तदरिहमंदाऽणुभागा**' इत्यादि, तदर्हमन्दानुभागादागतः, कोऽर्थः ? संयमाभिमुखत्वस्य द्विचरमसमये यथासंभवमल्पतरं बद्ध्वा तच्चरमसमये मार्गणाप्रायोग्यं जघन्यरसं बध्नाति स घातिनीनां रसस्य जघन्यहानेः स्वामीति । अथ जघन्यवृद्धिस्वामिनमाह-'**संयमाउ परिभट्ठो**' इत्यादि, संयमात् परिभ्रष्टः प्रस्तुतमार्गणाप्रविष्टो जन्तुर्मार्गणाद्यसमयेऽल्पतरसं बद्ध्वा बन्धद्वितीयसमये तत्प्रायोग्यजघन्यं रसं बध्नन् जघन्यां वृद्धिं करोति, तस्यैव बन्धे स्वल्परसवर्धनात् । मार्गणाद्वितीयसमयवर्तिनां जीवानां विशुद्धितारतम्यसंभवात् 'तत्प्रायोग्यजघन्यरसं बध्नन्' इत्यस्योपादानम् मार्गणाद्वितीयसमयवर्ती सुविशुद्धो जघन्यवृद्धेः स्वामीति भावः ।

अथ जघन्यावस्थानस्वामिनमाह-'**सठाणसुद्धो**' इत्यादि, स्वस्थानविशुद्धो यथासंभवमल्पतरं बद्ध्वाऽनन्तरसमये स्वल्पविशुद्धिमान्द्यात् प्राक्समयबद्धरसापेक्षयाऽनन्तभागप्रमितं रसं बन्धे वर्धयित्वाऽवस्थितः-तदनन्तरसमये तावन्तमेव रसं बध्नाति, स जघन्यमवस्थानं करोति स जघन्यावस्थानस्य स्वामीति भाव. । अथवा स्वस्थानविशुद्धिप्रायोग्यजघन्यरसबन्धस्थानादनन्तरानन्तभागवृद्धस्थानं बद्ध्वा जघन्यरसं बध्नाति, तदनन्तरसमये तावन्तमेव रसं बध्नाति, सोऽपि जघन्यरसावस्थानस्य स्वामी प्रकृतमार्गणासु भवति । इत्यपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायाद् ज्ञेयम् ॥६८६।६८७।६८८॥ अथ देशविरतिमिश्रदृष्टिमार्गणयोराह—

यो लहुरसस्स सामी घाईण हवेज्ज देसमीसेसु ।
स अहिमुहो लहुहाणिं तदरिहमंदागओ कुणए ॥६८९॥
सट्ठाणविसुद्धयमो मंदा वड्ढिअ रसं अणंतंसं ।
कुणइ जहण्णं वड्ढिं सेकाले लहुमवट्ठाणं ॥६९०॥

(प्रे०) 'यो' इत्यादि, देशविरतिमिश्रदृष्टिमार्गणयोर्यो जघन्यरसस्य स्वामी स एव गुणाभिमुखस्तदर्हमन्दादागतो घातिप्रकृतीनां रसस्य जघन्यां हानिं करोति, संयमाभिमुखत्वस्य द्विचरमसमये

देशविरतौ, अविरतसम्यक्त्वाभिमुखत्वस्य द्विचरमसमये मिश्रमार्गणायां यथासंभवमल्परसं बद्ध्वा चरमसमये जघन्यरसं बध्नाति स जघन्यहानेः स्वामीति भावः । 'सट्ठाणविसुद्धयमो' इत्यादि, स्वस्थानविशुद्धतमः 'मंदा' त्ति तत्प्रायोग्यजघन्यरसादनन्तभागं रसं बन्धे वर्धयित्वा जघन्यां वृद्धिं करोति, स्वस्थानसुविशुद्धो विवक्षितसमये यथासंभवमल्परसं बद्ध्वाऽनन्तरसमये प्राक्समयबद्धरसादनन्तभागं रसमधिकं बध्नाति स जघन्यवृद्धेः स्वामीति भावः ।

'सेकाले' इत्यादि, जघन्यवृद्धेरनन्तरसमये जघन्यमवस्थानं करोति जघन्यवृद्धिसमये यावान् रसो बद्धो वृद्धेरनन्तरसमये तावन्तमेव रसं बध्नन् जघन्यावस्थानस्य स्वामी भवतीति भावः । अत्रापि स्वस्थानजघन्यहान्यनन्तरं जघन्यावस्थानस्य स्वामी प्रागुक्तन्यायादवसेयः ॥६८९।६९०॥

अथोक्तशेषासु मार्गणासु घातिनीनां रसस्य जघन्यवृद्ध्यादीनां स्वामिनमाह—

घाईणऽण्णह यो लहुरसस्स सामी स चिअ अणंतंसं ।
वड्ढिअ वड्ढिं हाउं हाणिमवट्ठाणमण्णयरो ॥६९१॥
णवरं अणंतभागं वड्ढिअ हाउं व लहुमवट्ठाणं ।
कम्माणाहारेसुं बायरएगिंदियो कुणए ॥६९२॥

(प्रे०) 'घाईण' इत्यादि, अन्यत्र-प्रागुक्तादन्यत्राष्टादशोत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः घातिप्रकृतीनां यो जघन्यरसस्य स्वामी स एव जघन्यरसबन्धकाले बद्धरसापेक्षया रसस्यानन्तभागं बन्धे वर्धयित्वा वृद्धिं करोति, जघन्यरसबन्धस्थानादनन्तरानन्तभागवृद्धस्थानं बद्ध्वाऽनन्तभागं रसं हापयित्वा हानिं करोति, वृद्धेर्हानेर्वाऽनन्तरसमयेऽनन्तरप्राक्तनसमयबद्धरसतुल्यं रसं बध्नन् जघन्यमवस्थानं करोति । अथात्रैव संभाव्यमानं विशेषं दर्शयति-'णवरं' इत्यादिना, कार्मणानाहारमार्गणयोर्जघन्यावस्थानं बादरैकेन्द्रियः करोति, किं कृत्वा करोतीत्याह–'अणंतभागं' इत्यादि, निरुक्तमार्गणावर्तिबादरैकेन्द्रियप्रायोग्यजघन्यरसस्यानन्तभागं रसं वर्धयित्वा हापयित्वा वा । इदमुक्तं भवति–यद्यपि कार्मणाऽनाहारकमार्गणयोर्मार्गणाप्रायोग्यसुविशुद्धः सम्यग्दृष्टिः संज्ञी घातिनीनां जघन्यरसं बध्नाति तथापि यः सुविशुद्धबादरैकेन्द्रियः स्वप्रायोग्यं जघन्यरसं बद्ध्वा विशुद्धिमान्द्यादनन्तरसमयेऽनन्तभागं रसं बन्धे वर्धयति तदनन्तरसमये च तावन्तमेव रसं बध्नाति स जघन्यावस्थानस्य स्वामी भवति,अथवा जघन्यरसबन्धस्थानादनन्तरवर्तिनमनन्तभागवृद्धरसबन्धस्थानं बद्ध्वा यः कश्चिदेकेन्द्रियस्तदनन्तरसमये बन्धेन रसं हापयित्वा जघन्यरसं बध्नाति, स तदनन्तरसमये तावन्मात्रं रसं बध्नन् जघन्यावस्थानस्वामी भवति । किन्तु मार्गणाप्रायोग्यजघन्यरसबन्धकः सम्यग्दृष्टिरवस्थानस्य स्वामी न भवति तस्य प्रस्तुतमार्गणयोरुत्कृष्टावस्थितेर्द्विसामयिकत्वेन हानेर्वृद्धेर्वाऽनन्तरं मार्गणाया एवानवस्थानात् । इमाश्च ता उक्तशेषा मार्गणाः-त्रिमनुष्यवर्जाः सर्वा गतिमार्गणास्ताश्च चतुश्चत्वारिंशत् , द्विपञ्चेन्द्रियवर्जसप्तदशेन्द्रियमार्गणाः, द्वित्रसवर्जचत्वारिं-

शत्कायमार्गणाः, वैक्रियतन्मिश्रयोगौ, आहारकतन्मिश्रयोगौ, औदारिकमिश्रयोगः, कार्मणयोगः, परिहारविशुद्धिकम् , शुक्लावर्जलेश्यापञ्चकम् , अभव्यः, क्षायोपशमिकम् , सास्वादनम् , असंज्ञ्यनाहारी चेति अष्टादशोत्तरशतमार्गणा इति ॥६९१।६९२॥

अथ गोत्रकर्मसत्करसस्य जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानानां स्वामिनं दिदर्शयिषुस्तावद् नरकौघादिमार्गणासु तमोघवदतिदिशति—

णिरयचरमणिरयेसुं दुपणिंदितसेसु पणमणवयेसुं ।
कायविउव्वेसुं तह णपुंसगे चउकसायेसुं ॥६९३॥
अण्णाणतिगे अजए णयणेयरकिण्हभवियमिच्छेसुं ।
सण्णिम्मि तहाहारे गोअस्सोघव्व तिपयाणं ॥६९४॥

(प्रे०) 'णिरय' इत्यादि, नरकौघादिषु चतुस्त्रिंशन्मार्गणासु गोत्रस्य वृद्धिहान्यवस्थानलक्षणानां त्रिपदानामोघवद् भवति, स्वामीति गम्यते। कुतः ओघवदिति चेत् , उच्यते,—यथौघे सम्यक्त्वाभिमुखत्वादिविशिष्टः सप्तमपृथ्वीनारकः स्वामी तथैवेहापि स एव, तदपि कुतः ? आसु प्रत्येकं सप्तमनारकस्यान्तःप्रवेशात् । ओघवच्चैवम्-सम्यक्त्वाभिमुखः सप्तमपृथ्वीनारकः मिथ्यात्वस्य द्विचरमसमये यथासंभवमल्परसं बद्ध्वा तच्चरमसमयेऽनन्तगुणहीनं रसं बध्नाति स गोत्रस्य जघन्यहानेः स्वामी। स्वस्थानसुविशुद्ध' सप्तमपृथ्वीनारको यथासंभवमल्परसं बद्ध्वाऽनन्तरसमये विशुद्धिमान्द्यादनन्तभागं रसं बन्धे वर्धयति स जघन्यवृद्धेः स्वामी। यावान् वृद्धिसमये रसो बद्धस्तावन्तमेव रसं वृद्धेरनन्तरसमये बध्नाति स जघन्यावस्थानस्य स्वामीति। जघन्यहानेरनन्तरं त्ववस्थानं न संभवति, हानेरनन्तरसमयेऽनन्तगुणरसवृद्धेः सद्भावात् । नरकौघादिचतुस्त्रिंशन्मार्गणा नामग्राहं दर्शयति 'णिरय' इत्यादिना, नरकौघश्चरमनरकः, द्विपञ्चेन्द्रियौ, द्वित्रसकायौ, पञ्चमनोयोगाः; पञ्चवचनयोगाः, काययोगौघः, वैक्रियकाययोगः, नपुंसकवेदः, चत्वारः कषायाः, अज्ञानत्रिकमयतः, चक्षुरचक्षुर्दर्शने; कृष्णलेश्या, भव्यः, मिथ्यात्वम् , संज्ञ्याहारी चेति चतुस्त्रिंशन्मार्गणाः ॥६९३।६९४॥

अथ चतुर्ज्ञानादिमार्गणासु गोत्रसत्करसस्य जघन्यपदे वृद्ध्यादीनां स्वामिनमाह—

चउणाणसंजमेसुं समइअछेअपरिहारदेसेसुं ।
ओहिम्मि य सम्मत्ते तहुवसमे वेअगे मीसे ॥६९५॥
गोअस्स बंधगो जो मंदऽणुभागस्स अहिमुहो अत्थि ।
स चिअ जहण्णं हाणिं तदरिहमंदागओ कुणए ॥६९६॥

वड्ढिअ अणंतभागं सठाणकिट्ठो कुणेइ लहुवड्ढिं ।
तयणंतरमवठाणं दोण्ह अवेअसुहमेसु णामव्व ॥६९७॥ [गीतिः]

(प्रे०) 'चउणाण' इत्यादि, चतुर्ज्ञानादिचतुर्दशसु मार्गणासु गोत्रस्य यो मिथ्यात्वाभिमुखो जघन्यानुभागबन्धस्य स्वामी स एव तदर्हमन्दादागतो जघन्यां हानिं करोति । इदमुक्तं भवति-प्रस्तुतमार्गणासूच्चैर्गोत्रस्यैव बन्धः, तस्य च जघन्यरसस्तीव्रसंक्लेशेन जायते, अत एव यो मिथ्यात्वाभिमुखः स मिथ्यात्वाभिमुखत्वस्य द्विचरमसमये यथासंभवमल्परसं बद्ध्वा तच्चरमसमये तीव्रसंक्लिष्टः सन्ननन्तगुणहीनं रसं बध्नन् जघन्यहानेः स्वामी भवति । अभिमुखत्वविरहितावस्थायामनन्तभागहीनं रसं बध्नन् यावन्तं रसं ह्रासयति तदपेक्षया प्रस्तुताऽनन्तगुणहान्या स्वल्प एव रसो हीयते, अतो यथोक्तो जघन्यानुभागबन्धको मिथ्यात्वाभिमुखो जघन्यहानेः स्वामीति भावः । चतुर्ज्ञानादिचतुर्दशमार्गणास्त्विमाः—चतुर्ज्ञानानि, संयमौघः, सामायिकम्, छेदोपस्थापनीयं, परिहारविशुद्धिकं, देशविरतिः, अवधिदर्शनं, सम्यक्त्वौघः, उपशमसम्यक्त्वं, क्षायोपशमिकं, मिश्रदृष्टिश्चेति । अथ जघन्यवृद्धिस्वामिनमाह-'वड्ढिअ' इत्यादि, स्वस्थानसंक्लिष्टः प्राक्समयबद्धरसापेक्षया अनन्तभागं रसं बन्धे वर्धयित्वा जघन्यां वृद्धिं करोति स जघन्यवृद्धेः स्वामीति भावः । अथावस्थानस्वामिनमाह-'तयणंतरं' इत्यादि, वृद्धेरनन्तरसमयेऽवस्थानं, वृद्धिसमये यावन्तं रसमबध्नात् तदनन्तरसमये तावन्तमेव रसं बध्नन् जघन्यावस्थानस्य स्वामी भवति, जघन्यहानेरनन्तरसमये तु मार्गणापरावृत्तः, वृद्धेरनन्तरमेवाऽवस्थानमित्यपि ज्ञेयम् ।

अवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणयोरवस्थानस्याभावात् तत्र वृद्धिहानिलक्षणयोः द्वयोः पदयोः स्वामिनमतिदिशति-'दोण्ह' इत्यादि, अपगतवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणयोर्गोत्रसत्करसस्य जघन्यवृद्धिहानिलक्षणयोर्द्वयोः पदयोः स्वामी कः ? इत्याह 'णामव्व' त्ति प्राग्नामकर्मसत्करसस्य जघन्यवृद्धिहान्योर्यः स्वामी उक्तोऽत्रापि स एव ज्ञेयः । स चायम्—आरोहक उपशामको मार्गणाया द्वितीयसमये वर्त्तमानो जघन्यवृद्धेः स्वामी स एवोपशमको श्रेणेरवरोहन् मार्गणाद्विचरमसमयेऽजघन्यं रसं बद्ध्वा चरमसमये जघन्यरसं बध्नाति तदा जघन्यहानेः स्वामी ॥६९५।६९६।६९७॥

अथोक्तशेषासु मार्गणासु गोत्रसत्करसस्य जघन्यवृद्ध्यादीनां स्वामिनमाह—

गोअस्सऽण्णह जो लहुरसस्स सामी स चिअ अणंतंसं ।
वड्ढिअ वड्ढिं हाउं हाणिमवट्ठाणमण्णयरो ॥६९८॥
णवरं बादरतेऊ बायरवाऊ व सुविसुद्धो ।
कम्माणाहारेसुं कुणइ जहण्णं अवट्ठाणं ॥६९९॥ [उपगीतिः]

(प्रे०) **'गोअस्स'** इत्यादि, **'ऽण्णहु'** त्ति उक्तशेषासु विंशत्युत्तरशतमार्गणासु गोत्रस्य यो जघन्यरसबन्धकः स एव **'अणंतंसं'** जघन्यरसबन्धकाले बद्धरसापेक्षयाऽनन्तभागं रसं बन्धे वर्धयित्वा जघन्यवृद्धेः स्वामी भवति । जघन्यवृद्धिकाले यावान् रसो बन्धे वर्धितः तावन्तं रसं बन्धे हापयित्वा जघन्यहानेः स्वामी भवति **'अवट्ठाणमण्णयरो'** इत्यादि, वृद्धेर्हानेर्वाऽनन्तरसमयेऽनन्तरप्राक्तनसमयबद्धरसतुल्यं रसं बध्नन् जघन्यावस्थानस्य स्वामी, तज्जघन्यरसस्य स्वस्थानविशुद्धयादिना परावर्तमानपरिणामेन वा जायमानत्वात् ।

अथात्रैव विशेषमाह-**'णवर'** मित्यादिना, कार्मणाऽनाहारमार्गणयोः स्वस्थानविशुद्धः पर्याप्तबादरतेजःकायःपर्याप्तबादरवायुकायो वा जघन्यमवस्थानं करोति, जघन्यावस्थानस्य स्वामी भवतीति भावः । कुतः ? एकेन्द्रियाणामेव प्रस्तुतमार्गणयोस्त्रिसामयिकत्वात् । अयंभावः-प्रस्तुतमार्गणयोर्गोत्रसत्कजघन्यरसस्य बन्धकः सप्तमनारकः तस्य चात्रोत्कृष्टतोऽपिऽवस्थितेर्द्विसामयिकत्वेन, वृद्धेर्हानेर्वाऽनन्तरकृतावस्थानस्यैवात्राभिमतत्वेन वृद्धेर्हानेर्वाऽनन्तरसमये मार्गणाया एवापगमेन चावस्थानस्यानवकाशात् , शेषैकेन्द्रियाणां तु गोत्रस्य स्वप्रायोग्यो जघन्यरसबन्धो नास्ति, ततो निरुक्तः सुविशुद्धो बादरतेजःकायो बादरवायुकायो वा जघन्यावस्थानस्य स्वामीति । उक्तशेषा मार्गणास्त्विमाः-नरकौघसप्तमनरकवर्जेपञ्चचत्वारिंशद् गतिमार्गणाः, द्विपञ्चेन्द्रियवर्जेन्द्रियमार्गणास्ताश्च सप्तदश, द्वित्रसवर्जकायमार्गणास्ताश्च चत्वारिंशत् , औदारिकतन्मिश्रयोगौ आहारकतन्मिश्रयोगौ, वैक्रियमिश्रकाययोगः, कार्मणकाययोगः पुरुषस्त्रीवेदौ, कृष्णवर्जलेश्यापञ्चकम् , अभव्यः, क्षायिकं, सास्वादनम् , असंज्ञी, अनाहारी चेति विंशत्युत्तरशतमार्गणाः । आसु गोत्रस्य यो जघन्यरसस्य स्वामी स एव जघन्यवृद्धिहान्योः स्वामी, स एव कार्मणाऽनाहारकवर्जाष्टादशोत्तरशतमार्गणासु जघन्यावस्थानस्येति ॥६९८।६९९॥

इत्यष्टानामपि प्रकृतीनां जघन्यवृद्धयादीनां स्वामित्वमोघाऽऽदेशाभ्यां समाप्तम् । तत्समाप्तौ च समर्थितमष्टप्रकृतीनामुत्कृष्टजघन्यवृद्धयादीनां स्वामित्वम् । तत्समर्थने च गतं तृतीयाधिकारस्य द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे तृतीये पदनिक्षेपाधिकारे द्वितीय स्वामित्वद्वार समाप्तम्॥







॥ अथ तृतीयमल्पबहुत्वद्वारम् ॥

गतं तृतीयाधिकारान्तर्गतं द्वितीयद्वारम् । साम्प्रतं तृतीयस्याऽल्पबहुत्वद्वारस्य व्याख्याऽवसरः । तत्र तावदुत्कृष्टपदेऽष्टप्रकृतीनां वृद्ध्यादिबन्धानां रसस्याऽल्पबहुत्वं त्रिभिर्गाथाभिरोघतः प्राह—

घाईण गुरू वड्ढी थोवा तत्तो गुरुं अवट्ठाणं ।
णेयं विसेसअहियं तो गुरुहाणी विसेसहिया ॥७००॥
तिण्ह अघाईण भवे सव्वत्थोवं गुरुं अवट्ठाणं ।
तत्तो अणंतगुणिआ जेट्ठा हाणी तओ वड्ढी ॥७०१॥
आउस्स गुरू वड्ढी थोवा तत्तो विसेसअहियाइं ।
हाणिअवट्ठाणाइं परप्परसमाणि णेयाणि ॥७०२॥

(प्रे०) **'घाईण'** इत्यादि, 'घातिनां' चतुर्घातिप्रकृतीनां 'गुरुः' उत्कृष्टा वृद्धिरनन्तरवक्ष्यमाणपदद्वयापेक्षया स्तोका, उत्कृष्टवृद्धिकाले वर्धितो रसोऽल्प इति भावः । ततोऽनन्तरोक्तवृद्ध्यपेक्षयोत्कृष्टावस्थानं विशेषाधिकं, कुत ? इति चेदुच्यते—उत्कृष्टवृद्धिश्चतुःस्थानिकयवमध्यमस्था रसस्योपरितनस्थानत उत्कृष्टानुभागबन्धं गतस्य प्राप्यते, अर्थात् यवमध्योपरितनचतुःस्थानिकत उत्कृष्टचतुःस्थानिकं रसबन्धस्थानं गच्छतो जीवस्य यावतो रसस्य वृद्धिः साऽत्रोत्कृष्टवृद्धित्वेन गृहीता । उत्कृष्टावस्थानन्तु चतुःस्थानिकमुत्कृष्टरसं बद्ध्वाऽनन्तरसमये द्विस्थानिकं रसं बध्नाति स करोति, एवमुत्कृष्टवृद्धिस्वाम्युल्लङ्घितरसबन्धस्थानापेक्षयोत्कृष्टावस्थानस्वामी अधिकानि रसबन्धस्थानान्युल्लङ्घ्यावस्थानं करोति तत उत्कृष्टावस्थानं विशेषाधिकम्, यावन्तं रस उत्कृष्टवृद्धिस्वामिना रसवृद्धिं कुर्वता वर्धितस्तदपेक्षयाधिकं रसं बन्धे हापयित्वाऽवस्थानस्वाम्यवस्थानं करोतीति भावः । **'तो गुरुहाणी विसेसाहिया'** त्ति उत्कृष्टावस्थानत उत्कृष्टहानिर्विशेषाधिका, कुतः ? भवचरमसमयवर्त्ती देव उत्कृष्टरसबन्धानन्तरं देवभवाच्च्युत्वैकेन्द्रियेषूत्पन्नो भवप्रथमसमयवर्त्त्येकेन्द्रियस्तत्स्वामीति कृत्वा । एकेन्द्रियप्रायोग्यं द्विस्थानिकरसबन्धस्थानं प्राप्त एकेन्द्रिय उत्कृष्टहानेः स्वामी, तेन च उत्कृष्टहानिस्वामिनोत्कृष्टावस्थानस्वाम्युल्लङ्घितरसबन्धस्थानापेक्षया अधिकानि रसबन्धस्थानान्युल्लङ्घितानीति भावः । नन्वेकेन्द्रियभवप्रथमसमये हानिं कृत्वा द्वितीयसमयेऽवस्थानं करोति तदा हान्यवस्थानयोस्तुल्यत्वं संभवति न तु अवस्थानापेक्षया हानेर्विशेषाधिकत्वमिति चेन्न, उत्कृष्टरसबन्धानन्तरं पञ्चेन्द्रियत्वत एकेन्द्रियत्वं प्राप्तस्य भवप्रथमसमये यावान् रसो बद्धस्तावतो रसस्य द्वितीयसमये बन्धासम्भवात् ।

अथ द्वितीयगाथा विव्रियते–'तिण्ह' इत्यादि, तिसृणामघातिप्रकृतीनां गुरुम्–उत्कृष्टमवस्थानं सर्वस्तोकं भवेत्, 'तत्तो' तस्मादनन्तगुणा ज्येष्ठा उत्कृष्टा हानिः, 'तओ' ततो वृद्धिरुत्कृष्टाऽनन्तगुणा इत्यनुवर्तते। इयमत्र भावना–ओघचिन्तायामघातित्रयस्योत्कृष्टाऽवस्थानमप्रमत्तगुणस्थाने भवति, तत्र बध्यमानो रसोऽनन्तरवक्ष्यमाणापेक्षयाऽल्पस्ततः सर्वस्तोकः, तस्मादुत्कृष्टहानिरनन्तगुणा, आरोहकोपशमकः सूक्ष्मसम्परायचरमसमयेऽनन्तरोक्तरसादनन्तगुणरसं बद्ध्वा कालं च कृत्वा देवतयोत्पन्नः सन् भवप्रथमसमये तत्प्रायोग्यजघन्यरसं बध्नाति तस्योत्कृष्टा हानिर्भवतीति कृत्वा। ततोऽप्यनन्तगुणा उत्कृष्टवृद्धिर्भवति क्षपकश्रेण्यां सूक्ष्मसम्परायस्य चरमसमये एव जायमानत्वात्।

अथाऽऽयुष्कस्योत्कृष्टवृद्ध्यादीनामल्पबहुत्वम्—'आउस्स' इत्यादि, आयुष्कस्य गुरुः उत्कृष्टा वृद्धिः स्तोका ततो विशेषाधिके हान्यवस्थाने-उत्कृष्टहान्युत्कृष्टाऽवस्थाने ते च परस्परं समाने– तुल्ये ज्ञेये, तयोः प्राप्तिः साकारोपयोगक्षयेण भवति, उत्कृष्टवृद्धेः प्राप्तिः पुनस्तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धतः उत्कृष्टानुभागबन्धे जायमाने भवति, अर्थात् चतुःस्थानिकयवमध्यमोपरितनरसस्थानत उत्कृष्टरसबन्धस्थानं गच्छत उत्कृष्टा वृद्धिर्भवति, अत एव वृद्धितः उत्कृष्टहानिरुत्कृष्टाऽवस्थानं च विशेषाधिकं, तयोः परस्परं तुल्यत्वञ्च, हानेरनन्तरसमये एवोत्कृष्टाऽवस्थानस्य भवनात् ॥७००।७०१।७०२॥

दर्शितमोघतोऽष्टप्रकृतीनामुत्कृष्टपदे वृद्ध्यादीनामल्पबहुत्वम्। साम्प्रतमादेशतः सप्तप्रकृतीनां तदेव चिकथयिषुरादौ तावद् यासु मार्गणासु प्रकृताल्पबहुत्वमोघवद् तास्वोघवद्, द्व्यज्ञानादिषु च सापवादं तद्वदतिदिशन् प्राह—

> ओघव्वऽप्पाबहुगं जेट्ठाण पयाण आउवज्जाणं।
> कायचउकसायेसुं अचक्खुभवियेसु आहारे ॥७०३॥
> सत्तण्होघव्व गुरुतिपयाण दुअणाणअयतमिच्छेसुं।
> णवरं जेट्ठा हाणी तिण्ह अघाईण सयमुज्झा ॥७०४॥

(प्रे०) 'ओघव्व' इत्यादि, काययोगौघ-चतुष्कषायाऽचक्षुर्दर्शन भव्या ऽऽहारिरूपासु अष्टासु मार्गणासु 'जेट्ठाण' त्ति उत्कृष्टपदे वृद्ध्यादीनां त्रिपदानां 'आउवज्जाणं' त्ति सप्तप्रकृतिविषयकमल्पबहुत्वमोघवद् भवति, तत्र त्रिकषायवर्जासु पञ्चमार्गणासु भावनाऽपि ओघवद्। त्रिकषायमार्गणासु सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्याभावादघातित्रयसत्कोत्कृष्टवृद्धिहान्योःस्वाम्येवमवगन्तव्यः-उपशमश्रेणिमारोहन् मार्गणाचरमसमये उत्कृष्टरसं बद्ध्वा कालञ्च कृत्वा देवभवप्रथमसमये यथासम्भवमल्पं

रसं बध्नाति, तदोत्कृष्टहानिः, क्षपको मार्गणाद्विचरमसमयेऽनुत्कृष्टं रसं बद्ध्वा चरमसमये उत्कृष्टं रसं बध्नाति तदोत्कृष्टा वृद्धिरिति ।

'सत्तण्हं' इत्यादि, द्वयज्ञाना-ऽयत-मिथ्यात्वरूपासु चतुर्मार्गणासु सप्तकर्मविषयकमुत्कृष्टावस्थानहानिवृद्धिलक्षणानां त्रिपदानामल्पबहुत्वमोघवद् भवति, तत्र घातिचतुष्कस्य भावनाऽप्योघवद् । अघातित्रयसत्कभावना पुनरेवम्–स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्ध्या स्वस्थानोत्कृष्टरसं बद्ध्वाऽनन्तरसमये तत्प्रायोग्यजघन्यविशुद्धिं प्राप्तः सन् तत्प्रायोग्यजघन्यं रसं बध्नाति, अनन्तरसमये चावस्थानम् , उत्कृष्टा वृद्धिस्तु संयमाभिमुखावस्थाया द्विचरमसमयेऽनुत्कृष्टरसं बद्ध्वा चरमसमये उत्कृष्टरसबन्धकस्येति । अथात्र विशेषं दर्शयति–**'णवरं'** इत्यादि, द्वयज्ञानादिषु चतुर्मार्गणासु तिसृणामघातिनीनामुत्कृष्टहानिः स्वयमूह्या । कुतः ? तत्स्वामिनः सम्यगपरिज्ञानात् । अत्र चैवं वक्तव्यं भवति-सर्वस्तोकमुत्कृष्टावस्थानम् , ततोऽनन्तगुणा उत्कृष्टा वृद्धिः । उत्कृष्टा हानिस्तु अवस्थानेन तुल्या उत ततोऽनन्तगुणा तत्तु न पार्यते वक्तुं तत्स्वामिनः परिज्ञानाभावादुत्कृष्टवृद्धितस्त्वनन्तगुणहीना एवेति ।।७०३।७०४।।

सम्प्रति त्रिमनुष्यादिपञ्चविंशतिमार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टपदे वृद्ध्यादीनामल्पबहुत्वमाह–

तिणरदुपंचिंदियतसपणमणवयउरलइत्थिपुरिसेसुं ।
णपुमम्मि य चक्खुम्मि य सुक्काए खइअसण्णीसुं ।।७०५।।
घाईणऽप्पा वड्ढी गुरू तओ दो विसेसअहियाइं ।
हाणिअवट्ठाणाइं तिण्ह अघाईण ओघव्व ।।७०६।।

(प्रे०) **'तिणर'** इत्यादि, त्रिमनुष्य-द्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रसकाय-पञ्चमनोयोग पञ्चवचनयोगौदारिकयोग-स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेद-चक्षुर्दर्शन–शुक्ललेश्या-क्षायिक-संज्ञिलक्षणासु पञ्चविंशतिमार्गणासु चतसृणां घातिप्रकृतीनां 'गुरुः'-उत्कृष्टा वृद्धिरल्पा, ततो द्वे पदे-उत्कृष्टहान्यवस्थानलक्षणे विशेषाधिके परस्परं तुल्ये च, कुतः ? इति चेद् , उच्यते–यत्र यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धः स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्ध्या वा जायते तत्र तासामुत्कृष्टवृद्धित उत्कृष्टा हानिर्विशेषाधिका यत्र चोत्कृष्टहानेरनन्तरमवस्थानं तत्र हान्या तुल्यमवस्थानम् , प्रस्तुते घातिप्रकृतीनामेवम् , अत उत्कृष्टा वृद्धिरल्पा ततो हान्यवस्थाने विशेषाधिके परस्परं तुल्ये चेति ।

अथाऽघातिनीनामाह–**'तिण्हं'** इत्यादि, तिसृणामघातिप्रकृतीनामोघवदल्पबहुत्वं भवतीति शेषः। तत्र द्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रसकाय-चक्षुर्दर्शन-शुक्ल-क्षायिक-संज्ञिलक्षणास्वष्टमार्गणासु भावनाऽप्योघवद् भवति, शेषमार्गणासु प्रस्तुतवृद्ध्यादीनां स्वामिनमवगम्य भावना स्वयमेव कार्या ।।७०५।७०६।।

इदानीं कार्मणयोगा-ऽनाहारकमार्गणाद्वये सप्तानामुत्कृष्टवृद्ध्यादीनामल्पबहुत्वमाह—

कम्माणाहारेसु सत्तण्हऽप्पं गुरुं अवट्ठाणं ।
तोऽणंतगुणा वड्ढि तत्तो हाणी विसेसहिया ॥७०७॥

(प्रे०) 'कम्माणाहारेसु' इत्यादि, कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वये सप्तानां प्रकृतीनां 'गुरुम्'-उत्कृष्टमवस्थानमल्पं-स्तोकम् , ततो 'वृद्धिः'-उत्कृष्टवृद्धिरनन्तगुणा, ततो 'हानिः'-उत्कृष्टहानि-विशेषाधिका । इयमत्र भावना-इह सप्तानामुत्कृष्टा-ऽवस्थानं बादरैकेन्द्रियाणामेव भवति, ततस्तत् सर्वाल्पमुक्तम् , उत्कृष्टवृद्धिः पुनः तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धत उत्कृष्टानुभागं बध्नतां संज्ञिपञ्चेन्द्रि-याणां भवति, अत एवाऽनन्तगुणा प्रदर्शिता । उत्कृष्टहानिस्तूत्कृष्टानुभागबन्धतः साकारक्षयेण पति-तानां संज्ञिजीवानां भवति, अतः सा विशेषाधिका प्रोक्ता ॥७०७॥

साम्प्रतमपगतवेदसूक्ष्मसम्परायसंयमविभङ्गज्ञानमार्गणात्रये प्रकृतमाह—

गयवेए सुहमे गुरुवड्ढी गुरुहाणिओ अणंतगुणा ।
विब्भंगे घाईणं नरव्व णेयं सयं अघाईणं ॥७०८॥ [गीतिः]

(प्रे०) 'गयवेए' इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां सप्तानां सूक्ष्मसम्पराये षण्णाम् , उत्कृष्ट-हानित उत्कृष्टवृद्धिरनन्तगुणा भवति । आरोहकोपशमकापेक्षयाऽवरोहकाणामनन्तगुणसंक्लिष्टत्वेन घातिकर्मणामुत्कृष्टवृद्धेरनन्तगुणत्वम् , अघातिसत्कोत्कृष्टवृद्धेः क्षपकापेक्षया प्राप्यमाणत्वेनाऽनन्त-गुणत्वम् । 'विब्भंगे' इत्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायां घातिकर्मणामुत्कृष्टवृद्धिहान्यवस्थानानि मनुष्यमार्गणावद् , उत्कृष्टवृद्धिहान्यवस्थानानां मनुष्यवदत्रापि स्वस्थानस्वामिकत्वात् , अघाति-त्रयस्य वृद्धेस्तु सर्वाधिक्येऽपि ज्येष्टहानेः स्वामिनो विशेषनिर्णयाभावादल्पबहुत्वं न निर्दिष्टम् । अत्रावस्थानतो वृद्धेरनन्तगुणत्वं सुसिद्धमेवेति ॥७०८॥

अथ चतुर्ज्ञानादिदशमार्गणासु प्रस्तुतं सार्द्धगाथाद्वयेनाह—

चउणाणसंजमेसुं समइअछेओहिसम्मुवसमेसुं ।
हाणिअवट्ठाणाइं थोवाइं हुन्ति घाईणं ॥७०९॥
तोऽणंतगुणा वड्ढी गुरू अघाईण तिण्ह ओघव्व ।
णवरि उवसमे थोवं तिअघाईणं अवट्ठाणं ॥७१०॥
तोऽणंतगुणा वड्ढी तत्तो हाणी भवे विसेसहिया ।

(प्रे०) 'चउणाण' इत्यादि, चतुर्ज्ञान-संयमौघ-सामायिक छेदोपस्थापनीया-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघो-पशमसम्यक्त्वलक्षणासु दशमार्गणासु चतुर्घातिप्रकृतीनामुत्कृष्टे हान्यवस्थाने 'स्तोके' सर्वाल्पे भवतः, तत उत्कृष्टवृद्धिरनन्तगुणा, कुतः ? भण्यते-प्रस्तुतमार्गणासु घातिचतुष्कस्य हान्य-वस्थाने स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशतः साकारक्षयेण पतनानन्तरं तत्प्रायोग्यजघन्यसंक्लेशस्थाने भवतः,

घातिचतुष्कस्योत्कृष्टवृद्धिः पुनर्दोषाभिमुखावस्थायाश्चरमसमये प्राप्यते, तत्र च प्रतिसमयं घातिकर्मसत्करसोऽनन्तगुणवृद्धया वर्धते, स च वृद्धरसो हानिस्वामिना हापितरसापेक्षयाऽनन्तगुणः, तेन प्रस्तुते हान्यवस्थानापेक्षया उत्कृष्टा वृद्धिरनन्तगुणा इति ।

उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां 'णवरि' इत्यादिना विशेषतो वक्ष्यमाणत्वात् तां वर्जयित्वा शेषनवमार्गणासु त्र्यघातिनामुत्कृष्टवृद्धयादिपदानामल्पबहुत्वमोघवदतिदिशति-'अघाईण' इत्यादि, तिसृणामघातिप्रकृतीनां त्रयाणामुत्कृष्टवृद्धयादिपदानामल्पबहुत्वमोघवद् भवति । तद्यथा–अघातित्रयस्योत्कृष्टावस्थानसत्करमः सर्वाल्पः । ततोऽनन्तगुणो रसः उत्कृष्टहानिसत्को भवति । ततोऽप्यनन्तगुणो रस उत्कृष्टवृद्धेर्भवति । भावना चात्रौघवदनुमर्तव्या ।

अथोपशमसम्यक्त्वमार्गणायामघातित्रयसत्कोत्कृष्टवृद्धयादिपदानामल्पबहुत्वविषये विशेषमाह–'णवरि' इत्यादि, नवरमुपशमसम्यक्त्वे त्र्यघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टा-ऽवस्थानं स्तोकं-सर्वाल्पमित्यर्थः । 'सोऽणंतगुणा' इत्यादि, तत उत्कृष्टवृद्धिरनन्तगुणा, ततोऽप्युत्कृष्टहानिर्विशेषाधिका भवेत् । कुतः ? उच्यते,-इहा-ऽवस्थानमप्रमत्तगुणस्थाने भवति, अघातित्रयस्योत्कृष्टवृद्धेः स्वामी तूपशमश्रेणेरारोहकः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये भवति, ततोऽवस्थानसत्करसापेक्षया वृद्धिसत्करसः सुतरामनन्तगुणो भवति । उत्कृष्टहानेः स्वामी पुनः उत्कृष्टवृद्धयनन्तरसमये भवक्षयेण कालं कृत्वा देवभवप्रथमसमये तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धं कुर्वन् स एवारोहको भवति, ततो वृद्धयपेक्षया हानिर्विशेषाधिका प्राप्यते ॥७०९।७१०॥

अधुना परिहारवेदकमार्गणाद्वये सार्धगाथया प्राह—

परिहारवेअगेसुं घाईणोहिव्व अप्पबहू ॥७११॥
तिअघाईणऽप्पा गुरुवड्ढी तत्तो विसेसअहियाइं ।
हाणिअवट्ठाणाइं णवरि सयं वेअगे अवट्ठाणं ॥७१२॥ [गीति]

(प्रे०) 'परिहार' इत्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयम-वेदकसम्यक्त्वमार्गणाद्वये घातिप्रकृतीनामल्पबहुत्वमत्रावधिज्ञानवद् भवति । कुतः ? इति चेदुच्यते–अवधिज्ञानमार्गणायां वृद्धेः स्वामी अभिमुखावस्थायाश्चरमसमये, तदनु मार्गणाऽपगमः, स्वस्थानसंक्लेशतः साकारक्षयेण पतित उत्कृष्टहानेःस्वामी, हानेरनन्तरसमये चाऽवस्थानम्, एवमेव प्रस्तुतमार्गणयोरपीति कृत्वा । तच्चैवम्–उत्कृष्टहान्यवस्थाने स्तोके ते च परस्परं तुल्ये, तत उत्कृष्टवृद्धिरनन्तगुणा । 'तिअघाईण' इत्यादि, तिसृणामघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टवृद्धिः 'अप्पा' सर्वाल्पा, ततो विशेषाधिके 'हान्यवस्थाने'-उत्कृष्टहानिरुत्कृष्टाऽवस्थानं चेत्यर्थः, ते च परस्परं तुल्ये ज्ञेये. भावना तु प्राग्वत् स्वयमेव कार्या । 'णवरि' इत्यादि, नवरंशब्दोऽपवादसूचकः, अपवादश्चायं-वेदकसम्यक्त्वमार्गणायामवस्थानं स्वयमेव तर्क्यम् । कुतः ? उत्कृष्टावस्थानस्वामिनो निर्णयाभावात् ॥७११।७१२॥

इदानीं देशविरतिमार्गणायां मिश्रसम्यक्त्वमार्गणायां च सप्तप्रकृतिसत्कोत्कृष्टवृद्धयादिपदानामल्पबहुत्वं निरूपयति—

हाणिअवट्ठाणाइं हवेज्ज सत्तण्ह देसमीसेसुं ।
जेट्ठाइं थोवाइं तो गुरुवड्ढी अणंतगुणा ॥७१३॥

(प्रे०) 'हाणि' इत्यादि, देशविरतिमार्गणायां मिश्रदृष्टिमार्गणायां च सप्तकर्मणामुत्कृष्टहान्यवस्थाने प्रत्येकं 'स्तोके' अल्पे, तत उत्कृष्टवृद्धिरनन्तगुणा, प्रस्तुतमार्गणाद्वये घातिकर्मणामुत्कृष्टवृद्धिर्दोषाभिमुखावस्थायाश्चरमसमये तथाऽघातिकर्मणामुत्कृष्टवृद्धिर्गुणाभिमुखावस्थायाश्चरमसमये भवन्यतो। वृद्धिहान्यवस्थानतोऽनन्तगुणा, स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशतः स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धितः साकारोपयोगक्षयेण तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धस्थानं प्राप्तस्य जीवस्य क्रमेण घातिकर्मणामघातिकर्मणामुत्कृष्टहानिर्भवति, तदनन्तरसमये तावन्तं रसं बध्नतो जीवस्योत्कृष्टमवस्थानं भवति अतः ते द्वे पदे परस्पर तुल्ये उत्कृष्टवृद्धितोऽनन्तगुणहीने चेति ॥७१३॥

साम्प्रतमप्रशस्तत्रिलेश्यासु सप्तानामुत्कृष्टवृद्धयादीनामल्पबहुत्वं निरूपयितुकाम आह—

घाईणोघव्व असुहलेसासु परे भणन्ति णिरयव्व ।
तिअघाईणं वड्ढी थोवा तो दोण्णि अब्भहिया ॥७१४॥

(प्रे०) 'घाईणोघव्व' इत्यादि, अप्रशस्तत्रिलेश्यासु-कृष्णनीलकापोतरूपासु घातिप्रकृतीनां त्रयाणामपि पदानामल्पबहुत्वमोघवद् भाति, तद्यथा-घातिचतुष्कसत्कोत्कृष्टवृद्धेः रसः सर्वाल्पः तत उत्कृष्ट-ऽवस्थानस्य विशेषाधिकः ततोऽप्युत्कृष्टहानेर्विशेषाधिको ज्ञेयः । भावना चात्रौघवत्कार्या । अथ मतान्तरं दर्शयति-'परे' इत्यादि, परे-अन्ये ये देवानामप्रशस्तलेश्याः पर्याप्ताऽवस्थायां न मन्वते ते भणन्ति, किम् ? इत्याह-'णिरयव्व' नरकवद् घातिचतुष्कसत्कोत्कृष्टवृद्धयादीनामल्पबहुत्वमिति । तद्यथा-अत्र घातिचतुष्कसत्कोत्कृष्टवृद्धिः सर्वाल्पा, ततस्तदुत्कृष्टहान्यवस्थाने द्वे पदे विशेषाधिके, परस्परं तु तुल्ये । कुतः ? उच्यते-एतन्मतेन देवानां पर्याप्ता-ऽवस्थायामप्रशस्तलेश्या-ऽभावेन देवाः प्रस्तुतवृद्धयादीनां स्वामितया न प्राप्यन्ते, निरयतिर्यङ्मनुष्याः एव तत्स्वामितया लभ्यन्ते, तेषां चोत्कृष्टबन्धानन्तरसमये एकेन्द्रियेषूत्पादाभावादोघवदल्पबहुत्वं न प्राप्यते, किन्तु स्वस्थानोत्कृष्टरसं बद्ध्वा साकारक्षयेण पतनादनन्तरं तत्प्रायोग्यजघन्यानुभागबन्धवेलायां हान्यवस्थाने लभ्येते, तत उत्कृष्टवृद्धित उत्कृष्टहान्यवस्थाने विशेषाधिके परस्परं तु तुल्ये इति । 'तिअघाईणं' इत्यादि, त्र्यघातिनामुत्कृष्टवृद्धिः 'स्तोका'-सर्वाल्पा, ततो द्वे पदे उत्कृष्टहान्यवस्थानलक्षणे अभ्यधिके, परस्परं तु तुल्ये । भावना त्वत्र सुगमेति ॥७१४॥ अथाभव्यमार्गणायामाह—

ओघव्वऽत्थि चउण्हं घाईणं अभविये अघाईणं ।
थोवा वड्ढी जेट्ठा तत्तो दुपयाणि अहियाणि ॥७१५॥

(प्रे०) 'ओघव्वे' त्यादि' अभव्यमार्गणायां चतुर्णां घातिनाम् उत्कृष्टवृद्ध्यादीनि त्रीणि पदानि ओघवत् सन्ति, ओघवत्स्वामिकत्वात् , तानि चैवम्–उत्कृष्टा वृद्धिः स्तोका तत उत्कृष्टमवस्थानं विशेषाधिकम् तत उत्कृष्टा हानिः विशेषाधिका, । 'अघाईणं' ति चतुर्णामघातिनामुत्कृष्टा वृद्धिः स्तोका स्वस्थानविशुद्धस्वामिकत्वात् , 'तो जेट्ठात्थिदुपया' तत उत्कृष्टहान्युत्कृष्टावस्थानलक्षणे द्वे पदे अभ्यधिके परस्परं च तुल्ये अनन्तरोक्तादेव हेतोः, यतः त्रीण्यपि पदानि स्वस्थानविशुद्धस्वामिकानि तत्रायमेव क्रम इति कृत्वेति ।।७१५।।

सम्प्रति यासु मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टवृद्धिः सर्वाल्पा, उत्कृष्टहान्यवस्थाने पुनर्विशेषाधिके, परस्परं च तुल्ये स्तः, ताः सर्वा मार्गणाः शेषशब्देन संगृह्य तास्वाह—

सेसासु गुरू वड्ढी थोवा सत्तण्ह ताउ अहियाइं ।
हाणिअवट्ठाणाइं परस्परसमाणि णेयाणि ।।७१६।।

(प्रे०) 'सेसासु' इत्यादि, शेषासु-प्रागुक्तषष्टिमार्गणा वर्जयित्वा शेषदशोत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः । सप्तानां गुरुः-उत्कृष्टा वृद्धिः स्तोका-सर्वाल्पा, ततो 'हान्यवस्थाने'-उत्कृष्टे हान्यवस्थाने 'अधिके'-विशेषाधिके 'परस्परसमाने' परस्परतुल्ये च ज्ञेये, कुतः ? इति चेद् , उच्यते-स्वस्थान-संक्लिष्टविशुद्धयोर्घात्यघातिप्रकृतिसत्कोत्कृष्टवृद्धिः संभवति, तथा यदा स्वस्वमार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टाऽनुभागबन्धतः साकारक्षयेण पतनानन्तरमनाकारोपयोगेन तत्प्रायोग्यजघन्यानुभागस्य बन्धो भवति, तदोत्कृष्टहानिर्भवति, तदनन्तरसमये चावस्थितबन्धो लभ्यते अतोऽत्रोत्कृष्टवृद्धिः सर्वाल्पा, ततो उत्कृष्टहान्यवस्थाने विशेषाधिके परस्परं तुल्ये चाभिहिते ।

शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः–त्रिमनुष्यवर्जचतुश्चत्वारिंशद्गतिमार्गणाः, द्विपञ्चेन्द्रियभेदवर्जसप्तदशेन्द्रियमार्गणाः, द्वित्रसकायभेदवर्जचत्वारिंशत्कायमार्गणाः, औदारिकमिश्र वैक्रिय-तन्मिश्रा-ऽऽहारक-तन्मिश्रलक्षणाः पञ्च योगमार्गणाः, तेजःपद्मलेश्यामार्गणे सास्वादनमार्गणाऽसंज्ञिमार्गणा चेत्येता दशाधिकशतमार्गणा इति ।।७१६।।

तदेवमादेशतः सप्तकृतीनामुत्कृष्टपदे वृद्धिहान्यवस्थानपदानामल्पबहुत्वं निरूप्य साम्प्रतमायुष्कस्य सर्वासु मार्गणासु तेषामल्पबहुत्वमेकया गाथया प्राह—

सव्वासु गुरू वड्ढी थोवा आउस्स ताउ अहियाइं ।
हाणिअवट्ठाणाइं परप्परसमाणि णेयाणि ।।७१७।।

(प्रे०) 'सव्वासु' इत्यादि, सर्वासु-आयुर्बन्धप्रायोग्यत्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः, आयुष्कस्य गुरुः–उत्कृष्टा वृद्धिः स्तोका, ततो विशेषाधिके उत्कृष्टहान्यवस्थाने, परस्परं तुल्ये च ज्ञेये, अर्थात्प्रस्तुताल्पबहुत्वं सर्वथौघवद् भवति, भावनाऽप्योघवद् वेदितव्येति ।।७१७।।

तदेवमोघाऽऽदेशाभ्यामष्टप्रकृतीनामुत्कृष्टपदे वृद्धयादिरसबन्धानामल्पबहुत्वं निगद्य साम्प्रतं जघन्यपदे तन्निर्दिदिक्षुरादौ तावदोघतः प्राह—

घाईण लहू हाणी थोवा णेया तओ अणंतगुणा ।
हस्सा वड्ढी तत्तोऽणंतगुणं लहुमवट्ठाणं ॥७१८॥
थोवा गोअस्स लहू हाणी तत्तो अणंतगुणिआइं ।
वड्ढिअवट्ठाणाइं सेसाणं तिण्णि तुल्लाणि ॥७१९॥

(प्रे०) 'घाईण' इत्यादि, 'घातिनां'-चतुर्घातिप्रकृतीनां रसबन्धस्य 'लघुः'-जघन्या हानिः 'स्तोका' सर्वाल्पा, तत्तद्बन्धचरमसमये क्षपकाणां तत्तज्जघन्यहानिसद्भावात् । 'ततः'-जघन्यहानितोऽनन्तगुणा 'हस्वा'-जघन्या वृद्धिः, श्रेणितः पतितानामुपशामकानामेव तद्बन्धसद्भावात् तेषाञ्च क्षपकापेक्षयाऽनन्तगुणसंक्लिष्टत्वात् । 'ततो'-जघन्यवृद्धितोऽनन्तगुणं 'लघु'-जघन्यमवस्थानं ज्ञेयम्, कुतः ? उच्यते-अत्र जघन्या-ऽवस्थानस्य स्वामी अप्रमत्तयतिः, स चोपशामकापेक्षया-ऽनन्तगुणसंक्लिष्ट इति कृत्वा ।

अथा-ऽघातिप्रकृतीनां प्रकृता-ऽल्पबहुत्वम्-'थोवा' इत्यादि, गोत्रस्य लघुः-जघन्या हानिः स्तोका, ततोऽनन्तगुणे वृद्धयवस्थाने परस्परं तुल्ये च । भावना चेयम्-गोत्रस्य यो जघन्यानुभागस्वामी स जघन्यहानिस्वामितया निर्दिष्टः । यद्यपि सम्यक्त्वाभिमुखाऽवस्थाया द्विचरमसमयवर्तिरसबन्धापेक्षया चरमसमयेऽनन्तगुणहीनो रसबन्धो जायते तथापि एतद्धानिः शेषवृद्धयाद्यपेक्षया-ऽनन्तगुणहीना सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमनारकद्विचरमचरमसमयरसबन्धतारतम्यस्य शेषरसबन्धतोवृद्धयाद्यपेक्षयाऽल्पत्वात् । अतो जघन्यहान्यपेक्षया जघन्यवृद्धिरनन्तगुणा कथिता, वृद्धयनन्तरसमये तावन्मात्ररसबन्धं कुर्वन् जघन्या-ऽवस्थानं करोति, अत एव वृद्धयवस्थाने परस्परं तुल्ये । गोत्रवर्जशेषत्र्यघातिनीनामल्पबहुत्वमाह-'सेसाणं तिण्णि तुल्लाणि' इति, शेषाणां वेदनीय-नाम-ऽऽयुषां त्रीण्यपि जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानरूपाणि पदानि परस्परं तुल्यानि, कुतः ? परावर्त्तमानमध्यमपरिणामी जघन्यानुभागबन्धस्वामी अनन्तभागरसं वर्धयित्वा जघन्यां वृद्धिम्, अनन्तभागहीनं रसं कृत्वा जघन्यां हानिम्, तयोरनन्तरसमये तावन्मात्ररसबन्धं कुर्वन्, जघन्याऽवस्थानं करोतीति कृत्वा ॥७१८।७१९॥

इत्थमोघतो-ऽष्टप्रकृतीनां जघन्यपदे वृद्धयादीनामल्पबहुत्वं निर्दिष्टम् । साम्प्रतमादेशतो-ऽभिधित्सुरादौ तावदायुष्कसत्का-ऽल्पबहुत्वं सर्वमार्गणासु तथा वेदनीयनाम्नोरपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायभेदद्वयवर्जसर्वमार्गणास्वोघतुल्यवक्तव्यत्वेन प्रथमं दर्शयति—

ओघव्वऽप्पाबहुगं हस्सपयाणाउगस्स सव्वासु ।
तह अवगयवेअसुहुमवज्जासुं वेअणामाणं ॥७२०॥

(प्रे०) **'ओघव्व'** इत्यादि, 'सर्वासु'-आयुर्बन्धप्रायोग्यासु त्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु आयुष्कस्याऽल्पबहुत्वं ह्रस्वपदानां-जघन्यपदे वृद्ध्यादीनामल्पबहुत्वमोघवद् भवेत्, तच्चैवम्-'सेसाणं तिण्णि तुल्लाणि' इति वचनाद् जघन्यवृद्धिजघन्यहानिजघन्यावस्थानरूपाणि त्रीणि पदानि तुल्यानि भवन्तीत्यर्थः । तथा-ऽपगतवेदसूक्ष्मसम्परायवर्जासु अष्टषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु वेदनीयनाम्नोः प्रस्तुतमल्पबहुत्वमोघवद् भवेत्, तद्यथा-'सेसाणं तिण्णि तुल्लाणि' इत्यायुष्कवदत्रापि जघन्यवृद्ध्यादीनि त्रीण्यपि पदानि तुल्यानीति भावः । कुतः ? इति चेद्, उच्यते-एतासु सर्वासु मार्गणासु तत्तत्प्रकृतीनां परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो जघन्यानुभागबन्धकोऽनन्तभागरसं वर्धयित्वा जघन्यवृद्धिम्, अनन्तभागहीनरसं च कृत्वा जघन्यहानिम्, तयोरनन्तरसमये तावन्मात्ररसबन्धं कुर्वन्, जघन्या-ऽवस्थानं विदधाति, अत एव सर्वत्र वेदनीयनामायुषां त्रीणि पदानि तुल्यानि लभ्यन्ते इति आयुष्कस्याल्पबहुत्वं सर्वमार्गणासु तथा वेदनीयनाम्नोरल्पबहुत्वमवेदसूक्ष्मसम्परायवर्जशेषमार्गणास्थानेष्वभिधाय साम्प्रतं तेषु शेषपञ्चप्रकृतीनां प्रस्तुतजघन्यवृद्ध्यादीनामल्पबहुत्वं विभणिषुराह—

घाईण जहण्णपया णिरय-चरमणिरय-विउव-किण्हासुं ।
तिण्णि वि तुल्ला णेया गोअस्सोघव्व अप्पबहू ॥७२१॥

(प्रे०) **'घाईण'** इत्यादि, चतसृणां घातिनीनां प्रकृतीनां त्रीण्यपि जघन्यवृद्ध्यादीनि पदानि तुल्यानि ज्ञेयानि । कुतः ? स्वस्थानस्वामिकत्वात् तद्यथा-तत्तत्प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्वामी अनन्तभागं रसं वर्धयित्वा जघन्यवृद्धिम्,अनन्तभागहीनं कृत्वा जघन्यां हानिम्, तथा तयोरनन्तरसमये तावन्मात्ररसबन्धं कुर्वन् जघन्या-ऽवस्थानं करोति, अतो घातिप्रकृतीनां त्रीण्यपि पदानि तुल्यानि भणितानि । अथ गोत्रस्याऽऽह–**'गोअस्सोघव्व'** इत्यादि, गोत्रस्य जघन्यवृद्ध्यादीनामल्पबहुत्वमोघवद् भवति, कुतः ? उच्यते–ओघे गोत्रस्य जघन्यवृद्ध्यादीनां यः स्वामी दर्शितः, स एव प्रस्तुतचतुर्मार्गणास्वपि स्वामी भवति, अतो गोत्रस्य प्रस्तुताल्पबहुत्वमोघवदुक्तम् । तच्चैवम्-जघन्यहानिरल्पा, ततो जघन्यवृद्ध्यवस्थानेऽनन्तगुणे, परस्परं तुल्ये च, भावना त्वोघवत्कार्या । सर्वमार्गणासु वेदनीयनामायुषां प्रस्तुताल्पबहुत्वस्य तुल्यत्वात् तत्प्रागेव दर्शितम् ।

अल्पबहुत्वस्य सुबोधार्थं सदृष्टान्तं नियमत्रयं प्रदर्श्यते, तद्यथा–(१) यत्र यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्वामी श्रेण्यामभिमुखावस्थायां वा वर्तते वृद्धेश्चानन्तरमवस्थानं प्राप्यते तत्र तासां जघन्यहानिरल्पा, ततो वृद्ध्यवस्थानेऽनन्तगुणे परस्परं तुल्ये, यथौघे प्रस्तुते च गोत्रसत्कमल्पबहुत्वम् । इति प्रथमो नियमः ।

(२) यत्र जघन्यहानिवृद्ध्यवस्थानानां स्वामी विसदृशः, अर्थाद् यो जघन्यहानेः स्वामी स जघन्यवृद्धेः स्वामी भवितुं नार्हति न च जघन्यवृद्धिहान्योरनन्तरमवस्थानं प्राप्यते, तत्र जघन्यहानिरल्पा,

ततो जघन्यवृद्धिरनन्तगुणा ततो जघन्यावस्थानमनन्तगुणम्। यथौघे तथा त्रिमनुष्यादिषु च्यघातिनीनां त्र्यज्ञानादिषु च मार्गणासु घातिप्रकृतीनामल्पबहुत्वम्। इति द्वितीयो नियमः।

(३)यत्र यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्वामी परावर्तमानपरिणामि-स्वस्थानविशुद्ध-स्वस्थान-संक्लिष्टानामन्यतमस्तत्र तासां प्रकृतीनां जघन्यवृद्ध्यादीनि त्रीण्यपि पदानि तुल्यानि भवन्ति। यथा मनुष्यादिमार्गणासु गोत्रस्य, नरकादिमार्गणासु घातिचतुष्कस्य, क्षायिकसम्यक्त्वानुत्तरसुरादिमार्गणासु गोत्रस्य जघन्यवृद्ध्यादीनामल्पबहुत्वम्। इति तृतीयो नियमः॥ ७२१॥

साम्प्रतं त्रिमनुष्यादिमार्गणासु चिन्तयति—

घाईणोघव्व भवे तिणरुरलित्थिपुमसुक्कखइएसुं।
हस्सपयाणऽप्पबहू तिण्णि वि तुल्लाऽत्थि गोअस्स ॥७२२॥

(प्रे०) '**घाईणोघव्व**' इत्यादि, त्रिनरौदारिकयोग-स्त्रीवेद-पुरुषवेद-शुक्ललेश्या-क्षायिक-सम्यक्त्वलक्षणास्वष्टमार्गणासु घातिप्रकृतीनां जघन्यपदे वृद्ध्यादीनामल्पबहुत्वमोघवद् ज्ञेयम्, कथम्? उच्यते—स्त्रीपुरुषवेदवर्जशेषषण्मार्गणासु घातिचतुष्कस्य जघन्यवृद्ध्यादीनां स्वाम्योघवद् भवति, स्त्रीपुरुषवेदमार्गणाद्वये-ऽपि स्वाम्योघवद् भवति किन्तु जघन्यहानेः स्वामी स्वस्वमार्गणाया-श्चरमसमयवर्ती क्षपकः, जघन्यवृद्धेः पुनः श्रेणितः पतन् मार्गणाया द्वितीयसमयवर्ती उपशमकः, जघन्या-ऽवस्थानस्य स्वामी त्वोघवदेव भवति। अतः प्रस्तुता-ऽष्टमार्गणास्वोघवदल्पबहुत्व-मुक्तम्। अथ गोत्रस्य प्रकृता-ऽल्पबहुत्वमाह—'**तिण्णि वि**' इत्यादि, गोत्रस्य त्रीण्यपि जघन्य-वृद्ध्यादिपदानि तुल्यानि, कुतः? त्रिनरादिमार्गणासु परावर्तमानपरिणामेन क्षायिकसम्यक्त्वमार्ग-णायां च स्वस्थानसंक्लेशेन तज्जघन्यानुभागस्य बन्धसद्भावेन तृतीयनियमस्य प्रवेशात्॥७२२॥

अथ यासु मार्गणासु पञ्चप्रकृतीनामल्पबहुत्वमोघवद् भवति, तासु तत्प्राह—

पंचण्ह वि अप्पबहू ओघव्वऽत्थि दुपणिंदियतसेसुं।
पणमणवयकायणपुमकसायणाणचउगेसुं च ॥७२३॥
तिअणाणसंयमेसुं समइअछेअऽयतदरिसणतिगेसुं।
भविसम्मउवसमेसुं मिच्छे सण्णिम्मि आहारे ॥७२४॥

(प्रे०) '**पंचण्ह वि**' इत्यादि, द्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काय-योग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्क-मत्यादिज्ञानचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुताऽज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामा-यिक-छेदोपस्थापनीया-ऽसंयम-दर्शनत्रिक-भव्य-सम्यक्त्वौघोपशमसम्यक्त्व-मिथ्यात्व-संज्ञ्याऽऽहारि लक्षणासु चत्वारिंशद्मार्गणासु घातिगोत्राणां पञ्चानामपि प्रकृतीनां जघन्यवृद्ध्यादीनामल्पबहुत्व-मोघवदस्ति। तद्यथा—घातिचतुष्कस्य जघन्यहानिः सर्वाल्पा, ततोऽनन्तगुणा जघन्यवृद्धिः, ततोऽन-

न्तगुणं जघन्याऽवस्थानम् । कुतः ? निरुक्ताल्पबहुत्वे द्वितीयनियमस्य प्रवेशात् । गोत्रस्य पुनर्जघन्यहानिः सर्वस्तोका, ततो जघन्यवृद्ध्यवस्थानेऽनन्तगुणे परस्परं च तुल्ये । एतदल्पबहुत्वे प्रथमनियमस्य प्रवेशात् ।

इह नियमप्रवेशभावना एवम्—तत्र प्रथमं घातिचतुष्काल्पबहुत्वे द्वितीयनियमप्रवेशो भाव्यते, तद्यथा—अज्ञानत्रयायतमिथ्यात्वरूपासु पञ्चमार्गणासु जघन्यहानिस्वामी संयमाभिमुखो मार्गणाचरमसमये वर्तमान उक्तः, जघन्यवृद्धिस्वामी संयमात् परिभ्रष्टो मार्गणाद्वितीयसमये वर्तमानो भणितः, अवस्थानस्य स्वामी तु स्वस्थानविशुद्ध इत्येते स्वामिनः परस्परं विलक्षणा एव; उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां जघन्यहानेः स्वामी आरोहक उपशमकः, वृद्धेः स्वामी त्ववरोहकोऽसौ, अवस्थानस्य स्वामी पुनरप्रमत्तयतिः, इत्थमिहापि एते त्रयः स्वामिनो विलक्षणा एव । निरुक्तशेषचतुस्त्रिंशन्मार्गणासु जघन्यहानेः स्वामी क्षपकः, जघन्यवृद्धेः स्वाम्यवरोहकोपशमकः, अवस्थानस्य स्वामी त्वप्रमत्तयतिरित्येवं जघन्यवृद्ध्यादीनां स्वामिनः पूर्ववद् विलक्षणा एव, न पुनः सदृशाः, एवं चत्वारिंशन्मार्गणासु द्वितीयनियमस्य प्रवेशात् जघन्यहानिरल्पा ततो जघन्यवृद्धिरनन्तगुणा, ततो जघन्यावस्थानमनन्तगुणम् । ननु भवतु अत्र प्रत्येकं स्वामिनो विलक्षणत्वेन द्वितीयनियमप्रवेशः, कथं पुनरेतेनैव क्रमेण यथोत्तरं वृद्ध्यादेरनन्तगुणत्वम् ? इति चेद्, जघन्यहानिजघन्यवृद्धिजघन्यावस्थानस्वामिनां यथोत्तरमनन्तगुणसंक्लिष्टत्वादिति ।

गोत्रस्याल्पबहुत्वे प्रथमनियमस्य प्रवेशो भाव्यते—ज्ञानचतुष्क-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीया-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघो-पशमसम्यक्त्वरूपासु दशसु मार्गणासु जघन्यरसबन्धहानेः स्वामी मिथ्यात्वाभिमुखो मार्गणाचरमसमये वर्तमानो, जघन्यवृद्ध्यवस्थानयोः स्वामी स्वस्थानसंक्लिष्टः, शेषत्रिंशन्मार्गणासु जघन्यहानेः स्वामी सम्यक्त्वाभिमुखस्वस्य चरमसमये वर्तमानः सप्तमनारकः, जघन्यवृद्ध्यवस्थानयोस्तु स्वस्थानविशुद्धः; इत्थं प्रथमनियमस्य प्रवेशाद् जघन्यहानिरल्पा ततो वृद्ध्यवस्थानेऽनन्तगुणे परस्परं तुल्ये च । इदं त्ववधेयम्:—मतिज्ञानादिमार्गणासु केवलमुच्चैर्गोत्रस्य बन्धः तस्य च शुभत्वात् तत्रोत्कृष्टसंक्लेशेन गोत्रस्य जघन्यो रसो बध्यते मन्दसंक्लेशेनाधिकरसो बध्यते । कुतः ? अभिमुखावस्थामत्कोत्कृष्टसंक्लेशतः स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशस्यानन्तगुणहीनत्वात्, तथा च जघन्यहानितो जघन्यवृद्ध्यवस्थाने प्रत्येकमनन्तगुणे, शेषत्रिंशन्मार्गणासु तु नीचैर्गोत्रं प्रतीत्य जघन्यहानिवृद्ध्यवस्थानानि लभ्यन्ते, अतस्तत्र सर्वथौघवद् हेत्वादीनि ज्ञातव्यानीति ॥७२३।७२४॥

साम्प्रतं त्रिमिश्रयोगेषु कार्मणाऽनाहारमार्गणयोश्च प्रकृतमाह—

मिस्सतिजोगेसु समा तिण्णि वि पंचण्ह लहुपयदुगाओ ।
कम्माणाहारेसु अणंतगुणं लहुमवट्ठाणं ॥७२५॥

(प्रे०) 'मिस्स' इत्यादि, औदारिकमिश्र-वैक्रयमिश्राऽऽहारकमिश्रलक्षणेषु त्रिमिश्रयोगेषु 'पंचण्ह' त्ति घातिगोत्ररूपाणां पञ्चानां प्रकृतीनां 'तिण्णि' त्रीणि जघन्यवृद्धिहान्यवस्थानलक्षणानि पदानि समानि तुल्यानि, स्वस्थानापेक्षयेदं बोध्यम् । तद्यथा-स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशतः स्वस्थान-विशुद्धितश्च पतित्वानन्तभागमधिकं रसं बध्नतो जघन्या वृद्धिरनन्तभागहीनं रसं बध्नतो जघन्या हानिस्तयोरनन्तरसमये तावन्तमेव रसं बध्नतो जघन्यमवस्थानमिति । अपेमंतान्तरसंग्रहपरत्वात्-अनन्तरसमये शरीरपर्याप्तिसद्भावत एव जघन्यरसबन्ध इति मतेन तु प्रस्तुतं पदत्रयाल्पबहुत्वं स्वयमेवाऽऽगमाविरोधेन तर्क्यम् ।

'कम्माण' इत्यादि, कार्मणाऽनाहारकमार्गणयोर्लघु पदद्विकात् जघन्यवृद्धिहानिलक्षणात् जघन्यमवस्थानमनन्तगुणम्, एकेन्द्रियस्वामिकत्वात् । इदमुक्तं भवति-घातिनीनां जघन्यहानिवृद्ध्योः स्वामी सम्यग्दृष्टिः, गोत्रस्य च सप्तमनारकः, पञ्चानामवस्थानस्य तु स्वामी एकेन्द्रियः, तस्य चेतरापेक्षयाऽनन्तगुणहीनविशुद्धत्वात् जघन्यमवस्थानमनन्तगुणं भवतीति ॥७२५॥

इदानीमपगतवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये सप्तप्रकृतीनां जघन्यवृद्धिहान्योरल्पबहुत्वमाह—

सत्तण्ह लहू हाणी अवेअसुहमेसु अत्थि सव्वप्पा ।
ताहिन्तो विण्णेया जहण्णवड्ढी अणंतगुणा ॥७२६ ॥

(प्रे०) 'सत्तण्ह' इत्यादि, अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये सप्तानां, प्रागुक्तपञ्चकेन सह वेदनीयनाम्नोरपि ग्रहणात्, कुतः ? निरुक्तमार्गणाद्वये वेदनीयनाम्नोः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बन्धाभावेन तत्राऽल्पबहुत्वकथनस्याऽवशिष्टत्वात् । तत्रापि सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां मोहनीयस्य बन्धाभावात् षण्णां कर्मणामल्पबहुत्वमवसातव्यम् । तच्चैवम्-लघुः-जघन्या हानिः सर्वाल्पा, ततो जघन्या वृद्धिरनन्तगुणा विज्ञेया, कुतः ? उच्यते,-घातिचतुष्कस्य जघन्यहानिः क्षपकश्रेण्यां भवति, अतः सर्वाल्पा, ततो जघन्यवृद्धिरनन्तगुणा, कुतः ? श्रेणितः पततां तद्भावात्, ततः किं ? तेषां संक्लेशस्याधिक्येन प्रभूतरसस्य निर्वर्तकत्वात् । अघातित्रयस्य प्रशस्तत्वात् संक्लेशेनाऽल्परसः प्राप्यते ततः श्रेणितः पतन्नुपशामको मार्गणाचरमसमये वर्त्तमानो जघन्यहानेः स्वामितया निर्दिष्टः । अत एव जघन्या हानिः सर्वाल्पा, ततोऽनन्तगुणा जघन्यवृद्धिः यतस्तत्स्वामितया स्वस्वमार्गणाया द्वितीयसमये वर्त्तमानः श्रेणेरारोहक उपशमकः प्रोक्तः, तस्य च विशुद्धत्वेनानन्तगुणाधिकरस-बन्धकत्वात् । अवस्थानं त्विह मार्गणाद्वये नैव भवतीति ॥७२६॥

अधुना परिहारविशुद्धिकवेदकमार्गणाद्वये प्रस्तुतं प्राह—

परिहारवेअगेसु घाईण समा लहू पया तिण्णि ।
गोअस्स लहू हाणी थोवा तो दो अणंतगुणा ॥७२७॥

(प्रे०) **'परिहार'** इत्यादि, परिहारविशुद्धिकक्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोर्घातिनीनां जघन्यवृद्धयादीनि त्रीणि पदानि तुल्यानि, स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धस्य जघन्यरसबन्धकत्वात् । अनन्तरसमये भविष्यत्कृतकरणस्यैव जघन्यरसबन्ध इति मतेन तु प्रस्तुतमल्पबहुत्वं स्वयमेव मनीषिभिरागमाविरोधेन चिन्तनीयम् । तथा **'गोअस्स'** गोत्रस्य जघन्या हानिः स्तोका, ततो जघन्यवृद्धयवस्थानरूपे द्वे पदेऽनन्तगुणे परस्परं च तुल्ये प्रथमनियमस्य प्रवेशात् । तथाहि–दोषाभिमुखावस्थायाश्चरमसमये यो जघन्यरसबन्धस्य स्वामी स एव जघन्यहानेः स्वामी, जघन्यवृद्धिः स्वस्थानसंक्लिष्टस्य भवति, तदनन्तरसमये तावन्तं रसं बध्नतः तस्य जघन्यमवस्थानं भवतीति । निरुक्तमार्गणाद्वये उच्चैर्गोत्रस्यैव बन्धः, अतस्तत्प्रतीत्य गोत्रस्य जघन्यरसः सर्वसंक्लिष्टेन बध्यते, तस्यैव जघन्या हानिः, सर्वसंक्लिष्टो दोषाभिमुखावस्थायाश्चरमसमये, अतः स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लिष्टस्वामिकजघन्यवृद्धयवस्थानतो चरमसमयदोषाभिमुखस्वामिकजघन्यहानिरनन्तगुणहीना ॥७२७॥

सम्प्रति देशविरति-मिश्रसम्यक्त्वमार्गणाद्वये प्रकृता-ऽल्पबहुत्वमाह—

पंचण्ह लहू हाणी देसे मीसे य होइ थोवा तो ।
वड्ढिअवट्ठाणाइं णेयाणि अणंतगुणिआइं ॥७२८॥

(प्रे०) **'पंचण्ह'** इत्यादि, देशविरति-मिश्रसम्यक्त्वमार्गणाद्वये पञ्चानां चतुर्घातिगोत्राणां जघन्या हानिः स्तोका भवति, ततो जघन्यवृद्धयवस्थाने ऽनन्तगुणे, ते च द्वे परस्परं तुल्ये, भावना तु स्वामित्वमवगम्य स्वयमेव कार्या ॥७२८॥

साम्प्रतं तेजःपद्मलेश्याद्वये पञ्चानां जघन्यवृद्धयादीनामल्पबहुत्वमाह—

घाईणं अप्पबहू परिहारव्वऽत्थि तेउपम्हासुं ।
गोअस्स तिण्णि तुल्ला पंचण्ह वि अत्थि सेसासुं ॥७२९॥

(प्रे०) **'घाईण'** इत्यादि, तेजःपद्मलेश्यामार्गणाद्वये घातिनां- चतुर्घातिनीनामल्पबहुत्वं परिहारविशुद्धिकमार्गणावदस्ति, अत्राऽपि कृतकरणापेक्षया स्वस्थानापेक्षया च स्वामित्वस्य प्राप्यमाणत्वात् । गोत्रस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जघन्यानुभागबन्धस्य सद्भावेन वेदनीयकर्मवद् त्रीण्यपि जघन्यवृद्धयादीनि पदानि तुल्यानि, एतदेवाह-**'गोअस्स'** इत्यादिना, भावितम् ।

अथ शेषमार्गणासु प्राह–**'पंचण्ह वि अत्थि सेसासु'** इति, शेषासु-प्रागुक्तोद्धरितासु पञ्चोत्तरशतमार्गणासु पञ्चानां-चतुर्घातिगोत्राणाम् , अपिशब्दो **"तिण्णि तुल्ला"** इति पदानुकर्षी, ततश्च त्रीण्यपि-जघन्यवृद्धयादीनि पदानि तुल्यानि सन्तीत्यर्थः । कुतः ? इति चेद् , उच्यते-अत्र सर्वत्र तत्प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धका अनन्तभागं रसं वर्धयित्वा जघन्यवृद्धिम् , अनन्तभागहीनं रसं कृत्वा जघन्यहानिम् , तयोश्चानन्तरसमये तावन्मात्ररसं बद्ध्वा जघन्या-ऽवस्थानं कुर्वन्ति,

अतः पञ्चानां त्रीण्यपि पदानि तुल्यानि प्राप्यन्ते वेदनीयनाम्नोश्च त्रीणि पदानि प्रागेव तुल्यानि दर्शितानि, ततोऽत्र सप्तानां त्रीणि पदानि तुल्यानि भवन्ति ।

शेषपञ्चोत्तरशतमार्गणा नामतः पुनरिमाः--नरकौघ-सप्तमनारक-त्रिमनुष्यभेदवर्जद्वात्रिंशद्गतिमार्गणाः, द्विपञ्चेन्द्रियवर्जसप्तदशेन्द्रियमार्गणाः, द्वित्रसकायभेदवर्जचत्वारिंशत्काय-मार्गणाः, आहारकयोगमार्गणा, नीलकापोताख्ये द्वे लेश्यामार्गणे, अभव्यमार्गणा, सास्वादनमार्गणा-ऽसंज्ञिमार्गणा चेति ।।७२९।।

तदेवमुक्तं कर्माष्टकस्यौघा-ऽऽदेशाभ्यां जघन्यपदे वृद्ध्यादीनामल्पबहुत्वम् । तद्भणने चावसितमुत्कृष्टपदे जघन्यपदे च वृद्ध्यादीनामल्पबहुत्वम् । तदवसाने च समर्थितं तृतीयाधिकार-स्य "अप्पाबहुगं" इत्यनेनोद्दिष्टं तृतीयमल्पबहुत्वद्वारम् । तत्समर्थने च निष्ठितस्तृतीयः पदनिक्षेपाधिकारः ।

।। इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे तृतीये पदनिक्षेपाधिकारे तृतीयमल्पबहुत्वद्वारं समाप्तम् ।।

। इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे पदनिक्षेपाधिकारः समाप्तः ।

*** अष्टमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टपदे जघन्यपदे च रसबन्धवृद्ध्यादीनां सत्पदप्रदर्शकं यन्त्रम् ***

षट् पदानि (गा० ६४५)	ओघत	सत्पद० ← आदेशत (मार्गणासु)	→ असत्पद०
(१) उत्कृष्ट-जघन्यवृद्धि	अस्ति	सर्वत्र अस्ति एव	— —
(२) „ „ हानि	„	„ „ „	
(३) उत्कृष्टजघन्यावस्थानम्	,	आयुषः „ „ „ समाना १६८मार्गणासु अस्ति	अवेद-सूक्ष्मसम्परायद्वये आयुर्वर्जानामवस्थानं नास्ति ।

*** आयुष उत्कृष्टपदे जघन्यपदे च रसबन्धवृद्ध्यादीनां स्वामित्वप्रदर्शकं यन्त्रम् ***

ओघत — उ० वृद्धि०→तद्योग्यजघन्यरसबन्धात् तीव्रविशुद्धि प्राप्तः सन्नुत्कृष्टरस बध्नन् अप्रमत्तमुनि. ।
उ० हानि०→उत्कृष्टरसबन्धात् साकारक्षयेण पतितः सन् तद्योग्यजघन्यरस बध्नन् अप्रमत्तमुनिः ।
उ० अवस्था० →उत्कृष्टहानेरनन्तरसमये तुल्यरस बध्नन् अप्रमत्तमुनि । (गाथा ६५५-६५६)

आदेशतः—उ० वृद्धि० →सर्वासु १६३ मार्गणासु आयुषो य उत्कृष्टरसबन्धस्वामी स तदर्हजघन्यरसबन्धादुत्कृष्ट-रस बध्नन् । (गाथा ६५७)
उ० हानि०→सर्वासु १६३ मार्गणासु आयुषो य उत्कृष्टरसबन्धस्वामी स उत्कृष्टरसबन्धात् साकारक्षयेण तद्योग्यमन्दरस बध्नन् ।
उ० अव०→सर्वासु १६३ मार्गणासु आयुष उत्कृष्टहानेरनन्तर तुल्यरस बध्नन् । (गाथा ६६७-६६८)

ओघतः–आयुषो यो जघन्यरसबन्धस्वामी स एवायुष. अनन्तभागरस वर्धयित्वा जघन्यवृद्धिम्, अनन्तभागं रसं हापयित्वा जघन्यहानि जघन्यवृद्धिहान्योरनन्तरसमये तुल्यरस बध्नन् जघन्यावस्थान करोति । (गाथा ६७८)
आदेशतः–एवमेव सर्वत्र स्वस्वमार्गणाप्रायोग्यजघन्यानुभागस्वामी ज्ञेयः । (गाथा ६७९)

* आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टपदे वृद्ध्यादीनां स्वामित्वप्रदर्शकं यन्त्रम् *

गाथाङ्कः	उत्कृष्ट-पदानि	ओघतः घातिचतुष्कस्य स्वामी	अघातित्रयस्य स्वामी
६४८ ६४९	वृद्धि०	चतुःस्थानिकयवमध्योपरिस्थः अन्तःकोटिकोटिसाग० स्थितिं बध्नन्, अन्तर्मुहूर्तं यावद्रसमनन्तगुणवृद्ध्या वर्धयन्, उत्कृष्टसंक्लेशेनोत्कृष्टाय गत, उत्कृष्टस्थितिमुत्कृष्टरसं च बध्नन् जीवः।	सूक्ष्मसम्परायस्य चरमसमये क्षपक । (गाथा ६५२)
६५०	हानि०	ईशानान्तदेव उत्कृष्टरसं बद्ध्वा ततश्च्युत्वैकेन्द्रियतयो त्पद्य भवप्रथमसमये तद्योग्यजघन्यरस बध्नन् जीव ।	सूक्ष्मसम्परायचरमसमयवर्त्युपशमको मृत्वा देवतयोत्पद्य प्रथमसमये तद्योग्यजघन्यरस बध्नन् (गाथा ६५३)
६५१	अवस्था०	उत्कृष्टरसबन्धात्साकारोपयोगक्षयेण तद्योग्यजघन्यरस बध्नन् तदनन्तरमवस्थितः सन् पर्याप्तसंज्ञिमिथ्यादृष्टिजीवः।	तत्प्रायोग्यजघन्यरसबन्धात्[illegible]उत्कृष्टरसबन्धं प्राप्तोऽनन्तरसमये तावद्रसं बध्नन् प्रमत्तसंयत । (६५४)

आदेशत.—सप्तानामुत्कृष्टवृद्धिस्वामी—

सर्वासु १७० मार्गणासु तत्तन्मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टरसबन्धको यदा तद्योग्यमन्दतम रस बद्ध्वाऽनन्तरसमये उत्कृष्टरसं बध्नाति तदा स उत्कृष्टवृद्धेः स्वामी भवति । (गाथा ६५७) उत्कृष्टहान्यवस्थानयो स्वामी यन्त्रकादवसेयः । तत्रादौ घातिचतुष्कस्य लिख्यते—

गाथाङ्कः	मार्गणाः	सर्वा	घातिकर्मसत्कोत्कृष्टहानिस्वामी	घातिसत्कोत्कृष्टावस्थानस्वामी
६५८ ६५९	चतुर्ज्ञान० ४, संयम० सामा० छेदो० परि० देश० अवधिद० सम्य० उप० वेदक० मिश्र०	१४	स्वस्थानोत्कृष्टरसबन्धात् साकारक्षयेण तद्योग्यजघन्यरस बध्नन्	उ० हान्यनन्तरसमयेऽवस्थित गत्
६६०	अपगतवेद० सूक्ष्मसम्पराय०	२	उपशमश्रेणिमारोहन् मार्गणाद्वितीयसमयवर्ती	नास्ति
६६१	काययोग० कषाय० ४, द्व्यज्ञान० २ असंयम अचक्षु० अशुभलश्या० ३, भव्याऽभव्य० २, मिथ्या० आहारि०=	१३+३	ओघवत् *मतान्तरे अशुभलेश्यासु शेषमार्गणावत्	उत्कृष्टरसबन्धक साकारक्षयेण तद्योग्यजघन्यरसं बद्ध्वाऽनन्तरसमवस्थित सन्
६६७ ६६८	卐 शेष०	१३८	उत्कृष्टरसबन्धक साकारक्षयेण अप्र तद्योग्यजघन्यं रस बध्नन्	" " " " " " "

卐 शेषमार्गणाः १३८=सर्वगति० ४७, सर्वेन्द्रिय० १९, सर्वकाय० ४२, काययोगवर्जयोग० १७, त्रिवेद० ३, विभङ्ग० चक्षुर्द० त्रिशुभलेश्या० ३, क्षायिक०, सास्वादन०, संज्ञ्यसंज्ञि० २, अनाहारकत्वा । * अपवादः—कार्मणानाहारकद्वये बादरैकेन्द्रियजीव तद्योग्योत्कृष्टरसबन्धात् तदर्हजघन्यरसं बद्ध्वाऽनन्तरसमयेऽवस्थित सन् । (गाथा ६७२)

गाथाङ्कः	मार्गणा	सर्वा	अघातित्रयसत्कोत्कृष्टहानिस्वामी	अघातित्रयोत्कृष्टावस्थानस्वामी
६६१ ६६२	त्रिमनुष्य० ३, सर्वमनोवचो० १०, औदा० स्त्री० नपु० अवेद० मनःपर्यव० संयम० सामा० छेदो० सूक्ष्म०	२२	अवरोहन्नुपशामक। बन्धस्य द्वितीयसमये	ओघवत् अवेदसूक्ष्मसम्परायवर्जशेष०
६६३ ६६४	द्विपञ्चे० २, द्वित्रस० २, काययोग० पुरुष० कषाय० ४, त्रिज्ञान० ३, त्रिदर्शन० ३, शुक्लले० भव्य० सम्य० क्षायिक० उपशम० संज्ञि० आहारि०	२३	श्रेणिमारोहन्नुपशामक. सूक्ष्मसम्परायचरमसमये मार्गणाचरमसमये वा मृत्वा देवतयोत्पद्य प्रथमसमये तद्योग्यजघन्यरसं बध्नन्	ओघवत्

६६५	अज्ञान० ३, असंयम० मिथ्यात्व०	५	स्वयमेवोह्य	स्वस्थानोत्कृष्टरसबन्धात् साकार क्षयेण तद्योग्यजघन्यरसं बद्ध्वा-ऽनन्तरमवस्थितं सन्
६६६	देशविरति० मिश्रदृष्टि०	२	स्वस्थानविशुद्धः तद्योग्योत्कृष्टरसबन्धात् साकारक्षयेण भ्रष्टः तदर्हजघन्यरसं बध्नन्	ज०हानेरनन्तरं तुल्यरसं बध्नन्–
६७० ६७१	तेजःपद्मलेश्या० २, वेदकसम्य०	३	अप्रमत्तमुनिरुत्कृष्टरसं बद्ध्वा ततः जरां च मृत्वा देवेषूत्पद्य- प्रथमसमये तद्योग्यजघन्यरसं बध्नन्	ज० हानेरनन्तरं तुल्यरसं बध्नन्– (वेदके→स्वयमूह्यम्)
६६७ ६६८	● शेषासु–११५	११५	उत्कृष्टरसबन्धकः साकारक्षयेण भ्रष्टः तद्योग्यजघन्यरसं बध्नन्–	★ज०हानेरनन्तरं तुल्यरसं बध्नन्-

● शेषमार्गणाः ११५–त्रिमनुष्यवर्जशेष ४४ गति० द्विपञ्चेन्द्रियवर्ज १७ इन्द्रिय० द्वित्रसवर्ज ४०कायभेद० औदारिकमिश्र० वैक्रिय-तन्मिश्र० आहारक-तन्मिश्र० कार्मण० परिहारविशुद्धि० अशुभलेश्या० अभव्य० सास्वादन० असंज्ञि० अनाहारिरूपाः ।

★ अपवाद –कार्मणानाहारकमार्गणाद्वये––बादरैकेन्द्रियः तद्योग्योत्कृष्टरसबन्धात् तदर्हजघन्यरसं बद्ध्वाऽनन्तरमवस्थितः सन् । (गाथा ६६९)

※ आयुर्वर्जकर्मणां जघन्यपदे वृद्ध्यादीनां स्वामित्वप्रदर्शकं यन्त्रम् ※

ओघत	(६७२-६७४) घातिचतुष्कस्य	(६७३-६७७) गोत्रस्य
ज० वृद्धि०	निपतन् उपशान्तसूक्ष्मसम्परायस्य मोहनीयस्य पुनरनिवृत्तिकरणस्य द्वितीयसमये ।	सप्तमपृथ्वीनारकः अभव्यप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धेरनन्तरस्थाने पतित्वा अनन्तभागं रसं वर्धयन् ।
ज० हानि०	त्रिघातिनीनां सूक्ष्मसम्परायस्य मोहनीयस्य पुनरनिवृत्तिकरणस्य चरमसमये क्षपको जघन्यरसं बध्नन् ।	पर्याप्तमिथ्यादृष्टिसप्तमनारकः सम्यक्त्वाभिमुखस्तस्य द्विचरमसमये तद्योग्यमन्दरसं बद्ध्वा चरमसमये जघन्यरसं बध्नन्
ज० अवस्था०	स्वस्थानसर्वविशुद्धाऽप्रमत्तमुनिः तद्योग्यजघन्यरसबन्धकोऽनन्तभागं रसं वर्धयित्वा तुल्यरसं बध्नन् ।	जघन्यवृद्धेरनन्तरसमये तुल्यरसं बध्नन्

वेदनीयनामकर्मणो –मध्यमपरिणामस्थचतुर्गतिको जघन्यरसबन्धादनन्तभागं रसं वर्धयित्वा जघन्यवृद्धिं, विवक्षितरसबन्धादनन्तभागं हापयित्वा जघन्यहानिं, जघन्यवृद्धिहान्योरनन्तरसमये तुल्यरसं बध्नन् जघन्यावस्थानं करोति । (६७५)

वेदनीयनामकर्मणोः आदेशतः—**सर्वासु मार्गणासु ओघवत् नवरम्**→(गाथा ६८०-६८१)

अपवादः—**अवेद-सूक्ष्मसम्परायद्वये→मार्गणाया द्वितीयसमये आरोहकोपशमको जघन्यवृद्धिं, अवरोहकोपशमको** मार्गणायाश्चरमसमये जघन्यरसं बध्नन् जघन्यहानिं करोति । आदेशतः घातिगोत्राणां जघन्यवृद्ध्यादीनां स्वामी यन्त्रकादवसेयः

गाथाङ्कः	मार्गणाः	कस्य पदस्य	घातिचतुष्कस्य जघन्यवृद्ध्यादिपदानां स्वामी
६८२ ६८३	त्रिमनुष्य० ३, द्विपञ्चे० २, द्वित्रस०२ सर्वमनोवचो १०, काययोग० औदा० लोभ.चतुर्ज्ञान० ४, संयम० त्रिदर्शन०३ शुक्ल० भव्य० सम्यक्त्वौघ० क्षायिक० संज्ञि० आहारि०=३४	वृद्धि०	ओघवत्
		हानि०	,,
		अवस्था०	,,

६८३ ६८४ ६८५	त्रिवेद० ३, त्रिकषाय० ३, सामायिक० छेदोपस्थापनीय० उपशम० =९	वृद्धि०	श्रेणितो निपतन्नुपशमको मार्गणाद्वितीयसमये
		हानि०	जघन्यरसबन्धका जघन्यरसं बध्नन्
		अवस्था	ओघवत्
६८३	अवेद० सूक्ष्मसम्पराय० =२		जघन्यवृद्धिहान्योः स्वामी प्राग्वत्, अवस्थानं नास्ति
६८६ ६८७ ६८८	अज्ञान० ३, असंयम० १, मिथ्यात्व=५	वृद्धि०	संयमाद् भ्रष्टो द्वितीयसमये तद्योग्यमल्परसं वर्धयन्
		हानि०	तदर्हमन्दरसबन्धात् संयमाभिमुखस्वस्य चरमसमये अनन्त रसं बध्नन्
		अव०	स्वस्थानविशुद्धोऽनन्तभागरसं [illegible] तुल्यरसं बध्नन्
६८९ ६९०	देशविरत० मिश्रदृष्टि०=२	वृद्धि०	स्वस्थानविशुद्धस्तदर्हमन्दरसादनन्तभागं रसं वर्धयित्वा
		हानि०	द्विचरमसमये तदर्हमन्दरसं [illegible] अभिमुखस्य चरमसमये ज० रसं बध्नन्
		अव०	जघन्यरसवृद्धेरनन्तरसमये तुल्यरसं बध्नन्
६९१ ६९२	त्रिमनुष्यवर्जगति० ४४ द्विपञ्चेन्द्रियवर्जेन्द्रिय० १७, द्विसमवर्जकाय० ४०, वै० तन्मिश्र०, आहा० तन्मिश्र० औदारिकमिश्र卐कार्मण०परिहार० शुक्लवर्जलेश्या० ५, अभव्य० वेदक० सास्वा० असंज्ञि०卐 अनाहारि० =११८	वृद्धि०	स्वस्वजघन्यरसबन्धकोऽनन्तभागरसं वर्धयन्
		हानि०	तस्मादनन्तभागवृद्धस्थानाद्धापयन् [illegible] जघन्यरसं बध्नन्
		अव०	जघन्यवृद्धिहान्योरनन्तरसमये तुल्यरसं बध्नन् 卐 कार्मणानाहारकद्वये [illegible]
गाथाङ्क	मार्गणा	कृत्य पदक्रम	**गोत्रस्य** [illegible]
६९३ ६९४	नरकोघ० सप्तमनरक० द्विपञ्चे० द्विसम० सर्वमनोवचो० १०, वैक्रिय० कार्मण० नपु० कषाय० ४, अज्ञान० ३ असंयम० चक्षुरचक्षु० २, कृष्ण० भव्य० मिथ्या० संज्ञि० आहारि० =२४	वृद्धि०	ओघवत्
		हानि०	
		अव०	
६९५ ६९६ ६९७	चतुर्ज्ञान० ४, संयम० सामा० छेदो० परिहार० देशविरति० अवधिद० सम्य० उपशम० वेदक० मिश्रदृष्टि०=१४	वृद्धि०	स्वस्थानसंक्लिष्टो [illegible]
		हानि०	तदर्हमन्दरसाद् [illegible] चरमसमये जघन्यरसं बध्नन्
		अव०	जघन्यवृद्धेरनन्तरसमये तुल्यरसं बध्नन्
६९७	अवेद० सूक्ष्मसम्पराय०=२	वृद्धि०	आरोहक उपशमको मार्गणाद्वितीयसमये
		हानि०	जघन्यरसबन्धकोऽवरोहकोपशमको जघन्यरसं बध्नन्
६९८	नरकौघसप्तमनरकवर्जं गति० ४५, द्विपञ्चे० वर्जं० १७, द्विसमवर्जं० ४०, औदा० तन्मिश्र० आहा० तन्मिश्र० वै० मिश्र० 卐कार्मण० पु० स्त्री० कृष्णवर्जलेश्या० ५ अभव्य० क्षायिक० सास्वा० असंज्ञि० अनाहारि० 卐= शेष १२०	वृद्धि०	जघन्यरसबन्धस्वामी जघन्यरसबन्धादनन्तभाग रसं वर्धयन्
		हानि०	,, ,, ,, अनन्तरानन्तभागवृद्धस्थान ,, ,, हापयन्
		अव०	जघन्यवृद्धिहान्योरनन्तरसमये तुल्यरसं बध्नन् 卐कार्मणानाहारकद्वये सुविशुद्धबादरेकेन्द्रियः–(गाथा-६९६)

✱ मूलाष्टकर्मणामुत्कृष्टपदे वृद्धयादीनामल्पबहुत्व दर्शकं यन्त्रम् ✱

ओघतः-घातिचतुष्कस्य उत्कृष्टवृद्धे रस सर्वाल्प ततः उ० अवस्थानस्य विशेषाधिक., तत उ० हानेर्विशेषाधिकः (७०० - ७०१)

अघातित्रयस्य उत्कृष्टावस्थानस्य रस. सर्वाल्पः, तत उ० हानेरनन्तगुणः तत. उ० वृद्धेरनन्तगुण ।

आयुष —उ० वृद्धे रस सर्वाल्पः, उ० हान्यवस्थाने विशेषाधिके, परस्परतुल्ये, एवं सर्वासु १६३ मार्गणासु ।

आदेशत —सप्तानां यन्त्रकाद् ज्ञेयम् । (गा० ७०२-७१६)

घाति० ४→	ओघवत्	वृ स्तोका हा अ -विशेषा (परस्परतुल्ये)	अव स्तोक वृ अनन्तगु० हा विशेषा०	हा अ स्तोक परस्परतुल्ये वृ अनन्तगु०	अवधिज्ञान वत्	हा अ स्तोक (परस्परतुल्ये वृ अनन्तगु०	ओघवत् नरकवत् वा	वृ स्तोक हा अ विशेषा परस्परतुल्ये
अघाति० ३ →	ओघवत्	ओघवत्	,	ओघवत्	वृ स्तोक हा अव विशेषा परस्परतुल्ये	,	वृ० स्तोक हा० अ विशे० परस्पर तुल्ये	,,
गति०		निमनुष्य ३						शेष० ४४
इन्द्रिय०		द्विपञ्चे० २						शेष० १७
काय०		द्वित्रस० २						शेष० ४०
योग०	काययोग०१	सत्यमनोवचो १० औदा =११	कार्मण० १					त्रिमिश्रयोग ३+वै आहा =५
वेद०		त्रिवेद० ३	★ १					
कषाय०	सर्व० ४							
ज्ञान०	अज्ञान, १० [illegible]			चतुर्ज्ञान ४				विभङ्ग 卐 १
संयम०	असंयम० 卐 १		★ १	संयम सामा छेदो० =३	परिहार १	देशविरति० १		
दर्शन०	अचक्षु० १	चक्षु० १		अवधि० १				
लेश्या०		शुक्ल० १					अशुभलेश्या ३	तेज पद्म०. २
भव्य०	भव्य० १							+अभव्य० १
सम्य०	मिथ्या० १ 卐	क्षायिक० १		सम्यक्त्वोघ उपशम २ ●	वेदक० १ ✱	मिश्रदृष्टि० १		सास्वा० १
संज्ञि०		संज्ञि० १						असंज्ञि० १
आहारि०	आहा० १		अनाहा० १					
सर्व-	८+४ 卐	२५	२+२	१०	२	२	३	११२
गाथाङ्कः	७०३-४	७०५-६	७०७-८	७०९ १०-११	७११-२	७१३	७१४	७१५-१६

卐 अज्ञानद्विकाऽसंयममिथ्यात्वरूपचतुर्मार्गणास्वोघवत्, नवरमघातित्रयस्योत्कृष्टाहानिः स्वयं ज्ञेया । (गाथा ७०४)

★ अवेदे-सप्तानां सूक्ष्मसम्पराये षण्णामुत्कृष्टहाने रस स्तोक, वृद्धेरनन्तगुण । (गाथा ७०८)

● उपशममार्गणायामघातित्रयस्योत्कृष्टावस्थानस्य रस. स्तोकः, उ० वृद्धेरनन्तगुणः, उ० हानेर्विशेषाधिकः (गा० ७१०-७११)

✱ वेदकसम्यक्त्वेऽघातित्रयस्योत्कृष्टावस्थानरसस्याल्पबहुत्वं स्वयं ज्ञेयम् । (गाथा ७१२)

+ अभव्यमार्गणायां घातिनीनामोघवत् (गा० ७१५) 卐 विभङ्गज्ञानेऽघातित्रयस्योत्कृष्टहानिः स्वयं ज्ञेया ।

* मूलाष्टकर्मणां जघन्यपदे वृद्ध्यादीनामल्पबहुत्वप्रदर्शकं यन्त्रम् *

ओघतः–घातिचतुष्कस्य जघन्यहानेः रसः स्तोकः, ज० वृद्धेरनन्तगुणः, ज० अवस्थानमनन्तगुणम् (गा० ७१८)। गोत्रस्य–जघन्यहानेः रसः स्तोकः, जघन्यवृद्ध्यवस्थानयोरनन्तगुणः, परस्परतुल्यः। वेदनीयनाम्नोर्गुणा–त्रिपदानां रसः तुल्यः।
आदेशतः—आयुषः सर्वासु १६३ मार्गणास्वोघवद् ज्ञेयम्, वेदनीयनाम्नोरपि अवेदसूक्ष्मसम्परायवर्जं १६८ मार्गणासु ओघवत्, (७१९-७२०) शेषघातिगोत्राणां वृद्ध्यादीनामल्पबहुत्वं यन्त्रकाद् ज्ञेयम्।

घाति० ४→	त्रिपदाना तुल्यरस.	ओघवत्	ओघवत्	त्रिपदाना तुल्यरस	वृद्धिहानि अवस्थानमनन्तगुण०	त्रिपदाना तुल्यरस	हा स्तोक वृ. अ. अनंतगु परस्परतुल्य	[illegible]	त्रिपदाना तुल्यरस
गोत्र→	ओघवत्	त्रिपदाना तुल्यरस	ओघवत्	↓ एवम्	↓ एवम्	हा स्तोक वृ. अ. अनंतगु, परस्परतुल्य	↓ एवम्	त्रिपदाना तुल्यरस	↓ एवम्
गति०	नरकोघसप्तमनरक० २	त्रिमनुष्य ३							शेष० ४२
इन्द्रिय०			द्विपञ्चे० २						शेष० १५
काय०			द्वित्रस० २						शेष० ४०
योग०	वैक्रिय० १	औदारिक १	सर्वमनोवचो काययोग० ११	निमिश्र योग० ३	कार्मण० १				आहारक० [illegible]
वेद०		स्त्री पुं० २	नपुं० १		★ १				
कषाय०			सर्वे० ४						
ज्ञान०			सर्वभेदा ७						
संयम०			संयम सामा छेदो असंयम ४		★ १	परिहार० 卐 १	देशविरति० १		
दर्शन०			त्रिदर्शन० ३						
लेश्या०	कृष्ण० १	शुक्ल० १						तेजःपद्म० २	नीलकापोत० २
भव्य०			भव्य० १						अभव्य० १
सम्य०		क्षायिक० १	सम्य० उप० मिथ्या० ३			वेदक० 卐 १	मिश्र० १		सास्वा० १
संज्ञि०			संज्ञि० १						असंज्ञि० १
आहारि०			आहा० १		अना० १				
सर्वा –	४	८	४०	३	२★२	२	२	२	१०५
गाथाङ्क –	७२१	७२२	७२३–४	७२४	७२५–६	७२७	७२८	७२९	७२९

★ अवेदे सप्तानां सूक्ष्मसम्पराये च षण्णां कर्मणां जघन्यहानेः रसः स्तोकः, ज० वृद्धेरनन्तगुणः। (गाथा ७२६)
卐 निरुक्तमार्गणाद्वये घातिनीनां जघन्यरसबन्धस्वामी भविष्यत्कृतकरण इति मतेन तु घातिकर्मसत्काल्पबहुत्वं स्वयं ज्ञेयम्।

॥ ॐ ह्रीँ अर्हं नमः ॥

वृद्ध्यधिकारः

गतस्तृतीयः पदनिक्षेपाऽऽख्याधिकारः । अथ "वड्ढी" इत्यनेन ग्रन्थारम्भे उद्दिष्टस्य वृद्ध्या-ख्यचतुर्थाधिकारस्य व्याख्याना-ऽऽवसरः । तत्राऽऽदौ गाथाद्विकेन द्वाराणि वक्तुमुपक्रमते—

णेयाणि वड्ढिबन्धे अहिगारम्मि तुरिअम्मि दाराइं ।
तेरस [1]संतपयं तह [2]सामी [3]कालं-[4]तराइं च ॥७२९॥
[5]भंगविचयो य [6]भागो [7]परिमाणं [8]खेत-[9]फोसणाउ तहा ।
[10]कालो [11]अंतर-[12]भावा [13]अप्पाबहुगं जहाकमसो ॥७३०॥

(प्रे०) **'णेयाणि'** इत्यादि, मूलप्रकृतिरसबन्धमाश्रित्य–

"मूलपयडिरसबंधे अहिगारा पंच पढमभूगारा । पयणिक्खेवो वड्ढी अज्झवसाण समुदाहारो ॥ २ ॥"

इत्यनेनोद्दिष्टानां पञ्चाधिकाराणामन्तःप्रविष्टे **'तुरिये'**–चतुर्थे वृद्धिबन्धाधिकारे त्रयोदश द्वाराणि क्रमशो ज्ञेयानीति क्रियासम्बन्धः । तानि येन क्रमेण ज्ञातव्यानि सन्ति तेनैव क्रमेण नामग्राहमाह-

'संतपयं' इत्यादि (१) प्रथमं सत्पदद्वारम्, (२) द्वितीयं स्वामित्वद्वारम्, (३) तृतीयं कालद्वारम्, (४) चतुर्थमन्तरद्वारम्, (५) पञ्चमं भङ्गविचयद्वारम्, (६) षष्ठं भागद्वारम्, (७) सप्तमं परिमाणद्वारम्, (८)अष्टमं क्षेत्रद्वारम्, (९)नवमं स्पर्शनाद्वारम्, (१०)दशमं कालद्वारम्, (११) एकादशमन्तरद्वारम्, (१२) द्वादशं भावद्वारम्, (१३) त्रयोदशं पुनरल्पबहुत्वद्वारम् । अत्राऽपि भूयस्काराधिकारवद् भङ्गविचयप्रभृतीनि द्वाराणि नानाजीवानाश्रित्य विज्ञेयानि । व्याख्याऽप्ये-तेषां द्वाराणां प्राग्वदवसेया । केवलं तत्र सा भूयस्कारादिरसबन्धमधिकृत्य दर्शिता, अत्र त्वनन्ता-ऽसंख्यात-संख्यात-भागादिहान्यादिकमधिकृत्या-ऽभिधातव्येति ॥७२९।७३०॥

॥ अथ प्रथमं सत्पदद्वारम् ॥

अथ 'यथोद्देशं निर्देशः' इति न्यायात् प्रथमं सत्पदद्वारं निरूपयितुकाम आदौ तावत् प्रस्तुता-ऽधिकारगतस्वामित्वादिद्वाराणि यैः पदैः चिन्तयिष्यन्ते तेषां पदानामोघतः सत्तामाह—

अट्ठण्ह अत्थि संख-असंख-अणंत-गुणभागभेएहिं ।
वड्ढीउ छ हाणीउ छ अवट्ठिओ तह अवत्तव्वो ॥७३१॥

(प्रे०) **'अट्ठण्ह'** इत्यादि, अष्टकर्मणां बन्धाः सन्ति, ते के? इत्याह–**'संख-असंख'** इत्यादि, गुणशब्दस्य संख्यऽसंख्याऽनन्तशब्देभ्यः परतो योजनात् संख्यगुणाऽसंख्यागुणा-ऽनन्तगुणरूपत्रि-भेदाः, एवं भागशब्दस्य संख्या-ऽसंख्या-ऽनन्तशब्देभ्यः परतः सम्बन्धात् संख्यभागा-ऽसंख्यभागा-ऽनन्तभागरूपत्रिभेदाः, इत्येवं षड्भेदैः षड् वृद्धयः षड् हानयश्च । तद्यथा-(१) अनन्तभागवृद्धिः (२)

असंख्यभागवृद्धिः (३) संख्यातभागवृद्धिः(४) संख्यातगुणवृद्धिः (५) असंख्यगुणवृद्धिः (६) अनन्तगुणवृद्धिश्चेति षड्विधवृद्धयः। अनेनैव क्रमेण षड्विधहानयोऽपि द्रष्टव्या इति द्वादशविधबन्धास्तथा-ऽवस्थानमवक्तव्यञ्चेति चतुर्दश पदान्यभवन्। अत्राऽयं भावार्थः–यदा यः कश्चिद् जीवोऽनन्तभागवृद्धं संक्लेशस्थानं गच्छति तदा-ऽशुभप्रकृतीनां रसबन्धस्यानन्तभागवृद्धिर्भवति। शुभप्रकृतीनां रसबन्धस्यानन्तभागहानिर्भवति। एवमसंख्यभागवृद्धं, संख्यातभागवृद्धं, संख्यातगुणवृद्धमसंख्यातगुणवृद्धमनन्तगुणवृद्धं वा संक्लेशस्थानं गच्छतो जीवस्या-ऽशुभप्रकृतीनां रसबन्धस्य क्रमशोऽसंख्यभागवृद्धिः संख्यातभागवृद्धिः संख्यातगुणवृद्धिः, असंख्यातगुणवृद्धिः, अनन्तगुणवृद्धिर्भवति, शुभप्रकृतीनां रसबन्धस्य पुनरेवमेव क्रमेण हानिर्भवति, यदा प्रागुक्तक्रमेण विशुद्धिर्वर्धते, तदा शुभप्रकृतीनां रसबन्धस्य तेनैव क्रमेण वृद्धिर्भवति, अशुभप्रकृतीनां रसबन्धस्य तु हानिर्भवति। अवस्थाना-ऽवक्तव्यौ तु भूयस्काराधिकारोक्ता-ऽवस्थिता-ऽवक्तव्यतुल्यौ एव, तयोः स्वरूपं तु सप्रपञ्चं तत्र प्रदर्शितम्, जिज्ञासुना ततोऽवगन्तव्यम्॥७३१॥

तदेवं मूलकर्माऽष्टकस्य तत्तद्वृद्ध्यादिचतुर्दशपदानामोघतः सत्तामभिधाय साम्प्रतमादेशतस्तामेव व्याजिहीर्षुरादौ तावद् यासु मार्गणासु सप्तप्रकृतीनां चतुर्दशपदानां सत्ता विद्यते तासु मार्गणासु तथैव प्राह—

सत्तण्हऽत्थि छ वड्ढी हाणी छ अवट्ठिओ अवत्तव्वो।
तिमणुसदुपणिंदियतसपणमणवयकायउरलेसु ॥७३२॥
चउणाणसंयमेसुं णयणेयरओहिसुक्कभवियेसुं।
सम्मत्तउवसमेसुं खइए मण्णिम्मि आहारे॥७३३॥

(प्रे०) **'सत्तण्हऽत्थि'** इत्यादि, त्रिमनुष्य-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय–पञ्चमनोयोग–पञ्चवचनयोग–काययोगौदारिककाययोग- चतुर्ज्ञान–संयमौघ–चक्षुरचक्षुरवधिदर्शन-शुक्ललेश्या भव्य–सम्यक्त्वौघोपशम–क्षायिकसम्यक्त्व–संज्ञ्याहारिलक्षणासु चतुस्त्रिंशद्मार्गणासु सप्तप्रकृतीनां रसबन्धस्य षड्वृद्धयः षड् हानयोऽवस्थितोऽवक्तव्यश्चेति चतुर्दश बन्धाः सन्ति। कुतः? इति चेत्, उच्यते–उक्तमार्गणासु सर्वत्र सप्तानामबन्धतः पुनर्बन्धस्य प्राप्यमाणत्वादवक्तव्यरसबन्धस्य सत्ता, अवस्थितरसबन्धकारणीभूतयोरवस्थितविशुद्धिसंक्लेशयोः सद्भावात् अवस्थितरसबन्धस्य सत्ता, विशुद्धिसंक्लेशयोः प्रत्येकं षड्विधवृद्धिहान्योः संभवात् षड्विधरसवृद्धीनां षड्विधहानीनां च सत्ता प्रतिपादिता। एवं सूक्ष्मसम्परायाऽवेदमार्गणाद्वयं वर्जयित्वा रसबन्धावस्थानस्य, षड्विधरसबन्धवृद्धिहान्योरपि सत्ता सर्वत्र ज्ञातव्या॥७३२।७३३॥

इदानीमवेदकसूक्ष्मसम्परायमार्गणयोराह—

सत्तण्हऽत्थि अवेए अणंतगुणवड्ढिहाणऽवत्तव्वा ।
सुहमम्मि अत्थि छण्हं अणंतगुणवड्ढिहाणीओ ॥७३४॥

(प्रे०) **'सत्तण्हऽत्थि'** इत्यादि, अवेदे-अपगतवेदमार्गणायां सप्तानां प्रकृतीनां रसबन्धस्यानन्तगुणवृद्धिरनन्तगुणहानिरवक्तव्यरसबन्धश्चेति, पदत्रयं सदेव। कुतः ? अबन्धतः पुनर्बन्धसद्भावेनावक्तव्यरसबन्धस्य भावात् तथा श्रेणेरारोहकाणां यथोत्तरमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्धत्वेनावरोहकाणां च यथोत्तरमनन्तगुणसंक्लिष्टत्वेन रसबन्धस्यानन्तगुणवृद्धिहान्योरेव सद्भावात् शेषपञ्चवृद्धिहानीनामभावाच्च। सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां मोहनीयायुष्कप्रकृतिद्वयस्य बन्धाभावेन तत्र शेषषट्प्रकृतीनां निर्वक्ति-**'सुहमम्मि'** इत्यादि, सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां षण्णां प्रकृतीनामनन्तगुणवृद्धिरनन्तगुणहानिरिति द्वावेव बन्धौ भवतः हेतुस्त्वनन्तरोक्त एव। अत्र मार्गणायामबन्धाभावादवक्तव्यपदं नास्ति ॥७३४॥ सम्प्रति शेषमार्गणासु सापवादमाह--

सेसासुं सत्तण्हं छवड्ढिहाणी अवट्ठिओ अत्थि ।
मोहस्स अवत्तव्वो लोहे ओघव्व सव्वहि वि आऊ ॥७३५॥ [गीतिः]

(प्रे०) **'सेसासु'** इत्यादि, शेषासु-त्रिमनुष्यादिचतुस्त्रिंशद्मार्गणाः सूक्ष्मसम्परायाऽपगतवेदमार्गणाद्वयं च वर्जयित्वा शेषचतुस्त्रिंशदुत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः। सप्तानां कर्मणां षड् वृद्धयः षड्हानयोऽवस्थितश्चेति त्रयोदशबन्धाः सन्ति। एतासु लोभवर्जसर्वासु मार्गणासु सप्तानामबन्धतः पुनर्बन्धस्याभावादवक्तव्यबन्धो न भवति। अतस्त्रयोदशबन्धाः प्रोक्ताः, लोभकषायमार्गणायां मोहनीयकर्मणोऽबन्धतः पुनर्बन्धो भवति ततस्तत्र मोहनीयस्या-ऽवक्तव्यबन्धोऽपि प्राप्यते इति तदप्याह–**'मोहस्स अवत्तव्वो लोहे'** इति। सुगमम्। लोभमार्गणायां मोहनीयस्य चतुर्दशबन्धाः षण्णाञ्च त्रयोदश इति भावः।

तदेवमादेशतः सप्तकर्मणां सत्पदप्ररूपणा कृता। साम्प्रतमायुष्कस्य तामेव विदधन्नोघवदतिदिशति-**''ओघव्व सव्वहि वि आऊ''**-सर्वासु मार्गणासु आयुष्कस्य वृद्ध्यादिबन्धसत्पदप्ररूपणा ओघवद् भवति। तद्यथा-त्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्वायुष्कस्य षड् वृद्धयः षड् हानयोऽवस्थितोऽवक्तव्यश्चेति चतुर्दशबन्धाः सन्तीति ॥७३५॥

तदेवं समर्थितमष्टप्रकृतीनामोघा-ऽऽदेशाभ्यां वृद्ध्यादिबन्धानां सत्पदनिरूपणम्। तत्समर्थने च गतम् 'संतपयं' इत्यनेनोद्दिष्टं चतुर्थाधिकारा-ऽन्तर्गतं प्रथमं सत्पदद्वारम् ॥

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे चतुर्थे वृद्ध्यधिकारे प्रथमं सत्पदद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ स्वामित्वाख्यद्वितीयद्वारतः भावाख्यद्वादशद्वारपर्यन्तानि एकादश द्वाराणि ॥

गतं सत्पदद्वारम् । साम्प्रतं स्वामित्वादिभावद्वारपर्यन्तेषु स्वामित्वैकजीवाश्रितकाला-ऽन्तरनानाजीवाश्रितभङ्गविचय-भाग-परिमाण-क्षेत्र-स्पर्शना-काला-ऽन्तरभावलक्षणेष्वेकादशद्वारेषु मूलकर्माऽष्टकस्यावस्थिताऽवक्तव्ययोर्बन्धकानां निरूपणं भूयस्काराधिकारोक्ताऽवस्थिताऽवक्तव्यवत् , अनन्तगुणवृद्धिबन्धकानां भूयस्कारवत् , तथा शेषपञ्चवृद्धिपञ्चहानीनां सापवादमवस्थितवदतिदिशन्नाह—

सामित्ताईसु तहा सव्वाण अवट्ठिओ अवत्तव्वो ।
विण्णेयो जहविहिअं भूओगाराहिगारम्मि ॥७३६॥
भूओगारप्पयरव्व कमाऽणंतगुणवड्ढिहाणीओ ।
अत्थि पणवड्ढिहाणी सेसाउ अवट्ठिअव्वऽत्थि ॥७३७॥
णवरोघाएसेहिं अट्ठण्हं पंचवड्ढिहाणीणं ।
तइए काले जेट्ठो आवलिआए असंखंसो ॥७३८॥
तत्थ वि सोऽत्थि दुसमया सत्तण्हं पंचवड्ढिहाणीणं ।
कम्माणाहारेसुं तेसिं चिअ अंतरं णत्थि ॥७३९॥
दसमे कालदुआरे सत्तण्हं पंचवड्ढिहाणीणं ।
आवलिआऽसंखंसो गुरू तहि जहत्थि मंखखणा ॥७४०

(प्रे०) '**सामित्ताईसु**'इत्यादि, 'स्वामित्वादिषु'-अनन्तरोक्तं सत्पदद्वारं वक्ष्यमाणमल्पबहुत्वद्वारं च वर्जयित्वा एकादशसु स्वामित्वादिद्वारेषु सर्वासां-सर्वमूलप्रकृतीनामवस्थितोऽवक्तव्यश्च तथा विज्ञेयः यथा भूयस्कारा‍ऽधिकारे विहितः, अवस्थिता-ऽवक्तव्यबन्धयोरधिकारद्वयेऽप्यविशेषात् ।

साम्प्रतमनन्तगुणवृद्धिहान्योरतिदेशं विदधाति–'**भूओगारप्पयरव्व**' इत्यादि, भूयस्कारा-ऽल्पतरयोः स्वामित्वादिनिरूपणवदस्ति कयोः? इत्याह–'**कमाऽणंतगुणवड्ढिहाणीओ**' क्रमात्-यथाक्रमम् , अनन्तगुणवृद्धिहान्योः स्वामित्वादिनिरूपणमिति शेषः । इदमुक्तं भवति–अनन्तगुणवृद्धिबन्धस्य निर्वर्तकानां स्वामित्वाद्येकादशद्वारेषु स्वामित्वादिनिरूपणं भूयस्कारबन्धकानां स्वामित्वादिनिरूपणवद् विज्ञेयम् , एवमनन्तगुणहानिबन्धकानां स्वामित्वादिनिरूपणमल्पतरबन्धवद् वेदितव्यम् ।

अथ शेषपञ्चवृद्धीनां शेषपञ्चहानीनां च स्वामित्वादिनिरूपणं भूयस्काराधिकारगता-ऽवस्थितबन्धवत् सापवादमतिदिशति–'**पणवड्ढिहाणी**' इत्यादि, शेषाः पञ्च वृद्धिहानयः–अन-

न्तभागा-ऽसंख्यभागसंख्यातभागसंख्यातगुणा-ऽसंख्यगुणरूपाः पञ्च वृद्धयः पञ्च च हानयः, अव-स्थितवद्-अवस्थितबन्धकानां स्वामित्वादिवदस्ति,तत्रैकजीवाश्रितकालद्वारेऽपवाद दर्शयति–'णवरो घाएसेहिं' इत्यादि, नवरमोघादेशाभ्यामष्टप्रकृतीनां पञ्चवृद्धीनां पञ्चहानीनां च बन्धकानामेक-जीवाश्रितो ज्येष्ट-उत्कृष्टो बन्धकाल आवलिकाया असंख्यांशः-एकाऽसंख्यातभागः, 'सत्थ वि' इत्यादि तत्रापि–एकजीवाश्रितकालद्वारे कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणाद्वये सप्तप्रकृतीनां पञ्चवृद्धीनां पञ्चहानीनां चोत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ अस्ति, तथा एकजीवाश्रिताऽन्तरद्वारे एतद्मार्गणाद्वये तासां सप्तप्रकृतीनां रसबन्धस्य पञ्चवृद्धीनां पञ्चहानीनां चान्तरं नास्ति ।

'दसमे कालदुआरे' इत्यादि, दशमे कालद्वारे–नानाजीवाश्रितकालद्वारे यत्राऽष्टानामव-स्थितबन्धकानां नानाजीवाश्रितकालः संख्यातसमयाः प्रदर्शितोऽस्ति, तत्र तासां प्रकृतीनां पञ्चवृद्धीनां पञ्चहानीनां च बन्धकानां नानाजीवाश्रितो गुरुः-उत्कृष्टकाल आवलिकाया एका-ऽसंख्यातभागोऽभिधातव्य इति । कुतः ? निरुक्तमार्गणासु पञ्चवृद्धिहानीनामेकजीवाश्रितकाल-स्योत्कृष्ट आवलिकासंख्येयभागत्वेन नानाजीवाश्रितनिरुक्तोत्कृष्टकालस्य ततो हीनस्याऽसंभवात् ।

अत्र सुबोधार्थं रसबन्धस्य षड्विधवृद्धिषड्हानीनां स्वामित्वादिद्वारेण क्रमशो घटना क्रियते-तत्रादौ ओघतोऽष्टप्रकृतीनां षड्वृद्धीनां षड्हानीनां च स्वामी चतुर्गतिकान्यतमजीवो विद्यते,आदेशतः पुनः सूक्ष्मसम्पराया-ऽपगतवेदमार्गणाद्वयवर्जशेषाऽष्टषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु आयुषश्च त्रिषष्टयुत्तरशत-मार्गणासु तत्स्वामितया तत्तद्मार्गणावर्त्यन्यतमो जीवोऽस्ति । अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये घातिप्रकृतिसत्का-ऽनन्तगुणहानीनां तथा-ऽघातिकर्मसत्का-ऽनन्तगुणवृद्धीनां स्वामित्वेन श्रेणेरारो-हकाः क्षपका उपशमका वा सन्ति, घातिप्रकृतीनामनन्तगुणवृद्धीनां तथा-ऽघातिकर्मणामनन्तगुण-हानीनां बन्धकत्वेनोपशमश्रेणितः पतन्त उपशमका भवन्तीति स्वामित्वद्वारम् ।

अथैकजीवाश्रितः कालः प्रदर्श्यते–अष्टप्रकृतीनामनन्तगुणहानेरनन्तगुणवृद्धेरेकजीवाश्रितो बन्धकालो जघन्यतः समयः, उत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्तम् । एवमेव कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणाद्वयवर्जशेषा-ऽष्टषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्वपि प्रस्तुतकालो वेदितव्यः । कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणाद्वये जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टकालो द्वौ समयौ । अष्टप्रकृतीनां शेषपञ्चवृद्धीनां शेषपञ्चहानीनां च बन्धकाना-मोघत एकजीवाश्रितो जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टतस्त्वावलिकाया एकाऽसंख्यातभागः । अत्र पञ्चवृद्धिहानीनामुत्कृष्टकाल आवलिका-ऽसंख्येयभाग इति तुल्यनिर्देशेऽपि तासां कालस्य पर-स्परं न तुल्यत्वम् किन्तु न्यूनाधिकत्वम्, तच्चाध्यवसायसमुदाहाराऽधिकारे स्फुटीभविष्यति । एवमेव कार्मणा-ऽनाहारकसूक्ष्मसम्पराया-ऽपगतवेदमार्गणाचतुष्कवर्जशेषषट्षष्ट्युत्तरशतमार्गणास्वपि प्रकृतकालो द्रष्टव्यः । सूक्ष्मसम्पराया-ऽपगतवेदमार्गणाद्वये शेषपञ्चहानिवृद्धयो न सन्ति । कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणाद्वये तासां जघन्यकाल एकसमय उत्कृष्टकालो द्वौ समयौ । इत्येकजीवाश्रित-कालद्वारम् ।

अथान्तरद्वारम्—ओघतः सप्तप्रकृतीनामनन्तगुणहानि-वृद्धयोरेकजीवाश्रितं जघन्यतो बन्धान्तरमेकसमयः, उत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्तम् । आयुष्कस्य पुनस्तयोर्जघन्यान्तरं समयः, उत्कृष्टान्तरं साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणम् । अष्टप्रकृतीनां शेषपञ्चहानिवृद्धीनां जघन्यान्तरं समयः, उत्कृष्टान्तरं पुनरसंख्येयलोकप्रमितम् । अथ आदेशतः कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणाद्वये-षड्वृद्धिहानीनामपगतवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये चानन्तगुणहानिवृद्धिद्वयस्यान्तरं नास्ति । शेषषट्षष्ट्युत्तरशतमार्गणासु सप्तकर्मणामनन्तगुणहानिवृद्धयोरन्तरं जघन्यतः समयः, उत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्तम् । शेषपञ्चवृद्धिहानीनां जघन्यान्तरं समयः उत्कृष्टान्तरं पुनस्तिर्यगोघैकेन्द्रियौघ-पृथ्व्यादिचतुरोघ-वनस्पतिकायौघ-साधारणवनस्पतिकायौघ--षट्सूक्ष्मौघ-काययोगसामान्य--नपुंसकवेद-मत्यज्ञानश्रुताज्ञाना-ऽसंयमा--ऽचक्षुर्दर्शनभव्याऽभव्य-मिथ्यात्वाऽसंज्ञिलक्षणासु चतुर्त्रिंशतिमार्गणास्वसंख्येयलोकप्रमितम् । द्वाचत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणासूत्कृष्टान्तरं देशोनस्वस्वोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणम् ।

सर्वासु मार्गणास्वायुष्कस्य षड्वृद्धिषड्हानीनां जघन्यान्तरं समयः । आयुष्कस्य षड्वृद्धिहानीनामुत्कृष्टान्तरं पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगौदारिकमिश्र-वैक्रिया-ऽऽहारकतन्मिश्रयोगकषायचतुष्क-सास्वादनलक्षणास्वेकोनविंशतिमार्गणास्वन्तर्मुहूर्तमात्रम् । नरकौघ-प्रथमादिसप्तनरक-सर्वदेवभेद-षड्लेश्यारूपचतुश्चत्वारिंशद्मार्गणास्वायुष्कसत्कषड्वृद्धिहानीनामुत्कृष्टाऽन्तरं देशोनषण्मासप्रमितम् । विभङ्गज्ञानमार्गणायां देशोनकायस्थितिप्रमाणं, मतान्तरेण पुनर्देशोनषण्मासप्रमितम् । औदारिककाययोगमार्गणायां पृथ्वीकायसत्कोत्कृष्टभवस्थितेर्देशोनत्रिभागमितम् । मनःपर्यवज्ञानसंयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिक-देशविरतिलक्षणासु षण्मार्गणासु देशोनपूर्वकोटित्रिभागप्रमितम् । एवमेकसप्ततिमार्गणास्वायुष्कसत्कषड्वृद्धिषड्हानीनामुत्कृष्टान्तरं प्रदर्शितम् , इतः द्वानवतिमार्गणासु केवलमनन्तगुणहानिवृद्धयोरन्तरं प्रथमं दर्शते—तत्र-सर्वतिर्यग्गतिभेद-सर्वमनुष्यभेद-द्विपञ्चेन्द्रियवर्जसप्तदशेन्द्रियभेद-द्वित्रसकायवर्जचत्वारिंशत्कायभेदलक्षणासु पट्षष्टिमार्गणास्वायुष्कसत्कानन्तगुणहानिवृद्धयोरुत्कृष्टान्तरं साधिकस्वस्वभवस्थितिप्रमाणम् । काययोगमार्गणायां त्रिभागाभ्यधिकपृथ्वीकायभवस्थितिप्रमितम् । स्त्रीवेदमार्गणायां साधिकपञ्चपञ्चाशत्पल्योपममितम् । असंज्ञिमार्गणायां साधिकपूर्वकोटिप्रमाणम् । द्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रस-पुरुष-नपुंसकवेदमत्यज्ञानश्रुताऽज्ञान-त्रिज्ञाना-ऽसंयम-त्रिदर्शन भव्याऽभव्य-सम्यक्त्वौघ--क्षायिक-वेदक-मिथ्यात्वसंज्ञ्याहारिलक्षणासु त्रयोविंशतिमार्गणासु प्रस्तुता-ऽन्तरं साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणं भवति । अथाऽऽयुष्कसत्कशेषपञ्चहानिवृद्धीनामुत्कृष्टाऽन्तरं द्वानवतिमार्गणासु निगद्यते-तत्र तिर्यगोघैकेन्द्रियौघ-पृथ्व्यादिपञ्चकायौघसाधारणवनस्पतिकायौघ--षट्सूक्ष्मौघ-काययोगसामान्य-नपुंसकवेदाऽज्ञानद्विका-ऽसंयमाऽचक्षुर्दर्शनभव्याऽभव्य-मिथ्यात्वाऽसंज्ञिलक्षणासु चतुर्विंशतिमार्गणास्वायुष्कस्य पञ्चहानिपञ्चवृद्धीनां प्रत्येकमुत्कृष्टाऽन्तरमसंख्येयलोकप्रमितम् । शेषाष्टषष्टिमार्गणासु पुनः देशोनस्वस्वकायस्थितिप्रमाणम् । शेषाष्टषष्टिमार्गणास्त्विमाः--सर्वपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिभेद-सर्वमनु-

ष्यगतिभेदैकेन्द्रियौघ-सूक्ष्मैकेन्द्रियभेदद्वयवर्जसप्तदशेन्द्रियभेद—प्रागुक्तपृथ्व्यादिपञ्चकायौघतत्पञ्च-सूक्ष्मौघसाधारणवनस्पतिकायौघरूपैकादशभेदवर्जशेषैकत्रिंशत्कायभेदस्त्रीपुरुषवेद त्रिज्ञान--चक्षुरवधि दर्शन-सम्यक्त्वौघ क्षायिक-वेदकसंज्ञ्या-ऽऽहारिलक्षणा अष्टषष्टिमार्गणाः । गतमन्तरद्वारम् ।

अथ भङ्गविचयद्वारे—कर्माष्टकस्य षड्वृद्धिषड्हानीनां ध्रुवाऽध्रुवपदानि कथ्यन्ते-भङ्गास्तु प्रागुक्तकरणेन स्वयमेवा-ऽनेतव्याः । तत्रौघतोऽष्टकर्मणां षड् वृद्धयः षड् हानयश्च नियमाद् भवन्ति । अथाऽऽदेशतः प्रदर्श्यन्ते-तत्र अपर्याप्तमनुष्य-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकतन्मिश्राऽपगतवेद-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायोपशमसम्यक्त्व-मिश्र-सास्वादनलक्षणास्वेकादशमार्गणासु सप्तप्रकृतीनामनन्तगुणहानिवृद्धी भजनीये । शेषैकोनषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु सप्तप्रकृतीनामनन्तगुणहानिवृद्धी नियमाद् भवतः ।

यासु मार्गणासु जीवा असंख्येयलोका अनन्ता वा सन्ति तासु तिर्यगोघादिचतुःषष्टिमार्गणासु सप्तकर्मणां शेषपञ्चहानिवृद्धयो नियमात् सन्ति, तन्मार्गणासङ्ग्रहगाथास्त्विमाः—

"तिरिये सव्वेगिंदियणिगोअसे सुहमेसु वणकाये । पुढवाइचउसु तेसिं बायरबायरअपज्जेसु ॥
पत्तेअवणे तस्स अपज्जत्ते कायुरालियदुगेसु । कम्मण णपुंसगेसु कसायचउगे अणाणदुगे ॥
अयताचक्खूसु तहा अपसत्थतिलेसभवियेसु । अभवियमिच्छत्तेसु असण्णिआहारगियरेसु ॥इति॥

अपगतवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये शेषरसबन्धस्य पञ्चहानिवृद्धीनामभावात् तन्मार्गणाद्वयं वर्जयित्वा शेषचतुरधिकशतमार्गणासु शेषपञ्चहानिवृद्धयो भजनीयाः । प्रागुक्ततिर्यगोघादिचतुःषष्टिमार्गणाभ्यः कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणाद्वयं वर्जयित्वा शेषद्वाषष्टिमार्गणास्वायुष्कस्य षड्-हानिवृद्धिपदानि ध्रुवाणि विद्यन्ते, शेषैकोत्तरशतमार्गणासु पुनरध्रुवाणीति भङ्गविचयद्वारम् ।

अथ भागद्वारं निरूप्यते-ओघतोऽष्टकर्मणामनन्तगुणवृद्धिबन्धकाः किञ्चिदधिका-ऽर्धभागप्रमाणाः, अनन्तगुणहानिबन्धकाः पुनर्देशोनाऽर्धभागप्रमिताः, शेषपञ्चहानिबन्धकास्तथा शेषपञ्चवृद्धिबन्धकास्त्वेकाऽसंख्यातभागमात्राः सन्ति । आदेशतः तावत्प्रथमं सप्तानामनन्तगुणहानिवृद्धिबन्धकानां भागनिरूपणं क्रियते तद्यथा-अपगतवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये घातिप्रकृतीनामनन्तगुणहानिबन्धकाः अघातिप्रकृतीनां पुनरनन्तगुणवृद्धिबन्धकाः संख्यातबहुभागप्रमाणाः सन्ति, श्रेणेरारोहकाणां तन्मार्गणावर्तिशेषबन्धकजीवापेक्षया संख्येयगुणत्वात् । तथा घातिप्रकृतीनामनन्तगुणवृद्धिबन्धकाः, अघातिनीनां पुनरनन्तगुणहानिबन्धका एकसंख्यातभागप्रमिताः सन्ति । शेषाष्टषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु सप्तकर्मणामनन्तगुणवृद्धिबन्धकाः किञ्चिदधिकाऽर्धभागप्रमाणाः, अनन्तगुणहानिबन्धकास्तु देशोनाऽर्धभागप्रमाणाः सन्ति । अत्रा-ऽपवादो भण्यते-केवलसम्यग्दृष्टिमिश्रदृष्टिमार्गणासु नीचैर्गोत्रस्य बन्धाभावेन मात्रोच्चैर्गोत्रमाश्रित्य गोत्रस्या-ऽनन्तगुणवृद्धिबन्धो विशुद्ध्या जायते, अनन्तगुणहानिबन्धस्तु संक्लेशेन निर्वर्त्यते, संक्लेशकालस्य चाधिक्यात् तासु मार्गणासु गोत्रस्याऽनन्तगुणहानिबन्धकाः किञ्चिदधिकाऽर्धभागप्रमाणाः, अनन्तगुणवृद्धिबन्धकाः पुनर्देशोना-

ऽर्धभागप्रमिताः प्राप्यन्ते, केवलोच्चैर्गोत्रबन्धाहाः सम्यग्दृष्ट्यादिमार्गणाः पुनरिमाः–पञ्चाऽनुत्तराऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रयोग-चतुर्ज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहार-देशविरत्यवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघक्षायिकौपशम-क्षायोपशमिकमिश्रलक्षणा द्वाविंशतिर्मार्गणाः । सप्तप्रकृतीनां शेषपञ्चहानि-वृद्धिबन्धकानां भागनिरूपणं विधीयते–पर्याप्तमनुष्य-मानुषी सर्वार्थसिद्धसुराऽऽहारकाऽऽहारकमिश्र-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकलक्षणासु दशमार्गणासु सप्तप्रकृतीनां शेषपञ्चहानिबन्धकाः शेषपञ्चवृद्धिबन्धकाश्चैकसंख्यातभागप्रमाणाः । शेषा-ऽष्टपञ्चाशदधिकशतमार्गणासु पुनरेका-ऽसंख्यातभागप्रमिताः ।

सर्वासु मार्गणासु आयुष्कस्या-ऽनन्तगुणवृद्धिबन्धकाः किञ्चिदधिकाऽर्धभागप्रमाणाः, अनन्तगुणहानिबन्धकास्तु देशोना-ऽर्धभागप्रमिताः । शेषपञ्चवृद्धिबन्धकाः शेषपञ्चहानिबन्धकाश्च पर्याप्तमनुष्याद्येकोनत्रिंशद्मार्गणास्वेकसंख्यातभागमात्राः, शेषचतुस्त्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु पुनरेका-ऽसंख्यातभागमिताः । पर्याप्तमनुष्याद्येकोनत्रिंशद्मार्गणाः पुनरेवम्–पर्याप्तमनुष्य-मानुष्याऽऽनताद्यष्टादशसुरभेदाऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रयोग-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहार-विशुद्धि-शुक्ललेश्या-क्षायिकसम्यक्त्वरूपाः । इति भागद्वारम् ।

अथ परिमाणद्वारम्–ओघतोऽष्टकर्मणां षड्वृद्धिबन्धकाः षड्हानिबन्धकाश्चा-ऽनन्ताः । आदेशतः सप्तकर्मणां षड्वृद्धिबन्धकाः षड्हानिबन्धकाश्च तिर्यग्गत्योघाद्यष्टात्रिंशद्मार्गणास्वनन्ताः । ताश्चाष्टात्रिंशद्मार्गणा इमाः-तिर्यग्गत्योघ-सर्वैकेन्द्रियभेद-वनस्पतिकायौघ-सर्वसाधारणवनस्पतिकाय-भेद-काययोगसामान्यौदारिकौदारिकमिश्र-कार्मण--नपुंसकवेदचतुष्कषायाऽज्ञानद्विकाऽसंयमाऽचक्षुर्दर्शनाऽप्रशस्तत्रिलेश्या-भव्याऽभव्यमिथ्यात्वाऽसंज्ञ्याहारकाऽनाहारकमार्गणा इति । पर्याप्तमनुष्य--मानुषी–सर्वार्थसिद्धदेवाऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रयोग--मनःपर्यवज्ञान--संयमौघ-सामायिक -छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकलक्षणासु दशमार्गणासु सप्तानां षड्वृद्धिबन्धकाः षड्हानिबन्धकाश्च संख्याताः, अपगतवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये त्वनन्तगुणवृद्धिबन्धका अनन्तगुण-हानिबन्धकाश्च संख्याताः, शेषपञ्चहानिवृद्धीनां तु बन्धाभावः । शेषनरकगत्यादिविंशत्युत्तरशत-मार्गणासु सप्तकर्मणां षड्वृद्धिबन्धकाः षड्हानिबन्धकाश्चाऽसंख्याताः । प्रागुक्ततिर्यग्गत्योघाद्यष्टात्रिंशद्मार्गणाभ्यः कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणाद्वयं वर्जयित्वा शेषषट्त्रिंशद्मार्गणास्वायुष्कस्य षड्वृद्धिबन्धकाः षड्हानिबन्धकाश्चा-ऽनन्ताः, भागद्वारोक्तपर्याप्तमनुष्याद्येकोनत्रिंशद्मार्गणासु पुनः संख्याता एव, शेषाऽष्टानवतिमार्गणासु तु षड्हानिवृद्धिबन्धका असंख्याताः सन्ति । इति परि-माणद्वारम् ।

अथ क्षेत्रद्वारम्-ओघतोऽष्टप्रकृतीनां षड्वृद्धिबन्धकानां षड्हानिबन्धकानां क्षेत्रं सर्वलोकः । प्रागुक्ततिर्यगोघादिचतुःषष्टिमार्गणासु सप्तकर्मणां षड्वृद्धिबन्धकाः षड्हानिबन्धकाश्च सर्वलोके

विद्यन्ते। बादरपर्याप्तवायुकायमार्गणायां पञ्चवृद्धिपञ्चहानीनां प्रत्येकं बन्धकानां क्षेत्रं भूयस्काराधिकारोक्तावस्थानक्षेत्रवद्, अनन्तगुणवृद्धिहान्योस्तु देशोनलोकप्रमितम्, शेषपञ्चोत्तरशतमार्गणासु षड्वृद्धिहानिबन्धका लोकस्यैकासंख्यातभागक्षेत्रे सन्ति। किन्त्वत्राऽपगतवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये केवला-ऽनन्तगुणवृद्धिहानिबन्धकानां क्षेत्रमभिधातव्यम्, शेषपञ्चवृद्धिहानीनां बन्धाभावात् तथा सूक्ष्मसम्पराये षण्णां कर्मणां, न तु सप्तानां, मोहनीयस्य बन्धाभावात्।

आयुर्बन्धकानां क्षेत्रं मार्गणासु प्रदर्श्यते-तिर्यगोघै-केन्द्रियौघ-पृथ्व्यादिपञ्चकायौघ-साधारणवनस्पतिकायौघाद्यष्टादशभेदात्मकसर्वसूक्ष्मभेद-काययोगौदारिकतन्मिश्रयोग-नपुंसकवेदकषायचतुष्का-ऽज्ञानद्विका-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभलेश्यात्रिक-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्याहारिलक्षणासु षट्चत्वारिंशद्मार्गणास्वायुष्कस्य षड्वृद्धिबन्धकाः षड्हानिबन्धकाश्च सर्वलोकप्रमिते क्षेत्रे विद्यन्ते।

बादरैकेन्द्रियसप्तर्द्धिभेद--बादरवायुकायसप्तर्द्धिभेदरूपासु चतुर्मार्गणासु पुनः षड्विधवृद्धिहानीनां प्रत्येकं बन्धका देशोनलोके वर्तन्ते। बादरपर्याप्तैकेन्द्रिय-बादरपर्याप्तवायुकायभेदद्वये भूयस्काराधिकारोक्तायुरवस्थानक्षेत्रवदायुषः पञ्चवृद्धिहानिबन्धकानां क्षेत्रम्, अनन्तगुणवृद्धिहान्योः प्रत्येकं बन्धकानां क्षेत्रं भूयस्कारक्षेत्रवदभिधातव्यम्। शेषनरकौघाद्येकादशाऽधिकशतमार्गणासु आयुर्बन्धका लोकस्यैका-ऽसंख्यातभागमिते क्षेत्रे भवन्तीति क्षेत्रद्वारं गतम्।

अथ स्पर्शनाद्वारमभिधीयते-ओघतोऽष्टानां कर्मणां षड्वृद्धिबन्धकैः षड्हानिबन्धकैश्च सर्वलोकः स्पृष्टोऽस्ति। आदेशतो नरकौघसप्तमनारकमार्गणाद्वये सप्तकर्मणां षड्वृद्धिबन्धकैः षड्हानिबन्धकैः षट्चतुर्दशभागाः स्पृष्टाः, षष्ठनरकमार्गणायां पञ्च, पञ्चमनरकमार्गणायां चत्वारः, चतुर्थनरकमार्गणायां च त्रयः, तृतीयनरकमार्गणायां पुनर्द्वौ भागौ, द्वितीयनरकमार्गणायां त्वेकः भागः, प्रथमनरकमार्गणायां च लोकस्यैकाऽसंख्यातभागः स्पृष्टः। देवौघ-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मेशानसुरमार्गणासु नव भागाः, शेषसहस्रारान्तदेवमार्गणास्वष्टौ, तथा-ऽऽनतादिचतुर्देवमार्गणासु षड् भागाः, नवग्रैवेयक-पञ्चा-ऽनुत्तरमार्गणासु च लोकस्यैका-ऽसंख्यातभागः। वैक्रियकाययोगमार्गणायां पुनस्त्रयोदशभागाः, तथा वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रा-ऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञानसंयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसम्परायलक्षणासु दशमार्गणासु लोकस्यैका-ऽसंख्यातभागः, मति-श्रुता-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-पद्मलेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-वेदकोपशममिश्रलक्षणासु दशमार्गणास्वष्टौ भागाः, तेजोलेश्यायां नवभागाः, शुक्ललेश्यायां षड्भागाः, देशविरतिमार्गणायां पञ्चभागाः, सास्वादने द्वादशभागाः स्पृष्टाः सन्ति।

शेषासु सर्वतिर्यग्गतिभेद-सर्वमनुष्यगतिभेद--सर्वेन्द्रियभेद-सर्वकायमार्गणाभेद पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगौदारिकौदारिकमिश्रयोग-कार्मण-त्रिवेद-चतुःकषाय-त्र्यज्ञाना-ऽसंयमचक्षुरचक्षुर्दर्शन-त्र्यशुभलेश्या--भव्याभव्य--मिथ्यात्व-संज्ञ्यसंज्ञ्याहारका--ऽनाहारकलक्षणासु सप्ताधिकशतमार्गणासु सप्तकर्मणां षड्वृद्धिबन्धकैः षड्हानिबन्धकैः सर्वलोकः स्पृष्टोऽस्ति।

अथाऽऽयुष्कस्य हानिवृद्धिबन्धकानां स्पर्शना दर्श्यते-अनन्तरोक्तक्षेत्रद्वारे यासु मार्गणा-स्वायुष्कस्य षड्वृद्धिबन्धकानां षड्हानिबन्धकानां च क्षेत्रं सर्वलोकप्रमितमुक्तम्, तासु तिर्यगो-घादिषट्चत्वारिंशद्मार्गणास्वायुष्कस्य षड्वृद्धिबन्धकानां षड्हानिबन्धकानां स्पर्शनाऽपि तावत्प्र-माणा एव। तथा देवौघ-सहस्रारान्तसुरद्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रसकाय-पञ्चमनोयोग--पञ्चवचनयोग-वैक्रिय-काययोग-स्त्री-पुंवेद-त्रिज्ञानविभङ्ग चक्षुरवधिदर्शन-तेजःपद्मलेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक--वेदक-सास्वा-दन-संज्ञिलक्षणासु द्वाचत्वारिंशद्मार्गणास्वायुष्कस्य षड्वृद्धिबन्धकानां षड्हानिबन्धकानां स्पर्शना अष्टभागप्रमाणा। आनतादिचतुर्देवभेदशुक्ललेश्यारूपासु पञ्चमार्गणासु षड्भागप्रमाणा। बादरैके-न्द्रियत्रिभेद-बादरवायुकायत्रिभेदलक्षणासु षण्मार्गणासु देशोनलोकप्रमाणा। शेषासु सर्वनरक-सर्वमनुष्य--सर्वपञ्चेन्द्रियतिर्यग्--नवग्रैवेयक--पञ्चा--ऽनुत्तर--नवविकला-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियबादरपृथ्वी-कायत्रिभेद-बादरा-ऽप्कायत्रिभेदबादरतेजःकायत्रिभेद-बादरनिगोदत्रिभेद-प्रत्येकवनस्पतिकायत्रिभेदा-ऽपर्याप्तत्रसकाया-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रयोग मनःपर्यव-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहार-विशुद्धि-देशविरतिलक्षणासु चतुःषष्टिमार्गणासु षड्वृद्धिहानिबन्धकानां स्पर्शना पुनर्लोकस्यैका-ऽसंख्यातभागप्रमाणा। इति स्पर्शनाद्वारम्।

अथ नानाजीवाश्रितकालद्वारं प्रतिपाद्यते-ओघतोऽष्टकर्मणां षड्हानिबन्धकानां नानाजीवा-श्रितकालः सर्वाद्धा भवति। आदेशतः सप्तकर्मणामनन्तगुणवृद्धिबन्धकानाम् अनन्तगुणहानिबन्धकानां चा-ऽपर्याप्तमनुष्यवैक्रियमिश्रोपशमसम्यक्त्व-मिश्रदृष्टि-सास्वादनलक्षणासु पञ्चमार्गणासु नानाजीवा-श्रितो जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टकालस्तु पल्योपमस्यैका-ऽसंख्यातभागः। आहारका-ऽऽहार-कमिश्रा-ऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायलक्षणासु चतुर्मार्गणासु पुनर्नानाजीवाश्रितो जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टकालस्त्वन्तर्मुहूर्तम्। छेदोपस्थानीय-परिहारविशुद्धिमार्गणाद्वये प्रस्तुतकालः सप्तानामनुत्कृष्टा-नुभागकालवद् वेदितव्यः। शेषैकोनषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु सप्तानामनन्तगुणवृद्धिरसबन्धकानामनन्त-गुणहानिरसबन्धकानां च नानाजीवाश्रितकालः सर्वाद्धा भवति।

सप्तकर्मणां शेषपञ्चवृद्धिरसबन्धकानां शेषपञ्चहानिरसबन्धकानां च प्रागुक्ततिर्यगोघादि-चतुःषष्टिमार्गणासु नानाजीवाश्रितकालः सर्वाद्धाऽस्ति। अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वय-वर्जशेषचतुरधिकशतमार्गणासु सर्वत्र निरुक्तबन्धकानां जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टकालः पुनरावलि-काया एकाऽसंख्यातभागः।

प्रागुक्ततिर्यगोघादिचतुःषष्टिमार्गणान्तर्गतं कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणाद्वयं वर्जयित्वा शेष-द्वाषष्टिमार्गणास्वायुष्कस्य षड्वृद्धिबन्धकाः षड्हानिबन्धकाश्च सर्वदा लभ्यन्ते, शेषैकोत्तरशतमार्ग-णासु पुनरायुष्कस्य षड्वृद्धिबन्धकानां षड्हानिबन्धकानां च नानाजीवाश्रितो जघन्यकालः समयः, अनन्तगुणहानिवृद्धिवर्जशेषपञ्चहानिवृद्धिबन्धकानामुत्कृष्टकाल आवलिकाया एका-ऽसंख्यात-

भागः । अनन्तगुणवृद्धिबन्धकानामनन्तगुणहानिबन्धकानां च पर्याप्तमनुष्य-मानुष्यानताद्यष्टादश-देवभेदा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रयोग-मनःपर्यवज्ञान- संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहार-शुक्ललेश्या-क्षायिकलक्षणास्वेकोनत्रिंशद्मार्गणासु नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकालो-ऽन्तर्मुहूर्तमितो भवति, शेषासु नरकौघ-प्रथमादिसप्तनरक-सर्वपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिभेद-मनुष्यौघा-ऽपर्याप्तमनुष्य-सहस्रारान्त-द्वादशदेवभेद-नवविकल-त्रिपञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तबादरपृथ्व्यादिचतुर्भेदपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय-त्रित्रस-काय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-वैक्रियकाययोग-स्त्री-पुरुषवेद-त्रिज्ञान-विभङ्गज्ञान-देशविरति-चक्षुर-वधिदर्शन-तेजः-पद्मलेश्या-सम्यक्त्वौघ-वेदक-सास्वादन-संज्ञिलक्षणासु द्वासप्ततिमार्गणास्वायुष्कस्या-ऽनन्तगुणवृद्धिबन्धकानामनन्तगुणहानिबन्धकानां च नानाजीवाश्रित उत्कृष्टकालः पल्योपमस्यैका-ऽसंख्यातभागः । गतं नानाजीवाश्रितकालद्वारम् ।

अथ नानाजीवाश्रितमन्तरमुच्यते—ओघतो मूलकर्माष्टकस्य षड्वृद्धिबन्धकानां षड्हानिबन्ध-कानां नानाजीवाश्रितमन्तरं नास्ति । आदेशतः सप्तकर्मणामनन्तगुणवृद्धिबन्धकानामनन्तगुण-हानिबन्धकानामपर्याप्तमनुष्याद्येकादशमार्गणावर्जशेषैकोनषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु नानाजीवाश्रिताऽन्तरं नास्ति । अपर्याप्तमनुष्य-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रा-ऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायोपशम-सम्यक्त्व-सास्वादन-मिश्रमार्गणासु जघन्यान्तरं समयः, छेदोपस्थापनीयमार्गणायां स्वयं ज्ञेयम्, परिहारमार्गणायां पुनरनुत्कृष्टानुभागवत् द्रष्टव्यम् । सप्तानामनन्तगुणहानिवृद्धिबन्धकानामुत्कृष्टा-न्तरमपर्याप्तमनुष्यमिश्रसम्यक्त्वसास्वादनरूपत्रिमार्गणासु पल्योपमस्यैकाऽसंख्यातभागः । वैक्रिय-मिश्रयोगमार्गणायां द्वादश मुहूर्ताः, आहारका-ऽऽहारकमिश्रयोगमार्गणाद्वये वर्षपृथक्त्वम्, अप-गतवेद-सूक्ष्मसम्परायमार्गणाद्वये तु घातिनीनां हानेरघातिनीनां वृद्धेः षण्मासप्रमितम्, घातिनीनां वृद्धेरघातिनीनां हानेः वर्षपृथक्त्वमन्तरम् । उपशमसम्यक्त्वे सप्तदिनमितम् छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिमार्गणाद्वयेऽष्टादशकोटिकोटिसागरोपमप्रमितम् ।

सप्तप्रकृतीनां शेषपञ्चहानिवृद्धिबन्धकानां प्रागुक्ततिर्यग्गत्योघादिचतुःषष्टिमार्गणासु नाना-जीवाश्रितमन्तरं नास्ति, शेषचतुरधिकशतमार्गणासु जघन्यतः समयः, उत्कृष्टतस्त्वसंख्येयलोक-प्रमितम् । आयुष्कस्य षड्वृद्धिबन्धकानां षड्हानिबन्धकानां च कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणाद्वयवर्ज-प्रागुक्ततिर्यग्गत्योघादिद्वाषष्टिमार्गणासु नानाजीवाश्रितमन्तरं नास्ति । शेषैकोत्तरशतमार्गणासु पुनरनन्तगुणहानिवृद्धिबन्धकानामन्तरमनुत्कृष्टानुभागवद् विज्ञेयम्, शेषपञ्चहानिवृद्धिबन्धकानां जघ-न्यतः समयः, उत्कृष्टतस्त्वसंख्येयलोकमितम् । इति नानाजीवाश्रिताऽन्तरद्वारम् ।

ओघा-ऽऽदेशाभ्यामष्टप्रकृतीनां षड्वृद्धिबन्धकाः षडहानिबन्धकाश्च सर्वे औदयिके एव भावे विद्यन्त इति भावद्वारम् ॥७३६।७३७।७३८।७३९।७४०॥

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे चतुर्थे वृद्ध्यधिकारे
स्वामित्वाख्यद्वितीयद्वारतो भावाख्यद्वादशद्वारपर्यन्तानि
एकादशद्वाराणि समाप्तानि ॥

॥ अथ त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारम् ॥

तदेवं स्वामित्वद्वारतः प्रारभ्य भावद्वारपर्यन्तान्येकादशद्वाराण्यतिदिश्य साम्प्रतमल्पबहुत्वद्वारमभिधित्सुरादौ तावदोघतः कर्माष्टकस्य षड्वृद्धिषड्हान्यवक्तव्या-ऽवस्थितरमबन्धकानामल्पबहुत्वं गाथापञ्चकेन प्राह—

सत्तण्ह बंधगा खलु अत्थि अवत्तव्वगस्स सव्वप्पा ।
तोऽवट्ठिअस्स णेया अणंतगुणिआ अओ असंखगुणा॥७४१॥ [गोनिः]
कमसो हुन्ति अणंतासंखियसंखेज्जभागहाणीणं ।
तत्तो कमसो संखअसंखाणंतगुणहाणीणं ॥७४२॥
आउस्स बंधगाऽप्पा अवट्ठिअस्स कमसो असंखगुणा ।
एत्तोऽणंतासंखियसंखेज्जदिभागहाणीणं ॥७४३॥
तो संखअसंखियगुणहाणीणं बंधगा कमा णेया ।
तोऽवत्तव्वस्स तओ हुंति अणंतगुणहाणीए ॥७४४॥
अट्ठण्ह वि हाणिसमा वड्ढीणं बंधगा मुणेयव्वा ।
सव्वुप्पिं अब्भहिया हुंति अणंतगुणवड्ढीए॥७४५॥

(प्रे०) '**सत्तण्ह**' इत्यादि, सप्तानाम्-आयुर्वर्जसप्तकर्मणामवक्तव्यस्य बन्धकाः खलुः-वाक्यालङ्कारे सर्वाल्पाः सन्ति उपशमश्रेणेरवरोहकाणां बन्धप्रथमसमये एव तद्बन्धसद्भावात् । '**तो**' इत्यादि, ततोऽवस्थितस्य बन्धका अनन्तगुणा ज्ञेयाः, अनन्तनिगोदजीवानामपि तद्बन्धसंभवात् । अतः-इत आरभ्य सर्वपदानां बन्धकाः क्रमशोऽसंख्यातगुणा भवन्ति । तेषां क्रममाह-'**अणंतासंखियसंखेज्जभागहाणीणं**' इति भागहानिपदस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् बन्धकशब्दस्य चानुवर्तनात् अनन्तभागहानेर्बन्धका असंख्यभागहानेर्बन्धकाः संख्यातभागहानेश्च बन्धका इत्यर्थः । ततः कः क्रमः ? इत्याह-'**तत्तो कमसो संखअसंखाणंतगुणहाणीणं**' इति, अत्रापि प्राग्वद् योजनात् संख्यातगुणहानेर्बन्धका असंख्यातगुणहानेर्बन्धका अनन्तगुणहानेश्च बन्धकाः क्रमशोऽसंख्येयगुणा भवन्तीत्यनुवर्तते, । षड्वृद्धिबन्धकाः कियत्प्रमाणाः ? इत्याह-'**अट्ठण्ह वि हाणिसमा वड्ढीणं**' इत्यादि, अष्टानामपि कर्मणां वृद्धीनां बन्धका हानितुल्या ज्ञातव्याः, ततश्चानन्तभागवृद्धिबन्धका अनन्तभागहानिबन्धकैस्तुल्याः, एवमसंख्यभागवृद्धिबन्धका असंख्यभागहानिबन्धकैस्तुल्या इत्थमग्रेऽपि द्रष्टव्यम् , किन्तु '**सव्वुप्पिं**' इत्यादि, अनन्तगुणवृद्धिबन्धका अनन्तगुणहानिबन्धकैर्न तुल्याः, अपि तु तद्वृद्धिबन्धका अभ्यधिका भागद्वारेऽनन्त-

गुणवृद्धिबन्धकानां किञ्चिदधिकाऽर्धभागप्रमाणत्वेन अनन्तगुणहानिबन्धकानां च देशोनार्द्धभाग-प्रमाणत्वेन कथितत्वात् सर्वोपरिस्थाने भवन्तीति ।

भावार्थः पुनरेवम्—सप्तकर्मणामवक्तव्यबन्धकाः सर्वाल्पाः तेभ्योऽनन्तगुणा अवस्थित-रसबन्धकाः, ततोऽसंख्येयगुणा अनन्तभागहानिबन्धका अनन्तभागवृद्धिबन्धकाश्च, परस्परं तुल्याश्च । तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणा असंख्येयभागहानिबन्धका असंख्येयभागवृद्धिबन्धकाश्च, ते च परस्परं तुल्याः । ततोऽप्यसंख्येयगुणाः संख्यातभागहानिबन्धकाः संख्यातभागवृद्धिबन्धकाश्च, ते च मिथस्तुल्याः । तेभ्योऽसंख्येयगुणाः संख्यातगुणहानिबन्धकाः संख्यातगुणवृद्धिबन्धकाश्च, ते च परस्परं तुल्याः । ततोऽप्यसंख्येयगुणा असंख्येयगुणहानिबन्धका असंख्येयगुणवृद्धिबन्धकाश्च, परस्परं तुल्याश्च । ततोऽप्यसंख्येयगुणा अनन्तगुणहानिबन्धकाः । तेभ्यो विशेषाधिका अनन्त-गुणवृद्धिबन्धका इति ।

इदानीमायुष्कस्य तदेवाऽल्पबहुत्वमाह—**'आउस्स'** इत्यादि, आयुष्कस्या-ऽवस्थितस्य बन्धका अल्पाः=सर्वस्तोकाः, एतस्मात्-इतः प्रारभ्य क्रमशो बन्धका असंख्येयगुणा विज्ञेयाः, क्रममाह–**'ऽणंतासंखियसंखेज्जदिभागहाणीणं'** इति अनन्तभागहानिबन्धकाः, असंख्यात-भागहानिबन्धकाः संख्यातभागहानिबन्धकाश्च यथोत्तरमसंख्येयगुणा विज्ञेयाः । **'अट्ठण्ह वि हाणि-समा वड्ढीणं बंधगा'**' इत्यादिवक्ष्यमाणवचनाद् वृद्धिबन्धकाः स्वस्वहानिबन्धकैस्तुल्या ज्ञेयाः ।

'तो संखअसंखियगुणहाणीणं बंधगा' ततः संख्यातगुणहानिबन्धका असंख्यात-गुणहानिबन्धका यथोत्तरमसंख्येयगुणाः क्रमाद् विज्ञेयाः । ततोऽवक्तव्यस्य बन्धकाः, असंख्येय-गुणा इत्यनुवर्तते, ततोऽनन्तगुणहानिबन्धका असंख्येयगुणाः **'सव्वुरिंप'** इत्यादिवचनात् अनन्त-गुणवृद्धिबन्धका विशेषाधिकाः ततश्च सर्वोपरिस्थाने भवन्ति । "**अट्ठण्ह वि**" इत्यादिगाथा प्रागेव भाविता ।

ततश्चायुष्कस्याऽल्पबहुत्वमित्थम्-आयुष्कस्याऽवस्थितबन्धकाः सर्वाल्पाः, ततोऽसंख्येयगुणा आयुष्कस्याऽनन्तभागहानिबन्धकास्तथा-ऽनन्तभागवृद्धिबन्धकाः ते च परस्परं तुल्याः । ततोऽसंख्येय-गुणा आयुष्कस्यासंख्येयभागहानिबन्धका असंख्येयभागवृद्धिबन्धकाश्च, ते च परस्परं तुल्याः । तेभ्योऽसंख्येयगुणाः संख्यातभागहानिबन्धकाः संख्यातभागवृद्धिबन्धकाश्च, ते च परस्परं तुल्याः । ततोऽसंख्यातगुणाः संख्यातगुणहानिबन्धकाः संख्यातगुणवृद्धिबन्धकाश्च, ते च परस्परं तुल्याः । तेभ्योऽसंख्येयगुणा असंख्यातगुणहानिबन्धका असंख्यातगुणवृद्धिबन्धकाश्च, ते च परस्परं तुल्याः । तेभ्योऽसंख्येयगुणा आयुष्कस्याऽवक्तव्यबन्धकाः, ततोऽसंख्येयगुणा अनन्तगुणहानिबन्धकाः, तेभ्यो विशेषाधिका अनन्तगुणवृद्धिबन्धका इति ॥७४१।७४२।७४३।७४४।७४५॥

तदेवमष्टप्रकृतीनां षड्वृद्धयादिबन्धकानामल्पबहुत्वमोघतो निगद्य साम्प्रतमादेशतः सप्तकर्मणां तदेवाल्पबहुत्वं बिभणिषुरादौ तावद् मनुष्यगत्योघादिमार्गणासु प्राह—

णरदुपणिंदियतसपणमणवयणाणतिगचक्खुओहीसु
सुक्काए सम्मत्ते खइअउवसमेसु सण्णिम्मि ॥७४६॥
सत्तण्ह बंधगाऽप्पा अत्थि अवत्तव्वगस्स ताहिंतो ।
हुंति असंखेज्जगुणा अवट्ठिअस्स पुरमोघव्व ॥७४७॥

(प्रे०) 'णरदुपणिंदिय' इत्यादि, मनुष्यौघ-पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकाय-पर्याप्तत्रस-काय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-ज्ञानत्रिक--चक्षुरवधिदर्शन-शुक्ललेश्या--सम्यक्त्वौघ क्षायिकोपशम-संज्ञिलक्षणासु पञ्चविंशतिमार्गणासु सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यबन्धका अल्पाः-सर्वाल्पाः सन्ति, श्रेणितः पततामुपशमकानां तद्बन्धसद्भावात् तेषां च संख्यातमात्रत्वात् । तेभ्योऽसंख्येयगुणाः सप्ता-नामवस्थितस्य बन्धकाः, अत्र तत्तन्मार्गणावर्तिजीवानामसंख्यातत्वेनौघवदनन्तगुणा नाभिहिताः, शेषं तु सर्वमोघवद् द्रष्टव्यम् । एतदेवाह–'पुरमोघव्व' पुरस्–पुरतः-इत आरभ्येत्यर्थः, सर्व-मोघवद् द्रष्टव्यम्, तच्च प्रागुक्ता-ऽल्पबहुत्वतोऽवसेयम् ॥७४६।७४७॥

साम्प्रतं यासु मार्गणासु नीचैर्गोत्रस्य बन्धो न भवति तासु मार्गणासु उच्चैर्गोत्रं प्रतीत्य गोत्रस्याऽनन्तगुणवृद्धिबन्धकेभ्योऽनन्तगुणहानिबन्धका विशेषाधिकाः संक्लेशकालस्याऽऽधिक्या दित्यत्र 'ओघव्व' इत्यनेन कृतातिदेशेनागतामतिप्रसक्तिं परिहरन्नाह—

सम्मत्ती चिअ जीवा जहि तहि सव्वहवि बंधगा णेया ।
गोअस्स वच्चयेणं अणंतगुणवड्ढिहाणीणं ॥७४८॥

(प्रे०) 'सम्मत्ती' इत्यादि, यत्र-यासु मार्गणासु जीवाः सम्यग्दृष्टय एव, उपलक्षणाद् मिश्रदृष्टीनां परिग्रहः । तत्र सर्वत्रापि गोत्रस्या-ऽनन्तगुणवृद्धिहान्योर्बन्धका व्यत्ययेन ज्ञेयाः, इदमुक्तं भवति-अनन्तगुणहानिस्थानेऽनन्तगुणवृद्धीनां बन्धकानामल्पबहुत्वं वक्तव्यम्, ततश्च तत्र सर्वत्र सर्वोपरिस्थानेऽनन्तगुणहानिबन्धका अनन्तगुणवृद्धिबन्धकेभ्यो विशेषाधिकाः प्राप्यन्ते ।

केवलसम्यग्दृष्टिसत्कमार्गणाः पुनरिमाः–पञ्चाऽनुत्तरा-ऽऽहारकाऽऽहारकमिश्र-चतुर्ज्ञानसंय-मौघ–सामायिक-छेदोपस्थापनीय--परिहारविशुद्धि-देशविरत्यवधिदर्शन सम्यक्त्वौघ–क्षायिको- पशम-वेदक-मिश्रा इति द्वाविंशतिमार्गणाः । तत्रानन्तरगाथोक्तासु ज्ञानत्रिका-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकोपशमलक्षणासु सप्तमार्गणासु वक्ष्यमाणपञ्चदशमार्गणासु च गोत्रस्याऽल्पबहुत्वं प्रागुक्त-प्रकारेण स्वयमेवाभिधातव्यमिति ॥ ७४८ ॥ अथ पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-लक्षणासु चतुर्मार्गणासु प्रस्तुतबन्धकानामल्पबहुत्वमाह–

पज्जणरमणुस्सीसु मणपज्जवसंयमेसु ओघव्व ।
णवरं जत्थ असंखाऽणंतगुणा तत्थ ताण संखगुणा ॥७४९॥

(प्रे०) 'पज्जणर' इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघलक्षणासु चतुर्मार्गणासु सप्तप्रकृतीनां पदवृद्ध्यादिबन्धकानामल्पबहुत्वमोघवद् भवति। अथौघवदतिदेशे कृते या काचिदतिप्रसक्तिः समापतिता तस्या निराचिकीर्षया प्राह-'णवरं' इत्यादि, नवरं यत्र-ओघोक्ताऽल्पबहुत्वे पदयत्स्थानेऽसंख्यगुणा अनन्तगुणा वा प्रोक्ताः, तत्र-तत्तत्स्थानेऽत्र संख्यातगुणा अभिधातव्याः, मार्गणाजीवानां संख्येयमात्रत्वात्। तत्रश्चाऽल्पबहुत्वमित्थम्—एतासु मार्गणासु सप्तानामवक्तव्यपदबन्धकाः सर्वाऽल्पाः, ततः संख्यातगुणा अवस्थितस्य बन्धकाः, ततोऽपि संख्यातगुणा अनन्तभागहानिबन्धका अनन्तभागवृद्धिबन्धकाश्च ते च परस्परं तुल्याः। तेभ्यः संख्यातगुणा असंख्यातभागहानिबन्धकाः असंख्यातभागवृद्धिबन्धकाश्च ते च परस्परं तुल्याः। ततः संख्यातगुणाः संख्यातभागहानिबन्धकाः संख्यातभागवृद्धिबन्धकाश्च ते च परस्परं तुल्याः। ततः संख्यातगुणाः संख्यातगुणहानिबन्धकाः संख्यातगुणवृद्धिबन्धकाश्च ते च परस्परं तुल्याः। तेभ्यः संख्यातगुणा असंख्यातगुणहानिबन्धका असंख्यातगुणवृद्धिबन्धकाश्च ते च परस्परं तुल्याः। ततोऽपि संख्यातगुणा अनन्तगुणहानिबन्धकाः, तेभ्यो विशेषाधिका अनन्तगुणवृद्धिबन्धकाः। मनःपर्यवज्ञानसंयमौघमार्गणाद्वये केवलसम्यग्दृष्टीनां सद्भावेन केवलोच्चैर्गोत्रस्य बन्धसद्भावात् "सम्मत्ती चिअ" इत्यादिप्रागुक्तगाथया गोत्रस्या-ऽनन्तगुणवृद्धिबन्धकेभ्योऽनन्तगुणहानिबन्धका विशेषाधिका भणितव्याः ॥७४९॥ अथ शेषसंख्यातजीवराशिमार्गणासु प्रस्तुतमाह—

सव्वत्थाहारजुगलसमइअछेअपरिहारेसु ।
थोवा होअन्ति अवट्ठिअस्स तो पज्जमणुसव्व ॥७५०॥ [उपगीतिः]

(प्रे०) 'सव्वत्थाहार' इत्यादि, सर्वार्थसिद्धसुरा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्र-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकलक्षणासु षण्मार्गणासु सप्तकर्मणामवस्थितबन्धकाः स्तोकाः, एतन्मार्गणासु सप्तानामवक्तव्यबन्धस्य विरहेण सर्वतः प्रथममवस्थितबन्धकानां स्थानम्, तत्पश्चात्सर्वमल्पबहुत्वं पर्याप्तमनुष्यमार्गणावद् वेदितव्यम्, एतदेवा-ऽऽह-'तो पज्जमणुसव्व' गतार्थम् ॥७५०॥

इदानीं यासु मार्गणासु सप्तकर्मणां वृद्ध्यादिबन्धकानामल्पबहुत्वमोघवद् भवति, तासु तद्वदतिदिशन्नाह—

ओघव्व हुन्ति काये उरलाचक्खुभवियेसु आहारे ।
मोहस्स बंधगा खलु लोहे ओघव्व विण्णेया ॥७५१॥

(प्रे०) 'ओघव्व' इत्यादि, काययोगसामान्यौदारिकयोगा-ऽचक्षुर्दर्शनभव्या-ऽऽहारकलक्षणासु पञ्चमार्गणासु सप्तानां वृद्ध्यादिबन्धकानामल्पबहुत्वमोघवद् भवति, एतासु सर्वपदानां सद्भावादनन्तजीवानां च सत्वात्। लोभकषायमार्गणायां केवलमोहनीयकर्मणो वृद्ध्यादिबन्धका ओघवद् विज्ञेयाः ॥७५१॥ अथ लोभमार्गणायां मोहनीयायुर्वर्जानां षण्णामल्पबहुत्वं निगद्यते—

मोहाउगवज्जाणं अवट्ठिअस्स खलु बंधगा णेया ।
सव्वत्थोवा एत्तो णेया ओघव्व सेसाणं ॥७५२॥

(प्रे०) '**मोहाउगवज्जाणं**' इत्यादि, मोहनीयाऽऽयुष्कवर्जानां षण्णां प्रकृतीनामवस्थितस्य बन्धकाः खलुः-निश्चये सर्वस्तोका विज्ञेयाः, अत्र षट्प्रकृतीनामवक्तव्यबन्धस्याऽभावेन प्रथममवस्थितबन्धकानां स्थानम्, 'एत्तो' इत्यादि इतः प्रारभ्य शेषाणामनन्तभागहान्यादीनां बन्धका ओघवद् ज्ञेयाः ॥७५२॥ इदानीमपगतवेदमार्गणायामाह—

गयवेए घाईणं हुन्ति अवत्तव्वगस्स सव्वप्पा ।
ताउ कमा संखगुणा अणंतगुणवड्ढिहाणीणं ॥७५३॥
होअन्ति अघाईणं तिण्ह अवत्तव्वगस्स सव्वप्पा ।
ताउ कमा संखगुणा अणंतगुणहाणिवड्ढीणं ॥७५४॥

(प्रे०) '**गयवेए**' इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां घातिप्रकृतीनामवक्तव्यस्य बन्धकाः सर्वाल्पाः ततः क्रमात् संख्यातगुणाः अनन्तगुणवृद्धिहान्योर्बन्धकाः, अयं भावः—घातिप्रकृतीनामवक्तव्यबन्धकाः सर्वाल्पाः ततः संख्यातगुणा अनन्तगुणवृद्धिबन्धकाः तेभ्योऽपि संख्यातगुणा अनन्तगुणहानिबन्धकाः, श्रेणितः पतद्जीवापेक्षया श्रेणेरारोहकाणां संख्येयगुणत्वात् । अथाऽघातिनामाह- '**होअन्ति**' इत्यादि, त्रयाणामघातिनां कर्मणामवक्तव्यस्य बन्धकाः सर्वाल्पाः, ततः क्रमात् संख्यातगुणा अनन्तगुणहानिवृद्ध्योर्बन्धका भवन्ति ॥७५३।७५४॥

अधुना सूक्ष्मसम्परायमार्गणायामल्पबहुत्वं निर्दिशति—

सुहमम्मि तिघाईणं थोवा वड्ढीअ बंधगा तत्तो ।
संखगुणा हाणीए तिअघाईण उण वच्चासा ॥७५५॥

(प्रे०) '**सुहमम्मि**' इत्यादि, सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां त्रिघातिनां मोहनीयवर्जानां वृद्धेः-अनन्तगुणवृद्धेः शेषवृद्धीनां बन्धाभावात्, बन्धकाः स्तोकाः, ततः संख्यातगुणा हान्याः-अनन्तगुणहान्याः शेषहानीनां बन्धाभावात्, बन्धका विज्ञेयाः । त्र्यघातिनामाह—"**तिअघाईणं**' इत्यादि, त्र्यघातिनां बन्धकाः पुनर्व्यत्यासाः-विपरीताः अर्थात्-त्र्यघातिनामनन्तगुणहानिबन्धकाः सर्वस्तोकाः, तेभ्यः संख्यातगुणा अनन्तगुणवृद्धिबन्धका विज्ञेयाः, श्रेणितः पतद्जीवापेक्षया श्रेणेरारोहकाणां संख्येयगुणत्वात् ॥७५५॥ सम्प्रति शेषमार्गणासु प्रस्तुताऽल्पबहुत्वमाह—

सेसासु बंधगा खलु सत्तण्ह अवट्ठिअस्स विण्णेया ।
सव्वत्थोवा एत्तो सेसाणोघव्व विण्णेया ॥७५६॥

(प्रे०) **'सेसासु'** इत्यादि, शेषासु-प्रागुक्तोद्धरितासु सप्तविंशत्युत्तरशतमार्गणासु सप्तानां प्रकृतीनामवस्थितस्य बन्धकाः सर्वस्तोकाः। अथ शेषपदानां बन्धकानोघवदतिदिशति **'एत्तो'** इत्यादि, इतः प्रारभ्य शेषाणाम्-अनन्तभागहान्यादीनां बन्धका ओघवद् विज्ञेयाः। तद्यथा-एतासु सप्तविंशत्यधिकशतमार्गणासु सप्तानामवस्थितबन्धकाः सर्वाल्पाः, ततोऽसंख्येयगुणा अनन्तभागहानिबन्धका अनन्तभागवृद्धिबन्धकाश्च, परस्परं तुल्याश्च। ततोऽसंख्येयगुणा असंख्यभागहानिबन्धका असंख्येयभागवृद्धिबन्धकाश्च, परस्परं तुल्याश्च। तेभ्योऽसंख्येयगुणाः संख्यातभागहानिबन्धकाः संख्यातभागवृद्धिबन्धकाश्च, ते च परस्परं तुल्याः। ततोऽप्यसंख्यातगुणाः संख्यातगुणहानिबन्धकाः संख्यातगुणवृद्धिबन्धकाश्च, ते च परस्परं तुल्याः। तेभ्योऽसंख्येयगुणा असंख्यातगुणहानिबन्धका असंख्यातगुणवृद्धिबन्धकाश्च, ते च परस्परं तुल्याः। तेभ्योऽप्यसंख्यातगुणा अनन्तगुणहानिबन्धकाः, ततो विशेषाधिका अनन्तगुणवृद्धिबन्धका इति। न चौघाऽऽदेशतः पञ्चवृद्धिपञ्चहानीनां बन्धकालस्याऽऽवलिकाया असंख्येयभागमात्रत्वेऽपि तत्तद्बन्धकानामल्पबहुत्वं कुता यथोत्तरमसंख्येयगुणमिति वाच्यम्, पञ्चवृद्धिपञ्चहानीनामुत्कृष्टकालस्याऽऽवलिकाऽसंख्येयभागमात्रत्वेऽपि तस्य यथोत्तरमसंख्येयगुणत्वात्। एतदपि कुतः ? कुतश्चिदपि रसबन्धस्थानतोऽनन्तभागवृद्धयादिस्थानापेक्षया असंख्येयभागादिवृद्धियोग्यस्थानानामुत्तरोत्तरमसंख्येयगुणत्वादिति।

सप्तविंशत्युत्तरशतमार्गणा नामतः पुनरिमाः—गतिमार्गणास्थानस्य सर्वनारकभेद-सर्वतिर्यग्गतिभेदा-ऽपर्याप्तमनुष्य—सर्वार्थसिद्धवर्जसर्वदेवगतिभेदरूपास्त्रिचत्वारिंशद्मार्गणाः, इन्द्रियमार्गणास्थानस्य पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदद्वयवर्जसप्तदशमार्गणाः, कायमार्गणास्थानस्य त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायभेदद्वयवर्जचत्वारिंशद्मार्गणाः, योगमार्गणास्थानस्यौदारिकमिश्र-वैक्रिय-वैक्रियमिश्र-कार्मणरूपाश्चतुर्मार्गणाः, त्रिवेदमार्गणाः, लोभवर्जत्रिकषायमार्गणाः, त्र्यज्ञानमार्गणाः, देशविरत्य-संयममार्गणे, शुक्ललेश्यावर्जपञ्चलेश्यामार्गणाः, अभव्यमार्गणा, क्षयोपशम-मिश्र-सास्वादन-मिथ्यात्वरूपचतुर्मार्गणाः, असंज्ञिमार्गणाऽनाहारकमार्गणा चेति। "सम्मत्ते चिअ" इत्यादि, प्रागुक्तगाथया देशविरत-वेदक-मिश्रदृष्टिमार्गणासु गोत्रस्यानन्तगुणवृद्धिबन्धकेभ्योऽनन्तगुणहानिबन्धका विशेषाधिका अभिधातव्या इति ॥७५६॥

तदेवमादेशतः सप्तकर्मणां वृद्धयादिबन्धकानामल्पबहुत्वमभिधाय, साम्प्रतमायुष्कस्य वृद्धयादिबन्धकानामल्पबहुत्वमादेशतो निरूपयन्नाह—

दुणराणताइआहारजुगलमणणाणसंयमेसु तहा।
सामाइअछेएसुं परिहारे सुक्कखइएसुं ॥७५७॥
आउस्सोघव्व णवरि असंखियगुणाऽत्थि बंधगा जेसिं।
संखेज्जगुणा तेसिं पयाण ओघव्व सेसासुं ॥७५८॥

(प्रे०) 'दुणराणताइ' इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुष्यानताद्यष्टादशदेवभेदा-ऽऽहारका-ऽऽहारक-मिश्र-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिक-शुक्ललेश्या-क्षायिकसम्यक्त्वलक्षणास्वेकोनत्रिंशद्मार्गणास्वायुष्कस्य वृद्धयादिबन्धकानामल्पबहुत्वमोघवद् भवति नवरं यासां पदानां बन्धका असंख्येयगुणाः प्रोक्ताः सन्ति, अत्र तासां पदानां बन्धकाः संख्येयगुणा अभिधातव्या मार्गणावर्तिनिरुक्तबन्धकानां संख्येयमात्रत्वात् ।

शेषमार्गणासु किम् ? 'ओघव्व सेसासु' शेषासु-प्रागुक्तैकोनत्रिंशद्मार्गणा वर्जयित्वा शेषचतुस्त्रिंशदुत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः । आयुष्कस्या-ऽनन्तगुणवृद्धयादिचतुर्दशबन्धकानामल्पबहुत्वमोघवद्, भवतीति शेषः, । नन्वोघे आयुष्कस्याऽनन्तभागवृद्धयादिबन्धकजीवा अनन्ताः प्राप्यन्ते, नरकौघादिलक्षणास्वसंख्यजीवराशिकमार्गणासु प्रस्तुतबन्धका असंख्याता एव, तत्कथं नरकौघादिमार्गणास्वोघवदल्पबहुत्वमुक्तम् ? इति चेत्, उच्यते—ओघप्ररूपणायामायुष्कस्यैकस्मिन्नपि पदेऽनन्तगुणरूपाऽल्पबहुत्वस्यैवाभावेन शेषासंख्यगुणादिरूपा-ऽल्पबहुत्वस्य नरकौघाद्यसंख्यजीवराशिकमार्गणास्वपि घटमानत्वादोघवदल्पबहुत्वकथने न कश्चिद् दोष इति ॥७५७।७५८॥

तदेवं व्याख्यातं पूर्ववद् 卐 यन्त्रपूर्वकमल्पबहुत्वद्वारम् । तद्व्याख्याने च गतं पञ्चदशमल्पबहुत्वद्वारम् । तस्मिंश्च गते निष्ठितः त्रयोदशद्वारात्मकश्चतुर्थो वृद्धयधिकारः ।

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे चतुर्थे वृद्धयधिकारे त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारं समाप्तम्॥

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधान-मूलप्रकृतिरसबन्धे चतुर्थो वृद्धयधिकारः समाप्तः ॥


















卐 यन्त्रकाणि दिदृक्षवः पाठकाः पश्यन्तु ५०५तमं ५०६तमं च पृष्ठम् ।

* अष्टमूलप्रकृतीनामनन्तगुणवृद्धयादिचतुर्दशबन्धपदानां सत्पदप्रदर्शकं यन्त्रम् *

ओघतः—अष्टमूलप्रकृतीनाम्-अनन्तभागाऽसंख्यभाग सख्यभाग-संख्यगुणाऽसंख्यगुणा-ऽनन्तगुणलक्षणाः षड् वृद्धय सन्ति
" " " " " " " " " " " हानयः "
अवस्थितबन्धोऽवक्तव्यबन्धश्च, एवं चतुर्दशपदानि आयुष सर्वमार्गणास्वपि सन्ति। (गाथा ७३१-७३५)

आदेशतः-सप्तकर्मणाम्→ मार्गणाः	गाथाङ्क	सत्पदानि
त्रिमनुष्य० ३, द्विपञ्चे० २, द्वित्रस० २, सर्वमनोवचो० १०, काययोगोघ० औदारिक० चतुर्ज्ञान० ४, संयमौघ०, चक्षुरचक्षु-रवधिदर्शन० ३, शुक्ल० भव्य० सम्य० उपशम० क्षायिक० संज्ञि० आहारि०=३४	७३२ ७३३	ओघवत्—षड्वृद्धिः, षड्हानिः, अवक्तव्य, अवस्थित०=१४ पदानि
अवेद०—सूक्ष्मसम्पराय०=२	७३४	अनन्तगुणवृद्धि-हानिपदे द्वे, अवेदेऽ-वक्तव्यमपि
शेष १३४ मार्गणासु	७३५	षड्वृद्धि-षड्हानयः, अवस्थित०=१३पद० लोभे मोहनीयस्य अवक्तव्यमपि ततः=१४ पदानि

* अष्टमूलप्रकृतीनां स्वामित्वद्वारतो भावद्वारपर्यन्तानामेकादशद्वाराणामतिदेशप्रदर्शकं यन्त्रम् *

स्वामित्वद्वारतः भावद्वारपर्यन्तानि एकादशद्वाराणि

अतिदेश—अवस्थिताऽवक्तव्यलक्षणे द्वे पदे→ओघत आदेशतश्च भूयस्काराधिकारोक्तावस्थिताऽवक्तव्यवत्
(गाथा०७३६त.७४०) अनन्तगुणवृद्धि १ पदम् →" " भूयस्कारवत्
अनन्तगुणहानि " →" " अल्पतरवत्
शेष पञ्चवृद्धयः, शेषपञ्चहानयः १०पदानि→ अवस्थितवत्

अपवादः—(१) कार्मणानाहारकमार्गणाद्वये सप्तप्रकृतीना शेषपञ्चवृद्धीना शेषपञ्चहानीनाञ्चैकजीवाश्रित उत्कृष्ट-बन्धकालो द्वौ समयौ शेषमार्गणासु ओघतश्च पुनरावलिकाया एकाऽसंख्यभाग.। (गाथा० ७३८ ७३९)
(२) तथैकजीवाश्रितान्तर कार्मणानाहारकमार्गणाद्वये नास्ति।
(३) यासु मार्गणास्वष्टकर्मणामवस्थितबन्धकाना नानाजीवाश्रित उत्कृ.काल: सख्यातसमया प्रदर्शित, तत्र तत्कर्मणा शेषपञ्चवृद्धीना शेषपञ्चहानीनाञ्च तत्काल आवलिकाया एकाऽसख्यभाग। (गाथा० ७४० ।

* आयुःकर्मणोऽनन्तगुणवृद्धयादिचतुर्दशबन्धकानामल्पबहुत्वप्रदर्शकं यन्त्रम् *

ओघत—(१) अवस्थितबन्धकाः सर्वाल्पा
(२) अनन्तभागहानि " असं० गुणा
(३) असख्य " " " "
(४) संख्यात " " " "
(५) सख्यातगुण " " "
(६) असख्यगुणहानिबन्धका. असख्यगुणा.
(७) अवक्तव्य " "
(८) अनन्तगुणहानि " "
(९) अनन्तगुणवृद्धि " विशेषाधिका: (गाथा ७४३ ७४४)

टी०—ओघाऽऽदेशत सर्वत्र अनन्तभागादिपञ्चवृद्धिबन्धका परस्पर स्वस्वहानिबन्धकैस्तुल्याः

आदेशत.—पर्याप्तमनुष्य० मानुषी० आनतादि १८ देव० आहारक० तन्मिश्र० मन पर्यव० संयमौघ० सामा० छेदो० परिहार० शुक्ल० क्षायिकरूपा २९ मार्गणासु ओघवत्, नवरम्-असख्यगुणस्थाने संख्यातगुणं वक्तव्यम्
शेषासु १३४ मार्गणासु → ओघवत्

* आयुर्वर्जसप्तकर्मणामनन्तगुणवृद्ध्यादिचतुर्दशबन्धकानामल्पबहुत्वप्रदर्शकं यन्त्रम् *

ओघत:—(१) अवक्तव्यबन्धका सर्वाल्पाः
(२) अवस्थितबन्धकाः अनन्तगुणाः
(३) अनन्तभागहानिबन्धकाः असंख्यगुणाः
(४) असंख्यभागहानिबन्धकाः असंख्यगुणाः
(५) संख्यभागहानिबन्धका. असंख्यगुणाः
(६) संख्यातगुणहानिबन्धका असंख्यगुणाः
(७) असंख्यातगुणहानिबन्धका असंख्यगुणाः
(८) अनन्तगुणहानिबन्धकाः असंख्यगुणाः
(९) अनन्तगुणवृद्धिबन्धका. विशेषाधिकाः
(गा० ७४१ त ७४४)

टी:—ओघाऽऽदेशत. सर्वत्र अनन्तभागादिपञ्चवृद्धिबन्धकाः परस्पर स्वस्वहानिबन्धकैस्तुल्या. । (गाथा ७४५)

गाथाङ्क	मार्गणा:	सर्वा	अल्पबहुत्वम्
७४६ ७४७	मनुज० द्विपञ्चे० २, द्वित्रस० २, सर्वमनो वचो० १०, त्रिज्ञान० ३, चक्षुरवधि० २, शुक्ल० सम्य० क्षायिक० उपशम० संज्ञि० *	२५	अवक्त० → अल्प०, अवस्थित० → असं० गुण० } शेषमोघवत्
७४९	पर्याप्तमनु० मानुषी० मन:पर्यव० संयमोघ० *	४	ओघवत् नवरमसंख्याऽनन्तगुणस्थाने संख्यातगुणं वाच्यम्
७५०	सर्वार्थसिद्ध० आहा० तन्मिश्र० सामायिक० छेदोपस्थापनीय० परिहार० *	६	अवक्तव्यपदं न वाच्य ततः अवस्थितबन्धकाः सर्वाल्पाः' शेषं पर्याप्तमनुष्यवत्
७५१	काययोग० औदा० अचक्षु० भव्य० आहारि०	५	ओघवत्
७५२	लोभ०	१	मोहनीय० → ओघवत् । षण्णाम् → अवक्तव्यवर्जशेष-मोघवत्
७५३ ७५४	अपगतवेद०	१	घाति० → अवक्त० अल्प० | अनन्तगु.वृ स०गु. | अ.गु.हा संख्यगुण } अघाति → अवक्त. अल्प. | अ.गु हा. संख्यगु. | अ.गु.वृ. संख्य.गु.
७५५	सूक्ष्मसम्पराय०	१	त्रिघाति → अन.गु.वृ. → सर्वाल्प०, अन.गु.हा → संख्य गु. } अघाति. → अन.गु.हा. → अल्प०, अन. गु.वृ. → संख्यगुण
७५६	शेषासु 卐 *	१२७	अवक्तव्यपदं नास्ति, ततोऽवस्थितबन्धकाः अल्पा., शेषमोघवत्

* पञ्चानुत्तर० ५, आहारक-तन्मिश्रयोग० २, चतुर्ज्ञान० ४, संयमोघ० साम० छेदो० परिहार० देशविरत० अवधिदर्शन० सम्यक्त्वोघ० उपशम० क्षयोपशम० क्षायिक० मिश्रलक्षणासु २२ मार्गणासु गोत्रस्याऽनन्तगुणवृद्धिहानि-बन्धकानामल्पबहुत्वं व्यत्ययेन वाच्यम् । तद्यथा—अनन्तगुणवृद्धि० असंख्यगुणाः, ततो विशेषाधिका अनन्तगुण-हानिबन्धकाः (गाथा ७४८)

卐 शेष १२७ मार्गणा.—त्रिमनुजसर्वार्थसिद्धवर्जगति० ४३, द्विपञ्चे०वर्ज१७इन्द्रिय०, द्वित्रसवर्जकाय० ४०, औदारिकमिश्र० वैक्रिय० तन्मिश्र० कार्मण० त्रिवेद० क्रोध० मान० माया० त्र्यज्ञान० देशविरत० असंयम० शुक्लवर्जलेश्या० ५, अभव्य० क्षयोपशम० मिश्र० सास्वादन० मिथ्यात्व० असंज्ञि० अनाहारिरूपा. ।

॥ ॐ ह्रीँ अर्हं नमः॥

अध्यवसायसमुदाहारः

गतश्चतुर्थाधिकारः। अधुना 'अज्झवसाणसमुदाहारो' इत्यनेन ग्रन्थप्रारम्भे उद्दिष्टस्याऽध्यवसायसमुदाहाराख्यस्य चरमाधिकारस्य व्याख्यानावसरः। एतदधिकारो विभागद्वयेन निरूप्यते, तत्र तावदस्य द्वौ विभागौ दर्शयितुकामः प्राह—

> अहिगारे अज्झवसणसमुदाहारम्मि पंचमे णेया।
> दुविहा परूवणा खलु भेआओ ठाणजीवाणं ॥७५९॥

(प्रे०) 'अहिगारे' इत्यादि, मूलप्रकृतिरसबन्धाख्यस्यैतद्ग्रन्थस्यानुपूर्विक्रमेण पञ्चमे चरमलक्षणे अध्यवसानसमुदाहाररूपे अधिकारे द्विविधा प्ररूपणा ज्ञेया, द्विविधः समुदाहारो विज्ञेय इत्यर्थः। कयोर्भेदात् ? इत्याह–'ठाणजीवाणं' इति स्थानजीवयोर्भेदात्-स्थानभेदात्-अध्यवसायस्थानभेदात्, जीवभेदात्-जीवसमुदाहारभेदात् इति विभागद्वयेन प्रस्तुताधिकारः प्ररूप्यते।

अयम्भावः-अत्राऽध्यवसायसमुदाहाररूपे चरमेऽधिकारेऽध्यवसायस्थान-जीवसमुदाहारभेदाद् द्विविधा प्ररूपणा इति भणितम्। तत्र वक्ष्यमाणाऽविभागवर्गणादिद्वारै रसबन्धाऽध्यवसायस्थानानां प्ररूपणं समुदाहरणं वा क्रियते यत्र तदध्यवसायस्थानप्ररूपणा तदध्यवसायस्थानसमुदाहारो वा कथ्यते। एतेष्वेव स्थानेषु जीवानां बन्धकतया यत्समुदाहरणं भवति तज्जीवसमुदाहारो विज्ञेयः। उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णिविशेषटिप्पनके श्रीमुनिचन्द्रसूरिपादैः**–"जीवानां शुभाशुभाध्यवसायस्थानेषु समुदाहारणमभिधानं क्रियते यत्र द्वारे तज्जीवसमुदाहार इति" ॥७५९॥

साम्प्रतं 'यथोद्देशं निर्देशः' इति न्यायेनाऽध्यवसायस्थानसमुदाहारं प्रतिपिपादयिषुरादौ तावदत्र चिन्तयिष्यमाणानि द्वाराणि नामग्राहमाह—

> अज्झवसाणट्ठाणे चउदस दाराणि हुन्ति जहकमसो।
> अविभागवग्गणाओ तह फड्डगमंतरं ठाणं ॥७६०॥
> तह कंडगं छठाणं हेट्ठट्ठाणं च वड्ढिसमया य।
> जवमज्झमोजजुम्मं पज्जवसाणं तहाऽप्पबहू ॥७६१॥

(प्रे०) 'अज्झवसाणट्ठाणे' इत्यादि, अध्यवसायस्थानसमुदाहारे चतुर्दशद्वाराणि यथाक्रमं भवन्ति। तान्येव नामतो दर्शयन्नाह–'अविभाग' इत्यादि, (१) अविभागप्ररूपणा (२) वर्गणाप्ररूपणा (३) स्पर्धकप्ररूपणा (४) अन्तरप्ररूपणा (५) स्थानप्ररूपणा (६) कण्डकप्ररूपणा

(७) षट्स्थानप्ररूपणा (८) अधस्तनस्थानप्ररूपणा (९) वृद्धिप्ररूपणा (१०) समयप्ररूपणा (११) यवमध्यमप्ररूपणा (१२) ओजोयुग्मप्ररूपणा (१३) पर्यवसानप्ररूपणा (१४) अल्पबहुत्व-प्ररूपणा चेति । तथा चोक्तं **कर्मप्रकृतिचूर्णौ**—

"इदाणिं अणुभागबंधो भण्णइ । तस्स कारणं अज्झवसाणं । 'ठिती अणुभागं कसायओ कुणति' त्ति वयणातो । अणुभागबंधज्झवसाणस्स परूवणा कीरति । तस्स इमे अणुतो ओ)गद्दारा । तं जहा–(१) अविभागपलिच्छेदपरूवणा (२) वग्गणपरूवणा (३) फड्डगपरूवणा (४) अंतरपरूवणा (५) ठाणपरूवणा (६) कंडगपरूवणा (७) छट्ठाणपरूवणा (८) हेट्ठट्ठाणपरूवणा (९) वड्ढिपरूवणा (१०) समयपरूवणा (११) जवमज्झपरूवणा (१२) उयजुम्मगपरूवणा (१३) पज्जवसाणपरूवणा (१४) अप्पाबहुगपरूवणत्ति ।"

नन्वविभागवर्गणास्पर्धकादिद्वाराणि रसबन्धस्थाननिरूपणे संगच्छन्ते, न त्वध्यवसायप्ररूपणायाम् , तर्हि कथमत्राध्यवसायप्ररूपणा प्रतिज्ञाता ? इति चेत् , सत्यम् , अत्राऽनुभागबन्धाध्यवसायः कारणम् ,तत्तदध्यवसायेन तत्तत्स्थानं निष्पद्यत इति कृत्वा । तथा कार्यकारणयोः परस्परमात्यन्तिकभेदाभावात् कार्ये कारणोपचारादत्राऽनुभागबन्धाऽध्यवसायस्य प्ररूपणा प्रतिज्ञाता । एवं च सति प्रस्तुताधिकारे रसबन्धाऽध्यवसाय-तन्निष्पन्नरसस्थानयोः क्वचित् प्रधानभावेन क्वचिदुपसर्जनभावेन विवक्षणे न कश्चिद्दोषः । तथा चोक्तं **कर्मप्रकृतिचूर्णिटिप्पनके श्रीमुनिचन्द्रसूरिपुङ्गवैः**—

"अणुभागबंधज्झवसाणस्स परूवणा कीरइ" त्ति अयमत्राभिप्रायः-अनुभागबन्धाध्यवसायानां तद्बन्धनीयानुभागबन्धस्थानानां कार्यकारणभूतत्वेन नात्यन्तिकः परस्परं भेदः । अतः क्वचिदनुभागबन्धस्थानप्राधान्येन क्वचिदनुभागबन्धाध्यवसायस्थानप्रधानतया प्रस्तुतप्रज्ञापनायां न कश्चिद्दोष इति" ।।७६०।७६१।।

तदेवमध्यवसायस्थानसंज्ञकप्रथमविभागगतद्वाराण्युद्दिष्टानि । साम्प्रतं **श्रीशिवशर्मसूरिकृतकर्मप्रकृति**सत्कमूलगाथाभिरेव एतदधिकारं समाप्तिं यावद् वर्णयितुकामो ग्रन्थकार आदौ तावत् तद्गतामविभागप्रतिपादिकामिमां गाथामाह—

गहणसमयंमि जीवो उप्पाएई गुणे सपच्चयओ ।
सव्वजियाणंतगुणे कम्मपएसेसु सव्वेसुं ।।७६२।।

तथा चात्र **कर्मप्रकृतिचूर्णिः**–"अविभागपलिछेदणिरूवणत्थ भण्णइ–अज्झवसाणाणं अणुभागाविभागपलिच्छेदो जहा जोगाविभागपलिच्छेदो । '**गहणसमयंमि जीवो उप्पाएई गुणे सपच्चयतो**' त्ति–कम्मजोगे पोग्गले गेण्हमाणो जीवो संकिलिट्ठो वा गेण्हति, विसुद्धो वा गेण्हति । संकिलेसस्स वि असंखेज्जा भेदा, विसोहीए असंखेज्जा भेदा, जहा–तिव्वतिव्वतर तिव्वतमाइं ति । जारिसेण अज्झवसाणेण संजुत्तो कम्मपोग्गले गेण्हति तारिसो तस्स अणुभागो भवति । अणुभागोत्ति वा रसोत्ति वा एगट्ठं । [दव्वविसेसो] अहहणतुल्ला अज्झवसाणा, तंदुलत्थाणीया कम्मपोग्गला । अद्दहणे णिदरिसणं दायव्वं, तत्थ असुभस्स घोसाडतिरसो, सुभस्स माहिस खीरं । एताणि णिदरिसणाणि । तेण गहणसमए कम्मपोग्गलेसु उप्पाएति जीवो '**गुणे**' त्ति–अणुभागे '**सपच्चयतो**' त्ति–आयपच्चत्तेणं । किं भणियं होति ? भण्णइ–संकिलेसविसोहीतो अणुभागो भवति, सा य संकिलेसविसोही जीवस्स, '**सव्वजीवाणंतगुणे**' त्ति सव्वजीवाणंतगुणे, '**कम्मपदेसेसु सव्वेसु**' सव्वेसु कम्मपदेसेसु एक्किक्के कम्मपएसे सव्वजीवाणं अणंतगुणे रसअविभागपलिच्छेदे उप्पादेति भणितं होति ।" [कर्मप्रकृतिगाथाङ्कः २९]

(प्रे०) तत्राऽविभागप्ररूपणार्थमाह–'गहण' इत्यादि, अविभागशब्दस्य कोऽर्थः ? इति चेद् , उच्यते–कर्मपरमाणूनां यो रसः स केवलिप्रज्ञाछेदनकेन छिद्यते, छित्त्वा छित्त्वा च निर्विभागा भागाः क्रियन्ते, ते च निर्विभागा भागा गुणपरमाणवो वा भावपरमाणवो वा प्रोच्यन्ते। एषाऽविभागप्ररूपणा। तथा चोक्तं **कर्मप्रकृतिचूर्णौ** नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणायाम्–"अविभागपलिच्छेदपरूवणा णाम सरीरपदेसाण गुणग्गं चुण्णितं चुण्णितं विभज्जंतं जं विभागं ण देति सो अविभागपलिच्छेओ वुच्चति, गुणपरमाणुत्ति वुच्चति, भावपरमाणुत्ति वुच्चति।" अथवा एकस्मिन् परमाणौ यो जघन्येन वर्धितोऽनुभागः, तस्याऽविभागप्रतिच्छेद इति संज्ञा।

तत्र शुभेनाशुभेन वा एकेन केनचिदध्यवसायेन 'स्वप्रत्ययत' इति स्वस्यात्मनः संबन्धिनोऽनुभागबन्धं प्रति प्रत्ययेन कारणभूतेन केनचिदेकेन शुभेनाऽशुभेन वाऽध्यवसायेनेत्यर्थः। जीवो 'ग्रहणसमये' ग्रहणयोग्यपुद्गलादानसमये 'सर्वेषु कर्मप्रदेशेषु' एकैकस्मिन् कर्मपरमाणावित्यर्थः। 'गुणान्' रसस्य निर्विभागान् भागानुक्तस्वरूपान् सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणानुत्पादयतीति गाथाक्षरार्थः।

भावार्थः पुनरेवम्–पूर्वं हि कर्मप्रायोग्यवर्गणाऽन्तःपातिनः कर्मपरमाणवो न तथाविधरसोपेता आसीरन् , किन्तु प्रायो निरसा एकस्वरूपाश्च। ग्रहणसमय एव जीवस्य काषायिकेणाऽध्यवसायेन तेषां सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणा रसाविभागा आपद्यन्ते, ज्ञानावारकत्वादिविचित्रस्वभावता च, अचिन्त्यत्वात् जीवानां पुद्गलानां च शक्तेः। न चैतदनुपपन्नम् , शुष्कतृणादिपरमाणूनामत्यन्तनीरसानामपि गवादिभिर्गृहीतानां क्षीरादिरूपतया सप्तधातुरूपतया च परिणामदर्शनात् ॥७६२॥

अत्राह–ननु तान् रसस्याविभागान् किं सर्वेष्वपि कर्मपरमाणुषु तुल्यानुत्पादयति आहोस्विद्विषमान् ? उच्यते–विषमान्। तथाहि–केषुचित् परमाणुषु स्तोकान् तांश्च जघन्यतोऽपि सर्वजीवानन्तगुणान् , केषुचित्तेभ्योऽपि प्रभूतान् केषुचिच्च प्रभूततमान्। तत्र न ज्ञायते केषु कियन्त इति तन्निरूपणार्थं वर्गणादिप्ररूपणामाह—

सव्वप्पगुणा ते पढमवग्गणा सेसिया विसेसूणा।
अविभागुत्तरियाओ सिद्धाणमणंतभागसमा ॥७६३॥

तथा चात्र **कर्मप्रकृतिचूर्णिः**–"ते रसअविभागपलिच्छेदा किं सव्वकम्मप्पदेसेसु सरिसा उआहु विसरिसा ? तं णिरूवणत्थं वग्गणपरूवणा भण्णति—

'सव्वप्पगुणा ते पढमवग्गण' त्ति–जेसि कम्मप्पदेसाणं सव्वत्थोवा रसअविभागपलिच्छेदा ते पढमवग्गणा भवति ते सव्वबहुगा कम्मप्पदेसा। सेसिगा(या) विसेसूणा' त्ति–पढमवग्गणातो बितितवग्गणाए कम्मप्पदेसा विसेसहीणा, ततो ततितवग्गणाए कम्मपदेसा विसेसहीणा, एवं जाव उक्कोसिता वग्गणा 'अविभागुत्तरिग'–पढमवग्गणातो बितियवग्गणा एगेण अविभागपलिच्छेदेणं अब्भहिगा। एवं एक्केक्केणं अविभागेणं अब्भहिगातो वग्गणातो, तातो केत्तितो ? भण्णइ–'सिद्धाणमणंतभागसम' त्ति–तातो वग्गणातो अभवसिद्धिएहिं अणंतगुणातो सिद्धाणं अणंतभागो" इति [कर्मप्रकृतिगाथाङ्कः ३०]

(प्रे०) 'सव्वप्पगुणा' इत्यादि, येषां परमाणूनां समस्तान्यपरमाण्वपेक्षया 'अल्पगुणा' स्तोका रसाविभागास्ते सर्वाल्पगुणाः परमाणवः समुदिताः प्रथमा वर्गणा । तस्यां च कर्मपरमाणवोऽतिशयेन प्रभूताः । शेषाश्च वर्गणा विशेषहीनाः कर्मपरमाण्वपेक्षया । तथाहि-प्रथमवर्गणाऽपेक्षया द्वितीयवर्गणायां कर्मपरमाणवो विशेषहीनाः, ततोऽपि तृतीयस्यां विशेषहीनाः, एवं तावद् वाच्यं यावत् सर्वोत्कृष्टा वर्गणा । एताश्च कथंभूता इत्याह-'अविभागुत्तरियाओ' त्ति-अविभागोत्तराः-एकैकस्नेहाविभागाधिका इत्यर्थः । तथाहि-प्रथमवर्गणापरमाण्वपेक्षया ये परमाणव एकेन रसाऽविभागेनाभ्यधिकास्तेषां समुदायो द्वितीया वर्गणा, तेभ्योऽप्येकेन रसाविभागेनाधिकानां समुदायस्तृतीया वर्गणा, एवमेकैकाविभागवृद्ध्या वर्गणास्तावद् वक्तव्या यावदभव्येभ्योऽनन्तगुणाः सिद्धानामनन्तभागकल्पा भवन्तीति ॥७६३॥

कृता वर्गणाप्ररूपणा । सम्प्रति स्पर्धकप्ररूपणामाह-

फड्डगमणंतगुणिअं सव्वजिएहिं पि अंतरं एवं ।
सेसाणि वग्गणाणं समाणि ठाणं पढममित्तो ॥७६४॥

अत्र कर्मप्रकृतिचूर्णिः-"तातो वग्गणातो किं सतरातो निरंतरातो ? अतो फड्डगपरूवणा भण्णति-अणंतातो वग्गणातो अभवसिद्धिएहिं अणतगुणातो एगं फड्डगं । एवं अणता फड्डगा अभव सिद्धिएहिं अणंतगुणा सिद्धाणं अणंतभागो । अंतरपरूवणाए एक्केक्कस्स फड्डगस्स अंतर किं पमाणं ? भण्णति-'अणंतगुणितं सव्वजिएहिंपि अंतरं' ति । पढमफड्डगस्स चरिमवग्गणाउ अण्णस्स फड्डगस्स एगुत्तरा णत्थि, बिउत्तरा णत्थि जाव असंखेज्ज (अणंत) अविभागुत्तरा णत्थि, सव्वजीवाणं अणंतगुणं अंतरं । सव्वजीवाणंतगुणाणंतरं अण्णस्स आदिवग्गणा[ए] 'एवं सेसाणि वग्गणाणं समाणि' त्ति एवमेव सेसगाणि फड्डगाणि नेयव्वाणि अंतराणि य, ते य फड्डगा पढमफड्डगवग्गणाहिं तुल्ला । 'ठाणं पढममेत्तो' त्ति-एवं अणताणि फड्डगाणि अभवसिद्धिएहिं अणंतगुणाणि सिद्धाणं अणंतभागो एगं अणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणं वुच्चति एवं असंखेज्जलोगागासपदेसमेत्ताणि अणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणाणि ।" इति [कर्मप्रकृतिगाथाङ्कः ३१]

(प्रे०) 'फड्डग' इत्यादि, अभव्येभ्योऽनन्तगुणाः सिद्धानामनन्तभागकल्पा अनन्ता वर्गणा एकं स्पर्धकं भवति, एकोत्तरस्याऽविभागवृद्ध्या परस्परं स्पर्धन्ते वर्गणा यत्र तत् स्पर्धकमिति व्युत्पत्तेः, नन्वत्र प्रथमवर्गणायां यः परमाणुपुञ्जः तदपेक्षया द्वितीयवर्गणायां परमाणुराशिर्विशेषहीन इति प्राक्कथितम् । एवं तृतीयादिवर्गणास्वपि, तेन प्रथमवर्गणागताऽविभागप्रतिच्छेदसमूहसकाशाद् द्वितीयवर्गणागता-ऽविभागप्रतिच्छेदराशिरनन्तरविभागप्रतिच्छेदैन्यूनो भवति । ततोऽपि तृतीयवर्गणागतराशिर्विशेषहीनः, एवं चरमवर्गणागताऽविभागराशि यावद् द्रष्टव्यम्, तर्हि कथं स्पर्धकत्वं घटते, एकोत्तररूपेण क्रमवृद्ध्या क्रमहान्याश्चाभावात्, इति चेत्, उच्यते-अप्रधानीकृतसमानधनपरमाणुपुञ्जेऽनुभागनिरूपणे एकश्रेणिरूपतयाऽनुभागवृद्धिं मुक्त्वा नानाश्रेणिरूपतयाऽनुभागवृद्धिहानिग्रहणाभावात् । तथाहि-इह समानधनपरमाणव एक एव गण्यन्ते अनुभागस्य तुल्यत्वात्, ततः प्रथमादिवर्गणासु समानधना नाना परमाणवः सन्ति तथाप्येकपरमाणुमपेक्ष्यानु-

भागो गण्यते, न तु नानापरमाणुगता-ऽविभागसमूहापेक्षया । अत्र एकपरमाणुगतरसाऽविभागा एकश्रेणिरूपतया तथा नानापरमाणुगतरसाऽविभागा नानाश्रेणिरूपतया व्यवह्रियन्ते ।

प्रदर्श्यते चैतदसत्कल्पनया-कल्प्यतां प्रथमवर्गणायामेकैककोटिरसाऽविभागयुक्ताः शतपरमाणवः, द्वितीयवर्गणायां पुनरेकाधिकरसाऽविभागयुक्ताः षण्णवतिपरमाणवः । यदि नानापरमाणुगता-ऽविभागसमूहापेक्षया रसो गण्यते, तदा प्रथमवर्गणायां शतकोटिरसा-ऽविभागप्रमाणो रसो भवति, द्वितीयवर्गणायां पुनः षण्णवत्यधिकषण्णवतिकोटिप्रमाणः, ततस्तदपेक्षया स्पर्धकत्वं न घटते, किन्तु समानधनाः परमाणवस्तुल्याऽनुभागत्वेन एक एव गण्यन्ते, ततो द्वितीयवर्गणाया-मेका-ऽविभागस्य वृद्धिर्भाति, एवं तृतीयादिवर्गणास्वपि भवति, तेन "एकोत्तररसा-ऽविभागवृद्धया परस्परं स्पर्धन्ते यत्र" इति व्युत्पत्तेः घटमानत्वेन स्पर्धकत्वं घटते एव ।

अन्यथा व्याघातभाव्यपवर्तनायां प्रतिसमयं केषाञ्चित् कर्मदलिकानां रसापवर्तनेन रसघातः प्रसज्येत, किन्तु तत्र रसघातोऽन्तर्मुहूर्तेन प्रोक्तः, तेन सत्तायामेकस्मिन्नपि परमाणौ तत्स्थान-मन्कोत्कृष्टानुभागो न विद्यते तदा रसघातो भवतीति कथितुमर्हति, नान्यथा, एतेन एकश्रेणि-माश्रित्याऽनुभागो गण्यत इति सिद्धम् । एवं योगस्थानप्ररूपणायामपि एकश्रेण्यपेक्षया स्पर्धका-दिप्ररूपणा घटते, अन्यथा जघन्यवर्गणातः द्वितीयादिवर्गणास्वात्मप्रदेशानां स्तोकस्तोकतरत्वेन नानाश्रेण्यपेक्षया वीर्याऽविभागानामल्पतया क्रमवृद्धेरभावात् स्पर्धकत्वं न घटेत ।

तथा वेदनीयनामगोत्रकर्मणामुत्कृष्टानुभागबन्धकत्वेन सूक्ष्मसम्परायचरमसमयवर्तिनः सर्वे क्षपकाः प्रोक्ताः, तेन एकश्रेण्यपेक्षया-ऽनुभागो गण्यत इति सिद्ध्यति, अन्यथा उत्कृष्टयोगिन एव तद्बन्धकत्वेन प्राप्यन्ते, यतो हि तेषामेव योगस्या-ऽऽधिक्येन कर्मप्रदेशाः प्रभूताः सन्ति, तेन नानापरमाणुगता-ऽविभागराशिरधिको जायते । न चैवमस्तु इति वाच्यम् , सर्वेषां क्षपकाणामुत्कृष्टानु-भागबन्धस्य प्राप्यमाणत्वेनोत्कृष्टतः षण्मासप्रमितस्यैवान्तरस्योक्तत्वात् , इत्थमेकस्मिन्नुत्कृष्टानु-भागसहिते कर्मपरमाणौ स्थानं स्पर्धकं च भवति, ।

कृता स्पर्धकप्ररूपणा, साम्प्रतमन्तरप्ररूपणा क्रियते-'अणंतगुणिअं' इत्यादि, प्रथमस्प-र्धकसत्कचरमवर्गणागतरसाविभागत ऊर्ध्वमेकेन रसाविभागेनाप्यधिकाः परमाणवो न प्राप्यन्ते, नापि द्वाभ्यां नापि त्रिभिः, नापि संख्येयैः नाप्यसंख्येयैः, नाप्यनन्तैः किन्त्वनन्तानन्तैरेव सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणै रसाविभागैरभ्यधिकाः ते प्राप्यन्ते । तेषां समुदायो द्वितीयस्य स्पर्धकस्य प्रथमा वर्गणा । तत एकेन रसाविभागेनाधिकानां परमाणूनां समुदायो द्वितीया वर्गणा, द्वाभ्यां रसाविभागाभ्यामधिकानां परमाणूनां समुदायस्तृतीया वर्गणा, एवमेकैकरसाविभागवृद्धया वर्गणा-स्तावद्वाच्या यावदभव्येभ्योऽनन्तगुणाः सिद्धानामनन्तभागकल्पा भवन्ति । तासां समुदायो द्वितीयं स्पर्धकम् । ततः पुनरप्यत ऊर्ध्वमेकेन रसाविभागेनाप्यधिकाः परमाणवो न प्राप्यन्ते,

नापि द्वाभ्यां, नापि त्रिभिः नापि संख्येयैः, नाप्यसंख्येयैः नाप्यनन्तैः किन्त्वनन्तानन्तैरेव सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणैस्तेषां समुदायस्तृतीयस्य स्पर्धकस्य प्रथमा वर्गणा। ततः पुनरप्यत ऊर्ध्वं यथोत्तरमेकैकरसाविभागवृद्धया द्वितीयादिका वर्गणास्तावद् वाच्या यावदभव्येभ्योऽनन्तगुणाः सिद्धानामनन्तभागकल्पा भवन्ति। तासां समुदायस्तृतीयं स्पर्धकम्। एवं स्पर्धकानि तावद् वाच्यानि यावदभव्येभ्योऽनन्तगुणानि सिद्धानामनन्तभागकल्पानि भवन्ति। तेषां समुदाय एकमनुभागबन्धस्थानम्। तथा चाह–'अणंतगुणिअं सव्वजिएहिं पि' इत्यादि, । प्रथमस्पर्धकचरमवर्गणाया द्वितीयस्पर्धकप्रथमवर्गणायाश्चान्तरमपि सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणितं द्रष्टव्यम्। **एषा ऽन्तरप्ररूपणा।**

एवं शेषाण्यपि स्पर्धकान्यन्तराणि च यथोक्तप्रमाणान्यवगन्तव्यानि। तानि च स्पर्धकानि एकस्पर्धकवर्गणानां समानि, अभव्येभ्योऽनन्तगुणानि सिद्धानामनन्तभागकल्पानीत्यर्थः। इति प्रथमं सर्वजघन्यानुभागबन्धस्थानं भवति। अनुभागबन्धस्थानं नामैकेन काषायिकेणाध्यवसायेन गृहीतानां कर्मपरमाणूनां रसस्पर्धकसमुदायपरिमाणम्। समयबद्धानुभागस्य एकस्थानकत्वात् यदुक्तं "किं स्थानम्? समयबद्धोऽनुभाग" इति यद्वा चरमस्पर्धकचरमवर्गणागतैकपरमाणौ स्थितानुभागः स्थानम्। एवं स्पर्धकरचनाकरणेनाऽभव्यसिद्धिकेभ्योऽनन्तगुणानि सिद्धानामनन्तभागकल्पानि स्पर्धकानि वर्गणाश्चोत्पन्नानि सन्ति। ज्ञानावरणदर्शनावरणाऽन्तरायप्रकृतिसत्कं जघन्यं स्थानं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्य चरमसमये क्षपकाणां भवति।

अथ जघन्यानुभागबन्धस्थाने विशेषनिरूपणं क्रियते -तच्चा-ऽत्र रसाविभागं प्रदेशाग्रं चाश्रित्य द्विधा। तत्रा-ऽऽद्यं रसाविभागमाश्रित्य विशेषनिरूपणं त्रिधा। तद्यथा–वर्गणागताविभागनिरूपणं, स्पर्धकगताऽविभागनिरूपणमन्तरगताऽविभागनिरूपणं च।

तत्र प्रथमं वर्गणागतरसाविभागनिरूपणं क्रियते–जघन्यवर्गणायां रसाविभागाः सर्वस्तोकाः उत्कृष्टायां वर्गणायां रसाविभागा अनन्तगुणाः। को गुणकारः? अभव्येभ्योऽनन्तगुणः सिद्धानामनन्तभागतुल्यः। कुतः? चरमसमयवर्तिसूक्ष्मसम्परायजघन्यबन्धस्य ग्रहणात्, तत्र चावस्थितस्पर्धकान्तरोपलम्भात्। ततोऽप्यजघन्या-ऽनुत्कृष्टवर्गणागतरसाविभागा अनन्तगुणाः। को गुणकारः? अभव्यसिद्धिकेभ्योऽनन्तगुणः सिद्धानामनन्तभागमात्रः। एषा प्ररूपणा एकश्रेणिमाश्रित्य कृता।

अथ स्पर्धकगतरसाविभागनिरूपणं क्रियते–अनन्ताभिर्वर्गणाभिःसर्वत्राऽवस्थितसंख्याभिरेकं स्पर्धकं भवति। तानि च स्पर्धकानि जघन्यानुभागबन्धस्थानेऽभव्येभ्योऽनन्तगुणानि सिद्धानामनन्तभागमात्राणि। जघन्यादिस्पर्धकसत्करसा-ऽविभागानामल्पबहुत्वमुच्यते–सर्वस्तोकाः जघन्यस्पर्धकगतरसाविभागाः। ततोऽप्युत्कृष्टस्पर्धकगताविभागा अनन्तगुणाः। ततोऽजघन्या-ऽनुत्कृष्टस्पर्धकानां रसाविभागा अनन्तगुणाः। को गुणकारः? अभव्यसिद्धिकेभ्योऽनन्तगुणः सिद्धानामनन्तभागमात्रः।

साम्प्रतमन्तरसत्करसाऽविभागानां निरूपणं क्रियते–अनेकस्पर्धकप्ररूपणात एवान्तरस्या-

स्तित्वसिद्धेः, न चान्तरेण विना द्वितीयादिस्पर्धकानां संभवः, विरोधात्। सर्वजीवाऽनन्तगुण-प्रमितैरविभागैरेकैकं स्पर्धकान्तरं भवति तच्चान्तरं प्रथमस्पर्धकसत्कवर्गणासंख्यान्यूनजघन्यवर्गणा-गताऽविभागसंख्याप्रमाणम्, कुत एतद् ज्ञायते ? उच्यते–प्रथमस्पर्धकप्रथमवर्गणातो द्वितीयस्पर्धके प्रथमवर्गणागतरसाविभागा द्विगुणा विद्यन्त इति **कर्मप्रकृत्यादौ** प्रोक्तत्वात् । अत्रा-ऽल्पबहुत्वं नास्ति, जघन्यस्थाने सर्वस्पर्धकान्तराणां तुल्यत्वोपलम्भात् ।

सम्प्रत्यत्रैव जघन्यस्थाने प्रदेशाग्रमाश्रित्य विशेषः षड्भिर्द्वारैर्निरूप्यते। तद्यथा–(१) सत्पद-प्ररूपणा, (२) प्रमाणप्ररूपणा, (३) श्रेणिप्ररूपणा, (४) अपहारप्ररूपणा (५) भागहारप्ररूपणा, (६) अल्पबहुत्वप्ररूपणा चेति षड् द्वाराणि ।

तत्रा ऽऽद्यम्–जघन्यवर्गणायां निषिक्ताः कर्मप्रदेशाः सन्ति, द्वितीयवर्गणायामपि निषिक्ताः कर्मप्रदेशाः सन्ति । एवमुत्कृष्टां वर्गणां यावद् नेतव्यमिति **सत्पदप्ररूपणा** गता ।

जघन्यवर्गणायां निषिक्ताः कर्मप्रदेशा अनन्ताः अभव्याऽनन्तगुणाः सिद्धानामनन्तभाग-कल्पाः, एवं द्वितीयादिवर्गणास्वपि कथनीयमिति **प्रमाणप्ररूपणा गता** ।

श्रेणिप्ररूपणा द्विविधा–अनन्तरोपनिधा परम्परोपनिधा च । तत्र उपनिधानम्–उपनिधा मार्गणमित्यर्थः। अनन्तरेणोपनिधा, अर्थाद्विवक्षितवर्गणातस्तदनन्तरोत्तरवर्गणायां प्रदेशाग्राणां मार्ग-णम्=अनन्तरोपनिधा । परम्परया उपनिधा-मार्गणम्=परम्परोपनिधा, अर्थात् स्पर्धकवर्गणाप्रदेशानां परम्परया मार्गणम्–परम्परोपनिधा व्यपदिश्यते ।

अनन्तरोपनिधया प्रथमस्पर्धकस्य प्रथमवर्गणायां सर्वप्रभूतं प्रदेशाग्रं भवति, ततो द्वितीयवर्गणायां विशेषहीनं प्रदेशाग्रं भवति। एवं क्रमेणोत्तरोत्तरवर्गणायां प्रदेशाग्रं पूर्वपूर्ववर्गणातो विशेषहीनं विशेष-हीनं वक्तव्यम् । विशेषः पुनरभव्येभ्योऽनन्तगुणः सिद्धानामनन्तभागतुल्यः। एतस्य प्रतिभागोऽप्य-भव्यसिद्धिकाऽनन्तगुणः सिद्धानामनन्तभागकल्पः। प्रतिभागशब्दस्य कोऽर्थः ? इति चेद्, उच्यते-जघन्यवर्गणागतप्रदेशसंख्या येन राशिना भज्यते, स राशिः प्रतिभागशब्देन व्यपदिश्यते, अर्थाद् मूलराशेः भाजनार्थं यो भाजकराशिः स प्रतिभाग उच्यते । तथा भागे हृते या लब्धिः सा चय-शब्देन व्यवह्रियते । जघन्यवर्गणात उत्तरोत्तरवर्गणायामेकैकचयेन हीनाः परमाणवो भवन्तीत्यग्रे वक्ष्यते। प्रस्तुते च स प्रतिभागः त्रिप्रकारेण प्रतिपाद्यते–तद्यथा-(१) अवस्थितभागहारः, (२) रूपोन-भागहारः, (३) छेदभागहारश्चेति । तत्र प्रथममवस्थितभागहारेणानन्तरोपनिधा प्रदर्श्यते–

अवस्थितभागहारो नाम प्रत्येकद्विगुणहानिसत्कप्रथमवर्गणागतकर्मप्रदेशाः येना-ऽवस्थित-राशिना भज्यन्ते, स राशिरवस्थितभागहारत्वेन प्रोच्यते, प्रस्तुते प्रथमद्विगुणहानिसत्कप्रथम-वर्गणायां ये कर्मप्रदेशाः सन्ति, ते द्विगुणहानिगतवर्गणासंख्यातो द्विगुणराशिना भज्यन्ते, कुतः ? द्वितीयद्विगुणहानिसत्कप्रथमवर्गणायां जघन्यवर्गणासत्ककर्मप्रदेशानामर्धप्रमाणत्वात्, ततो

द्विगुणहानिद्वयसत्कवर्गणाराशिलक्षणयाऽवस्थितभागहारसंख्यया प्रथमद्विगुणहानिसत्कप्रथमवर्गणागतकर्मप्रदेशा विभज्यन्ते तदा प्रथमद्विगुणहानिसत्कचयः प्राप्यते। तत उत्तरोत्तरवर्गणायामेकैकचयेन हीनाः परमाणवस्तावद् वक्तव्याः यावद् द्वितीयद्विगुणहानिसत्कप्रथमवर्गणा । एवं द्वितीयद्विगुणहानिसत्कप्रथमवर्गणायां ये कर्मप्रदेशाः सन्ति, तेऽपि द्विगुणहानिसत्कवर्गणासंख्यातो द्विगुणराशिना भज्यन्ते, तदा तद्द्विगुणहानिगतचयः प्राप्यते । तत उत्तरोत्तरवर्गणायामेकैकचयेन हीनाः परमाणवस्तावदभिधातव्याः, यावत् तृतीयद्विगुणहानिसत्कप्रथमवर्गणा । अत्र चयः प्रथमद्विगुणहानिचयतो-ऽर्धो भवति, द्विगुणहानिद्वयलक्षणभाजकस्य समानत्वे सति भाज्यस्या-ऽर्धमात्रत्वात् । एवमुत्तरोत्तरद्विगुणहानौ प्रथमवर्गणागतकर्मप्रदेशाः द्विगुणहानिद्वयसत्कवर्गणाराशिलक्षणेना-ऽवस्थितभागहारेण विभज्यन्ते तदा तत्तद्द्विगुणहानिगतचयः प्राप्यते, तत उत्तरोत्तरवर्गणायामेकचयेन हीनाः परमाणवो वक्तव्याः, चयस्तूत्तरोत्तरद्विगुणहानौ अर्धोऽर्धो भवति ।

प्रदर्श्यते चैतदसत्कल्पनया–

(१) कल्प्यन्तां प्रथमद्विगुणहानिप्रथमवर्गणायां षट्पञ्चाशदधिकद्विशती (२५६) कर्मप्रदेशाः । तेन द्वितीयद्विगुणहानिसत्कप्रथमवर्गणायां परमाणवो-ऽष्टाविंशत्यधिकशतं (१२८) सन्ति ।

(२) द्विगुणहानिः षोडशवर्गणामात्रा (१६) कल्प्यते ।

(३) नानाद्विगुणहानयश्चतस्रः (४) ।

(४) तत्रैकैकद्विगुणहानौ स्पर्धकानि चत्वारि (४) ।

(५) एकैकस्मिन् स्पर्धके वर्गणाश्चतस्रः (४) ।

यद्यप्येकद्विगुणहानिगतस्पर्धकत एकस्पर्धके वर्गणा अनन्तगुणाः, ततोऽपि नानाद्विगुणहानयो-ऽनन्तगुणा भवन्ति, किन्तु गणितप्रक्रियायाः सौकर्यार्थं त्रीण्यपि पदानि चतुःसंख्यकानि कल्पितानि ।

अथ प्रथमद्विगुणहानिगतप्रथमवर्गणासत्कप्रदेशाः षट्पञ्चाशदुत्तरद्विशती (२५६) द्विगुणहानिद्वयरूपद्वात्रिंशदात्मकेना-ऽवस्थितभागहारेण विभज्यन्ते, एवं द्वितीयतृतीयादिद्विगुणहानिसत्कप्रथमवर्गणागतप्रदेशा एतेनैवाऽवस्थितभागहारेण यदा विभज्यन्ते, तदोत्तरोत्तरद्विगुणहानौ चयोऽर्धोऽर्धो भवति, । अवस्थितभागहारलक्षणस्य भाजकस्य समानत्वे सति भाज्यस्या-ऽर्धमात्रत्वात् ।

ततश्च प्रथमद्विगुणहान्यां चयोऽष्टप्रदेशमात्रो भवति, द्वितीयद्विगुणहान्यां चयश्चतुष्प्रदेशरूपः, तृतीयद्विगुणहानौ चयो द्विप्रदेशरूपः चतुर्थद्विगुणहानौ च चय एकप्रदेशरूपः। तत्तद्द्विगुणहानौ उत्तरोत्तरवर्गणायां स्वस्वचयप्रमाणेन हीनाः परमाणवो वक्तव्याः । तत्सुबोधार्थं यन्त्रं प्रदर्श्यते—

द्विगु० ↓	चय ↓ वर्गणा →	प्रथमं स्पर्धकम् ↓ प्र० द्वि० तृ० च०	द्वितीयं स्पर्धकम् ↓ प्र० द्वि० तृ० च०	तृतीय स्पर्धकम् ↓ प्र० द्वि० तृ० च०	चतुर्थं स्पर्धकम् ↓ प्र० द्वि० तृ० च०
प्रथमा →	८परमा० →	२५६ २४८ २४० २३२	२२४ २१६,२०८,२००	१९२,१८४,१७६,१६८	१६०,१५२,१४४,१३६
द्वितीया	४ ,,	१२८,१२४,१२० ११६	११२,१०८,१०४,१००	९६, ९२, ८८, ८४	८०, ७६, ७२, ६८
तृतीया	२ ,,	६४, ६२, ६०, ५८	५६, ५४, ५२, ५०	४८, ४६, ४४, ४२	४०, ३८, ३६, ३४
चतुर्थी	१ ,,	३२, ३१, ३० २९	२८. २७, २६, २५	२४, २३, २२, २१	२०, १९, १८, १७

सम्प्रति रूपोनभागहारेणाऽनन्तरोपनिधा निरूप्यते—

तद्यथा—द्विगुणहानिद्वयलक्षणेनाऽवस्थितभागहारेण प्रथमद्विगुणहानिगतप्रथमवर्गणासत्कप्रदेशान् विभज्य यद् लब्धं तस्मिन् प्रथमवर्गणासत्कप्रदेशतोऽपनीते द्वितीयवर्गणागतप्रदेशा भवन्ति। पुनः पूर्वोक्तभागहारतो रूपोनेन भागहारेण द्वितीयवर्गणागतप्रदेशान् विभज्य लब्धे द्वितीयवर्गणासत्कप्रदेशतोऽपनीते तृतीयवर्गणासत्कप्रदेशा भवन्ति । एवं तावन्नेतव्या यावद् द्वितीयद्विगुणहानिसत्कप्रथमवर्गणा । द्वितीयद्विगुणहानिप्रथमवर्गणागतप्रदेशाः पुनर्द्विगुणहानिद्वयलक्षणेनावस्थितभागहारेणैव विभज्यन्ते, तत्पश्चादुत्तरोत्तरवर्गणागतप्रदेशाः प्रागुक्तक्रमेण एकैकरूपोनभागहारेण विभज्यन्ते, एवं यावत् तृतीयद्विगुणहानिगतप्रथमवर्गणा। एवं तृतीयादिद्विगुणहानिष्वपि घटना कार्या।

भाव्यते चैतद् सत्कल्पनया—द्विगुणहानिद्वयलक्षणेन द्वात्रिंशद्रूपेण (३२) अवस्थितभागहारेण षट्पञ्चाशदधिकद्विशतप्रमाणान् (२५६) प्रथमद्विगुणहानिसत्कप्रथमवर्गणागतप्रदेशान् विभज्याऽष्टात्मकचये (८) लब्धे प्रथमवर्गणा (२५६) तोऽपनीते सति द्वितीयवर्गणागतप्रदेशा अष्टचत्वारिंशदुत्तरद्विशतप्रमाणाः (२४८) भवन्ति । पुनः पूर्वोक्तद्वात्रिंशदात्मकावस्थितभागहार रूपोनं कृत्वा एकत्रिंशदात्मकेन (३२−१=३१) रूपोनभागहारेण द्वितीयवर्गणागतप्रदेशानष्टचत्वारिंशदधिकद्विशतप्रमाणान् (२४८) विभज्य लब्धेऽष्टात्मके चये द्वितीयवर्गणा(२४८)तोऽपनीते

चत्वारिंशदुत्तरद्विशती (२४०) तृतीयवर्गणागतप्रदेशाः लभ्यन्ते । पुनः पूर्वोक्तैकत्रिंशदात्मकं भागहारं रूपोनं कृत्वा त्रिंशदात्मकेन (३१-१=३०) रूपोनभागहारेण चत्वारिंशदुत्तरद्विशत-रूपान् (२४०) तृतीयवर्गणागतप्रदेशान् विभज्य लब्धेऽष्टप्रदेशात्मके चये तृतीयवर्गणा(२४०)तो-ऽपनीते द्वात्रिंशदधिकद्विशतरूपाः (२३२) चतुर्थवर्गणागतप्रदेशा भवन्ति । एवं रूपोनभाग-हारेण द्वितीयद्विगुणहानिसत्कप्रथमवर्गणां यावत् स्वस्ववर्गणागतप्रदेशा आनेतव्याः ।

न्यासश्चैवम्—

प्र०द्विगु०प्र०स्प०प्र०वर्गणाप्रदेशा —	२५६	पूर्ववर्गणा—अव०भागा०=चय०	पूर्व पूर्ववर्गणातः—चय-हानि =	उत्तरोत्तरवर्गणा-प्रमाणम्
,, ,, ,, ,, द्वि० ,, ,, →	२४८	२५६÷३२=८	२५६—८=	२४८
,, ,, ,, ,, तृ० ,, →	२४०	रूपोनभाग० २४८—३१=८	२४८—८=	२४०
,, ,, ,, ,, च० ,, ,, —	२३२	२४०—३०=८	२४०—८=	२३२
,, ,, द्वि० ,, प्र० ,, ,, —	२२४	२३२—२९=८	२३२—८=	२२४
,, ,, ,, ,, द्वि० ,, ,, —	२१६	२२४÷२८=८	२२४—८=	२१६
,, ,, ,, ,, तृ० ,, ,, —	२०८	२१६÷२७=८	२१६—८=	२०८
,, ,, ,, ,, च० ,, ,, —	२००	२०८—२६=८	२०८—८=	२००

एवं क्रमेण द्वितीयद्विगुणहानिसत्कप्रथमवर्गणां यावदभिधातव्यम् ।

अथ द्वितीयद्विगुणहान्यामसत्कल्पनया घटना क्रियते—

अष्टाविंशत्यधिकशतप्रमाणाः (१२८) द्वितीयद्विगुणहानिप्रथमवर्गणागतप्रदेशा द्वात्रिंशदात्मकेन (३२) अवस्थितभागहारेण विभज्यन्ते, भागफलं तु चत्वारि, एतच्चये प्रथमवर्गणातोऽपनीते (१२८-४=१२४) चतुर्विंशत्युत्तरशतप्रदेशप्रमाणा द्वितीयद्विगुणहानिद्वितीयवर्गणा भवति । प्रागुक्ताऽवस्थितभागहारं रूपोनं कृत्वा (३२-१=३१) एकत्रिंशदात्मकेन रूपोनभागहारेण प्रागुक्त-द्वितीयवर्गणां विभज्य(१२४÷३१=४) चतुष्प्रदेशरूपश्चयः प्राप्यते, एतच्चये द्वितीयवर्गणातोऽपनीते (१२४-४=१२०) विंशत्यधिकशतप्रदेशप्रमाणा तृतीयवर्गणा भवति । एवं रूपोनभागहारेण तृतीयद्विगुणहानिप्रथमवर्गणां यावदनन्तरोपनिधा वक्तव्या । इत्थं तृतीयादिद्विगुणहानिष्वपि घटना कार्या ।

न्यासश्चैवम्—

द्वितीयद्विगुणहानिप्रथमस्पर्धकप्रथमवर्गणायां १२८ प्रदेशाः

	पूर्ववर्ग० ÷ प्रागुक्तावस्थितभाग० =चयः	पूर्व० वर्गणा–चय =	प्रस्तुतवर्गणा
द्वितीयद्विगु प्र.स्प द्वि वर्ग प्रदेशा —	१२८ ÷ ३२=४	१२८–४=	१२४
,, ,, ,, ,, तृ वर्ग. प्रदेशाः	पूर्ववर्गणा ÷ रूपोनभागा०=चयः १२४—३१=४	१२४–४=	१२०
,, ,, ,, ,, चतु० ,, ,,	१२०—३०=४	१२०–४=	११६
,, द्वि० ,, प्रथम० ,, ,,	११६ ÷ २९=४	११६–४=	११२
,, ,, ,, ,, द्वि० ,, ,,	११२ ÷ २८=४	११२–४=	१०८
,, ,, ,, ,, तृ० ,, ,,	१०८—२७=४	१०८–४=	१०४
,, ,, ,, ,, च० ,, ,,	१०४ ÷ २६=४	१०४–४=	१००

एवं क्रमेण तृतीयद्विगुणहानिप्रथमवर्गणां यावदनन्तरोपनिधा वक्तव्या। इत्थं तृतीयादि-द्विगुणहानिष्वपि न्यासः स्वयमेव कार्यः।

साम्प्रतं छेदभागहारेणा-ऽनन्तरोपनिधा प्रतिपाद्यते —

तद्यथा -द्विगुणहानिद्वयलक्षणेना ऽवस्थितभागहारेण प्रथमद्विगुणहानिगतप्रथमवर्गणागतप्रदेशान् विभज्य लब्धे प्रथमवर्गणातोऽपनीते द्वितीयवर्गणागतप्रदेशा भवन्ति । ततः पुनः पूर्वोक्ता-ऽवस्थितभागहारद्विभागेन प्रथमवर्गणागतप्रदेशेष्वपहृतेषु चयद्वयं प्राप्यते, एतच्चयद्वये च प्रथम-वर्गणातोऽपनीते तृतीयवर्गणागतप्रदेशा भवन्ति। पुनः पूर्वोक्ता-ऽवस्थितभागहारत्रिभागेन भागे हृते चयत्रयं लभ्यते। एतच्चयत्रये च प्रथमवर्गणातोऽपनीते चतुर्थवर्गणागतप्रदेशा भवन्ति। एवं तावद् नेतव्या यावद् द्वितीयद्विगुणहानिगतप्रथमवर्गणा। द्वितीयद्विगुणहानिप्रथमवर्गणागतप्रदेशास्तु द्विगुणहानिद्वयलक्षणेनाऽवस्थितभागहारेणैव विभज्यन्ते, लब्धे च द्वितीयद्विगुणहानिप्रथमवर्गणा-तोऽपनीते द्वितीयद्विगुणहानिद्वितीयवर्गणाप्रदेशा भवन्ति । पुनः पूर्वोक्ताऽवस्थितभागहार-द्विभागेन प्रस्तुतप्रथमवर्गणाप्रदेशेष्वपहृतेषु प्रस्तुतद्विगुणहानिसत्कचयद्वयं प्राप्यते । एतच्चयद्वये च प्रथमवर्गणातोऽपनीते तृतीयवर्गणागतप्रदेशा भवन्ति। पुनः पूर्वोक्ताऽवस्थितभागहारत्रिभागेन भागे हृते चयत्रयं लभ्यते। एतच्चयत्रये प्रथमवर्गणातोऽपनीते चतुर्थवर्गणाप्रदेशा भवन्ति, एवं क्रमेण तृतीयद्विगुणहानिगतप्रथमवर्गणां यावद् नेतव्यम्। इत्थं तृतीयादिद्विगुणहानिष्वपि घटना कार्या।

प्रदर्श्यते चैतदसत्कल्पनया–द्विद्विगुणहानिलक्षणो द्वात्रिंशत्प्रदेशात्मकोऽवस्थितभागहार: ३२, तेन षट्पञ्चाशदुत्तरद्विशतप्रमाणान (२५६) प्रथमद्विगुणहानिगतप्रथमवर्गणासत्कप्रदेशान् विभज्याऽष्टात्मकश्चयो लभ्यते, प्रथमवर्गणातस्तच्चयेऽपनीते द्वितीयवर्गणागतप्रदेशा अष्टचत्वारिंशदुत्तरद्विशतप्रमाणा (२४८) भवन्ति । पुनः पूर्वोक्ताऽवस्थितभागहारद्विभागेन ($\frac{३२}{२}$) प्रथमवर्गणागतप्रदेशेष्वपहृतेषु २५६÷$\frac{३२}{२}$=१६ षोडशात्मकं चयद्वयं प्राप्यते। एतच्चयद्वये च प्रथमवर्गणातोऽपनीते (२५६–१६=२४०) चत्वारिंशदधिकद्विशतप्रमाणास्तृतीयवर्गणागतप्रदेशा भवन्ति । पुनः पूर्वोक्ताऽवस्थितभागहारत्रिभागेन भागे हृते (२५६÷$\frac{३२}{३}$=२४) चयत्रयं लभ्यते । एतच्चयत्रये च प्रथमवर्गणातोऽपनीते (२५६–२४=२३२) द्वात्रिंशदुत्तरद्विशतप्रमाणाश्चतुर्थवर्गणागतप्रदेशा भवन्ति । एवं छेदभागहारेण द्वितीयद्विगुणहानिगतप्रथमवर्गणां यावद् निषिक्तप्रदेशा आनेतव्याः ।

अङ्कतो न्यासश्चैवम्—

प्र०द्विगु०प्र०स्प०प्र०व०प्रदेशा	२५६	भागहार.	प्रथमवर्गणातोऽपनयनीयराशि	तत्तद्वर्गणप्रदेश:
,, ,, ,, द्वि० ,, ,,—	२४८	अवस्थित० २५६÷$\frac{३२}{१}$=८	२५६–८=	२४८
,, ,, ,, तृ० ,, ,,—	२४०	छेद० २५६÷$\frac{३२}{२}$=१६	२५६–१६=	२४०
,, ,, ,, च० ,, ,,—	२३२	२५६÷$\frac{३२}{३}$=२४	२५६–२४=	२३२
,, ,, द्वि०स्प०प्र०,, ,,—	२२४	२५६÷$\frac{३२}{४}$=३२	२५६–३२=	२२४
,, ,, ,, ,, द्वि० ,, ,,—	२१६	२५६÷$\frac{३२}{५}$=४०	२५६–४०=	२१६
,, ,, ,, ,, तृ० ,, ,,—	२०८	२५६÷$\frac{३२}{६}$=४८	२५६–४८=	२०८
,, ,, ,, ,, च० ,, ,,—	२००	२५६÷$\frac{३२}{७}$=५६	२५६–५६=	२००

एवं द्वितीयद्विगुणहानिगतप्रथमवर्गणां यावद् न्यासोऽवगन्तव्यः ।

अथ द्वितीयद्विगुणहान्यां छेदभागहारेणाऽनन्तरोपनिधा-ऽसत्कल्पनया प्रदर्श्यते—

तद्यथा–अष्टाविंशत्यधिकशतप्रमाणाः (१२८) द्वितीयद्विगुणहानिगतप्रथमवर्गणाप्रदेशा द्वात्रिंशदात्मकेन (३२) द्विगुणहानिद्वयलक्षणभागहारेण विभज्यन्ते, लब्धे च प्रथमवर्गणातोऽपनीते (१२८–४=१२४) चतुर्विंशत्युत्तरशतप्रदेशप्रमाणा द्वितीयवर्गणा भवति । पुनः पूर्वोक्तभागहारद्विभागेन प्रथमवर्गणागतप्रदेशेष्वपहृतेषु (१२८÷$\frac{३२}{२}$=८) अष्टात्मकं द्वितीयद्विगुणहानिसत्कचयद्वयं प्राप्यते । एतच्चयद्वये च प्रथमवर्गणातोऽपनीते (१२८–८=१२०) विंशत्युत्तरशतप्रदेशप्रमाणा तृतीयवर्गणा भवति । एवं छेदभागहारेणा-ऽनन्तरोपनिधा तृतीयद्विगुणहानिगतप्रथमवर्गणां यावदभिधातव्या ।

अङ्कतो न्यासश्चैवम्—

द्वितीयद्विगु० प्र० स्प० प्र० व० प्रदेशा:	१२८ प्रदेशा:	छेदभागहार:	प्रथमवर्गणातोऽपनय-नीयराशि:	तत्तद्वर्गणा-प्रदेशा:
" " " " " " द्वि० ..	१२४	१२८÷३२	१२८−४=	१२४
" " " " " तृ० ..	१२०	प्र.वर्गणा÷छेदभाग=ऊ० १२८÷$\frac{३२}{२}$=८	१२८−८=	१२०
" " " " " च० ,,	११६	१२८÷$\frac{३२}{३}$=१२	१२८−१२=	११६
" , द्वि० स्प० प्र० ,,	११२	१२८÷$\frac{३२}{४}$=१६	१२८−१६=	११२
" " " " , द्वि० ,	१०८	१२८÷$\frac{३२}{५}$=२०	१२८−२०=	१०८
" " " " " तृ० ,,	१०४	१२८÷$\frac{३२}{६}$=२४	१२८−२४=	१०४
" " " " च० ,	१००	१२८÷$\frac{३२}{७}$=२८	१२८−२८=	१००

एवं तृतीयद्विगुणहानिगतप्रथमवर्गणां यावद् न्यासोऽवगन्तव्यः। इत्थं तृतीयादिद्विगुणहानिष्वपि न्यासः स्वयमेव विधेयः।

इदमत्र करणम्—तत्तद्द्विगुणहानेः यतितमवर्गणायां परमाणवोऽभिप्रेता भवेयुः, तदा एकोनतद्वर्गणासंख्यया द्विगुणहानिद्वयात्मकभागहारं विभज्य या लब्धिर्भवति, तया च तत्तद्द्विगुणहानिप्रथमवर्गणाप्रदेशा विभज्यन्ते, विभज्य च यल्लब्धं तस्मिन् तत्तद्द्विगुणहानिप्रथमवर्गणाप्रदेशतोऽपनीते इष्टवर्गणागतप्रदेशाः प्राप्यन्ते।

न्यासः—

इष्टवर्गणायां प्रदेशाः=प्रथमवर्गणाप्रदेशाः—$\left[\text{प्रथमवर्गणाप्रदेशाः} \div \frac{\text{द्विगुणहानिद्वयरूपभागहारः}}{\text{इष्टवर्गणासंख्या}-१}\right]$

नन्वनन्तरोक्तकरणेन प्रथमद्विगुणहानिप्रथमस्पर्धकसत्कचतुर्थवर्गणायां कियन्तः परमाणवः ? इति चेत्, उच्यते—द्वात्रिंशदुत्तरद्विशती भवति।

न्यास—चतुर्थवर्गणायां प्रदेशाः=२५६−(२५६÷$\frac{३२}{४-१}$)
=२५६−(२५६÷$\frac{३२}{३}$)
=२५६−($\frac{२५६}{१}$×$\frac{३}{३२}$)
=२५६−२४
=२३२

गताऽनन्तरोपनिधा। साम्प्रतं परम्परोपनिधा भण्यते—

तद्यथा—प्रथमस्पर्धकस्य प्रथमवर्गणात उत्तरोत्तरवर्गणायां विशेषहीनक्रमेण विद्यमानाः प्रदेशाः कतिपयेष्वनन्तेषु स्पर्धकेषु गतेषु प्राप्यमाणस्पर्धकस्य प्रथमवर्गणायां प्रथमस्पर्धकसत्कप्रथमवर्गणातोऽर्धा भवन्ति। ततः पुनस्तावन्मात्रेषु स्पर्धकेषु व्यतिक्रान्तेषु तत्रत्यस्पर्धकस्य प्रथमवर्गणाया-

मर्धाः पुद्गला भवन्ति । एवमग्रेऽपि वक्तव्यम् । तत्र प्रथमस्पर्धकप्रथमवर्गणातो विशेषहीनक्रमेण विद्यमाना यावत्यायामे गते प्रथमस्पर्धकप्रथमवर्गणातः प्रदेशा अर्धा भवन्ति । तावान् आयामो द्विगुणहानिरिति परिभाष्यते । ताश्चसर्वा द्विगुणहानयोऽभव्याऽनन्तगुणाः सिद्धानामनन्तभागमात्रा भवन्ति । एकैकस्यां चाऽभव्येभ्योऽनन्तगुणानि सिद्धानन्तभागप्रमाणानि स्पर्धकानि भवन्ति । एकैकस्मिन् स्पर्धके वर्गणास्त्वभव्येभ्यो-ऽनन्तगुणाः सिद्धानन्तभागप्रमाणाः प्रागुक्ता एव । तथा चात्र नानाद्विगुणहानिस्थानानि स्तोकानि, तेभ्यः एकद्विगुणहानिस्थानान्तराणि अनन्तगुणानीति।

चयः–प्रथमद्विगुणहानिगतप्रथमवर्गणाप्रदेशा द्वाभ्यां द्विगुणहानिभ्यां विभज्यन्ते, तदा लब्धिः प्रथमद्विगुणहानिचयो भवति । तस्मिन् प्रथमवर्गणातोऽपनीते द्वितीयवर्गणाप्रमाणं भवति । द्वितीय-वर्गणातस्तस्मिन्नपनीते तृतीयवर्गणाप्रमाणं भवति । एवं नेतव्यं यावत् द्वितीयद्विगुणहानिप्रथमवर्गणा-प्रमाणम् । इत्थं द्वितीयादिद्विगुणहानिष्वपि भावना कार्या, नवरं प्रथमद्विगुणहान्यां यश्चयो भवति, ततो-ऽर्धश्चयो द्वितीयद्विगुणहानौ भवति । ततोऽपि अर्धस्तृतीयद्विगुणहानौ भवति, एवं पूर्वपूर्वत उत्तरोत्तरद्विगुणहान्यां चयोऽर्धोऽर्धो भवति. किं कारणम् ? इति चेत् , उच्यते–द्विगुणहानिद्वय-लक्षणभाजकस्य समानत्वे सति उत्तरोत्तरभाज्यराशेरर्धमात्रत्वात् ।

अथेष्टद्विगुणहान्यां चयानयनार्थं करणमुच्यते—

इष्टद्विगुणहानिसंख्यातो रूपं विशोध्या-ऽवशिष्टसंख्याप्रमाणानि द्विकानि स्थापयितव्यानि । ततो द्विकानि परस्परं गुणयितव्यानि, प्राप्तराश्या प्रथमद्विगुणहानिसत्कचयो विभक्तव्यः, लब्धि-स्तु इष्टद्विगुणहानिसत्कचयो भवतीति । चतुर्थद्विगुणहान्यां कियत्प्रमाणश्चयः ? प्रस्तुते चतुर्थ-द्विगुणहानिचतुःसंख्यातो रूपं विशोध्याऽवशिष्टत्रिसंख्याप्रमाणानि द्विकानि (२×२×२) स्थाप-यित्वा गुणयितव्यानि, अष्टसंख्याप्रमाणं गुणनफलम् (८) तेन प्रथमद्विगुणहानिसत्काऽष्टात्मकचयो (८÷८) विभक्तव्यः । लब्धिस्तु (१) एकः चतुर्थद्विगुणहानिसत्कचयो भवति ।

न्यास –इष्टद्विगुणहानिसत्कचय = प्रथमद्विगुणहानिसत्कचय ÷ $(२)^{\text{इष्टद्विगुणहानिसंख्या}-१}$

प्रस्तुतेऽङ्कतः—

चतुर्थद्विगुणहानिसत्कचय = $८ ÷ (२)^{४-१}$

= $८ ÷ (२)^{३}$

= ८–(२×२×२)

= ८÷८

= १

तदेवं समर्थितं परम्परोपनिधानिरूपणम् । तत्समर्थने च गता श्रेणिप्ररूपणा ।

साम्प्रतमपहारप्ररूपणा क्रियते–

प्रथमवर्गणायाः कर्मप्रदेशप्रमाणेन प्रतिसमयं ह्रियमाणाः सर्ववर्गणाकर्मप्रदेशाः कियता कालेना-ऽपह्रियन्ते ? इति चेत् , उच्यते–अनन्तेन कालेन, प्रथमवर्गणानिषेकप्रमाणेन सर्वद्रव्ये ह्रियमाणे

सार्धद्विगुणहानिमात्रप्रथमनिषेकाणामुपलम्भात् । कुतो ज्ञायते ? गणितप्रक्रियातः । तथाहि–प्रथमनिषेकप्रमाणेन सर्वद्रव्ये क्रियमाणे सार्धद्विगुणहानिमात्रनिषेका लभ्यन्ते । तद्यथा–प्रथमनिषेकप्रमाणेन क्रियमाणायां द्वितीयवर्गणायामेकचयेन हीनं दलं भवति, प्रथमद्विगुणहानिसत्कप्रथमवर्गणातो द्वितीयवर्गणायामेकचयेन हीनदलिकस्य प्रोक्तत्वात् । एवं प्रथमनिषेकप्रमाणेन क्रियमाणायां तृतीयवर्गणायां चयद्वयेन हीनं दलं भवति, द्वितीयवर्गणातस्तृतीयवर्गणादलस्य चयेन हीनत्वात् , इत्थं चतुर्थवर्गणायां चयत्रयेण हीनं, पञ्चमवर्गणायां चयचतुष्केण हीनम्, एवं यावत् प्रथमद्विगुणहानिचरमवर्गणायामेकन्यूनद्विगुणहानिमात्रचयैर्हीनं दलं भवति । ततः प्रथमद्विगुणहानिसत्कसर्ववर्गणासु प्रथमवर्गणानिषेकप्रमाणेन क्रियमाणासु कियद्भिश्चयैर्हीनं दलं भवति, इति चेत् , उच्यते–द्वितीयवर्गणातः प्रारभ्य प्रथमद्विगुणहानिसत्कचरमवर्गणापर्यन्तं हीनचयानां संकलने सर्वधनं प्राप्यते ।

संकलनायेदं करणम्–समानान्तराणां राशीनां योग इष्यमाण आदिधनेन सहितमन्त्यधनं गच्छार्धेन गुण्यते, गुणने च कृते सर्वधनं लभ्यते । यदुक्तं **श्रीव्यवहारभाष्ये**–"अंतिमधणमादिजुयं गच्छद्धगुणं तु सव्वधनं ।" इह द्वितीयवर्गणासत्कैकचयप्रमितं हीनदलमादिधनम् , प्रथमद्विगुणहानिचरमवर्गणाया एकन्यूनद्विगुणहानिमात्रचयप्रमाणं हीनदलमन्त्यधनम् । एकन्यूनद्विगुणहानिवर्गणासंख्याप्रमितो गच्छो भवति, द्वितीयवर्गणात आरभ्य प्रथमद्विगुणहानिचरमवर्गणापर्यन्तमुत्तरोत्तरवर्गणायामेकैकाधिकचयेन हीनदलिकस्योपलम्भादिति । अनन्तरोक्तकरणमाश्रित्यादिधनेन सहितमन्त्यधनमेकद्विगुणहानिप्रमाणं पूर्णं भवति, ततश्चैकन्यूनद्विगुणहानिद्विभागलक्षणेन गच्छार्धेन गुणयितव्यम् । एवं च गुणने कृते गुणफलत्वेन प्राप्तराशिर्द्वितीयवर्गणातश्चरमवर्गणासु हीनचयानां सर्वधनं भवति ।

न्याससश्चैवम्—

प्रथमवर्गणादलिकप्रमाणेन क्रियमाणायां प्रथमद्विगु०सत्कद्वितीयवर्गणायाम् एकचयेन १ हीनं दलम्
" " " " " " " " तृतीय " " चयद्वयेन २ " "
" " " " " " " " चतुर्थ " " चयत्रयेण ३ " "
" " " " " " " " पञ्चम " " चयचतुष्केण ४ " "
एवं " " " " " " " " चरमवर्गणायाम् एकन्यूनद्विगुणहानिप्रमाणचयैः (द्विगुण०–१)हीनं दलम्

तत्संकलनायेदम्–सर्वधनम्=आदिधनम्+अन्त्यधनम्×गच्छार्धम्

= (१+द्विगुण०–१)×((द्विगुण०–१)/२)

= (द्विगुण०×द्विगुण०–१)/२, प्रथमनिषेकप्रमाणेन क्रियमाणायां प्रथमद्विगुणहान्यामेतावच्चयैर्हीनं दलं भवति । अर्थादेतावच्चयानां प्रक्षेपे प्रथमद्विगुणहानिसत्कसर्ववर्गणाः प्रथमवर्गणाप्रमाणाः संजायन्ते । एतावच्चया द्विगुणहानेः कतिथो भागो भवन्तीति प्रदर्श्यते–तद्यथा

यदि द्विगुणहानिद्वयप्रमाणचयानां प्रथमद्विगुणहानिसत्कप्रथमवर्गणारूप एको निषेको भवेत्, तर्हि द्विगुणहानिगुणितैकन्यूनद्विगुणहानिद्विभागप्रमाणचयानां $\left[\frac{\text{द्विगुणहानि०} \times (\text{द्विगुणहानि०} - १)}{२}\right]$ कियन्तो निषेका भवेयुः ? अर्थाद् द्विगुणहानेः कतिथभागो भवेत् ? इति त्रैराशिकमवलम्ब्य प्रमाण-फलमिच्छया गुणयित्वा प्रमाणेन विभज्यते, तदेच्छाफलं प्रथमवर्गणानिषेकचतुर्थभागन्यूनचतुर्थ-भागद्विगुणहानिप्रमाणं (¼द्विगुणहानिः-¼ प्रथमनिषेक०) भवति ।

न्यासः—

प्रमाणम्	प्रमाणफलम्	इच्छा
↓	↓	↓
$\frac{\text{द्विगुणहानिचय०}}{२}$	$\frac{\text{प्रथमवर्गणानिषेक}}{१}$	$\frac{\text{द्विगुणहानिः} \times \text{द्विगुणहानिः} - १}{२}$

$$\frac{\text{द्विगुण०} \times (\text{द्विगुण०} - १)}{२} \times \frac{१}{२\ \text{द्विगुण०}} =$$ इच्छाफलम् ¼ द्विगुण० — ¼ प्र० वर्ग० निषेकः—

प्रथमद्विगुणहान्यां सर्ववर्गणासु प्रथमवर्गणानिषेकप्रमाणेन क्रियमाणासु एतत्प्रमराशिर्हीयते अर्थात्प्रथमवर्गणाचतुर्थभागन्यूनचतुर्थभागद्विगुणहानिप्रमाणदलप्रक्षेपे (¼द्विगुण०-¼निषेकः) प्रथम-द्विगुणहानिसत्काःसर्वा वर्गणाः प्रथमनिषेकवद् भवन्ति, प्रथमवर्गणाप्रमाणेन क्रियमाणायाः प्रथमद्विगुण-हान्याः सर्ववर्गणागतदलेभ्यः कियन्तो निषेकाः भवन्ति ? उच्यते—प्रथमद्विगुणहान्यां प्रक्षिप्तदलिकानां यावन्तो निषेकाः प्रोक्ताः, तावन्निषेकाणां प्रथमद्विगुणहानितोऽपनयने यल्लब्धं तत्प्रमाणं प्रथम-द्विगुणहान्या निषेकमानं भवति । अत एकद्विगुणहानिप्रमाणवर्गणाभ्यः प्रथमवर्गणानिषेकचतुर्थभाग-न्यूनचतुर्थभागद्विगुणहानिप्रमाणमपनीय प्रथमवर्गणानिषेकचतुर्थभागाधिकपादोनद्विगुणहानिप्रमाणाः प्रथमद्विगुणहानेर्निषेका भवन्ति ।

न्यासः—

$$१\text{द्वि गुण०} - \left(\tfrac{१}{४}\ \text{द्विगुण०} - \tfrac{१}{४}\ \text{निषेक०}\right) = \text{द्विगुण०}\ \text{०।।।} + \tfrac{१}{४}\ \text{निषेक०}$$

प्रथमवर्जशेषसर्वद्विगुणहानीनामपि द्रव्यं प्रागुक्तप्रथमद्विगुणहानिसत्कद्रव्यप्रमाणतः किञ्चिद्-न्यूनं भवति, शेषद्विगुणहानीनामुत्तरोत्तरमर्धाऽर्धप्रमाणत्वात्, उत्तरोत्तरमर्धसंख्यायाः सर्वस्या योग-फलस्य प्रथमसंख्यातः किञ्चिद्न्यूनत्वाच्च । न्यूनत्वं चात्र चरमद्विगुणहानिप्रमाणं भवति, कुतः ? उच्यते—तत्र प्रथममुदाहरणं दर्श्यते-तद्यथा-(१६)षोडशसंख्यानामर्धाऽर्धप्रमाणमेवम् ८, ४, २, १, तेषां च योगे कृते पञ्चदश(१५) योगफलं भवति, अत्र चरमराशिः एकः (१) ततः प्रथमषोडशात्मक(१६)संख्यातः शेषसर्वराशीनां योगफलं चरमराशिप्रमाणेन न्यूनमवगन्तव्यम्, तथैव प्रस्तुतेऽपि द्रष्टव्यम् । तद्यथा—प्रथमवर्गणाप्रमाणेन प्रथमद्विगुणहानिः प्रथमवर्गणाचतुर्थभागा-

धिकपादोनद्विगुणहानिप्रमाणा भवति, ततोऽपि शेषसर्वद्विगुणहानिप्रमाणं किञ्चिद्न्यूनं भवति, न्यूनत्वं च चरमद्विगुणहानिप्रमाणमवसातव्यम् , चरमद्विगुणहानिश्च प्रथमापेक्षया एकानन्तभागमात्रा, अन्तरालेऽनन्तद्विगुणहानिस्थानानां गमनात् । ततश्च प्रथमद्विगुणहानेः किञ्चिदधिकपादोनद्विगुणहानिप्रमाणस्य शेषद्विगुणहानीनां किञ्चिन्न्यूनपादोनद्विगुणहानिप्रमाणस्य च योगे कृते सर्वद्रव्यं सार्धद्विगुणहानिमात्रं भवति । अत एव गणितप्रक्रियातः प्रथमवर्गणाप्रमाणेन सर्वद्रव्ये क्रियमाणे सार्धद्विगुणहानिप्रमितं भवतीत्युक्तम् । तेन प्रतिसमयं प्रथमवर्गणाप्रमाणेनाऽपह्रियमाणे सार्धद्विगुणहानिगतवर्गणाप्रमाणोऽनन्तकालो लगतीत्युक्तम् ।

अथाऽनन्तरोक्ता सर्वगणितप्रक्रिया ऽसत्कल्पनया प्रदर्श्यते–प्रथमद्विगुणहानिसत्कप्रथमवर्गणायां षट्पञ्चाशदुत्तरद्विशती (२५६) कर्मप्रदेशाः सन्ति, इति प्राक्कल्पितम् , तत्प्रमाणेन क्रियमाणायां द्वितीयवर्गणायामेकश्चयो हीयते, अर्थात्तावद्दलानां प्रक्षेपे अष्टचत्वारिंशदधिकद्विशतप्रमाणा (२४८) द्वितीयवर्गणा प्रथमवर्गणावद् भवति, एवं तृतीयवर्गणायां चयद्वयं, चतुर्थवर्गणायां चयत्रयं हीयते, एवमुत्तरोत्तरमेकैकाधिकचयो हीयते यावत् प्रथमद्विगुणहानिसत्कचरमवर्गणा । अत्र प्रत्येकं द्विगुणहान्यां षोडश वर्गणाः प्रागेव कल्पिताः, ततः षोडशवर्गणायां पञ्चदशचया हीयन्ते, प्रथमद्विगुणहान्यां कियन्तश्चया हीयन्त इत्यानयनार्थं संकलना विधेया, तत आदिधनेन सहितमन्त्यधनं (१चयः+१५ चयः=१६) षोडश चयाः, गच्छार्धेन $\left(\frac{\text{द्विगुण}-१}{२}=\frac{१६-१}{२}=\frac{१५}{२}\right)$ पञ्चदशद्विभागेन गुण्यन्ते, गुणने च कृते सर्वधनं विंशत्यधिकशतचयप्रमाणं(१२०)भवति । अष्टभिर्गुण्यते तदा षष्ट्युत्तरनवशतप्रमाणाः (९६०) कर्मप्रदेशाः भवन्ति । अथ तद्दलिकानां कियन्तो निषेकाः सन्तीति त्रैराशिकेन दर्श्यते-यदि षट्पञ्चाशदुत्तरद्विशतकर्मप्रदेशानां (२५६) प्रथमवर्गणासत्क एको निषेको भवति, तर्हि षष्ट्युत्तरनवशतप्रमाणकर्मप्रदेशानां (९६०) कियन्तो निषेका भवेयुरिति त्रैराशिकेन पादोनाधिकत्रिनिषेका $(३\frac{३}{४})$ लभ्यन्ते । अर्थात् प्रथमनिषेकचतुर्थभागन्यूनचतुर्थभागद्विगुणहानिप्रमाणं $\left(\frac{१}{४}\text{ द्विगुण}\circ-\frac{१}{४}\text{ निषेकः}\right)$द्रव्यं हीयते, इदमुक्तं भवति,-एकनिषेकचतुर्थभागन्यूनचतुर्थभागद्विगुणहानिप्रमाणस्य दलिकस्य प्रक्षेपे प्रथमद्विगुणहान्याः सर्ववर्गणाः प्रथमवर्गणावद् भवन्ति, अर्थात् प्रथमद्विगुणहान्याः सर्वद्रव्ये प्रथमवर्गणाप्रमाणेन क्रियमाणे प्रथमवर्गणाचतुर्थभागाधिकपादोनद्विगुणहानिप्रमाणं $\left(\frac{३}{४}\text{ द्विगुण}\circ+\frac{१}{४}\text{निषेक}\circ\right)$ भवति ।

न्यासश्चैवम्—

प्रथमद्विगुणहान्यां वर्गणा—	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
प्रदेशा—	२५६	२४८	२४०	२३२	२२४	२१६	२०८	२००	१९२	१८४	१७६	१६८	६०	१५	१४४	१३६
प्रथमवर्गणाप्रमाणेन क्रियमाणायां हीनचयाः→	→	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५

हीनचयानां सङ्कलनमित्थम् → (आदिधनम् + अन्त्यधनम्) × गच्छार्धम्

$$= \left(\frac{\text{चय}}{१} + \frac{\text{चया}}{१५}\right) \times \left[\frac{\text{द्विगुण}-१}{२} = \frac{१५}{२}\right]$$

$\frac{१६}{१} \times \frac{१५}{२}$ = १२० चयाः प्रथमद्विगुणहान्यां हीयन्ते

ते च अष्टात्मकेन गुण्यन्ते तदा एतच्चयानां प्रदेशाः भवन्ति ।

१२०×८=९६० प्रदेशाः प्रथमवर्गणाप्रमाणेन क्रियमाणे हीयन्ते । तेषां कियन्तो निषेकाः इति त्रैराशिकेन दर्श्यते–

प्रमाणम्	प्रमाणफलम्	इच्छा०	इच्छाफलम्
प्रदेशा	निषेक	प्रदेशा	निषेका
२५६	=१	९६०	३$\frac{३}{४}$

असत्कल्पनायां निषेकचतुष्टयेन द्विगुणहानेश्चतुर्थभागो भवति अत एव ३$\frac{३}{४}$ निषेकस्य $\frac{३}{४}$द्विगुण०-$\frac{३}{४}$निषेक०प्रमाणं भवति । प्रथमद्विगुणहान्याः सर्वद्रव्ये प्रथमवर्गणाप्रमाणेन क्रियमाणे $\frac{३}{४}$ द्विगुण० – $\frac{३}{४}$ वर्गणाप्रमाण हीयते ।

∴ प्रथमवर्गणाप्रमाणेन क्रियमाण प्रथमद्विगुणहानिसत्कद्रव्यं $\frac{१}{४}$ द्विगुण० + $\frac{३}{४}$ वर्गणा० प्रमाणं भवति ।

$$\therefore \frac{\text{द्विगुण०}}{४} - \left(\tfrac{३}{४}\text{द्विगु०} - \tfrac{३}{४}\text{वर्गणा०}\right)$$

$$= \frac{\text{द्विगुण०} - \tfrac{३}{४}\text{द्विगु०} + \tfrac{३}{४}\text{वर्गणा०}}{४}$$

$$= \tfrac{१}{४}\text{द्विगु०} + \tfrac{३}{४}\text{वर्गणा०}$$

अथवाऽनया रीत्या प्रदर्श्यते । तत्राऽऽदौ प्रथमद्विगुणहानिगतसर्वद्रव्यं संकलनया प्राप्तव्यम् , तद्यथा–आदिधनेन सहितमन्त्यधनं गच्छार्धेन गुणयितव्यम् , प्रस्तुते प्रथमवर्गणागत-द्रव्येण सहित प्रथमद्विगुणहानिसत्कचरमवर्गणाद्रव्यं प्रथमद्विगुणहानिवर्गणाद्विभागलक्षणेन गच्छार्धेन गुणयितव्यम् , गुणने च कृते षट्त्रिंशदधिकैकशतोत्तरत्रिसहस्रप्रमाणं {(२५६+१३६)×$\frac{१६}{२}$=३१३६} प्रथमद्विगुणहानिगतसर्वद्रव्यं भवति ।

न्यासः– सर्वधनम् = (आदिधनम् + अन्त्यधनम्) × गच्छार्धम्

प्रस्तुते प्रथमद्विगुण० सर्वद्रव्यम् =

$$(\text{प्रथमवर्गणाद्रव्यम्} + \text{प्रथमद्विगुण०चरमवर्गणाद्रव्यम्}) \times \frac{\text{द्विगुणहानिवर्गणाप्रमाणम्}}{२}$$

$$= (२५६ + १३६) \times \frac{१६}{२}$$

$$= ३९२ \times ८$$

$$= ३१३६$$

अथ प्रथमवर्गणाप्रमाणेन क्रियमाणे प्राप्तद्रव्यस्य कियन्तो निषेका भवेयुरिति त्रैराशिक-विधिनोपलभ्यते । यदि षट्पञ्चाशदधिकद्विशतप्रदेशानामेक एव निषेको भवति, तर्हि षट्त्रिंशदुत्तरै-

कशताधिकत्रिसहस्रप्रमाणस्य प्रथमद्विगुणहानिसत्कद्रव्यस्य कियन्तो निषेका भवेयुरिति त्रैराशिकेन चतुर्थभागाधिकद्वादशमिता निषेका लभ्यन्ते ।

न्यासः—

प्रमाणम्	प्रमाणफलम् निषेकः	इच्छा	इच्छाफलम्
२५६	१	३१३६	१२ ६४/२५६ = १२ १/४ निषेका. लब्धाः

पुनश्चतुर्थभागाधिकद्वादशनिषेकाणां (१२ १/४) द्विगुणहानेः कतिथभागो भवतीति त्रैराशिक-विधिना लभ्यते । तद्यथा–अत्र षोडशनिषेकैरेका द्विगुणहानिर्भवति । तर्हि चतुर्थभागाधिकद्वादश-निषेकैः द्विगुणहानेः कतिथभागो भवेदिति त्रैराशिकेन प्रथमनिषेकचतुर्थभागाधिकपादोनद्विगुण-हानिप्रमाणं (३/४ द्विगुण० + १/४ निषेक०) लभ्यते । अत एव प्रथमद्विगुणहान्याः सर्वद्रव्ये प्रथमवर्गणा-प्रमाणेन क्रियमाणे प्रथमवर्गणाचतुर्थभागाधिकपादोनद्विगुणहानिप्रमाणं (३/४ द्विगुण० + १/४ निषेक०) प्रोक्तम् ।

अथ शेषसर्वद्विगुणहानीनां सर्वद्रव्ये प्रथमवर्गणाप्रमाणेन क्रियमाणे द्विगुणहानेः कतिथभागो भवतीति दर्श्यते–शेषसर्वद्विगुणहानीनामपि द्रव्यस्योत्तरोत्तरमर्धाऽर्धप्रमाणत्वात् सर्वसंकलनेऽपि प्रथमद्विगुणहानितः किञ्चिन्न्यूनं भवति ।

तद्यथा–प्रथमद्विगुणहानिद्रव्यं किञ्चिदधिकपादोनद्विगुणहानिप्रमाणम्– ०।।। द्विगु०

द्वितीयद्विगुणहानिद्रव्यं प्रथमद्विगुणहानितोऽर्धं भवति, अतः ०।।।द्विगु० / २

तृतीय ,, ,, ,, ,, द्वितीय ,, ,, ,, ,, ,, ,, ०।।।द्विगु० / ४

चतुर्थ ,, ,, ,, ,, तृतीय ,, ,, ,, ,, ,, ,, ०।।।द्विगु० / ८

अत्र चतस्रो द्विगुणहानयः कल्पिताः, ततः शेषत्रिद्विगुणहानीनां संकलने किञ्चिन्न्यूनपादोन-द्विगुणहानिप्रमाणं भवति, न्यासश्चैवम्–

द्वि० द्विगु० तृ० द्विगु० चतुर्थद्विगु०

$$\frac{०।।।}{२} + \frac{०।।।}{४} + \frac{०।।।}{८} = \frac{४(०।।।) + २(०।।।) + १(०।।।)}{८} = \frac{७(०।।।)}{८}\text{ द्विगु०}$$

ततः शेषद्विगुणहानीनां द्रव्यं प्रथमवर्गणाप्रमाणेन किञ्चिन्न्यूनपादोनद्विगुणहानिप्रमाणं भवति । इत्थं प्रथमद्विगुणहानेः किञ्चिदधिकपादोनद्विगुणहानिनिषेकैः सहिताः शेषसर्वद्विगुण-हानीनां किञ्चिन्न्यूनपादोनद्विगुणहानिनिषेकाः सार्धद्विगुणहानिप्रमाणा भवन्ति ।

अत्रेदं ध्येयम्-यद्यप्यसत्कल्पनायां सर्वे कर्मप्रदेशा अशीत्युत्तराऽष्टशताधिकपञ्चसहस्राः(५८८०) भवन्ति, अतस्तदपेक्षया सर्वकर्मप्रदेशानामपहारकालः किञ्चिन्न्यूनसार्धद्विगुणहानिप्रमाणो भवति,

तथाप्यत्र गणितसौकर्यार्थमेव सर्वे कर्मप्रदेशाश्चतुश्चत्वारिंशदुत्तरैकशताधिकषट्सहस्राः (६१४४) कल्पिताः। तेनाऽसत्कल्पनयाऽपि प्रतिसमयं षट्पञ्चाशदधिकद्विशतप्रदेशेषु (२५६) अपह्रियमाणेषु सार्धद्विगुणहानिकालेन चतुश्चत्वारिंशदुत्तरैकशताधिकषट्सहस्राः (६१४४) अपह्रियन्ते।

अथ द्वितीयद्विगुणहानेः प्रारभ्याऽन्तिमद्विगुणहानिं यावत् सर्वद्विगुणहानिमध्ये विवक्षितायाः कस्या अप्येकद्विगुणहानेः प्रथमवर्गणागतकर्मदलिकैः प्रतिसमयमपहारे कृते सर्वदलिकाऽपहारः कियत्कालेन भवतीति ज्ञापनाय करणं प्रदर्श्यते—तद्यथा—यावतिथद्विगुणहान्याः प्रथमवर्गणागतकर्मदलिकैः सर्वदलिकानामपहारः कर्तुमिष्यते तावतिथद्विगुणहानिं यावत् यावत्यो द्विगुणहानयो भवन्ति एकन्यूनतावद्द्विगुणहानिप्रमाणद्विकानि स्थापयित्वाऽन्योन्यं च गुणयित्वा पुनः सार्धया द्विगुणहान्या गुणयितव्यानि। गुणितेषु यावद् गुणनफलं प्राप्यते तावद्द्विगुणहानिकालेन सर्वप्रदेशानामपहारो भवति।

अत्र करणगाथा—

"गुणइ अवहारकालो एगूणन्छिअदुगुणिअहाणिसिमा। ठवअ दुसंखा ऽण्णोण्णं गुणिअ दिवड्ढेण गुणिअव्वा॥"

तथा चाऽत्रोदाहरणं दर्श्यते। तद्यथा—प्रतिसमयं द्वादशद्विगुणहानेः प्रथमवर्गणागतप्रदेशैः सर्वप्रदेशानामपहारः कर्तुमिष्यते, अत एकादश द्विकानि स्थापयित्वाऽन्योन्यं गुणनीयानि न्यासश्चैवम्—२×२×२×२×२×२×२×२×२×२×२=२०४८ गुणनफलम्। एतद्गुणनफलं सार्धया द्विगुणहान्या गुणनीयं भवति, अतः २०४८×१॥=३०७२ गुणनफलं प्राप्तम्। अतः प्रतिसमयं द्वादशद्विगुणहानिप्रथमवर्गणागतदलिकेष्वपह्रियमाणेषु द्वासप्तत्यधिकत्रिसहस्र-(३०७२)द्विगुणहानिकालेन सर्वकर्मप्रदेशानामपहारो भवति। प्रस्तुतेऽसत्कल्पनया चतस्रो द्विगुणहानयः कल्पिताः, ततो द्वितीयद्विगुणहानिसत्कप्रथमवर्गणादलिकप्रमाणेन सर्वप्रदेशानामपहारः कर्तुमिष्यते, तदा एकं द्विकं स्थापयित्वा सार्धेन द्विगुणहान्या गुणनीयं भवति, अतो २×१॥=३ गुणनफलं भवति। प्रतिसमयं द्वितीयद्विगुणहानिसत्कप्रथमवर्गणाकर्मप्रदेशेष्वपह्रियमाणेषु त्रिद्विगुणहानिकालेन सर्वकर्मप्रदेशानामपहारो भवति एवं तृतीयद्विगुणहानिप्रथमवर्गणाप्रमाणेन षड्द्विगुणहानिकालेन, चतुर्थद्विगुणहानिप्रथमवर्गणाप्रमाणेन पुनर्द्वादशद्विगुणहानिकालेन सर्वकर्मप्रदेशानामपहारो भवतीति।

अथ प्रतिसमयं विवक्षितद्विगुणहान्याः प्रथमवर्गणागतकर्मप्रदेशेष्वपह्रियमाणेषु यावत्कालेन सर्वकर्मप्रदेशा अपह्रियन्ते तदपेक्षया तस्या एव द्विगुणहान्या द्वितीयादिवर्गणागतकर्मप्रदेशैः प्रतिसमयमपहारे क्रियमाणे कियता कालेन सर्वप्रदेशा अपह्रियन्ते इति प्रतिपाद्यते। तद्यथा—सर्वद्विगुणहानिमध्ये विवक्षितायाः कस्या अप्येकद्विगुणहानेः प्रथमवर्गणागतप्रदेशैः प्रतिसमयमपहारे कृते यावता कालेन सर्वकर्मप्रदेशानामपहारो भवति, तावत्कालात् तस्या एव द्विगुणहानेः द्वितीयादिवर्गणागतप्रदेशैः प्रतिसमयमपहारे क्रियमाणे क्रमशोऽधिकाऽधिकतरकालेन सर्वप्रदेशानामपहारो

भवति । अर्थात् प्रथमद्विगुणहानेः प्रथमवर्गणागतप्रदेशैः प्रतिसमयमपहारे कृते यावता कालेन सर्वप्रदेशानामपहारो भवति, तावत्कालात् प्रथमाया एव द्विगुणहान्या द्वितीयवर्गणागतप्रदेशैरपहारे क्रियमाणेऽधिककालेन सर्वप्रदेशानामपहारो भवति, तृतीयवर्गणाप्रदेशैरपहारे क्रियमाणेऽधिकतरकालेन भवति; एवं चतुर्थादिवर्गणागतप्रदेशप्रमाणापहारमप्याश्रित्य वक्तव्यम् । एवं द्वितीयादिद्विगुणहानिष्वपि ज्ञेयम् ।

अथाऽत्र सूक्ष्मगणितप्रक्रियया प्रदर्श्यते—प्रथमद्विगुणहानेः प्रथमवर्गणागतकर्मप्रदेशैरपहारे क्रियमाणे सार्धद्विगुणहानिकालेन सर्वकर्मप्रदेशानामपहारो भवतीति पूर्वं चिन्तितमिति ध्येयम् । प्रथमद्विगुणहानिसत्कद्वितीयवर्गणागतप्रदेशैरपहारे क्रियमाणे प्रथमवर्गणाऽपेक्षया प्रतिसमयमेकचयो वर्धते, ततः प्रथमवर्गणाप्रमाणेन सार्धद्विगुणहानिकालस्य सार्धद्विगुणहानिप्रमाणचया वर्धन्ते । प्रथमनिषेको द्विगुणहानिद्वयप्रमाणचयानां भवति, द्वितीयनिषेकः पुनरेकोनद्विगुणहानिद्वयप्रमाणचयानां भवति । तर्हि सार्धद्विगुणहानिचयानां निषेकस्य कतिथभागो भवेदिति त्रैराशिकेन साधिकपादोननिषेको लभ्यते ।

न्यासः—

प्रमाणम्	प्रमाणफलम्	इच्छा०	इच्छाफलम्
२द्विगु०−१ प्रमाणचयानां	निषेकः = १	द्विगु० $\frac{३}{२}$	निषेकः साधिकपादोननिषेकः = ०॥। साधिक०

एतदसत्कल्पनया प्रदर्श्यते—तथाहि—पूर्वमसत्कल्पनया प्रथमवर्गणायां षट्पञ्चाशदधिकद्विशतप्रदेशाः, द्वितीयवर्गणायां चाऽष्टचत्वारिंशदधिकद्विशतप्रदेशाः कल्पिताः, अतः प्रथमवर्गणाऽपेक्षयाऽष्टचत्वारिंशदधिकद्विशतरूप(२४८)द्वितीयवर्गणाप्रमाणेन प्रतिसमयमष्टप्रदेशात्मक एकचयो न्यूनोऽपह्रियते ततः प्रतिसमयमष्टप्रदेशात्मक एकचयो वर्धते । चतुर्विंशत्यात्मके सार्धद्विगुणहानिकाले चतुर्विंशतिप्रमाणचया (२४) वर्धन्ते षोडशनिषेकाणामेकद्विगुणहानिप्रमाणतया कल्पितत्वात् । द्वितीयवर्गणाप्रमाणेन एकन्यूनद्विगुणहानिद्वयप्रमाणानां (२द्विगु०−१) एकत्रिंशच्चयानां (३१) द्वितीयवर्गणारूप एको निषेको भवति, तर्हि चतुर्विंशति(२४)चयानां निषेकस्य कतिथो भागो भवेदिति त्रैराशिकविधिना साधिकपादोन($\frac{३}{४}$) निषेकः प्राप्यते—

न्यासः—

प्रमाणम्	प्रमाणफलम्	इच्छा	इच्छाफलम्
२. द्विगुण−१=३१ चयाः	द्वितीयवर्गणानिषेकः = १	१॥ द्विगुण=२४चय०	$\frac{२४}{३१}$=साधिकपादोन($\frac{३}{४}$)निषेकः

एवं प्रथमद्विगुणहानिसत्कतृतीयवर्गणाप्रदेशैरपहारे क्रियमाणे प्रथमवर्गणाऽपेक्षया प्रतिसमयं चयद्वयस्य वृद्धिर्भवति । ततः सार्धद्विगुणहानिकालस्य चयद्वयेन गुणनेन द्विगुणहानित्रय-

प्रमाणचया लभ्यन्ते । अत्र चयद्वयन्यूनद्विगुणहानिद्वयचयानां तृतीयवर्गणारूप एको निषेको भवति । तर्हि त्रिद्विगुणहानिचयानां कियन्तो निषेका भवेयुरिति त्रैराशिकेन साधिकसार्धनिषेकः प्राप्यते ।

न्यासः—

प्रमाणम्	प्रमाणफलम्	इच्छा	इच्छाफलम्
२ द्विगु० चयाः–२ चय०	तृतीयवर्गणारूपो १ निषेकः	३ द्विगु०चय०	$\frac{३द्वि०}{२द्वि०-२}$ = साधिकसार्ध($\frac{३}{२}$)निषेकः

असत्कल्पनया पुनः चत्वारिंशदुत्तरद्विशतरूप(२४०)तृतीयवर्गणाप्रमाणेन क्रियमाणे प्रथमवर्गणाऽपेक्षया प्रतिसमयं षोडशप्रदेशात्मक(१६)चयद्वयं वर्धते, ततः चतुर्विंशत्यात्मक(२४)सार्धद्विगुणहानिकाले चयद्वयेन गुणनेनाऽष्टचत्वारिंशद्रूप(४८)त्रिद्विगुणहानिप्रमाणचया वर्धन्ते, चयद्वयन्यूनद्विगुणहानिद्वय(२द्विगु०चया–२चय०)प्रमाणानां त्रिंशच्चयानां (३०) तृतीयवर्गणारूप एको निषेको भवति, तर्हि द्विगुणहानित्रयप्रमाणाऽष्टचत्वारिंशच्चयानां कति निषेका भवेयुरिति त्रैराशिकविधिना साधिकसार्धनिषेकः (१$\frac{१}{२}$) प्राप्यते ।

न्यासः—

प्रमाणम्	प्रमाणफलम्	इच्छा	इच्छाफलम्
३० चयाः	तृतीयवर्गणारूपः = १ निषेक	३ द्विगुण०=४८ चया	$\frac{४८}{१}\times\frac{१}{३०}=\frac{८}{५}$ = १$\frac{३}{५}$निषेक० = साधिकसार्ध (१$\frac{१}{२}$) निषेको लब्धः

एवं चतुर्थवर्गणाप्रमाणेनाऽपहारे क्रियमाणे तृतीयवर्गणाऽपेक्षया साधिकपादोननिषेको वर्धते, ततश्च प्रथमवर्गणाऽपेक्षया साधिकचतुर्थभागाऽधिकनिषेकद्वयस्य वृद्धिर्जाता । एवमुत्तरोत्तरवर्गणाप्रमाणेनाऽपहारे क्रियमाणे पूर्वपूर्ववर्गणाप्रमाणापेक्षया साधिकपादोननिषेकस्य वृद्धिर्भवति । एवं यावदूर्ध्वं रूपाधिकाऽर्धद्विगुणहानिसत्कवर्गणाप्रमाणेनाऽपहारे क्रियमाणे प्रत्येकनिषेकेऽर्धगुणहानिप्रमाणचया वर्धन्ते प्रथमवर्गणापेक्षया उत्तरोत्तरवर्गणायामेकोनतत्संख्याचयप्रमाणेन हीनत्वात् । ततः प्रथमवर्गणाऽपेक्षया प्रत्येकनिषेकेऽर्धद्विगुणहानिप्रमाणचया हीयन्ते । तेन द्विगुणहानिद्वयचयप्रमाणप्रथमवर्गणातोऽन्तरे कृते सार्धद्विगुणहानिचयप्रमाणो रूपाधिका-ऽर्धद्विगुणहानिवर्गणासत्कनिषेको भवति । ततः प्रथमनिषेकस्य प्रस्तुतवर्गणाप्रमाणेन क्रियमाणे त्रिभागाधिकैकनिषेको भवति, तर्हि सार्धद्विगुणहानिप्रमाणनिषेकाणां कियन्तो निषेका भवेयुरिति त्रैराशिकेन द्विगुणहानिद्वयप्रमाणनिषेका लब्धाः, तेषां प्रतिसमयमपहारे क्रियमाणे द्विगुणहानिद्वयप्रमाणः कालो लगति ।

असत्कल्पनायां पुनः रूपाधिका-ऽर्धगुणहानिसत्कनवमवर्गणाप्रमाणेनाऽपहारे क्रियमाणे प्रथमवर्गणाऽपेक्षया एकोनतत्संख्याप्रमाणा अष्टौ चया वर्धन्ते, अर्थादर्धद्विगुणहानिप्रमाणचयानां वृद्धिर्भवति, एकद्विगुणहानेः षोडशात्मकत्वात् । प्रथमनिषेकद्रव्ये नवमवर्गणाप्रमाणेन क्रियमाणे त्रिभागाधिकैकनिषेको (१$\frac{१}{३}$) भवति ।

न्यासः—

प्रदेशा	निषेकः	प्रदेशाः	निषेकः
१९२	१	२५६	$\frac{२५६}{१९२} = \frac{४}{३} = १\frac{१}{३}$

तर्हि सार्धद्विगुणहानिप्रमाणनिषेकाणां तत्प्रमाणेन क्रियन्तो निषेका भवेयुरिति त्रैराशिकेन द्विगुणहानिद्वयप्रमाणा निषेका लभ्यन्ते ।

न्यासः—

प्रमाणम्	प्रमाणफलम्	इच्छा०	इच्छाफलम्
प्रथमवर्गणाप्रमाणेन प्रथमनिषेकः १	नवमवर्गणाप्रमाणेन प्रथमनिषेकद्रव्ये क्रियमाणे निषेकः $१\frac{१}{३}$	$\frac{३}{२}$ द्विगु०	द्विगु० $\frac{३}{२} \times \frac{४}{३} = २$ द्विगु०

रूपाधिकाऽर्धद्विगुणहानिगतवर्गणाप्रमाणेन प्रतिसमयमपहारे क्रियमाणे द्विगुणहानिद्वय-(२)प्रमाणनिषेकाः तावत्कालेनापह्रियन्ते अथवा–प्रस्तुते सर्वद्रव्यं चतुश्चत्वारिंशदुत्तरैकशताधिकषट्-सहस्रप्रमाणं (६१४४) प्राक्कल्पितमेव, द्वानवत्यधिकशतप्रदेशात्मकनवमवर्गणाप्रमाणेन (१९२) प्रतिसमयमपहारे क्रियमाणे सर्वद्रव्याणामपहारः कियता कालेन भवेदिति त्रैराशिकविधिना द्वात्रिंशद्स-त्मकद्विगुणहानिद्वयकालेन भवतीति लब्धम् ।

न्यासः—

प्रदेशा	निषेकः	प्रदेशाः	निषेकाः	
१९२	१	६१४४	३२	= २ द्विगुण० (द्विगुणहानेः षोडशात्मकत्वात्)

एवं यावदूर्ध्वं सकलां प्रथमद्विगुणहानिं गत्वा द्विगुणहानित्रयप्रमाणो भागहारो भवतीति प्रागेवाऽभिहितम्, प्रथमद्विगुणहानिसत्कप्रथमवर्गणाकर्मप्रदेशतो द्वितीयद्विगुणहानिसत्कप्रथमवर्गणा-कर्मप्रदेशानामर्धत्वोपलम्भात् । एवं प्रागुक्तविधानेन सर्वगणितं ज्ञात्वा नेतव्यं यावद् जघन्यानु-भागबन्धस्थानस्य चरमवर्गणेति । तदेवमपहारप्ररूपणा विस्तरतः कृता ।

अथ **भागहारप्ररूपणा** क्रियते–प्रथमवर्गणागतद्रव्यं सर्ववर्गणागतद्रव्याणां कतिथे भागे वर्तते ? अनन्ततमे भागे, को भागहारः ? सार्धद्विगुणहानि($१\frac{१}{२}$)वर्गणाराशिप्रमितः, प्रथम-वर्गणाप्रमाणेन सर्वद्रव्ये क्रियमाणे सार्धद्विगुणहानिमात्रप्रथमनिषेकाणामुपलम्भात् । एवं सर्वा भाग-हारप्ररूपणा अपहारप्ररूपणावदभिधातव्या, यतो हि प्रथमादिवर्गणाप्रमाणेन यावता कालेनाऽपहारो विद्यते, तावानत्र भागहारो भवति । गता भागहारप्ररूपणा ।

साम्प्रतमल्पबहुत्वप्ररूपणा क्रियते–सर्वस्तोका उत्कृष्टायां वर्गणायां कर्मप्रदेशाः, असत्कल्पनया तु सप्तदश (१७) । ततोऽनन्तगुणा जघन्यायां वर्गणायां कर्मप्रदेशाः २५६, अनन्तवारं द्विगुणवृद्धिदर्शनात् । अजघन्याऽनुत्कृष्टासु वर्गणासु कर्मप्रदेशा अनन्तगुणाः ५६०७=५८८०–(२५६+१७) को गुणकारः ? किञ्चिन्न्यूनसार्ध($१\frac{१}{२}$)द्विगुणहानिमितः । अप्रथमासु वर्गणासु कर्मप्रदेशा विशेषाधिकाः, ५६२४=५८८०–२५६ । कियन्मात्रो विशेषः ? उत्कृष्टवर्गणामात्रः । अनुत्कृष्टासु वर्गणासु कर्मप्रदेशा विशेषाधिकाः ५८६३=(५८८०-१७),

कियन्मात्रो विशेषः ? उत्कृष्टवर्गणाकर्मप्रदेशैन्यूनप्रथमवर्गणाकर्मप्रदेशमात्रः । सर्वासु वर्गणासु कर्मप्रदेशा विशेषाधिकाः ५८८०, कियन्मात्रो विशेषः ? उत्कृष्टवर्गणाकर्मप्रदेशमात्र इति ॥७६४॥

कृता स्थानप्ररूपणा । अथ **कण्डकप्ररूपणार्थमाह—**

एत्तो अंतरतुल्लं अंतरमणंतभागुत्तरं बिइयमेवं ।
अंगुलअसंखभागो अणंतभागुत्तरं कंडं ॥७६५ ॥
एक्कं असंखभागेणणंतभागुत्तरं पुणो कंडं ।
एवं असंखभागुत्तराणि जा पुव्वतुल्लाइं ॥७६६ ॥
एक्कं संखेज्जुत्तरमेत्तोतीयाणतिच्छिया बिइयं ।
ताणि वि पढमसमाइं सखेज्जगुणोत्तरं एक्कं ॥७६७॥
एत्तोतीयाणि अइच्छिआण बितियमवि ताणि पढमस्स ।
तुल्लाणऽसंखगुणियं एक्कं तीयाणइक्कम्म ॥७६८ ॥
बितियं ताणि समाइं पढमम्माणंतगुणियमेगं तो ।
तीयाणऽतिच्छियाणं ताणि वि पढमस्स तुल्लाणि ॥७६९ ॥
सव्वजियाणमसंखिज्जलोगसंखिज्जगस्स जेट्ठस्स ।
भागो तिसु गुणणा तिसु छट्ठाणमसंखिया लोगा ॥७७० ॥

अत्र गाथाषट्कस्य **कर्मप्रकृतिचूर्णिः—**

'**अंतर**' त्ति–पढमस्स अज्झवसाणट्ठाणस्स अंतिमफड्डगस्स अंतिमवग्गणाते अविभागपलिच्छेदेहिंतो बितितस्स अणुभागज्झवसाणट्ठाणस्स पढमस्स फड्डगस्स पढमाए वग्गणाते रसअविभागपलिच्छेदेहिं एक्केण रसअविभागपलिच्छेदेण अहिगा ण होंति, दोहिं ण होंति, एवं जाव असंखेज्जेहिं ण होंति, सव्वजीवेहिं अणंतगुणेण रसअविभागपलिच्छेदरासिणा अब्भहिगा बितियस्स अज्झवसाणट्ठाणस्स पढमा वग्गणा । सेसं पढमज्झवसाणं ट्ठाणं सरिसं । एवं सेसाणि वि अज्झवसाणठाणाणि नेयव्वाणि । सव्वेसिं अंतराणि सरिसाणि । पढमज्झवसाणट्ठाणाओ बितियज्झवसाणट्ठाणं अणंतभागब्भहियं । एवं '**अंगुलअसंखभागो अणंतभागोत्तरं कंडगं**' ति एवं अंगुलमेत्ताए सेढीए असंखेज्जतिभागमेत्ताणि अज्झवसाणट्ठाणाणि अणंतभागब्भहिगाणि होऊण कंडगं होंति । एवं एक्कं कंडगं । इति [कर्मप्रकृतिगाथाङ्कः ३२]

ततो एक्कं असंखेज्जतिभागवड्ढिट्ठाणं उट्ठेति । '**अणंतभागुत्तरं पुणो कंडं**' ति–ततो पुणो अणंतभागब्भहिअं बितिअं अज्झवसाणट्ठाणं ति । एवं अणंतभागब्भहिआणि अंगुलस्स असंखेज्जतिभागमेत्ताणि गताणि । ततो पुणो एक्कं असंखेज्जतिभागब्भहितं ट्ठाणं उट्ठेति । पुणो अणंतभागब्भहिगाणि अज्झवसाणट्ठाणाणि अंगुलस्स असंखेज्जतिभागमेत्ताणि । पुणो एक्कं असंखेज्जतिभागं अज्झवसाणट्ठाणं । एवं णेयव्वं जाव जाणि अणंतरं उट्ठेति असंखेज्जतिभागब्भहिगट्ठाणाणि, ताणि अंगुलस्स असंखेज्जतिभागमेत्ताणि उट्ठिताणि '**जा पुव्वतुल्लाणि**' जाव पुव्वकंडगतुल्लाणि । इति [कर्मप्रकृतिगाथाङ्कः ३३]

ततो असंखेज्जभागुत्तरातो पुणो एक्कं अणंतभागुत्तरं कंडगं गंतूणं एक्कं संखेज्जतिभागुत्तरं ठाणं उट्ठेति। 'एतोऽतीयाणऽतिच्छियाबितितं' ति–पुणो मूलतो आढवेत्त जत्तियाणि अज्झवसाणट्ठाणाणि गताणि तत्तिताणि भण्णाणि अज्झवसाणट्ठाणाणि गंतूण बितियं संखेज्जभागुत्तरं ट्ठाणं उट्ठेति। पुणो ततियाणि चेव अज्झवसाणट्ठाणाणि गंतूण ततितं संखेज्जभागुत्तर अज्झवसाणं ट्ठाणं उट्ठेति। एवं अंतरंतरे जाणि सखेज्जभागुत्तराणि अज्झवसाणट्ठाणाणि 'ताणि वि पढमसमाइं' ति–ताणि वि मूळिल्लकंडगतुल्लाणि जाव पुण्णाणि। ताहे 'संखेज्जगुणोत्तरं एक्कं' ति–संखेज्जभागुत्तरं कंडगं-गंतूणं णा संखेज्जभागुत्तराइं उट्ठेतित्ति ? ण उट्ठेइ, तम्मि ट्ठाणे एक्कं संखेज्जगुणुत्तरं ठाण उट्ठेति ॥ इति [कर्मप्रकृतिगाथाङ्कः ३४]

ततो सखेज्जगुणुत्तरातो अज्झवसाणट्ठाणातो तीताणि अज्झवसाणट्ठाणाणि गंतूणं बितितं संखेज्जगुणुत्तरं अज्झवसाणट्ठाणं उट्ठेति। 'ताणि पढमस्स तुल्लाणि' त्ति–ताणि संखेज्जगुणुत्तराणि अज्झवसाणट्ठाणाणि अंतरंतरे उट्ठिताणि ताणि मूळिल्लअणंतभागुत्तरवड्ढिट्ठाणेहिं तुल्लाणि। 'असखिज्जगुणियं एक्क' ति–सखेज्जगुणुत्तराणं अज्झवसाणट्ठाणाणं कंडगं गंतूणं पुणो सखेज्जगुणुत्तरं ठाणं उट्ठेतित्ति ? ण उट्ठेति, तंमि ट्ठाणे असंखेज्जगुणुत्तरं एक्कं ठाणं उट्ठेति। 'तीयाणतिकम्म'–हिट्ठिल्लाणि सव्वट्ठाणाणि अतिच्छिऊण पुणो बीयं असंखेज्जगुणुत्तरं अज्झवसाणट्ठाणं उट्ठेति। 'ताणि समाणि पढमस्स' त्ति–ताणि असंखेज्जगुणब्भहियट्ठाणाणि अंतरंतरे उट्ठिताणि पढमस्स अणंतभागवड्ढिकंडगस्स तुल्लाणि। 'अणंतगुणियमेगं तो' ति–असंखेज्जगुणब्भहियाणं अज्झवसाणट्ठाणाणं कंडगं गंतूण पुणो असंखेज्जगुणब्भहितं ट्ठाणं उट्ठेति त्ति ? ण उट्ठविज्जति, तंमि ट्ठाणे एक्कं अणंतगुणब्भहितं ट्ठाणं उट्ठेति त्ति। 'तीताणतिच्छिताण' ति–सव्वाणि तीताणि ट्ठाणाणि अतिच्छिऊण बितितं अणंतगुणवड्ढिट्ठाणं उट्ठेति। पुणो तत्तिताणि चेव अज्झवसाणट्ठाणाणि अतिच्छिऊण तइयं अणंतगुणवड्ढिट्ठाणं उट्ठेति। 'ताणि वि पढमस्स तुल्लाणि' त्ति–ताणि वि अंतरंतरे उट्ठिताणि अणंतगुणवड्ढिट्ठाणाणि मूलिल्लअणंतभागवड्ढिकंडगतुल्लाणि। ततो अंतिमातो अणंतगुणवड्ढिट्ठाणातो मूळिल्लातिपचवि वड्ढिट्ठाणाइं गंतूणं अणंतगुणवड्ढिट्ठाणं उट्ठेति त्ति ? न उट्ठियं। एतं पढमं छट्ठाणगं। एतंमि छट्ठाणगे कंडगाणि अत्थि–अणंतभागवड्ढिकंडगं असंखिज्जभागवड्ढिकंडगं, संखिज्जभागवड्ढिकंडगं, संखिज्जगुणवड्ढिकंडगं, असंखेज्जगुणवड्ढिकंडगं, अणंतगुणवड्ढिकंडगं ॥ इति [कर्मप्रकृतिगाथाङ्कः ३५–३६]

एतम्मि छट्ठाणगे एताणि छवड्ढिट्ठाणाणि काए परिवड्ढीए वड्ढतित्ति छट्ठाणवड्ढिपरूवणा भण्णति-

'सव्वजियाणमसंखेज्जलोगसंखेज्जगस्स जेट्ठस्स भागो तिसु गुणणा तिसु' त्ति–सव्वजीवेहिं, असंखेज्जलोगेहिं, उक्कस्ससंखेज्जगेण य भागो भागवड्ढीतेहिं भागवड्ढी गुणिए चेव गुणवड्ढी भवति। किं भणियं होति ? भण्णइ–पढमस्स अज्झवसाणट्ठाणस्स सव्वजीवेहिं भागो हीरति तंमि भागे हिते जं भागलद्धं सो अणंतभागो भण्णति, तेण अब्भहित बितितं अज्झवसाणट्ठाणं। बितियस्स वि सव्वजीवेहिं भागो, जं भागलद्धं तेणब्भहियं बितियातो ततियं अज्झवसाणट्ठाणं एवं सव्वजीवेहिं भागहारलद्धेण अणंतरातो अणतरं अज्झवसाणट्ठाणं वड्ढति अणंतभागवड्ढीते। असंखेज्जभागपरिवड्ढीए का परिवड्ढी ? भण्णइ–असखेज्जाणं लोगाणं जावतिया आगासपएसा तेहिं भागो पढमस्स कंडगस्स चरिमस्स अणंतभागवड्ढिठाणस्स जं भागलद्धं सो असंखेज्जतिभागो वुच्चति, तेण अब्भहितं पढमकण्डगस्स चरिमट्ठाणस्स उवरिमं ठाण तं पढमं असंखेज्जभागवड्ढिट्ठाणं। एवं सेसाण वि असखेज्जभागवड्ढिट्ठाणाणं वड्ढी भाणियव्वा। सखेज्जभागवड्ढिट्ठाणस्स का परिवड्ढि ? भण्णति-जहन्नगेणं असखेज्जगेण रूवोणेण भागो हीरइ, संखेज्जभागवड्ढिट्ठाणस्स अणंतरस्स हिट्ठिमस्स अज्झवसाणट्ठाणस्स जं भागलद्धं सो सखेज्जइभागो वुच्चइ, तेण अहियं अज्झवसाणट्ठाणस्स उवरि अज्झवसाणट्ठाणं। एवं सेसाण वि संखेज्जभागवड्ढिट्ठाणाणं वड्ढी भाणियव्वा। एवं संखेज्जगुणवड्ढिट्ठाणस्स वि, णवरि तं चेव उक्कोससंखेज्जगं गुणगारो, एवं

असंखेज्जगुणवड्ढिट्ठाणस्स वि, णवरि असंखेज्जलोगा गुणगारो । एवं अणंतगुणवड्ढीट्ठाणस्स वि, णवरि सव्वजीवा गुणगारो । पढमस्स छट्ठाणगस्स परिसंमतीते जं उवरिं अणंतरट्ठाणं भवति तं बितियस्स छट्ठाणगस्स आतिट्ठाणं भवति । एयस्स वि पुव्वक्कमेण णिप्पत्ती परिवड्ढी य भाणियव्वा । एवं सेसाण वि छट्ठाणाण णिप्पत्ती परिवड्ढी य भाणियव्वा । एवं एयाए परिवड्ढिएण णिप्फण्णाणं छट्ठाणाण किं पमाणं ? भण्णइ–'छट्ठाण' असंखेज्जलोगागासपदेसमेत्ताणि ठाणाणि सव्वाणि । इदाणि तेसिं चेव छण्हं ठाणाणं हेट्ठट्ठाणस्स परूवणा भण्णइ-पढमस्स असंखेज्जभागवड्ढिट्ठाणस्स हेट्ठतो केवइताणि अणंतभागवड्ढिठाणाणि ? भण्णइ–कंडगमेत्ताणि । पढमस्स संखेज्जतिभागवड्ढिट्ठाणस्स हेट्ठतो केवतिताणि असंखेज्जतिभागवड्ढीट्ठाणाणि ? भण्णइ–कंडगमेत्ताणि एवं संखेज्जगुणवड्ढिट्ठाणहेट्ठा संखेज्जभागवड्ढिट्ठाणाणि कंडगमेत्ताणि । असंखेज्जगुणवड्ढिहेट्ठा संखेज्जगुणवड्ढिट्ठाणाणि कंडगमेत्ताणि । अणंतगुणवड्ढिट्ठाणस्स हेट्ठा असंखिज्जगुणवड्ढिट्ठाणाणि कंडगमेत्ताणि [एव अंतरेवि]

इयाणिं एगतरं भण्णइ–पढमस्स संखिज्जइभागवड्ढिट्ठाणस्स हेट्ठओ केवतिताणि अणंतभागवड्ढिट्ठाणाणि ? भण्णइ–कंडगवग्गो कंडगं च । एवं संखेज्जतिगुणवड्ढि॰ असंखेज्जभागवड्ढिट्ठाणाण कंडगवग्गो कंडगं च । असंखेज्जगुणवड्ढि॰ संखेज्जभागवड्ढिट्ठाणाणं कंडगवग्गो कंडगं च । पढमस्स अणंतगुणवड्ढिट्ठाणस्स हेट्ठतो संखेज्जगुणवड्ढिट्ठाणाणं कंडगवग्गो कंडगं च ।

इयाणिं बितियंतरं–पढमस्स संखेज्जगुणवड्ढिट्ठाणस्स हेट्ठतो केवतियाणि अणंतभागवड्ढिट्ठाणाणि ? भण्णइ–कंडगघणो दो कंडगवग्गा कंडगं च । पढमस्स असंखेज्जगुणवड्ढिहेट्ठा केवतियाणि असंखभागवड्ढिट्ठाणाणि ? भण्णइ–कंडगघणो दो कंडगवग्गा कंडगं च । अणंतगुणवड्ढिहेट्ठा केवतिताणि संखेज्जभागवड्ढिट्ठाणाणि ? भण्णइ–कंडगघणो, दो कंडगवग्गा कंडगं च ।

इयाणिं तितंतरं–पढमस्स असंखेज्जगुणवड्ढिट्ठाणस्स हेट्ठा केवतिताणि अणंतभागवड्ढिठाणाणि ? भण्णइ–कंडगवग्गवग्गो तिण्णि कंडगघणा तिण्णि कंडगवग्गा कंडगं च । पढमअणंतगुणवड्ढिट्ठाणस्स हेट्ठा केवतिताणि असंखभागवड्ढिट्ठाणाणि ? भण्णइ–कंडगवग्गवग्गो तिण्णि कंडगघणा तिण्णि कंडगवग्गा कंडगं च ।

इयाणिं चतुरंतरं भण्णइ–पढमस्स अणंतगुणस्स वड्ढिट्ठाणस्स हेट्ठतो केवतिताणि अणंतभागवड्ढिट्ठाणाणि ? भण्णइ–कंडगपंचगतं कंडगपंचकस्य परस्पराभ्यासः चत्तारि कंडगवग्गवग्गा (१०२४) छ घणा (३८४) चत्तारि कंडगवग्गा (६४) कंडगं (४) च एवं सेसाण वि ठाणाणं भाणियव्वं ।

एतस्स कारणं भण्णति–पुव्वुत्तरासि पडिरासिऊण हेट्ठिल्लरासि (१०२४) कंडगेण चत्तारि घेत्तुं रासिं वड्ढाविज्जति कंडगं ति काउ । अस्यायमर्थ–एकान्तरचिन्तायां पूर्वोक्ताऽनन्तभागवृद्धिस्थानकराशिर्निरन्तरतया प्रवृत्तः कण्डकमात्रं वर्तते । ततस्तं पूर्वोक्तं राशिं प्रतिराश्य द्वितीये स्थाने धृत्वा पञ्चहिं वा गुणे इति हेट्ठट्ठाणे परूवणया भणिया ॥ इति [कर्मप्रकृतिगाथाङ्कः ३७]

(प्रे०) तद्व्याख्या क्रियते–'एत्तो' इत्यादि, इतः प्रथमस्थानादारभ्य द्वितीयस्थानादर्वाक् अन्तरमन्तरतुल्यं प्रागुक्तप्रमाणान्तरतुल्यं द्रष्टव्यम् । इदमुक्तं भवति–यथा प्रथमस्पर्धकचरमवर्गणाया द्वितीयस्पर्धकादिवर्गणायाश्चान्तरं सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणं समुद्दिष्टमेवमिहापि प्रथमस्थानाऽन्तिमस्पर्धकचरमवर्गणाया द्वितीयस्थानाद्यस्पर्धकप्रथमवर्गणायाश्चान्तरं सर्वजीवेभ्यो-ऽनन्तगुणमवगन्तव्यम् । तच्च द्वितीयस्थानं स्पर्धकाऽपेक्षयाऽनन्तभागोत्तरम्–अनन्तभागवृद्धमिति । यावन्ति प्रथमे स्थाने स्पर्धकानि तावद्भ्योऽनन्तभागाधिकानि द्वितीये स्थाने स्पर्धकान्यवसेयानीत्यर्थः ।

एवं यथोत्तरमनन्तभागवृद्धान्युपदर्शितप्रकारेण स्थानानि तावद् वाच्यानि यावदङ्गुलाऽसंख्येयभागगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति। एतेषां च समुदाय एकं कण्डकम्। **'अणंतभागुत्तरं'** इति–'अनन्तभागोत्तरं' अनन्तभागोत्तरस्थानसमुदायरूपत्वात् कण्डकमप्यनन्तभागोत्तरमुक्तम्। एषा कण्डकप्ररूपणा।

सम्प्रति **षट्स्थानप्ररूपणा** क्रियते–तस्मात् प्रथमात् कण्डकात् परं यदन्यदनुभागबन्धस्थानं भवति तत्स्पर्धकापेक्षयाऽसंख्येयभागाधिकम्। तस्मात् पराणि तु कण्डकमात्राणि स्थानानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि। ततः परं पुनरप्येकमन्यदनुभागबन्धस्थानमसंख्येयभागाधिकम्। ततः पुनरपि कण्डकमात्राणि स्थानानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि ततो भूयोऽप्येकमसंख्येयभागाधिकं स्थानम्। एवमनन्तभागाधिकैः कण्डकप्रमाणैः स्थानैर्व्यवहितान्यसंख्येयभागाधिकानि स्थानानि तावद् वक्तव्यानि यावत्तान्यपि कण्डकमात्राणि भवन्ति। कण्डकं च समयपरिभाषयाऽङ्गुलमात्रक्षेत्राऽसंख्येयभागगताकाशप्रदेशराशिसंख्याप्रमाणमभिधीयते। ततश्चरमादसंख्येयभागाधिकात् स्थानात् पराणि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि कण्डकमात्राणि स्थानानि वाच्यानि। ततः संख्येयभागाधिकमेकं स्थानं वक्तव्यम्। ततो मूलादारभ्य यावन्ति स्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति पुनरपि तथैवाभिधाय पुनरप्येकं संख्येयभागाधिकं स्थानं वक्तव्यम्। अमूनि चैवं संख्येयभागाधिकानि स्थानानि तावद् वक्तव्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति। तत उक्तक्रमेण भूयोऽपि संख्येयभागाधिकस्थानप्रसङ्गे संख्येयगुणाधिकमेकं स्थानं वक्तव्यम्। ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्त्यनुभागबन्धस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति तथैव वाच्यानि। ततः पुनरप्येकं संख्येयगुणाधिकं स्थानं वक्तव्यम्। ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य यावन्ति स्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्त्यनुभागबन्धस्थानानि तथैव वक्तव्यानि। ततः पुनरप्येकं संख्येयगुणाधिकं स्थानं वक्तव्यम्। अमून्यप्येवं संख्येयगुणाधिकानि स्थानानि तावद् वक्तव्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति। ततः पूर्वपरिपाट्या पुनः संख्येयगुणाधिकस्थानप्रसङ्गेऽसंख्येयगुणाधिकं स्थानं वक्तव्यम्। ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्त्यनुभागबन्धस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति तथैव पुनरपि वाच्यानि। ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणाधिकं स्थानं वक्तव्यम्।

ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्त्यनुभागबन्धस्थानानि वक्तव्यानि। ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणाधिकं स्थानं वक्तव्यम्। अमूनि चैवमसंख्येयगुणाधिकानि स्थानानि तावद् वाच्यानि यावत् कण्डकमात्राणि भवन्ति। ततः पूर्वपरिपाट्या पुनरप्यसंख्येयगुणाधिकस्थानप्रसङ्गेऽनन्तगुणाधिकं स्थानं वक्तव्यम्। ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्त्यनुभागबन्धस्थानानि प्रागभिहितानि तावन्ति पुनरपि तथैव वाच्यानि। ततो भूयोऽप्येकमनन्तगुणाधिकं स्थानं वक्तव्यम्। ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति स्थानानि तथैव वक्तव्यानि। ततः पुनरप्येकमनन्तगुणाधिकं स्थानं

वक्तव्यम् । एवमनन्तगुणाधिकानि स्थानानि तावद् वक्तव्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति । ततः पूर्वपरिपाट्या पञ्चवृद्ध्यनन्तरं पुनरप्यनन्तगुणाधिकं स्थानमुत्पद्यते किं वा न ? इति चेत्, उच्यते–नोत्पद्यते, षट्स्थानकस्य परिसमाप्तत्वात् । एतत्प्रथमं षट्स्थानकम् ।

अस्मिंश्च षट्स्थानकेऽनन्तभागवृद्धिः, असंख्येयभागवृद्धिः, संख्येयभागवृद्धिः, संख्येयगुणवृद्धिः, असंख्येयगुणवृद्धिः, अनन्तगुणवृद्धिश्चोक्ता । तत्र कियन्मात्रेणानन्तासंख्येयसंख्येयतमेन भागेन कियन्मात्रेण वाऽनन्तासंख्येयसंख्येयगुणकारेण वृद्धिर्भवतीति तत्परिज्ञानार्थमाह–'सव्वे' इति । आद्यासु त्रिसृषु वृद्धिष्वनन्तासंख्येयसंख्येयानां भागो यथाक्रमं सर्वजीवानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशानामुत्कृष्टस्य च संख्येयस्य द्रष्टव्यः । उत्तरासु च तिसृषु वृद्धिषु गुणना–गुणकारो यथाक्रममनन्ताऽसंख्येयसंख्येयानां सर्वजीवानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशानामुत्कृष्टस्य संख्येयकस्य च द्रष्टव्यः ।

इदमुक्तं भवति–प्रथमरसानुभागबन्धस्थानस्य सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यल्लभ्यते स इहानन्तभागो ग्राह्यः, तेनाधिकं द्वितीयमनुभागबन्धस्थानं, तस्यापि सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते यल्लभ्यते तेनाधिकं तृतीयमनुभागबन्धस्थानम् । एवं यद्यदनुभागबन्धस्थानं यतो यतोऽनन्तभागवृद्धमुपलभ्यते, ततस्तस्य तस्य सर्वजीवप्रमाणराशिना भागलभ्येनानन्ततमेनांशेनाधिकं द्रष्टव्यम् । तथाऽसंख्येयभागाधिकं नाम पाश्चात्यस्यानुभागबन्धस्थानस्याऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणेन राशिना भागे हृते यल्लभ्यते सोऽसंख्येयतमो भागः, तेनाधिकम् । तथा संख्येयभागाधिकं नाम पाश्चात्यानुभागबन्धस्योत्कृष्टेन संख्येयेन भागे हृते सति यल्लभ्यते स संख्येयतमो भागः, तेनाधिकम् । तथा संख्येयगुणवृद्धं नाम पाश्चात्येऽनुभागबन्धस्थाने उत्कृष्टसंख्येयकप्रमाणेन राशिना गुणिते यावद्राशिनिष्पत्तिस्तावत्प्रमाणम् । तथाऽसंख्येयगुणवृद्धं नाम पाश्चात्येऽनुभागबन्धस्थानेऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणेन राशिना गुणिते यावान् राशिर्भवति तावत्प्रमाणम् । तथाऽनन्तगुणवृद्धं नाम पाश्चात्येऽनुभागबन्धस्थाने सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना गुणिते यावान् राशिर्भवति तावत्प्रमाणम् । प्रथमस्य षट्स्थानकस्य परिसमाप्तौ यदन्यदनुभागस्थानमुपजायतेऽनन्तभागवृद्धं तद्द्वितीयस्य षट्स्थानकस्य प्रथमम् । ततः पूर्वोक्तक्रमेण संपूर्णं द्वितीयं षट्स्थानकं वक्तव्यम् । एवमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि षट्स्थानकानि भवन्ति । तथा चाह "छट्ठाणमसंखया लोगा" ॥

तदेवमुक्ता षट्स्थानकप्ररूपणा । अथाऽधस्तनस्थानप्ररूपणा क्रियते–तत्र पञ्च मार्गणा आनन्तर्येणैकाद्यन्तरिता च । तत्र प्रथमादसंख्येयभागवृद्धस्थानादधः कियन्त्यनुभागबन्धस्थानान्यनन्तभागवृद्धानि ? उच्यते–कण्डकमात्राण्येव । प्रथमात्संख्येयभागवृद्धस्थानादधोऽसंख्येयभागवृद्धान्यपि तावन्त्येव । प्रथमात्संख्येयगुणवृद्धस्थानादधः संख्येयभागवृद्धान्यपि तावन्त्येव । प्रथमादसंख्येयगुणवृद्धस्थानादधः संख्येयगुणवृद्धान्यपि तावन्त्येव । तथा प्रथमादनन्तगुणवृद्धा-

त्स्थानादधो-ऽसंख्येयगुणवृद्धान्यपि तावन्त्येवेत्यवसेयम् । एषोत्तरोत्तरस्थानादधोऽध आनन्तर्येण मार्गणा । तदुक्तम्–"सव्वासिं वुड्ढीणं कंडकमेत्ता अणंतरा वड्ढी"।

तथा प्रथमात्संख्येयभागवृद्धात्स्थानादधः कियन्त्यनन्तभागवृद्धानि स्थानानि ? उच्यते–कण्डकवर्गः कण्डकं च ($क^2+क$) । एवं प्रथमात्संख्येयगुणवृद्धात्स्थानादधोऽसंख्येयभागवृद्धानि स्थानानि तावन्त्येव । तथा प्रथमादसंख्येयगुणवृद्धात्स्थानादधः संख्येयभागवृद्धानि स्थानानि तावन्त्येव । तथा प्रथमादनन्तगुणवृद्धात्स्थानादधः संख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि तावन्त्येव । उक्तं च "एगन्तरा वुड्ढी वग्गो कण्डस्स कंडं च" । एषा एकान्तरिता मार्गणा ।

विवक्षितप्रथमस्थानादनन्तराधस्तनस्थानानां कण्डकमात्राणां प्रत्येकमधस्तादधस्तनस्थानानि कण्डकमात्राणि प्राप्यन्ते इति कण्डकं कण्डकगुणितं कण्डकवर्गो भवति, उपरि चैकं कण्डकमित्येकान्तरितमार्गणायां कण्डकवर्गः कण्डकं चेत्यस्य भावना ।

प्रथमात्संख्येयगुणवृद्धात् स्थानादधः कियन्त्यनन्तभागवृद्धानि स्थानानि ? उच्यते–कण्डकघनो द्वौ कण्डकवर्गौ कण्डकं च ($क^3+2क^2+क$) । एवं प्रथमादसंख्येयगुणवृद्धादधोऽसंख्येयभागवृद्धानि स्थानानि तावन्त्येव, प्रथमादनन्तगुणवृद्धस्थानादधः संख्येयभागवृद्धस्थानान्यपि तावन्त्येवेत्यवसेयम् । काऽत्र भावना ? इति चेद्, उच्यते–इह प्रथमात् संख्येयगुणवृद्धात्स्थानादध एकैकस्य संख्येयभागवृद्धस्थानस्याधः प्रत्येकमेकैककण्डकाधिकः कण्डकवर्गोऽनन्तभागवृद्धानां स्थानानां प्राप्यते । संख्येयभागवृद्धानि च स्थानानि कण्डकमात्राणि ततः कण्डकवर्गः कण्डकेन गुणितः कण्डकघनो भवति । कण्डक च कण्डकगुणितं कण्डकवर्गः अन्त्यसंख्येयभागवृद्धाच्चोपरि कण्डकवर्ग एकं च कण्डकं प्राप्यते । ततो द्वयन्तरितमार्गणायामनन्तभागवृद्धानां कण्डकघनो द्वौ कण्डकवर्गावेकं च कण्डकं ($क^3+2क^2+क$) भवति । एवमग्रेऽप्यूह्यम् । उक्तं च–'कडं कंडस्स घणो वग्गो दुगुणो दुगंतराएओ' । एषा द्वयन्तरितमार्गणा ।

प्रथमादसंख्येयगुणवृद्धात्स्थानादधः कियन्त्यनन्तभागवृद्धानि स्थानानि ? उच्यते–कण्डकवर्गवर्गस्त्रयः कण्डकघनास्त्रयः कण्डकवर्गा एकं च कण्डकम्– ($क^4+3क^3+3क^2+क$) । एवं प्रथमादनन्तगुणवृद्धात्स्थानादधोऽसंख्येयभागवृद्धानि स्थानान्यप्येतावन्त्येवेत्यवसेयम् । काऽत्र भावना ? इति चेद्, उच्यते–इह प्रथमादसंख्येयगुणवृद्धात्स्थानादध एकैकस्य संख्येयगुणवृद्धस्य स्थानस्याधः प्रत्येकमनन्तभागवृद्धानां स्थानानां कण्डकघनो द्वौ कण्डकवर्गावेकं च कण्डकं प्राप्यते । संख्येयगुणवृद्धानि च स्थानानि कण्डकमात्राणि । ततः कण्डकघनः कण्डकेन गुणितः कण्डकवर्गवर्गो भवति । तथाहि–चतुष्कस्य घनश्चतुःषष्टिप्रमाणः, स चतुष्केण गुण्यते, ततो द्विशती षट्पञ्चाशदधिका भवति, अयं चतुष्कस्य वर्गवर्गः, चतुष्कस्थानीयं चेह कण्डकं द्रष्टव्यमिति । द्वौ कण्डकवर्गौ कण्डकेन गुणितौ द्वौ कण्डकघनौ भवतः, वर्गस्य वर्गमूलेन गुणने घनस्य निष्पत्तेः ।

कण्डकं च कण्डकेन गुणितं कण्डकवर्गः । संख्येयगुणवृद्धस्थानस्योपर्येकः कण्डकघनो द्वौ च कण्डकवर्गावेकं च कण्डकं प्राप्यते । तत्पूर्वराशौ प्रक्षेप्यं, ततस्त्र्यन्तरितमार्गणायामनन्तभाग-वृद्धानां स्थानानां कण्डकवर्गवर्गस्त्रयः कण्डकघनास्त्रयः कण्डकवर्गा एकं च कण्डकं प्राप्यते । एव-मसंख्येयभागवृद्धानामपि भावनीयम् । उक्तं च–"कंडगस्स वग्गवग्गो घणवग्गा तिगुणियाकंड" एषा त्र्यन्तरिता मार्गणा ।

प्रथमादनन्तगुणवृद्धात्स्थानादधः कियन्त्यनन्तभागवृद्धानि स्थानानि ? उच्यते–अष्टौ कण्डकवर्गवर्गाः षट् कण्डकघनाश्चत्वारः कण्डकवर्गा एकं च कण्डकम् । कथम् ? इति चेद्, उच्यते–इह कण्डकमसत्कल्पनया चतुःसङ्ख्यात्मकं कल्प्यते । तत्र प्रथमादनन्तगुणवृद्धात्स्थानादधः एकैकस्याऽसंख्येयगुणवृद्धस्य स्थानस्याधः प्रत्येकमनन्तभागवृद्धानां स्थानानामेकः कण्डक-वर्गवर्गः त्रयः कण्डकघनाः त्रयः कण्डकवर्गा एकं च कण्डकं प्राप्यते । असंख्येयगुणवृद्धानि च स्थानानि कण्डकमात्राणि, ततः कण्डकवर्गवर्गाः असंख्येयाः कण्डकमात्राः प्राप्यन्ते तथापि कण्डक-मिह चतुःसङ्ख्यात्मकं कल्पितमिति चत्वारः कण्डकवर्गवर्गा लब्धाः, त्रयश्च कण्डकघनाः चतुः-सङ्ख्यात्मकेन कण्डकेन गुणिता जाता द्वादश, कण्डकघनश्चतुष्केण गुणितः कण्डकवर्गवर्गो भवति, ततोऽत्र लब्धास्त्रयः कण्डकवर्गवर्गाः, सर्वसंख्यया जाताः सप्त कण्डकवर्गवर्गाः कण्डकवर्गाश्च त्रयः चतुःसङ्ख्यात्मकेन कण्डकेन गुणिता जाता द्वादश । कण्डकवर्गश्च कण्डकेन गुणितः कण्डकघनो भवति यथा चतुष्कवर्गः षोडशात्मा चतुष्केण गुणितश्चतुःषष्ट्यात्मकश्चतुष्कघनः ततो लब्धा-स्त्रयः कण्डकघनाः कण्डकं च कण्डकेन गुणितं कण्डकवर्ग एकः । असङ्ख्येयगुणवृद्धस्थान-कण्डकाच्चोपरि एकः कण्डकवर्गवर्गः त्रयः कण्डकघनास्त्रयः कण्डकवर्गा एकं च कण्डकं प्राप्यते । तच्च पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते, तत उक्तप्रमाणं संपद्यते उक्तं च–"अड कंडकवग्गवग्गा वग्गा चत्तारि छग्घण कंडं चउअंतरवुड्ढीए हेट्ठट्ठाणःनरूवणया" एतच्चाऽसत्कल्पनयोक्तं, वस्तुगत्या तु चतुरुत्तरकण्डकमिताः कण्डकवर्गवर्गाः षट् कण्डकघनाश्चत्वारः कण्डकवर्गा एकं च कण्डकं $\{(क+४)(क)^{४}+६क^{३}+४क^{२}+क = क^{५}+४क^{४}+६क^{३}+४क^{२}+क\}$ भवति । उक्ता चतुरन्तरमार्गणा । तदेवं कृता पञ्चभिर्मार्गणा-भिरधस्तनस्थानप्ररूपणा ।

अथैकस्मिन् षट्स्थानेऽनन्तगुणवृद्धासंख्येयगुणवृद्धसंख्यातगुणवृद्धसंख्यातभागवृद्धासंख्या-तभागवृद्धानन्तभागवृद्धस्थानानि कति विद्यन्ते ? इति चेत्, उच्यते–इह प्रत्येकं षट्स्थान-केऽनन्तगुणवृद्धस्थानानि कण्डकमात्राणि विद्यन्ते । प्रत्येकमनन्तगुणवृद्धस्थानस्याऽधस्तादसं-ख्येयगुणवृद्धस्थानानि कण्डकमात्राणि सन्ति, इति कण्डकं कण्डकेन गुणितं कण्डकवर्गो भवति अन्त्याऽनन्तगुणवृद्धाच्चोपरि संख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि कण्डकमात्राणि सन्ति, ततः कण्डकवर्गः कण्डकं च प्रमाणमसंख्येयगुणवृद्धस्थानानां भवति । अत एवाऽसंख्येयगुण-वृद्धादिस्थानानां सर्वसंख्याऽऽनयनार्थं करणमित्थम्–असंख्येयगुणवृद्धादिस्थानमध्ये यद्वृद्ध-

स्थानानां प्रमाणमिष्यते, तद्वृद्धस्थानत उपरितनवृद्धस्थानराशौ रूपाधिककण्डकेन $(क+१)$ गुणिते यावद्राशिः प्राप्यते तावत्प्रमाणं तत्तद्वृद्धानामधोऽधस्तनस्थानानां भवति, एवं च सति अनन्तगुणवृद्धस्थानराशौ एकाधिककण्डकेन गुणिते कण्डकवर्गः कण्डकं च $\{क\,(क+१)=क^{२}+क\}$ असंख्येयगुणवृद्धस्थानानां भवति । तथाऽसंख्येयगुणवृद्धस्थानराशौ रूपाधिककण्डकेन गुणिते कण्डकघनो द्वौ कण्डकवर्गाविकं च कण्डकं $(क^{२}+क)\,(क+१)=क^{३}२क^{२}+क$ संख्येयगुणवृद्धानां स्थानानां भवति । एवमुक्तप्रकारेण संख्यातभागवृद्धादिस्थानानामपि प्रमाणं परिभावनीयम् ।

न्यासश्चैवम्–

वृद्धस्थानानां नामानि ↓	प्रत्येकं षट्स्थानके परिमाणम् ↓	
अनन्तगुणवृद्धस्थानानि →	कण्डकमात्रम् $= क$	
असंख्यातगुण ,, ,, →	$क\,(क+१) = क^{२}+क$	उत्तरोत्तरम् एकाधिककण्डकेन गुणनात्
संख्यातगुण ,, ,, →	$क\,(क+१)\,(क+१)$ अथवा $(क^{२}+क)\,(क+१) = क^{३}+२क^{२}+क$	
संख्यातभाग ,, ,, →	$क\,(क+१)(क+१)(क+१)$ वा $[(क^{३}+२क^{२}+क)(क+१)] = क^{४}+३क^{३}+३क^{२}+क$	
असंख्यातभाग ,, ,, →	$क\,(क+१)\,(क+१)\,(क+१)\,(क+१)$ वा $(क^{४}+३क^{३}+३क^{२}+क)\,(क+१) = क^{५}+४क^{४}+६क^{३}+४क^{२}+क$	
अनन्तभाग ,, ,, ,, →	$क(क+१)(क+१)(क+१)(क+१)(क+१)$ वा $(क^{५}+४क^{४}+६क^{३}+४क^{२}+क)(क+१) = क^{६}+५क^{५}+१०क^{४}+१०क^{३}+५क^{२}+क$	
सर्वस्थानानि →	$क^{६}+६क^{५}+१५क^{४}+२०क^{३}+१५क^{२}+६क$	

तदेवं संक्षेपतोऽधस्तनस्थानप्ररूपणापर्यन्तद्वारैः स्थाननिरूपणं कृतम् । साम्प्रतं विस्तरेण क्रियते—

विस्तरश्चेत्थम्–(१) ज्ञानावरणादीनां जघन्यस्थानं षट्स्थानवृद्धिक्रमेण च वृद्धानि रसस्थानानि कुतः प्रारभ्यन्त इति प्रथमम्, तथा (२) ज्ञानावरणादिप्रकृतिसत्करसबन्धानामल्पबहुत्वमिति द्वितीयम्, (३) तथा प्रतिरसस्थाने स्पर्धकविन्यासः कीदृशः ? इति तृतीयम्, तथा (४) स्थानान्तराणि कियत्प्रमाणानि, परस्परं तुल्यानि न वेति चतुर्थम्, तथा (५) षट्स्थानकसत्कद्वितीयादिरसस्थानानां निरूपणमिति पञ्चमम्, तथा (६) सत्तास्थानानि, तेषां च बन्धस्थानतः कुतः पृथग्निरूपणम्, तथा तन्निष्पन्नविधिरित्यादिभिः विविधद्वारैः विस्तरो मतान्तरपूर्वकं क्रियते—

तत्रादौ तावद् ज्ञानावरणादीनां जघन्यस्थानं षट्स्थानकवृद्धिक्रमेण च वृद्धानि स्थानानि निरूप्यन्ते–सूक्ष्मसम्परायस्य चरमसमये क्षपकाणां ज्ञानावरणस्य जघन्यरसबन्धस्थानं प्रथमं भवति, तच्च

स्थानमभव्येभ्योऽनन्तगुणकल्पैः सिद्धानामनन्तभागप्रमितैः स्पर्धकैर्निष्पन्नं भवतीति प्रागुक्तम्, द्वितीयरसस्थानं पुनस्तेषामेव क्षपकाणां सूक्ष्मसम्परायसत्कद्विचरमसमये एव भवति, तच्च प्रथमापेक्षयाऽनन्तगुणेन वृद्धं भवति, न तु षट्स्थानकवृद्धिक्रमेण, कुतः ? उच्यते—तत्तत्समयवर्तिसर्वजीवानां तुल्याऽध्यवसायसद्भावात्, पश्चानुपूर्व्या उत्तरोत्तरमनन्तगुणहीनविशुद्धत्वाच्च । एवं त्रिचरमचतुश्चरमसमयादिषु उत्तरोत्तरमनन्तगुणेन वृद्धानि रसस्थानानि तावद् वाच्यानि, यावदनिवृत्तिकरणप्रथमसमयवर्तिरसस्थानम् । ततः परमपूर्वकरणगुणस्थानके यद्यप्येकजीवाश्रितरसबन्धस्थानानि चरमद्विचरमत्रिचरमादिसमयेषूत्तरोत्तरमनन्तगुणानि, तथाप्यनेकजीवानाश्रित्य प्रतिसमयमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्याऽध्यवसायसद्भावेन षट्स्थानकवृद्धिक्रमेण रसबन्धस्थानानि लभ्यन्ते । एवमुत्तरोत्तरं षट्स्थानकवृद्धिक्रमेण रसस्थानानि तावद् वाच्यानि यावदुत्कृष्टरसस्थानं प्राप्यते ।

सूक्ष्मसम्परायाऽनिवृत्तिकरणगुणस्थानकद्वये आरोहकावरोहकोपशमकानामपि रसबन्धस्थानानि चरमद्विचरमादिसमयेषूत्तरोत्तरमनन्तगुणवृद्धानि द्रष्टव्यानि । तानि सर्वजघन्यरसबन्धस्थानतो यथास्थानं वेदितव्यानि । अपूर्वकरणगुणस्थानतः प्रारभ्य ज्ञानावरणस्य रसः षट्स्थानकक्रमेण वर्धते इति प्रागेव प्रतिपादितम्, अथ प्रसङ्गवशादेतद्गुणस्थानादारभ्योत्कृष्टरसबन्धस्थानपर्यन्तं ज्ञानावरणकर्मणो रसबन्धस्याऽल्पबहुत्वं संज्ञ्यादिजीवभेदानवलम्ब्य संज्ञिषु पुनरपूर्वकरणादिगुणस्थानवर्तिजीवानाश्रित्य प्रदर्श्यते—

तद्यथा—क्षपकस्यापूर्वकरणगुणस्थानकचरमसमयवर्ती ज्ञानावरणजघन्यरसबन्धः स्तोकः । ततस्तत्समयवर्त्युत्कृष्टरसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः । ततस्तस्य द्विचरमसमयवर्ती जघन्यरसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः । ततस्तत्समयवर्त्युत्कृष्टरसबन्धोऽनन्तगुणाभ्यधिकः । एवमुत्तरोत्तरमनन्तगुणाधिकस्तावद्वक्तव्यो यावदपूर्वकरणस्य प्रथमसमयवर्त्युत्कृष्टरसबन्धः । ततोऽनन्तगुणाभ्यधिकः क्षपकस्य यथाप्रवृत्तकरणसत्कचरमसमयवर्तिजघन्यरसबन्धः । ततोऽस्य द्विचरमसमयवर्तिजघन्यरसबन्धोऽनन्तगुणनाधिकः । ततस्त्रिचरमसमयवर्तिजघन्यरसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः । ततश्चतुश्चरमसमयवर्तिजघन्यरसबन्धोऽनन्तगुणाभ्यधिकः । एवं तावदभिधातव्यं यावद् यथाप्रवृत्तकरणसत्कप्रथमसमयवर्तिजघन्यरसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः । ततस्तस्यैवोत्कृष्टरसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः । ततः प्रमत्तसंयतस्य जघन्यरसबन्धोऽनन्तगुणाभ्यधिकः । ततो देशविरतेर्जघन्यरसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः । ततोऽनन्तगुणाधिकोऽविरतसम्यग्दृष्टेर्जघन्यरसबन्धः । ततः सर्वविशुद्धसंयमाभिमुखस्य मिथ्यादृष्टिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य ज्ञानावरणजघन्यरसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः । ततस्तस्यैवोत्कृष्टरसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः । ततः स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धस्य मिथ्यादृष्टिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य रसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः । ततः स्वस्थानजघन्यविशुद्धस्य तस्य रसबन्धोऽनन्तगुणा-

भ्यधिकः । तत उत्कृष्टविशुद्धाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य रसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः । ततो जघन्यविशुद्धाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य रसबन्धोऽनन्तगुणाभ्यधिकः । अत्र स्वस्थानजघन्यविशुद्धिः सा ग्राह्या या तदुत्तरजीवस्थानसत्कोत्कृष्टविशुद्धिसकाशादनन्तगुणेनाधिका भवति, यथा प्रस्तुते संज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टेर्जघन्यविशुद्धिः तदुत्तरभेदवर्त्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टविशुद्धिसकाशादनन्तगुणेनाधिकाऽस्ति । एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम् । तत उत्कृष्टविशुद्धचतुरिन्द्रियस्य रसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः । ततो जघन्यविशुद्धचतुरिन्द्रियस्य रसबन्धोऽनन्तगुणाभ्यधिकः । तत उत्कृष्टविशुद्धत्रीन्द्रियस्य रसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः । ततो जघन्यविशुद्धत्रीन्द्रियस्य रसबन्धोऽनन्तगुणाभ्यधिकः । तत उत्कृष्टविशुद्धद्वीन्द्रियस्य रसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः । ततो जघन्यविशुद्धद्वीन्द्रियस्य रसबन्धोऽनन्तगुणाभ्यधिकः । तत उत्कृष्टविशुद्धबादरैकेन्द्रियस्य रसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः । तत जघन्यविशुद्धबादरैकेन्द्रियस्य रसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः । तत उत्कृष्टविशुद्धसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य रसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः । ततो जघन्यविशुद्धसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य रसबन्धोऽनन्तगुणाभ्यधिकः । इतः पर्यन्तानि सर्वाणि रसस्थानानि केवलबन्धस्थानानि सन्ति, न तु सत्तास्थानानि । कुतः ? उच्यते—श्रेणिवर्तिजीवान् वर्जयित्वा शेषसर्वसंसारस्थजीवानामेतत्सर्वस्थानरसापेक्षया तथास्वाभाव्येन सत्तायामधिकरसो विद्यते इति कृत्वा । कुत एतदवसीयते ? वचनप्रामाण्यात्, तथा च तद्वचनं **कर्मप्रकृतौ संक्रमकरणे** "खवगस्संतरकरणे अकए घाईण सुहुमकम्मुवरिं । .... ।। गाथा ५५।। तथा च तच्चूर्णिः—"खवगस्स अणुभागो जाव अंतरकरणं न कीरति ताव 'घातीणं' ति—सव्वघातिदेसघातीण सुहुमएगिंदियस्स अणुभागसतकम्मातो अणंतगुणितो होइ । अंतरकरणे कते सुहुमस्स अणुभागातो हेट्ठा भवति ।" **पञ्चसंग्रहेऽपि—**

"खवगस्संतरकरणे अकए घाईण जो उ अणुभागो । तस्स अणंतो भागो सुहुमेगिंदिय कए थोवो ।" तथा च **तत्स्वोपज्ञवृत्तिः**—"क्षपकस्यान्तरकरणेऽकृते सर्वघातिदेशघातिप्रकृतीनां योऽनुभागः सम्भवति तस्मादनन्तभागः सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य भवति, कृतेऽन्तरकरणे पुनः सूक्ष्मैकेन्द्रियाऽनुभागादपि स्तोकतरो भवतीति गाथार्थः ।।५९।।

अयम्भावः—अकृताऽन्तरकरणेषु जीवेषु सत्तायां जघन्यरसः सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य विद्यते । सोऽपि रसो जघन्यविशुद्धसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य जघन्यरसबन्धादनन्तगुणः । अत एतद्जघन्यरसबन्धस्य तत्पूर्ववर्तिसर्वरसबन्धस्थानानां च सत्तास्थानत्वेनाऽलाभः । यद्यप्येतेषां स्थानानां बन्धानन्तरं सत्तायाः सद्भावः संभवति तथापि सत्तायामधिकरसस्य सद्भावेन एतानि बन्धस्थानानि सत्तास्थानत्वेन वक्तुं न शक्यन्ते । अथ प्रस्तुतमुच्यते-जघन्यविशुद्धसूक्ष्मैकेन्द्रियबन्धस्थानतो जघन्यसत्तास्थानरसोऽनन्तगुणाधिकः । कुतः ? जघन्यविशुद्धसूक्ष्मैकेन्द्रियबन्धस्थानतोऽसंख्येयलोकप्रदेशप्रमाणषट्स्थानकेषु गतेषु सूक्ष्मैकेन्द्रियसत्कजघन्यसत्तास्थानस्य प्राप्यमाणत्वात् । ज्ञानावरणसत्कजघन्यसत्तास्थानतः सूक्ष्मैकेन्द्रियस्योत्कृष्टरसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः । ततोऽसंख्येयलोकषट्स्थानकेषु गतेषु सूक्ष्मैकेन्द्रियस्योत्कृष्टरसबन्धस्थानं प्राप्यते इति हेतोः । ततो

भद्रैकेन्द्रियस्य ज्ञानावरणोत्कृष्टरसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः । ततो द्वीन्द्रियस्योत्कृष्टरसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः । ततस्त्रीन्द्रियस्योत्कृष्टरसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः । ततश्चतुरिन्द्रियस्योत्कृष्टरसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः । ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टरसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः । ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य ज्ञानावरणस्याऽन्तःकोटाकोटिस्थितिसत्कचरमस्थितिबन्धे स्थित उत्कृष्टरसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः । ततस्तस्यैवोत्कृष्टस्थितिबन्धे स्थित उत्कृष्टरसबन्धोऽनन्तगुणाधिकः ।

अत्रेदं बोध्यम्–प्रागुक्ताल्पबहुत्वपदानां प्रत्येकमन्तरालेषु यथासंभवमसंख्येयलोकप्रमाणानि षट्स्थानकानि विज्ञेयानि । तथा तत्र गुणाभिमुखावस्थादीनां षट्स्थानकानि यथासंभवं तत्तद्योग्यान्तरालेषु स्वयमेवावगमातव्यानि । तद्यथा–संज्ञिमिथ्यादृष्टिजीवभेदे संयमाभिमुखस्य, देशविरत्यभिमुखस्य, सम्यक्त्वाभिमुखस्य च षट्स्थानकानि, एवं देशविरतौ अप्रमत्तत्वाभिमुखस्याऽविरतसम्यक्त्वाभिमुखस्य मिथ्यात्वाभिमुखस्य च षट्स्थानकानि यथासंभवं तत्तदन्तरालेषु द्रष्टव्यानि । अनया दिशाऽन्यत्रापि गुणाभिमुखावस्थादीनां षट्स्थानकानि स्वयमेव भावनीयानीति । तथाऽत्राऽपूर्वकरणगुणस्थानके नानाजीवनाश्रित्य षट्स्थानपतितानि रसबन्धस्थानानि सन्तीति प्रागुक्तम् । तत्रापूर्वकरणस्य चरमसमये स्थितानि यानि यानि अनन्तगुणवृद्धानि रसबन्धस्थानानि सन्ति । तानि सर्वाणि सर्वजीवराशिरूपाऽनन्तगुणेन वृद्धानि ज्ञातव्यानि, अर्थात्त्र गुणकराशिः सर्वजीवसंख्यारूपो ज्ञेयः । किन्त्वपूर्वकरणस्य चरमसमयवर्त्युत्कृष्टरसबन्धात्तस्य द्विचरमसमयवर्तिजघन्यरसबन्धोऽनन्तगुणाधिक इति प्रागेव प्रोक्तम् । अत्राऽनन्तरूपगुणकराशिः पूर्वोक्तगुणकराशितो विलक्षणो ज्ञेयः, कुतः ? अत्र गुणकराशेः सर्वजीवराशितोऽनन्तगुणाधिकस्य संभवात् । एतदपि कुतः ? अनेकेषां षट्स्थानकानामन्तरस्य संभवात् । एवं द्विचरमसमयगतोत्कृष्टरसबन्धस्थानतः त्रिचरमसमयवर्तिजघन्यस्थानस्यानन्तगुणरूपगुणकराशेरुक्तस्वरूपं विलक्षणत्वं द्रष्टव्यम् । एवमुत्तरोत्तरमपूर्वकरणगुणस्थानकस्य प्रथमसमयं यावद् ज्ञेयम् । ततोऽपूर्वकरणगुणस्थानकस्य प्रथमसमयगतोत्कृष्टरसबन्धस्थानतो यथाप्रवृत्तकरणसत्कजघन्यरसबन्धस्थानमनन्तगुणवृद्धमिति कथितम् । अत्रापि अनन्तगुणरूपगुणकराशेर्विलक्षणत्वं प्रागुक्तं ज्ञेयम् । दर्शनावरणान्तरायमोहनीयकर्मणामपि रसबन्धस्थानानि एवमेव वेदितव्यानि । अल्पबहुत्वमपि ज्ञानावरणवद् विज्ञेयम् । नवरं मोहनीयस्य जघन्यबन्धोऽनिवृत्तिकरणगुणस्थानकस्य चरमसमये भवति । ततस्तत्रैव प्रथमं जघन्यरसस्थानं भवति, द्विचरमत्रिचरमसमयादिषूत्तरोत्तरमनन्तगुणं द्रष्टव्यम्, यावदनिवृत्तिकरणगुणस्थानकस्य प्रथमसमयः. शेषं ज्ञानावरणवद् ।

वेदनीयनाम्नोर्जघन्यादिस्थानं प्रदर्श्यते–वेदनीयनाम्नोर्जघन्यानुभागः परावर्तमानपरिणामेन बध्यते, ततस्तत्र प्रथमं जघन्यस्थानं प्राप्यते, तदनन्तरं च षट्स्थानकवृद्धिक्रमेण रसस्थानानि तावत् प्राप्यन्ते यावदपूर्वकरणगुणस्थानकस्य चरमसमयवर्ति चरमषट्स्थानकस्य चरमस्थानम् ।

ततः ऊर्ध्वमनिवृत्तिकरणगुणस्थानकस्य प्रथमद्वितीयादिसमयेषु रसस्थानान्युत्तरोत्तरमनन्ता-

ऽनन्तगुणानि यावत्सूक्ष्मसम्परायचरमसमयवर्तिस्थानम् , तच्चोत्कृष्टरसस्थानम् । गोत्रकर्मणः पुनर्जघन्यानुभागबन्धः सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमनारकाणामेव भवति । नानाजीवानाश्रित्य सम्यक्त्वाभिमुखचरमाऽवस्थायामप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमिता अध्यवसायाः सन्ति, ततस्तदवस्थाचरमसमयेऽपि षट्स्थानकवृद्धिक्रमेण रसस्थानानि प्राप्यन्ते । एवं नीचैर्गोत्रं प्रतीत्य गोत्रकर्मणोऽसंख्यलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि षट्स्थानानि तावद् वाच्यानि यावत् परावर्तमानभावेन जघन्यरसबन्धस्थानं प्राप्यते, ततः परं गोत्रकर्मणः प्रकृतिद्वयमाश्रित्याऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि षट्स्थानकानि सन्ति । तत ऊर्ध्वं केवलमुच्चैर्गोत्रमाश्रित्याऽपूर्वकरणगुणस्थानकचरमसमयं यावत् षट्स्थानकवृद्धिक्रमेण वर्धमानेषु रसस्थानेष्वसंख्येयलोकाकाशप्रदेशमितानि षट्स्थानकानि समुत्पद्यन्ते । तत ऊर्ध्वमनिवृत्तिकरणगुणस्थानकस्य प्रथमद्वितीयादिसमयेषु रसस्थानान्युत्तरोत्तरमनन्ताऽनन्तगुणानि यावत्सूक्ष्मसम्परायचरमसमयवर्तिस्थानम् , तच्चोत्कृष्टरसस्थानम् ।

आयुःकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धे एव जघन्यानुभागबन्धः प्राप्यते, तस्मिंश्च स्थितिस्थानेऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाऽध्यवसायानां सद्भावेनाऽसंख्येयलोकमितानि षट्स्थानानि प्राप्यन्ते । समयाधिकस्थितिबन्धे पूर्वस्थानतोऽनन्तगुणेन वृद्धं प्रथमं रसस्थानं भवति । तत्स्थितिबन्धेऽप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितानि षट्स्थानानि भवन्ति । एवं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिबन्धसत्कोत्कृष्टरसबन्धस्थानं यावत् नेतव्यमिति ।

अथ प्रतिरसस्थाने स्पर्धकविन्यासः कीदृश इति प्रतिज्ञाततृतीयद्वारस्यावसरः । तत्र प्रथमं तावत् कर्मप्रकृतिटीकाकृन्मलयगिरिपादैर्दर्शितक्रमेण प्रदर्श्यते—

जघन्यरसबन्धस्थानेऽभव्येभ्योऽनन्तगुणानि सिद्धानामनन्तभागकल्पान्यनन्तसंख्याप्रमाणानि स्पर्धकानि विद्यन्ते । तत्र प्रथमस्पर्धकेऽनन्ता वर्गणास्ततोऽन्तरम् , ततो द्वितीयस्पर्धकं ततोऽन्तरम् , अनेनैव क्रमेण तावद्वक्तव्यं यावच्चरमस्पर्धकम् । तत्रापि प्रथमस्पर्धकस्य प्रथमवर्गणायां रसाविभागाः सर्वस्तोकाः, कर्मप्रदेशास्तु सर्वाधिकाः । तत एकाधिकरसाविभागयुक्तद्वितीयवर्गणायां कर्मप्रदेशा विशेषहीनाः । एवं क्रमेण तावद्वक्तव्यं यावत् प्रथमस्पर्धकसत्कचरमवर्गणा । तत एकाधिकरसाविभागयुक्ता वर्गणा न प्राप्यते,— द्व्यधिकरसाविभागयुक्ता वर्गणा न प्राप्यते, नापि त्रिभि रसाविभागैरधिका, नापि चतुर्भिरधिका, नाऽपि संख्यातैरधिका नाप्यसंख्यातैरधिका, नाऽपि अनन्तैरधिका, किन्तु सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणाऽभ्यधिकै रसाविभागैर्युक्ता द्वितीयस्पर्धकस्य प्रथमवर्गणा प्राप्यते । तत एकोत्तररसाविभागवृद्ध्या अभव्येभ्योऽनन्तगुणाः सिद्धानामनन्तभागकल्पा अनन्ता वर्गणाः प्राप्यन्ते । ततः पूर्ववत् पुनरन्तरं लभ्यते । एवं तावद् वाच्यं यावज्जघन्यरसस्थानस्य चरमस्पर्धकसत्कचरमवर्गणा । एवं प्रथमं जघन्यरसस्थानं समाप्तम् । ततो द्वितीयं स्थानमनन्तभागवृद्धं भवति, अत्रापि वर्गणादिकं पूर्ववत्कार्यम् , एवं कण्डकप्रमाणानि रसस्थानानि अनन्तभागवृद्धानि वाच्यानि ।

किं नामानन्तभागवृद्धत्वम् ? केन क्रमेण द्वितीयरसस्थाने स्पर्धकविन्यासः ? इत्यादिप्ररूपणा **कर्मप्रकृति**सत्कबन्धनकरणस्य सप्तत्रिंशत्तमगाथाया **मलयगिरीयटीका**ऽक्षरैरेव प्रदर्श्यते—

तथा च तदक्षराणि—"प्रथमस्यानुभागबन्धस्थानस्य सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यल्लब्धं सोऽनन्तभाग इह ग्राह्यः, तेनाभ्यधिकं द्वितीयमनुभागस्थानम् । तस्यापि सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यल्लब्धं तेनाभ्यधिकं तृतीयमनुभागबन्धस्थानम् , एवं यद्यदनुभागबन्धस्थानमनन्तभागवृद्धमुपलभ्यते तत्तत्पाश्चात्यस्य पाश्चात्यस्यानुभागबन्धस्थानस्य सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यल्लभ्यते तेन तेनानन्ततमेन भागेनाभ्यधिकमवगन्तव्यम् ।

अत्र कश्चित्प्रश्नयति—ननु प्रथमानुभागबन्धस्थानस्य सर्वजीवप्रमाणेन राशिना भागोऽपह्रियते किं रसाविभागापेक्षया उत परमाण्वपेक्षया यद्वा स्पर्धकापेक्षया ? तत्र न तावद्रसाविभागापेक्षया, प्रथमस्थानात् द्वितीयस्थानेऽपि रसाविभागानां संख्येयादिगुणतया प्राप्यमाणत्वात् । तथाहि—प्रथमे स्थाने प्रथमे स्पर्धके प्रथमवर्गणायामनन्ता अपि रसाविभागाः किलाऽसत्कल्पनया सप्त, ततो द्वितीयस्यां वर्गणायामष्टौ, तृतीयस्यां नव, चतुर्थ्यां दश, इदमेकं स्पर्धकम् । इत ऊर्ध्वं त्वेकोत्तरवृद्धया रसाविभागा न प्राप्यन्ते, किन्तु सर्वजीवानन्तगुणाधिकाः । ते च किलाऽसत्कल्पनया सप्तदश । एते च द्वितीयस्य स्पर्धकस्य प्रथमवर्गणायाम् । ततो द्वितीयस्यां वर्गणायामष्टादश, तृतीयस्यामेकोनविंशतिः, चतुर्थ्यां विंशतिः, इदं द्वितीयं स्पर्धकम् । ततः पुनरप्यत ऊर्ध्वमेकोत्तरवृद्धया रसाविभागा न प्राप्यन्ते किन्तु सर्वजीवानन्तगुणाधिकाः, ते च किलासत्कल्पनया सप्तविंशतिः । एते च तृतीयस्य स्पर्धकस्य प्रथमवर्गणायाम् । ततो द्वितीयस्यां वर्गणायामष्टाविंशतिः, तृतीयस्यामेकोनत्रिंशत् , चतुर्थ्यां त्रिंशत् , इदं तु तृतीयं स्पर्धकम् । ततः पुनरप्यत ऊर्ध्वमेकोत्तरवृद्धया रसाविभागा न प्राप्यन्ते, किन्तु सर्वजीवानन्तगुणाभ्यधिकाः । ते च किलासत्कल्पनया सप्तत्रिंशत् । एते चतुर्थस्य स्पर्धकस्य प्रथमवर्गणायाम् । ततो द्वितीयस्यां वर्गणायामष्टात्रिंशत् , तृतीयस्यामेकोनचत्वारिंशत् , चतुर्थ्यां चत्वारिंशत् , इदं चतुर्थं स्पर्धकम् । एतानि च किलाऽसत्कल्पनया प्रथममनुभागबन्धस्थानम् । अत्र च रसाविभागाः सर्वसंख्यया षट्सप्तत्यधिकानि त्रीणि शतानि ।

इत ऊर्ध्वं त्वेकोत्तरवृद्धया रसाविभागा न प्राप्यन्ते किन्तु सर्वजीवानन्तगुणाभ्यधिकाः । ते च किलासत्कल्पनया सप्तचत्वारिंशत् । एते च द्वितीयस्य स्थानस्य प्रथमस्पर्धकस्य प्रथमवर्गणायाम् । ततो द्वितीयस्यां वर्गणायामष्टचत्वारिंशत् , तृतीयस्यामेकोनपञ्चाशत् , चतुर्थ्यां पञ्चाशत् , इदं द्वितीये स्थाने प्रथमं स्पर्धकम् । इत ऊर्ध्वं त्वेकोत्तरवृद्धया रसाविभागा न प्राप्यन्ते, किन्तु सर्वजीवानन्तगुणाधिकाः । ते च किलासत्कल्पनया सप्तपञ्चाशत् । एते च द्वितीयस्थाने द्वितीयस्पर्धकस्य प्रथमवर्गणायाम् । ततो द्वितीयस्यां वर्गणायामष्टपञ्चाशत् , तृतीयस्यामेकोनषष्टिः, चतुर्थ्यां षष्टिः, इदं द्वितीयस्थाने द्वितीयं स्पर्धकम् । इत ऊर्ध्वमेकोत्तरवृद्धया रसाविभागा न प्राप्यन्ते, किन्तु

सर्वजीवानन्तगुणाधिकाः । ते च किलासत्कल्पनया सप्तषष्टिः । एते च द्वितीये स्थाने तृतीयस्य स्पर्धकस्य प्रथमवर्गणायाम्, ततो द्वितीयस्यां वर्गणायामष्टषष्टिः, तृतीयस्यामेकोनसप्ततिः, चतुर्थ्यां सप्ततिः, इदं द्वितीये स्थाने तृतीयं स्पर्धकम् । तत इत ऊर्ध्वं पुनरप्येकोत्तरवृद्धया रसाविभागा न प्राप्यन्ते, किन्तु सर्वजीवानन्तगुणाधिकाः । ते च किलासत्कल्पनया सप्तसप्ततिः । ततो द्वितीयस्यां वर्गणायामष्टसप्ततिः, तृतीयस्यामेकोनाशीतिः, चतुर्थ्यामशीतिः, इदं च द्वितीयस्थाने चतुर्थं स्पर्धकम् । एतानि च किलासत्कल्पनया द्वितीयं स्थानम् । अत्र च रसाविभागाः सर्वसंख्यया षोडशाधिकं सहस्रम् । तदेवं प्रथमस्थानगतरसाविभागापेक्षया द्वितीयस्थाने रसाविभागाः संख्येयगुणाः प्राप्यन्ते । उत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिंस्तु स्थाने पूर्वपूर्वस्थानापेक्षया प्रभूताः प्रभूततमाः इति न क्वापि रसाविभागापेक्षया पूर्वस्थानादुत्तरस्य स्थानस्यानन्तभागाधिकत्वं प्राप्यते । नापि परमाण्वपेक्षयाऽनन्तभागाधिकत्वसंभवः, यतो यथा यथाऽनुभागो वर्धते तथा तथा पुद्गलाः स्तोकाः स्तोकतराः प्राप्यन्ते । ततः प्रथमस्थानगतपरमाण्वपेक्षया द्वितीये स्थाने परमाणवः किञ्चिदूना एव भवन्ति, नानन्तभागाधिकाः । एवमुत्तरेष्वपि स्थानेषु पूर्वपूर्वस्थानापेक्षया हीनहीनतरपरमाणुत्वं द्रष्टव्यम् । नापि स्पर्धकापेक्षया प्रथमस्थानादीनां सर्वजीवप्रमाणेन राशिना भागापहारः संभवति, प्रथमस्थानादिगतस्पर्धकानामभव्यानन्तगुणसिद्धानन्तभागकल्पतयाऽतीव स्तोकत्वादिति इति ।

अत्रोच्यते–इयं हि षट्स्थानकप्ररूपणा संयमश्रेण्यादिगतसकलषट्स्थानकव्यापकलक्षणतया प्ररूप्यते । ततो यद्यप्यनन्तगुणवृद्धात् स्थानादर्वाक्तनेषु स्थानेषु सर्वजीवप्रमाणेन राशिना स्पर्धकापेक्षया भागहारो न संभवति, तथाप्युत्तरेषु स्थानेष्वन्येष्वपि च द्वितीयादिषु षट्स्थानेषु तथा सर्वेष्वपि संयमश्रेण्यादिगतेषु संभवतीति न कश्चिद्विरोधः, बाहुल्येन सर्वत्रापि संभवात् सर्वजीवप्रमाणेन राशिना भागो ह्रियते इति वचनाच्च । अनन्तगुणवृद्धात् स्थानादर्वागपि पूर्वस्थानेभ्य उत्तरोत्तरस्थानानां सर्वस्तोकानन्तभागाधिकत्वमवसेयम् । यद्यपि च पूर्वपूर्वस्थानापेक्षयोत्तरोत्तरस्थानेषु किञ्चिद्धीनहीनतराः परमाणवः प्राप्यन्ते तथापि स्तोकस्तोकतरैः परमाणुभिर्वर्गणादीनां संभवादुक्तस्वरूपस्पर्धकबाहुल्यं न विरुध्यते" इति ।

अथ **मतान्तरेण** स्पर्धकादिविन्यासः प्रदर्श्यते–प्रथमानुभागबन्धस्थानापेक्षया तदनन्तरं द्वितीयं स्थानमनन्तभागवृद्धं कथितम् । अत्राऽनन्तभागवृद्धिः किं परमाण्वपेक्षया उत स्पर्धकापेक्षया यद्वा रसाविभागापेक्षया न तावत् परमाण्वपेक्षया, प्रतिसमयमभव्यतोऽनन्तगुणरूपस्य सिद्धानामनन्तभागमात्रस्य प्रदेशस्य ग्रहणेन सर्वजीवराशिना भक्तुमशक्यत्वात् । नाऽपि स्पर्धकापेक्षया वृद्धिः संभाव्यते, गृहीतपुद्गलानां तावन्मितत्वेन स्पर्धकानामपि तावन्मितत्वात् ।

नाऽपि रसाविभागापेक्षयाऽनन्तभागवृद्धिः संभाव्यते, पूर्वोक्तदर्शितप्रकारेण विवक्षितस्थानादनन्तररसबन्धस्थाने रसाविभागानां संख्येयगुणादिवृद्धिसंभवात् ।

अत्र प्रतिविधीयते–प्रथमं रसबन्धस्थानस्य ज्ञानमावश्यकम्, यतस्तज्ज्ञानं विना अनन्तभागादिवृद्धिं ज्ञातुं न शक्यते। न चात्र रसबन्धस्थानं नाम बध्यमानसर्वपरमाणुवर्तिरसानां योगः। एवं च सति यदा उत्कृष्टयोग उत्कृष्टविशुद्धयादि च वर्तेते तदोत्कृष्टरसबन्धस्थानस्य प्राप्तिः अन्यथा तद्विरहः। भवत्वेवं का हानिर्भविष्यति? महती हानिः, तद्यथा–एवं च सति वेदनीयनामगोत्रसत्कोत्कृष्टरसबन्धकाः सर्वे क्षपका भवितुं नार्हन्ति, तथा तेषामेवोत्कृष्टरसबन्धकानामुत्कृष्टमन्तरं षण्मासप्रमाणं वक्तुं न युज्यते, उत्कृष्टयोगेनोत्कृष्टरसबन्धस्याधिकान्तरस्य सद्भावादिति प्रागुक्तम्। अतः सकलपरमाणुगतरसस्य योगो न स्थानम्, किन्त्वत्रैवाधिकारे स्पर्धकप्ररूपणायां दर्शितप्रकारेणैकस्मिन्नुत्कृष्टानुभागसहिते कर्मपरमाणौ स्थानं भवति। यद्येवं तर्हि किं नामानन्तभागवृद्धस्थानम्? उक्तजघन्यरसबन्धस्थानाद् द्वितीयस्थानसत्कचरमस्पर्धकस्य चरमवर्गणायामेकपरमाणुसत्करसोऽनन्तभागवृद्धो भवति सः। किमुक्तं भवति–जघन्यस्थानस्य चरमस्पर्धकस्य चरमवर्गणायामेकपरमाणुसत्करसाविभागानां सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यल्लब्धं तेनाभ्यधिकास्तदनन्तरस्थानस्य चरमस्पर्धकस्य चरमवर्गणायामेकपरमाणुसत्करसाविभागा भवन्तीति।

इदं च प्रथममनन्तभागवृद्धस्थानम्। तस्यापि सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यल्लब्धं तेनाभ्यधिकं तृतीयस्थानं तच्च द्वितीयानन्तभागवृद्धस्थानम्। एवं कण्डकप्रमाणान्यनन्तभागवृद्धानि स्थानान्यवगन्तव्यानि।

तदनन्तरं त्वसंख्यभागवृद्धस्थानम्। तच्चैवम्––चरमानन्तभागवृद्धस्थानसत्कचरमस्पर्धकस्य चरमवर्गणायामेकपरमाणुसत्करसाविभागानामसंख्येयलोकनभःप्रदेशसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यल्लब्धं तेनाभ्यधिकमिदं स्थानं भवति। एवं पूर्वोक्तविधिना दर्शितषट्स्थानकक्रमेणाऽसंख्येयलोकप्रमाणानि षट्स्थानकानि वक्तव्यानि।

यद्यप्यत्र रसाविभागापेक्षया वृद्धिर्दर्शिता, तथाप्यत्र स्पर्धकादिवृद्धिरिष्यते, अतः केन विधिना स्पर्धकादीनां वृद्धिर्जायते, स्पर्धकादीनां विन्यासश्च कथं भवति तत्प्रदर्श्यते।

जघन्यस्थाने यत्क्रमेण स्पर्धकादिविन्यासो दर्शितः, जघन्यस्थानादनन्तरस्थानेऽपि जघन्यस्थानसत्कोत्कृष्टरसं यावत् तत्क्रमेणैव स्पर्धकादिविन्यासो ज्ञेयः। ततः परं वृद्धरसादन्यानि नूतनानि स्पर्धकानि भवन्ति। तानि च नूतनस्पर्धकान्यभव्यतोऽनन्तगुणानि सिद्धानामनन्तभागकल्पानीति ज्ञेयम्।

अथ **नूतनस्पर्धकरचना** प्रदर्श्यते––एतदनन्तभागवृद्धस्थानस्योत्कृष्टरसाद् जघन्यस्थानसत्कोत्कृष्टरसोऽपनेतव्यः। अवशिष्टरसाविभागा नूतनस्पर्धकसंख्यया भक्तव्याः, प्राप्तभागफलं जघन्यस्थानसत्कोत्कृष्टरसे प्रक्षेपणीयम्, तच्च नूतनस्पर्धकेषु प्रथमस्पर्धकं भवति।

इदमत्राऽवगन्तव्यम्––अत्र स्पर्धकं स्थानमित्यादि यद् भण्यते तत् स्वचरमवर्गणा-

गतैकपरमाणुसत्कोत्कृष्टरसाविभागयुक्तसमुदायरूपं ज्ञेयम् , ततो नूतनप्रथमस्पर्धकं नाम नूतनप्रथमस्पर्धकस्य चरमवर्गणागतैकपरमाणुसत्कोत्कृष्टरसाविभागसमुदायः । नूतनप्रथमस्पर्धकमध्ये पुनः प्राप्तभागफले प्रक्षिप्ते नूतनद्वितीयस्पर्धकं भवति । द्वितीयस्पर्धकमध्ये पुनस्तावन्मात्रस्य प्रक्षेपे तृतीयस्पर्धकम् , एवं तावद् वक्तव्यं यावच्चरमस्पर्धकं प्राप्यते । अस्य च चरमस्पर्धकस्य चरमवर्गणागतैकपरमाणुसत्करसाऽविभागसमुदायरूपं प्रथममनन्तभागवृद्धस्थानं भवति । इदमत्र बोध्यम्—अत्र नूतनस्पर्धकानामन्तरं परस्परं तुल्यं जघन्यस्थानसत्कस्पर्धकान्तरतश्चाऽनन्तगुणहीनम् ।

अथ प्रथमानन्तभागवृद्धस्थानस्य वर्गणादीनां रचना प्रदर्श्यते—सर्वतः प्रथमं जघन्यस्थानतोऽधिकरसयुक्तपरमाणवः पृथक्स्थापनीयाः, ततः शेषपरमाणुभिर्जघन्यस्थानवत् जघन्यवर्गणात उत्कृष्टवर्गणां यावत् स्पर्धकादिरचना कर्तव्या । ततः सर्वजीवतोऽनन्तगुणमन्तरम् । ततः पृथक्स्थापितपरमाणुषु जघन्यरसाऽविभागयुक्तपरमाणूनां नूतनस्पर्धकस्य प्रथमवर्गणा, तत एकेन रसाविभागेनाधिका द्वितीया वर्गणा, तत एकेन रसाविभागेनाधिका तृतीया वर्गणा । एवमेकोत्तरवृद्ध्याऽभव्यतोऽनन्तगुणाधिका वर्गणा वक्तव्याः, ततः सर्वजीवतोऽनन्तगुणमन्तरम् , ततो द्वितीयस्पर्धकस्य प्रथमा वर्गणा एकाधिकरसाविभागेन युक्ता । एवमेकोत्तरवृद्ध्या द्वितीयस्पर्धकस्य चरमवर्गणां यावदनन्ता वर्गणा वक्तव्याः । ततोऽन्तरम् , एवं नूतनानि स्पर्धकान्यभव्यतोऽनन्तगुणानि वक्तव्यानि । अत्र चरमस्पर्धके चरमवर्गणासत्कैकपरमाणुगतरससमुदायो द्वितीयरसस्थानम् ।

अथ तृतीयस्थानस्य रचना प्रदर्श्यते—अनन्तरोक्तद्वितीयानुभागबन्धस्थानस्य सर्वजीव-[illegible] प्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यल्लब्धं तेनाभ्यधिकं तद् तृतीयस्थानम्, तस्य रचना-[illegible]विरेवम्—प्रथमं तावद् द्वितीयस्थानतोऽधिकरसयुक्तपरमाणवः पृथक्स्थाप्याः, ततः शेषपरमाणुभिर्जघन्यस्थानस्य जघन्यवर्गणातो द्वितीयस्थानस्योत्कृष्टवर्गणां यावदनन्तरोक्तद्वितीयस्थानवद् रचना कार्या, तत एकेन रसाविभागेनाभ्यधिकाः परमाणवो न प्राप्यन्ते, नाऽपि द्वाभ्यां, नाऽपि त्रिभिः, नाऽपि संख्येयैः, नाप्यसंख्यातैः, नाप्यनन्तैः, किन्त्वनन्तानन्तैरेव सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणैरसाविभागैरभ्यधिकाः परमाणवः प्राप्यन्ते, तेषां च तृतीयस्थानसत्कनूतनस्पर्धकस्य प्रथमा वर्गणा । तत एकेन रसाविभागेनाभ्यधिकानां परमाणूनां द्वितीया वर्गणा । ततः पुनरप्यत ऊर्ध्वं यथोत्तरमेकैकरसाविभागवृद्ध्या तृतीयादिका वर्गणास्तावद् वाच्या यावदभव्येभ्योऽनन्तगुणाः सिद्धानामनन्तभागकल्पा भवन्ति । ततः सर्वजीवतोऽनन्तगुणमन्तरं भवति । तत एकाधिकरसाविभागेन युक्तानां परमाणूनां समुदायो द्वितीयस्पर्धकस्य प्रथमवर्गणा भवति । तत एकैकरसाविभागवृद्ध्याऽभव्याऽनन्तगुणसिद्धानन्तभागकल्पा वर्गणा वाच्याः । एवं नूतनानि स्पर्धकान्यप्यभव्येभ्योऽनन्तगुणानि सिद्धानामनन्तभागकल्पानि वक्तव्यानि । अत्र चरमस्पर्धके चरमवर्गणासत्कैकपरमाणुगतरससमुदायस्तृतीयरसस्थानम् ।

प्रागुक्तनीत्याऽङ्गुलाऽसंख्येयभागगतनभःप्रदेशराशिलक्षणं कण्डकं यावदनन्तभागवृद्धानि रसबन्धस्थानानि कथयितव्यानि ।

प्रथमाऽनन्तभागस्थानान्तरतो द्वितीयाऽनन्तभागस्थानान्तरमनन्तभागाभ्यधिकं भवति । कियत्प्रमाणेन? सर्वजीवराशिवर्गेण जघन्यस्थानस्य भागे हृते यल्लब्धं तावत्प्रमाणेन। प्रथमानन्तभागवृद्ध स्थानसत्कप्रक्षेपस्पर्धकान्तरतो द्वितीयाऽनन्तभागवृद्धस्थानसत्कप्रक्षेपस्पर्धकान्तरमपि अनन्तभागेनाऽभ्यधिकं भवति। कुतः? उच्यते—पूर्वविभज्यमानराशितो द्वितीयाऽनन्तभागवृद्धस्थानसत्कविभज्यमानराशेरनन्तभागेनाभ्यधिकत्वात्, द्वयोः स्थानयोः भाजकराशिरूपप्रक्षेपस्पर्धकशलाकानां तुल्यत्वाच्च। अथ केषां केषां स्थानानां प्रक्षेपस्पर्धकशलाकानां तुल्यत्वं तथा विवक्षितप्रक्षेपस्पर्धकशलाकाः स्वपूर्वपूर्वस्थानसत्कप्रक्षेपस्पर्धकशलाकातः कति गुणाः? भण्यते—सर्वेषामनन्तभागवृद्धस्थानानां प्रक्षेपस्पर्धकशलाकाः परस्परं तुल्याः। सर्वेषामसंख्यभागवृद्धस्थानानामपि प्रक्षेपस्पर्धकशलाकाः परस्परं तुल्याः, अनन्तभागवृद्धस्थानसत्कप्रक्षेपस्पर्धकशलाकातोऽसंख्येयभागाभ्यधिकाः। सर्वेषां संख्यातभागवृद्धस्थानानामपि प्रक्षेपस्पर्धकशलाकाः परस्परं समानाः, असंख्यभागवृद्धस्थानसत्कप्रक्षेपस्पर्धकशलाकातः संख्येयभागाधिकाः। एवं संख्यातगुणवृद्धाऽसंख्यगुणवृद्धा-ऽनन्तगुणवृद्धस्थानसत्कप्रक्षेपस्पर्धकानामपि तुल्यत्वं तथा स्वपूर्वपूर्वस्थानसत्कप्रक्षेपस्पर्धकशलाकातः क्रमशः संख्यातगुणाऽसंख्यगुण-ऽनन्तगुणाधिकत्वं वक्तव्यम्, सजातीयप्रक्षेपस्पर्धकशलाकानां कुतस्तुल्यत्वम्? प्रथमाऽनन्तभागवृद्धस्थानसत्कप्रक्षेपस्पर्धकान्तरतो द्वितीयाऽनन्तभागवृद्धस्थानसत्कस्पर्धकान्तरमनन्तभागाभ्यधिकमित्यनेन ज्ञायते यदनन्तभागवृद्धस्थानसत्कप्रक्षेपस्पर्धकशलाकानां परस्परं तुल्यत्वम्, अन्यथा सजातीयस्पर्धकशलाकासु एकस्मिन्नपि स्पर्धके वृद्धे अधस्तनप्रक्षेपस्पर्धकान्तरत उपरितनस्पर्धकान्तरमनन्तभागेनाऽभ्यधिकं न भवेत्, अपि त्वनन्तभागेन हीनं भवेत् ।

अयम्भावः—अत्र उपरितनरसस्थानादधस्तनरसस्थानस्य विश्लेषे कृते यो विशेषः प्राप्यते तत्स्थानान्तरमुच्यते। एतद्विशेषे प्रक्षेपस्पर्धकशलाकाभिर्विभक्ते यल्लभ्यते तत्स्पर्धकान्तरं कथ्यते। प्रस्तुतेऽधस्तनस्पर्धकशलाकात उपरितनप्रक्षेपस्पर्धकशलाका यद्येकेन रूपेणाधिका भवन्ति, तर्हि पूर्वभागहारत उपरितनस्पर्धकान्तरभागहारोऽनन्तभागेनाऽभ्यधिको भवति, ततोऽधस्तनस्पर्धकान्तरत उपरितनप्रक्षेपस्पर्धकान्तरमनन्तभागहीनं भवेत्। न चैवं भवति, उपरितनप्रक्षेपस्पर्धकान्तरस्याऽनन्तभागाधिकत्वेनोपलम्भात् ततः सर्वप्रक्षेपाणां स्पर्धकशलाकाः सजातीयप्रक्षेपस्पर्धकशलाकाभिर्न विसदृशा इति ग्रहीतव्यम्। सजातीयस्पर्धकशलाकासु एकस्मिन्नपि स्पर्धके वृद्धे स्पर्धकान्तरमनन्तभागेन हीनं भवतीति सर्वमसत्कल्पनया गणितप्रक्रियया प्रत्यक्षीक्रियते—

तद्यथा— जघन्यस्थानम् = अब्जवर्ग = अब्ज^{2}०
सर्वजीवराशिः = १ कोटिः
अभव्यतोऽनन्तगुणराशिः = १शतम्
{ प्रक्षेपस्पर्धकराशिः = १०
असंख्येयलोकनभःप्रदेशराशिः = ४
उत्कृष्टसंख्यातराशिः = २

प्रथमानन्तभागवृद्धस्थानम् = जघन्यस्थान० + (जघन्यस्थान० ÷ सर्वजीवराशिः)

= जघन्यस्थान० + $\frac{\text{जघन्यस्थान०}}{\text{सर्वजीवराशि०}}$

= अब्जवर्ग० + $\frac{\text{अब्जवर्ग०}}{\text{१ कोटि०}}$

= अब्जवर्ग + १०० अब्ज०

स्थानान्तरम् = प्रथमानन्तभागवृद्धस्थानम्–जघन्यस्थानम्

= (अब्जवर्गः + १००अब्ज०)–(अब्जवर्गः)

= १०० अब्ज०

प्रस्तुतस्पर्धकान्तरम् = स्थानान्तरम् ÷ प्रक्षेपस्पर्धकशलाकाः

= १०० अब्ज० ÷ १०

= १० अब्ज०

द्वितीयानन्तभागवृद्धस्थानम् = अनन्तराधस्तनस्थान० + $\frac{\text{अनन्तराधस्तनस्थान०}}{\text{सर्वजीवराशिः}}$

= प्रथमानन्तभागवृद्धस्थान० + $\frac{\text{प्रथमानन्तभागवृद्धस्थान०}}{\text{सर्वजीवराशिः}}$

= (अब्जवर्गः + १००अब्ज०) + $\left(\frac{\text{अब्जवर्गः + १०० अब्ज०}}{\text{१ कोटिः}}\right)$

= अब्जवर्गः + २०० अब्ज० + दशसहस्र०

स्थानान्तरम् = द्वितीयाऽनन्तभागवृद्धस्थानम्—प्रथमानन्तभागवृद्धस्थानम्

= (अब्जवर्ग० + २०० अब्ज० + दशसहस्र०) – (अब्जवर्गः + १०० अब्ज०)

= १०० अब्ज० + दशसहस्र०

स्पर्धकान्तरम् = स्थानान्तरम् ÷ प्रक्षेपस्पर्धकशलाकाः

= (१०० अब्ज० + १०सहस्र०) ÷ १०

= $\frac{\text{१०० अब्ज० + १०सहस्र०}}{\text{१०}}$ = १०अब्ज० + १सहस्र०

सजातीयप्रक्षेपस्पर्धकशलाकानां तुल्यत्वे स्वीकृते एव प्रथमानन्तभागवृद्धस्थानसत्कस्पर्धकान्तरतो द्वितीयानन्तभागवृद्धस्थानसत्कस्पर्धकान्तरमनन्तभागेनाधिकं प्राप्तम्—तद्यथा-प्रस्तुता-ऽसत्कल्पनायां प्रथमानन्तभागवृद्धस्थानसत्कस्पर्धकान्तरं १०अब्जप्रमाणम्, द्वितीयानन्तभाग-वृद्धस्थानसत्कस्पर्धकान्तरं पुनः सहस्राधिकदशाब्जप्रमाणं प्राप्तम्, अत एव स्पर्धकशलाकानां तुल्यत्वे एवोत्तरोत्तरस्पर्धकान्तरमनन्तभागेनाभ्यधिकं घटते ।

सजातीयप्रक्षेपस्पर्धकानां परस्परं तुल्यत्वमित्यस्वीकारे त्वनन्तभागेनाऽधिकं न भवति । अपि तु हीनं भवतीति प्रागुक्तं तदपि असत्कल्पनया प्रदर्श्यते । तद्यथा–द्वितीयाऽनन्तभागवृद्ध-स्थानसत्कप्रक्षेपस्पर्धकशलाका एकेन रूपेणाधिकाः भवन्ति ततश्च प्रस्तुताऽसत्कल्पनायां दशस्थाने एकादश कल्प्यन्ते ।

ततो द्वितीयाऽनन्तभागवृद्धस्थानसत्कस्पर्धकान्तरम्=स्थानान्तरम् ÷ प्रक्षेपस्पर्धकशलाकाः

= (१०० अब्ज० + १० सहस्र०) ÷ ११

= $\frac{\text{१०० अब्ज०} + \text{१० सहस्र०}}{\text{११}}$

ततो द्वितीयाऽनन्तभागवृद्धस्थानसत्कस्पर्धकान्तरं १०अब्जतोऽपि न्यूनं भवति, प्रथमानन्तभागवृद्धस्थानसत्कस्पर्धकान्तरं पुनः १०अब्जप्रमाणं प्रागेव कथितम्, ततः प्रथमानन्तभागवृद्धस्थानसत्कस्पर्धकान्तरतो द्वितीयानन्तभागवृद्धस्थानसत्कस्पर्धकान्तरमनन्तभागेन हीनं भवति, अत एवानन्तभागवृद्धस्थानसत्कप्रक्षेपस्पर्धकशलाकानां तुल्यत्वम्, एवं चाऽसंख्येयभागवृद्धस्थानादीनामपि सजातीयप्रक्षेपस्पर्धकशलकानां तुल्यत्वमिति ।

अथाऽसंख्यभागवृद्धस्थानानि प्रदर्श्यन्ते—

प्रथमानन्तभागवृद्धकण्डकसत्कचरमानन्तभागवृद्धस्थानस्याऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिना भागे हृते यल्लब्धं तस्मिन् चरमानन्तभागवृद्धस्थाने प्रक्षिप्ते प्रथमाऽसंख्यभागवृद्धस्थानमुत्पद्यते । एषः प्रक्षेप एकरसाविभागपलिच्छेदेन न्यूनः स्थानान्तरं भवति । एतत्स्थानान्तरमधस्तनस्थानान्तरतोऽनन्तगुणम् । को गुणकारः ? असंख्येयलोकैरपवर्तितो रूपाधिकमर्वजीवराशिः । एतत्प्रक्षेपे स्पर्धकशलाकैर्विभक्ते यल्लभ्यते तत्स्पर्धकान्तरमुच्यते ।

इदमत्र बोध्यम्—एतत्स्थानादधस्तनसर्वस्थानानां स्पर्धकविन्यासो वर्गणाविन्यासश्च यत्क्रमेण भवति, प्रस्तुतस्थाने तत्क्रमेणैव स्पर्धकविन्यासो वर्गणाविन्यासश्च विद्यते एव, अधिकरसयुक्तपरमाणूनां च नूतनानि स्पर्धकानि प्रागुक्तरीत्या समुत्पद्यन्ते तानि च नूतनस्पर्धकानि अभव्यतोऽनन्तगुणानि सन्ति । एवमग्रेऽपि सर्वरसस्थानेषु स्वस्वाधस्तनसर्वरसस्थानानां वर्गणास्पर्धकादीनां विन्यासो द्रष्टव्यः, अधिकरसयुक्तपरमाणूनां च नूतनस्पर्धकानि समुत्पद्यन्ते ।

एतत्स्पर्धकान्तरमधस्तनस्पर्धकान्तरतोऽनन्तगुणाभ्यधिकम्, तच्चाऽसत्कल्पनया प्रदर्श्यते—जघन्यस्थानादीनामसत्कल्पना प्राग्वत्कार्या, नवरमत्र प्रक्षेपस्पर्धकशलाकानां वृद्धिर्जाता, ततः प्रक्षेपस्पर्धकशलाका द्वादश (१२) कल्प्यन्ते ।

प्रथमाऽसंख्यभागवृद्धस्थानसत्कप्रक्षेपः=चरमाऽनन्तभागवृद्धस्थानम् ÷ असंख्यलोकाः

अत्र चरमानन्तभागवृद्धस्थानम्=साधिकजघन्यस्थानतुल्यं भवति

ततः = $\frac{\text{साधिकजघन्यस्थानम्}}{\text{असंख्यलोकः}}$

प्रस्तुतप्रक्षेपः = $\frac{\text{साधिकाब्जवर्गः}}{\text{४}}$

एतत्स्पर्धकान्तरम् =प्रक्षेपः ÷ नूतनस्पर्धकशलाकाः

= $\frac{\text{साधिकाब्जवर्गः}}{\text{४}}$ ÷ १२

चरमानन्तभागवृद्धस्थानसत्कस्पर्धकान्तरम्= $\left[\frac{\text{साधिकाऽवज्रवर्गः}}{\text{१ कोटि}}\right] \div १०$ प्रागेव दर्शितम्

ततः एतदसंख्यभागवृद्धस्थानसत्कस्पर्धकान्तरं चरमानन्तभागवृद्धस्थानसत्कस्पर्धकान्तरतोऽनन्तगुणं सुतरां सिद्धम् ।

एतदसंख्यभागवृद्धस्थानस्य उपरितनकण्डकप्रमितानन्तभागवृद्धस्थानानां प्ररूपणा पूर्ववत्कार्या । नवरमसंख्येयभागवृद्धस्पर्धकान्तरत उपरितनाऽनन्तभागवृद्धस्थानानां स्थानान्तरस्पर्धकान्तराणि अनन्तगुणहीनानि । अधस्तनकण्डकमात्रानन्तभागवृद्धस्थानानां स्थानान्तरस्पर्धकान्तरतोऽसंख्यभागस्योपरितनकण्डकमात्रानन्तभागवृद्धस्थानानां स्थानान्तरस्पर्धकान्तराणि असंख्येयभागाभ्यधिकानि कुतः ? भाजकराशीनां समानत्वे सति भाज्यराशीनामसंख्यभागेनाभ्यधिकत्वात् । उपरितनकण्डकमात्रानन्तभागवृद्धस्थानानां स्थानान्तरस्पर्धकान्तराणि पूर्वपूर्वत उत्तरोत्तरमनन्तभागाभ्यधिकानि । द्वितीयकण्डकमात्राऽनन्तभागवृद्धस्थानानां चरमस्थानस्याऽसंख्येयलोकैर्भागे हृते यल्लब्धं तद् द्वितीयकण्डकमत्कचरमानन्तभागवृद्धस्थाने प्रक्षिप्यते, प्रक्षिप्ते च द्वितीयमसंख्येयभागवृद्धस्थानं समुत्पद्यते । एतस्मात् प्रक्षेपादेकरसात्रिभागपलिच्छेदेऽपनीते स्थानान्तरं भवति; एतत्स्थानान्तरमधस्तनाशेषानन्तभागवृद्धस्थानान्तरेभ्योऽनन्तगुणम् । उपरितनप्रथमानन्तगुणवृद्धस्थानस्याधस्तनाशेषानन्तभागवृद्धस्थानान्तरेभ्योऽप्यनन्तगुणमेव । कुतः ? भाज्यराशीनां क्वचिदनन्तभागाधिकत्वे क्वचिदसंख्यभागाभ्यधिकत्वे कुत्रचित् संख्यातभागाधिकत्वे क्वचित् संख्यातगुणत्वे क्वचिच्चाऽसंख्यगुणत्वेऽपि निरुक्तस्थानस्य भाजकराशेः अनन्तभागवृद्धस्थानानां भाजकराशितोऽनन्तगुणहीनत्वात् । अधस्तनाऽसंख्येयभागवृद्धस्थानान्तरत एतत्स्थानान्तरमसंख्येयभागाभ्यधिकम्, भाजकराश्योः समानत्वेऽपि भाज्यराशेरसंख्यभागेनाभ्यधिकत्वात् । एवमनन्तभागाधिकैः कण्डकप्रमाणैः स्थानैर्व्यवहिताऽन्यसंख्येयभागाधिकानि स्थानानि तावद् वाच्यानि यावत्तान्यपि कण्डकमात्राणि भवन्ति । प्ररूपणा च प्राग्वत् कार्या ।

अथ प्रमङ्गतोऽसंख्येयभागादिवृद्धस्थानस्याऽधस्तनानामुपरितनानां चाऽनन्तभागादिवृद्धस्थानानां स्पर्धकान्तराणां स्थानान्तराणां च तारतम्यं प्रदर्श्यते—स्वाधस्तनानन्तभागवृद्धस्थानान्तरतोऽसंख्येयभागवृद्धिविषये स्थितानामनन्तभागवृद्धस्थानानां स्थानान्तरस्पर्धकान्तराणि असंख्येयभागाभ्यधिकानि । संख्यातभागवृद्धिविषये स्थितानामनन्तभागवृद्धस्थानानां स्थानान्तरस्पर्धकान्तराणि संख्यातभागाभ्यधिकानि । संख्यातगुणवृद्धिविषये स्थितानामनन्तभागवृद्धस्थानान्तरस्पर्धकान्तराणि संख्यातगुणाधिकानि । असंख्यातगुणवृद्धिविषये स्थितानामनन्तभागवृद्धस्थानानां स्थानान्तरस्पर्धकान्तराणि असंख्यातगुणाधिकानि । अनन्तगुणवृद्धिविषये स्थितानामनन्तभागवृद्धस्थानानां स्थानान्तरस्पर्धकान्तराणि अनन्तगुणाभ्यधिकानि । अत्र स्वशब्दो यद्वृद्धिस्थानविषये स्थितानां स्थानानामल्पबहुत्वमुक्तं तद्वृद्धिस्थानानुकर्षी । एवमग्रेऽपि वाच्यम् ।

स्वाधस्तनाऽसंख्यभागवृद्धिस्थानान्तरतः संख्येयभागवृद्धिविषये स्थितानामसंख्यभागवृद्ध-स्थानानां स्थानान्तरस्पर्धकान्तराणि संख्येयभागाभ्यधिकानि । एवं संख्येयगुणविषये स्थितानां संख्यातगुणानि । असंख्येयगुणविषये स्थितानामसंख्येयगुणानि । अनन्तगुणविषये स्थितानाम-नन्तगुणानि । स्वाधस्तनसंख्यातभागवृद्धस्थानान्तरतः संख्यातगुणविषये स्थितानां संख्यातभाग-वृद्धस्थानानां स्थानान्तरस्पर्धकान्तराणि संख्यातगुणानि । एवमसंख्यातगुणविषये स्थितानामसंख्येय-गुणानि । अनन्तगुणविषये स्थितानामनन्तगुणानि ।

स्वाधस्तनसंख्यातगुणवृद्धस्थानान्तरतोऽसंख्येयगुणविषये स्थितानां संख्यातगुणवृद्धस्था-नानां स्थानान्तरस्पर्धकान्तराणि असंख्येयगुणानि । अनन्तगुणविषये स्थितानामनन्तगुणानि ।

स्वाधस्तनाऽसंख्यगुणवृद्धस्थानान्तरतोऽनन्तगुणवृद्धिविषये स्थितानामसंख्यगुणवृद्धस्थानानां स्थानान्तरस्पर्धकान्तराणि अनन्तगुणाभ्यधिकानि । अधस्तनाऽनन्तगुणवृद्धस्थानान्तरत उपरितन-सर्वानन्तगुणवृद्धस्थानानां स्थानान्तरस्पर्धकान्तराणि अनन्तगुणाभ्यधिकानि ।

अथ संख्यभागवृद्धस्थानानां प्रक्रिया दर्श्यते—रूपाधिककण्डकेन गुणितकण्डकप्रमाणाऽनन्त-भागवृद्धानां {क (क + १)} चरमानन्तभागवृद्धस्थानस्याऽर्थात् कण्डकवर्गकण्डकमात्रानन्तभागवृद्धानां चरमाऽनन्तभागवृद्धस्थानस्याऽर्थात् कण्डकमात्राऽसंख्येयभागवृद्धस्थानानि गत्वा पुनरुपरि कण्ड-कमात्राण्यनन्तभागवृद्धस्थानानि प्राप्यन्ते, तेषां चरमाऽनन्तभागवृद्धस्थानस्योत्कृष्टसंख्यातेन भागे हृते यल्लब्धं तत् तस्मिन्नेव चरमाऽनन्तभागवृद्धस्थाने प्रक्षिप्यते, प्रक्षिप्ते च प्रथमसंख्यातभागवृद्धस्था-नमुत्पद्यते। एतस्मादेकरसाविभागपलिच्छेदेऽपनीते स्थानान्तरं भवति । एतच्चाधस्तनानन्तभागवृद्ध-स्थानान्तरतोऽनन्तगुणम् । असंख्येयभागवृद्धस्थानान्तरेभ्योऽसंख्येयगुणम् । उपरितनप्रथमानन्तगुण-वृद्धस्थानस्याऽधस्तनानन्तभागवृद्धस्थानान्तरेभ्योऽनन्तगुणम् ,–हेतुस्तु पूर्ववत् । उपरितनप्रथमा-ऽसंख्येयगुणवृद्धस्थानस्याऽधस्तनाऽसंख्येयभागवृद्धस्थानान्तरेभ्योऽसंख्येयगुणम् । कुतः ? निरुक्त-स्थानस्य भाजकराशेरसंख्येयगुणहीनत्वात् । संख्यातगुणस्थानान्तरतोऽसंख्येयगुणहीनम् । संख्यातगुण वृद्धस्थानस्याधस्तनसंख्यातभागवृद्धस्थानान्तरेभ्यः संख्यातभागहीनं संख्यातगुणहीनमसंख्यातगुण-हीनं वा । एवं स्पर्धकान्तराणामप्यल्पबहुत्वं वक्तव्यम् । असंख्येयलोकप्रमाणषट्स्थानाभ्यन्तरे स्थितसंख्यातभागस्थानानामेवमेव प्ररूपणा कार्या ।

साम्प्रतं संख्यातगुणवृद्धस्थानानां प्रक्रिया प्रदर्श्यते—कण्डकमात्रसंख्यातभागवृद्धस्थाना-न्यतिक्रम्य पुनरुपरि कण्डकमात्राणि असंख्येयभागवृद्धस्थानानि व्यतिक्रम्य तदुपरिस्थितैककण्डक-मात्रानन्तभागवृद्धस्थानानां चरमानन्तभागवृद्धस्थाने उत्कृष्टसंख्यातेन गुणिते यावान् राशिर्भवति तावत्प्रमाणं प्रथमसंख्यातगुणवृद्धस्थानं भवति । मतान्तरेण पुनश्चरमानन्तभागवृद्धस्थाने उत्कृष्टसं-ख्यातेन गुणिते यल्लब्धं तत् तस्मिन् प्रक्षिप्ते प्रथमसंख्यातगुणवृद्धस्थानं भवति । एवं मतद्वयेना-

ऽसंख्यगुणवृद्धाऽनन्तगुणवृद्धस्थानानि ज्ञातव्यानि; नवरं तत्र गुणकारः क्रमेणाऽसंख्यलोकाः सर्वजीवराशिश्च ज्ञेयः। प्रस्तुतप्रथमसंख्यातगुणवृद्धस्थानादेकरसाविभागपलिच्छेदेऽपनीते स्थानान्तरं भवति। एतत्स्थानान्तरमधस्तनानन्तभागवृद्धस्थानान्तरापेक्षयाऽनन्तगुणाभ्यधिकम्। असंख्येयभागवृद्धस्थानान्तरापेक्षयाऽसंख्यगुणाभ्यधिकम् , संख्येयभागवृद्धस्थानान्तरापेक्षयाऽसंख्येयगुणाभ्यधिकम्। नन्वत्र संख्येयगुणाभ्यधिकमनुक्त्वाऽसंख्येयगुणाभ्यधिकं कुतोऽभिहितम्? इति चेद् , उच्यते—एतत्स्थानान्तरस्य संख्येयभागवृद्धस्थानान्तरापेक्षया उत्कृष्टसंख्यातराशिवर्गप्रमाणेनाधिकत्वात्। तथाहि—चरमसंख्यातभागवृद्धस्थाने या वृद्धिर्भवति सा तु स्वमूलराशौ उत्कृष्टसंख्यातेन विभक्ते प्राप्यते।

स्थापना चेत्थम्— $\frac{\text{मूलराशिः}}{\text{उत्कृष्टसंख्यात०}} = \text{वृद्धिः} = \text{स्थानान्तरम्}$

संख्यातगुणवृद्धस्थाने पुनर्या वृद्धिर्भवति सा तु मूलराशौ उत्कृष्टसंख्यातेन गुणिते लभ्यते। स्थापना चवम्—मूलराशिः×उत्कृष्टसंख्यात०=वृद्धिः=स्थानान्तरम्। अथ कियद्गुणेनाधिकमिति-प्राप्त्यर्थं संख्यातगुणवृद्धिसत्कस्थानान्तरं संख्यातभागवृद्धिसत्कस्थानान्तरेण विभज्यते तदा उत्कृष्टसंख्यातवर्गगुणेनाधिकं प्राप्यते। स्थापना पुनरेवम्—

संख्यातगुणवृद्धिसत्कस्थानान्तरं÷संख्यातभागवृद्धिसत्कस्थानान्तरम्।

$$= (\text{मूलराशि}\cdot \times \text{उत्कृष्टसंख्यात०}) \div \frac{\text{मूलराशिः}}{\text{उत्कृष्टसंख्यात०}}$$

$$= \frac{\text{मूलराशि}}{१} \times \frac{\text{उत्कृष्टसंख्यात०}}{१} \times \frac{\text{उत्कृष्टसंख्यात०}}{\text{मूलराशिः}} = \text{उत्कृष्टसंख्यातराशिवर्ग०}$$

∴ उत्कृष्टसंख्यातवर्गगुणेनाधिकं भवति।

उपरितनप्रथमाऽनन्तगुणवृद्धस्थानस्याधस्तनानन्तभागवृद्धस्थानान्तरतः संख्यातगुणवृद्धस्थानाऽन्तरं अनन्तगुणाभ्यधिकम्। प्रथमाऽसंख्यगुणवृद्धस्थानस्याऽधस्तनाऽसंख्यभागवृद्धस्थानान्तरतोऽसंख्यगुणाधिकम्। द्वितीयसंख्यातगुणवृद्धस्थानस्याऽधस्तनसंख्यातभागवृद्धस्थानान्तरतः संख्यातगुणवृद्धस्थानान्तरं क्वचित् संख्यातगुणम् ,क्वचित्संख्यातभागाधिकम् , क्वचित्संख्यातभागहीनम् , क्वचित्संख्यातगुणहीनम् ,क्वचिदसंख्येयगुणहीनम् वा। एतत्स्थानसत्कस्पर्धकान्तरस्याऽन्यस्पर्धकान्तरेभ्यः स्तोकत्वं बहुत्वं चानया दिशा स्वयमेव ज्ञातव्यम्। एवमसंख्येयलोकप्रमाणषट्स्थानकाभ्यन्तरे स्थितसंख्यातगुणवृद्धस्थानानां प्ररूपणा कर्तव्या।

अथाऽसंख्येयगुणवृद्धस्थानानां प्ररूपणा क्रियते—कण्डकमात्रसंख्यातगुणवृद्धस्थानेषु गतेषु यथाक्रमं प्राप्ते संख्यातगुणवृद्धस्थानविषये स्थितचरमानन्तभागवृद्धस्थानेऽसंख्यातैर्लोकैर्गुणिते यल्लभ्यते तत् तच्चरमानन्तभागवृद्धस्थाने प्रक्षिप्यते तदा प्रथमाऽसंख्यगुणवृद्धस्थानं भवति। एतस्मात्

प्रक्षेपादेकाऽविभागपलिच्छेदेऽपनीते स्थानान्तरं भवति। एतत्स्थानान्तरमधस्तनाऽनन्तभागवृद्धस्थानाऽन्तरतोऽनन्तगुणम्। अधस्तनाऽसंख्येयभागवृद्ध-संख्येयभागवृद्ध-संख्यातगुणवृद्धस्थानान्तरतोऽसंख्येयगुणम्। उपरितनाऽनन्तगुणवृद्धस्थानस्याधस्तनानन्तभागवृद्धस्थानान्तरतोऽनन्तगुणम्। द्वितीयाऽसंख्येयगुणवृद्धस्थानस्याधस्तनाऽसंख्येयभागवृद्धस्थानान्तरतोऽसंख्येयगुणम्। तदुपरितन-प्रथमसंख्यातगुणवृद्धस्थानस्याधस्तनसंख्यातभागवृद्धस्थानान्तरतः क्वचित्संख्यातगुणाधिकं क्वचित्संख्यातभागाधिकम्, क्वचित्संख्यातभागहीनं, क्वचित्संख्यातगुणहीनं क्वचिदसंख्यातगुणहीनं वा भवति। संख्यातगुणवृद्धाऽसंख्यातगुणवृद्धस्थानान्तरतोऽसंख्येयगुणहीनं वा भवति। एतत्स्थानसत्कस्पर्धकान्तराणामल्पबहुत्वं स्वयमेव वक्तव्यम्। एवमसंख्येयलोकप्रमाणषट्स्थानकाभ्यन्तरे स्थिताऽसंख्यातगुणवृद्धस्थानानां प्ररूपणा कार्या।

अथाऽनन्तगुणवृद्धस्थानानां प्ररूपणा क्रियते—तदधस्तनचरमानन्तभागवृद्धस्थाने सर्वजीवराशिना गुणिते यल्लभ्यते, तत् तदनन्तभागवृद्धस्थाने प्रक्षिप्यते, प्रक्षिप्ते च प्रथमाऽनन्तगुणवृद्धस्थानं भवति। एतस्मात् प्रक्षेपादेकरसाविभागपलिच्छेदेऽपनीते स्थानान्तरं भवति। एतच्च स्थानान्तरं सर्वाधस्तनस्थानान्तरतोऽनन्तगुणाभ्यधिकं भवति। एवमसंख्येयलोकप्रमाणषट्स्थानकस्थिताऽनन्तगुणवृद्धस्थानानां प्ररूपणा कर्तव्या।

अथ जघन्यस्थानमवलम्ब्य षड्वृद्धीनां स्वस्वायामः कियन्मात्र इति प्रदर्श्यते। तद्यथा—अनन्तभागवृद्ध्या विषय एककण्डकमात्रः। कुतः? असंख्येयभागवृद्धस्थानस्योपरि सर्वस्थानानां जघन्यस्थानापेक्षयाऽसंख्येयभागवृद्धिदर्शनात्। असंख्येयभागवृद्ध्या विषयः कण्डकसहितकण्डकवर्गप्रमाणः $(क^2+क)$। कुतः? उच्यते—एकस्मिन्नसंख्येयभागवृद्धस्थाने यदि कण्डकमात्राणि अनन्तभागवृद्धस्थानानि असंख्येयभागवृद्धतया लभ्यन्ते, तर्हि कण्डकमात्राऽसंख्येयभागवृद्धस्थानेषु गतेषु अनन्तभागवृद्धस्थानानि असंख्येयभागवृद्धतया कियन्मात्राणि भवेयुरिति त्रैराशिकेन कण्डकवर्गमात्राण्यनन्तभागवृद्धस्थानान्यसंख्येयभागवृद्धतया प्राप्यन्ते, तेषु कण्डकमात्राण्यसंख्यभागवृद्धस्थानानि प्रक्षिप्यन्ते, इत्थं कण्डकसहितकण्डकवर्गमात्रोऽसंख्येयभागवृद्धिविषयो भवति। एवं च सति अनन्तभागवृद्ध्यायामतोऽसंख्येयभागवृद्ध्यायामोऽसंख्येयगुणो भवति। ततः संख्यातभागवृद्ध्यायामः संख्येयगुणो भवति। कुतः? उच्यते—प्रथमसंख्यातभागवृद्धस्थानस्योपरितनसर्वाऽनन्ताऽसंख्यभागवृद्धस्थानानि संख्यातभागवृद्धिविषयतया भवन्ति। द्वयोः संख्यातभागवृद्धस्थानयोरन्तराले कण्डकसहितकण्डकवर्गप्रमाणस्थानानि $(क^2+क)$ अनन्ताऽसंख्यभागवृद्धस्थानानि संख्यातभागवृद्धितया प्राप्यन्ते। पुनस्तत्र प्रथमसंख्यातभागवृद्धस्थाने प्रक्षिप्ते रूपाधिककण्डकसहितकण्डकवर्गप्रमाणं भवति। एतावत्प्रमाणः संख्यातभागवृद्धिविषयो यद्येकस्मिन् संख्यातभागवृद्धस्थाने लभ्येत तर्हि स्थूलगणितेनोत्कृष्टसंख्यातराशिप्रमाणसंख्यातभागवृद्धस्थानेषु

गतेषु कियत्प्रमाणो विषयो भवेदिति त्रैराशिकेन यावन्मात्रविषयः प्राप्यते, तावन्मितः [(क^{2}+क)× उ० संख्यात०] संख्येयभागवृद्धिविषयो भवति । शेषसंख्यातभागवृद्धस्थानविषये स्थितानि तदनन्तरोपरितनस्थानानि संख्यातगुणवृद्धतया लभ्यन्ते । संख्येयभागवृद्धयायामतः संख्येयगुणवृद्धयायामः संख्येयगुणः । कुतः ? पूर्वोक्तसंख्येयभागवृद्धिविषये जघन्यपरित्ताऽसंख्येयस्य रूपोनार्धच्छेदनकैर्गुणिते यावत्प्रमाण अयामो भवति, तावन्मितः संख्यातगुणवृद्धिविषयो भवतीति कृत्वा । अत्र जघन्यपरित्ता-ऽसंख्येयस्य रूपोनार्धच्छेदनकैः गुणकारः कथं गृहीतः ? भण्यते--अनन्तरोपनिधायां कथितानि संख्यातभागवृद्धस्थानानि उत्कृष्टसंख्यातकतुल्यानि गत्वा संख्यातगुणवृद्धिविषयस्य प्रथमं स्थानं प्राप्यते । एतच्च जघन्यस्थानापेक्षया द्विगुणवृद्धं भवति । ततो भूयस्तावन्मात्राण्येव स्थानानि गत्वा चरमस्थानं प्रथमसंख्यातगुणवृद्धयपेक्षया द्विगुणवृद्धं द्वितीयस्थानं लभ्यते, एतच्च जघन्यस्थानापेक्षया चतुर्गुणम् । एवमेव तृतीयद्विगुणवृद्धस्थानं जघन्यस्थानापेक्षयाऽष्टगुणं भवति । एवं तावद् वाच्यं यावत् प्रथमद्विगुणवृद्धितो जघन्यपरित्ताऽसंख्येयस्याऽर्धच्छेदनकमात्रासु द्विगुणवृद्धिषु गतासु प्रथमाऽसंख्येयगुणवृद्धिरुत्पद्यते, जघन्यपरित्ताऽसंख्यातराशिना जघन्यस्थाने गुणिते यावान् राशिर्भवति तावत्प्रमाणत्वादेतत्स्थानस्य । यदि जघन्यस्थानत उत्कृष्टसंख्यातकतुल्यकानि संख्यातभागवृद्धानि स्थानानि जघन्यपरित्ताऽसंख्येयस्यार्धच्छेदनकराशिवारं समतिक्रम्यन्ते, तर्ह्यसंख्येयगुणवृद्धिः संप्राप्यते किन्तु प्रथमद्विगुणवृद्धिस्थानतः सैवाऽसंख्येयगुणवृद्धिस्तदा प्राप्यते यदा प्रागुक्तायामो जघन्यपरित्ताऽसंख्येयस्य एकन्यूनार्धच्छेदनकराशिवारमतिक्रम्यते । अत एव प्रथमद्विगुणवृद्धाध्वसत्कसंख्यातभागवृद्धयामे जघन्यपरित्ताऽसंख्येयस्य रूपोनार्धच्छेदनकैर्गुणिते संख्यातगुणवृद्धयायामो भवतीति कथितम् । न्यासः—(क^{2}+क) × उ० संख्यात० × (परित्ताऽसंख्येयच्छेदनक०—१) ।

असत्कल्पनया स्थापना त्वेवम्—

जघन्यस्थानम् = १ लक्षम् संख्यातभागवृद्धाध्वा

जघन्यपरित्ताऽसंख्येयराशिः=२५६ (क^{2}+क) × उ० संख्यात०

जघन्यपरित्ताऽसंख्येयस्यार्धच्छेदनकशलाकाः = ८

संख्यातभागाध्वा

जघन्यस्थानम्			४ल.	८ल.	१६ल.	३२ल.	६४ल.	१२८ल.	२५६ल.
	१ लक्षम्	२ लक्षम्	।	।	।	।	।	।	।
	।	प्रथमद्विगु-	१	२	३	४	५	६	७

संख्यातभागवृद्धिविषयः प्रथमद्विगुणवृद्धिपर्यन्तं भवति अत एव संख्यातभागवृद्धिविषये सप्तात्मकैः जघन्यपरित्ताऽसंख्येयस्य रूपोनैरर्धच्छेदनकैः गुणिते यावान् आयामो भवति तावन्मितः संख्येयगुणवृद्धिविषयो भवति ।

अथ संख्येयगुणवृद्धिविषयतोऽसंख्येयगुणवृद्धयायामोऽसंख्येयगुणः । कुतः ? संख्येयभाग-

वृद्धस्थानानि अनन्तरोपनिधायामङ्गुलस्यैकाऽसंख्यभागमितानि प्रोक्तानि, एतेषां स्थानानाम-ऽसंख्यातैकभागमात्रे एव संख्येयभागवृद्धिसंख्येयगुणवृद्धी समाप्ते । ततः संख्येयभागवृद्धस्थानसत्का-ऽध्वनः शेषा असंख्येयबहुभागाः, संख्येयगुणवृद्धाऽसंख्येयगुणवृद्धस्थानानां सम्पूर्णोऽध्वाऽ-संख्येयगुणवृद्धिविषयो भवति, अत एव संख्येयगुणवृद्धिविषयतोऽसंख्येयगुणवृद्धिविषयोऽसंख्येयगुणः प्रोक्तः ।

असंख्येयगुणवृद्धिविषयतोऽनन्तगुणवृद्धिविषयोऽसंख्येयगुणः । किं कारणम् ? प्रथमाऽ-नन्तगुणवृद्धस्थानादारभ्य सर्वस्थानानां परिसमाप्तिं यावदनन्तगुणवृद्धिविषयो भवतीति कृत्वा ।

अथ अपहारः प्ररूप्यते—अत्रोत्कृष्टरसस्यापहारः प्रत्येकस्थानसत्करसेन कियता कालेन भवतीति प्रदर्श्यते—चरमाऽनन्तगुणस्थानस्याधस्तनवर्तिना केनाप्येकस्थानेन यदि उत्कृष्टरसस्यापहारः प्रतिसमयं क्रियते तदाऽनन्तेन कालेन सर्वरसोऽपह्रियते । चरमानन्तगुणस्थानेन तु असंख्येयलोकप्रमाणकालेन सर्वापहारो भवति, चरमानन्तगुणस्थानस्योपरि कण्डकप्रमाणाऽसंख्येयगुणस्थानानां प्राप्यमाणत्वात् । चरमपर्यवसानाऽनन्तभागवृद्धरूपोत्कृष्टरसस्थानेनापह्रियमाणे एकेनैव वारेणापह्रियते, चरमपर्यवसाना-नन्तभागवृद्धस्थाने सर्वस्थानसत्करसानामुपलम्भात् । द्विचरमपर्यवसानाऽनन्तभागवृद्धस्थानप्रमाणेन सातिरेकैकवारेणैवापहारो भवति । त्रिचरमपर्यवसानाऽनन्तभागवृद्धस्थानप्रमाणेन तु सातिरेकैकवारे-णैवापहारो भवति । एवं द्विगुणहानिस्थानमध्योपरितनस्थानं यावद् नेतव्यम् । द्विगुणहानिस्थानेन पुनरुत्कृष्टरसो वारद्वयेनापह्रियते । शेषं स्वयमेव चिन्तनीयमिति ।



स्थानप्ररूपणायां तन्त्रान्तरमाश्रित्याऽपि बन्धस्थानादीनां विस्तरतः प्ररूपणा कृता । सम्प्रति प्रसङ्गवशात् सत्तास्थानानामपि तन्त्रान्तरमवलम्ब्य निरूपणं क्रियते—

प्राक्प्ररूपितबन्धस्थानानामेतेषां वक्ष्यमाणसत्कर्मस्थानानां च को विशेषः ? भण्यते—यानि रसस्थानानि बन्धेन निष्पद्यन्ते, तानि बन्धस्थानानि । अनुभागसत्तायां घातेन यानि रसस्थानानि निष्पद्यन्ते, तान्यपि कानिचिद् बन्धस्थानानि एव, बध्यमानानुभागस्थानेन समानत्वात् । यानि पुनरनुभागस्थानानि घातादेवोत्पद्यन्ते, न बन्धात् , तान्यनुभागसत्तास्थानानि कथ्यन्ते । तेषामेव हतसमुत्पत्तिकस्थानानीति द्वितीयसंज्ञा ।

अथ हतसमुत्पत्तिकस्थानानां रचना प्रदर्श्यते—सूक्ष्मनिगोदाऽपर्याप्तजघन्यबन्धस्थाना-दारभ्य चरमपर्यवसानानुभागस्थानं यावदेतानि असंख्येयलोकमात्रबन्धसमुत्पत्तिकस्थानानि विनेय-प्रतिबोधार्थमेकपार्श्वे एकश्रेण्याकारेण रचयित्वा पुनरन्यपार्श्वे एतेषां बन्धस्थानानां घातकारणी-भूताऽसंख्येयलोकमात्राऽध्यवसायस्थानानां जघन्यविशुद्धिस्थानत उत्कृष्टविशुद्धिस्थानपर्यन्तना-मेकश्रेण्याकारेण रचना कार्या; तदनन्तरं च बन्धस्थानाद् घातस्थानानि कथमुत्पद्यन्ते तद् दर्शयि-तव्यम् । तच्चैवम्—

अत्रादौ अनन्तभागवृद्धादिस्थानानां सुबोधार्थं संज्ञा दर्श्यते। तद्यथा—अनन्तभागवृद्धस्थानस्य शून्याङ्कसंज्ञा, असंख्येयभागवृद्धस्य एकाङ्कसंज्ञा, संख्येयभागवृद्धस्य द्विकाङ्कसंज्ञा, संख्येयगुणवृद्धस्य त्रिकाङ्कसंज्ञा, असंख्येयगुणवृद्धस्य चतुरङ्कसंज्ञा अनन्तगुणवृद्धस्य च पञ्चाङ्कसंज्ञा। प्रस्तुते एतत्संज्ञया अनन्तभागादीनां व्यवहारो विधास्यते।

प्रकृते एकेन जीवेन सर्वोत्कृष्टघातपरिणामस्थानपरिणतेन सर्वोत्कृष्टचरमशून्याङ्कबन्धस्थाने घातिते चरमपञ्चाङ्कतदधस्तनशून्याङ्कयोरन्तरालेऽन्यं हतसमुत्पत्तिकसंज्ञकमनुभागस्थानमुत्पद्यते। तच्च स्थानं चरमपञ्चाङ्कतोऽनन्तगुणहीनम्, तदधस्तनशून्याङ्कतोऽनन्तगुणाधिकं भूत्वा तिष्ठति। एतानि सत्कर्मस्थानानि पञ्चाङ्कशून्याङ्कयोरन्तराले एव भवन्ति, न त्वेक द्विक-त्रिक-चतुरङ्काणामन्तराले भवन्तीति। कथं ज्ञायते ? **कषायप्राभृतचूर्ण्युपदेशात्**। तद्यथा—

" उक्कस्सए अणुभागबंधट्ठाणे एगं संतकम्मं तमेगं संकमट्ठाणं। दुचरिमे अणुभागबंधठाणे एवमेव। एवं ताव जाव पच्छाणुपुव्वीए पढममणंतगुणहीणबंधट्ठाणमपत्तो त्ति। पुव्वाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे ज चरिममणंतगुणं बंधट्ठाणं तस्स हेट्ठा अणंतरमणंतगुणहीणमेदम्मि अंतरे असंखेज्जलोगमेत्ताणि घादट्ठाणाणि। ताणि संतकम्मट्ठाणाणि ताणि चेव संकमट्ठाणाणि।

एतद् हतसमुत्पत्तिकस्थानमत्र सर्वजघन्यम्, सर्वोत्कृष्टविशुद्ध्या घातितत्वात्। एतस्य च प्रदेशविन्यासो यथा बन्धस्थानानां प्ररूपितः, तथैव निरूपयितव्यः विन्यासविपर्ययेण विना तदनुभागस्य स्तोकत्वकरणात्।

पुनरन्येन जीवेन द्विचरमविशुद्धस्थानपरिणतेन तस्मिन्नेव चरमशून्याङ्के घातिते चरमपञ्चाङ्कतदधस्तनशून्याङ्कयोरन्तराले पूर्वोत्पन्नघातस्थानस्योपरि अनन्तभागाधिकं भूत्वा द्वितीयं हतसमुत्पत्तिकस्थानमुत्पद्यते। अत्र जघन्यस्थानस्य केन भागहारेण भागे हृते वृद्धिप्रक्षेपः समागच्छति ? अभव्यसिद्धिकेभ्योऽनन्तगुणेन सिद्धानामनन्तभागेन भागहारेण जघन्यस्थानस्य भागे हृते प्रक्षेप आगच्छति, जघन्यस्थानमध्ये वृद्धिप्रक्षेपे च प्रक्षिप्ते द्वितीयमनन्तभागवृद्धहतसमुत्पत्तिकस्थानं समुत्पद्यते।

पुनरन्येन जीवेन त्रिचरमविशुद्धिस्थानपरिणतेन तस्मिन्नेव चरमशून्याङ्के घातिते तृतीयमनन्तभागवृद्धघातस्थानमुत्पद्यते। एकस्मात् चरमशून्याङ्कबन्धस्थानात् कथमनेकसत्कर्मस्थानानामुत्पत्तिः ? उच्यते—एकस्मिन् बन्धस्थाने घातकारणीभूतविशुद्धाध्यवसायानामसंख्येयलोकप्रमाणत्वात्।

पुनरन्येन चतुश्चरमविशुद्धस्थानपरिणतेन जन्तुना तस्मिन्नेव चरमशून्याङ्के घातिते चतुर्थमनन्तभागवृद्धघातस्थानं समुत्पद्यते। एवं कण्डकमात्रानन्तभागहीनविशुद्धिस्थानानामधस्तनाऽसंख्येयभागहीनविशुद्धिस्थानपरिणतेन जीवेन तस्मिन्नेव चरमशून्याङ्के घातिते घातस्थानेषु कण्डकमात्रानन्तभागवृद्ध्या उपरि प्रथममसंख्येयभागवृद्धस्थानमुत्पद्यते। अत्र वृद्धिभागहारोऽसंख्येयलोकाः। एवं विलोमेन स्थितेनैकैकविशुद्धिस्थानेन तस्मिन्नेव चरमशून्याङ्के घातिते-

ऽसंख्येयलोकमात्राणि हतसमुत्पत्तिकस्थानानि विवक्षितपश्चाङ्कशून्याङ्कयोरन्तराले उत्पद्यन्ते ।

अत्रेदं बोध्यम्–घातस्थानेषु वक्ष्यमाणघातघातस्थानेषु च सर्वजीवराशिना गुणकारो भागहारश्च न वक्तव्यः । कुतः ? भण्यते–यदा घातस्थानं सर्वजीवराशिना गुण्यते तदोत्कृष्टरसबन्धस्थानाद्-नन्तगुणं घातस्थानं भवतीति कृत्वा, न च बन्धस्थानतो घातस्थानमनन्तगुणं भवति, विरोधात् । एतेषा-मसंख्येयलोकमात्रशून्याङ्कैक-द्विक-त्रिकचतुष्पश्चाङ्कस्थानानां स्थानान्तरस्पर्धकान्तरादीनां प्ररूपणा बन्धस्थानवद् विधेया । एवं चरमशून्याङ्कबन्धस्थानमाश्रित्य तावन्त्येव घातस्थानानि समुत्पद्यन्ते, कुतः ? उच्यते–अनुभागसत्कर्मस्थानानां कारणानि षड्विधवृद्धया वृद्धा घातयोग्यविशुद्धपरिणामाः, ते चाऽसंख्येयलोकषट्स्थानप्रमाणाः, अत एव तैः कारणैर्निष्पन्नानि हतसमुत्पत्तिकस्थानानि चरम-शून्याङ्कमाश्रित्यापि असंख्येयलोकषट्स्थानमात्राणि भवन्तीति **प्रथमपरिपाटी**।

अथ द्वितीयपरिपाटी भण्यते–उत्कृष्टविशुद्धिस्थानेन पर्यवसानद्विचरमशून्याङ्के घातिते पूर्वोक्तहतसमुत्पत्तिकसर्वजघन्यस्थानस्याऽधस्तादनन्तभागहीनं भूत्वा अन्यदपुनरुक्तस्थानमुत्पद्यते । अपुनरुक्तं नाम विसदृशमिति । अत्र हान्या भागहारो रूपाधिकसर्वजीवराशिः । कुतः ? एकेन परिणामेन घातिते सत्यपि उत्कृष्टशून्याङ्कतो द्विचरमशून्याङ्कस्य रूपाधिकसर्वजीवराशिना खण्डितैकखण्डपरिहाणिदर्शनात् । पुनर्द्विचरमविशोधिस्थानेन तस्मिन्नेव पर्यवसानद्विचरमशून्याङ्के घातिते प्रथमपरिपाट्या उत्पन्नहतसमुत्पत्तिकसर्वजघन्यस्थानेनाऽसदृशं भूत्वा द्वितीयपरिपाट्या द्वितीयं घातस्थानमुत्पद्यते । एतयोर्द्वयोः स्थानयोरसदृशत्वेन ज्ञायते यत् सत्कर्मस्थानेषु परिणामेषु सर्वजीवभागहारो न भवतीति । कोऽत्र वृद्धिभागहारः ? अभव्यसिद्धिकेभ्योऽनन्तगुणः सिद्धानामन-न्तभागकल्पः, कारणानुरूपकार्यसिद्धेर्न्याय्यत्वात् । एतत् साम्प्रतिकसमुत्पन्नानुभागघातस्थानं प्रथम-पङ्क्त्या जघन्यघातस्थानेन सदृशं न भवति, विभज्यमानराशीनामपहाराशीनां च सदृशत्वा-भावात् । ततश्च घातस्थानानामल्पबहुत्वमेवम्–द्वितीयपरिपाट्याः प्रथमं जघन्यघातस्थानं सर्वाल्पम्, ततोऽनन्तभागाभ्यधिकं प्रथमपरिपाट्याः सर्वप्रथमं जघन्यघातस्थानम् , अत्राऽनन्तगुणकारोऽनन्त-भागहारश्चाभव्यसिद्धिकेभ्योऽनन्तगुणः, सिद्धानामनन्तभागो द्रष्टव्यः । ततो द्वितीयपरिपाट्या द्वितीयस्थानमनन्तभागाभ्यधिकम् , एवमनया दिशा सर्वेषां घातस्थानानामल्पबहुत्वं विसदृशत्वं च भावनीयम् । एवं त्रिचरमादिविशुद्धिपरिणामस्थानैस्तस्मिन्नेव पर्यवसानद्विचरमशून्याङ्के घातितेऽसंख्ये-यलोकपरिणामस्थानतुल्यानि सत्कर्मस्थानानि लब्धानि भवन्तीति द्वितीया परिपाटी ।

सम्प्रति तृतीया परिपाटी दर्श्यते–तेनैवोत्कृष्टविशुद्धपरिणामेन पर्यवसानत्रिचरमशून्याङ्के घातिते द्वितीयपरिपाट्या उत्पन्नहतसमुत्पत्तिकसर्वजघन्यस्थानतोऽधोऽन्यपार्श्वेऽनन्तभागहीनं भूत्वा-ऽन्यदपुनरुक्तस्थानमुत्पद्यते । एवमसंख्येयलोकप्रमाणविशुद्धपरिणामस्थानैस्त्रिचरमशून्याङ्के घातिते तावन्मितानि अनुभागसत्कर्मस्थानानि पूर्ववदुत्पादयितव्यानीति ।

सम्प्रति **चतुर्थपरिपाटी** उच्यते—तेनैव चरमपरिणामेन पर्यवसानचतुश्चरमशून्याङ्के घातिते तृतीयपरिपाट्या उत्पन्नहतसमुत्पत्तिकसर्वजघन्यस्थानस्याधस्तादनन्तभागहीनं भूत्वाऽन्यदपुनरुक्तस्थानमुत्पद्यते । एवमत्रापि असंख्येयलोकाकाशप्रमाणपरिणामस्थानप्रमाणानि एव सत्कर्मस्थानानि उत्पादयितव्यानीति ।

एवं कण्डकमात्राण्यनन्तभागवृद्धबन्धस्थानानि प्रत्येकमसंख्येयलोकविशुद्धपरिणामैर्घातयित्वा घातयित्वा एकैकबन्धस्थानस्याऽसंख्येयलोकप्रमाणसत्कर्मस्थानानि उत्पादयितव्यानि । तत्पश्चादेकाङ्कबन्धस्थानं समागच्छति, । तदपि तावद्विशुद्धपरिणामैर्घातयित्वा तावन्मात्राणि सत्कर्मस्थानानि उत्पादयितव्यानि । पुनः कण्डकमात्राणि शून्याङ्कस्थानानि, तान्यपि पूर्वोक्तप्रकारेण घातयित्वा परिणामस्थानमात्राणि समुत्पादयितव्यानि । एवं प्रकारेण शेषबन्धस्थानानि प्रत्येकं चरमादिसर्वपरिणामैर्घातयित्वा घातयित्वा उत्तारयितव्यानि यावच्चरमपञ्चाङ्कस्थानम् । एवमुत्तारितेषु सत्कर्मस्थानानामायामोऽसंख्येयलोकविशुद्धिस्थानमात्रः, विष्कम्भः पुनरनन्तगुणस्थानस्योपरि यावन्ति चतुस्त्रिकद्विकैकशून्याङ्कस्थानानि तावत्प्रमाणो द्रष्टव्यः । चरमानन्तगुणस्थानं, तस्य चोपरि चतुस्त्रिकाङ्कादिस्थानानि त्वेतावत्प्रमाणानि—चरमानन्तगुणस्थानस्योपरि चतुरङ्कस्थानानि कण्डकमात्राणि (क), एतत्स्थानेषु रूपाधिककण्डकेन गुणितेषु कण्डकाधिककण्डकवर्गमात्राणि त्रिकाङ्कस्थानानि प्राप्यन्ते तद्यथा—$क \times (क+१) = क^२ + क$ । एतत्स्थानेषु रूपाधिककण्डकेन गुणितेषु कण्डकाधिकद्विकण्डकवर्गोत्तरकण्डकघनमात्राणि द्विकाङ्कस्थानानि लभ्यन्ते-तच्चैवम् । $क(क+१) \times (क+१) = क^३ + २क^२ + क$ । एतत्स्थानेषु रूपाधिककण्डकेन गुणितेषु कण्डकाधिकत्रिकण्डकवर्गोत्तरत्रिकण्डकघनाधिककण्डकवर्गवर्गप्रमाणानि एकाङ्कस्थानानि समुपलभ्यन्ते, तच्चैवम्—$क(क+१)(क+१)(क+१) = क^४ + ३क^३ + ३क^२ + क$ । एतत्स्थानेषु रूपाधिककण्डकेन गुणितेषु कण्डकाधिकचतुष्कण्डकवर्गोत्तरषट्कण्डकघनाधिकचतुष्कण्डकवर्गवर्गोत्तरकण्डकपञ्चघातमात्राणि शून्याङ्कस्थानानि लभ्यन्ते । तद्यथ—$क(क+१)(क+१)(क+१)(क+१) = क^५ + ४क^४ + ६क^३ + ४क^२ + क$ । एतेषां स्थानानां योगे कृते यावन्ति स्थानानि तावत्प्रमाणो विष्कम्भो ज्ञेयः । तद्यथा—

शून्याङ्कस्थानानि	$= क^५ + ४क^४ + ६क^३ + ४क^२ + क = २५००$	
एकाङ्क ,,	$क^४ + ३क^३ + ३क^२ + क = ५००$	
द्विकाङ्क ,,	$क^३ + २क^२ + क = १००$	क = कण्डक० = अङ्गुलाऽसंख्येयभागनभःप्रदेशप्रमाणराशिः। असत्कल्पनया तु ४
त्रिकाङ्क ,, +	$क^२ + क = २०$	
चतुरङ्क ,,	$+ क = ४$	
पञ्चाङ्कस्थानम्	$+ १ = १$	

$क^५ + ५क^४ + १०क^३ + १०क^२ + ५क + १ = ३१२५$ एतावत्स्थानप्रमाणो विष्कम्भः यदाऽसत्कल्पनया कण्डकं चतुःसंख्यात्मकं कल्प्यते तदा—$(४)^५ + ५(४)^४ + १०(४)^३ + १०(४)^२ + ५(४) + १ = ३१२५$ स्थानप्रमाणो विष्कम्भश्चरमपञ्चाङ्कतदधस्तनशून्याङ्कयोरन्तराले समुत्पन्नहतसमु

पत्तिकस्थानानां द्रष्टव्यः, एतदुत्पन्नाशेषस्थानान्यपुनरुक्तानि न सदृशानीति। चरमपञ्चाङ्कस्योपरितनसर्वबन्धस्थानसत्कसत्कर्मस्थानानां **प्रथमसमुदायः**।

सम्प्रति द्विचरमपञ्चाङ्कस्याधस्तात् तदनन्तराधस्तनशून्याङ्कस्योपरि द्वयोरपि बन्धस्थानयोरन्तराले समुत्पद्यमानसत्तास्थानानां निरूपणं क्रियते—

सर्वोत्कृष्टचरमरसस्थानतश्चरमपञ्चाङ्कपर्यन्तस्थानन्यूनोत्कृष्टरसस्थानानि अनुभागसत्तायां यस्य जीवस्य सन्ति, स जीवो यदोत्कृष्टविशुद्ध्या परिणतः सन् चरमशून्याङ्कं घातयति तदा द्विचरमपञ्चाङ्कस्याधस्तात् तदनन्तराधस्तनशून्याङ्कस्योपरि अर्थाद् द्वयोरन्तरालेऽन्यं हतसमुत्पत्तिकस्थानमुत्पद्यन्ते, तच्च स्थानं द्विचरमपञ्चाङ्कतोऽनन्तगुणहीनं तदनन्तराधस्तनशून्याङ्कतोऽनन्तगुणं भूत्वा तिष्ठति।

पुनर्द्विचरमपरिणामेन तस्मिन्नेव चरमशून्याङ्के घातिते पूर्वोत्पन्नस्थानस्योपरि अनन्तभागाभ्यधिकं भूत्वा द्वितीयं हतसमुत्पत्तिकस्थानमुत्पद्यते, पुनरत्रापि पूर्वोक्तरीत्या त्रिचरमादिविशुद्धिपरिणामस्थानैस्तदेव शून्याङ्कं घातयित्वा घातयित्वाऽसंख्यलोकप्रमाणघातपरिमाणतुल्यानि हतसमुत्पत्तिकस्थानानि समुत्पादयितव्यानीति प्रथमपरिपाटी।

द्वितीयपरिपाट्यां पुनस्तेनैव चरमविशुद्धिपरिणामस्थानेन द्विचरमबन्धस्थाने घातिते पूर्वोक्तजघन्यस्थानादधोऽनन्तभागहीनं भूत्वाऽन्यदपुनरुक्तं हतसमुत्पत्तिकस्थानमुत्पद्यते। पुनर्द्विचरमपरिणामेन तस्मिन्नेव स्थाने घातितेऽनन्तभागाभ्यधिकं भूत्वाऽन्यत्स्थानमुत्पद्यते। एवमनेन विधानेन त्रिचरमादिसर्वपरिणामस्थानैस्तस्मिन्नेव बन्धस्थाने घात्यमाने पूर्वोत्पन्नस्थानानामधः परिणामस्थानमात्राण्येव घातस्थानानि निष्पद्यन्ते।

एवं त्रिचरमादिरसबन्धस्थानानि प्रत्येकं घातयित्वा घातयित्वा पञ्चाङ्कशून्याङ्कयोरन्तरालेऽन्तराले परिणामस्थानप्रमाणदीर्घाः प्रस्तुतचरमशून्याङ्कतः पञ्चाङ्कपर्यन्तसर्वस्थानसंख्याप्रमाणाः सत्कर्मस्थानश्रेणय उत्पादयितव्याः। अत्रापि सर्वस्थानानि अपुनरुक्तानि। एवं द्विचरमपञ्चाङ्कशून्याङ्कयोरन्तराले द्विचरमपञ्चाङ्कस्योपरितनसर्वबन्धस्थानसत्कसत्कर्मस्थानानां **द्वितीयसमुदायप्ररूपणा** कृता।

सम्प्रति त्रिचरमपञ्चाङ्कतदनन्तराधस्तनशून्याङ्कयोरन्तराले उत्पद्यमानसत्तास्थानानां प्ररूपणा क्रियते—द्विचरमानन्तगुणस्थानस्याधस्तनशून्याङ्के प्राग्वद् घातिते त्रिचरमपञ्चाङ्कतदनन्तराधस्तनशून्याङ्कयोरन्तरालेऽसंख्येयलोकप्रमाणपरिणामस्थानतुल्यानि सत्कर्मस्थानानि समुत्पद्यन्ते, एवं द्विचरमादिस्थानेषु घात्यमानेषु एकैकस्मिन्ननुभागबन्धस्थाने विशुद्धिस्थानमात्राण्यसंख्येयलोकप्रमाणानि सत्कर्मस्थानानि प्राप्यन्ते। इति त्रिचरमपञ्चाङ्कस्योपरितनसर्वबन्धस्थानसत्कसत्कर्मस्थानानां तृतीयसमुदायप्ररूपणा।

एवं चतुश्चरमपश्चचरमाद्यसंख्येयलोकप्रमाणबन्धसमुत्पत्तिकपश्चाङ्कशून्याङ्कयोरन्तरालेषु पूर्वापरायतेन दक्षिणोत्तरविष्कम्भेनासंख्येयलोकमात्राणि सत्त्वास्थानप्रतराणि समुत्पद्यन्ते । किं सर्वेषां पश्चाङ्कशून्याङ्कानामन्तराले परिणामस्थानमात्रायामेन स्वचरमशून्याङ्कतः पश्चाङ्कपर्यन्तस्थानप्रमाणविष्कम्भेन सत्कर्मस्थानप्रतराणि उत्पद्यन्ते ? आहोस्विन्न ? उच्यते—सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तजघन्यस्थानस्योपरि संख्यातानां पश्चाङ्कशून्याङ्कानामन्तरालानि मुक्त्वा उपरितनाऽसंख्येयलोकप्रमितपश्चाङ्कशून्याङ्कान्तरालेषु सर्वेषूत्पद्यन्ते ।

जघन्यहतोत्पत्तिकस्थानं जघन्यसत्त्वास्थानेन किं सदृशमुत विसदृशम् ? इति ज्ञापनार्थमल्पबहुत्वमुच्यते—सुविशुद्धस्य सूक्ष्मपर्याप्तजीवस्य जघन्यानुभागबन्धस्थानमल्पम् । ततो जघन्यविशुद्धस्य तस्यैव जघन्यानुभागबन्धस्थानमनन्तगुणम् । ततः सुविशुद्धस्य सूक्ष्माऽपर्याप्तजीवस्य जघन्यानुभागबन्धस्थानमनन्तगुणम् । ततो जघन्यविशुद्धस्य तस्यैव जघन्यानुभागबन्धस्थानमनन्तगुणम् । ततोऽपि सूक्ष्मजीवस्य जघन्यानुभागसत्त्वास्थानमनन्तगुणम् , अनन्तरोक्तस्थानादसंख्यलोकप्रदेशप्रमितेषु षट्स्थानकेषु गतेषु जघन्यसत्त्वास्थानस्य सद्भाव इति कृत्वा, एतच्च स्थानं बन्धस्थानेन तुल्यम् । ततोऽपि जघन्यहतोत्पत्तिकस्थानमनन्तगुणम् , जघन्यसत्त्वास्थानात् संख्येयेषु अनन्तगुणवृद्धिस्थानेषु व्यतिक्रान्तेषु एव तस्योत्पादादिति ।

इति हतसमुत्पत्तिकस्थानप्ररूपणा समाप्ता ।

अथ हतहतसमुत्पत्तिकस्थाननिरूपणं क्रियते—

हतस्य हतमिति हतहतम् , ततः समुत्पत्तिर्येषां तानि हतहतसमुत्पत्तिकानि । अत्र सर्वतः प्रथमं विनेयजनसुबोधार्थं जघन्यविशुद्धिस्थानत उत्कृष्टविशुद्धिस्थानपर्यन्तानां घातकारणीभूतपरिणामस्थानानामेकश्रेण्याकारेण रचना कार्या । ततो दक्षिणपार्श्वे सूक्ष्मनिगोदस्य जघन्यबन्धस्थानत उत्कृष्टबन्धस्थानपर्यन्तानि बन्धसमुत्पत्तिकस्थानानि एकश्रेण्याकारेण विरचनीयानि । तत्र सूक्ष्मनिगोदाऽपर्याप्तजघन्यसत्त्वास्थानस्योपरि संख्येयानि पश्चाङ्कशून्याङ्कबन्धस्थानाऽन्तरालानि मुक्त्वा तदनन्तरपश्चाङ्कशून्याङ्कस्थानान्तरालत आरभ्य चरमपश्चाङ्कशून्याङ्कपर्यन्तसर्वाऽन्तरालेषु पूर्वापरायामेनाऽसंख्येयलोकमात्राणां हतसमुत्पत्तिकस्थानप्रतराणां रचना कर्तव्या । तत्र बन्धसमुत्पत्तिकचरमपश्चाङ्कशून्याङ्कयोरन्तरालेऽपि प्रत्येकं बन्धस्थानादसंख्येयलोकमात्राणि हतसमुत्पत्तिकस्थानानि समुत्पन्नानि सन्ति । तत्रापि उत्कृष्टरसबन्धस्थानादसंख्येयलोकायामा या एका हतसमुत्पत्तिकस्थानश्रेणिर्निष्पन्ना, तस्याः श्रेण्या यच्चरमशून्याङ्कघातस्थानम् , तद्घातस्थानस्य घातविधिः प्रदर्श्यते । तद्यथा—उत्कृष्टपरिणामस्थानेन चरमशून्याङ्के घातिते चरमपश्चाङ्कतदनन्तराधस्तनशून्याङ्कघातस्थानयोरन्तरालेऽन्यद् हतहतसमुत्पत्तिकस्थानमुत्पद्यते । तच्च घातघातस्थानं चरमपश्चाङ्कघातस्थानतोऽनन्तगुणहीनं तदधस्तनशून्याङ्कघातस्थानतोऽनन्तगुणं भूत्वा तिष्ठति । पुनरनन्तभाग-

हीनद्विचरमविशुद्धिपरिणामेन तस्मिन् स्थाने घातिते पूर्वोत्पन्नघातघातस्थानस्योपर्यनन्तभागाभ्य- धिकं भूत्वा द्वितीयं हतहतसमुत्पत्तिकस्थानमुपत्पद्यते । कुतः ? अनन्तभागहीनविशुद्ध्या घातितत्वात् । एवं यया यया हान्या युक्तेन विशुद्धिस्थानेन चरमशून्याङ्कं घात्यते, तया तया वृद्ध्या सहितानि घातघातस्थानानि समुत्पद्यन्ते । एवं च कृते नानाजीवानाश्रित्य चरमशून्याङ्के सर्वपरिणामस्थानैः घातिते चरमपश्चाङ्कशून्याङ्कघातस्थानयोरन्तरालेऽसंख्येयलोकपरिणामस्थानमात्राणि हतहतसमुत्पत्तिकस्थानानि समुत्पद्यन्ते । इति हतहतसमुत्पत्तिकस्थानानां प्रथमपङ्क्तिः ।

पुनश्चरमपरिणामस्थानेन हतसमुत्पत्तिकपर्यवसानद्विचरमशून्याङ्के घातिते सर्वजघन्यहतहतसमुत्पत्तिकस्थानतोऽधोऽनन्तभागहीनं भूत्वा वामपार्श्वे घातघातस्थानानां द्वितीयपङ्क्त्याः प्रथमस्थानमुत्पद्यते । पुनरेतस्माद् घातस्थानाद् विशुद्धिपरिणामप्रमाणान्येव हतहतसमुत्पत्तिकस्थानानि प्राग्वदुत्पादयितव्यानि । इति द्वितीयपङ्क्तिः ।

पुनस्तेनैवोत्कृष्टपरिणामस्थानेन त्रिचरमशून्याङ्कघातस्थाने घातिते पूर्वोत्पन्नद्वितीयपङ्क्त्या जघन्यस्थानतोऽधोऽनन्तभागहीनं भूत्वा तृतीयपङ्क्त्याः प्रथमघातघातस्थानमुत्पद्यते । एवमत्रापि परिणामस्थानतुल्यानि हतहतसमुत्पत्तिकस्थानानि समुत्पद्यन्ते । इति तृतीयपङ्क्तिः ।

एवं चतुश्चरमघातस्थानतः चरमपश्चाङ्कपर्यन्तघातस्थानानि क्रमेण घातयित्वा प्रत्येकं घातस्थानात् परिणामस्थानतुल्यानि घातघातस्थानानि उत्पादयितव्यानि, अर्थात् प्रत्येकं घातस्थानात् परिणामस्थानमात्रायामा एकैका श्रेणिः निष्पद्यते एवं च सति चरमपश्चाङ्कतदधस्तनशून्याङ्कघातस्थानयोरन्तराले चरमशून्याङ्कतः चरमपश्चाङ्कपर्यन्तविष्कम्भं परिणामस्थानमात्रायामं घातघातस्थानप्रतरं भवति ।

अनया नीत्या द्विचरम त्रिचरम-चतुश्चरमादिपश्चाङ्कशून्याङ्कानामन्तरालेषु हतहतसमुत्पत्तिकस्थानानि तावदुत्पादयितव्यानि यावत्प्रथमपञ्चाङ्कघातस्थानम् एवं बन्धसमुत्पत्तिकचरमपश्चाङ्कशून्याङ्कयोरन्तरालेऽवस्थितासंख्येयलोकहतसमुत्पत्तिकस्थानानां सर्वपश्चाङ्कशून्याङ्कानां प्रत्येकमन्तरालेषु विशुद्धस्थानप्रमाणदीर्घाणि चरमशून्याङ्कतः पश्चाङ्कपर्यन्तविष्कम्भाणि हतहतसमुत्पत्तिकस्थानानां प्रतराणि समुत्पादयितव्यानि ।

पुनः पश्चानुपूर्व्याऽवतीर्य बन्धसमुत्पत्तिकद्विचरमपश्चाङ्कशून्याङ्कयोरन्तरालेऽसंख्येयलोकमात्राणि हतसमुत्पत्तिकस्थानानि प्रागेव समुत्पादितानि तेषां हतसमुत्पत्तिकस्थानानां सर्वपश्चाङ्कशून्याङ्कानामन्तरालेषु असंख्येयलोकमात्राणि हतहतसमुत्पत्तिकस्थानानि समुत्पादयितव्यानि ।

एवं बन्धसमुत्पत्तिकत्रिचरमचतुश्चरमपञ्चचरमादिपञ्चाङ्कशून्याङ्कानामन्तरालेषु पश्चानुपूर्व्या तावद् नेतव्यं यावदप्रतिषिद्धप्रथमपश्चाङ्कम् । अत्र बन्धसमुत्पत्तिकाऽप्रतिषिद्धपश्चाङ्कशून्याङ्कान्तरालेऽपि असंख्येयलोकमात्राणि विशुद्धपरिणामायामानि हतसमुत्पत्तिकस्थानप्रतराणि सन्ति । अत्रापि सर्वपञ्चाङ्कशून्याङ्कानां प्रत्येकमन्तरालेऽसंख्येयलोकमात्राणि हतहतसमुत्पत्तिकप्रतराणि समुत्पद्यन्ते इति हतहतसमुत्पत्तिकस्थानानां प्रथमा परिपाटिः ।

घातस्थानयोरन्तराले हतहतसमुत्पत्तिकस्थानानि घातस्थानापेक्षया सर्वाणि नवानि उत्पद्यन्ते तेषु मध्ये कानिचित्स्थानानि परस्परं विसदृशानि कानिचित्पुनः सदृशानि सन्ति । कुतः ? इति चेद् , उच्यते–घातस्थानेषु घातघातस्थानेषु च अभव्यतोऽनन्तगुणः सिद्धानामनन्तभाग इति अनन्तगुणकराशितया अनन्तभागहारराशितया गृह्यते, विशुद्धिपरिणामरूपभाजकराशिः सर्वत्र तुल्यः ततश्च कानिचित्स्थानानि सदृशानि कानिचिद्विसदृशानि समुत्पद्यन्त इत्युक्तम् ।

परस्परं विसदृशानि हतहतसमुत्पत्तिकस्थानानि सत्तास्थानगणनामध्ये सर्वाणि आयान्ति अत एव तानि सर्वाणि अपुनरुक्ततया व्यपदिश्यन्ते । यानि पुनः सदृशानि तन्मध्यादेकमेव स्थानं गण्यते, शेषसमानस्थानानि त्वपनीयन्ते, यानि स्थानानि गण्यन्ते तानि स्थानान्यपुनरुक्ततया भण्यन्ते, यानि पुनः स्थानान्यपनीयन्ते तानि सर्वाण्यत्र पुनरुक्ततया गण्यन्ते । द्वयोः सदृशस्थानयोर्मध्ये पुनरुक्ताऽपुनरुक्तगणना इत्थं क्रियते—यत्स्थानमुपरितनपङ्क्तिस्थानापेक्षया सदृशं भवति तत्स्थानं गणनातोऽपनीयते, ततस्तत्स्थानं पुनरुक्तमुच्यते । किन्तूपरितनपङ्क्तिगतस्थानं गणनामध्ये आयाति ततस्तत्स्थानमपुनरुक्तं निर्दिश्यते, अर्थाद् यदि प्रथमपङ्क्तिगतस्थानं द्वितीयपङ्क्तिस्थस्थानेन सदृशं भवति तदा प्रथमश्रेणिगतस्थानं पुनरुक्ततया गण्यते, द्वितीयश्रेणिसत्कस्थानं त्वपुनरुक्ततया व्यवह्रियते तदपि यदा तृतीयादिश्रेणिसत्कस्थानैर्न सदृशं तदा ।

एषा पुनरुक्ताऽपुनरुक्तप्ररूपणा चरमपश्चाङ्कतदधस्तनशून्याङ्कघातस्थानयोरन्तराले प्रागनन्तरोत्पादितेषु घातघातस्थानेषु प्रदर्श्यते । तद्यथा–अत्र प्रथमपङ्क्तिस्थप्रथमशून्याङ्कघातघातस्थानमपुनरुक्तमेव, द्वितीयश्रेणिगतजघन्यस्थानस्याऽनन्तभागाभ्यधिकत्वेन समानत्वाभावात् । अत्र प्रथमपङ्क्तिर्नाम पश्चाङ्कघातस्थानस्य घातेन या पङ्क्तिरुत्पन्ना सा प्रथमपङ्क्तितया ग्राह्या, न तु सर्वोत्कृष्टचरमशून्याङ्कघातस्थानस्य घातेनोत्पन्ना पङ्क्तिरिति । द्वितीयशून्याङ्कस्थानं पुनरुक्तमेव, कुतः ? द्वितीयश्रेणिस्थजघन्यस्थानरूपप्रथमशून्याङ्कस्थानेन सदृशत्वात् । एतदपि कुतः ? उच्यते–प्रथमपङ्क्तिस्थजघन्यस्थानापेक्षया द्वितीयपङ्क्तिस्थजघन्यस्थानमनन्तभागेनाभ्यधिकं भूत्वा तिष्ठति प्रथमपङ्क्तिस्थद्वितीयस्थानमपि स्वपङ्क्तिस्थप्रथमस्थानापेक्षयाऽनन्तभागेनाभ्यधिकं भवत्येव, द्वयोः स्थानयोः भागहारराशेस्तुल्यत्वेन द्वे स्थाने सदृशे भवतः, अतः प्रागुक्तपुनरुक्तव्याख्यातः प्रथमश्रेणिस्थद्वितीयस्थानं पुनरुक्तं भवति । एवं प्रथमश्रेणिस्थतृतीयशून्याङ्कस्थानं द्वितीयश्रेणिस्थद्वितीयस्थानेन सदृशत्वात् पुनरुक्तं भवति । एवं प्रथमपङ्क्तिस्थचतुर्थशून्याङ्कस्थानं द्वितीयपङ्क्तिगततृतीयशून्याङ्केन समानत्वात् पुनरुक्तं भवति । एवं तावत् नेतव्यं यावत्प्रथमकण्डकस्य चरमशून्याङ्कस्थानम् ।

इत्थं प्रथमपङ्क्तेः कण्डकमात्रेषु शून्याङ्कस्थानेषु समतिक्रान्तेषु एकाङ्कस्थानं समागच्छति।

तथाऽपुनरुक्तं भवति । कुतः? उच्यते—एतत्स्थानं द्वितीयपङ्क्तिगतैकाङ्कस्थानेन सदृशं न भवति, अनन्तभागहीनत्वात् । द्वितीयश्रेणिगतप्रथमकण्डकसत्कचरमशून्याङ्केनापि सदृशं न भवति, असंख्येयभागाभ्यधिकत्वात्, अत एव प्रथमश्रेणेरेकाङ्कस्थानमपुनरुक्तं भवति ।

प्रथमपङ्क्तेरेकाङ्कस्योपरि द्वितीयकण्डकसत्कप्रथमशून्याङ्कस्थानं पुनरुक्तं भवति, द्वितीयपङ्क्तेरेकाङ्कस्थानेन सह सदृशत्वात् । एवं द्वितीयशून्याङ्कस्थानं द्वितीयपङ्क्तेर्द्वितीयकण्डकसत्कप्रथमशून्याङ्केन सह समानत्वेन पुनरुक्तं भवति । अनया दिशा प्रथमश्रेणेर्द्वितीयकण्डकस्य सर्वशून्याङ्कस्थानानि पुनरुक्तान्यभिधातव्यानि । ततः प्रथमपङ्क्तेर्द्वितीयमेकाङ्कस्थानमागच्छति, तत्स्थानं प्रथमैकाङ्कवदपुनरुक्तं कथनीयम् । एवं नीत्या प्रथमपङ्क्तेः तृतीयादिकण्डकेषु सर्वशून्याङ्कस्थानानि पुनरुक्तानि वाच्यानि, ततश्च प्रथमश्रेणेः जघन्यस्थानवर्जसर्वशून्याङ्कस्थानानि पुनरुक्तानि भवन्ति । सर्वाणि एक-द्विक-त्रिक-चतुष्पञ्चाङ्कस्थानानि त्वपुनरुक्तानि भणितव्यानीति प्रथमपङ्क्तिस्थानानां पुनरुक्तापुनरुक्तप्ररूपणा ।

अथ द्वितीयपङ्क्तिगतस्थानानां पुनरुक्तापुनरुक्तप्ररूपणा दृश्यते—अत्र सर्वजघन्यं प्रथमशून्याङ्कस्थानमपुनरुक्तं भवति, तृतीयपङ्क्त्या जघन्यस्थानस्याऽनन्तभागाधिकत्वेन सदृशत्वाभावात् । न च द्वितीयपङ्क्त्या जघन्यस्थानस्य प्रथमपङ्क्तिगतद्वितीयशून्याङ्कस्थानेन सदृशत्वेन पुनरुक्तत्वमिति वाच्यम्, उपरितनपङ्क्तिसत्कस्थानापेक्षया सदृशत्वे पुनरुक्तत्वमधस्तनस्थानस्य भवतीति पुनरुक्तापुनरुक्तव्याख्यानात् ।

अयम्भावः—घातस्थानापेक्षया सर्वाणि घातघातस्थानानि नवीनानि उत्पद्यन्ते, तथापि द्वयोः सदृशघातघातस्थानयोर्मध्ये उपरितनश्रेणिगतमेकं स्थानं गण्यते, ततश्च तदपुनरुक्तं कथ्यते, अधस्तनश्रेणिगतस्थानं तु सत्तास्थानगणनातोऽपनीयते, अत एव तत्स्थानं पुनरुक्तं भण्यते । प्रस्तुते द्वितीयपङ्क्तिगतजघन्यस्थानं प्रथमपङ्क्तिगतद्वितीयस्थानेन सदृशं भवति, अतः पुनरुक्ताऽपुनरुक्तव्याख्यानतो द्वितीयपङ्क्तिगतजघन्यस्थानमपुनरुक्तं, प्रथमपङ्क्तिगतद्वितीयस्थानं तु पुनरुक्तं कथितमिति । एवमग्रेऽपि भावनीयम् ।

द्वितीयपङ्क्तिगतद्वितीयस्थानं पुनरुक्तं भवति, तृतीयपङ्क्तिगतप्रथमस्थानेन समानत्वात् । एवं तृतीयस्थानं तृतीयपङ्क्तिगतद्वितीयस्थानेन सह समानत्वेन पुनरुक्तं भवति । इत्थमत्रापि प्रथमपङ्क्तिवत् सर्वशून्याङ्कस्थानानि पुनरुक्तानि, एकद्विकत्रिकचतुष्पञ्चाङ्कस्थानानि त्वपुनरुक्तानि वाच्यानीति ।

एवं हतसमुत्पत्तिककण्डकमात्रस्थानतः समुत्थितासु कण्डकमात्रपङ्क्तिषु प्रथमद्वितीयपङ्क्तिवत् पुनरुक्ताऽपुनरुक्तप्ररूपणा कार्या । इत्थं पुनरुक्ताऽपुनरुक्तनिरूपणे कृते चरमपञ्चाङ्कन्यूनकण्डकमात्रशून्याङ्कघातस्थानत उत्पन्नाः पङ्क्तयः सर्वसंख्यया कण्डकमात्रा अतिक्रान्ताः ।

अथाऽवशिष्टचरमशून्याङ्कघातस्थानादुत्पन्नघातघातपङ्क्त्याः तदुपरितनैकाङ्कघातस्थानात् समुत्पन्नघातघातपङ्क्त्या सह पुनरुक्तापुनरुक्तप्ररूपणा क्रियते—एतत्पङ्क्त्याः प्रथमं जघन्यस्थानमपुनरुक्तं भवति,तदुपरितनपङ्क्त्याः केनापि स्थानेनाऽसमानत्वात् ,एतत्पङ्क्त्या यद् द्वितीयस्थानं तदप्यपुनरुक्तम् , कुतः ? उच्यते—एतदुपरितनपङ्क्तिः एतत्पङ्क्तिसत्कघातस्थानापेक्षयाऽसंख्येयभागाधिकघातस्थानादुत्पन्ना, तत उपरितनपङ्क्त्याः कण्डकमात्राणि शून्याङ्कस्थानानि एतत्पङ्क्तिगतकण्डकमात्रशून्याङ्कापेक्षयाऽसंख्येयभागाधिकानि भवन्ति । अत एव एतत्पङ्क्तिगतकण्डकमात्राणि शून्याङ्कघातघातस्थानान्यपुनरुक्तान्येव भवन्ति । तत्पश्चादेतत्श्रेण्या एकाङ्कस्थानं समागच्छति,तच्च स्थानं पुनरुक्तं भवति । कुतः ? एतदुपरितनपङ्क्त्याः प्रथमकण्डकस्य यच्चरमशून्याङ्कस्थानं, तेन सह समानमिति कृत्वा । एतत्श्रेण्या एकाङ्कस्योपरि द्वितीयकण्डकस्य प्रथमादिसर्वशून्याङ्कस्थानानि स्वप्रथमकण्डकवदपुनरुक्तानि भवन्ति, उपरितनपङ्क्तिगतस्थानापेक्षयाऽसंख्येयभागहीनत्वात् । एवं कण्डकमात्रेषु शून्याङ्कस्थानेषु गतेषु एतद्विवक्षितपङ्क्त्या द्वितीयमेकाङ्कस्थानं पुनरुक्तं भवति, एतदुपरितनपङ्क्त्या द्वितीयैकाङ्कस्याधस्तनशून्याङ्केन सह समानत्वात् । एवमेतद्विवक्षितपङ्क्त्या एकाङ्कस्थानानि तावत्पुनरुक्तानि भूत्वा गच्छन्ति यावदेतत्श्रेण्या द्विकाङ्कस्थानं न प्राप्यते, । अयम्भावः—एतद्विवक्षितपङ्क्त्याः प्रथमद्विकाङ्कस्याऽधः कण्डकमात्राण्येकाङ्कस्थानानि एव पुनरुक्तानि, शेषाणि सर्वाणिस्थानानि त्वपुनरुक्तानि ।

एतद्विवक्षितपङ्क्तेः स्थानानां पुनरुक्ताऽपुनरुक्तभावना सुबोधार्थमसत्कल्पनया प्रदर्श्यते-कल्प्यतामत्र कण्डकं चतुरात्मकम् , अतः कण्डकमात्राः पङ्क्तयश्चतस्रो गच्छन्ति, तत्पश्चात् पञ्चमश्रेणिः शेषचरमशून्याङ्कघातस्थाने घातिते समुत्पन्ना । षष्ठश्रेणिः पुनः तदनन्तरैकाङ्कघातस्थानादुत्पन्ना । पञ्चमश्रेण्याः कण्डकमात्राणि चत्वारि शून्याङ्कस्थानान्यपुनरुक्तानि । कुतः ? षष्ठश्रेणिगतशून्याङ्कस्थानानामसंख्येयभागाधिकत्वात् । पञ्चमश्रेणिगतपञ्चमस्थानमेकाङ्कं भवति । तच्च पुनरुक्तं भवति । कुतः ? षष्ठश्रेणिगतैकाङ्कस्थानस्याधस्ताद् यत् शून्याङ्कस्थानम्, अर्थादसत्कल्पनया चतुर्थस्थानं तेन सह पञ्चमश्रेणिसत्कैकाङ्कं सदृशमिति कृत्वा । पञ्चमश्रेणिसत्कषष्ठशून्याङ्कस्थानमपुनरुक्तं भवति । एवं पुनः कण्डकमात्राणि चत्वारि शून्याङ्कस्थानान्यपुनरुक्तानि भवन्ति । पुनः दशमस्थानमेकाङ्कं भवति, तच्च पुनरुक्तं भवति, षष्ठश्रेण्या द्वितीयाऽसंख्येयभागवृद्धस्थानस्यार्थाद् द्वितीयैकाङ्कस्याधस्तात् शून्याङ्करूपेण नवमस्थानेन सह समानत्वात् ।

एवं पञ्चमश्रेण्या एकाङ्कस्थानानि तावत्पुनरुक्तानि यावद् द्विकाङ्कस्थानं न प्राप्यते । तदुपरितनसर्वस्थानानि त्वपुनरुक्तान्येव भवन्ति । इदमुक्तं भवति—पञ्चमश्रेण्याः प्रथमद्विकाङ्कस्थानस्याधस्तनकण्डकमात्राणि असत्कल्पनया पुनः चत्वार्येव एकाङ्कस्थानानि पुनरुक्तानि सन्ति, शेषाणि सर्वाणि स्थानानि त्वपुनरुक्तानि भवन्तीति ।

यथा प्रथमकण्डकमात्रपङ्क्तीनां स्थानानां पुनरुक्ताऽपुनरुक्तप्ररूपणा कृता तथैव द्वितीयादि-सर्वकण्डकमात्रपङ्क्तीनां स्थानानां कार्या। नवरं हतसमुत्पत्तिकाऽसंख्येयभागवृद्धस्थानस्याधस्तन-शून्याङ्कस्थानात् समुत्पन्ना या हतहतसमुत्पत्तिकस्थानश्रेणिः, तस्याः श्रेणेरसंख्येयभागवृद्धस्थानानि पुनरुक्तानि तावद् वाच्यानि यावत्संख्येयभागवृद्धस्थानं न प्राप्यते। अयम्भावः-अत्र कण्डकमात्राण्येवाऽसंख्येयभागवृद्धस्थानानि पुनरुक्तानि, शेषसर्वाणि स्थानानि त्वपुनरुक्तानि सन्तीति। एवमग्रेऽपि भावनीयम्। एवं हतसमुत्पत्तिकसंख्येयभागवृद्धस्थानस्याधस्तनशून्याङ्क-स्थानादुत्पन्ना या हतहतसमुत्पत्तिकस्थानश्रेणिः, तस्याः श्रेणेः केवलसंख्येयभागवृद्धस्थानानि पुन-रुक्तानि तावद् वाच्यानि यावत् प्रथमसंख्येयगुणवृद्धस्थानं न प्राप्यते। अर्थात् कण्डकमात्राण्येव संख्यातभागवृद्धस्थानानि पुनरुक्तानि, शेषसर्वाणि स्थानानि त्वपुनरुक्तानीति। अनया दिशा संख्येयगुणाऽसंख्येयगुणघातस्थानस्याधस्तनशून्याङ्कघातस्थानत उत्पन्नश्रेणीनां स्थानानां पुन-रुक्तापुनरुक्तप्ररूपणा कार्या।

इत्थं द्विचरमादिसर्वपश्चाङ्कशून्याङ्कघातस्थानानामन्तरालेषु प्रथमपरिपाट्या समुत्पन्नघात-घातस्थानानां पुनरुक्ताऽपुनरुक्तप्ररूपणा कार्या।

अनेनैव प्रकारेण वक्ष्यमाणद्वितीयादिपरिपाटिभिरुत्पन्नानां हतहतसमुत्पत्तिकस्थानानां पुन-रुक्ताऽपुनरुक्तप्ररूपणा कर्तव्येति।

अथ हतहतसमुत्पत्तिकस्थानानां **द्वितीयपरिपाटिः** प्रदर्श्यते–बन्धसमुत्पत्तिकसर्वपश्चाङ्क-शून्याङ्कानां प्रत्येकमन्तरालेष्वसंख्येयलोकमात्राणि हतसमुत्पत्तिकस्थानानि सन्ति। पुनरेतेषां हतसमुत्पत्तिकसर्वपश्चाङ्कशून्याङ्कानां प्रत्येकमन्तरालेष्वसंख्येयलोकमात्राणि प्रथमपरिपाट्या हतहत-समुत्पत्तिकस्थानानि उत्पन्नानि सन्तीति प्राक्प्रतिपादितम्। पुनरेतेषां प्रथमपरिपाट्या उत्पन्न-हतहतसमुत्पत्तिकस्थानानां प्रत्येकं पश्चाङ्कशून्याङ्काऽन्तरालेषु द्वितीयपरिपाट्याऽसंख्येयलोकमात्राणि हतहतसमुत्पत्तिकस्थानानि समुत्पादयितव्यानि।

अथ हतहतसमुत्पत्तिकस्थानानां **तृतीयपरिपाटिः** प्रदर्श्यते–द्वितीयपरिपाट्या समुत्पन्न-हतहतसमुत्पत्तिकस्थानानां प्रत्येकं पश्चाङ्कशून्याङ्कानामन्तरालेषु पूर्वोक्तनीत्याऽसंख्येयलोकाकाश-प्रदेशमात्राणि हतहतसमुत्पत्तिकस्थानानि उत्पादयितव्यानि। एवमनन्तरोत्पन्नोत्पन्नपश्चाङ्कशून्याङ्का-नामन्तरालेषु घातघातस्थानानि तावदुत्पादयितव्यानि यावत्संख्याताः परिपाटयो गताः सन्ति।

अयम्भावः–तृतीयपरिपाट्या नवोत्पन्नहतहतसमुत्पत्तिकस्थानेषु घातितेषु नवीनानि घात-घातस्थानानि उत्पद्यन्ते, तेषां च नूतनस्थानानां चतुर्थपरिपाटिर्भवति। एवमभिनवघातघात स्थानानां पुनः पुनर्घाते हतहतसमुत्पत्तिकस्थानानां संख्याताः परिपाटयो भवन्तीति।

मूलाष्टकर्मणां बन्धसमुत्पत्तिक-हतसमुत्पत्तिक-हतहतसमुत्पत्तिकरसस्थानानामल्पबहुत्वं दर्श्यते–

ज्ञानावरणीयस्य सर्वस्तोकानि बन्धसमुत्पत्तिकस्थानानि । ततो हतसमुत्पत्तिकस्थानान्यसंख्यातगुणानि । गुणकारोऽसंख्येया लोकाः । ततो हतहतसमुत्पत्तिकस्थानान्यसंख्यातगुणानि । अत्रापि गुणकारोऽसंख्येया लोकाः । एवं दर्शनावरणीयादीनामल्पबहुत्वं विज्ञेयम् ।

अत्र **कर्मप्रकृति-तच्चूर्णि-टीकामध्ये** बन्धोत्पत्तिक-हतोत्पत्तिक-हतहतोत्पत्तिकरसस्थानानां स्वरूपमल्पबहुत्वं चैवम्—

"बंधहयहयहउप्पत्तिगाणि कमसो असंखगुणियाणि ।
उदयोदीरणवज्जाणि होंति अनुभागठाणाणि ॥"

एतद्गाथासत्क**कर्मप्रकृतिचूर्णि**-"जे बंधातो उप्पज्जंति अणुभागट्ठाणा ते बंधुप्पतिगा वुच्चंति, ते असंखेज्जलोगागामपदेसमेत्ता । कह ? भण्णइ-अणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणा असंखेज्जलोगागामपदेसमेत्तात्ति काउ । 'हतुप्पत्तिग' त्ति-किं भणियं होति ? उवट्टणातोव्वट्टणाउ वुड्ढिहाणीतो जे उप्पज्जति ते हउप्पत्तिगा वुच्चंति । बंधुप्पत्तीतो हतुप्पत्तीगा असंखेज्जगुणा, एक्केक्कंमि बंधुप्पत्तिम्मि असंखेज्जगुणा लब्भंतित्ति । **'हतहतुप्पत्तिगाणि'** ति-ठितिघायरसघायातो जे उप्पज्जंति ते हयहतुप्पत्तिगा, हतुप्पतीउ हयहतुप्पत्तिगा असंखेज्जगुणा । कहं ? भण्णति-संकिलेसविसोही जीवस्स समए समए अन्नन्ना भवति, तमेव अणुभागघायकारण ति तम्हा असंखेज्जगुणा । **'उदओदीरणावज्जाणि'**-उदओदीरणाउ य अणुभागघाओ भवति, तं संतकम्म ण गणिज्जति । कह ? भण्णति-तंमि समते बंधो वा उव्वट्टणा वा ओव्वट्टणा वा ट्ठितिअणुभागघातो वा एगयरो णियमा भवति तेण तेसु चेव तं गणिज्जति त्ति काउं । अणुभागट्ठाणाणि त्ति अणुभागसंतकंमट्ठाणाणि ॥"

तद्वृत्तिः-"इदानीमनुभागसत्कर्मस्थानभेदप्ररूपणार्थमाह-**'बंध'** इत्यादि, इहानुभागस्थानानि त्रिधा, तद्यथा-बन्धोत्पत्तिकानि, हतोत्पत्तिकानि, हतहतोत्पत्तिकानि च । तत्र बन्धादुत्पत्तिर्येषां तानि बन्धोत्पत्तिकानि । तानि चासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि, तद्धेतूनामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तथा उद्वर्तनापवर्तनाकरणवशतो वृद्धिहानिभ्यामन्यथाऽन्यथा यान्यनुभागस्थानानि वैचित्र्यभाञ्जि भवन्ति तानि हतोत्पत्तिकान्युच्यन्ते । हतात् घातात् पूर्वावस्थाविनाशरूपादुत्पत्तिर्येषां तानि हतोत्पत्तिकानि । तानि च पूर्वेभ्योऽसंख्येयगुणानि, एकैकस्मिन् बन्धोत्पत्तिके स्थाने नानाजीवापेक्षया उद्वर्तनापवर्तनाभ्यामसंख्येयभेदकरणात् । यानि पुनः स्थितिघातेन रसघातेन चान्यथाऽन्यथाभवनादनुभागस्थानानि जायन्ते तानि च हतहतोत्पत्तिकान्युच्यन्ते । हते उद्वर्तनापवर्तनाभ्यां घाते सति भूयोऽपि हतात् स्थितिघातेन रसघातेन वा घातादुत्पत्तिर्येषां तानि हतहतोत्पत्तिकानि । तानि चोद्वर्तनापवर्तनाजन्येभ्योऽसंख्येयगुणानि ।

सम्प्रत्यक्षरयोजना क्रियते-यानि उदयत उदीरणातश्च प्रतिसमयं क्षयसंभवात् अन्यथाऽन्यथानुभागस्थानानि जायन्ते तानि वर्जयित्वा शेषाणि बन्धोत्पत्तिकादीनि अनुभागस्थानानि क्रमशोऽसंख्येयगुणानि वक्तव्यानि । उदयोदीरणाजन्यानि कस्माद्वर्ज्यन्त इति चेद्, उच्यते-यस्मादुदयोदीरणयोः प्रवर्तमानयोर्नियमाद् बन्धोद्वर्तनापवर्तनास्थितिघातरसघातजन्यानामन्यतमान्यवश्यं संभवन्ति, तत उदयोदीरणाजन्यानि तत्रैवान्तःप्रविशन्तीति न पृथक् क्रियन्ते ।"

इति सत्तास्थानप्ररूपणा समाप्ता ।

तदेवमष्टमाऽधस्तनप्ररूपणापर्यन्तद्वाराणां विविधहेतुभिः गणितविभागसत्काऽसत्कल्पनाभिश्च मतान्तरपूर्वकं विस्तरतो विवरणं कृतम् । साम्प्रतं वृद्धिप्ररूपणाऽऽख्यनवमद्वारस्याऽवसरः । तत्र तावत् तद्द्वारप्रतिपादककर्मप्रकृतिसत्कमूलगाथा तच्चूर्णिश्च प्रदर्श्यते—

वड्ढीहाणीछक्कं तम्हा दोण्हं वि अंतमिल्लाणं ।
अंतोमुहुत्तमावलिअसंखभागो य सेसाणं ॥७७१॥

अत्र कर्मप्रकृतिचूर्णिः-'एतेसु अज्झवसाणट्ठाणेसु जीवाणं केरिसा अज्झवसाणस्स वड्ढी वा हाणी वा केचिरं वा कालं ठाणेसु वड्ढी वा हाणी वा तेण वड्ढिपरूवणा भण्णति-एत्थ जीवा परिणामं पडुच्च छहिं वड्ढीहिं वड्ढंति। तंजहा-अणंतभागवड्ढीए, असंखेज्जभागवड्ढीते, संखेज्ज भागवड्ढीए, संखिज्जगुणवड्ढीए, असंखेज्ज-गुणवड्ढीए, अणंतगुणवड्ढीए। एवं हाणी वि भाणितव्वा । 'तम्हा दोण्हं वि अंतमिल्लाणं' ति-तेसु वड्ढीहाणिट्ठाणेसु अणंतगुणवड्ढिअणंतगुणहाणीण 'अंतोमुहुत्तं' ति-अंतोमुहुत्तं कालं वड्ढी वा हाणी वा। 'आवलिअसंखभागो य सेसाणं'' ति-सेसाणं पंचण्हं वड्ढीहाणिट्ठाणाणं आवलियाए असंखेज्जतिभागमेत्तं कालं अज्झवसाणं पडुच्च वड्ढी वा हाणी वा। जीवाणं एसो अज्झवसाणाणं उक्कोसो वड्ढीहाणी कालो। जहण्णेण एगो वा दो वा समया वड्ढी वा हाणी वा'' । इति [कर्मप्रकृतिगाथाङ्कः ३८]

(प्रे०) इदानीं वृद्धिस्थानप्ररूपणा क्रियते-'वड्ढ' इत्यादि, इह जीवाः परिणतिविशेषतः कर्मपरमाणुष्वनुभागस्य षड्विधामुक्तस्वरूपां वृद्धिं हानिं वा कुर्वन्ति । तस्मात् कां वृद्धिं कियन्तं कालं यावत् कुर्वन्तीत्यवश्यं कालप्रमाणमभिधानीयम् । तत्र 'द्वयोः'-वृद्धिहान्योः 'अन्तिमयोः'-अनन्तगुणवृद्ध्यनन्तगुणहानिरूपयोरन्तर्मुहूर्तमवगन्तव्यम् । किमुक्तं भवति ? अन्तर्मुहूर्तं कालं यावन्निरन्तरं जीवाः परिणामविशेषतः प्रतिसमयमनुभागान् पूर्वस्मात् पूर्वस्मादनन्तगुणवृद्धाननन्त-गुणहीनान् वा बध्नन्ति । तथा शेषाणां पञ्चानामाद्यानां वृद्धीनां हानीनां वा आवलिकाया असंख्येयभागमात्रः कालो वेदितव्यः ।

इदमुक्तं भवति-अनुभागानामाद्याः पञ्च वृद्धीर्हानीर्वा आवलिकाया असंख्येयभागमात्रं कालं यावन्निरन्तरं जीवाः परिणामविशेषतः कुर्वन्ति । एषा च हानिवृद्धिकालप्ररूपणोत्कर्षतोऽव-गन्तव्या । जघन्यतस्तु सर्वा अपि वृद्धयो हानयो वा एकं द्वौ वा समयौ यावदवगन्तव्याः ।

ननु पञ्चवृद्धि-पञ्चहानीनां प्रत्येकमुत्कृष्टकाल आवलिकाया असंख्येयभागमात्र उक्तः, स कालः परस्परं तुल्यः, आहोस्वित् विषमः ? इति चेत्, उच्यते-पञ्चवृद्धिपञ्चहानीनां कालो विषमः, तथोत्तरोत्तरमसंख्येयगुणः संभाव्यते। तथाहि-योगस्थानप्ररूपणायामसंख्यभाग-संख्यातभागा-दिवृद्धिहानीनामावलिकाया असंख्येयभागस्योत्तरोत्तरमसंख्येयगुणत्वं भवतीति कथयिष्यते, तेन तथैवात्राऽपि सम्भावना कृता ।

ननु एतद्ग्रन्थस्य वृद्ध्यधिकारे (५०३तमे पृष्ठे) "सेसासु बंधगा" इत्यादि७५६-तम गाथावृत्तौ अनन्तभागादिवृद्धिहानीनामावलिकाऽसंख्येयभागरूपकालस्योत्तरोत्तरमसंख्येयगुणत्वे हेतु-तया उत्तरोत्तरं तत्तद्वृद्ध्यादीनामायामस्याऽसंख्येयगुणत्वं यदुक्तं तदसम्यक्, परम्परोपनि-धायां संख्यातभागवृद्ध्यायामतः संख्यातगुणवृद्ध्यायामस्य संख्येयगुणत्वमिति प्रतिपादनात् ? इति चेन्न, यद्धेतुतयोक्तमायामस्याऽसंख्येयगुणत्वं तन्न परम्परोपनिधायां दर्शितप्रकारेण किन्त्व-

न्यप्रकारेण इति हेतोः । तथाहि–परम्परोपनिधायामनन्तभागादिवृद्धीनामायामो जघन्यस्थानस्यै-वापेक्षया, अतस्तत्र संख्यातभागवृद्धयायामतः संख्येयगुणवृद्धयायामः संख्येयगुणः, अत्र हेतुतयोक्त आयामस्तु कस्मादपि स्थानाद् येन केनाऽपि प्रकारेणोत्कृष्टतो यावत्यायामे उत्तरोत्तर संख्यात भागवृद्धयः कर्तुं शक्यन्ते, तावान् सर्वोऽपि आयामः संख्यातभागवृद्धयायामतया गण्यते । एवमेव संख्यातगुणवृद्धयायामोऽपि बोध्यः । अनया रीत्या संख्यातभागवृद्धयायामतः संख्येयगुणवृद्धयायाम-स्याऽसंख्येयगुणत्वस्य प्राप्तौ न कापि बाधा अस्माभिः दृश्यते । इदन्तु सर्वं संभावनया कथितं, निर्णेतुं तु सर्ववेदसां ज्ञानमेवाऽलम् ॥७७१॥

इदानीमेतेष्वनुभागबन्धस्थानेषु बन्धमाश्रित्याऽवस्थाने कालमानं चिन्तयन्नाह—

चतुराई जावऽट्ठगमेत्तो जावं दुगं ति समयाणं ।
ठाणाणं उक्कोसो जहण्णओ सव्वहिं समओ ॥७७२॥

अत्र कर्मप्रकृतिचूर्णिः–इदाणिं एतेसु अज्झवसाणट्ठाणेसु अवट्ठाणकालो भण्णति तेण समय-परूवणा भण्णति–चत्तारि समया जेसिं ठाणाणं भाती ते चउरादिट्ठाणा अत्थि । चउसमयतिगाणि अणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणाणि असंखेज्जलोगागासपदेसमेत्ताणि मूलातो आढवेत्तु । ततो उवरिं पंचसमति-गाणि अणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणाणि असंखेज्जलोगागासपदेसमेत्ताणि । एवं छसामयिगाणि असंखेज्ज-लोगागासपदेसमेत्ताणि । सत्तसमतिगाणि असंखेज्जलोगागासपदेसमेत्ताणि । अट्ठसमतिगाणि असंखेज्ज-लोगागासपदेसमेत्ताणि । 'जावं दुगं ति समयाणं' ति–सत्तसमतिगेहिंतो आढत्तं जाव दुसमइगाणि, ताव हायंति जाव अत्थि दुसमतिगाणि अणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणाणि असंखेज्जलोगागासपदेसमेत्ताणि 'ठाणाणं उक्कोसो' त्ति–चतुसमतिगादिठाणाणं उक्कोसो अवट्ठाणकालो भणितो । 'जहण्णतो सव्वहिं समतो' त्ति–जहण्णेण सव्वट्ठाणेसु एगो समतो अवट्ठाणकालो'' इति । [कर्मप्रकृतिगाथाङ्कः ३९]

(प्रे०) 'चतुराई' इत्यादि, चत्वार आदिर्यस्याः सा चतुरादिः वृद्धिः । सा च 'समया-नाम्'–अवस्थितकालनियामकानां तावद् द्रष्टव्या यावदष्टौ समयाः । इत ऊर्ध्वं पुनः समयानां हानिर्वक्तव्या । सा च तावद् वक्तव्या यावद् द्विकम् । सा च वृद्धिर्हानिर्वा चतुरादिका स्थाना-नामनुभागबन्धस्थानानामुत्कर्षतो द्रष्टव्या । जघन्यतस्तु सर्वेषामपि समयः ।

इयमत्र भावना–यानि अनुभागबन्धस्थानानि जीवाः पुनः पुनस्तान्येव चतुरः समयान् यावद् बध्नन्ति तानि चतुःसामयिकानि, तानि च मूलादारभ्यासंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणानि तेभ्य उपरितनानि स्थानानि पञ्चसामयिकानि, तान्यप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणानि । तेभ्य उपरितनानि स्थानानि षट्सामयिकानि तान्यप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणानि । तेभ्य उपरितनानि स्थानानि सप्तसामयिकानि; तान्यप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणानि । तेभ्य उपरितनान्यष्टसामयिकानि, तान्यप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणानि । तेभ्य उपरित-नानि पुनः स्थानानि सप्तसामयिकानि, तान्यप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणानि । तेभ्य उपरितनानि षट्सामयिकानि, तान्यप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणानि । एवं तावद्वाच्यं

यावद्द्विसामयिकानि । एवं समयप्ररूपणा स्थावरप्रायोग्याध्यवसायस्थानेष्वपि संभवति । तथा चोक्तं मुनिचन्द्रसूरिभिः कर्मप्रकृतिचूर्णिटिप्पनके–

"इह सर्वेष्वपि चतु.सामयिकादिषु स्थानकेषु त्रसानां स्थावराणां जीवानामवतारः सम्भवतीति" ।

इदन्त्ववधेयम्–जघन्यरसबन्धस्थानस्याऽवस्थानकालश्चतुःसमयप्रमाणं तस्य कर्मणो भवति यस्य कर्मणो जघन्यरसबन्धः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन भवति, यथा वेदनीयादिकर्मणाम् । ज्ञानावरणीयादीनां पुनर्जघन्यरसबन्धः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन न निर्वर्त्यते ततस्तत्कर्मणां जघन्यरसबन्धस्थानस्याऽवस्थानं चतुःसमयप्रमाणं न भवति । किन्तु तत्कर्मणामभव्यप्रायोग्यजघन्यरसबन्ध उत्कृष्टतो द्वौ समयौ एव अवतिष्ठते, तदुत्कृष्टरसबन्धकालोऽपि द्वौ समयौ एव निर्दिष्टः ॥७७२॥

तदेवं कृता समयप्ररूपणा । अथ यान्यनुभागबन्धस्थानान्यष्टसामयिकानि तानि यस्यां वृद्धौ हानौ वा प्राप्यन्ते तामाह—

दुसु जवमज्झं थोवाणि अट्ठसमयाणि दोसु पासेसु ।
समऊणियाणि कमसो असंखगुणियाणि उप्पिं च ॥७७३ ॥

अत्र कर्मप्रकृतिचूर्णिः–इदाणिं अट्ठसमतिगादीअज्झवसाणट्ठाणा कतरम्मि वड्ढिट्ठाणे भादत्ता कयरम्मि ट्ठाणे णिट्ठिता तं णिरूवणत्थं जवमज्झपरूवणा भण्णइ–'दुसुजवमज्झं' ति–अणंतगुणवड्ढीए अणंतगुणहानीए जवमज्झे ठाणाणि वुत्ताणि । किं भणितं होति ? अणंतगुणवड्ढीए भादत्ताणि असंखेज्जलोगागासपदेसमेत्ताणि ठाणाणि (गंतूण) अणंतगुणहाणिट्ठाणे णिट्ठिगाणि । अणंतगुणहाणित्ति केण कारणेण ? भण्णइ–सत्तसमतिगाणं पढमट्ठाणातो अणंतगुणहीणं अट्ठसमतिगं णिट्ठाणट्ठाणं । एवं भाइल्लचतुसमइग(चरिमदुसमतिग)वज्जाणं सव्वट्ठाणाणं एस कमो । भादिल्लचतुसमतिगाणं पढमातो अज्झवसाणठाणातो भादत्तं (जाव अन्तिमं) अणंतगुणहाणिट्ठाणे चेव णिट्ठितं । किं कारणं ? भण्णइ–चतुसमतिगाण पढम ट्ठाण अणंतभागब्भतिगं चरिमं च (अणंतगुणवड्ढिअं पंचसमतिगाण पढमट्ठाणातो अणंतगुणहाणिट्ठाणे चेव णिट्ठिअं । दुसमतिगाणि तु सव्वाणि तिसमतिगचरिमट्ठाणाओ दुसमतिगपढमट्ठाणस्स अणंतगुणवड्ढताओ अणंतगुणवड्ढठाणे चेव णिट्ठिगाणि ।)

इदाणिं एतेसिं चतुसमतिगाइणं ठाणाणं कतराणि कतरेहिंतो अप्पाणि वा बहुताणि वा तुल्लाणि वा ? तेणप्पाबहुगं भण्णइ–"थोवाणि अट्ठसमयाणि" त्ति सव्वत्थोवाणि अट्ठसमतियाणि । दोसु पासेसु समयूणगाणि कमसो असंखगुणियाणि' त्ति–दोसु वि पासेसु सत्तसमइगाणि दो वि तुल्लाणि असंखेज्जगुणाणि । ततो दोसु वि पासेसु छसमतिगाणि दोवि तुल्लाणि असंखेज्जगुणाणि ततो दोसु वि पासेसु पंचसमतिगाणि दोवि तुल्लाणि असंखेज्जगुणाणि । ततो दोसु वि पासेसु चतुसमतिगाणि दोवि तुल्लाणि असंखेज्जगुणाणि उप्पिज्जन्ति । ततो उप्पिं तिसमतिगाणि असंखेज्जगुणाणि । ततो दुसमतिगाणि असंखेज्जगुणाणि ।" ॥ इति [कर्मप्रकृतिगाथाङ्कः ४०]

(प्रे०) '**दुसु जवमज्झं**' इत्यादि, द्वयोर्विकल्पयोरनन्तगुणवृद्ध्यनन्तगुणहानिरूपयोर्यवमध्यं वर्तते । यवस्य मध्यमिव यवमध्यम्–अष्टसामयिकान्यनुभागबन्धस्थानानीत्यर्थः तथाहि–यथा यवस्य

मध्यं पृथुलमुभयतः पार्श्वे च हीने हीनतरे तथाऽत्रापि कालतः पृथुलानि अष्टसामयिकानि अनुभागबन्धस्थानानि उभयपार्श्ववर्तीनि च सप्तसामयिकादीनि कालतो हीनानि हीनतराणि । ततोऽष्टसामयिकानि यवस्य मध्यमिव यवमध्यम् । तानि च प्रथमादष्टसामयिकात् स्थानादारभ्य सर्वाण्यप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणानि अनन्तगुणवृद्धौ अनन्तगुणहानौ च प्राप्यन्ते । सप्तसामयिकानां हि चरमादनुभागबन्धस्थानात् प्रथममष्टसामयिकं स्थानमनन्तगुणवृद्धम् । ततः शेषाण्यपि तदपेक्षयाऽनन्तगुणवृद्धान्येव भवन्ति । तथाऽष्टसामयिकानां चरमादनुभागबन्धस्थानादुपरितनं सप्तसामयिकं स्थानमनन्तगुणवृद्धम् । ततस्तदपेक्षया पाश्चात्यान्यष्टसामयिकान्यनुभागबन्धस्थानानि सर्वाण्यप्यनन्तगुणहीनान्येव भवन्ति । तदेवमष्टसामयिकान्यनन्तगुणवृद्धौ अनन्तगुणहानौ च प्राप्यन्ते । अष्टसामयिकानि चोपलक्षणम्, तेनाद्यानि चतुःसामयिकानि सर्वान्तिमानि च द्विसामयिकानि वर्जयित्वा शेषाणि सर्वाण्यपि पञ्चसामयिकादीनि प्रत्येकमुक्तप्रकारेणाऽनन्तगुणवृद्धावनन्तगुणहानौ च वेदितव्यानि । आद्यानि पुनः चतुःसामयिकान्यनन्तगुणहानावेव । **तथाहि**—पञ्चसामयिकमाद्यमनुभागबन्धस्थानं चतुःसामयिकचरमानुभागबन्धस्थानापेक्षयाऽनन्तगुणवृद्धम् । ततस्तदपेक्षया पाश्चात्यानि चतुःसामयिकानि सर्वाण्यप्यनुभागबन्धस्थानान्यनन्तगुणहानावेव लभ्यन्ते । द्विसामयिकानि त्वनन्तगुणवृद्धावेव । **तथाहि**—त्रिसामयिकानां चरमादनुभागबन्धस्थानादाद्यं द्विसामयिकमनुभागबन्धस्थानमनन्तगुणवृद्धम्, ततस्तदपेक्षया सर्वाण्यप्यनन्तगुणवृद्धान्येव । कृता यवमध्यप्ररूपणा ।

साम्प्रतं चतुःसामयिकादीनां स्थानानामल्पबहुत्वमाह—'**थोवाणि**' इत्यादि, सर्वस्तोकानि यवमध्यभूतानि अष्टसामयिकानि स्थानानि । अतिचिरबन्धकालयोग्यानि हि स्थानानि स्तोकान्येव प्राप्यन्ते इति कृत्वा । तेभ्योऽसंख्येयगुणानि पूर्वोत्तरलक्षणोभयपार्श्ववर्तीनि सप्तसामयिकानि, अल्पतरबन्धकालविषयत्वात्, स्वस्थाने तु द्वयान्यपि परस्परं तुल्यानि । तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणानि उभयपार्श्ववर्तीनि षट्सामयिकानि, स्वस्थाने तु द्वयान्यपि परस्परं तुल्यानि । तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणानि उभयपार्श्ववर्तीनि पञ्चसामयिकानि, स्वस्थाने तु द्वयान्यपि परस्परं तुल्यानि । तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणानि उभयपार्श्ववर्तीनि चतुःसामयिकानि, स्वस्थाने तु द्वयान्यपि परस्परं तुल्यानि तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणानि त्रिसामयिकानि । तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणानि द्विसामयिकानि । '**दोसु पासेसु**' त्ति—अष्टसामयिकेभ्योऽनन्तरं द्वयोः पार्श्वयोः 'क्रमशः'—क्रमेण समयोनानि सप्तसामयिकादीनि स्थानानि असंख्येयगुणानि तावद् वक्तव्यानि यावच्चतुःसामयिकानि । तेभ्य उपरि च त्रिसामयिकानि द्विसामयिकानि च क्रमशोऽसंख्येयगुणानि वक्तव्यानीति गाथार्थः ।।७७२।।

अथ सर्वानुभागबन्धस्थानसमुदाये विशेषसंख्यां ज्ञापयन्नाह—

सुहुमगणिपवेसणया अगणिक्काया य तेसि कायठिई ।

कमसो असंखगुणिया यऽज्झवसाणाणि अणुभागे ॥७७४॥

अत्र कर्मप्रकृतिचूर्णिः-"एताणि छट्ठाणाणि असंखेज्जाणि वुत्ताणि, तेसिं संखाणिरूवणत्थं भण्णति-एगंमि समए सुहुमगणित्ताए जे उप्पज्जंति जीवा ते असंखेज्जलोगागासपदेशमेत्ताए, ततो अगणिकाइयत्ताए जे परिणता जीवा ते असंखेज्जगुणा, ततो तेउकायट्ठिति असंखेज्जगुणा, ततो अणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणाणि असंखेज्जगुणाणि। इति [कर्मप्रकृतिगाथाङ्कः ४१]

(प्रे०) **'सुहुम'** इत्यादि, सूक्ष्माग्नौ-सूक्ष्माग्निकाये प्रवेशनम्-उत्पादो येषां ते सूक्ष्माग्निप्रवेशनकाः तथा अग्निकाया अग्निकायत्वेनावस्थिताः। तथा तेषामग्निकायानां कायस्थितिकालः एते क्रमशः क्रमेणाऽसंख्येयगुणिताः। तथा अनुभागे-अनुभागविषयेऽध्यवसानानि, कार्ये कारणोपचारादध्यवसायनिर्वर्त्यानि यान्यनुभागबन्धस्थानानि, तान्यसंख्येयगुणानि। उक्तं च-"सुहुमगणिपवेसंता चिट्ठंता तेसि कायठिइकालो। कमसो असंखगुणिओ तत्तो अणुभागठाणाइं।"

इयमत्र भावना-ये एकस्मिन् समये सूक्ष्माग्निकायेषु मध्ये प्रविशन्ति उत्पद्यन्ते ते स्तोकाः, ते चासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः। तेभ्योऽपि येऽग्निकायत्वेनावतिष्ठन्ते तेऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यग्निकायकायस्थितिकालोऽसंख्येयगुणः, ततोऽप्यनुभागबन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि। ललितविस्तरा-शतकचूर्णि-कर्मप्रकृतिचूर्ण्याद्यनेकग्रन्थानां टिप्पनकारैः श्रीमुनिचन्द्रसूरिपूज्यपादैरेतद्गाथासत्कचूर्णिरेवम् व्याख्याता—

"सुहुमगणिपवेसणयमित्यादिगाथाचूर्णिःकिञ्चिद् व्याख्यायते-इह प्रवेशनकं तदुच्यते यद्विजातीयजीवानां जात्यन्तरतयोत्पत्तिः, इत्थमेव भगवत्यां प्रवेशनकशब्दार्थस्य व्याख्यातत्वात्। ततो ये अन्यकायेभ्यो बादरतैजस्कायेभ्यश्च सूक्ष्मतैजस्कायतयोत्पद्यन्ते जीवास्ते इह सूक्ष्माग्निप्रवेशनकशब्देनोच्यन्ते। न तु ये पूर्वमुत्पन्नास्तेजस्कायिकाः, पुनर्मृत्वा तेनैव पर्यायेणोत्पद्यन्ते, ते इह विवक्षिताः, पूर्वमेव प्रविष्टत्वात्तेषाम्। ततः सर्वस्तोका अभिनवप्रविष्टसूक्ष्मतैजस्कायिकाः। तेभ्यश्चाऽसंख्यातलोकाकाशप्रदेशगुणाः सामान्यतैजस्कायिकाः। तेभ्यश्चैकैकतैजस्कायिकजीवकायस्थितिरुत्कृष्टा असंख्यातलोकाकाशप्रदेशगुणा। ततोऽधिकृताऽध्यवसायस्थानानीति।"

अत्र धवलाकारस्तु तृतीयचतुर्थपदद्वये गुणकारोऽसंख्येयलोकप्रमितः, द्वितीयपदे तु अन्तर्मुहूर्तसमयराशिमात्रः इति प्रतिपादयति ॥७७४॥

साम्प्रतमोजोयुग्मप्ररूपणां कुर्वन्नाह—

कडजुम्मा अविभागा ठाणाणि य कंडगाणि अणुभागे।
पज्जवसाणमणंतगुणाओ उप्पिं नऽणंतगुणं ॥७७५॥

अत्र कर्मप्रकृतिचूर्णिः-इदाणिं एतेसिं ठाण ण ओयजुम्मपरूवणा भण्णइ। ओय त्रिसमं, जुम्मं समं, ओजजुम्नपरूवणा जहा पण्णतीए। एयाणि अज्झवसाणट्ठाणाणि कंडगाणि अविभागपलिच्छेदा य किं कडजुम्मा जाव कलिउया? भण्णइ-अज्झवसाणट्ठाणाणि अविभागपलिच्छेदट्ठाणाणि कंडगाणि च सव्वाणि कडजुम्माणि। इदाणिं एतेसिं ट्ठाणाणं किं पज्जवसा ? भण्णइ 'पज्जवसाणमणंतगुणातो उप्पिं णऽणंतगुणं'

ति। अणंतगुणवड्ढीणं कंडगं गंतूणं पुणो सव्वाणि ठाणाणि गतूणं अणंतगुणं भविस्सतित्ति ? णो अणंत गुणं भवइ। तं पज्जवसाणं।" इति [कर्मप्रकृतिगाथाङ्कः ४२]

(प्रे०) सम्प्रत्योजोयुग्मप्ररूपणाऽवसरः। तत्रौजो विषमम्, समं युग्मम्, तत्प्ररूपणा चैवम्-इह कश्चिद्विवक्षितो राशिः स्थाप्यते, तस्य कलिद्वापरत्रेताकृतयुगसंज्ञैश्चतुर्भिर्भागो ह्रियते भागे च हृते सति यद्येकः शेषो भवति तर्हि स राशिः पूर्वपुरुषपरिभाषया कल्योज उच्यते, यथा त्रयोदश। अथ द्वौ शेषौ तर्हि द्वापरयुग्मः, यथा चतुर्दश। अथ त्रयः शेषास्ततस्त्रेतौजो, यथा पञ्चदश। यदा तु न किञ्चिदवतिष्ठते किन्तु सर्वात्मना निर्लेप एव भवति तदा स कृतयुगो, यथा षोडश। उक्तं च—

"चउदस दावरजुम्मा तेरस कलिओज तह य कडजुम्मा। सोलस तेओजो खलु पन्नरसेवं खु विन्नेया" ॥

तत्राविभागादयो यादृग्राशिरूपा वर्तन्ते तादृग्राशिरूपमाह-"**कडजुम्मे**' त्ति। अनुभागे-अनुभागविषयेऽविभागस्थानानि कण्डकानि च कृतयुग्मानि-कृतयुग्मराशिरूपाणि द्रष्टव्यानि। कृतौजोयुग्मप्ररूपणा।

सम्प्रति पर्यवसानद्वारमाह-'**पज्जवसाणं**' इत्यादि, अनन्तगुणादनन्तगुणवृद्धिकण्डकादुपरि पञ्चवृद्ध्यात्मकानि सर्वाणि स्थानानि गत्वा पुनरनन्तगुणवृद्धं स्थानं न प्राप्यते, षट्स्थानस्य परिसमाप्तत्वात्। ततस्तदेव सर्वान्तिमं स्थानं षट्स्थानकस्य पर्यवसानमिति।

धवलाकारादयः षट्स्थानकस्य पर्यवसानं कुत्र मन्यन्ते इत्येतत्प्रदर्श्यते-ते महाशयाः षट्स्थनकस्य पर्यवसानं द्वितीयाऽनन्तगुणवृद्धस्थानादर्वागेव स्वीकुर्वन्ति, द्वितीयानन्तगुणवृद्धस्थानतः पुनर्द्वितीयषट्स्थानकस्य प्रारम्भ इति। तेन प्रत्येकस्मिन् षट्स्थानके कण्डकमात्राणि अनन्तगुणवृद्धस्थानानि नेच्छन्ति। एतन्मतमेकषट्स्थानमध्ये कियन्ति अनन्तभागवृद्धादिस्थानानीति निरूपणाऽवसरे "एगट्ठाणब्भंतरे ... ...। अट्ठंकमेक्कं।" इत्यादिग्रन्थेनाऽन्यत्र च प्रदर्शितं तच्च सूक्ष्मेक्षिकया चिन्त्यम्, **षट्खण्डकारादीनां** वचनेन सह असंवादात्।

तथाहि—षट्खण्डागमस्य वेदनामहाधिकारे वेदनाभावविधाने द्वितीयचूलिकायां २०२तमे सूत्रे एवमुक्तम्-"कदयपरूवणदाए अत्थि अणंतभागपरिवड्ढिकदयं असंखेज्जभागपरिवड्ढिकदयं संखेज्जभागपरिवड्ढिकदयं संखेज्जगुणपरिवड्ढिकदयं असंखेज्जगुणपरिवड्ढिकदयं अणंतगुणपरिवड्ढिकदयं ॥ २०२ ॥" अत्र '**अणंतगुणपरिवड्ढिकंदयमिति** वचनेन एकषट्स्थानमध्येऽनन्तगुणवृद्धस्थानानां कण्डकं भवतीति सिद्ध्यति। एकषट्स्थानमध्येऽनन्तगुणवृद्धेः कण्डकस्याऽस्वीकारेऽन्यत्र कण्डकस्यानुत्पत्त्या सूत्रेण सह विसंवादो भवति। न चैकैकषट्स्थानके एकैकानन्तगुणवृद्धस्थानस्य सद्भावेनाऽङ्गुलाऽसंख्येयभागप्रमाणषट्स्थानकेषु गतेषु एकमनन्तगुणवृद्धेः कण्डकं भवतीति वाच्यम्, सर्वाऽनन्तगुणस्थानानां समानान्तरेषु स्थितत्वेन कण्डकनियामकस्याभावात्। **तथाहि**-यथा उत्तरोत्तरमनन्तभागवृद्धेरङ्गुलाऽसंख्येयभागप्रदेशप्रमाणेषु स्थानेषु व्यतीतेषु असं-

ख्येयभागवृद्धेः प्रथमस्थानं विद्यते, ततः समानान्तरेषु स्थितानामनन्तभागवृद्धस्थानानामब-संख्येयभागवृद्धस्थानस्य नियामकत्वेनानन्तभागवृद्धेः प्रथमं कण्डकं भवति, एवं समानान्तरेषु स्थितानामसंख्येयभागवृद्धस्थानानां संख्यातभागवृद्धस्थानस्य नियामकत्वेनाऽसंख्येयभागवृद्धेरपि कण्डकं भवति अनया दिशा संख्यातभाग संख्यातगुणा-ऽसंख्यातगुणवृद्धीनामपि कण्डकानि भावनीयानि । इत्थं समानान्तरेषु स्थितानामङ्गुलासंख्येयभागमात्राणामनन्तगुणवृद्धस्थानानां नियामकत्वेन द्वितीयषट्स्थानमेव भवति, अनङ्गीकारे तु सर्वाऽनन्तगुणवृद्धस्थानानां समानान्तरेषु स्थितत्वेन कण्डकमेव न भवति । अत एवरीत्याऽनन्तगुणवृद्धकण्डकं वक्तुं न युज्यते तेन मूल-सूत्रेण महाऽसंवादो भवतीति । **कर्मप्रकृत्यादिग्रन्थेष्वपि** अनन्तगुणवृद्धिकण्डकस्य प्रतिपादनं दृश्यते । **कर्मप्रकृतिग्रन्थश्चैवम्-**

"बितियं ताणि समाइं पढमस्साणंत गुणियमणंतो। तीयाणऽतिच्छियाण ताणि वि पढमस्स तुल्लाणि।" प्रागेव व्याख्याता । तात्पर्यार्थः पुनरेवम्-तानि अनन्तगुणवृद्धस्थानानि अपि प्रथमस्याऽनन्तभाग-वृद्धस्थानकण्डकस्य तुल्यानि भवन्तीति । एवं कर्मप्रकृत्या सहापि विसंवादः ।

तथा **कर्मप्रकृतिचूर्णावपि-**

"एवं पढमछट्ठाणग पतमि छट्ठाणगे कडगाणि अत्थि-अणंतभागवड्ढिकडकं, असंखिज्जभागवड्ढि-कंडकं, संखिज्जभागवड्ढिकंडकं, संखिज्जगुणवड्ढिकंडगं, असंखेज्जगुणवड्ढिकंडग, अणंतगुणवड्ढिकंडगं" तथा पर्यवसानद्वारोक्तचूर्णिमध्येऽपि एवम्-'अणंतगुणवड्ढीणं कंडगं गंतूण पुणो सव्वाणि ट्ठाणाणि गंतूण अणंतगुण भविस्सतित्ति ? णो अणंतगुण (भवइ) । त पज्जवसाणं ।" इत्याद्यनेकप्राचीनग्रन्थैः सहाऽसंवादादेतन्मतं चिन्त्यमित्युक्तम् ।

किञ्चानन्तरोपनिधयाऽल्पबहुत्वप्ररूपणायां "तत्थ अणंतरोवणिधाए सव्वत्थोवाणि अणंत-गुणब्भहियाणि ट्ठाणाणि ॥२५६॥" इति वक्ष्यते, तच्चाऽल्पबहुत्वमेकषट्स्थानकापेक्षयापि अस्ति। कुतः? **कर्मप्रकृतिचूर्णिकारैः** एकषट्स्थानकमाश्रित्य निरुक्ताल्पबहुत्वस्योक्तत्वात् । तथा च तद्ग्रन्थः-"अणंतरोवणिहियाए सव्वथोवाणि अणतगुणवड्ढिट्ठाणाणि अंगुलस्स असंखेज्जतिभागमेत्ताणित्ति काउं।" यदि एकषट्स्थानकमध्ये एकमेवाऽनन्तगुणवृद्धस्थानमिति स्वीक्रियेत तदाऽनन्तगुणवृद्धस्थाना-नीति बहुवचनं न स्यात्, एकवचनान्तं पृथक्सूत्रं स्यादित्यर्थः, ततो बहुवचनेनाऽपि सिद्ध्यति यत्प्रत्येकस्मिन् षट्स्थानके कण्डकमात्राणि अनन्तगुणवृद्धस्थानानीति, इत्थं च प्रत्येकं षट्स्थानके अनन्तगुणवृद्धस्थानानि कण्डकमात्राणीति सिद्धे षट्खण्डागमस्य मूलकारोक्तमनन्तगुण-परिवृद्धि-कण्डकमपि घटते तथा एतद्ग्रन्थस्य कर्मप्रकृति तच्चूर्णिग्रन्थेन सह संवादोऽपि भवतीति ॥७७५॥

सम्प्रत्यल्पबहुत्वप्ररूपणार्थमाह—

अप्पबहुमणंतरतो असंखगुणियाणणंतगुणमादि ।
तव्विवरीयमियरओ संखेज्जक्खेसु संखगुणं ॥७७६॥

अत्र **कर्मप्रकृतिचूर्णिः**—इदाणिं अप्पाबहुगं । अणंतभागब्भतिगादी ट्ठाणा के थोवा के बहुगा ? भण्णइ—अप्पाबहुगं दुविहं—अणंतरोवणिहियाए परंपरोवणिहियाए य । अणंतरोवणिहियाए सव्वत्थोवाणि अणंतगुणवड्ढिट्ठाणाणि अंगुलस्स असंखेज्जतिभागमेत्ताणित्ति काउं । असंखेज्जगुणवड्ढिट्ठाणाणि असंखेज्जगुणाणि, को गुणगारो ? भण्णइ—कंडगं कंडगेण गुणेऊणं कंडगपक्खेवो । किं कारण ? एक्केक्कस्स अणंतगुणवड्ढिट्ठाणस्स हेट्ठतो असंखेज्जगुणवड्ढिट्ठाणाणि कडगमेत्ताणि, तेण कंडगं गुणगारो उवरिम कंडगं च पक्खेवो । कि कारणं ? भण्णइ—पक्खेवकंडगस्स उवरिमणंतगुणं णत्थि ट्ठाणं । ततो संखेज्जगुणब्भतिगाणि असंखेज्जगुणाणि । ततो संखेज्जभागब्भतिगाणि असंखेज्जगुणाणि । ततो असंखेज्जभागब्भतिगाणि असंखेज्जगुणाणि । ततो अणंतभागब्भतिगाणि असंखेज्जगुणाणि । गुणगारो पुव्वुत्तो सव्वेसिं ।

एवं अणंतरोवणिहिता भणिता । इदाणिं परंपरोवणिहिता—

'तव्विवरीतमियरउ' त्ति अणंतरोवणिहिताए जं भणितं तं परंपरोवणिहियाए विवरीयं भाणियव्वं । सव्वथोवाणि अणंतभागवड्ढिट्ठाणाणि । एवं विवरीय णेतव्व । णवरि **'संखेज्जक्खेसु सखगुणं'** ति—संखेज्जतिभागवड्ढिसंखेज्जगुणवड्ढिसु असंखेज्जगुणं भाणितव्वं । तस्स विवरणा, तं जहा—सव्वत्थोवाणि अणंतभागब्भहियट्ठाणाणि, आदिल्लातो अज्झवसाणठाणातो उवरिल्ला कंडगे ठाणा सव्वे अणंतभागब्भहिगा, ते य अंगुलस्स असंखेज्जतिभागमेत्ता ।

असंखेज्जभागवड्ढिट्ठाणाणि असंखेज्जगुणाणि । किं कारणं ? भण्णइ—असंखेज्जभागवड्ढिअणंतरातोहिट्ठिल्लातो ठाणातो असंखेज्जभागब्भहितं ठाणं जति असंखेज्जतिभागेणं अहितं ततो उवरिल्लं ठाणं णियमादेव असंखेज्जभागाहितं भवति, ततो उवरिल्लाणि विसेसेण असंखेज्जतिभागेण अब्भहिगाणि भवति, एवं जाव संखेज्जतिभागब्भहियं ठाणं ति । जम्हा असंखेज्जभागवड्ढितो आढवेत्तु जाव संखेज्जभागवड्ढि ताव मज्झिल्ला ठाणा सव्वे असंखेज्जभागवड्ढिट्ठाणा भवति तम्हा अणंतभागवड्ढितो असंखेज्जतिभागवड्ढि असंखेज्जगुणा ।

ततो संखेज्जभागवड्ढिट्ठाणाणि संखेज्जगुणाणि । किं कारणं ति ? संखेज्जभागवड्ढीए अणतरं हेट्ठिल्लं ट्ठाणं अहिकिच्च संखेज्जभागवड्ढी वुच्चति । ततो संखेज्जभागवड्ढिहेट्ठाणंतरातो ठाणतो उवरिल्ला अणंतभागऽसखिज्जभागवड्ढिट्ठाणा सव्वे संखेज्जभागवड्ढिट्ठाणा लब्भंति । साहिगत्तातो विसेसेण संखेज्जभागवड्ढी भवति, ततो बितियं संखिज्जभागवड्ढिट्ठाणं सातिरेगेहिं दोहिं भागेहिं अब्भहितं, ततियं संखेज्जभागवड्ढिट्ठाणं सातिरेगेहिं तिहिं भागेहि अब्भहियं, एवं जाव उक्कोसगसंखेज्जगतुल्लाणि अंतरंतरे संखेज्जभागवड्ढिट्ठाणाणि अतीताणि । तेसिं संखेज्जभागवड्ढिट्ठाणाणं अंतरे जतिता ट्ठाणा ते सव्वे संखेज्जभागवड्ढिट्ठाणा लब्भंति एगेण ठाणेण ऊणा, उक्कोससंखेज्जतिमं संखेज्जभागवड्ढिट्ठाणं संखेज्जगुणं भवतीत्ति काउं, तेण ऊणट्ठाणा । संखेज्जभागवड्ढिट्ठाणाणं जावतित एक्कं अंतरं तारिसाणि अंतराणि उक्कोससंखेज्जमतुल्लाणित्ति काउ असंखेज्जभागवड्ढिट्ठाणाहिंतो संखेज्जभागवड्ढिट्ठाणाणि संखिज्जगुणाणि ।

ततो संखेज्जगुणवड्ढिट्ठाणाणि संखेज्जगुणाणि किं कारण ? भण्णइ—संखेज्जतिभागब्भहिगस्स हिट्ठिल्लातो अणंतरातो ठाणातो उक्कोससंखेज्जगतुल्लाणि अंतरंतरे उट्ठिताणि संखेज्जभागवड्ढिट्ठाणाणि गंतूणं दुगुणं साहितं दिट्ठं । पुणो ततिताणि चेव ट्ठाणाणि गतूण सातिरेगतिगुणं भवति, एवं चउगुणं, एवं उक्कोससंखेज्जगतुल्लाणि दुगुणादीणि वड्ढिट्ठाणाणं अतराणि लद्धाणि, तस्स अतिमं संखेज्जगुणब्भहिगं ठाणं जहण्णगसंखेज्जगुण भवति । तम्हा संखेज्जगुणवड्ढिट्ठाणाणि संखेज्जभागवड्ढिट्ठाणेहिंतो संखेज्जगुणाणि ।

ततो असंखेज्जगुणवड्ढिट्ठाणाणि असंखेज्जगुणाणि । किं कारणं ? भण्णति—ततो परतो सव्वाणि अणंतभागवड्ढी असंखेज्जभागवड्ढी संखेज्जभागवड्ढी संखेज्जगुणवड्ढी असंखेज्जगुणवड्ढिट्ठाणाणि य

असंखेज्जगुणवड्ढिट्ठाणाणि लब्भंति। तम्हा संखेज्जगुणवड्ढिट्ठाणेहिंतो असंखेज्जगुणवड्ढिट्ठाणाणि असंखेज्जगुणाणि।

ततो अणंतगुणवड्ढिट्ठाणाणि असंखेज्जगुणाणि। किं कारणं? भण्णइ–पढमिल्लातो अणंतगुणवड्ढिट्ठाणातो आढवेत्तु उवरिल्ला ट्ठाणा सव्वे अणंतगुणवड्ढिट्ठाणा लब्भंति। तेण कारणेण असंखेज्जगुणवड्ढिट्ठाणगेहिंतो अणंतगुणवड्ढिट्ठाणा असंखेज्जगुणा। अप्पबहुगं भणितं। अज्झवसाणट्ठाणा परूविता॥ इति [कर्मप्रकृतिगाथाङ्कः ४३]

(प्रे०) **'अप्पबहु'** इत्यादि, इह द्विधाऽल्पबहुत्वप्ररूपणा–अनन्तरोपनिधया परम्परोपनिधया च। तत्रैकस्मिन् षट्स्थानकेऽन्तिमस्थानादारभ्य पश्चानुपूर्व्यानन्तरोपनिधया प्ररूपणा क्रियते–अनन्तगुणानि अनन्तगुणवृद्धानि स्थानान्यादौ कृत्वा शेषाण्यसंख्येयगुणितानि वक्तव्यानि। तद्यथा–सर्वस्तोकान्यनन्तगुणवृद्धानि स्थानानि। तेभ्योऽसंख्येयगुणवृद्धानि स्थानान्यसंख्येयगुणानि। तेभ्योऽपि संख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि असंख्येयगुणानि। तेभ्योऽपि संख्येयभागाधिकानि स्थानानि असंख्येयगुणानि। तेभ्योऽप्यसंख्येयभागाधिकानि स्थानान्यसंख्येयगुणानि। तेभ्योऽप्यनन्तभागवृद्धानि स्थानान्यसंख्येयगुणानीति।

तदेवं कृताऽनन्तरोपनिधयाऽल्पबहुत्वप्ररूपणा। सम्प्रति परम्परोपनिधया तां कुर्वन्नाह–**'तव्विवरीयमियरओ'** त्ति। इतरतः-इतरस्यां परम्परोपनिधायां तद्विपरीतं, येन क्रमेणोक्तमनन्तरोपनिधायां तद्विपरीतं द्रष्टव्यम्, इहादित आरभ्य वक्तव्यमित्यर्थः। तथाहि–सर्वस्तोकानि अनन्तभागवृद्धानि स्थानानि, यस्मादाद्यानुभागबन्धस्थानादारभ्यानन्तभागवृद्धानि स्थानानि कण्डकमात्राण्येव प्राप्यन्ते, नाधिकानि। तेभ्योऽप्यसंख्येयभागवृद्धानि स्थानानि असंख्येयगुणानि। तेभ्योऽपि संख्येयभागवृद्धानि स्थानानि संख्येयगुणानि। तेभ्योऽपि संख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि संख्येयगुणानि। तथा चाऽऽह–**'संखेज्जक्खेसु संखगुणं'** संख्येयाख्येषु–संख्येयभागवृद्धसंख्येयगुणवृद्धरूपेषु स्थानेषु 'संख्येयगुणं' संख्येयगुणता वक्तव्या। तेभ्योऽपि संख्येयगुणवृद्धेभ्यः स्थानेभ्योऽसंख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि असंख्येयगुणानि। तेभ्योऽप्यनन्तगुणवृद्धानि स्थानान्यसंख्येयगुणानि। प्रागेव भावितत्वादिह न वितन्यते ॥७७६॥

तदेवमभिहितमल्पबहुत्वाख्यं चतुर्दशद्वारम् तदभिधाने चावसितं प्रथममध्यवसायस्थानसमुदाहाराख्यद्वारम्।

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे पञ्चमेऽध्यवसायसमुदाहाराधिकारे प्रथममध्यवसायस्थानसमुदाहाराख्यं द्वारं समाप्तम् ॥



॥ अथ जीवसमुदाहारः ॥

तदेवमध्यवसायस्थानप्ररूपणा समाप्ता । सम्प्रति प्राक्प्रतिज्ञातस्य जीवसमुदाहारस्यावसरः । तत्र तावत् प्राङ्निरूपितानुभागबन्धस्थानेषु असंख्येयलोकमात्रेषु कियन्तो जीवाः ? कियच्चिरं कालं ? कियत्सु स्थानेषु सान्तरा वा निरन्तरा वा इत्याद्यनेके प्रश्नाः समुत्तिष्ठन्ति तन्निराकरणार्थमेष समुदाहारोऽष्टानुयोगद्वारैर्विवेचयिष्यते, आदौ तान्यष्टाऽनुयोगद्वाराणि ग्रन्थकारः स्वरचितैकगाथया नामग्राहमाह—

अड दाराणि पमाणं[१] ठाणा अंतर[२]णिरंतरा[३] समयो[४] ।

वड्ढि[५] जवमज्झ[६]फुसणा[७]ऽप्पबहू[८] जीवसमुदाहारे ॥७७७॥

(प्रे०) 'अड' इत्यादि, जीवसमुदाहारे प्राग्व्याख्यातलक्षणे अष्टौ द्वाराणि सन्तीति शेषः । क्रमशो द्वारनामान्याह–(१) एकस्थानप्रमाणानुगमः (२) सान्तरस्थानप्रमाणानुगमः (३) निरन्तरस्थानप्रमाणानुगमः (४) नानाजीवकालप्रमाणानुगमः (५) वृद्धिप्ररूपणा (६) यवमध्यप्ररूपणा (७) स्पर्शनाप्ररूपणा (८) अल्पबहुत्वप्ररूपणा । (९) एतद्द्वाराणां व्याख्या **पूज्यमुनिचन्द्रसूरीश्वराणामक्षरैः** प्रदर्श्यते—

'एगठाणप्पमाणाणुगम' इत्यादीन्यष्टौ द्वाराणि अथैतेषामेव क्रमेण किञ्चिद् व्याख्यायते । तत्र एकत्र स्थानेऽध्यवसायस्थानलक्षणे प्रमाणस्य जीवगतस्य अनुगमो व्याख्यानम् , एकस्थानप्रमाणानुगमः (१) । एवमन्यत्राप्यनुगमशब्दार्थो वाच्यः । सान्तराणामध्यवसानानां स्थानानामन्तरमपेक्ष्य प्रमाणस्यानुगमः, सान्तरस्थानप्रमाणानुगमः (२) । निरन्तरस्थानप्रमाणानुगमः तद्विपरीतः (३) । नानाजीवानामेकस्मिन्नध्यवसायस्थानेऽवस्थानकालप्रमाणस्याऽनुगमो नानाजीवकालप्रमाणानुगमः (४) । वृद्धेर्जीवगतायाः प्रकृतेष्वेव स्थानेषु प्ररूपणा वृद्धिप्ररूपणा केषु स्थानकेषु जीवानां कियती वृद्धिरिति भणनमित्यर्थः (५) । यवमध्यप्ररूपणा (६) । स्पर्शनाप्ररूपणा, (७) अल्पबहुत्वं च (८) सुगमशब्दार्थमिति ।"

तथा चात्र **कर्मप्रकृतिचूर्णिः**–"इदाणिं एएसु ठाणेसु केत्तिया जीवा ? केच्चिरं वा कालं केत्तिएसु ठाणेसु णिरंतरा संतरा वा ? केरिसी वा वड्ढी ? केरिसी फासणा ? कतरंमि वा ट्ठाणे अप्पा वा बहुगा वा ? त णिरूवणत्थं जीवसमुदाहारेत्तिअणुओगदारं । तस्स इमाणि अट्ठअणुवोगदाराणि । तं जहा–एगट्ठाणप्पमाणाणुगमो, संतरट्ठाणाणुगमो, णिरंतरट्ठाणपमाणाणुगमो, णाणाजीवकालपमाणाणुगमो, वड्ढिपरूवणा, जवमज्झपरूवणा, फासणापरूवणा, अप्पाबहुगत्ति ॥७७७॥

तदेवं जीवसमुदाहारस्य द्वारनामधेयानि व्याहृत्य साम्प्रतमुद्दिष्टक्रमेणैवाद्यद्वारद्वयं विभणिषुराह—

थावरजीवाणंता एक्किक्के तसजिआ असंखिज्जा ।

लोगा सिमसंखेज्जा अंतरमह थावरे णत्थि ॥७७८॥

तथा चात्र कर्मप्रकृतिचूर्णिः—"तत्थ एगट्ठाणपमाणाणुगमेणं—एक्केक्कंमि थावरपाउग्गे अज्झवसाणट्ठाणे अणंता थावरजीवा । एक्किक्के तसपातोग्गे य अज्झवसाणट्ठाणे जहण्णेणं एक्को वा दो वा उक्कोसेणं असंखेज्जा तसा जीवा आवलिआए असंखेज्जतिभागमेत्ता ।

सांतरट्ठाणपमाणाणुगमेणं—'**लोगा सिमसंखिज्जा अंतरं**' ति तसजीवेहिं विरहिताणि ठाणाणि जहण्णेणं एक्कं वा दो वा, उक्कोसेणं असंखेज्जलोगागासपदेसमेत्ताणि, '**अह थावरे णत्थि**'त्ति-थावरपातोग्गेसु ठाणेसु अंतरं णत्थि। कहं ? भण्णइ-थावरजीवा अणंता, ठाणाति असंखेज्जाणित्ति काउं ॥' इति [कर्मप्रकृतिगाथाङ्कः ४४]

(प्रे०) '**थावर**' इत्यादि, एकैकस्मिन् स्थावराणां बन्धं प्रति प्रायोग्येऽनुभागबन्धस्थानेऽनन्ताः स्थावरजीवा बन्धकत्वेन प्राप्यन्ते। '**थावरजोवाणंता**' इत्यनेन सिद्ध्यति यद् एकेन्द्रियौघादिमार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टरसबन्धका यथा पृथ्व्यादयो जीवाः सन्ति, तथैव साधारणवनस्पतिकायिका अपि सन्ति। तेनैतद्ग्रन्थे प्रथमाधिकारे परिमाणपदे तासु मार्गणासु सप्तकर्मणामुत्कृष्टरसबन्धका अनन्ताः प्रोक्ता इति। '**तसजिआ**' त्रसप्रायोग्ये चैकैकस्मिन्ननुभागबन्धस्थाने जघन्येनैको द्वौ वोत्कर्षतोऽसंख्येया आवलिकाया [illegible]ख्येयभागमात्रास्त्रसजीवाः प्राप्यन्ते। इति जीवप्रमाणप्ररूपणा गता।

साम्प्रतमन्तरस्थानप्ररूपणामाह—'लोगा सिं' इत्यादि 'एषां'-त्रसजीवानामसंख्येया लोका-असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अनुभागबन्धस्थानानि अन्तरम्, एतावन्ति बन्धं नायान्तीत्यर्थः। इदमुक्तं भवति-त्रसप्रायोग्याणि यानि स्थानानि त्रसजीवानां बन्धं नायान्ति तानि जघन्यपदे एकं [illegible] उत्कर्षतोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति। 'अथ स्थावरे'-स्थावरप्रायोग्येषु [illegible] अन्तरं न विद्यते, सर्वाण्यपि स्थावरप्रायोग्याणि स्थानानि सर्वदैव स्थावरजीवैर्बध्यमानानि [illegible]न्त इत्यर्थः। कथमेतद् गम्यते ? इति चेद् उच्यते-इह स्थावरा अनन्ताः, स्थावराणां ब[illegible]नि [illegible]योग्याणि स्थानानि पुनरसंख्येयानि, ततोऽन्तरं न प्राप्यते। इति अन्तरस्थानप्ररूपणा गता ॥७७८॥ अथ निरन्तरस्थान-नानाजीवकालप्ररूपणाऽऽख्यं द्वारद्वयं प्रदर्शयन्नाह—

आवलिअसंखभागो तसा णिरंतरमहेगठाणम्मि।
णाणा जीवा एवइकालं एगिंदिया णिच्चं ॥७७९॥

अत्र कर्मप्रकृतिचूर्णिः-"णिरंतरठाणपमाणाणुगमेणं—तसजीवेहिं णिरंतराणि ठाणाणि जहण्णेणं दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जतिभागमेत्ताणि। किं(कारणं) ? भण्णइ-तसजीवा थोवा, ठाणाणि असंखेज्जगुणाणि त्ति काउं।

णाणाजीवकालपमाणाणुगमेणं-'**अहेगट्ठाणम्मि णाणाजीवा एवतिकालं**' ति एक्केक्कं ट्ठाणं णाणाजीवेहिं केवत्तियं कालं अविरहितं होति ? भण्णइ-जहण्णेण एक्कं समयं, उक्कोसेणं आवलियाते असंखेज्जतिभागमेत्त कालं, परतो विरहितं भवति। '**एगिंदिया णिच्चं**' एगिंदियपातोग्गाट्ठाणा एगिंदियाएहिं णिच्चकालं अविरहिता। इति [कर्मप्रकृतिगाथाङ्कः ४५]

(प्रे०) '**आवलि**' इत्यादि '**तसा**' इत्यत्र तृतीयार्थे प्रथमा, बन्धमाश्रित्य त्रसजीवैर्निरन्तराणि, किमुक्तं भवति ? त्रसजीवैर्निरन्तरं बध्यमानानि अनुभागबन्धस्थानानि जघन्येन द्वे त्रीणि वा प्राप्यन्ते; उत्कर्षत आवलिकाया असंख्येयभागमात्राणि। कथमेतदवसेयम् ? इति चेद्; उच्यते-

स्तोकास्त्रसजीवाः; स्थानानि पुनस्त्रसप्रायोग्याणि असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि; ततो न सर्वाणि त्रसजीवैः क्रमेण निरन्तरं बध्यमानानि प्राप्यन्ते किन्तूत्कर्षतोऽपि यथोक्तप्रमाणान्येव ।

सम्प्रति नानाजीवकालप्ररूपणार्थमाह—'**अट्ठेगठाणम्मि**' इत्यादि, एकैकमनुभागबन्धस्थानं नानाजीवैर्बध्यमानं कियन्तं कालं यावदविरहितं प्राप्यते इति प्रश्ने सति उत्तरम्—त्रसप्रायोग्ये एकैकस्मिन्ननुभागबन्धस्थाने नानारूपास्त्रसा जीवा जघन्येनैकं समयम्, उत्कर्षतः '**एवइकालं**'—एतावन्तं कालं पूर्वोक्तस्वरूपमावलिकाया असंख्येयभागकालं यावदित्यर्थः निरन्तरं बन्धकत्वेन प्राप्यन्ते, परतोऽवश्यं तद् बन्धशून्यं भवतीत्यर्थः ।

इयमत्र भावना—एकैकं त्रसप्रायोग्यमनुभागबन्धस्थानमन्यैरन्यैश्च त्रसजीवैर्निरन्तरं बध्यमानं जघन्येनैकं समयं द्वौ वा समयौ यावत्प्राप्यते, उत्कर्षतस्त्वावलिकाया असंख्येयभागमात्रं कालम् । '**एगिंदिया णिच्चं**' ति—स्थावरप्रायोग्ये एकैकस्मिन्ननुभागबन्धस्थाने नानाविधा एकेन्द्रिया नित्यं-सर्वकालमविरहितं बन्धकत्वेन प्राप्यन्ते, न कदाचनापि तद् बन्धशून्यं भवतीत्यर्थः । अत्रापीयं भावना—एकैकं स्थावरप्रायोग्यमनुभागबन्धस्थानमन्यैरन्यैश्च स्थावरजीवैर्निरन्तरं बध्यमानं सर्वकालमवाप्यते, न तु कदाचनापि बन्धरहितं भवतीति ॥७७९॥

तदेवं कृता नानाजीवानाश्रित्य कालप्ररूपणा । सम्प्रति वृद्धिप्ररूपणाऽवसरः । तत्र च द्वे अनुयोगद्वारे । तद्यथा—अनन्तरोपनिधा परम्परोपनिधा च । इयं च वृद्धिप्ररूपणा अनन्तरपरम्परोपनिधाभ्यां यवमध्यप्ररूपणया सह प्रदर्श्यते—

थोवा जहण्णट्ठाणे जा जवमज्झं विसेसतो अहिया ।
एत्तो हीणा उक्कस्सगंति जीवा अणंतरओ ॥७८०॥
गंतूणमसंखिज्जे लोगे दुगुणाणि जाव जवमज्झं ।
एत्तो य दुगुणहीणा एवं उक्कोसगं जाव ॥७८१॥
नाणंतराणि आवलिअसंखभागो तसेसु इयरेसु ।
एगंतरा असंखियगुणाइ नाणंतराइं तु ॥७८२॥

अत्र **कर्मप्रकृतिचूर्णिः**—' इयाणिं व ड्ढपरूवणाए दुवे अणुओगद्दाराणि अणंतरोवणिहा परंपरोवणिहया य ।

अणंतरोवणिहिताते जहण्णगे अणुभागबंधज्झवसाणठाणे थोवा जीवा, बितिते अणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणे जीवा विसेसाहिता, एवं तातते विसेसाहिता एवं जाव जवमज्झं ति विसेसाहिता । 'एत्तो हीणा उक्कस्सगं ति जीवा अणंतरओ' त्ति—तेण परं विसेसहीणा विसेसहीणा जाव उक्कस्सगं अणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणं ॥ इति [कर्मप्रकृतिगाथाङ्कः ४६]

परंपरोवणिहिताए जहण्णगअणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणजीवेहिंतो असंखेज्जलोगागासपदेसमेत्ताणि ट्ठाणाणि गंतूणं जीवाणं दुगुणवड्ढितं ट्ठाणं भवति । ततो पुणो तत्तियाणि चेव ट्ठाणाणि गंतूण दुगुणवड्ढितं ट्ठाणं भवति । एवं जाव जवमज्झं ति । '**एत्तो य दुगुणहीणा एवं उक्कस्सगं जाव**' त्ति—

जवमज्झतो असंखेज्जलोगागासपदेसमित्ताणि अज्झवसाणट्ठाणाणि गंतूणं दुगुणहीणा जीवा। ततो पुणो तत्तियाणि गतूणं दुगुणहीणा जीवा एवं जाव उक्कस्सअणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणं। इति [कर्मप्रकृति-गाथाङ्कः ४७]

णाणंतराणि आवलिअसंखभागो तसेसु' त्ति–एते अंतरंतरे दुगुणहाणिवड्ढिट्ठाणा आवलियाए असंखेज्जतिभागमेत्ता तसकातिगाणं। 'इयरेसु एक्कंतरा असंखेज्जगुणाति नाणंतराति तु' त्ति–इतरेसुत्ति थावरजीवेसु तसकातिताणं जं एगं दुगुणं वड्ढिअंतरं तं (तो) असंखेज्जगुणं (णाणि) थावरजीवाणं णाणा-गुणहाणिट्ठाणंतराणि भवति। णाणाजीवगुणहाणिट्ठाणंतराणि थोवाणि, एगगुणहाणिट्ठाणंतरं असंखे-ज्जगुणं एवं तसाणं, थावराण सव्वथोवं एगगुणहाणिट्ठाणंतरं, णाणागुणहाणिठाणंतराणि असंखेज्जगुणाणि।

जवमज्झपरूवणताए ठाणाणं असंखेज्जतिभागो जवमज्झं, जवमज्झस्स हेट्ठतो ट्ठाणाणि थोवाणि उवरिं असंखेज्जगुणाणि। इति [कर्मप्रकृतिगाथाङ्कः ४८]

(प्रे०) वृद्धिप्ररूपणाया द्वे अनुयोगद्वारे इति प्रागेव प्रतिपादितम्, तत्रानन्तरोपनिधामाह–'थोवा' इत्यादि, जघन्येऽनुभागबन्धस्थाने बन्धकत्वेन वर्तमाना जीवाः सर्वस्तोकाः, ततो द्वितीयेऽनुभागबन्धस्थाने विशेषाधिकाः, ततोऽपि तृतीयेऽनुभागबन्धस्थाने विशेषाधिकाः, एवं तावद् वाच्यं यावद्यवमध्यं–यवमध्यान्यष्टसामयिकानीत्यर्थः। इत ऊर्ध्वं पुनर्जीवा अनन्तरत आनन्तर्येण क्रमेणेत्यर्थः। 'विशेषतो हीना'–विशेषहीना विशेषहीना वक्तव्याः। ते च तावद्यावदुत्कृष्टं द्विसामयिकं स्थानमिति इति प्रथमगाथार्थः।

अथ द्वितीयगाथा परम्परोपनिधया व्याख्यायते–'गंतूण' इत्यादि, जघन्यानुभागबन्धस्थानबन्धकेभ्यो जीवेभ्यो जघन्यानुभागबन्धस्थानादारभ्याऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि स्थानान्यतिक्रम्य परं यदनुभागबन्धस्थानं तद्बन्धका जीवा द्विगुणा वृद्धा भवन्ति। ततः पुनरपि तावन्ति स्थानान्यतिक्रम्यापरस्यानुभागबन्धस्थानस्य बन्धका द्विगुणवृद्धा भवन्ति। एवं द्विगुणवृद्धिस्तावद्वक्तव्या यावद्यवमध्यम्। ततोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि स्थानान्यतिक्रम्यापरस्यानुभागबन्धस्थानस्य ये बन्धका जीवास्तेऽनन्तरमुक्तेभ्यो जीवेभ्यः सकाशाद् द्विगुणहीना भवन्ति। ततः पुनरपि तावन्ति स्थानान्यतिक्रम्यापरस्यानुभागबन्धस्थानस्य बन्धका द्विगुणहीना भवन्ति। एवं द्विगुणहानिस्तावद् वक्तव्या यावत्स्वप्रायोग्यं सर्वोत्कृष्टमनुभागबन्धस्थानमिति।

अथ तृतीयगाथा व्याख्यायते–'नाणंतराणि' इत्यादि, 'नानान्तराणि' नानाप्रकाराणि द्विगुणवृद्धिद्विगुणहान्यपान्तरालरूपाणि यानि तानि त्रसेषु-त्रसकायेषु आवलिकाया असंख्येयतमे भागे यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणानि भवन्ति। ननु आवलिकाया असंख्येयभागमात्राण्येवानुभागबन्धस्थानानि त्रसजीवैर्निरन्तरं बध्यमानानि प्राप्यन्ते, एतच्च प्रागेवोक्तम्, तत्कथं त्रसेषु द्विगुणवृद्धिद्विगुणहान्यन्तराणि यथोक्तप्रमाणानि भवन्ति? एवं ह्येकापि द्विगुणवृद्धिर्द्विगुणहानिर्वा न प्राप्यते इति भावः। नैष दोषः, यतः प्रागावलिकाऽसंख्येयभागमात्राणि त्रसजीवैर्निरन्तरं बध्यमानतया प्राप्यमाणान्युक्तानि, इह तु यद्यप्यावलिकाऽसंख्येभागमात्रेभ्यः स्थानेभ्यः पराणि स्थानानि

बध्यमानानि सम्प्रति न प्राप्यन्ते तथापि कदाचित्प्राप्यन्ते, तेषु च जीवा उत्कृष्टपदे क्रमेण विशेषाधिका लभ्यन्ते, ततो यथोक्तप्रमाणानि द्विगुणवृद्धिद्विगुणहानिस्थानानि न विरुध्यन्ते । अत्र एतत्शङ्का तत्परिहारश्च **श्रीमलयगिरिपूज्यपादानां** वचनेन दर्शितः ।

श्रीमुनिचन्द्रसूरीश्वरैः पुनरेतत्शङ्कायाः समाधानमन्यया रीत्या कृतम् । तथा च तदक्षराणि—

"आह-'आवलिअसंखभागो तसा णिरंतर' मित्यादिगाथाचूर्णौ जघन्येन द्वे त्रीणि वा स्थानानि उत्कर्षेणावलिकाऽसंख्येयभागमात्राणि त्रसे निरन्तराणि उक्तानि, तत् कथं 'गंतूणमसखिज्जे लोगे' इत्यादिगाथायां त्रसप्रायोग्ये अध्यवसायस्थाने असंख्यातलोकप्रदेशप्रमाणस्थानोल्लंघनेन जघन्यस्थानात् परम्परोपनिधायां द्विगुणा वृद्धिः प्रतिपादिता । अन्तरालस्थानकानामतिबहूनां त्रसजीवशून्यत्वेन तेषु कस्याश्चिदपि वृद्धेरभावात् ? सत्यम्, शून्यस्थानानामन्तरालपातेऽपि सति येषु येषु स्थानकेषु त्रसजीवा उपलभ्यन्ते । तेषु-तेषु विशेषवृद्धौ सत्यां द्विगुणवृद्धिर्विवक्षणात्, न कश्चिद्दोषः ।"

अत्र **धवलाकाराभिप्रायस्त्वेवम्**—अतीतकाले प्रथमरसबन्धस्थानतश्चरमस्थानपर्यन्तं प्रतिरसस्थाने उत्कृष्टपदे आवलिकाया एकाऽसंख्यभागमात्रा जीवाः प्राप्यन्ते । तान् जीवानाश्रित्याऽनन्तरोपनिधा परम्परोपनिधा च प्रतिपाद्यते । प्रथमस्थाने उत्कृष्टपदे यावन्तो जीवाः सन्ति तेभ्यः प्रथमस्थानादारभ्याऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि स्थानान्यतिक्रम्य परं यदनुभागबन्धस्थानं तद्बन्धका जीवा द्विगुणा वृद्धा भवन्ति । तत्रान्तरालवर्तिषु यावत्स्थानेषु प्रथमस्थानस्य जीवसंख्यया तुल्यत्वं तावन्मात्राणि स्थानानि अनन्तरोपनिधायामेकस्थानत्वेन बोध्यानि । तानि च लघ्वसंख्येयलोकमात्राणि सन्ति । इदमुक्तं भवति—अनन्तरोपनिधायां द्वितीयस्थाने जीवाः विशेषाधिकाः प्रोक्ताः, तच्च द्वितीयरसस्थानं तत्र भवति यत्र प्रथमरसस्थानतोऽसंख्येयलोकप्रमाणेषु तुल्यजीवसंख्याकरसस्थानेषु गतेषु जीवा विशेषाधिका भवन्तीति ।

अन्यथा एकस्मिन् रसस्थाने आवलिकाऽसंख्यभागमात्रजीवानां सद्भावेन उत्तरोत्तरं च विशेषाधिकवृद्धेः प्रतिपादनादावलिकाऽसंख्येयभागमात्रस्थानेषु व्यतीतेषु जीवानां द्विगुणवृद्धिरापद्येत, तथा च सति असंख्येयलोकमात्राणि द्विगुणवृद्धिस्थानानि संपद्येरन्, तेन चैकस्मिन् रसस्थाने असंख्येयलोकमात्रजीवानां सद्भावः स्यात् । तच्च नास्ति, सूत्रविरोधश्च. अतो द्वितीयानुभागबन्धस्थानेत्यादिपदेन यावन्ति स्थानानि गत्वा यत्र जीववृद्धिर्भवति, तत्स्थानं द्वितीयाद्यनुभागबन्धस्थानपदेन ग्राह्यम् ।

तथा 'इतरेषु' स्थावरेषु—एकस्मादन्तरात्त्रसकायसत्कादसंख्येयगुणानि नानारूपाण्यन्तराणि भवन्ति । किमुक्तं भवति ? त्रसकायिकानामेकस्मिन् द्वयोर्द्विगुणवृद्धयोर्द्विगुणहान्योर्वाऽपान्तराले यानि स्थानानि तेभ्योऽसंख्येयगुणानि स्थावरकायिकानां द्विगुणवृद्धि द्विगुणहान्यन्तराणि । इह त्रसजीवेषु द्विगुणवृद्धिद्विगुणहान्यन्तराणि स्तोकानि, एकस्मिन् द्विगुणवृद्धिस्थानयोर्द्विगुणहानिस्थानयोर्वाऽपान्तराले यानि स्थानानि तान्यसंख्येयगुणानि, एवं त्रसानाम् । स्थावराणां पुनर्द्वयो-

द्विगुणवृद्धयोर्द्विगुणहान्योर्वा एकस्मिन्नपान्तराले यानि स्थानानि तानि स्तोकानि, द्विगुणवृद्धि द्विगुणहान्यन्तराणि पुनरसंख्येयगुणानि । कृता वृद्धिप्ररूपणा ।

सम्प्रति यवमध्यप्ररूपणा क्रियते–यवमध्यस्थानानि अष्टसामयिकानि शेषस्थानापेक्षयाऽसंख्येयभागमात्राणि । तथा यवमध्यस्याधस्तनानि स्थानानि स्तोकानि, ततो यवमध्यस्योपरितनानि असंख्येयगुणानि उक्तं च **पञ्चसंग्रहे**—

"जवमज्झे ठाणाइं असंखभागो उ सेसठाणाण । हेट्ठम्मि होंति थोवा उवरिम्मि असंखगुणियाणि ।"

अत्रायं विशेषः–यवमध्यगतजीवा आवलिकाऽसंख्यभागप्रमाणा एव, ते च सर्वाधिकाः । ततो जघन्यस्थानगतजीवा असंख्येयगुणहीनाः उत्कृष्टरसबन्धस्थानस्थितजीवा अपि आवलिकाऽसंख्यभागमात्रा असंख्याताः, तेऽपि जघन्यस्थानजीवापेक्षयाऽसंख्येयगुणहीनाः । तथा च यवमध्याधस्तनद्विगुणहानिस्थानापेक्षया यवमध्योपरितनद्विगुणहानिस्थानानि असंख्येयगुणानि । कुतः ? स्थानानामेकाऽसंख्यभागो यवमध्यम् 'ट्ठाणाणं असंखेज्जतिभागो जवमज्झं,जवमज्झस्स हेट्ठतो ठाणाणि थोवाणि उवरिं असंखेज्जगुणाणि" इति वचनात् । एतेन यवमध्याधस्तनद्विगुणहानिस्थानानि संख्याततमात्राण्येव तानि पुनर्जघन्यपरित्ताऽसंख्यातराशेः छेदनकशलाकाभिरपि न्यूनानि एव,न त्वधिकानि सिद्धयन्ति, कुतः ? गणितप्रक्रियावशात् ।

गणितप्रक्रिया त्वेवम्–आवलिकाऽसंख्यभागप्रमाणा यवमध्यगतजीवा द्विगुणहीनाद्विगुणहीनास्तावत्कार्याः,यावद् जघन्यस्थानगतजीवाः,अर्थाद् जघन्यस्थानस्य जीवप्रमाणं यावद् यवमध्यजीवानामर्धच्छेदनानि क्रियन्ते तत्रोत्पन्नच्छेदनकशलाकाप्रमाणा यवमध्यस्याऽधस्तनद्विगुणहानिशलाका भवन्ति । एवमुत्कृष्टरसस्थानस्य जीवप्रमाणं यावद् यवमध्यजीवानामर्धच्छेदनानि क्रियन्ते तत्रोत्पन्नशलाकाप्रमाणा यवमध्यस्योपरितनद्विगुणहानिशलाकाप्रमाणं भवति, अत एव यवमध्यगतजीवप्रमाणमत्यावश्यकम्, ततः प्रथमं तदेव प्रदर्श्यते–जघन्यपरित्ताऽसंख्यातरूपे राशौ विवृते सति यावन्ति रूपाणि तावतामेव जघन्यपरित्ताऽसंख्यातराशीनां परस्परमभ्यासे यावान् राशिः सम्पद्यते तदावलिकासमयप्रमाणं भवति । न च यवमध्यमे आवलिकामात्रा जीवाः सन्ति, सर्वेषु स्थानेषु आवलिकाऽसंख्येयभागमात्रा जीवा विद्यन्ते इति सूत्रवचनेन विरोधात् । अत एवाऽऽवलिकाऽसंख्येयभागो ग्राह्यः, स च भागो महत्तमो तदा भवति यदा जघन्यपरित्ताऽसंख्यातराशिना आवलिका विभज्यते । तेन जघन्यपरित्ताऽसंख्यातराशिना आवलिकासमयराशेः भागे हृते यद्भागफलं तदपेक्षयाऽधिकं कदापि यवमध्यगतजीवप्रमाणं न भवति । एतस्मादधिकप्रमाणस्यावलिकाऽसंख्येयभागस्यानुपलम्भात् । एवं च कृते एतद्राशिरेवमुत्पद्यते–जघन्यपरित्ताऽसंख्यातराशिना आवलिका विभज्यते, ततः पूर्वोक्तजघन्यपरित्ताऽसंख्यातविरलनराशितो रूपं विशोध्यम् , तेनोत्कृष्टसंख्यातराशिः विरलनराशितया प्राप्यते उत्कृष्टसंख्यातराशौ विवृते सति यावन्ति रूपाणि, तावद्-

वारं जघन्यपरित्ताऽसंख्यातराशिः स्थापनीयः, तेषां राशीनां परस्परं संताडने यो राशिर्भवति, स उत्कृष्टपदे यवमध्यमजीवप्रमाणं संभाव्यते इति फलितम् । न्यासः—

आवलिका= $(\text{जघन्यपरित्ताऽसंख्यातः})^{\text{जघन्यपरित्ताऽसंख्यातः}}$ =ज०परित्ताऽसंख्यातराशीनां परस्परमभ्यासः यवमध्यस्य जीवा आवलिकाऽसंख्यभागमात्राः, ततो महत्तम आवलिकाऽसंख्यभागस्तदा प्राप्यते यदा जघन्यपरित्ताऽसंख्यातराशिना आवलिका विभज्यते अतः

सम्भावनात उत्कृष्टपदे यवमध्यमगतजीवाः= $(\text{ज.प. असं०})^{(\text{ज. प. असं.})} \div (\text{ज.प. असं०})$

$$\frac{\text{आवलिका}}{\text{जघ०परित्ताऽसंख्य०}} = \frac{(\text{जघन्यपरित्ताऽसंख्या०})^{\text{ज०परित्ताऽसंख्य०}}}{\text{जघ० परित्ताऽसंख्य०}}$$

$$= (\text{जघन्यपरित्ताऽसंख्य०})^{\text{जघन्यपरित्ताऽसंख्य०}-१}$$

$= (\text{जन्घयपरित्ताऽसंख्य०})^{\text{उत्कृष्टसंख्यात०}}$ उत्कृष्टपदे यवमध्ये जीवाः संभाव्यन्त इति फलितम् । यवमध्यजीवानां कियन्ति अर्धच्छेदनकानीति प्रदर्श्यंते—प्राक्प्राप्तस्यावलिकाऽसंख्येयभागमात्रस्य यवमध्यगतजीवप्रमाणस्य यावन्ति अर्धच्छेदनकानि, तावत्प्रमाणतोऽधिकानि द्विगुणहानिस्थानानि कदापि न संभवन्ति, यदि उत्कृष्टरसस्थाने एक एव जीवः स्यात् तदापि एतावन्ति एव द्विगुणहानिस्थानानि प्राप्यन्ते, किन्तूत्कृष्टरसस्थानेऽपि आवलिकाऽसंख्येयभागमात्रा जीवाः प्राप्ताः, अत एव अर्धच्छेदनकशलाकातो न्यूनानि एव द्विगुणहानिस्थानानि प्राप्यन्ते इति निष्कर्षः । तानि चार्धच्छेदनकानि जघन्यपरित्ताऽसंख्यातस्य अर्धच्छेदनकशलाकाभिर्गुणितोत्कृष्टसंख्यातराशिमात्राणि भवन्ति । कथम् ? उच्यते—कस्या अपि विवक्षितसंख्याया यावन्ति छेदनकानि जायन्ते तदपेक्षया तदीयवर्गस्य तानि द्विगुणानि लभ्यन्ते; तदीयघनस्य तु त्रिगुणानि समुत्पद्यन्ते वर्गवर्गस्य (चतुर्घातस्य) तु चतुर्गुणानि एवं विवक्षितसंख्याया यावन्तो घाताः, विवक्षितसंख्याछेदनकानि तावद्गुणानि कर्तव्यानि; प्रस्तुते जघन्यपरित्ताऽसंख्यातस्य यावन्ति छेदनकानि, तदीयोत्कृष्टसंख्यातघातस्य उत्कृष्टसंख्यातगुणानि । अत एव यवमध्यजीवप्रमाणस्य अर्धच्छेदनकानि जघन्यपरित्ताऽसंख्यातस्यार्धच्छेदनकशलाकाभिः गुणितोत्कृष्टसंख्यातराशिप्रमाणानि भणितानि । **उदाहरणं चात्रैवम्—**

(१६) षोडशाङ्कस्य चत्वारि छेदनकानि । तद्यथा—१६=८-४-२-१=४ ।

तस्य वर्गस्य $(१६)^२$ अष्टौ छेदनकानि (४×२=८) । $(१६)^२$=२५६=१२८-६४-३२-१६ शेषाणि पूर्ववत् चत्वारि=८

तस्य घनस्य $(१६)^३$ १२ छेदनकानि (४×३=१२) । $(१६)^३$=४०९६=२०४८-१०२४-५१२-२५६ शेषाणि पूर्ववदष्टौ=१२

तस्य वर्गवर्गस्य (१६)^{४} १६ छेदनकानि (४×४=१६)।(१६)^{४}=६५५३६=३२७६८–१६३८४–८१९२–४०९६ शेषाणि पूर्ववद् द्वादश=१६

तथैव प्रस्तुते न्यासः— यवमध्यमजीवाः= (जघन्यपरित्ताऽसंख्यात॰)$^{\text{उ० संख्यात०}}$

यवमध्यगतजीवराशीनामर्धच्छेदनकानि=जघन्यपरित्ताऽसंख्यातच्छेदनकराशि॰ × उ० संख्यात०

अथ भवद्भिरेवं वक्तुमपि न शक्यते यद् यवमध्यस्याधस्तननानाद्विगुणहानिशलाका जघन्यपरित्ताऽसंख्यातच्छेदनकमात्रा अपि भवन्तीति। कुतः? उच्यते–एवं च कथने उपरितनद्विगुणहानिस्थानानां संख्येयगुणत्वप्रसङ्गः न यवमध्योपरितनद्विगुणहानिस्थानानि असंख्येयगुणानीति वचनविरोधात्।

तथाहि–उत्कृष्टरसस्थाने जीवा यदि उत्कृष्टपदे अतिस्तोका गृह्यन्ते, तर्ह्यपि जघन्यपरित्ताऽसंख्यातराशितो न्यूना नैव सन्ति, यतो हि आवलिकाऽसंख्यभागोऽसंख्यराशितो न्यूनो न ग्रहीतव्यः संख्येयत्वप्रसङ्गात्, संख्येयराशिप्रमाण एतद्भागोऽस्तु, न चैवम्, सर्वेषु स्थानेषु असंख्येयजीवानामभ्युपगमात्। एतेन प्रकृष्टतोऽपि उपरितननानाद्विगुणहानिशलाका रूपोनोत्कृष्टसंख्यातेन गुणितजघन्यपरित्ताऽसंख्यातस्यार्धच्छेदनकमात्राः एव, न एतत्प्रमाणतोऽधिकाः कदापि संभवन्ति। यदि अधस्तनद्विगुणहानिशलाकाः परित्ताऽसंख्यातच्छेदनकमात्राः स्वीक्रियेरन्, तर्हि ताभिः अधस्तनद्विगुणहानिशलाकाभिः उपरितननानाद्विगुणहानिशलाकासु विभाजितासु संख्यातरूपाणि आगच्छन्तीति, अर्थादुपरितननानाद्विगुणहानिशलाका अधस्तननानाद्विगुणहानिशलाकाभ्यः संख्येयगुणा भवन्ति, न चैवम्, यवमध्याधस्तननानाद्विगुणहानिशलाकात उपरितनद्विगुणहानिशलाका असंख्येयगुणा इति वचनात्। ततो जघन्यपरित्ताऽसंख्यातस्याऽर्धच्छेदनकमात्रा अपि यवमध्यमाधस्तननानाद्विगुणहानिशलाका न भवन्तीति अवसीयते। तस्माद् जघन्यपरित्ताऽसंख्यातस्याऽर्धच्छेदनकतो न्यूनान्येव यवमध्यमाधस्तननानाद्विगुणहानिस्थानानीति सिद्धम् ॥७८०।७८१।७८२॥

कृता यवमध्यप्ररूपणा। सम्प्रति स्पर्शनाप्ररूपणामाह—

फासणकालोऽतीए थोवो उक्कोसगे जहन्ने उ।
होइ असंखेज्जगुणो य कंडगे तत्तिओ चेव ॥७८३॥
जवमज्झकंडगोवरि हेट्ठा जवमज्झओ असंखगुणो।
कमसो जवमज्झुवरिं कंडगहेट्ठा य तावइओ ॥७८४॥
जवमज्झुवरि विसेसो कंडगहेट्ठा य सव्वहिं चेव।

अत्र कर्मप्रकृतिचूर्णिः—"इयाणिं फासणताणि परूवणताए–फासणकालोऽतीए थोवो उक्कस्सगे' त्ति–अतीए काले एकजीवस्स 'उक्कस्सगे' त्ति–दुसमतिगे उक्कोसगे अणुभागट्ठाणे फासणकालो थोवो 'जहण्णे उ होति असंखेज्जगुणो' त्ति जहण्णगे अणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणे कालो 'असंखेज्जगुणो' त्ति 'जहण्णगे' त्ति–आतिचउसमतिगे। 'कडगे तत्तितो चेव' त्ति–कंडगत्ति उवरिल्ला चतुसमतिगा ट्ठाणा, तेसु तत्तिनो चेव फासणाकालो। 'जवमज्झ' त्ति–ततो जवमज्झे फासणाकालो असंखेज्जगुणो। 'कंडगोवरि' त्ति-

ततो कंडगस्स उवरिं फासणकालो असंखेज्जगुणो, तिसमतिगेसु भणितं होति । हेट्ठा जवमज्झातो असंख-गुणो कमसो' त्ति–जवमज्झस्स हेट्ठतो फासणाकालो असंखेज्जगुणो । 'जवमज्झुवरिं कण्डग हेट्ठा य तावतितो' त्ति–जवमज्झस्स उवरिं कंडगस्स हेट्ठतो फासणकालो तत्तितो चेव । जवमज्झस्स उवरिल्लेसु ट्ठाणेसु फासणकालो विसेसाहितो 'कंडगहेट्ठा य' त्ति–कंडगस्स हेट्ठातो फासणकालो विसेसाहितो । 'सव्वहिं चेव'–तेहिंतो सव्वेसु ट्ठाणेसु फासणाकालो विसेसाहितो । फासणापरूवणा भणिया ।" [कर्मप्रकृति-गाथाङ्कः ४९ ५०]

(प्रे०) 'फासण०' इत्यादि, अतीते काले एकस्य जीवस्योत्कृष्टे द्विसामयिके इत्यर्थः, अनुभागबन्धस्थाने स्पर्शनाकालः स्तोकः । अतीते काले परिभ्रमता जन्तुना द्विसामयिकान्यनुभाग-बन्धस्थानानि स्तोकमेव कालं स्पृष्टानीत्यर्थः । ततो जघन्ये पुनरनुभागबन्धस्थाने–प्राथमिकेषु चतुःसामयिकेष्वित्यर्थः, अतीते काले स्पर्शनाकालोऽसंख्येयगुणः । **'कंडगे तत्तिओ चेव'** कण्डकं नामोपरितनानि चतुःसामयिकानि स्थानानि, तेषु तावन्मात्रः स्पर्शनाकालो यावन्मात्र आद्येषु चतुःसामयिकेषु । ततो यवमध्येषु स्थानेषु–अष्टसामयिकेष्वित्यर्थः स्पर्शनाकालोऽसंख्येय-गुणः । ततः कण्डकस्योपरिवर्ति–चतुःसामयिकस्थानसंघातरूपस्योपरितनेषु स्थानेषु त्रिसामयि-केष्वित्यर्थः; स्पर्शनाकालोऽसंख्येयगुणः । ततो यवमध्यस्याऽधस्तात् पञ्चषट्सप्तसामयिकेष्व-संख्येयगुणः; स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः । ततः 'क्रमशः'-क्रमेण यवमध्यस्योपरितनेषु कण्डकाच्चतुः-सामयिकस्थानसंघातरूपादधस्तनेषु पञ्चषट्सप्तसामयिकेषु स्थानेषु तावन्मात्र एव स्पर्शनाकालो यावन्मात्रः पाश्चात्येषु पञ्चषट्सप्तसामयिकेषु । ततो 'यवमध्यस्य'–अष्टसामयिकस्थानसंघातरूपस्यो-परितनेषु द्विसामयिकपर्यन्तेषु सर्वेष्वपि स्थानेषु यः स्पर्शनाकालः स विशेषाधिकः । ततोऽपि कण्डकस्य यवमध्यस्योपरिवर्तिचतुःसामयिकस्थानसंघातरूपस्याधस्तात् सर्वेष्वपि स्थानेषु जघन्य-चतुःसामयिकपर्यन्तेषु स्पर्शनाकालः समुदितो विशेषाधिकः । ततः सर्वेष्वपि स्थानेषु स्पर्शनाकालो विशेषाधिकः ।

न च स्थावरप्रायोग्याऽध्यवसायस्थानानां प्रारम्भिकचतुःसमयादिस्थानेषु संभवेन अतीतकाले च त्रसकालतः स्थावरकालस्याऽनन्तगुणत्वेन प्रस्तुताऽल्पबहुत्वमध्ये एकस्याप्यनन्तगुणस्थानस्य प्रसङ्गः आपद्येतेति वाच्यम्, यवमध्यस्याऽधस्तनचतुःसमयस्थानतः प्रारभ्य उपरितनद्विसमयपर्यन्तस्थाने-ष्वपि यथासंभवं स्थावरप्रायोग्याध्यवसायानां सद्भावेन उक्तापत्तेरनवकाशात् । एतदपि कुतो ज्ञायते ? उच्यते–एकेन्द्रियाद्यादिमार्गणासु घात्यादिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकालस्य द्विसमयमात्रस्य प्रोक्तत्वेन यवमध्यस्योपरितनद्विसमयपर्यन्तस्थानेष्वपि यथासंभवं स्थावरप्रायोग्याध्यवसायानां-सद्भाव इति परिच्छिद्यते ।

अयम्भावः–एकेन्द्रियादिजीवभेदेष्वपि यवमध्यस्याधस्तनचतुःसामयिकादारभ्य उपरितन-द्विसामयिकपर्यन्तस्थानेषु रसबन्धस्थानानामवस्थानं प्राप्यत इति ।

तथा चाभ्यधायि **श्रीमन्मुनिचन्द्रसूरिभिः कर्मप्रकृतिचूर्णिटिप्पनके**—

"इह सर्वेष्वपि चतुःसामयिकादिषु स्थानकेषु त्रसानां स्थावराणां च जीवानामवतारः सम्भवति, स्पर्शनाकालस्य सर्वस्थानकेष्वप्येकजीवस्य असंख्येयगुणस्यैवात्राभिधानात् । यदि पुनश्चतुःसामयिकादिषु स्थावरप्रायोग्याणि च नियतान्येव च कानिचित स्युः, तदाऽनादावपि संसारे जीवस्य त्रसकालापेक्षया स्थावरकालोऽनन्तगुणः शास्त्रे प्रतिपादित इति स्पर्शने कालस्याऽल्पबहुत्वचिन्तायां त्रसप्रायोग्यस्थानस्पर्शनकालात् स्थावराणां स्पर्शनकालोऽनन्तगुणो वक्तुं युक्तः स्यात् । न चोक्तस्ततो ज्ञायते सर्वस्थानेषु त्रसाः स्थावराः स्वयोग्यताऽनुरूपमवतरन्तीति ।" ॥७८३।७८४॥ सम्प्रत्यल्पबहुत्वप्ररूपणार्थमाह—

जीवप्पाबहुमेवं अज्झवसाणेसु जाणेज्जा ॥७८५॥

अत्र कर्मप्रकृतिचूर्णिः—'इयाणिं अप्पाबहुग-जीवप्पाबहुमेवं अज्झवसाणेसु जाणेज्ज' त्ति । उक्कस्सगे अणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणे जीवा थोवा, जहण्णे अणुभागबन्धज्झवसाणट्ठाणे जीवा असंखेज्जगुणा, कण्डगे जीवा तत्तिया, जवमज्झे जीवा असंखेज्जगुणा, कण्डगस्स उवरिं जीवा असंखेज्जगुणा, जवमज्झस्स हेट्ठओ जीवा असंखेज्जगुणा, जवमज्झउवरिं कंडगस्स हेट्ठओ जीवा तत्तिया चेव, जवमज्झस्स उवरि जीवा विसेसाहिया, कडगस्स हेट्ठा जीवा विसेसाहिया, सव्वेसु वि ट्ठाणेसु जीवा विसेसाहिया । जीवसमुदाहारो भणिओ । अणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणा भणिया । तेसिं इमाणि एगट्ठियाणि णामाणि । तंजहा-अणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणाणि वा अणुभागबंधट्ठाणाणि वा संकिलेसविसोहिट्ठाणाणि वा एगट्ठं । इति [कर्मप्रकृतिगाथाङ्कः ५१]

(प्रे०) 'जीवप्पाबहु' इत्यादि, यथा स्पर्शनाकालस्याल्पबहुत्वमुक्तम् एवं जीवानामपि अध्यवसानेषु अनुभागबन्धस्थाननिमित्तभूतेषु वर्तमानानामल्पबहुत्वं जानीयात् । तथाहि—उत्कृष्टेष्वध्यवसानेषु द्विसामयिकानुभागनिबन्धनभूतेषु वर्तमाना जीवाः स्तोकाः, ततो जघन्येषु चतुःसामयिकानुभागबन्धनिबन्धनभूतेष्वसंख्येयगुणाः, एतावन्त एवोपरिवर्तिचतुःसामयिकानुभागबन्धस्थाननिबन्धनेष्वध्यवसानेषु, ततोऽपि यवमध्यकल्पानुभागबन्धस्थाननिबन्धनेष्वसंख्येयगुणाः, ततोऽपि त्रिसामयिकानुभागबन्धस्थाननिमित्तेष्वसंख्येयगुणाः, ततोऽप्याद्यपञ्चषट्सप्तसामयिकानुभागबन्धस्थानहेतुष्वध्यवसानेषु असंख्येयगुणाः, एतावन्त एवोपरितनपञ्चषट्सप्तसामयिकानुभागबन्धस्थाननिबन्धनेष्वध्यवसानेषु, ततो यवमध्योपरिवर्तिनिःशेषानुभागबन्धस्थाननिबन्धनभूतेष्वध्यवसानेषु वर्तमाना जीवा विशेषाधिकाः, ततोऽप्युपरिवर्तिपञ्चसामयिकपर्यवसानप्राथमिकचतुःसामयिकप्रभृतिसमस्तानुभागबन्धस्थाननिबन्धनेषु विशेषाधिकाः, ततोऽपि सर्वेष्वनुभागबन्धस्थाननिबन्धनेषु विशेषाधिका इति ॥७८५॥

तदेवमभिहितं जीवसमुदाहारस्याऽष्टममल्पबहुत्वद्वारम्, अभिहिते च तस्मिन् गतं द्वितीयं जीवसमुदाहारद्वारम्, गते च तस्मिन् निष्ठितः पञ्चमोऽध्यवसायसमुदाहाराख्यश्चरमाधिकारः, निष्ठिते च तस्मिन् समाप्तो मूलप्रकृतिरसबन्धः ॥

卐 ॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्री बन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे पञ्चमेऽध्यवसायसमुदाहाराधिकारे 卐
卐 द्वितीयं जीवसमुदाहाराख्यं द्वारं समाप्तम् ॥ 卐
卐 ॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धे 卐
卐 पञ्चमोऽध्यवसायसमुदाहारः समाप्तः ॥ 卐
卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

अथ टीकाकृत्प्रशस्तिः

★ अर्हन्नभूत्सकलकर्मरिपुप्रघाता–
योऽवार्यविक्रमचमत्कृतशक्रचक्री ।
ज्ञानश्रियं स तनुतां विभुवर्द्धमानो-ऽ
लं वर्तमानजिनशासनमालमूलः ॥१॥

★ तस्य प्रणम्रजनतान्तरभक्तिरङ्गै–
रक्तं सरोजदलसुन्दरमङ्घ्रियुग्मं ।
वन्देऽर्चितं ह्यमरमानवमण्डलीभिः
प्रीत्या [1]वसन्ततिलकामलपुष्पमाल्यैः ॥२॥

卐 प्रणयाद्वन्दे निखिलविलसल्लब्धिकां गौतमादि–
गणभृच्छ्रेणिं विमलमसचित्पुष्पपङ्क्तिप्रसन्नाम् ।
भ्रमरच्छीलाद्भुतपरिमलां विश्वविश्वेष्टपूर्त्यै,
परितो मीलत्प्रणयिसुमनोलक्षमन्दारमालाम्[2] ॥३॥

❀ चितां जम्बूमुख्यैर्मुनिमणिगणैर्वीरात्करगिरि·(३२)–
मितं पट्टं यावद्धवलितभुवं प्रोत्सर्प्पियशसा ।
स्फुरज्ज्ञानज्योतिर्दलिततिमिरां शीलोज्ज्वलगुणां
भजे [3]मुक्तामालामिव विलसतीं प्राच्यां मुनिततिम् ॥४॥

△ श्रीमद्वीरजिनात्त्रिसप्ततितमं विज्ञातविश्वागमं-
रम्यारामसमं भवासमसरुभ्रान्ताङ्गिविश्रान्तये
आत्मारामजिदाह्वयेन विदितं विश्वे कवित्वाश्रितम् ।
वन्दे लुम्पककम्पकारिविजयानन्दाह्वसूरीश्वरम् ॥५॥

△ स्फूर्ज्जद्दुर्गर्जिततर्जितोर्जितजगद्वादिदन्तिव्रजोऽ–
कुण्ठः कर्कशतर्कतीक्ष्णनखरैरुत्सूत्रिरक्ताक्षकृत् ।
ब्रह्मार्चिर्मयचक्षुरीक्षितरजोवैरिप्रघातोऽकरोद्
योऽर्हच्छासनशैलशृङ्गचलये [4]शार्दूलविक्रीडितम् ॥६॥

★ १ प्राहुर्वसन्ततिलकां तभजा जगौ गः ॥१६१॥ जयकीर्तिच्छन्दोनुशासनम्, अधिकार २
卐 २ सतनौर्यौ य. शररसयतिर्भाति मन्दारमाला ॥२२१॥ ,, ,, ,, ,, ,,
❀ ३. धृतौ मुक्तामाला यमनसनसैर्द्रव्यतुर्विरतिः ॥२१८॥ ,, ,, ,, ,, ,,
△ ४. भानूद्यति मात्सजौ सततगा शार्दूलविक्रीडितम् ॥२२८॥ ,, ,, ,, ,,

★ तदुरुगरिमपट्टस्वर्णशैलेशशृङ्गं, सुरतरुरिव सौम्यः साधुराडारुरोह ।
कमलविमलकान्तिर्ब्रह्मतेजोमहौजा, विजय**कमलसूरिः** सूरिवृन्दारकेन्द्रः ॥७॥

★ अमरवरसुरूपो बोधितानेकभूपो, मथितकरणवैरी वादिवृन्देभसिंहः ।
भुवनवियति यस्याद्यापि सत्कीर्तिहंसी,विचरति विधुरेखा*मालिनी*[५] शालिशोभा ॥८॥[युग्मम्]

❀ सुधासरसमाधुरीरुचिरगीतसच्चातुरीचमत्कृतबुधस्य **वीरविजयस्य** शिष्यो महान् ।
सुवाचकपदेशितुर्विजय**दानसूरीश्वरो**ऽमन्दगुणकपुङ्गवः **कमलसूरिपट्टे** प्रभुः ॥९॥

❀ विनीतमुनिनीरधौ हिमरुचिप्रभाविस्तरः खरांशुकरनिष्ठुरोऽविनयिसाधुवार्निर्झरे ।
जिनागमरहस्यविद्विपुलशस्यशिष्यैर्वृतः सदा जयतु तद्यशो विमलकान्ति[६]*पृथ्वी*तले ॥१०॥

△ तेषां शिष्यो विनयनिलयस्तत्परप्रीतिपात्रं
भाति श्रीमद्विजयमहितः **प्रेमसूरीशवर्यः** ।
वीरेशानां रमुनितमे(७६)पट्टमौवर्णकूटेऽ
स्माकं गच्छाधिपतिरधुनाऽऽचान्तसिद्धान्तसिन्धुः ॥११॥

△ यस्याऽऽदेशं कुशलकमलाकेलिमूलं दधाति,
प्रीत्या शीर्षेऽम्बर-शर-करैस्सम्मितः(२५०)साधुसङ्घः ।
प्रौढैः **कर्मप्रकृतिप्रमुखे** कर्मशास्त्रे च यस्याऽ-
[७]*मन्दाक्रान्ता* विलसति मतिर्नित्यमत्यन्ततीक्ष्णा ॥१२॥

• दृष्ट्वा पूर्वमुनिप्रणीतकठिनान् यः कर्मसमयान् ,
शिष्यैर्दीक्षितशिक्षितैः स्वयमथो चारित्रचतुरैः ।
कर्मग्रन्थपदार्थमन्थनकृतावश्रान्तमतिभिः,
बुद्धैः कारयते पदार्थघटनामारल्यसरणिम् ॥१३॥

• एतद्**बन्धविधान**नामकमहाग्रन्थस्य रचनां,
सम्यक्तर्कसुपर्कतर्पितबुधां मन्दार्पितमुदम् ।
मत्तानङ्गकुरङ्गभङ्गमटनं नित्यं विरचयन् ,
साधुस्वान्तसुमेरुकुञ्जकुहरे [८]*शार्दूललितम्* ॥१४॥ [युग्मम्]

★ ५. लसति वसुस्वरामा मालिनी नौ मयौ यः ॥१८३॥ जयकीर्तिच्छन्दो० अधि० २

❀ ६. जसौ जसयला गुरुर्वसुयतिश्च पृथ्वी मता ॥२१२॥ " " " "

△ ७. मन्दाक्रान्ता गतिश्रुतुयतिर्माद्भनौ तौ च गौ चेन ॥२१०॥ " " "

❀ ८. मः सौ जः सतसा दिनेशऋतुभिः शार्दूललितम् ॥ छन्दोमञ्जरी पत्र० १०६

△ गच्छः स्वच्छो यदीयो विविधविषयनिष्णातनिर्ग्रन्थरत्नैः,
पूर्णः क्षीरार्णवश्रीर्विलसति भुवने शीलपद्मालिशाली ।
श्रेयःपीयूषपोषः परमगुरुवरं प्रेमसूरीशवर्यं
वन्दे तं तद्गणं च प्रवरगुणमणि- स्रग्घटाऽगण्यपुण्यम् ॥१५॥

★ तेषां शिष्यो जयति हि गहनग्रन्थटीकाविधाता,
प्रज्ञांशुः श्रीविजयपदपरो भानुनामा गणीन्द्रः ।
चञ्चत्पञ्चाशदधिकसुविनेयावलीसेव्यमानः
गीतस्फीतस्वरमधुरतयोत्कर्णितश्रोतृलोकः ॥१६॥

★ विश्वोन्मर्पत्प्रणयमधुमदोज्जृम्भितानङ्गरङ्गे,
कालेऽमुष्मिन् जडपरमविकासाकुले भौतिकेऽपि ।
दत्तानेकाधुनिकयुवकलोकोग्रवैराग्यरागः,
शैलप्राये लघुमरुविषये ब्रह्मवाटे सुतीर्थे ॥१७॥

★ भव्यैर्भिव्यैश्चरमजिनगृहे यन्निदेशानुसारं,
श्रीमद्वीरेश्वरचरितमया कारिता चित्रशाला ।
कारुश्रेष्ठैस्मितमृदुलशिलाटङ्कितानेकवर्ण-
लीलाखेलल्ललितकलकलाचित्रलेखा[10] विचित्रा ॥१८॥

※ कुहूकण्ठीतारस्वरसुमधुरिमा प्रेमसूरीश्वराणां
कृपापात्रं प्राज्ञो मुनिजनहृदयाकर्षिवात्सल्यसद्म ।
गणीन्द्रः श्रीपद्माद्विजयमुनिवरो यस्य संसारवासे
लघुभ्राता नम्रः सद्व्रतविरतिश्चात्र पौरस्त्यशिष्यः ॥१९॥

※ रुजां प्राणप्राशां परमसमतया कॅन्सराख्यां प्रसह्य
स्मरन्नर्हं प्राप्तो लघुवयसि दिवं सिद्धसम्यक्समाधिः ।
तथा यस्यायोचैश्चलति गज-भ[11]-संख्यौलिका वर्द्धमाने,
तपस्याचाम्लैः स प्रगुरुरु-शोभि भानुनामा गणीन्द्रः ॥२०॥[पञ्चभि. कुलकम्]

△ ९. म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् ॥२३८॥ छन्दोऽनुशासनछन्दो० अधि० २

★ १० मन्दाक्रान्ता नपरलघुयुता कीर्तिता चित्रलेखा । छन्दोमञ्जरी पत्र० १०५

● ११रसाश्वैः शोभा नयुगगजठरा मेत्रविस्फूर्जिता चेत् । छन्दोमञ्जरी पत्र ११८

卐 प्रशिष्यस्तस्य श्रीजयपदयुतो घोषनामा मुनीन्द्र–
स्तथा **धर्मानन्दः** श्रमणवृषभः शिष्यरत्नं तदीयः ।
नवीनेऽस्मिन्कर्मग्रथनरचनाकार्यरूपे विराटे,
वियत्येतौ भातो विधुरविनिभौ ज्ञानदीप्त्या लसन्तौ ॥२१॥

卐 पदार्थान् सिद्धान्तप्रकरणमुखानेकशास्त्रव्रजेभ्यः
विशिष्टान् संगृह्य श्रमणविबुधान् मूलकृद्वृत्तिकर्तॄन् ।
स्फुरत्तीक्ष्णप्रज्ञौ सरलविरलीकृत्य संज्ञापयेते,
मुनीन्द्रौ तौ भव्येऽनिशमभिरतौ कर्मसाहित्यकार्ये ॥२२॥

卐 स्थितेर्बन्धग्रन्थः क्षपकपदतः श्रेणिगुम्फः प्रयुक्तौ
यकाभ्यां त्वेषा वै विवृतिरनघा यन्निदेशानुसारम् ।
मया क्लृप्ता प्रेमाभिधगुरुकृपापात्रमुख्यौ मुनीन्द्रौ,
श्रनाभ्यामासक्तौ जगति जयतां तौ चिरं [12]भाग्यभाजौ ॥२३॥

△ धुर्ये **सूर्यपुरे** कृताग्रवसतेः सज्झवेरीमुख्य–
श्रीमच्चीमनलालनामवणिजः श्राद्धमाणिक्यस्य ।
हीराचन्दसुतस्य संसृतिविधौ यो द्वितीयः पुत्रः
धर्मानन्दमुनिः स मे गुरुवरोऽस्ति प्रशस्तोपास्तिः ॥२४॥

△ **मोतीकोर**वराभिधा स्वदयिते स्वर्गते प्रव्रज्य
माता यस्य सुताचतुष्टययुता श्री**महानन्दा**श्रीः ।
नाम्ना सुप्रथिताऽधुना विहरते हारिचारित्रश्रीः
चोक्षाचारवती कठोरतपसाकृष्टदेवप्रष्ठा ॥२५॥

△ ग्रन्थोऽयं रचितो मया जडधिया प्रेरणामातन्वं
वात्सल्यामृतवर्षिणोऽनवरतं यस्य हार्दं प्राप्य ।
स्फूर्जत्संयमरागमागमरताऽखण्डशीलभ्राजं
[13]शार्दूलप्रखरं प्रमादकरिणे भावतस्तं वन्दे ॥२६॥ [त्रिभिः विशेषकम्]

★ प्रव्राजितो जनक**चीमनलाल**संज्ञैः सुश्रावकैरकृतदारपरिग्रहः सः ।
संसारवासगुरुसोदरभूत**धर्मानन्दा**नगारगुरुशिष्यतमो विनीतः ॥२७॥

★ श्रीबन्धुबन्धुरयशःसितसिन्धुपूरैरापूरिताम्बरधराधरराजधीर–
श्री**प्रेमसूरि**पदपद्मपरागपानालोलालिबालचपलो **जयशेखरो**ऽहम् ॥२८॥

卐. १२ यमौ न्सौ रौग रम्भा रसरसयतिर्मेघविस्फूर्जिता वा ॥२२७॥ जयकीर्तिच्छन्दो० अधि० २
△. १३ शार्दूल वद मासषट्कयति मः सो जसौ रो मश्चे त ॥ छन्दोमञ्जरीवृत्तिः पत्र० १०७

★ तेषां सुधासदृशदृष्टिनिपातवृष्टिपुष्टप्रकृष्टमतिसृष्टिविधायितुष्टिम् ।
लब्ध्वा जडोऽप्यकरवं शतकादिगुम्फसारे विराटतनुबन्धविधानशास्त्रे ॥२९॥

★श्रीप्रेमसूरिगुरुकल्पनयात्तरूपेऽमुष्मिन् हि मूलप्रकृतौ रसबन्धग्रन्थाम् ।
प्रेमप्रभाऽभिधशुभां रसबन्धटीकां [१४]सिंहोद्धतामशुभचिन्तनयाजिनेऽमुम् ॥३०॥ [कलापकम्]

△ श्रीमद्वीरात्चरमजिनतो नेत्र-ग्रहाम्भोधि-दृक् (२४९२)
संख्ये रम्ये शरदि विजयानाम्न्यां दशम्यां तिथौ ।
स्वच्छाभ्रतौ शरदि मसुदं मासे शुभेऽपेऽभव-
देषा पूर्णा विवृतिरमला विद्वन्मनोहारिणी[१५] ॥३१॥

卐 श्री जम्बूसूरिवर्यः सत्तत्त्वविद्विज्ञमुख्यः
मित्रानन्दो मुनीन्दुः सेवा-व्यवस्थाविदग्धः ।
प्राज्ञो घोषो जयादिस्सिद्धान्तशुद्धान्तराज्ञो
धर्मानन्दो गुरुर्मे द्रव्यानुयोगप्रवीणः ॥३२॥

卐 साधुश्रेष्ठो जितेन्द्रो द्रोहीन्द्रियारिप्रहारी
ग्रन्थेऽस्मिन् मूलगाथाकृद् वीरतः शेखरश्च ।
एभिर्निग्रन्थसिंहैः संशोधिता सोपयोगै-
र्विद्वद्भिर[१६]चन्द्रलेखाशुद्धोरुमेधानिधानैः ॥३३॥

❋ मयकाऽपीयमथो प्रदत्तमनसा दृष्टास्तथाप्यत्र वै
मतिमान्द्यात् क्षतिसंस्थितेश्च मम वाऽवश्यं क्वचित् कुत्रचित् ।
क्षतयः स्युर्बुधमण्डलं सुजनतागेहं प्रपश्येत्तदा ।
कृपया तत्क्षतिवल्लरीषु कुरुतां [१७]मत्तेभविक्रीडितम् ॥३४॥ [युग्मम्]

❀ तेषामुपकारं मन्ये बहुवारं, साहाय्यममन्दं दत्तं मुनिभिर्यैः ।
सौहार्दसमुद्रैः स्नेहार्द्रहृदा मामेनां ग्रथमानं टीकामणिमालाम्[१८] ॥३५॥

★ १४. सिंहोद्धतेति गदिता तभजा जगौ गः ॥ स्तोत्रसमुच्चयः पत्र० ११

△ १५. वेदर्त्वश्वैर्मभनमयला गश्च त्तदा हारिणी ॥ छन्दोमञ्जरीटीका० पत्र० ९८

卐 १६ म्रौ मौ यौ चेद्भवेतां सप्ताष्टकैश्चन्द्रलेखा ॥ छन्दोमञ्जरी-पत्र० ८३, स्तबक० २

❋ १७. सभरान्मौ यलगास्त्रयोदशयतिर्मत्तेभविक्रीडितम् ॥२२३॥ जयकीर्तिच्छन्दो० अधि० २

❀ १८. त्यौ त्यौ मणिमाला छिन्नायुङ्ग्विचित्रा ॥१३८॥　　"　"　"　"

अथ ग्रन्थमुद्रणे द्रव्यसहाय-प्रशस्तिः

❀ वेलाविलोलसलिलोदधिवीचिचूलया लीलाललत्फलदलाकुलसालनीलिते ।
वेलाकुले **दमण**नाम्नि पुरे पुराऽभवत् श्राद्धाग्रणी**र्नवलचन्द्र**वणिग्वरोऽनघः ॥३६॥

❀ श्री**दानसूरि**वरपूर्णसुभक्तिशालिनस्तस्याङ्गजौ सुभग**चम्पकलाल**कस्तथा ।
सोभागचन्द इति संस्मृतिमातुलौ मम ताभ्यां प्रभूततरवित्तवरव्ययेन वै ॥३७॥

❀ मुद्रापितेयमनघा **रसबन्धशास्त्र**सट्टीका सयन्त्रगज-राज(१८)सहस्रसम्मित-
श्लोका जिनेशगदिताद्भुतकर्मशास्त्रचित्तत्त्वप्रकाशन*मृदङ्गनिनादसन्निभा ॥३८॥

अस्ति प्रजागणतन्त्रानुशासिते **भारतवर्षे** धर्मचक्रभृतां तीर्थंगुणगणधनाढ्यमानैरपि भुवनत्रये विख्यातो **गूर्जरदेशः** । तस्य च दक्षिणसीमासीमन्तिनीललाटे तिलकायमानम्, **अरबो-समुद्रा**ख्यस्वपतिमीलनोन्मुकतया तरलतरतरङ्गनिकरकरप्रमाणमिषेणाऽऽलिङ्गन्त्या इव 卐**दमण-गङ्गा**ऽभिधसरितायाः सङ्गमस्थाने संस्थितम्, विविधवर्णरमणीयभित्तिचित्राश्चितेन स्वर्विमानानु-कारिणा **युगादिदेव**जिनमन्दिरेण मण्डितम्, दानदयादमनोद्यतश्राद्धैरलङ्कृतं **दमणा**ऽभिधानं सुललितं नगरं चकास्ति ।

तत्र च श्राद्धेषु अग्रणीः, उपधानाद्यनेकानुष्ठानचन्दनलेपेन दिग्धदेहः, सप्तदशदिनोपवासा-द्यनेकविकृष्टतपसा तेजस्वी, अक्षताचारनिरतानां पञ्चमहाव्रतधराणां श्रीमद्**दानसूरीश्वर**प्रमु-खाणां साधूनां परमभक्तः, नवोदितचन्द्र इव दर्शनीयो **नवलचन्द्रा**भिधो **दीपचन्द्र**तनुजः श्रेष्ठ्यासीत् । तस्य भूरिगुणमणिनिलया **मणि**नामधेया भार्या अभूत्, सा च क्रमेण दाक्षिण्या-दिगुणोज्ज्वलां **मोतीकोरा**ऽभिधां पुत्रीं, तथा श्लाघ्यतमचरितं **चम्पकलाला**ऽऽख्यं सौम्यगुणोपेतं **सोभागचन्द**नामानं चेति द्वे पुत्ररत्ने प्रासूत ।

धर्माचाररतैः श्रेष्ठि**चम्पकलालै**श्चतुःषष्ट्यधिकैकोनविंशतिशततमवैक्रमाब्दस्य (१९६४) माघमासस्य शुभायामेकादश्यां तिथौ स्वजन्मना नगरं स्वकुलं चाऽलङ्कृतम् । लघुवयसि एव धनोपा-र्जनेन पितुश्चिन्ता दूरीकृता व्यापारवाणिज्येऽपि सदैव न्यायप्रियेण तेन महाशयेन । तस्य च शील-विमला **विमला**भिधा पत्नी क्रमेण **प्रवीणचन्द्र-रजनीकान्ता**भिधे पुत्ररत्ने **जसवंतो**नाम्नीं पुत्रीं च प्रासूत । सा च यौवनावस्थायामेव विनश्वरं पार्थिवं वपुस्त्यक्त्वा पञ्चत्वं प्रपेदे । वातान्दोलित-

* १०. स्मौ जो रो मृदङ्गः । हैमछन्दो० अध्या० २ । सू० २६१ ।

卐 अधुना कथ्यते, द्वादशाधिकद्वादशशततम(१२१२)वैक्रमवर्षे लिखिते पृथ्वीचन्द्रचरित्रसत्कताडपत्रीयपुस्तकलेखयितृ-प्रशस्तिमध्ये 'दमन' इति ख्याता, तत्पाठ —"संवत् १२१२ वर्षे ....
... . श्रीवासरि लाटदेशमण्डले महीदमनयोरन्तराले.....................।"
जैनपुस्तकप्रशस्तिसंग्रह-पत्र० १०७

दीपकुड्मलप्रायः प्रियैः सङ्गम इति विचिन्त्य सोऽनित्यादिभावनया भावितः संसारप्रवृत्तौ साधुरिव विरक्तमना धर्मैककर्मा अभूत् । आचार्यश्रीमद्विजय**प्रेमसूरीश्वर**-तच्छिष्याऽऽचार्यश्रीमद्विजय-**रामचन्द्रसूरि**-श्रीमद्**जम्बूसूरि**-श्रीमद्**यशोदेवसूरि**प्रमुखाणां तपःश्रुतनिधानानां रागादिरिपुमल्लानां साधुपुरुषाणामनवरतं सत्समागमेन वर्धमानवैराग्यरङ्गरञ्जितहृदयस्यास्य भीमभवभञ्जनैकप्रवणायाः प्रव्रज्याया भावना अत्युत्कटा संजाता । तदवसरे शारीरिकादिश्लथता प्रव्रज्याग्रहणविधौ विघ्नभूता सञ्जाता । ततस्तेन पुण्यात्मना संसारसमुद्रोत्तरणे फलकायमानानि श्रावकोचितानि द्वादशव्रतानि अग्राहि । सदा संलग्नश्च जिनोक्तशास्त्राणामध्ययनेऽध्यापने, निरन्तरं निरतः नमस्कारमहामन्त्रस्मरणे; पठितानि च नमस्कारादिविषयकप्रचुरपुस्तकानि तेन शास्त्रलोचनेन । अतो धर्मावबोधकरणेऽपि सुष्ठु कौशलं समासादितवान् । साधुविरहकाले **दमणनगरे** पर्युषणादिमहापर्वावसरे श्रावकश्राविकाणां पर्षदि रुचिरतरया भाववाहिन्या शैल्या धर्मोपदेशं कृतवानासीत् स महानुभावः ।

विंशतिशततमे (२०००) वैक्रमे वर्षे साक्षात्सुरद्रुमस्येव श्री**शत्रुञ्जयमहातीर्थस्य** कषायाऽऽतपाऽपहारिण्यां शीतलछायायां सिद्धान्तमहोदधि-गच्छाधिपति-श्रीमद्विजय**प्रेमसूरीश्वर**निश्रावर्तिनामाचार्यश्रीमद्विजय**क्षमाभद्रसूरि**पादानामन्तिके स्वायुषः षट्त्रिंशत्तमवर्षे भरयौवने वयसि सर्वमङ्गलनिलयं भवविलयं धीरपुरुषाचरितं चतुर्थं ब्रह्मचर्यव्रतं यावज्जीवमुररीकृतं तेन भाग्यशालिना । आचार्यश्रीमद्विजय**भक्तिसूरि**पादपार्श्वे पञ्चमङ्गलमहाश्रुतस्कन्धोपचाररूपोपधानतपः सुतप्तं श्रद्धाधनेन तेन महात्मना । कलिकालकल्पद्रुमायमाणस्य वर्धमानाचाम्लाभिधस्य तपसः पिठिकास्वरूपाः पञ्चौलिकाः कृत्वा तदनन्तरं काश्चिदोलिकाः समाराधितास्तेन मोक्षैककाङ्क्षिणा । स्वसन्तानेष्वपि तत्कृतं धर्मसंस्कारबीजवपनं सफलं सञ्जातम् । यत्तस्याबालब्रह्मचारिण्या '**जसवंती**'ति यथार्थनाम्न्या पुत्र्या प्रथमे यौवने वयसि ज्ञानगर्भितवैराग्यपूर्वं भोगसुखं परित्यज्य पञ्चोत्तरद्विसहस्रतमवैक्रमाब्दे परममङ्गलमयी आर्हती प्रव्रज्या प्रगृहीता । परमपूज्यानां सङ्घस्थविराणामाचार्यश्रीमद्विजय-**सिद्धिसूरीश्वरा**णामाज्ञावर्तिन्याः साध्वीशिरोमण्याश्चन्द्रोज्ज्वलगुणग्रामधारिण्याश्च**न्द्रोदयाश्री**नाम्न्याः साध्व्याः शिष्यात्वं प्रपन्नाया हेमवद्विनयादिगुणकल्पलतायाः **हेमलताश्री** नाम्न्याः साध्व्याः सुविनेया **हर्षप्रभाश्री**नामधेया साध्वी सञ्जाता । विहरति सा स्वगुरुण्या सार्धमद्यापि असिधारातुल्यस्य जिनोक्तचारित्रस्य सुचारुरूपामाराधनां कुर्वती सती ।

सप्तोत्तरद्विसहस्रतमे (२००७) विक्रमसंवत्सरे असौ श्रेष्ठिः स्वीयवयसः त्रिचत्वारिंशत्तमे वर्षे हृदयरोगेण बाढमाक्रान्तः, तत्क्षणमेवाजीवनं प्रणिधानेन स्मृतः पञ्चमङ्गलनमस्कारः तस्य स्मृतिपथमागतः, मृत्युञ्जयमन्त्रस्मरणपूर्वकमेव दशप्राणांस्त्यक्तवान् स परमार्हतः । तस्य समाधिमरणस्यावलोकितृभिराकाङ्क्षितं तावत् स्वस्यापि तादृङ्महोत्सवरूपं मरणम् । तस्यात्मश्रेयोऽर्थं बन्धुभगिनीपुत्रपुत्र्यादिकुलपरम्परायाश्च कल्याणार्थं मुद्रापितोऽयं टीकासमलङ्कृतो मूलप्रकृतिरसबन्धाख्यो ग्रन्थस्तस्याऽनुजेन पुत्रेणाऽनुजपुत्रैश्च स्ववित्तव्ययेन परमसम्यक्श्रुतभक्त्या ।

अनुजस्तस्य जिनधर्मैकमनाः पूर्वजन्मोपात्तप्रबलधर्मसंस्कारघनः, प्राग्जनितपुण्यसंभारसाहाय्येन स्वभुजार्जितन्यायोपार्जितवित्तः, पापकर्मणि जडः, शुभकर्मणि आसक्तः, चेतसि स्वस्थः, वितरणे पटुः, चरणे लिप्सुः किं बहुना सौभाग्यनिधिरिव **सोभागचन्दाभिधः** समस्ति । स पञ्चषष्ठ्युत्तरैकोनविंशतिशततम(१९६५)वैक्रमवर्षेऽषाढमासस्य कृष्णचतुर्थ्यां **नवलचन्द्रश्रेष्ठिनः** गृहे समजनि । जीवविचारादिप्रकरणग्रन्थानामध्ययनं बाल्यवये एव कृतं तेन सम्यग्ज्ञानपिपासुना । धार्मिकपुस्तकानां पठनं व्यसनमिव बाल्यत एवासीत् , तद्बलेनार्जिता तेन श्रावकोचिता तत्त्वज्ञता धर्मश्रद्धायाश्च दृढता । ममासादिता सुदेवगुरुधर्मोपरि कापि अतिशयवती भक्तिः । सञ्चितं समुचितमौदार्यं, सुलब्धं भव्यं स्वभावमाधुर्यं, संप्राप्तं लोकप्रियत्वमपि धर्मप्रभावनाहेतुभूतं तेन पुण्यात्मना ।

महत्पापारम्भप्रचुरतरयन्त्रवादद्वारेणार्थोपार्जनबहुलेऽस्मिन् युगे संसारवृद्धिकारणीभूतमहारम्भसमारम्भतः स्वात्मानं रक्षयितुकामेनाऽनेन श्राद्धवर्येण प्रतिज्ञा कृता यत् दुर्गतिपातहेतून् पापव्यापारान् स्वप्नेऽपि न करिष्येऽहं जिनदेवसेवकः । अन्यच्च परिग्रहपरिमाणं तथा आशापरिमाणे भारतभूमिं विहाय देशान्तरसञ्चरणं प्रत्याख्यातं तेन व्रतलिप्सुना । श्रावकोचिता सम्यक्त्वशुद्धिकारिणी जिनपूजा-सुपात्रदान-सामायिक-शीलाभ्यास-तीर्थयात्रादिकृत्यरूपा समाचारी अद्यापि समाचर्यते तेन जिनमतगतशङ्केन ।

तस्य श्रेष्ठिनः सौभाग्यचन्द्रस्यास्ति शीलकुसुममालाधारिणी **कुसुमनाम्नी** सहधर्मचारिणी । आभ्यां दम्पतीभ्यां समं समाराधितानि अष्टादशभक्तप्रत्याख्यानानि, ज्ञानपञ्चमी-वर्धमानाचाम्लप्रमुखाण्यनेकानि बहुभवसञ्चितदुष्कृतविदारकाणि तपांसि । साम्प्रतं युगलमेतत् प्रणिधानपूर्वकं प्रजपति स्म द्वादशाङ्गनिस्यन्दभूतस्य सर्वपापप्रणाशकस्य मन्त्राधिराजपञ्चपरमेष्ठिनमस्कारस्य तिर्यङ्नरकाभिधदुर्गतिविच्छेदकं नवलक्षसंख्यं पुण्यजापम् । **सूर्यपुरे** (सूरत) पूज्यपन्न्यासप्रवरश्रीमद्**देवेन्द्रसागर**गणिवर्याणां संनिधाने उपधानतपः संतप्य मुक्तिमाला परिहिता तयाऽखण्डसौभाग्यवत्या । अथ तस्या विंशतिस्थानकतपस ओलिकास्तूर्णं संचलन्ति । श्रेष्ठिनः **सौभाग्यचन्द्रस्य कुमारपाल-सूर्यकान्त हर्षदराय-श्रीपालाख्याश्चत्वारः** सागरा इव धर्मघनरसेन पूर्णाश्चत्वारः पुत्राः सन्ति, **अरुणा**नामधेया एकाऽमलगुणा पुत्री चास्ति । तेभ्यो धर्मसंस्कारदानमतीव पेशलं कृतं पितृभ्यां तेनैर्युगीनपाश्चात्योच्चतमलौकिकज्ञानमासादितं तैस्तथापि कापि विशिष्टा जिनधर्मं प्रति श्रद्धा प्रतिभाति तेषां मानसपटे ।

द्वाविंशत्युत्तरद्विसहस्रतमे (२०२२) वैक्रमे वर्षे स श्रेष्ठिः विशालगच्छाधिपति–श्रीमद्विजय**प्रेमसूरीश्वर**–तत्परमविनेयपन्न्यासश्री**भानुविजय**गणिवर--तदन्तेवासि--मुनिश्री**धर्मानन्दविजया**नां वन्दनार्थम् **अहमदाबादनगरे** समागतः, तत्र कर्मवादविषयकनूतनसाहित्यसर्जनं दृष्ट्वा तथा स्वलघुभागिनेय(मुनिश्री**जयघोषविजय**)दृब्धस्य मूलप्रकृतिरसबन्ध-

टीकाग्रन्थस्य मुद्रापणकार्ये समाप्तिकोटिं प्राप्तमिति श्रुत्वा तत्कार्ये स्वप्रचुरवित्तव्ययकरणभावना सञ्जाता तस्य महानुभावस्य । सा च कुटुम्बसमक्षं प्रकटीकृता वर्धापिता चाविलम्बेन सर्वैरपि च कुटुम्बिजनैः धन्यंमन्यैः । श्रेष्ठिनो धर्मपत्न्या **कुसमनाम्न्या**, भ्रातृपुत्रप्रवीणचन्द्रेण, तद्धर्मसहचारिण्या **कोकिलानामधेयया**, स्वज्येष्ठपुत्र**कुमारपालेन**,तज्जायया प्रवीणासंज्ञकया **हर्षदराय-श्रीपाला**-भिधेन लघुपुत्रद्वयेन च सहर्षमनुमोदनं कृतम् । प्रोत्साहितश्च श्रेष्ठी श्रुतभक्तिलाभार्थं तैः सर्वैः । एतदेव सूचयति कुटुम्बस्यास्य कीदृशी जिनराजभक्तिः, सम्यक्श्रुतभक्तिः धर्मप्रीतिश्चास्तीति ।

श्रेष्ठिनः सौभाग्यचन्द्रस्य ज्येष्ठा भगिनी **मोतीकोरनामधेया** तु महाभागधेया, यया वार्धक्येऽपि प्रव्रज्याग्रहणेन स्वपुत्रपुत्रीभ्यः प्रव्रज्यादानेन च मोहादिद्विपकुम्भभेदनविधौ प्रबलपौरुषं प्रकटीकृतम् , तथाहि–सा तु परमपूज्य-सङ्घस्थविर-श्रीमद्विजय**सिद्धिसूरीश्वराणामाज्ञावर्तिन्याः** सुविशालशिष्यापरिवारपरिवृताया गाम्भीर्यादिगुणगरिष्ठाया **हीरश्री**साध्वीश्रेष्ठायाः प्रशिष्यायाः **चन्द्रोदयाश्री**साध्वीशिरोमण्या महानन्दपदैकलक्ष्या **महानन्दाश्रीनाम्नी** शिष्याऽभवत् । तस्यास्त्रयः पुत्रा आसन् , तेभ्यो जिनधर्मरागरञ्जितान्तःकरणं **मोहनलाला**ऽभिधं ज्येष्ठपुत्रं विना द्वितीयतृतीयपुत्रौ स्वस्वजन्मत एकविंशति वर्षे दीक्षितौ मुनिश्री**धर्मानन्दविजय-जयशेखर-विजयौ** जातौ । तत्राद्यो द्रव्यानुयोगनदीष्णो मुनिश्रेष्ठो **धर्मानन्दविजयो**ऽस्य ग्रन्थस्य पदार्थसंग्रहकारो मदीयो गुरुश्च, द्वितीयः पुनरहम् । तथा तस्याश्चतस्रः सुता आसन् , ताः सर्वा अपि कौमार्यावस्थायामेव प्रव्रजिताः क्रमेण **नयानन्दाश्री कीर्तिसेनाश्री-जयसेनाश्री-जयानन्दा-**श्रीसंज्ञकाः साध्वीश्रेष्ठा अभूवन् ।

अनेन परमश्राद्धेन **सौभाग्यचन्द्रेण** स्वस्य स्वधर्मपत्न्याश्च ज्ञानपञ्चमीतपाराधननिमित्तं त्रिंशत्युत्तरद्विसहस्रमिते वैक्रमे वर्षे **दमणनगरे** उद्यापनं कृतम् , त्रयोविंशत्युत्तरद्विसहस्रवर्षे च स्वस्य स्वधर्मपत्न्याश्च वर्धमानाचाम्लपिठिकादितपोनिमित्तमुद्यापनं कृतं मोहमय्यां **मुम्बापुर्याम्** ।

एकविंशत्युत्तरद्विसहस्रतमे (२०२१) वैक्रमसंवत्सरे मुम्बापुरीतः श्रीसिद्धाचलतीर्थाधिराजस्य श्री**शङ्खेश्वरपार्श्वनाथ**महातीर्थस्य च सहस्रसंख्याश्रावकश्राविकाणां सूर्यपुर(सुरत)वीशा-श्रीमालीज्ञातिसत्कानां सङ्घोऽग्निरथसंज्ञकेन यान्त्रिकयानेन विपुलवित्तव्ययेन समानीतः अन्य-चतुर्भिरंशदैः सङ्घाधिपैः सार्धं तेन महाशयेन । श्री**शत्रुञ्जयगिरिराज**स्योपरि अन्यैः सङ्घपतिभिः सार्धं तीर्थमालापरिधानं कृतं स्वधर्मपत्नी-स्वभ्रातृपुत्र**प्रवीणचन्द्र**–तद्भार्या-स्वज्येष्ठपुत्र–पुत्रीयुतेन श्रेष्ठिना **सौभाग्यचन्द्रेण** । सङ्घानयनावसरे एव तेन स्वधर्मपत्न्या सह श्रीशत्रुञ्जयगिरिराजस्योपरि **कपडवंज**वास्तव्येन निर्मापिते जिनप्रासादे माघमासस्य शुक्लपक्षस्य सप्तम्यां तिथौ अष्टमजिनेशितुश्चन्द्रप्रभस्वामिनो बिम्बस्य प्रतिष्ठा कारापिता । स्वर्गस्थस्वपितृनवलचन्द्रात्म-श्रेयोर्थं **दमणजैनोपाश्रयस्य** व्याख्यानमण्डपस्तदर्धव्ययदानेन स्वपितृनाम्ना समलङ्कारि तथा

जिनमन्दिरस्य नित्यसंरक्षणार्थं साधारणद्रव्यस्य विपुलवित्तदानेन प्रचुरवृद्धिः कृता तेन दानप्रियेण । अस्य सुचारुसंस्कारधनो ज्येष्ठभ्रातृव्यो धर्मकार्येषु प्रवीणः **प्रवीणचन्द्राभिधः** सर्वस्मिन्नपि सत्कर्मणि प्रबलसहयोगदाता अस्ति । तेन मोक्षार्थिना सुतप्तान्यष्टोपवास–ज्ञानपञ्चमी–वर्धमानाऽऽचाम्लादितपांसि, स्वाचरितानि श्रावकयोग्यव्रतानि, समुपार्जिता आत्मोन्नतिकारकगुणाः ।

एष च षडशीत्यधिकसप्तशतमूलगाथाकः **प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृतो मूलप्रकृतिरसबंधग्रन्थ** एतत्कुलस्य द्रव्यसाहाय्येन प्रकाशयत इति समग्रकुलमन्ये चैतद्ग्रन्थस्य पठनपाठनस्वाध्यायादिना क्रमेण रसबन्धविरहितदशां प्राप्य शाश्वतकालं यावदनन्तसुखदं निःश्रेयसमश्नुवतामिति ।

卐 नन्द्यादियं **श्रीरसबन्धटीका**, तावद्धरित्र्यां बुधवाच्यमाना ।
यावद्वसेदात्मवपुर्विगोप्याऽब्धा [२०]इन्द्रवज्राद्धरितः सुनाभः ॥३९॥

ग्रन्थं विरच्य मयकेममवापि पुण्यं,
यत्तेन टातु रसबन्धवियुक्तिदायी ।
सम्प्राप्तकर्मजयशेखरवीरदेवो,
विश्वस्य विघ्नविधुरं धरधीरभद्रम ॥४०॥

॥ इति श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धटीकाया प्रशस्ति. ॥

॥ **तदेवं श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिरसबन्धप्रेमप्रभाटीका समाप्ता** ॥

तत्समाप्तौ च

समाप्तः

प्रवचनकौशल्याधार–सुविहिताग्रणी–सिद्धान्तमहोदधि कर्मशास्त्रनिष्णात–प्रात स्मरणीयाऽऽचार्यदेव-**श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरपादानां** पवित्रनिश्रायां तदन्तेवासिवृन्दविनिर्मित-प्रेमप्रभाटीकाविभूषिते मुनिश्रीजयघोषविजय–धर्मानन्दविजय–वीरशेखरविजय-संगृहीतपदार्थके मुनिश्रीवीरशेखरविजयविरचितमूलगाथाके

बन्धविधाने

मुनिश्री **जयशेखरविजय**विरचितप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृतः

मूलप्रकृति–

रसबन्धः

卐 [२०] तौ जेन गौ चेदियमिन्द्रवज्रा ॥११५॥ जयकीर्तिच्छन्दो० अधि० २

परिशिष्टानि

[INDEXES]

प्रथमं परिशिष्टम्

अकारादिक्रमेण बन्धविधान-मूलप्रकृति-रसबन्धप्रथमप्रभाटीकाऽन्तः प्रमाणतया समुद्धृतानां ग्रन्थानां नाम्नां सूचिः

★

द्वितीयं परिशिष्टम्

अकारादिक्रमेण प्रस्तुतटीकान्तर्गतानां ग्रन्थकृन्नाम्नां सूचिः



तृतीयं परिशिष्टम्

नत्वा शङ्खेश्वरं पार्श्वं, गच्छेशं स्वगुरुंस्तथा । क्षेत्र-स्पर्शनसंदर्भः स्वोपज्ञस्तन्यते कियत् ॥

इह तावत्स्वपरहितकाम्यया यथार्थाभिधं क्षेत्रस्पर्शनप्रकरणमारिप्सुर्ग्रन्थकृदादौ मंगलादिप्रतिपादिकां गाथामभिधत्ते–

नमिउं अरिहंताई
सगुरुपसाया सुयाणुसारेणं ।
बेमि गइआइगेसुं
जीवाणं खित्त फुसणाऊ ॥१॥

"नमिउं" इत्यादि, इह पूर्वार्धेन मङ्गलसम्बन्धौ साक्षादुक्तौ, उत्तरार्धेन त्वभिधेयम्, प्रयोजनं तु सामर्थ्यगम्यम्। तत्र अरीणां–रागद्वेषाद्यान्तरशत्रूणां हननात्, यद्वा चतुस्त्रिंशतमतिशयान् देवेन्द्रादिकृतां पूजां वाऽर्हन्तीत्यर्हन्तस्ते आदौ येषामर्हत्सिद्धाऽऽचार्योपाध्यायसाधूनां तेऽर्हदादयस्तानर्हदादीन् 'नत्वा' कायवाङ्मनोयोगैः प्रणम्य 'स्वगुरूणां' भवविरागजनक–सम्यग्दर्शन-ज्ञानादिप्रापक–पोषक-प्रव्रज्याप्रदायकादीनां गच्छाधिपतिश्रीमत्प्रेमसूरीश्वरतातपादप्रभृतीनां प्रसादात् 'श्रुतानुसारेण' आगमार्थमनतिक्रम्य 'बेमि' त्ति ब्रवीमि, किमित्याह–'गइ' इत्यादि, गत्यादिषु 'गइ–इंदिए य' इत्यादिना गाथाद्वयेन वक्ष्यमाणेषु सोत्तरभेदभिन्नेषु मार्गणास्थानेषु 'जीवानां' सकषाया-ऽकषायभेदभिन्नानां क्षेत्रस्पर्शने 'सपइकाले'त्यादिना वक्ष्यमाणस्वरूपे इति।

इह क्षेत्रस्य स्पर्शनायाश्च सकषाया-ऽकषायजीवभेदेन प्ररूपणं तु वक्ष्यमाणसमुद्घातकृतक्षेत्रस्पर्शनयोर्मारणान्तिकसमुद्घात–केवलिसमुद्घात–भेदेन प्रदर्शनार्थम्, अन्यथा तत्समुद्घातद्वयं विहाय शेषसमुद्घातकृतक्षेत्रस्पर्शनयो: स्वस्थानक्षेत्रस्पर्शनापेक्षयाऽविशिष्टत्वेऽपि विशिष्टस्य मारणसमुद्घातकृतक्षेत्रादिद्वयस्य सर्वलोकप्रमाणकेवलिसमुद्घातकृतक्षेत्राद्यन्तःप्रविष्टतया न स्यान्मनुष्यगत्योघादिमार्गणास्थानेषु यत्र केवलिसमुद्घातस्यापि सद्भावस्तत्र मारणसमुद्घातकृतक्षेत्रादेर्विशेषतोऽवगम इति ॥१॥

अथ 'गत्यादिकेषु' इत्युक्तम्, तत्र गत्यादिकान्येवाऽधिकृतसभेदप्रभेदानाह–

गइ-इंदिए य काये,
जोए वेए कसाय-नाणे य ।
संजम-दंसण-लेसा,
भव-सम्मे सन्नि-आहारे ॥२॥
सगचत्त-गुणवीस-दु-
चत्ता-ऽडुार-चउ-पंच-अट्ठ-डा ।
चउ-छ-दु-सत्त-दुग दुगं,
चउसयरिसयं कमा णेया ॥३॥

"गइ इंदिए य" इत्यादि, इहोत्तरगाथाप्रान्तभणितेन 'कमा णेया' इति वचनेन गतीन्द्रियेत्यादीनां 'सगचत्त-गुणवीसे' त्यादिभिर्यथासंख्यमन्वयः, तथा च सप्तचत्वारिंशद्गतिभेदा: । तद्यथा–नरकगत्योघः, रत्नप्रभादिपृथ्वीभेदभिन्नाः सप्तनरकगत्युत्तरभेदाः, तिर्यग्गत्योघः, पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघः,पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-तिरश्चीभेदात् त्रय पञ्चेन्द्रियतिर्यगुत्तरभेदाः, मनुष्यगत्योघः, पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-मानुषीभेदतस्त्रयो मनुष्यगत्युत्तरभेदाः, देवगत्योघः, भवनपतिव्यन्तर ज्योतिष्क-द्वादशकल्पोपपन्न-नवग्रैवेयक-पञ्चानुत्तरवैमानिकभेदभिन्ना एकोनत्रिंशद्देवगत्युत्तरभेदा इति । 'इंदिए' त्ति एकोनविंशतिरिन्द्रियभेदाः । तद्यथा–एकेन्द्रियौघः, ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदात् त्रयः सूक्ष्मैकेन्द्रियभेदास्तथैव त्रयो बादरैकेन्द्रियभेदा इति समस्ताः सप्तैकेन्द्रियभेदाः; ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नास्त्रयो द्वीन्द्रियभेदास्तथैव त्रयस्त्रीन्द्रियभेदास्त्रयश्चतुरिन्द्रियभेदास्त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाश्चेति । "काये" त्ति द्विचत्वारिंशत्कायमार्गणा-

भेदाः । तद्यथा--अनन्तरोक्तैकेन्द्रियमार्गणाभेद-वत्सप्त पृथिवीकायभेदाः, सप्ताऽप्कायभेदाः, सप्त तेजस्कायभेदाः, सप्त वायुकायभेदाः, वनस्पतिकायौघः, प्रागिव सप्त साधारणवनस्पतिकायभेदाः, ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदात् त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकायभेदाः, तथैव त्रयस्त्रसकायभेदाश्चेति । "जोए" त्ति अष्टादश योगमार्गणाभेदाः । तद्यथा--काययोगौघः, औदारिक-तन्मिश्र-वैक्रिय-तन्मिश्रा-हारक-तन्मिश्र-कार्मण-काययोगभेदभिन्नाः सप्त काययोगोत्तरभेदा ,मनोयोगसामान्यः, सत्या ऽसत्य-मिश्र-व्यवहारमनोयोग-भेदाश्चत्वारो मनोयोगोत्तरभेदाः, वचोयोगसामान्यः, सत्या-ऽसत्यादिभेदान्मनोयोगवच्चत्वारो वचोयोगोत्तरभेदाश्चेति । "वेए" त्ति स्त्री-पुरुष-नपुंसकभेदात् त्रयोऽपगतवेदश्चेति चत्वारो वेदमार्गणाभेदाः । "कसाय" त्ति क्रोध-मान-माया-लोभभेदाश्चत्वारः, प्रतिपक्षस्यापि ग्रहणात्पञ्चमोऽकषायभेदश्चेति । "नाणे" त्ति मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान-मनःपर्यवज्ञान-केवलज्ञानानि, प्रतिपक्षभूताज्ञानभेदानामपि ग्रहणात् मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान विभङ्गज्ञानानि चेति अष्टौ ज्ञानमार्गणाभेदाः । "संजम" त्ति प्रागिव सप्रतिपक्षा अष्ट संयममार्गणाभेदाः । तद्यथा संयमौघ-सामायिक छेदोपस्थापनीय परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्पराय-यथाख्यातसंयम-देशसंयमा-ऽसंयमा इति । "दंसण" त्ति चक्षुर्दर्शना ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-केवलदर्शनभेदाच्चत्वारो दर्शनमार्गणाभेदाः । "लेसा" त्ति कृष्ण-नील कापोत-तेजः-पद्म-शुक्लभेदात षड् लेश्याभेदाः । 'भव" त्ति भव्यस्तत्प्रतिपक्षभूताभव्यश्चेति द्वौ भेदाविति । 'सम्मे ' त्ति सम्यक्त्वौघ , क्षायिक-क्षायोपशमिकौ-पशमिकसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सासादन--मिथ्यात्वानीति सप्रतिपक्षा सप्तेति । "सन्नि" त्ति प्रतिपक्षसहितत्वात्संज्ञ्यसंज्ञी चेति द्वौ । तथैव "आहारे" त्ति आहारका-ऽनाहारकाविति द्वौ भेदाविति । "चउसयरिसयं" ति तदेते नरकगत्योघाद्याः सर्वसंख्यया चतुःसप्तत्युत्तरशतं ज्ञेया इति ॥२-३॥

उक्ता नरकगत्योघाद्या अधिकृतमार्गणा भेदाः । एतर्हि यदुक्तम 'क्षेत्रस्पर्शने प्रवीमि' तत्र क्षेत्र-स्पर्शनयोर्विशेषं क्षेत्रभेदांश्चाह—

संपइकाले खेत्तं,
फुसणा पुण होइ अइगये काले ।
खेत्तं तिहोववाय-स-
ठाण-समुग्घायभेयाओ ॥ ४ ॥

"संपइ" इत्यादि, संप्रतिकाले'-वर्तमानकाले जीवानां यत्रावस्थानं तत्क्षेत्रमुच्यते, स्पर्शना पुनरतिगते काले जीवानां यत्रावस्थानमित्येतल्लक्षणा । तत्र वर्तमानकालः समयमात्रः, अतिगतस्त्वनन्तपुद्गलपरावर्तमान इत्येव कालविशेषाक्षिप्तः क्षेत्र-स्पर्शनयोर्विशेषः । तत्र क्षेत्र त्रिधा भवति, कथमित्याह-"उववाय"त्यादि, उपपातो नाम भवप्रथमसमयः, तत उपपातात् , उपपातापेक्षया क्षेत्रम् , नरकगत्योघादितत्तन्मार्गणानुरूपनारकत्वादितत्तत्पर्यायापन्नभवप्रथमसमयवर्तिजीवराशिसमवगाढाकाशप्रदेशा इति यावत् । स्वस्थानं नाम उत्पत्त्युत्तरं तेन तेन नारकत्वादिभावेन यत्र जीवानां स्वाहजिकमवस्थानम् , तदपेक्षया क्षेत्रं स्वस्थानक्षेत्रम । समुद्घातस्तु 'वेयण कसाय मरणे वेउव्विय-तेयए य आहारे । केवलि य समुग्घाया' इति वचनात्सप्तविधः, तस्मात् समुद्घातात् , समुद्घातापेक्षयेत्यर्थः ।

इह सप्तविधसमुद्घातमध्ये वक्ष्यमाणक्षेत्रविशेषः स्पर्शनाविशेषश्च मारणान्तिकसमुद्घातापेक्षया केवलिसमुद्घातापेक्षया वा विज्ञेयः, न पुनः शेषपञ्चविधसमुद्घातापेक्षया, कथम् ? पञ्चविधसमुद्घातेन स्वस्थानादिक्षेत्रतोऽधिकक्षेत्रस्यावगाहभावेऽपि तथाविधक्षेत्रस्य स्वस्थानादिक्षेत्रतोऽसंख्येयभागलक्षणस्तोकमात्रांशेनाधिकतया भेदेनानुपलक्ष्यमाणत्वात् , तत्रैव मारणसमुद्घातसम्भवे तु तस्य मारणसमुद्घाताक्षिप्तक्षेत्रान्तःप्रविष्टत्वाच्च । अत एव यत्र समुद्घातकृतस्पर्शनाप्रतिषेधः करिष्यते तत्रासौ मारणान्तिकसमुद्घाताभावेन विशेषप्ररूपणाऽविषयत्वाद्विज्ञातव्यः, न पुनः सर्वथा समुद्घाताभावात् ।

ननु शेषपञ्चविधसमुद्घातकृतक्षेत्रविशेषस्य मारणसमुद्घातकृतक्षेत्रान्तःप्रविष्टतया तत् पञ्च-

विधसमुद्घातकृतक्षेत्रं यदि नाधिक्रियेत तदा तेनैव न्यायेन केवलिसमुद्घातकृतक्षेत्राऽन्तःप्रविष्टतया मारणसमुद्घातकृतक्षेत्रप्ररूपणमपि निरवकाशतामास्कन्देत ? इति चेद्, सत्यम्, पर न सर्वत्र मार्गणास्थानेषु केवलिसमुद्घातो लभ्यते, अपि तु केषुचिन्मनुष्यगत्योघादिष्वेवाऽसौ प्राप्यते, तथा च मनुष्यगत्योघादिमार्गणास्थानानि विहाय सावकाशं मारणसमुद्घातकृतक्षेत्रप्ररूपणम्, किञ्च मनुष्यगत्योघादिमार्गणास्थानेष्वपि सकषाया-ऽकषायजीवभेदेन क्षेत्रस्य प्ररूपणीयत्वात् तत्राऽपि तत् सावकाशमेवेति सर्वमनवद्यमिति । क्षेत्रप्ररूपणावदेव समुद्घातकृतस्पर्शनाप्ररूपणाऽपि मारणसमुद्घातकृतस्पर्शनां केवलिसमुद्घातकृतस्पर्शनां चाधिकृत्य बोद्धव्येति । तदेवं क्षेत्रत्रैविध्यमुपदर्शितम् ॥ ४ ॥

अथ यथोक्तोपपातादिभेदभिन्नत्रिविधक्षेत्रं प्रोक्तमार्गणाभेदेषु प्रतिपिपादयिषुरादौ तावत् सकषायजीवानधिकृत्य प्राह—

तिरिये इगिंदिय-भू-
दग-अगणि पवण-णिगोअओहेसुं ।
तेसिं सुहुमोहेसुं
तेसिं च अपज्ज-पज्जेसुं ॥५॥
वणओह-कायजोगो-
रालिय तम्मीस-कम्मजोगेसुं ।
कीवे कसायचउगे
दुअणाणा ऽयत-अणयणेसुं ॥६॥
अपमत्थलेस-भवि-यर-
मिच्छत्तेसु अमणम्मि आहारे ।
इयइ तह अणाहारे
खित्तं तिविहंपि सव्वजगं ॥७॥

"तिरिये" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघः, एकेन्द्रियौघः, पृथिवीकायौघः, अप्कायौघः, तेजस्कायौघः, वायुकायौघः, साधारणवनस्पतिकायौघः, "तेसिं सुहुमोहेसु" ति एतेषामेकेन्द्रियौघादीनां षण्णां ये सूक्ष्मविशेषणविशिष्टाः षट् सूक्ष्मैकेन्द्रियौघादिलक्षणाः सूक्ष्मौघभेदास्तथा "तेसिं च अपज्जपज्जेसु" ति तेषां सूक्ष्मैकेन्द्रियौघादीनां षण्णां ये षट्पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियादिलक्षणाः षट्पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियादिलक्षणाश्च मार्गणाभेदास्तेषु पञ्चविंशतिमार्गणाभेदेषु, तथा वनस्पतिकायौघ-काययोगौघौदारिकौ-दारिकमिश्र-कार्मणकाययोग-नपुंसकवेद-क्रोधादिकषायचतुष्टय-मत्यज्ञान श्रुताज्ञाना ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शनानि कृष्णाद्यप्रशस्तलेश्यात्रिक-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वाऽसंज्ञा-ऽऽहार्य ऽनाहारिमार्गणास्वित्येवं सर्वसंख्यया ऽष्टचत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं "खेत्तं तिविहंपि सव्वजगं" ति उपपातादिभेदभिन्न यथोक्त त्रिविधमपि क्षेत्रं 'सर्व जगत्' अशेषो लोको भवति, तद्धि प्रतिसमयं सर्वलोकव्यापिन सूक्ष्मस्य पर्याप्तस्याऽपर्याप्तस्य वा पृथिवीकायादन्यतमजीवराशेः प्रत्येकं प्रवेशात्तथा ज्ञेयम् । तदुक्तं श्रीप्रज्ञापनागमे द्वितीये स्थानपदे—

'कहि णं भंते ! सुहमपुढवीकाइयाणं पज्जत्तगाण अपज्जत्तगाणं य ठाणा पन्नत्ता ? गोयमा ! सुहुमपुढवीकाइया जे पज्जत्तगा जे अपज्जत्तगा ते सव्वे एगविहा अविसेसा अणाणत्ता सव्वलोगपरियावन्ना प० समणाउसो !' इत्यादि । इत्येवमन्योऽपि वचनसवादो द्रष्टव्य इति ॥५-६-७॥

दुविहं इगिंदियतिगे,
थूले पवणे अपज्जपवणे य ।
सट्ठाणा हीणज गं,

"दुविहं" इत्यादि, 'सव्वजगं' इत्यनन्तरगाथात इहापि सम्बध्यते, तथा च 'स्थूले' बादरे एकेन्द्रियत्रिके एकेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदत्रयाऽऽत्मके, तथा "पवणे" इत्यादि, 'थूले' इत्यस्याऽनन्तरोक्तस्येहापि सम्बन्धाद् बादरवायुकायौघेऽपर्याप्तबादरवायुकाये च 'द्विविधम्' उपपातसमुद्घातभेदभिन्न नानाजीवसम्बन्धि यथोक्तलक्षणं क्षेत्रं सर्वलोको भवति, न पुनः स्वस्थानादपि सर्वलोकः । "सट्ठाणा" त्ति स्वस्थानात् हीनमसंख्येयभागलक्षणेनैकदेशेन "जगत्"-लोको भवति । एतद्धि तत्तन्मार्गणास्थपर्याप्ता-ऽपर्याप्तान्यतरबादरवायुकायजीवाक्षिप्त विज्ञेयम्, न तु वायुकायेतरबादरजीवा-

पेक्षया, तेषां बादरपृथिव्यादीनां स्वस्थानतो लोकासंख्येयभागगतत्वात् । बादरवायुकायिकानां तु देशोनलोकवर्तित्वाच्च । तदुक्तं श्रीप्रज्ञापनोपाङ्गे-

'कहि णं भंते ! अपज्जत्तबादरवायुकायियाणं ठाणा पन्नत्ता ? गोयमा ! जत्थेव बादरवायुकायियाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता तत्थेव बादरवायुकायियाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता, उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु' इति ॥

तिहावि पज्जत्तवाउम्मि ॥८॥

"तिहा" इत्यादि, 'थूले' इत्यस्यानन्तरोक्तस्येहापि सम्बन्धाद् बादरपर्याप्तवायुकाये त्रिधाऽपि, न पुनरनन्तरोक्तनीत्या केवलं स्वस्थानात्; त्रिधा कियत् ? देशोनलोकः, तच्च 'हीणजग'मित्यस्येहापि सम्बन्धादवसातव्यम् । तदुक्तम्—

"कहि णं भंते ! .... एत्थणं बादरवायुकायियाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता, उववाएणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु" इति ॥ ८ ॥

लोओ बायरभू-दग-

ऽणल-पत्तेयतरुगेसु सिमपज्जेसु ।

थूले य णिगोअतिगे

दुहा सठाणा भवे जगअसंखंसो॥९॥

"लोओ" इत्यादि, 'लोक' इत्यस्य 'द्विधा' इति परेणान्वयः, तथा सति बादरेषु पर्याप्ता ऽपर्याप्तविशेषणविरहितेष्वौघिकेषु पृथिव्यप्तेजस्कायौघलक्षणेषु मार्गणास्थानेषु, प्रत्येकवनस्पतिकायौघे, तथा "सिमपज्जेसु" त्ति तेषां बादरपृथिवीकायादिप्रत्येकवनस्पतिकायान्तानां चतुर्णाम् 'अपर्याप्तेषु' । अपर्याप्तबादरपृथ्वीकाया-ऽप्काय-तेजस्काया-ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायलक्षणमार्गणाचतुष्टये इति भावः । तथा "थूले य" त्ति 'स्थूले'-बादरे निगोदत्रिके, ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नबादरसाधारणवनस्पतिकायमार्गणाभेदत्रय इत्यर्थः । इत्येवं समुदितासु सर्वसंख्ययैकादशमार्गणासु प्रत्येकमुपपात-समुद्घातभेदाद् 'द्विधा' द्विविधं क्षेत्रं सर्वलोको भवति । एतास्वेवैकादशमार्गणासु जीवानां स्वस्थानक्षेत्रं तु "जगअसंखंसो" त्ति लोकासंख्येयभागमात्रमेव भवति । तत्र द्विधा सर्वलोकः प्रत्येकं मार्गणासु असंख्यलोकपरिमितानां तदधिकानां वा जीवानां प्रविष्टत्वात्, लोकाऽसंख्येयभागः पुनर्बादरपर्याप्ताऽपर्याप्तपृथिवीकायादितया रत्नप्रभादिभूमिपिण्डादावेवाऽवस्थानात् । यत उक्तम्-

'कहि णं भंते ! बादरपुढवीकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता ? गोयमा । सट्ठाणेण अट्ठसु पुढवीसु, तं जहा-रयणप्पभाए-सक्करप्पभाए-वालुयप्पभाए-पंकप्पभाए-धूमप्पभाए-तमप्पभाए-तमतमप्पभाए ईसीप्पब्भाराए, अहोलोए-पायालेसु भवणेसु भवणपत्थडेसु निरएसु निरयावलियासु निरयपत्थडेसु, उड्ढलोए-कप्पेसु विमाणेसु विमाणावलियासु विमाणपत्थडेसु, तिरियलोए-टंकेसु कूडेसु सेलेसु सिहरीसु पब्भारेसु विजयेसु वक्खारेसु वासेसु वासहरपव्वएसु वेलासु वेइयासु दारेसु तोरणेसु दीवेसु समुद्देसु, एत्थ णं बायरपुढवीकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता, उववाएणं लोयस्स असंखेज्जभागे समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जभागे सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जभागे । कहि णं भंते । बादरपुढवीकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता ? गोयमा ! जत्थेव बादरपुढवीकाइयाणं पज्जत्तगाण ठाणा पन्नत्ता तत्थेव बादरपुढवीकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता,

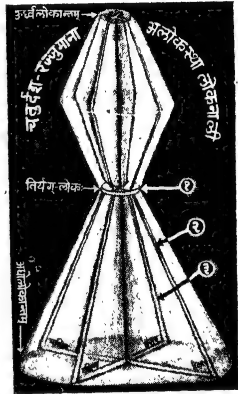
उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे।' इति। इत्थमेव बादराप्कायादिक्षेत्रविषयेऽपि सूत्रसंवादो द्रष्टव्य इति।

ननु भवत्वेवमपर्याप्तबादरतेजस्कायमार्गणां विहाय बादरपृथिवीकायौघादिमार्गणास्थानेषु द्विधा लोकस्तथा स्वस्थानतो लोकाऽसंख्येयभागः क्षेत्रम्, अपर्याप्तबादरतेजस्कायमार्गणायां तु केवलं समुद्घातत एव तत्सर्वलोको भणितं सूत्रे, न पुनः शेषद्विविधमपि। तथा च श्रीप्रज्ञापनाग्रन्थः–"कहि णं भन्ते ! बायरतेउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणं प०, गोयमा ! जत्थेव बायरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा तत्थेव बायरतेउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा प०, उववाएणं लोयस्स दोसु उड्ढकवाडेसु तिरियलोयतट्टे य, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे"? इति चेत्, सत्यम्, परं तत्र उपपाततः "उववाएणं लोयस्स दोसु उड्ढकवाडेसु तिरियलोयतट्टे य" इत्यनेन यत् लोकासंख्येयभागमात्रक्षेत्रं भणितं तद्व्यवहारनयं समाश्रित्य ज्ञेयम्, तद्वृत्तौ तथा व्याख्यातत्वात्। तथाचोक्तं तद्वृत्तौ–"तदेवमिदं सूत्रं व्यवहारनयप्रदर्शनेन व्याख्यातम्, तथा सम्प्रदायात, युक्तं चैतद्, "विचित्रा सूत्राणां गति." इति वचनात्' इति। अत्र तु तदन्यक्षेत्रवदिदमपि क्षेत्रं ऋजुसूत्रनयानुसारेण प्रतिपादितं ज्ञेयम्, ऋजुसूत्रनये उदितबादराऽपर्याप्ततेजस्कायिकायुर्नामगोत्राणां बादरापर्याप्ततेजस्कायिकत्वेन व्यपदेशस्येष्टत्वात, तथाविधानां तूक्तोर्ध्वकपाटद्वयतिर्यग्लोकतो बहिरपि सर्वत्र लाभात्।

एतदुक्तं भवति–समग्रलोकवर्तिसूक्ष्मजीवराशितश्च्युत्वाऽपि अपर्याप्तबादरतेजस्कायिकत्वेन एक-द्वि-त्र्यादिवक्रेणोत्पद्यमाना जीवा लभ्यन्ते सर्वस्मिन्नपि लोके, तेषु च स्वस्थानप्राप्त्यभिमुखीभूतेषु जीवेषु ये जीवा अर्धतृतीयद्वीपसमुद्रलक्षणात् मनुष्यलोकाग्निसते बाहल्यतोऽर्धतृतीयद्वीपसमुद्रमाने पूर्वापरदक्षिणोत्तरस्वयम्भूरमणसमुद्रपर्यन्ते ऊर्ध्वमधोऽपि च लोकान्तं स्पृष्टे ये कपाटे, तथा कपाटद्वयाऽप्रविष्टो यस्तिर्यग्लोकशेषभागः,

स्थापना–

('दोसु उड्ढकवाडेसु तिरियलोयतट्टेय' इति व्यवहारनयप्रधानसूत्रानुसारेणाऽपर्याप्ततेजस्कायजीवानां क्षेत्रप्रदर्शकं चित्रम्—)



(१) तिर्यग्लोकतट्टम्, ('तिरियलोयतट्टे य' इति पाठाधिकारे तु एतावत् कपाटबहिर्वर्ति तिर्यग्लोकक्षेत्रं न ग्राह्यम्।

(२) पूर्वा-ऽपरदिग्द्वयविस्तृतं बाहल्यतोऽर्धतृतीयद्वीपसमुद्रमानं षड्दिक्षु लोकान्तस्पृक् कपाटम्।

(३) उत्तर-दक्षिणदिग्द्वयविस्तृतं बाहल्यतोऽर्धतृतीयद्वीपसमुद्रमानं षड्दिक्षु लोकान्तस्पृक् कपाटम्

इत्येतावति क्षेत्रे विद्यन्ते ते एव व्यवहारनयदर्शने बादरापर्याप्ततेजस्कायिका इति व्यवहारभाजो भवन्ति, न तु शेषाः कपाटद्वयाद्बहिर्व्यवस्थिताः; स्वस्थान-समश्रेणिकपाटद्वयाव्यवस्थितत्वेन तेषां विषमस्थान-वर्तित्वात् । अर्थाद् येऽद्यापि कपाटद्वयं न प्रविष्टा नापि तिर्यग्लोकं प्रविष्टास्ते पूर्वभवस्था एव गण्यन्ते व्यवहारनये । यथोक्तकपाटद्वय-तिर्यग्लोकाऽवगाढ-क्षेत्रं तु लोकाऽसंख्येयभागमात्रमेवेति व्यवहारनय-मताभ्युपगमान् सूत्रे सर्वलोको न भणितमुपपात-क्षेत्रम् । ऋजुसूत्रनयं तु यथोक्तकपाटद्वय-तिर्यग्लोकतो बहिःस्थिता अपि अपर्याप्तबादरतेजस्कायिकाऽऽ-युर्नामगोत्रोदयादपर्याप्तबादरतेजस्कायिकत्वेन व्य-पदिश्यन्त एव, तथा च तन्मताभ्युपगमादिह तेषा-मपर्याप्तबादरतेजस्कायिकानां क्षेत्रं सर्वलोको भणित-मित्येवं सर्वं सुस्थमेवेति ॥९॥

उक्तशेषमार्गणाभेदेषु प्रस्तुतत्रिविधक्षेत्रमाह-

तिविहंपि य सेसेसु स-
कसायजीवे पडुच्च इइ भणियं ।

"**तिविह**" मित्यादि, 'जगअसखंसो' इत्येतद-त्रापि संबध्यते, तथा च शेषेषु नरकगत्योघादिपञ्चो-त्तरशतमार्गणाभेदेषूपपात -समुद्घात--स्वस्थानभेद-भिन्न त्रिविधमपि नानाजीवाश्रयं क्षेत्रं लोकासंख्य-भागप्रमाणं भवति । नरकगत्योघादिशेषमार्गणाभेदा-स्त्विमे-सर्वे [७]नरकगतिभेदाः, सर्वे [५]पञ्चेन्द्रियतिर्यग्-भेदाः,सर्वे [५]मनुष्यगतिभेदाः, सर्वे [३०]देवगतिभेदाः, सर्वे [१२]विकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियभेदाः, [३]बादरपर्याप्त-पृथिव्य--प्तेजस्कायाः, [१]पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायः, सर्वे [३]त्रसकायभेदाः, [५]पंच मनोयोगभेदा ,पञ्च [५]वचोयो-गभेदाः, [१]वैक्रिय [१]वैक्रियमिश्रा-[१]ऽऽहारका-[१]ऽऽहार-कमिश्रकाययोगभेदाः, [१]स्त्री [१]पुरुषवेदौ, [१]अपगतवेदः, [४]मति श्रुता-ऽवधि-मनःपर्यवज्ञानानि, [१]विभङ्गज्ञानम् , [६]संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धि-क-सूक्ष्मसम्परायसंयम-देशसंयमाः, [२]चक्षु-रवधिदर्शने, [३]तेजःपद्मशुक्ललेश्याः, [४]सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायो-पशमिकौ- पशमिकसम्यक्त्वानि, [१]सम्यग्मिथ्यात्वं [१]सास्वादनं [१]संज्ञी चेति। एतासु त्रिविधमपि क्षेत्रं लोका-ऽसंख्येयभागमात्रं तु प्रत्येकं सूक्ष्माणामपर्याप्तबाद-राणां पृथिवीकायिकादीनां पर्याप्तबादरवायुकायानां चाऽप्रवेशात्, शेषाणां प्रविष्टानां पर्याप्तबादरपृथिवी-कायिकादीनां तु तथास्वाभाव्यादेव रत्नप्रभादि-पृथ्वीपिण्डतया स्थितिमतां परिमाणतोऽपि असंख्ये-यलोकप्रदेशराशितोऽत्यन्तं हीनानामेकस्मिन् समये स्वस्थानवदुपपाततः समुद्घाततो वा लोकासंख्येय-भागादधिकक्षेत्रस्यानवगाहनात् ।

ननु भवतु नरकगत्योघादिषु यथोक्तनीत्या स्व-स्थानादित्रिविधक्षेत्रस्य मनुष्यगत्योघादौ उपपातक्षेत्र-स्य स्वस्थानक्षेत्रस्य च लोकासंख्येयभागमानता, न पुनर्मनुष्यगत्योघादौ समुद्घातक्षेत्रस्यापि सा घटा-माकलयति, केवलिसमुद्घातगतेनैकेनापि केवलि-भगवता एकस्मिन् समये उत्कर्षतः समग्रलोकस्य स्वात्मप्रदेशैः पूरणाद् इति चेद् , सत्यम् , परं यदे-तदभिहितं क्षेत्रं तत्सकषायजीवानधिकृत्य, न पुन-रकषायजीवानधिकृत्य, तथा चाह-"**सकषायजीवे**" इत्यादि; सकषायजीवानधिकृत्य '**इति**' एवंप्रकारेण भणितं क्षेत्रम् , न च सकषयजीवानामसौ केवलि-समुद्घातो जायते,केवलिसमुद्घातं विहाय शेषसमु-द्घाताक्षिप्तं क्षेत्रं तु नरकगत्योघादिमार्गणासु लोका-ऽसंख्येयभागमात्रमेवेत्येवं सकषायजीवाधिकारान् न दोषलेशोऽपि । अत एवेह शेषमार्गणाभेदेषु अक-षाय-केवलज्ञान-केवलदर्शन- यथाख्यातसंयमलक्षणा-श्चत्वारो मार्गणाभेदा न संगृहीता इत्यप्यवसातव्य-मिति ॥

ननु अकषायजीवानधिकृत्य तर्हि प्रस्तुत-त्रिविधक्षेत्रविचारे तत् कुत्र कियद्भवेदित्याह-

अकसाये अहिकिच्च उ,
ते जत्थऽत्थि तहि सव्वत्थ ॥१०॥

लोगस्स असंखंसो,
सट्ठाणाओ तहा समुग्घाया ।
पणमणवपुरालियदुग-
णाणचउग-दंसणतिगेसुं ॥११॥
उवसम-सण्णीसु तहा,

आहारेऽणत्थ होइ पुण्णजगं ।
ण हवइ उप्पाया खलु,
खित्तं कत्थवि गयं खित्तं ॥१२॥

"अकसाये" इत्यादि, अकषायजीवानधिकृत्य तु तेऽकषायजीवा यत्र मनुष्यगत्योघादिद्विचत्वारिंशन्मार्गणाभेदेषु 'सन्ति'–लभ्यन्ते तत्र सर्वत्र लोकस्याऽसङ्ख्यभागः स्वस्थानाद्भवति। "तहा समुग्घाया" त्ति 'तथा'–तद्वदेव लोकासंख्यभागः समुद्घातादपि भवति, केवलं न सर्वेषु चत्वारिंशत्यपि मार्गणास्थानेषु किन्तु पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोगौदारिकौदारिकमिश्रकाययोग मति श्रुता-वधि मनःपर्यवज्ञानलक्षणज्ञानचतुष्क चक्षु रचक्षु-रवधिदर्शनलक्षणदर्शनत्रिकौ-पशमिकसम्यक्त्व-सञ्ज्ञ्याऽऽहारका इत्येवं द्वाविंशतिमार्गणाभेदेषु, न पुनर्मनुष्यगत्योघादि-शेषविंशतिमार्गणाभेदेष्वपीत्यर्थः । तर्हि तत्र तत्समुद्घातात्कियत्स्यादित्याह–"ऽणत्थ होइ पुण्णजगं" ति 'अन्यत्र'–उक्तान्यत्र मनुष्य गत्योघादिशेषविंशतिमार्गणाभेदेषु प्रत्येकं प्रस्तुततत्समुद्घातावाप्तं क्षेत्रं पूर्णं जगद् भवति । अयम्भावः–समुद्घातं प्रविष्टा अकषायजीवा उत्कर्षतोऽपि एकस्मिन् समये सङ्ख्येया एव प्राप्यन्ते, उपशान्तमोहादिगुणस्थानगतानामकषायजीवानामेव तद्भावात्, ते चाऽकषायजीवा विहाय केवलिसमुद्घातं लोकासंख्येयभागप्रमाणात्स्वस्थानक्षेत्रादसङ्ख्येयगुण क्षेत्रं मारणान्तिकसमुद्घातेन पूरयन्तोऽपि लोकाऽसंख्यभागमात्रक्षेत्रमेव व्याप्नुवन्ति, न पुनस्तदधिकम् । संख्येयानामकषायमनुष्याणां मरणसमुद्घातेन मनुष्यलोकादूर्ध्वमनुत्तरविमानं यावत् सप्तरज्जुदीर्घस्य बाहल्यतः स्वशरीरप्रमाणस्य च स्वात्मप्रदेशदण्डस्य प्रसारणेऽपि लोकासंख्येयभागमात्रावगाहनात्, वेदनादिशेषसमुद्घातापेक्षया तु स्वस्थानक्षेत्रतः सङ्ख्येयभागमात्राधिकक्षेत्रस्यैवाऽवगाहनाच। केवलिसमुद्घातेन तु एकेनाऽपि जीवेनोत्कृष्टतः परिपूर्णो लोकः पूर्यते, तथा चाऽकषायजीवोपेतमनुष्यगत्योघादिद्विचत्वारिंशन्मार्गणाभेदमध्ये मनोयोगपञ्चकादिषु केवलिसमुद्घातगतजीवप्रवेशाभावेन मारणसमुद्घाताद्याक्षिप्तं सत् समुद्घातक्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागमात्रमभिहितम्, मनुष्यगत्योघ–पर्याप्तमनुष्य–मानुषी–पञ्चेन्द्रियौघ पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ पर्याप्तत्रसकाय-काययोगौघ-कार्मणकाययोगा-ऽपगतवेदा-ऽकषाय केवलज्ञान-संयमौघ–यथाख्यातसंयम–केवलदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्वाऽनाहारकलक्षणेषु 'ऽण्णत्थ' इत्यनेन संगृहीतेषु विंशतिसंख्याकेषु मार्गणाभेदेषु तु प्रत्येकं लभ्यते केवलिसमुद्घातगतजीवप्रवेशात्तदाक्षिप्तं प्रस्तुतं समुद्घातकृतक्षेत्रं परिपूर्णो लोक इति तथा भणितमिति।

यद्यपीह कार्मणकाययोगवदौदारिकौदारिकमिश्रकाययोगयोः केवलिसमुद्घातगतजीवानां लाभस्तथाप्यष्टसामयिकस्य केवलिसमुद्घातस्य चतुर्थसमये एव केवलिसमुद्घातगतजीवात्मप्रदेशानां लोकव्याप्तेस्तृतीय चतुर्थ पञ्चमसमयेषु कार्मणकाययोगस्यैव प्रवर्तनाच न भवत्यौदारिक तन्मिश्रयोगयोः केवलिसमुद्घातापेक्षयाऽपि सर्वलोकक्षेत्रम्, किन्तु यथोक्तं-लोकासङ्ख्येयभागमात्रमेव तत्सम्पद्यते। तथाहि-आयुष्कस्थितितोऽधिकस्थितिकानां वेदनीयाद्यघातिप्रकृतीनां क्षपणहेतोः केवली भगवान् समुद्घातं करोति,स च समुद्घातोऽष्टसामायिकः, तस्मिन् केवलिसमुद्घाते प्रथमसमये बाहल्यतः स्वशरीरप्रमाणमूर्ध्वाऽधश्चतुर्दशरज्जूच्छ्रितं स्वात्मप्रदेशदण्डं कुर्वन् लोकासङ्ख्येयभागे तिष्ठति, द्वितीयसमये तस्मादेवात्मप्रदेशदण्डात् बहूनात्मप्रदेशान् पूर्व-पश्चिमदिशोरुत्तरदक्षिणदिशोर्वा पार्श्वद्वये लोकान्तं यावत् प्रसारयन्नूर्ध्वाधश्चतुर्दशरज्जूच्छ्रितदिग्द्वयलोकान्तगामिकपाटाकारेण व्यवस्थापयन् लोकासंख्येयभागे व्याप्तो भवति, लोकाऽसंख्येयबहुभागेषु तु न। तृतीयसमये तु तस्मादेव यथोक्तमानात्कपाटान् शेषदिग्द्वये लोकान्तं यावदात्मप्रदेशान् विस्तारयन् लोकप्रान्तवर्तिनिष्कुटादिलक्षणस्तोकमात्रक्षेत्रं विहायाऽशेषप्रायलोकं व्याप्नोति, अयं हि मन्थकरणकालः प्रतरकरणकालो वा भण्यते । चतुर्थसमये तु शेषभागमपि पूरयित्वा पञ्चमादिचतु समयेषु प्रातिलोम्येन यथासंख्य लोक-मन्थकपाट दण्डान् संहरन्नष्टमे समये शरीरस्थो लभ्यते, तत्र मध्यादि संहरता षष्ठ-सप्तमा-ऽष्टमसमयवर्तिना

तेन लोकासंख्येयभागः व्याप्यते । तथा चोक्तं व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्तौ श्रीमदभयदेवसूरिपादैः–

'असखेज्जइभागे होज्ज' त्ति शरीरस्थो दण्डकपाटकरणकाले च लोकासंख्येयभागवृत्तिः, केवलिशरीरादीनां तावन्मात्रत्वात् 'असंखेज्जेसु भागेसु होज्ज' त्ति मथिकरणकाले बहोर्लोकस्य व्याप्तत्वेन स्तोकस्य चाव्याप्ततयोक्तत्वाल्लोकस्यासंख्येयेषु भागेषु स्नातको वर्त्तते, लोकाऽऽपूरणे च सर्वलोके वर्तते" इति ।

तत्र च दण्डकरणलक्षणे प्रथमे समये दण्डसंहरणलक्षणेऽष्टमे समये च तस्यौदारिक एव योगः, द्वितीय-षष्ठ-सप्तमसमयेषु औदारिकमिश्रो योगः, तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमसमयत्रये तु कार्मणो योगः प्रवर्तते तस्य । तदुक्तं प्रशमरतिप्रकरणे उमास्वातिचरणैः–

"औदारिकप्रयोक्ता प्रथमा-ऽष्टमसमययोरसाविष्टः ।
मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तम-षष्ठ-द्वितीयेषु ॥ १ ॥
कार्मणशरीरयोगश्चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च ।
समयत्रयेऽपि तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात् ॥२॥ इति ।

तदेवमौदारिक-तन्मिश्रकाययोगयोः केवलिसमुद्घातगतजीवलाभेऽपि प्रस्तुतक्षेत्रं लोकासंख्येयभागमात्रं प्रदर्शितमिति ।

"ण हवइ" इत्यादि, अकषायजीवानधिकृत्य भण्यमानं क्षेत्रम् "उपपादाद्" उपपातापेक्षया कुत्राऽपि मार्गणाभेदे न भवति, भवप्रथमसमयवर्तिनां जीवानामकषायत्वाभावादिति भाव ।

क्षेत्रप्ररूपणमुपसंहरति–"गयं खित्त"मिति क्षेत्रप्ररूपणं समाप्तमित्यर्थः ॥१०-११-१२॥

तदेवं भणितं नरकगत्योघादिष्वधिकृतमार्गणाभेदेषु सकषायजीवानधिकृत्याऽकषायजीवानधिकृत्य चोपपात-स्वस्थान-समुद्घातभेदभिन्नं त्रिविधं क्षेत्रम् । एतर्हि यथोक्तलक्षणा नानाजीवाश्रिता स्पर्शना निर्जिगमिषुः क्षेत्रवदुपपातादिभेदात्स्पर्शनाप्रभेदान् प्रदर्शयन् प्राग्वदादौ सकषायजीवानधिकृत्य तामाह–

अह फुसणा अवि तिविहा,
तुरियावि गमागमेण देवाणं ।
सट्ठाणा सव्वत्थवि,
खित्तसमाणा हवइ सा उ ॥१३॥

"अह" इत्यादि, अथाऽऽनन्तर्ये, क्षेत्रप्ररूपणाऽनन्तरं स्पर्शनाप्ररूपणप्रस्ताव इति तदर्थः । "फुसणा अवि तिविहा" त्ति क्षेत्रवत् स्पर्शनाऽपि उपपातस्वस्थानसमुद्घातभेदात् त्रिविधा भवति, "तुरियाऽवि" त्ति न केवलं क्षेत्रवत् त्रिधा, किन्तर्हि ? 'तुरिया'–चतुर्थी अपि भवति, कथं केषामित्याह– "गमागमेण देवाण" ति, केषाञ्चिद्भवनपत्याद्यच्युतकल्पान्तानां देवानां जिनजन्मादिमहक्रीडा–कुतूहल–पूर्वसांगतिकमीलनादिप्रयोजनेन गमनागमनादुत्कर्षतोऽधस्तृतीयभूमिमूर्ध्वमच्युतकल्पं तिर्यक् स्वयम्भूरमणसमुद्रवेदिकान्तं यावद् यथासम्भवमिति । तत्र 'सट्ठाणा" त्ति नरकगत्योघादिषु सर्वत्र मार्गणास्थानेषु सा स्पर्शना 'स्वस्थानात्' स्वस्थानापेक्षया 'क्षेत्रसमाना'–स्वस्थानक्षेत्रेण यथोक्तमानेन समाना भवति । अत्र स्वस्थानस्पर्शनायाः स्वस्थानक्षेत्रेण तुल्यत्वं लोक-लोकासंख्येयभागादिना प्रकारेण, न पुनः सर्वथा तुल्याकाशप्रदेशादिना । कथम् ? यत्र स्वस्थानतो लोकासंख्येयभागमात्रं क्षेत्रं तत्र स्वस्थानस्पर्शनाया लोकासंख्येभागमात्रत्वेऽपि क्षेत्रस्य सामयिकत्वेन स्पर्शनायास्तु व्यतीतानन्तसामयिकत्वेन कुत्रचित् पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघादौ तयोर्मध्येऽसंख्यगुणादितारतम्यस्यापि भावात, क्षेत्रापेक्षया स्पर्शना संख्येयगुणादिनाऽधिका भवतीत्यर्थः । एवमेवान्यत्राऽपि लोकासख्येयभागादिना क्षेत्रस्पर्शनयोस्तुल्यत्वेऽपि क्षेत्रात्स्पर्शनाया विशेषता ज्ञातव्या । इति ।.१३॥

तदेवमभिहिता तुल्यवक्तव्यत्वादतिदेशेनैव सर्वमार्गणाभेदेषु जीवानां स्वस्थानस्पर्शना । साम्प्रतं शेषत्रिविधां यथासम्भवमाह–

णिरये सत्तमणिरये,
भागा छ दुहा गमागमा णत्थि ।

भागा इह पत्तेयं,

तसनाडिगयघणरज्जुरूवा ॥१४॥

"णिरये" इत्यादि, नरकगत्योघे सप्तमभूमिनरकभेदे च "भागा छ दुहा" त्ति 'गमागमा णत्थि' इत्यनेनाऽनुपदं गमनागमनकृतस्पर्शनायाः प्रतिषेत्स्यमानत्वान् स्वस्थानस्पर्शनाया अनन्तरमेवातिदिष्टत्वाच्च 'द्विधा'-उपपादसमुद्घातलक्षणप्रकारद्वयापन्ना स्पर्शना षड् भागा भवतीत्यर्थः । "गमागमा णत्थि" त्ति देवानामिहाप्रवेशेन स्वस्थानक्षेत्राद्विशिष्टा काचिद् गमनागमनकृता स्पर्शना नास्ति, न पुनः सर्वथा नास्तीत्यर्थः । इत्थमेवोत्तरत्रापि गमनागमनकृतस्पर्शनाप्रतिषेधे सा स्वस्थानाद्विशिष्टा नास्तीत्येवंरूपेण प्रतिषेधो ज्ञेयः, न पुनः सर्वथेति ।

ननु कियन्माना इमे प्रत्येकं भागा इत्याह-"भागा" इत्यादि, इह स्पर्शनाप्रस्तावेऽनन्तरोक्ता वक्ष्यमाणाश्च भागाः प्रत्येकमेकरज्जुवृत्तविस्तृतचतुर्दशरज्जूच्छ्रितत्रसनाडिगतघनरज्जुरूपा ज्ञातव्याः । प्रत्येकं भागस्त्रसनाड्या एकचतुर्दशांशमानो भवतीति भावः । तथा च नरकौघ-सप्तमपृथिवीनरकभेदयोरुपपाततः समुद्घाततश्च षट् चतुर्दशांशास्त्रसनाडेः स्पर्शना । तथाहि-●'अर्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्तिनि आकाशे सर्वव्याप्त्या सिद्धा' इत्यादिवचनात् पञ्चचत्वारिंशल्लक्षयोजनवृत्तविस्तृतमनुष्यक्षेत्रे एकमप्याकाशप्रदेशमविहाय सर्वतो यथाऽनन्ताः सिद्धिमवाप्नुवन्नतीताऽनन्तकाले तथा ततः सर्वतोऽनन्ता मृत्युमवाप्य गत्यन्तरमपि प्राप्ता एव, अतीतकालस्यानन्तत्वेन योग्यतासद्भावे प्रत्येकं भावानामतीतकालेऽनन्तशो भूतत्वात्, अस्ति हि मनुष्यक्षेत्रगतप्रत्येकाकाशप्रदेशा मनुष्याणां मृत्यधिकरणयोग्याः । यथा हि मनुष्याणां परिपूर्णं मनुष्यक्षेत्रं मृत्यधिकरणयोग्यम्, इत्वा च ततः सर्वस्मादनन्ता मनुष्या मृतिं गत्यन्तरमवाप्तास्तथा परिपूर्णस्य तिर्यक्क्षेत्रस्य तिरश्चां मृत्यधिकरणयोग्यत्वेन तदेकरज्जुवृत्तविस्तृतात्परिपूर्णतिर्यक्क्षेत्रात् मृत्युमवाप्याऽनन्तास्तिर्यञ्चोऽतीतकाले स्वप्रायोग्यगत्यन्तरेऽवश्यमिताः, तन्मध्येऽनन्ताः सप्तमभूमौ नारकतयाप्युत्पन्नाः सर्वस्मात् तिर्यगेकरज्जुवृत्तविस्तृतात् तिर्यक्क्षेत्रात् । तत्रोदितनरकायुषामूर्ध्वाधः षड्रज्जूच्छ्रिताः परिपूर्णं तिर्यग्मतरमारभ्य ये अनन्ता आत्मदण्डास्तैस्तिर्यगेकरज्जुवृत्तविस्तृतमूर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकात् सप्तभूमिपर्यन्तं षड्रज्जुमानं घनं त्रसनाड्यन्तर्गतं सघनषड्रज्ज्वात्मकं क्षेत्रमापूरितं, नानाऽतीतकालापेक्षयाऽस्पृष्टमेवेत्यर्थः । तदेवोपपातमधिकृत्य सप्तमनरकमार्गणाभेदे तदेव च नरकगत्योघे त्रसनाडेः षट्चतुर्दशभागात्मिका मूलोक्तस्पर्शना विज्ञेया । यद्यपीह स्वयम्भूरमणसमुद्रस्य बहिर्जगतेः परभागवर्तिनि घनवातवलयादिप्रान्तभागलक्षणे क्षेत्रे पञ्चेन्द्रियतिरश्चामसम्भवेन ततः क्षेत्रात् नारकतया न लभ्यते केषाञ्चित्तिरश्चामुत्पत्तिः, तत एव तत्तिर्यग्लोकप्रान्तभागस्पृक्तदात्मप्रदेशदण्डानामप्यप्राप्तेर्न लभ्यते तावत्क्षेत्रस्पर्शनाऽपि, तथा च नान्यूनषड्रज्जुस्पर्शना, किन्तु देशोनषड्रज्जव एव तथापि एकदेशन्यूनतामविवक्ष्य सामान्येनैव परिपूर्णाः षड्रज्जवोऽभिहिता । एवमेवान्यत्राऽपि सामान्यत एक-द्व्यादिरज्जुस्पर्शनाऽभिधानेऽपि यथासम्भवमेकदेशादिना न्यूनाऽधिका वा सा स्वयमेवावसातव्येति । यथैवोत्पादात् तथैव समुद्घातादपि, केवलं तिर्यक्त्वयोत्पित्सुभिर्मुमुर्षुभिः सप्तमभूमिनारकैः सप्तमनरकात् मारणसमुद्घातेन प्रथमतस्तिर्यक् तत ऊर्ध्वमित्येवमृजुनिक्षिप्तस्वात्मप्रदेशदण्डैः स्पृष्टं क्षेत्रमतीतानन्तकालापेक्षया यथोक्तं घनरज्जुषट्कमानं भवतीति ।

अत्र यद्यप्युक्तान्यनारकादिनयोत्पित्सुजीवकृतस्पर्शना भवत्येव, नवरं सा गौणी, उक्तस्पर्शनाऽन्तःप्रविष्टत्वादिति न योजिता, न पुनः सा सर्वथा न भवति, न वाऽधिकृतेति विज्ञेयम् । अनेनैव प्रकारेण वक्ष्यमाणैकादिभागस्पर्शना त्रसनाडिगतघनरज्जुरूपेणोपपादनीयेति ॥१४॥

● सिद्धप्राभृतविंशतितमगाथावृत्तौ ।

पढमणरय-णवगेविज्ज-

पंचणुत्तरविमाणभेएसुं ।

ण हवेइ गमागमओ,

दुविहा पुण जगअसंखंसो ॥१५॥

"**पढमे**" त्यादि, प्रथमपृथ्वीनरकभेदे, नवसु ग्रैवेयकदेवमार्गणास्थानेषु पञ्चसु अनुत्तरदेवभेदेषु चेत्येवं सर्वसंख्यया षोडशमार्गणास्थानेषु गमनागमनकृतस्पर्शना न भवति । "**दुविहा**" त्ति उपपात-समुद्घातभेदभिन्ना शेषद्विविधस्पर्शना तु लोकाऽसंख्येयभागमात्रा भवति । तत्र प्रथमनरके उत्पत्स्यमानानां तिरश्चामतीताऽनन्तकालापेक्षया समप्रतिर्यक्प्रतरव्यापित्वेऽपि तिर्यग्लोक-प्रथमनरकयोरन्तरालस्य रज्ज्वसंख्येयभागमात्रतया तिर्यगेकरज्जुप्रमाणसमस्तप्रतरस्पृष्टानामप्यात्मप्रदेशदण्डानामूर्ध्वाधो रज्ज्वसंख्येयभागमात्रोच्छ्रतत्वेन द्विविधस्पर्शनाया अपि लोकासंख्येयभागमात्रत्वमेव भवति । एवमेव शेषग्रैवेयकादिभेदेष्वपि तत्रोत्पित्सूनां मनुष्यतया मनुष्यक्षेत्रादेव तत्रोत्पत्तेः, तेषां च तिर्यक्प्रतरासंख्येयभागमात्रगतस्वस्थानानां ग्रैवेयकदेवानामप्यनन्तरभवे मनुष्यतयैवोत्पत्तेरूर्ध्वाधः षड्रज्जूच्छ्रिताऽऽत्मदण्डानां भावेऽपि मनुष्यक्षेत्रस्य तेषां देवानां स्वस्थानक्षेत्रस्य च तिर्यक्प्रतराऽसंख्येयभागमात्रगतत्वेन यथोक्तानामूर्ध्वाधः षड्रज्जुमानात्मदण्डानां तिर्यग्रज्ज्वसंख्येयभागमात्रबाहल्यभावादुपपातसमुद्घातकृता द्विविधाऽपि स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागमात्रा एव भवतीति । **इदमत्र हृदयम्**–विवक्षितमुमुर्षुजीवानां यत्रावस्थानं सम्भवति तत्क्षेत्रं यत्र च ते उत्पत्स्यन्ते तत्क्षेत्रमित्येवं द्विविधमपि क्षेत्रं प्रत्येकं यत्र तिर्यक्प्रतरासंख्येयभागमात्रवर्ति भवति तत्र तयोरूर्ध्वाधोऽन्तरालस्य रज्जु–द्विरज्ज्वादिप्रमाणत्वेऽपि तज्जीवकृतात्मप्रदेशदण्डानां तिर्यक्प्रतराऽसंख्येयभागमात्रगतत्वेन स्पर्शनाऽपि लोकाऽसंख्येयभागमात्रा भवति, उक्तक्षेत्रद्वयमध्यादेकविधक्षेत्रस्याऽपि तिर्यक्प्रतरव्यापित्वे तु स्पर्शना सान्तरालोर्ध्वाध क्षेत्रमानानुसारेणैकद्व्यादिघनरज्जुमाना लभ्यते, ऊर्ध्वाधोवर्त्युक्तद्विविधक्षेत्रान्तरालस्य रज्ज्वसंख्येयभागमात्रत्वे तु तस्य द्विविधक्षेत्रस्य परिपूर्णतिर्यक्प्रतरव्यापित्वेऽपि न भवति लोकासंख्येयभागाद्धिका स्पर्शनेति सर्वत्र यथासम्भवमभ्यूह्येति ॥१५॥

एमेवाऽऽहारदुगे,

अवेअ-मणणाण-संयमोहेसुं ।

परिहार-छेअ-समइअ-

सुहुमेसु परं ण उप्पाया ॥१६॥

"**एमेवाहारदुगे**" इत्यादि, 'एवमेव'–यावती प्रथमनरकादिमार्गणाभेदपञ्चदशकेऽनुपदमभिहिता तावती एवा-ऽऽहारका ऽऽहारकमिश्रकाययोगा-ऽपगतवेद–मनःपर्यवज्ञानसंयमौघ–सामायिक–छेदोपस्थापन–परिहारविशुद्धिक–सूक्ष्मसम्परायसंयमलक्षणेषु नवमार्गणाभेदेषु भवति; 'परम्'–केवलमिह मार्गणाभेदनवके उत्पादतः स्पर्शना नास्ति, आहारकत्वादिभावानामष्टवर्षातिक्रान्ताऽऽयुष्कजीवानामेव सम्भवेन भवाद्यसमयवर्तिना तत्राऽनिवेशात्, तदेवमिह स्वस्थानतः समुद्घाततश्चेत्येव द्विविधा स्पर्शना लोकासंख्येयभागमात्रा प्राप्यत इति ॥१६॥

दुइआइणिरयपणगे,

कमा इग-दु-ति-चउ-पंच भागात्थि ।

दुविहा ण गमागमओ,

"**दुइआइ**" इत्यादि, द्वितीयादिषु पञ्चसु नरकपृथ्वीमार्गणास्थानेषु क्रमात् त्रसनाडेः एक–द्वि–त्रि–चतु–पञ्चभागा स्पर्शना भवति, कथम्भूतेत्याह-'**दुविहा**" त्ति उत्पादतः समुद्घातनश्चेत्यर्थः । 'ण' त्ति गमनागमनतस्तु प्रागिव न भवत्येव काचित्स्वस्थानापेक्षया विशिष्टेत्यर्थः, । तत्रैकादिभागमाना द्विविधस्पर्शना सप्तमनरकपृथिव्यां दर्शितषड्रज्जुस्पर्शनावद्विभावनीया, तिर्यग्लोकाद् द्वितीयादिपृथिवीनारकस्थानानामेकादिरज्ज्वन्तरेण व्यवस्थितत्वात् । **तदुक्तं लोकप्रकाशे**—

"सर्वाधस्तनलोकादारभ्योपरिगं तलम् ।
यावत्सप्तममेदिन्या एका रज्जुरियं भवेत् ॥९॥
प्रत्येकमेवं सप्तानां भुवामुपरिवर्तिषु ।
तलेषु रज्जुरेकैका स्युरेवं सप्त रज्जवः ॥१०॥" इति ।

समस्तात् तिर्यग्लोकात् तत्र द्वितीयादिपृथिवीषु नारकतया, ततश्च द्वितीयादिनरकपृथिवीतस्तिर्यक्त्वेन समस्ततिर्यग्लोके उत्पत्तेरविरोधादिति ॥

सव्वतिरि-नर-इग-विगलेसु ॥१७॥
पणकायसव्वभेया-
ऽपज्जपणिंदितस-कम्मु-रलमीसे ।
नपुम-अमण-ऽणाहारे
गमागमा ण दुविहा लोगो ॥१८॥

"सव्व" इत्यादि, सर्वेषु पञ्चसंख्याकेषु तिर्यग्गतिभेदेषु, सर्वेषु चतुःसंख्याकेषु मनुष्यगतिभेदेषु, सर्व्वेषु सप्तसंख्याकेषु एकेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु नवसंख्याकेषु विकलेन्द्रियभेदेषु, तथा पृथिव्यादिपञ्चकायसंबन्धिषु सर्वसंख्ययैकोनचत्वारिंशद्भेदेषु, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिये,अपर्याप्तत्रसे, कार्मणकाययोगे, औदारिकमिश्रकाययोगे, नपुंसकवेदा-ऽसंज्ञ्य-ऽनाहारकेष्वित्येवं सर्वसंख्यया एकसप्ततिमार्गणास्थानेषु गमागमात् स्पर्शना न भवति, करणतः पर्याप्तानां देवानामप्रवेशेन स्वस्थानस्पर्शनातो नातिरिच्यत इति भावः । "दुविहा लोगो" त्ति शेषा उत्पाद-समुद्घातभेदभिन्ना द्विविधा परिपूर्णलोकमाना भवति, प्रत्येकमार्गणागतजीवानां ततश्च्युत्वा सर्वलोकव्यापिसूक्ष्मैकेन्द्रियतया सूक्ष्माणां तत्तन्मार्गणासु मनुष्यादितया उत्पत्तेर्विहितत्वाच्चेति ॥१८॥

एमेव दुहाऽट्ठंसा,
गमागमेण य पणिंदियतसेसुं ।
सिं पज्जेसु तहा पण-
मणवय-कायोहजोगेसुं ॥१९॥
ओराल-थी-पुमेसुं,
कसायचउगे य तिविहअण्णाणे ।
अयते णयणा-ऽणयणे,
कुलेस-भव्वि-यर-मिच्छेसुं ॥२०॥
सण्णिम्मि य आहारे,
हवेइ फुसणा परं ण उप्पाया ।
पणमणवयजोगेसुं,
गमागमा वि ण उरालेऽत्थि ॥२१॥

"एमेव दुहा" इत्यादि, द्विविधा उत्पाद-समुद्घातभेदभिन्ना 'एवमेव'-यथाऽनुपदमुक्ता तथैव सर्वलोकप्रमाणैव स्पर्शना भवति,"अट्ठंसा गमागमेण य" त्ति त्रसनाडेरष्टचतुर्दशभागलक्षणा अष्टौ घनरज्जवो गमनागमनेन च स्पर्शना भवति, कुत्र ? इत्याह-"पणिंदिय" इत्यादि, पञ्चेन्द्रियौघ-त्रसकायौघयोः, तयोः पर्याप्तभेदयोस्तथा पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगौघेषु, औदारिककाययोग-स्त्रीवेद-पुरुषवेदेषु, कषायचतुष्के, त्रिविधेऽज्ञाने, असंयमे, चक्षु-रचक्षुर्दर्शनयोः, कृष्णादिकुलेश्या-त्रय-भव्य-तदितराऽभव्य-मिथ्यात्वेषु, सञ्ज्ञिमार्गणास्थाने आहारकमार्गणास्थाने च "हवेइ फुसणा" त्ति स्पर्शना भवतीति प्राग्योजितम् । अत्रै वापवदति-"ण" इत्यादि, पञ्चसु मनोयोगेषु पञ्चसु वचोयोगेषु चोत्पादतः स्पर्शना न भवति, केषाञ्चिदपि जीवानां भवप्रथमसमये मनोवचोयोगयोरप्रवर्तनात् । तथा "गमागमावि ण उरालेऽत्थि" त्ति अपिशब्दस्य समुच्चायकतया गमागमाद् उत्पादाच्चेत्येवं द्विविधाऽपि स्पर्शना औदारिककाययोगे न भवति । तथा च मनोवचोयोगभेदेषु गमनागमनतोऽष्टरज्जुस्पर्शना समुद्घाततश्च सर्वलोकस्पर्शना भवति,तत्राष्टौ रज्जवो देवकृताऽधस्तृतीयनरकावधिकोपरि अच्युतकल्पपर्यवसाना इति कृत्वा । सर्वलोकस्तु प्रागिव मनोवचोयोगिनां तिर्यग्मनुष्याणां मृत्वा सर्वत्रोत्पत्तेः सम्भवात् । औदारिककाययोगे तु केवला समुद्घातप्रयुक्ता सर्वलोकस्पर्शनाऽनन्तरोक्तनीत्या विज्ञेया, शेषासुपंचेन्द्रियौघादिषु पञ्चविंशतिमार्गणासु द्विविधा तु मनोयोगादिवदेव, तृतीयोत्पादतस्तु तिर्यग्गत्योघादिभेदवत्सर्वलोकवर्तिसूक्ष्मैकेन्द्रिया-दीनां पञ्चेन्द्रियतयोत्पत्तेर्ज्ञातव्येति ॥१९-२०-२१॥

देवेऽट्ठ पण नव कमा,
गमागमु-प्पायओ समुग्घाया ।

"देवेऽट्ठ" इत्यादि, देवगत्योघे त्रसनाडिसम्बन्धिनो यथोक्तस्वरूपा घना अष्टौ पञ्च नव च भागाः

'क्रमाद्'-यथासंख्यं गमनागमनाद् उत्पादतः समुद्घाताच्च स्पर्शना भवति. तत्राष्टौ रज्जवो देवानामधोलोके तृतीयपृथिवीं यावद् रज्जुद्वयमुपरि चाच्युतकल्पं यावद् रज्जुषट्कं गमनात् । उत्पादतः पञ्च रज्जवस्तु एकरज्जुवृत्तविस्तृतात् तिर्यग्लोकात् तिर्यगायुःक्षयेण सहस्रारकल्पे देवतयोत्पद्यमानजीवापेक्षया प्राग् यथा षष्ठपृथिवीनरकभेदे उत्पादतो दर्शिता तथा ज्ञेया। समुद्घातकृता नव रज्जवः स्पर्शना पुनर्विहारयत्क्षेत्रतया तृतीयनरकस्पृशितिर्यक्प्रतरेषु सर्वत्र गतानामनन्तरभवे ईषत्प्राग्भारापृथिव्यां पृथिवीकायत्वेनोत्पित्सूनामनन्तमतीतकालमधिकृत्यानन्तानां भवनपत्यादीशानान्तदेवानां तत्रैव प्राप्तमुमुर्षुभावानां मारणसमुद्घातेनोत्पत्तिस्थलावधि प्रसृतात्मप्रदेशदण्डानपेक्ष्य विज्ञेया, सा च रज्जुद्वयमधोलोकसंबन्धिनी रज्जुसप्तकं तूर्ध्वलोकसम्बन्धिनी। इह मध्यवर्तित्वात्तिर्यग्लोकस्य स्पर्शनाप्यस्ति एव, परं साऽप्रधाना प्रोक्ताधोलोकोर्ध्वलोकसंबन्धिद्विविधस्पर्शनयैव गतार्था विज्ञेया । एवमन्यत्राऽपि रज्जु- द्विरज्ज्वादिस्पर्शनायामेकदेशस्य ग्रहणाऽग्रहणे गौणभाव एव विज्ञातव्यः, यत्र केवललोकाऽसख्येयभागमात्रा स्पर्शना तत्रैव तस्य मुख्यवृत्याऽधिकृतत्वादिति ॥

एमेव भवण-वंतर-

जोइसदेवेसु णवरं. खु ॥२२॥

लोगस्स असंखंसो, उप्पाया

"एमेव भवणे"त्यादि, यथाऽनन्तरं देवौघे उक्ता तथैव भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्कदेवभेदेषु स्पर्शना भवति,' णवरं'-केवलमुत्पादात् लोकाऽसख्येयभागमात्रा भवति, न पुनर्देवौघवत् पञ्च भागाः । कथम् ? तत्र तिर्यग्लोकात्पञ्चरज्ज्वन्तरेणोत्पद्यमानानां सहस्रारदेवानां प्रवेशादिह तु तिर्यग्लोकाददूरेण शत-सहस्रादिसंख्येययोजनमात्रान्तरेणोत्पद्यमानानां भवनपत्यादिदेवानामेव प्रवेशादिति । शेषद्विविधा तु तत्राऽपि भवनपत्यादिदेवाश्रित्येतीहापि संघटत इति ॥

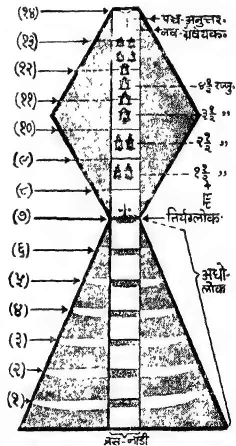
एवमेव तेऊए ।

सोहम्मीसाणेसु य

परमुप्पायेण सड्ढंसो ॥२३॥

"एवमेव" इत्यादि, भवनपत्यादिदेवभेदवदेव तेजोलेश्यायां सौधर्मेशानदेवभेदयोश्च, 'परं' केवलमुत्पादेन "सड्ढंसो" त्ति त्रसनाडेः सार्धा घनरज्जुर्भवति, तिर्यग्लोकात् सार्धरज्ज्वन्तरेण सौधर्मेशानकल्पयोरूर्ध्वस्थानात् । तदुक्तं जीवसमासे-

"ईसाणम्मि दिवड्ढा अड्ढाइज्जा य रज्जु माहिंदे ।
पंचेव सहस्सारे छ अच्चुए सत्त लोगंते ॥१९१॥"
इति ।



(चित्रपरिचयः-लोकाऽधस्तादारभ्य (१) (२)(३) इत्यादिनाऽङ्कितेषु स्थानेष्वेकादिरज्जूनां समाप्तिर्ज्ञेया, शेषम्-अधोलोके नरकभूम्यादौ नारक भवनपति व्यन्तर-पृथिवीकायादीनां स्थानानि, तिर्यग्लोके मनुष्य-पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्-विकलेन्द्रियादिस्थानानि, ऊर्ध्वलोके यथोत्तरं द्वादश-कल्पोपपन्न नवग्रैवेयक पञ्चानुत्तरे षत्प्राग्भारापृथिव्यादि-स्थानानीत्यादि सुज्ञेयमिति ।)

शेषद्विविधा तु भवनपत्यादिवत्सौधर्मादिदेवानामप्येकेन्द्रियतयेषत्प्राग्भाराप्रृथिव्यामुत्पत्तेरुपर्यच्युतकल्पान्तमधस्तृतीयपृथ्वीं यावच्च पूर्वसांगतिकानयनादिहेतुकगमनागमनसम्भवाद् विज्ञेया ॥२३॥

तइआईसु दु-इग-इग-
इग-इगकप्पेसु होइ सा कमसो ।
सड्ढदु-सड्ढति-चउ-स-
ड्ढचउपणंसाऽट्ठ छसु त्रि दुहा ॥२४॥

"तइआईसु" इत्यादि, तृतीये सनत्कुमारकल्पे चतुर्थे माहेन्द्रकल्प इति द्वयोः सा उत्पादापेक्षा स्पर्शना 'सड्ढदु'त्ति सार्धद्विभागौ, पञ्चमे ब्रह्मकल्पे सा 'सड्ढति' त्ति सार्धत्र्यंशा, षष्ठे लान्तककल्पे सा 'चउ' त्ति चतुरंशा, सप्तमे शुक्रकल्पे सा "सड्ढचउ" त्ति सार्धचतुरंशा, अष्टमे सहस्रारकल्पे सा 'पणंसा" त्ति पञ्चांशा भवति, युक्तिस्त्वत्र तत्तत्कल्पानां तिर्यग्लोकात् सार्धद्व्यादिरज्ज्वन्तरेण व्यवस्थितत्वात्। उक्तं च प्राग् 'ईसाणम्मि दिवड्ढा' इत्यादि, अन्यदपीदम्–'सोहम्मम्मि दिवड्ढा अड्ढाइज्जा य रज्जु माहिंदे। पंचेव सहस्सारे छ अच्चुए सत्त लोगंते' ॥इति।

"ट्ठ" त्ति अष्टौ अंशा –त्रसनाड्यन्तःप्रविष्टघनरज्जवः "छसुवि दुहा" त्ति सनत्कुमारादिषु सहस्रारान्तेषु षट्स्वपि कल्पेषु शेषा समुद्घात–गमनागमनभेदभिन्ना द्विधा स्पर्शना भवति। तत्र गमनागमनकृता देवौघाद्विदेव, समुद्घातकृता पुनरमीषां देवानामेकेन्द्रियतयाऽनुत्तरच्युतकल्पस्योपरितनी नवमरज्जुविषयिणी या एकेन्द्रियतयोत्पद्यमानानां भवनपत्यादीनां प्राप्यते सेह न लभ्यते, तथा च शेषा तृतीयपृथिवीगतैस्तत्रैव मुमुर्षुभाव प्राप्य समुद्घातेन कृता तिर्यग्लोकपर्यन्ता रज्जुद्वयमाना तथाऽच्युतकल्प प्राप्तैस्तत्रैव मुमुर्षुभावं प्राप्य समुद्घातेन कृता तिर्यग्लोकपर्यन्ता षड्रज्जुमाना समस्ता सती अष्टौ रज्जव इति ॥२४॥

चउआणय सुक्कासुं,
उप्पाया जगअसंखभागो उ ।
छंसाऽत्थि सेसदुविहा,

"चउआणये"त्यादि, आनत–प्राणता–ऽऽरणा–ऽच्युतकल्परूपेषु चतुर्ष्वानतादिदेवभेदेषु शुक्ललेश्यायां चोत्पादाज्जगतः–लोकस्याऽसंख्यांशः स्पर्शना भवति। "छंसाऽत्थि" त्ति शेषा समुद्घातगमनागमनभेदभिन्ना द्विविधा स्पर्शना तु त्रसनाडेः षट्चतुर्दशांशा भवति। तत्र लोकासंख्यभाग आनतादिदेवतयोत्पित्सूनां मनुष्याणां यत्स्वस्थानक्षेत्रं यच्चानतादिदेवानां स्वस्थानक्षेत्रं तयोर्द्वयोस्तिर्यग्लोकोर्ध्वलोकस्थितयोरन्तरालस्य सार्धपञ्चादिरज्जुप्रमाणत्वेऽपि तयोर्द्वयोरपि तिर्यक्प्रतराऽसंख्येयभागमात्रावगाहनात्प्रागुक्तनीत्या ज्ञेया। शेषद्विविधा तु सनत्कुमारादिदेवानामष्टरज्जुस्पर्शनावत्, केवलममीषामानतादिदेवानां शर्कराप्रभादिनरकपृथिवीषु गमनागमनं नास्तीति अधोलोकसम्बन्धिरज्जुद्वयेन न्यूनेति षडंशाहितेति ॥

विउव्वजोगे ण उप्पाया ॥२५॥
भागा गमागमाओ,
अट्ठ समुग्घायओ हवइ तेर ।

"विउव्वे"त्यादि, वैक्रियकाययोगे जीवानामुत्पादकृतस्पर्शना न भवतीत्यर्थः। गमनागमनकृता तु भवनपत्यादिदेवानामिवाष्टौ 'भागाः-'रज्जवः सघनाः त्रसनाड्यन्तःप्रविष्टाः। समुद्घाततः पुनस्तादृशास्त्रयोदशांशाः स्पर्शना भवति। कथं त्रयोदश? सप्त भागा ईषत्प्राग्भाराप्रृथिव्यामुत्पित्सुभिर्भवनपत्यादिदेवैः कृतोर्ध्वलोकसम्बन्धिनी षड् भागास्तु तिर्यक्त्वयोनिषुसप्तमभूमिनारककृता, यद्वा प्रकारान्तरेण सैव भवनपत्यादिदेवकृतोर्ध्वलोकसम्बन्धिनी सप्तभागस्पर्शना, अधोलोकसम्बन्धिनी रज्जुद्वयस्पर्शना देवनारकान्यतरकृता, शेषा त्वधोलोकसम्बन्धिनी पञ्च रज्जवः स्पर्शना नारककृतैवेति समस्ता त्रयोदश। सप्तमभूभागादधस्तनी लोकान्तपर्यन्ता एकरज्जुमाना तु न सम्भवत्येव, अधोलोके पृथिव्यादितया भवनपत्यादिदेवानामनुत्पत्तेरिति ॥

मीसविउव्वे ण दुहा,
सट्ठाणा जगअसंखंसो ॥२६॥

"मीसविउव्वे ण दुहा" त्ति वैक्रियमिश्रकाययोगे उपपात-समुद्घातकृता द्विविधा स्पर्शना न भवति, अपर्याप्तावस्थदेवानामुत्पत्तिश्रव्यातोऽन्यत्र गमनाभावाद् मरणस्येव मारणसमुद्घातस्याप्यसम्भवाच्च। "सट्ठाणा" त्ति स्वस्थानात् 'जगतः' लोकस्याऽसंख्यांशः स्पर्शना भवति, कुतः? अधिकृतानां भवप्रत्ययवैक्रियमिश्रशरीरिदेवानामपर्याप्तावस्थतया उत्पादशय्यागतत्वादेव, उत्पादशय्याश्च तेषां लोकाऽसंख्येयभागगता इति तु सुगममिति ॥२६॥

मइसुयणाण-अवहिदुग-
सम्म-पउम-वेयगेसु उप्पाया ।
पण भागा दुविहा पुण,
भागा अट्ठेव विण्णेया ॥२७॥

"मइ' इत्यादि, मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिद्विक-सम्यक्त्वौघ – क्षायोपशमिकसम्यक्त्व – पद्मलेश्यालक्षणेषु सप्तमार्गणाभेदेषूत्पादात् त्रसनाड्याः पञ्चचतुर्दशभागाः स्पर्शना भवति, समस्ततिर्यक्प्रतरव्यापिनां सम्यग्दृष्टितिरश्चामुत्कृष्टतोऽष्टमकल्प एवोत्पादात्, अष्टमकल्पस्य तिर्यग्लोकात्पञ्चरज्ज्वन्तरेण व्यवस्थितेः प्राग्दर्शितत्वाच्च। "दुविहा-पुण" त्ति समुद्घात-गमनागमनकृता शेषद्विविधस्पर्शना पुनः सनत्कुमारादिदेववत् त्रसनाड्या अष्टौ भागा विज्ञेयेति॥२७॥

एमेव खइय-उवसम-
मीसेसुं णवरि जगअसंखंसो ।
उप्पाया दुसु मीसे
ण समुग्घाया वि णेव भवे ॥२८॥

"एमेव खइय" इत्यादि, 'एवमेव' मतिज्ञानादिमार्गणास्थानवदेव क्षायिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वेषु स्पर्शना भवति, 'णवरि" केवलं" दुसु' त्ति क्षायिकौ-पशमिकसम्यक्त्वयोर्द्वयोर्मार्गणयोरुत्पादकृतस्पर्शना जगदसंख्येयभागमात्रा भवति, सा च क्षायिकसम्यक्त्वे मनुष्यलोकवर्ती क्षायिकसम्यग्दृष्टियुग्मितिर्यगपेक्षया मनुष्यापेक्षया वा स्यात्। एवमेवौपशमिकसम्यक्त्वेऽपि विभावनीया, श्रेणौ भवान्तप्राप्तानामेव देवभवप्रथमसमये औपशमिकसम्यक्त्वसम्भवात्, नान्येषामिति। शेषसमुद्घात-गमनागमनकृताष्टभागस्पर्शना तु प्रागिव विज्ञेया। अथ द्वारादपवादमाह-"मीसे ण" त्ति सम्यग्मिथ्यात्वे उत्पादात्स्पर्शना न भवति, न केवलमुत्पादात्, किन्तर्हि? "समुग्घाया वि णेव भवे" त्ति समुद्घातादपि नैव भवति स्पर्शना। कथम्? मिश्रदृष्टिभावे जन्मनो मरणस्य मरणाभावेन मारणसमुद्घातस्य चाभावादिति ॥२८॥

देसे उ समुग्घाया,
पणेव भागेयरा ण सासाणे ।
कमसोऽट्ठि-गार बारस
गमागमुप्पायओ समुग्घाया ॥२९॥

"देसे" इत्यादि, देशसंयमे समुद्घातात् पञ्चैव भागास्त्रसनाड्याः स्पर्शना भवति, देशविरततिर्यग्जीवापेक्षया तल्लाभात्। "इयरा ण" त्ति देशसंयमे प्रोक्तेतरोत्पाद-गमनागमनकृता द्विविधा स्पर्शना न भवति। "सासाणे" त्ति सासादनमार्गणास्थाने क्रमशः "अट्ठ" इत्यादि, गमनागमनादष्टौ भागाः, उपपातत एकादश भागाः, समुद्घाताच्च द्वादश भागास्त्रसनाडेर्घनरज्जुरूपाः स्पर्शना भवति। तत्राष्टौ प्रागिव देवकृता, एकादश तु षष्ठनिरयनारस्तिर्यक्त्वयोत्पद्यमाननारककृताऽधोलोकसम्बन्धिनी पञ्च रज्जव ऊर्ध्वलोकसम्बन्धिनी च शेषा तिर्यक्त्वयोत्पद्यमानाऽच्युतकल्पगतसहस्रारान्तदेवकृतेति। समुद्घातकृता द्वादश भागास्तु अनन्तरोक्तनीत्या तिर्यक्त्वयोत्पित्सुषष्ठनारककृता पञ्च भागा ईषत्प्राग्भारापृथिव्यामेकेन्द्रियतयोत्पित्सुभिर्भवनपत्यादिदेवैः कृता सप्तभागा चेति कृत्वेति ॥२९॥

अथ वैमानिकदेवादिजीवानां स्थानादिविषयकमतभेदकृतामपि त्रिविधस्पर्शनां संजिघृक्षुरेकामार्यामाह-

सोहम्मआइम-जुगल-
चम्मिय-ठाणाइवयणमेआओ ।

सयमेवोण्णेया खलु
तिहावि फुसणा इयरहा उ ॥३०॥

'सोहम्ममाइगे" त्यादि, आदिपदादीशान-सनत्कुमारकल्पादीनां ग्रहणम्, "ठाणाइ" इत्यतः स्थानपदमिहापि सम्बध्यते, तथा च सौधर्मकल्पादिस्थान-युगलधर्म्मिकस्थानानि, "ठाणाइ" इत्यत्राऽऽदिपदात्सौधर्मप्रतरेषु देवानां जघन्यस्थितिरित्येतत्प्रतिपादकानि यानि वचनानि तेषां 'भेदतः' विषयभेदेन, विषयभेदं समाश्रित्येत्यर्थः। "इयरहा उ" त्ति 'इतरथा'-उक्तेतरप्रकारेण तु स्वयमेव 'उन्नेया' अभ्यूह्या उत्पादादिभेदभिन्ना त्रिविधस्पर्शना।

अयम्भाव -अनन्तरं 'सोहमम्मि दिवड्ढा' 'सत्त्वत्थ जहण्णओ पलिय'मित्यादिकं संदर्भमनुसृत्य देवगत्योघादिमार्गणास्थानेषु "देवेऽट्ठ-पण-नवे" त्यादिना गमनागमनादिकृता स्पर्शनाऽष्टरज्ज्वादिमात्राऽभिहिता, यानि पुनः 'रयणप्पभाए उवरिमतलाओ आरद्ध जाव सोहम्मो एस पढमो भागो, सोहम्मगाणं विमाणाण उवरिं आरद्धं जाव सणकुमारमाहिंदा एस बिइओ' इत्यादीनि तिर्यग्लोकाद्रज्जु-द्विरज्ज्वाद्यन्तरेण सौधर्मादिकल्पविमानस्थानानां प्रतिपादनपराणि आवश्यकचूर्ण्यादिवचनानि, यानि च 'ऊर्ध्वलोक एकोनविंशतिखण्डीकृतस्ततस्तस्य संबन्धिन्येकोनविंशभागे समधिके उडुविमान वर्तते तिर्यग्लोकात्' इति तिर्यग्लोकाद्रज्जुसंख्येयभागमात्रान्तरेण सौधर्मकल्पप्रारम्भप्रतिपादनपराणि, तथा 'जघन्या त्वधस्तनानन्तरप्रस्तटगतोत्कृष्टा स्थितिः सर्वत्र वाच्या' इति सौधर्मादिकल्पद्वयेऽनन्तराधस्तनप्रस्तटोत्कृष्टस्थितिप्रमाणा हि तदुपरितनप्रतरजघन्या स्थितिः, न पुनः सर्वेषु प्रतरेषु जघन्या समेति प्रतिपादनपराणि देवेन्द्रनरकेन्द्रस्तवप्रकरणविवृतिवचांसि, तथा "बाह्येषु'-मनुष्यक्षेत्राद्बहिर्ये वर्तन्ते द्वीपाः समुद्राश्च तेषु तिर्यग्योनिजा असंख्येयवर्षायुषो भवन्ति' इति मनुष्यक्षेत्राद्बहिरपि असंख्येयवर्षायुषां युग्मितिरश्चां सद्भावं संगिरन्ति तत्त्वार्थाधिगमसूत्रवृत्तिवचनानि तान्यधिकृत्योक्तान्यथा लभ्यमाना उत्पादादिभेदभिन्ना स्पर्शना स्वयमेवाभ्यूह्या। तद्यथा-उक्तावश्यकचूर्ण्यादिवचनतस्तिर्यग्लोकात्पञ्चरज्ज्वन्तरेणाच्युतकल्पः, तथा च प्राग् यत्र गमनागमनत ऊर्ध्वलोकसम्बन्धिषड्रज्जुस्पर्शना कथिता तत्र साऽऽवश्यकचूर्ण्यादिवचनानुसारेण पञ्चरज्जुमाना द्रष्टव्या, अधोलोकसम्बन्धिनी तु प्रागिव रज्जुद्वयमेवेत्येवं चूर्ण्यादिवचनेन देवगत्योघ-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्कादिदेवभेदेषु पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणासु च यत्र गमनागमनतोऽष्टरज्जुस्पर्शना भणिता, तत्र सा सप्त रज्जवो भवति। अनेन वचनेन सौधर्मादिकल्पा एकादिरज्ज्वाधः स्थिताः, तथा च तेषूत्पादकृतस्पर्शना पूर्वोक्तस्पर्शनापेक्षया यथासम्भवमधरज्ज्वा रज्ज्वा न्यूना द्रष्टव्या। तद्यथा-सौधर्मेशानकल्पयोरेका रज्जुः, सनत्कुमार-माहेन्द्रयो रज्जुद्वयम्, ब्रह्मकल्पे सार्धरज्जुद्वयम्, लान्तककल्पे रज्जुत्रयम्, शुक्रकल्पे सार्धरज्जुत्रयम्, सहस्रारकल्पदेवौघयो रज्जुचतुष्टयम्, तेजोलेश्यायामेका रज्जुः, मति-श्रुतज्ञानाऽवधिद्विक-पद्मलेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वेषु चतस्रो रज्जवः। इत्थमेवान्यत्राप्यभ्यूह्या। इत्थमेव तत्त्वार्थवृत्त्यादिवचनान्तराण्यधिकृत्याऽपि प्रोक्तविलक्षणा स्पर्शना स्वयमेवोद्भावनीया, अस्माभिस्तु एकत्र मार्गणास्थाने दिगित कृत्वा नानाविकल्पापन्ना संक्षेपतः प्रदर्श्यते, नान्यत्र, तद्यथा-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणास्थाने यत्र पूर्वमुत्पादतो लोकासंख्यभागमात्रा, गमागमनतः समुद्घाततश्चाष्टौ रज्जवः स्पर्शना दर्शिता, तत्र आवश्यकचूर्ण्यादिवचनाधिकारे गमनागमनतः समुद्घाततश्च सप्त रज्जवः स्यात्, उत्पादतस्तु लोकाऽसख्येयभागमात्रैव, आवश्यकचूर्ण्यादिवचनादूर्ध्वलोकप्रथमरज्जौ सौधर्मादिकल्पाधिकरण तत्त्वार्थाधिगमसूत्रान्मनुष्यक्षेत्राद्बहिरपि असंख्येयवर्षायुषां तिरश्चां सद्भावाधिकारे चोत्पादतो न लोकासख्येयभागमात्रा, अपि तु एकरज्जुमाना स्यात्, मनुष्यलोकबहिस्तादपि क्षायिकसम्यग्दृशां प्रथमकल्पचरमप्रतरं यावदुत्पादस्य लाभात्, यदि चाऽत्रैव 'जघन्या त्वधस्तनानन्तरप्रस्तटगतोत्कृष्टा' इत्यादि-देवेन्द्रनरकेन्द्रस्तववृत्तिवचनात्सौधर्मप्रथमप्रस्तट एव देवानां जघन्या स्थितिरभिक्रियेत, न पुनः 'सत्त्वत्थ जहण्णओ पलिय'मित्यादि, एवम 'ऊर्ध्वलोक

एकोनविंशतिखण्डीकृतस्ततस्तस्य सम्बन्धिन्येकविंश-भागे समधिके उडुविमानं वर्तते तिर्यग्लोकात्' इति चाधिक्रियेत तदा क्षायिकसम्यग्दर्शनमार्गणाया-मुपपातकृता स्पर्शना रज्जुसंख्येयभागमात्रा सम्पद्येत, द्विधा तु पूर्ववदेवेति दिग् । इति ॥३०॥

अथ सकषायजीवकृतां स्पर्शनामुपसंहरन्नक-षायजीवकृतां च तामतिदिशन्नाह—

इइ सकसाये जीवे,

पडुच्च फुसणाऽकसायजीवेऽत्थि ।

खित्तव्व समुग्घाया,

सट्ठाणाऽवि ण हवइ इयरा ॥३१॥

"इइ', इत्यादि, 'इति'–एवमुक्तप्रकारेण सक-षायजीवान् प्रतीत्य स्पर्शनाऽस्ति, न पुनरकषाय-जीवानाधिकृत्यापीत्यर्थः । तर्हि अकषायजीवानधि-कृत्य सा कियती भवेदित्याह–"ऽकसायजीवे" इत्यादि, 'पडुच्च फुसणा' इतीहापि सम्बध्यते, तथा चाकषायजीवान् प्रतीत्य स्पर्शना "खित्तव्व" त्ति क्षेत्रवद्भवति, यथा 'अकसाये अहिकिच्च उ ते जत्थऽत्थि तहिं सव्वत्थ ॥१०॥ लोगस्स अस-खंसो सट्ठाणाओ' इत्यादिना सार्धगाथाद्वयेनाऽक-षायजीवानां स्वस्थानतः समुद्घाततश्च लोकाऽ-संख्येयभागादिमानं क्षेत्रं भणितम्, अन्यत्तु निषि-द्धम्, तथाऽकषायजीवानधिकृत्य स्वस्थानतः समुद्घाततश्च लोकासंख्येयभागादिमाना क्षेत्रतुल्या स्पर्शना वक्तव्या, अन्यथा=उपपातादितस्तु प्रतिषेध्ये-त्यर्थः । एतदेव स्पष्टयन्नाह–"समुग्घाया" इत्यादि, गतार्थम् ।

इह यद्यपि मनोयोगादिमार्गणास्वकषायजीवानां समुद्घातकृतक्षेत्रापेक्षया समुद्घातकृतस्पर्शना सङ्ख्येयगुणा भवति, तथाऽपि सा लोकासंख्येयभाग-मात्रा एव परिपूर्णमनुष्यलोकादनुत्तरविमानेषु निक्षिप्तात्मप्रदेशानामपि लोकासंख्येयभागमात्राव-गाहनात्, तथा च निरपवादातिदेशोऽविरुद्ध एव, क्षेत्र-स्पर्शनानानात्वेऽपि लोकासङ्ख्येयभाग' इत्येवं-रूपाया वक्तव्यताया उभयत्र तुल्यत्वादिति । शेषं तु सुगममिति ॥३१॥

अथोपसंहरन्नाह—

इइ रइयं सिद्धंतमहोदहि सुणायकम्मसत्थाणं ।

तवगच्छखे रवीणं रज्जे सिरिपेमसूरीणं ॥३२॥

ताण पसीसाण पउमविजयगणिंदाण सीसलेसेण ।

खित्त फुसणापगरणं नन्दउ जा वीरजिणतित्थं ॥

"इइ रइय"मित्यादि, अस्य चान्वयोत्तर-गाथोत्तरार्धे 'खित्तफुसणापगरणं' इत्यादिना, तथा च 'इति'–तदेव चतुःसप्तत्युत्तरशतमार्गणास्थानेषु नानाजीवाश्रयक्षेत्र-स्पर्शनाकथनद्वारेण श्रीमत' सकलागमरहस्यवेदिनः परमज्योतिर्विदः स्वगुरो-र्विजयदानसूरिप्रभोः सकाशात् समवाप्त–'सिद्धान्त-महोदधी'ति उपाधीनां 'सुणायकम्मसत्थाणं' ति सुष्ठु=पूर्वापरसमालोचना–ऽऽगुणन–परप्र-पाठनादिना प्रकारेण ज्ञातानि=अवगतान्यर्थतः कर्म-शास्त्राणि=कर्मप्रकृति–शतक–पञ्चसंग्रहप्रभृतीनि यैस्ते सुज्ञातकर्मशास्त्रास्तेषां सुज्ञातकर्मशास्त्राणां "तव-गच्छखे रवीण" ति तपोगच्छः प्रतीतः स एव खम्–अम्बरमिवाऽम्बरम्, भवति हि तपोगच्छः व्योमः; तत्र सूर्य–चन्द्र–ग्रह–नक्षत्रादिकल्पानां ज्ञानादिद्युत्या स्वं परं चाज्ञानतमोभरे बम्भ्रममाणं भव्यगणं प्रकाशयतां नेकानामाचार्योपाध्याय-वृषभ-गणावच्छेदकप्रमुखाणां सततं स्वचर्यां चरतामुपल-म्भात् तस्मिन् तपोगच्छखे रवय –भास्कराः, तेषाम्, एवम्भूतानां 'रज्जे सिरिपेमसूरीणं' ति श्रीमतां प्रेमसूरीणां राज्ये साम्राज्य–शासने प्रवर्तमाने 'ताण' त्ति तेषां पूज्यपादानां "पसीसाण" त्ति प्रशिष्याणां= शिष्यशिष्याणाम्, तत्र प्रेमसूरीश्वरपूज्यपादानां स्वशिष्याः सुविख्याननामधेयाः स्वात्मसाधनाऽवि-कलभव्यजन्तुहितकरानेकविधकुशलानुष्ठानपरायणा विपुलविनेयगणपरिवृता न्यायशास्त्रनिपुणाः पन्न्यास-श्रीमद्भानुविजयगणीन्द्राः, तच्छिष्यास्तु स्वभाव-सरलाः प्रशान्तप्रकृतयः सौम्यवदना समाकृष्टान्तेवा-

सिचित्तचकोराः श्रीमन्तः पन्यासाः पद्मविजयगणीन्द्राः । एतदेवाह–'पउमविजय' इत्यादि, तेषां पद्मविजयगणीन्द्राणां 'सीसलेसेण' त्ति समयोक्तशिष्यगुणानां यथावदभाजनतया नामशिष्यप्रायेण जगच्चन्द्रविजयेन मुनिना रचितमिदं क्षेत्र–स्पर्शनाप्रकरणं यावच्छ्रीवीरस्वामिनस्तीर्थं तावन्नन्दतु, भव्यजन–नयन–वदन–मानसानन्दनवद्यान्याधाराण्यवाप्येति शेषः ॥३२–३३॥

वीराब्दे हयनारद–नदीशनयनाङ्किते ।
प्रणीत प्रेमसूरीश–गच्छेशकृपया स्विदम् ॥१॥
संशोधितं तु तैः पूज्यैः, पूज्यैः प्रज्ञावरैस्तथा ।
जयघोषमुनिप्रष्ठै–र्धर्मानन्दादिसाधुभिः ॥२॥
आदौ मध्येऽन्त्ये वा, कुत्राप्यत्र सविवेचने ग्रन्थे
यज्जिनवचनानीतं किमपि स्याद्भवतु तन्मिथ्या ॥३॥

॥ इति स्वोपज्ञटीकाविभूषितं क्षेत्रस्पर्शनाप्रकरणं समाप्तम् ॥

॥ शुभं भूयात्सर्वेषाम् ॥

